# समीक्षा-शास्त्र

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

# सद्गाथा

दैवी प्रेरणासे समन्वित जिन बलीयसी शक्तियोंने सदासे महत्कर्म और सत्कर्मके लिये मानव-विवेक और हृदयको सप्राण किया है, उन्हींके वरिष्ठ प्रोत्साहनसे इस ग्रन्थका भी श्रीगणेश किया गया। पिछले अनेक वर्षोंसे विश्वकी विभिन्न जातियोंके सशक्त साहित्योंका अध्ययन करते समय मुझे प्रतीत हुआ कि विभिन्न संस्कारोंमें पली हुई विभिन्न मानव-शक्तियोंने न जाने कितने अगणित रूपोंमें, अगणित आदर्शोंके आधारपर, अगणित ग्रन्थोंकी रचना की। जिन सिद्धान्तोंके अनुसार इन विभिन्न देशोंके लेखकोंने अपनी रचनाएँ कीं, उनमें केवल साहित्यिक भावना ही नहीं, वरन् अनेक दार्शनिक, भावात्मक तथा सामाजिक प्रेरणाएँ भी योग देती रहीं। अतः इस युगमें जब विज्ञानने संसार-भरके दूरस्थ देशोंको विमान, नभस्वन ( रेडियो ), दृश्यस्वन ( टैलीविज़न ), तार, समाचारपत्र तथा पुस्तक आदिके द्वारा परस्पर समीप ला दिया है तब आजका कोई लेखक इन पारस्परिक प्रभावोंसे बचकर रह कैसे सकता है? इसके अतिरिक्त, अपने साहित्यको समृद्ध करने तथा प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये भी अन्य देशोंकी उन साहित्यिक गति-विधियों और प्रवृत्तियोंसे परिचित होना आवश्यक है, जो विभिन्न युगों और देशोंमें कवि-मानसको उद्वेलित करके उन्हें विशिष्ट प्रकारकी साहित्य-रचनाके लिये निरन्तर प्रोत्साहन देती रही हैं।

हमारे देशमें अनेक दार्शनिक साहित्य-शास्त्रियोंने काव्यके उद्गम, स्वरूप, लक्षण और तत्त्वोंपर अत्यन्त गम्भीरता, सूक्ष्मता तथा विस्तारके साथ विचार करके पिछली अनेक शताब्दियोंमें भारतीय काव्य-परम्परा तथा

काव्य-स्वरूपकी जो उत्कृष्ट, पावन तथा उदात्त पद्धति निर्धारित की उसका पालन हमारे साहित्यकार निरन्तर करते आए। किन्तु बीसवीं शताब्दिके प्रथम चरणमें विदेशोंसे आनेवाली कई साहित्य-प्रवृत्तियोंने हमारे देशके कवियोंको भी उन नवीन रूपोंका अनुपालन करनेकी निरन्तर प्रेरणा दी। यह प्रेरणा यद्यपि स्वराष्ट्र तथा विचार-स्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे अनुपयुक्त अवश्य रही क्योंकि स्वाधीन देशमें पर-विचारकी अन्ध-अधीनता सदा सांस्कृतिक अखण्डताके लिये घातक होती है, फिर भी अनेक देशोंकी ऐसी बहुतसी स्तुत्य काव्य-वृत्तियाँ भी आईं जिनका प्रयोग हमारे साहित्यके स्वस्थ समुन्नयनके लिये नितान्त अनुचित नहीं होगा। अतः, आज जब संसारके साहित्यसे सात्त्विक स्पर्धा करनेके लिये हिन्दी साहित्य अपनी स्वस्थ तथा सशक्त भुजाएँ तौल रहा है, तब इस साहित्याभिषेककी पुण्य वेलामें प्रत्येक साहित्यकारका पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपना अधिकसे अधिक प्रातिभ सहयोग देकर विश्व-साहित्यके सप्ततीर्थका अधिकाधिक सद्ज्ञान-तोय लाकर अपने साहित्य-भृङ्गारमें उँड़ेल दे। इसी पवित्र सङ्कल्पके साथ इस ग्रन्थने भी भारतीय साहित्यके चिर-विभासित अङ्कमें जन्म लेनेका चपल आग्रह किया है।

आजकल अनेक विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंमें तुलनात्मक दृष्टिसे हिन्दी साहित्यका अध्ययन और परीक्षण करनेकी जो प्रेरणा दी जाती है उसमें छात्रोंसे आशा की जाती है कि वे विश्व-साहित्यकी प्रमुख प्रवृत्तियोंसे भी यथार्थतः परिचित हों। फ्रान्सीसी और जर्मन भाषामें इस प्रकारकी अनेक पुस्तकें हैं जिनमें योरोपीय साहित्यकी समग्र प्रवृत्तियोंका विस्तृत विवरण सुरक्षित है। यद्यपि अँगरेज़ी साहित्यमें भी कुछ उन ग्रन्थोंके आधारपर और कुछ स्वतन्त्र रूपसे अनेक ग्रन्थ लिखे गए किन्तु उन सभी ग्रन्थोंके लेखकोंकी मुख्य

प्रवृत्ति यही रही कि अपने पड़ोसी स्पेनी या रूसी साहित्योंकी तथा पूर्वीय ( भारत, चीन आदि ) देशोंकी साहित्य-प्रवृत्तियोंकी पूर्णतः उपेक्षा की और केवल अपने देशके लेखकोंको साहित्य - देवता बनानेका ही रूपक बाँधते रहे। किन्तु योरोपके ही जिन उदार लेखकोंने अत्यन्त उदार दृष्टिसे विश्वके साहित्यके सप्राण लेखकों और ग्रन्थोंका परिचय देकर योरोपवालोंका नेत्रोन्मीलन किया उन्होंने भी अत्यन्त दबे स्वरमें चलता-सा शंसन-मात्र ही किया। अतः, नव जागरणके इस ब्राह्म मुहूर्तमें प्रत्येक अध्यापक, अध्येता, लेखक, समीक्षक तथा अपने साहित्यको समृद्ध करनेकी पवित्र आकांक्षा पूर्ण करनेवाले तथा नवीन भावनाओंसे अपनी साहित्यश्रीको अलंकृत करनेवाले साहित्यकारको ऐसे ग्रन्थकी बड़ी आवश्यकता थी जो विभिन्न देशोंकी साहित्यिक जागर्त्ति और प्रवृत्तियोंसे एकत्र परिचित करा सके। इस कार्यके लिये हमारे विश्वविद्यालयोंके प्राध्यापक जिन अनेक ग्रन्थोंका आश्रय लेते हैं वे सब विदेशी भाषाओंमें, व्यक्तिगत तथा देशगत पक्षपातसे पूर्ण, जटिल, दुरूह और इतने विकीर्ण हैं कि सब प्रकारकी ग्राह्य सामग्री एक साथ सबको प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिये यह प्रयास किया गया कि इस ग्रन्थमें एक साथ वह सब आवश्यक ज्ञान एकत्र कर दिया जाय जिसकी सहायतासे प्राध्यापकों, छात्रों, साहित्यकारों तथा समीक्षकोंको अध्यापन, अध्ययन, ग्रन्थ-रचना और काव्य-समीक्षामें समुचित सुविधा प्राप्त जाय हो।

तदनुसार इस ग्रन्थके चार खण्ड किए गए हैं। प्रथम खण्डमें समीक्षाके सिद्धान्त हैं जिनके अन्तर्गत उन सभी विचारों, भावनाओं, प्रवृत्तियों और सिद्धान्तोंका परिचय दिया गया है जिनके आधारपर काव्यकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, कौशल और शैलीके अनेक रूपोंकी रचना और परीक्षा हुई या होनी चाहिए।

दूसरे खण्डमें भारतीय साहित्य-सम्प्रदायोंकी विवेचना की गई है। तीसरे खण्डमें विभिन्न देशोंकी समीक्षा-पद्धतियोंका संक्षिप्त इतिहास दे दिया गया है जिससे यह जाननेमें सुविधा हो कि किन धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक , व्यक्तिगत या सामाजिक प्रभावोंने लेखकोंको अपने काव्य-विषय, सिद्धान्त या शैलीका एक विशिष्ट रूप ग्रहण करनेके लिये बाध्य या प्रेरित किया। चौथे खण्डमें संसारके सभी साहित्यिक या साहित्य-सम्बन्धी वादोंका परिचय दे दिया गया है जिससे विश्व-भरके साहित्य-विचारकोंका एक साथ परिचय मिल जाय। इन चारों खण्डोंकी अध्याय और विषय-सूची देखनेसे प्रतीत होगा कि इस ग्रन्थके लिये कितना परिश्रम, अध्ययन , चिन्तन और विवेचन अपेक्षित रहा होगा। ऋषि-ऋणसे उऋण होनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करे वह सुपात्रको दे दे। अध्यापनमें तो यह भी शंका बनी रह सकती है कि श्रोता शिष्य सुपात्र है या कुपात्र, किन्तु ग्रन्थ-रूपमें ज्ञानको पात्रस्थ कर देनेमें यह निश्चिन्तता अवश्य हो जाती है कि केवल सुपात्र ही उसे लेकर ज्ञान ग्रहण कर सकेगा। अतः अनेक वर्षोंसे संसारकी प्रमुख भाषाओं और उनके साहित्योंसे प्रत्यक्षतः परिचित होनेके कारण समय-समयपर मैं जो सामग्री एकत्र करता रहा वह सब गोविन्दार्पण करना आवश्यक हो गया। किन्तु ऐसे विशाल ग्रन्थकी रचनाके लिये जो अवकाश अपेक्षित था वह व्यस्तताके कारण नहीं प्राप्त हो पाया। इस वर्ष संयोग-वश सन्नद्ध होकर श्रीनारायण स्वामीकी प्रेरणा तथा अपने दो सहयोगी श्रीमङ्गलाप्रसाद पाण्डेय (टङ्कणकार) तथा श्रीमहेशदत्त शुक्ल (लिपिकार) के अनवरत परिश्रमसे यह ग्रन्थ पूर्ण कर डाला गया, जिन्होंने गणेश बनकर मेरे प्रवचनको अत्यन्त त्वरासे यन्त्रबद्ध और लेखबद्ध किया।

संसारकी समीक्षा-पद्धतियोंका अध्ययन करते समय यह जानकर आश्चर्य हुआ कि काव्यका आनन्द लेनेवाले लोग स्वयं आनन्द लेकर तृप्त नहीं हुए वरन् उन्होंने अपने आनन्दको दूसरोंतक पहुँचानेके निमित्त नये-नये सिद्धान्त और नई-नई शैलियोंका आविष्कार और प्रवर्त्तन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने मनुष्यके हृदयमें प्रविष्ट होकर यह भी खोज निकाला कि काव्यमें ऐसे कौनसे तत्त्व हैं जो मानव-मात्रको समान रूपसे प्रभावित करते हैं या सहृदयोंके मानसमें आनन्दकी लहरें उठा देते हैं। मनुष्यकी चित्तवृत्ति, रुचि और प्रवृत्तिका सूक्ष्म विश्लेषण करके उन्होंने केवल काव्यका आनन्द लेनेका मार्ग ही नहीं दिखलाया वरन् नये रचयिताओंके लिये वे सब द्वार भी अनावृत कर दिए जिनके आश्रयपर काव्य रचकर साहित्यकार अपने लिये और अपने काव्यके लिये चिरजीवन और अमृतत्व प्राप्त कर सकता है। अतः साहित्य-समीक्षाको किसी काव्य-ग्रन्थके विश्लेषण और अध्ययनका साधन-मात्र ही नहीं मानना चाहिए वरन् उसे काव्य-शक्तिका वह जीव-तत्त्व भी मानना चाहिए जो कविकी वाणीको सशक्त और सम्पन्न करके उसकी रचनामें आनन्ददायिका स्फूर्त्ति भी भर देता है। अतः साहित्य-समीक्षाका ज्ञान कवि या रचयिताके लिये भी उतना ही आवश्यक है जितना समीक्षक या अध्येताके लिये। किन्तु समीक्षक या कविसे भी अधिक उन पाठकोंको साहित्य-समीक्षाका ज्ञान आवश्यक है जिनकी रुचि नित्य नये-नये ग्रन्थोंके अध्ययनमें प्रवृत्त होती रहती है और जो कभी कुतूहल-वश और कभी अभ्यास-वश नये-नये ग्रन्थ देखते और पढ़ते रहते हैं। साहित्य-समीक्षाके ज्ञानसे ये पाठक अपने प्रिय ग्रन्थ या प्रिय लेखककी रचनाओंमें स्वयं तो अधिक रस, प्रेरणा

और आनन्द पा ही सकते हैं, साथ ही उस आनन्दको अन्य व्यक्तियोंतक पहुँचानेमें भी समर्थ हो सकते हैं। यही साहित्यकी उपयोगिता है और यही उसका लक्ष्य है। अतः मुझे विश्वास है कि जो लोग बिना कुछ पढ़े विद्वान् होना चाहें, अपनी साहित्य-गद्दी सुरक्षित करना चाहें, दूसरोंपर अपने पाण्डित्यकी धाक जमाना चाहें या बिना प्रयासके साहित्य-सिन्धु लाँघना चाहें, वे सब बिना अन्य ग्रन्थ पढ़े केवल इसी ग्रन्थ-मारुतिकी पूँछ पकड़कर साहित्य-महासिन्धु लाँघकर अपना विक्रम बनाए रख सकेंगे। इस ग्रन्थके सहारे साहित्यके अध्यापक-गण अपना ज्ञान-विवर्धन करके अपना अध्यापन भास्वर कर सकेंगे, 'खोजी' लोग अपने 'प्रबन्ध'का कलेवर विशाल, सशक्त और सम्पन्न कर सकेंगे तथा कवि, लेखक, समीक्षक, सम्पादक, वक्ता, नाट्यकार, साहित्यकार, साहित्यप्रेमी अर्थात् साहित्यसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति साहित्य-व्यवहारके सब गुप्त तत्त्व समझनेमें सफल हो सकेगा।

इस ग्रन्थमें हमने पृष्ठोंके नीचे 'आगे देखो', 'पीछे देखो,' 'अमुक पृष्ठ देखो' वाली अँगरेजी-पद्धति पालन न करके जो विषय जहाँ आया वहीं उसका उल्लेख कर दिया और जो उद्धरण जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ उसे वहीं विषय-धारामें जोड़ दिया और आवश्यकता पड़नेपर एक विषयकी पुनरावृत्ति भी कर दी, क्योंकि योरोपकी इस 'आगे-पीछे देखो' वाली प्रणालीसे पाठकोंको बड़ी असुविधा होती है। इस ग्रन्थका तृतीय खण्ड लगभग पूरा ही अनुवाद है। अन्य खण्डोंमें जहाँ-जहाँ किसी ग्रन्थके जो अंश लिए गए वे उल्टे विराम या कोष्ठकमें दे दिए गए हैं। जहाँ कहीं कोई पूरा अंश किसी विश्व-कोष ( एन्साइक्लोपीडिया ) से लिया गया उसे कोष्ठकमें रखनेकी आवश्यकता नहीं समझी गई। इस

महा-ग्रन्थका निर्माण करनेके लिये जिन असंख्य ग्रन्थोंकी सहायता ली गई है उनकी अलग सूची देकर जो आडम्बरपूर्ण और मिथ्या-पाण्डित्यका आतङ्क जमानेकी अनृत-वृत्ति आजकलके ग्रन्थों, विशेषतः प्रबन्धोंमें दिखाई पड़ती है उसका भी सविवेक परित्याग कर दिया गया है किन्तु विभिन्न विषयोंके प्रसङ्गमें ही जहाँ उचित समझा गया वहाँ सहायक ग्रन्थोंका आवश्यक उल्लेख कर दिया गया है। मैं उन सबका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थके प्रणयनमें फ़्रान्सीसी, यूनानी रूसी और स्पेनी नामोंके सन्बन्धमें बड़ी कठिनाई हुई। प्रायः तृतीय खण्डमें विभिन्न साहित्य-समीक्षाओंके इतिहासोंमें तो विभिन्न भाषाओंके उच्चारणके अनुसार नाम दिए गए हैं किन्तु अन्य खण्डोंमें साधारणतः रोमन नामाक्षरोंके उच्चारणानुसार ही नाम दिए गए हैं। इस प्रयोगमें कहीं-कहीं द्वैध उत्पन्न हो गया है। फ़्रांसके प्रसिद्ध समीक्षक 'कौर्नील'को फ़्रांसीसी उच्चारणके अनुसार 'कारनेई' कहना चाहिए और 'होमर' को यूनानी उच्चारणके अनुसार 'हमेरस'। अतः ऐसे नाम प्रायः दोनों रूपोंमें आ गए हैं और यथासम्भव कोष्ठकका प्रयोग करके दोनों रूप दे भी दिए गए हैं, फिर भी कहीं-कहीं इस प्रकारका द्वैध बना रह गया है। फ़्रान्सीसी भाषामें 'र' का उच्चारण फ़ारसीके 'ग़ैन' अर्थात् 'ग़' जैसा होता है। इसीलिये 'पैरिस' नगरको फ़्रांसमें 'पाग़ी' कहते हैं। किन्तु अँगरेज़ीके संस्कारवाले तथा अँगरेज़ीसे हिन्दीमें रूपान्तरित नामोंसे परिचित होनेवाले हिन्दी-भाषी लोग 'पैरिस' नामसे ही परिचित हैं अतः ऐसे स्थानों पर 'पैरिस' ही रख दिया गया है। इसी भ्रमको दूर करनेके लिये 'र' के स्थानपर भी 'ग़' के बदले 'र' का ही प्रयोग किया गया है। अनेक वादों तथा पारिभाषिक विदेशी शब्दोंके लिये जो पर्याय दिए गए हैं, उनके साथ कोष्ठकमें मूल

विदेशी शब्द भी नागरी अक्षरोंमें दे दिए गए हैं। यदि कोई सज्जन किसी ऐसे विदेशी पारिभाषिक शब्दके पर्यायके लिये कोई अधिक उपयुक्त शब्द सुझा सकेंगे तो उनका मैं आभार मानूँगा।

मैं अपने उन अनेक मित्रों, शिष्यों और बन्धुओंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ जो मेरी इस साहित्य-साधनामें मनःपरिवर्त्तन करानेकी पवित्र भावनासे निरन्तर बाधा देनेकी उदारता दिखाते रहे। ईश्वर उन तीर्थराजस्थ 'महाजनों'का भी भला करे जो सत्य और सौजन्यका गला घोटकर, ऋषित्व और साधुत्वका ढोंग करके, झूठे अभियोग चला और चलवाकर मेरी कीर्त्तिको मलिन करने तथा मेरे अविचल धैर्यको विकम्पित करनेकी अत्यन्त क्षुद्रता दिखाकर मेरे इस कार्यमें बाधक हुए। इस ग्रन्थकी भूमिकामें ही उन सब 'सज्जनों'को रससिद्ध महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें स्मरण कर लेता हूँ—

पुनि बन्दउँ खलजन सति भाएँ।
जे बिनु-काज दाहिने बाएँ।।

इतने बड़े ग्रन्थमें सम्भव है कि कहीं किसी विचारके विवेचनमें अथवा किसी विचारककी भावना समझनेमें मुझे भ्रम हो गया हो। अतः मैं इस ग्रन्थके उन सभी पाठकोंका अत्यन्त कृतज्ञ हूँगा जो ऐसी सब त्रुटियों और भ्रमोंके प्रति मेरा ध्यान आकृष्ट करनेकी सहृदयता दिखावेंगे।

उत्तर-बेनिया बाग, काशी<br>मकरसंक्रान्ति, सं० २०१० वि०<br>१४ जनवरी, सन् १९५४ ई० } **सीताराम चतुर्वेदी**

# ग्रन्थ-सम्भार

## प्रथम खण्ड

### समीक्षाके सिद्धान्त

# द्वितीय खण्ड

## भारतीय साहित्य-समीक्षाके सम्प्रदाय

# तृतीय खण्ड

## संसारकी समीक्षा-पद्धतियोंका इतिहास

# चतुर्थ खण्ड

## विश्वकी साहित्य-प्रवृत्तियाँ और वाद

अध्याय पृष्ठ

# समीक्षा-शास्त्र

प्रथम खण्ड

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

या वीणाध्वनिमूर्च्छनासु नितरां लीनांशदिव्यांशुका,
या सौभाग्यदमंगलेशतनुना सार्धं तनोति श्रियः।
नीरक्षीरविवेकसिद्धिसुलभो यस्यास्तु वाहो द्विजः,
तां देवीं हृदि सन्निधाय सुधियामीक्षां समीक्षामहे ॥
विश्वेशमन्नपूर्णाञ्च काशीं भागीरथीं गुरुम्।
वन्दे रामं ससीतञ्च सानुजं चानुगं हरिम् ॥
भैरवाय नृसिंहाय कृष्णाय परमात्मने।
अरुन्धत्यै वशिष्ठाय पितृभ्यश्च नमो नमः ॥

❀ मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ❀

---

# शोभाकी शोभा

श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छबिगृह दीप-सिखा जनु बरई ॥

[ जैसे छबिगृह ( दर्पण-गृह या शीशमहल ) में चारों ओर भीतोंपर जड़े हुए सहस्रों छोटे-छोटे दर्पण सहसा एक दीपके प्रकाशसे सहस्र दीपोंका प्रकाश लेकर भासमान हो उठते हैं और उस सहस्र-दर्पण-मण्डित स्वयंसुन्दर भवनको

वह एक दीपक सहस्र-गुणित प्रकाशसे युक्त करके जगमगा देता है वैसे ही श्रीजानकीजीका मनोहर सुशोभन रूप सुन्दरताको भी सुन्दर कर रहा था। ]
तात्पर्य यह है कि संसारमें एकसे एक बढ़कर सुन्दर वस्तुएँ हमारे चारों ओर फैली हुई हैं और उन्हें देखकर हम स्वयं आनन्द भी प्राप्त करते हैं किन्तु चतुर पारखी तो वह है जो हीरेको चमकानेवालेके समान उस सुन्दर वस्तु या रचनाको इस प्रकार चमका दे कि जो लोग उसकी बाहरी चमक-दमक देखकर ही उसपर लट्टू हैं, वे उसके वास्तविक सात्त्विक सौन्दर्यका भी ठीक परिज्ञान कर सकें। इसलिये कुछ लोग ऐसे भी होने चाहिएँ जो सुन्दर वस्तुको भी चार चाँद लगा दें।

## रत्न-परीक्षा

किसीकी मुद्रिकामें जड़े हुए हीरेको देखकर हम उसकी चमकसे प्रभावित होकर यह समझ जाते हैं कि यह हीरा अत्यन्त मूल्यवान् है और इसे धारण करनेवाला व्यक्ति अत्यन्त वैभवशाली है। यह भी संभव है कि इतने ज्ञानके साथ हम उस हीरेका मूल्य भी आँक सकें। किन्तु उस हीरेका इतना ही ज्ञान उसका हीरकत्व समझनेके लिये पर्याप्त नहीं है। यदि हम किसी रत्न-परीक्षकसे उस हीरेके सम्बन्धमें जिज्ञासा करें तो वह हमें केवल उसकी आभा तथा उसके मूल्य-मात्रका परिचय देकर ही सन्तुष्ट नहीं होगा। वह सम्पूर्ण हीरक जातिका विवरण देते हुए हमें सूचित करेगा कि हरीतिमा-युक्त हीरेका अधिष्ठातृ देवता नारायण, शुद्ध श्वेतका वरुण, पीताभा-युक्तका इन्द्र, पिङ्गल वर्णका अग्नि, रक्ताभका यम तथा श्यामलाभा युक्तका देवता वायु माना जाता है। इसीके साथ वह हमें यह भी बतावेगा कि शुद्ध श्वेत वर्णका हीरा ब्राह्मण, रक्ताभावाला क्षत्रिय, पीताभावाला वैश्य तथा श्यामलाभावाला शूद्र जातिका कहलाता है। इनमेंसे जपाकुसुम अथवा मूँगेके समान रक्ताभा तथा हल्दीके तुल्य पीताभा-युक्त हीरे राजाओंके लिये अधिक कल्याणकर होते हैं। इन हीरोंमें छः कोनेवाले, हल्के, अठपहले, पैनी नोकवाले और निर्मल हीरे सबसे अच्छे होते हैं। जिनमें मैलापन, बिन्दु, रेखा, त्रास (खोट) और काकपद होते हैं वे दोषी होते हैं। उन्हें धारण करनेसे पुत्रनाश, बन्धुनाश, वित्तनाश आदि अनेक अमङ्गल होते रहते हैं। अतः ऐसा ही हीरा धारण करना चाहिए जो छः कोनेवाला, अठपहला, अभेद्य, निर्मल, निर्दोष, सपार्श्व, उत्तम वर्ण, लघु ( हल्का ), जलमें तैरनेवाला, सूर्यकी किरणमें इन्द्र-धनुषके समान चमकनेवाला और

तीखी नोकवाला हो। इनमें भी जो हीरा खौलते हुए जल, दुग्ध, तैल या घृतमें डालनेसे तत्काल उसकी उष्णता हरण कर ले वह सर्वश्रेष्ठ तथा देव-दुर्लभ होता है क्योंकि वह सूर्यके समान प्रकाशमान तथा चन्द्रके समान शीतल होता है और उसे धारण करते ही सब रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य पलायमान हो जाते हैं। वह रत्न-परीक्षक हमें यह भी सूचना देगा कि यदि हमपर शुक्रकी दशा चल रही है तो किस प्रकारका हीरा धारण करनेसे उसके कुप्रभावका परिहार होगा। इस प्रकार जिस हीरेको आप केवल नेत्र-रञ्जक तथा मूल्यवान्-मात्र समझते थे उसमें मूल्य तथा चमकके अतिरिक्त और भी बहुतसे गुण तथा अवगुण हैं जिनका परिज्ञान हमें हीरेका प्रयोग करनेसे पूर्व हो ही जाना चाहिए, क्योंकि उससे हमारे भावी मङ्गल और अमङ्गलका अत्यन्त गम्भीर सम्बन्ध है। अतः किसी भी वस्तुकी बाह्य सुन्दरता-मात्रसे उसे सुन्दर समझनेकी भूल न करके हमें उसके सात्त्विक गुण-दोषोंके साथ यह भी विश्लेषण कर लेना चाहिए कि वह सौन्दर्य हमारे व्यक्तिगत या सामूहिक मङ्गल या अमङ्गलके लिये कितना उत्तरदायी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमें प्रत्येक वस्तुके बाह्य मूल्याङ्कनके साथ उसका आन्तरिक मूल्याङ्कन भी करना चाहिए।

**समीक्षककी आवश्यकता**

संसारमें बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो बाहरसे सहसा सबका ध्यान आकृष्ट नहीं करतीं और यदि आकृष्ट करती भी हैं तो उनका वास्तविक महत्त्व बहुत कम लोग समझ पाते हैं। हमारे सम्मुख अनेक ऐसे पेड़-पौधे, लता-गुल्म, प्रकट होते और नष्ट हो जाते हैं कि उनका वास्तविक सौन्दर्य न जाननेके कारण हम उनकी उपेक्षा करते जाते हैं। संसारमें अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो हमारे लिये गुणकारी, लाभकारी, मङ्गलमय, आह्लादकर तथा मनोरञ्जक हो सकते हैं किन्तु तभी, जब हमें कोई उनकी वास्तविक सुन्दरता बतानेवाला हो। ऐसे कुशल पारखीके न होनेसे वास्तविक सुन्दर वस्तुएँ और रचनाएँ अनादृत हो जाती हैं या उपेक्षित पड़ी रह जाती हैं, उनका होना न होना समान होता है, उनका अस्तित्व व्यर्थ हो जाता है और पारखीका प्रोत्साहन न पानेपर उनके रचयिताकी प्रतिभा या शक्ति कुण्ठित हो जाती है। दूसरी ओर, बहुत-सी निरर्थक वस्तुएँ और रचनाएँ भ्रम या पक्षपातसे सुन्दर और ग्राह्य समझी जाकर अनुचित आदर प्राप्त कर लेती हैं जिससे अयोग्यको तो प्रोत्साहन मिलता ह है, साथ ही सबसे बड़ी हानि यह होती है कि जनताको मूल्याङ्कनकी ऐसी भ्रामक

कसौटी मिल जाती है कि उसके सहारे वह अनुचितको उचित, अभव्यको भव्य, असुन्दरको सुन्दर और त्याज्यको ग्राह्य मानने लगती है। इस प्रकार संसारमें उचित परीक्षणका विवेक-विपर्यय होनेसे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अराजकता और अनैतिकता व्याप्त हो जाती है। अतः जनताकी रुचिको परिष्कृत, व्यवस्थित, सन्तुलित तथा विवेकशील बनाए रखनेके लिये किसी भी वस्तु या रचनाका ठीक मूल्याङ्कन तथा परिज्ञान करने या करानेवाले कुशल पारखीका होना मानव-समाजकी सत्प्रवृत्तियोंकी सुरक्षाके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। यही नहीं, जबतक कोई ठीक पारखो जतानेवाला न हो तबतक किसी वस्तु या रचनाके सौन्दर्यकी बात तो दूर, हम उस वस्तु या रचनाको तथा उसके भेदोंको भी जान नहीं सकते। अतः किसो वस्तु या रचनाके अभिज्ञानके लिये भी कुशल पारखी या समीक्षककी अपेक्षा रहती ही है।

## परीक्षाकी कसौटी : शास्त्र

जहाँ संसारमें इतनी ज्ञातव्य वस्तुएँ हैं, वहाँ मनुष्यने अपनी बुद्धि और अपने अनुभवसे उन वस्तुओंकी परीक्षा करनेकी विद्याएँ या परीक्षण-शास्त्र भी बना लिए हैं, जिनके अध्ययन और व्यवहारसे कोई भी व्यक्ति उस शास्त्र या विद्यासे सम्बद्ध वस्तु या रचनाको परीक्षा कर लेता है। इस शास्त्र या विद्यामें उसकी परिभाषा, उसके विषय, भेद, लक्षण, प्रभाव, व्याप्ति आदि सभी पक्षोंका विशद विवेचन होता है, जिसके सहारे कुशल परीक्षक लोग, सरलतासे उस शास्त्रसे सम्बद्ध वस्तु, रचना या विषयको उसी प्रकार व्यापक परीक्षा या मीमांसा कर लेते हैं जैसे रत्न-परीक्षक किसी रत्नको परीक्षा करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी वस्तु या रचनाकी उचित परीक्षाके लिये ऐसा शास्त्र अवश्य होना चाहिए जिसके आश्रयसे प्रत्येक व्यक्ति स्थिर सिद्धान्त समझ सके और किसी वस्तु या रचनाके सम्बन्धमें निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सके, क्योंकि शास्त्रके अभावमें भी अराजकता होती है और सभी लोग अपनेको उस विषयका पण्डित समझकर अपने-अपने मतसे वस्तुओं और रचनाओंका परीक्षण करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि 'अन्धः अन्धमनुसरति, द्वावपि गर्त्ते निपततः।' [ अन्धा अन्धेके पीछे चलता है और दोनों गढ़ेमें गिर पड़ते हैं। ] अतः यह आवश्यक है कि किसी भी विषयके सम्यक्परीक्षणके लिये उसका शास्त्र बना दिया जाय।

## समीक्षा-शास्त्र क्यों ?

जब मनुष्यका कण्ठ फूटा और उसने बोलना आरम्भ किया, तब वह केवल अपने मनकी वृत्ति, अपना उल्लास तथा अपनी व्यथा-मात्र व्यक्त करना चाहता था। यह अभिव्यक्ति कभी तो केवल आकस्मिक होती थी, कभी दूसरेको लक्ष्य करके। किन्तु जब मनुष्य इन अभिव्यक्तियोंको अनेक प्रकारसे व्यक्त करने लगा, उनमें नई-नई शैलियाँ भरकर उन्हें सुन्दर, आकर्षक और प्रभावशाली बनाने लगा, तब उसे सुननेवाले लोग उनमेंसे कुछपर मुग्ध होने लगे, कुछको फूहड़ समझकर उनसे घृणा करने लगे। यहींसे समीक्षा प्रारम्भ हो गई और जब इस अनुरक्ति या विरक्तिके साथ वे 'क्यों ?' का भी उत्तर देने लगे तब यह समीक्षा-वृत्ति अपने वास्तविक रूपमें पनपने लगी।

हम ऊपर बता आए हैं कि प्रत्येक वस्तु या रचनाकी परीक्षाके लिये शास्त्रका होना आवश्यक है। अतः मनुष्यकी जिस वाणीसे सम्पूर्ण विश्वका व्यवहार चल रहा है और जिस वाणीके आश्रयसे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानका प्रसार हो रहा है, उस वाणीमें मनुष्यने अभिनव कौशलका प्रयोग करके उसे आकर्षक बनानेके जो प्रयास किए हैं अर्थात् उसने जो साहित्य नामसे वाक्सृष्टि की है उसके उचित परीक्षणके लिये भी एक शास्त्रकी आवश्यकता है। इसीलिये इस समीक्षा-शास्त्रकी रचना की गई है।

## समीक्षा क्यों ? आलोचना या परीक्षा क्यों नहीं ?

साधारणतः साहित्यकी परीक्षाके लिये आलोचना शब्दका प्रयोग अधिक किया जाता है जो योरोपीय 'क्रिटिसिज़्म' शब्दका लगभग पर्यायवाची है। किन्तु आलोचना शब्दका अर्थ चारों ओरसे देखना ( आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियां आलोचना ) भर है। परीक्षा शब्दका अर्थ भी लगभग यही है, अर्थात् चारों ओरसे देखना ( परितः ईक्षा परीक्षा )। इन दोनों शब्दोंमें किसी वस्तु, रचना या विषयके भीतर पैठकर उसके सर्वाङ्गीण परिज्ञानकी बात नहीं आती। इसीलिये विद्वानोंने समीक्षा या समीक्षण शब्दका प्रयोग चलाया, जिसका अर्थ है भली प्रकार देखना, जाँच करना तथा पूरा ज्ञान प्राप्त करना (सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्)। इसी आधारपर प्राचीन आचार्योंने सांख्य-शास्त्रको समीक्ष कहा है क्योंकि उसमें सृष्टिके सब तत्त्वोंका विश्लेषणात्मक परिचय दिया गया है। वहाँ प्रकृतिको तथा उसके चौबीस तत्त्वोंमेंसे किसीको

भी समीक्षा कहा गया है क्योंकि उसमें प्रत्येक तत्त्वका पूरा विवेचन समाया रहता है। मीमांसा-शास्त्रको भी इसीलिये समीक्षा कहा गया है क्योंकि उसमें भी ईश्वर, जीव, जगत् आदिके सम्बन्धमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। यही कारण है कि हमने भी साहित्यकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप तथा उसके सब अङ्ग, उपाङ्ग, तत्त्व, गुण, दोष, प्रभाव, भेद आदिका पूर्ण ज्ञान करानेवाली विद्याका नाम 'साहित्य-समीक्षा-शास्त्र' रक्खा है, जिसमें साहित्यके विभिन्न तत्त्वों और पक्षोंका निरीक्षण और परीक्षण करनेके पश्चात् यह सिद्ध किया जा सके कि साहित्यके किस स्वरूपका अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए, किस प्रकार उसका आनन्द या रस लेना चाहिए तथा किस प्रकार, क्यों, किसका ग्रहण या परित्याग करना चाहिए।

## समीक्षा-दर्शन

पीछे बताया जा चुका है कि समीक्षा या समीक्षणका अर्थ है—'भली प्रकार दर्शन करना, देखना, जाँचना, छानबीन करना' अर्थात् किसी भी वस्तु व्यक्ति या विषयके सम्बन्धमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और दूसरोंको उसका ज्ञान प्राप्त कराना। स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि समीक्षा या समीक्षणका अर्थ स्वयं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना तो हो सकता है किन्तु दूसरोंको ज्ञान प्राप्त कराना इसके अन्तर्गत कैसे आता है? किन्तु साधारण मनःप्रक्रियासे परिचित व्यक्ति भली-भाँति जानता और अनुभव करता है कि जिस व्यक्तिको जो वस्तु सुन्दर, आकर्षक या द्रष्टव्य प्रतीत होती है वह उसे केवल स्वयं देखकर ही तुष्ट नहीं होता। वह तत्काल उसे दूसरोंको दिखानेके लिये भी उत्कण्ठित हो जाता है और जबतक दिखला नहीं लेता तबतक उसे सन्तोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती। हाँ, जब मनुष्य किसी सुन्दर या द्रष्टव्य वस्तुको देखकर स्वयं चोरीसे उसका ऐकान्तिक उपभोग करना चाहे तब अवश्य वह उसे दूसरोंसे छिपाता है। ऐसी स्थितिमें उसका वह ईक्षण या देखनेका कार्य साधु कार्य नहीं होगा। अतः उसे हम समीक्षा या समीक्षण नहीं कह सकते, वह दुरीक्षण होगा।

### समीक्षाकी परिभाषा

अतः उपर्युक्त विचारके अनुसार समीक्षाकी यह परिभाषा होगी—

'समीक्षा या समीक्षण वह साधु तात्त्विक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ (वस्तु, व्यक्ति या विषय) देखनेकी इच्छा करे, देखे और देख चुकनेपर उसमें जो द्रष्टव्य हो, उसे दूसरेको भी दिखानेकी इच्छा करे और दिखावे।'

## समीक्षक, समीक्ष्यवादी और समीक्षा-शास्त्रीमें अन्तर

कभी-कभी मनुष्य स्वयं साधुवृत्तिसे ही किसी पदार्थका भली प्रकार निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करके स्वयं उस पदार्थके ज्ञानसे अवगत तो हो जाता है किन्तु दूसरोंको बताने या समझानेकी उसमें या तो योग्यता नहीं रहती अथवा उसकी वृत्ति ही नहीं होती। ऐसे पारखियोंको समीक्षक कहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं किसी पदार्थका तात्त्विक निरीक्षण करके, उसकी विशेषताएँ दूसरोंको भी बताता या समझाता है, उसे समीक्ष्यवादी कहते हैं। आजकल लोग समीक्ष्यवादीको ही समीक्षक कहने लगे हैं क्योंकि ऊपर समीक्षाकी जो हमने व्याख्या की है उसमें किसी द्रष्टव्य वस्तुको स्वयं देखकर दूसरोंको दिखानेकी भावना आ ही जाती है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे समीक्षक और समीक्ष्यवादीका तात्त्विक अंतर समझ लेना चाहिए। इनके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकारके व्यक्ति भी होते हैं जो समर्थ होते हुए भी न तो स्वयं किसी पदार्थका तात्त्विक परीक्षण करते हैं न दूसरोंको बताते हैं वरन् वे पदार्थोंका वास्तविक परीक्षण या निरीक्षण करनेकी इच्छावाले व्यक्तियोंको यह निर्देश देते हैं कि किस पदार्थको, किस दृष्टिसे, किस प्रकार देखना और समझना चाहिए तथा उसमें किस प्रकार रस लेना चाहिए। इन लोगोंका निर्देश ही समीक्षा-शास्त्र कहलाता है और ऐसे लोग न समीक्षक कहलाते हैं न समीक्ष्यवादी, वरन् ये लोग समीक्षा-शास्त्री कहलाते हैं।

## साहित्य-समीक्षा

जिस रूपमें आजकल साहित्यकी समीक्षा हो रही है और जितने प्रकारमें हो रही है वह अभी थोड़े दिनोंसे ही होने लगी है। भारतवर्षमें राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें उसका वास्तविक सूत्रपात किया किन्तु उसका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया औचित्यवादियोंने ही। क्षेमेन्द्रने अपनी औचित्य-विचार-चर्चामें विस्तारसे औचित्यको काव्य-सौन्दर्यका मुख्य तत्त्व मानकर समझाया है कि किसी भी प्रकारकेक ाव्यमें यह देखना चाहिए कि काव्यका प्रत्येक तत्त्व उचित रूप, मात्रा और अनुपातमें व्यक्त किया गया है या नहीं। इस बातको समझाते हुए उन्होंने उदाहरण दिया है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।

शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः ।।

[ यदि कोई महिला अपने गलेमें तगड़ी, कमरपर हार, हाथमें नूपुर और पैरोंमें भुजबन्ध बाँध ले, यदि कोई अपने सम्मुख झुके हुए व्यक्तिपर वीरता दिखावे और शत्रुपर करुणा दिखावे, तो कौन ऐसा है जो इस मूर्खतापर नहीं हँस देगा। अतः औचित्यके बिना न तो कोई सजावट ही अच्छी लगती है न गुण ही। ]

क्षेमेन्द्रकी इस विवेचनाके अनुसार औचित्य ही द्रष्टव्यताकी कसौटी है और काव्य या साहित्यमें इसी औचित्यकी परीक्षा ही उनकी दृष्टिसे वास्तविक काव्य-समीक्षा है। यह औचित्य कितने प्रकारका होता है और उसके अनुसार किस प्रकार परीक्षण किया जाता है, इसकी विस्तृत व्याख्या हम इस ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें करेंगे और यह सिद्ध करेंगे कि यह समीक्षा-पद्धति कितनी पूर्ण और व्यापक है।

इसके अतिरिक्त भारतमें योरोपीय ढंगकी कोई समीक्षा-पद्धति नहीं चली। रीति-ग्रन्थकारों या साहित्य-शास्त्रियोंने साहित्यके लक्षण ग्रन्थोंमें गुण, दोष, रीति, वृत्ति, अलङ्कार, ध्वनि, रस आदिके लक्षणके साथ उदाहरण दे-देकर छिटपुट ढंगसे किसी कविकी किसी प्रासङ्गिक उत्कृष्टता या निकृष्टताका संकेत-मात्र किया है जिसे हम किसी भी प्रकार समीक्षाकी श्रेणीमें स्वीकार नहीं कर सकते।

### सूक्तिगत समीक्षा

हमारे यहाँकी एक और भी प्राचीन पद्धति रही है कि गुणी, सहृदय काव्य-मर्मज्ञोंने किसी कविके गुणों या दोषोंको अथवा कई कवियोंकी विशेषताओंको तुलनात्मक दृष्टिसे एक ही छन्दमें वर्णन कर डाला है। इनमें कहीं तो वर्णित कवियोंकी विशेषताओंका ही उल्लेख है, कहीं एककी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दा भी व्यञ्जित है। इस प्रकारकी आलोचनाओंके कुछ उदाहरण देखिए—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासाः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ।।

[ पहले कवियोंकी गिनती होते समय कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियोंने कनिष्ठिका उँगलीपर अपना स्थान जमा लिया। तबसे आजतक उनके समान

कोई अन्य श्रेष्ठ कवि न होनेसे अनामिका बस अनामिका ( बिना नामवाली ) ही रह गई । ]

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

[ कालिदासकी कवितामें उपमाकी विशेषता, भारविकी कवितामें थोड़े शब्दोंमें बहुतसे गम्भीर अर्थ होनेकी विशेषता और दण्डीकी रचनामें शब्दोंकी ललित योजनाकी विशेषता है । किन्तु माघ कविकी रचनामें तीनों गुणोंकी विशेषता है । ]

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव ॥
[ उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥ ]

[भारविकी कान्ति (कविता) तबतक ही चमकती है (अच्छी लगती है) जबतक माघ कविकी कविता सामने नहीं आती । माघ कविकी कविता सामने आते ही भारविकी कविता वैसी ही फीकी जान पड़ती है जैसे माघके महीनेमें सूर्यकी तपन ठण्ढी पड़ जाती है । [ नैषध काव्यके सामने आते ही न तो माघकी रचना अच्छी लगती न भारविकी । ]

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
तस्मिँस्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥

[भवभूतिके सम्पर्कमें आनेपर वाणी भी पहाड़की पथरीली धरतीके समान ऊबड़-खाबड़ जान पड़ती है, इसीलिये, उसमें करुणा उत्पन्न की जानेपर यदि पत्थर न रोयगा तो कौन रोयगा । ]

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् ।

[ संसारकी सब कविताएँ बाण कविकी ही जूठन हैं । ]

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

[ जैसे शिखण्डिनीने दूसरे जन्ममें शिखण्डी बनकर अवतार लिया, वैसे ही जान पड़ता है वाणीने भी अधिक कौशल प्राप्त करनेके लिये बाणका रूप धारण किया । ]

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमतः
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ॥

विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ।।

[ सुबन्धुमें हमारी भक्ति है । कौन ऐसे हैं जो रघुवंशकार कालिदाससे प्रेम नहीं करते ? दाक्षी-पुत्रमें हमारा धैर्य है । हरिचन्द्र भी हमारा हृदय हरण करता है । सूरकी उक्तियाँ अत्यन्त विशुद्ध हैं और भारविकी वाणी स्वभावसे ही मधुर है । फिर भी एक भवभूति कवि ही ऐसा है जो हमारे हृदयको आनन्द देता है । ]

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ।।

[ प्रवरसेनकी कुमुदके समान उजली कीर्ति सेतुकाव्यके द्वारा उसी प्रकार समुद्रके पारतक जा पहुँची जैसे वन्दरोंकी सेना सेतुबन्ध पुलसे होकर लङ्का पहुँच गई थी । ]

इसी परिपाटीका पालन हिन्दी साहित्यमें भी चलता रहा और इस प्रकारकी उक्तियाँ कवियोंकी परीक्षाके लिये प्रमाण समझी जाने लगीं—

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसवदास ।
अबके कवि खद्योतसम, इत-उत करत प्रकास ।।
किधौं सूरकौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर ।
किधौं सूरकौ पद लग्यौ, बेधत सकल सरीर ।।
तुलसी-गङ्ग दुवौ भए, सुकबिनके सरदार ।
जिनकी कवितामें लही, भासा बिबिध प्रकार ।।
सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर ।
देखतकौ छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ।।
कबिकौ देन न चहै बिदाई ।
पूछै केसवकी कबिताई ।।
तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी ।
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब जूठी ।

### स्वयं-प्रशंसा तथा गर्वोक्ति

कभी-कभी कवियोंने स्वयं अपनी रचनाके विषयमें प्रशंसात्मक या व्याख्यात्मक वाक्य कहे हैं, जैसे जयदेवने गीत-गोविन्दके प्रारम्भमें कहा है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
कलित - कोमल - कान्त - पदावलिं
शृणुत हे जयदेवसरस्वतीम् ॥

[ यदि आपके मनको श्रीकृष्णके स्मरणमें आनन्द आता हो, यदि उनके रास और ऐश्वर्य आदि जाननेकी उत्कण्ठा हो तो आप रच-रचकर बैठाए हुए सुन्दर पदोंवाली जयदेव कविकी कविता सुनिए । ]

इसी प्रकार श्रीहर्षने नैषध-चरितके अन्तमें यह गर्वोक्ति कही है—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

[ मैंने जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक कहीं-कहीं इस काव्यमें गूढ गुत्थियाँ रख दी हैं । यह केवल इसलिये कि कोई विद्वन्मन्य खल अवज्ञाके साथ यह न कह सके कि मैंने तो नैषधीय-चरित पूरा पढ़ लिया, इसमें कुछ है नहीं । रही सहृदय सज्जनोंकी बात, वे तो श्रद्धापूर्वक गुरुओंद्वारा गुत्थियोंको सुलझाकर इस काव्यामृतका पूर्ण आनन्द लेंगे ही । ]

विद्यापतिने अपनी कविताके सम्बन्धमें कीर्तिलतामें कहा है—

बालचन्द बिज्जावइ भासा ।
दुहुँ नहिं लग्गइ दुज्जन हासा ॥
ओ परमेसर हरसिर सोहइ ।
ई निच्चइ नायर मन मोहइ ॥

[ द्वितीयाके चन्द्रमा और विद्यापतिकी भाषा दोनोंको दुर्जनोंकी हँसीका दोष नहीं लगता क्योंकि वह बालचन्द तो परमेश्वर महादेवजीके सिरपर सुशोभित है और यह विद्यापतिकी भाषा चतुर रसिकोंका मन मोहित करती है । ]

इस प्रकारकी समीक्षात्मक उक्तियोंके प्रचलनका परिणाम यह हुआ कि ग्रन्थोंके अध्ययन करनेवाले जिज्ञासु अध्येता केवल उतनी ही संकुचित दृष्टिसे अध्ययन करने लगे जितना उन उक्तियोंसे अभिव्यक्त होता था । कालिदासमें लोग उपमा ही खोजते रह गए और बिहारीके दोहोंमें अच्छे गुणी पण्डित तथा

विविध-भाषा-मर्मज्ञ भी यही ढूँढ़नेमें लगे रहे कि वे कैसे गम्भीर घाव करते हैं। इस संकुचित समीक्षा-वृत्तिका परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त श्लाघ्य रचनाओंका परीक्षण और आदर खटाईमें पड़ गया और केवल उन्हीं कवियोंके पीछे लोग पड़े रह गए जिनके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारकी पद्योक्तियाँ प्रसिद्ध हो पाईं।

## योरोपमें समीक्षाका विकास

यद्यपि समीक्षा ( क्रिटिसिज़्म ) शब्दका प्रयोग योरोपमें भी अभी सत्रहवीं शताब्दीसे होने लगा है, किन्तु उसके द्वारा जिस साहित्य-परीक्षा-प्रणालीका बोध होता है वह यूनानमें पाँचवीं शताब्दी ( ई० पू० ) से ही चलने लगी थी। योरोपमें किसी भी कलाकृतिके 'उस सज्ञान मूल्याङ्कन या परीक्षणको आलोचना या समीक्षा कहते हैं जो या तो आलोचककी व्यक्तिगत रुचिके अनुसार या किन्हीं स्वीकृत सौन्दर्यात्मक भावनाओंके अनुसार किया गया हो।' यह आलोचना या क्रिटिसिज़्म शब्द वहाँ छिद्रान्वेषण या दोषान्वेषणसे लेकर ब्राउनिंग-द्वारा परिभाषित सौन्दर्य-विवेक ( डिस्टिंग्विशिंग औफ़ ब्यूटी ) तक अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। विक्टर ह्यूगोने कहा था कि 'कोई कलाकृति अच्छी है या बुरी, इसीकी मीमांसा करना आलोचनाका क्षेत्र है।' किन्तु इस व्याख्यासे भी इस प्रश्नका समाधान नहीं होता कि इस अच्छे और बुरेकी जाँचकी कसौटी क्या होगी। स्वैरवादियों ( रोमान्टिस्टों ) को छोड़कर प्रायः सभी लोग टी० एस्० ईलियट और आई० ए० रिचार्ड्सके इस मतके ही पक्षपाती हैं कि 'आलोचकका तात्पर्य किसी वस्तुके मूल्योंका निर्णय करना ही है।' अतः, जब जे० ई० स्पिंगार्नने क्रोचेका अनुसरण करते हुए आलोचनाका मुख्य कार्य इन प्रश्नोंका उत्तर देना बताया कि—

१. कलाकारने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है ? और

२. उसे अभिव्यक्त करनेमें वह कितना सफल हुआ है ?

—तो उसमेंसे एक तीसरा प्रश्न निकल आया कि—

३. जो कुछ कलाकारने अभिव्यक्त किया है, वह क्या वास्तवमें अभिव्यक्त होनेके योग्य था ?

कारलाइलने इस सम्बन्धमें स्पष्ट कहा है—'हमें यह भी जानना चाहिए कि आलोचनाका यह उद्देश्य और कार्य हमारे या हमारे व्यक्तिगत मानदण्ड या हमारे छोटे-से समाजके मानदण्डके बदले मानव-प्रकृति,

सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त वस्तुओंकी प्रकृति, तथा मनुष्यके हृदयों और कल्पनाओंमें अवस्थित (पुस्तकोंमें लिखे हुए रूपमें नहीं) काव्यात्मक सौन्दर्यके सार्वभौम सिद्धान्तोंके साथ मेल खाता है या नहीं? और यदि मेल खाता है तो कहाँतक?'

आलोचनाके प्रकारोंकी समस्याका समाधान करनेसे पूर्व हमारे सम्मुख यह अत्यन्त जटिल समस्या नग्न-स्वरूपमें विराजमान है कि हम कलाकारसे कभी न तो पूछ पाते न पूछ पा सकते कि अमुक कलाकृतिकी रचना आपने किस उद्देश्यसे की। अतः उद्देश्यकी परीक्षा तो हम उसकी रचनामें ही कर सकते हैं और इस प्रकार उपर्यङ्कित दोनों प्रश्नोंका उत्तर एकत्र रचनाकी परीक्षा करके ही दे सकते हैं।

### समीक्षा-तत्त्व

समीक्षापर हम तीन दृष्टियोंसे विचार कर सकते हैं—

१. सैद्धान्तिक व्यवस्था या विज्ञानके रूपमें,

२. भाव-प्रेरित तथा अनुभव-सिद्ध कौशलके रूपमें,

३. कला, अर्थात् एक व्यवस्थित सोद्देश्य रचनाके रूपमें।

### सैद्धान्तिक व्यवस्था या विज्ञानके रूपमें समीक्षा

सिद्धान्त शब्दका अर्थ है 'किसी विषयके निरूपणका तात्त्विक आधार प्रस्तुत करना।' समीक्षाका उद्देश्य स्पष्टतः व्यावहारिक है। इसका काम है 'किसी कलात्मक कृति और उसके सौन्दर्य-भावनकी प्रक्रियाको आगे बढ़ानेमें सहायता देना तथा उसके लिये आवश्यक ज्ञातव्य ज्ञान या सामग्री एकत्र करना।' यह सामग्री निम्नलिखित प्रकारोंकी हो सकती है—

क. कलात्मक रचनाकी सामग्रियों और कौशलोंका ज्ञान।

ख. कलात्मक प्रदर्शनके विषयोंका ज्ञान (जिसका अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है)।

ग. कलाकार और उसकी रचना-क्रियाओंका ज्ञान, जिसके अन्तर्गत कलात्मक रचनाका मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कलाकारका जीवन-चरित और कलाका इतिहास भी आता है किन्तु एफ़० ब्रूनेतिए जैसे कुछ विद्वान् इन्हें समीक्षाके क्षेत्रसे बाहरके विषय समझते हैं।

इस दृष्टिसे (क) सामग्री और कौशलके सम्बन्धमें कुशल विद्वान् (जैसे

भाषा-शास्त्री या छन्दःशास्त्री ) यह कह सकते हैं कि हम भाषा और छन्दकी तुलापर ही अमुक कृतिकी कलात्मक पूर्णताका परीक्षण करेंगे। किन्तु उन्हें समझ रखना चाहिए कि केवल कौशलकी परीक्षा करना ही समीक्षा नहीं है।

इसी प्रकार कुछ लोग ( ख ) कलात्मक प्रदर्शनके विषयोंके ज्ञानको ही आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दे सकते हैं। यदि ऐसा होने लगे तब कोई तो मूर्तिकारको शरीर-शास्त्रका एक नियम बनाकर दे देगा और कहेगा कि बस इसीके अनुसार रचना करो; कोई समाज-शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक किसी उपन्यासकारको समाज-शास्त्र और मनोविज्ञानके नियम गढ़कर दे देगा और कहेगा कि अपनी रचनाओंमें इन्हीं नियमोंका पालन करो, जैसे हिप्पोलिते तैनेने अपनी 'फ़िलौसौफ़ी दे ल आर्ते' ( १८६५-६९ ) में व्यवस्था दी थी। इसी मौलिक भूलके कारण लोगोंको यह भ्रम हो गया कि समीक्षाका काम है 'किसी कलात्मक अनुकरणमें उसकी मूल प्रतिकृतिसे समानता खोजना।'

आजकल लोगोंकी सबसे बड़ी भूल यह है कि ( ग ) अपनी समीक्षण-रुचि कलामेंप्रवृत्त करनेके बदले वे कलाकारमें सरुच हो जाते हैं। कैनेथबर्कने अपने 'साहित्यिक रूपका तत्त्व' ( फ़िलौसौफ़ी ऑफ़ लिटरेरी फ़ौर्म, १९४१ ) में उपर्युक्त परिस्थितियोंकी मीमांसा करते हुए लिखा है—'इसीलिये हमारी अधिकांश आधुनिक समीक्षा वास्तवमें मनोविज्ञानीय ( साइकोलौजिकल ), नर-विज्ञानीय ( एन्थ्रौपौलौजिकल ) और समाजवादी ( सोशियोलौजिकल ) विश्लेषण-मात्र रह गई है।'

इतिहास-विज्ञान ( हिस्टोरियोग्रैफ़ी ) में यद्यपि आलोचनाका कोई सीधा आधार नहीं मिलता किन्तु उसे भी समीक्षाका प्रकार अवश्य माना जा सकता है क्योंकि उसमें किसी एक विशेष साहित्यिक कृतिके विस्तृत विवेचनके बदले अन्य कलाकृतियोंके साथ उसके ऐतिहासिक प्रसङ्गका विवरण मिल जाता है। टी० एस० ईलियट्ने अपने 'परम्परा तथा व्यक्तिगत प्रतिभा' ( ट्रैडीशन ऐण्ड दि इण्डिविजुअल टेलेंट, १९२० ) शीर्षक लेखमें लिखा था—'किसी भी कलाकृतिका मूल्याङ्कन अतीतकी उन सम्पूर्ण कृतियोंकी समष्टिकी दृष्टिसे करना चाहिए जिन्हें मिलानेपर ही परम्पराका 'समवेत' क्रम स्थिर होता है।' उसी लेखमें ईलियटने लिखा है—'किसी कवि या किसी कलाके कलाकारका कोई अपना अलग अर्थ या उद्देश्य नहीं होता। उसकी रचनाका तात्पर्य तथा

सौन्दर्य-भावन वही होता है जो उसने भूतपूर्व कवियों तथा कलाकारोंके सम्पर्कसे आत्मसात् किया है।'

## भाव-प्रेरित तथा अनुभव-सिद्ध कौशलके रूपमें समीक्षा

कुछ विद्वानोंका मत है कि जैसे हम संसारके अन्य सभी स्वर्ण, रजत, हाथी, घोड़े आदि पदार्थोंका मूल्याङ्कन निश्चित सिद्धान्तके अनुसार करते हैं उसी प्रकार साहित्यका समीक्षात्मक मूल्याङ्कन भी निश्चित सिद्धान्तोंके अनुसार ही होना चाहिए। पीछे बताया जा चुका है कि यदि सबको अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार किसी कृतिको उत्कृष्ट या निकृष्ट ठहरानेकी छूट दे दी जाय तो अविलम्ब कला-जगत्में भयङ्कर अराजकता छा जाय। साथ ही जैसे राजनीतिक क्षेत्रमें लोकतान्त्रिक भावनावाले लोग, बहुमतसे निश्चित की हुई बातोंको सर्वमाननीय समझते हैं, वैसे कलामें हम बहुमतके अनुसार किसी कृतिको अच्छा या बुरा नहीं मान सकते, क्योंकि प्राय: बहुमत ऐसे व्यक्तियोंका होता है जिनमें कलाकी परीक्षा करनेका सामर्थ्य नहीं होता। अत: यह आवश्यक है कि कलाकृतिकी समीक्षाके लिये सार्वभौम रुचि तथा व्यापक सौन्दर्य-भावनाके आधारपर ही सिद्धान्त निश्चित किए जायँ।

यह सत्य है कि विश्वके अनेक प्रमुख समीक्ष्य-वादियोंने कला-परीक्षणके सम्बन्धमें कोई अपना अलग समीक्षा-सिद्धान्त स्थिर नहीं किया किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि सिद्धान्त स्थिर न करनेसे उनका समीक्षण ही दोष-पूर्ण हो गया। उन्होंने कलाके सम्बन्धमें जो भी कुछ ज्ञान दिया है उसका विवेचन यद्यपि सिद्धान्त-निरूपणके अभावमें हम नहीं कर पाते फिर भी उसके ज्ञानत्वमें किसी प्रकारका कोई अन्तर नहीं आता। अत: समीक्षाको ललित कला अथवा काव्य-रचना जैसी कोई कला या कौशल नहीं समझना चाहिए। समीक्षाको अलग एक कला समझनेकी भूलने ही ऐफ़० श्लेगल, सेन्त ब्यूवे तथा रस्किन जैसे विद्वान् स्वैरवादी (रोमांटिक) समीक्ष्यवादियोंकी अनेक भव्य कृतियोंका महत्त्व कम कर दिया है। यही दोष 'कलार्थ कला' (आर्ट फ़ौर आर्ट्स सेक)-आन्दोलनमें भी व्याप्त हो गया था, यहाँतक कि प्रभाववादी समीक्षा (इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म) की प्रणालीमें तो यह दोष चरम सीमातक पहुँच गया था। इस प्रकारकी कलात्मक समीक्षा करनेसे तो वह समीक्षा स्वयं एक नवीन रचना बन जाती है जैसे वाल्टर पेटरने 'पुनर्जागरण काल' (रिनैसाँ १९३९, पृष्ठ ११९) में

लागियो कोन्दापर जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमें लिखा तो गया है 'लियोनार्डोकी कला'पर, किंतु वास्तवमें हमें उससे वाल्टर पेटरकी कलाका ही परिचय अधिक मिलता है। अतः यह स्मरण रखना चाहिए कि 'मानदण्ड' और समीक्ष्य सामग्री दोनों एक प्रकृतिकी नहीं हो सकतीं। वास्तविक समीक्षा वही है जो उस कलाकृतिकी दासी होकर काम करे जिसे वह समझने या जिसका समीक्षण करनेका प्रयास करती हो।

### कौशलके अर्थमें समीक्षा भी कला या व्यवस्थित सोद्देश्य रचना

समीक्षा एक व्यवस्थित क्रिया होती है, क्योंकि वह कुछ सिद्धान्तों और नियमोंके अनुसार अनेक शताब्दियोंकी अनेक जटिल वृत्तियोंवाली परम्परामें बँधकर विकसित होती है। समीक्षा सोद्देश्य होती है क्योंकि उसका उद्देश्य होता है रचनाको पोषित करना और उसके सौन्दर्यका आनन्द लेना। समीक्षा स्वयं रचना भी है क्योंकि यद्यपि वह स्वयं कलाकृतियोंको जन्म नहीं देती किन्तु वह रचनाकी प्रक्रियामें निरन्तर योग अवश्य देती रहती है। कलाको कला अङ्गीकार करके, उसे अकलात्मकसे भिन्न करके, रचित कलाकृतिकी व्याख्या करके तथा नवीन रचनाके लिये मार्ग बनाकर, वह ( समीक्षा ) कलाकार और ग्राहक ( श्रोता, दर्शक या पाठक ) दोनोंके बीच मध्यस्थ बनकर दोनोंके हितों तथा स्वत्वोंका संवर्द्धन करती है। वह उस माध्यम या साधनको पुष्ट करती है जिसमें कलाका विकास होता है, साथ ही वह मानव-मात्रकी सौन्दर्यभाविता स्मृतिका प्रतिनिधित्व करती हुई यह निश्चित करती चलती है कि किस वस्तुको, किस प्रकार स्मृतिमें सुरक्षित किया जाय, क्योंकि समीक्षा जिस सौन्दर्य या कलात्मक पूर्णताको मानना और पोषित करना चाहती है, वह सौन्दर्य-विज्ञानके क्षेत्रका विषय है और क्योंकि समीक्षात्मक प्रक्रियाके सम्पूर्ण नियम इसी उद्देश्यपर केन्द्रित हैं, इसलिये हम समीक्षाको 'प्रयुक्त सौन्दर्य-विज्ञान' ( ऐप्लाइड ऐस्थैटिक्स ) कह सकते हैं।

अपनी इस उपर्युक्त विचित्र मध्यम-मार्गीय स्थितिके कारण समीक्षाको दो रूपोंमें विचारना चाहिए—

#### क. व्याख्या और मूल्याङ्कन

व्याख्या और मूल्याङ्कनमें भेद है। किसी वस्तुका सर्वाङ्ग-तत्त्व समझना और उसकी विशेषताओंपर मुग्ध होना दो अलग कार्य नहीं हैं वरन् समीक्षाकी

प्रक्रियाके ही दो समन्वित अङ्ग हैं। इनमेंसे जब हम प्रथम अर्थात् सर्वाङ्ग-तत्त्व समझनेका प्रयास करते हैं तब हमारी समीक्षा व्याख्यात्मक होती है। संसारकी प्रसिद्ध महत्कृतियोंपर जो समीक्षात्मक लेख लिखे गए हैं वे सब व्याख्यात्मक ही हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समीक्षा किसी कलात्मक महत्ताकी विनीत दासी है जिसका काम ही है केवल उस कलाकृतिका गुण गाना, उसकी विशेषताओंका डंका पीटना और उसकी प्रशंसाओंका पुल बाँधना। वह तो उसकी परीक्षिका भी है। अतः सहानुभूतिमय व्याख्या करनेसे पहले उसे भलीभाँति उस कलाकृतिको छान-फटक भी लेना चाहिए। यद्यपि कोई भी निर्णय बिना किसी सिद्धान्तके नहीं होता किन्तु समीक्ष्यवादीके मनमें स्थित कोई निश्चित सिद्धान्त कभी-कभी उसकी चेतनता या विवेक-बुद्धिको दुर्बल करके उसे नवीन कलात्मक उन्मेषणोंका आभास नहीं होने देता। फिर भी चाहे उसका निर्णय या मूल्याङ्कन कितना भी दोषपूर्ण हो किन्तु यह 'निर्णय करना' समीक्ष्यवादीका मौलिक कार्य है।

### ख. विशिष्ट अभिप्रशंसन (ऐप्रीसिएशन) तथा सार्वभौम सिद्धान्त

कभी-कभी किसी एक विशिष्ट सौन्दर्य-कृतिका अभिप्रशंसन एक ऐसी विशिष्ट 'पारिभाषिक' समीक्षाका रूप धारण कर लेता है जो केवल उसी कलाकृतिसे पूर्णतः सम्बद्ध होती है और जो प्रायः किसी सम्प्रदाय या आन्दोलनकी भावनासे आवेष्टित होती है। ऐसी विशिष्ट समीक्षा किसी निश्चित परिपाटीके युगोंमें ही अधिक पल्लवित हुई, विशेषतः उदात्तवाद (क्लासिसिज़्म) की परम्परामें, जिसमें हौरेस और ब्वालो जैसे व्यक्तियोंने समीक्षाके सिद्धान्त प्रतिपादित किए। इस प्रकारकी समीक्षाके दोषोंका स्पष्टीकरण जी० ई० लैसिंगने 'फ्रांसीसी नाटकीय नियमावली' (हाम्बुर्गिशे ड्रामाटुर्गी, १७६७–६६) की आलोचनामें किया था और कहा था कि 'इस विशिष्ट अभिप्रशंसनकी वृत्तिके कारण किसी विशिष्ट आदर्श या परिपाटीको शाश्वत नियम समझनेकी भूल भी हो सकती है।' दूसरी ओर, समीक्षाके साथ-साथ सौन्दर्य-विज्ञानके दार्शनिक तत्त्वोंका विधान कुछ इनी-गिनी रचनाओंमें ही ढूँढ़ना चाहिए। अरस्तूके काव्य-शास्त्रको ही लीजिए। वह 'कलाके दर्शन'पर सर्वप्रथम प्रयास है किन्तु साथ ही उदात्त समीक्षाका भी ग्रन्थ है। इसी प्रकार एस्० टी० कौलरिजकी कृति भी दार्शनिक विवेचन और समीक्षात्मक विधान दोनोंका समन्वय है जिसमें कल्पनाका उदात्त दार्शनिक तत्त्व भी कौलरिजके हाथमें पड़कर समीक्षात्मक

विश्लेषणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन बन गया, जिसके सहारे उसने यह तत्त्व खोज निकाला कि काव्य-द्वारा प्रस्तुत पूर्ण कल्पनाके भीतर शब्दोंमें कुछ पारस्परिक प्रतिक्रिया तथा अन्योन्याश्रयता होती है। उसीकी इस सूक्तको आजकल आई०ए० रिचार्ड्सने ( कौलरिज ऑन इमेजिनेशन, १९३५ में ) और उसके शिष्य विलियम एम्पसनने ( सेविन टाइप्स ऑफ़ एम्बिगुइटी, १९४० में ) नये रूपमें पुनरुज्जीवित करके प्रयुक्त किया है।

### समीक्षा और रचना

जहाँ कुछ विद्वान् समीक्षाको कलाकृति नहीं मानते, वहीं कुछ मनीषी ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि समीक्षा भी कला या साहित्यकी रचनात्मिका क्रियाका अनिवार्य अङ्ग है। प्रायः लोगोंका यह विश्वास है कि समीक्षा और रचना दो भिन्न प्रयोग हैं। वे केवल उस प्रकारके साहित्यको ही रचना मानते हैं जो स्वतन्त्र हो, अर्थात् जो, न तो किसी दूसरी साहित्यिक कृतिसे सम्बद्ध हो, न किसी दूसरी साहित्यिक कृतिके सम्बन्धमें कुछ कहती हो। ये मनीषी मानते हैं कि जिस प्रकार नाटक, काव्य, कथा आदि, साहित्यके विभिन्न रचनात्मक रूप हैं वैसे ही समीक्षा भी एक रचनात्मिका क्रिया है। स्वैरवादी ( रोमांटिसिस्ट्स ) कीट्स आदिने भी स्वीकार किया है कि 'समीक्षा जहाँतक विश्लेषणात्मक है वहाँतक वह रचनात्मिका प्रक्रियाका अपरिहार्य अङ्ग है।' यदि उसके संश्लेषणात्मक पक्षसे विचार किया जाय तब भी वह उतनी ही और वैसी ही 'रचना' है जितनी और जैसी अन्य कोई साहित्यिक कृति। समीक्षा और रचनामें जो यह संभ्रम उत्पन्न हुआ है, उसका कारण संभवतः यही है कि समीक्षा विज्ञान भी है और कला भी; क्योंकि विज्ञानके समान वह विशिष्ट कृतियोंका सूक्ष्म विश्लेषणात्मक परीक्षण करके उनके दोषों और गुणोंका सम्प्रेक्षण करती है तथा उनके आधारपर यथासंभव व्यापक सिद्धान्त प्रतिपादित करती है। उधर कलाके रूपमें, वह प्रेरणात्मक तथा प्रभावात्मक कृतियोंकी सृष्टि भी करती है।

यदि हम थोड़ी देरके लिये समीक्षा तथा अन्य रचनात्मक साहित्य (कविता, नाटक, उपन्यास आदि ) में अन्तर भी मान लें तब भी यह प्रश्न तो उठ ही सकता है कि वे कहाँतक एक साथ रक्खी जा सकती या एकत्र पाई जा सकती हैं? क्या वे दोनों शक्तियाँ एक ही व्यक्तिमें हो सकती हैं? क्या वे दोनों शक्तियाँ एक ही युगमें हो सकती हैं? विश्व-साहित्यका अध्ययन करनेपर दाँते,

गेटे, कौलरिज और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे कुछ इने-गिने ही ऐसे महापुरुष मिलेंगे जिन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ भी लिखे हैं और साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्रको भी सुन्दर रचनाएँ प्रदान की हैं। किन्तु केवल आलोचना तो प्राय: सभी युगोंमें हुई है। यह स्मरण रखना चाहिए कि योरोपके पुनर्जागरण-कालने साधारणत: समीक्षाके ऐसे विधान बनाए जिनकी ओर रचना अर्थात् रचनाकारोंने कोई ध्यान नहीं दिया। औगुस्टन-युगमें ये सब नियम आदेशके रूपमें दृढ़ कर दिए गए और उनका पालन भी किया जाने लगा किन्तु स्वैरवादियोंने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे उन नियमों और विधानोंकी पूर्णत: उपेक्षा की।

## आधार-वृत्तियाँ : चयन, जिज्ञासा और अहम्

मनुष्यमें समीक्षाकी वृत्ति स्वाभाविक है। छोटे-छोटे शिशु भी प्रेय और अप्रेय, रुचि तथा अरुचिकी वृत्तिसे सम्पन्न होते हैं। यद्यपि वे इस प्रेयस् और श्रेयस् तथा अप्रेयस् और अश्रेयस्का उचित कारण नहीं बता सकते किन्तु उनकी यह चयन-वृत्ति सदा सजग और सचेष्ट रहती है। हमारी दृष्टिसे गौका दूध बालकके लिये अत्यन्त हितकर तथा पौष्टिक पेय है किन्तु यदि किसी कारणवश बालकको दूधसे अरुचि हो गई है तो वह उसे अग्राह्य समझता है और यदि बलपूर्वक उसे पिलाया भी जाता है तो वह हाथ-पैर पटककर या रोकर उसका प्रतिरोध करता है। इस वृत्तिको चयन-वृत्ति या रुचि अर्थात् 'अपने मनके अनुकूल व्यक्ति या वस्तुको चुनकर ग्रहण करना' कहते हैं।

इसीके साथ-साथ मनुष्यमें यह भी स्वाभाविक वृत्ति होती है कि वह प्रत्येक अज्ञात, नवीन तथा अद्भुत वस्तुका परिचय, उपयोग, प्रयोग या विवरण जाननेको समुत्सुक रहता है—यह क्या है? यहाँ क्यों आई है? इससे क्या होता है? यह क्या करती है? इससे क्या लाभ है? इसके भीतर क्या है? आदि प्रश्न इसी कौतूहलसे उत्पन्न होते हैं और जो वृत्ति इस कुतूहलको उत्तेजना देती है वह जिज्ञासा-वृत्ति कहलाती है।

मनुष्यकी एक और तीसरी स्वाभाविक वृत्ति होती है जिसमें वह अपनी, अथवा अपनेसे सम्बद्ध या अपने प्रिय व्यक्तियों, वस्तुओं आदिकी बुराई नहीं सहन कर सकता। यहीं तक नहीं, वह अपनेको और अपने प्रिय व्यक्ति या पदार्थोंको अन्य व्यक्तियों या पदार्थोंसे श्रेष्ठतर समझता है—अपने एकाक्ष पुत्रको भी उसकी माता अन्य दो आँखवालोंसे सुन्दर और श्रेष्ठ ही मानती है। यह

अहंवृत्ति कहलाती है । इस वृत्तिमें यही आकांक्षा होती है कि जिसे मैं ठीक, प्रिय और सुन्दर समझूँ उसे ही दूसरे भी ठीक, प्रिय और सुन्दर समझें, । जो मैं कहूँ, उसे ही सब स्वीकार करें और जो मेरा मत है या जो मैं कहता हूँ वही शुद्ध, सटीक मत है । हम चुनाँ दीगरे नेस्त ( हमें छोड़कर कोई दूसरा है ही नहीं ) भावना ही इस अहंवृत्तिका मूल तत्त्व है और यही वृत्ति समीक्षाकी मूल प्रेरणा-शक्ति भी है ।

यदि हम विश्व-साहित्यकी समीक्षा-पद्धतियोंपर विचार करें तो उनमें व्यापक रूपसे ये ही तीन तत्त्व मिलेंगे—१. चयन-वृत्ति या रुचि, २. जिज्ञासा-वृत्ति और ३. अहंवृत्ति । इन तीनों वृत्तियोंने ही समय समयपर कभी अकेले और कभी समन्वित रूपसे कला-कृतियों अथवा साहित्यिक कृतियोंके परीक्षणके लिये लोगोंको प्रेरित किया है ।

यद्यपि समीक्षाके अन्तर्गत चयन, जिज्ञासा और अहंकी तीनों ही वृत्तियाँ काम करती हैं किन्तु. समीक्ष्यवादियोंने चयन, जिज्ञासा और अहंवृत्तिका संशोधन तथा परिष्कार करके उन्हें व्यक्तिगतसे समष्टिगत तथा ऐकदेशिक और ऐकान्तिकसे सार्वभौम बना दिया है । इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने संकुचित चयन, जिज्ञासा और अहंको इतना व्यापक बना दिया कि उस व्यापक चयन-वृत्ति, व्यापक जिज्ञासा-वृत्ति और व्यापक अहं वृत्तिसे किसी कलाकृति या साहित्यिक कृतिका परीक्षण कर लेनेपर जो परिणाम निकाले जायँ वे मानव-मात्र-द्वारा अनुमोदित तथा मान्य हों । ऐसे व्यापक परिणामों या सिद्धान्तोंका संस्थापन ही समीक्षा-शास्त्र है और उन व्यापक सिद्धान्तोंके अनुसार परीक्षण करना ही समीक्षा है । यही तात्त्विक समीक्षा-दर्शन है ।

# समीक्षाका प्रयोजन

संसारके समस्त प्राचीनतम समीक्षा-ग्रन्थोंमें कोई ऐसा प्रसङ्ग नहीं मिलता, जिसमें समीक्षाकी प्रकृति और उसके प्रयोजन अथवा कार्यका कुछ विवेचन किया गया हो, फिर भी संसारकी साहित्य परम्परामें आजतक कोई ऐसा समर्थ समीक्षक नहीं हुआ जिसका, कलाके सम्बन्धमें कोई अपना निश्चित दार्शनिक मत न हो अर्थात् जितने भी समर्थ समीक्षक हुए, सभीकी समीक्षा-वृत्ति किसी न किसी दार्शनिक तत्त्वपर अवलम्बित थी। प्लेटो ( अफ़लातून ) शुद्ध रूपसे सदाचारवादी था, इसीलिये उसके सिद्धान्तोंमें भी सदाचारवाद व्याप्त था यद्यपि उन सिद्धान्तोंमें सौन्दर्यवादी भावनाओंका भी कुछ समन्वय अवश्य था। इसी प्रकार अरस्तूकी चिन्तन-वृत्ति भी मुख्यतः वैज्ञानिक (सायंटिफ़िक), नैतिक (मौरल), निर्णयात्मिका ( जुडीशल ) तथा मूलतः मानवतावादी (ह्यूमनिस्टिक) थी। उसने सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषणके द्वारा काव्यको मनुष्यकी क्रियाके रूपमें जानने और उसकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया और यह भी प्रयास किया कि अन्य मानव-क्रियाओंसे काव्यका निरालापन अलग बना रहे। उसने सदा दर्शकों या पाठकोंका ध्यान करके ही काव्य या नाटकके उचित प्रभावोंकी समस्याका तथा उन प्रभावोंके कारणोंका भली-भाँति अध्ययन किया और विषय-सामग्री, कथा, पात्र, चरित्र, भाषा, शैली, विशेष रचना-कौशल, सम्भावना, सङ्गति तथा शील आदि प्रश्नोंका सूक्ष्म परीक्षण करके काव्यके अध्ययन या समीक्षणके विशिष्ट परिणाम प्रस्तुत किए।

## समीक्षाका प्रयोजन : महत्त्व-सिद्धि

अरस्तूके समयसे ही समीक्षा अनेक प्रयोजनोंसे लिखी गई, जिनमेंसे कुछ गौण हैं, जिन्हें हम विशिष्ट कारणसे प्रेरित ( टेलियोलौजिकल ) और तात्कालिक महत्त्वकी कह सकते हैं, जैसे कभी-कभी बोकैशियो, तासो, दाँते, ड्राइडन,

ह्यूगो, वर्ड्सवर्थ तथा टी० एस्० ईलियट आदिने 'स्वयं अपनी कृतिको समझाने तथा समर्थित करनेके लिये समीक्षा' लिखी। किन्तु यह कोई दार्शनिक प्रयोजन नहीं है, केवल व्यावहारिक है, चाहे उसका प्रासङ्गिक महत्त्व कितना भी महान् हो। इसीसे मिलता-जुलता, समीक्षाका यह भी प्रयोजन है कि वह कल्पनात्मक साहित्यका महत्त्व सिद्ध करे। ऐसी समीक्षाओंकी विश्व-साहित्यमें भरमार है।

कभी-कभी अन्य प्रयोजनोंसे भी समीक्षाएँ लिखी जा सकती हैं। यह बहुत सम्भव है कि काव्य-शास्त्र (पैरी पोइतिखीस या पोएटिक्स) लिखनेमें अरस्तूका यह भी उद्देश्य रहा हो कि मैं प्लेटो-द्वारा प्रस्तुत किए हुए आक्षेपोंका सटीक उत्तर दूँ। योरोपके मध्ययुग और पुनर्जागरण-युगमें तो अधिकांश समीक्षाएँ ऐसी ही थीं जो नैतिकता-वादियों ( मौरलिस्ट्स ) के आक्षेपोंके उत्तरके रूपमें थीं।

## समीक्षाका प्रयोजन : पथप्रदर्शन

आजकल बहुतसे समीक्षक यह कहा करते हैं कि कल्पनात्मक रचनाएँ (उपन्यास, नाटक आदि) अनीश्वरवादियों या नास्तिक संसारके लिये ही अधिक उपयुक्त हैं। अरस्तूकी भावनासे ठीक विपरीत, उसके कुछ तथा-कथित अनुयायियोंने यह स्वीकार किया कि 'समीक्षाका प्रयोजन है लेखकोंका मार्ग-प्रदर्शन करना और जनताकी रुचिके परिष्कारके लिये विधान बनाना।' पथ-प्रदर्शन करनेवाली समीक्षाके आदर्शका समर्थन हौरेसने भी किया था और पुनर्जागरण-कालमें भी यही मत सर्वमान्य रहा, यहाँतक कि स्कालिगरने तो यह गर्वोक्ति कही थी—'इसलिये हम कवि निर्माण करनेका दायित्व लेते हैं।' आजकल फ्रौयडवादियों ( मनो-विश्लेषणवादियों ) तथा अस्पष्टतावादियों ( ऑब्स्क्यूरेन्टिस्ट्स )-द्वारा कुछ आधे मनसे, किन्तु मार्क्सवादियों ( सोशल रीयलिस्ट्स या सामाजिक तथ्यवादियों )के द्वारा पूर्ण रूपसे यह सिद्धान्त मान्य हो गया है कि समीक्षाका प्रयोजन है 'लेखकोंका पथ-प्रदर्शन करना।'

## समीक्षाका प्रयोजन : लोकरुचिका परिष्कार

लोक-रुचिके परिष्कारके विधानके रूपमें समीक्षाका तात्पर्य स्पष्ट रूपसे यह आदेश देना है कि 'जनता किस वस्तुको प्रिय या रुचिकर समझकर स्वीकार करे तथा किस वस्तुको अप्रिय या अरुचिकर समझकर अस्वीकार करे; यह नहीं, कि जनताको क्या रुचिकर प्रतीत होता है।' अर्थात् जनताकी रुचिको ऐसा परिष्कृत कर दिया जाय कि जो वस्तु, क्रिया या आचार-विचार समीक्ष्यवादियोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठ, सुन्दर, भव्य और रुचिकर हो, उसे ही जनता भी श्रेष्ठ,

सुंदर, भव्य और रुचिकर समझे। इसीलिये योरोपमें हौरेससे लेकर वौल्तेयातक निरन्तर घोषित करते रहे कि अरस्तूने काल, स्थान और व्यापारके एकत्व ( यूनिटी ऑफ़ टाइम, प्लेस ऐन्ड ऐक्शन ) तथा अन्य जिन रूढियोंके पालनका आदेश दिया है उनका भली प्रकार आदर किया जाय। चैप्लेनने इस भावनाको चरमोत्कर्षपर पहुँचाया और उसके पश्चात् फ्रांसीसी रूढिवादियों (फ़ौर्मेलिस्ट्स)ने तो इसकी पराकाष्ठा कर दी। जनताका रुचिका परिष्कार करनेको ही समीक्षा समझनेका सिद्धान्त केवल उदात्तवादियों ( क्लासिसिस्ट्स ) या नवोदात्तवादियों ( निओ-क्लासिसिस्ट्स ) तक ही परिमित नहीं रहा। उनके पश्चात् भी जेफ़रीने जो निर्णयात्मक समीक्षाएँ लिखीं, स्वैरवादियोंने पोप और ब्वालोपर जो आक्षेप किए, स्वैरवादी कविताके जो आधुनिक विश्लेषण हुए तथा नव-मार्क्सवादी ( निओ-मार्क्सिस्ट ) समीक्षाके जो प्रयास हुए उनमें भी 'समीक्षाके द्वारा जनताकी रुचिका परिष्कार करना' ही सिद्धान्त मान्य हुआ, जिनमें केवल इसी आधारपर कोई रचना उत्कृष्ट समझ ली जाती है कि 'उसमें सामाजिक तथ्यवाद ( सोशल रीयलिज़्म ) उपस्थित है या नहीं।'

### समीक्षाका प्रयोजन : अभिप्रशंसन

इस सिद्धान्तसे ठीक विपरीत समीक्षाका एक नवीन रूप चला है जो केवल अभिप्रशंसन ( ऐप्रिसिएशन या गुण-वर्णन ) के रूपमें अथवा केवल अभिव्यक्ति-मात्रके रूपमें व्यक्त हुआ है और जिसका एच्० एल्० मेकन जैसे लेखकोंने जब प्रयोग किया तो बैबिट आदि अनेक समीक्षकोंने उसकी तीव्र भर्त्सना की।

### समीक्षाका प्रयोजन : लेखक तथा जनताकी सेवा

ऊपर समीक्षाके प्रयोजनके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त निर्दिष्ट किए गए हैं उन्हींसे मिलते-जुलते योरोपीय समीक्षकोंके ये दोनों सिद्धान्त भी हैं कि—

( १ ) समीक्षा लेखकोंकी सेवा करती है, तथा

( २ ) समीक्षा जनताकी सेवा करती है।

इनमेंसे पहला सिद्धान्त तो हौरेस, वीदा, ब्वालो और पोपके उन आदेशोंमें कुछ संकुचित रूपमें प्राप्त होता है जिनमें उन्होंने बताया है कि 'लेखकोंको अच्छे समीक्ष्यवादीसे निरन्तर परामर्श लेते रहना चाहिए।' यही विचार कुछ व्यापक रूपमें सेन्त व्यूवेने व्यक्त करते हुए कहा है—'जनता-द्वारा किया हुआ

मूल्याङ्कन ऐसा होना चाहिए कि उसकी सेवा-सहायतासे लेखक अपनेको भली-भाँति समझ सके और अपना उचित मूल्याङ्कन कर सके।' इसीका समर्थन करते हुए आरनोल्डने भी यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि 'किसी भी रचनामें सफलता प्राप्त करनेके लिये उसके सम्बन्धमें भरपूर समीक्षाका प्रयास कर लेना चाहिए' अर्थात् उसकी छानबीन या तो स्वयं भली-भाँति कर लेनी चाहिए अथवा दूसरोंसे करा लेनी चाहिए।

दूसरा, 'समीक्षा-द्वारा जनताकी सेवा करनेका सिद्धान्त' सब प्रकारकी विधानात्मक समीक्षामें अंतर्हित ही रहता है, क्योंकि उसमें समीक्ष्यवादीका सदा यह प्रयास रहता है कि वह जनताको दूषित साहित्यसे सावधान करके बचावे और सत्साहित्यकी ओर प्रवृत्त करे। व्यापक रूपसे किन्तु अधिक निश्चित व्यवस्थाके साथ यह जनताकी सेवा करनेकी भावना अविधानात्मक, निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक समीक्षामें विद्यमान रहती हैही। सेन्त ब्यूवेके अग्राङ्कित वक्तव्यमें इस सिद्धान्तका स्पष्ट आभास मिलता है—'समीक्षाका कार्य ही यह है कि वह समाजमें स्वस्थ रुचि उत्पन्न करके तथा साहित्यकी श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके समाजको समुन्नत करे और उसके शील तथा सदाचारको पुन: व्यवस्थित करे।' मेथ्यू आरनोल्डकी अग्राङ्कित परिभाषा भी इस सिद्धान्तके समर्थनका सबसे सुन्दर उदाहरण है—'संसारमें आजतक जो कुछ भी जाना या विचारा गया है उसमेंसे सर्वश्रेष्ठको ग्रहण करके उसके प्रचारका प्रयास करना ही समीक्षा है।' अभी कुछ वर्ष पूर्व आउडनने इसी मतको अपने सिद्धान्तमें पुन: दुहराते हुए कहा है—'समीक्ष्यवादीका कर्त्तव्य, अतीतकी संस्कृतियोंके ज्ञानका प्रसार करना भी है तथा पाठकको मानव-जीवनमें व्याप्त एकता, उसके (समीक्ष्यवादीके) अपने अनुभवके साथ कलाकृतिकी सङ्गति या मेल तथा कलात्मक महत्त्वोंका अन्य महत्त्वोंसे सम्बन्धका परिचय देना भी है।'

## निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक समीक्षा

जिन प्रमुख रूपोंमें समीक्षाकी अभिव्यक्ति होती है वह या तो निर्णयात्मिका होती है या व्याख्यात्मिका, यद्यपि व्यवहारमें ये दोनों रूप एकमें ही समन्वित रहते हैं। होमरकी रचनाओंको अध्यवसान या रूपक (ऐलैगरी) माननेवाले जितने प्राचीन हैं, उतना ही यह सिद्धान्त भी पुराना है कि समीक्ष्यवादीको साहित्यिक कृति तथा पाठकके बीच, ग्रन्थ और ग्रन्थकारके व्याख्याताके रूपमें उपस्थित होना चाहिए। फिर भी समीक्षाका यह सिद्धान्त निश्चित रूपसे

उन्नीसवीं शताब्दीमें हेगेल और कारलाइल-द्वारा स्थापित और समुन्नत किया गया कि 'समीक्षाका उद्देश्य जानना और जतलाना है।' तबसे आजतक समीक्षाका यही प्रयोजन माना जाता रहा है और वर्त्तमान कालमें स्पिगार्न, जे० एम्० मरी, कज़ामिश्रों तथा ऐडमंड विल्सन आदि सभी इसी सिद्धान्तको मानते हैं। यह व्याख्या किस रूपमें होनी चाहिए इसका वर्णन अनेक प्रकारसे किया गया है। कारलाइलका कथन है—'समीक्षामें मुख्य प्रश्न है स्वयं काव्यका तत्त्व और उसका विलक्षण जीवन। समीक्षा तो, भावित (इन्स्पायर्ड) तथा अ-भावित (अन-इन्स्पायर्ड) के बीच, तथा दैवज्ञ (प्रोफ़ैट) और उसके शब्दोंकी स्वर-लहरीके साथ गूँजे हुए महत्त्वपूर्ण अर्थकी झलक पाकर भी उनका गहनतर भाव न समझ सकनेवाले श्रोताओंके बीच, व्याख्याके रूपमें अवस्थित है।' पी० ई० मोरका मत है—'समीक्ष्यवादीके कार्यका कमसे कम एक अंश 'अतीतमेंसे वर्त्तमानकी सचेतन रचना करना' भी है।' कज़ामिश्रोंने समीक्षाको अत्यन्त समृद्ध रचनात्मक क्रिया मानते हुए यह तर्क दिया है—'किसी रचनाकी समीक्षा करनेका अर्थ यह है कि जिस शक्तिने उस रचनाको जन्म दिया है उसकी व्याख्या करे, उसके विकासकी विभिन्न श्रेणियोंको पुनः जीवित करे और उन प्रेरणा-तत्त्वों तथा उद्देश्योंका उपभोग करे, जिनसे वह अब भी ओत-प्रोत है।'

## निर्णय देना ही समीक्षा

प्राचीनतम समीक्षाओंमें भी यह बात तो देखनेको मिलती ही है कि समीक्षाकी कला 'भली प्रकार निर्णय करने'में ही है। नवीनतम समीक्षाओंमें तो यह बात अर्थात् निर्णय देनेकी बात स्पष्ट रूपसे प्रकट ही कर दी गई है। आई० ए० रिचार्ड्सने कहा है—'समीक्ष्यवादी होनेका अर्थ ही यह है कि वह किसी वस्तु या कृतिके गुण-तत्त्वों या मूल्योंका निर्णायक बने।' किन्तु वास्तविक निर्णयात्मिका समीक्षा करना केवल किसी रचनापर या उसकी विशेषताओंपर निर्णय देना भर ही नहीं है। उसका कार्य इससे कुछ और आगे है। यह भी नहीं समझना चाहिए कि निर्णयात्मक समीक्ष्यवादी सदा अटल नियमोंमें बँधकर ही चलता है। निर्णयात्मक समीक्ष्यवादीका उद्देश्य यह है कि वह ज्ञान, विश्लेषण तथा तुलनाके आधारपर प्रत्येक रचनाका वास्तविक मूल्य या महत्त्व स्थिर करे। उसका काम विश्लेषण करना है इसलिये उसे अपनी समीक्ष्य सामग्रीके सम्बन्धमें सब बातें भली प्रकार अवश्य जान लेनी चाहिएँ। यदि वह वास्तवमें विवेक-पूर्वक तुलना करके किसी निर्णयपर पहुँचना चाहता है तो

उसे, प्राचीन और वर्त्तमान, दोनों युगोंकी कृतियोंका, अन्य देशों तथा संस्कृतियोंकी रचनाओंका तथा अपने देश और संस्कृतिकी रचनाओंका पूर्ण परिज्ञान होना चाहिए अर्थात् संसारमें आजतक जितना भी, जो कुछ, सर्वश्रेष्ठ ज्ञान समझा और लिखा गया है उस सबका ज्ञान समीक्ष्यवादीको होना चाहिए।

अच्छे निर्णयात्मक समीक्ष्यवादी केवल तर्क-संगतिपर ही पूर्णतः अवलंबित नहीं रहते। स्वयं निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक समीक्ष्यवादी टी० एस्० ईलियटने लिखा है—'समीक्षा तो सज्ञानताका विकास है।' इस बातका समर्थन सेन्त ब्यूवे, ड्राइडन, जौन्सन और आरनोल्ड सभीने अपने-अपने ढंगसे किया है। जौन्सनने कहा है—'किसी रचनाकी सुन्दरताएँ किसी साक्ष्य या प्रमाणके द्वारा नहीं दिखाई जा सकतीं, अतः वे पूर्णतः कल्पनापर छोड़ दी जाती हैं।' आरनोल्डका मत है कि निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक तो है किन्तु उसकी व्याख्या करते हुए वह समझाता है—'निर्णय जो किसी निष्पक्ष और शुद्ध मस्तिष्कमें बिना किसी विवेक-क्रियाके स्वयं नये ज्ञानके साथ आ बैठता है, वही महत्वपूर्ण है और यदि वह व्यक्ति नीरस विधान-निर्माताका रूप धारण करनेके बदले, सहचर तथा संकेतकके रूपमें, बिना किसी प्रकारके बौद्धिक प्रयासके, अपना निर्णय उस नवीन ज्ञानके साथ-साथ दे डाले तो वह पाठकका अधिक हित कर सकता है।'

## अच्छे लेखनके सिद्धान्तोंका अन्वेषण और प्रयोग

यहाँ आरनोल्ड, निर्णयात्मक समीक्षाके जिस विशेष प्रकारकी भावनाने समर्थन किया है उसे स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिए। इसे हम 'अच्छे लेखनके सिद्धान्तोंका अन्वेषण और प्रयोगके रूपमें समीक्षा' कह सकते हैं। समीक्षाकी अधिक सच्ची कसौटियाँ ढूँढ़नेके प्रयासमें संसारके सर्वश्रेष्ठ समीक्ष्यवादियोंने अरस्तूसे लेकर ड्राइडन, जौन्सन, लेसिंग, कौलरिज, ब्रूनेतिए तक और वर्तमान युगमें क्रोचे, रिचार्ड्स, ईलियट, टेट, रैंसम, फ्रोएस्टेर आदि सभीने 'अच्छे लेखन-सिद्धान्तोंके अन्वेषण और प्रयोग'को ही समीक्षाका महत्वपूर्ण प्रयोजन माना है। एच्० एम्० जोन्सने अभी थोड़े दिन पूर्व यह अभ्यर्थना की है कि वर्त्तमान समीक्षामें कुछ अधिक 'व्यापक विचार' लाने चाहिएँ। ऐसे सटीक व्यापक विचार लानेके लिये यह जानना चाहिए कि काव्य क्या है? (या थोरिल्डके शब्दोंमें 'यह जानना चाहिए कि जिसके विषयमें हम कुछ कह रहे हैं वह क्या है?'), जिन प्रक्रियाओंसे काव्यकी

रचना की जाती है, जिन सिद्धान्तोंके द्वारा वह मानव-मस्तिष्कको प्रभावित करता है, वे क्या हैं ? अर्थात् उन सिद्धान्तोंको जानना चाहिए जिनके आधारपर काव्यकी रचना होनी चाहिए । इस आदर्शका उदाहरण कौलरिजसे बढ़कर योरोपीय साहित्यमें दूसरा नहीं है । भारतीय संस्कृत साहित्यमें जितने भी महाकवि हुए हैं उन सबने काव्यके सिद्धान्त और प्रयोजनोंका अध्ययन करके ही अपने ग्रन्थोंकी रचना की है और साहित्य-शास्त्रियोंने उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर उन काव्योंकी विवेचना भी की है । अत: आदिकवि वाल्मीकिसे लेकर आजतकके सभी कवियोंकी विवेचना उन सिद्धान्तोंके आधारपर ही हुई जो इस प्रकार व्यवहृत होते-होते पूर्णत: रूढ हो गए और जिन्होंने संस्कृतसे प्रभावित समस्त देशी भाषाओंकी विवेचना-पद्धति भी उसी रङ्गमें रँग दी ।

कौलरिजका कहना था—'जैसे किसी ज्योतिर्विद्के लिये सूर्य ग्रहमें स्थित हुए बिना सौर-मण्डलकी गति समझाना असम्भव है उसी प्रकार जबतक साहित्य-रचनाके समस्त क्षेत्रको एक साथ दृष्टिगत करानेका कोई केन्द्रीय स्थल मनुष्य प्राप्त न कर ले तबतक उसके लिये सच्चा समीक्ष्यवादी होना भी असम्भव है ।' इसीकी व्याख्या करते हुए कौलरिज कहता है—'दूसरोंके द्वारा रचे हुए ग्रन्थोंपर निर्णय देनेके 'नियम' गढ़नेकी अपेक्षा, रचना करने या लिखनेके सिद्धान्त स्थापित करना समीक्षाका अधिक आवश्यक उद्देश्य है ।' वह आगे लिखता है—'मैं उसी परीक्षणको निष्पक्ष, शुद्ध और दार्शनिक मानता हूँ, जिसमें समीक्ष्यवादी, व्यापक रूपसे काव्यके आधारभूत सिद्धान्तोंकी स्थापना करनेका प्रयत्न करता है और जिनमें वह विभिन्न प्रकारके काव्योंपर उनके प्रयोगका स्पष्ट निर्देश करता चलता है । इस प्रकार समीक्षाका अपना मानदण्ड प्रस्तुत करके वह उन विशेष कृतियोंका स्पष्ट निर्देश करेगा जिनपर, उसके द्वारा निर्धारित मानदण्डके नियमोंका, उसकी समझमें, प्रयोग हो सकता है ।' यही अरस्तूका 'अनुभवाश्रित आदर्श' ( ऐम्पिरिकल आँइडियल ) भी है । इसी आदर्शपर ड्राइडनने अपना प्रसिद्ध 'नाटकीय काव्यपर निबन्ध' ( ऐसे ऑफ़ ड्रैमैटिक पोएज़ी ) लिखा, ऐडीसनने अपना 'कल्पनाके आनन्द' ( प्लेज़र्श ऑफ़ दि इमेजिनेशन ) लिखा और सेमुएल जौन्सनने भी इसी भावनाका आदर करते हुए कहा—'समीक्षाका उद्देश्य है सत्य ।' अच्छी रचनाके सिद्धान्तोंकी विवेचना करते हुए उसने कहा—'काव्य-रचनाके अभ्यासने सिद्धान्त स्थिर किए हैं, सिद्धान्तोंने काव्य-रचनाका अभ्यास नहीं स्थिर किया है ।'

### सुविचारका सिद्धान्त

फ्रांसके नवोदात्तवादियोंने सुविचार या विवेक ( गुड सैन्स ) को ही समीक्षाकी कसौटी बताया था। इस सिद्धान्तके प्रवर्तक थे ब्वालो, समर्थक थे ड्राइडन और जौन्सन। इनका कथन था कि 'समीक्ष्यवादीमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह स्थितियों या विषयोंके औचित्यको ठीक पहचान सके। इस औचित्यका तात्पर्य यह है कि उसे अतीतकी घटनाओंका क्रमिक ज्ञान होना चाहिए तथा विषयोंके कार्य-कारणका बुद्धिसङ्गत परिचय होना चाहिए।' उनका मत है कि 'बुद्धि-सङ्गत या सामान्य बुद्धिकी बात यही है कि असत्से सदा असत्की उत्पत्ति होती है और सत्से सदा सत्की।' इसीलिये इन समीक्षा-शास्त्रियोंका यह मत था कि 'नाटकों या उपन्यासोंके पात्रोंके चरित्र-विकासमें एक प्रकारकी सङ्गति होनी चाहिए।' इस सङ्गतिको स्पष्ट करनेके लिये फ्रांसके उदात्तवादी नाटककार अपने नाटकोंमें एक विशेष पात्रकी सृष्टि करते थे जिसका नाम फ्रान्सीसी आलोचकोंने 'बोँ सेँ' ( पार्श्व-स्थित ) रख दिया है जो नाटकीय सङ्घर्षमें भाग लेनेवाले व्यक्तियोंकी भूलों और त्रुटियोंपर उनका दोष दिखाते हुए नाटककारके सन्तुलित विचार कहता चलता था। किन्तु यह सुविचारका सिद्धांत भी उपर्युक्त विवेचनके अन्तर्गत ही आ गया है क्योंकि यदि उचित ढङ्गसे देखने और समझनेका ही अभाव होगा तब तो समीक्षाका अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा। अतः इस सुविचारको हम समीक्षाका प्रयोजन न मानकर साधन-मात्र ही मानते हैं।

### समीक्षासे लाभ

समीक्षा कई प्रकारसे, कई प्रकारके व्यक्तियों तथा वर्गोंके लिये लाभकर सिद्ध हो सकती है—

१. स्वयं समीक्ष्यवादीके लिये ही वह (समीक्षा), संयत आत्माभिव्यक्तिका ऐसा स्वर्णद्वार है जिसमें प्रवेश करके वह जान जाता है कि 'मुझे किसके लिये क्या बात, कब, किस परिस्थितिके अनुसार, किस ढंगसे कहनी चाहिए।' अभिव्यक्तिकी इस व्यापक रीतिके ज्ञानके साथ उसके विवेकका तथा सौन्दर्यके उचित अभिप्रशंसन तथा गुण-ग्राहकताकी भावनाका भी अभिवर्धन होता चलता है जिससे उसकी सौंदर्य-भावना तथा विवेचना-वृत्तिका परिष्कार हो जाता है और उसकी स्वाभाविक चयन-वृत्ति, जिज्ञासा-वृत्ति और अहंवृत्ति अधिक संयत तथा सुप्रवृत्त हो जाती है।

२. समीक्षाके द्वारा समीक्ष्यवादी केवल किसी एक विशिष्ट लेखकका अभिप्रशंसन करके, केवल उस लेखकका ही हित, कल्याण तथा उचित पथप्रदर्शन नहीं करता वरन् उस अभिप्रशंसन या समीक्षा-द्वारा वह व्यापक रूपसे सब लेखकोंके लिये ऐसा मार्ग-निदर्शन करता है जिससे लेखक न तो बहुत रूढ़िमें ही लिपटा चले, न रूढ़िसे पूर्णतः विलग ही हो जाय।

३. समीक्षाकी सहायता पाकर कोई भी लेखक अपनी किसी विशेष साहित्यिक रचनाके लिये विषय-सामग्री भली प्रकार चुनने, संग्रह करने, सजाने और प्रयोग करनेका कौशल जान सकता है, अर्थात् कोई नवीन रचना करते समय समीक्षाके सिद्धांतोंका आश्रय लेकर वह यह जान सकता है कि मुझे अपनी अमुक रचनाके लिये कहाँसे सामग्री प्राप्त होगी? उस सामग्रीका कितना अंश मुझे अपनी रचनाके लिये ग्रहण करना चाहिए और कितना छोड़ देना चाहिए? इस ग्राह्य सामग्रीको किस क्रमसे रखकर, किस प्रकार अलंकृत करके आकर्षक तथा सहृदय-हृद्य बनाना चाहिए? और, किस प्रकार इस सामग्रीका प्रयोग अपनी रचनामें करना चाहिए?

४. समीक्षाके द्वारा जनताका मनोविनोद भी होता है, क्योंकि लोग काव्यके परीक्षण और विवेचनकी कसौटियोंके द्वारा किसी भी रचनाका उचित आनंद ले सकते हैं। साथ ही, समीक्षाके द्वारा जनताको यह भी शिक्षा मिलती चलती है कि वास्तवमें अच्छी रचना कैसी होती है? किन सुंदरताओंके कारण कोई रचना अच्छी कही जाती है? और, किन दोषोंके कारण कोई रचना बुरी और त्याज्य समझी जाती है? इस प्रकार समीक्षाके द्वारा जनताकी रुचि और वृत्तिका परिष्कार होता है और उनकी सौंदर्य-भावना तथा विवेचना-शक्तिका संवर्द्धन होता रहता है।

५. मेथ्यू आरनोल्डने कहा है—'लोक-सामान्य संस्कृति और प्रतिभाके विकासके लिये जो उर्वर क्षेत्र आवश्यक है उसके उच्च स्तरके पोषणमें भी समीक्षा सहायक हो सकती है।' तात्पर्य यह है कि समीक्षाके द्वारा हम व्यापक रूपसे जनताका उच्चतर सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास भी कर सकते हैं।

## समीक्षाके उद्देश्य

ऊपर जो विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि समीक्षक तो केवल देखता, समझता और अध्ययन-मात्र करता है। यह भी सम्भव है कि वह इस

दर्शन, मनन और अध्ययनकी प्रतिक्रियाके रूपमें कुछ आचरण भी करे, किन्तु समीक्षाका कार्य केवल इस ईक्षण मात्रसे समाप्त नहीं हो जाता। उसके लिये यह भी अपेक्षित है कि 'जिस वस्तुका समीक्षण या भली प्रकार दर्शन तथा अध्ययन होता है, वह यदि वास्तवमें समीक्ष्य अर्थात् भली प्रकार देखने और समझनेके योग्य है, तो उसका समीक्षक मुखर होकर अर्थात् समीक्ष्यवादी बनकर उस समीक्ष्य वस्तुका दूसरोंको बोध करावे, दूसरोंमें उसे देखने और अध्ययन करनेकी प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार उत्पन्न करे, दूसरोंमें उस समीक्ष्य वस्तुके देखनेसे उत्पन्न होने योग्य प्रतिक्रियाके स्फुरणमें योग दे और उस स्फुरणसे अभिव्यक्त होनेवाले उचित आचरणके व्यवहारकी प्रेरणा दे।' सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वयं उस समीक्ष्य वस्तु अर्थात् साहित्यिक कृतिके ज्ञेय तत्त्वोंका परिज्ञान करके और दूसरोंको उनका परिज्ञान कराकर उस प्रकारकी रचना करनेकी ओर तथा उस प्रकारकी अन्य रचनाओंमें आनंद लेनेकी ओर दूसरोंको प्रवृत्त करे।

## उद्देश्योंका वर्गीकरण

पीछे हम आरनोल्ड-द्वारा प्रस्तुत समीक्षाके उद्देश्यका यह विवरण बता आए हैं कि 'आजतक संसारमें जो कुछ भी जाना या विचारा गया है उसमेंसे सर्वश्रेष्ठको ग्रहण करके उसके प्रचारका प्रयास करना ही समीक्षा है।' किन्तु यह परिभाषा अत्यंत संकुचित, अस्पष्ट और अधूरी है, क्योंकि ऊपर जो विवेचन दिया गया है उससे यह स्पष्ट है कि समीक्षामें, किसी वस्तुका अध्ययन होता है, साङ्गोपाङ्ग विवेचन होता है, विशेषताओंका अभिप्रशंसन होता है, सब तत्त्वोंका विश्लेषण होता है, सावधान करनेके लिये दोष-प्रदर्शन किया जाता है, रचनाके उचित अध्ययनके लिये कविके उद्देश्य, उसके युगकी समस्या, कविपर उनका प्रभाव, रचनाकी परिधि, अन्य काव्योंसे उसकी तुलना तथा आगेके लिये आदेश आदि, सभी बातें आती हैं और यह सब कार्य केवल सत्यका ज्ञान और प्रचार-मात्र नहीं है। अतः इन सब दृष्टियोंसे हम समीक्षाके उद्देश्योंको तीन विभागोंमें बाँट सकते हैं—

१. विवेचन : जिसके अंतर्गत वैज्ञानिकके समान समीक्ष्य वस्तुके सब अङ्गोंका विश्लेषण, युगप्रवृत्तिका कविपर प्रभाव, कविका उद्देश्य, काव्यके गुण और दोष आदिका अध्ययन होता है।

२. तुलना : जिसके अंतर्गत किसी एक विशिष्ट रचनाकी तुलना उसी कविकी अन्य रचनाओंसे, उसी भाषाके अन्य कवियोंकी उसी प्रकारकी

रचनाओंसे या अन्य प्रकारकी रचनाओंसे अथवा अन्य भाषाओंकी उस प्रकारकी या अन्य प्रकारकी रचनाओंसे की जाती है ।

३. प्रेरणा : जिसके अन्तर्गत समीक्ष्यवादीके वे सभी संकेत और सिद्धान्त आते हैं जिनके द्वारा वह निर्देश करता है कि 'इस प्रकार किसी रचनाका आनंद लो, इस प्रकार औरोंको इस रचनाका सौन्दर्य बताओ, इस प्रकारके दोषसे सावधान रहो, इस प्रकारकी रचनाओंकी ओर प्रवृत्त हो तथा इस प्रकारसे रचना करो ।'

---

# समीक्ष्यवादी

समीक्षाके उद्देश्योंका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट है कि समीक्ष्यवादी वास्तवमें पठित समाजका वह अग्रणी, नेता या मुखिया है जिसका कार्य स्वयं सम्बुद्ध होकर दूसरोंको सजग और प्रबुद्ध करना है और जिसके स्वयं सशक्त, सम्बुद्ध और सज्ञान न होनेसे समाजगत सौन्दर्य-भावना और विवेचना-वृत्तिमें अनेक दोष आ सकते हैं।

पीछे बताया जा चुका है कि समीक्षक, समीक्ष्यवादी और समीक्षा-शास्त्रीमें बड़ा अंतर है। समीक्ष्यवादीकी पहचान बताते हुए हम कह आए हैं कि 'समीक्ष्यवादी वह प्राणी है जो किसी दर्शनीय वस्तुको स्वयं देखकर, उसकी भली-भाँति परीक्षा करके, दूसरोंको उसकी विशेषताओं या उसकी द्रष्टव्यताका ज्ञान करावे'।' योरोपमें समीक्ष्यवादीकी एक अत्यंत साधारण चलती-सी परिभाषा बताई गई है कि 'जो व्यक्ति साहित्य या कलाकी समीक्षा करनेमें कुशल हो उसे क्रिटिक ( आलोचक या समीक्ष्यवादी ) कहते हैं।'

## समीक्षककी वृत्ति

कोई रचना किसीको क्यों अच्छी लगती है ? इस प्रश्नकी मीमाँसा करनेपर ही समीक्षकका ठीक रूप समझमें आ सकता है। साधारणतः किसी वस्तुका अच्छा या बुरा लगना मनुष्यकी व्यक्तिगत रुचिपर निर्भर है। यह रुचि या तो उसके इंद्रियगत सुखके आधारपर बनी होती है अथवा उसकी वासनाको तुष्टि, तृप्ति या प्रेरणा देनेवाली होती है, अर्थात् जो वस्तु हमें स्वादिष्ट, सुननेमें अच्छी, सूँघनेमें सुगंधित, छूनेमें चिकनी, ठण्ढी और कोमल तथा देखनेमें सुहावनी लगती हो उसीको हम अच्छा समझते हैं; या, कहानियाँ सुनने, व्यायाम करने, चित्रकारी करने अथवा विलास करने आदिसे सम्बद्ध वस्तुओं, विषयों या या वर्णनोंमें जो हमारी वासनाओंका विवरण, चित्रण या विवेचन होता है उनमें

भी हमारी स्वाभाविक रुचि होती है और हम उसे ही अच्छा कहने और समझने लगते हैं। किन्तु यह रुचि पूर्णतः व्यक्तिगत रुचि है जो, कुछ अंशोंमें और कुछ सीमातक सार्वभौम श्रेष्ठताका समर्थन करती है किन्तु पूर्णतः सार्वभौम सुंदरता या श्रेष्ठता-तक व्याप्त नहीं होती। अतः, यह व्यक्तिगत रुचि समीक्षाकी दृष्टिसे सर्वतः ग्राह्य नहीं है। फिर भी इसका तात्पर्य यही है कि 'जब किसी रचनाकी भाव-भूमि (चाहे वह चित्र, व्यसन या कविताकी ही हो) हमारी भाव-भूमिको प्रभावित या उत्तेजित करती है,' अथवा पारिभाषिक शब्दावलीमें हम कह सकते हैं कि 'जब किसी पदार्थकी भाव-भूमि हमारे हृदयकी भाव-भूमिको भावित करती है तब वह हमें अच्छी लगने लगती है। अतः जो काव्य या साहित्यक रचना अपनी भाव-भूमिसे हमारे हृदयको स्पर्श करती है या हमारा हृदय उससे भावित होता है तब वह कविता हमारे लिये प्रिय हो जाती है और प्रिय होनेपर हम उसमें उसी प्रकार श्रेयस् या कल्याण ढूँढ़ने लगते हैं जैसे अफ़ीमवाले अफ़ीममें या गाँजेवाले गाँजेमें ढूँढ़ते हैं और जिसकी प्रशंसामें वे कह उठते हैं—'जिसने न पी गाँजेकी कली, उस लड़केसे लड़की भली।' इसी आधारपर काव्य-समीक्षाका भी एक व्यक्तिगत पक्ष होता है, जिसमें कोई व्यक्ति अपने हृदयकी भाव-भूमिको भावित करनेवाली रचनामें पक्षपात-पूर्ण होकर केवल गुण ही गुण ढूँढ़ने और बताने लगता है। यह व्यक्तिगत भाव-भूमि उस व्यक्तिकी प्रवृत्ति, योग्यता और रुचिपर पूर्णतः अवलम्बित होती है या यों कहिए कि इन्हींसे निर्मित होती है। इसका यह भी तात्पर्य है कि कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो किसी एक ही प्रकारके वर्गकी योग्यता, रुचि और प्रवृत्तिसे निर्मित भाव-भूमिको ही भावित करने या स्पर्श करनेमें समर्थ होती हैं। अतः, इस प्रकार इस एक-पक्षीय भावनासे भावित और रचनासे प्रभावित व्यक्तियोंकी समीक्षा सदा पक्षपात-पूर्ण, एकांगी, अतिरञ्जित और इसीलिये असत्य भी होती है, और इसीलिये वह न तो सार्वभौम हो पाती है, न सर्वग्राह्य और सर्वमान्य।

### व्यक्तिगत और व्यापक भाव-भूमि

उपर्यङ्कित सङ्कुचित तथा एकाङ्गी भाव भूमिवाली रचनाओंसे भिन्न वे सार्वभौम भाव-भूमिसे युक्त तुलसी जैसे कवियोंकी व्यापक रचनाएँ होती हैं जिनमें मानव-समाजके सब वर्गों, रुचियों, प्रवृत्तियों और वृत्तियोंको भावित करनेकी समन्वित सामग्री विद्यमान रहती हैं और जिसमें जीवनके इतने पक्ष,

इतने रूपोंमें प्रस्तुत रहते हैं कि प्रत्येक प्रकारके व्यक्तिकी भाव-भूमि, उन रचनाओंके किसी न किसी भाव-भूमि-पक्षसे अवश्य भावित हो जाती है। ये रचनाएँ सार्वभौम होती हैं और ऐसी रचनाओंसे बहु-भावित व्यक्ति ही निष्पक्ष रूपसे उसकी समीक्षा करनेमें सफल हो सकता है। अतः समीक्ष्यवादीके दो रूप हुए—एक, व्यक्तिगत भाव-भूमिसे युक्त; दूसरा, सार्वभौम भावभूमिसे युक्त।

## समीक्ष्यवादी कहाँसे आता है ?

किसी भी कलाकृति या साहित्यिक रचनाका अध्ययन करनेवाला ही उसका समीक्ष्यवादी हो सकता है यह निर्विवाद है। अतः, इसका तात्पर्य यह है कि समीक्ष्यवादी तीन प्रकारके व्यक्तियोंमेंसे निकल सकते हैं—

१. साधारण पाठक।

२. सभ्य, शिक्षित, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति।

३. रचनाकार, कलाकार या कवि।

पीछे समीक्षककी व्याख्यामें यह बताया जा चुका है कि ये तीनों ही समीक्षक तो हो सकते हैं किंतु इनमेंसे समीक्ष्यवादी केवल वही हो सकता है जिनमें समीक्षा करनेकी योग्यता और समर्थता भी हो। अतः यह भी विचार कर लेना चाहिए कि यह योग्यता और समर्थता क्या है।

## ग्राहककी वासना

आजकलके विद्वान् मानते हैं कि 'प्रत्येक श्रोता, दर्शक, पाठक या अन्य जो भी व्यक्ति किसी कलाकृति या साहित्यिक रचनाका अध्ययन करता है या उसका गोचर अनुभव करता है, वही ग्राहक (रिसैप्टर) कहलाता है।' इन ग्राहकोंमेंसे कुछ तो स्वयं समीक्षक बन जाते हैं, जिनकी समीक्षा-वृत्ति कुछ तो अपनी व्यक्तिगत रुचि या भावनाके अनुसार होती है और कुछ रूढि या शास्त्रके आधारपर। इधर पाठककी इसी व्यक्तिगत रुचिको ध्यानमें रखकर, आजकलके समीक्ष्यवादी आजकी साहित्यिक कृतियोंकी समीक्षा उसी तुलासे नहीं करते जिस तुलासे वे होमर, दाँते या शेक्सपियरकी करते हैं। ये लोग अपनी समीक्षाओंमें ग्राहककी रुचि या अरुचिका भी ध्यान रखते हैं, अतः ग्राहकोंको हम दो रूपोंमें पाते हैं—एक तो स्वयं समीक्षक और दूसरे वे समीक्षक, जो ग्राहकोंकी व्यक्तिगत रुचिसे युक्त समीक्षाको दृष्टिमें रखकर किसी कृतिकी समीक्षा करते हैं। ग्राहक या पाठक-समीक्षक विस्तारके साथ भले ही समीक्षा न करता हो किंतु वह किसी कृतिका अध्ययन करनेके पश्चात् सकारण ऐसा विवरण तो उपस्थित करता ही है कि अमुक ग्रन्थ

मुझे क्यों अच्छा लगा या मुझे क्यों अच्छा नहीं लगा। इस विवरणको भी समीक्षाका ही एक रूप समझना चाहिए। इनमेंसे सभी ग्राहकों ( पाठक, श्रोता या दर्शक ) को काव्यका वास्तविक रस नहीं मिल पाता, क्योंकि सबमें काव्यका रस लेनेकी वासना या संस्कारता नहीं होती।

## आदर्श पाठक

कुछ लेखकोंने तो इसी विचारसे अपनी कृतियोंमें एक पात्र प्रस्तुत करना आरम्भ किया है जो पाठकका प्रतिनिधित्व करता है और जो आश्चर्य, उत्तेजना, प्रशंसा आदिके उन भावोंके अनुभवकी अभिव्यक्ति अपनी चेष्टाओंसे करता चलता है जिनके सम्बन्धमें लेखकको यह विश्वास है कि हमारी कृति पाठकके मनमें इन भावोंको जागरित करेगी ही ; अर्थात् इस विशिष्ट पात्रके द्वारा वे जनताको यह शिक्षा देते चलते हैं कि अमुक वक्तव्य, दृश्य, घटना या कार्यपर तुम्हारे मनमें अमुक भाव उठना ही चाहिए जैसे—अँगरेज़ीके 'दि एँशिएण्ट मैरीनर'में 'वैवाहिक अतिथि' ( दि वैडिंग गैस्ट ) इसी प्रकार भाव-समीक्षा करता जाता है। शर्लौक हौल्म्सकी कहानियोंमें भी डाक्टर वाट्सन एक ओर कथा भी सुनाता है और दूसरी ओर, आदर्श पाठक बनकर उस कथा-द्वारा पाठक या श्रोताके मनमें उठनेवाले भावोंकी व्याख्या भी करता चलता है। प्राचीन यूनानी नाटकोंमें भी समवेत गायक प्रायः यही कार्य करते थे। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई रचनाकार किसी ग्रंथकी रचना करता है तब वह उसके द्वारा ग्राहक अर्थात् पाठक या श्रोतापर कोई विशेष प्रभाव पड़नेकी आशा करता है। अतः पाठक, यदि उस प्रभावको अनुभव करके उसका वर्णन या विवेचन करे तो स्वाभाविक ही है। इसीलिये, सबसे अच्छा समीक्ष्यवादी वही हो सकता है जो अनेक ग्रंथोंका ग्राहक (पाठक या श्रोता) हो और अध्ययन करता हो। प्रायः ऐसे ही ग्राहक (पाठक या श्रोता) किसी उदात्त (सब्लाइम) भावसे भावित होते हैं और जब वह उदात्त भाव उनमें पूर्णतः संक्रान्त (ट्रांसपोर्ट) हो जाता है, तभी उन्हें अभिव्यक्तिकी प्रेरणा मिलती है।

## आदर्श दर्शक

इसी आदर्श पाठकका दूसरा रूप है आदर्श दर्शक ( आइडियल स्पैक्टेटर या रेज़ोनियो ) जिसका प्रयोग कुछ नाटककारोंने इस प्रकार किया है कि उन्होंने अपने नाटकमें ही एक ऐसे पात्रकी सृष्टि की है जो ऐसे भाव

अभिव्यक्त करता है या ऐसे प्रश्न पूछता है जो नाटककारकी समझमें दर्शकों द्वारा अनुभव किए या पूछे जाने चाहिएँ। फ्रांसका 'रेज़ोनियो' भी प्रायः दर्शकका ही प्रतिनिधि होता है और कभी-कभी तो यूनानी नाटकोंके समवेत गायकों और शेक्सपियरके विदूषक (फ़ूल)की भाँति वह नाटककारका भी प्रतिनिधित्व कर लेता है। किन्तु इस विशेष पात्ररूपी आदर्श दर्शकके अतिरिक्त नाटककार यह तो आशा करता ही है कि दर्शकोंमें ऐसे कुछ लोग अवश्य होंगे जो मेरी रचनाका पूर्ण रसास्वादन कर सकेंगे। कभी-कभी इसका अर्थ 'राह-चलते मनुष्य या साधारण पाठक' भी होता है क्योंकि फ्रांसीसी नाटककार मोलिएने तो अपने रसोइएपर ही अपने नाटकोंका प्रयोग करके देखा था कि उसपर मेरा उद्दिष्ट प्रभाव पड़ता है या नहीं। इस सम्बन्धमें टौल्सटौयका अनुभव अङ्कनीय है कि जब उसने अपनी रचना मूजिकको सुनाई तो वह मौन अप्रभावित होकर उनकी ओर आँख फाड़कर देखता रह गया। इसीलिये मेकौलेने कहा था—'मिल्टनको तबतक नहीं समझा जा सकता या उसका तबतक रस नहीं लिया जा सकता जबतक लेखकका मन पाठकके मनसे मेल नहीं खाता।' पर पाठक भी तो ऐसा मिट्टीका माधो नहीं होना चाहिए कि भैंसके आगे बीन बजावे, भैंस खड़ी पगुराय।

सच पूछिए तो लेखक केवल सहृदय या रसिक पाठकको, अर्थात् अपनी कृतिको भली प्रकार समझकर उसका आनंद लेनेवाले पाठकको ही अपना समीक्षक समझकर उसीके लिये लिखता है। इसीलिये किसी प्राचीन सूक्तिकारने ब्रह्मासे प्रार्थना की है—

इतर तापशतानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

[हे ब्रह्मा! आप हमें और जितने ताप दें, मैं सहन कर लूँगा, किन्तु ऐसा न कीजिए कि मुझे किसी अरसिकके आगे कविता सुनानी पड़ जाय।]

### परिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति

दूसरे प्रकारके समीक्षक वे लोग हो जाते हैं जो जनतामें अधिक सभ्य तथा सुसंस्कृत रुचिवाले समझे जाते हैं और रूसमें तो केवल वे ही लोग इस श्रेणीमें आते हैं जो प्रांतीयता, प्रादेशिकता तथा मध्यम-वर्गीय रूढ़िवादितासे मुक्त हों। किन्तु टी० एस्० ईलियटका मत है कि 'ये पढ़े-लिखे, परिष्कृत रुचिके कहलानेवाले लोग वास्तवमें जन-परम्परा और वास्तविक संस्कृतिके

विकासमें बाधक हैं यद्यपि सभी देशोंकी रीति-नीतिका नेतृत्व ये ही लोग करते हैं और इन्हींकी रुचिके अनुसार लोक-रुचिका निर्माण होता है।' ऐडविन म्यौरने भी कहा है—'वर्त्तमान युगमें कलाकारके लिये जनता उतनी घातक और कष्टप्रद नहीं है जितने ये पढ़े-लिखे सुसंस्कृत रुचिके कहलानेवाले लोग।'

इस परिष्कृत रुचिपूर्ण जन-समूहसे ठीक उल्टा रूप वह मध्यवर्ग (फ़िलिस्तीन) है जो आत्म-तुष्ट मध्यम वर्गका खुला दर्पण या प्रतिरूप है, जिसके अन्तर्गत दूकानदार आदिकी श्रेणीके वे लोग आते हैं जिन्होंने विद्यालयों या विश्वविद्यालयोंका मुँह नहीं देखा और जिनका किसी साहित्यिक कृतिके सम्बन्धमें न कोई मत होता है, न जिनके मतका कोई महत्त्व समझा जाता है। ऐसे लोग अपने आपमें मस्त रहते हैं ; न ऊधोका लेना न माधोका देना। अतः, इस श्रेणीमें समीक्ष्यवादी हो ही नहीं सकते क्योंकि यदि इन लोगोंके हाथमें कोई पुस्तक आई भी और वे उसे पढ़ भी गए तो अगले ही क्षण वे या तो उसे रद्दीमें बेच देंगे या उसमें मसाला बाँध देंगे।

### कलाकार समीक्षक

तीसरे प्रकारके समीक्षक वे हैं जो स्वयं रचनाकार होते हैं, किन्तु ऐसे लोगोंकी संख्या अत्यल्प है। दाँते, गेटे, कौलरिज और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे कुछ इने-गिने साहित्यकार ही ऐसे हैं जो उत्कृष्ट कोटिके कलाकार या साहित्य-रचनाकार होनेके साथ-साथ समीक्ष्यवादी और समीक्षा-शास्त्री भी हुए हैं।

फ्रांसके प्रसिद्ध कवि चार्ल्स बौदेलेया (१८२१ से १८६७) का यही मत था कि 'कवि ही सबसे अच्छे समीक्ष्यवादी हो सकते हैं' और उसने स्वयं अपने युगके कवियों तथा उपन्यासकारोंपर अगणित समीक्षात्मक लेख लिखकर अपने मतको प्रमाणित भी कर दिया।

### प्रेयस् और श्रेयस्

पिछले अध्यायमें हम समीक्षाका उद्देश्य समझाते हुए बता आए हैं कि समीक्षाका यह काम है कि 'वह किसी द्रष्टव्य वस्तुकी ऐसी विवेचना करे कि दूसरे लोग भी उस वस्तुकी द्रष्टव्यताका आनंद ले सकें अर्थात् उसमें जो प्रेयस् या प्रियतत्त्व है उसका रस ले सकें।' साथ ही हम यह भी बता आए हैं कि 'समीक्ष्यवादीको काव्यके गुणोंका विवेचन करके जनता और लेखकका

मार्ग-प्रदर्शन करना चाहिए अर्थात् वह श्रेयस् या कल्याणकर रूप भी प्रस्तुत करे।' अतः समीक्ष्यवादीका यह भी कर्तव्य है कि वह केवल यही बताकर न रह जाय कि 'अमुक वस्तु क्यों प्रिय लगती है या क्यों प्रिय समझनी चाहिए' वरन् वह इस बातका भी निर्देश करे कि अमुक वस्तुमें या अमुक रचनामें मानव-कल्याणके कौन-कौनसे तत्त्व निहित हैं। इस श्रेयस् और प्रेयस्को भली-भाँति समझानेके लिये समीक्ष्यवादीको यह भी भली-भाँति जान लेना चाहिए कि व्यापक रूपसे सभ्य, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत रुचिवाले लोग किन गुणों तथा तत्त्वोंको समाजके लिये प्रेयस्कर तथा श्रेयस्कर समझते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि समाजने अपने विकासकी अत्यंत सुदीर्घ परम्परामें, अपने मन और हृदयका विकास करके, अपने अनुभवसे, जिन तत्त्वोंको प्रेयस्कर और श्रेयस्कर माना है, उन तत्त्वोंका ज्ञान करके ही समीक्ष्यवादीको समीक्षणके महत्त्वपूर्ण तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण काममें हाथ डालना चाहिए।

## समीक्ष्यवादीकी तुला

उपर्यङ्कित विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक तो मनुष्यकी व्यक्तिगत रुचि किसी रचनाकी समीक्षामें कारण होती है और दूसरे समाज-द्वारा अनुभूत सौन्दर्य-विवेचनकी परम्पराके अनुसार बनी हुई रुचि समीक्षाकी आधार-भित्ति होती है।

इनमेंसे पहली रुचि जब अहं-प्रेरित होती है तब वह निकृष्ट श्रेणीकी होती है, किंतु जब वह परिष्कृत सौन्दर्य-भावनासे प्रेरित होती है तब वह श्रेष्ठ होती है। यह परिष्कृत सौन्दर्य-भावना एक तो वह है जो प्राचीन कालसे सम्पूर्ण मानव-मात्रमें अथवा किसी एक देशमें बनती-ढलती हुई रूढ हो गई है और दूसरी वह है जो किसी एक विशेष युगके आचार-विचार अथवा संस्कारके आधारपर बनती चलती है। इनमेंसे जो वृत्ति रूढ है वही शास्त्रके रूपमें मान्य हो जाती है, जैसे हमारे यहाँ रस, अलंकार आदिकी दृष्टिसे समीक्षा करना ही शास्त्रीय समीक्षा मानी जाती है। इसे हम शास्त्रीय तुला या रूढ तुला कह सकते हैं।

दूसरी रुचि वह है जो कुछ तो मानव-समाजके सार्वभौम, सार्वदैशिक और सार्वकालिक हितोंसे प्रभावित होती है और कुछ किसी विशेष युगकी वृत्ति और आचार-विचारके अनुसार भावित होती है। इसे हम सामाजिक तुला कह सकते हैं। क्योंकि इसमें व्यापक रूपसे यह देखा जाता है कि

अमुक रचना सम्पूर्ण मानव-समाजकी दृष्टिसे हितकर, सुखकर और आनन्दकर है या नहीं ? इससे किसीका अहित या अकल्याण तो नहीं होता ? उसके द्वारा यह भी देखा जाता है कि किसी विशेष युगकी रुचि, भावना तथा आचार-विचारके अनुसार वह रचना स्वस्थ साहित्यके अन्तर्गत आ सकती है या नहीं ?

### समीक्ष्यवादीका संस्कार : अध्ययन

कुछ विद्वानोंका मत है कि समीक्ष्यवादीको किसी ग्रन्थके अवलोकन या अनुशीलनसे ही तृप्त नहीं हो जाना चाहिए। समीक्षाकी क्रियाके लिये उसे एक विशेष प्रकारसे सन्नद्ध होना चाहिए अर्थात् सर्वप्रथम उसे गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययनमें उसे साहित्य-रचनाके शास्त्रोंका, साहित्यके विषयों अर्थात् इतिहास तथा अन्य सामाजिक आचारों, घटनाओं, तथा व्यक्तियोंका पूर्ण, साङ्गोपाङ्ग परिज्ञान करना चाहिए ; साथ ही अन्य देशोंके साहित्यों और साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा विभिन्न युगों और देशोंके लोक-संस्कार, लोक-रुचि, लोक प्रवृत्ति, कविके उद्देश्य, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक चेतना, आंदोलन तथा प्रवृत्ति आदिका उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिए।

### निष्पक्षता

इस अध्ययनके अतिरिक्त समीक्ष्यवादीमें सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह निष्पक्ष हो। जिस रचनाका वह समीक्षण करना चाहता हो उस रचनाके रचनाकारके प्रति उसकी कोई सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक कारणोंसे श्रद्धा न हो। उस रचनाके प्रति उसका जो स्नेह या राग हो वह रचनाके कारण हो, रचनाकारके कारण नहीं। आगे चलकर हम बतावेंगे कि अनेक देशोंमें लेखकों और समीक्ष्यवादियोंकी यह भी प्रवृत्ति रही कि वे अपने देशके लेखकों, अपने देशकी वस्तुओं और अपने देशके दृश्योंका ही चित्रण करना सत्काव्यका आदर्श मानने लगे। किंतु समीक्ष्यवादीको इस संकुचित विचारसे बहुत ऊपर उठा रहना चाहिए। हडसन आदि कुछ विद्वानोंका मत है कि 'समीक्षकको समीक्ष्य रचनासे सहानुभूति उत्पन्न करके उसकी समीक्षामें हाथ लगाना चाहिए।' किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह राग और सहानुभूति, रचनासे हटकर या रचनाके साथ-साथ रचनाकारमें न लग

जाय। इसीलिये यह आवश्यक है कि जो लोग भाविक ( आवेशयुक्त या सेंटीमेंटल ) तथा किसी एक वर्ग, समाज, दल, सम्प्रदाय या नीतिमें दीक्षित या उससे सम्बद्ध हों, उन्हें समीक्षाका कार्य कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि उनकी आँखोंपर उनके वर्ग, समाज, दल, सम्प्रदाय तथा नीतिका नेत्रक सदा चढ़ा रहेगा और वे उसके प्रभावसे कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे।

### सौन्दर्य-भावनाका संस्कार

समीक्ष्यवादीका तीसरा गुण होना चाहिए रुचिका परिष्कार या सौंदर्य-भावनाका संस्कार। इसका तात्पर्य यह है कि समीक्ष्यवादीको सम्पूर्ण मानव-समाजके इतिहास, संस्कार, रुचि और प्रवृत्तिका अध्ययन करके यह समझनेकी योग्यता तथा समर्थता प्राप्त कर लेनी चाहिए कि सौन्दर्यकी सर्वमान्य कसौटी क्या है? उसके अनुसार किस प्रकारकी अभिव्यक्तिको वास्तवमें सुन्दर कहना चाहिए? और किस प्रकार उसके सौन्दर्यकी परख करनी चाहिए?

### अभिव्यक्ति-कौशल

किन्तु यह सब होनेपर भी जबतक समीक्ष्यवादीमें अभिव्यक्तिका कौशल न हो, तबतक उसका सम्पूर्ण अध्ययन, उसकी निष्पक्षता और उसकी सौन्दर्य-भावना सब व्यर्थ है। इस अभिव्यक्ति-कौशलके अंतर्गत पाँच बातें आती हैं— १. वह जो कुछ कहे वह स्पष्ट हो, २. शुद्ध हो, ३. प्रभावशाली हो, ४. युक्तियुक्त हो, और ५. समीक्षा करनेकी शैलीसे भिन्न न हो। जिस व्यक्तिमें ये पाँचों गुण होंगे उसमें ही वास्तवमें समीक्षाका संस्कार हो सकता है क्योंकि जैसे काव्य-रचनाके लिये एक विशेष संस्कार अपेक्षित है, उसी प्रकार समीक्षाके लिये भी यह उपर्यङ्कित संस्कार अपरिहार्यतः अपेक्षित है।

### समीक्षामें निर्लिप्तता

ऊपर समीक्ष्यवादीके जो संस्कार बताए गए हैं उनमेंसे निष्पक्षता या निर्लिप्तता ( डिसिन्टैरेस्टेडनेस ) को योरोपीय समीक्षा-शास्त्रियोंने बहुत महत्त्व दिया है। मैथ्यू आरनोल्डने अपने 'वर्त्तमान कालमें समीक्षाका प्रयोजन' [ दि फ़ंक्शन औफ़ क्रिटिसिज़्म ऐट दी प्रेज़ेंट टाइम ] शीर्षक निबंधमें विक्टोरिया-युगकी दलगत समीक्षाके निराकरणके लिये यह प्रस्तावित किया कि 'समीक्षाका उद्देश्य ही है किसी वस्तुको यथातथ्य देखनेमें समीक्षककी सहायता करना। अपनेको अलग रखने (डिटैचमेंट) की भावनाके समान ही इस मतमें भी यह

कहा गया है कि 'मस्तिष्कको निर्विकार और निष्पक्ष होकर स्वतन्त्र रूपसे विचार करनेका क्षेत्र मिलना चाहिए।' यही मैथ्यू आरनोल्डके समीक्षा-सिद्धांतका मूल सूत्र है। वह कहता है—'समीक्षाका काम इतना ही है कि संसारमें जितना कुछ सर्वश्रेष्ठ जाना और विचारा गया है, उसे जान ले और फिर उसे दूसरोंको इसलिये बतला दे कि जिससे सच्चे और लुप्त विचारोंकी अखंड धारा निरंतर बनी रहे। समीक्षाका यही कार्य है कि वह पूर्ण सत्यताके साथ तथा उचित योग्यताके साथ केवल इतना ही करे, इससे अधिक और कुछ नहीं।' इस व्याख्यामें मेथ्यू आरनोल्डने निष्पक्षतापर अधिक बल दिया है किंतु जो उससे भी अधिक आवश्यक तत्त्व हम ऊपर बता आए हैं ( अध्ययन, सौन्दर्य-भावना और अभिव्यक्ति-कौशल), उनकी मेथ्यू आरनोल्ड जैसे समीक्षा-शास्त्रीने उपेक्षा की, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि, जिन लोगोंको विवेचनकी बुद्धि नहीं होती या विवेचना करनेका सामर्थ्य और नैतिक साहस नहीं होता है, वे भी तो उदासीन और निर्लिप्त ही रहते हैं। तो क्या इसी आधारपर उन्हें सर्वश्रेष्ठ समीक्ष्यवादी मान लिया जाय ?

### समीक्ष्यवादियोंके प्रकार

प्राचीन कालके समीक्ष्यवादी केवल वैयाकरण होते थे जो किसी रचनामें केवल इसी बातकी परीक्षा करते थे कि लेखकने व्याकरणके नियमोंका पालन किया है या नहीं। वर्तमान समीक्ष्यवादीसे केवल समीक्षाके उद्देश्यमें ही उनका अन्तर नहीं वरन् समीक्षा-प्रणाली और सिद्धांतमें भी है। आजकल व्यवसायी समीक्षक तो पाठकोंको केवल यही सिखाता है कि किसी ग्रंथका अध्ययन और परीक्षण किस प्रकार करना चाहिए अर्थात् किसी ग्रंथको किस ढंगसे पढ़ना चाहिए। किन्तु प्राचीन समीक्ष्यवादी अपनी समीक्षाके द्वारा छात्रोंको यह भी निर्देश देता था कि रचना कैसे करनी चाहिए। उनके मतानुसार 'लेखकको बहुतसे ग्रंथोंका चलता-सा परिचय प्राप्त करनेकी अपेक्षा थोड़ी-सी अच्छी कृतियोंका भली प्रकार अध्ययन करना अधिक महत्त्व-पूर्ण है।' इसका तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी या भावी लेखकको अत्यन्त गम्भीरता या गहराईके साथ अध्ययन करना और बहुत कुछ कण्ठ कर लेना चाहिए। वे लोग अपने काव्य-शिक्षार्थियोंको प्रारम्भमें ही बतला देते थे कि अध्ययनीय ग्रंथकारोंमेंसे किसके प्रति उनकी क्या धारणा होनी चाहिए और शिक्षार्थीको उस चुने हुए ग्रंथकारमें किन-किन गुणोंका सम्प्रेक्षण करना चाहिए। प्राचीन वैयाकरण समीक्षक

किसी ग्रंथकारका अध्ययन उसकी शैलीकी दृष्टिसे एक परिमित रूपमें करता था, किन्तु वर्त्तमान समीक्षकका अध्ययन मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा व्यापक दृष्टिसे होता है। प्राचीन वैयाकरण समीक्षककी दृष्टिमें कोई भी साहित्यिक कृति एक कारीगरी या सकौशल निर्मिति-मात्र थी। वह उस चित्रके समान ही एक कौशलपूर्ण कृति समझी जाती थी जो अनेक सूक्ष्मताओंके साथ बनी हो। उन समीक्षाओंमें चित्रण-कलाके साथ काव्यकी जो यहाँ-वहाँ तुलनाकी गई है, वह इसलिये नहीं कि उनकी कोई परम्परा थी वरन् इसलिये कि वे समानताएँ सत्य थीं। इस प्रकारकी समीक्षा कुछ तो उस प्राचीन भाषण-शास्त्रसे मिलती थी जिसमें वाणीके कौशलका ही विवेचन होता था और कुछ उसके विवेचनके लिये भी थी; क्योंकि जो उस समीक्षाका अध्ययन कर लेते थे वे लिखनेकी कला सीख भी जाते थे। किन्तु उनमें यह दोष भी आ जाता था कि वे कभी-कभी अनावश्यक रूपसे ऐसी बालकी खाल निकालने लगते थे, जिसकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी।

इधर बहुतसे विद्वानोंने जब समीक्ष्यवादीको वर्गबद्ध करनेका उपक्रम किया तब यह आपत्ति उठाई गई कि 'समीक्षा तो व्यक्तिगत साधना है, अतः किसी भी उच्च कोटिके समीक्ष्यवादीको हम किसी श्रेणीमें नहीं बाँध सकते। समीक्ष्यवादियोंके प्रकार निश्चित करनेका प्रयास तभी लाभकर सिद्ध हो सकता है जब उसके द्वारा किसी समीक्ष्यवादीको स्पष्टतया तथा पूर्णतया समझनेमें सहायता मिले। यदि हम कोई ऐसे दो छोर निश्चित कर दें कि इन्हींके बीच समीक्ष्यवादीको चलना पड़ेगा तब यह स्वयं स्पष्ट हो जायगा कि न तो सब समीक्षकोंके समीक्षा कार्य और समीक्षण-उद्देश्य ही एक-से मिलेंगे, न समीक्षाका कोई निश्चित अविप्लुत रूप ही। ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर भी प्रतीत होगा कि किसी प्रकारके समीक्ष्यवादीने अपनी प्रणालीके कोई ऐसे पक्के सिद्धांत स्थापित नहीं किए कि उनके आगे अन्य प्रकारोंके समीक्ष्यवादियों-द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अमान्य या उपेक्षणीय समझ लिए जायँ। अतः यह आवश्यक है कि व्यवस्थित और व्यक्तिगत समीक्षाके दो छोर, साहित्य तथा जीवनके दो छोर और बाह्य प्रभावात्मक तथा अन्तःप्रभावात्मक काव्यके दो छोर क्या हैं, इसका विवेचन कर लिया जाय।

### व्यवस्थित समीक्षा और व्यक्तिगत समीक्षा

यह कहा गया है—'यदि हम कला और समीक्षाकी तुलना करें तो प्रतीत

होगा कि समीक्षाका अधिकांश रूप सरल, बुद्धि-सङ्गत और व्यवस्थित होता है किन्तु साहित्यिक कृतियाँ सभी अत्यंत जटिल और विशिष्ट होती हैं और उनके लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि वह वे बुद्धिसङ्गत ( रैशनल ) भी हों। फिर, समीक्षाका कार्य प्रायः होता यही है कि उसके द्वारा किसी साहित्यिक कृतिका वर्णन, प्रशंसन या स्पष्टीकरण किया जाय।' तो पहला भेदक तत्त्व यह हुआ कि 'साहित्यिक समीक्षा किसी विषयपर प्रयुक्त वह प्रक्रिया है जिसे पूर्णतः अवगत कर चुकनेपर, कोई समीक्ष्यवादी, व्यक्तिगत कलाकृतियोंकी उपेक्षा करके उस प्रक्रियाको ही व्यवस्थित करनेमें लग जाता है, किन्तु यदि वह अपने समीक्ष्य विषयके प्रति अधिक अनुरक्त हो तब असमान तथा परस्पर-विरोधी व्यक्तिगत साहित्यिक कृतियाँ समीक्ष्यवादीके व्यवस्था-सिद्धान्तोंको धुँधला या अस्पष्ट कर देती हैं।' अतः समीक्ष्यवादीमें 'कलाकृतिके प्रति आदरकी भावना तथा व्यक्तिगत परीक्षण और धारणाके मानदण्डोंके प्रति आदरकी भावना दोनोंका सन्तुलन होना चाहिए। इन्हीं दोनों भावनाओंको परस्पर एक दूसरेको सहयोगिनी बनाकर अत्यन्त सुविचारके साथ समीक्ष्यवादीको स्पष्ट रूपसे व्यक्त करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि समीक्ष्यवादीको एक ओर समीक्षाके मानदण्डोंके अतिशय प्रयोग तथा दूसरी ओर प्रत्येक साहित्यिक कृतिकी ओर सहानुभूतिमय भावना, इन दो परस्पर विरोधी वृत्तियोंके बीच स्थित होकर ही समीक्षा-कार्य करना चाहिए।

### समीक्षा-शास्त्रका जन्म

इस प्रकार जब हम व्यक्तिगत साहित्यिक कृतियोंकी उपेक्षा करके समीक्षाके पूर्ण मानदण्डकी स्थापनामें प्रवृत्त हो जायँ तभी समीक्षाके व्यापक सिद्धान्तोंका जन्म होता है और तभी ऐसे समीक्षा शास्त्रकी सृष्टि होती है जैसे अरस्तूने ट्रेजेडी (त्रासद) पर, अथवा ब्वालो, वर्ड्सवर्थ और पोने समीक्षाके सार्वभौम शास्त्र लिखे हैं। इस प्रकारकी समीक्षाएँ उन व्यापक सिद्धान्तोंकी परीक्षाके परिणाम हैं जो साहित्यके वास्तविक उदाहरणोंसे निकाले तो गए हैं किन्तु जिनके आधारपर किसी कलाकृतिका कोई पूर्ण परीक्षण नहीं किया गया। इस प्रकारका सिद्धांत निरूपण वास्तवमें दर्शनके क्षेत्रका विषय है, समीक्षाके क्षेत्रका नहीं। ऐसे निरूपण स्वयं अपनेमें ही कला और प्रयोग हैं क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि सौन्दर्यवादी दार्शनिक अर्थात् सौन्दर्यकी दार्शनिक व्याख्या करने-वाले व्यक्तिने अथवा साहित्यिक समीक्षाका सिद्धान्त निरूपण करनेवाले व्यक्तिने

अपने जीवनमें कोई एक भी पंक्ति किसी साहित्यिक रचनाकी समीक्षापर न लिखी हो। इसीलिये हम प्रारम्भमें ही इन समीक्षा-शास्त्रियोंको समीक्षयवादियोंसे भिन्न बता आए हैं क्योंकि हमें बहुत सावधानीसे इन समीक्षाके सिद्धान्त निश्चय करनेवालों और साहित्यिक समीक्षा करनेवालोंमें स्पष्ट भेद समझ कर ही आगे बढ़ना चाहिए।

## साहित्य और जीवन अर्थात् रूप और विषय

आज समीक्षाके प्रकारोंमें स्वयं साहित्यकी प्रकृतिके कारण ही अत्यन्त स्पष्ट भेद उत्पन्न हो गए हैं। 'साहित्य उस विशाल सामग्रीका भाषा-रूप है जो मनुष्यके अनुभव और उसकी चेतनासे सम्बद्ध है या जिसे हम मनुष्यका अनुभव और उसकी चेतना कह सकते हैं।' कुछ समीक्षयवादी 'भाषा-रूप या कहनेके ढंग अर्थात् अभिव्यक्तिको ही प्रधान मानते हैं।' कुछ लोग 'मनुष्यके अनुभव और उसकी चेतनासे सम्बद्ध विशाल सामग्रीको ही समीक्षाका विषय' मानते हैं। इसलिये इनमेंसे प्रथम मतके समीक्षयवादी किसी नाटक, कविता या उपन्यासकी रूप-कला या रचना-कौशलपर ही विचार करते हैं। दूसरे मतके समीक्षयवादी लोग रूप-कला या रचना-कौशलपर ध्यान न देकर उस रचनामें आए हुए देशों तथा उन देशोंके आचार-विचारों और भावोंकी मीमांसा करते हैं जिनके लिये उस रचना-कौशलका प्रयोग किया जाता है।

## रूपवादी तथा अनुभववादी समीक्षक

यदि साहित्यको हम अनुभवकी अभिव्यक्ति मान लें तो ये रूपको प्रधान माननेवाले और अनुभवको प्रधान माननेवाले दोनों प्रकारके समीक्षक अत्यंत सङ्कुचित प्रतीत होंगे। व्यावहारिक समीक्षामें हम दोनोंमेंसे किसीकी उपेक्षा नहीं कर सकते, दोनोंपर थोड़ा-थोड़ा विचार करना अनिवार्य होगा क्योंकि इनमेंसे किसी एकको पूर्ण रूपसे सिद्ध और सर्वाङ्गीण मान लें तो समीक्षा अधूरी रह जायगी। हाँ, रूपवादी या 'कलार्थं कला' (आर्ट फ़ौर आर्ट्स सेक) वादी समीक्षक इतनी बात अवश्य ठीक कहते हैं कि 'जब हम कलापर बल देते हैं तब हम साहित्यके अत्यन्त प्रत्यक्ष पक्षपर विचार कर रहे हैं।' उधर अनुभववादी समीक्षकोंका भी यह कहना ठीक है कि 'कलाकारोंने सदा यह अनुभव किया है कि साहित्य किसी ऐसे तत्त्वके विषयमें होता है जिसका मानवीय महत्त्व होता है। अतः वे समीक्षक भ्रममें हैं जो साहित्यको वास्तविक जीवनसे अलग करके

रचना-कौशलके छोटेसे बाड़ेमें बन्द कर देना चाहते हैं।' साहित्य और जीवनमें जो यह भेद दिखाया गया है वह ऊपर साहित्य और समीक्षाके बीच बताए हुए भेदसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। क्रोचेका कथन है कि 'समीक्षक, रूप-बद्ध भी हो सकता है और जीवन-सापेक्ष्य भी।' जौन क्रौवे रेन्समका मत है कि 'आलोचक रूप-बद्ध भी हो सकता है और सीमा-मुक्त भी।' सेन्त ब्यूवेने कहा है कि 'समीक्षक जीवन-सम्बद्ध भी हो सकता है और रूप-सापेक्ष्य भी।' सिडनीका मत है कि 'समीक्षक जीवन-सम्बद्ध और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र दोनों हो सकता है।' वास्तवमें इन भेदोंके जितने युग्म ऊपर बताए गए हैं वे यही सिद्ध करते हैं कि विभिन्न प्रकारके समीक्ष्यवादियोंमें व्यक्तिगत समीक्षकके सभी सम्भव गुण विद्यमान रहते ही हैं।

### आदर्शवादी या सदाचारवादी समीक्षक

सबसे अधिक सामान्य प्रकारके आलोचक नैतिकतावादी या सदाचारवादी होते हैं जिन्हें सब प्रकारकी समीक्षा-पद्धतियोंका घोटाला समझना चाहिए। मैथ्यू आरनोल्ड और पौल ऐल्मर मोरका मत है—'ऐसा ढुलमुल, सर्वतत्त्व-परिप्लुत, नैतिकतावादी समीक्षक सदा साहित्य और जीवनमें विशेष अन्तर मानता है और उसकी सदा यही संकुचित प्रवृत्ति रहती है कि वह किसी भी विशेष कलाकृतिका मूल्याङ्कन अपने ही नैतिक आदर्श या मानदण्डसे करे।'

### वाह्य-भावक तथा अन्तर्भावक काव्य

समीक्ष्यवादियोंके प्रकारोंका तीसरा भेद इस विवादपर अवलम्बित है कि—

किसी भी साहित्यिक कृतिका अस्तित्व कहाँ और कैसे है ?

क्या वह ग्रन्थके मूल पाठमें स्थिर रूपसे विद्यमान है ?

क्या वे रचयिताके भासमान विचारोंमें ही उपस्थित हैं ? क्या वे विचार उसकी कृतिमें केवल धुँधले-धुँधले दिखाई पड़ते हैं ?

क्या वे उसके समकालीन लोगोंकी ही समझमें आने योग्य हैं ?

क्या वे साधारण पाठककी चेतनामें विद्यमान हैं ?

क्या वे वर्त्तमान शिक्षित समीक्षककी चेतनामें विद्यमान हैं ?

यदि उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर 'हाँ' में दिया जाय तो उसके आधारपर भी कुछ प्रकारके समीक्ष्यवादियोंकी सृष्टि हो जायगी, जैसे—

१. पाठका समीक्षक ।

२. रचयिताके जीवनचरितकी दृष्टिसे विवेचन करनेवाला समीक्षक ।

३. ऐतिहासिक समीक्षक ।

४. साधारण पुस्तक-समीक्षक ।

५. वर्तमान मनोविज्ञान, समाजविज्ञान या सौन्दर्यविज्ञानके आधारपर समीक्षक ।

यदि उपर्यङ्कित प्रश्नोंके सब उत्तर मिला-जुलाकर रक्खें और विभिन्न उत्तरोंसे प्राप्त होनेवाले सत्य या अंशगत सत्यको स्वीकार करते चलें तो प्रत्येक प्रकारके समीक्षकके लिये एक आत्मधारणाका आधार भी बन जायगा जहाँ व्यक्तिगत रूपसे भी वह स्थिर होकर खड़ा हो सकता है ।

इस विभेदसे ये प्रश्न भी उठ खड़े होंगे कि साहित्यका समीक्षासे क्या सम्बन्ध है ? जीवनका साहित्यसे क्या सम्बन्ध है ? किसी कलाकृतिके भौतिक रूपका उसके सात्त्विक सौन्दर्यात्मक तत्त्वसे क्या सम्बन्ध है ?

## वर्गबन्धन अनुचित

बहुतसे समीक्ष्यवादी न तो ऐसे प्रश्न उठाते ही हैं और न इनका ठीक उत्तर ही देते हैं । किन्तु जबतक वे इन प्रश्नोंपर अपनी धारणा स्पष्ट नहीं कर देते तबतक वे शुद्ध समीक्षणकी प्रक्रियामें आगे नहीं बढ़ सकते । उपर्यङ्कित प्रश्नोंका महत्त्व समझकर और सम्भव उत्तरोंकी बहुलताका विचार करके कोई भी पाठक यह समझ लेगा कि इस प्रकार समीक्ष्यवादियोंके प्रकारोंका वर्गीकरण करनेसे उसमें स्वयं साहित्य-विवेचन करनेकी समर्थता अधिक सटीक और अधिक संतोषप्रद रूपसे आ सकी है । पाठकको यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि इस प्रकारके वर्ग चाहे जितने भी उपादेय और सुन्दर प्रतीत हों किन्तु ये सभी केवल सिद्धान्तगत और अंशगत हैं । वास्तवमें प्रत्येक समीक्ष्यवादी अपनेमें अप्रतिम और निराला होता है । वह जबतक अपनेको कूपमंडूक बनाकर, संकुचित करके किसी एक प्रकारमें स्वयं ही न बाँध ले तबतक उसे किसी वर्गमें रखना असमीचीन है ।

## ग्राहककी दृष्टिसे समीक्षा करनेवाले

बीसवीं शताब्दिमें वर्त्तमान कृतियोंका विवेचन करनेवाला समीक्ष्यवादी आजकल किसी कृतिपर ग्राहककी दृष्टिसे भी विचार करता है । इस प्रकारकी

समीक्षा-पद्धतिमें उस कृतिकी प्रेरणा-शक्तिके अनुसार तीन मोटे-मोटे आधार बना लिए गए हैं। वे हैं—बालक, कुमार और युवाकी मानसिक और नैतिक स्थितियाँ।

१. बच्चेके लिये सारी प्रकृति काली या श्वेत है। उसे उसीमें सन्तोष मिलता है। वह अपने पाठ्य ग्रन्थके सब दुष्टोंको काला देखना चाहता है और कथाका अन्त सुखमय चाहता है। सबसे अधिक बिक्री ऐसी ही पुस्तकोंकी होती है।

२. कुमारके लिये भी सब वस्तुएँ काली या श्वेत होती हैं, किन्तु इससे उसे कष्ट होता है। वह सारे संसारको श्वेततर बनाना चाहता है, वह सब क्रान्तियोंका नेतृत्व करना चाहता है। किन्तु उसे यह ज्ञात हो चुका है कि प्रत्येक सुखान्त कथा या किसी कथाका सुखमें अन्त होना झूठी बात है। इसलिये उसके मनमें निराशा उत्पन्न होती है, जिससे उसके मनमें स्वैरवादी उदासीनता और मानसिक कष्टकी भावना उत्पन्न हो जाती है या वह सनकमें आकर इस दुष्ट संसारको ही स्वीकार करके उसमें कूद पड़ता है। इससे उसकी रुचि व्यंग्यात्मक काव्य, प्रचार-काव्य, आदर्शवादी कहानियाँ, सुखलोककी कल्पनाएँ, विषादमय वास्तविकता, पलायनवाद आदिसे सम्बद्ध रचनाओंकी ओर अधिक होती है।

३. युवक जानता है कि सम्पूर्ण चरित्र भूरे रंगकी छाया है। उसे क्रान्तिके वेग और तर्जनमें कम विश्वास है। वह बाधाएँ दूर करनेके लिये प्रयत्न कर सकता है किन्तु वह न तो किसी प्रकारका नैतिक विवेचन कर सकता, न आत्मभ्रामक पुकार मचा सकता। त्रासद और उच्च प्रकारके प्रहसन उसे प्रिय होते हैं और ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों वह समझता जाता है कि त्रासद कैसा होना चाहिए।

यों तो कुछ विशेष क्षणोंको छोड़कर कोई भी व्यक्ति प्रौढ़ नहीं होता और इसलिये प्रारम्भसे अन्तिम अवस्थातक सब लोगोंको वे ही वस्तुएँ अच्छी लगती हैं जो बालक या कुमारको, किन्तु कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो हमारे अविकसित मनको ही समुन्नत करते हैं, कुछ ऐसे हैं जो केवल कुमारको ही प्रभावित करते हैं और जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे ग्राहककी योग्यताओंके उस उच्चतम स्तरतक पहुँच जाते हैं जिसमें बालकका विजयोल्लास, कुमारकी सुधार-भावना, और युवकका व्यापक दृष्टिकोण सब व्याप्त रहता है। किन्तु ये सब वर्गीकरण अपूर्ण तथा एकाङ्गी हैं।

## समीक्ष्यवादीकी चार वृत्तियाँ

पीछे बताया जा चुका है कि मनुष्यमें तीन विशेष वृत्तियाँ होती हैं जिनके आधारपर वह किसी वस्तुको अच्छा समझकर उसकी श्रेष्ठताका विवेचन करता है, वे हैं—चयन, जिज्ञासा और अहं-वृत्तियाँ। इन तीनों वृत्तियोंके आधारपर वह अपनी रुचि और योग्यताके सहारे संसारकी सब वस्तुओंमेंसे अपने अनुकूल प्रिय वस्तु या पदार्थका चयन करता या छाँटकर अलग कर लेता है। उसके मनमें विद्यमान कुतूहलकी भावना उसके सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न करती है और इस जिज्ञासाका परिणाम भी वह अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार निकाल लेता है, जैसे गाँजेवालेका उदाहरण पीछे दिया है। उसकी अहं-वृत्ति उसे इस बातके लिये प्रेरित करती रहती है कि वह अपनी चयन की हुई वस्तुके गुण दूसरोंसे कहे, उसका प्रचार करे, उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करे, दूसरोंको माननेके लिये विवश करे और आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये छल-कपटका भी आश्रय ले। इस अहंवृत्तिके कारण कभी-कभी मनुष्य अपने दोषका भी समर्थन करने लगता है। इस अहंकी तृप्तिके लिये ही वह द्रव्यादिका प्रलोभन देकर दूसरोंसे भी उस दोषका समर्थन कराने लगता है और कभी-कभी तो पूँछ कटे शृगालके समान अपनी पूँछ कट जानेपर दूसरोंको भी इस बातके लिये प्रेरित करता है कि आप भी अपनी पूँछ कटवा लें। इसलिये जहाँ एक ओर समाजने श्रेयस् और प्रेयस्के ज्वलन्त रूप, उदाहरण और आदर्श एकत्र कर रक्खे हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी उपेक्षा करके कुछ व्यक्ति अपनी चयन, जिज्ञासा और अहंवृत्तिकी तृप्ति, तृष्टि और पूर्तिके लिये, अपनी योग्यता और समर्थताके आधारपर किसी रचना या कलाकृतिका समीक्षण और परीक्षण करते हैं। इस दृष्टिसे हम समीक्ष्यवादियोंको चार श्रेणियोंमें रख सकते हैं।

१. काकवृत्तिवाले : जो सदा कटु बोलते हैं, मल तथा दोषपर ही जिनकी दृष्टि जाती है। ये काकवृत्तिवाले छिद्रान्वेषी कहलाते हैं।

२. कोकिला-वृत्तिवाले, जो सदा अपने ही दलकी रीति नीतिको श्रेष्ठतम मानते हैं और दूसरोंको बुरा समझकर उन्हें हानि पहुँचाकर केवल अपना या अपने दलके मतका उसी प्रकार स्वार्थपूर्ण पोषण करते हैं जैसे कोकिला अपने बच्चोंका पोषण करानेके लिये कौएके अण्डे गिरा देती है। वर्गवादी अर्थात् किसी एक विशेष वर्गका समर्थन ही जो समीक्षाका मुख्य लक्ष्य मानते हों वे इसी श्रेणीमें आते हैं।

३. मधुकर-वृत्तिवाले : जो सभी खिले हुए फूलोंपर बैठ-बैठकर उनका रस लेते हैं और दूसरोंको पान करानेके लिये उस रससे मधु बनाते हैं। ऐसे लोग गुणग्राहक तथा गुण-दर्शी अभिप्रशंसक होते हैं जो सब रचनाओंमेंसे केवल गुण ही गुण निकालकर उन्हें सबके समक्ष इस रूपमें उपस्थित करते हैं कि लोग उन गुणोंसे लाभान्वित हों और वह स्थापित की हुई वस्तु स्वयं अपनेमें एक नवीन, सुन्दर हितकर पदार्थ बन जाय।

४. हंस-वृत्तिवाले समीक्षक : जो निष्पक्ष निर्णायककी भाँति सब प्रकारके पक्षपातोंसे विलग होकर दूधका दूध और पानीका पानी कर देते हैं और प्रत्येक रचनाके गुण-दोषको अत्यन्त विशद तथा स्पष्ट रूपसे व्यक्त करके लोगोंके सम्मुख उपस्थित कर देते हैं जिससे कि लोग गुणको ग्रहण कर लें और अवगुणसे सावधान होकर उसका त्याग कर दें।

### काकवृत्ति

इनमेंसे काक-वृत्तिवाले जो समीक्षक होते हैं वे स्वभावतः अत्यन्त निकृष्ट, कोकिला-वृत्तिवाले साधारण, मधुकर-वृत्तिवाले श्रेष्ठ तथा हंस-वृत्तिवाले सर्वश्रेष्ठ समीक्ष्यवादी हैं। इसका कारण यह है कि जिस पदार्थमें केवल दोष ही दोष हों वह समीक्षाका विषय ही नहीं है, अतः उसकी ओर न तो अपना ही ध्यान जाना चाहिए न दूसरेका ध्यान उधर आकृष्ट करना चाहिए क्योंकि मनुष्यकी एक विशेष दुर्बलता होती है कि जिधर जानेसे उसे रोका जाय उधर वह केवल यह देखनेके लिये कुतूहल-वश अवश्य प्रवृत्त होता है कि उसमें है क्या। इसलिये यदि कोई कृति या रचना बुरी या अभव्य है और इस कारण वह अद्रष्टव्य है तो वह समीक्षाके योग्य ही नहीं हैं। अतः जो उसकी समीक्षा करते अर्थात् उसका दोष-प्रदर्शन और छिद्रान्वेषण करते हैं, वे अनजाने दूसरोंको उस रचनाके अध्ययनके लिये प्रेरित करते हैं। दूसरी ओर, यदि कोई रचना अच्छी है और केवल व्यक्तिगत विद्वेष, वैर, प्रलोभन या भयसे कोई उसकी निन्दा करता है तो वह अत्यन्त क्षुद्र प्रकारका जीव है और ऐसे निम्न कोटिके व्यक्तिको समाजमें रहना ही नहीं चाहिए। तीसरे, कुछ ऐसे भी लोग हैं जो पीडित, दलित, निराश और असंतुष्ट हैं। उन्हें चारों ओर बुराई ही बुराई दिखाई पड़ती है। उन्हें कोई व्यक्ति या वस्तु अच्छी नहीं लगती। ऐसे लोग पागलोंकी श्रेणीमें आते हैं। उनके मतका कोई मूल्य नहीं समझना चाहिए। अतः ये काक-वृत्तिवाले लोग समीक्षाके लिये पाप, शाप और कलंक हैं।

### कोकिला-वृत्ति

कोकिला-वृत्तिवाले लोग यद्यपि काक-वृत्तिवालोंके समान निकृष्ट तो नहीं होते हैं किन्तु इनकी भी वृत्ति एकाङ्गी होती है अर्थात् ये अपने वर्गके अतिरिक्त संसारके किसी वर्गसे सम्बद्ध वस्तु, व्यक्ति या विषयमें कोई अच्छाई देखनेका प्रयत्न ही नहीं करते। अतः जो स्वयं संकुचित वृत्तिवाली तुला लेकर तौलने चलता है वह तो प्रत्यक्षतः समीक्षाके क्षेत्रसे निष्कासनीय है।

### मधुकर-वृत्ति

मधुकर वृत्ति निश्चय ही साधु-वृत्ति है जिसमें समीक्षक स्वयं सौंदर्यका रस लेकर दूसरोंको उसका आस्वादन कराना चाहता है। समीक्षाकी यही वृत्ति वास्तवमें अनुकरणीय है। जबतक मनुष्यमें यह मधुकर वृत्ति न आ जाय अर्थात् भली प्रकार गुणोंकी परीक्षा तथा उन्हें ग्रहण करके दूसरोंको आस्वादन कराना न आ जाय तबतक वह इससे आगेकी उस निष्पक्ष हंस-वृत्तिको नहीं ग्रहण कर सकता जो समीक्ष्यवादीकी परम श्लाघनीय वृत्ति है, क्योंकि जो व्यक्ति भली-भाँति गुण ग्रहण करनेमें कुशल होता है, वह जब गुणोंका विवेचन कर लेता है तो उसके विवेचनके अतिरिक्त बची हुई शेष सामग्री स्वयं असमीक्ष्य हो जाती है। अतः मधुकर वृत्तिको हंस वृत्तिका ही पूर्वरूप समझना चाहिए।

### हंस-वृत्ति

चौथी, हंसवृत्ति ही वास्तवमें समीक्ष्यवादीकी वास्तविक वृत्ति है जिसके सहारे वह रेखा खींचकर गुण और दोषको अलग कर देता है और निर्णायककी भाँति निर्णय देनेके साथ वह ग्राह्य और त्याज्यका विशद विवेवचन भी कर देता है।

### चार प्रकारके समीक्ष्यवादी

अतः चार प्रकारके ही समीक्ष्यवादी होते हैं—

१. छिन्द्रान्वेषक या निन्दक।

२. पक्ष-भावित।

३. अभिप्रशंसक।

४. निर्णायक।

### सहृदयता और भावकता भी आवश्यक

समीक्ष्यवादीमें भाविकता अर्थात् अत्यन्त शीघ्र प्रभावित तथा उत्तेजित होनेकी वृत्ति अत्यन्त घातक होती है। किन्तु उसमें भावकता अर्थात्

काव्य-रुचि और सहृदयता होना अत्यन्त आवश्यक है। सुन्दरको सुन्दर समझकर उससे भावित होनेकी वृत्ति या रसास्वादनकी शक्ति उसमें होनी ही चाहिए। भावक न होने अर्थात् काव्यमें रुचि न होनेसे उसकी समीक्षामें प्राण नहीं रहेगा क्योंकि जिसमें रुचि ही नहीं है उसका अध्ययन और समीक्षण करनेका कार्य, स्वाभाविक और स्वान्तःप्रेरित न होनेके कारण अस्वाभाविक और बेगार होगा इसलिये वह सारहीन, यन्त्रवत् तथा असत्य होगा। सहृदयताके अभावमें कोई समीक्षा निष्पन्न भले ही हो, किन्तु उचित नहीं ही होगी क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं किसी रचनाका रस लेनेकी क्षमता नहीं रखता वह दूसरोंको भी उसका रस नहीं दे सकता और यह दूसरोंको रस देनेकी वृत्ति ही समीक्षाकी वास्तविक भित्ति है। इसी भावक सहृदयके समन्वित व्यक्तित्वको रसिक कहते हैं। जो रसिक नहीं है वह काव्यको क्या समझ पावेगा और जब समझ नहीं पावेगा तो उसकी समीक्षा क्या करेगा।

### भावक समीक्षक

इसीलिये संस्कृतमें समीक्षक शब्दका अधिक सटीक रूप 'भावक' ही है। भावक शब्दकी व्युत्पत्ति (भावयतीति भावकः) की व्याख्या ही है—'जो कविके उद्दिष्ट अर्थसे भावित हो जाय, उसे आत्मसात् कर ले और उसका ठीक विवेचन करे।' इसी कारण काव्य-मीमांसामें कहा गया है—

सत्काव्ये विक्रियाः काश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः।
सर्वाभिनय-निर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न याः॥

[सब प्रकारके अभिनयके निर्णयके सम्बन्धमें जो दोष स्वयं ब्रह्मा भी नहीं जान सके, वे सब विकार भावकके हृदयमें स्वयं कौंध जाते हैं।]

अतः वास्तविक समीक्ष्यवादी यही भावक होता है क्योंकि यही तो अपनी भावकताके सहारे किसी कविकी उत्कृष्टताओंको लोकतक पहुँचाता है। उसकी सहायताके बिना कविकर्म ही व्यर्थ हो जाता है—

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

[किसी कविकी उस काव्य-रचनासे क्या लाभ जो उसके मनमें ही पड़ी सड़ती रहे और जिसे भावक लोग दसों दिशाओंमें नहीं पहुँचा देते। —राज्यशेखरकी काव्य-मीमांसासे]। इसलिये कि—

सन्ति पुस्तक विन्यस्ताः वाक्यबन्धाः गृहे गृहे ।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्ट-निकुट्टिताः ।।

[ पोथियोंमें लिखे हुए न जाने कितने काव्य घर-घर पड़े सड़ रहे हैं पर सच्चा काव्य वह है जो भावकके मनरूपी पटियापर खुद जाय । —काव्य मीमांसासे ]

यही कारण है कि हमारे यहाँ भावकको कविका सच्चा हितैषी बताते हुए काव्यमीमांसामें कहा गया है—

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्याश्चाचार्य एव च ।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ।।

[ भावक तो कविका स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य, आचार्य क्या नहीं है, सभी कुछ है । ]

### स्वयं समीक्ष्यवादी

किन्तु काव्यका सबसे बड़ा समीक्ष्यवादी स्वयं कवि होता है यद्यपि वह अधिकांशतः अभिप्रशंसक ही होता है और अपने काव्यमें केवल गुण ही गुण ढूँढ़ता और अपने मित्रों तथा श्रोताओंको उन गुणोंका विवरण भी देता रहता है । दूसरोंको अपने काव्यका गुण बतानेवाले कवियोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जो अपनी रचनाका तन्मय होकर रस लेते हैं, अपने उक्तियोंके सौन्दर्यपर स्वतः मुग्ध होते हैं और इस बातकी चिन्ता नहीं करते कि कोई इसे पढ़कर या सुनकर आनन्द लेता है या नहीं । यही 'स्वान्तः सुखाय रचना-वृत्ति' है । यों तो अपना दही कौन खट्टा बताता है पर रससिद्ध कवि प्रायः स्वान्तः सुखाय रचना करते हैं और क्योंकि वे रचनाएँ स्वयं रससिद्ध कवियोंके अन्तःकरणको सुख देती हैं इसीलिये वे संसारके प्रत्येक रसिक व्यक्तिको आनन्द देती हैं । अतः उपर्यङ्कित चार प्रकारके समीक्ष्यवादियोंके साथ यह पाँचवाँ समीक्ष्यवादी भी जोड़ लेना चाहिए । किन्तु इनके अन्तर्गत रामचन्द्रिकाके रचयिता केशवदास जैसे आचार्य कवि नहीं आते जिन्होंने गुण-दोषोंका उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिये काव्य-रचना की या वे कवि, जो किसीके कहनेसे, किसी विशेष अवसर या प्रयोजनके लिये, निर्लिप्त भावसे काव्य-रचना करके दे देते हैं और वे रचनाएँ सुन्दर भी हो जाती हैं, किन्तु उनके साथ कविका हार्दिक सम्बन्ध नहीं होता ।

# समीक्षाका आधार

यद्यपि 'किसी वस्तुका ठीक दर्शन तथा परीक्षण करके दूसरोंको उसके गुण दोषका विवरण देना, उसकी ओर प्रवृत्त करना, वैसी रचना करनेके लिये दूसरोंको प्रेरित करना तथा जनताकी रुचि परिमार्जित करना' सभी कुछ समीक्षाका प्रयोजन है किन्तु यह सब तब होता है जब हम किसी रचनाका उचित गुणतत्त्व ( वैल्यू ) जान लें अर्थात् उसका मूल्याङ्कन कर लें, क्योंकि किसी वस्तुका गुणतत्त्व या मूल्य जाने बिना हम उसके सम्बन्धमें निर्णय नहीं दे सकते। अतः पहले यह जान लेना चाहिए कि इस मूल्याङ्कनका स्वरूप क्या है अर्थात् हम किस मानदण्डसे किसी रचनाका परीक्षण करें।

## मानदण्ड

'किसी वस्तु या सिद्धान्तके सौष्ठवको नापनेकी कसौटी या साधनको ही मानदण्ड कहते हैं' अर्थात् पहले हम श्रेष्ठताकी पराकाष्ठाका एक मान स्थिर कर लेते हैं और फिर उसी मानके आधारपर हम किसी वस्तु या सिद्धान्तकी श्रेष्ठताका विवेचन करते हैं। यही 'सर्वश्रेष्ठताकी पराकाष्ठाका नियोजन' ही मानदण्ड कहलाता है। विशिष्ट ग्रन्थोंकी निर्णयात्मक समीक्षाके लिये तो निश्चित रूपसे ऐसे ही मानदण्डोंका प्रयोग किया जाता है और प्रत्येक समीक्षक जानकर या अनजानमें ऐसे ही आदर्श मानदण्डका सदा प्रयोग करता रहता है।

## मानदण्डके स्रोत

ये मानदण्ड अग्राङ्कित पाँच मुख्य स्रोतोंमेंसे किसी एकसे प्राप्त होते हैं—

१. मनुष्योंसे : अर्थात्—

( क ) सब मनुष्योंको सब कालोंमें और सर्वत्र क्या अच्छा लगता है ?

( ख ) व्यवस्थित रूपसे सुयोग्य व्यक्तियोंको क्या अच्छा लगता है ?

( ग ) स्वयं समीक्ष्यवादीको क्या अच्छा लगता है ?

२. उन आप्त-वाक्यों या मान्य प्रतिष्ठित ग्रन्थोंसे : जिनका प्रयोग—

( क ) अनुसरण या अनुकरणके लिये किया जा सकता है और जिस अनुकरणके परिणाम-स्वरूप या तो वैसी अंधानुकरणशील रचनाएँ होती हैं जैसी योरोपमें मध्यकालीनवादियों-द्वारा हुईं, जिन्होंने एक भी शब्द ऐसा नहीं लिखा जो सिसरोने न प्रयोग किया हो; या ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्धमें गेटेने सावधान करते हुए कहा था कि 'कुछ ऐसे पक्के शिष्य होते हैं जो अपने प्रतिभाशाली गुरुके थूकनेके ढङ्गका भी अनुकरण करने लगते हैं।'

( ख ) उस कसौटीके रूपमें किया जा सकता है, जिसके सहारे हम अन्य महाकृतियोंका अभिज्ञान कर सकें।

( ग ) सिद्धान्त-निरूपण तथा सिद्धान्त-प्रयोगके लिये किया जा सकता है अर्थात् इनसे सिद्धान्त निकालकर उनसे अन्य कृतियोंका परीक्षण किया जा सकता है और जिनके सम्बन्धमें रेनौल्डसने कहा है—'उस ( ग्रन्थ ) के चरण-चिह्नोंपर चलनेके बदले केवल उसके द्वारा निर्दिष्ट सड़कपर ही चलनेका उद्योग करना चाहिए।'

३. रूपात्मक गुणोंसे : अर्थात् रचना-स्वरूप और रचना-शैलीके उन अनेक तत्त्वोंसे, जिन्हें समीक्षकोंने किसी एक कृतिसे नहीं वरन् उस प्रकारकी सब कृतियोंमेंसे ढूँढ़ निकालनेका प्रयत्न किया है। यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि इस प्रकारकी खोज-बीनसे अतिशय रूढ़ि-बद्ध समीक्षा ( प्रोक्रस्टियन क्रिटिसिज़्म ) उत्पन्न होनेकी आशङ्का भी बनी रहती है। इन गुणोंमेंसे कुछ विशेषतः समुद्दिष्ट होते हैं, जैसे तीन एकत्वों ( थ्री यूनिटीज़ ) का गुण। इसी परिधिमें वे लोग भी आते हैं जिनका मत है कि 'प्रत्येक रचना अपने अलग सिद्धान्त लेकर चलती है जिनका उसे पालन तो करना चाहिए किन्तु, जिनका आरोप उस रचनाके अतिरिक्त अन्य रचनाओंपर नहीं किया जा सकता। इन गुणोंको यदि अत्यन्त संक्षेपमें कहा जाय तो एक होगा किसी 'रचनाके विभिन्न भागोंका पारस्परिक सम्बन्ध,' जिसे फैचनरने 'अनेकका एकत्र सम्बन्ध' कहा है और दूसरा होगा स्पष्टता, अर्थात् किसी रचनाका ग्राहक ( दर्शक, श्रोता, पाठक ) से सम्बन्ध।

४. ग्राहक ( श्रोता, द्रष्टा, पाठक ) पर रचनासे पड़े हुए मनोवैज्ञानिक प्रभावसे : जिसके अन्तर्गत तीव्रता ( इन्टैंन्सिटी ), कालावधि ( ड्यूरेशन ) की समस्या और लौंगिनस द्वारा प्रतिपादित उस संक्रमण ( ट्रान्सपोर्ट अर्थात् उदात्त ग्राहक-द्वारा किसी भावसे भावित होने ) की बात भी आ जाती हैं, जिसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है—'किसी रचनाकी श्रेष्ठताकी परख यही है कि वह बार-बार हृदयमें सिहरन उत्पन्न करती रहे।' ये प्रभाव ग्राहक ( श्रोता, दर्शक या पाठक ) पर सभी कृतियोंसे व्यापक रूपसे भी अपेक्षित हो सकते हैं और किसी विशेष प्रकारकी कृतिसे भी, अर्थात् रचनाका प्रत्येक रूप स्वोचित विशिष्ट आनन्दका उद्रेक भी कर सकता है जैसे त्रासदसे 'भाव-रेचन ( कथार्सिस ) का प्रभाव' प्राप्त होता है।

५. लेखकके अपने सिद्धान्तसे : जैसे तुर्गनेवकी सब रचनाओंमें श्रमिकोंके साथ सहानुभूति और मैकोलेकी रचनाओंमें टोरी-दलकी नीतिका समर्थन पाया जाता है। यह सिद्धान्त अधिक व्यापक भी हो सकता है और ऐकान्तिक भी जैसे—सहनशीलता, सनक या अनातोले फ्रान्सका यह विश्वविश्रुत सिद्धान्त कि 'दुर्दैव और करुणा ( आयरनी ऐंड पिटी ) अत्यन्त उच्च आत्माके संस्कार और सौन्दर्यसे युक्त होकर विश्वके सम्बन्धमें विचार करनेकी ऐसी उत्कृष्ट प्रातिभ प्रवृत्ति है जिसकी असम्पृक्ततामें सहनशीलता और सहानुभूतिकी भावना निहित रहती है।' ( यद्यपि इस विरक्ति या एकान्तशीलता ( आइवरी टावर ) तथा निर्लिप्तताकी वृत्तिका विरोध भी हुआ और वह भी इसलिये नहीं कि विचारक अपनेको संसारसे अलग या असम्पृक्त रखता है वरन् इसलिये कि दुर्दैवका तात्पर्य है अपनेसे निम्न कोटिके लोगोंपर कृपा दिखाना, करुणाका अर्थ है दूसरोंपर कृपा करना और इन दोनोंका समन्वित तात्पर्य है अपनेको औरोंसे श्रेष्ठ समझना। ) इसके अतिरिक्त कभी-कभी लेखक अपना व्यक्तिगत रूप छोड़कर व्यापक दृष्टिसे भी संसारके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत करता है।

अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो सबमेंसे नहीं तो इनमेंसे कुछ स्रोतोंसे प्राप्त मानदण्डोंके समन्वित विधानका ही प्रयोग करते हैं। किन्तु ये मानदण्ड भी रचनाके कुछ विशेष मूल्यों या गुण-तत्त्वोंपर अवलम्बित होते हैं। अतः यह भी जान लेना चाहिए कि काव्यका गुण-तत्त्व खोजना ( ऐक्ज़ियोलौजी ) और मूल्य या गुण-तत्त्व ( वैल्यू ) किसे कहते हैं।

### गुण-तत्त्व या मूल्य

'किसी रचनाका गुण-तत्त्व या मूल्य वह विशेष नियोजन है जो किसी रचनामें उपस्थित होकर, उसे मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण या गुणान्वित करके इस योग्य बना देता है कि उसकी ओर लोगोंका विशेष ध्यान आकृष्ट हो।' किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस गुण-तत्त्वका मूल क्या है और किस कसौटीसे हम किसी कृतिमें उस गुण-तत्त्वके अस्तित्वका अभिज्ञान कर सकते हैं।

### मूल्याङ्कनका सिद्धान्त

अभी थोड़े दिन पूर्व आई० ए० रिचार्ड्सने 'मूल्याङ्कनका सिद्धान्त' ( वैल्यू-थियरी या ऐग्ज़ियोलौजी ) निर्धारित करते हुए यह परिणाम निकाला कि 'सम्पूर्ण समीक्षा-पद्धतियाँ कुछ गुण-तत्त्वोंकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पूर्वनिश्चित संयोजनाओं या भावनाओंपर ही अवलम्बित हैं जो कभी मिटाई नहीं जा सकतीं।'

### गुण-तत्त्वका मूल

गुणतत्त्वका मूल क्या है और किस कसौटीपर हम किसी कृतिमें उसकी उपस्थिति जान सकते हैं? इन प्रश्नोंके उत्तर किसी भी समीक्षात्मक निर्णयमें पहलेसे ही मान्य होते हैं। यही मत दार्शनिक वृत्तिके समीक्षयवादियों तथा सौन्दर्य-विज्ञान-वादियोंका भी सदा रहा है, यद्यपि उन्होंने अपने मत ठीक इन्हीं शब्दोंमें व्यक्त नहीं किए हैं। इसीलिये समीक्षयवादियोंको सदा मानदण्डोंके विषयमें जिज्ञासा बनाई रखनी पड़ती है। ऊपर लिखा जा चुका है कि गुणतत्त्व-निरूपण या मूल्याङ्कनके सिद्धान्त ( वैल्यू-थियरी या ऐग्ज़ियौलौजी ) की व्यवस्थाके अन्तर्गत यह बात मान ली गई है कि समीक्षाएँ किन्हीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रकारकी ऐसी पूर्व-निश्चित भावनाओंके आधारपर चलती हैं जिनकी उपेक्षा की नहीं जा सकती, क्योंकि किसी कृतिको सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे 'पर्याप्त' कहनेका तात्पर्य यह है कि इसके अन्तर्गत इस बातका परिज्ञान भी सम्मिलित है कि यह पर्याप्तता उसे किसने दी। प्रायः समीक्षाकी व्यापक असफलताका कारण यही देखनेमें आता है कि समीक्षा-द्वारा किए जानेवाले निर्णयोंके आधारभूत सिद्धान्तोंमें ही असङ्गति और अव्यवस्था व्याप्त है अर्थात् जब कोई व्यक्ति बिना किसी सिद्धान्तके समीक्षाका अभ्यास करने लगता है

तो उसके द्वारा अनेक प्रकारकी भूलें और त्रुटियाँ होती ही रहती हैं। किन्तु जहाँ एक ओर चलते से व्यावसायिक प्रयोजनवादके हाथों पड़कर आजकी समीक्षा-पद्धति विकृत हुई है, वहाँ दूसरी ओर, यह भी मानना पड़ेगा कि यदि हम निश्चित सिद्धान्तोंके सहारे ही समीक्षा प्रारम्भ करें तब भी अनेक त्रुटियाँ और दोष आ जायँगे, क्योंकि किसी रचनाकी स्पष्टता और सङ्गतिकी सटीक तुलापर मूल्याङ्कन करनेवाला व्यक्ति अवश्य संकुचितता तथा अबुद्धि-सङ्गतताका आखेट बन ही जायगा। अतः व्यवहारवाद और सिद्धान्तवादके दोनों चरम छोरोंसे बचकर आदर्श मध्यम मार्ग यह है कि हमारे समीक्षाके मानदण्डोंका आधार हमारा अनुभव हो, अर्थात् वे कलाकारकी अभ्यास-प्रणाली और जनताकी बदलती हुई रुचिके आधारपर हों। क्योंकि वे मानदण्ड हैं, इसलिये उनका यह धर्म है कि अतीतकी सर्वमान्य श्रेष्ठताओंके आधारपर ही वे वर्त्तमानका सुधार और संस्कार करें। पर साथ ही वे अनुभवाश्रित भी होते हैं, अतः नये अनुभव तथा उनकी अभिव्यक्तिके अनुकूल उचित रचना-कौशलके परिवर्त्तनोंकी दृष्टिसे उनका सुधार भी होते चलना चाहिए। किन्तु यह मत मूल्याङ्कनके अप्राङ्कित प्रसिद्ध दोनों रूढ सिद्धान्तोंसे मेल नहीं खाता। अतः उन सिद्धान्तोंकी परीक्षा भी कर लेनी चाहिए।

## मूल्याङ्कनके दो सिद्धान्त : अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति

किसी वस्तुका गुण-तत्त्व वह है जो हम सीधे उस वस्तुकी विशेषताके रूपमें वैसे ही देखते हैं जैसे हम उसका रङ्ग या उसका आकार-प्रकार देखते हैं। केवल समस्या रह जाती है उसके गुण-तत्त्व उपस्थित होनेकी परिस्थितियोंका विश्लेषण करनेकी। किन्तु इस विश्लेषणसे भी दार्शनिकोंमें सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ जानेकी आशङ्का बनी रहती है। प्रायः यह मत सर्वमान्य है कि मूल्य या गुण-तत्त्व किसीकी रुचि या इच्छासे अधिक सम्बद्ध है—

किसीने लैलासे जाके पूछा कि क़ैसमें रंग-रूप क्या है ?
निकालकर आँख वो ये बोली, मेरी निगाहोंसे जाके पूछो ॥

इस बातपर यह मतभेद उठ खड़ा होता है कि यहाँ क्या रुचि ही मूल्य या गुणतत्त्वका निर्धारण कर रही है या वह मूल्य ( गुणतत्त्व ) ही रुचिका कारण है। इसका उत्तर जाननेके लिये हमें इन दो प्रश्नोंका समाधान कर लेना चाहिए कि—

१. क्या वस्तुएँ इसलिये सुन्दर लगती हैं कि हम सौन्दर्यात्मिका दृष्टिसे उनकी सुन्दरतामें भावित हैं, या—

२. क्या हम इसलिये उनकी ओर प्रवृत्त या उनसे सौन्दर्य-भावित हैं कि वे सुन्दर हैं।

इनमेंसे पहले प्रश्नकी दृष्टिसे देखा जाय तो किसी वस्तुका गुणतत्त्व हमारी दृष्टिपर अवलम्बित है और इसलिये वह अन्तर्व्याप्त ( सब्जैक्टिव ) है। दूसरी परिस्थितिमें हमारी रुचि ही गुणतत्त्वके पूर्वस्थित अस्तित्वपर अवलम्बित है, अतः वह बहिर्व्याप्त ( ऑब्जैक्टिव ) है। किन्तु ये दोनों सिद्धान्त भी अपनेमें पूर्ण नहीं हैं और बड़ी द्विविधा उत्पन्न कर सकते हैं।

### बहिर्व्याप्तिका सिद्धान्त

यदि हम गुणतत्त्वको बहिर्व्याप्त मानें तब तो वह सब वस्तुओंमें प्रत्यक्ष गोचर है ही फिर उसके अस्तित्वपर विचार करनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ? किंतु फिर भी मूल्याङ्कन या गुण-तत्त्व-निर्णयमें मतभेद हो ही रहा है। यों देखा जाय तो किसी वस्तुके अत्यन्त बाह्य या प्रत्यक्ष गुण—जैसे लम्बाई या मोटाई—के सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं होता। यह तर्क देना अत्यन्त असङ्गत है कि केवल प्रत्यक्ष गुण-तत्त्व ही स्वयं अपनेमें बहिर्व्याप्त नहीं हैं वरन् उनके भाव सिद्धान्त भी बहिर्व्याप्त हैं, जिनका अनेक प्रकारका प्रत्यक्ष्य मूल्याङ्कन ही उनकी बहिर्व्याप्तिका प्रमाण है और क्योंकि उनमें आरोपित पूर्वस्थित सिद्धान्त उनके मूल्यके साथ-साथ बदलते चलते हैं अतः वे भी अन्तर्व्याप्तसे ही प्रतीत होने लगते हैं, किन्तु वास्तवमें हैं नहीं।

### अन्तर्व्याप्तिका सिद्धान्त

दूसरी ओर अन्तर्व्याप्तिके सिद्धान्तमें भी यह समस्या उठ खड़ी होती है कि जब कोई मनुष्य किसी वस्तुको सुन्दर समझता है तब वह अपना या अपनी भावनाओंका व्यक्तीकरण नहीं करता। इसका उत्तर अन्तर्व्याप्तिवादी यह देते हैं कि किसी वस्तुको सुन्दर समझनेवाला व्यक्ति अपनी भावनाओंको उस वस्तुमें आरोपित ( प्रोजेक्ट ) कर देता है अर्थात् उसके साथ एकात्मता ( ऐम्पेथी ) स्थापित करके उसमें गुणतत्त्वका आरोप करने लगता है। किन्तु यह एक ऐसी गोल-मोल बात है कि इसकी प्रत्यक्ष व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि इन भले आदमियोंने यह कभी बताकर नहीं दिया कि यह

आरोपण करनेका कार्य कैसे होता है या यह आरोप क्यों होता है। समीक्ष्यवादीकी दृष्टिसे अन्तर्व्याप्तिवादीकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अपने सिद्धान्तकी सर्वत्र सम व्याख्या करनेपर उसे यही कहना पड़ता है कि 'वस्तुओंकी तुलनात्मक श्रेष्ठताके निर्णयोंका और रुचिका शिक्षण ही असम्भव है।' इसीलिये कोई ऐसा व्यावहारिक समीक्ष्यवादी नहीं मिल पाता जो समान रूपसे आद्यन्त अन्तर्व्याप्तिवादी मूल्याङ्कनके सिद्धान्तपर डटा खड़ा रह गया हो।

### बहिर्व्याप्तिके सिद्धान्तका दोष

इतने विचारके पश्चात् यह समझना कठिन नहीं है कि इन दिनों सिद्धान्तोंका व्यावहारिक परिणाम अत्यन्त अराजकता-पूर्ण है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम इस सिद्धान्तको इसलिये अशुद्ध बताते हैं कि इससे हमें असुविधा होती है, वरन् इसलिये कि इनके कारण समीक्षामें बड़ी अव्यवस्था उठ खड़ी हुई है, क्योंकि जो समीक्ष्यवादी इन बहिर्व्याप्तिवादियोंके तर्कोंसे सन्तुष्ट हो जाता है, वह समझता है कि ऐसे बहिर्व्याप्तिके सिद्धान्तों और नियमोंके सहारे ही किन्हीं विशिष्ट कला-कृतियोंपर निर्णय देना उसका कर्तव्य है, उनकी उपेक्षा करना अत्यन्त भूल होगी। किन्तु ये बहिर्व्याप्तिके नियम आते कहाँसे हैं इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर बहिर्व्याप्तिवादियोंमें बड़ा मतभेद है। यह समझना कठिन नहीं है कि जिन सिद्धान्तोंके लिये बाह्य प्रमाण अपेक्षित हैं उनका प्रयोग, कलाओंमें परिवर्त्तन रोकनेके लिये और उन्हें ज्योंकी त्यों बनी रहने देनेके लिये, उसी सरलतासे किया जा सकता है जिस सरलतासे वास्तविक महत्त्वपूर्ण वस्तुको महत्त्वहीन वस्तुसे अलग समझनेके लिये।

### अन्तर्व्याप्तिके सिद्धान्तका दोष

दूसरी ओर, अन्तर्व्याप्तिवादी यदि मूल्याङ्कनका अभ्यास करने लगें तो पूरा गड़बड़-घोटाला कर दें क्योंकि वे तो 'अपनी रुचिको व्यक्त करने' के सिद्धान्तके अतिरिक्त संसारके सभी सिद्धान्तोंको तिरस्कृत समझते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी वस्तुके सम्बन्धमें इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता कि 'मुझे वह अच्छी लगती है।' अतः सभी अन्तर्व्याप्तिवादी लोग अनातोले फ्रांससे भी दस पग आगे बढ़कर 'उन वस्तुओंमें अपने आत्माके साहस-पूर्ण विचरण'का वर्णन करते हुए उन्हें जो इसलिये

सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ बता सकते हैं कि वे उन्हें अच्छी लगती हैं।' पर यही वस्तुएँ दूसरोंको भी क्यों अच्छी लगती हैं, यह एक ऐसा टेढ़ा प्रश्न है जिसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है।

बाह्य सापेक्ष्यवाद

उपर्युक्त दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोंके मध्यम मार्गके रूपमें अभी थोड़े दिन हुए एक तीसरा मूल्याङ्कनका सिद्धान्त प्रस्तावित किया गया है जिसके अनुसार 'किसी वस्तुमें मूल्य या गुणतत्त्व होना समझा तो इसलिये जाता है कि हम उसके प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं किन्तु हम यह रुचि उसमें इसलिये प्रदर्शित करते हैं कि उसमें वास्तवमें कुछ ऐसे बाहरी लक्षण हैं जो हमारी रुचि आकृष्ट करते हैं।' इस दृष्टिके अनुसार, जिसे प्रायः लोग बाह्य सापेक्ष्यवाद (औब्जेक्टिव रिलेटिविज़्म) कहते हैं, किसी वस्तुमें गुणतत्त्वका अस्तित्व और उसमें हमारी रुचि दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं या उसके दो पक्ष हैं जिनमेंसे कोई एक दूसरेसे पहले-पीछे नहीं आता, दोनों साथ आते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार न तो हम यही मानते हैं कि हम वस्तुओंमें गुणतत्त्वका आरोपण (प्रोजेक्शन) करते हैं, न यही मानते हैं कि उस वस्तुमें रहनेवाला गुणतत्त्व हमारी रुचिको उद्दीप्त करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार, किसी वस्तु-द्वारा हमारी रुचि इसलिये उद्दीप्त होती है कि उस वस्तुमें रुचि उद्दीप्त करनेका सामर्थ्य विद्यमान है और उसके प्रति जो हमारी रुचि उद्दीप्त होती है उसी कारण यह गुणतत्त्व उस वस्तुमें विराजमान है और यद्यपि ये दोनों, अर्थात् रुचि और गुणतत्त्व, उस वस्तु तथा उसकी रचनाकी पारस्परिक प्रतिक्रियाके परिणाम तो हैं किन्तु वे पारस्परिक समन्वयकी किसी पूर्व-जनित क्रियाके द्वारा ही सम्भव हो पाए हैं। वस्तुकी जिस रचनामें गुणतत्त्व दिखाई पड़ता है उसपर यदि स्वयं उस रचनाकी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि वह केवल एक भौतिक ढाँचा या बनावट-भर है जैसे कोई भी जीव प्रत्यक्षतः केवल एक शारीरिक रचनाका रूप-मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि गुणतत्त्व भी बाह्य या प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह एक प्रत्यक्ष वस्तुका गुण है, किन्तु प्रत्यक्ष गुण होते हुए भी यह स्मरण रखना चाहिए कि यह गुण समझनेवाले व्यक्तिपर भी उतना ही अवलम्बित है जितना उस वस्तुके ढाँचे या उसकी बनावटपर, जिसे समझ लेनेपर ही वह गुण प्रकट होता है।

कर्तव्य-शास्त्र (ईथिक्स) की दृष्टिसे यह सिद्धान्त नैतिकतावादियोंकी

आपत्तियोंका समाधान तभी कर सकता है जब इसमें आवश्यक परिभाषाएँ जोड़ कर इसकी व्याख्या कर दी जाय। किन्तु सौन्दर्य-विज्ञानके लिये तो यह सिद्धान्त बड़ा सटीक बैठता है, यद्यपि इसमें भी कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनका अभीतक पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। इस सिद्धान्तमें विषय तथा बाहरी ढाँचे दोनोंमें जो गुणतत्त्वके अस्तित्वकी बात कही गई है उसके द्वारा सौन्दर्यात्मक विभावन और रचनात्मक विश्लेषण दोनोंको अत्यन्त बुद्धिसङ्गत तथा आवश्यक समर्थन प्राप्त हो जाता है, क्योंकि 'सौन्दर्य वही है जो सौन्दर्यकी सृष्टि करता है' किन्तु उतना ही, जितना वह हमारे प्रति सौन्दर्यका द्योतन करे। उसके साथ सफल सम्पर्क स्थापित करनेके लिये दो प्रकारके निर्णायक सिद्धान्त होने चाहिएँ, एक तो बाह्य या प्रत्यक्ष, जिसके लिये हम रचनाशील कलाकारको उत्तरदायी ठहराते हैं और दूसरा अन्तर्भावात्मक या सात्त्विक, जो हम ग्राहक ( श्रोता, दर्शक, पाठक ) के रूपमें उसमें आरोपित करते हैं।

वाह्य सापेक्ष्यवादका खण्डन

किन्तु यह सिद्धान्त भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोणसे व्याख्यात नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी रुचि भी प्रत्यक्षतः, कमसे कम कुछ अंशमें सही, सामाजिक प्रभावसे बनती है। क्या सुन्दर है? इस सम्बन्धमें हमारी भावनाएँ सामाजिक परिवर्त्तनके साथ-साथ बदलती रहेंगी। अतः नियम और सिद्धान्त भी उतने ही तरल, परिवर्त्तनशील तथा उतने ही अनवरत प्रवहमान हैं जितना मानव-समाज। इसीलिये कलाकारोंको उन सिद्धान्तोंमें बाँध रखना अनुचित है जो उन वस्तुओंसे लिए गए हैं जो ऐसी रुचियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये रची गई थीं, जिनका अब लोप हो चुका है। किन्तु साथ ही साथ यह कल्पना करना भी असङ्गत है—जैसा कि क्रान्तिकारी लोग कहते हैं—कि 'हम अतीतसे अपना पूर्णतः सम्बन्ध तोड़कर, उसके प्रमाणों तथा सिद्धान्तोंसे अपनेको पूर्णतः मुक्त कर लें।' इसका तात्पर्य यह है कि किसी ऐसी वस्तुको सुन्दर कहनेका किसी भी व्यक्तिको अधिकार नहीं है जिसमें उसके अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति सौन्दर्यात्मिका तुष्टि न प्राप्त कर सके। 'सुन्दर' सामाजिक शब्द है और उसकी कसौटी भी सामाजिक है। पूर्णतः 'निजी या व्यक्तिगत सौन्दर्य' स्वयं परस्पर-विरोधी शब्द हैं। यों प्रत्येक व्यक्तिको यह स्वतन्त्रता है कि वह सनकमें आकर किसी भी वस्तुको श्रेष्ठ समझ ले किन्तु यदि

वह अपनी इस व्यक्तिगत रुचिसे चाही हुई वस्तुको 'सुन्दर' भी कहे तब इसका तात्पर्य यह है कि वह उसका निजी उपयोग बतानेसे कुछ अधिक कहना चाहता है अर्थात् वह अपने व्यक्तिगत उपयोगकी वस्तुको ऐसा विशेषण देना चाहता है जिसका सामाजिक पक्ष भी है। होनेको तो कोई ऐसी वस्तु हो भी सकती है जो पूर्णतः 'निजी सौन्दर्य' कहला सकती हो किन्तु यदि ऐसी हो तो उसके विषयमें और अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि उसके विषयमें कुछ भी कहा जायगा तो फिर वह निजी या व्यक्तिगत नहीं रह पा सकती। किसी वस्तुकी विशेषता बतानेके लिये यदि बिना किसी विवेचनके, केवल उसके लिये 'सुन्दर' शब्दका प्रयोग कर दिया जाय तो उससे अनावश्यक झंझट उठ खड़ी होती है और वह फिर उस शुद्ध अन्तःशोधनके स्तरपर लौट जाती है जहाँसे हम गुणतत्त्वकी खोजमें हटकर चले आए थे।

## गुणतत्त्व ( वैल्यू ) का समाधान

ऊपर मूल्याङ्कनके अन्तःमूलक और बाह्य-मूलक सिद्धान्तोंका त्वच्चाहच्च दिखाते हुए तीसरा मध्यम मार्ग बाह्य सापेक्ष्यवादके नामसे सुझाकर जो यह कहा गया है कि अभीतक सब लोग उसके सम्बन्धमें एकमत नहीं हुए, इसका तात्पर्य यही है कि किसी रचनाका गुण-तत्त्व क्या है, इस बातको वे लोग अभीतक नहीं समझ पाए और जब इसे ही नहीं समझे तो काव्यमें उनका गुण-तत्त्व-परीक्षण भी कैसे निर्दोष हो सकता है। अतः हमें स्पष्ट रूपसे गुण-तत्त्वकी व्याख्या कर लेनी चाहिए।

## गुण-तत्त्वकी परिभाषा और परिधि

'किसी रचनामें लेखक-द्वारा प्रयुक्त या स्थापित वह नियोजन ही 'गुण-तत्त्व' कहलाता है जो ग्राहक ( श्रोता, पाठक या दर्शक ) को आदिसे अन्ततक उस रचनामें उलझाए रक्खे, ऊबने न दे।' हम स्वयं अपना परीक्षण करके देखें तो इसका तात्पर्य हमारी समझमें आ जावेगा। जब हम काव्य पढ़ते हैं तो हम उसमें कुछ तो कथाका, कुछ कथानकके ग्रथनका, कुछ उसके रचना-कौशलका, कुछ सूक्तियोंका, कुछ जोड़-तोड़के उत्तर-प्रत्युत्तर या वाग्वैदग्ध्यका, कुछ शब्दोंकी रसीली सजावटका, कुछ उससे दी हुई शिक्षाका, कुछ उसमें आए हुए स्थलों या वस्तुओंके वर्णनोंका, कुछ उनमें आए हुए व्यक्तियोंके चरित्रोंका और कुछ घटनाओंकी जटिलतासे उत्पन्न परिस्थितियोंका आनन्द

लेते हैं। इसे संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि किसी रचनामें हमें जो आनन्द मिलता है वह उसमें अन्तर्हित सुन्दर, अद्भुत और असाधारणसे प्राप्त होता है अर्थात् जब किसी रचनामें सुन्दर, अद्भुत और असाधारण वस्तु, व्यक्ति, कथा और भाषाका ऐसा नियोजन होता है कि ग्राहक ( पाठक, श्रोता या दर्शक ) कौतूहलके साथ उसमें तन्मय होकर कहीं भाषा-शैलीसे तथा कहीं वर्ण्य विषयसे भावित होता चला जाय, तब समझना चाहिए कि उसमें गुण-तत्त्व विद्यमान हैं।

## गुण-तत्त्व भिन्न स्तरका होता है

सुन्दर, अद्भुत और असाधारण क्या होता है इसकी मीमांसा तो हम आगे अलग अध्यायमें करेंगे किन्तु यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि लेखक-द्वारा नियोजित जो गुणतत्त्व ग्राहकको उलझाए रखता है वह व्यक्तिगत रुचि, सामाजिक वृत्ति तथा ज्ञान-संस्कारके साथ बदलता है। विचित्र बात यह है कि कभी-कभी किसी एक ही मनुष्यकी व्यक्तिगत मूल प्रवृत्ति और उसकी संस्कृत प्रवृत्ति दोनोंमें सङ्घर्ष छिड़ जाता है, जिसमें पड़कर वह मनुष्य अपनी इन दोनों प्रवृत्तियोंको अलग-अलग अवसरोंपर अलग-अलग ढंगसे तृप्त करने लगता है। यह एक स्वाभाविक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्तिका दुहरा व्यक्तित्व होता है जिसमेंसे एक तो होता है उसका निजी या आन्तरिक व्यक्तित्व और दूसरा होता है बाह्य या सामाजिक। यह दुहरा व्यक्तित्व हम-आप सभीका है जो पशु-श्रेणीसे ऊपर उठ चुके हैं और स्थितप्रज्ञ होकर योगी नहीं हो पाए हैं। आप घरमें जासूसी उपन्यास तथा रसीली कामोत्तेजक काम-शास्त्रकी पोथियाँ पढ़ते हैं, किन्तु बाहर समाजमें सुरुचि और सत्साहित्यका उपदेश देकर, उसका दार्शनिक विवेचन करके, जासूसी तथा कामोत्तेजक उपन्यास-कहानियोंकी निन्दा करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो गन्दी कहानियाँ पढ़ते जाते हैं, उनमें रस लेते जाते हैं और साथ-साथ बाहरी मनसे कहते भी जाते हैं—'अरे ! बड़ा भ्रष्ट लिखा है इसने।' हम लोग जब दो-चार लँगोटिया यारोंके साथ बैठते हैं तब स्वयं बड़ा फूहड़ और अभद्र हँसी-विनोद करते हैं किन्तु दो परिचित आ जायँ तो एक क्षण पूर्व जिन लोगोंसे हम तू-तड़ाकसे बातें करते थे उन्हींके साथ दूसरोंके आगे हम औपचारिक व्यवहार करने लगते हैं और यदि किसीके मुँहसे भूलसे कोई अपशब्द निकल भी गया तो नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं और 'अपने शब्द लौटाओ'का कोलाहल खड़ा कर देते हैं। इन दुहरे

व्यक्तित्ववालोंके अतिरिक्त कुछ लोगोंका व्यक्तित्व तिहरा, चौहरा होता है जिनके लिये किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले ।।

[ भीतरसे शाक्त हैं, बाहर दिखानेको शैव हैं और सभामें जाकर वैष्णव हो जाते हैं । ऐसे अनेक बहुरूपिए पाखण्डी धरतीपर घूमते रहते हैं । ]

नैतिक दृष्टिसे वही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ या महात्मा है जिसकी वृत्ति इकहरी होती है और जिसके लिये कहा गया है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम् ।।

[ जो मन, वचन और कर्ममें एक होते हैं वे महात्मा और जो मन, वचन, और कर्ममें भिन्न होते हैं वे दुरात्मा कहलाते हैं । ]

किन्तु ऐसा कोई बिरला ही होता है । इस व्याख्याके अनुसार हम-आप सभी अनैतिक और दुरात्मा ही हैं क्योंकि हमारी एक आन्तरिक या वास्तविक वृत्ति है और दूसरी बाह्य या कृत्रिम है । अतः हम जब किसी वस्तुका गुण-तत्त्व ढूँढ़ते हैं तब उसका एक रूप हम अपने मनमें छिपा रखते हैं और दूसरा समझने-समझानेका ढोंग करते हैं ।

### तीन गुणतत्त्व : सुन्दरता, अद्भुतता, असाधारणता

यह वेदना और आश्चर्यकी बात है कि हम जितना भी गुण-तत्त्व-परीक्षण करते हैं वह उन बाहरी या कृत्रिम कसौटियोंपर ही होता है जो हमने शिष्ट समाजकी बाहरी रुचिके अनुसार बनी चली आई हुई परम्पराओंके आधारपर स्थिर कर ली हैं । अतः यद्यपि मूलतः चाहे हम अपनी निजी, गुप्त तथा स्वतंत्र वृत्तिसे गुण-तत्त्व खोजें या समाज-द्वारा परम्परा-सिद्ध रूढ कसौटियोंसे अन्वीक्षण करें किन्तु यह निश्चय है कि हम जिन गुण-तत्त्वोंसे भावित होते हैं वे तीन ही हैं सुन्दरता, अद्भुतता तथा असाधारणता । लेखक या कवि इन तीन गुण-तत्त्वोंमेंसे किसी एक या दो या तीनों गुण-तत्त्वोंका नियोजन जब अपनी रचनामें करता है तभी उसमें गुण-तत्त्वकी प्रतिष्ठा होती है ।

किन्तु ये गुण-तत्त्व विभिन्न वर्गों या व्यक्तियोंकी बौद्धिक तथा सांस्कृतिक योग्यता और परिस्थितिके अनुसार भिन्न प्रकारके होते हैं इसीलिये किसीको

एक प्रकारकी रचना अच्छी लगती है किसीको दूसरे प्रकारकी ; किसीको कजरीमें आनन्द आता है, किसीको सूर-सागरमें। इसीलिये विभिन्न श्रेणीके कवि विभिन्न प्रकारके समाजोंके लिये विभिन्न प्रकारकी ऐसी रचना करते हैं जिनसे तत्तत्सम्बद्ध वर्गोंके व्यक्तियोंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आनन्द प्राप्त होता रहता है। किन्तु कुछ ऐसे असाधारण, सार्वभौम, सारस्वत कवि भी होते हैं जिनकी रचना साधारण अपढ़ मनुष्यसे लेकर अत्यन्त विद्वान् तथा सुसंस्कृत रुचिके व्यक्तिको भी समान रूपसे आनन्द देती है जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस। किन्तु ऐसे कवि संसार-भरके साहित्यमें सम्भवतः एक दो ही निकलें तो निकलें।

### प्रांशुलभ्यता आवश्यक

कोई वस्तु सुन्दर, अद्भुत या असाधारण केवल परिस्थितिवश ही होती है। उसके लिये यह आवश्यक है कि वह हमारी पहुँचसे बाहर हो। जिस वस्तुसे हमारा नित्यका सम्बन्ध है वह बहुत सुन्दर होनेपर भी हमें अच्छी नहीं लगती। विवाह होनेसे पूर्व जिस सुन्दरीके बिना चैन नहीं पड़ती थी, विवाह होनेके उपरान्त उसीसे जी ऊबने लगता है। योरोप और अमेरिकाके प्रणय-परित्याग इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। ताजमहल अत्यन्त सुन्दर भवन है, किन्तु वहीं जूतेका रखवाला उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। अतः सुन्दर, अद्भुत और असाधारण होनेके लिये यह आवश्यक है कि वह हमसे इतनी दूर या पहुँचके इतना बाहर हो कि हम उसकी सुन्दरता, अद्भुतता और असाधारणताकी ओर आँख फाड़े, मुँह बाए, दाँतों तले उँगली दबाए उसकी ओर एकटक देखते हुए बस मुँहसे इतना ही भर कहते रह जायँ—'अरे ऐसा भी हो सकता है!' और साथ-साथ मनमें यह भावना बनाए रह जायँ कि ऐसी रचना करना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है, ऐसी रचना साधारणतः किसीसे हो नहीं पा सकती। यदि यह भावना न हुई और उसे देखनेवालोंमें वैसी रचना करनेकी शक्ति हुई तब वह उसका आनन्द नहीं लेता, उससे ईर्ष्या करता है, उसमें दोष ढूँढ़ता है। यही कारण है कि एक गायकको दूसरा गायक और एक कविको दूसरा कवि फूटी आँखों नहीं सुहाता। इसीके साथ कभी-कभी ऐसे भी व्यक्ति उठ खड़े होते हैं जो मनसे तो किसी रचनाको सुन्दर समझते हैं किन्तु अपनी पण्डितम्मन्यता दिखानेके लिये अथवा अपनेको पराभवसे बचानेके लिये भी उसमें दोष निकालते हैं। ऐसे लोगोंकी

गणना असाधुओंमें होनेके कारण उनके मतको 'उन्मत्तकी बहक' कहा जा सकता है। अतः उनके मत और रुचिका गुण-तत्त्वकी विवेचनामें कोई महत्व नहीं होता।

## गुण-तत्त्वका नियोजन कैसे ?

गुण तत्त्वकी विवेचना कर चुकनेपर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उन गुण तत्त्वोंका नियोजन किस रूपमें मिलता है ? इसका उत्तर भी उपर्युक्त आत्म-मनोविश्लेषणसे प्राप्त हो जाता है और हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि हम किसी रचनामें या तो उसमें आए हुए विषयों या वस्तुओंकी सुन्दरता अद्‌भुतता, और असाधारणताका वर्णन पढ़कर तन्मय होते हैं या उन विषयों और वस्तुओंके वर्णन करनेकी सुन्दर, अद्‌भुत असाधारण रीति या शैलीसे मुग्ध होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—एक कवि कल्पना करता है कि 'लैला जङ्गलमें खड़ी हुई है, मैं उसके पास खड़ा हूँ, एक हरिण उधरसे होकर निकल जाता है और लैला कहती है कि देखो कैसा अच्छा हरिण है !' इस परिस्थितिके आधारपर कवि अपने तर्क-कौशल और उक्ति-कौशलसे चमत्कार उत्पन्न करके यह सिद्ध करता है यह हरिण नहीं है, मजनूँ है—

> ये मजनूँ है, नहीं आहू है लैला,
> पहनकर पोस्तीँ निकला है घरसे।
> नहीं हैं, सरपै इसके सींग, हैं ख़ार,
> चुभे हैं पाँवमें निकले हैं सरसे।

[ आहू=हरिण : पोस्तीं=हरिणकी खाल : ख़ार=काँटे ]

इस उक्तिमें कविने हरिणको मजनूँ सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त वाक्कौशलका प्रयोग करके वर्णन किया है कि 'यह मजनूँ है। जिस रूपके कारण तुम इसे हरिण समझती हो वह वास्तवमें हरिणकी खाल है, जिसे ओढ़कर वह घूमने निकला है। जिसे तुम सींग समझ रही हो वे सचमुच काँटे हैं और इतने बड़े-बड़े काँटे हैं कि पैरोंमें चुभकर सिरसे निकल आए हैं।' ऐसी रचनाओंमें हमें विषय या वस्तुसे इतना आनन्द नहीं मिलता जितना उसके कहनेके ढङ्ग या शैलीसे मिलता है। अतः गुण-तत्त्वका अस्तित्व कभी तो प्रस्थापित या चयन की हुई वस्तुमें ही होता है, कभी भाषा-शैली या वर्णन-शैलीमें ही होता है, कभी रचना-कौशल या विषय प्रस्तुत करनेके ढंग या

कौशलमें ही होता है और कभी इन तीनोंमें होता है। एक उदाहरण लीजिए—सोनेका एक कङ्कन बना है। उसकी परीक्षा तीन प्रकारसे की जा सकती है—

१. इसमें जो सोना लगा है वह खरा है या खोटा? खोट है तो कितनी? उसमें जो खोट मिलाई गई है उससे इसकी दृढ़तामें क्या योग मिला? इसकी दमकमें क्या त्रुटि हुई? यह परीक्षा वस्तु, सामग्री या विषयकी है।

२. कङ्कनपर कैसे बेलबूटे बने हैं? कैसी सजावट है? यह सजावट आँखको अच्छी लगती है या नहीं? सजावट अधिक या कम तो नहीं? यही शैलीकी परीक्षा है।

३. बेलबूटोंमें जो मीनाकारी की गई है, रत्न जड़े गए हैं, वे कितने उचित, सटीक और कितने नयेपनके साथ जड़े गए हैं? कङ्कनकी बनावटमें इस रत्न-योजनासे क्या निरालापन आ गया है जो उसी प्रकारके बेलबूटों तथा रत्नोंसे सुसज्जित कङ्कनोंमें नहीं है? यही रचना कौशलकी परीक्षा है।

किन्तु इनके अतिरिक्त एक चौथी भी परीक्षा है—

४. जिसमें यह देखा जाता है कि जिसके लिये कङ्कन बनाया गया है उसे बड़ा या छोटा तो नहीं होगा? उसके आकार, रंग, रूप और मर्यादापर फबेगा या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि—

'वरक़ सोनेका चिपकाया है गोबरकी मिठाईपर।'

यह है ग्राहककी योग्यता और मर्यादाके अनुसार उसके औचित्यकी परीक्षा।

अतः कवि या लेखक चार प्रकारसे, चार रूपोंमेंसे सबको या कुछको लेकर अपनी कृतिमें गुणतत्त्वका नियोजन करता है। अतः समीक्ष्यवादीको यह देखकर गुणतत्त्वकी खोज करनी चाहिए कि कविने कहकर, जानबूझकर गुणतत्त्वका नियोजन कहाँ किया है और फिर वहीं उस प्रकारके गुणतत्त्वकी खोज और समीक्षा करनी चाहिए, बलपूर्वक सब ओर गुणतत्त्व खोजनेकी पाखण्ड-चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

## किसी कृतिमें मूल्य या गुणतत्त्व कैसे ढूँढ़ा जाता है?

योरोपवालोंने मूल्य या गुणतत्त्व खोजनेकी पाँच कसौटियाँ बनाई हैं—

१. आनन्द-दायकत्व, अर्थात् उसे देखते ही या पढ़ते ही सीधे तत्काल आनन्द प्राप्त हो।

२. कलात्मकता, अर्थात् उसका रचना-कौशल इतना अद्भुत, असाधारण और आकर्षक हो कि उससे भी आनन्दकी प्राप्ति हो।

३. सांस्कृतिक प्रभाव-शीलता, अर्थात् उसके द्वारा समाज या सभ्यतापर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता हो।

४. नैतिकता या धार्मिकता अर्थात् उसके पढ़नेवालेका नैतिक विकास होता हो और उसकी अनैतिक भावनाओंका नाश होता हो।

५. व्यावहारिकता अर्थात् उसके द्वारा संसारमें मानव-सम्बन्धोंके निर्वाहका उचित मार्ग जाना जाता हो।

किसी भी कृतिमें इनमेंसे कुछ या सभी मूल्य ( गुणतत्त्व ) हो सकते हैं। सब समीक्ष्यवादी भी अपनी-अपनी दृष्टिसे इन्हींमेंसे किन्हीं विशिष्ट मूल्योंको ही महत्त्व देते रहे हैं और देते हैं। किन्तु साहित्यिक कृतिके सौन्दर्यवादी तत्त्व केवल प्रथममें या अधिकसे अधिक प्रथम दो गुणतत्त्वोंमें ही प्राप्त होते हैं।

## 'जैसे चित्रमें वैसे कवितामें'का सिद्धान्त

हौरेसने अपने आर्स पोएतिकामें लिखा है कि 'जैसे चित्रमें वैसे कवितामें भी विस्तृत सूक्ष्मताएँ ( डीटेल्स ) होनी चाहिएँ, जिसके लिये कविकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म और शैली ऐसी विस्तृत प्रभावशाली चाहिए कि दूरसे देखनेपर भी वह आनन्द प्रदान करे।' हौरेसका यह मत सोलहवीं शताब्दिसे अट्ठारहवीं शताब्दि-तककी कला और साहित्यकी समीक्षामें व्यापक रूपसे योरोपमें मान्य रहा है। हौरेसने 'जैसे चित्रमें वैसे कवितामें' उक्तिका प्रयोग उपर्यङ्कित वाक्यमें वहाँ प्रयोग किया है जहाँ उसने समीक्षात्मक निर्णयके विस्तारकी दुहाई दी है। किन्तु पुनर्जागरणकाल और बारोक ( अतिशय अलङ्कारवादी ( समीक्षकोंने सौन्दर्यात्मक समीक्षामें एक व्यापक प्रवृत्ति निर्धारित करनेके लिये इसका प्रयोग किया जिसका मूल तत्त्व अत्यन्त प्राचीन कालमें भी प्राप्त होता रहा है जब काव्यमें समानता ढूँढ़ना ही मौलिक महत्ताका कार्य समझा जाता था। इस मतके अनुसार 'कवि ऐसा चित्रकार माना गया है जो अपनी योग्यतासे बाह्य संसारके बिम्बको उसी सजीवतासे चित्रित करता है जैसे चित्रकार वस्त्रपर करता है।' उसी प्रसङ्गमें चित्रकारकी परिभाषा देते हुए बताया गया कि 'यदि वह ( चित्रकार ) श्रेष्ठ कहलाना चाहता है तो उसे संस्कारत: कवि होना चाहिए जिससे कि वह कविके विषयको समझ

सके, मानवीय भावोंको व्यक्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर सके तथा नई-नई उद्‌भावनाओंकी खोजके लिये कविके नियमोंका पालन कर सके।'

## अनुकरणका सिद्धान्त

साहित्य-समीक्षकोंका उपर्युङ्कित सिद्धान्त अरस्तूके काव्यशास्त्रके आदर्श अनुकरणके सिद्धान्तसे मिल जाता है और कवि इसलिये चित्रकार समझ लिया जाता है कि वह भी किसी विशिष्ट अलंकृत प्रकृतिकी ज्योंकी त्यों प्रतिमा चित्रित कर देता है। किन्तु सोलहवीं शताब्दिमें जब अरस्तूके सिद्धान्तको सुधारकर उसका यह अर्थ लगाया गया कि 'आदर्श प्रकृतिका अनुकरण ही प्रधान होता है और वह प्राचीन कलाकी पूर्ण आदर्श प्रतिकृति ( मौडल ) में प्राप्त हो जाता है', तब लोगोंने भाव और अन्त:प्रेरणाकी उपेक्षा करके भी कलामें रूप-सज्जाको प्रधानता दी। इसलिये हौरेसके उपर्युक्त वाक्यको स्मरण करके लेखकोंने चित्र और कवितामें रूपात्मक सम्बन्ध खोजना प्रारम्भ कर दिया, जिससे इन दोनों भिन्न कलाओंके विशिष्ट उद्देश्यों और प्रयोजनोंमें ही भ्रान्ति उत्पन्न हो गई। समीक्ष्यवादियोंका कहना है कि 'जब कवि किसी रचनाके लिये अपना विषय छाँटता है तब वह उसका एक ढाँचा बनाकर उसे रूढ शब्दों, सुन्दर वाक्यों और अलङ्कारोंसे सुसज्जित करके उसी प्रकार काव्यका रूप दे देता है जैसे कोई चित्रकार वस्त्रपर रङ्ग देता है।' कविता और चित्रमें इस रूपात्मक विभ्रमके कारण एक परिणाम निकला जिसे 'काव्य-शैली' कहते हैं। बैबिटने कहा है कि 'काव्यकी भाषाको व्यक्तिगत भावसे भिन्न समझनेके अभ्यासके कारण ही उस काव्य-शैलीका उद्‌गम हुआ जो विभिन्न आदर्शोंके साथ शब्दों और अलङ्कारोंसे सुसज्जित होती चलती है।'

## वर्णनकी प्रधानता

बैबिटने बताया है कि 'कविता और चित्रकी इस रूपात्मक समताके कारण शब्द-चित्रण तथा वर्णनात्मक लेखकी अतिरेकता मन्द पड़ गई क्योंकि पुनर्जागरणकालके सिद्धान्तके अनुसार भी यद्यपि कविता भी अनुकरण और चित्रण ही है किन्तु मुख्य रूपसे तो वह मानवीय व्यापारका अनुकरण ही है।' पर ज्यों-ज्यों मानवीयताकी भावना कम होने लगी और अट्ठारहवीं शताब्दीके पूर्वमें बाह्य प्रकृतिमें लोगोंकी रुचि बढ़ने लगी त्यों-त्यों वर्णनात्मक कवियोंका

एक सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ जिसमें यद्यपि काव्य-शैलीका अभाव नहीं है फिर भी जिन्होंने साहित्यिक आदर्शपर ध्यान देनेके बदले प्राकृतिक वस्तुओंके वर्णनपर ही अधिक ध्यान दिया। इस सम्प्रदायका जर्मनीमें बहुत अधिक प्रचार हुआ जिसका खण्डन करके लैसिङ्गने अरस्तू-द्वारा प्रतिपादित मानवतावादके कट्टर प्रतिनिधिके रूपमें सामयिक प्रयास करके कविताको पुनः मानवीय कलाके रूपमें सुप्रतिष्ठित कर दिया। लैसिङ्गका विश्वास था कि 'कविताका उद्देश्य मूलतः मानवीय व्यापार तथा भावकी व्यवस्था करना है, उसका वर्णन करना नहीं, क्योंकि वर्णन करना तो चित्रकलाका मुख्य कार्य है।' उसका मत है कि 'शब्द तो एकके पश्चात् एक आकर, अनेक प्रकारके अर्थ देकर, अत्यन्त भ्रमात्मक और अनिश्चित बिम्ब उत्पन्न करते चलते हैं, किन्तु चित्रकार एक ही स्थलपर एक पूर्ण सुसम्बन्ध और सुसङ्घटित बिम्बके रूपमें पूरा विवरण दे देता है जिससे कि आँखें एक ही झपकमें उसे ग्रहण कर लेती हैं।' इस प्रकार लैसिङ्गने उस समयकी सैद्धान्तिक अव्यवस्थामें पूर्ण व्यवस्था स्थापित कर दी।

### चित्रकार और कविमें एकात्मता

यदि एक ओर पुनर्जागरणकालवाले तथा अतिशय अलङ्कारवादी (बारोक) समीक्षक लोग कवि और चित्रकारको एकात्म माननेके लिये अत्यन्त उत्सुक थे तो दूसरी ओर चित्रकलाके समीक्ष्यवादी भी 'जैसा चित्रमें वैसा कवितामें' ( उत पिक्तूरा पोएसिस ) की उक्तिको उस व्यवस्थित सिद्धान्तके रूपमें स्थापित करनेके प्रयत्नमें थे जिसमें चित्रकार पूर्णतः कविके साथ एकात्म मान लिया गया था। ये लोग चित्रकलाको मध्यकालीन शिल्प-कलाओंकी श्रेणीसे उठाकर काव्यके समकक्ष उदार कलाके पदपर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इस प्रयासमें इन समीक्ष्यवादियोंने प्राचीन युगका कोई ऐसा लेख तो पाया नहीं जो अरस्तूके काव्य-शास्त्र या हौरेसके आर्स पोइतिकाके समान आकर चित्रण-कलाका सैद्धान्तिक विवेचन करता हो, अतः उपर्यङ्कित ग्रन्थोंमें ही जो कविता और चित्रकलाकी समता प्रदर्शित करनेवाले गिने-चुने वाक्य मिले उन्हींमेंसे इन पुनर्जागरणकालके चित्रकला-समीक्षकोंने ऐसे मौलिक समीक्षात्मक सिद्धान्त निकाल लिए जो वास्तवमें लिखे गए थे काव्यके लिये। इन लोगोंके सिद्धान्तके अनुसार 'चित्रकला भी काव्यके समान मानव-व्यापारका अनुकरण है और चित्रकारको भी कविके ही समान प्राचीन तथा वर्तमान कविताओंमेंसे तथा

पवित्र धार्मिक और सांसारिक इतिहासमेंसे उदात्त विषय चुनने चाहिएँ।' इतना ही नहीं, 'उसे भी कविके समान मनुष्यकी भावना अभिव्यक्त करनी चाहिए।' इस विषयमें यह भी कहा गया कि 'चित्रकारकी प्रतिभा कविकी प्रतिभासे अत्यधिक मिलती-जुलती है और केवल दूसरेको प्रसन्न करना ही इसका उद्देश्य न समझ कर मानव-मात्रको इससे शिक्षा भी लेनी चाहिए।' किन्तु कविता और चित्रकलाकी सामग्री तथा उद्देश्यको एक माननेवाले इस मानवीयतावादी सिद्धान्तके कारण थोड़े ही दिनोंमें चित्रणकला इतने ऊँचे बौद्धिक स्तरपर उठ गई और उसे काव्यात्मक अन्वेषणके नियमोंका ऐसा आधार बना दिया कि दृश्य कलाके रूपमें चित्रण-कलाका जो मुख्य लक्षण था और जो हमारी दृष्टिको सर्वप्रथम प्रभावित करनेवाला गुण था वह उपेक्षित हो गया। यह प्रवृत्ति सत्रहवीं शताब्दिके अन्तिम भागमें ले ब्रूँके नेतृत्वमें फ्रेञ्च एकेडेमी-द्वारा पराकाष्ठाको पहुँचा दिया गया। इसीलिये लैसिङ्गने अपने समयकी अध्यवसानात्मक अथवा रूपकात्मक चित्रणकलाके विरुद्ध 'लाउकून'में आपत्ति करते हुए उसे 'लेखनकी कृत्रिम शैली' घोषित कर दिया। वहींपर ऐतिहासिक चित्रणकी अभिव्यक्ति-शैलीपर भी आपत्ति करते हुए उसने चित्रकलाको 'स्थलगत' कला बताया है, जिसका क्षेत्र मूलत: मानवीय व्यापार और भाव न होकर उस बाह्य संसारके विविध रूप हैं जो प्रत्यक्ष खुले स्थलमें एकत्र निवास करते हैं और उसी रूपमें हमें दृष्टि-गोचर होते हैं।

### सौन्दर्यात्मक निर्णय और वैज्ञानिक निर्णय

'किसी साहित्यिक कृतिके गुण या दोषके सम्बन्धमें किसी परिणामपर पहुँचने या परिणाम निकालनेकी शक्तिको निर्णय कहते हैं।' इस निर्णयके दो रूप हैं—

एक तो है सौन्दर्यात्मक, जिसमें हम यह परिणाम निकालते हैं कि 'यह कविता अत्यन्त सुन्दर है, स्वत: उद्भूत है, इसमें एक ही अनुभव है और सम्पूर्ण कृतिमें एक व्यापक भावना घुली हुई है।'

दूसरा रूप है वैज्ञानिक, जिसमें हम यह परिणाम निकालते हैं कि 'यह काव्य उदात्त है अर्थात् यह भली प्रकार सोच-विचार कर लिखा गया है, इसमें दो ऐसे अनुभवोंको अत्यन्त बुद्धिमत्ता-पूर्वक कौशलसे मिलाया गया है जिनका पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक नहीं हैं।'

## निर्णयका मानदण्ड

ऊपर निर्णयकी जो व्याख्या की गई है उसका मानदण्ड निर्धारित करनेके लिये हमें उपर्यंकित गुणतत्त्वका समीक्षण कर लेना चाहिए। उसके अनुसार हम निर्णयके मानदण्डकी प्रणालीको दो रूपोंमें व्यक्त कर सकते हैं—

१. बाह्य मानदण्ड अर्थात् वे आदर्श, जो कवितासे लेकर उस वास्तविक या आदर्श संसारतकके परीक्षणके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं जिसका उस कवितामें चित्रण होता है या जो किसी पूर्ण आदर्श अथवा किसी विशिष्ट प्रमाणका चित्रण करता हो।

२. अन्तर्भाविक मानदण्ड, जो ग्राहक ( श्रोता, दर्शक या पाठक ) के मनोवैज्ञानिक तथा सौन्दर्यात्मक अनुभवपर आश्रित हो।

कुछ लोग एक तीसरे प्रकारका मानदण्ड भी बताते हैं जो स्वयं उस कृतिमें निहित रहता है। क्योंकि किसी भी रचनाके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अपनी परीक्षाके लिये मानदण्ड भी प्रस्तुत करे। अतः यह मौलिक या अन्तर्व्याप्त ( इन्ट्रिन्ज़िक ) मानदण्ड वास्तवमें उपर्यंकित प्रणालियोंमेंसे किन्हीं एक द्वारा निर्धारित करना चाहिए।

## बाह्य मानदण्ड

बाह्य मानदण्डोंमें सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन और सर्वाधिक माननीय वह प्रकृति या वास्तविकता है जिसके सम्बन्धमें विद्वान् कहते हैं कि 'कला-द्वारा इसी प्रकृति या वास्तविकताका अनुकरण किया जाता है'; जैसे कि प्राचीन यूनानी लोग उन्हीं मूर्तियोंको अधिक प्रशंसनीय समझते थे जो इतनी वास्तविक होती थीं मानो बस अब बोलने ही वाली हों। इसी प्रकार कास्तेल्वेत्रोकी भी यही धारणा थी कि 'नाटकका समय और स्थान किसी वास्तविक व्यापारसे सम्बद्ध होना चाहिए।' वर्त्तमान कालके समीक्ष्यवादी लोग भी साहित्यिक कृतियोंके उन्हीं पात्रोंकी अधिक प्रशंसा करते हैं जो वास्तविक मनुष्यों जैसे प्रतीत होते हों। वे ऐसी ही शैली और ऐसा ही रचना-कौशल अच्छा समझते हैं जो ग्राहकके हृदयमें वास्तविक जीवनकी तीव्रतम भ्रान्ति उत्पन्न कर सके। इस स्वाभाविक या अकृत्रिम सरलतासे किए हुए अनुकरणकी भावनाके कारण ही प्लेटो ( अफ़लातून ) ने कविताकी निन्दा करते हुए कहा था कि कविता 'दैवी भावनासे त्रिगुणित दूरीपर स्थापित है।' किन्तु पीछेके प्लेटोवादियोंने

इसी तर्कको दूसरे रूपमें उपस्थित करते हुए कहा—'जो कविता कविके आत्मासे अन्तःप्रेरित होकर दैवी भावनाका अनुकरण करती हैं वही अलौकिक वास्तविकताका प्रतीकात्मक स्वरूप है। वही कविता सबसे श्रेष्ठ है जिसमें अत्यन्त उदात्त विचार, दैवी भावनाएँ या नितान्त दैवप्रेरित सन्देश भरे हैं।' यही भावना स्कालिगर आदि नवोदात्तवादियों ( नियो-क्लासिसिस्ट्स ) तथा ब्लेक आदि स्वैरवादियों ( रोमान्टिसिस्टस ) की समीक्षामें भी मिलती हैं।

प्लेटोकी विचार-प्रणालीसे जो दूसरा परिणाम निकाला गया, वह था हौरेस और पुनर्जागरणकालके समीक्ष्यवादियोंका यह प्रयोग कि वे कविताको प्रकारोंमें बाँट लेते थे और प्रत्येक प्रकारकी रचना करनेवालोंके लिये ऐसे प्राचीन आदर्श निर्धारित कर देते थे जिनका वे अनुकरण कर सकें और जिनके सम्बन्धमें यह मान लिया गया था कि उनसे अच्छा कोई लिख नहीं सकता अतः उनका अनुकरण ही करना चाहिए। पुनर्जागरणकालमें प्राचीन आदर्शोंके प्रति यह आस्था इतनी बढ़ गई कि अरस्तू जैसे प्राचीन समीक्षा-शास्त्रियोंको प्रमाण माननेकी भी पुकार मचाई जाने लगी यद्यपि अरस्तूके सिद्धान्तोंको न तो वे लोग ठीक समझ ही सके न उनका ठीक प्रयोग ही कर पाए।

### रूढिवाद

अरस्तूके पाठका ठीक अर्थ न समझनेके कारण ही एक विचित्र रूढिवाद ( फ़ौर्मेलिज़्म ) की प्रवृत्ति चल पड़ी। साहित्यिक सिद्धान्तके अनुसार रूढिवादकी परिधि अत्यन्त व्यापक है, जिसमें किसी कला-कृतिपर किसी रूढ सिद्धान्तके आरोपसे लेकर ( जैसे प्रगीत या सौनेटमें एक विशेष प्रकारसे व्यवस्थित चौदह पंक्तियाँ होनी ही चाहिएँ या त्रासदमें पाँच अङ्क होने ही चाहिएँ ) रूपात्मक सौन्दर्यकी उस मिश्रित रुचि-तककी सब बातें आ जाती हैं जिसमें अनुभवके अन्तर्गत आनेवाले भावात्मक, बौद्धिक और नैतिक गुण-तत्त्वोंका सर्वथा अभाव रहता है। रूढिवादका यह मानना ही सबसे बड़ा दोष है कि 'किसी कलाका रूप और उसका विषय केवल कहने भरको ही भिन्न नहीं है, वरन् वे दोनों वास्तवमें अलग-अलग किए जा सकते हैं।'

### आदर्श मानवकी प्रतिक्रिया ही कसौटी

यद्यपि ये उपर्यङ्कित बाह्य मानदण्ड कई शताब्दियोंतक मान्य समझे जाते रहे, फिर भी केवल ये ही समीक्षाके आधार नहीं रहे, इनके साथ और

भी अनेक मानदण्ड चलते रहे। स्वयं अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें नाट्यकलाका एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, जिसमें ग्राहकके मनोवैज्ञानिक अनुभवको भी समीक्षणका आधार बताया था। यही क्यों, रूपात्मक तत्त्वोंको जब हम एक क्रमसे सुसज्जित करते हैं तब भी हम सौन्दर्यकी वह भावना ही काममें लाते हैं जो एक ऐसे सुसङ्घटित रूपमें आँखोंके आगे आती है जिसे मानव जानता और पहचानता है। लौंगिनसने भी अपने उदात्त्व (सब्लाइम) में काव्यके प्रति ग्राहक (श्रोता, दर्शक और पाठक) की प्रतिक्रिया को ही 'साहित्यकी कसौटी' माना था। किन्तु प्लेटोके समान ही उसने यह भी कहा था कि 'यह प्रतिक्रिया किसी लल्लू-बुद्धूकी न होकर समाजके सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकी होनी चाहिए।' अतः मानव प्रकृतिकी आदर्श वृत्तिको ही अरस्तू और लौंगिनसने काव्य-सौष्ठवकी कसौटी माना और अलौकिक या दैवी भावनाओंसे स्फुरित आदर्शोंके फेरमें नहीं पड़े। इसी प्रकार आर्नोल्डकी भी कसौटी 'हमारे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियोंकी रुचि' पर ही अवलम्बित है। मिथ्या-वैज्ञानिक प्रयासोंमें भी जो परिमाणात्मक मानदण्ड स्थापित किए हैं उनमें भी आदर्श मनुष्यकी प्रतिक्रियाओंको ही समीक्षणका आधार माना गया है।

## मनोवैज्ञानिक, कलावादी तथा समाजवादी

मनोवैज्ञानिक या सात्त्विक मानदण्ड आगे चलकर रहस्यात्मक या अन्तःसंस्कारात्मक (इन्टय़ूशनल) बन जाते हैं (जैसे क्रोचेके सिद्धान्त) या वे पूर्णतः अन्तर्भावात्मक और केवल सापेक्ष्य-मात्र रह जाते हैं। प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म) और पेटरका 'कलार्थं कला' इसी बातके परिणाम हैं कि उन्होंने आदर्श कसौटियोंके सिद्धान्तकी उपेक्षा करके मनोवैज्ञानिक कसौटियोंका ही प्रयोग किया। ड्यूई आदिके जो सिद्धान्त सामाजिक पक्ष और कलाके प्रभावोंकी दुहाई देते हैं वे इस बातकी चिन्ता ही नहीं करते कि इससे सौन्दर्यवाद कितना पोला पड़ जायगा। कभी कभीतो वे ऐसे भावात्मक ज्ञान-सापेक्ष्यवादका सहारा लेते हैं जिसमें परम्परागत प्रमाणके आधारके अतिरिक्त और किसी प्रकारसे निर्णय करना ही असम्भव हो जाता है।

## ऐतिहासिक सम्प्रदाय

'ऐतिहासिक (हिस्टौरिकल) सम्प्रदाय' वाले मानते हैं कि 'हमें किसी प्रकारका मानदण्ड नहीं ही स्थापित करना चाहिए क्योंकि एक युगमें पोपने

जन्म लिया और उसका अभिप्रशंसन हुआ, दूसरे युगमें टैनिसन उत्पन्न हुआ और उसकी प्रशंसा हुई।' किन्तु इस सापेक्ष्यवादसे इस बातका समाधान नहीं होता कि पोपने जो रचनाएँ कीं वे अपने समयके लिये और सभी युगोंके लिये समान रूपसे क्यों श्रेष्ठ मानी गईं। यह भी विचित्र बात है कि जिन लोगोंने गुण-तत्त्व और मानदण्ड ध्वस्त करनेके लिये विस्तृत सिद्धान्त प्रतिपादित किए, वे स्वयं भी उन सिद्धान्तोंके बिना अपना काम नहीं चला पाए।

### प्रसिद्धिपरक समीक्षा ( पर्सपैक्टिव क्रिटिसिज़्म )

कुछ लोगोंने प्रसिद्धिको भी समीक्षाकी कसौटी मानकर इसे समष्टिगत, प्रयोजनवादी अथवा सर्वदश्य ( कलेक्टिव, प्रैगमेटिक और पर्सपैक्टिव क्रिटिसिज़्म) बताया है। उनका कहना है कि किसी लेखककी प्रसिद्धिगत समीक्षा, जो साहित्यिक जीवन-चरितका एक प्रकार ही है, यही है कि लेखक और उसकी कृतियोंने तत्कालीन अथवा अपने पीछेके पाठकोंके हृदयपर जो प्रभाव डाला है, उसके अनुसार उनकी व्याख्या और उनका मूल्याङ्कन किया जाय। रेनाँने इसीकी व्याख्या करते हुए कहा है—'इस समीक्षामें कविकी योग्यताओंके उस तात्त्विक भागसे पूर्ण जीवनका वर्णन होता होता है, जिसके कारण उसे सांसारिक अमरता प्राप्त हुई या प्राप्त हो सकती है।'

### प्रसिद्धि और प्रभाव

यहाँ प्रसिद्धि और प्रभाव दोनों शब्दोंका अन्तर भली-भाँति समझ लेना चाहिए। प्रसिद्धिके ठेठ रूप ये हैं—

१. 'स्वकालीन सफलता और उसके पश्चात् लगभग विस्मृत' : जैसे हिन्दीमें किशोरीलाल गोस्वामी या नाइट थौट्सका रचयिता यङ्ग।

२. स्वकालीन अपमूल्याङ्कन किन्तु पीछे आदर : जैसे अरिस्तोफ़नेस्म ने इउरीपिदेसका अनादर उसके जीवनमें किया किन्तु पीछे उसे अमर कीर्ति मिली।

३. अपने समयमें एक प्रकारकी रचनाके लिये प्रसिद्धि और पीछे चलकर दूसरे प्रकारकी रचनाके लिये, जिन दोनोंमें ही लेखकने सफलता पाई : जैसे—बायरनकी स्वैरवादी और व्यंग्यात्मक कविता।

४. विभिन्न युगोंमें एक ही कृतिके विभिन्न पक्षों या गुण-तत्त्वोंकी प्रशंसा या निन्दा : जैसे होमर और वर्जिलकी।

अतः किसीका प्रसिद्धिपरक परीक्षण करनेके लिये कमसे कम तीन युगोंका वर्णन अपेक्षित है—

क. लेखककी स्वकालीन प्रशंसा, निन्दा या उपेक्षा।

ख. मन्द विकास या अतिरञ्जित प्रतिक्रियां।

ग. अत्यन्त सन्तुलित निर्णय।

इन साँचोंमें वास्तवमें समयगत परीक्षा होती है, जो डौक्टर जौन्सनके मतानुसार 'केवल आदर-भावना या पूज्य-बुद्धिपर अवलम्बित न होकर इस बातपर होती है कि कितने अवसरोंपर अन्य कवियोंसे उसकी तुलना हुई तथा कितनी बार उसका असम्पृक्त विश्लेषण हुआ। यह इसी बातसे आँका जा सकता है कि अत्यलंकृत स्वैरवादी (बारोक) अथवा रोदनवादी भाविकता वर्त्तमान तथ्यवादके छुरेसे कभी नहीं बच पावेगी और अनगढ़ प्रकृतिवाद भी आगे चलकर स्वैरवादियोंका आक्रमण नहीं सहन कर सकेगा।' साधारणतः जनताका मत तथा मान्य समीक्ष्यवादियोंका निर्णय अत्यन्त सावधानीके साथ समझना चाहिए क्योंकि वे लोग ज्यों-ज्यों किसी एक पुस्तकको जीवित रखनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं त्यों-त्यों, उन्हें पढ़नेवाली जनताका बहुत प्रभाव लिखित मूल्याङ्कन करनेवालोंपर पड़ता जाता है।

किसीकी प्रसिद्धि करनेवाले अच्छे या बुरे प्रभाव ये हो सकते हैं—

क. स्वयं उस युगकी विशेषता : सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक, जैसे हिन्दीमें भक्ति-साहित्यके लम्बे युगके कारण अनेक भक्त कवियोंने प्रसिद्धि पाई।

ख. किसी विशिष्ट व्यक्तिकी सहायता : अर्थात् किसी समर्थक या विरोधी समीक्ष्यवादीके बदले शक्तिशाली मित्र या शत्रुका प्रभाव, जैसे शिवाजीके कारण भूषण प्रसिद्ध हुए।

ग. सहायक ग्रन्थों तथा पाठ्यपुस्तकोंमें उनके विवरण या लोकव्याख्यानोंमें उनका विवेचन जैसे जयशंकर प्रसाद या निराला प्रसिद्ध हुए।

घ. विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें उनका प्रयोग जैसे मैथिलीशरण गुप्त।

## रुचि और निर्णय

किसीको क्या अच्छा लगता है अर्थात् रुचि, और क्या अच्छा समझे जानेके योग्य है अर्थात् निर्णय, दोनोंको भली-भाँति समझ कर और फिर किस प्रसङ्गमें वे निर्णय दिए गए हैं उनका विचार करके, उन निर्णयोंमेंसे

जो सबसे अधिक महत्त्वके हों उन्हें, निर्णय देनेवाले समीक्षक या अधिकारीके पहले और पीछे दिए हुए वक्तव्यों तथा तत्सम्बद्ध परिस्थितियोंकी दृष्टिसे अध्ययन किया जाय तभी कविकी प्रसिद्धिका उचित परिज्ञान हो सकता है।

## निर्णायक मानदण्ड

ऊपर जो विवेचन किया जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि योरोपवाले अभीतक इसी बातमें उलझे पड़े हैं कि साहित्यिक कृतिकी समीक्षाके लिये कोई मानदण्ड होना चाहिए या नहीं और यदि होना चाहिए तो उसका आधार क्या हो ? यह वितण्डा होते हुए भी वहाँ समीक्षापर समीक्षा लिखी चली जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि साहित्यिक कृतियोंमें कुछ ऐसी व्यापक विशेषताएँ या गुण-तत्त्व अवश्य हैं, जो किसी मनुष्यके मनको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और जिनसे आकृष्ट होकर वह मनुष्य दूसरोंका भी ध्यान उस ओर आकृष्ट करके उनके आकर्षण-तत्त्वकी व्याख्या भी करना चाहता है। अतः निर्णायका मानदण्ड खोजनेसे पूर्व हम यदि संसार-भरकी समीक्षा-पद्धतियों तथा समीक्षाओंको एकत्र करें तो हमें अत्यन्त सरलतासे निर्णायके मानदण्ड स्वयं प्राप्त हो जायँगे। अबतक विश्वभरमें प्राप्त समीक्षाओंका विश्लेषण करनेपर यह परिणाम निकलता है कि जिन लोगोंने किसी ग्रन्थपर समीक्षाएँ लिखी हैं, उनमें उन्होंने निम्नलिखित आकर्षक तत्त्वोंका परिचय देकर ही उनका स्वरूप-विवेचन किया है—

१. काव्यका विषय : जिसके अन्तर्गत समीक्ष्यवादियोंने यह बताया है कि ग्रन्थका कथानक या विषय कहाँसे लिया गया है ? कविने उस कथानकको अधिक आकर्षक, मोहक, कुतूहलजनक बनानेके लिये उसमें क्या जोड़ा है ? उसमेंसे क्या घटाया है ? उसमेंसे क्या परिवर्त्तन किया है ? कविने अपनी कृतिके लिये जिस विषयको आधार बनाया है उसमें आनेवाले व्यक्ति, हमारी प्रकृतिसे कितने मिलते-जुलते हैं ? हमसे कितने भिन्न हैं ? इस भिन्नताके कारण वे कितने उदात्त, नीच, सुन्दर-असुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण प्रतीत होनेके कारण श्रद्धेय या अश्रद्धेय बन गए हैं ? उस काव्यमें सम्पूर्ण मानवताको प्रभावित करनेवाली कौन-सी ऐसी प्रेरणा-शक्ति विद्यमान है जिसकी उत्तेजनासे कोई भी मनुष्य उस कृतिमें आए हुए उदात्त महापुरुष या महापुरुषोंके समान यशस्वी, तेजस्वी, श्रद्धेय, लोकवन्द्य तथा लोकप्रसिद्ध हो सकता है ?

२. काव्यका रचना-कौशल : अर्थात् कविने अपनी बात या वर्ण्य विषय प्रस्तुत करनेके लिये उसकी रचना ( नाटक, उपन्यास, कविता, कहानी या निबन्ध ) किस रूपमें की ? इन रूपोंकी रचना करनेमें भी उसने विभिन्न कथा-तत्त्वों, व्यक्ति-तत्त्वों, वर्णन-तत्त्वों तथा विचार-तत्त्वोंको किस कौशलसे, किस रूपमें परस्पर गूँथने और प्रस्तुत करनेका उपक्रम किया है और उस उपक्रमसे वह क्यों ऐसा आकर्षक, प्रभावशाली और मनोहर बन गया कि उस रचना-कौशलके कारण ही हम उसका अध्ययन करनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं ?

३. भाषा-शैली : कविने जिस भाषाका प्रयोग किया है उसमें हमारे कानोंको प्रत्यक्ष मधुर लगनेवाले कौनसे तत्त्व हैं ? शब्दोंके उचित और प्रभावशाली चयन तथा प्रयोगके लिये कविने कौन-सा ऐसा उपक्रम किया है कि वे तत्काल समझमें आ जायँ फिर भी उनमें यह नवीनता बनी रहे कि जैसा उसने कहा वैसा पहले न किसीने कहा, न सम्भवत: आगे कोई कह सकेगा ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी रचनामें विषयकी सुन्दरता, अद्भुतता तथा असाधारणता होती है और उसमेंसे सार्वभौम अर्थात् व्यापक रूपसे प्रत्येक मानवको ऊपर उठनेकी प्रेरणा देनेवाला सन्देश होता है तब वह रचना श्रेष्ठ हो जाती है । दूसरी बात यह है कि जब कोई कवि वर्ण्य विषयको किसी ऐसे नवीन रूपमें अथवा पहलेसे चले आए हुए रूपोंमेंसे किसीमें कोई आकर्षक नवीनता उत्पन्न करके उपस्थित करता है, तब वह श्रेष्ठ होती है । तीसरी बात यह है कि जब कोई कवि सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक किन्तु नई और श्रुति-मधुर शैलीमें अपने वर्ण्य विषयका चित्रण करके अपनी उक्तियोंमें ऐसा आकर्षण भर देता है कि वे वर्ण्य विषयके अतिरिक्त भी सुन्दर प्रतीत हों, तब भी वह श्रेष्ठ काव्य हो जाता है । अत: यह आवश्यक नहीं है कि सब रचनाओंमें उपर्युक्त सभी मानदण्ड प्रयुक्त किए ही जायँ। इसके लिये हमें अन्य प्रकारसे विचार करना होगा ।

## कसौटियाँ अलग-अलग हों

ऊपर जो हमने विवेचन दिया है उससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक कवि अपने काव्यमें आकर्षण लानेके लिये नये विषय, नये कौशल और नई भाषा-शैलीका प्रयोग करता है । अत: हमें समीक्षा करनेके लिये भी सब प्रकारके काव्य-रूपों अर्थात् काव्य-विषयों, कौशलों तथा भाषा-शैलियोंके

परीक्षणके लिये अलग-अलग कसौटियाँ निर्धारित करनी चाहिएँ अर्थात् प्रत्येक कृतिके परीक्षणके लिये अलग कसौटी होनी चाहिए। किन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं ही जिनके लिये हम व्यापक कसौटियाँ निर्धारित कर सकते हैं और जिनका निर्धारण अग्रांकित प्रश्नोंके आधारपर कर लिया जा सकता है—

१. कविने उस कृतिकी रचना क्यों की ? ( उद्देश्य )

२. कविने किस समय रचना की ? ( युगकी प्रवृत्ति )

३. कविने किनके लिये रचना की ? (तत्कालीन तथा सार्वकालिक लोक-रुचि)

४. उस रचनाके लिये कहाँसे प्रेरणा मिली ? (मनोवैज्ञानिक विश्लेषण)

५. उस रचनाकी सामग्री उसने कहाँ से प्राप्त की ? (इतिहास तथा कल्पना)

६. उसने किस रूपमें रचना की ? उसी रूपमें क्यों की ? और उसमें भी क्या नवीनता उत्पन्न की ? ( कौशल या ग्रथन )

७. उसने किस प्रकारकी भाषाका प्रयोग किया और क्यों किया ? (भाषातत्त्व)

८. उसकी रचनाओंका किनपर क्या प्रभाव पड़ा या पड़ सकता है ? ( तात्कालिक या सार्वकालिक प्रभाव )

## उपसंहार

यह हुई समीक्षाकी तुला, जिसके सहारे ही किसी रचनाका परीक्षण करना आवश्यक है क्यों कि समीक्षा करनेसे पूर्व कविके उद्देश्यकी ठीक परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए। यदि कविने केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन या केवल कला-प्रदर्शनके लिये रचना की हो तो उसमें बलपूर्वक भाव-तत्त्वकी खोज करनेके लिये लँगोट नहीं कसना चाहिए। फिर यह भी देख लेना चाहिए कि उसने जिसके लिये लिखा है उसके वह कितने कामकी सिद्ध हुई है और उसपर कोई उसका प्रभाव पड़ा भी है या नहीं। ये उपर्यङ्कित कसौटियाँ या निर्णयके आधार ऐसे व्यापक हैं जिनपर हम व्यापक समीक्षाका प्रासाद खड़ा कर सकते हैं। किन्तु प्रत्येक कृतिकी अथवा कृतियोंके किसी विशेष वर्ग या प्रकारकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनका विवेचना किए बिना हम उनका सौन्दर्य नहीं परख सकते। इसलिये आगे चलकर हम साहित्यके विभिन्न रूपों तथा उन रूपोंके विभिन्न प्रकारोंका परिचय देनेके साथ उनकी समीक्षा करनेकी अलग-अलग कसौटियाँ यथास्थान निर्धारित करेंगे।

# समीक्षाके प्रकार

पीछे समीक्षककी वृत्तिका विवेचन करते हुए यह बताया जा चुका है कि समीक्षककी चार वृत्तियाँ होती हैं—काकवृत्ति, कोकिलावृत्ति, मधुकर-वृत्ति और हंसवृत्ति, जिनसे चार प्रकारके समीक्ष्यावदी बनते हैं—छिन्द्रान्वेषक, पक्षभावित, अभिप्रशंसक और निर्णायक। इनके अनुसार तो समीक्षा केवल चार प्रकारकी होनी चाहिए—निन्दात्मक, पक्षपातपूर्ण, प्रशंसात्मक और निर्णायक। किन्तु समीक्षाके प्रकार केवल समीक्षकोंकी वृत्तिपर ही अवलम्बित नहीं होते। वे तो विवेचनके रूप, सिद्धान्त, प्रणाली, भावना, समीक्ष्यवादीकी दार्शनिक, लौकिक तथा मानसिक प्रवृत्ति, लोक-प्रवृत्ति और युगधर्म आदि अनेक कारणोंपर अवलम्बित होती हैं अतः उसके रूप और प्रकार अनेक हो गए हैं।

## उच्चतर और निम्नतर समीक्षा

योरोपमें कुछ दिनों समीक्षाके दो रूप माने जाते रहे—एक उच्चतर (हायर) समीक्षा और दूसरी निम्नतर ( लोअर ) समीक्षा। उच्चतर समीक्षामें किसी रचनाके सम्बन्धमें यह विवेचन किया जाता था कि उसमें जो सौन्दर्य-तत्त्व आया है, वह कहाँसे आया और उसमें कविने अपनी कला-वृत्ति, विवेक-शक्ति और ज्ञान-वैभवता कितनी, कहाँ और कैसे प्रयोग की है। निम्नतर आलोचनामें केवल ग्रन्थके पाठपर और उसके रचनाके ढंगपर ऊपरी विचार किया जाता था। किन्तु इस प्रकारकी समीक्षा-रीति बहुत दिनोंतक नहीं चल पाई और आगे चलकर उसके बहुतसे रूप हो गए।

## अध्यवसानात्मक समीक्षा ( ऐलेगौरिकल क्रिटिसिज़्म )

योरोपकी प्राचीन साहित्यिक समीक्षा-पद्धतिमें एक ऐसी प्रणाली भी चल पड़ी थी जिसके अनुसार समीक्ष्यवादी लोग किसी लेखकके साधारण शब्द या

उसके वाच्यार्थमेंसे कोई गूढ आध्यात्मिक अर्थ निकाला करते थे। इस बौद्धिक व्यायामके लिये वे लोग न जाने कितने प्रकारके रूपकों और न जाने कितनी अद्भुत निरुक्तियोंका प्रयोग करते थे। यह अध्यवसानात्मिका व्याख्या उस मूर्त्तीकरण ( परसौनिफ़िकेशन ) से भिन्न होती थी जिसमें सीधे-सीधे किसी एक मानसिक भाव या वृत्तिको एक व्यक्ति ही मान लेते थे जैसे संस्कृतके प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें या जैसे होमरके 'हैकेस्टस' को वे लोग देवता और अग्नि दोनों रूपोंमें ग्रहण करते थे। कुछ कवियोंने जान-बूझकर ऐसी रचनाएँ की हैं जिनकी व्याख्या दो अर्थोंके अनुसार होती है और जिनकी समीक्षा भी उन्हीं दोनों अर्थोंके आधारपर अलग-अलग की जाती है जैसे जायसीने पद्मावतको ऐतिहासिक कथापर अश्रित काव्यके रूपमें लिखकर अन्तमें बताया कि इसे एक रूपक समझना चाहिए जिसमें—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥

आदि, अर्थात् इस काव्यका यह भी कवि-द्वारा इष्ट पक्ष है, जिसका परीक्षण और विश्लेषण भिन्न रूपसे किया जाना चाहिए। जयशंकर प्रसादने 'कामायनी' की भूमिकामें स्पष्ट लिखा है—'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहासमें रूपकका भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिये मनु, श्रद्धा और इडा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' किन्तु योरोपीय अध्यवसानात्मक समीक्षा वास्तवमें एक प्रकारका ऐसा धार्मिक अध्यात्मवाद था जिसका प्रयोग समीक्ष्यवादियोंने होमर, वर्जिल और बाइबिलकी व्याख्याके लिये इसलिये किया था कि उनके अन्तर्गत आनेवाली पौराणिक गाथाओंका बुद्धिवादी अर्थ निकालकर दार्शनिक विवेकवादके आघातोंसे उन्हें बचाया जा सके। धर्म-वैज्ञानिकों या समीक्ष्यवादियोंके इन कल्पनात्मक अर्थोंके दो रूप स्पष्ट हुए हैं—एक शारीरिक और दूसरा नैतिक।

### शारीरिक व्याख्या

ईसासे पाँचवीं शताब्दि पूर्व हेगियम-निवासी थिएगेनेसने 'होमरकी ओरसे स्पष्टीकरण' ( एपौलौजी ) लिखी जिसमें उसने होमरके इलियाद (ईलियड) की बीसवीं पुस्तकमें वर्णित देवताओंके युद्धका शारीरिक और नैतिक अर्थ

समझाया था। उसके शिष्य मेत्रोदोरसके अनुसार 'अपोलो' है मनुष्यके गलेका प्रतीक, 'देमेतेर' है यकृतका और 'दिअनुसस' है प्लीहाका। जलवायुके प्रभावोंकी प्रारम्भिक खोज करनेवाले अपोलोनिया-निवासी दिओगेनेसने 'ज़ेउस' ( द्यौः ) को वायु देवताका प्रतीकात्मक रूप माना था। उसका विश्वास था कि 'मीडिया' वास्तवमें कोई जादूगरनी नहीं थी जैसा इउरीपिदेसने चित्रित किया है, वरन् वह नारी-वैज्ञानिक थी जो उष्ण जल-स्नान तथा सौन्दर्यवर्द्धक व्यायाम कराकर दुर्बल शरीरोंको सबल बनाया करती थी। कुल विद्वानोंका विश्वास था कि होमरके महाकाव्योंमें केवल मिथ्या पौराणिक कथाएँ नहीं वरन् गम्भीर वैज्ञानिक और नैतिक सत्य भरे पड़े हैं। हमारे यहाँ भी लोग रामायण तथा पुराणोंके असामान्य वर्णनोंकी ऐसी ही व्याख्या करने लगे हैं और तदनुसार 'नाग', 'वानर', 'ऋक्ष' आदिको एक मानव-जाति और 'दशशीश' को दश मनुष्योंके समान बुद्धिशाली बताकर उसका बुद्धिमान्य अर्थ निकालने लगे हैं।

### नैतिक व्याख्या

विवेकवाद ( रैशनलिज़्म ) तथा ईसापूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दिके दार्शनिक वादोंके अभ्युत्थानके साथ योरोपमें काव्यका रूपकार्थ लगानेकी एक परम्परा ही चल पड़ी थी। अनाख्यागोरसका मत था कि 'होमरकी कविताओंमें न्याय और शीलकी प्रतिच्छाया है।' अपोलोनिया-वासी दियोगेनेसके गुरु सीनिया-वासी अन्तिस्थेनेसने असम्बद्ध काव्यकारों( हैप्सोडिस्ट्स )की इसी बातपर खिल्ली उड़ाई कि उन लोगोंने यह नैतिक अर्थारोप होमरमें क्यों नहीं किया। उसके मतसे 'अदूसियस वास्तवमें सिनिक युगका प्रतिनिधि पुरुष था।' इसके ठीक विपरीत प्लेटो या अफ़लातूनका मत था जो होमरके काव्योंमें गूढार्थ खोजनेवालोंका ठट्ठा उड़ाया करता था। परिणाम-स्वरूप उसके सभी अनुगामी, जिनमें आनन्दवादी ( एपीक्यूरियन ) भी थे, उदासीनतावादियों ( स्टोइकों )की सदा चुटकी लेते रहे।

चौथी शताब्दि ई० पू० में यूहेमेरसने रूपकार्थ खोज निकालनेकी एक नई प्रणाली ही ढूँढ़ निकाली जो उसके 'पवित्र लेख' ( हियरा अनाग्राफ़े ) में सम्मिलित है और जिसके सम्बन्धमें उसने कहा था कि 'यह मुझे भारतीय महासागरके एक द्वीपसे प्राप्त हुई है।' इसमें उसने वर्णन किया है कि 'देवता लोग मूलतः मनुष्य ही थे, किन्तु मानव-समाजकी परम सेवा करनेके कारण उन्हें

मृत्युके पश्चात् देवत्व प्रदान किया गया ।' यूनानी देवताओंको इस बुद्धिसङ्गत तथा युक्तिसङ्गत रूपमें प्रस्तुत करनेके प्रयासका इतना प्रभाव पड़ा कि इतालवी कवि ईनियसने 'युहेमेरस' नामका एक काव्य ही लिख डाला जिससे यह रूपकार्थ निकालनेका मत भी पीछे चलकर 'यूहेमेरवाद' कहलाने लगा ।

प्रथम शताब्दि ई० पू० और प्रथम शताब्दि ईसवीके दो लेखकोंने ईसाई युगकी ऐसी अध्यवसानात्मक व्याख्याओंके प्रचारको अधिक बल दिया । ज्यूडो हिरेक्लिटसने अपने ग्रन्थ 'होमरीय रूपक' ( होमरिक ऐलीगरीज़ ) में नैतिक प्रकारकी रूपकात्मक व्याख्या की है किन्तु लूकन और परसियसके गुरु कौर्नुतसने नीरो-द्वारा निष्कासित कर दिए जानेपर 'देवता-सम्बन्धी' नामक ग्रन्थमें शारीरिक अध्यवसानका आश्रय लिया है । उसके अनुसार 'क्रोनस और ह्रियाका विवाह वास्तवमें काल और पृथ्वीका विवाह है ।' उसने जहाँ क्रोनस केवल ज़ेउसको छोड़कर शेष सब बच्चोंको खा जाता है, उस घटनाका अर्थ इस प्रकार लगाया है कि काल ही सब जीवोंके जन्म और मृत्युपर शासन करता है ; किन्तु ज़ेउस अमर है, जैसा कि उसके नामकी धातुसे ही सिद्ध है ।' जहाँ ज़ेउसने क्रोनसको हराया है उसका अर्थ यह है कि 'जीवनने कालपर विजय प्राप्त कर ली ।' इसी प्रकार वर्जिलके 'इनीड'के भी रूपकात्मक अर्थ लगा लिए गए, जिसके कारण बहुतसे ईसाई लोग वर्जिलको ईसासे पहलेका ईसा ही मानने लगे ।

प्रारम्भिक ईसाई मतवाले भी विशेषतः जूडावादी इस प्रकारके बहुदेव-वादियोंके आरोपित अर्थसे बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने बाइबिलकी गाथाओंके अर्थके लिये भी इस प्रकारके रूपकका प्रयोग किया और यह बताया कि 'अब्राहम' पाण्डित्यका प्रतीक है, 'सारा' शीलकी है और 'पासोवर' आत्माकी शुद्धिका पर्याय है । औरिगेनने तो इस प्रकारकी व्याख्याको लगभग वैज्ञानिक सिद्धान्तकी श्रेणीतक पहुँचा दिया था और यह कहा था 'कि जहाँ धार्मिक ग्रन्थोंके शाब्दिक अर्थ असम्भव प्रतीत होने लगें वहाँ पाठकको कोई न कोई गूढ अर्थ खोज ही निकालना चाहिए ।' इस प्रकार ऐसे प्रयाससे युक्त समीक्षा ही अध्यवसानात्मक समीक्षा कहलाई ।

## एलेग्ज़ेन्ड्रियावादी समीक्षा

एलेग्ज़ेन्ड्रिया युग ( ३०५ से २८५ ई० पू० ) में योरोपका बौद्धिक नेतृत्व मिस्रके राजा टौलेमी सोटरके राज्य कालमें अथेन्ससे उठकर एलेग्ज़ेन्ड्रिया चला

आया जहाँ काव्य-रचनाकी नई अलंकृत शैली ( अलेग्ज़ेन्द्रियावादी शैली ) के अतिरिक्त एक नये प्रकारकी समीक्षा-पद्धति भी चल पड़ी जिसका सिद्धान्त था कि 'काव्य-रचना-कौशल'को एक विशिष्ट रीतिसे नियम-बद्ध तथा व्यवस्थित कर दिया जाय और काव्यमें दार्शनिकता लानेके बदले उपदेश देना ही उसका उद्देश्य समझा जाय। काव्यपर इन अलेग्ज़ेन्द्रियोंने जो निबन्ध लिखे उनमें उनकी तिहरी योजना है—

१. पोएसिस, अर्थात् कविताके लिये उचित काव्य-विषय।

२. पोयमा, अर्थात् कविताका उचित रूप और अभिव्यक्ति, जिसमें काव्यकी विभिन्न शैलियों और उनके आवयविक अङ्गोंका निरूपण हो।

३. पोएटा, या कविके जीवनसे सम्बद्ध बातें।

हौरेसके 'आर्स पोएतिका' और क्विन्तीलियनके 'इन्स्तीत्यूतियो औरेतोरिया' का भी यही आधार है जिसका प्रभाव बेन जौन्सनके 'खोज' ( डिस्कवरीज़ ) में वर्णित 'काव्य, काव्यकला और कवि' ( पोएम, पौएज़ी ऐंड दि पोएट ) पर भी पाया जाता है।

इन उपर्यङ्कित विषयोंके विवेचनमें तीन समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जिनका तबतक अत्यन्त अपर्याप्त समाधान ही प्राप्त था। वे समस्याएँ थीं—

१. उदासीनतावादियोंने प्रकृतिके विरुद्ध कलाका जो सिद्धान्त निर्धारित किया था वह अब साहित्यपर भी चिपकाया जाने लगा, विशेषतः इस बातके निर्णयके लिये कि स्वाभाविक प्रतिभाशील कवि और शिक्षित कविमें कौन श्रेष्ठतर है।

२. काव्यमें मुख्य तत्त्व विषय है या रूप ( शैली )?

३. काव्यका प्रयोजन उपदेश देना है या आनन्द देना?

होड्सके कैलिमैकस और एपोलोनियसके बीच जो गम्भीर कलह हुआ वह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि काव्यके सिद्धान्तोंके लिये उस समय कैसी खींचा-तानी चल रही थी क्योंकि कैलिमैकसका मत था कि बड़े-बड़े महाकाव्य रचनेकी जो परम्परा है उसके बदले सुन्दर कलात्मक रूपोंमें छोटे-छोटे प्रबन्ध काव्य लिखे जाने चाहिएँ।

## प्रभाववादी समीक्षा ( इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म )

किसी कलाकृतिको देख-सुनकर किसी व्यक्तिके मनमें क्या प्रतिक्रिया होती है इसी बातपर यद्यपि सब प्रकारकी समीक्षा अवलम्बित है, किन्तु प्रभाववादी

समीक्षा ( इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म ) अर्थात् 'किसी आत्माका सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियोंमें परिभ्रमण' एक नये प्रकारकी समीक्षा-पद्धति है जो स्वैरवादी व्यक्तिवाद ( रोमान्टिक इन्डिविजुअलिज़्म ) और वर्त्तमान आत्म-चेतना ( सैल्फ़ कौन्शशनैस् ) का परिणाम है। इसका सिद्धान्त है कि मनुष्य जब अनेक रचनाओंका अध्ययन करता चलता है तब उसके हृदयपर उनके विशेष गुण-तत्त्वोंकी छाप पड़ती चलती है और उस छाप ( इम्प्रेशन ) या प्रभावके कारण वह स्वयं संस्कारतः जान जाता है कि क्या उदात्त ( सब्लाइम ) है, श्रेष्ठ है, सुन्दर है, अनुकरणीय है, महान् है। इस अभिज्ञानसे सम्पन्न हो जानेपर जो वह समीक्षा लिखता है वह व्यक्तिगत रूपसे सञ्चित तथा व्यापक प्रभावोंसे पुष्ट समीक्षा ही प्रभाववादी समीक्षा कहलाती है। यथार्थताकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही समीक्षाके लिये मुख्य प्रेरणा होती है, किन्तु यदि क्रमकी दृष्टिसे विचार करें तो यह व्यक्तिगत भावनापर आश्रित समीक्षा पीछे आती है। कारण यह है कि किसी भी कलाकृतिका साक्षात्कार होते ही सर्वप्रथम स्वतः भीतरसे एक व्यक्तिगत क्रिया होती है। यदि कोई समीक्ष्यवादी (सभी पाठक थोड़े-बहुत समीक्षक होते ही हैं), काव्यकी क्रिया (प्रभाव) ग्रहण करके फिर उसपर प्रतिक्रिया भी करे तब कहीं जाकर पूर्ण परिज्ञान होता है, अर्थात् पहले स्वतः अन्तर्भावित (इन्टयूटिव) प्रेरणा हो चुकनेके पश्चात् ही उसका ठीक परिज्ञान होता है। इस दूसरी परिज्ञानकी क्रियामें ही वह पूर्ण, शुद्ध तथा वास्तविक सम्प्रज्ञानके आदर्श और अप्राप्य लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके पश्चात् तीसरा तथा अन्तिम कार्य रह जाता है 'निर्णय' करना। इसके अनुसार समीक्षाका आदर्श क्रम यह रहा—

१. अन्तर्भावित प्रतिक्रिया।
२. इच्छापूर्वक या बुद्धिपूर्वक उसका ज्ञान, और
३. उसका मूल्य-निर्धारण या निर्णय।

किन्तु साहित्यका इतिहास देखनेपर यह प्रतीत होता है कि पुराना क्रम ठीक इससे उल्टा रहा है। प्राचीन समीक्षामें साहित्यका नैतिक मूल्याङ्कन ही पहले व्यापक रूपसे प्रचलित था। उसके पश्चात् विवेक-पूर्ण विश्लेषणकी अनेक विधियों-द्वारा साहित्य समझनेके कौशलोंके अनेक रूप विकसित हुए। और अब जाकर कहीं हम यह समझने लगे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति निरूपण करनेवाला, निराला और जटिल होता है। अतः यद्यपि वर्त्तमान आलोचना

बहुत सूक्ष्म और सटीक तो हो गई किन्तु स्थिर, निश्चय और व्यापक निर्णयके कोई साधन नहीं रह पाए।

## सापेक्ष्यवादी समीक्षा ( रिलेटिविस्ट क्रिटिसिज़्म )

आजकलकी लोकप्रसिद्ध अत्यन्त मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धतिको हम सापेक्ष्य समीक्षा-पद्धति कह सकते हैं। 'उसके तर्क उसीके लिये हैं' इनका सिद्धान्त है अर्थात् एक व्यक्ति एक बार एक ही कविता या एक ही उपन्यासका परीक्षण करता है। इनका कथन है कि 'व्यक्तिगत-धारणामेंसे ही समीक्षा उद्‌भूत होनी चाहिए। जब इन व्यक्तिगत धारणाओंको लोग सार्वभौम नियम मानने लगते हैं तभी गड़बड़ी प्रारम्भ हो जाती है। पूर्णतावादी (एब्सोल्यूटिस्ट) समीक्षा सब प्रकारके प्रयोगोंकी उपेक्षा करके यह मान लेती है कि 'समीक्षात्मक व्यवहारका दूसरा पक्ष विप्लव है।' उसका कहना है कि 'यदि प्रत्येक समीक्ष्यवादी केवल अपनी ही दृष्टिसे परीक्षण करता चला जाय तो निश्चित रूपसे विप्लव होगा ही।' किन्तु अनुभवने इसे मिथ्या सिद्ध किया है क्योंकि यद्यपि प्रत्येक समीक्ष्यवादी सदा व्यक्तिगत दृष्टिसे ही परीक्षण करता है किन्तु सब मनुष्योंके विचारोंमें इतना भाव-साम्य है कि प्राय: समीक्षाके प्रयासमें पर्याप्त मतैक्य होता ही है।

## व्याख्यात्मक समीक्षा ( इन्टरप्रिटेटिव क्रिटिसिज़्म )

व्याख्यात्मक समीक्षाका यह सिद्धान्त है कि हमें व्यक्तिगत समीक्षाकी कसौटियाँ स्थापित न करके निरपेक्ष कसौटियाँ स्थापित करनी चाहिएँ क्योंकि कविता या नाटक तो किसी युगके वास्तविक लेख-पत्र हैं जिनमें वर्णित अतीतके कार्य और परिणाम कभी व्यक्तिगत सनकके आधारपर बदल नहीं सकते। किसी कलाकृतिको स्पष्ट करनेके लिये क्या तथ्य अपने पास होने चाहिएँ इसका निर्धारण करनेके लिये कुछ ऐतिहासिक विद्वान् साहित्य-समीक्षामें संलग्न हैं। पाठ-सम्बन्धी ( टैक्श्चुअल ) समीक्षाने पाठकको वास्तविक मूल लेखके बहुत पास पहुँचा दिया है। उधर भाषा-सम्बन्धी ( लिंग्विस्टिक ) समीक्षाने अनेक भ्रम भी दूर कर दिए हैं जैसे इस बातका कि एक शब्दका सदा एक ही अर्थ रहा है। जीवनचरित सम्बन्धी ( बायोग्रैफ़िकल ) समीक्षाके द्वारा हम किसी ग्रन्थ और उसके रचयिताके बीच महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके यह बता सकते हैं कि किस प्रेरणा-शक्ति या निश्चित उद्देश्यने किसी

कलाकृतिको जन्म दिया है। ऐतिहासिक ( हिस्टौरिकल ) समीक्षा किसी कलाकृतिका वास्तविक इतिहास बताकर उसका तात्त्विक स्वरूप समझा सकती है जिससे कि हम उसके गुण-तत्त्व या मूल्योंको भली-भाँति समझ लें, क्योंकि किसी कविता या नाटकको उसके मौलिक स्वरूपमें देख सकनेकी योग्यता उत्पन्न करना भी समीक्षाकी दृष्टिसे बड़ी भारी सेवा है। इस प्रकार व्याख्यात्मक समीक्षामें भाषा, विषय, पाठ, ऐतिहासिक सङ्गति, कविका जीवनचरित आदि सब काव्यपक्षोंका विस्तृत तथा स्पष्ट विवेचन हो जाता है।

## ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक समीक्षाके द्वारा किसी भी राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विषयके क्षेत्रकी उचित पृष्ठभूमि तो तैयार की ही जा सकती है किन्तु साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार करनेमें भी वह अत्यन्त सहायक हो सकती है। यदि हम महाकवि कालिदासको अलग एक व्यक्तिके रूपमें समझनेका प्रयत्न करें तो हम उसे कम समझेंगे किन्तु हम उसे एक विशेष युगके अभिज्ञान-शाकुन्तल-कार, मेघदूत-कारके रूपमें देखें तो अधिक उत्तमतासे समझ सकते हैं। इस समीक्षासे हम कविके युगकी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियोंके साथ-साथ लोक-रुचि और वृत्तिकी दृष्टिसे कवि और उसके काव्यकी वास्तविक भूमिकाकी झाँकी पा सकते हैं और उस झाँकीके-द्वारा उस कवि तथा उसके काव्योंका ठीक स्वरूप पहचान सकते हैं।

## तुलनात्मक समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दीमें ऐतिहासिक समीक्षाके बदले नवीन तुलनात्मक ( कम्पेरेटिव ) समीक्षा आ गई। इस तुलनात्मक समीक्षाकी बहुत-सी बातें अत्यन्त नवीन और उपादेय हैं। वे केवल समयकी आवश्यकताओंसे ही रूप ग्रहण नहीं करतीं वरन् वे रचनाके विशेष प्रकारों और प्रधान भावोंके सोद्देश्य सङ्कलनसे रूप ग्रहण करती हैं। इस प्रकारकी समीक्षामें एक शाश्वत तथा व्यापक नियम यह है कि जो परस्पर तुलनीय हों उन्हींकी तुलना करनी चाहिए और इस कसौटीका प्रयोग रचनाके भाव, उद्देश्य, शैली और विषय सबपर करना चाहिए। तुलनात्मक समीक्षाका वह रूप और भी अधिक कठिन किन्तु प्रशस्त है जो साहित्यकी सीमाएँ पार करके रचनाओंके आन्तरिक व्यवस्थात्मक रूप खोज निकालनेके प्रयासमें नीरस और कृत्रिम समानताओंको दूर छोड़ देता है।

यह तुलनात्मक समीक्षा कई प्रकारसे हो सकती है—( क ) एक ही कविके कई ग्रन्थोंमें आई हुई एक ही विषयकी पारस्परिक तुलना; ( ख ) उसी कविकी विभिन्न रचनाओंकी तुलना; ( ग ) उसी भाषाके अन्य कवियोंकी तद्विषयक या भिन्न विषयक काव्योंसे तुलना या संसारकी अन्य भाषाओंके तद्विषयक या भिन्न विषयक काव्योंकी तुलना। इन विभिन्न प्रकारकी तुलनाओंमें विषय, विषय-प्रतिपादनकी शैली, भाषा-शैली, उद्देश्य तथा प्रभाव आदि सभी दृष्टियोंसे तुलना की जा सकती है।

## साहित्यिक समीक्षा ( लिटरेरी क्रिटिसिज़्म )

साहित्यकी समीक्षा और साहित्यिक समीक्षामें बड़ा अन्तर है। वही समीक्षा साहित्यिक कहलाती है जिसकी भाषा-शैली और विषय-प्रतिपादन-शैली स्वयं साहित्यके उदाहरण हों जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी तुलसी, जायसी और सूरपर लिखी हुई समीक्षाएँ। इसे ही रचनात्मक ( क्रिएटिव ) समीक्षा कहते हैं। साहित्यिक समीक्षाके लिये रूढ, राजनीतिक या सामाजिक इतिहाससे भिन्न कुछ नई सामग्रीका प्रयोग करना पड़ता है जो विचारोंके परम्परागत इतिहाससे सङ्ग्रह की जाती हैं। साहित्यिक समीक्ष्यवादी मानते हैं कि साहित्य केवल अभिव्यक्तिका कौशल-मात्र नहीं है वह उससे कुछ आगे बढ़कर किसी एक विशेष पक्षकी दृष्टिसे मनुष्यके विचारोंका प्रतिबिम्ब या उस युगकी भावनाका दर्पण है। इस प्रकारकी समीक्षामें इसीलिये भाषाके साहित्यिक स्वरूपके साथ-साथ ऐसा विचारात्मक या भावात्मक विवेचन अवश्य होता है जो समीक्ष्यवादी अपने युगके दृष्टिकोणसे उपस्थित करता है।

## निर्णयात्मक ( जुडीशल ) समीक्षा

निर्णयात्मक समीक्षामें प्रायः किसी भी साहित्यिक कृतिको स्पष्ट और पूर्ण समझनेकी क्रिया कम हो जाती है। चाहे कोई समीक्षा पूर्णतः निष्पक्ष ही क्यों न हो किन्तु सब प्रकारकी समीक्षाओंमें, चाहे प्रत्यक्ष चाहे अप्रत्यक्ष, मूल्याङ्कनके मानदण्ड निश्चित ही रहते हैं। किन्तु जब कोई व्यक्ति किसी कृतिका आदर्श मूल्याङ्कन करनेका प्रयत्न करता है तब मानदण्डोंका महत्त्व बढ़ जाता है और प्रायः ऐसा होता है कि इन मानदण्डोंसे जिस साहित्यिक कृतिका मूल्याङ्कन होता है, उसकी दुर्दशा हो जाती है। प्रायः निर्णयात्मक आलोचना भी एक प्रकारकी नैतिक आलोचना होती है। यह बात बुद्धिसङ्गत भी जान पड़ती है क्योंकि अधिकांश साहित्यमें प्रायः नैतिक तत्त्व ही होते

हैं। किन्तु ऐसी समीक्षामें भय यही रहता है कि उसके लिये जो मानदण्ड स्थापित हुए हैं वे कहीं उससे असम्बद्ध न हो जायँ। जब कोई नैतिक समीक्ष्यवादी आदर्श साहित्यिक समीक्षा करने बैठता है तब वह उन्हीं नैतिक मानदण्डोंका आरोप करता है जो उस रचनामें विद्यमान हैं। इसके पश्चात् वह तत्सम्बद्ध अथवा उससे मिलते-जुलते मानदण्डका प्रयोग करता है। वह कभी भी 'रूसो'की जाँच अरस्तूके मानदण्डसे या कालिदासकी जाँच जयदेवके मानदण्डसे नहीं करेगा। यदि वह अपनी मौलिक नैतिक धारणाओंसे विपरीत धारणाओंके आधारपर मूल्याङ्कन प्रारम्भ करेगा (जैसे स्वैरवादियों (रोमान्टिस्ट्स) ने ऑगुस्टियोंका या नये अध्यात्मवादियोंने स्वैरवादियोंका किया है) तब उसे अपनी धारणा शुद्ध और स्पष्ट रूपसे बता देनी चाहिए जिससे कि पाठकोंको यह निश्चय करनेमें सुविधा हो कि वह वास्तवमें निर्णायकके रूपमें काम कर रहा है या अभियोक्ताके रूपमें। दूसरी ओर, उत्साही लोगोंको कुछ अपने नये सुन्दर मानदण्ड भी स्थापित कर लेने चाहिएँ जिससे कि वे उन अभियोक्ताओंसे उस कृतिकी रक्षा कर सकें। प्रशंसा और रोदन दोनों ही साहित्यिक कलाके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भले हों किन्तु वे समीक्षाके शुद्ध रूप नहीं हो सकते। कवि या नाटक या उपन्यासके द्वारा भी उपदेश दिए जा सकते हैं किन्तु यह उपदेश न तो साहित्यिक समीक्षाके रूपमें देना चाहिए न लेना।

अट्ठारहवीं शताब्दिमें जबसे मासिक पत्रिकाएँ और समाचारपत्र निकलने लगे तबसे ये सभी प्रकारकी आलोचनाएँ सामान्यतः ग्रन्थ-समीक्षाके रूपमें प्रयुक्त होती रही हैं। ऐसी स्थितिमें कभी-कभी व्यावसायिक लाभ-हानिका ध्यान रखनेके कारण झूठी प्रशंसाएँ भी हो जाती हैं या विषयके कारण भी तत्सम्बन्धी विवेचनाएँ कर दी जाती हैं। अनेक जटिलताओंके कारण भी दुर्विचारित और शीघ्रतायुक्त प्रशंसाएँ हो जाती हैं। कभी-कभी अधिक कार्यव्यस्तताके कारण उचित समीक्षा नहीं हो पाती या तत्सम्बन्धी उचित साधन और सामग्री न मिलनेके कारण वह समीक्षा केवल विवरण या सारांशमात्र रह जाती है। किन्तु सबसे भयंकर बात तो यह है कि पढ़नेवाली जनताको प्रसन्न करनेकी जो प्रवृत्ति बढ़ती दिखाई पड़ रही है इससे धीरे-धीरे जनता ही ऐसी समीक्ष्यवादी बन रही है कि ग्रन्थ-समीक्षक थोड़े दिनोंमें देखता रह जायगा।

ये कुछ थोड़े ऐसे वास्तविक तत्त्व हैं जिनपर किसीका कोई वश नहीं है।

## विश्लेषणात्मक समीक्षा ( ऐनेलिटिकल क्रिटिसिज़्म )

विश्लेषणका तात्पर्य है 'किसी एक पूर्ण वस्तुके सब अंग अलग-अलग करके उन अंगोंका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना।' प्राउस्ट और जौएसने विश्लेषणात्मक आलोचनाका तात्पर्य यह बताया है—'किसी रचनाके पात्रों और घटनाओंको इस प्रकार वर्णन करना ही विश्लेषणात्म समीक्षा है कि उनसे सम्बद्धपूर्ण ज्ञानके साथ रचनाके औचित्य अथवा अनौचित्यका भी पूरा परिज्ञान हो जाय' अर्थात् किसी रचनाके तत्त्वोंको इस प्रकार अलग-अलग करके समझाना कि प्रत्येक अंगके औचित्य तथा अनौचित्यका उचित विवेचन हो जाय और उसका सकारण पूरा विवरण ज्ञात हो जाय। इतना हो चुकनेपर ही वह 'विश्लेषणात्मक समीक्षा' हो पाती है। हौवेलने अपने 'समीक्षा और कल्पना-साहित्य' ( क्रिटीसिज़्म एण्ड फ़िक्शन ) के इक्कीसवें पृष्ठपर स्कौटके सम्बन्धमें लिखा है कि 'स्कौट अत्यन्त विश्लेषणात्मक था जब कि वर्त्तमान उपन्यासकार अधिक नाटकीय हैं।' इसका तात्पर्य है कि स्कौटने अपने उपन्यासोंमें व्यक्तियों, स्थानों तथा घटनाओंके जो चित्रण दिए हैं, वे इतने सूक्ष्म हैं कि उन व्यक्तियों, स्थानों तथा घटनाओंका मूर्त्त चित्र पाठकके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। किन्तु नाटकीय उपन्यासकार व्यक्तियों, स्थानों तथा वस्तुओंके चित्रणमें इतना समय नहीं लगाता जितना भावोंको इस आकस्मिक और कुतूहलजनक ढंगसे सजानेमें कि वे सहसा पाठकका मन आकृष्ट कर लें।

अतः विश्लेषणात्मक समीक्षामें यही प्रयत्न होना चाहिए कि उसके द्वारा किसी रचनाके सब आन्तरिक तथा बाह्य तत्त्वोंको इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसका वास्तविक स्वरूप समझनेमें किसीको कोई कठिनाई न हो।

## पाठ-समीक्षा टैक्स्चुअल क्रिटिसिज़्म

एक और प्रकारकी समीक्षा होती है जिसका उद्देश्य यह है कि अनेक पुस्तियों ( पाण्डु लिपियों ) के साक्ष्यके आधारपर किसी ग्रन्थका मूल पाठ निश्चित कर दिया जाय और समीक्षात्मक अध्येताके लिये ऐसे प्रमाण संग्रह कर दिए जायँ कि वह किसी विशेष स्थलपर उन प्रमाणोंका प्रयोग करके यह देख सके कि सम्पादकने जिस साक्ष्यके आधारपर पाठ स्थिर किया है उसके आधारपर वह पाठ ठीक है या नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतक पाठकी समीक्षा यही समझी जाती थी कि कोई अच्छी पुस्ती ढूँढ़ ली जाय और सर्वश्रेष्ठ पुस्तीके आधारपर कल्पनासे उसके पाठमें सुधार कर लिया जाय। इस प्रक्रियासे यह बात अवश्य छूट जाती है कि वह सर्वश्रेष्ठ पुस्ती सचमुच या भूलसे आई कहाँसे। यद्यपि कल्पनासे भले ही कोई पाठ शुद्ध हो जाय किन्तु अधिकांश पाठ अशुद्ध ही होता है। श्रीरामचरितमानस और बिहारी सतसई इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके जितने सम्पादक हैं उतने ही पाठ मिलते हैं। इस पाठ-सुधार कलापर आजकल कार्ल लाखमान ( १७९३-१८९१ ) की उन विधियोंका ही प्रयोग किया जाता है जो उसने 'न्यू टैस्टामैण्ट, १८४२' के सम्पादनमें प्रयुक्त की थी और जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उसके 'लुक्रेतियस, १८५०' के संस्करणमें मिलता है। लाखमानकी प्रणालीका प्रमुख गुण यह है कि वह किसी भी पाठके दो विभिन्न निर्णय-अवसरोंका पहले परिज्ञान कर लेता है और तब एक संस्करण तैयार करता है। निर्णयके ये दोनों अवसर हैं—रिसेन्शन अर्थात् किसी पाठकी समीक्षात्मक आवृत्ति और दूसरा है, इमेंडेशन अर्थात् सुधार।

अपने समीक्षा-कार्यकी प्रथम अवस्था अर्थात् समीक्षात्मक आवृत्तिके समय वह सभी विद्यमान पुस्तियोंकी या सब ऐसी पुस्तियोंकी, जिनमें तिथि या पाठके कारण प्राचीन पाठ मिलनेकी सम्भावना हो यथासम्भव तिथि निर्धारित करता है, उनकी तुलना करता है, सब पाठ-भेद अङ्कित करता है, यहाँतक कि छोटेसे छोटे पाठभेदोंको भी ( जैसे मिटा हुआ, हरताल लगा हुआ, छूटा हुआ, कटा हुआ अक्षर या शब्द फिरसे लिखा हुआ ) वह इस विस्तारके साथ एकत्र करता है कि उसकी यह तुलना स्वयं पुस्तीकी प्रतिलिपि बन जाती है। वास्तवमें इतनी अधिक सटीकता बहुत कम ग्रन्थोंमें मिलती है अतः सम्पादक लोग साधारणतः पाठोंके चित्र प्राप्त कर लेते हैं और अपनी तुलनाओंसे मिला लेते हैं। जब कभी पुस्तियोंके उन प्रकाशित पाठभेदोंका प्रयोग करना आवश्यक हो जाय जो लुप्त हो गए हैं या बहुत बुरी दशामें हैं अथवा जब कभी प्राचीन छपे हुए संस्करणोंका प्रयोग करना हो तो इस कौशलका अत्यन्त सावधानी, सटीकता तथा एकाग्रताके साथ प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रक्रियामें दूसरा कार्य है पुस्तियोंका वर्गीकरण अर्थात् यह निर्णय

करना कि ये विभिन्न पुस्तिकाएँ किन विभिन्न क्षेत्रों या परिवारों या परम्पराओंसे आई हैं। यह कार्य सर्वसामान्य दोषों, छूटों और जोड़े हुए शब्दोंकी तुलनासे स्पष्ट हो जाता है। इस प्रक्रियासे यदि यह सिद्ध हो जाय कि एक पुस्ती किसी दूसरी विद्यमान पुस्तीकी प्रतिलिपि है तो उसे छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसके पारस्परिक मूल्याङ्कनके लिये उसमें आई हुई विरोधी बातोंका भी कोई महत्त्व नहीं होता। जिन पुस्तियोंके पाठ बहुत कुछ एक दूसरेसे मिलते हैं किन्तु वे किसी विद्यमान पुस्तीकी प्रतिलिपियाँ नहीं है तो यह समझा जाता है कि यह किसी एक ही पुस्तीसे लिए गए हैं, चाहे सीधे उसीसे लए गए हों या उसकी अन्य प्रतिलिपियोंसे। जब यह प्रक्रिया पूर्णत: सफल हो जाती है ( उन विशेष अवस्थाओंके अतिरिक्त जब लेखकके हाथके या उसके उसके समयके दो संस्करणोंपर विचार करना हो ) तब सम्पादक इस योग्य हो जाता है कि वह एक वंश-वृक्ष बनाकर किसी कल्पित या सम्भावित प्राचीन मूल पुस्तक या उसके समरूपसे उसका सम्बन्ध स्थापित कर दे। इस प्रकारके पाठ-निर्णय आर० पी० रौबिन्सन-द्वारा सम्पादित 'टैसीटस, १९३५'के जर्मनियाँके संस्करणमें या बहुत जटिल पाठोंसे पूर्ण बी० ई० पैरी-द्वारा संपादित 'स्टडीज़ इन दी टैक्स्ट हिस्ट्री औफ़ दि लाइफ़ ऐण्ड फ़ेबिल्स औफ़ ईसप् १९३६'में हैं। इसके पश्चात् सम्पादकका कार्य यह है कि वह मूल ग्रन्थके समरूप या प्रतिरूप पाठकी विशेषताओंको निश्चित करे कि उनमें अक्षरोंकी क्या झंझटें हैं, संक्षिप्त भागोंका दोषपूर्ण विस्तार कहाँ आया है और फिर इसी प्रकारकी भूलें अपने पासकी पुस्तीमें निकाल ले अर्थात् यह देखे कि अमुक शब्द बड़े अक्षरसे या छोटेसे, एक ही धारा-प्रवाह लिपिमें लिखा गया था या शब्दोंको अलग-अलग करके, उसमें इधर-उधर या पंक्तियोंके बीचमें कुछ टिप्पणियाँ तो नहीं दी गई थीं। यदि आवश्यक हो तो यह भी देख ले कि पुस्तकमें किस प्रकारसे पृष्ठ-संख्या दी गई है और एक-एक पृष्ठमें कितनी पंक्तियाँ हैं।

जब ये प्रक्रियाएँ पूरी हो जायँ तब सम्पादक मूल प्रतिलिपिका पता चला सकता है कि कौन सी पुस्तीका पाठ बिगड़ा या सुधरा हुआ है, कौन सा मौलिक है। किन्तु इस प्रकारसे भी जो पाठ निश्चित होगा वह रिसेन्शन या पाठ-भेदकी जानकारीकी दृष्टिसे तो ठीक होगा किन्तु फिर भी वह मूल लेखककी प्रति नहीं हो सकती। तब सम्पादकका काम यह देखना रह जायगा कि पुस्तीका

पाठ कब और किस प्रकारसे शुद्ध हो सकता है और यदि वह दोषपूर्ण है तो उसे सुधारा कैसे जाय। यह क्रिया सुधारकी क्रिया ( इमेन्डेशन या रिवीज़न ) कहलाती है अर्थात् मूलपाठ और किसी लेखकके मूलपाठके सर्वप्राचीन शुद्ध पाठके प्रमाणके बीच सेतु बनाना या कमी पूरी करना। जो वाक्य अर्थ-हीन, व्याकरण-दुष्ट ( अर्थात् किसी विशिष्ट लेखकके अभ्यासके प्रतिकूल अथवा उसके समकालीनोंके प्रयोगके प्रतिकूल हो ) या छन्द-दोषसे युक्त हो तो सम्पादकका यह धर्म है कि उस वाक्यका ठीक अर्थ निकालनेका निश्चित प्रयास करनेके पश्चात् ऐसे सब दोष अलग कर ले और फिर कल्पना तथा अनुमानके आधारपर उसका सुधार कर ले। यह सुधार वास्तवमें प्रकृतितः विश्वसनीय होना चाहिए ऐसा, जिसके सम्बन्धमें यह कहा जा सके कि इस विशिष्ट प्रसङ्गमें लेखक ऐसा ही लिख सकता था। पाठ या लिपिशास्त्रकी दृष्टिसे भी वह अत्यन्त विश्वसनीय हो अर्थात् वह ऐसा रूप हो जो पुस्तीकी भद्दी लिखाईमेंसे विश्वासपूर्वक निकाला जा सके, किन्तु ऐसा न हो कि बड़े अक्षरोंमें लिखे जानेवाले शब्दोंके बदले छोटे अक्षरोंका भ्रम भी मान लिया जाय ( जैसे-N औरn ) या किसी संक्षिप्त शब्दका ऐसा अर्थ निकाल लिया जाय जो मूल लेखकके समय प्रचलित ही न रहा हो।

सम्पादकको इस प्रकारके पाठ-सुधारमें जितनी भूलें मिल सकती हैं, वे अग्रांकित प्रकारकी हो सकती हैं—एक ही प्रकारके अक्षरोंमें भ्रम (जैसे, व और ब प और ष ); शब्दोंका अशुद्ध मेल या बिलगाव; अक्षरों, शब्दों और वाक्योंका अदल-बदल; पुराने शब्द-रूपोंका आजकलके शब्दरूपोंके बदले ग्रहण; अशुद्ध स्थानोंपर वाक्यकी समाप्ति; पट्टीपर लिखी हुई टिप्पणियोंको मूलमें ला डालना; एक ही अक्षर या शब्दका बार-बार आना; किसी एक अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाले शब्द या पंक्तिका या एक शब्दसे अन्त होनेवाले शब्दों या पंक्तियोंका निकल जाना। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल इतने ही दोष पुस्तीमें हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त और भी सैकड़ों प्रकारके दोष हो सकते हैं जिन्हें पाठ-सम्बन्धी समीक्षामें विचारना पड़ता है।

शुद्ध पाठ-समीक्षाकी जितनी प्रणालियाँ हैं, उन्हें पूर्ण नियम नहीं मानना चाहिए। उनके लिये यही समझना चाहिए कि जिस व्यक्तिको किसी ग्रन्थके सम्बन्धमें पहलेसे बहुत ज्ञान हो उसके पथ-प्रदर्शनके लिये इन विधियोंका प्रयोग होता है, ये स्वयं सत्यतक नहीं पहँचातीं। उन्नीसवीं शताब्दीके विद्वान

किसी भी पुस्तीके पाठकी बहुत चिन्ता नहीं करते थे, किन्तु बीसवीं शताब्दिके विद्वान् प्राचीन् पाठोंका अनुसरण करना ही अपना धर्म समझते हैं।

## बौडलरवादी समीक्षा

माननीय टौमस बौडलरने अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें साहित्य-समीक्षाका एक विलक्षण जटिल प्रकार ढूँढ़ निकाला था। इस भले आदमीने एक 'फ़ैमिली शेक्सपियर' (१८१८), नामसे शेक्सपियरके सब ग्रन्थोंका ऐसा सम्पादन किया जिसमेंसे उसने ऐसे सब अंश निकाल बाहर किए जिन्हें 'कोई सज्जन महिलाओंके समाजमें पढ़ने योग्य न समझता हो।' तबसे यह शब्द उन सब समीक्षा-प्रयासोंके लिये प्रयुक्त किया जाता रहा जिनके द्वारा किसी भी रचनासे अश्लील अंश छाँटकर निकाल दिए जाते हों, विशेषतः वे अंश, जिनके सम्बन्धमें यह विश्वास हो कि इन्हें सुनकर स्त्रियाँ सङ्कोच और लज्जाका अनुभव करेंगी। इस प्रकारकी काट-छाँट प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् ही कर सकते हैं और यह सब उनके अपने ज्ञान या समाजकी परखपर निर्भर है। किन्तु यह समीक्षाका प्रकार न होकर मूलतः सम्पादनका प्रकार है जिसमें प्रत्येक सम्पादक, निकाले जाने योग्य अंशोंकी अनुपयुक्तताका नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विवेचन करता है। इसलिये इसे भी नैतिक समीक्षाका ही विस्तृत रूप समझना चाहिए।

## ऐतिहासिक-भौगोलिक समीक्षा-प्रणाली

योरोपमें लोक-संस्कृतिके अध्ययनके लिये एक प्रणाली चली जिसे ऐतिहासिक-भौगोलिक प्रणाली कहते हैं। कोई भी मौखिक कथा सैकड़ों रूपोंमें दो-तीन महाद्वीपोंमें बिखरी हुई मिलती है, जिसके अधिकांश भाग पिछली पीढ़ीमें लिख लिए जा चुके हैं। साहित्यिक इतिहासकार अपनी खोजके उद्देश्यके रूपमें उसके वंश-वृक्षकी खोज करता है और मौखिक लोक-कथाका इतिहासकार उसके वितरणका केन्द्र ढूँढ़ता है। वह केन्द्रसे चलकर उन सब चक्करदार मार्गोंमेंसे होता हुआ उसके बीचमें पड़नेवाली, एक दूसरेको पृथक् करनेवाली धाराओं और व्याघातोंको पार करता हुआ सबसे अन्तिम छोरतक पहुँच जाना चाहता है।

यद्यपि इस प्रणालीका और इसके कुछ पक्षोंका प्रयोग पहले भी होता रहा किन्तु इस विशेष कौशलका प्रवर्त्तन किया फ़िनलैन्डके कार्ले क्रोह्न और

आन्ती आनेने। इसीलिये यह प्रणाली कभी-कभी फ़िनिश-प्रणाली कहलाती है। अधिकांश लोक-कथाएँ मौखिक और साहित्यिक दोनों रूपोंमें मिलती हैं, यह मानकर इस प्रणालीके अभ्यासी लोग मौखिक पाठोंको तो भौगोलिक क्रमसे रखते चलते हैं और साहित्यिक पाठोंको तिथि-क्रमसे।

ये लोग कहानीके किसी विशिष्ट रूपको भागोंमें विश्लिष्ट करके और उसके प्रत्येक लक्षणका सब पाठोंमें विवरणात्मक अध्ययन करके यह प्रयास करते हैं कि किसी एक सिद्धान्तकी दृष्टिसे उसका मौलिक रूप स्थिर कर लिया जाय। कभी-कभी तो कोई एक साक्ष्य ही ऐसा मिल जाता है जो उसकी पूरी परम्पराके रूपका ठीक परिचय दे देता है। किन्तु अध्ययनसे उनमें प्रादेशिक रूप ही अधिकांशतः मिलते हैं। इनके सहारे यह प्रयत्न किया जाता है कि एक सर्वसामान्य या व्यापक रूप स्थिर कर लिया जाय। इसी सैद्धान्तिक रचनाके आधारपर अध्येता उसके विभिन्न पाठोंकी विस्तृत व्याख्या करनेका भी प्रयत्न करता है। इसका वास्तविक परिणाम जाननेके लिये वह दो प्रकारकी पद्धतियोंका प्रयोग करता है—एक ऐतिहासिक और दूसरी मनोवैज्ञानिक। वह उन धाराओंका भी अध्ययन करनेका प्रयत्न करता है जिनके अनुसार एक जाति दूसरे देशमें पहुँचकर अपने साथ वहाँकी कथाएँ भी लेती गई है। वह उन प्रकारोंकी ओर भी सावधानीसे ध्यान देता है, जो बार-बार होनेवाले परिवर्त्तनसे बने हों, जिनमें कुछ बातें भूल गई हों, कुछ बातें नई जोड़ दी गई हों, या किसी एक अनिश्चित कथामें स्थानीय पात्र और परिस्थितिकी योजना कर दी गई हो। इससे बड़ी भारी असुविधा यह होती है कि कभी-कभी साहित्यिक पाठ और मौखिक पाठमें परस्पर विरोध हो जाता है। कोई भी मौखिक कथा इतने कौशलके साथ साहित्यिक रूपमें कह दी जाती है कि उसका आगेका रूप केवल पुस्तियों और संस्करणोंका विषय बन जाता है। दूसरी ओर, साहित्यिक कहानियाँ लोग इतनी पूर्णताके साथ ग्रहण कर लेते हैं कि उनका वास्तविक उद्गम पूर्णतः भुला दिया जाता है।

### समीक्षामें वैज्ञानिक प्रणाली

प्लेटोके 'आयोन' ( ५३२ ई॰ पू॰ ) से ही यह प्रश्न चल रहा है कि समीक्षामें वैज्ञानिक प्रणाली चल सकती है या नहीं। किन्तु जबसे विज्ञानका विकास होने लगा और सब प्रणालियोंका सचेष्ट संस्कार होने लगा तबसे तो यह प्रश्न और भी अधिक व्यापक हो चला है। किन्तु इस सिद्धान्तके लिये

वैज्ञानिक आदर्श ढूँढ़ने और समीक्षाका वैज्ञानिक क्रम खोजनेके लिये वर्त्तमान विज्ञानका मुँह नहीं जोहना होगा। बहुत प्राचीन कालमें ही इसपर विचार भी हो चुका था और वैज्ञानिक रूपसे अन्वेषण करने तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे साहित्यकी मीमांसा करनेके क्षेत्रमें बहुत अधिक प्रगति भी हो चुकी थी, भले ही वह सर्वमान्य न हुई हो। ऐतिहासिक अज्ञानताके कारण मध्यकालीन और पुनर्जागरण कालके विद्वानोंने प्राचीन ज्ञान सुरक्षित करने या नष्ट ज्ञान ढूँढ़नेके लिये जो प्रयास किया उसके विफल होनेका कारण ही यही था कि वे लोग इतिहाससे अपरिचित थे और यद्यपि मध्यकाल तथा पुनर्जागरण-कालमें कुछ प्रगति हुई भी, किन्तु यही कहना ठीक होगा कि उन युगोंमें तथा उदात्त युगमें कोई विशेष रूपसे निश्चित, शुद्ध, व्यापक तथा वैज्ञानिक प्रणालीका प्रचलन नहीं हो पाया। सन् १७४१ में डाक्टर जौन्सनने कहा था कि 'अभीतक भी समीक्षामें विज्ञानकी स्थिरता और निश्चयता नहीं आ पाई है।' सम्भवतः जौन्सन साहित्य-समीक्षामें शुद्ध वैज्ञानिक भावनाकी अपेक्षा स्थिरता अधिक चाहता था। स्वैरवादी लोग इस सम्बन्धमें कुछ अधिक मध्यम-मार्गी थे, किन्तु उनकी प्रतिक्रियाका 'समीक्षात्मक भाग' भी 'अधिक निश्चित ज्ञान और अधिक दृढ़ प्रणालीके लिये आन्दोलन' ही था। उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तिम भागमें जो समीक्षाका क्रम चला वह भी प्राकृतिक विज्ञानोंको समुन्नत करनेका ही था। हाँ, फ्रान्सीसी समीक्षामें निश्चित रूपसे तत्कालीन विज्ञानके सिद्धान्तोंका साहित्यपर आरोप किया गया था और इसीलिये उसमें समीक्षाकी वैज्ञानिक प्रणालीकी सम्भावनाओं और आवश्यकताओंका इतना समावेश था जितना अन्य युगोंमें नहीं पाया जाता। इस युगमें भी वैज्ञानिक समीक्षाके सम्बन्धमें शास्त्रार्थ चल ही रहे हैं। यद्यपि ब्रोनोवस्कीने कहा है कि 'मैं आलोचना भी वैसी ही सटीक लिखता हूँ जैसी ज्योमेट्री (ज्यामिति) होती है', किन्तु कुछ लोगोंका यह मत है कि 'साहित्यिक अध्ययनके लिये हमें वैज्ञानिक बननेका स्वप्न छोड़ ही देना पड़ेगा, क्योंकि विज्ञान वह व्यवस्थित तथ्य है जिसे हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अवश्य सिद्ध कर सकते हैं।' यदि हम समीक्षाको किसी कला-कृतिके द्वारा उत्पन्न की हुई प्रतिक्रिया मान लें और 'अनेक महाकृतियोंमें आत्माका परिभ्रमण' मान लें तब भी किसी प्रकार समीक्षा वैज्ञानिक नहीं होती। यद्यपि मैथ्यू आरनोल्डकी यह परिभाषा लोग अधिक मानते हैं कि 'आलोचना किसी वस्तुको

ठीक उसके वास्तविक रूपमें देखनेका प्रयास है', किन्तु यह परिभाषा भी अपूर्ण है, क्योंकि समीक्षाके लिये संसारका सम्पूर्ण ज्ञात और विचारित सर्वश्रेष्ठ ज्ञान जानना ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ उसे यह भी जानना चाहिए कि सर्वश्रेष्ठ होनेका जो उस ज्ञानका आधार है उसकी सत्यता और उसका अर्थ क्या है। समीक्षामें केवल मूल्याङ्कन या निर्णय ही नहीं होता क्योंकि यह काम तो साधारण व्यक्ति भी कर लेता है। अतः समीक्षात्मक निर्णय केवल वैसा ही नहीं होता जैसा साधारण पाठकका होता है। उसके लिये समीक्ष्यवादीको उस वस्तुका प्रत्येक तत्त्व जाननेका प्रयास करना पड़ता है। अर्थात् समीक्षा केवल मूल्याङ्कन-मात्र नहीं वरन् मूल्यांकनमें ऐसा विवेक उत्पन्न करना है, जो वास्तविक या सम्भव, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समीक्षा-विज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सम्बन्ध एक विशिष्ट ग्रन्थ या कला-कृतिसे है और विज्ञानमें तो व्यापक वस्तु या सिद्धान्तका विचार किया जाता है, किसी एक विशिष्टका नहीं। अतः समीक्षा तो किसी एक विशिष्ट निर्णयका आरोप करना है, वह चाहे जितने भी विज्ञान या वैज्ञानिक प्रणालीसे ओतप्रोत हो।

समीक्षाके क्षेत्रमें वैज्ञानिक प्रणाली किसी ऐसे सिद्धान्त या गुरपर आश्रित नहीं होती जो कहीं दूसरे स्थानपर किए हुए प्रयोगके परिणामस्वरूप निकाला गया हो, जैसे फ्रान्सीसी आलोचकोंने उन्नीसवीं शताब्दिमें या मनोविज्ञानवादियों और समाज-वादियोंने बीसवीं शताब्दिमें प्रयोग किए थे। इसी प्रकार किसी एक विशेष प्राकृतिक विज्ञानकी किसी विशिष्ट प्रणालीको बिना सुधारे हम साहित्यपर उसे आरोपित नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक विज्ञानकी एक अपनी निराली प्रणाली होती है। समीक्षामें वैज्ञानिक प्रणाली लानेका सीधा-सादा अर्थ यह है कि सङ्गत ज्ञानकी प्रत्येक बात साहित्यिक निर्णयपर लागू की जाय और वह निर्णय इस सङ्गत ज्ञान-द्वारा समर्थित हो। समीक्षाके लिये जितना ज्ञान अपेक्षित है उन सबका यद्यपि वैज्ञानिक विश्लेषण हो सकता है, किन्तु वह सब विज्ञान नहीं है, क्योंकि उसका अधिकांश भाग विशिष्ट है, व्यापक नहीं। फिर भी उसका अधिकांश भाग इस अर्थमें विज्ञान है कि विशिष्टका निर्णय भी किन्हीं व्यवस्थित प्राकृतिक या साहित्यिक परिस्थितियोंके व्यापक ज्ञानपर ही अवलम्बित होता है।

समीक्षाके प्रयोगमें वैज्ञानिक होने या शुद्ध समीक्ष्यवादी होनेका तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई बात न कही जाय जो वास्तविकतापर अवलम्बित न हो।

किन्तु यह अवलम्ब भी उसे स्पष्ट कर देना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी आवेगपूर्ण निर्णायक बातें न कही जायँ, जो उचित होनेपर भी और साधारण पाठकपर प्रभाव डालनेमें समर्थ होनेपर भी, समीक्षा नहीं हैं। समीक्षा तो ज्ञानके संकेत या विश्लेषणके उद्देश्य या साध्यके कारणके रूपमें हमारी भावनाका व्यक्त रूप है। इसका यह भी तात्पर्य है कि वे शुद्ध मूल्यांकनकारी प्रथाएँ छोड़ दी जायँ जो शुद्ध निर्णयके मार्गमें बाधक हों, क्योंकि इनसे वास्तविक निर्णय करनेमें और समीक्षात्मक समस्याओंपर शुद्ध विचार करनेमें बड़ी बाधा पड़ती है। आवश्यकता पड़नेपर समीक्षामें सब विज्ञानोंके कौशलों और परिणामोंका प्रयोग तो किया जा सकता है किन्तु वर्त्तमान वैज्ञानिक सम्प्रेक्षण (साइंटिफ़िक औब्ज़र्वेशन) पर जो इतना बल दिया जा रहा है वह साहित्यिक समीक्षापर शुद्ध रूपसे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि साहित्यके लिये हम ठीक विज्ञानवाली कसौटी नहीं बना सकते फिर भी समीक्षक इतना तो कर ही सकता है कि वह दो स्थानों-पर समान रूपसे प्राप्त होनेवाले परिणामोंका तीसरे स्थानपर आरोप कर दे और इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियोंमें उनका प्रयोग करके उनसे सामान्य सिद्धान्त निकाल ले। जो आदर्श ऊपर सुझाया गया है वह अगम है, क्योंकि अधिकांश समीक्षा अत्यन्त पक्षपातपूर्ण और अपूर्ण होती है, फिर भी आदर्शसे यह ज्ञान तो हो ही जाता है कि कितना भाग ग्राह्य है, कितना त्याज्य।

## लोकवादी समीक्षा ( स्टामेस्गेशिख्टे )

आउगुस्ट-सावेरके सुझावके अनुसार जोसेफ़ मेडलरने जर्मनीमें साहित्य-समीक्षाका एक नया मार्ग निकाला जिसमें वह कहता है कि 'जनताके आचार व्यवहार, परम्परा, प्रवृत्ति तथा आदर्शोंकी अभिव्यक्ति ही काव्यमें आवश्यक है और लेखक केवल इसी राष्ट्रीय भावनाका चारण है। इस राष्ट्रीय भावनाका मूल तो जाति (ट्राइब या स्टाम) है जो उस जातिके सदस्योंके अस्तित्वसे भिन्न और स्वतन्त्र शक्ति है। अतः समीक्षकोंको केवल यही बात देखनी चाहिए कि कविने उसकी कहाँतक अभिव्यक्ति की है।' इस पद्धतिका नाम है 'स्टामेस्गेशिख्टे'। नाज़ी लेखकों और समीक्ष्यवादियोंमें इसी प्रवृत्तिकी प्रधानता है।

फ़्रान्समें भी हिपोलाइत तेनका यह विचार था कि किसी भी कलाकृतिके

उद्भवपर जाति ( मिल्यू ), काल और परिस्थितिका पूर्ण प्रभाव होता है। पीछेके समाजवादी समीक्षकोंने इसीको समीक्षाका आधार मान लिया और प्रत्येक रचनामें यही खोजने लगे कि उसकी रचनापर जाति, युग तथा परिस्थितिका कितना और क्या प्रभाव पड़ा है।

## साहित्यका नियमित परीक्षण

योरोपमें कुछ दिनों एक दार्शनिक मत चला जिसका कहना था कि 'हमें सब कुछ मनुष्यकी दृष्टिसे जाँचना-परखना चाहिए और संसारकी प्रत्येक वस्तुका अपने अनुभवके आधारपर परीक्षण करना चाहिए, आध्यात्मिक आधारपर नहीं। इन अनुभव-वादियों ( पौज़िटिविस्ट्स ) या भौतिक अनुभव-वादियों ( मैटीरियलिस्टिक पौज़िटिविस्ट्स ) ने केवल अनुभव और मनुष्यसे उसके सम्बन्धके आधारपर ही साहित्यकी परीक्षा भी प्रारम्भ कर दी। अतः जर्मनीमें इन भौतिक अनुभव-वादियोंके विरुद्ध समीक्ष्यवादियोंका एक मण्डल उठ खड़ा हुआ जिसका नाम था 'व्यवस्थित साहित्य-समीक्ष्यवादी' ( लिटेराटूर-विस्सेन्शाफ़्ट )। इस मण्डलने अनुभववादी दृष्टिकोणकी खरी आलोचना करके साहित्य-परीक्षणकी अनेक प्रणालियाँ ढूँढ़ निकालीं, जिन्हें हम दो प्रधान वर्गोंमें बाँट सकते हैं—

१. वह वर्ग जो काव्य-सामग्री ( गेहाल्ट ) का परीक्षण करता है, और

२. वह वर्ग जो शैली और रूप ( गेस्टाल्ट ) की समस्याओंपर विचार करता है।

## विषय-परीक्षण वर्ग

इनमेंसे पहले वर्गमें—

( क ) वे लोग आते हैं जो प्रत्यक्षवाद या तथ्यवाद ( रीयलिज़्म ) और आदर्शवाद ( आइडियलिज़्म ) के बीच झूलते हुए किसी कलाकृतिको जातीय शक्तियोंकी, राष्ट्र या लोककी, किसी विशेष उपजातिकी या कई पीढ़ियोंकी उपज मानते हैं।

२. वे कट्टर आदर्शवादी कैथौलिक लेखक आते हैं, जो कैथोलिक युगोंको मानवतावाद ( ह्यूमेनिज़्म ), उदात्तवाद ( क्लासिसिज़्म ) और प्रकृतिवाद ( नेचुरलिज़्म ) से ऊँचा मानते हैं।

३. वे समाजवादी (सोशलिस्ट्स) आते हैं, जो कुछ तो मार्क्ससे और कुछ

लाम्प्रेख्ट आदिसे प्रभावित होकर सामाजिक तत्वोंके आधारपर साहित्यका निर्णय करते हैं।

४. वे मनोविज्ञानवादी ( साइकोलौजिस्ट्स ), जिनमें

( क ) कुछ तो डिल्थी-स्प्राङ्गर सम्प्रदायके हैं, जो साहित्यको एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति मानते हैं, और

( ख ) कुछ फ्रौयडवादी हैं, जो साहित्यको दमन की हुई प्रेरणा-शक्ति ( लिबिडो या काम-शक्ति ) का लक्षण मानते हैं।

५. वे सांस्कृतिक इतिहासकार हैं, जो कलाको सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रियाका एक आंशिक कार्य मानते हैं।

६. वे 'गीस्टेस-विस्सेन्शाफ़्टलेर' हैं जो—

क. किसी कलाकृतिके मूलगत विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तकी खोज करते हैं।

ख. जो एवीगे-गेस्टाल्ट या शैली अथवा शाश्वत नियम, रचनात्मक केन्द्र, शाश्वत प्रेरणा-शक्तियाँ, प्राचीन कथाएँ, तथा विस्सेन या तत्त्वको प्रधानता देते हैं। और

ग. जो मृत्यु तथा प्रेम आदि विशिष्ट भावात्मक समस्याओंमें ही उलझे रहते हैं।

## रूप-परीक्षण-वर्ग

लिटेराटूरविस्सेन्शाफ्ट या 'साहित्यका नियमित परीक्षण' करनेवाले मण्डलके दूसरे वर्गके लोगोंमेंसे—

( क ) कुछ तो काव्यात्मक अभिव्यक्तिके रूपोंकी खोजमें लगे हैं।

( ख ) कुछ साहित्यक रूपोंका परीक्षण कर रहे हैं, और

( ग ) कुछ साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों और युगोंके अध्ययनमें लगे हुए हैं।

किन्तु यह मण्डल भी अनेक भागोंमें विभक्त होनेके कारण समीक्षाका कोई ऐसा व्यवस्थित रूप नहीं प्रस्तुत कर सका जिसके सहारे साहित्यके विभिन्न रूपोंके निश्चित परीक्षणका कोई प्रामाणिक मानदण्ड स्थापित हो सके। किन्तु उसकी परीक्षण-विभिन्नताओंसे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि साहित्यका परीक्षण और समीक्षण अनेक प्रकारसे और अनेक रूपोंमें हो सकता

है और साथ ही प्रत्येक प्रकारके साहित्य-रूपके लिये हम अलग-अलग कसौटियाँ निर्धारित करके ही उनका परीक्षण कर सकते हैं ।

### पक्षपातपूर्ण समीक्षा

फ्रान्सके प्रसिद्ध कवि चार्ल्स बौदेलेया ( १८२१से ६७ ) का विश्वास था कि 'केवल कवि ही सबसे अच्छे समीक्ष्यवादी हो सकते हैं।' उसने स्वयं अपनी समीक्षा-पद्धतिसे इस बातको प्रमाणित भी कर दिया क्योंकि उसकी अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ सब समीक्षात्मक ही हैं जिनमें उसने अपने युगके कवियों और उपन्यासकारोंपर अगणित लेख लिखे हैं । इतना ही नहीं, उसने उन लेखोंमें स्वैरवादी युग तथा द्वितीय साम्राज्यके प्रमुख कलाकारोंका लगभग पूर्ण समीक्षण किया है, यहाँतक कि उसने प्रसिद्ध सङ्गीतज्ञ वैगनरकी भी सङ्गीत-शास्त्रीय आलोचना कर डाली ।

उसका विश्वास था कि 'समीक्ष्यवादीको पक्षपात-पूर्ण और तल्लिप्त होना चाहिए।' उसका मत था कि 'समीक्षा कोई विज्ञान नहीं है, इसलिये समीक्षामें सिद्धान्तों और रूढियोंका कोई विचार नहीं करना चाहिए। सहानुभूति, गुण-लुब्धता या रीझ ( ऐडमिरेशन ), उत्साह और कल्पना ही समीक्षाके श्रेष्ठतम जीव-तत्त्व हैं । किसीको क्या प्रिय लगता है ? इसीको समझना ही किसी कलाकृतिका गुण-तत्त्व तथा सौन्दर्य खोजनेके लिये केवल आवश्यक है।' किन्तु आजकल बौदेलेयाका समीक्षा-सिद्धान्त कोई नहीं मानता। इस प्रणालीको भयावह बताते हुए समीक्ष्यवादियोंने कहा है कि 'स्वयं बौदेलेयाने भी इस फेरमें पड़कर अनेक लेखकोंकी आवश्यकतासे अधिक प्रशंसा या निन्दा कर डाली थी।'

### सुधारपरक ( सजेस्टिव ) समीक्षा

समीक्षाका एक दूसरा भी रूप है जिसमें समीक्ष्यवादी, किसी कृतिके गुणोंकी प्रशंसा और दोषोंका निर्देश करते हुए यह भी बतलाता चलता है कि कविको यह ग्रन्थ किस रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए था ? उसकी कथामें क्या परिवर्त्तन करना चाहिए था ? कौनसे नये व्यक्ति या नई घटनाओंका समावेश करना चाहिए था ? किस भाषा-शैलीमें इसे लिखना चाहिए था ? अमुक पात्र किस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए था ? ग्रन्थका उपसंहार जिस रूपमें कविने किया है उससे भी अच्छे किस ढङ्गमें किया जा सकता था ? समीक्ष्यवादी बनकर किसी भी रचनाके गुण-दोषका निरूपण करना तो थोड़े

अभ्याससे आ सकता है किन्तु उसके साथ उन दोषोंका परिहार निर्देश करनेकी शक्ति किसी भी विचक्षण समीक्ष्यवादीमें तभी आ सकती है जब वह समीक्ष्यवादी स्वयं कवि भी हो। अतः बौदेलेयाके मतसे हम इतनी सीमातक सहमत हैं कि 'कवि बहुत अच्छे समीक्ष्यवादी हो सकते हैं।' यह कहना अत्यन्त सरल है कि अमुक काव्यमें अमुक वस्तु अभव्य है, किन्तु यह बताना अत्यन्त कठिन है कि उस अभव्य वस्तुके बदले भव्यता लानेके लिये कौन-सी वस्तु किस प्रकार उपस्थित करनी चाहिए। समीक्षाकी दृष्टिसे यह वृत्ति अत्यन्त वाञ्छनीय है। इस वृत्तिके समीक्ष्यवादी सीधे-सीधे इस प्रकार परामर्श देते हैं कि कविको अमुक-अमुक प्रकारसे परिवर्त्तन कर लेने चाहिएँ जिससे उसके काव्यमें आए हुए दोषोंका परिहार हो जाय। फ़ारसी और उर्दू साहित्यमें समीक्षाकी यही प्रथा रही है जिसे 'इस्लाह' कहते हैं, किन्तु यह सार्वजनिक न होकर व्यक्तिगत होती है, क्योंकि यह कार्य रचना प्रकाशित होनेसे पूर्व ही रचयिताके गुरु उचित रूपसे कर देते हैं। कुछ लोगोंने इस प्रकारकी समीक्षाको इस रूपमें व्यक्त किया है—'यदि मैं अमुक ग्रन्थ लिखता तो किस प्रकार लिखता!' यह समीक्षा-पद्धति अत्यन्त्य स्वस्थ और अनुकरणीय तो होती है किन्तु इसके लिये समीक्ष्यवादीको स्वयं कवि होना चाहिए और समीक्ष्य कविके भावसे भावित होना चाहिए। इस समीक्षा-पद्धतिमें जहाँ एक ओर नये कवियोंके लिये आत्मसुधारका निर्देश मिलता है, वहाँ पुराने कवि इस पद्धतिके-द्वारा घाटेमें ही रह जाते हैं क्योंकि उनके लिये जो सुधारक निर्देश किए जाते हैं उनका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता। हाँ, अन्य लोगोंको उससे ज्ञान और उपदेश अवश्य मिल सकता है।

### शास्त्रीय समीक्षा

इस अध्यायके प्रारम्भमें ही हम बता आए हैं कि हमारे यहाँ कुछ निर्धारित सिद्धान्तोंके आधारपर ही समीक्षा होती चली आ रही है अर्थात् जो गिने-चुने गुण-दोष गिना दिए गए हैं उन्हीं गुणोंसे युक्त और दोषोंसे हीन रचनाकी प्रशंसा होती रही है। इसका कारण यह रहा है कि हमारे यहाँ काव्यका उद्देश्य चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति रहा, इसलिये उसके सम्बन्धमें कोई शास्त्रार्थ ही नहीं हुआ। जो कुछ हुआ वह तत्सम्बन्धी वाग्व्यापार या भाषापर ही हुआ अर्थात् शब्द और अर्थके एक निश्चित प्रभाव और प्रयोग—ध्वनि या

व्यञ्जना अथवा तज्जनित रस—को तथा काव्यालंकरणको ही लोग कसौटी मानते रहे । योरोपमें भी बहुत वर्षोंतक अरस्तू और प्लेटोके ही सिद्धान्तोंका बोलबाला रहा किन्तु पीछे चलकर जब स्वैरवादियोंने उदात्तवादियोंका विरोध किया तब कलह इसी बातपर प्रारम्भ हुआ कि कवितामें विषय-सामग्री प्रधान है या उसका रचना-रूप । किन्तु ये दोनों भी अलग-अलग अपने सिद्धान्तोंके ढले-ढलाए रूप ही काममें लाते रहे और इनकी भी रूढ या शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति चल पड़ी ।

### समीक्षाके अन्य प्रकार

उपर्यङ्कित प्रकारोंके अतिरिक्त समीक्षाके कुछ वे प्रकार भी थे जो किन्हीं विशेष दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक मतों या वादोंके आधारपर चले । किन्तु वे समीक्षाके प्रकार न होकर वादोंके प्रकारके ही अन्तर्गत आते हैं अतः उन सबका परिचय हम इस ग्रन्थके चतुर्थ खण्डमें वादोंके साथ देंगे ।

### नवालोचन

बीसवीं शताब्दिके द्वितीय दशकमें कविताके विस्तारके पश्चात् नई समीक्षाने मुख्यतः समीक्षण-कलाकी ओर विशेष ध्यान दिया । यह उन सब पिछले सिद्धान्तोंसे असहमत थी जो यह मानते थे कि किसी कृतिके लेखकके जीवन, उसकी परिस्थिति, पृष्ठभूमि या सामाजिक अभिरुचिपर बिना ध्यान दिए केवल उस ग्रन्थका एकाङ्ग परीक्षण करना ही समीक्षा है । इसकी पहली प्रवृत्ति तो यह हुई कि इस नई समीक्षामें कुछ वैज्ञानिक साधन काममें आने लगे, विशेषतः लेखा ( स्टैटिस्टिक्स ) बनाना । इस कार्यके लिये वर्नन ली ( वायलेट पेजेट ) ने तो यहाँतक किया कि विभिन्न ग्रन्थोंमें यह तक गिन डाला कि किस अनुपातसे किस प्रकारके पद (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि ) उनमें प्रयुक्त हुए हैं । इस प्रकारके एक लेखमें यह भी दिखलाया गया है कि विलियम शार्प और फियोना मैक्लेअड दोनोंने विभिन्न रङ्गोंका उल्लेख समान अनुपातमें किया है, केवल उनके उपनामोंमें भेद है । इसी प्रकार ध्वनि-संकेत, ध्वनि, विचार-रूप, सामग्री, शब्द-रूप आदिके प्रयोगकी गतिकी भी अत्यन्त परिश्रमपूर्वक गणना की गई है । ऐसे अध्ययन महिलाओंने अधिक किए हैं, जिनमें कैरोलाइन स्पर्जियनने शेक्सपियर और उसके

समकालीन कवियोंके नाटकोंमें प्रयुक्त होनेवाले अप्रस्तुत विधानोंका अत्यन्त विस्तृत लेखा प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक 'साहित्यके अध्ययनकी नवीन प्रणाली' (न्यू मैथड फ़ौर दि स्टडी औफ़ लिटरेचर, १९२७) में एडिथ रिकर्टने इस प्रकारके अध्ययनकी विधियोंका विस्तृत विवरण दिया है।

दूसरे दशकके बहुतसे लोगोंको यह समीक्षाका विधान नीरस तथा कालघाती साधन ही प्रतीत हुआ, यद्यपि लौरा राइडिङ्ग और रौबर्ट ग्रेव्ज़ने 'वर्त्तमान-कालीन काव्यका अध्ययन' (ए स्टडी औफ़ मौडर्निस्ट पोइट्री, १९२९) में यह समझाया है कि किस प्रकार शेक्सपियरके गीतोंकी समीक्षा शब्द-रूप (स्पेलिङ्ग) और विराम-चिह्नों-द्वारा प्रभावित होती है।

अर्थ-परीक्षा और शब्दकी समस्याओंके कारण इन प्रणालियोंके प्रति और भी रुचि जागरित हुई जिसे कुछ तो टी० एस० ईलियटने किन्तु, अधिकांशतः आई० ए० रिचार्ड्स और सी० के औग्डनने बड़ी प्रेरणा दी। प्रथम और द्वितीय ई० शताब्दिके 'देमेत्रियस' और 'गैल्लियस'के समान हमारे नये समीक्ष्यवादी भी अब शब्दोंके पारस्परिक प्रभावकी परीक्षा करने लगे हैं। वे शब्द और बिम्बके सभी सम्भव रूपों और अर्थोंकी व्याख्या करनेमें वर्त्तमान मनोविज्ञानका पूर्ण सहयोग ले रहे हैं।

### व्यावसायिक समीक्षा (पफ़री)

उन्नीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें प्रकाशकोंकी वृद्धिके कारण समीक्षा-कार्य अत्यन्त भ्रष्ट हो गया और ऐसी पक्षपातपूर्ण तथा व्यावसायिक आलोचनाएँ (पफ़री) होने लगीं कि लोग अपने मित्रों, सम्बन्धियों, गुरुओं तथा बड़े-बड़े लेखकोंको रुपया दे-देकर प्रशंसात्मक समीक्षा लिखवाने लगे। इसपर बहुत लोगोंने यह प्रयत्न भी किया कि समीक्षाका क्षेत्र शुद्ध किया जाय किन्तु कोई सफल नहीं हो पाया। आजकल इसे 'पफ़री' न कहकर 'ब्लर्ब' कहते हैं। इनकी दशा वही हो रही है जो साफ़ोकी चिड़ियोंकी थी। लीबिया-निवासी साफ़ोने कुछ चिड़ियोंको सिखा-सिखाकर छोड़ना प्रारम्भ किया जो उड़-उड़कर कहा करती थीं कि 'साफ़ो देवता है।' इसका प्रभाव यह हुआ कि अफ़्रीकी लोग उसकी पूजा करने लगे। इसी प्रकार इस विज्ञापनके युगमें अधिकांश समीक्षाएँ इसी प्रकारकी हो रही हैं जिसके परिणाम-स्वरूप तुच्छ लेखक तो आकाशचारी हो गए हैं और अच्छे लेखकोंकी कोई बात भी नहीं पूछता।

## उपसंहार

ऊपर समीक्षाके जितने प्रकार गिनाए गए हैं उन्हें हम निम्नलिखित प्रकारसे सूचीबद्ध कर सकते हैं—

१. रचनात्मक, २. सुधार-परक, ३. साहित्यिक, ४. प्रभाववादी ५. ऐतिहासिक, ६. तुलनात्मक, ७. वैज्ञानिक, ८. विश्लेषणात्मक, ९. लोक-साधारण, १०. प्रशंसात्मक, ११. निन्दात्मक, १२. नैतिक, १३. मनोवैज्ञानिक, १४. सामाजिक, १५. भाषा-परक, १६. पाठाश्रित, १७. रूढ या शास्त्रीय, १८. व्याख्यात्मक, १९. निर्णयात्मक, २०. किसी विशेषवादपर आश्रित, और २१. व्यावसायिक।

अब प्रश्न यह है कि इनमेंसे कौन-सी आलोचना-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रश्नका उत्तर यह कहकर नहीं दिया जा सकता कि इनमेंसे केवल अमुक प्रकारकी समीक्षा-पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है। यदि हम किसी भी ग्रन्थकी ठीक समीक्षा करना चाहें तो हमें उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बतानेके लिये ऐतिहासिक समीक्षा, अन्य कवियोंसे उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये तुलनात्मक समीक्षा, उसके सब अङ्गोंका विस्तृत विवरण तथा विवेचन प्रस्तुत करनेके लिये व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक समीक्षा, मानव-समाजके लिये उसमेंसे व्यञ्जित सन्देशका स्पष्टीकरण करनेके लिये नैतिक समीक्षा, उसकी भाषा तथा पाठका सुधार करनेके लिये भाषा-परक तथा पाठाश्रित समीक्षा, हमारे मनपर उसका जो प्रभाव पड़ा है उसे व्यक्त करनेके लिये प्रभाववादी समीक्षा तथा उसकी त्रुटियों या दोषोंका परिहार करके उसे सर्वाङ्ग सुन्दर बनानेकी प्रेरणा देनेके लिये सुधार-परक समीक्षाका आश्रय लेना ही होगा। अतः समीक्षाके क्षेत्रमें किसी एक समीक्षा पद्धतिको प्रधान मानकर केवल उसका ही अनुसरण करना अत्यन्त भ्रामक तथा सङ्कट-पूर्ण मार्ग है। समीक्षयवादियोंको इन सब समीक्षा-प्रकारोंका भली-भाँति परिचय प्राप्त करके विवेकपूर्ण ढङ्गसे यथावसर उनका प्रयोग कर लेना चाहिए।

## समीक्षाके केवल तीन प्रकार : व्यक्तिगत, सामाजिक और शास्त्रीय

उपर्यङ्कित समीक्षाके प्रकारोंकी व्यापक विवेचना करनेके पश्चात् अत्यन्त सरलतापूर्वक यह परिणाम निकाला जा सकता है कि समीक्षा केवल तीन प्रकारकी होती है : व्यक्तिगत, सामाजिक और शास्त्रीय ( सैद्धान्तिक )।

इनमेंसे सामाजिक और शास्त्रीय समीक्षा केवल निर्णयात्मक होती है, व्यक्तिगत समीक्षा निर्णयात्मक और भावात्मक दोनों होती है तथा सैद्धान्तिक समीक्षाका एक रूप निर्णयात्मक होता है और दूसरा रचनात्मक, जिसके द्वारा वह समीक्षा-शास्त्रकी भी सृष्टि करता है।

## व्यक्तिगत समीक्षा

व्यक्तिगत समीक्षाका जो निर्णयात्मक रूप होता है उसमें या तो साधारण एकपक्षीय निन्दा-स्तुति होती है, अथवा प्रभावात्मक होनेके कारण प्रभाववादी, अथवा प्रभावसे प्रेरित निष्पक्ष निन्दा और स्तुति है, अथवा व्यंग्यात्मक उपहासकी वृत्ति अथवा बौद्धिक दृष्टिसे रचनाके अर्थात् ग्रन्थकी भाषा, निर्वाह-कौशल तथा शैलीके विषयमें कलात्मक विवेचन अथवा सुधार-परक निर्देश होता है।

## सामाजिक समीक्षा

सामाजिक समीक्षा केवल निर्णयात्मक ही होती है। इस निर्णयात्मक वृत्तिके अनुसार हम किसी कृतिका समीक्षण अधिकांशतः नैतिक तथा मानवीय दृष्टिसे करते हैं। किन्तु ऐतिहासिक तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षणकी जो आजकल प्रवृत्ति चली है वह भी सामाजिक ही है क्योंकि उसमें भी हम ग्रन्थ और ग्रन्थकारके युगकी, अथवा ग्रन्थमें जिस युगका वर्णन किया गया है उस युगकी, ऐतिहासिक विवेचनामें तत्तत्कालीन समाज और उसकी प्रवृत्तियोंका ही समीक्षण करते हैं। इसी प्रकार हम मनुष्यकी व्यक्तिगत वृत्तियोंका भी मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण सामाजिक परिस्थितिमें ही रखकर करते हैं। अतः वह भी सामाजिक निर्णयात्मक समीक्षा ही है।

## शास्त्रीय या सैद्धान्तिक समीक्षा

शास्त्रीय या सैद्धान्तिक समीक्षाका एक रूप तो वह है जिसे हम शुद्ध समीक्षा-शास्त्र कह सकते हैं, जिसमें समीक्षाके सिद्धान्तों और नियमोंका निर्धारण किया जाता है और यह निर्देश किया जाता है कि साहित्यके किस अङ्गके किस रूपमें, किन तत्त्वोंका, किस प्रकार, क्या विवेचन करना चाहिए। इस शास्त्रीय समीक्षाका दूसरा निर्णयात्मक स्वरूप वह है जिसमें कलात्मक

परीक्षण करके हम किसी ग्रन्थके रचना-कौशल, भाषा अर्थात् पाठ और शैलीका सौन्दर्य दिखानेका प्रयत्न करते हैं। इसका तीसरा रूप है मनोवैज्ञानिक, जिसमें हम इस बातका विचार करते हैं कि किसी साहित्य या रचनाको पढ़-सुन या देखकर, पाठक, श्रोता या दर्शकके मनपर क्या प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रियाका प्रदर्शन वह बाह्य तथा सात्त्विक रूपमें किस प्रकार और क्यों करता है। इसका चौथा रूप है तुलनात्मक, जिसमें अन्य अनेक रचनाओंके साथ उसका तारतम्य आँका जाता है और यह स्थिर किया जाता है कि अमुक रचना अन्य रचनाओंसे कितनी श्रेष्ठ या निकृष्ट है, और क्यों? इसके वैज्ञानिक स्वरूपके अन्तर्गत हम कवियों-द्वारा प्रयुक्त व्यापक सिद्धान्तों तथा प्रयोगोंको एकत्र करके उससे किसी कविके सम्बन्धमें कोई निश्चित परिणाम निकालते हैं तथा सर्वमान्य व्यापक सिद्धान्तोंका प्रयोग करके उस कविकी श्रेष्ठताका मूल्याङ्कन करते हैं। विश्लेषणात्मक अथवा व्याख्यात्मक प्रकारकी जो सैद्धान्तिक निर्णयात्मक समीक्षा होती है उसमें ग्रन्थके सब अङ्गों और तत्त्वोंका विवरण देकर उनकी शुद्धता और औचित्यपर विचार किया जाता है। विशिष्ट साहित्यिक सैद्धान्तिक निर्णयात्मक समीक्षामें समीक्ष्यवादीकी प्रवृत्ति यह होती है कि वह कोई एक रचना लेकर, अत्यन्त भावात्मक रूपसे कविके भावसे भावित होकर, सुन्दर तथा प्रौढ साहित्यिक शैलीमें उसका ऐसा विवेचन करके पाठकको उसी प्रकार भावित करे जैसे कोई काव्य किसी भावक या सहृदयको भावित करता है।

इस दृष्टिसे अपने अनेक रूप लेकर समीक्षा केवल तीन प्रकारकी ही होती है—व्यक्तिगत, सामाजिक और शास्त्रीय, जिसका उपर्यङ्कित विवेचन हम अग्राङ्कित मानचित्र-द्वारा समझा सकते हैं—

( १ )

व्यक्तिगत

- निर्णयात्मक
  - साधारण
    - निन्दा
    - स्तुति
  - प्रभावात्मक
    - प्रभाववादी
    - निन्दा
    - स्तुति
  - व्यंग्यात्मक
  - बौद्धिक
    - रचनात्मक
    - कलात्मक
      - भाषा
      - कौशल
      - शैली
    - सुधारपरक
- भावात्मक
  - साधारण
    - निन्दा
    - स्तुति
  - प्रभावात्मक
    - प्रभाववादी
    - निन्दा
    - स्तुति
  - व्यंग्यात्मक
  - बौद्धिक
    - रचनात्मक
    - कलात्मक
      - भाषा
      - कौशल
      - शैली
    - सुधारपरक

( २ )
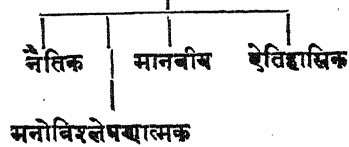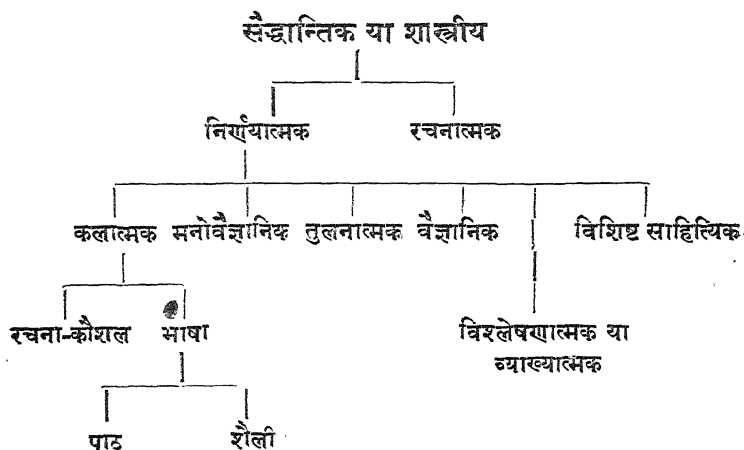
## ग्रन्थ-परिचय और समीक्षा

आजकल पत्र-पत्रिकाओंमें निरन्तर ग्रन्थ-परिचय निकलते रहते हैं जिनके फलस्वरूप ग्रन्थ-परिचय और समीक्षा शब्द एक दूसरेमें इतने घुल-मिल गए हैं कि लोग प्रायः इन दोनों शब्दोंका प्रयोग एक दूसरेके लिये करते ही हैं। किन्तु दोनोंमें प्रमुख भेद यह है कि ग्रन्थ-परिचय तो एक प्रकारका समाचार या सूचना-मात्र है जिसमें नये ग्रन्थके प्रकाशनका परिचय जनताको दे दिया जाता है। किन्तु समीक्षामें उसके गुण-तत्त्वपर बल दिया जाता है। फिर भी अच्छे ग्रन्थ-परिचयमें समीक्षाके कुछ गुण तो रहते ही हैं क्योंकि यदि उसमें यह न बतलाया जाय कि ग्रन्थमें क्या है और यह क्यों लिखा गया है तो वह ग्रन्थ-परिचय व्यर्थ हो जाता है। यदि उसमें यह भी बताया गया हो कि वह किस प्रणाली या किस कौशलसे लिखा गया, तब भी सूचना अधिक बढ़ जाती है जिसका कुछ महत्त्व हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। किन्तु यदि परिचय-दाता थोड़ा आगे बढ़कर अन्य साहित्यिक कृतियोंके साथ उसकी तुलना भी करे और उसका गुण-तत्त्व भी स्पष्ट करे तब वह निश्चित रूपसे व्याख्यात्मक समीक्षा हो जायगी।

## रचनात्मक समीक्षा ( क्रिएटिव क्रिटिसिज़्म )

रचनात्मक समीक्षा वास्तवमें समीक्षा नहीं, समीक्षा-शास्त्र है क्योंकि उसमें लेखकके लिये समीक्षाके नये मान और उद्देश्य स्थिर किए जाते हैं तथा लेखकको उस युगकी लेखन-शैलीके सम्बन्धमें नया निर्देश दिया जाता है। यह बात न ग्रन्थ-परिचयमें होती है, न समीक्षाके किसी अन्य रूपमें।

## समीक्षाकी शब्दावली

जब पाँचवीं शताब्दि ई० पू० में यूनानमें समीक्षाका प्रचलन हुआ, उस समय यूनानियोंके पास इतना समय नहीं था कि वे सिद्धान्तके वर्गीकरण और विश्लेषणमें समय लगाते। उस समयतक उन लोगोंने शिल्प और ललित कलामें भेद ही नहीं स्थापित किया था। उनकी दृष्टिमें बढ़ई, वैद्य, चारण और मूर्तिकार सब जनताके लिये कारीगर-मात्र थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उचित शब्दावली न मिलनेके कारण समीक्षात्मक विवेचन बहुत उच्च कोटिका नहीं हो सका। अरिस्तोफ़नेसने साहित्य-समीक्षाके लिये परिवृत्ति ( पैरडी ) का आश्रय लिया। किन्तु जबतक प्लेटोने नये विचार और महत्त्वकी शब्दावली नहीं चलाई तबतक कोई विशेष विस्तार नहीं हुआ, जैसे, 'अनुकरण (मिमेसिस) सब कलाओंकी प्रधान विशेषता है।' यह विचार प्लेटोसे पुराना नहीं है। अरस्तूने भी कुछ नये शब्द दिए जैसे—'कथार्सिस या रेचन।' इस प्रकार फ़लेरमके देमेत्रियस ( २८३ ई०पू० ) या ग्राक्षीफ़नेस् ( ३०० ई० पू० ), मेलियागर ( प्रथम शताब्दि ई० पू० ) आदिने बहुतसे नये शब्द दिए।

रोमके समीक्ष्यवादियोंने यूनानियोंके ही शब्दोंका प्रयोग किया और सच पूछिए तो उन्हें यूनानी शब्दोंको अपने रूपमें ढालनेमें बड़ी कठिनाई भी हुई। सिसरोने कई प्रकारसे उन यूनानी शब्दोंको रोमके साँचेमें ढाला। हेलिकारनेसस निवासी दिअनूसियसने समीक्षामें कुछ विचित्र अप्रस्तुत विधानके द्वारा अर्थात् उपमा और रूपकका प्रयोग करके कुछ चित्रमय समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, जैसे यह वाक्य—'वे शब्द ऐसे स्निग्ध और कोमल थे जैसे किसी सुन्दरी कुमारीके कपोल।' हौरेस, क्विन्तीलियन, देमेत्रियस और लौंगिनस आदि सभीने समीक्षा-शब्दावलीका विकास किया, यहाँतक कि तीसरी शताब्दिके अन्तमें समीक्षा-शब्दावली इतने प्रकारकी हो गई कि अपने सब गुण और दोषोंके साथ वह आजतक ज्योंकी त्यों चल रही है। हिन्दीमें समीक्षाकी मानस्थ शब्दावली प्रचलन करनेका श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्लको ही है जिनके चलाए हुए शब्दोंसे ही हिन्दीकी समीक्षा-पद्धति सम्पन्न और मुखर है।

# समीक्षाके सिद्धान्त

समीक्षाके प्रकारोंका विवेचन हो चुकनेपर समीक्षाके सिद्धान्त निश्चय करना अत्यन्त सरल हो जाता है क्योंकि उनका पर्यवेक्षण करनेपर यह समझना कठिन नहीं रह जाता कि समीक्षामें या तो व्यक्तिगत रुचि प्रेरणा देती है या सामाजिक रूढ़ियाँ या समीक्षा-शास्त्रियोंद्वारा निर्धारित सिद्धान्त या शास्त्र। जहाँतक शास्त्रकी बात है उसका आधार हम समीक्षा-दर्शनमें स्पष्ट कर आए हैं। किन्तु रुचि और सामाजिक रूढिकी भली प्रकार व्याख्या किए बिना हम समीक्षाके सिद्धान्त निर्धारित नहीं कर सकते। यह रुचि कभी-कभी तो इस सीमातक बढ़ गई कि लोगोंने यह कहना शुरू किया कि 'प्राचीन काव्य ही श्रेष्ठतर है, नवीन साहित्य तत्त्व-हीन है।' कुछ लोगोंने दूसरे मतका प्रतिपादन किया कि 'नवीनमें जो सुन्दर तत्त्व हैं, वे प्राचीन साहित्यमें प्राप्य नहीं हैं।' इनमेंसे कुछ लोग तो यहाँतक कह गए कि 'केवल हमारे ही देशका साहित्य अच्छा है, दूसरे देशोंका नहीं।' यह संकुचित वृत्ति देशकी परिधिसे सिमटते-सिमटते प्रदेश, नगर, और जातितककी क्षुद्रतातक उतर आई। इन्हींमें कुछ दार्शनिक लोग भी हैं जो चार्वाक्-वृत्तिके कारण कहते हैं कि 'आजकी ही चिन्ता करो, कलके फेरमें न पड़ो।' योरोपमें इस प्रकारके जो कलह हुए हैं, उनका परिचय इस दृष्टिसे प्राप्त करना समीचीन होगा।

### आजकी चिन्ता करो

बहुत पूर्व इटलीमें वहाँके प्रसिद्ध समीक्षा-शास्त्री हौरेसने कहा था कि 'आजकी ही चिन्ता करो' (कारपेदियम्)। यह उक्ति उन रचनाओं, विशेषतः प्रगीतोंके लिये प्रयुक्त होने लगी जिनमें यह बात कही गई हो कि 'केवल वर्तमानका आनन्द लो, आनेवाले कलकी चिन्ता न करो।'

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

[ जबतक मनुष्य जिए, सुखसे जिए और उसके लिये आवश्यकता पड़े तो ऋण लेकर भी घी पिए । ] चार्वाक्का यह सिद्धान्त और उमर खय्यामकी रुबाइयाँ इसी श्रेणीमें आती हैं। योरोपके पुनर्जागरण-कालमें भी जो बहुतसे प्रेम-गीत और प्रगीत लिखे गए वे सब इसी श्रेणीमें आते हैं। इसी मतका समर्थन करते हुए इङ्गलैण्डवासी हैरिकने भी कहा है—'तुमसे जितनी गुलाबकी कलियाँ इकट्ठी करते बने, अभी कर लो।' यह दार्शनिक सिद्धान्त शुद्ध रूपसे व्यक्तिगत है, जिसे मस्तीवाद कह सकते हैं। इसमें वर्त्तमानको अच्छा या बुरा न बताकर केवल वर्त्तमानमेंसे आनन्द ढूँढ़ निकालकर भोगनेकी बात कही गई है। किन्तु हम जिन वर्त्तमानवादियोंकी चर्चा कर रहे हैं, वे केवल वर्त्तमान युगको ही ठीक, ज्ञान-सम्पन्न, श्रेष्ठतर तथा आदरणीय समझते हैं और इसलिये कि 'वर्तमान युग सब बातोंमें प्राचीन युगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतम है।'

## प्राचीन साहित्य श्रेष्ठ या नवीन ?

योरोपीय साहित्यमें विशेषत: इटली और फ्रान्सके साहित्य-जगत्में एक कलह प्रारम्भ हुआ जो बीचमें सन् १७०० से १७१३ तक थोड़े दिनोंके लिये शान्त रहकर सन् १६८७ से लेकर १७१६ तक निरन्तर व्याप्त रहा। सोलहवीं शताब्दिमें इटली और फ्रान्सके निवासियोंमें यह व्यापक धारणा हो चली कि अपने देशी साहित्यको अधिक मान और आदर प्रदान करना चाहिए। इसका प्रधान कारण यह था कि धर्म और देशभक्तिकी भावना उस समयतक विशेष रूपमें समुन्नत हो चुकी थी। सत्रहवीं शताब्दिमें जब एलेसान्द्रो तासोनीने सन् १६१२ में अपनी 'पेन्सिएरी दिवेर्सी' नामक पुस्तकके नवें खण्डमें अर्योस्तो और तासोको होमर और वर्जिलसे श्रेष्ठतर बताया और सन् १६२० में उसी पुस्तकके दसवें खण्डमें यह घोषित किया कि विज्ञान, शिल्प, कला और साहित्य सबमें वर्त्तमान इतालवी लोग सबसे आगे बढ़ गए हैं तब सहसा यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि अर्योस्तो और तासोमें कौन श्रेष्ठ है। फ्रान्सीसी अकादमीके सदस्य बोद्यूँने संयोगसे तत्काल पेन्सिएरीका अनुवाद भी कर डाला। उस अनुवादसे प्रेरणा पाकर बोद्यूँके मित्र बोएरौबर्त (१६३३) ने फ्रेन्च अकादमीमें होमरकी निन्दा करते हुए कहा कि 'मेरे अपने नाटक असफल ही इसीलिये हुए कि मैं इन प्राचीन कवियोंका बड़ा

आदर करके उनके आदर्शोंके फेरमें पड़ा रहा।' बोएरौबर्तके मित्र देमारे दे सन्त सोर्लींने ब्वालोद्वारा अपने ईसाई महाकाव्य 'क्लोविस' (१६५७) की अपस्तुतिसे क्षुब्ध होकर अपने चार निबन्धोंमें (१६६६ से १६७५ तक) यूनानियों और रोमनोंपर बड़ा आक्षेप किया और यह घोषणा की कि 'रोमी और यूनानी बहुदेववादी कथाओंका बहिष्कार करके उनके बदले ईसाई कथाएँ चलाई जायँ और वर्त्तमान कवियोंको प्रोत्साहन दिया जाय।' अपने अन्तिम छन्दोमय सन्देशमें उसने यह कार्य चार्ल्स पैरोल्तको सौंप दिया।

कुछ थोड़ेसे छिटपुट प्रभावहीन आक्षेपोंके पश्चात् पैरोल्तने जनवरी सन् १६८७में फ्रान्सीसी अकादमीमें ही 'ल सिएकिल द लुई ल ग्रान्द' शीर्षक कविताको लेकर विवाद छेड़ दिया, जिसमें प्राचीन उदात्त काव्योंकी प्रशंसा तो थी किन्तु उनके लिये पूज्य-बुद्धि नहीं थी। उस विवादमें लगभग नौ महीनेतक वह फ्रान्सीसी कवि 'फ्रांश्ये दि कैलिएरे' श्रेष्ठताका पक्ष निबाहता रहा। अन्तमें एक विवेकपूर्ण निर्णयके साथ उसने अपना विवाद समाप्त किया, जो उसका ही नहीं वरन् उस युगके अत्यन्त प्रतिभाशाली तथा विद्वान् साहित्यिक नेताओं (ब्वालो, रासीन, ला फौन्तेन, ला ब्रूये, फ़ैनेलौँ, हुए, दाशिए आदि उसके दलवालों) का भी निर्णय था कि 'प्राचीन लेखकोंका विवेकपूर्ण अनुकरण वास्तवमें प्रकृतिका अनुकरण है, इसलिये उचित है : चाहिए तो यह कि प्राचीन ग्रन्थोंसे ही विषय लेकर और उनमें अर्थों और रूपोंकी नवीन योजना करके उन्हें नया बनाकर उनका अनुकरण किया जाय : अरस्तूके नियमोंका अवश्य पालन किया जाय क्योंकि प्रतिभाके लिये नियन्त्रण आवश्यक है और प्राचीन नियम निश्चित रूपसे अभीतक सर्वश्रेष्ठ हैं : बहुतसे वर्त्तमान लेखक यद्यपि प्राय: प्राचीन लेखकोंके समकक्ष तो पहुँच गए हैं किन्तु उन्हें यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि वे प्राचीन लेखकोंसे आगे बढ़ जायँ।' पैरौल्तने 'प्राचीन और वर्त्तमानकी तुलना' (पेरेलैल एन्त्रे ला एन्शें एत ला मौदर्ने, १६८८-९७) में विस्तृत किन्तु आडम्बरपूर्ण ज्ञानका ढकोसला लेकर यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि आजका लेखक पुराने लेखकोंसे कहीं अधिक सज्ञान और कुशल है यद्यपि अन्तमें उसने यह भी स्वीकार किया कि साहित्यके सम्बन्धमें बहुत अधिक शास्त्रार्थ उचित नहीं होता।

उसका प्रधान साथी बर्नार्द द फ़ौन्तेनेल पहले ही 'दायलाग द मौर्त, १६८३' में इस प्रश्नको भली-भाँति लपेट चुका था किन्तु १६८८ में उसने

'दायग्रेशन सुर ला एन्शों एत ला मादर्नें' में अत्यन्त गम्भीरताके साथ इस प्रश्नको पुन: छेड़ा और पेरौल्तके ही समान वर्त्तमान लेखकोंकी श्रेष्ठताके लिये केवल ज्ञानकी दुहाई दी। यद्यपि प्राचीन भाषाओं तथा साहित्योंकी समीक्षाके लिये उसके पास बहुत कम सामग्री थी किन्तु विज्ञानका अत्यन्त विदग्ध और चतुर अग्रदूत होनेके कारण उसने विद्वानोंकी संस्थाओं और गोष्ठियोंको बहुत प्रभावित किया। उधर १६९४ में 'रिफ्लक्शियों सुर लौंगी' में ब्वालोने सिद्ध किया कि 'पेरौल्तको 'प्राचीन उदात्त काव्यकी समीक्षा करनेका तनिक भी विवेक नहीं था।' उसने प्राचीन कवियोंकी महत्ताका 'निश्चित और अकाट्य प्रमाण' यही बताया कि 'विभिन्न पीढ़ियोंने उनका समर्थन किया है।' किन्तु उनके पीछे ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें उन्नति हो जानेके कारण आजके लोग कितने ज्ञान-सम्पन्न हो गए हैं, इस बातको ब्वालोने टाल दिया। सन् १७००में ब्वालोने एक खुली चिट्ठी प्रकाशित करके यह विवाद समाप्त किया जिसमें ब्वालोने स्वीकार किया कि 'हमारी शताब्दि (१७ वीं शताब्दि) प्राचीन युगकी किसी भी एक शताब्दिसे अधिक महान है और यह भी कहा कि प्रत्येक प्रकारके साहित्यका अपना स्थान और समय होता है।'

इसी बीच सन्त ऐवरेमौन्द्ने देश-निकालेकी दशामें यह झगड़ा इंगलैण्डमें ला खड़ा किया जहाँ सन् १६९० में सर विलियम टेम्पिलने तत्कालीन फ्रान्सीसी वर्त्तमानवादियोंको बहुत जमकर फटकारा, यद्यपि उसकी फटकारमें तथ्य बहुत कम था। उसने वर्त्तमान विज्ञान तथा साहित्यके सम्बन्धमें कुछ ऊटपटाँग बातें लिखकर अपने पक्षका प्रतिपादन किया, जिसके अधिकांश तर्क ईसप और 'फ़लारिसके पत्र' (एपिस्टल्स औफ़ फलारिस) पर आश्रित थे जिन्हें वह भूलसे मौलिक समझता था। इस भयङ्कर भूलसे अन्य बातोंपर भी लोगोंका ध्यान गया, जिसके परिणाम-स्वरूप प्राचीनतावादके समर्थक अत्यन्त उद्भट विद्वान् वौटन और बैन्टलेने सर विलियम टैम्पिलके मतका खण्डन किया। 'कैलिएरेसे प्रेरणा' पाकर और टैम्पिलमें भक्ति होनेके कारण स्विफ़्टने 'पुस्तकोंकी लड़ाई' (बैटिल औफ़ दी बुक्स) में फलारिसपर आक्रमण तो किया किन्तु फिर भी उसने प्राचीनतावादियोंकी प्रशंसा करते हुए अनुकरण तथा कविताकी प्रकृतिपर अत्यन्त बुद्धिसङ्गत बातें कहीं हैं। देमार्तें और पैरौल्तने जब 'ईनीड' पर आक्रमण किए और ड्राइडन उसका पक्ष लेकर लड़ रहा था, उसी समय बेन्टलेकी विजयके पश्चात् १७०४ में 'पुस्तकोंका

युद्ध' ( बैटिल ) प्रकाशित हुआ और उसीके साथ अंग्रेज़ोंका विवाद समाप्त हो गया।

फ्रान्समें फिरसे यह विवाद होमरको लेकर उठ खड़ा हुआ। सन् १७१३ में हाउदार्द द ला मोतेने मदाम देशिएके लिखे हुए गद्यमय 'ईलियाद' के अनुवादको पद्यबद्ध किया। वह स्वयं यूनानी भाषा जानता नहीं था। इस प्रयासमें उसने काट-छाँटकर ईलियादको बारह खण्डोंमें बाँट दिया और तत्कालीन लोक-गोष्ठियोंकी रुचिके अनुसार उसमें 'सुधार' भी कर दिए। उस पोथीके प्रारम्भमें ल मोतेने जो 'होमरकी व्याख्या' ( दिस्कोर्स सुर हमेरे ) नामकी भूमिका लिखी उसपर मदाम देशिए बड़ी बिगड़ीं और उन्होंने केवल ल मोतेके विचारोंका ही खण्डन नहीं किया वरन् उसके उस तथाकथित अनुवादकी भी भर्त्सना की। ल मोते भी क्यों चुप रहता? उसके प्रत्युत्तरसे यह झगड़ा और भी तूल पकड़ गया। इसी बीच द आउबिग्नाकने यह घोषणा कर दी कि होमर नामका कोई व्यक्ति ही नहीं था। उधर तेरासानने एक नया सिद्धान्त प्रचारित कर दिया कि संसारमें निरन्तर एक अपरिहार्य प्रगति होती चलती है। इस सिद्धान्तको उसने होमरकी उस 'कटनी-छँटनी' के साथ जोड़कर वर्त्तमान युगके लेखकोंकी प्रशंसा करते हुए ल मोतेको बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह झगड़ा न जाने कहाँतक बढ़ता किन्तु इसी बीच अत्यन्त कट्टर किन्तु उदार प्राचीनतावादी फ़नेलाँने दोनों पक्षोंको समझा-बुझाकर मदाम देशिए और ल मोतेमें सन्धि करा दी और यह मूल कलह सन् १७१६में समाप्त हो गया।

## अतीतवाद और वर्त्तमानवाद

वर्त्तमानवादी लेखक मुख्यत: विचारोंको तथा विकास या प्रगतिके सिद्धान्तको प्रधान मानते हैं। विशेषत: देकार्त्तके इस विचारको वे अधिक मान्य समझते हैं कि 'बुद्धिसङ्गत बात ही सर्वग्राह्य है, उसीका आदर करना चाहिए और जो बीत चुका है, अतीत है, वह उपेक्षणीय है।' इनमें तासोनी यद्यपि देकार्त्तसे पहले हुआ था किन्तु वह भी रूढिवादका अत्यन्त विरोधी था और वह युक्ति, तर्क तथा बुद्धि-सङ्गततामें विश्वास करता था। वह कहता था कि प्रगति भी विभिन्न पीढियों-द्वारा होती है और होनी चाहिए, किसी एक युग-द्वारा नहीं। देमारेने 'प्रगतिमें जो अपना विश्वास व्यक्त किया है उसका

कारण यह था कि वह पापके मूल अस्तित्वमें विश्वास करता था और निराशावादी था अर्थात् वह यह मानता था कि 'सभी व्यक्ति मूलतः पापी होते हैं, अतः संसारमें किसी मनुष्यको पापके कारण दण्ड नहीं देना चाहिए।' पैरौल्ट भी देकार्त्त और पास्कलका अनुयायी था और वह अर्वाचीनवादियोंको ही वास्तविक प्राचीन समझता था। उसका विश्वास था कि 'मानव जातिको एक ऐसा अनादि मनुष्य समझना चाहिए जो निरन्तर बढ़ता जा रहा है यद्यपि अनिश्चित रूपसे नहीं।' उसका यह भी विश्वास था कि 'बुद्धि और प्रतिभाकी धारा अब पूर्णत्वको प्राप्त हो गई है' यहाँतक कि साहित्यके सम्बन्धमें भी उसकी धारणा थी कि 'ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, ज्यों-ज्यों मनुष्यके मन और हृदयका विकास होगा, त्यों-त्यों साहित्य भी बढ़ेगा।' फ़ौन्तेलेन और उसके दलवाले भी प्राण-पणसे इस सिद्धान्तके विरोधी थे कि 'साहित्यका क्रमिक ह्रास हो रहा है।' फ़ौन्तेनेल मानता था कि 'प्रकृतिकी शक्तियाँ नित्य हैं और सब युगोंमें मनुष्यकी प्रतिभा समान रहती है जिसे ईश्वर और मनुष्य कभी-कभी बाधा देकर कुंठित तो कर देते हैं, किन्तु फिर भी उसमें नियमित विकास होता ही रहता है।' तेरासोँ यह नहीं मानता था कि ज्ञानको कला और समाजसे पृथक् कर दिया जाय, इसीलिये अट्ठारहवीं शताब्दिमें उसने 'पूर्ण पूर्णता'का सिद्धान्त घोषित किया अर्थात् यह माना कि 'सब युगोंमें सब ज्ञान पूर्ण रहता है।' किन्तु साथ ही फ़ौन्तेनेल और वौटनने विज्ञान और साहित्यका भेद स्वीकार करते हुए यह बताया कि 'विज्ञान तो अधिकाधिक प्रमाणों और अत्यन्त कठोर परीक्षणोंके कारण धीरे धीरे चलता है किन्तु साहित्य तो कल्पना-प्रसूत होता है अतः वह समृद्ध भाषाके सहारे वेगसे बढ़ता चलता है।' फ़ौन्तेनेलका विश्वास था कि साहित्यके विकासमें प्राचीन लोग अधिक गतिशील थे, उधर वौटन वर्त्तमान ज्ञानका प्रशंसक था।

### काव्य भी निम्न कोटिका विज्ञान

साहित्यिक समीक्षाके नाते फ़्रान्सीसी प्राचीनतावादी लोग विद्या और निर्णयात्मक शक्तिको अधिक महत्त्व देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस अधिकारकी प्रभुताके कारण कलाकी परिधि संकुचित कर दी और काव्यकी समीक्षा करते समय निरर्थक तथा ऊटपटाँग युक्ति, तर्क, सुन्दर अर्थ तथा भावकी गढ़ी खड़ी करने लगे। किन्तु उन्होंने मिलकर दुबैलेके इस

विश्वासको स्वयं अपनी रचनाओंसे सिद्ध किया कि 'फ्रान्सवासी लोग प्राचीन साहित्यसे पुष्ट होकर भी उसके समान या उससे बढ़कर रचना कर सकते हैं और उनमें यह विवेक भी होता है कि वे अच्छे और बुरे काव्यमें ठीक पहचान कर सकें।' इधर वर्त्तमानवादियोंने प्रतिभाशीलता और पल्लवग्राहिताका तथा गोष्ठीशिष्टाचार तथा सुन्दरताका गड़बड़-घोटाला करके काव्यको भी निम्न कोटिका विज्ञान बताना प्रारम्भ किया और इस प्रकार लगभग एक शताब्दितक उन्होंने प्राचीन उदात्त काव्योंका शिक्षण ही रोक दिया। किन्तु उन लोगोंकी यह विजय इतनी घातक सिद्ध हुई कि काव्यमें एक विचित्र प्रकारका रचनात्मकताहीन अनुकरण दिखाई देने लगा जिसमें एक तो अधिकारका दम्भ बहुत था और दूसरे, प्रगतिके नामपर विकासका बड़ा ढिंढोरा पीटा गया था।

## वर्त्तमानवादियोंका प्रभाव

फ्रान्सीसी स्वैरवादी भी इन वर्त्तमानवादियोंसे बड़े प्रभावित हुए, पर उतने नहीं जितना लोग समझते हैं। महाकाव्यकी रचनामें देमारेने और लोककाव्य लिखनेमें फौन्तेनेलने प्राचीन नियमोंके बदले अपने नियम और अपनी रूढ़ियाँ बनाईं। 'क्रौमवेल' ग्रन्थकी भूमिकाने इन सब नियमोंको धो बहाया और कल्पनाको स्वच्छन्द विचरणके लिये मुक्तिपत्र दे दिया। प्राचीनतावादियों और वर्त्तमानवादियोंके कलहका यह अवश्यम्भावी परिणाम था, किन्तु वर्त्तमानवादी लोग स्वयं कल्पनाके इतने पक्षपाती नहीं थे जितने प्राचीनतावादी थे। ये वर्त्तमानवादी लोग नियमोंसे भी छुटकारा नहीं पाना चाहते थे। वे तो केवल यही चाहते थे कि 'जो बात कही जाय वह बुद्धिसङ्गत और तर्कसङ्गत हो तथा रूढिके बन्धनोंसे जकड़ी न होकर नये युगके महत्त्वसे ओत-प्रोत हो।'

## भारतमें नव्य-प्राचीन द्वन्द्व

हमारे यहाँ भी इस प्रकारका शास्त्रार्थ हुआ था किन्तु वह यहाँपर किस प्रकार हुआ इसका कोई विवरण हमें प्राप्त नहीं है। यह कलह जिस किसी रूपमें भी यहाँ विद्यमान था उसका सङ्केतमात्र महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटककी पूर्वरङ्ग-प्रस्तावनामें इस प्रकार दिया है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते ,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

[ पुराने होनेसे ही न तो सब अच्छे होते हैं, न नये होनेसे बुरे। समझदार लोग तो दोनोंको परखकर, उनमेंसे अधिक अच्छेको अपना लेते हैं और जिन्हें समझ नहीं होती, वे तो जैसा दूसरे समझा दें, वही ठीक मान बैठते हैं। ]

कालिदासका यह निर्णय पुराने-नयेके कलहका सब कालके लिये सर्वश्रेष्ठ उत्तर है क्योंकि अच्छे और बुरेका निर्णय तो हम अपने विवेकसे करते हैं और यह विवेक हमारी रुचिके संस्कारपर अवलम्बित होता है। जो लोग इस कारण किसी वस्तुको 'अच्छा' या 'बुरा' मान लेते हैं कि 'लोग ऐसा कहते हैं' उनमें व्यावहारिक या सामाजिक रुचिका पूर्ण अभाव होता है। अतः न तो केवल व्यक्तिगत रुचि अर्थात् 'मुझे यह अच्छा लगता है' ही समीक्षणकी उचित कसौटी है न यह सामाजिक रुचि ही कि 'लोग उसे अच्छा मानते हैं।' समीक्ष्यवादीको इस व्यक्तिगत और समाजिक रुचिको इस प्रकार संस्कृत और सिद्ध करना चाहिए कि वह प्राचीन और नवीनकी श्रेणी बाँधकर उसपर विचार न करके वास्तविक गुण-तत्त्वके अन्वेषण और अन्वीक्षणके अभ्याससे मँजी हुई सन्तुलित तथा विवेकशील रुचिके आधारपर साहित्यिक कृतियोंका समीक्षण करे और उनकी श्रेष्ठताका निर्णय करे।

अतः स्वाभाविक प्रश्न यह उठ जाता है कि 'रुचि किसे कहते हैं।'

## रुचि किसे कहते हैं?

हम जिसे रुचि कहते हैं उसे अँगरेजीमें टेस्ट, इटली और स्पेनमें गस्तो, फ्रान्समें बूत और जर्मनीमें गेशमाक् कहते हैं। इटली और स्पेनमें इस शब्दका लाक्षणिक अर्थ है आनन्द, विनोद और झुकाव ( प्रवृत्ति )। स्पेनके प्रसिद्ध विचारक तथा नीतिवादी बाल्थासर ग्राशियाँने सत्रहवीं शताब्दिके मध्यमें इस शब्दका प्रयोग एक विशेष सात्त्विक शक्तिका बोध करानेके लिये किया था। किन्तु जिस उक्तिमें उसने रुचि ( गस्तो ) शब्दका प्रयोग किया है वहाँ उसका अर्थ चतुर व्यक्ति ही है ( हौम्ब्रे द बुएँ गस्तो )। सौन्दर्य-शास्त्रके क्षेत्रमें बू हाउके सत्प्रयोगसे यह शब्द फ्रांसमें व्यवस्थित रूपसे चलने लगा। ला ब्रूएँने अपने 'चरित्र' ( कैरेक्तरे, १६२८ ) ग्रन्थमें जब यह घोषित किया कि

'कलाओंमें पूर्णताकी समझ किसीमें हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, तब इसी बातपर शास्त्रार्थ छिड़ा कि सुरुचि और कुरुचि किसे कहते हैं। यह 'रुचि' शब्द अगली शताब्दितक इतना व्यापक हो गया कि सौन्दर्य-विवेचन और समीक्षामें इसका धुआँधार प्रयोग होने लगा और 'समीक्षात्मक रुचि', 'निर्णयात्मक समीक्षा' और 'समीक्ष्यवादीकी रुचि और निर्णय' में इस शब्दका व्यवहार विशेषत: जर्मनी और इङ्गलैण्डमें विस्तारसे होने लगा। किन्तु 'रुचि' शब्दका स्वत: अपना अथवा अन्य शब्दोंके सम्पर्कमें क्या अर्थ होता है यह भ्रान्ति वहाँ बनी ही रही, क्योंकि एक तो विभिन्न शब्दोंके साथ उसके बहुतसे अर्थ लगा लिए गए; दूसरे, असावधानी और अव्यवस्थित ढङ्गसे इसका प्रयोग होने लगा। फिर भी बहुतसे विद्वानोंने रुचि शब्दकी कुछ परिभाषाएँ निर्धारित की हैं।

## रुचिकी परिभाषा

बाल्दिनुचिच ( १६८१ ) ने 'रुचि' को 'प्रत्येक कलाकारकी काम करनेकी रीति' बताया है। आजकल लियोनैलो वेन्तूरीने भी रुचिकी व्याख्या लगभग इसी परिभाषासे मिलती-जुलती करते हुए 'रुचि' को 'किसी कलाकृतिके तत्त्वोंका योग' बताया। किन्तु 'रुचि' शब्दका यह प्रयोग कुछ विशिष्ट है जो आजकल 'शैली' शब्दसे अभिव्यक्त किया जाता है।

'मान्य रुचि'के वे विभिन्न अर्थ प्रमुख हैं जो 'कलाकृतियोंके प्रशंसन तथा स्वयं-प्रेरित अनुभवसे' रुचिका गठबन्धन करते हैं। इनमेंसे दो अर्थोंको भली प्रकार सावधानीसे समझ लेना चाहिए —

१. किसी वस्तुको अधिक चाहनेकी स्थितिको रुचि कहते हैं।

२. प्रकृति या कलामें सौन्दर्यको ढूँढ़ निकालने और उसका अभिप्रशंसन करनेको रुचि कहते हैं।

ऐडीसनने अपने एक छोटेसे निबन्धमें इन दोनों अर्थोंमें रुचिका स्पष्टीकरण किया है—

१. 'इङ्गलैण्डमें हम लोगोंकी व्यापक रुचि, सूक्ति (ऐपिग्राम), वाग्वैदग्ध्य ( विट ) तथा अत्यन्त आत्म-श्लाघाकी है।'

२. रुचि 'आत्माकी वह वृत्ति है जो किसी ग्रन्थकारके सौन्दर्यको

अनुराग तथा आनन्दके साथ और उसकी त्रुटियोंको विरतिके साथ समझे और पहचाने।' ( स्पैक्टेटर, ४०९ )।

इनमेंसे प्रथम परिभाषाके अनुसार रुचिका अर्थ है बिना कोई कारण दिए किसी वस्तुको चाहना या औरोंसे अच्छा समझना। किन्तु दूसरी परिभाषाके अनुसार 'रुचि कुछ सीमातक बुद्धि-सङ्गत या विवेक-पूर्ण प्रक्रिया है।' यही मत ह्यूम और कौलरिजको भी मान्य था और निर्णय तथा समीक्षाके अधिकांश प्रसङ्गोंमें यही अर्थ प्रयुक्त भी हुआ है। टी० एस्० ईलियटने कहा है—

'समीक्षाको........सदा अपनी दृष्टिमें कोई उद्देश्य रखकर चलना चाहिए जिसे हम मोटे रूपसे 'कला-कृतियोंका स्पष्टीकरण और रुचिका परिष्कार' कह सकते हैं।' कान्टका मत था कि अच्छाई या बुराईका सात्त्विक ( सब्जेक्टिव ) आधार होते हुए भी रुचि सार्वभौम हो सकती है।' विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रकारके मनुष्योंके अनुसार वह तत्सापेक्ष्य भी हो सकती है इसलिये वह पूर्ण नहीं मानी जाती। नवोदात्तवादी सर्मीक्ष्यवादी कहते हैं कि 'रुचि शाश्वत रूपसे स्थिर सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है।'

## रुचि और निर्णयमें भेद

कभी-कभी कुछ लोगोंने निर्णयको भी रुचि या रुचिका परिणाम समझ लिया है। इसीलिये रुचिके उपर्यंकित दो अर्थोंसे मिलते-जुलते निर्णयके भी दो अर्थ प्राप्त होते हैं—

१. 'निर्णय वह इन्द्रियात्मक सौन्दर्यभावित प्रक्रिया है जो युक्तिसङ्गत विचार-द्वारा सञ्चालित नहीं होती।'

इस सम्बन्धमें स्वयं कान्टने यह समझाया है कि 'रुचिका निर्णय सम्प्रज्ञानका निर्णय नहीं होता और इसीलिये वह तर्कसङ्गत न होकर केवल सौन्दर्यात्मक होता। है इससे हम यह समझ सकते हैं कि उसका निर्णायक आधार केवल सात्त्विक या आन्तरिक है।' जब क्रोचे और उसके अनुयायी लोग रुचिको 'निर्णय-प्रक्रिया' ( जुडीशल एक्टिविटी ) या निर्णय करनेकी वृत्ति कहते हैं तब वह निर्णय 'इन्द्रियोंका' होता है और उसका कोई सम्बन्ध सम्प्रज्ञानसे नहीं होता। इस प्रकारका निर्णय केवल सात्त्विक प्रकारोंकी समीक्षामें ही मुख्य होता है या यह कह सकते हैं कि अधिकसे अधिक जिस समीक्षाको तर्कपूर्ण मूल्याङ्कन कहते हैं उसका यह अत्यन्त प्रारम्भिक रूप है।

२. गम्भीर तथा तर्कयुक्त रीतिसे अच्छे और बुरे तथा श्रेष्ठतर और निकृष्टतरके बीच विवेक करना ही निर्णय है। बर्कने कहा ही है—'कलाओंमें निर्णयकी शुद्धता होनी चाहिए जिसे सुरुचि कह सकते हैं।' इस मतके अनुसार निर्णय और रुचि मूलतः सम्प्रज्ञानात्मक तथा बौद्धिक प्रक्रियाएँ हैं और उन सभी प्रकारकी समीक्षाओंके लिये अपरिहार्य हैं जो मानदण्डोंकी आवश्यकताको अधिक महत्त्व देती हैं।

रुचि और निर्णयके बीच जो दोनों प्रकारके सम्बन्ध दिखाए गए हैं उनमें इस बातपर विचार ही नहीं किया गया है कि तात्कालिक इन्द्रिय-मूलक सौन्दर्य-प्रवृत्ति क्या है और वे सौन्दर्यात्मक तृप्तियाँ क्या हैं जो विचारपूर्ण अन्तर्भावात्मक परीक्षणपर अंशतः अवलम्बित हैं। यह आवश्यक भेद उन परिभाषाओंमें स्पष्ट रूपसे व्यक्त किया गया है जो रुचि और निर्णयको भिन्न समझते हैं और जो 'रुचि'को तात्कालिक सौन्दर्य-भावना तथा 'निर्णय'को विचारपूर्ण सौन्दर्य-भावना समझते हैं। निर्णय और रुचिके इस भेदको समझाने और उसके स्पष्टीकरणके लिये जौन ड्यूईकी प्रणालीके अनुसार हमें कुछ शब्दोंके युग्म लेकर विचार करना चाहिए जिनमेंसे पहला शब्द रुचिका परिचायक हो और दूसरा निर्णयके परिणामका जैसे—इच्छित और स्पृहणीय, प्रशंसित और प्रशंसनीय।

ऐसा कहा गया है कि रुचि और निर्णयकी विभिन्न व्याख्याओंसे समीक्षाके प्रकारोंका निश्चय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसे दूसरे ढङ्गसे यों कह सकते हैं कि समीक्षाके विभिन्न प्रकारोंसे ही यह अधिकांश निश्चय हो जायगा कि उनके अन्तर्गत रुचि और निर्णय इस प्रकारका है और इन तीनों ( समीक्षा, रुचि और निर्णय ) में क्या सम्बन्ध है यह भी निश्चय हो जायगा। यदि समीक्षाका सिद्धान्त प्रभाववादी है अर्थात् यदि समीक्षाका उद्देश्य पूर्णतः यही है कि किसी कलाकृतिकी उपस्थितिमें अनुभव की हुई संवेदनाओंको ही लिख डालें तो रुचि और निर्णय दोनोंको ही अत्यन्त उच्च सात्त्विक स्थितिके अतिरिक्त और किसी प्रकार व्याख्यात नहीं सकता और निश्चित रूपसे निर्णयको तो बुद्धि-सङ्गत विचारपूर्ण परीक्षण कहा ही नहीं जा सकता। यदि हम क्रोचेके मतके अनुसार यह कहें कि 'समीक्षाके सिद्धान्तसे केवल इसी बातकी परीक्षा होती है कि कलाकारने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और किस प्रकार उसे अभिव्यक्त किया है' तो रुचि और निर्णय दोनों ही कलाकारके उद्देश्यको पुनः

निर्णय करनेके लिये समीक्षात्मक साधन बन जायँगे और तब वे यदि पूर्णतः समान नहीं तो कुछ-कुछ प्रतिभाके तुल्य प्रतीत होने लगेंगे। यदि समीक्षा केवल सम्प्रज्ञानात्मक निर्णयपर अवलम्बित समझी जाय तब रुचि गौण हो जायगी और समीक्षक केवल निर्णयको साधन बनाकर यह विचार करेगा कि इस निर्णयके यन्त्र या साधनको किस काममें लगाऊँ।

अतः इन दोनों शब्दोंके सब पारस्परिक सम्बन्धोंपर समीक्षाकी कमसे कम इन मुख्य समस्याओंकी दृष्टिसे तो विचार कर ही लेना चाहिए —

क. नियम, सिद्धान्त तथा मान्यताओंका क्या स्थान है?

ख. अग्राङ्कित प्रकारके मानदण्डोंका सापेक्ष्य मूल्य क्या है? : यान्त्रिक, सौन्दर्यात्मक, ऐतिहासिक, समाजविज्ञानीय और दार्शनिक।

ग. स्पष्टीकरण और अभिप्रशंसनमें तथा व्याख्या और मूल्यांकनमें क्या तुलनात्मक वैशिष्ट्य है?

घ. रूप और विषय-सामग्रीमें किए गए भेदोंका क्या महत्त्व है?

ङ. कलात्मक महत्ता और कलात्मक सत्य दोनोंका क्या स्थान है?

च. सौन्दर्यात्मक मूल्याङ्कनोंपर नैतिक सिद्धान्तोंका क्या प्रभाव पड़ना चाहिए?

रुचि, निर्णय और आलोचनापर जो ऊपर विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग स्वाभाविक रूपसे यह जानना चाहते हैं कि रुचि या निर्णय या समीक्षा वास्तवमें क्या हैं या उनमें परस्पर वास्तविक सम्बन्ध क्या है, उनका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। अतः जो समीक्षक क्रमिक नियमका विधान करते हैं, वे स्पिङ्गार्न जैसे भी सभी व्यक्ति सन्देहके योग्य हैं जो कहते हैं—'जब समीक्षाने बार-बार उठनेवाले इसी प्रश्नका उत्तर देना ही अपना वास्तविक प्रयोजन सिद्ध किया कि 'कविने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है?' तब समीक्षाने अपने लिये एकमात्र सम्भव प्रणाली निर्धारित कर ली।'

## सामाजिक रुचि

पीछे बताया का चुका है कि सामाजिक रुचि वह व्यापक लोक-प्रवृत्ति है जो पहलेके मान्य व्यक्तियों-द्वारा किन्हीं वस्तुओंको सुन्दर, भव्य मानी जानेकी परम्परासे सध गई है और जो इस प्रकार सधते-सधते रूढि बन गई है। अतः इस सामाजिक रुचिको रूढरुचि कहना भी असङ्गत न होगा।

### रूढि

इस रूढरुचि या रूढिके अन्तर्गत वे सब आचार, विचार, व्यवहार, परिपाटियाँ, साहित्यिक विधियाँ तथा अभिव्यक्तिके वे सब अभ्यास हैं, जो पहलेके लेखकोंसे पीछेके लेखक ग्रहण करते चले आते हैं। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि अमुकने अमुक प्रकारकी कृतिमें अमुक परम्परा या रूढिका पालन किया है, जैसे भारतवर्षमें काव्य या नाटकको सुखान्त करनेकी रूढि। इसी प्रकार किसी साहित्यिक रचना-रूपकी भी रूढि बन जाती है जैसे 'दूतकाव्यकी रूढि'। कभी किसी एक विशेष युगकी भी रूढि बनती है जैसे—पौराणिक युगकी परम्पराएँ। किन्तु इनके अतिरिक्त हम व्यापक अर्थमें भी रूढि शब्दका प्रयोग कर सकते हैं, जिसका अर्थ होगा 'अतीतसे चली आती हुई एक अखण्ड अपरिहार्य विकासकी धारा जो बीच-बीचमें विभिन्न युगोंमें कभी-कभी सहसा उठ खड़ी होनेवाली विशेष प्रवृत्तिसे भिन्न रहकर या आकस्मिक किसी रचनाकारकी किसी विशेष वृत्तिसे प्रेरित भावनासे भिन्न होकर भी अपनी निर्बाध धारा आदिसे लेकर अन्ततक ऐसी एक बनाए रखती है, जिसमें रचना-रूप, विषय प्रस्तुत करनेकी शैली, काव्य-रचनाके सिद्धान्त, दार्शनिक तत्त्व, काव्यके उद्देश्य तथा छन्द-प्रयोग आदिकी एक बँधी हुई धारा होती है, जिसमें विभिन्न युगके कवि अपनी विषय-सामग्री, कल्पना, अलंकरण आदि तो विभिन्न रखते हैं किन्तु रूप और प्रभावकी दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं होता।' इसी अर्थमें हम किसी कविकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—'अमुक कविने पूर्ण रूपसे काव्य-परम्पराका पालन किया है' या 'अमुक कवि अमुक परम्पराका प्रतिनिधि है। किन्तु इसीके साथ-साथ हम परम्परा या रूढिका दूसरा अर्थ भी लगा सकते हैं और किसी प्रतिभाहीन तथा केवल अनुकरणशील कविकी निन्दा करते हुए कहते हैं कि अमुक कविने 'केवल' परम्परा निबाही है। इस प्रकार कभी-कभी कविको बुरी रूढिसे भी सम्बद्ध कर देते हैं।

### नवीन तथा प्राचीन कलाओंमें सम्बन्ध

रूढि शब्दके जो बहुतसे अर्थ प्रयोगमें आ रहे हैं उनपर इस दृष्टिसे विचार कर लेना चाहिए कि वर्तमान कलाकार तथा अतीतके कलाकरोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। देखा जाय तो यह सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल है और प्रत्येक लेखकके साथ भिन्न रूपका है, किन्तु फिर भी दो बातें प्रत्यक्ष दिखाई देती है—

१. छोटेसे छोटे या कम-पढ़े लेखकतक भी किसी एक परम्पराके साथ ही चलते हैं। हमारे यहाँ जहाँ एक ओर महा-कवियोंने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण कहे हैं वहाँ साधारण 'कजरी' लिखनेवाले अपढ़ कवि भी 'गनपत-गौरी'के साथ 'सरसुती माई' और 'बरम्हा-बिस्नु-महेस'का 'सुमिरन' करके कजरी लिखते हैं। और फिर वे लिखते तो भाषामें ही हैं और यह भाषा भी वे स्वयं गढ़ते नहीं हैं अतः यह भी मान लेना चाहिए कि उन्होंने जो भाषा पढ़ी या सुनी है वही उनकी रचनामें भी गूँजती सुनाई देगी।

२. दूसरी ओर, कोई भी लेखक, चाहे वह जितना भी अनुकरणशील हो, पूर्ण रूपसे किसी परिपाटीमें आँख मूँदकर समाकर नहीं रहता। वह उसमें निश्चित रूपसे कुछ न कुछ अपनापन या नयापन लाता ही है। इस कार्यमें भाषाकी गतिशील और परिवर्त्तनशील प्रकृति उसे निरन्तर सहायता देती ही रहती है।

अतः यदि हमें किसी लेखकका सम्बन्ध उसकी रूढि या परम्परासे ढूँढ़ना हो तो हमें इन दो बातोंका ध्यान रखना ही पड़ेगा। क्योंकि इस सम्बन्धका अर्थ अग्रांकित दो सिद्धान्तोंके सङ्घर्षमें अवस्थित है—

१. अतीतकी अनिवार्य भावना और

२. वर्त्तमानवालोंको परम्परागत अतीतका वर्णन सुनानेकी आवश्यकता।

अपनी 'परम्परा और व्यक्तिगत प्रतिभा' (ट्रेडिशन ऐन्ड दि इन्डविजुवल टेलैन्ट) नामक पुस्तकमें टी० एस्० ईलियटने कहा है—'परम्परा या रूढि ग्रहण नहीं की जाती, और यदि आप उसे ग्रहण करना ही चाहें तो आपको अत्यन्त परिश्रम करके उसे ग्रहण करना चाहिए।' इसका तात्पर्य यह है कि परम्परागत रूप यदि बिना नई भावनाओं-द्वारा सुधारे प्रयुक्त कर दिया जाय तो वह अपनी मौलिक तीव्रता खो देगा और केवल ढला हुआ ठप्पा भर रह जायगा, या यों कहिए कि किसीके मनसे बनाए हुए नियमोंका अन्धानुकरण-मात्र रह जायगा।

साहित्यिक इतिहासकार इसीलिये रूढिको निरन्तर उस महानदके समान समझता है जिसकी धारा उसे आदिसे लेकर आजतक अखण्ड दिखाई देती है। जब हम रूढिको इतिहास-क्रमकी वृत्तिसे देखने लगते है तब यह समझते हैं कि उसमें कार्य-कारणका कोई ऐसा नैरन्तर्य बना हुआ है जो धाराके साथ सदा ढालकी ओर बहता चलता है। किन्तु नये लेखक इस धारामें वैसे जड़ होकर

नहीं तैरते रहते जैसे बहुतसे काष्ठखण्ड नदियोंकी धारापर उस धाराकी गति और दिशाके अनुसार बहते चले जाते हैं। वे तो मत्स्यके समान धारासे ठीक विपरीत ऊपरकी ओर चढ़ते चले जाते हैं। अतः, वास्तविक अर्थमें परम्परागत लेखकका तात्पर्य यह है कि वह अतीतको भली प्रकार आत्मसात् करनेका कठोर प्रयत्न करे, उसे वर्त्तमानकी दृष्टिसे समझे तथा अतीतके समाधानों और सफलताओंके अनुसार वर्त्तमान समस्याओंका समाधान करे। यदि इस वृत्तिके विपरीत, कोई बिना समझे और बिना विचारे अतीतका अनुकरण करे तो उससे ऐसे युगखण्डोंका निर्माण भले ही हो सकता है जिसका वर्त्तमानसे कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता और जो बाहरी समानताके अतिरिक्त वास्तवमें अतीतसे सम्बद्ध भी नहीं होता।

अतः प्रत्येक नई कृतिकी रचना इस बातमें सदा रूढि-विरोधी होती है जब कोई लेखक यह कहता है कि "मैं तो 'प्राचीन रूढिकी ओर ही लौट रहा हूँ।' इसी दृष्टिसे स्वैरवादी कवियोंने अपने समकालिक युगकी परम्पराओंका तिरस्कार करते हुए यह घोषणा की थी कि 'हम लोग तो साहित्यकी मुख्य धाराके साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं।' इसी प्रकार बिम्बवादियोंने भी अपना मत घोषित करते हुए कहा था कि 'हम तो केवल उन परम्परागत सिद्धान्तोंको ही पुनः प्रतिपादित कर रहे हैं, जो लुप्त हो गए थे या पिछड़ गए थे।' "

## रुचिका व्यापक आधार

यह रुचि चाहे व्यक्तिगत हो या सामाजिक अर्थात् रूढ हो किन्तु मूलतः वह किसी व्यक्तिकी रुचि ही होगी। इसलिये अच्छा यही है कि इस रुचिके आधारका ही अन्वेषण कर लिया जाय। यह साधारण अनुभवकी बात है कि कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट पुरुष, स्त्री, वस्तु तथा स्थानको देखकर तभी आकृष्ट होता है जब वह कुतूहल-जनक हो। कुतूहल-जनक होनेके लिये उसमें कोई विलक्षणता, अलौकिकता, विशेषता, असामान्यता, असाधारणता होनी चाहिए।

मनोविज्ञानके आचार्योंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी भी वस्तुमें तन्मयता प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति मनकी एकाग्रता आवश्यक है, मनकी एकाग्रताके लिये उस वस्तुमें रुचि अपेक्षित है, रुचिके लिये उस वस्तुमें कुछ कुतूहल होना चाहिए और कुतूहल केवल उसीमें हो सकता है जो सुन्दर,

असाधारण तथा अद्भुत हो। जबतक उस वस्तुमें इन गुणोंमेंसे एक, दो या तीनों नहीं होंगे तबतक उसमें तन्मयता नहीं होगी, तबतक उस वस्तुका वास्तविक आनन्द या रस नहीं मिल सकता। अतः रस या आनन्दका मूल सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतता ही है। इसी सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतताका चरम रूप आदर्श हो जता है। यह आदर्श जितना अधिक उत्कृष्ट होगा, उतनी ही अधिक उसके प्रति आत्मीयता होगी। इसलिये लोक-रुचिको आकृष्ट करनेके निमित्त साहित्यमें सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतताका समावेश कवि करता ही है।

## आदर्शवाद

बहुतसे आचार्योंका मत है कि साहित्य आदर्शवादी होना चाहिए, अर्थात् उसमें किसी विशिष्ट पुरुषके गुणोंका इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया जाना चाहिए कि जीवनकी अनेक विषमताओंके होते हुए भी सब परिस्थितियोंमें उसका व्यवहार असाधारण हो, किन्तु इस असाधारणतामें परहित, आत्मत्याग तथा लोक-मङ्गलकी ही भावना निहित होनी चाहिए। बहुतसे लोग इस आदर्श कहे जानेवाले असाधारणको असत्य तथा काल्पनिक समझते हैं किन्तु वे नहीं समझते कि वास्तवमें जो कुछ साधारण यथार्थ हम देखते हैं उसीमें जब कोई असाधारणता आ जाती है तब उस असाधारणताके कारण उसके प्रति आकर्षण हो जाता है। इसी असाधारणतावाला व्यक्ति आदर्श पुरुष हो जाता है, उसके कार्य आदर्श कार्य हो जाते हैं और उस व्यक्ति तथा उसके कार्योंके आधारपर जो साहित्यिक रचना की जाती है वह आदर्श काव्य या आदर्शवादी कहलाने लगती है। वास्तवमें वह भी होता तो है यथार्थ ही किन्तु वह असाधारण, अलौकिक, असामान्य यथार्थ होता है। हमारे ही युगमें महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने अकिञ्चन परिवारमें जन्म लेकर भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी महती संस्थाकी सृष्टि की और इस असाधारण कार्यसे आदर्श बन गए। उनका अस्तित्व, उनके कार्य सब सत्य और यथार्थ हैं किन्तु साथ ही आदर्श भी हैं।

तथ्यमें आदर्शवाद रचनाकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो प्रत्येक रचनामें कवि चार परिस्थितियोंका वर्णन करता है—

१. क्या हो चुका है ?
२. क्या हो रहा है ?
३. क्या हो सकता है ? और
४. क्या होना चाहिए ?

इनमेंसे प्रथम और द्वितीय वास्तवमें यथार्थवादी हैं जो केवल भूत और वर्त्तमान घटनाओं या व्यापारोंका लेखा उपस्थित करती हैं। किन्तु यह भूत और वर्त्तमानका लेखा काव्यका नहीं, इतिहासका विषय है। जो हुआ या हो रहा है वह हमारे पूर्वजोंके समाजका या हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है, उसमें कविको विचार करने, निर्णय करने या सन्देश देनेका अवकाश ही कहाँ है और फिर जो वस्तु सबकी प्रत्यक्ष अनुभूत हो उसे लोकके सम्मुख उपस्थित करनेमें कुतूहल ही क्या है ? इसीलिये असाधारण या अलौकिकके प्रति कौतूहल जागरित करना ही कविका कार्य रह जाता है।

### यथार्थवाद

यथार्थवादियोंका यह मिथ्या आरोप है कि 'प्राचीन ग्रन्थकारोंने केवल राजा-रानियों या सामन्तोंके ही गीत गाए हैं, जन-साधारणके प्रति उन्होंने उदासीनता दिखाई है, उनके जीवन और आचरणकी उन्होंने सदा उपेक्षा की है, उनकी व्यथा और पीड़ाको उन्होंने स्पर्श नहीं किया, उनकी रुचि, वृत्ति, प्रवृत्ति और आकांक्षाका उन्होंने आदर नहीं किया।' यथार्थवादका जो आन्दोलन फ्रान्समें रूसो, वौल्तेया और दिदरोने प्रारम्भ किया उसमें मूल प्रवृत्ति यही थी कि 'जितना कुछ रूढ है, परम्परागत है, वह सब थोथा, निरर्थक, हानिकारक, और समाजकी उन्नतिमें घातक है, उसका पालन करनेका अर्थ है केवल कुछ थोड़ेसे गिने-चुने लोगोंके हाथमें विशाल जन-समूहका भाग्य सौंपना, अत: उसका सामूहिक विरोध होना चाहिए, समानताके आधारपर नई सृष्टि होनी चाहिए, नई शिक्षा होनी चाहिए, और नया समाज बनना चाहिए, जिसपर केवल एक विशिष्ट स्वार्थी वर्गका प्रभुत्व न होकर सब लोगोंका समान अधिकार और समान प्रतिनिधित्व हो।' इन लोगोंने जहाँ समाजके धनी वर्ग और राज्याधिकारियोंको चपेटा, वहाँ उन्होंने धर्म-गुरुओंकी भी भरपेट भर्त्सना की और अन्धविश्वास तथा रूढिके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा खड़ा कर दिया। इन्हींके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दिमें फ्रान्सीसी

उपन्यासकारोंका तथ्यवादी या निसर्गवादी दल उत्पन्न हुआ जिनमें गौनकोर बन्धु, एमील ज़ोला, गाइ दे मोपासाँ, एल्फ़ौंज़े दौदे और जोरी कार्ल हिल्माका नाम उल्लेखनीय है। ये अपनेको प्रसिद्ध निसर्गवादी स्तैन्धौल बालज़क और फ़्लाउबेका शिष्य बताते हैं। इन सबका कहना है कि 'हमें अपने काव्योंमें जीवनकी वास्तविकताओंका उसी शुद्धता और सटीकतासे वर्णन करना चाहिए ( जैसे रूपकार अपने चित्रक यन्त्रसे रूप खींचता है ) और कलात्मक चित्रणका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिए। इस निसर्गवादकी झोंकमें इन लोगोंने ऐसी विचित्र शैली और पदावलीमें रचना प्रारम्भ कर दी कि इसकी समाप्तिके पश्चात् एक लब्ध-प्रतिष्ठ फ्रान्सीसी विद्वानने केवल इसकी पदावलीका अर्थ समझानेके लिये एक नये कोशका निर्माण किया था।

इन लोगोंने यथार्थ, तथ्य और सत्यका पल्ला थामकर जो निसर्गवाद या स्पष्टतावाद खड़ा किया वह अधिक दिनोंतक नहीं टिक सका। थोड़े दिनोंमें इन लोगोंकी कृतियोंसे यही परिणाम निकाला जाने लगा कि जो असुन्दर, अभव्य, विद्रोहात्मक, उच्छृङ्खलतापूर्ण, अरुचिकर और ध्वंसकारी हो, वही निसर्गवाद या यथार्थवाद है। इन लोगोंकी प्रारम्भिक सत्यवादिता और स्पष्टवादिताने अन्तमें जाकर व्यक्ति तथा समाजके कटु, अशिष्ट तथा अश्लील आलोचन या आरोपका स्वरूप धारण कर लिया। अतः जो यथार्थवाद निरुद्देश्य तथा साधारण है, केवल चित्रण-मात्रके लिये किसी उपेक्षित वर्ग या श्रेणीका चित्रण करता है वह तबतक निरर्थक है जबतक वह हमारे भावोंको उद्वेलित करके हमारी श्रद्धा-स्नेह तथा कुतूहल-भावनाको नहीं उकसाता और यह तभी हो सकता है जब उसमें कोई गुणतत्त्व हो, कोई विशेषता हो; क्योंकि हमारी सहानुभूति उसीकी ओर होती है जो गुणी होते हुए भी कष्टमें पड़ा हो और जब वह गुणी है तो वह हमारे आदर्शवादके भीतर समा जाता है। अतः आदर्शवादका अर्थ यही है कि उसमें लोक-मङ्गलकारी सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण यथार्थका चित्रण हो।

यथार्थवादियोंने यह कहा है कि काव्यमें ऐसी शुद्धता और सटीकतासे वर्णन हो जैसे रूपकार अपने चित्रकसे रूप खींचता है किन्तु यह रूपक बड़ा भ्रामक है। चित्रका ठीक उतरना तो चित्रकारके कौशल और चित्रकके नेत्रकी शक्तिपर अवलम्बित है। यदि रूपकार कुशल न हो, या यन्त्रमें दोष हो अथवा जिसका चित्र उतारा जाता हो वही हिल जाय या ठीक

कोणसे न समवस्थित हो तो चित्र भी धुँधला, दोषपूर्ण और भद्दा उतर सकता है। अतः यथार्थ चित्रणमें इन सभी दोषोंकी आशङ्का बनी रहती है। किन्तु जहाँ बना-बनाया चित्र हमारे सामने रक्खा रहता है वहाँ उसके आधारपर चित्र बनानेमें रेखा, अनुपात, रङ्ग और छाया सभीका आदर्श हमारे सामने उपस्थित रहता है और चित्रकार सदा तुलना-द्वारा अपने चित्रित चित्रका परीक्षण करके उसका सुधार करता रह सकता है। ऊपर हम बता भी चुके हैं कि किस प्रकार निसर्गवादियों या यथार्थवादियोंका दल यथार्थ चित्रण करता-करता व्यक्ति-विद्वेष और व्यक्तिगत आलोचनातक उतर गया था। इसलिये ऐसा यथार्थवाद केवल अनावश्यक ही नहीं अवाञ्छनीय भी है।

### उद्देश्य

साहित्यिक कृतियोंके मूल्याङ्कन और व्याख्याकी प्रक्रियाओंमें लेखकके उद्देश्योंपर ही निर्णय निर्भय होते हैं। अतः इन निर्णयों या समीक्षाओंमें उनका स्थान और उनके प्रमाण बननेके ढङ्गके सम्बन्धमें यहाँ विचार कर लेना चाहिए।

किसी साहित्यिक कृतिका अर्थ समझनेके लिये हमें एक तो स्वयं उस कृतिका तात्पर्य और दूसरे, उस कृतिमें लेखक क्या तात्पर्य व्यक्त करना चाहता है, इन दोनोंका भेद समझ लेना चाहिए। ये दोनों अर्थ क्रमशः 'वास्तविक' और 'उद्दिष्ट' कहलाते हैं।

किस काव्यका क्या वास्तविक तात्पर्य है यह स्वयं उस ग्रन्थके अध्ययनसे अर्थात् उस ग्रन्थके शब्दों और वाक्योंका अध्ययन करके ज्ञात हो सकता है। काव्यमें शब्दोंके प्रयोगों और उनके सम्बन्धोंसे व्यक्त होनेवाले अर्थोंसे उस उद्देश्य मूल्याङ्कन हो सकता है जो कलाकृतिकी रचनाके समय कविने आरोपित किए थे। कोई भी आदर्श पाठक किसी कृतिमें केवल उसका अर्थ ही तो पा सकता है और आदर्श पाठक वही है जो उस ग्रन्थमें प्रयुक्त शब्दोंके अर्थोंसे भली प्रकार परिचित हो जाय और बाहरके प्रभाव और पक्षपातसे तनिक भी प्रभावित न हो। क्योंकि कोई भी पाठक आदर्श नहीं हो सकता और कोई भी दो पाठक ठीक एक रूपमें उसे पढ़ नहीं सकते, इसलिये कहा जा सकता है कि किसी भी कृतिका तात्पर्य उनके पठनकी परिधिमें परिमित रहता है। पाठककी सनक और मान्यतासे कहीं अधिक स्वयं ग्रन्थकारकी सनक होती है जो अपनी मानसिक भावना और वृत्तिके कारण शब्दोंमें विशेष अर्थोंका आरोप कर देता है। इसलिये किसी भी कृतिको पूर्णतः समझनेके लिये उस कृतिके

ऐतिहासिक अध्ययनके साथ-साथ ग्रन्थकारके जीवनचरितका भी अध्ययन करके ग्रन्थकारको उसकी कृतिके अर्थका साक्षी बनाकर उपस्थित करना चाहिए। साथ ही उस ग्रन्थकारकी सनकके औचित्यको भी मान लेना चाहिए क्योंकि ग्रन्थकी पूर्ण रचनाके लिये वे भी तो सहायक हुई हैं। इस प्रकारके साक्ष्यको ग्रन्थकारके उद्देश्यसे भिन्न समझना चाहिए क्योंकि मान लीजिए कि किसी ग्रन्थकारने 'वैभव' शब्दका अर्थ कोई 'पराजित तर्क' मान लिया है तो यह नहीं कहा जा सकता कि 'वैभव' शब्दका अर्थ पाठकके लिये या उस कृतिके लिये दूसरा हो ही नहीं सकता। कोई भी कृति हो, वह रची जानेके पश्चात् लेखकके उद्देश्यों और विचारोंसे स्वतन्त्र होकर रहनी चाहिए। ग्रन्थकारकी सनक ऐसी नहीं होनी चाहिए जो सर्वसाधारण आदर्शसे भिन्न हो।

### आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य

किसी कृतिमें उद्दिष्ट अर्थका प्रमाण दो प्रकारसे परखा जाता है—

१. आन्तरिक और २. बाह्य। किन्तु यह भेद सदा निश्चयपूर्वक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

१. शब्दोंके वे साधारण अर्थ आन्तरिक साक्ष्य होते हैं। जो किसी ऐतिहासिक कोश या किसी ऐतिहासिक अध्ययनसे प्राप्त होते हैं, किन्तु किसी कृतिका अर्थ जाननेके लिये उससे बाहर भी जाना चाहिए।

२. कविके पत्र, दैनन्दिनी ( डायरी ) या वार्तालापसे कविके उद्देश्यके सम्बन्धमें जो सूचना मिले वह पूर्ण रूपसे बाह्य साक्ष्य है, क्योंकि जो उद्दिष्ट अर्थ उससे व्यक्त होगा वह काव्यके शब्दोंकी परिधिसे बाहरका होगा।

३. ग्रन्थकारके जीवन और उसकी कृतिके सम्बन्धमें कुछ प्रकारकी सूचनाओंसे एक मध्यम मार्ग यह भी प्राप्त होता है कि वह ग्रन्थकार अभ्यासपूर्वक किसी एक शब्दको किस विशेष अर्थमें प्रयोग करता है। यह बाह्य किन्तु साक्ष्य नहीं हो सकता क्योंकि कविका जीवन-चरित उस शब्दका अर्थ निर्णय करनेके पूरे इतिहासका एक अंशमात्र ही है। किसी ग्रन्थकारके ग्रन्थके वचन या उसके उद्गमके अध्ययनके द्वारा जो उसके विशिष्ट सम्बन्ध जाने जा सकते हैं, वे सर्वसाधारण आदर्शकी सम्भव सीमामें रक्खे जा सकते हैं। इनमेंसे २. और ३. में भेद करना सदा कठिन होगा किन्तु यदि २. की

ओर ही हम प्रवृत्त हों तो १. और ३. से पूर्णतः भिन्न एक विचित्र प्रकारकी आलोचना प्रस्तुत हो जायगी ।

आन्तरिक प्रमाणके आधारपर लेखकका उद्देश्य निकालनेका अर्थ यह है कि हमवास्तविक और उद्दिष्ट दोनों अर्थोंको एक मानते हैं । किन्तु जहाँ कोई बाह्य साक्ष्य नहीं है वहाँ आलोचक यह निश्चय नहीं कर पा सकता कि वे एक हैं । वह यह तर्क दे सकता है कि लेखक स्वयं अपनी कृतिका पाठक है इसलिये यदि उसका उद्दिष्ट अर्थ उसमेंसे न व्यक्त सम्भवतः वह उसे प्रकाशित ही न करे । हो तो किन्तु अत्यन्त वैयक्तिक होनेके कारण वह पढ़ते समय भी शब्दोंकी वही व्याख्या कर सकता है जो लिखते समय । अतः बाह्य प्रमाणके आधारपर किसी ग्रन्थकारका उद्देश्य निकालनेका अर्थ यह है कि या तो लेखकका उद्देश्य उसके बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य दोनोंके अनुसार एक ही हैं या जहाँ इनमें द्वैध हो वहाँ बाह्य साक्ष्य लेखकके उद्देश्यको स्वयं कृतिकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक सूत्र प्रदान करता है । किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि इस प्रकारके बाह्य साक्ष्य उतने पक्के और सच्चे नहीं हो सकते और रचनाके समय उसकी मानसिक अवस्थाका ठीक प्रसारण नहीं कर सकते जितना उस मानसिक अवस्थासे उद्भूत वह कृति कर सकती है । जहाँ लेखकका वास्तविक उद्देश्य उसके प्रत्यक्ष उद्देश्यसे भिन्न है । वहाँके लिये वह पूर्णतः भ्रामक सिद्ध हो सकती है । जो समीक्ष्यवादी लोग उद्देश्य और परिणाममें भेद निकालते हैं, वे इन बातोंकी उपेक्षा कर देते हैं ।

## गेटे-कार्लाइल-क्रोचे-स्पिंगार्न सिद्धान्त

बहुतसे समीक्षकोंका यह मत है कि हम समीक्ष्यवादियोंको अपनी समीक्षामें इन अग्रांकित प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए कि—

१. किसी रचनामें लेखकने क्या करनेका प्रयत्न किया है ?

२. उस निर्दिष्ट कार्यमें उसे कहाँतक सफलता मिली ?

३. क्या वह कार्य वास्तवमें किए जाने योग्य था ?

इन प्रश्नोंको ही एच्० एल्० मेंकनने गेटे-कार्लाइल-क्रोचे-स्पिंगार्न-थियरी कहा है ।

किन्तु यह महत्त्वकी बात है कि यद्यपि स्पिङ्गार्नने इसे आलोचनाकी एकमात्र प्रणाली बताया था किन्तु पीछे चलकर उसने उसमें सुधार कर दिया

और यह कहा कि 'वास्तवमें स्वयं कृति ही लेखकका उद्देश्य होता है, और किसी लेखकका उद्देश्य उसकी कृतिमें भीतर ही भीतर वहाँ भी पहचाना जा सकता है जहाँ वह सफल नहीं हो पाया है।' यह वास्तवमें परस्पर-विरोधी बात है। कोई भी कृति उस सीमातक नहीं पहुँच पा सकती है जो समीक्ष्यवादीकी दृष्टिमें उद्दिष्ट होनी चाहिए थी या जो लेखक उसे करनेके लिये अभ्यस्त था या जो उससे आशा की जाती थी। किन्तु इस बातका कोई भी आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य नहीं है कि लेखकने कोई ऐसी बात सोची थी जिसे वह पूरा नहीं कर पाया।

इस प्रकारके जो वक्तव्य दिए जाते हैं कि कोई कृति लेखकके उद्देश्यसे मेल नहीं खाती है, इसमें स्वयं 'उद्देश्य' शब्द ही बड़ा भ्रामक है। कभी-कभी तो इस प्रकारके वक्तव्य यों ही चलतेसे होते हैं और उसका तात्पर्य यही होता है कि 'लेखक लिखना तो चाहता था बहुत बड़ा उपन्यास, किन्तु वह उपन्यासके बदले अक्रम घटनाओंका एक बड़ा संग्रहमात्र कर पाया है।' यद्यपि यह जानना भी अत्यन्त कुतूहलकी बात है कि लेखक अपनी कृति या अपने उद्देश्यकी प्रशंसामें कितना भ्रान्त रहा किन्तु यह ज्ञान उस कृतिके विषयमें संगत ज्ञान नहीं है। अन्य अर्थोंमें 'उद्देश्य' शब्द पूर्ण वास्तविक अर्थका संक्षिप्त रूप है और यद्यपि आलोचकोंने इसे अत्यन्त सुगम संक्षेपीकरण मान लिया है किन्तु उसे कृतिका परिणाम कहना अधिक उचित होगा। जिस अर्थमें 'उद्देश्य'का प्रयोग करके किसी कृतिका मूल्यांकन किया जाता है उसका यह अर्थ हो सकता है कि उस कृतिके कुछ भाग बदले जा सकते थे और स्वयं लेखक-द्वारा ही इस प्रकार बदले जा सकते थे कि उस पूरी कृतिका ठीक संस्कार हो जाता। इसलिये किसी एक दिए हुए विवरणमें जो उद्दिष्ट होता है वही सङ्गतिकी दृष्टिसे पूर्ण अर्थ हो सकता है। यह बात या तो स्वयं उस कृतिमें ही किसी निर्दिष्ट स्थानपर कही जानी चाहिए या लेखक द्वारा कही जानी चाहिए।

## साधन और परिणाम

इस प्रकारके निर्णय प्रायः यह रूप लेते हैं—यह कौशल (छन्द या गद्यशैली या दो पात्रोंको उपन्यासमें साथ लाना या किसी पात्रको मरवा डालना) इस अर्थमें अच्छा है या बुरा, कि वह पूर्णरूपसे प्रभाव उत्पन्न करनेमें सहायता देता है या नहीं देता। इस प्रकारके निर्णय प्रायः यह स्वीकार

कर लेते हैं कि किसी ग्रन्थमें दो तत्त्व होते हैं जिनमेंसे एकको हम साधन कह सकते हैं और अन्य वह है जिसे हम 'कैसे' और 'क्या'के बीचके परिणाम कह सकते हैं। किन्तु इस प्रकारका भेद ठीक नहीं है।

हम किसी शोकगीतको पढ़कर कह सकते हैं—'इसकी गम्भीरता इसलिये नष्ट हो गई है कि इसमें अमुक विशेष छन्दका प्रयोग नहीं किया गया।' और क्योंकि गीतकी गम्भीरता नष्ट करनेका दोष छन्दके अनौचित्यसे हुआ इसलिये हम छन्दको ही उस गम्भीर प्रभावके उत्पन्न होनेमें अनुचित साधन समझ सकते हैं। किन्तु, क्योंकि छन्द भी काव्यके पूर्ण अर्थका उतना ही तत्त्व है जितना कुछ शब्दोंकी गम्भीरता, इसलिये हमने वास्तवमें साधनको साध्यसे अलग न करके उस पूर्ण वस्तु या उसके परिणामके ही दो पक्षोंको भिन्न समझकर अलग-अलग कर दिया और एकका निर्णय दूसरेकी दृष्टिसे कर दिया है। हमारे पास इस बातके पर्याप्त प्रमाण हो सकते हैं कि हम किसी एक कृतिके किसी एक विशेष गुणको ही उसका ऐसा मुख्य गुण मान लें जिसकी तुलनामें अन्य सब गुण, केवल साधन ही कहला सकते हैं। जैसे, यह हो सकता है कि गम्भीर शोकात्मकताका गुण ही प्रधान हो और वह छन्दसे प्रभावित भी न होता हो। उस समय यह निर्णय किया जा सकता है कि वह पूर्ण कृति किस प्रकार अधिक प्रभावोत्पादक हो सकती है और किस प्रकार उसका वह पक्ष बदल दिया जाय जो अत्यन्त सरलतासे बदला जा सकता है। फिर भी यह परिणाम और साधनका भेद अत्यन्त गूढ है, क्योंकि किसी भी कवितामें साधन और परिणाम, एक दूसरेसे उस प्रकार पृथक् नहीं किए जा सकते जैसे संसारके अन्य भौतिक पदार्थोंमें किए जा सकते हैं।

यदि इस प्रश्नको हम दूसरी दृष्टिसे देखें तो यह समस्या अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। साधारण दृष्टिसे हम किन्हीं दो कृतियोंको देखकर यह कह देते हैं कि दोनोंका विषय एक ही है किन्तु फिर भी एकमें उस विषयका प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढङ्गसे हुआ है और दूसरेमें उतने सुन्दर ढङ्गसे नहीं हुआ। ऐसे दो गीतोंकी पारस्परिक तुलना की जा सकती है जिनमें किसी प्रेमकी वेदना व्यक्त हुई हो, इस साधारण लक्षणको अलग निकाला जा सकता है, गद्यमें इसे अभिव्यक्त किया जा सकता है और इसे दोनों गीतोंका 'सामान्य विषय' बताया जा सकता है। किन्तु यदि हम इस अलग निकाले हुए लक्षणको दोनों गीतोंका 'क्या' मान लें और शेष लक्षणोंका उस 'क्या'की दृष्टिसे 'कैसे' निर्णीत

किए जानेवाले विषय मान लें तो अवश्य भ्रान्ति उठ सकती है क्योंकि हमने यहाँ 'विषय' तथा 'शैली या ढङ्गके बीच जिस बातपर सीमा खींच दी है वह पूर्व अनुच्छेदमें दिए हुए विवरणकी उपेक्षा अधिक मनमानी है क्योंकि यहाँ एक विशेष प्रकारकी एकतासे सम्पन्न तत्त्व-समूह तथा उसके एकताके विरोधी अन्य तत्व-समूहमें वैसा भेद नहीं किया गया जैसे पूर्व अनुच्छेदमें किया गया है। किन्हीं दो कविताओंके सम्बन्धमें कह सकते हैं कि उनमें केवल उदासीका वर्णन किया गया है इससे तो उनमें व्याप्त 'क्या'का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसका शेष अर्थ 'कैसे'के अन्तर्गत चला जायगा। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि कविने उदासीको प्रतीक देनेके लिए प्रेमीको अच्छा साधन चुना है। इसी प्रकार यदि हम केवल उन कविताओंकी पारस्परिक तुलना करें जिनमें कौमार्य प्रेमकी वेदना अभिव्यक्त हुई हो, तब हमें एक विशिष्टतर 'क्यापन' तथा संकुचित-तर 'कैसेपन'का ध्यान रखना होगा। विभिन्न 'क्यापनों'पर विशिष्ट उद्देश्योंसे ध्यान देनेके लिये विभिन्न अवसरोंके विभिन्न स्थलोंपर रेखा खींचना सुविधाजनक होगा यद्यपि वर्गीकरण जितना ही अधिक व्यापक या सामान्य होगा, तुलना भी उतनी ही कम प्रभावशाली होगी। यदि हम केवल इस आधारपर गीत और उपन्यासकी तुलना करें कि उन दोनोंका सामान्य विषय संघर्ष है और फिर उसमें यह जिज्ञासा करें कि इनमेंसे किस रचनामें यह संघर्ष अच्छे ढङ्गसे किया गया है तो वह निरर्थक होगा। यदि हम चरम सीमा बाँधकर कहें तो हमें एक ओर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सब कविताओंमें किसी न किसी प्रकार अनुभव व्यक्त होता है और दूसरी ओर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक कविताका 'क्यापन' ऐसा निराला होता है कि 'कैसेपन' के लिये कुछ भी नया नहीं रह जाता। यदि हम ऐसी दो कविताएँ लें जिनमें केवल एक शब्दका ही हेरफेर है (जैसे किसी कविताके संस्करणोंमें हो जाता है) तो हमें कहना चाहिए कि पूर्ण कविताके हमारे पास दो 'क्यापन' हैं और जिसे हम उस शब्दके परिवर्तनकी दृष्टिसे कौशलात्मक निर्णय कहते हैं वह वास्तवमें यह निर्णय है कि एक पूरेका पूरा 'क्यापन' दूसरे 'क्यापन'से अच्छा है या नहीं।

संक्षेपमें हम कह सकते हैं—

१. लेखकके उद्देश्यके आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यमें भेद करना कठिन है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि किसी विशिष्ट प्रकारके साक्ष्यपर विश्वास

करना उसके जीवन-चरितकी ओर जाना है और किसी दूसरे प्रकारके साक्ष्यपर विश्वास करना स्वयं उस कृतिके वास्तविक अर्थके पास पहुँचना है ।

२. किसी कृतिका अर्थ उसीके भीतर निहित रहता है, इसलिये उद्देश्यका निर्णय तबतक असङ्गत है जबतक कि स्वयं कृति-द्वारा ही उसका समाधान न हो और ऐसी स्थितिमें यह निरर्थक और अनावश्यक है। इसलिये यह कहना भ्रामक है कि हम किसी कृतिका निर्णय इस बातसे कर सकते हैं कि वह किसी लेखकके उद्देश्यको सिद्ध करनेमें कहाँतक सफल हुई है ।

३. 'उद्देश्य' शब्द प्राय: पूर्ण वास्तविक अर्थका संक्षिप्त रूप मान लिया गया है इसलिये कभी-कभी जब हम उद्देश्य और परिणामके भेदके सम्बन्धमें निर्णय देते हैं तब वह वास्तवमें किसी कृतिके भीतर उसके पूर्ण अर्थ या योजनाके सम्बन्धमें ही निर्णय होता है । ये सब मूल्याङ्कनके निर्णय हैं । और

४. इस प्रकारके निर्णय साधन और साध्यके अथवा शैली या विषयके सम्बन्धपर नहीं होते वरन् अङ्ग और अङ्गीके सम्बन्धपर होते हैं ।

### मौलिकता

नवीनता या मौलिकता ( ओरिजिनेलिटी ) के लिये जो आजकल बहुत विचार हो रहा है, यह नई बात तो नहीं है किन्तु इसका प्रचार इसलिये है कि स्वयं जनता इसके लिये उत्सुक है । जौन वैब्स्टरने सत्रहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें ही यह घोषणा की थी कि 'नाट्य-शालामें जो अधिकांश व्यक्ति आते हैं, वे उन अज्ञानी गधोंके समान होते हैं जो पुस्तक-विक्रेताकी दूकानपर पहुँचकर यह नहीं पूछते कि 'अच्छी' पुस्तकें कौनसी हैं, वे 'नई' पूछते हैं। मारीवौक्सका मत है कि मैं मौलिक लेखकोंके छोटेसे मण्डलकी अन्तिम पंक्तिमें बैठाया जाना अच्छा समझता हूँ किन्तु साहित्यिक वानरोंकी भयङ्कर भीड़में उच्च पदपर प्रतिष्ठित किया जाना नहीं ।' लौंगिनस ऐसे लेखकोंको बुरा समझता था जो प्रत्यक्ष नवीनताके पीछे पागल हैं । अन्य जो लोग मौलिकताके पक्षपाती हैं उन्होंने भी विचार उधार लेने और काव्य-चौर्यकी निन्दा की है । हौरेस स्मिथने मौलिकताको 'अचेतन या अज्ञात अनुकरण' कहा है । सेनेकाने कहा है कि 'सूर्यके तले कुछ भी नया नहीं है इसलिये जो कुछ सुकथित है सब मेरा है ।' हमारे यहाँ भी रमणीय काव्यको श्रेष्ठ बताते हुए रमणीयकी परिभाषा यही की है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया: ।' [ क्षण-क्षणपर जो नयापन धारण करे उसीको सुन्दर कहते हैं । ] यह

नव्यता भी मौलिकताका ही दूसरा रूप है, इसका तात्पर्य यह है कि मौलिकता विषयमें नहीं रहती वरन् जैसा स्काटने कहा है—'यह तो विषयके निरूपणकी शैलीमें निवास करती है।' ड्राइडनका भी यही मत था। मिल्टनने इसीलिये कहा था कि 'किसी विषयको उधार लेकर उसे सुन्दर न बनाना ही काव्य-चौर्य है क्योंकि मौलिक कथाएँ या आधार तो कम हैं किन्तु शैलियाँ बहुत अधिक हैं' अर्थात् लेखक क्या सन्देश देता है, वह क्या अनुभव करता या सोचता है और वह स्वयं क्या है यह उसकी कृतिसे झलकता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने विषय और अपने काव्यरूपको एक निराले साँचेमें ढालना चाहता है और इसी अर्थमें, अर्थात् लेखकके व्यक्तित्वकी कितनी अभिव्यक्ति उसके काव्यमें हुई है, उसकी मौलिकता है।

## मान लो (आल्स ऑव या विलिङ्ग सस्पेन्शन ऑफ़ डिसविलीफ़)

जर्मन लेखक हान्स वैहिङ्गरने सन् १९११ में यह मत प्रवर्त्तित किया कि मनुष्यकी 'सम्पूर्ण आदर्शात्मक क्रियामें 'मानलो'की भावना (विलिङ्ग सस्पेशन औफ़ डिसबिलीफ़ या अध्याहार अर्थात् अविश्वासको जान-बूझकर दूर रखना) अवश्य निहित रहती है। कौलरिजका मत है कि 'कलात्मक कृतिका आनन्द लेनेवालेको यह 'मानलो'वाली भावना अर्थात् अविश्वसनीयको विश्वसनीय माननेकी भावना अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। किन्तु साथ ही कौलरिजका यह भी मत है कि 'यह 'अविश्वासमें विश्वास उत्पन्न करनेकी भावना' उस कलाकृतिद्वारा ही प्रेरित होनी चाहिए, अर्थात् वह कलाकृति इतनी मोहक, आकर्षक और सजीव होनी चाहिए कि वह द्रष्टामें स्वतः विश्वास उत्पन्न कर सके। प्रहसनोंमें और सुखान्त नाटकोंमें इसी प्रकार सामान्य सामाजिक नियमोंको उपेक्षित रक्खा जाता है क्योंकि जो घटना 'औथेलो' नाटकमें हमारी करुणाको उद्वेलित करती है वही 'दि वे ऑफ़ दी वर्ल्ड'में हास्यको प्रोत्साहन देती है। इस प्रकार प्रहसनमें अनुपातकी विश्वव्यापी भावनाएँ पुनः विश्वात्मभूत मानवमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं।

## आत्मवञ्चना (इल्यूज़न)

कौलरिजने अपने वक्तव्यमें जो यह कहा है कि 'कोई भी पाठक या दर्शक किसी कलाकृतिमें जान-बूझकर अविश्वासको टाल देता है' यह ठीक नहीं है। वास्तवमें हम किसी कलाकृतिके पास जान-बूझकर ही पहुँचते हैं। अतः वह

कलाकृति होनी ऐसी चाहिए कि वह हमारे विश्वासपर विजय पा ले। कौनराड लांगेने और भी आगे बढ़कर कहा है—'सौन्दर्यात्मक समीक्षाका तत्त्व ही है जान-बूझकर आत्म-प्रवञ्चना करना।' वौल्तेयाने इस भ्रान्तिको मानव-हृदयकी सामग्री कहा है किन्तु यह भ्रान्ति कभी-कभी धोखा दे जाती है। भ्रान्ति दो प्रकारकी होती है—एक तो वह कल्पना जो नया संसार ही रचती है और दूसरे, वह यथार्थवाद, जो पाठक या दर्शकको किसी कृतिके आन्तरिक और बाह्य रूपको एक समझनेके लिये बाध्य कर देती है। कुछ नाटकोंमें यह भ्रान्ति जान-बूझकर तोड़ी जाती है जैसे 'ज़ूडोलस'में दास घूम-घूमकर नाटकके विषयमें दर्शकोंसे बात करने लगता है।

## पलायनवाद (ऐस्केपिज़्म)

जासूसी कहानियाँ, सङ्गीतात्मक सुखान्त नाटक तथा इस प्रकारकी अर्थात् मनको दूसरी ओर ले जानेवाली अन्य कृतियाँ पलायनवादी साहित्य कही जाती हैं। किन्तु वास्तवमें यह पलायनवाद नहीं है क्योंकि इनके कारण पाठक या ग्राहक जीवनसे दूर नहीं भागता। यह भी सम्भव है कि वह उसमें ही जीवन ढूँढ रहा हो। वह तो जीवनकी अनेक व्यस्तताओंसे ऊबकर तथा अस्तित्वहीन बातोंकी एकरसतासे घबराकर अनुभूति तथा जागर्तिकी पूर्णताकी उस खोजमें प्रविष्ट होता है जिसको ही हम वास्तविक जीवन कह सकते हैं। प्रायः ऐसी रचनाओंमें भड़कीली, दिखावटी अतिरञ्जित तथा ऊपरी बहुत सी असङ्गत और असम्भव बातें होती हैं। अधिकसे अधिक उनमें सभी कलाओंके उत्तेजनकी सामग्री भरी रहती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण गिलबर्ट और सुलीवन, तथा सरकसका विदूषक है। जासूसी कहानियोंमें इस प्रकारकी बहुत बातें आती हैं।

## सत्यका सिद्धान्त

कुछ लोगोंका यह मत है कि काव्यका प्रमुख तत्त्व सत्य है और समीक्षकको काव्य में यही गुणतत्त्व खोजना चाहिए। इस सत्यकी उपस्थिति किसी काव्यमें कहाँ है यह जाननेके लिये विद्वानोंने अग्राङ्कित कसौटियाँ बना दी हैं जिनके अनुसार अग्राङ्कित अलग-अलग वाद ही बन गए हैं—

१. विवेकात्मक आत्म-साक्ष्य (रैशनल सेल्फ़-एविडेन्स), जिसके अनुसार विवेकवाद (रेशनलिज़्म) का सिद्धान्त चला।

२. स्वान्त:प्रेरित स्वत:साक्ष्य ( इन्टयूटिव सेल्फ़ एविडेन्स ), जिससे अन्त:प्रेरणावाद ( इन्ट्यूशनिज़्म ) की सृष्टि हुई ।

३. बाह्य तथ्योंसे उसकी सङ्गति, जिससे स्पष्ट यथार्थवाद (नव रीयलिज़्म) की उत्पत्ति हुई ।

४. प्रत्यक्ष प्रयोग-द्वारा यथार्थताके निर्णयकी स्थिति, जिससे वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद ( सायंटिफिक पौज़िटिविज़्म ) की उत्पत्ति हुई ।

५. अनुभवके पूर्ण समुन्नतिशील रूपके साथ आवयविक सङ्गति, जिससे प्लेटो और हैगेल आदिके 'दार्शनिक आदर्शवाद'का जन्म हुआ ।

६. चिरकालिक कार्यशीलता या जीवनकी पूर्णतामें प्रभावशाली कारण होना, जिससे जेम्सका प्रयोजनवाद ( प्रैग्मेटिज़्म ) और ड्यूईका साधनवाद ( इन्स्ट्रूमेंटलिज़्म ) चला ।

विचार करनेपर प्रतीत होगा कि ये सब कसौटियाँ या सिद्धान्त अलग-अलग अपनेमें पूर्ण नहीं हैं और कुछ अंशोंमें तो ये आपसमें मिलते-जुलते भी हैं जैसे—वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद वास्तवमें तथ्यात्मक होता है अत: उसे हम उपर्यङ्कित ३ तथा ४ संख्यक कसौटियोंके साथ मिला सकते हैं । देकार्तेके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार १ और ३ संख्यक कसौटियाँ एक साथ रह सकती हैं, बर्गसनके अनुसार २ और ६ तथा रसलके अनुसार १ और ४ ।

### काव्य-सत्य

कुछ विद्वानोंका मत है—'साधारण व्यवहारमें जिसे हम सत्य कहते हैं अर्थात् किसी बातको बिना किसी मिलावट या बनावटके वर्णन करना कहते हैं, वह काव्यमें सम्भव नहीं है । उस प्रकारका सत्य तो केवल इतिहासमें ही सम्भव हो सकता है अत: काव्यमें हमें एक दूसरे प्रकारके सत्यकी खोज करनी चाहिए जिसे काव्य-सत्य कहते हैं,' जिसे 'जे० मिडिल्टन मर्रीने काव्यका सार ( टोटल स्टेटमेन्ट या तत्त्व ) कहा है । इसीको कुछ लोगोंने काव्यका तात्त्विक गुण मानते हुए कहा है कि 'आदर्श पाठकका यह धर्म है कि वह इस काव्य-सत्य नामक तात्त्विक गुणको सात्त्विक समर्थन देता चले ।' इस सत्यको काव्यमें वर्णित घटनाओंकी तथ्यता या अतथ्यतासे पूर्णत: भिन्न समझना चाहिए ।

## सत्य-तुल्यता ( व्रेसेम्व्लाँ, प्रोबेबिलेटी या वेरीसिमिलीट्यूड )

कुछ फ्रान्सीसी आलोचक मानते थे कि किसी भी साहित्यिक कृतिमें सत्य-तुल्यता या विश्वसनीयता होनी चाहिए अर्थात् 'कलात्मक विश्वास दिलाने'की योग्यता होनी चाहिए। सत्रहवीं शताब्दिमें फ्रान्सीसी आलोचकोंने सत्य-तुल्यताके दो भेद किए—१ आर्दिनेया २. एक्स्त्रा आर्दिनेया। आर्दिनेया या साधारणमें 'पात्रों-द्वारा अपने सामाजिक स्तर या आचार-विचारके अनुसार आचारका औचित्य और अपने अभिव्यक्त उद्देश्योंके औचित्यका प्रदर्शन' था। इसे 'आन्तरिक विश्वसनीयता' कह सकते हैं। असाधारणमें अलौकिक कृत्योंका, जैसे सहसा किसी देवताका प्रकट हो जाना, अद्भुत आकस्मिक घटना और कहीं-कहीं असाधारण रूपमें सुन्दर अभिव्यक्तिकी प्रदर्शन आता था। इनमेंसे साधारण सत्य-तुल्यता तो कलाके लिये अनिवार्य और अपरिहार्य मानी जाती थी और असाधारण, एक विशेष प्रकारका आनन्द माना जाता था जो उसमें रह भी सकता था, नहीं भी रह सकता था।

सत्य-तुल्यता किसी काल्पनिक कृतिमें सत्यकी उस समकक्षताके अंशको कहते हैं जो पाठकमें यह विश्वास उत्पन्न करती है कि उसके व्यापार और चरित्र दोनों विश्वसनीय या सम्भव हैं। प्राचीन तथा वर्त्तमान आलोचनामें यह सर्वसम्मतिसे मान लिया गया है कि वास्तविक या आदर्शान्वित यथार्थवादका कुछ तत्त्व किसी अनुकरणको सत्य-तुल्य या विश्वसनीय बनानेके लिये आवश्यक है। इसपर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है।

### कलामें सत्य

जब हम कलाके सम्बन्धमें सत्यपर विचार करते हैं तो स्वभावतः दो प्रश्न सम्मुख उठ खड़े होते हैं—१. क्या कलाके प्रसङ्गमें सत्यका प्रश्न उठाना सङ्गत है? २. यदि सङ्गत है तो क्या कलापर प्रयुक्त 'सत्य' वही अर्थ देता है जो जीवनके सत्यपर प्रयुक्त होनेसे देता है?

यदि हम कलाके सम्बन्धमें सत्यपर विचार करें तो प्रतीत होगा कि सत्यका प्रश्न उठाना सङ्गत ही नहीं है क्योंकि—

क. सत्य या झूठ केवल वक्तव्योंमें ही देखे जाते हैं। कलाकृतिमें तो कोई ऐसा वक्तव्य प्रस्तुत नहीं किया जाता और फिर भाषाका प्रयोग भी केवल वक्तव्योंमें ही तो नहीं होता, और भी बहुत-सी बातोंमें होता है, जैसे कवितामें।

कलाकृति तो हमारे मनोभावों या प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करती है और इनमें सत्यके बदले गुणतत्त्व होना चाहिए।

ख. जब कोई वस्तु सौन्दर्य-भावनासे देखी जाती है तब उसके सत्य या झूठका प्रश्न ही नहीं उठता, जैसे यदि हम किसी पक्षयुक्त विमानके सौन्दर्यको आकाशमें देखें और उससे बरसनेवाले बमका विचार ही न करें तो उस सौन्दर्यमें सत्य और झूठका स्पर्श ही नहीं होगा। उस समय रचनाके सब पक्ष हमारा ध्यान उस कृतिपर ही केन्द्रित कर देंगें। यदि हम केवल आनन्द लेनेकी योग्यताके अतिरिक्त उस कृतिके रचना-कौशलकी परीक्षाकी योग्यता भी रक्खें अर्थात् उसका निर्णय भी करने चलें तो उस समय हम उसमें सत्य और झूठ न देखकर यह देखेंगे कि इसमें क्या महत्व-पूर्ण है और क्या महत्त्व-हीन। यह भेद सौन्दर्य-भावनाकी दृष्टिसे भी अत्यन्त सङ्गत है क्योंकि इस दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्ति निर्णयका अपना मानदण्ड स्थिर कर सकता है जो छोटीसे छोटी रचनाओंसे लेकर सफ़क्लेस् और शेक्सपियरतककी रचनाओंका निर्णय कर सकती है।

किन्तु ये गुणतत्त्व क्या हैं? इसकी भी मीमांसा कर लेनी चाहिए क्योंकि गुण-तत्त्व या मूल्यकी समस्या भी उतनी ही जटिल है जितनी सत्यकी। पीछे हम इस जटिलताका पूरा विवरण गुणतत्त्व या मूल्यके प्रसङ्गमें दे आए हैं। कभी-कभी रचनाकी दृष्टिसे एक ग्रन्थ अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है। इस दृष्टिसे हम विचार करें तो मिल्टनके 'पैराडाइज़ लौस्ट'से पोपका 'रेप औफ़ दी लौक' कहीं अधिक सुन्दर है और यह सौन्दर्य उसके रचना-कौशलमें है। विवासका मत है कि किसी कृतिका महत्त्व उसके अन्तर्गत नैतिक और 'धार्मिक' या उनमेंसे किसी एक गुणतत्त्वपर अवलम्बित है।

'कलामें सत्य है या नहीं?' इस प्रश्नको हम यदि दूसरी दृष्टिसे विचार करें अर्थात् इस दृष्टिसे कि सत्य शब्द कला-कृतिके साथ किस प्रकार प्रयुक्त हुआ है, तो जान पड़ेगा कि ऐसे तीन मुख्य अर्थ हैं—

१. किसीकी धारणाओंके साथ साम्य होनेके रूपमें सत्य, जिसे जौन्सनके शब्दमें कह सकते हैं—'कलाकृतिमें उन भावोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए जो प्रत्येक व्यक्तिके हृदयसे प्रतिध्वनि उत्पन्न करा सकें।''

२. जीवनसे मिलते-जुलते सत्यको व्यक्त करना, जो अनुकरणवादियों, प्रकृतिवादियों और प्रतीकवादियोंके सिद्धान्तमें अन्तर्हित है।

३. कलाकृतिका आत्म-सङ्गत होना, अर्थात् उसके सब अङ्गोंका परस्पर सङ्गत रूपसे एक व्यवस्थित रूपमें प्रकट होना जिसके सम्बन्धमें वीचोने कहा है—'उस कृतिकी रचना होना ही सत्यकी कसौटी है।' वीचोके इन शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि कलाकृतियाँ मानवीय भावनाके सङ्केतक हैं अर्थात् वे मानवीय आकांक्षाओं और आदर्शोंका पथ प्रदर्शित करते हैं। अतः कला-कृतियोंको वास्तविकताकी बाहरी कसौटी या जीवनकी सत्यताकी कसौटीसे नहीं कसना चाहिए। वे तो ऐसी कसौटियाँ प्रस्तुत करते हैं जिनसे मनुष्यकी क्रियाओंका निर्णय किया जा सके कि वे अच्छी हैं या बुरी। 'वे मनुष्यकी उच्चतम आशाओंके स्वर्ण-सूत्रोंको अन्धविश्वासके काले तागे, विज्ञानके श्वेत धागे तथा मानव-क्रिया-कलापके अत्यन्त लाल धागेको समयकी बुनावटमें बुन देते हैं।' यही एक ऐसी व्याख्या है जिससे इस विचारको बल मिलता है कि 'जीवनको कलाका अनुकरण करना चाहिए।'

## औचित्यका सिद्धान्त

बहुतसे समीक्षाचार्योंका मत है कि किसी भी काव्य, रचना या कलाकृतिमें केवल औचित्य (प्रोप्राइटी, फ़िटनेस, देकोरम या प्रेपोन) का ही विचार करना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि उस काव्यके सब तत्त्व परस्पर एक दूसरेसे उचित तथा सङ्गत प्रकारसे सम्बद्ध हैं या नहीं और दूसरी विचारनेकी बात यह है कि वे सब तत्त्व उचित स्थलपर उचित मात्रामें, उचित मर्यादाके साथ, उचित रूपमें सन्निविष्ट किए गए हैं या नहीं। इस ग्रन्थके प्रारम्भमें भी हम बता आए हैं कि भारतीय समीक्षा-शास्त्रियोंमेंसे वास्तवमें औचित्यवादियोंने ही समीक्षाका तात्त्विक रूप निर्धारित किया है क्योंकि किसी काव्यमें यदि सब तत्त्वोंका उचित सन्निवेश हो जाय तो रचना स्वयं श्रेष्ठ हो जाती है। अतः यदि किसी समीक्ष्यवादीको यह ज्ञान हो जाय कि काव्यमें कौनसे तत्त्व किस स्थलपर, किस मात्रामें, किस मर्यादाके साथ, किस रूपमें प्रस्तुत किए जानेपर उचित होते हैं, तब समझना चाहिए कि समीक्षाका कार्य पूर्ण हो गया।

यों तो औचित्यके अनन्त भेद-प्रभेद बताए गए हैं किन्तु क्षेमेन्द्रने अपनी औचित्य-विचार-चर्चामें औचित्यका विवेचन करते हुए अग्राङ्कित २७ प्रकारके औचित्य गिनाए हैं—

१. पद, २. वाक्य, ३. प्रबन्धार्थ, ४. गुण, ५. अलङ्कार, ६. रस, ७. क्रिया, ८. कारक, ९. लिङ्ग, १०. वचन, ११. विशेषण, १२. उपसर्ग, १३. निपात, १४. काल, १५. देश, १६. कुल, १७. व्रत, १८. तत्त्व, १९. सत्त्व, २०. अभिप्राय, २१. स्वभाव, २२. सारसंग्रह, २३. प्रतिभा, २४. अवस्था, २५. विचार, २६. नाम और २७. आशीर्वाद।

भारतीय साहित्य-शास्त्रकी मीमांसा करते समय इस ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें औचित्यवादकी व्याख्या करते हुए हम इन सब भेदोंकी विस्तारसे विवेचना करेंगे। यहाँ केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि औचित्यवादी आचार्य काव्यके सब अंशों, अङ्गों और तत्त्वोंमें औचित्यके सन्निवेशको ही काव्यका गुण और उस गुण-तत्त्वके परीक्षणको ही वास्तविक समीक्षण समझते हैं।

योरोपमें भी सबसे पहले यूनानियोंने औचित्यका प्रयोग सङ्गीत शास्त्रके सिद्धान्तोंमें किया था किन्तु वहाँसे सरककर वह भाषण-शास्त्रमें चला आया और फिर वह व्यावहारिक सिद्धान्तके रूपमें अरस्तूके भाषण-शास्त्र (रिटारिक) के कवि अंशमें औचित्य या प्रेपोनके नामसे व्यवहृत हुआ है, जिसका सन्निवेश पीछे चलकर अरस्तूके प्रसिद्ध शिष्य थियोफ्रेस्टसने शैलीके 'गुणों'में कर लिया और तबसे यह निरन्तर भाषण-शास्त्र और काव्य-शास्त्रके गुणोंमें प्रधान तत्त्व गिना जाता रहा, यहाँतक कि कुछ लोगोंने तो यह कह दिया कि शैली और उसके प्रकारोंका सिद्धान्त वास्तवमें औचित्यका ही सिद्धान्त है। इसी आधारपर हलिकारनेसस-निवासी दीग्रनूसियसने कहा है—'लेखनके जिस अङ्गमें औचित्य नहीं होगा, वह यदि पूर्ण रूपसे व्यर्थ नहीं है तो कमसे कम उसका महत्त्वपूर्ण अंश अवश्य व्यर्थ होगा।' इस तत्त्वको, जिसे यूनानीमें प्रेपोन कहा गया है, सिसरोने लातिनमें 'देकोरम' कहकर बार-बार उसकी दोहाई दी है। हौरेस और क्विन्तीलियनने भी औचित्यके सिद्धान्तको प्रमुख स्थान दिया है और मध्य-कालमें भी यह औचित्यका सिद्धान्त पूर्ण रूपसे माना जाता रहा क्योंकि एस्. टौमसके मतानुसार सौन्दर्यको 'शुद्ध बाह्य औचित्य' कहा जा सकता है। दाँतेने भी यही औचित्यका सिद्धान्त स्वीकार किया और पुनर्जागरणकाल तथा उदात्तवादी युगमें तो इसका बोलबाला ही था, विशेषतः फ्रान्समें, और फिर इङ्गलैण्डमें पुटेनहम्, सिडनी और जौन्सनने इस सिद्धान्तका प्रचार किया। आगे चलकर भी ड्राइडनने लेखन-कलाको विचारों और शब्दोंका औचित्य माना। यही बात अठारहवीं शताब्दिमें

जौन्सनके द्वारा अधिक स्पष्ट होकर व्यक्त हुई और यही मत एक दूसरी व्याख्याके साथ स्वैरवादी लेखकोंने भी माना जिसमें कि उन्होंने रूढिपर बल न देकर प्रकृतिपर अधिक बल दिया।

औचित्यवादको योरोपवालोंने किस रूपसे बल दिया और उसका वहाँ क्या रूप हुआ यह विवेचना हम विस्तारसे इस ग्रन्थके चतुर्थ खण्डमें करेंगे, जहाँ हम संसार-भरके सब साहित्य-वादोंका विवरण दे रहे हैं।

### रुचिका मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्यकी चेतन अवस्थामें उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, जिह्वा, नासिका, कर्ण और त्वचा) संसारकी जिन वस्तुओंका सम्पर्क प्राप्त करती हैं, उनके सम्बन्धमें अपने स्वाभाविक संस्कारके आधारपर वे उन पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके मनको प्रेरित करती हैं और मन तत्काल उनकी श्रेष्ठता या निकृष्टताके सम्बन्धमें अपना निर्णय देकर उन्हें ग्रहण करने या त्यागने, उनके पास पहुँचने या उनसे दूर हटनेके लिये कर्मेन्द्रियोंको आदेश देता है। ये कर्मेन्द्रियाँ यदि सशक्त हुईं तो मनकी इच्छा पूर्ण कर देती हैं अर्थात् मनके आदेशका पालन कर देती हैं, यदि वे सशक्त न हुईं तब मन उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा और उनके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न हुए विक्षोभके बीच द्वन्द्व करता रहता है। इसी द्वन्द्वको चिन्ता कहते हैं। जब मनकी ऐसी आज्ञाएँ पालन हो जाती हैं, चाहे अपनी कर्मेन्द्रियों-द्वारा या ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा या अन्य किसी व्यक्ति या साधन-द्वारा, तब मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है और यही निश्चिन्तता क्षणिक हर्ष, अल्पकालिक सुख और शाश्वत आनन्दका आधार है। इसी हर्ष, सुख या आनन्दके अभावमें मनुष्यको शोक, दुःख और निरानन्दका अनुभव होता है जिससे बचनेके लिये केवल मनुष्य ही नहीं, सब प्राणी सदा सचेष्ट रहते हैं। इस चेष्टामें मनुष्य सुस्वादु भोजन, मधुर स्वर या गीत, नेत्ररञ्जक वस्तु, व्यक्ति या दृश्य, कोमल, शीतल पदार्थोंका स्पर्श तथा सुगन्धित द्रव्योंकी ओर आकृष्ट होता है। यही आकृष्ट होना रुचि है और उससे हटना या दूर होना अरुचि है।

### सांस्कारिक रुचि

इस आकर्षण और विकर्षणकी सामग्रियाँ असंख्य और अपरिमित हैं अतः उनमें भी मनुष्यकी प्रवृत्ति, संस्कार, परम्परा तथा सम्पर्कके अनुसार उसका

आकर्षण कुछ इने-गिने विशिष्ट पदार्थों, व्यक्तियों या क्रियाओंकी ओर ही होता है जैसे वैद्यके पुत्रकी प्रवृत्ति या आकर्षण वैद्यककी ओर तथा चोरके पुत्रकी चोरीकी ओर होती है। अपने आस-पास किसी विशेष प्रकारका व्यवसाय या कार्य होनेके कारण उसमें भी रुचि होती है जैसे साड़ी बुननेवालोंके पड़ोसमें रहनेवाले भी साड़ी बुननेके काममें रुचि प्रदर्शित करते हैं। सम्पर्कके अन्तर्गत सङ्गति भी आ जाती है इसीलिये तमाखू पीनेवालोंके साथ लोगोंको तमाखूका, चाय पीनेवालोंके साथ चायका और जुआड़ियोंके साथ जुएका चस्का लग जाता है। किन्तु ये आकर्षण व्यावसायिक तथा बाह्य हैं। इनके अतिरिक्त संस्कार तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति ही रुचिके लिये अधिक विचारणीय आधार हैं। यह प्रवृत्ति और संस्कार कुछ तो पिछले जन्मके सम्बन्धसे सम्पर्क रखता है जिसे आजकलके मनोवैज्ञानिक नहीं मानते। किन्तु कुल, परम्परा और परिस्थितिके पूर्ण प्रभावसे पूर्णतः मुक्त स्वभाववाले असंख्य लोग इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसीके सम्बन्धमें कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तलमें कहा है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।

[ सुन्दर वस्तुएँ देखकर और मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी विचलित हो उठें तब यही समझना चाहिए कि उनके मनमें पिछले जन्मके प्रेमियोंके जो स्नेह-संस्कार बैठे हुए हैं, वे ही अपने-आप जाग उठे हैं। ]

यही जननान्तर सौहृद या प्राक्तन जन्म-संस्कार हमारी रुचि और अरुचिमें विशेष सहायक होता है। किन्तु यह भी एकाङ्गी होता है अर्थात् इसके अनुसार कोई व्यक्ति अत्यन्त ईश्वर-भक्त, दानी, शूर, पर-हित-निरत आदि उदात्त भावोंसे सम्पन्न होता है, कोई कृपण, पर-पीड़क, कुटिल और पापात्मा होता है।

किन्तु इन बाह्य और सांस्कारिक वृत्तियोंके साथ व्यापक रूपसे सम्पूर्ण मानव-समाजकी चेष्टाओंमें एक समवृत्ति व्याप्त मिलती है, वही हमारे वर्त्तमान विचारका विषय है।

### अन्ध-प्रेरित रुचि

इस रुचिमें दो प्रकारकी भावनाएँ होती हैं एक तो मोहकी और दूसरे मानसिक तृप्तिकी। मोहसे जो रुचि बनती है उसके कारण हमें अपना देश, प्रान्त, जाति, अपने देशके महापुरुष और कवि, अपनी प्रेयसी, अपने पुत्र, अपने सम्बन्धी, अपनी वस्तुएँ तथा अपने स्थान प्रिय लगते हैं। यहाँतक कि उनके दोष भी हमें गुण प्रतीत होते हैं। उसी मोहके कारण हम उनकी बुराई न सुनना चाहते हैं न देखना चाहते हैं। यह अन्ध-रुचि कहलाती है। इसके लिये न तो कोई सिद्धान्त बनाया जा सकता है, न इस अन्ध-रुचिके आधारपर बने हुए सिद्धान्तोंका आरोप ही व्यापक समीक्षणके लिये किया जा सकता है।

### सौन्दर्य

किन्तु इसके अतिरिक्त जो रुचिकी दूसरी भावना, मानसिक तृप्तिकी है वह लोक-व्यापक है और इसीलिये वही हमारे लिये विचारणीय है। इस मानसिक तृप्तिसे बनी हुई रुचिका यदि हम विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि कुछ विशेष रङ्ग जैसे लाल, हरा, आकाशीय, बैंगनी, नारङ्गिया और श्वेत सबको प्रिय लगते हैं किन्तु काला, मटियाला, काही, गहरा नीला स्वभावतः लोगोंको नहीं रुचता। रङ्गोंमें भी अधिक चटकीले और हल्के, लोगोंको अधिक प्रिय होते हैं। कोमलताके साथ कही हुई बात या उतार-चढ़ावके साथ बँधी हुई स्वरकी ध्वनियाँ कानको अच्छी लगती हैं। इन सब बातोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि कुछ गुण-तत्त्व ऐसे अवश्य हैं जिन्हें समष्टि रूपसे सम्पूर्ण मानव-समाज रुचिकर समझता आया है। इसके अतिरिक्त एक विशेष प्रकारसे ढली हुई मुखाकृतियाँ, शरीरकी बनावट आदिसे सम्पन्न व्यक्ति भी प्रेय समझा जाता है। बहुत-सी वस्तुएँ एक क्रमसे सजा देनेपर भी अच्छी प्रतीत होती हैं। इन सब गुणतत्त्वोंका समन्वित नाम लोगोंने 'सुन्दर' रख दिया अतः रुचिका पहला आधार हुआ सौन्दर्य-गुण-तत्त्व। यह सौन्दर्य-गुण-तत्त्व कथाके तत्त्वोंमें होनेके साथ-साथ रचना कौशल भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी होता है अतः उसकी ओर भी हमारी स्वाभाविक रुचि होती है जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

### असाधारणता

समाजमें हम अपने साथियोंमेंसे ही किसी व्यक्तिको जब कोई ऐसा विशिष्ट कार्य करते देखते हैं जिसमें वह अपने प्राण, धन आदि अतिशय प्रिय पदार्थोंका परित्याग करके लोक-कल्याणके लिये अथवा कोई असामान्य पराक्रम अथवा वैशिष्ट्य दिखानेके लिये कार्य करता है तब हमारी उसके प्रति एक उत्सुकता होती है। यह उत्सुकता बढ़ते-बढ़ते श्रद्धा हो जाती है और हम उस व्यक्तिमें आदर तथा पूजनीयताका भाव आरोपित कर देते हैं। यह केवल प्रत्यक्ष या अनुभूतके प्रति ही नहीं वरन् हमारे जन्मसे पूर्व भी यदि किसीने इस प्रकारका अलौकिक, अलोक-सामान्य कार्य किया हो तो उसके प्रति भी हमारी आदर-भावना सचेष्ट होती हैं और हम अत्यन्त चावसे उसका वर्णन सुनते और पढ़ते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारी रुचि असाधारणके प्रति भी होती है अतः रुचिका दूसरा आधारभूत गुण-तत्त्व हुआ असाधारणता। यह असाधारणता कथाके तत्त्वोंमें होनेके साथ-साथ रचना-कौशल, भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी होता है अतः उसकी ओर भी हमारी स्वाभाविक रुचि होती है, जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

### अद्भुतता

बालकसे लेकर वृद्धतक प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त मनोयोगसे कथाएँ सुनता, पढ़ता या देखता है अर्थात् कथा-उपन्यास आदिको पढ़ता-सुनता और नाटक तथा चित्रमें कथा देखता है। इस कथामें कुछ तो असाधारण तत्त्वके कारण उसकी रुचि होती है और कुछ उसमें आए हुए ऐसे व्यक्तियों, वस्तुओं, दृश्यों, घटनाओं और परिणामोंके कारण जो न कभी देखे गए हों, न सुने गए हों अर्थात् जिनके प्रति हम आश्चर्यसे देखते या सुनते रह जायँ। राक्षसों, दैत्यों, परियों, तिलस्मी भवनों तथा इस प्रकारकी कल्पित लोककी बातोंमें भी हमारा मन रमता है। अतः रुचिका तीसरा आधार है अद्भुतता गुण-तत्त्व और यह अद्भुतता कथाके तत्त्वोंमें होनेके साथ-साथ रचना-कौशल, भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी होता है अतः उसकी ओर भी हमारी स्वाभाविक रुचि होती है जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

प्रश्न यह उठता है कि यदि सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुतकी ओर

ही लोगोंकी रुचि आकृष्ट होती है, तब नाटकके प्रति लोग इतने क्यों सरुच होते हैं। इसका कारण यह है कि नाटककी कथा ज्ञात होनेपर भी अभिनेताओंकी अपना रूप छोड़कर दूसरे पात्रोंका याथातथ्य रूप धारण करना ही अद्भुत है। अतः उस अद्भुतके प्रति तथा नाटककी कथामें जिस असाधारण घटनाका वर्णन होता है वह भी रुचिको उद्दीप्त करती है। इसीलिये अनुकरण होनेपर भी नाटक समान रूपसे सबको प्रिय होता है। फिर जितनी बार नाटक होता है और एक नाटकमें जितनी बार एक दृश्य दिखाया जाता है वह नवीन होता है। यह नवीनता ही सौन्दर्यका सबसे बड़ा लक्षण है जैसा कि कहा भी गया है—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

[ क्षण-क्षणपर जिसमें नवीनता दिखाई पड़े वही सौन्दर्य है। ]

सुन्दरता, अद्भुतता और असाधारणताका तात्त्विक विवेचन आगे किया जायगा अत: यहाँ इन गुण-तत्त्वोंका निर्देशमात्र पर्याप्त है।

### रुचिका आधार : प्रचार

ऊपर रुचिके जिन तीन तात्त्विक आधारोंकी विवेचना की गई है वे पूर्ण सात्त्विक तथा मानव-मात्रमें व्यापक रूपसे प्रतिष्ठित हैं। किन्तु इस वैज्ञानिक युगमें चलचित्र, रेडियो ( नभस्वन ) समाचार-पत्र तथा टैलिविज़न ( बेतार दृश्य ) आदिके द्वारा आजकल जनताकी रुचि भी निर्मित की जाती है अर्थात् निरन्तर प्रचार तथा विज्ञापनके द्वारा जनताके मनमें यह संस्कार भरा जाता है कि वह अमुक वस्तु, व्यक्ति, मत तथा सिद्धान्तको ही ठीक और सुन्दर समझे। अधिकांश अपढ़ जनता निरन्तर सुनते-सुनते अपने नैसर्गिक तथा सात्त्विक विवेचन-संस्कारको छोड़कर इन प्रचारित भावोंके आधारपर अपनी रुचिका निर्माण करती है। इसलिये कहा जाता है कि किसी समर्थ समीक्ष्यवादीके हाथमें पड़ जानेसे भी कोई रचना अधिक प्रसिद्ध होकर व्यापक रूपसे सुन्दर समझ ली जाती है जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्लका आश्रय पाकर जायसी जैसे कवि चिरजीवी हो उठे। अतः रुचिके निर्माणमें प्रचार और विज्ञापन भी इस युगमें बड़ा आधार बन गया है किन्तु वह अतात्त्विक तथा मिथ्या होता है। इसलिये हमारी विवेचनामें उसके लिये कोई स्थान नहीं है।

## समीक्षाके सिद्धान्त

इतना विवेचन कर चुकनेपर समीक्षाके सिद्धान्तोंका निरूपण और प्रतिपादन करना सरल हो जाता है क्योंकि यह तो निश्चय हो गया कि प्रत्येक व्यक्तिको वह सब अच्छा लगना चाहिए जो सुन्दर हो, असाधारण हो, अद्भुत हो। अतः समीक्ष्यवादीको भी किसी कलाकृतिका परीक्षण करते समय यह देखना चाहिए कि उस कलाकृतिमें रचनाकारने सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुतका नियोजन कहाँ किस प्रकारसे किया है और इस प्रकारका परीक्षण करनेके लिये उसे चार आधारोंपर एक प्रश्नावली प्रस्तुत करनी चाहिए जिसका उत्तर ही उस कलाकृतिकी पूर्ण समीक्षा हो जायगी।

## समीक्षा-सिद्धान्तके चार क्षेत्र : (१) ऐतिहासिक जिज्ञासा

कोई भी समीक्ष्यवादी यदि कहे कि हम किसी कलाकृतिको लेकर ही उसका ठीक अध्ययन और विश्लेषण कर लेंगे तो उसकी यह बात अमान्य होगी क्योंकि कोई भी रचनाकार सामान्यतः जब लिखता है तो किसी एक विशेष युगमें, किसी विशिष्ट उद्देश्यसे, किन्हीं विशेष प्रेरणाओंसे, किन्हीं विशेष व्यक्तियों, वर्गों या समाजोंके लिये लिखता है, अतः समीक्षाके सिद्धान्तोंका सर्वप्रथम तत्त्व है ऐतिहासिक जिज्ञासा, जिसके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोंकी व्याख्या होनी चाहिए —

क. यह रचना किसने की अर्थात् उस व्यक्तिका शील, कुल, सङ्गति, प्रतिभा, विद्या, योग्यता, रुचि, अध्ययन, भ्रमण, धार्मिक या राजनीतिक मत आदि सब बातोंका विवेचन करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक रचनाकारकी रचनामें उसका मानस व्यक्तित्व आद्यन्त अभिव्यक्त होता रहता है।

ख. यह रचना कब अर्थात् किस युगमें की गई, जिसके अन्तर्गत उस युगकी सामान्य वृत्ति, शील, शिष्टाचार, लोक-प्रवृत्ति, शासन आदि सबका विवेचन होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक कवि सामाजिक प्राणी होता है और इसलिये उसके विचारोंपर अपने युगके समाज और राज्य-शासनकी रीति-नीतिका प्रभाव पड़ता ही है।

ग. उपर्यङ्कित प्रश्नोंमेंसे ही यह तीसरा प्रश्न निकल आता है कि कविने किस प्रेरणासे रचना की। यह प्रेरणा व्यक्तिगत भी हो सकती है जैसे— दाँतेने अपनी प्रेयसी बिएत्रिसके कारण ही 'दैवी आनन्द' (डिवाइन कामेडी)

की रचना की या कालिदासने रघुवंशियोंके उदात्त चरित्रोंसे प्रभावित होकर रघुवंश की रचना की। कभी सामाजिक कारण भी हो सकते हैं और राजनीतिक भी। जैसे बाणने हर्षको प्रसन्न करनेके लिये हर्षचरित लिखा, गोस्वामीजीने स्वान्तःसुखाय होनेपर भी लोक-कल्याणके लिये रामचरित-मानसकी रचना की और सूरने केवल साम्प्रदायिक वृत्तिसे सूर-सागरकी रचना की या चन्दने पृथ्वीराजको प्रसन्न करनेके लिये पृथ्वीराज-रासो लिखा। इन प्रेरणाओंके कारण भी रचनाओंमें कविके विचारोंकी छाया रहती है, अतः इन प्रेरणाओंका भी अध्ययन करना चाहिए।

घ उपर्यङ्कित प्रश्नसे ही सम्बद्ध यह प्रश्न उठता है कि उसने क्यों, किस उद्देश्यसे रचना की? जिसके अन्तर्गत यह विचार होना चाहिए कि कवि क्या सन्देश देना चाहता है या क्या प्रभाव डालना चाहता है और यह सन्देश तथा प्रभाव वह क्यों उपयुक्त या आवश्यक समझता है।

इसके अन्तर्गत मनोविश्लेषणवादियोंकी वह बात भी आ जायगी कि किस वासनाके दमन होनेसे इस रचनाकी सृष्टि हुई। यद्यपि यह बात आनी तो चाहिए ऊपर प्रेरणाके अन्तर्गत किन्तु मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंके अनुसार यह भावना अचेतन या उपचेतन मनमें रहती है इसलिये इसका विवेचन उद्देश्यमें ही करना उचित होगा।

ङ. इसका तात्पर्य यह है कि समीक्ष्यवादीको यह भी स्वाभाविक जिज्ञासा करनी चाहिए कि वह रचना किसके लिये लिखी गई—स्वान्तःसुखाय या किसी व्यक्ति विशेष, किसी वर्ग विशेष अथवा सम्पूर्ण मानव-समाजके लिये, क्योंकि किसी आधारपर हम कविकी सफलता या असफलताका परिज्ञान कर सकते हैं।

इन पाँचों प्रश्नोंका समन्वय 'ऐतिहासिक जिज्ञासा' कहलाता है। यही समीक्षा-सिद्धान्तका प्रथम आधारतत्त्व है।

## समीक्षा सिद्धान्तके चार क्षेत्र : (२) अन्तरङ्ग विश्लेषण

ऐतिहासिक जिज्ञासा कर चुकनेके अनन्तर ही समीक्ष्यवादीको उस कृतिका परीक्षण करने बैठना चाहिए और सर्वप्रथम उस रचनाका अन्तरङ्ग विश्लेषण करना चाहिए। इस अन्तरङ्ग विश्लेषणमें उसे यह देखना चाहिए कि कविने क्या लिखा अर्थात् उसने अपने काव्यका विषय या वस्तु-संस्कार कहाँसे प्राप्त

किया, उसमें ऐतिहासिक अंश कितना है, काल्पनिक अंशोंका सहयोग करके उसने किस संयोजन या कौशलसे उस विषयमें सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत तत्त्वोंका समावेश किया है, उसमें सत्यता कितनी है, सत्याभास कितना है, सत्य-तुल्यता कितनी है, कितना अंश सम्भव प्रतीत होता है और कितना असम्भव तथा असत्य। कविने कितने अंशोंमें परम्पराका निर्वाह किया है और कौनसी तथा कितने अंशोंमें नवीनताओंका समावेश किया है। इसके अन्तर्गत यही विश्लेषण करना चाहिए कि कविने सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण तत्त्वोंका समावेश काव्यके विषयमें किया है या कथा, घटना, पात्र तथा स्थलमें किया है और उनमें भी कहाँ-कहाँ किस रूपमें किया है अर्थात् कविने मूल आकरसे ली हुई वस्तुमें कौनसे परिवर्त्तन किए? क्या नवीनता उत्पन्न करके किस प्रयोजनसे वह परिवर्त्तन किया? और उससे उस विषयमें क्या चमत्कार आ गया? पात्रोंके चरित्रोंमें भी यदि उसने कोई नवीनता उत्पन्न की है तो वह उनके रूप-वर्णनमें की है या गुणमें या कार्यमें। इसी विश्लेषणके अन्तार्गत उनकी रचनाके शिव तत्त्वकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिए कि वह कहाँतक लोक-कल्याणकारी है यद्यपि यह अंश विशेष रूपसे समीक्षा-सिद्धान्तके चौथे तत्त्व प्रभाव मीमांसामें आना चाहिए।

## समीक्षा-सिद्धान्तके चार क्षेत्र : (३) वहिरङ्ग परीक्षण

अन्तरङ्ग विश्लेषणके अनन्तर काव्यका बाह्य अध्ययन या वहिरङ्ग परीक्षण करना चाहिए। इसके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोंका समाधान आवश्यक है—

क. कविने जिन सामग्रियोंको कथा-वस्तुके लिये एकत्र किया है उनकी रूप-सज्जा तथा क्रम-सज्जा किस प्रकार की है : अर्थात् उस सामग्रीको किस नये तथा आकर्षक ढङ्गसे सजाकर कविने रचना-कौशल-द्वारा उसमें नवीनता तथा आकर्षण उत्पन्न किया है। यह नवीनता कितनी उचित, परम्परागत, सुन्दर, असाधारण या अद्भुत है।

ख. कविने जिस भाषा, शैली या छन्दका प्रयोग किया है उसके प्रयोगमें कितना परम्पराका अंश है? कितनी नवीनता है? यह नवीनता कहाँतक उचित है? और उसके कारण भाषा, शैली या छन्दमें क्या सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतता आ गई है?

इन प्रश्नोंका उत्तर ही उस रचनाकृतिका बहिरङ्ग परीक्षण होगा। पीछे बताया जा चुका है कि कभी-कभी कोई कवि केवल अभिव्यक्ति-कौशल ( ज़बाँदानी ) दिखानेके लिये ही रचना करते हैं इसलिये, बहिरङ्ग परीक्षण भी आवश्यक तत्त्व है क्योंकि अभिव्यक्ति-कौशलसे पूर्ण रचनाओंका समीक्षण करनेके लिये केवल बहिरङ्ग परीक्षण ही एकमात्र आधार तत्त्व होता है।

## समीक्षा-सिद्धान्तके चार क्षेत्र : ( ४ ) प्रभाव मीमांसा

किसी रचनाकी ऐतिहासिक जिज्ञासा तृप्त करके उसका अन्तरङ्ग विश्लेषण और बहिरङ्ग परीक्षण करके ही समीक्ष्यवादीको सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि इस प्रकारकी परीक्षा करके उसे कभी-कभी यह देखकर आश्चर्य होगा कि जिन रचनाओंमें सभी गुणतत्त्व विद्यमान हैं, वे पुस्तकालयोंमें पड़े सड़ते रहे और जिनमें गुण-तत्त्वका अभाव है उनका आदर होता रहा। अतः समीक्ष्यवादीका यह भी कर्त्तव्य है कि वह उन सब कारणोंकी भी छानबीन करे, जिनके कारण कोई कृति प्रसिद्ध हुई या अप्रसिद्ध रह गई। इस मीमांसाके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोंका समाधान होना चाहिए—

( क ) कविके समयमें ही उस रचनाका उसके देशमें तथा अन्य देशोंमें कितना आदर हुआ ?

( ख ) उस आदरकी प्रतिष्ठाके लिये कवि, समीक्ष्यवादी, समाचार-पत्र या राज्य-शासनका क्या आश्रय मिला ?

( ग ) स्वयं उस रचनामें लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले कौनसे तत्त्व हैं और वे तत्त्व काव्यत्मक हैं या नैतिक ?

( घ ) किसी कृतिका आदर उसके देश और युगमें न होकर अन्य देशों और युगोंमें क्यों हुआ ?

( ङ ) यदि आदर हुआ तो वह अनावश्यक, तथा अतिरञ्जित तो नहीं हुआ, यदि हुआ तो क्यों ?

इसीके अन्तर्गत उस प्रभावकी भी मीमांसा करनी चाहिए जो काव्यके सात्त्विक रूपके कारण व्याप्त होता है अर्थात् अमुक रचनाके पढ़नेसे किसी व्यक्तिपर अथवा किसी समाजपर क्या व्यापक प्रभाव पड़ा अर्थात् उसके अध्ययनसे किसी व्यक्ति या समाजके आचार-विचारमें किस प्रकारका परिवर्त्तन हुआ ? वह परिवर्त्तन कहाँतक वाञ्छनीय है ? उस परिवर्त्तनके लिये वह रचना

कहाँतक उत्तरदायी है और उस समाजका सङ्गठन या ढाँचा उसके लिये कहाँतक उत्तरदायी है ?

जब हम उपर्यङ्कित समीक्षा-सिद्धान्तके तत्त्वोंकी दृष्टिसे उसी क्रमसे किसी कृतिका समीक्षण करेंगे तभी हम वास्तवमें उसकी समीक्षा कर पावेंगे। यह सत्य है कि किसी भी प्रकारके समीक्षणमें हमारी व्यक्तिगत रुचि सदा प्रबल रहती है, हमारी सामाजिक रूढियाँ भी काव्यके मूल्याङ्कनमें अपना प्रभाव डालती रहती हैं और विचक्षण विद्वानों-द्वारा अनुभूत तथा परीक्षित सिद्धान्तोंका समीक्षा-शास्त्र भी हमपर अङ्कुश लगाए रहता है किन्तु यदि हम उपर्यङ्कित कसौटीके अनुसार चलें तो हमें प्रतीत होगा कि हमारी व्यक्तिगत कलात्मक रुचि, सामाजिक रूढियाँ और शास्त्र तीनोंका समान रूपसे परितोषण होता चला जा रहा है और हम काकवृत्ति और कोकिला-वृत्तिसे ऊपर उठकर मधुकर-वृत्तिसे गुण-संग्रह करते हैं और हंस-वृत्तिसे उन गुणोंको दोषोंसे पृथक् करके इस प्रकार अलग स्थापित कर देते हैं कि अत्यन्त भावक या सहृदयसे लेकर साधारण पाठक या श्रोतातक सभी उस रचनाका तत्त्व समझ कर रस ले सकते हैं।

# सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत

ग्रन्थके प्रारम्भमें ही यह सङ्केत किया जा चुका है कि इस ग्रन्थका उद्देश्य साहित्यकी समीक्षा करना है। पिछले अध्यायमें समीक्षाके सिद्धान्त स्थापित करके गुण-तत्त्वोंकी विवेचना करते हुए यह बताया जा चुका है कि सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्‌भुतता ही ऐसे गुणतत्त्व हैं जिनके विद्यमान होनेसे कोई भी रचना सर्वग्राह्य हो जाती है। अतः यह आवश्यक है कि इन तीनों गुणतत्त्वोंका तात्त्विक विवेचन करके समझ लेना चाहिए कि ये गुणतत्त्व वास्तवमें हैं क्या, इनका मूल क्या है और ये किस प्रकार काव्यमें समाविष्ट किए जाते हैं।

## समीक्षाके विषय

यों तो सम्पूर्ण दृश्य जगत् ही समीक्षाका विषय हो सकता है किन्तु हम ऊपर समझा आए हैं कि केवल अद्‌भुत, सुन्दर और असाधारणकी ओर ही लोगोंकी साधारणतः प्रवृत्ति होती है अतः साहित्य-समीक्षक भी इन्हीं तीन गुणतत्त्वोंसे समन्वित साहित्यका ही समीक्षण करता है। इन तीनों गुणोंसे युक्त जितने पदार्थ हम सृष्टिमें देखते हैं वे सब दो श्रेणियोंमें विभाजित हो सकते हैं—एक तो वे जिन्हें ईश्वरने रचा है और दूसरे वे जो मनुष्यकी कृतियाँ है। वन, नदी, पर्वत, सागर, आकाश, मेघ, उषा, अरुण, इन्द्र-धनुष, चन्द्र, सूर्य, तारे, धूम्रकेतु, रङ्ग-बिरङ्गे जलचर, नभचर और थलचर सब ईश्वरकी कृतियाँ हैं। इसके साथ सुन्दर सङ्गीत, चित्र, मूर्ति, भवन, पुष्करिणी, उपवन और काव्य ये सब मनुष्यकी कृतियाँ हैं। इन मनुष्यकी कृतियोंको लोग कला कहते हैं। हमारे यहाँ इस प्रकारकी चौंसठ कलाएँ और पाँच सौ उपकलाएँ मानी गई हैं जिनका विवेचन हम कलाकी व्याख्यामें करेंगे।

### दृश्य और कल्पना-जगत्

हमें यही नहीं समझना चाहिए कि हम जिस प्रत्यक्ष जगत्को देख रहे हैं केवल उसीमें सुन्दर, अद्भुत और असाधारण विषय गोचर होते हैं। इस दृश्य जगत्के अतिरिक्त दूसरा भी संसार है, जिसे कल्पना-लोक कहा जा सकता है। यह कल्पना-लोक प्रत्यक्ष जगत्से भिन्न, अत्यन्त व्यापक तथा इतना विस्तृत है कि उसके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है, इतना है और एक है या अनेक, क्योंकि प्रत्येक सचेतन मनुष्यका कल्पना-लोक अपना निराला होता है, जहाँ वह नित्य न जाने कितने प्रकारकी मानसी सृष्टि रचता और मिटाता रहता है, इस मानसी सृष्टिका वह स्वयं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र है और इसीलिये यह मानस या कल्पना-जगत् दृश्यमान जगत्से भी अधिक प्रभावशाली और व्यापक होता है। प्रत्येक प्रकारके कवि कर्ममें दृश्य जगत्की सामग्री तो अत्यन्त सूक्ष्म नाम-मात्रको होती है, उसका अधिकांश कल्पना-लोकसे ही लिया और रचा जाता है और इस सृष्टिका आधार वही मानस व्यापार है जिसके अनुसार ब्रह्मने चिन्तन किया—

'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेयेति।'

[ मैं एक हूँ, मैं बहुत रूपोंवाला हो जाऊँ। ]

मनुष्यकी जिस कला नामवाली सृष्टिका हम ऊपर परिचय दे चुके हैं उसके मूलमें भी यही कल्पना विराजमान रहती है। अतः मनुष्यकी सम्पूर्ण रचनाओंका आधार कल्पना ही है। हमारी सम्पूर्ण रचना-क्रियामें पहले कल्पनाका मानस व्यापार होता है, तब उसके लिये हम साधन जुटाते हैं और साधन जुटानेपर कार्य पूरा करते हैं। यदि साधन न भी जुट पावें और कार्य प्रत्यक्ष रूपसे न भी हो तब भी उसकी मानसिक रूप-रेखा बन चुकती है और वह भी कृत हो जाता है अर्थात् मनुष्यके मनमें वह कार्य अपने पूर्ण रूप-संस्कारके साथ आ बैठता है। इस रूप-संस्कारके सर्जनके लिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि, विद्या, संसर्ग आदिके अनुसार अपने मनमें सुन्दर, अद्भुत और असाधारण तत्त्व ढूँढ़-ढूँढ़कर एकत्र करता है और यथावसर उन्हें अभिव्यक्त करता है। यदि उसका अभिव्यक्ति-कौशल सशक्त और सम्पन्न होता है तो वह कवि-कर्म साहित्य बन जाता है। अतः साहित्यका परीक्षण करते समय हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि कविने दृश्यमान जगत्के कितने ऐसे पदार्थ,

व्यक्ति, स्थल, घटना आदि साधन उपस्थित किए हैं जो सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत हैं वरन् यह भी देखना चाहिए कि उसने कल्पना-जगत्से कितनी सामग्री लाकर उपस्थित की है, किस कौशलसे उन्हें सजाकर रक्खा है, और उसके इस सामग्री-चयन तथा सज्जा-कौशलमें क्या सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत है कि वह दूसरोंकी रुचि अपनी ओर आकृष्ट कर ले, क्योंकि समीक्षण अर्थात् भली प्रकार देखनेकी क्रिया कभी किसी अरुचिकर, कुदर्शन या असुन्दरके प्रति नहीं होती, न हम उसे स्वयं देखकर किसी दूसरेको दिखाना ही चाहते। मनुष्यकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति जन्मजात होती है। छोटा सा शिशु भी सब किसीकी गोदमें नहीं जाता। उसकी यह रुचि और अरुचि भी सुन्दरता और असुन्दरताके विवेकपर आश्रित होती है। किन्तु पूछनेपर भी वह आपको यह नहीं समझा सकता कि एक क्यों सुन्दर है और दूसरा क्यों असुन्दर है। यह सुन्दरता और असुन्दरताका विवेक कुछ तो हमारे जन्म-संस्कारसे बनता है, और कुछ शिक्षा तथा सभ्यताके संयोगसे। हमारी जन्मजात सौन्दर्य-वृत्ति व्यक्तिगत होती है जिसकी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती। उसके लिये यही व्याख्या पर्याप्त है—

दधि मधुरं, मधु मधुरं, द्राक्षा मधुरा, सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं, यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

[ दही, मधु, दाख और चीनी सभी मीठे होते हैं, किन्तु जिसके मनको जो अच्छा लगे उसके लिये वही मीठा होता है। ]

इसे व्यक्तिगत सौन्दर्य-रुचि कहते हैं और यह रुचि प्रत्येक व्यक्तिकी अलग-अलग होती है इसलिये इसकी न व्याख्या की जा सकती है, न इसका वर्गीकरण हो सकता है।

दूसरे प्रकारकी सौन्दर्य-वृत्ति वह है जो शिक्षा और सभ्यताके सम्पर्कसे व्यवस्थित होकर हमारे सौन्दर्य-विवेकको परिष्कृत करती है। हम यहाँ उसीकी व्याख्या करेंगे क्योंकि वही सौन्दर्य-वृत्ति समष्टि-गत है और उसीकी कसौटीपर साहित्यके सौन्दर्यकी समीक्षा की जा सकती है।

### वाणीके सौन्दर्यकी महत्ता

कुछ विद्वानोंने कहा है कि वाणीको शक्ति पाकर ही हम लोग अधिक सभ्य हो पाए हैं। हमारे यहाँ भी किसी सूक्तिकारने कहा है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्वलाः ।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमैरचालङ्कृता मूर्धजाः ।।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।

[ केयूर, चन्द्रमाके समान उजले हार, स्नान, अङ्गरागोंका लेपन, फूलोंसे केशोंकी सजावट आदिसे पुरुषका वास्तविक अलङ्करण नहीं होता । उसकी शोभा तो सुसंस्कृत, मँजी हुई वाणीसे ही होता है । यह अलङ्करण ऐसा शाश्वत है कि अन्य आभूषण तो नष्ट भी हो जाते हैं किन्तु वाणीका संस्कार सदा अमर रहता है । ]

अतः इस वाणीके सौन्दर्य-संस्कारका परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है और उससे पूर्व यह भी जान लेना अपरिहार्य है कि सौन्दर्य किसे कहते हैं ।

## सौन्दर्य

सौन्दर्य क्या है और उसकी क्या परिभाषा होनी चाहिए इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें इतना मतभेद, विवाद और शास्त्रार्थ है कि सौन्दर्यका मार्ग सैकड़ों परिभाषाओं और सिद्धान्तोंकी पहाड़ियोंसे भरा पड़ा है । जब हम किसी कलाकृतिकी परीक्षा करते हैं तो हम निश्चित रूपसे यह देखते हैं कि उसमें क्या सौन्दर्य है। हम सौन्दर्यको कलाका सहायक और चिह्न मानते हैं। सौन्दर्यके सम्बन्धमें जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं उन्हें हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—पहला तत्त्व, दूसरा सम्बन्ध, तीसरा कारण और चौथा कार्य या प्रभाव । सम्भवतः इन चारोंमेंसे कोई ऐसा एकाकी मार्ग नहीं है जिसका सब अनुसरण कर सकते हों । किन्तु इनके सम्बन्धमें विद्वानोंके जो विचार हैं उनका विवरण देना आवश्यक है ।

कहा जाता है कि जिन वस्तुओंसे सौन्दर्यके गुण हों, वे सुन्दर कहलाते हैं । प्लेटो या अफ़लातूनने अपने फीडोमें कहा है—'यदि कोई वस्तु सुन्दर है तो वह इसीलिये है कि वह पूर्ण सौन्दर्यका एक खण्ड है, और किसी कारणसे नहीं' । सन्त औगस्टाइनने ईश्वरको सम्बोधन करते हुए कहा है—'संसारकी सब सुन्दर वस्तुओंके सौन्दर्य' । इस गोलमोल वाक्यकी न तो कोई

व्याख्या की जा सकती न इसका कोई विश्लेषण हो सकता है। यह तो अनुभव किया जा सकता है और इसका आनन्द लिया जा सकता है। इस सौन्दर्य-तत्त्वको अन्य तीन श्रेणियोंसे छानकर अलग भी कर दिया गया है।

सम्बन्धका तात्पर्य है सब प्रकारकी कला-कृतियोंमें 'सर्वसामान्य गुण' ढूँढ़नेका प्रयास करना। क्लाइव बेलने सन् १९१३ में अपने 'आर्ट' नामक ग्रन्थमें एक 'विशिष्ट रूप'की बात कही थी कि 'इस विशिष्ट रूप'को देखनेपर हम यह जिज्ञासा नहीं कर सकते कि यह किस बातका द्योतक है, इसका क्या वैशिष्ट्य है? यह वैशिष्ट्य तो उस वस्तुके विभिन्न अङ्गोंके उस पारस्परिक अवयव-सम्बन्धको व्यक्त करता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, किन्तु जिसका अनुभव अवश्य किया जा सकता है।'

कारणकी दृष्टिसे विचार करनेवालोंका कथन है कि 'सुन्दरता वह है जो हमारे हृदयमें सौन्दर्यात्मक राग या रस उत्पन्न करे।' मनोवैज्ञानिक लोग भले ही इससे सहमत न हों किन्तु रोजर फ्राइने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा है—'थोड़ी देरके लिये मैं यह दृढ़ताके साथ घोषित करता हूँ कि सौन्दर्यात्मक राग वास्तवमें किसी रूपसे सम्बन्ध रखनेवाला राग या रस है।' इसकी भी व्याख्या नहीं की जा सकती किन्तु इसका अनुभव किया जा सकता है। टी० एस्० ईलियटने उपर्युक्त दोनों वक्तव्योंको एकमें मिला कर कहा—'बहुत कम लोग उस विशिष्ट राग या रसकी अभिव्यक्तिकी उपस्थितिको पहचान पाते हैं जिसकी सत्ता कवितामें होती है, कविके इतिहासमें नहीं।

कविताकी एक परिभाषा यह बताई गई है कि 'किसी कवि या कवियोंकी रचनाओंको कविता कहते हैं।' इसी प्रकार बर्गसनने सौन्दर्यकी परिभाषा करते हुए कहा है कि सौन्दर्य 'किसी प्रतिभाशाली व्यक्तिकी सृष्टि है अथवा सौन्दर्य किसी प्रतिभाशालीकी कृतिका लक्षण है।' अतः पहले अपना इष्ट ढूँढ़ लेना चाहिए।

सर्वप्राचीन तथा अत्यन्त मान्य सिद्धान्त यह है कि 'कला प्रकृतिका अनुकरण है।' यदि यह माना जाय कि सुन्दरता अनुकरणकी वास्तविकतामें भी विद्यमान है। इस परिभाषाके अनुसार सौन्दर्यकी समस्या कलासे खिसककर प्रकृतिमें जा पहुँचती है। अरस्तूने इसमें अभिज्ञानके आनन्दकी बात कही है किन्तु कैमरा या चित्र-यन्त्रके आविष्कारसे बहुत पहले ड्राइडन और कौलरिजने अत्यधिक समानतापर बड़ी आपत्ति की थी। ड्राइडनका मत था कि अनुकरणसे

मूल वस्तुको अधिक सुन्दर बनाकर प्रस्तुत करना चाहिए। इसीको अरस्तूने कहा था कि 'अनुकरण करते समय उसे आदर्श रूपमें उपस्थित करना चाहिए।' रस्किन दो टूक बात कहनेवाला था। उसने यह प्रश्न किया कि 'यदि बिच्छूमें पर्याप्त विष हो तो क्या वह सृष्टिमें अपना स्थान अधिक गौरवके साथ स्थापित कर सकता है और उसके साथ ही साथ बिच्छू होनेकी पूर्णताको भी प्राप्त कर सकता है?' ह्यूगोका मत है कि 'कला तो प्रकृतिके सम्मुख एक दर्पण है, अन्तर इतना ही है कि उसे केन्द्रित दर्पण होना चाहिए, चल दर्पण नहीं, जिससे कि वह एक किरणको प्रकाश बना ले और प्रकाशको लपट बना ले।' कौलरिज कुछ मस्त प्रकृतिका था इसलिये उसने कहा कि 'प्रकृतिकी पूर्णताका अनुकरण करना केवल मूर्खता है।' नीत्शे तो और भी चार पग आगे बढ़ गया और उसने उन सब लोगोंका खण्डन करते हुए अत्यन्त उजड्डपनसे कहा—'कलाकी दृष्टिसे प्रकृति कोई आदर्श नहीं है।' वर्त्तमान सौन्दर्यवादी समीक्षक रेबेका वेस्टनने कहा है कि 'सबसे अधिक घृणित वस्तु उसकी पर्याप्तता है।' इसी सिद्धान्तसे मिलती-जुलती तथा सम्बद्ध वे भावनाएँ हैं जिनके अनुसार 'सौन्दर्य वह है जो सत्य, श्रेष्ठ या पाशविकताके मूल रूपोंको प्रस्तुत करें। प्रसिद्ध समोच्चयवादिनी हेलन एच्० पार्खर्स्टने सन् १९०३ में अपने 'सौन्दर्य' (ब्यूटी) नामक ग्रन्थमें लिखा है कि 'किसी कला या सम्पूर्ण कलाका एक ही उद्देश्य है और वह है सार्वभौम द्वन्द्वको अपने ढङ्गसे प्रतिध्वनित करना।'

(अ) दूसरा मत यह है कि 'किसी ऐसे माध्यमके सफलता-पूर्वक प्रयोग करनेपर निकला हुआ परिणाम 'सुन्दर' होता है जो अपने कार्यके लिये सुन्दर रूपका प्रदर्शन करे।' यह बात किसी गीतकी अपेक्षा गिरिजाघरके सम्बन्धमें अधिक सटीकताके साथ परीक्षित हो सकती है। कान्टका मत है कि 'सुन्दरता वह प्रयोगका प्रकार है जो किसी कामके लिये किया जाय और जिसका कोई उद्देश्य न हो।' कमसे कम किसी वस्तुके आन्तरिक भागोंकी परस्पर संगति और आन्तरिक समरूपता प्रत्येक कलाकृतिमें साधारणतः मानी जाती है और वही उसके सौन्दर्यकी कसौटी समझी जाती है।

३. कारण

कारण तथा कार्य या प्रभावके आधारपर इस परिभाषामें आन्तरिक तत्त्व प्राप्त होता है। ह्यूमका मत है कि 'स्वयं' वस्तुओंमें सौन्दर्य नामक कोई गुण

नहीं है। सौन्दर्य तो उस मष्तिस्कमें निवास करता है जो उन वस्तुओंकी कल्पना करता है।' यदि इस मतको सब लोग मान भी लें तो भी प्रत्येक व्यक्तिके अनुसार इस परिभाषामें बहुत अन्तर होता जायगा।

( अ ) इसका एक रूप यह है कि 'जिस वस्तुसे आनन्द मिले वही सुन्दर है।' प्रायः साधारण जनसमाजका यही मत है। रस्किन जैसे विवेकशील व्यक्तिने भी लगभग इसीका समर्थन करते हुए कहा कि 'जो भी वस्तु किसी अंशमें हमें आनन्द प्रदान करती है वह सुन्दर है।' सान्तायनने कहा है कि 'सौन्दर्य वह आनन्द है जो किसी वस्तुका गुण माना जाता है।' ई० ई० कैलेटने कहा है कि 'आनन्द लेनेकी स्थायी सम्भावनाको सौन्दर्य कहते हैं।' हेडनने एक विचित्र बात कही है कि 'सौन्दर्यका मूल पूर्णतः स्त्रीमें है।' कुछ अन्य विद्वानोंने इसी भावका विस्तार करते हुए या इसे गम्भीर करते हुए कहा है कि 'जो वस्तु हमारी अनुरागात्मक भावनाओंको उत्तेजित करे, वही सुन्दर है।' इसपर कैनेथ बर्कने टिप्पणी करते हुए एक उदाहरण दिया कि 'सिरमें पीड़ा होना किसी एक त्रासदकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है अर्थात् शिर:पीडाका प्रभाव स्पष्टतः सत्य रूपसे हमारे दु:खको बढ़ाता है। अतः यह कहना कितना मूर्खतापूर्ण है कि क्योंकि सम्पूर्ण कलाएँ हमारे भाव या रागको उत्तजित करती हैं अतः जो भी हमारे रागको उत्तेजित करे वही कला है।' बर्कका कहना है कि 'अनुभव उतना कलाका उद्देश्य नहीं है जितना कलाका विषय है और यह कला स्वयं अनुभव नहीं वरन् अनुभवमें कुछ वृद्धि करनेवाली होती है। यही भावना क्रोचेकी भावनासे पूर्णतः या अंशतः मिलती-जुलती है जिसका विवरण आगे 'प्रभाव'की व्याख्याके खण्ड ( आ ) में दिया जा रहा है।

(आ) एक मत यह भी है कि 'वही वस्तु सुन्दर है जो भ्रम उत्पन्न करे।' कौलरिजने स्वयं कहा है कि 'कभी-कभी कलाकृति देखते समय अथवा काव्य पढ़ते समय हमें जान-बूझकर अपने अविश्वासको दूर रख देना पड़ता है।' कानराड लांगेने तो इस बातको सिद्धान्त रूपसे स्थिर कर दिया है। उसका मत है कि 'सौन्दर्यात्मक समीक्षाका तत्त्व ही यह है कि हम जानबूझकर आत्म-प्रवञ्चना करें।' यह कलात्मक भ्रान्ति दो प्रकारकी होती है। एक तो ग्राहकको सज्ञान भ्रान्तिके संसारमें पहुँचा देती है जैसे कौलरिजका 'प्राचीन केवट' 'एन्शन्ट मैरिनर, जो जीवनमें मृत्युका अनुभव करता है या एलिसका दर्पणमें

उस पीटर पैनको देखना जो असम्भव देशमें पहुँच रहा है। इस भ्रान्तिकी भावनासे मनुष्य अपने उस दैनिक संसारमें पहुँच जाता है जहाँ वह यह भूल जाता है कि वह किसी तत्सम वस्तुका दर्शन कर रहा है, वास्तविक वस्तुका नहीं। यही विचार आगे चलकर तन्मयता (एम्पेथी) में अर्थात् उस कल्पनात्मक अनुभवमें पहुँच जाता है जिसमें हम अज्ञात रूपसे अपने आपको किसी वस्तुमें प्रविष्ट कर लेते हैं या उसमें तन्मय हो जाते हैं।

**तन्मयताकी भावना ( कंसेप्ट ऑफ़ ऐम्पेथी )**

( इ ) 'तन्मयता' ( एम्पेथी ) के सिद्धान्तके अनुसार जो वस्तु हमें अपनेमें तन्मय कर ले वही सुन्दर है।' वास्तवमें यही एक ऐसा सरल सूत्र है जो ग्राहकको किसी कलाकृतिमें तन्मय कर देता है। यह आन्तरिकता उन सब विचारों या परीक्षणोंको दूर कर देती है जिनके द्वारा हम किसी कलाकृतिके बाह्य रूपपर विचार करते हैं। कहा जाता है कि लैला और मजनूँ दोनों असुन्दर थे और जिस समाजमें वे दोनों थे उसमें पुरुष और सुन्दर नारियोंका अभाव नहीं था फिर भी दोनोंमें प्रगाढ़ तन्मयता स्थापित हो गई थी। भारतीय मतके अनुसार इसे हम जन्मान्तर संस्कार कह सकते हैं, जिसके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने कहा था कि 'जब हम सब ओरसे निश्चिन्त होनेपर भी किसी सुन्दर वस्तुको देखते हैं या सुन्दर वस्तुको सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होते हैं तो निश्चय ही हम किसी पूर्व जन्मके अपने मधुर संस्कारको स्मरण करके उसकी ओर आकृष्ट होते हैं।' किन्तु किसी भी जड़ सुन्दर वस्तुके सम्बन्धमें संस्कारकी बात नहीं उठाई जा सकती। किसी सुन्दर चित्रको देखकर जब हम 'वाह !' कर उठते हैं या किसीके सुन्दर अभिनयको देखकर हम प्रभावित होते हैं तो निश्चय ही हम उसके किसी विशेष आन्तरिक गुणसे प्रभावित होते हैं। अत: केवल तन्मयता स्थापित होना सौन्दर्यका लक्षण नहीं होता क्योंकि कभी-कभी यह तन्मयता किसी उपकार या अधिक सम्पर्कके कारण भी उत्पन्न हो जाती है। उसे केवल हम सम्पर्क-वासना या वासनामात्र कह सकते हैं, तन्मयता नहीं। अपने किसी सहपाठी या साथीके साथ घनिष्ठता स्थापित कर लेना भी सम्पर्कके कारण होता है किसी सौन्दर्य-बोधके कारण नहीं। अत: आत्मीयता या तन्मयताको सौन्दर्यकी कसौटी मानना ठीक नहीं।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकारकी तन्मयता चाहे सौन्दर्यकी

सच्ची कसौटी हो या न हो किन्तु थके हुए व्यापारी और किसी दूकानमें सौदा बेचनेवाली थकी हुई लड़कीको तन्मय करनेके लिये अधिक प्रभावशाली होती है।

(ई) एक मत यह भी है कि 'सौन्दर्य वह साधन है जो किसी व्यक्तिको अपने अस्तित्वके सन्तुलन और आवयविक एकताके लिये उत्तेजित करता है। यह प्रभाव डालनेका सिद्धान्त, तर्क और रस या आवेगको सन्तुलित करता है अर्थात् तन्मयता और तटस्थ ध्यानको सन्तुलित करता है। वह सौन्दर्यको इस रूपमें देखता है कि जो मनुष्यकी परस्पर विरुद्ध भावनाओंको एक साथ उभाड़ दे।

४. प्रभाव

चौथे वर्गवालोंका सिद्धान्त यह है कि वस्तुओंका हमपर प्रभाव नहीं पड़ता वरन् हमारा उनपर क्या प्रभाव पड़ता है इस दृष्टिसे हम उनपर विचार करते हैं।

(अ) जिन बहुतसे लोगोंने सुन्दरताको एक उत्पादनीय वस्तु समझा है उन्होंने कलाकारके कौशलकी दृष्टिसे उसपर विचार किया है। उनका कहना है कि उपकरणोंके ठीक प्रयोगसे सुन्दरताकी उत्पत्ति होती है अर्थात् कौशलपर अधिकार होनेसे कला जन्म लेती है या इसे यों कह सकते हैं कि अनावश्यक और निरर्थक अंशको हटा लेनेसे सौन्दर्य उत्पन्न होता है जैसे मूर्तिकार पत्थरको छील और काटकर उसमेंसे मूर्ति निकाल लेता है। प्राचीन आचार्योंने बहुत दिनोंतक इस बातपर शास्त्रार्थ किया कि स्वाभाविक प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास इन तीनोंमेंसे कौनसा गुण कलाकारके लिये महत्त्वका है। इस प्रकार उन्होंने यह परिणाम निकाला कि प्रतिभा और कौशल दोनोंके योगसे कलाकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोगोंका आजकल यह मत है विशेषतः आर्नो होल्ज़का कि 'सौन्दर्य तो प्रकृतिपर मनुष्यकी क्रियाका परिणाम है।'

(आ) सब सिद्धान्तोंमें अधिक व्यापक और वर्त्तमान कालमें सबसे अधिक प्रभावशाली क्रोचेका यह सिद्धान्त है कि 'सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही कला है।' क्रोचे कहता है कि यदि कोई इससे अधिक कलासे आशा करे भी तो आजतक कोई ऐसा माईका लाल नहीं हुआ जो यह बता सके कि 'वह इससे अधिक' क्या है।' किन्तु यह तो कोई तर्क नहीं हुआ। परिभाषाको इतना अधिक व्यापक

बना देनेका अर्थ है उस शब्दकी उपयोगिताको सङ्कुचित कर देना। इसलिये कुछ लोगोंने उसकी परिधि बाँध दी है जैसे—

( इ ) लियो स्टीनने 'सौन्दर्यवादके क० ख० ग० ( दि ए० बी० सी० ऑफ़ ऐस्थैटिक्स १९२७ ) में कहा है कि किसी अनुभूत रुचिका पूर्ण अभिव्यञ्जन ही सौन्दर्य है।' इस दृष्टिसे शल्य-चिकित्सक कहता है कि मैंने आज सुन्दर चीर-फाड़ की। समुद्र-तटपर खड़ा हुआ व्यक्ति कह सकता है कि मैंने एक सुन्दर जलपोतको आँधीमें नीचे ऊपर होते देखा। किन्तु अनुभूत रुचिका पूर्ण अभिव्यञ्जन वहाँ भी देखा गया है, जहाँ एक अत्यन्त सुन्दर दुष्ट बालक अपनी नाकपर अँगूठा जमा रहा हो।

( ई ) यदि हम सौन्दर्यको कलाकारकी सम्पत्ति या देन कहें जैसे पूर्ण प्रेमी ईसाके लिये संसारकी सब वस्तुएँ स्नेहके योग्य, स्नेहपूर्ण और स्नेही हैं, उसी प्रकार पूर्ण कलाकारके लिये प्रत्येक वस्तुमें सौन्दर्य है और इस प्रकार अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार प्रत्येक कलाकार अपने चारों ओर सौन्दर्य प्राप्त करता है। गिल्बर्ट मरेने कहा है कि 'सौन्दर्य वह है जिसे देखते ही स्नेह किया जा सके।' रेबेका वेस्टने समझाया है कि प्रेम और कलाके बीच अन्तर यह है कि प्रेम जिस वस्तुको व्यक्तिगत बनाए रहता है उसे कला सार्वभौम बना देती है।' टोमस ऐक्वीनसने कहा है कि 'सौन्दर्यके सामने इच्छा शान्त हो जाती है।' इस दृष्टिसे सौन्दर्य भी अकर्मक प्रेम है जो दूसरेको अपनाना नहीं चाहता वरन् उसपर ध्यान देनेमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। संसारके महत्तम कवियोंमेंसे दाँतेने स्पष्ट रूपसे कहा है कि 'मैं ऐसा व्यक्ति हूँ जो कि प्रेमकी प्रेरणा पाकर सोचता चलता हूँ और जिस प्रकार वह आदेश देता है उसकी रूप-सज्जा करता चलता हूँ, क्योंकि किसी कलाकृतिके रचयिताके लिये और उसके ग्राहकके लिये सौन्दर्य वह रूप है जो वस्तुओंको प्रेम प्रदान करता है।'

### सौन्दर्य-शास्त्र ( एस्थैटिक्स )

अँगरेज़ीका 'ऐसथेटिक्स' शब्द यूनानी 'ऐसथेसिस' शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है 'इन्द्रियानुभव'। सौन्दर्य-शास्त्रके अर्थमें इस शब्दका सर्व-प्रथम प्रयोग जर्मन लेखक अलेग्ज़ैन्डर बाउमगार्टेन ( १७१४—१७६२ ) ने किया था यद्यपि इस विषयकी समस्याओंकी परीक्षा इससे बहुत पहलेसे होती चली आ रही थी और इसे लोग 'सौन्दर्यका दर्शन' या 'कलाका दर्शन,

( फ़िलौसौफ़ी औफ़ ब्यूटी और आर्ट ) कहते थे। इस दर्शनका अर्थ भी सिद्धान्त-मात्र था चाहे वह सिद्धान्त कल्पनाश्रित रहा हो या अनुभवाश्रित।

बाउमगार्टेनके समयसे ही सौन्दर्य-शास्त्रकी परिभाषा यह की गई— 'प्रकृति और कलामें जो सुन्दर हो उसका, उसकी प्रकृतिका, उसकी अवस्थाओंका और उसकी नियमानुकूलताका ज्ञान ही सौन्दर्य-शास्त्रका विषय है।' इस परिभाषाका तात्पर्य यह है कि इस विषयकी परिधि अत्यन्त विस्तृत है और दो दृष्टियोंसे इसकी मीमांसा की जा सकती है—१. दार्शनिक तथा २. मनोवैज्ञानिक। यूनानी दार्शनिक अफ़लातून ( प्लेटो ) के समयसे ही कला और सौन्दर्यकी अनेक समस्याओंपर बड़े-बड़े दार्शनिक अत्यन्त गम्भीरताके साथ विचार करते रहे हैं। अपनी इस जिज्ञासामें उन्होंने इस प्रकारके प्रश्नोंका समाधान करनेका प्रयत्न किया है—

कला क्या है? सौन्दर्य क्या है? क्या सौन्दर्य शुद्ध रूपसे बाह्य ही है? सत्य तथा शिव ( कल्याण ) आदि अन्य तत्त्वोंसे सौन्दर्यका क्या सम्बन्ध है? इन सभी दार्शनिकोंकी मीमांसा-प्रणाली या विवेचना-पद्धति बहुत दिनोंतक सिद्धान्ताश्रित ही रही अर्थात् ये लोग पहले एक सिद्धान्त स्थापित कर लेते थे और फिर उस सिद्धान्तको सब तत्त्वों और विषयोंपर आरोपित करके उसका प्रतिपादन करते थे। इसी कारण परम सुन्दर, परम ललित ( ग्रेसफ़ुल ), परम योग्य ( वर्दी ), परम उद्वृत्त ( सब्लाइम ), परम त्रासद ( ट्रेजिक ), परम हास्यास्पद, परम हर्षक आदि सौन्दर्यकी अनेक श्रेणियोंका जो तथाकथित सम्बन्ध मौलिक धारणाओं, विचारों तथा स्वयंसिद्ध नियमोंसे बताया जाता है, उनके आधारपर उनकी प्रकृतिका रूप स्थिर किया गया है।

इस क्रमागत धारणामें फेचनर ( १८०१–८७ ) ने कुछ परिवर्त्तन करके इस बातपर अधिक बल दिया कि सौन्दर्य-शास्त्रको नीचेसे अर्थात् मूलसे ही विज्ञान बना दिया जाय। इस विश्वाससे प्रेरित होनेके कारण फेचनर ही मनोवैज्ञानिक तथा प्रयोगात्मक सौन्दर्य-शास्त्रका जनक बन गया है। पिछले सौ वर्षोंसे लिप्स, फोल्कैल्ट, मेउमान, देसौइ, पोदूल, म्यूलर फ्रोइएनफ़ेल्स आदि मनोवैज्ञानिकोंने सौन्दर्य-शास्त्रकी मीमांसा मनोविज्ञानकी दृष्टिसे करनेकी आवश्यकता बताई और इसीलिये पिछले सौ वर्षोंसे सौन्दर्य-शास्त्रपर प्रधानतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही विचार किया जा रहा है।

मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्रका उद्देश्य यह रहा है कि वह सौन्दर्य-सम्बन्धी दो समस्याओंके समाधानका प्रयास करे—

१. सौन्दर्यात्मक आनन्दोपभोग, तथा २. सौन्दर्यात्मक सर्जन अथवा कला-प्रवृत्ति। अलेग्ज़ैन्डर आदि कुछ दार्शनिकोंका यह मत है कि सौन्दर्यात्मक सर्जनकी प्रकृति भी ठीक वही है जो सौन्दर्य-समीक्षा अथवा सौन्दर्यमें रस लेने, सौन्दर्यको समझने-परखने तथा उससे आह्लादित होनेकी प्रवृत्ति है, क्योंकि सौन्दर्य-समीक्षा वास्तवमें कलाकारकी रचनात्मिका कलाकी आवृत्ति ही तो है। अतः दोनों समस्याएँ वास्तवमें दो न होकर एक ही हैं।

## सौन्दर्य-शास्त्रकी ऐतिहासिक विवेचना

पश्चिमके देशोंमें कलाकी दार्शनिक व्याख्या ईसासे चार शताब्दि पूर्व प्रारम्भ हो गई थी जब पुनः इस बातका विचार किया गया और एक नई परिभाषा बनाई गई कि मानव-समाजमें कविका क्या स्थान है। सुकरात ( सोक्रतेस् यसोक्रेटीज़ ) तथा भाषण-शास्त्रियों (सोफ़िस्टों) से पूर्व यह समझा जाता था कि कवि तो केवल विचारक, शिक्षक, और सुन्दर कथावाचक होता है। अफलातून ( प्लेटो ) ने दो कसौटियोंपर कवियों तथा अन्य अनुकरणशीलों ( कलाकारों ) के इस पदकी परीक्षा की—

१. कवि या कलाकारने औचित्यका प्रयोग कहाँतक किया है ? और

२. कितनी शिव-सृष्टि या लोककल्याणकारी रचना की है ?

अपने 'जनतन्त्र' ( रिपब्लिक, १० ) के दशम खण्डमें उसने कवियों तथा कलाकारोंकी अयोग्यता तथा उनकी निकृष्टताका बड़ा विस्तृत विवरण देते हुए बताया है कि इन निरर्थक तथा अनुत्तरदायी व्यक्तियों ( कवियों और कलाकारों ) का काम यही रहा है कि 'अपनी कलामें' वास्तविक पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करके घृणित भावोंको उत्तेजना दें।' अफलातूनने कविताके मानसिक उद्गारका कारण उत्साह माना है (आयोन : एपोलौजी)। कवियोंको केवल अनुकरण-शील फूहड़ गायकमात्र बताते हुए उसने घोषणा की है कि 'आदर्श जनतन्त्रसे कवियोंको निकाल बाहर करना चाहिए।'

उन दिनों कवियोंको अत्यन्त सम्मान देकर लोगोंने इतना आकाशपर चढ़ा दिया था कि उससे कुढ़कर अफलातूनने कविको कोड़े लगानेतककी बात कह डाली थी, किन्तु उसकी यह झोंक आगे चलकर शिथिल हो चली और

वह अपने 'जनतन्त्र' (रिपब्लिक, खण्ड २ तथा ३) में यह कहता है कि काव्य-देवी ( म्यूजेज़ ) की कृतियोंका माधुर्य तो शिक्षाचार्योंको राजनियमोंकी माधुर्यहीन तपस्याकी ओर बालकोंको प्रवृत्त करनेमें सहायक होता है । तात्पर्य यह है कि व्यापक रूपसे अफलातून उसी कलाको श्रेष्ठ मानता है जो सत्य और व्यवस्थित हो तथा उसी आनन्दको श्रेष्ठ मानता है जो सात्त्विक हो । अपने अन्तिम ग्रन्थ 'नियम' ( लौज़ ) में उसने संग्रहणीय कलाकी कसौटी कुछ व्यापक कर दी और मनोविनोद या मानसिक विश्रान्तिकी आवश्यकताके प्रति अधिक सहानुभूति प्रदर्शित की है । कलाकी अपेक्षा सौन्दर्यकी भावनाके सम्बन्धमें अफ़लातूनकी दृष्टि अधिक स्पष्ट थी किन्तु वह लोक-मङ्गलकी भावना ( कलोस्क, आगाथौस ) के साथ बहुत घुल-मिल गई थी । यह समन्वित आदर्श महत्त्वाकांक्षी आत्माओंको कामदेव ( ईरोस, यूनानमें वासनाके देवता ) की शक्तिके सहारे परम सौन्दर्य ( सच्चिदानन्द ) की अनुभूतिकी ओर खींच ले जाता है ।

अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्र ( पेरि पोईतिखीस, पोएटिक्स ) में कवियों और चित्रकारोंको अनुकरणशील बताया है, किन्तु इस अनुकरणकी भावनाका अर्थ उसने अफ़लातूनके सिद्धान्तके विरोधी अर्थमें ही प्रयुक्त किया । उसका कहना था कि 'कवि-केवल उन्हीं विषयोंका अनुकरण कर सकता है जो मानव-जीवनमें सम्भव और आवश्यक हों । वह मनुष्यके चरित्र, व्यापार और आचार-व्यवहारके सूक्ष्म कार्योंका अनुकरण नहीं करता क्योंकि यह सब काम तो इतिहासकारका है, कविका नहीं । त्रासद ( ट्रेजेडी ) ही काव्यका श्रेष्ठतम स्वरूप है और उसमें भी सफ़क्लेस ( सोफ़ोक्लीज़ ) का ओडिपस रेक्स नामक त्रासद उसका सर्वोत्तम उदाहरण है। कोई पूर्ण कलाकृति ऐसी साङ्गोपाङ्ग विभूति है कि यदि उसमें कुछ भी घटा या बढ़ा दिया जाय तो उसकी सरूपतामें अवश्य दोष आ जायगा । कलाके आनन्ददायक प्रभाव बदलते रहते हैं तथा हितकर और युक्तियुक्त, बुद्धिसङ्गत तथा तर्कसङ्गत होते हैं । दयनीय तथा भयावह घटनाओंका सङ्गत प्रदर्शन करके सुग्रथित त्रासद दर्शकके आत्मासे करुण और भयका रेचन करा देता है ।' इसी प्रकार अपने 'राजनीति' ( पोलिटिक्स ) नामक ग्रन्थमें सङ्गीतका भी उद्देश्य उसने एक यह बताया है कि 'वह हमारे अवकाशके समयको 'बुद्धिसङ्गत विनोद'से आप्यायित कर देता है ।' और अपने 'दर्शन' ( मैटाफ़िज़िक्स ) नामक ग्रन्थमें उसने

सौन्दर्यकी व्याख्या करते हुए उसके तीन तत्त्व गिनाए हैं—१. क्रम ( औंर्डर ), २. समरूपता ( सिमेट्री ) तथा ३. निश्चयता ( डेफ़िनिटनेस )।

यद्यपि नव-अफ़लातूनवाद ( निओप्लेटोनिज़्म ) में कलाके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होते हैं किन्तु प्लौटिनसने सौन्दर्यको 'वह अवर्णनीय प्रकाश' कहकर चित्रित किया है 'जो इहलोककी प्रत्यक्ष वस्तुओंमें कुछ धुँधला दिखाई देता है किन्तु उस पार सन्तप्त मानव-आत्माको रिझाता है।' सौन्दर्यकी इस परिभाषाने जागरणकालीन कविता और गतिशील अथवा रूपान्तरणशील ( प्लास्टिक ) रचनाओं ( जैसे गीति या सैनेट और माइकेल एन्जोलोकी मूर्तिकला ) को अपने समर्थनसे अधिक बल दिया। मध्यमकालीन विचारके अनुसार उस एक परमात्मकी स्मृति-भव्यता ही पवित्र आत्मा ( होली स्पिरिट ) का ज्योतिष्पुञ्ज बन जाता है जो भौतिक पदार्थके कुछ निश्चित भागोंको अपने प्रकाशसे भासमान करता है। आगे चलकर यह प्रकाश ही वर्ण-माधुर्य या रंगका सौन्दर्य मान लिया गया और यह कहा गया कि यही रूपों ( फ़ौर्म्स ) को लक्षण और प्रभावशीलता प्रदान करता है। वर्त्तमान सौन्दर्यवादियोंके मतसे मध्यकालीन सौन्दर्यवादकी तुलना करें तो प्रतीत होगा कि मध्यकालीन सौन्दर्यवाद प्रधानतः बौद्धिक और व्यावहारिक था। यह सन्त औगस्टाइनने सङ्गीत, साहित्य और वास्तुकलामें क्रमके प्रकारको जो महत्त्व दिया है उससे ही नहीं वरन् सन्त टौमसने जो सौन्दर्य और कलाकी परिभाषाएँ दी हैं, उनसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है। सन्त टौमसने इस सौन्दर्यकी प्रमुख विशेषताओंमें प्रकाशसे पूर्व सत्यता या पूर्णता और एकस्वरता या सङ्गतिका नाम लिया है। ये बुद्धिसङ्गत पदार्थ किसी भी वस्तुकी पूर्णता अथवा किसी कलाकारकी इच्छाकी पूर्तिके लिये आवश्यक तत्त्व हैं। इसीके साथ दृढ़ और सन्तुलित रूपनिर्माण भी अपेक्षित है। इतना कहनेपर भी सन्त टौमसने मानव-इन्द्रियों और भावनाओंकी भी उपेक्षा नहीं की है क्योंकि उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि सुन्दर वस्तुएँ वे ही हैं जो देखनेमें जी लुभावें। इसीका समर्थन करते हुए रहीमने कहा है—

मनतें कहाँ 'रहीम' प्रभु, दृगतें कहाँ दिवान।
देखि दृगनि जो आदरें, मन तेहि हाथ बिकान॥

स्वयं कलाकार भी ऐसा कारीगर है जो कलाके नियमोंमें बँधकर चलता

है। क्योंकि कलाकी उत्कृष्टता मेधाविता या प्रतिभासे उत्पन्न नहीं होती वरन् कारीगरके कौशलपूर्वक निर्माण करनेसे होती है। एक सुन्दरताके साथ बनी हुई वस्तु किसी भी वस्तुके उस रूपका उदाहरण बन जाती है जो ईश्वर-द्वारा निर्मित प्रकृत तत्त्वोंसे स्पर्धा करने लगती है। मध्ययुगीन सौन्दर्यवादका सिद्धान्त स्वयं स्वतन्त्र रूपमें प्राप्त नहीं होता वरन् वह विभिन्न विषयोंकी व्याख्याके अंशोंके साथ प्राप्त होता है जैसे दैवी नाम, बौद्धिक शील, प्रेम और इच्छा। सौन्दर्यवादके मूल भावोंके विभिन्न स्वरूप एलबर्टस् मैगनस्, सन्त बोनावेन्तूरा और मीइस्टेर एक्खार्टकी रचनाओंमें प्राप्त हो सकते हैं।

यद्यपि जागरणकालमें अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गए किन्तु उनमें मौलिक चिन्तनका ही अभाव रहा। संसारको साधारणतः समझनेके लिये अफ़लातून, अरस्तू और प्लौटिनस-द्वारा गढे हुए उदात्तवादी ढाँचे ही पर्याप्त समझे गए। अठारहवीं शताब्दितक यही परम्परा मान्य होती चली आई और उसी समय सौन्दर्यवादने नवजीवन धारण किया। सन् १७२५ में गियामबत्तिस्ता विचोने अपने 'ला साएन्ज़ा नुओवा' नामक ग्रन्थमें रूढि-विद्रोह करते हुए यह मत प्रचारित किया कि 'कल्पना एक अलग स्वतन्त्र कार्य है और यह आदिम मनुष्योंकी चित्रमयी भाषा है। कविता इतिहासके प्रथम चक्रके लोगों ( होमरके यूनान या वाल्मीकिके भारत ) की मनोवृत्तिको अभिव्यक्त करती है। तर्क, औचित्य अथवा सङ्गतिकी सृष्टि बहुत पीछे हुई और वह काव्यके लिये अत्यन्त असङ्गत है।' इससे भी पहले फ्रान्सवासी कोन्दिलाकने अपने 'मानवीय ज्ञानकी उत्पत्तिपर निबन्ध' ( १७१६ ) में एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसमें उसने बतलाया कि 'आदिम मनुष्यकी भाषा सङ्केत ही थी।'

एडीसनके 'कल्पनापर' ( औन दि इमेजिनेशन, १७११–१२ ) से लेकर हचेसन, शेफ्ट्सबरी, ह्यूम, केम्स, रीड, एलीसन, रेनोल्ड्सतक सभी अँगरेज़ लेखकोंने रुचिको ही हमारे सौन्दर्यका मानसिक स्रोत मानते हुए सीधी ऐतिहासिक प्रणालीका अनुसरण किया है। अन्य सब लोगोंसे अधिक अनुभवाश्रित विचारवाले ऐडमन्ड बर्कने १७५६ में अपने 'उद्वृत्त और सुन्दरके सम्बन्धमें हमारे भावोंके स्रोतकी दार्शनिक परीक्षा' ( ए फ़िलोसोफ़िकल इन्क्वाइरी इन्टु दि ओरिजन औफ अवर आइडियाज़ औफ़ दि सब्लाइम

ऐन्ड ब्यूटिफुल ) में मूल सौन्दर्यवृत्तिको दो मुख्य वासनाओं या सहज वृत्तियोंमें विभक्त किया है—१. आत्मरक्षात्मक, २. सामाजिक। इनमेंसे आत्मरक्षा तो दूर किए हुए भयसे प्राप्त आनन्दके द्वारा उद्वृत्तकी भावना व्यक्त करती है और सौन्दर्यका प्रेम सामाजिक वासनासे अनेक रूपोंमें प्राप्त होता है। हौगर्थने सौन्दर्य-विश्लेषण ( ऐनेलिसिस औफ़ ब्यूटी, १७५३ ) में मनुष्यकी संक्रम नवीनता और बहुरूपताकी रुचिको एक नियमित सर्पाकार रेखाके समान बताया है और जी० बाउमगार्टेनने उसकी चर्चा अपने 'एस्थेटिका' ( सौन्दर्यवाद, १७५० ) में भी की है। वह वास्तवमें देकार्टेके स्पष्ट और निर्मल आदर्शका अनुयायी था इसलिये उसने कविताकी व्यापक स्पष्टतामें ही उसकी पूर्णता मानी है, अर्थात् यह माना कि 'बिना किसी प्रकारका चपला किए हुए काव्यकी सीमाके भीतर ही अधिकसे अधिक विचार कसकर भर दिए जायँ।' जैसे 'ईलियड' के द्वितीय खण्डमें जलपोतोंकी लम्बी सूची। लैसिङ्ग भी अपने मान-निर्धारणमें बहुत विवेकशील था। उसने केवल यही नहीं किया कि उदीयमान जर्मन-नाटकोंको अरस्तूके कठोर नियमोंमें आबद्ध करे वरन् अपने 'लाउकून' ( १७६६ ) के द्वारा स्पष्ट नियम बना दिए कि 'सम्वादमें अभिव्यञ्जनाका औचित्य होना ही चाहिए जिससे शुद्ध काव्यात्मक रचनाएँ अतिरञ्जित, गतिशील तथा रूपान्तरण-शील ( प्लास्टिक ) प्रभावोंसे भिन्न प्रतीत हों। उसके अनुसार चित्रकलाका काम यह है कि वह विस्तृत शून्य ( स्पेस ) में रूपों और रङ्गोंसे मौलिक वस्तुओंका चित्रण प्रयोग करे और कविताका कार्य यह है कि वह उन ध्वनियोंका प्रयोग करे जो मनुष्यकी सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रतीकान्वित करें।'

इमानुअल कान्टने अपने विवेकात्मक निर्णयके समीक्षक ( क्रिटिक औफ़ जजमेन्ट, १७९० ) नामक ग्रन्थमें अपने समयसे पूर्वकी सौन्दर्य-तत्त्व-सम्बन्धी परस्पर विरोधी भावनाओंपर अत्यन्त निष्पक्षताके साथ विचार करनेका प्रयत्न किया। अँगरेज़ प्रत्यक्षानुभववादियोंके मतका अनुसरण करते हुए उसने उपेक्षित आनन्दमयी भावनाओंको ही सौन्दर्य-विवेचनका विषय निर्धारित किया। जर्मनीके विवेकवादियोंके मतानुसार उसने भी यह माना कि रुचिका एक आधिकारिक प्रमाण होना चाहिए जो मनुष्यकी नियमनशील चेतनाओं ( बिना प्रयोजनके प्रयोजनशील बनानेवाली ) से प्रकृतिकी समर्थताके कार्यशीलत्वपर अवलम्बित हो। यह समर्थता, सार्थकता और युक्तियुक्तताके

एकात्म भावके द्वारा मस्तिष्कमें प्रतिबिम्बित होती है। शुद्ध सौन्दर्य केवल रूपात्मक होता है किन्तु सम्बद्ध सौन्दर्य किसी अर्थ या प्रयोजनको ध्वनित करता है। उद्वृत्त सौन्दर्यके लिये जो भावना उत्पन्न होती है वह प्रकृतिके विस्तार और उसकी शक्तिके सम्मुख दिखाई देनेवाली मनुष्यकी दुर्बलताके दैन्यपूर्ण अनुभवको नैतिक महत्ता प्रदान करके उस दुर्बलताकी कमी पूरी कर देती है।

कान्टने रुचि-विवेकमें जो सार्थकता और युक्ति-युक्तताके एकात्म भावका दर्शन किया था उसका साक्षात् सजीव प्रतीक गेटे ( १७४९ से १८४२ ) था। कान्टके इस सौन्दर्य-विश्लेषणको शिलर ( १७५९ से १८०५ ) ने चलाए रखने और सुधारनेका प्रयत्न किया। उसका मत था कि 'मनुष्यका आत्मा जब सौन्दर्यसे संयुक्त होता है तब वह दो प्रवृत्तियोंमें विभक्त होता है—१. भौतिक वस्तुओं ( स्टौफ़ट्रीब ) में; २. रूप ( फ़ौर्मट्रीब ) की ओर। इन दोनोंका मेल ही खेलनेकी प्रवृत्ति है। खेलनेकी प्रवृत्ति एक वस्तुकी अपेक्षा रखती है, वह है सजीव रूप या प्रकट होनेकी स्वतन्त्रता।

## कलाके आदरकी भावना

ज्यों-ज्यों कोरी आवश्यकता या उपादेयतासे आगे बढ़कर कलाके स्वतन्त्र रूपोंका आदर होने लगता है त्यों-त्यों सभ्यता अपने पग आगे बढ़ाती चलती है। इस प्रकारसे कलाका आदर करनेकी भावना उत्पन्न करना शिक्षाका परम फल है। इस प्रकार शिलरने अपने 'मनुष्यकी सौन्दर्यात्मिका शिक्षापर पत्र' ( लैटर्स अपौन दी ऐस्थेटिकल एजुकेशन औफ़ मैन, १७९५ ) में सौन्दर्यके स्वरूप और उसके प्रयोजनका अत्यन्त विशद विवेचन किया है।

## स्वैरवादी युगमें कला

जहाँ उदात्तवादी युगके जर्मन सौन्दर्यवादी लोग 'मानसिक प्रकृतियोंके सन्तुलन और कलामें एकात्मता'को ही अपना निर्घोष बनाए हुए थे वहाँ स्वैरवादी ( रोमांटिक ) युगके लोगोंने कला और कलाकारको बढ़ाते-बढ़ाते यहाँतक सिरपर चढ़ा लिया कि ब्लेक ( १७५७ से १८२७ ) ने कविताको 'अतिशय पूर्ण और अति पूर्ण' माना है, जीन पौल ( १७६३ से १८२५ ) और नोवालिस (१७७२ से १८०१) ने जादूका मन्त्र माना, फ़्रीडरिख़ श्लेगेल

( १७७२ से १८२८ ) ने दैवी धृष्टता और दुर्भाग्य माना और कौलरिज ( १७७१ से १८३४ ) ने 'ससीम मस्तिष्कमें निःसीम अहमस्मिके भीतरकी सृष्टिके शाश्वत कार्यकी आवृत्ति' माना है ।

## शैलिंग और हेगेलका मत

स्वैरवादी कवि तथा स्वयंपूर्णत्व आदर्शवादी ( ऐब्सोल्यूट आइडियलिस्ट्स ) शैलिङ्ग और हेगेल कलाकी सर्वप्रमुखताको विशेषत: काव्यकी सर्वप्रमुखताको जीवन और वास्तविकता मानने लगे थे किन्तु उनकी विचार-प्रणालियाँ भिन्न थीं । शैलिङ्ग (१७७५ से १८५४) और हेगेल (१७७० से १८३१) ने कविताके उच्च पदकी सत्यता सिद्ध करनेके लिये जिस विवेकपूर्ण तर्कका आश्रय लिया था, उसे स्वैरवादियोंने बहुत महत्त्व नहीं प्रदान किया । इस प्रयोगमें शैलिङ्गको हेगेलकी अपेक्षा कम सफलता प्राप्त हुई क्योंकि उसने इस सृष्टिको 'ईश्वरकी कविता सिद्ध करनेका प्रयास किया था वह अभीतक काल्पनिक अटकलमात्र समझी जाती है ।' हेगेलने कलाकी परिभाषा बताते हुए उसे 'परमात्मकी अर्थमयी अभिव्यक्ति कहा है और अपनी चिन्तन-प्रणालीमें इतिहासको भी जोड़ लिया है । उसका मत है कि 'जब मनुष्यकी रचनात्मिका कल्पनामें वस्तुओंके स्वरूप पुनर्जन्म धारण करते हैं ( अपने वास्तविक स्वरूपमें नहीं ) तभी वे आँख और कानको अपने आन्तरिक आध्यात्मिक स्वरूपका दर्शन दे सकते हैं ।' यह साक्षात्करण या अभिव्यक्ति पूर्वीय प्रतीकवाद ( मिस्रकी समाधियों, हिब्रूकी कविताओं ) से विकसित होती हुई, यूनानी उदात्त मूर्त्ति-कलामें होती हुई स्वैरवादी सङ्गीत और विषादके रूपमें बढ़ती चली जाती है । कलाकी महत्ताकी कसौटी 'सन्तुलन' है जिसमें न तो अधिक वासनाका ही योग हो और न अतिशय उपदेश ही हों । पूर्वीय कलामें सामग्रीका स्वरूप भावको आच्छादित किए रहता है किन्तु यूनानी मूर्त्तिकारोंने यूनानी देवताओंकी आदर्शपूर्ण मानवताके उचित स्वरूपका प्रदर्शन किया और परिमित रूपोंमें अपरिमित अर्थ भर दिए । आधुनिक चित्रकला, सङ्गीत या काव्यमें प्रेम, हास्य और करुणा आदि भावोंने काव्यकी वासनात्मक लहरको दबा दिया है । हेगेलके मतसे केवल विचारकी व्याख्या और स्पष्टताके लिये वर्त्तमान कविताने कलाका परित्याग कर दिया ।

### शौपेनहावरका सिद्धान्त

सभी 'स्वयंपूर्ण' समाधानोंका तिरस्कार करते हुए आर्थर शौपेन हावरने अपने 'संकल्प और भावरूपी संसार' ( दि वर्ल्ड ऐज़ विल ऐन्ड आइडिया, १८१८ ) नामक ग्रन्थमें कान्टकी मूल द्वैतवादी भावनाको अधिक स्पष्ट किया। उसका विचार था कि 'देश और कालके बीच अभिव्यक्त आधा संसार केवल मनुष्यका विचार है और शेष आधा उस प्रत्यक्ष संसारके आधारमें नूमेनौन या सार्वभौम सङ्कल्प ही इच्छा या अन्धानुकरण है। इसी सार्वभौम प्रेरणाका अनुगमन करते हुए मनुष्य अभाग्यवश जीवित रहने और सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छा करता है। किन्तु जीवन अमङ्गलकारी है, इससे कुछ मुक्ति तब प्राप्त हो सकती है जब हम शुद्ध अनिच्छासे कलाकी साधना करें। वास्तु-कला, फुलवारी लगाना, मूर्तिकला, चित्रकला आदि सब कलाएँ हमारे सङ्कल्पके विकासके क्षणोंसे सम्बद्ध हैं। किन्तु इन सब कलाओंसे कहीं बढ़कर सङ्गीत कला है जो हमारी आभ्यन्तरिक इच्छाकी सीधी प्रतिकृति है और जो हमारे स्वभावकी पूर्ण मूर्तिका सहयोगी भाग है। शौपेनहावरने सङ्गीतकी शक्ति और उसकी महत्ताके सम्बन्धमें जो इस प्रकारका रहस्यात्मक अभिशंसन किया, उसका परिणाम यह हुआ कि उसके अनुवर्त्ती अनेक प्रतीकवादियों तथा अबुद्धिवादी कवियोंने उसका पन्थ ग्रहण कर लिया। विशेषतः उस शताब्दिके अन्तिम भागके कवियोंने, जिनमें जर्मनका नीत्शे सर्वप्रमुख था।

### नीत्शेका पक्ष

नीत्शे और शौपेनहावर दोनों मानते थे कि जीवनका आधारतत्त्व हमारी सङ्कल्प-भावनाकी प्रेरणा है और यही भावना ही कलाको विभावित करती है। अपने प्रारम्भिक ग्रन्थ 'त्रासदकी उत्पत्ति' ( १८७०–७१ ) में नीत्शेने यह सिद्ध किया कि दिओनुसस ( डायोनिसस ) की अर्चनाके कर्मकाण्डमें मदिर विलास और विलक्षण शक्तिके रूपमें प्रत्यक्ष होनेवाले प्रकाश-देवता अपोलोद्वारा भेजे हुए स्वप्नोंसे ही यूनानी त्रासदोंकी सृष्टि हुई है। बहुत दिनों पीछे नीत्शेने इन दोनों प्रकारकी कलाओंमें स्पष्ट भेद प्रदर्शित किया जिसमें एक ओर दिअनूसी कला, सङ्गीत, नृत्य, अभिनय तथा गीतिकाव्य थे और दूसरी ओर अपोलोकी कला, चित्रकला, मूर्तिकला और महाकाव्य थे।

## कलाकार और समाज

कलाकार और समाजके पारस्परिक सम्बन्धकी समस्यापर उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें फ्रांसीसी और अँगरेजी विचारकोंने अत्यन्त विस्तारसे विचार किया । प्रत्यक्षवादी ( पौज़िटिवेस्ट ) आउगुस्ट कौमटे ( १७८१ से १८४७ ) ने यह मत प्रतिपादित किया कि अत्यन्त स्वस्थ, सामाजिक सङ्घटनके निर्माणमें कला अत्यन्त सहायक हो सकती है । हिप्पोलाइततेन ( १८२३ से ९३ ) ने इस बातको अधिक महत्त्व दिया कि कलाके प्रति वैज्ञानिक तथा नवप्रयोगात्मक वृत्तिकी दृष्टिसे कलाको एक घटना और सामाजिक संस्कारके स्वरूपमें समझकर अध्ययन किया जाय । इङ्गलैण्डमें रस्किन और मौरिसने कलाको समाज-प्रणालीके साथ पूर्णत: सम्बद्ध माना और यह कहा कि वह विज्ञानके द्वारा नहीं वरन् नैतिक भावनाओंके द्वारा सामाजिक सङ्घसे आबद्ध है । रस्किन ( १८१९ से १९०० ) के मनमें यह भावना बलवती होकर बैठ गई थी कि कलाकारोंके चरित्रों और मनुष्योंका उनके प्रभावसे कोई सम्बन्ध नहीं है और यह सब सिद्धान्ततः झूठ और व्यवहारतः घातक है । उसने कहा—'प्रत्येक जातिके दोष या गुण उसकी कलामें लिखे रहते हैं ।' समाजवादी विलियम मौरिस ( १८३४-९६ ) ने रस्किनके उपदेशोंका ही प्रचार किया और कलाकी परिभाषा बताते हुए उसने कहा—'परिश्रममें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है उसीकी अभिव्यक्तिका नाम कला है ।' इसी सम्बन्धमें उसने यह भी बताया कि कलात्मक और आर्थिक समस्याओंका समाधान तभी हो सकता है जब हम अपने हस्त-कौशलको पुनः उज्जीवित कर दें । टौल्स्टौय ( १८२८से १९१० ) ने कलाकी यह परिभाषा की है—'कला वह क्रिया है जिसका उद्देश्य यह है कि वह उच्चतम तथा श्रेष्ठतम भावनाओंको दूसरोंतक पहुँचा दे।' इन लोगोंसे पूर्णतः असहमत वे सौन्दर्यवादी लोग थे जो सुन्दर वस्तुओंका मूल्य उनकी स्वयंपूर्णता और स्वयंश्रेष्ठता बताते हुए इस बातका विरोध करते थे कि कलाको समाजकी अनुगामिनी होना चाहिए । यह 'कलार्थं कला'का आन्दोलन विभिन्न विचारकोंने विभिन्न रूपोंमें चलाया । वाल्टर पेटर ( १८३४ से १८९४ ) ने यह माना है कि 'आनन्ददायी भावनाओंकी अत्यन्त एकाग्रता ही कला है ।' फ्लाउबेर्ट (१८२१ से ८०) ने 'अत्यन्त सुन्दर शैलीकी खोज'को ही कलाका उद्देश्य माना । ह्विसलरने अपने 'दस बजेके व्याख्यान' ( टैन ओ, क्लौक लेक्चर, सन् १८८८ ) में और वाइल्ड ( १८५६ से

१९०० ) ने यह मत प्रतिपादित किया कि 'कलाको सम्पूर्ण नैतिक सीमाओंसे दूर रखना चाहिए' अर्थात् उसका परीक्षण किसी नैतिक दृष्टिसे नहीं करना चाहिए ।

गुस्टाफ़ फ़ैखनेअरने १८७१ में 'सौन्दर्यात्मक प्रयोग' ( ज़ूर एक्सपैरिमैन्टेलेन ऐस्थेटिक ) शीर्षक लेखसे सौन्दर्यवादकी धारामें एक नया युग खड़ा कर दिया जिसका यह कहना था कि 'प्रयोगशालावाले विज्ञानका सौन्दर्यवाद-पर विशेष आरोप होना चाहिए ।' सौन्दर्यवादपर वैज्ञानिक प्रभावका दूसरा धावा विकासवादके सिद्धान्तने किया । डार्विन ( १८७१ ) ने अपने 'मनुष्यकी उत्पत्ति' ( दि डीसेन्ट ऑफ़ मैन, १८७१ ) में मनुष्य तथा जीवोंकी काम-प्रवृत्तिकी चर्चा चलाई । हर्बर्ट स्पेंसरने अपने 'मनोविज्ञानके सिद्धान्त' ( प्रिंसिपल्स ऑफ़ साइकोलौजी, १८७०–७२ ) नामक ग्रन्थमें, ग्रान्ट ऐलनने 'शारीरिक सौन्दर्यवाद' ( फ़िज़िओलौजिकल ऐस्थैटिक्स, १८७७ ) नामक पुस्तकमें, कार्लग्रूसने 'जानवरोंका खेल' और 'मनुष्योंका खेल' ( दि प्ले ऑफ़ एनिमल्स १८९८, और, दि प्ले ऑफ़ मैन १९०१ ) में मनुष्यों और जानवरोंके खेलनेकी वृत्तिकी व्याख्या करते हुए बताया है कि यह मनुष्यके सौन्दर्य-प्रेम और कला-प्रेमकी भावनाओंका शारीरिक आधार है । इसी प्रकार सैमुएल अलेग्जेंडरने भी अपने 'सुन्दरता तथा अन्य महत्त्वशाली रूप' ( ब्यूटी एँड अदर फ़ार्म्स ऑफ़ वेल्यू, १९३३ ) में यह समझाया है कि 'मनुष्यमें जो रचना-वृत्ति होती है उसका आधार भी सौन्दर्य-प्रेम तथा कला-प्रेम ही है ।' विश्रान्ति अथवा किसी कार्यसे बचकर निकल आने 'पलायन' ( ऐस्केप ) की भावनाको भी साधारण प्रवृत्तिके बदले मानो विश्लेषणवादियोंके यहाँसे लाकर प्रयुक्त किया गया है अर्थात् यह बताया गया है कि मनुष्य अपनी साधारण प्रवृत्तिमें जब ऊब जाता है तब वह उससे विश्राम चाहता है या भागना चाहता है और यह विश्रान्ति उसे कलामें प्राप्त होती है ।

सन् १९०० ई० में बेनेदेत्तो क्रोचेने अपने 'एस्तेतिका' नामक ग्रन्थमें वीचोके उस सिद्धान्तका समर्थन किया जिसमें उसने कहा था कि 'कविकी कल्पना स्वतन्त्र होती है और यह स्वतन्त्रता उसका मौलिक धर्म है।' उसका यह भी विचार था कि 'यह कल्पनासे प्रेरित नहीं होती, स्वयंजात होती है ।' इसीलिये उसने इसे कल्पनाकी सहज अभिव्यक्ति या गीतात्मक सहज वृत्ति ( इन्टयूशन-एक्प्रेशन या लिरिकल-इन्टयूशन ) कहा है । इसी कारण

उसके सिद्धान्तको प्रायः लोग अभिव्यञ्जनावाद या एक्स्प्रेशनिज़्म कहते हैं। क्रोचेके विचारने वर्त्तमान युगके बहुत-से दार्शनिकों और साहित्य-समीक्षकोंको प्रभावित किया है जिनमें 'सौन्दर्य-सिद्धान्त', 'सौन्दर्य-दर्शन' तथा 'सौन्दर्य क्या है?' (दि थियरी औफ़ ब्यूटी १९१४, फ़िलौसौफ़ीज़ औफ़ ब्यूटी १९३१ और ह्वाट इज़ ब्यूटी १९३२) के लेखक ई० एफ़्० कैरिट और रोमीय ब्रिटनके पुरातत्त्ववेत्ता आर० जी० कौलिङ्गवुड प्रसिद्ध हैं। कौलिङ्गवुड तो अपने नवीनतम ग्रन्थ 'कलाके सिद्धान्त' (प्रिंसिपिल्स औफ़ आर्ट, १९३८) में क्रोचेसे और भी एक पग आगे बढ़ गया है यद्यपि उसने कल्पनाको भावनाकी भाषा ही बतलाया है।

संयुक्त राज्य अमरीकामें सौन्दर्यवादने एक नया अनुभव-परीक्षणका रूप ग्रहण कर लिया है, विशेषतः जबसे वहाँके मनोवैज्ञानिक हैनरी आर० मार्शलने अपना 'सौन्दर्यवादी सिद्धान्त' (एस्थैटिक प्रिंसिपिल १८९५) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। किन्तु इस विचारको प्रोत्साहन देनेवाला ग्रन्थ है सान्तायनका 'सौन्दर्य-भाव' (सेंस औफ़ ब्यूटी) नामक ग्रन्थ, जो उसके अगले ही वर्ष प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व लोगोंने केवल अटकलसे ही सौन्दर्यवादी दर्शनकी व्याख्या करके कुछ लेखोंमें उसकी अभिव्यक्ति की थी जैसे हैगेलवादी सी० सी० ऐवरेटकी 'कविता' सुखान्त नाटक और सौन्दर्य (पोएट्री, कौमेडी ऐन्ड ब्यूटी) में। पहली व्याख्यामें तो सान्तायनने सौन्दर्यको बहिःस्थित आनन्द बताया था यद्यपि वैज्ञानिक भौतिकवादी होनेके कारण उसने सौन्दर्यात्मक अनुभवके लिये कुछ विकासात्मक उद्‌गमकी भी चर्चा की थी। किन्तु उसकी वृत्ति वास्तवमें अत्यन्त प्राचीन और उदात्तवादी थी जो उसके आगेके ग्रन्थोंमें स्पष्ट हो जाती है, विशेषतः 'उसके काव्य और धर्मकी व्याख्या', 'कलामें तर्क' तथा 'तीन दार्शनिक कवि' (इन्टरप्रिटेशन औफ़ पोइट्री ऐन्ड रिलीजन, १९००, रीज़न इन आर्ट, १९०५ और थ्री फ़िलौसौफिकल प्वाइन्ट्स, १९१०) ग्रन्थोंमें। सन् १८९९ में गेले और स्कौटके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ निकले—'साहित्यिक समीक्षाके लिये विधान', 'साधन तथा सौन्दर्यवाद' और 'काव्य-शास्त्रमें आधार'। ये ग्रन्थ कलाके व्यापक सिद्धान्तोंकी भूमिका और साहित्यमें उनके प्रयोगके रूपमें उपयुक्त अवसरपर प्रकाशित हुए। सन् १९०३ में कु० एथेल पफ़रके 'समरूपताके अध्ययन' (स्टडी इन सिमेट्री) और १९०५ में 'सौन्दर्यका मनोविज्ञान (साइकौलौजी औफ़ ब्यूटी) नामक ग्रन्थोंने सौन्दर्यकी ओर विशेषतः लोगोंका

ध्यान आकृष्ट किया और इन दोनों ग्रन्थोंके द्वारा तत्कालीन 'सन्तुलनके सिद्धान्त' ( कन्सेप्ट औफ़ इक्विलिब्रियम ) का प्रयोग हुआ। सन् १९२०में डे विट पार्करके 'सौन्दर्यवादके सिद्धान्त' (दि प्रिंसिपिल्‌ औफ़ एस्थैटिक्स) और हरबर्ट लाङ्गफ़ैल्डके 'सौन्दर्यात्मिका वृत्ति' ( दी ऐस्थैटिक एटिट्यूड ) से उन अनेक ग्रन्थ-मालाओंका श्रीगणेश हुआ जो छात्रों और पठित जनतामें सौन्दर्यवादकी विवेचनाके लिये लिखे गए थे। सन् १९२९में ऐसी तीन ग्रन्थ-मालाएँ प्रकाशित हुईं—सी० जे० डुकासेके 'कला-दर्शन' ( फ़िलौसफ़ी औफ़ आर्ट ) में स्पष्ट 'उदारता'की दुहाई दी गई थी। एम्० डब्लू० प्रालके 'सौन्दर्यात्मक निर्णय' ( दि ऐस्थैटिक जजमेन्ट ) में कलाकी आधार-भूत प्रकृतिके मौलिक क्रमके प्रकारोंका वर्णन था जो विशेष रूपसे उसके सौन्दर्यात्मक विश्लेषण ( एस्थैटिक एनैलिसिस, १९३६ ) में अधिक ज्वलन्त हुआ। तीसरा है 'डब्लू०टी० स्टेसका 'सौन्दर्यका अर्थ' जिसमें कहा गया है कि 'सौन्दर्य वह है जिसमें बुद्धि और दृश्यमानका समन्वय हो।' सौन्दर्यके सम्बन्धमें जिन अनेक विशेष समस्याओंका समाधान करते हुए अनेक लेख लिखे गए हैं और जिनके सम्बन्धमें अमरीका या अन्य देशोंकी मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शालाओंमें परीक्षण किया गया है, वे सब ए० आर० चैन्डलरके 'प्रयोगात्मक सौन्दर्यकी पुस्तक-सूची' ( ए बिब्लियोग्रैफ़ी औफ़ एक्सपेरिमेन्टल एस्थैटिक्स, १८६५ से १९३२ ) में दी हुई हैं। अनेक मनोवैज्ञानिकोंने भी थोड़े दिनोंसे इस सम्बन्धमें अनेक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं जैसे रौबर्ट औगडनका 'कलाका मनोविज्ञान' (दि साइकौलौजी औफ़ आर्ट, १९३८) और एच्० लंढोलमका 'सौन्दर्यात्मक भाव' (दि एस्थैटिक सेन्टीमेंट, १९४१)। सन् १९३३ में डब्लू० ए० हेमन्डने १९०० से लेकर १९३२ तकके सौन्दर्यवादपर लिखे हुए ग्रन्थोंकी एक सूची प्रस्तुत की थी। कैथराइन गिलबर्ट और हेल्मुट कुह्नने बोसाँके ( १८९२ ) के लेखसे लेकर १९३९ तकका पूरा सौन्दर्यवादका इतिहास ही प्रकाशित किया था। सौन्दर्यवादमें जब लोगोंकी रुचि बढ़ने लगी और जबसे अमरीकाके प्रसिद्ध दार्शनिक जौन ड्यूईने अपने 'अनुभवके रूपमें कला' ( आर्ट ऐज़ ऐक्सपीरियन्स, सन् १९३४ ) ग्रन्थके साथ क्षेत्रमें पदार्पण किया तबसे डगोबर्ट डी० रूंसके सम्पादकत्वमें सौन्दर्यवाद और कला-समीक्षा नामका ( जर्नल औफ़ एस्थैटिक्स ऐंड आर्ट क्रिटिसिज्म ) पत्र चला और टौमस मुनरोकी अध्यक्षतामें 'सौन्दर्यवादकी अमरीकी मण्डली' (अमेरिकन सोसाइटी फ़ौर एस्थैटिक्स) नामकी एक राष्ट्रीय संस्था ही प्रारम्भ कर दी गई।

## सौन्दर्यात्मिका वृत्ति

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह समझा गया है कि 'मनकी एक उस विशेष वृत्ति ( सौन्दर्यात्मिका वृत्ति ) के अवसरपर कुछ निश्चित देखी हुई या अनुभूत वस्तुसे ही सौन्दर्यका अनुभव उत्पन्न होता है।' इस दृष्टिसे देखा जाय तो सौन्दर्यात्मक समीक्षाके लिये दो जिज्ञासाओंका समाधान करना पड़ेगा जो अन्योन्याश्रित हैं—

क. कलाकृतिके उन रूपोंका विश्लेषण, जो यदि सौन्दर्यात्मिका वृत्तिसे देखे जायँ तो उनसे सौन्दर्यका अनुभव हो।

ख. उस सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका विश्लेषण, जिसकी तुलना मनुष्योंकी उस वृत्तिसे की जा सके जो असौन्दर्यात्मक स्थितियोंमें रहती है।

## कलाकृतिका विश्लेषण

कलाकृतिका विश्लेषण जबसे प्रारम्भ हुआ तबसे उसमें कुछ रूपात्मक या भावात्मक गुण मान लिए गए हैं। यह उसका एक पक्ष है। दूसरी ओर उसके प्रत्यक्ष गुणोंका भी विश्लेषण हुआ है, जिसका अर्थ यह है कि कलाकृतिमें कुछ सार्थक सामग्री विद्यमान है जैसे, उसमें कही हुई कथा या उसमें चित्रित की हुई घटनाके भावात्मक, रूपात्मक गुणोंमें लय, सन्तुलन, अनुपात, सङ्गति और एकत्व आदि गुणोंका सन्निवेश। जहाँतक इन गुणोंको हम परिमाणके रूपमें प्रस्तुत कर सकते हैं वहाँतक तो इनका विवरण गणना करके भी दिया जा चुका है जैसे ज़ाइसिङ्ग और बिरख़ोफने दिया है। एकत्वका अर्थ केवल यही नहीं है कि उसमें भावात्मक रूपोंकी एकता हो, वरन् उसका तात्पर्य यह है कि भावात्मक और प्रत्यक्ष दोनों गुणोंका उचित समन्वय हो। इस प्रकारका सामञ्जस्य या समन्वय, अर्थात् जहाँ बहुत्वमें एकत्व हो, सब प्रकारकी कलाओंके लिये आवश्यक कसौटी माना गया है। एलेक्ज़ैण्डर और लन्ढोल्मका मत है कि 'इस प्रकारके एकत्वका सफल ज्ञान या अनुभव ही विचित्र आनन्द-दायक समझा गया है। यही सौन्दर्यात्मक आनन्द है।' मार्शल और ग्रान्ट एलेन जैसे आत्मसुखवादियों (हिडोनिस्ट्स)का सौन्दर्यवादका कुछ भिन्न प्रकार है। वे मानते हैं कि 'सौन्दर्यात्मक आनन्द केवल वही आनन्द है जो दृष्टि या श्रवणके क्षेत्रमें प्राप्त गोचर आनन्दके रूपमें मनुष्यको प्राप्त होता है।'

## सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका विश्लेषण

सौन्दर्यात्मिका वृत्तिकी प्रकृतिके सम्बन्धमें बहुतसी बातें कही गई हैं। आजकल प्रायः व्यापक रूपसे कहा जा रहा है कि 'कलामें उपयोगितावाद और उद्देश्यका अभाव है।' कलाकी इस व्याख्यासे स्पष्ट है कि 'सौन्दर्यात्मक भावनामें हमारी प्रवृत्ति जीवनकी व्यावहारिक वृत्तियोंसे मूलतः भिन्न हैं, क्योंकि जीवनमें प्रत्येक वस्तुका गुण प्रायः उसके उन उद्देश्योंसे आँका जाता है जिनमेंसे कुछ तो पूर्णतः उद्देश्य ही होते हैं, कुछ उद्देश्य-प्राप्तिमें बाधा-स्वरूप होते हैं और कुछ बाधा दूर करनेमें सहायक होते हैं।'

कुछ विद्वानोंने सौदन्र्यात्मिका वृत्तिकी निश्चित विशेषताएँ ये बताई हैं—

१. सौन्दर्यात्मिका वृत्तिमें आवश्यक बात यह है कि 'उसके द्वारा हम कलाकृतिको सञ्जीवन देते हैं अर्थात् हम उसमें स्वयं अपनी प्रकृतिकी कुछ बात प्रविष्ट कर देते हैं।'

२. लांगेके मतसे सौन्दर्यात्मिका वृत्तिमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें कला-कृतिका धुँधला रूप भी सम्मिलित रहता है। यही महत्त्व सौन्दर्यात्मक या मानसिक दूरीकी कसौटीका है और यही महत्त्व इस बातका आधार है कि 'सौन्दर्यात्मिका वृत्तिमें वास्तविकताका अभाव होता है।' यह वृत्ति ऐसी है जिसे हम न स्वीकार कर सकते हैं, न अस्वीकार कर सकते हैं और न उसमें सन्देह कर सकते हैं, क्योंकि उस कलाकृतिकी वास्तविकता कोई प्रत्यक्ष वास्तविकता नहीं है। यही स्टाउट और लएढोल्मका मत है। मुन्स्टेरबर्गका विचार है कि 'विषयसे अलग होने और वस्तुको अलग निकालकर दिखाने'को ही सौन्दर्यात्मिका वृत्ति कहते हैं। पफ़रका कथन है कि 'सौन्दर्यपूर्ण वस्तुमें पूर्ण रूपसे लीन हो जानेको ही 'सौन्दर्यात्मिका वृत्ति' कहते हैं।'

३. इसके विपरीत आई० ए० रिचार्ड्सका सिद्धान्त है कि 'मनुष्यको पूर्ण सावधान रहना चाहिए और उसे अपनी सहज प्रेरणाओंका सुसङ्गत और सुसन्तुलित समन्वय करना चाहिए।' ड्यूईका विचार है कि सौन्दर्यात्मिका वृत्ति एक गतिशील सङ्घटन है।' उसने अपने 'अनुभव-रूपमें कला' ( आर्ट ऐज़ एक्सपीरियंस, १९३४ ) में कहा है कि 'शुद्ध सौन्दर्यात्मक अनुभवमें वे सब अनुभव ( गुणके वे सभी तत्त्व ) स्पष्ट हो जाते हैं जो अन्य अवसरोंपर लुप्त रहते हैं, यहाँतक कि जो अन्य अवसरोंपर गौण रहते हैं वे ही सौन्दर्यात्मक अनुभवके अवसरपर प्रधान हो जाते हैं।'

## गोचरत्वका सिद्धान्त ( परसेप्सन थियरी )

'सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका सिद्धान्त' कोई निश्चित और अकाट्य सिद्धान्त नहीं है। उसकी व्युत्पत्तिसे प्रतीत होता है कि 'वह केवल इन्द्रियज्ञान-मात्र है, वह इन्द्रियज्ञानके समय ही महत्त्वका होता है और पूर्ण इन्द्रियज्ञानके अतिरिक्त उसका और कोई उद्देश्य भी नहीं है।' यह सिद्धान्त सौन्दर्यवृत्तिके स्वयंसाध्य रूपमें इन्द्रियज्ञान-मात्र है और इससे स्पष्ट है कि अन्य प्रकारके साधारण अनुभवोंके लिये हम जिन वृत्तियोंका प्रयोग करते हैं उससे यह भिन्न है। अर्थात् व्यावहारिक और वैज्ञानिक वृत्तियोंसे सौन्दर्यात्मिका वृत्ति भिन्न होती है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञानके इस सिद्धान्तमें परस्पर-विरोधी प्रचलित सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंमें सामञ्जस्य लानेका प्रयत्न किया गया है। ये सब मत उस स्थितिमें अधिक स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं जब हम यह समझ लेते हैं कि उनका प्रतिपादन शुद्ध इन्द्रियज्ञानके विभिन्न सहायकोंके रूपोंमें किया गया है।

यह सौन्दर्यात्मिका वृत्ति विभिन्न स्तरोंपर उत्पन्न हो सकती है। कोई खट्टी वस्तु खा लेनेसे जो साधारण इन्द्रियज्ञान होता है उससे प्रारम्भ करके किसी गुलाबी रङ्गकी सहसा चमक तककी वे सब बातें इसके भीतर आ जाती हैं जिनसे हमारा इन्द्रियज्ञान प्रभावित होता है। इसके अन्तर्गत साधारण इन्द्रियज्ञानसे लेकर अत्यन्त जटिल तथा प्रभावशाली कला-कर्मतक सभी आ जाते हैं। इन सब रूपोंमें सौन्दर्यात्मिका वृत्तिके दो पक्ष हैं—एक एकाग्रता और दूसरे रुचि।

### एकाग्रता-पक्ष

एकाग्रताका महत्त्व वहाँ प्रतीत होता है जहाँ हम किसी वस्तुको स्पष्ट समझनेका प्रयास करते हैं, विशेषतः उन अत्यन्त जटिल स्वरूपोंमें, जिनमें हम संवेदन, सहज ज्ञान, कल्पना, भावना और बुद्धिका साथ-साथ प्रयोग करते हैं। किसी व्यक्तिको प्रकाश, रङ्ग या ध्वनिके अनेक प्रकारके संवेदन होते हैं, किसीको रङ्ग, रूप, बनावट, ध्वनि और वस्तुओंका भावनामय और भौतिक दोनों प्रकारोंका सहज ज्ञान होता है, कोई व्यक्ति केवल कल्पनामें ही नाटककी भाव-प्रतिक्रिया कर लेता है और दृश्यमान अभिनयमें आत्मभावनाका आरोप करके प्रत्यक्ष उपस्थित मनुष्यों और घटनाओंको ऐसे बहुरूप होनेकी कल्पना कर लेता है, जो वास्तवमें वे नहीं हैं, जैसे वह देखता तो है कोई अन्य प्रेम-दृश्य

किन्तु समझ लेता है कि जौन डो और मोली पिंचर परस्पर एक दूसरेसे अत्यन्त स्नेह करते हैं। इससे भी अधिक बात यह है कि हम किसी दृश्यको देखकर यह समझ बैठते हैं कि इसमें सम्पूर्ण प्रकारके भाव-गुण हैं—यह सुखप्रद है, थकावट देनेवाला है, कामोत्तेजक है, कष्टप्रद है, कठोर है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति निरन्तर नाट्यके प्रभावशाली रूपोंके इन्द्रियात्मक, सहज बोधात्मक, कल्पनात्मक रूपोंका अर्थ लगाकर सम्पूर्ण नाटकका समीक्षात्मक रीतिसे या असमीक्षात्मक रूपसे एक पूर्ण स्वरूप स्थिर कर लेता है।

## रुचि-पक्ष

सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका रुचि-पक्ष इन एकाग्रताकी शक्तियोंमें ही निहित है, और उन्हींकी प्रेरणासे कार्य-करता है। इसे यों समझिए : कोई एक व्यक्ति तो समझता है, किसीको सहज बोध हो जाता है, कोई कल्पना करता है, कोई अनुभव करता है, कोई अर्थ निकालता है, पर यह सब तब होता है, जब कि किसी वस्तुमें या तो कोई रुचि हो या हो सकती हो। यह रुचि भी विभिन्न प्रकारकी हो सकती है। यह रुचि कभी रङ्गदीपन ( स्टेज-लाइटिंग ) अथवा शिल्पयुक्त रङ्गव्यवस्थामें हो सकती है, कभी पात्रोंमें या अन्य मानवीय वृत्तियोंमें, कभी नाट्यके रूपमें और कभी गम्भीरतासे जागरित की हुई भावनामें भी हो सकती है। कभी-कभी अत्यन्त साधारण संवेदनसे लेकर मनुष्य और उसके भाग्यकी व्याख्याके जटिल स्वरूपोंमें भी उसके दर्शन होते हैं। किन्तु यदि सम्बोध्य या उपभोक्ताको वृत्ति सौन्दर्यात्मिका हो तो उसमें और भी एक रुचि उत्पन्न हो जायगी। यह रुचि इस बातके समझनेमें होगी कि उस वस्तुसे हमें क्या प्राप्त हो सकता है अर्थात् उस वस्तुके इन्द्रियज्ञानसे क्या विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है। वस्तुमें उपभोक्ताकी यह रुचि ही सौन्दर्यात्मिका वृत्ति कहला सकती है।

एलीज़ेओ विवासने 'सौन्दर्यात्मक अनुभवकी परिभाषा' ( डेफ़िनिशन औफ ऐस्थटिक एक्सपीरियन्स, १९३४ ) में कहा है कि 'सौन्दर्यात्मिका वृत्ति तो तत्काल किसी पूर्ण रूपको प्रत्यक्ष कर देनेके लिये उसपर केन्द्रित वैसी ही निष्क्रिय एकाग्रता है जैसे सौन्दर्य निष्क्रिय प्रेम है।'

## प्रयोगात्मक सौन्दर्यवाद ( एक्सपेरिमेन्टल ऐस्थेटिक्स )

प्रयोगात्मक विधियोंसे सौन्दर्यवादकी छानबीन करनेमें वे सभी सम्प्रेक्षण आ सकते हैं जिनमें उपभोक्ता या प्रयोक्ताने वे सब परिस्थितियाँ पहलेसे प्रस्तुत कर रक्खी हों जिनके द्वारा वह सम्प्रेक्षित सौन्दर्यात्मक प्रभावके अस्तित्वके आधारभूत साधनोंका विधान करना चाहता है। जी० टी० फ्लेचर ( १८०१ से १८८७ ) ने विभिन्न व्यक्तियोंकी सौन्दर्यात्मक रुचियोंका उन परिस्थितियोंमें अध्ययन किया जो अत्यन्त साधारण सौन्दर्यात्मक सम्प्रज्ञानके सरल और भावात्मक तत्त्वोंके रूपमें प्रस्तुत किए गए थे, जैसे चतुष्कोण या उच्चरित स्वरोंकी ध्वनियाँ। इस सम्बन्धमें फ्लेचरने अपने 'प्रणाली-शास्त्र' ( मैथेडोलौजी ) में ऐसी महत्त्वपूर्ण मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रियाओंकी बात चलाई है जिनके द्वारा प्रयोक्ता प्रत्येक परीक्षणीय सामग्रीको एक क्रमसे लगाकर रख देता है और उसपर प्रयोग करके स्वभावतः यह जिज्ञासा करता है कि इनमेंसे जो वस्तु तुम्हें अच्छी लगती हो उसे छाँट लो। उसका चुननेका ढङ्ग 'वाह्ल', रचनाका ढङ्ग 'हर्स्टेल लुंग' और प्रस्तुत वस्तुओंमें सौन्दर्यात्मक अनुपातकी विधि 'वेरवेडूँग' तथा आवश्यक सूचनाओंका साधारण लेखा आदि, सबपर अभी प्रारम्भिक रूपमें ही विचार हो रहा है।

सौन्दर्यवादकी समस्याओं और परिस्थितियोंकी प्रयोगात्मक छानबीनका क्रम बड़े वेगसे बढ़ रहा है। अनेक प्रकारकी जिज्ञासाओंको जटिलताके सम्बन्धमें अर्थात् केवल सौन्दर्यात्मक सम्प्रज्ञान और समीक्षाके सम्बन्धमें ही नहीं वरन् सौन्दर्यात्मक रचनाके सम्बन्धमें भी उसका प्रयोग किया जा रहा है। इन सब विचारणीय विषयोंमें सङ्गीत, चित्रकला और काव्यपर सबसे अधिक प्रयोगात्मक छानबीन की गई है, किन्तु अभी गद्य-साहित्य, नाटक, चलचित्र और रेडियोके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार करना और उनकी प्रयोगात्मक छानबीन करना शेष है। इस विषयमें ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंसे अर्थात् भाषा-विज्ञान, ध्वनिशास्त्र, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, शिक्षा, मानसिक चिकित्सा तथा अन्य कलाओंके प्रयोक्ताओंका सहयोग लिया गया है। यद्यपि प्रारम्भमें जो प्रयोग किए गए उनमें प्रायः समान रूपसे केवल उनके सरलतम आवयविक तत्त्वों या कलाके स्वरूपोंपर ही प्रयोग किए गए—जैसे लय, रेखा, रङ्ग और गति या ताल। किन्तु अब तो सौन्दर्यात्मक

छानबीनके सम्बन्धमें यह प्रवृत्ति हो रही है कि कलाकी सम्पूर्ण जटिल परिस्थितियोंका प्रयोगात्मक अन्वीक्षण कर लिया जाय।

अनुभवात्मक प्रणालियोंसे यह प्रतीत हुआ है कि प्रयोगशालाओंमें जिन परिस्थितियोंके अनुसार सौन्दर्यवादी भावनाओंका कठोर परीक्षण हुआ है उनके साथ-साथ उन साधनोंका भी विकास हुआ है जो जीवनकी विभिन्न स्थितियोंमें अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितियोंमें प्रयुक्त हो सकते हैं। विद्युत-यन्त्र और चित्र-ग्रहण कला (फोटोग्राफ़ी) से तथा ज्योंका त्यों प्रतिकरण करनेवाले यन्त्रोंसे ऐसे प्रयोगोंकी परिधि और सटीकता बढ़ गई है जिनके आश्रयसे जटिल प्रतिक्रियाओंकी भी आवृत्ति कराई जा सकती है। परीक्षित परिस्थितियोंका परीक्षण करनेके लिये कुछ लेखेकी प्रणाली भी अब आगे बढ़ गई है क्योंकि कुछ वर्ष पहले तो केवल सीधे-सादे परिणाम और वर्गीकरणके आधारपर ही काम होता था किन्तु अब तो मनः-शारीरिक माप तथा उदाहरण-कौशल, अन्तर्योग, खण्ड-विश्लेषण आदि वर्त्तमान प्रणालियोंके कारण अत्यन्त जटिल सौन्दर्यवादी भावनाओंका ठीक-ठीक परीक्षण हो जाता है। अब तो उससे यह भी लाभ होने लगा है कि इस प्रकारके परीक्षणमें यदि कोई भूल हो जाय तो उसका भी ठीक-ठीक विवरण मिल जाता है। मौलिक योग्यता तथा कलाकी रचना और समीक्षाकी प्रगतिके सम्बन्धमें जो मनोवैज्ञानिक परीक्षण हो रहे हैं, उनकी सहायतासे, उनके आधारपर यह सम्भव हो गया है कि व्यक्तियोंकी कलात्मक प्रवृत्तियोंकी प्रभावात्मक शिक्षामें भी प्रयोगात्मक सौन्दर्यवादका प्रयोग हो सके।

### असुन्दरता या कुरूपता

सौन्दर्यका उपर्यङ्कित विवेचन जान लेनेके पश्चात् यह साधारण भ्रान्ति हो सकती है कि सुन्दरता ही एकमात्र ग्राह्य तथा समीक्ष्य विषय है किन्तु जैसे प्रकाशका महत्त्व अन्धकार-सापेक्ष्य होता है उसी प्रकार सौन्दर्यका महत्त्व भी असौन्दर्य-सापेक्ष्य होता है। यहाँतक कि जीवनकी कुरूपता और असुन्दरता भी कलामें पहुँचकर सौन्दर्य-तत्त्व बन जाती है क्योंकि वह सौन्दर्यको ठीक-ठीक समझनेमें सहायकका कार्य करती है। रामके चरित्रकी उज्वलता यद्यपि स्वतः अपनेमें पूर्ण है किन्तु रावणके दुष्चरित्रकी तुलनामें आकर वह और भी अधिक जाज्वल्यमान हो उठता है। इस प्रकारका विरोध दिखानेसे और विरोध

दिखानेके लिये कुरूपताका प्रयोग करनेसे सौन्दर्यका ही समर्थन और पोषण होता है। इसी प्रकार सुन्दर चित्रमें भी छाया दिखानेके लिये काली रेखाओंका प्रयोग किया जाता है और वे काली रेखाएँ उसके सौन्दर्यकी अभिवृद्धि करती हैं। इसी प्रकार जीवनकी कुरूपताएँ भी जीवनकी सुन्दरताओंको अत्यन्त तीव्र रूपसे व्यञ्जित करनेमें सहायक होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-तत्त्वको भली प्रकार समझनेके लिये असौन्दर्य-तत्त्वका अध्ययन और विश्लेषण समीक्षणके लिये आवश्यक तथा अनिवार्य है।

## सौन्दर्यात्मक विश्लेषण

इसी दृष्टिसे आचार्योंने यह विधान किया है कि सौन्दर्यात्मक विश्लेषणमें जहाँ सुन्दर वस्तुकी चमक, अनुपात, क्रम और सङ्गतिका विस्तृत विवेचन किया जाय उसीके साथ यह भी स्पष्ट किया जाय कि उसके विरोधी असौन्दर्यके साथ पड़ जानेसे उस सौन्दर्यमें क्या चमत्कार उत्पन्न हो गया है। किन्तु यह असुन्दरता ऐसी न हो कि वह सुन्दरताको दबा बैठे और मिल्टनके पैरेडाइज़ लौस्टके 'शैतान' के समान ऐसी प्रबल न हो जाय कि उसके सम्मुख ईश्वर अत्यन्त दीन, हीन और अशक्त जान पड़ने लगे, अर्थात् कुरूपताके संयोगका समीक्षण करते समय यह देखना चाहिए कि इसके संयोगसे सौन्दर्य कितना निखरा है।

## आकर्षण ( चार्म ) और सौन्दर्य ( ब्यूटी )

हौरेसने अपने 'आर्स पोएतिका' नामक ग्रन्थमें कहा है कि कवितामें सौन्दर्य अर्थात् बाह्य भव्यता ( पल्क्रा ) तथा आकर्षण या भावोंको प्रभावित करनेका गुण ( डलिशया या चार्म ) दोनों होने चाहिएँ क्योंकि सौन्दर्यके साथ-साथ आकर्षण ही ऐसा तत्त्व है जो वास्तविक सन्तुष्टि प्रदान करता है। हेलिकारनेसस-निवासी दिअनूसियसने अपने 'शब्दोंकी सज्जा' नामक लेखमें इस आकर्षण और सौन्दर्यके लक्षण भी बताए हैं। उसका कथन है कि आकर्षणमें तो नवीनता ( फ्रेशनैस ), शोभा ( ग्रेस ) और मनवानेकी शक्ति ( परसुएसिवनैस ) नामक गुण होने चाहिएँ और सौन्दर्यमें भव्यता (ग्रैंजियर) और गम्भीरता ( सौलम्निटी )। किन्तु हौरेसने आकर्षण और सौन्दर्यमें जो यह अन्तर दिखाया है वह निराधार है। बिना आकर्षणके सौन्दर्य नहीं हो सकता

और बिना सौन्दर्यके आकर्षण सम्भव नहीं। यदि उसमें नवीनता और लुभानेकी शक्ति विद्यमान हो तो वह आकर्षक और सुन्दर अवश्य होगा।

## उद्वृत्तता ( सब्लाइम )

यूनानी भाषाके हुप्सोस, लातिनके सब्लिमितास और जर्मनके एरहाबिन-होइटको अँगरेजीमें सब्लाइम कहते हैं—'इस सब्लाइम या उद्वृत्तताके अन्तर्गत शब्दोंकी वह पूर्णता और श्रेष्ठता आती है जो स्वयं उनमें उपयुक्त तथा उचित रीतिसे फूट पड़ती है, जान-बूझकर या गढ़कर उसमें नहीं भरी जाती। ऐसी रचनाका प्रभाव भी दूसरोंका समर्थन पाना नहीं होता वरन् संक्रमण या आवित करना होता है और उसकी परीक्षा यही है कि वह बार-बार सिहरनकी लहर उत्पन्न करती रहे।' यह वक्तव्य है उस अज्ञात यूनानी अध्यापकका जो उसने किसी लेखकके उठाए हुए प्रश्नोंके उत्तरमें पहली या दूसरी शताब्दिमें रोमसे दिया था। अठारहवीं शताब्दिमें फ्रान्स और इंग्लैंडमें उद्वृत्ततापर शास्त्रार्थ करना साधारण साहित्याचार समझा जाने लगा। इस शास्त्रार्थका प्रारम्भ किया ऐडमन्ड बर्कने अपने 'उद्वृत्त और सुन्दरके भावोंकी उत्पत्तिकी दार्शनिक जिज्ञासा' ( ए फ़िलौसौफ़िकल इन्क्वायरी इनटु दि ओरिजनल औफ़ अवर आइडियाज़ औफ़ दि सब्लाइम ऐंड दि ब्यूटीफुल, १७५७ ) में। बर्क तो सुखवादी ( हिडोनिस्ट ) था अतः उसने उद्वृत्तता ( सब्लाइम ) को सौन्दर्यका उत्कृष्टतम स्वरूप न मानकर ठीक इसका विरोधी माना। उसकी दृष्टिसे 'सौन्दर्य'का मनोवैज्ञानिक उद्गम साधारण आनन्द है और 'उद्वृत्त'का उद्गम केवल हर्ष, जो उन भावनाओंसे जागरित किया जा सकता है जो आनन्दकी भावनाओं ( वेदना, भय आदिसे ) पूर्णतः भिन्न हैं। उसका मत है कि 'सौन्दर्यका भाव प्रायः उन वस्तुओंसे उत्पन्न होता है जो प्रेम या अनुरक्तिको प्रोत्साहन देती हैं और जिनमें स्निग्धता, कोमलता, सुवरता, अनुपात तथा एकात्मताका संस्कार भरा रहता है।' किन्तु उदात्ततासे रीझ या गुण-लुब्धता तथा आश्चर्यकी प्रेरणा होती है और उन वस्तुओंसे होती है जिनमें भव्यता तथा गम्भीरताकी छाप होती है। बर्कके मतसे 'सौन्दर्य' तो केवल इन्द्रिय-जन्य सौन्दर्य-विज्ञानका तत्त्व है और 'उद्वृत्तता' वह भावात्मक प्रेरणा है जिसे वह अपने सात्त्विक अनुभावोंसे व्यक्त भी करता चलता है और कहता है—'वाह! धन्य है!' आदि। इस प्रक्रियामें वह शिव

( दि गुड ) को सुन्दर और उद्वृत्त दोनोंसे भिन्न कर देता है क्योंकि उदात्तवादी ( क्लासिकल ) और मिथ्योदात्तवादी ( जूडो क्लैसिकल ) सौन्दर्य-विज्ञानमें दोनों एक ही मान लिए गए थे । अतः बर्कका मत है कि 'मानव-कृतियाँ सभी ससीम हैं, इसलिये उद्वृत्तता केवल प्रकृतिकी रचनात्मिका शक्तिका अभिव्यञ्जना-मात्र है । बर्कके इन विचारोंका दूसरे रूपसे विस्तार किया इमानुअल कान्टने और उसने वहींसे प्रारम्भ किया जहाँ बर्कने गणित-सम्बन्धी उद्वृत्तता और गत्यात्मक उद्वृत्ततामें भेद बताया था । इसपर कान्टने जो व्याख्या की है उसका लोगोंने भूलसे यह अर्थ लगा लिया है कि कान्ट बाह्य सौन्दर्यको मानता ही नहीं था । कान्टके सिद्धान्तको हम इस प्रकार समझा सकते हैं कि कान्टने 'सुन्दरको ससीम बताया था और उद्वृत्तको निःसीम' । कान्टके तत्सम्बन्धी विचारोंपर ही स्वैरवादियोंने उदात्तकी व्याख्या की । वर्ड्सवर्थने कहा—'उद्वृत्तकी भावना कहीं अधिक गम्भीरताके साथ मनुष्यमें अन्तर्हित रहती है । जिन लोगोंने उद्वृत्तताके सिद्धान्तका विचार किया उन्होंने उद्वृत्तके साथ सुन्दरको भी ला रक्खा ।' शैलिङ्गने कहा कि 'उदात्त तो ससीममें निःसीमका समावेश है और सौन्दर्य है निःसीममें ससीमका नियोजन ।' इसे ही दूसरे ढङ्गसे भी उन्होंने कहा कि 'सुन्दरता तो उद्वृत्तवादी कलाका तत्त्व है और उद्वृत्तता स्वैरवादी कलाका ।'

इस शास्त्रार्थका व्यापक परिणाम यह हुआ कि काव्य या साहित्यमें सुन्दर और उद्वृत्त दो भिन्न तत्त्व समझे जाने लगे । किन्तु यह भेद अत्यन्त भ्रामक और अशुद्ध है क्योंकि सुन्दरता वहीं होती है जहाँ उसके प्रति सात्त्विक आकर्षण हो । इस सात्त्विक आकर्षणके अन्तर्गत वह भव्यता और गम्भीरता भी आवश्यक है जिसे बर्कने उद्वृत्तताका लक्षण माना है । हमारे यहाँ काव्यके चरित-नायकमें जब सौन्दर्यके साथ शीलकी प्रतिष्ठा कर दी गई, शीलको सौन्दर्यका पूरक मान लिया गया और इसी सौन्दर्य-सिद्धान्तपर धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत नायकोंकी तथा अपरिमित सौन्दर्य-राशिके साथ अलौकिक शीलसे संयुक्त नायिकाओंकी सृष्टि की गई तो उन्होंने इस प्रकारका कोई भेद नहीं किया । हमारे यहाँ बाह्य सौन्दर्य वहींतक श्रेष्ठ समझा गया जहाँतक वह अन्तःसौन्दर्य या भाव-सौन्दर्यसे परिपुष्ट हो । यदि उसका अभाव हो तो वह रूप-सौन्दर्य स्वयं अपनेको असुन्दर और हेय समझने लगता है ।

पार्वतीजीने भगवान् शङ्कर जैसे पतिको प्राप्त करनेके लिये जबतक लौकिक रूप-सौन्दर्यको साधन माना तबतक वे असफल रहीं। काम-दहनके पश्चात् स्वयं उनके मनमें आत्म-प्रेरणा हुई और उसके कारण—

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती

[ पार्वतीने हृदयसे रूपकी निन्दा की ] और फिर—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

[ पार्वतीजीने अबाध रूपसे समाधि लगाकर तप करनेकी ठान ली। ] और फिर इस तपस्यासे सन्दीप्त उनका तेज, किन्तु तपसे कुम्हलाए हुए उनके रूप-सौन्दर्यपर रीझकर स्वयं भगवान् शङ्कर उनके पास पहुँचे और जब उन्हें विश्वास हो गया कि अब बाह्य रूपका महत्त्व नष्ट हो गया है और आत्माके सौन्दर्यसे पार्वतीजी ज्योतिष्मती हो उठी हैं, तब परमेश्वर महादेवजीने आत्म-समर्पण कर दिया। यही सौन्दर्य वास्तविक और सात्त्विक सौन्दर्य है, जिसकी जिज्ञासा समीक्ष्यवादीको काव्यमें करनी चाहिए। होमरने हेलेनमें रूप तो भरा किन्तु वह शकुन्तलाका तेज नहीं भर सका। उसने पैनेलोपीमें पति-प्रेम तो भरा किन्तु सीताका वह तेज न भर सका जिसे अपनी लपटोंकी गोदमें पाकर भी अग्नि स्पर्श न कर पाई। इसी सात्त्विक सौन्दर्यकी मीमांसा भारतीय सौन्दर्य-मीमांसा है।

## सत्यं शिवं सुन्दरम्

अँगरेजीके 'द ट्रू, द गुड, द ब्यूटीफुल' का अनुवाद वर्त्तमान भारतीय समीक्षामें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पुकारके रूपमें कुछ लोगोंने प्रचलित किया है। वास्तविक सत्य क्या है, उसका काव्यमें किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए और उस प्रयोगकी किस प्रकार समीक्षा करनी चाहिए, यह हम पीछे समीक्षाके सिद्धान्तके साथ भली प्रकार समझा आए हैं। किन्तु यहाँ सत्यके उस व्यावहारिक रूपका भी विश्लेषण करना आवश्यक है जिसे कुछ लोग नग्न सत्य ( नेकेड ट्रूथ ) कहते हैं। दार्शनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो ऋत वह अखण्ड व्यापक सत्य तत्त्व है जिसके अस्तित्वके कारण ब्रह्माण्डके समस्त तत्त्व एक दूसरेसे भिन्न होते हुए भी एक दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं और इस प्रकार अपना शाश्वत

सम्बन्ध बनाए रखते हैं। अग्निका उष्ण होना, सूर्यका प्रकाश देना, चन्द्रमाका ओषधियोंमें प्राण भरना, वायुका निरन्तर गमन करना ऐसे ऋत हैं जिनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं की जा सकती। यह सात्त्विक अर्थात् शाश्वत अप्रत्यक्ष तत्त्व है। किन्तु सत्य वह प्रत्यक्ष तत्त्व है जिसे हम इन्द्रियोंसे देख, सुन और समझ सकते हैं अर्थात् हमारी इन्द्रियोंसे जिनमें मन भी सम्मिलित है, जो कुछ देखा, सुना, सूँघा, खाया, बोला, छुआ, किया, उठाया, चला, फिरा जाय वह सब सत्य या प्रत्यक्ष तत्त्व है। जो लोग काव्यमें सत्यकी स्थापना करते हैं या उसे ढूँढ़ते हैं वे इसी बाह्य सत्यके फेरमें पड़े हुए हैं जिसके सम्बन्धमें लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलकने अपने भगवद्गीता-रहस्य नामक ग्रन्थके कर्म-जिज्ञासा-विवेचनमें उसकी अत्यन्त बुद्धिसङ्गत व्याख्या करते हुए उदाहरण दिया है कि 'यदि कोई व्यक्ति चोरोंसे पीछा किए जानेपर आपके सम्मुख आपके भवनमें आकर छिप रहे और उसे ढूँढ़ते हुए चोर आकर आपसे पूछें कि अमुक व्यक्ति कहाँ गया', उस समय सत्यके सिद्धान्तके अनुसार आपका क्या कर्त्तव्य होगा? क्या आप प्रत्यक्ष सत्य बोलकर उस निरपराध मनुष्यकी हत्याके भागी बनना ठीक समझेंगे या संसारके सभी प्राणियोंमें समान रूपसे व्याप्त कष्टकी भावनाका स्वतः अनुभव करके उन चोरोंसे उस निरपराध व्यक्तिको होनेवाले कष्टके निराकरणके लिये और उस निराकरणके द्वारा सर्व-भूत-हितके ऋतकी रक्षाके लिये आप कहेंगे—'नहीं, हम नहीं जानते।' इसीलिये हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रके सर्वमान्य प्रणेता मनुने स्पष्ट रूपसे आदेश दिया है—

[ जबतक कोई प्रश्न न करे तबतक किसीसे बोलना न चाहिए और यदि कोई अन्यायपूर्वक प्रश्न करे तो पूछनेपर भी उत्तर नहीं देना चाहिए। मनु. ११० ]

महाभारतके शान्ति पर्व ( २८७–३४ ) में लिखा है कि ऐसी विपत्तिकी स्थितिमें यदि आपको कोई बात ज्ञात भी हो और आप समझते हों कि उसके कहनेसे किसीका अनिष्ट या अमङ्गल होगा तो आपको सिड़ी या पागलके समान 'हाँ-हूँ' कहकर बात टाल देनी चाहिए। भीष्मपितामहने भी शान्तिपर्वके सत्यव्रत अध्याय ( १०६–१५–१६ ) में युधिष्ठिरसे कहा है—'यदि बिना बोले छुटकारा हो सके तो किसी तरह भी बोलना नहीं चाहिए और यदि बोलना

अनिवार्य हो और उससे अनिष्टकी सम्भावना हो तो सत्यके बदले असत्य बोलना ही उचित है।' इसीलिये नारदजीने शुकसे कहा—

'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यम्मतम्मम ।।

[ सत्य बोलना अच्छा है, किन्तु सत्यसे भी अधिक अच्छा है हितकर बोलना, क्योंकि प्राणियोंका जिससे अत्यन्त हित होता हो वही हमारे मतसे सत्य है। ]

यही व्याख्या आगे चलकर अप्राङ्कित रूपमें प्रसिद्ध हुई—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ।।

[ सत्य बोलो किन्तु ऐसा सत्य बोलो जो प्रिय अर्थात् हितकर और सुखकर हो। कभी ऐसा सत्य न बोलो जो किसीको बुरा लगे और प्रिय या भली लगनेवाली बात भी ऐसी कहनी चाहिए जो ऋतके विपरीत न हो अर्थात् विश्व-व्यापक ऋततत्त्वसे भिन्न न हो। ]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम जो कुछ भी कहें वह ऐसा कहें जो ऋत अर्थात् व्यापक, सार्वभौम कल्याणतत्त्व या ऋततत्त्वसे भिन्न न हो, भले ही वह प्रत्यक्ष या गोचर तथ्यसे पूर्णतः भिन्न हो। यही वास्तवमें काव्य-सत्य है अर्थात् कवि जो कथा लाता है उसमें जिन विषयों, पात्रों, घटनाओं आदिका समावेश हुआ है उनका वास्तवमें कोई अस्तित्व था या नहीं यह प्रश्न ही निरर्थक है। विचारणीय तो यह है कि कवि-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीसे जो परिणाम, सार, प्रभाव या सन्देश उद्भूत होता है वह विश्वमें व्याप्त परमात्मामें एकीभूत प्राणियोंके अखण्ड सम्बन्धमें व्याघात डालकर अनृत तो नहीं बन जाता है अर्थात् विश्वमें व्याप्त परमात्मके रूपमें सूर्यके द्वारा प्रकाश देकर, बादलों-द्वारा जल देकर, वायु-द्वारा प्राण देकर, अग्नि-द्वारा उष्णता देकर जो सबके कल्याणकी एक विशाल अपरिमित योजना चारों ओर दिखाई पड़ रही है, उसकी प्रत्येक घट-घटमें स्थापना करनेके अतिरिक्त तथा उसका साक्षात्कार करानेके अतिरिक्त उसके विरोधमें पारस्परिक घृणा, द्वेष, कलह और भिन्नताका तो सङ्केत नहीं करता है। यदि ऐसा हो तो कविने अनृतकी सृष्टि की है और वह त्याज्य है। महाभारतकी समूची कथामें

भगवान् कृष्णकी जो युद्धके द्वारा धर्म-संस्थापनाकी योजना है वही वास्तवमें ऋत तत्त्व है जिसे इस रूपमें व्यक्त किया गया है—'यतो धर्मस्ततो जय:'

यही धर्म अर्थात् लोक-प्रभव , अहिंसा और परमहितकी भावना ही वास्तविक ऋत या सात्त्विक अलौकिक सत्य हैं। कविको इसी सात्त्विक सत्यकी ही स्थापना अपनी रचनामें करनी चाहिए और समीक्ष्यवादीको भी रचनाओंमें इसी सात्त्विक सत्यकी खोज करनी चाहिए।

इस सात्त्विक सत्यमें जब सर्वभूतहितकी बात आ गई तो स्वभावतः शिव-तत्त्व भी इसके अन्तर्भूत हो गया अर्थात् सात्त्विक सत्य-तत्त्व निश्चित रूपसे शिव-तत्त्व होता है और इस सात्त्विक सत्य तथा शिवतत्त्वकी जिसमें स्थापना हो जाती है वह अनायास सुन्दर हो जाता है क्योंकि जिस सत्यमें सर्वभूतहितकी बात होगी उसकी ओर स्वभावतः सब प्राणियोंकी समान रुचि होगी और यह रुचि ही इस बातका प्रमाण है कि 'वह असुन्दर, अभव्य और अरुचिकर नहीं है' अर्थात् वह सुन्दर है। इसलिये 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'को जो लोग बाह्य दृष्टिसे भिन्न तत्त्वोंके रूपमें समझनेका प्रयास करते हैं वे उसका वास्तविक रूप नहीं पहचानते और इसलिये इस कसौटीपर किए हुए उनके निर्णय भी व्यापक रूपसे अप्रामाणिक होते हैं।

### असाधारण तत्त्व

ऊपर हमने सत्य, शिव, और सुन्दरके समन्वयसे जिस ऋतकी खोजका कार्य समीक्ष्यवादीको सौंपा है, वह ऋत समाजमें प्रत्येक व्यक्ति स्थापित नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी स्थापनाके लिये ऐसे व्यक्तियों तथा ऐसी घटनाओंकी खोज करनी पड़ती है जिन्होंने हम जैसे साधारण व्यक्तियोंके बीच जन्म लेकर प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें उत्पन्न होनेवाले लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि मनोविकारोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करके, अनेक प्रकारकी असुविधाएँ और यातनाएँ उठाकर, निरन्तर उस ऋत-व्रतका पालन करते हुए लोक-कल्याणका निर्वाह किया है। उनके प्रति स्वभावतः हमारी श्रद्धा होती है, आकर्षण होता है और उनसे प्रेरणा मिलती है। इसीलिये हम उनकी ओर रुचिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, उनकी कथा बार-बार सुनना चाहते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि हम भी वैसे ही हों। यही गुण असाधारणता अर्थात् साधारण होकर भी कुछ विशेष गुणोंके कारण साधारणसे भिन्न प्रतीत कहलाता है।

यह असाधारणता कभी तो काव्यमें वर्णित पात्रके रूप, गुण, क्रिया और वाणीमें हो सकती है और कभी कविकी भाषा, शैली या रचना-कौशलमें भी हो सकती है। आजकल हमारे जो मित्र सामान्य जनतावाद ( पौप्यूलिज़्म ) या लोकवादकी दुहाई दे रहे हैं वे वे भी यह समझनेका प्रयत्न नहीं करते कि अपनी रचनाओंमें वे कभी पूरे जनसमाजका तो चित्रण करते नहीं हैं। वे तो जनसमाजमेंसे कोई एक पात्र और कथा ले लेते हैं और जहाँ उन्होंने जन-समाजमेंसे इस प्रकार कोई घटना या पात्र लिया कि वह सामान्यसे असामान्य हुआ या साधारणसे असाधारण हुआ और इसी असाधारणताके कारण ही अर्थात् अपने वर्गके लोगोंमें उसके असामान्य होनेके कारण ही वह रुचिकर हो जाता है और इसीलिये लोग उसमें रस लेते हैं।

इस असाधारणताको एक अन्य दृष्टिसे भी देख लेना चाहिए। एक व्यक्ति सदा वनमें रहता है और कभी-कभी उस वनके पास ही बनी हुई अपने पिताकी झोपड़ीमें भी आकर रह जाता है। यह व्यक्ति जङ्गलमें रहनेके कारण वहाँके जीवनसे इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे वहीं आनन्द मिलने लगता है। एक अन्य व्यक्ति सदा नगरमें अत्यन्त सुखमें पाला-पोसा गया है। उसने कभी वन और वन-मार्गके दर्शन ही नहीं किए। यदि इन दोनों व्यक्तियोंको निरपराध ही सही, यह दण्ड दे दिया जाय कि तुम दोनों बारह वर्षतक वनमें रहो तो हमारी या जनसाधारणकी सहानुभूति किसके साथ होगी। निःसन्देह सबकी सहानुभूति उस व्यक्तिके साथ होगी जिसने कभी वन देखातक नहीं। राम-वनवासकी लीला देखकर जो जन-समाज प्रायः रो देता है, उसका कारण यही होता है कि वह तत्काल रामके साधारण जीवनसे उनके वन्य जीवनकी असाधारणताकी तुलना करने लगता है और उसमें भी जब वह देखता है कि साधारणतः जिस परिस्थितिमें पड़नेपर मैं ( दर्शक या पाठक ) रो देता या विद्रोह करता उसमें भी रामने धैर्य धारण करके असाधारणता दिखलाई है तो रामके प्रति उसका आदरभाव या श्रद्धा-भाव जागरित हो जाता है। इसीलिये असाधारणता काव्यका सबसे बड़ा तत्त्व है और उसकी समीक्षा करना भी समीक्ष्यवादीका धर्म है।

## अद्भुतता

हम आप सभीने अपने बचपनमें अत्यन्त कौतूहलके साथ अपनी दादी या नानीसे भूतों, राक्षसों और परियोंकी कहानी सुनी होंगी। उनकी कहानियोंमें उन भूतों या राक्षसोंसे लोहा लेनेवाले किसी बालक या राजकुमारके साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति रही होगी। परियोंकी कहानियाँ सुनकर हमारी भी यह आकांक्षा हुई होगी कि कोई परी हमें भी मिल जाती और वह कोई ऐसा उड़नखटोला दे देती जिसपर चढ़कर हम भी किसी राजाकी सुनहरे बालोंवाली कन्या और उसका आधा राज्य पा जाते। किन्तु हमने यह विचार कभी न किया होगा कि ऐसे राक्षस और ऐसी परियाँ वास्तवमें होती भी हैं या नहीं। योरोपीय आचार्योंने इनके सम्बन्धमें कहा है कि 'जब पाठक ऐसी कथाएँ पढ़ता है तब वह इच्छापूर्वक अविश्वासको दबा देता है' (विलिङ्ग सस्पेंशन ऑफ़ डिस्बिलीफ़)। कारण यह है कि जो कभी देखा न गया हो, सुना न गया हो, नित्य गोचर वस्तुओंकी प्रकृतिसे भिन्न हो तथा अप्रत्याशित रूपसे आ पहुँचा हो, उसकी ओर हमारी स्वाभाविक कुतूहल-वृत्ति जाग उठती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि यह कुतूहल जगानेवाली वस्तु, जीव, व्यक्ति या घटना अपरिचित या आकस्मिक हो। किन्तु यह अपरिचित वस्तु, व्यक्ति, जीव या घटना भयप्रद नहीं होनी चाहिए। सर्कसमें आया हुआ और कटघरेमें बन्द सिंह हमें अद्भुत लगता है क्योंकि हमने पहले कभी उसे देखा नहीं। यदि वही सिंह खुलकर दहाड़ दे तो भगदड़ मच जाय और फिर वह अद्भुत न रहकर भयानक हो जायगा। अतः अद्भुतके लिये भयप्रद न होना अत्यन्त आवश्यक है और यदि कुछ कालके लिये भयप्रद हो भी तो उसका तत्काल परिहार हो जाना चाहिए। हाथी हमारे देशमें सभी लोग जानते और देखते हैं किन्तु जहाँ हाथी नहीं होता वहाँके लिये वह अद्भुत है। घर-घर नित्य बच्चे होते हैं किन्तु जब यह सुनाई पड़ जाय कि दो सिरवाला बच्चा उत्पन्न हुआ है या बकरीके बच्चेके समान मनुष्यका बच्चा हुआ है तब भी लोग दौड़े जाते हैं क्योंकि दो सिर एक साथ होना या बकरीके बच्चेका-सा सिर लेकर जन्म लेना मानव-शिशुके लिये असाधारण बात है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति शत्रुओंसे घिर जाय और दैवयोगसे शत्रु जिस कमरेमें खड़े हैं उसकी छत उनपर गिर पड़े तो यह आकस्मिक घटना भी चर्चाका विषय या

कुतूहलका विषय हो जाता है। ऐसी ही घटनाओंके कारण धार्मिक श्रद्धालु लोगोंके हृदयमें यह भावना जम गई है कि जब किसीपर विपत्ति आती है तो भगवान जन्म लेकर या प्रकट होकर उसका दुःख दूर करते हैं। नृसिंहने खम्भेसे प्रकट होकर प्रह्लादकी रक्षा की। इस घटनाको विवेकवादियोंने यह कहकर समझाया है कि 'दैव-संयोगसे पत्थरका खम्भा ही टूटकर हिरण्यकशिपुपर जा गिरा।' इनमें चाहे खम्भा फाड़कर नृसिंह प्रकट हुए हों या वह खम्भा ही स्वतः गिर पड़ा हो, किन्तु ये दोनों ही परिस्थितियाँ अद्‌भुत हैं अतः इनकी ओर प्रवृत्त होना प्रत्येक व्यक्तिके लिये स्वाभाविक है। संसार-भरके सभी लेखकोंने जहाँ एक ओर केवल साधारण कुतूहल उत्पन्न करके मनोविनोद-मात्र करनेके लिये ऐसी घटनाओंका प्रयोग किया है, वहाँ ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने जनतामें नैतिकताकी स्थापना करनेके लिये दुर्जनों द्वारा पीड़ित सज्जनोंको 'अन्तमें सुख'का आश्वासन देनेके लिये इस अद्‌भुतता-तत्त्वका समावेश किया है और इसका निर्वाह करनेके लिये उन्होंने एक ओर भयानक तथा घोर, त्रासक दानवों, राक्षसों तथा भूत-प्रेतोंकी कल्पना की है और दूसरी ओर उनका नाश करनेको ऐसे कृपालु तथा पराक्रमी देवताओं या मनुष्योंकी सृष्टि की जो सहसा अकस्मात् प्रकट होकर ठीक ऐसे समय आकर किसी सज्जनका उद्धार करते हैं जब उसका बस अन्त ही होनेवाला हो। ऐसे आकस्मिक प्रकटीकरण, नाटकमें ही अधिक दिखाए जाते रहे, इसलिये ऐसी आकस्मिक घटनाओंको लोग नाटकीय (ड्रैमैटिक) कहने लगे। इसी नाटकीय कौतूहलके कारण हम जासूसी या तिलस्मी कहानियाँ पढ़ते हैं और यही अद्‌भुतता-तत्त्व योरोपके सम्पूर्ण त्रासद (ट्रेज़ेडी) की परम्पराका मूल प्रेरक तत्त्व है।

### ममता, श्रद्धा और कौतूहल

उपर्युक्त विवेचनसे यह परिणाम निकला कि सुन्दरके प्रति हमारी ममता होती है, जो हमारे स्नेह या अनुरागके भावका पोषण करता है। असाधारणके प्रति श्रद्धा या आदर-भाव होता है, जो हमारी विवेक-वृत्तिको तृप्त करता है। अद्‌भुतके प्रति कौतूहल होता है, जो हमारी जिज्ञासा-वृत्तिको तृप्त करता है। इस प्रकार सौन्दर्य हमारी चयन-वृत्तिको परिष्कृत करता है, असाधारण हमारी अहंवृत्तिको शुद्ध करता है और अद्‌भुत हमारी जिज्ञासा-वृत्तिका संस्कार

करता है अतः समीक्ष्यवादीका यह धर्म है कि वह सुन्दर (जिसे बार-बार देखने-सुननेका मन करे और जो सदा नवीन प्रतीत हो), असाधारण (जो साधारणमेंसे ही उद्भूत हो किन्तु अपने विलक्षण गुणोंके कारण भिन्न हो जाय) तथा अद्भूत (जो अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व, आकस्मिक तथा अप्रत्याशित हो किन्तु भय न उत्पन्न करे) की ही समीक्षा करे जिनका समावेश कविगण साहित्यमें करते आए हैं।

# कला और साहित्य

मनोगत भाव प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन भाषा है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अङ्गोंके सञ्चालनसे भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं किन्तु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टतासे भाव प्रकट करती है, उतनी सरलतासे अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य, पशुओंसे भी गया-बीता होता; क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रेम, भय आदि कुछ भाव अपने कान-पूँछ हिलाकर या गरज-भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषाके आविर्भावसे सारा मानव-संसार गूँगोंकी विराट् बस्ती बननेसे बच गया।

## भाषाके चार प्रयोजन

ईश्वरने हमें वाणी भी दी और बुद्धि भी। हमने इन दोनोंके उचित संयोगसे भाषाका आविष्कार किया। भाषाने भी बदलेमें हमें इस योग्य बनाया कि हम अपने मनकी बात एक दूसरेसे कह सकें, अपना दुख-सुख दूसरोंको सुना सकें और दूसरोंका दुख-सुख स्वयं समझ सकें।

परन्तु भाषाकी उपयोगिता केवल कहने-सुननेतक ही परिमित नहीं है। कहने-सुननेके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहते हों, वह ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दोंमें इस ढङ्गसे कहें कि सुननेवाला, शब्दोंके सहारे हमारी बात ठीक-ठीक समझ जाय। ऐसा न हो कि हम कहें खेतकी, वह सुने खलिहानकी।

बोलने और समझनेके अतिरिक्त भाषाका उपयोग पढ़ने और लिखनेमें भी होता है। कहने और समझनेकी भाँति लिखने और पढ़नेमें भी उपयुक्त शब्दोंके द्वारा भाव प्रकट करने और उसे ठीक-ठीक पढ़कर समझनेकी आवश्यकता होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि भाषाकी शिक्षा देनेका उद्देश्य मनुष्यको ठीक-ठीक बोलना, समझना, लिखना और पढ़ना सिखाना है।

## प्रभाव और शैली

किन्तु केवल ठीक-ठीक बोलने, समझने, पढ़ने और लिखनेकी योग्यता आ-जानेसे ही भाषा-शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता। व्याकरणकी कड़ियोंमें कसकर शुद्ध-शुद्ध ढङ्गसे किसी बातको कह-सुन लेनेसे ही हमारी तृप्ति नहीं होती। हमारी आकांक्षा यह भी रहती है कि हम जो बात कहें उसका श्रोतापर प्रभाव पड़े। साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि लिखने और बोलनेमें हमारा एक अपना निरालापन हो, हमारी एक शैली हो, जिससे हम लाखोंमें अलग पहचान लिए जायँ; अर्थात् हमारे लिखने और बोलनेपर हमारे व्यक्तित्वकी छाप पड़ी हो। इस भावनाको अग्रसर और उत्साहित करनेमें हमारी आत्मप्रियता अथवा यदि खुले शब्दोंमें कहें तो हमारा अहङ्कार बराबर सहायक होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरोंसे अपनी बात मनवानेकी अभिलाषा—'हमचुनीं दीगरे नेस्त' की प्रवृत्ति कभी-कभी भारी बखेड़ा उपस्थित कर देती है। दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिये ओजपूर्ण शैलीसे जब हम कोई बात कहने लगते हैं तब इसकी चिन्ता नहीं करते कि श्रोता हमारी बातकी चोटसे तिलमिलाता है या खिलखिलाता है। ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर अपशब्दोंके प्रयोगको ही हम लोग भ्रमवश प्रभावपूर्ण और ओजपूर्ण शैली समझ बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रभावके स्थानपर असद्भाव उत्पन्न हो जाता है, बात माननेके बदले, श्रोता बात काटने लगता है।

## मधुरता

अतः यह आवश्यक है कि लिखते और बोलते समय कोई बात ठीक-ठीक प्रभावोत्पादन और ओजपूर्ण शैलीमें कही जानेके साथ-साथ मधुर ढङ्गसे भी कही जाय, क्योंकि बात कहना कठिन नहीं है, ढङ्गसे कहना कठिन है। वाणी उस बाणके समान होनी चाहिए जो भीतरतक पहुँचकर श्रोताका हृदय बेधे तो, किन्तु चोट खानेवाला न रोवे, न चिल्लावे, न आह करे, न कराहे वरन् बाणको निकालकर चूम ले और तड़पकर कह उठे—भाई वाह! क्या बात कही है। तात्पर्य्य यह कि बात इस ढङ्गसे कही जाय कि सुननेवाला उसकी कटुतापर चिढ़े नहीं वरन् उलटे उसकी कथन-शैलीपर मोहित हो जाय।

कहा जाता है कि राजा भोज जब छोटे थे तब उनके चाचा मुञ्जने राज्य हड़प लेनेकी इच्छासे भोजका वध करा डालना चाहा। जब भोजका वध

करनेके लिये वधिक उसे वनमें ले गए और उन्होंने भोजसे सब बातें बताईं तब भोजने वधिकोंसे कहा—'ठीक है, जब चाचाजीकी यही इच्छा है तो तुम लोग मेरा वध कर डालो, किन्तु मैं जो पत्र लिखकर देता हूँ, वह मेरे चाचाजीको दे देना।' भोजने झट एक श्लोक लिखा—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते !
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ॥

[ सत्ययुगके सर्वश्रेष्ठ राजा मान्धाता भी समाप्त हो गए। जिस रामने समुद्रपर पुल बाँधकर रावणको मार डाला था, वे भी अब कहाँ हैं ? इनके अतिरिक्त और भी युधिष्ठिर आदि जो बड़े-बड़े राजा हो चुके हैं, वे भी स्वर्ग पहुँच गए किन्तु पृथ्वी किसीके साथ नहीं गई, पर जान पड़ता है आपके साथ यह अवश्य जायगी। ]

जब यह पत्र वधिकोंने पढ़ा तो उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने भोजको लाकर छिपा दिया और वह पत्र लाकर मुञ्जको दिया। उस पत्रको पढ़कर मुञ्ज रोने लगा और उसने खोज कराकर भोजको राज्य दे दिया।

इसी प्रकार शेरशाहने जब मलिक मुहम्मद जायसीकी कानी आँखपर हँस दिया तो वह बोला—'मोहिका हँसेसि कि कोहरहिं ?' [ मुझपर हँस रहे हो या मेरे निर्मातापर ? ] सुनकर शेरशाह अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

तुलसीदासजी भी अपनी स्त्रीकी इन बातोंसे ही प्रभावित होकर तुलसी बने—

अस्थि-चर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तौ भवभीति ॥

महापात्र नरहरि बन्दीजनने गौओंकी ओरसे यह छप्पय लिखकर सम्राट् अकबरसे गोवध बन्द करा दिया था—

अरिहु दन्त तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम सन्तत तिनु चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ ॥
अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महि थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं ॥

कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, बिनवति गउ जोरे करन ।
अपराध कौन मोहि मारियतु, मुएहु चाम सेवहिं चरन ।।

एक बार बीरबल अटककी लड़ाईपर गया और सम्राट् अकबरको वहाँके गम्भीर समाचार मिलने लगे तो उसने यह डौंड़ी पिटवा दी कि जो कोई मुझे बीरबलके समाप्त होनेका समाचार देगा उसे मैं प्राण-दण्ड दूँगा । उस युद्धमें बीरबल सचमुच वीरगतिको प्राप्त हुए । समाचार देना भी आवश्यक था । अतः एक साहसी कविने सम्राट् अकबरसे जाकर निवेदन किया—

कटक अटकमैं अटकि रहि, अटक न आयौ हाथ ।
सब सोभा दरबारकी, गई बीरबर साथ ।।

[ अटकमें पहुँचकर सेना रुक गई और अटक भी हाथ न लग पाया । उल्टे हुआ यह कि दरबारकी सारी शोभा बीरबलके साथ चली गई । ]

सम्राट्ने पूछा—क्या बीरबल मारे गए ?

उसने कहा—हुज़ूर ही कह रहे हैं, ख़ादिमने तो इसका ज़िक्र भी नहीं किया ।

जयपुरके राजा जयसिंह जब एक बालकुमारीके मोहमें पड़कर राज्य-कार्यसे उदासीन हो चले । उस समय कविवर बिहारीने यह दोहा भेजकर उन्हें मोहसे छुड़ाया था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही तें बँध्यौ, आगे कौन हवाल ।।

एक बार शाह मुअज़्ज़मने कविवर आलमकी पत्नी शेख रँगरेज़िनसे हँसी करते हुए कहा—

कहिए ! आलमकी ( संसारकी ) औरत आप ही हैं ? शेख़ रँगरेज़िनके पुत्रका नाम था जहान । उसने झटसे उत्तर दिया—जी हाँ ! जहानकी (संसार) माँ मैं ही हूँ । [ व्यंग्य यह हुआ कि मैं संसारकी माँ हूँ, पत्नी नहीं । ]

कहनेका तात्पर्य यह है कि वाणीमें विचित्र शक्ति तो होती है पर उसका उचित प्रयोग भी जानना चाहिए । यह शक्ति वाणीके उचित संस्कारसे ही प्राप्त हो सकती है । इसीलिये कबीरने कहा है—

जिभ्यामें अमृत बसै, जो कोई जानै बोल ।
बिस बासिकका ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोल ।।

[ यदि कोई बोलनेका ढङ्ग जान सके तो जीभमें ही अमृत रहता है। देखो, सर्पका विष उतारनेवाला गारुडी, केवल जीभ ही तो हिलाता है पर उसीसे विष उतार देता है। ]

### चमत्कार

विधाताकी सृष्टिमें सबसे अधिक असन्तुष्ट प्राणी मनुष्य है। वह आवश्यकताकी पूर्ति मात्रसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे भूख लगनेपर केवल भोजन ही नहीं चाहिए, वरन् उस भोजनमें उसे कुछ चटपटापन, कुछ स्वाद, कुछ नमक-मसाला भी मिलना चाहिए। इसी प्रकार धूप-वर्षा, चोरी-डाकेसे बचनेके लिये मनुष्य घर बनाता है, पर घर बन जाने-भरसे ही उसका काम पूरा नहीं होता। वह उसे भिन्न-भिन्न रङ्गोंसे रँगवाता है, उसपर बेलबूटे बनवाता है, चित्रकारी कराता है। आवश्यकताकी पूर्त्तिके साथ वह अपनी सौन्दर्य-भावनाकी तृप्तिके साधन भी प्रस्तुत करता जाता है। उसकी यही प्रवृत्ति, भाषाका प्रयोग करते समय भी सचेष्ट हो जाती है। वह प्रभावशाली ढङ्गसे, व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध और मधुर भाषाका प्रयोग करनेके साथ-साथ उसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य लानेका भी प्रयत्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकारकी चमत्कारपूर्ण वाणी लोगोंको शीघ्र ही आकृष्ट कर लेगी और उसका प्रभाव भी स्थायी होगा।

### भाषाका उद्देश्य

अतः भाषाका उद्देश्य यह हुआ कि हम दूसरोंकी कही और लिखी हुई बातें ठीक-ठीक समझ और पढ़ सकें तथा शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर और रमणीय ढङ्गसे बोल और लिख सकें।

### शुद्ध भाषा

शुद्ध भाषाका अर्थ यह है कि वक्ता अथवा लेखकको अपनी भाषाके व्याकरणपर आश्रित शिष्ट-जनमें प्रयुक्त होनेवाली भाषा-शैलीका ही प्रयोग करना चाहिए। यह शुद्धता चार प्रकारकी होती है—१. व्याकरणसे शुद्ध हो, जिसके अन्तर्गत शब्द-रूप, लिङ्ग, वचन, वाक्य-विन्यासादिकी शुद्धताका समावेश होता है, २. अन्य भाषाओंके शब्दोंसे मिली हुई न हो, ३. अश्लील या अशिष्ट प्रयोग उसमें न हों, ४. लेखनकी शुद्धता हो,

५. रूढोक्तियोंका प्रयोग उचित हो। इन पाँचोंको हम निम्नलिखित उदाहरणोंसे समझा सकते हैं—

१. व्याकरणकी शुद्धता

| | | |
|---|---|---|
| राम दशरथसे कहे | — | अशुद्ध |
| रामने दशरथसे कहा | — | शुद्ध |
| कितनी मूली लाए हो ? | — | अशुद्ध |
| कितनी मूलियाँ लाए हो ? | — | शुद्ध |
| हाथी आती है | — | अशुद्ध |
| हाथी आता है | — | शुद्ध |
| उपरोक्त नियम ठीक है | — | अशुद्ध |
| उपर्युक्त नियम ठीक है | — | शुद्ध |
| निम्न सज्जन पधारे | — | अशुद्ध |
| निम्नलिखित सज्जन पधारे | — | शुद्ध |
| वायु चल रही है | — | अशुद्ध |
| वायु चल रहा है | — | शुद्ध |
| हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती | — | अशुद्ध |
| हमारा आत्मा स्वीकार नहीं करता | — | शुद्ध |
| राम, जो दशरथके पुत्र थे, ने कहा | — | अशुद्ध |
| दशरथके पुत्र रामने कहा | — | शुद्ध |

२. भाषा-रूपकी शुद्धता

| | | |
|---|---|---|
| मैं सन्डे मौर्निङ्गको काशीसे रवाना होऊँगा | | अशुद्ध |
| मैं रविवारको प्रातः काशीसे प्रस्थान करूँगा | | शुद्ध |
| वह खूबसूरत महिला है | — | अशुद्ध |
| वह सुन्दर महिला है | — | शुद्ध |
| सूरदासकी कविता फार चाँगली है | — | अशुद्ध |
| सूरदासकी कविता अत्यन्त श्रेष्ठ है | — | शुद्ध |
| हमारी चोपड़ी ले आओ | — | अशुद्ध |
| हमारी पोथी ले आओ | — | शुद्ध |

### ३. शिष्ट प्रयोग

| | | |
|---|---|---|
| (बड़ोंसे) तुम कहाँसे आ रहे हो ? | — | अशुद्ध |
| आप कहाँसे आ रहे हैं | — | शुद्ध |
| तुम्हारा बाप मिला था | — | अशुद्ध |
| आपके पिताजीसे भेंट हुई थी | — | शुद्ध |

### ४. लेखनकी शुद्धता

| | |
|---|---|
| बिजुलीके परकासमें आँखें चुँधिया जाती हैं | अशुद्ध |
| बिजलीके प्रकाशमें आँखें चौंधिया जाती हैं | शुद्ध |

### ५. रूढोक्तियोंका प्रयोग

| | | |
|---|---|---|
| उनके मुखपर वायु उड़ने लगा | — | अशुद्ध |
| उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं | — | शुद्ध |
| चरणतलसे पृथ्वी लुप्त हो गई | — | अशुद्ध |
| पैरों तलेसे धरती खिसक गई | — | शुद्ध |

### प्रभावोत्पादक भाषा

प्रभावोत्पादक भाषाका तात्पर्य यह है कि हम जो बात कहें उसका सुननेवालेपर ऐसा प्रभाव पड़े कि वह तदनुकूल आचरण करके हमारी इच्छाके अनुरूप कार्य करने लगे । जैसे—

शरणार्थियोंके लिये आप भी कुछ दान दीजिए— — प्रभावहीन

निराश्रित, गृहहीन, अपना देश छोड़कर आनेवाले उन लोगों के लिये हम आपके आगे झोली पसार रहे हैं, जिनके दिन भूखसे और रातें जागकर बीत रही हैं, जिन्हें देखकर करुणा भी आठ-आठ आँसू बहा रही है । — प्रभावोत्पादक

### मधुर भाषा

मधुर भाषाका तात्पर्य यह है कि शब्दोंमें सामाजिक शील हो तथा कहनेके ढङ्गमें कोमलता हो । जैसे—

| | | |
|---|---|---|
| आपका नाम ? | — | रूक्ष |
| आपका शुभ नाम जान सकता हूँ ? | — | मधुर |

| | | |
|---|---|---|
| आप कहाँसे आए ? | — | रूक्ष |
| आप किस स्थानसे पधारे हैं ? | — | मधुर |
| कहिए आप क्यों आए ? | — | रूक्ष |
| आपने कैसे कष्ट किया ? या मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? | — | मधुर |

### रमणीय या कलात्मक भाषा

रमणीय भाषाका तात्पर्य यह है कि उसे सुननेवाला तत्काल भाषाके प्रभावसे ही प्रभावित हो जाय। जैसे—

| | | |
|---|---|---|
| चलिए, खाना खा लीजिए | — | असुन्दर |
| पधारिए, थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है | — | सुन्दर |

किन्तु कलात्मक भाषाका प्रयोग करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतनी गूढ़, जटिल और दुरूह न हो जाय कि सुननेवालेकी समझमें ही न आवे, जैसे 'चलिए, भोजन कर लीजिए' के बदले आप कहें—

'कुशल पाचकके सम्पूर्ण पाक-विद्या-कौशलका उत्कृष्टतम स्वरूप आपके मुखारविन्दके अन्तर्गत व्याप्त रसनाके भोगका विषय बनकर अगणित व्यञ्जन-समन्वित होकर आपके उदर-कोशका सान्निध्य प्राप्त करनेके लिये लालायित है।'

भाषाको रमणीय बनानेके प्रयासमें कवि अपने कहनेके ढङ्ग, शब्दोंके चयन तथा कथनीय विषयमें सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतताका संयोग ( सम्यक् योग अर्थात् उचित योग ) करके जो वाङ्मय प्रस्तुत करता है वह साहित्य बन जाता है और इस कार्यके लिये किए हुए व्यवस्थित प्रयासको ही कला कहते हैं। कलाचार्योंका कहना है कि 'कलाकी परिधि अत्यन्त विस्तृत है, जिसके भीतर अनेक कलाएँ आती हैं, जिनमें काव्य-कला या व्यापक अर्थमें साहित्य-कला भी है'। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि कला और साहित्यकी परिभाषा और पहचान क्या है, उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है।

### कलाका संस्कार

राजर्षि भर्तृहरिने अत्यन्त निर्भीकतासे कहा है कि—

साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः, साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाणहीनः ।

[ कला-विहीन पुरुष उस पशुके समान है जिसे सींग और पूँछ नहीं । ]

यह तो मानी हुई बात है कि मनुष्य भी एक प्रकारका पशु ही है, यह दूसरी बात है कि वह चौपाया नहीं । जैसे घोड़ा, गाय, बकरी आदि पशुओंकी दो श्रेणियाँ हैं उसी प्रकार मनुष्य पशुकी भी । पशु दो प्रकारके हैं—पालतू और जङ्गली। मनुष्य भी दो प्रकारके हैं—सभ्य और असभ्य। 'असभ्य' शब्द जङ्गली शब्दका ही संस्कृत रूप है। एक दिन वह भी था जब मनुष्य और पशु दोनों ही एक साथ जङ्गलमें रहते थे । दोनोंके आहार, सञ्चयन, शयन और भ्रमणका ढङ्ग एक ही था । तब वस्त्रकी तो बात ही दूर थी, तबतक कानोंकी लालीका कारण लज्जायुक्त शील न होकर क्रोधयुक्त प्रतिहिंसा ही होती थी। जैसे अप्रकट क्रोधका नाम ईर्ष्या है उसी प्रकार सङ्कोच-युक्त स्व-सौन्दर्य-बोधका नाम लज्जा है। तबतक लज्जा नहीं थी, अतः सौन्दर्य-बोध नहीं था । सौन्दर्य-बोधका फल है कलाकी उत्पत्ति । तबतक सौन्दर्य-बोध नहीं था, अतः कला भी न थी । कला-विहीन मनुष्यका नाम है पशु । तबतक कला नहीं थी, अतः तब नर भी नरपशु था । कलाने मनुष्यों और पशुओंको ही अलग-अलग नहीं किया अपितु उसने दोनोंमें ही दो-दो भेद कर दिए । जैसे सभ्य मनुष्योंमें रहनेवाले पशु पालतू कहलाए उसी प्रकार जङ्गली जानवरोंके बीच रहनेवाले मनुष्य जङ्गली अथवा असभ्य ।

अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी इच्छा ईश्वरके काममें वृद्धि करती आई है । ईश्वरने जङ्गल बनाए, पशु बनाए और मनुष्य बनाए । मनुष्यने जङ्गलको बस्ती, पशुको मनुष्यवत् और अपने आपको ईश्वर बनाया और यह सब बनाया कलाकी सहायतासे । स्वप्न देखना निर्माण करना है, इच्छा करना बुलाना है और कल्पना करना वास्तविकताको जगाना है । मनुष्यने कलाकी कल्पना की अर्थात् अवास्तविकमें वास्तविकका विधान किया । दूसरी ओर पश्चिमके जानकारोंका कथन है कि 'कला कृत्रिम है' । उन्होंने अपनी समझसे कलाकी कृत्रिमता प्रमाणित भी कर दी है। अनुमानके आधारपर उनके तर्कने ऐसी बातें तैयार की हैं जो प्रमाणके समान दीख पड़ती हैं । उनकी

इस भ्रान्तिका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। अज्ञानके अन्धकारमें कलाका कोई अन्य उद्देश्य न दिखाई पड़ा अतः लोगोंने 'कला-कलाके लिये'का भीषण नारा लगाया। इसका एक अवाञ्छनीय परिणाम यह हुआ कि आज योरोपमें कला सभ्यतासे सम्बन्ध रखनेवाली एक आडम्बर-क्रिया हो गई है।

हमारे यहाँ इसके सर्वथा प्रतिकूल कलाकी स्थिति सोद्देश्य है। हमारे यहाँ प्रकृतिका ही दूसरा नाम सत्य है। जो सत्य है वही मङ्गलमय है और जो मङ्गलमय है वही सुन्दर है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' यद्यपि उपनिषद्वाक्य नहीं है तथापि भारतीय विचारसे 'कला क्या है' इसकी यह सूत्र रूपमें परिभाषा है। कहा जाता है कि यह अँगरेज़ीके 'दि ट्रू, दि गुड, दि ब्यूटीफ़ुल'का अनुवाद है और कवीन्द्र रवीन्द्रके पितामह-द्वारा ब्रह्म-समाजमें व्यवहृत हुआ और वहींसे फ़ैशनके रूपमें इसने अच्छा प्रचार पाया। जो हो, पर कलाके सम्बन्धमें जब यह वाक्य उद्धृत किया जाता है तब हम इसे कलाकी परिभाषा ही मान लेते हैं। कला क्या है? जो सत्य है—सत्याभास नहीं, सत्यकी छाया नहीं—सर्वथा सत्य है, शुद्ध सत्य है, वही कला है। कलाकी सृष्टि मङ्गलको पुष्ट करनेके लिये हुई है, नष्ट करनेके लिये नहीं। जिस कलासे हमारा अशुभ होता हो वह कला नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। फाँसी चाहे जितने कलात्मक ढङ्गसे दी जाय, है तो वह फाँसी ही। कलाका जितना सत्य होना आवश्यक है उतना ही शुभ होना भी। जिससे अपना शुभ होता हो उससे मुँह फेर लेनेवाले प्रायः पागल कहलाते हैं। समझदारोंकी दृष्टिमें जिससे अपना शुभ होता हो उससे बढ़कर सुन्दर कुछ नहीं। 'कला कलाके लिये' नहीं, 'हमारे कल्याणके लिये' है। जिस नथसे नाक कटती हो उसे पहने रहना मानसिक स्वस्थताका लक्षण नहीं है।

कलाकी उत्पत्तिका यही कारण कला शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे भी समझ पड़ता है। 'कं' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ होता है आनन्द और प्रकाश, और 'ला' धातुका अर्थ है लाना। अतः कलाका अर्थ है वह क्रिया या शक्ति जो आनन्द और प्रकाश लाती हो। आनन्ददायक होनेके लिये रमणीय होना आवश्यक है। रमणीयताकी एक पुरानी परिभाषा अपने यहाँ है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः।

[ प्रतिक्षण जो नवीनताका रङ्ग रखती हो उसे रमणीय कहते हैं। ]

नवीनता प्रकाश देती है, नवीनता आनन्द देती है, अतः कला ज्ञानका

प्रकाश करती है। सत्य ज्ञान है, असत्य अज्ञान। ज्ञान मङ्गल-मूल है, कला मङ्गलमयी है। कला रमणीय है इसलिये सुन्दर है। सहृदय अँगरेज़ी कवि कीट्सने भी कहा है—

'ए थिंग ऑफ़ ब्यूटी इज़ ए जौए फ़ौर एवर'

[ सुन्दर वस्तु शाश्वत आनन्द देती है। कला सत्य है, शिव है, सुन्दर है। ]

जङ्गली जानवरोंके बीच सत्यकी खोज शिकारकी खोजतक ही परिमित रही। उसके आगे अन्धकार था, अज्ञान था। सोते, जागते, उठते, बैठते, चौबीसों घण्टे इस बातकी आशङ्का कि 'अब शेर झपटा, अब बाघने धावा मारा,' कल्याणकी, शुभकी और मङ्गलकी सूचक नहीं है। जो स्थान हमारे लिये सदा अरक्षित है वह हमें भव्य ही कब लगने लगा। ऐसी परिस्थितियोंके कारण वनवासी मनुष्यने जङ्गलको केवल अपना आखेटस्थल बनाकर अपने रहनेके लिये बस्तियोंका निर्माण किया। कला उनकी सहायतार्थ प्रस्तुत थी। आँधी, पानी, धूप, सर्दी, चोर, डाकूसे सुरक्षित रहनेके लिये कलाकी सहायतासे मनुष्यने घर बनाया। ऐसी अवस्थामें कला मनुष्यके लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हुई। कलाका उपयोगी अंश जहाँ समाप्त हुआ वहीं उसके ललित पक्षका आरम्भ मानना चाहिए। इस प्रकार कलाके दो विभाग हो गए—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। मानव-समाजके जिस समूहने बोलने-चालने, उठने-बैठने, आने-जाने, खाने-पीने आदि साधारण व्यवहारमें जितनी ही कला-कुशलता दिखलाई वह उतना ही सभ्य कहा गया। इस प्रकार धीरे-धीरे कला हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गमें घुल-मिल गई, हमारे लिये अनिवार्य हो गई।

## कला किसे कहते हैं ?

यह कहा गया है 'कि कं आनन्दं लाति इति कला' अर्थात् जो आनन्द लावे उसे कला कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आनन्द-भावनासे ही कला-वृत्ति उत्पन्न होती है और यह आनन्द-भावना सौन्दर्य-भावनासे आती है। क्रोचेने न जाने कैसे यह व्यवस्था दे दी कि 'क्योंकि कला अभिव्यक्ति है, इसलिये सब अभिव्यक्ति कला है' ( औल आर्ट इज़ एक्सप्रेशन, देअरफ़ोर औल एक्सप्रेशन इज़ आर्ट )। यह तो कहना वैसा ही हुआ कि 'सब वाद्य

बजते हैं इसलिये जो कुछ बजता है, सब वाद्य हैं।' इस दृष्टिसे बाँसकी हरहराहट और टर्र-टर्र करनेवाला मेंढक भी वाद्य हो गया। क्रोचेको कहना चाहिए था कि 'कला वह अभिव्यक्ति है जो व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित हो।' इस दृष्टिसे यदि उसकी परिभाषाको शुद्ध किया जाय तो कह सकते हैं कि 'क्योंकि कला अत्यन्त व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति है इसलिये वास्तवमें—

सम्पूर्ण व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति ही कला है।'

क्योंकि कला शब्द परिभाषित है और अभिव्यक्ति शब्द बिना विशेषणके निरर्थक और अस्पष्ट है अत: 'सौन्दर्य-भावनासे ही कलाकी उत्पत्ति होती है और केवल उसका ही समीक्षण हो सकता है जो केवल कला दिखानेके लिये लिखा गया हो। अत: व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित मानवीय क्रिया ही कला है।'

## कलामें रुचि-भेद

इसी प्रसङ्गमें यह भी जान लेना चाहिए कि कला भी कुछ तो ऐसी है जिसका आनन्द सब ले सकते हैं, जो सबके द्वारा आस्वाद्य है और कुछ ऐसी है जिसका कि केवल जौहरी या विशिष्ट व्यक्ति ही परीक्षण कर सकते हैं। यदि हम कलाओंकी दृष्टिसे देखें तो प्रतीत होगा कि हम चित्रका परीक्षण आँखसे करते हैं, सङ्गीतका कानसे, मूर्तिका आँखसे और स्पर्शसे, भोज्यका नासिका और मुखसे। किन्तु साहित्यका कानसे सुनकर या दृश्य काव्यको आँखसे देखकर हम उसका तात्कालिक आनन्द भले ही प्राप्त कर लें किन्तु उसका सूक्ष्म परीक्षण और उसके विभिन्न तत्त्वोंकी सङ्गति हम तबतक नहीं जान सकते जबतक हम उसके भली प्रकार परीक्षण करनेकी विधियों साधनों, उद्देश्यों आदिसे परिचित नहीं हो जाते। ये परीक्षण भी अपने-अपने कौशल, रुचि, वृत्ति, शिक्षा, संस्कार और रूढिके अनुसार अलग-अलग होते हैं। हमारी दृष्टिसे दु:खान्त नाटक बहुत बुरा है किन्तु योरोपवालोंकी दृष्टिसे वही अत्यन्त सुन्दर और मधुर है।

## कलाओंकी परिधि : सात उदार कलाएँ

योरोपमें प्राचीन और मध्य युगके अन्तर्गत यूनानियोंने साधारण जन-समाजको सुसंस्कृत करनेके लिये और उनके ज्ञानका आधार बनानेके लिये

जो अध्ययन-योजना बनाई उसे उन्होंने 'सात उदार कलाएँ' कहकर सम्बोधित किया। उदारका तात्पर्य यह है कि 'वे, उन यान्त्रिक शिल्प-कलाओंसे भिन्न हैं जो निम्न कोटिके व्यक्ति काममें लाते हैं। किन्तु ये उदार कलाएँ स्वतन्त्र पुरुषकी शोभा हैं और उदार संस्कृतिकी प्रेरणा देती हैं।' उदार कला और शिल्प-कलामें यह भेद छठीं शताब्दि ई० पू० में सोलन, प्लेटो और अरस्तूने स्पष्ट कर दिया था किन्तु ये सात कलाएँ भी सदा एक-सी नहीं रहीं, कभी इनमें कोई कला सम्मिलित कर ली जाती थी, कभी निकाल दी जाती थी, यहाँतक कि रोमन प्रभुत्वके समय आयुर्वेद, वास्तु-कला, व्यायाम-कला, तथा कृषि-शास्त्र भी कलाओंमें सम्मिलित थे।

इसके अतिरिक्त जहाँ मूल कलाओंके सम्बन्धमें ऐकमत्य था वहाँ उनकी प्रकृति और प्रयोजनके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद भी था और इसी आधारपर उस योजनामें उनका क्रम भी स्थिर होता था। मूलतः इस योजनाके अन्तर्गत साहित्यिक और गणित सम्बन्धी कलाएँ थीं जो त्रिवियम् और क्वाड्रियम् कहलाती थीं और मिलकर सात कलाएँ हो जाती थीं। त्रिवियम्‌के अन्तर्गत व्याकरण, भाषण-शास्त्र और तर्क-शास्त्र था; क्वाड्रियम्‌के अन्तर्गत गणित, ज्यामिति, सङ्गीत और ज्योतिष-विद्या थी।

जान पड़ता है यह सम्पूर्ण कला-योजना दर्शनकी तैयारीका सांस्कृतिक आधार बनानेके उद्देश्यसे स्थापित की गई थी क्योंकि अरिस्तिप्पसने कलाको दर्शनकी सखी बताया है। आगे चलकर जब ये विद्याएँ ज्ञानसे अलग कर दी गईं तब सिसरोने चिढ़कर कह भी कह दिया था कि 'जबसे इन कलाओंको अलग किया गया है तबसे वक्ताओं और दार्शनिकोंमें निरन्तर द्वन्द्व और अविश्वास छिड़ गया है, जिससे भाषण-कला और दर्शन दोनों समाप्त हो गए हैं।' इसीलिये इस परिस्थितिको ठीक करनेके उद्देश्यसे सिसरोने ज्ञानके उसी प्राचीन आदर्शकी स्थापना की जिसका आधार यह सप्त-कला-योजना थी। इन विषयोंको कला कहनेका जो चलन उस समयसे चला वह आजतक हमारे यहाँ भी ज्योंका त्यों आँख मूँदकर प्रयोग किया जा रहा है जिससे कि बी० ए० पास करनेवाले लोग 'कलाके कुमार' और एम्० ए० पास करनेवाले 'कलाओंके स्वामी' कहलाते हैं। यद्यपि ये सब कलाएँ न होकर शास्त्र या साहित्य हैं किन्तु यह भ्रामक 'कला' शब्द अभीतक चलाया जा रहा है और इसका सुधार नहीं किया जाता।

हमारे यहाँ कला शब्द उस विशेष कौशलके लिये प्रयुक्त होता था जिसके द्वारा मनुष्यकी सौन्दर्यवृत्ति, बुद्धि-कौशल और विवेकका संस्कार होता था। जो कलाओंकी सूची वात्स्यायनके काम-सूत्रमें प्राप्त होती है उसे देखनेसे ज्ञात होता है कि संसारमें मनुष्यकी इन्द्रियों-द्वारा जो कुछ भी ज्ञेय, व्यवहार्य तथा उपभोग्य है उसको सुन्दरतम रूपमें ढालना ही कला है।

भारतीय कला

जहाँ योरोपमें इनी-गिनी सात कलाएँ गिनाई गई हैं और ललित कलाओंमें चित्र, सङ्गीत, मूर्तिकला, काव्य-कला और वास्तु-कलाकी गणना की गई है, वहाँ हमारे आचार्योंने चौंसठ कलाओं और पाँच सौ उपकलाओंका विवरण दिया है। काम-शास्त्रके रचयिता वात्स्यायनने उन कलाओंका सीखना आवश्यक बताया है। अग्राङ्कित सूचीसे यह समझमें आ जायगा कि मानव-जीवनके सुखपूर्ण संवहनका कोई ऐसा अङ्ग नहीं बचा जिसे सुन्दरतम बनानेका इसमें विधान न हो, मानवीय ज्ञानका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा है जिसकी इसमें योजना न हो और मानवीय भावनाओंकी कोई ऐसी वृत्ति नहीं है, जिसकी तृप्तिका इसमें साधन न हो—

१. गीत ( गाना )।

२. वाद्य ( बाजा बजाना )।

३. नृत्य ( गीतके साथ अङ्ग-सञ्चालन-द्वारा भाव-प्रदर्शन )।

४. नाट्य ( अभिनय )।

५. आलेख्य ( चित्रकारी )।

६. विशेषकच्छेद्य ( तिलकके साँचे बनाना )।

७. तन्डुलकुसुमावलि-विकार ( चावल और फूलोंसे चौक पूरना )।

८. पुष्पास्तरण ( फूलोंकी सेज रचना या सजाना )।

९. दशन-वसनाङ्गराग ( दाँतों, कपड़ों और अङ्गोंको रँगना या दाँतोंके लिये मञ्जन, मिस्सी आदि, वस्त्रोंके लिये रङ्ग और रँगनेकी सामग्री, अङ्गोंमें लगानेके लिये चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने तथा कलापूर्ण ढङ्गसे रचानेकी विधिका ज्ञान )।

१०. मणि-भूमिका-कर्म ( ऋतुके अनुकूल घर सजाना )।

११. शयन-रचना ( बिछावन या पलङ्ग बुनना, सजाना और बिछाना )।

१२. उदकवाद्य ( जलतरङ्ग बजाना )।

१३. उदकघात ( जलक्रीड़ा या पानीकी चोटसे काम लेना, जैसे—पनचक्की, पिचकारी आदिसे काम लेनेकी विद्या )।

१४. चित्रयोग ( अवस्था परिवर्त्तन करना अर्थात् जवानको बूढ़ा या बूढ़ेको जवान करना या रूप बदलना )।

१५ माल्य-ग्रन्थ-विकल्प ( देवपूजनके लिये या पहननेके लिये माला गूँथना )।

१६. केशशेखरापीड-योजना ( सिरपर फूलोंसे अनेक प्रकारकी रचना करना या सिरके बालोंमें फूल गूँथना या मुकुट बनाना )।

१७. नेपथ्ययोग ( देशकालके अनुसार वस्त्र या आभूषण पहनना )।

१८. कर्णपत्र-भङ्ग ( पत्तों और फूलोंसे कानोंके लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना )।

१९. गन्धयुक्ति ( सुगन्धित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़ा आदिसे फुलेल बनाना। )

२०. भूषण-योजन ( सोने तथा रत्नके आभूषण सजाकर पहनना )।

२१. इन्द्रजाल।

२२. कौचुमारयोग ( कुरूपको सुन्दर करना या मुँहमें और शरीरमें मलनेके लिये ऐसे उबटन बनाना जिनसे कुरूप भी सुन्दर हो जाय )।

२३. हस्तलाघव ( हाथकी फुर्ती या लाग )।

२४. चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया ( अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, मालपूए और खानेके पकवान बनाना या सूपकर्म )।

२५. पानक-रस-रागासव-योजन ( पीनेके लिये अनेक प्रकारके शर्बत, अर्क और मद्य आदि बनाना )।

२६. सूचीकर्म ( सीना पिरोना )।

२७. सूत्रकर्म ( अनेक प्रकारके कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा काढ़ना तथा तागेसे अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाना )।

२८. प्रहेलिका ( पहेली-बुझौवल और कहानी-कहौवल )।

२९. प्रतिमाला ( अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अन्तिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना )।

३०. दुर्वाचयोग ( कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना ) ।

३१. पुस्तक-वाचन ( उपयुक्त रीतिसे पुस्तकें बाँचना ) ।

३२. नाटिकाख्यायिका-दर्शन ( नाटक देखना या खेलना ) ।

३३. काव्य-समस्या-पूर्ति ।

३४. पट्टिका-वेत्र-वाण-विकल्प ( नेवाड़, बेंत या बाधसे चारपाई बुनना ) ।

३५. तर्कुकर्म (तकुआ-सम्बन्धी सारे काम जैसे—तकली, चर्खा आदि ) ।

३६. तक्षण ( बढ़ई, पथरकट (सङ्गतराश) आदिका काम करना ) ।

३७. वास्तुविद्या ( घर बनाना या इञ्जीनियरिङ्ग ) ।

३८. रूप्य-रत्न-परीक्षा ( सोने-चाँदी आदि धातुओं और रत्नोंको परखना ) ।

३९. धातुवाद ( कच्ची धातुओंको स्वच्छ करना या मिली धातुओंको अलग-अलग करना ) ।

४०. मणिरागज्ञान ( रत्नोंके रङ्ग जानना ) ।

४१. आकर-ज्ञान ( खानोंकी विद्या ) ।

४२. वृक्षायुर्वेदयोग ( वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा तथा उन्हें रोपनेकी विद्या ) ।

४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि ( मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि ) ।

४४. शुक-सारिका-प्रलापन ( तोता-मैना पढ़ाना ) ।

४५. उत्सादन ( उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ, पैर, सिर आदि दबाना ) ।

४६. केश-मार्जन-कौशल ( सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना ) ।

४७. अक्षर-मुष्टिका-कथन ( करपलई ) ।

४८. म्लेच्छित-कला-विकल्प ( म्लेच्छोंकी या विदेशी भाषा जानना ) ।

४९. देश-भाषा-ज्ञान ( प्राकृत बोलियाँ जानना ) ।

५०. पुष्प-शकटिका-निमित्त-ज्ञान ( दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्य-वाणी करना ) ।

५१. यन्त्र-मातृका ( सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना ) ।

५२. धारण-मातृका ( स्मरणशक्ति बढ़ाना )।

५३. सम्पाठ्य ( दूसरेको कुछ पढ़ाते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना )।

५४. मानसी काव्य-क्रिया ( दूसरेका अभिप्राय समझ कर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना )।

५५. क्रिया-विकल्प ( किसी वस्तुकी क्रियाके प्रभावको पलटना )।

५६. छलिक योग ( छल या ऐयारी करना )।

५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान ( शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान )।

५८. वस्त्रगोपन ( वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों )।

५९. द्यूत-विशेष ( जुआ खेलना )।

६०. आकर्षण-क्रीड़ा ( खींचने-फेंकनेवाले सारे खेल )।

६१. बालक्रीड़ा-कर्म ( लड़का खेलाना )।

६२. वैनायिकी विद्या-ज्ञान ( विनय, सभाजन और शिष्टाचार )।

६३. वैजयिकी विद्या-ज्ञान ( दूसरोंपर विजय पानेका कौशल )।

६४. व्यायामिकी विद्या-ज्ञान (खेल, कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम )।

## साहित्य भी कलाका एक रूप

उपर्युङ्कित सूचीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि सङ्गीत, आलेख्य आदि अनेक कलाओंके साथ-साथ प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचयोग, पुस्तक-वाचन, नाटिकाख्यायिका-दर्शनका भी विधान है जो शुद्ध रूपसे कवि-कर्म या साहित्य-रचना ही है, अतः हमारे यहाँ भी काव्य-रचना या साहित्य-रचनाको कला ही मानते रहे हैं।

## साहित्यकी परिभाषा

बहुतसे आचार्योंका सिद्धान्त है कि मनुष्यने जो अपनी सभ्यताका इत[illegible] विकास किया है उसका अधिक श्रेय भाषा या शब्दके पराक्रमको ही है। [illegible] शब्द-पराक्रमसे मनुष्यने दो प्रकारकी सृष्टि की—एक काव्य और दूसरे [illegible] इसीलिये राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें वाङ्मयके दो भेद मा[illegible]—

काव्य और शास्त्र। काव्यके अन्तर्गत उसने नाटक, कविता, कथा, चम्पू आदि गद्य पद्यमय वह सब कविकर्म माना जिसे कवियोंने विशिष्ट रूपसे अलंकृत करके कान्ता-सम्मित योजनाके साथ प्रस्तुत किया। किन्तु शास्त्र विधि-निषेधात्मक होता है, उसमें उपदेश भी गुरु-सम्मित दिया जाता है अतः वह स्वाभाविक रूपसे काव्यसे भिन्न है। इसी काव्य शब्दका बोध अब साहित्य शब्दके द्वारा किया जाता है अतः हम भी इसी अर्थमें साहित्य शब्दका प्रयोग करेंगे।

### साहित्यकी परिभाषा

भारतीय साहित्यमें साहित्यका अर्थ है 'जो हितके साथ होनेका भाव व्यक्त करे' ( सहितस्य भावः साहित्यम् )। दूसरी व्युत्पत्ति है—शब्द और अर्थके एक साथ मिलनेके भावको साहित्य कहते हैं ( सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम् )। इसीलिये शब्दार्थके सम्बन्धमें विचार करनेवाले रीति, वृत्ति, गुण, दोष, वक्रोक्ति, ध्वनि, अलङ्कार, रस आदिकी विवेचनाको ही साहित्य मानते हैं। किन्तु एक साथ मिले हुए शब्द और अर्थके भावको साहित्य कहनेका तात्पर्य ही यह है कि जिस रचनामें शब्द और अर्थ इस प्रकार मिले हुए हों कि उन दोनोंकी उपस्थितिसे एक विशेष चमत्कारी भाव उत्पन्न हो, वही साहित्य है। इस दृष्टिसे हमारे यहाँ आचार्योंने जिसे काव्य कहा है वह वास्तवमें साहित्य ही है। वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तकने साहित्यकी परिभाषा बताते हुए कहा भी है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितांप्रतिकाप्यसौ।
अन्योन्यान्यतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

[ साहित्य तो शब्द और अर्थके जोड़ेकी वह अनोखी सजावट है जो न तो बहुत कम न बहुत अधिक सजी हुई हो और ठीक सजावटसे सुशोभित होकर मनोहर लगे। ]

इसका तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थकी वही मनोहर सजावट साहित्य है जिसमें शब्द और अर्थ आपसमें ऐसे तुले हुए हों कि न तो यही जान पड़े कि इनमें कोई कमी रह गई है, न यही प्रतीत हो कि इन्हें आवश्यकतासे अधिक रँग दिया गया है। अतः कुन्तकने भी साहित्य शब्दका प्रयोग उसी अर्थमें किया है जिसमें हम करना चाहते हैं। यह उस योरोपीय

साहित्यकी परिभाषासे भिन्न है जिसमें 'सम्पूर्ण सुरक्षित लिखित वाङ्मयके सञ्चयको ही साहित्य कह दिया गया है' और जिस परिभाषाके अनुसार वे लोग कहते हैं—वैज्ञानिक साहित्य, अर्थशास्त्रीय साहित्य , राजशास्त्रीय साहित्य आदि । काव्य शब्द पद्यबद्ध रचनाओंके लिये इतना रूढ हो गया है और गद्य-साहित्य इतने अधिक रूपोंमें व्याप्त हो गया है कि उसे काव्य कहनेकी अपेक्षा साहित्य कहना अधिक उचित है, क्योंकि जिस युगमें उसका काव्य नाम पड़ा था उस समय यद्यपि गद्य और पद्य दोनों ही रचनाओंको काव्य कहा जाता था किन्तु पद्यात्मक रचनाओंकी इतनी भरमार थी और गद्य-रचनाएँ इतनी कम थीं कि काव्य कहनेसे साधारणतः पद्य-बद्ध रचनाका ही बोध होता था । अतः हम भी व्यापक गद्य-पद्यमय काव्य वाङ्मयको साहित्य कहेंगे और केवल पद्यबद्ध रचनाओंको काव्य या कविता । इस दृष्टिसे साहित्यकी यह परिभाषा होगी—

'हृद्य शैलीमें अभिव्यक्त मानव-अनुभूति ही साहित्य है ।'

## कलाका सहजोन्मेष ( आर्ट इम्पल्स )

मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यवादकी दूसरी समस्या है कलाका सहजोन्मेष । इस सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान दिया जाता है—

१. बालकोंकी चित्ररेखाका अध्ययन ।

२. प्राचीनतम कलाका मानवतावादी अध्ययन ।

३. महान् कलाकारोंका प्रमाण या साक्ष्य ।

कलाके सहजोन्मेषकी प्रकृतिके सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. शिलर और स्पेन्सरका मत है कि 'कलाका सहजोन्मेष खेलनेकी स्वाभाविक प्रेरणाका परिणाम है ।'

२. मार्शलका मत है कि 'कलाका सहजोन्मेष उस इच्छासे उत्पन्न होता है जिसमें दूसरोंको प्रसन्न करके उनका ध्यान आकृष्ट करनेकी भावना होती है ।'

३. बाल्डविनका मत है कि 'आत्म-प्रदर्शनकी इच्छासे ही कलाका सहजोन्मेष होता है ।'

४. लॉगफैल्डका मत है कि 'यह कलाका सहजोन्मेष वहाँ उत्पन्न

होता है जहाँ खेलनेकी प्रेरणा आत्म-प्रदर्शनकी इच्छासे प्रेरित हो, अर्थात् जहाँ यह इच्छा हो कि हमें देखने-सुननेवाले लोग भी हों।'

५. ड्रेलेन्फ़ेल्डरका मत है कि 'मनुष्यमें जो रचनाकी आत्म-प्रेरणा होती है उसीका वह उदात्त रूप है' अर्थात् यह उसी प्रकारकी प्रेरणा है जिसके कारण पक्षी अपना घोंसला बनाते हैं और उसी स्तरपर मनुष्य अनेक प्रकारकी आवश्यक सहायक वस्तुओंका निर्माण करता है। यही सहजोन्मेष कलात्मक रचनाके स्तरपर पहुँचकर उन नित्य और शाश्वत कलात्मक वस्तुओंका निर्माण करता है जिनका जीवनमें कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता।

६. फ्रौयडका मत है कि 'यह ओडिपस काम्प्लेक्स या ओडिपस ग्रन्थिकी शक्तियोंके निर्गमका प्रतिनिधि भाव है अर्थात् असफल कामवासनाका उदात्त निर्गम है।'

७. मैकडूगल और लंढोल्नका मत है कि 'यह हमारी किसी भी विकृतिकी सहज प्रेरणाका उदात्त स्वरूप है।'

८. हिर्नका मत है कि 'जो बहुतसे चित्र आदि अत्यन्त प्राचीन कलाके रूप माने जाते हैं वे मूलतः शृङ्गारके लिये नहीं रचे गए थे, वरन् वे तो शुद्ध उपादेयताकी दृष्टिसे ही रचे गए थे जैसे—अपनी प्रेयसीको आकृष्ट करनेके लिये या सहकारी परिश्रमको सहायता देनेके लिये, शत्रुओंको डरानेके लिये अथवा जादू-टोना करनेके लिये। किन्तु यह सम्भव है कि सांस्कृतिक विकासकी इसी बीचकी अवस्थामें मनुष्योंने यों ही विचार-मात्रसे ही कुछ वस्तुओंका निरुद्देश्य सर्जन कर दिया हो अर्थात् किसी सहायक अथवा उपादेय उद्देश्यके बिना भी वे रच दी गई हों।'

सूचनाके लिये अथवा धार्मिक तथा अन्य भावोंके उद्दीपनके लिये कलाको साधन बनानेकी भावनाका सम्बन्ध शुद्ध सौन्दर्यवादसे नहीं है, यद्यपि बहुतसे लोग इस दृष्टिसे भी उसका अध्ययन करते हैं। वास्तवमें यह सब तो सौन्दर्यके बाहरी रूपसे सम्बन्ध रखती है, उसके आन्तरिक दार्शनिक भावसे नहीं।

### उन्मेषण ( रेवेलेशन )

बैनेदेत्ते क्रोचेने अपनी पुस्तक 'अभिव्यक्ति-विज्ञानके रूपमें सौन्दर्य-शास्त्र' ( एस्थैटिक ऐज़ सायन्स औफ़ एक्स्प्रेशन ) में कहा है कि 'यदि कला

अभिव्यक्तिसे 'कुछ अधिक' हो भी तो आजतक कोई ऐसा माईका लाल नहीं जनमा जो इस 'कुछ अधिक'का परिचय देकर उसका रहस्य बता सके।' कुछ आचार्योंने उत्तर दिया है कि वास्तवमें यह 'कुछ अधिक' उन्मेषण ( रेवेलेशन ) है। कला केवल अभिव्यक्ति ही नहीं करती है वह कुछ प्रतीति भी कराती है अर्थात् वह केवल अभिव्यक्तिमात्र नहीं रहती, वह किसी रहस्यका भी उद्घाटन करती है। हमारे यहाँ प्रतिभाकी परिभाषा ही बताई गई है—'नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा।'

[नई-नई बातें सुझानेवाली शक्तिको ही प्रतिभा कहते हैं।] जब टी०एस्० ईलियटने यह कहा कि 'कविता एक भावकी शिथिलता-मात्र नहीं है वरन् भावसे हटकर बचना है' तब इसका तात्पर्य किसी व्यक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं है वरन् 'व्यक्तित्वसे बचकर चलना' है। इससे यह समझना चाहिए कि वह प्राचीन प्राच्य देशोंकी भावनाको ही प्रतिध्वनित कर रहा है। किन्तु इसमें उसने प्रारम्भिक स्थितिका ही चित्रण किया है क्योंकि बच निकलनेके पश्चात् इस स्वतन्त्रताका क्या प्रयोग किया जायगा इसका कोई विवरण उसने नहीं दिया। कोई भी क्रोधी व्यक्ति अपने क्रोधको उद्विग्न वाक्योंसे व्यक्त करता है, कोई प्रेमी अपनी भावनाको प्रार्थना या प्रेम-निवेदनके रूपमें व्यक्त करता है। वास्तवमें हमारे भीतर सब भाव इतने तरल हैं कि यदि वे किसी दूसरेके द्वारा अत्यन्त भावकताके साथ व्यक्त किए जाँय तो हमारे हृदयकी तन्त्री भी उसीके साथ बज उठे। किन्तु कलाकार इससे भी अधिक तीव्रताके साथ कार्य करता है। वह केवल भावकी प्रवृत्ति ही नहीं देखता-दिखलाता वरन् उसका स्वत्व, उसके अतिरेककी असंगता और भयानकता, अन्य प्राकृतिक विरोधी शक्तियाँ, समय और हमारे पापके चारों ओर रहनेवाला विश्व, सबको दिखलाता है। अतः यह समझना चाहिए कि अभिव्यक्ति हमें उत्तेजित करती है और हमारे हृदयको उन्मेषणकी प्रेरणा देती है।

## माधुर्य और प्रकाश

स्विफ़्टका मत है कि 'कलाकारकी मूल प्रेरणा प्रकाश और माधुर्य ही है।' आरनोल्डने स्विफ़्टका यह वाक्य लेकर वर्तमान कालके लेखकोंकी तुलना मकड़ियोंसे करते हुए कहा है कि 'ये वर्त्तमान कवि तो धूल और विषकी सृष्टि करते हैं और मधुमक्खी (प्राचीन कविता) मधु और मोम देती है,

इस प्रकार मनुष्योंको श्रेष्ठ पदार्थ देती है प्रकाश और माधुर्य, अर्थात् तत्कालीन आनन्द भी देती है और आत्मोन्नतिके लिये मार्ग-निर्देश भी।

### इच्छापूर्ति या पलायनवाद

मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका कहना है कि 'प्रत्येक मनुष्यके भीतर उसकी इच्छाओं और उसकी शक्तियोंके बीच द्वन्द्व चलता रहता है। इन शक्तियोंके मार्गमें संसारने अनेक प्रकारकी बाधाएँ खड़ी कर रक्खी हैं। रबेका वेस्टका कथन है कि 'सम्पूर्ण कला-कृतियाँ काल्पनिक संसारमें लड़कर इस द्वन्द्वको परास्त करनेके प्रयास हैं', जिसका तात्पर्य है कि जब कोई व्यक्ति अपने वास्तविक जीवनमें उठे हुए द्वन्द्वको नहीं जीत पाता तब वह साहित्यका आश्रय लेकर उसमें अपनी अतृप्त इच्छा, लालसा, कामना और वासनाको साहित्यके द्वारा तृप्त करने लगता है। इस प्रकार वास्तविक संघर्षमय जीवनसे पलायन करके वह साहित्यकी कन्दरामें छिपकर विश्राम करता है और यही इच्छापूर्तिकी पलायनवादी वासना ही साहित्यको जन्म देती है।

### प्ले या खेल

खेलको गम्भीरताका उल्टा तो समझना चाहिए किन्तु गम्भीरताका अभाव-मात्र ही खेल नहीं है। खेल तो गम्भीर जीवनका अनुकरण है। यह इतना ही करता है कि वह किन्हीं विशिष्ट कार्य-प्रकारोंसे तथा उनके प्रसंग और उद्देश्योंसे किसी वस्तुको अलग करके विश्वास करनेवाले संसारमें उतर आता है। खेलनेवाला इस जान-बूझकर बनाए हुए तत्समता या तत्तुल्यताके विश्वमें पहुँचकर अपनी उस क्रियाका आनन्द लेता है, जिसमें वह स्वेच्छासे प्रविष्ट होता है और जिसे स्वेच्छासे छोड़ देता है। इसे लोग प्रायः खेल कहकर छोड़ देते हैं। किन्तु खेल वास्तवमें कलाके ही समान है। उसमें भी—

क. भ्रान्ति और अनुकरण होता है।

ख. बिना किसी अन्य उपयोगिताके केवल तात्कालिक आनन्द होता है।

ग. केवल मन बहलानेवाले गुण होते हैं।

कलासे यह सम्बन्ध मानते हुए खेलके दो सिद्धान्त हैं—एक तो खेलके दार्शनिक सिद्धान्त हैं जो 'ग' पर अधिक बल देते हैं; दूसरे शारीरिक-मानसिक सिद्धान्त हैं जो 'क' पर बल देते हैं।

### दार्शनिक खेल-सिद्धान्त

सबसे पहले प्लेटोने कला और खेलका सिद्धान्त बतलाया था। यूनानमें कलावाची कोई शब्द नहीं है किन्तु प्लेटोने काव्य और चित्रकलाको मिलाकर उन्हें वास्तविकताका खेल-पूर्ण अनुकरण बताया था। प्लेटोने आदर्श राज्यमें कविता, संगीत और नृत्यको सम्मिलित रूपमें खेलनेका विधान किया है। वास्तवमें प्लेटोने अपने परिश्रमी नागरिकोंको अपना अवकाशका समय बितानेके लिये जो यह विधान बताया है उससे सुन्दर कोई मनोविनोदकी योजना नहीं हो सकती क्योंकि ये केवल विनोदजनक, मन बहलानेवाले केवल खेल ही तो हैं। किन्तु जिस समय वह नागरिक देखने और सुननेका भी आनन्द लेने लगता है उस समय उसका आत्मा किसी कलाकृतिमें प्रस्तुत लय और एकरूपताकी पूर्णताकी छाप भी प्राप्त करता चलता है। दूसरी दृष्टिसे यह खेल शिक्षाका रूप भी धारण कर लेता है। अपनी शैक्षणिक शक्तिके अतिरिक्त इन खेलोंकी एक अपनी मर्यादा भी होती है। प्लेटोका कहना है कि 'मनुष्य ईश्वरका गुड़ियाँ या खेलका साथी है।' यही बात फ्रीडरिस शिलरने भी कही है। वह कहता है कि 'मनुष्य जब खेलता है तभी वह वास्तविक मनुष्य होता है और यह अत्यधिक मानवतापूर्ण खेल ही कला है।' यह विचार कान्टसे लिया गया है जिसका कथन था कि 'सौन्दर्यात्मक आनन्द तो कल्पना और ज्ञानके बीच पारस्परिक खेल है।' फ़िख्टेने मानव-प्रकृतिके दो तत्त्व बताए—१. इन्द्रियलोलुपताकी प्रवृत्ति (स्टौफ़ट्रीब) और एक साधारण नियमितताकी प्रवृत्ति (फ़ौर्मट्रीब)। इनमेंसे नियमितताकी वृत्ति हममें गर्व, मर्यादा और विवेककी भावना भरती रहती है और इन्द्रियलोलुपताकी भावना इन्द्रियों-द्वारा हमारे अनुभवका भौतिक आधार स्थापित करती है। इन दोनोंके बीच सन्तुलन स्थापित करनेके लिये शिलरने एक तीसरी खेलकी प्रवृत्ति (प्ले इन्स्टिक्ट या स्पीलट्रीब) मानी है जो सौन्दर्यकी सृष्टि करती है।

### शारीरिक-मनोवैज्ञानिक खेल-सिद्धान्त

इधर जो बहुतसी खोजें हुई हैं उन्होंने खेलको कला तो नहीं बताया किन्तु कला और खेलमें पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य बताया है।

इनका कहना है कि 'जीवों और बच्चोंके बहुतसे खेल होते हैं वे ऐसी आदिम प्रवृत्तियाँ हैं जिनमेंसे कलाका विकास हुआ है।' स्पेन्सरका मत है कि 'सम्पूर्ण मानव-क्रियाओंका एक प्राकृतिक उद्देश्य है और वह यह है कि मनुष्य और उसकी जातिका संरक्षण हो, किन्तु खेल ही एक ऐसा कार्य है जो इससे मुक्त है। जब भी मनुष्यकी शक्तिमें आवश्यकतासे अधिक स्फूर्ति होती है तब एक मनुष्य उस निरुद्देश्य शक्ति-व्ययमें निरत हो जाता है जिसे खेल कहते हैं।' इस दृष्टिसे खेल भी कलाका एक उदात्त रूप है।

### एकत्वका सिद्धान्त

कलात्मक एकत्वकी भावना सर्वप्रथम प्लेटो और अरस्तूने प्रतिपादित की थी। वे मानते थे कि किसी भी रचनामें कार्य और चरित्र ( पात्र ) एक ही होना चाहिए, कई नहीं किन्तु हौरेसने पूर्ण रचनाने ही 'एकत्व' माना था। हौरेसने कहा था कि 'बीच-बीचमें जो निरर्थक अलङ्करणयुक्त सामग्री दे दी जाती है अर्थात् पर्पिल पैच डाला जाता है वह ठीक नहीं है।' इससे यही बात सिद्ध होती है कि वह एकत्वके सिद्धान्तको मानता था, जो उसके साहित्य - सिद्धान्तमें शीलके नियमसे आबद्ध हैं। किसी भी रचनाको या विभिन्न रचनाओंको इस सिद्धान्तके साथ समन्वित करनेके लिये कई प्रकारके एकत्वोंका वर्णन किया गया है जैसे क्रियाका, रूपका और उद्देश्यका एक होना। भारतवर्षमें उद्देश्यको ही प्रधान माना है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी लोग नाटकीय एकत्वकी तुलना प्रबन्ध काव्यके एकत्वसे करने लगते हैं और कहते हैं कि प्रबन्ध-काव्यमें मुख्य पात्र एक व्यापारके बदले अनेक कथा-व्यापारोंसे सम्बद्ध रहता है, जो ठीक नहीं है। वास्तवमें एक काव्य या नाटक या उपन्यासमें एक नायक, एक कथा और एक ही कार्य या व्यापार ( उद्देश्य ) होना चाहिए।

### रूढि ( कन्वेंशन )

सर्वसम्मतिसे या समाजद्वारा स्वीकृत या मान्य किसी नियम या व्यवहारको ही रूढि कहते हैं। इसी प्रकार किसी कलामें भी जो एक विशेष परिपाटी मान्य हो जाती है वह रूढि बन जाती है। किसी भी साहित्यिक रूढ़िके विकासमें दो विरोधी शक्तियाँ निरन्तर काम करती पाई गई हैं—एक रूढि, दूसरे विद्रोह। रूढिमें तो निश्चित और अपरिवर्त्तनशील रूपोंके अनुसार

साहित्यिक रचना करनेकी प्रवृत्ति होती है और विद्रोहमें कोई भी व्यक्तिगत लेखक मूल रूढ़िमें कुछ परिवर्त्तन करके अपनी छाप देना चाहता है। रूढ़िमें सब स्वरूप स्थिर होते हैं। चीनी साहित्य-जैसी स्थिर संस्कृतिमें या मुसलमानोंकी-सी संस्कृतिमें पहुँचकर साहित्य भी रूढ़िबद्ध हो जाता है।

### जादू ( मैजिक )

एडिथ सिटवेलने कहा है कि 'कला जादू है, तर्क नहीं'। उसने यह घोषणा की है कि 'शेक्सपियर, दा विंची और बीथोवन तीनोंमें एक अनियमित और अतर्क्य भावना संगत रूपमें व्यक्त हुई है। क्योंकि अतर्क्य रूपमें तर्क-सङ्गत भावनासे क्षुद्र कवि और तथ्यातिरेकवादी उत्पन्न होते हैं, कवि नहीं।'

### दूरस्थिति ( फ़्रेम )

जैसे कोई चित्र अपने ढाँचे (फ्रेम) के कारण संसार भरसे पृथक् हो जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाएँ सदा दर्शक, श्रोता या ग्राहकसे एक मानसिक दूरीपर रहती हैं। इनमेंसे कुछ कलाएँ तो ऐसी हैं जिनमें ये दूरस्थापनकी विधियाँ मूलतः अवस्थित हैं, जैसे छन्द, लय या रंगमञ्च (पिक्चर-फ़्रेम स्टेज)। कुछ ऐसी हैं जो कृति और रचयिताके अनुसार भिन्न हो जाती हैं। साधारणतः नियम यह है कि जितना ही कोई भाव या विषय परिचित होगा उतना ही वह रूढ रूपसे भिन्न होगा। छन्दहीन कविता उन लोगोंने लिखनी प्रारम्भ की जो साधारण शब्दोंमें रातदिनकी बातें लिखते हैं, किन्तु अधिक गम्भीर कवि उसे छूतेतक नहीं। अपने दूरस्थ होनेके कारण यह दूरस्थिति ( फ़्रेम ) उस कृतिमें एकाग्रताकी अपेक्षा करती है। एकाग्रताके लिये जितनी छोटी परिधि होगी, उसे स्थिर करनेके लिये उतने ही अधिक विस्तृत विरोधोंकी आवश्यकता होगी। जितना ही अधिक कोई अवसर तीव्र चित्रित किया जायगा उतना ही उस दूरीका ढाँचा ( फ़्रेम ) कम प्रतीत होगा।

### मानसिक दूरी ( साइकिक डिस्टेंस )

श्रोता या दर्शकका यह समझना भ्रान्तिका उलटा है कि वह किसी कलाकृतिके सामने है और उसके सम्मुख क्रिया, चरित्र, भाव आदि प्रदर्शित किए जा रहे हैं, वे व्यावहारिक वास्तविक जीवनमें प्रदर्शित नहीं हो रहे हैं। इस प्रकारकी परिस्थितिसे कोई भी कलाकृति अपनी उपादेयताके अति रिक्त

कलाकी निर्लिप्तताकी भावना उत्पन्न करना सम्भव करती है। यदि यह मानसिक दूरी अनुचित रूपसे उपस्थित की जाय तो यही अत्यन्त कृत्रिम प्रतीत होने लगे। सजीव अभिनेताओंकी उपस्थितिके कारण ही रङ्गमञ्चपर यह मनोवैज्ञानिक या मानसिक दूरी और भी अधिकआवश्यक है। ऐसा होनेपर ही नाटककी ओर जनताका ध्यान अधिक एकाग्रताके साथ आकृष्ट करनेमें अभिनेताका कौशल सफल हो सकेगा।

## आकर्षण बनाम सौन्दर्य ( चार्म वरसैस ब्यूटी )

हौरेसने 'आर्स पोएतिका' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि 'मनुष्यकी कवितामें सौन्दर्य (प्रस्का या बाह्य सौन्दर्य) और आकर्षण या चार्म ( डल्शिया ) अर्थात् भावोंको प्रभावित करनेकी शक्ति, दोनों गुण होने चाहिएँ। इनमेंसे दूसरा अर्थात् आकर्षण भी वास्तविक सन्तुष्टि प्रदान करता है। हैलिकारनेसस-निवासी दिअनूसियसने अपने 'शब्दोंकी सज्जा' नामक लेखमें बताया है कि आकर्षणमें इतने गुण होने चाहिएँ—

१. नवीनता ( फ्रेशनेस), २. कोमलता (ग्रेस), ३. फुसलानेकी शक्ति या मनवानेकी शक्ति ( पर्सुएसिवनेस ) और सौन्दर्यमें ये गुण होने चाहिएँ— १. भव्यता ( ग्रेंजियर ) और गम्भीरता ( सालम्निटी )।

## कला निरुद्देश्य होती है

१९१९में पीट्रोग्रैडमें 'सीरापियन बन्धु' नामक एक ऐसा साहित्यिक सङ्घ खुला जिसने यह घोषणा की कि 'जीवनके समान कला भी निरुद्देश्य होनी चाहिए।'

## कला विज्ञापन है

कुछ लोगोंका यह विचार है कि 'सम्पूर्ण कला ही विज्ञापन है'। कुछका यह विचार है कि 'जाने या अनजाने कला भी पक्षपात करती है और वर्ग-सङ्घर्षके लिये शस्त्रके रूपमें काममें लाई जा सकती है।' 'जीवनार्थ कला'के पक्षपाती उसे अपने पक्षके वकीलके रूपमें प्रयुक्त करते हैं, निष्पक्ष निर्णायकके रूपमें नहीं। इस प्रवृत्तिको बहुतसे लोग मानते और इसका समर्थन करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो इस पुकारके साथ इसे भासमान करते हैं कि

'सब कला विज्ञापन ही है ।' यह बात रचनाकारके उद्देश्यसे नहीं वरन् पाठक या दर्शकके समझनेसे ही सिद्ध होता है अर्थात् यदि कोई कृति निष्पक्ष प्रतीत होती है तो वह कला है, यदि उसमें तनिक भी असन्तुलन है तो वह विज्ञापन है । किन्तु कला और विज्ञापनका यह भेद ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी कलाकृति विज्ञापन और कला दोनों ही हो सकती है ।

### कला किसके लिये है ?

कलाके सम्बन्धमें कुछ लोगोंने अत्यन्त भावावेशके साथ इतनी दार्शनिकताका आरोप कर दिया है कि उसकी चकाचौंधमें कलाका वास्तविक व्यावहारिक रूप अस्पष्ट हो गया है । अनेक मन्दिरों, विशाल भवनों, चित्रशालाओं तथा अनेक कला-केन्द्रोंमें सौन्दर्य-भावित कृतियाँ मनुष्यकी कल्पना और उसकी तूलिका या छेनीसे अलंकृत होकर बिखरी पड़ी हैं किन्तु इन सबके साथ यह प्रश्न अवश्य लगा हुआ है कि जिन व्यक्तियोंने इनकी कल्पना की और जिन्होंने रचना की, वे व्यक्ति क्या एक ही थे । दूसरा प्रश्न यह है कि यदि वे व्यक्ति एक ही थे, तो क्या उन्होंने स्वयं स्वान्तः-प्रेरणासे उनकी रचना और कल्पना की अथवा दूसरोंकी कल्पनाको आधार बनाकर केवल अपनी उँगलियों या हाथोंके अभ्यासके उनको मूर्त्त रूप दे दिया ? जबतक इन दोनों प्रश्नोंकी जिज्ञासाओंका समाधान नहीं हो जाता तबतक किसी कलाकृतिकी रचनाका वास्तविक मूल्याङ्कन करना भी निरापद नहीं है ।

जो लोग पथरकटोंके पास रहते हैं, या परम्परागत पत्थर छीलनेका काम करते हैं, अथवा कुम्हारके यहाँ या मूर्तिकारके घर जन्म लेकर अपनी पारम्परिक निकुलीनिका ( कुल-व्यवसाय ) का अभ्यास करके उसमें इतनी दक्षता प्राप्त कर लेते हैं कि उनमें स्वयं तो सोचकर नवीन रूप बनाने या ढालनेका सामर्थ्य नहीं होता किन्तु यदि उन्हें कोई अपनी कल्पनासे कोई नया विचार सुझा दे तो वे उसके अनुसार मूर्ति या चित्र गढ़ सकते हैं, अथवा पत्थरमें या कागज़पर बेल-बूटोंसे सजावट कर सकते हैं, अथवा किसी दिखाई हुई किसी कला-कृतिका ज्योंका त्यों अनुकरण कर सकते हैं । इस प्रकारकी कलाओंसे ही विश्वका अधिकांश कला-भण्डार समृद्ध हुआ है अर्थात् सोचने या विचारनेका काम किसी दूसरे व्यक्तिने किया है और

उसे मूर्त रूप देनेका काम किसी दूसरेने। अतः स्वाभाविक जिज्ञासा यह है कि इन दोनोंमें अर्थात् कल्पना करनेवाले और रचना करनेवालेमें वास्तविक कलाकार कौन है? कल्पनाकारको यदि कलाकार कहते हैं तो वह इसलिये उचित नहीं है कि वह केवल भावात्मक है और अप्रत्यक्ष है; किन्तु कला तो प्रत्यक्ष व्यवस्थित सौन्दर्य-भावित मानवीय क्रिया है। यदि हम रचनाकारको ही कलाकार मान लें तो प्रत्यक्ष विरोध यह है कि उसने जो रचना की है उसमें उसकी बुद्धिका तनिक भी संयोग नहीं है। वह केवल यन्त्रकी भाँति काम करता है, जैसे छापेकी मशीन एक जैसे ठप्पेको निरन्तर ज्योंका त्यों छापती चली जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि जो केवल रचनाकार हैं, जिन्हें रङ्ग मिलाने और तूलिका चलाकर रङ्ग भरनेका कौशल निरन्तर अभ्याससे आ गया है वे कलाकार नहीं है। साथ ही वे भी कलाकार नहीं हैं जो केवल बैठे-बैठे सुन्दरताके स्वप्न देखा करते हैं और अपने मनमें ही नई-नई सौन्दर्यभावित कला-कृतियोंकी कल्पना करके केवल मनमोदक खाते रहते हैं। वास्तविक कलाकार वह है जो कविके समान प्रत्यक्ष या मानस जगत्के अनेक रूपों, विक्षोभों और गोचर पदार्थों तथा क्रियाओंकी प्रतिक्रियाके रूपमें स्वयं कुछ चिन्तन करता हो और उस चिन्तनको अपने अभिव्यक्ति-कौशलसे सुसज्जित करके इस प्रकार प्रस्तुत करता हो कि दूसरोंकी दृष्टि भी उधर आकृष्ट हो और वे इसी प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें जिस प्रकार कविने उन पदार्थों या क्रियाओंके गोचर होनेपर की थी। किन्तु साथ ही हम उस व्यक्तिका महत्त्व भी कम नहीं समझते जो किसीके समझाने या सङ्केत देनेपर सङ्केत देनेवाले व्यक्तिकी भावनाके अनुसार या कभी-कभी उससे भी सुन्दर कलाकृति प्रस्तुत कर देता है। इस दृष्टिसे कलाके दो स्वरूप हुए—एक तो वह जो शुद्ध रूपसे व्यक्तिगत या सात्त्विक है, जिसमें कलाकार स्वतः अपने भावोंको मूर्त्त रूप देनेका प्रयत्न करता है। दूसरी कला वह है जिसमें कोई कलाकार किसी अन्य व्यक्तिकी भावनाओंको मूर्त्त रूप देनेका प्रयत्न करता है, अथवा समाजद्वारा निर्णीत या अनुभूत भावनाको रूप-समृद्ध करता है अथवा किसी परम्परागत या रूढ शैलीमें ज्योंका त्यों अनुकरण करके अपना कौशल दिखाता है। इनमेंसे प्रथम वर्गका कलाकार वास्तविक कलाकार है जिसकी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मनमें परस्पर अत्यन्त निकट घनिष्ट तथा एकात्म सम्बन्ध है। दूसरे वर्गका कलाकार मध्यम कोटिका है, जिसका

मन और जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ कुण्ठित हैं किन्तु कर्मेन्द्रियाँ विशेषतः हाथ-पैर भली प्रकार सधे हुए हैं ।

### कला क्या है ?

मोटे रूपसे लोगोंने कलाको अनुकरणात्मक ( इमिटेटिव ), सज्जात्मक ( डेकोरेटिव), क्रमात्मक (ऑर्डर्ली) और अभिव्यञ्जनात्मक (एक्सप्रेसिव) बताया है । इनमेंसे अनुकरणात्मक कला तो वही है जिसमें किसी पहलेसे चले आए हुए या प्रस्तुत किसी प्राकृतिक या मानव-रचित निर्मितिको देखकर उसकी चित्रमय या मूर्त्तिमय प्रतिकृति उपस्थित की जाय । दूसरी क्रमात्मक कला वह है जिसमें हम अनेक रूप-रङ्ग तथा आकार-प्रकारकी वस्तुओंकी प्रतिकृतियाँ बनाकर उन्हें एक क्रमसे सजाते हैं अथवा केवल प्रत्यक्ष वस्तुओंको ही एक विशेष क्रमसे लगाकर रख देते हैं । इस प्रकारकी सब क्रियाएँ क्रमात्मक कलाके भीतर आती हैं । तीसरी सज्जा-कला या अलङ्करण कला है जिसमें हम किसी व्यक्ति या वस्तुको नये वस्त्रों, परिधानों, आवेष्टनों, रङ्गों अथवा बेल-बूटोंसे सुन्दरतर करनेका प्रयास करते हैं । चौथी अभिव्यञ्जनात्मक कला है अर्थात् अपने मनमें उठी हुई भावनाको इस शैलीसे व्यक्त करना कि वह दूसरोंको अच्छी लगे अर्थात् व्यवस्थित तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति ही कला है, जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। यह कला उस समय प्रतीकात्मक (सिम्बौलिक) भी कहलाती है जब हम उसमें प्रस्तुत विचारको छिपाकर उसके बदले कोई दूसरा मूर्त्त प्रतीक स्थापित कर देते हैं, जैसे एक बाणका चिह्न → इस बातका प्रतीक है कि 'इधरसे जाना चाहिए' । इसी प्रकार कविताएँ भी प्रतीकात्मक होती हैं, जिनमें लोग रूपकोंका आश्रय लेकर एक प्रत्यक्ष विवरणके बहाने कोई अप्रत्यक्ष बात कहना चाहते हैं । किन्तु साधारण अर्थमें प्रत्येक चित्र ही उसमें वर्णित विषयका सङ्केत या प्रतीक-मात्र है । इसी प्रकारकी अभिव्यञ्जनात्मक रचनाओंमें वे रचनात्मक कलाएँ भी आती हैं जिनमें कलाकार कोई ऐसी वस्तु उपस्थित करता है जो न तो किसीकी प्रतिकृति हो, न किसी भावका ही अभिव्यञ्जन हो, न अलङ्करण ही हो वरन् स्वयं अपनेमें एक सुन्दर वस्तु हो जैसे कि एक सुन्दर घड़ी बनाकर कोई टाँग दे तो वह न तो अभिव्यक्ति है, न सज्जा है, न क्रम है, न अलङ्करण है और न प्रतीक है। वह स्वयं अपनेमें संसारकी अन्य वस्तुओंके समान एक रचना है, जिसका महत्त्व उसके कलापनसे भिन्न व्यावहारिक रूपमें है । इसी दृष्टिसे

हम ईश्वरकी रचनाको भी कला कहते हैं, जिसमें सुन्दर फूल, सुन्दर मुखड़ा, सुन्दर मोर, पशु, पक्षी आदि सब आ जाते हैं। जिस प्रकार ये सब ईश्वरकी रचनात्मिका कला होते हुए भी स्वतः अपनेमें सोद्देश्य हैं उसी प्रकार ये रचनाएँ भी शुद्ध, सोद्देश्य तथा अपनी कलात्मकतासे भिन्न अपना महत्त्व रखती हैं। ऐसी कृतियाँ रचनात्मक कलाके अन्तर्गत आती हैं। कलाके इन सब रूपोंमें भी कुछ अनुकरण हो सकता है, कुछ मौलिक हो सकता है और कुछ मिश्रित हो सकता है और इनके कारण कलाओंकी रूपसज्जा ( पैटर्न ) बदलती रहती है।

इस विवरणसे यह भी स्पष्ट हो गया कि किसी कलाकृतिकी मीमांसा करते हुए यह भी देखना चाहिए कि कहीं आवेश या भ्रममें आकर हमने मौलिक विचारकको महत्त्व न देकर केवल सधे हुए मिस्त्रीको ही महत्त्व न दे दिया हो। अतः यह आवश्यक है कि कलाके परीक्षणके लिये कलाकी प्रेरक शक्तिका भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर ही लेना चाहिए।

काव्य या साहित्यकी व्याख्या करते हुए हम आगे समझावेंगे कि साहित्य दो प्रकारका होता है—सायास या परिश्रमके साथ किया हुआ और अनायास या अन्तःप्रेरित। इनमेंसे अनायास काव्य तो सात्त्विक होता है किन्तु सायास तो चित्र या मूर्तिके समान शुद्ध रूपसे बाह्य है जो किसी भी समय रचा जा सकता है अर्थात् यह बाह्य कला है जो कविके ज्ञान, प्रतिभा, और अभ्यासके साथ चलती है किन्तु जिसके साथ मनुष्यकी अपनी बुद्धि और उसके मानसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिये पहले लोग चित्रकला, मूर्तिकला और सङ्गीत-कलाको तो अभ्यास-विद्या कहते थे किन्तु काव्यको प्राक्तन जन्म-संस्कारसे प्राप्त एक विशेष शक्ति मानते थे। योरोपमें भी पहले चित्रकला और मूर्तिकला केवल कारीगरी मानी जाती थीं। बहुत पीछे चलकर 'जैसा चित्रमें वैसा काव्यमें' ( उत पीक्तूरा पोइसिस) का आन्दोलन चला तो लोगोंने चित्रकलाको भी उठाकर काव्य-कलाकी श्रेणीमें ला बिठाया। कभी एक और विचित्र स्थिति आ जाती है जैसी वास्तु-कलामें दिखाई देती है। वहाँ एक व्यक्ति आदेष्टा होता है जो यह समझाता है कि मुझे अपने लिये अमुक प्रकारकी सुविधाओंसे सम्पन्न अमुक कार्यके लिये अमुक प्रकारका भवन चाहिए। यह व्यक्ति वास्तु-कलाका एक कल्पनाकार है। दूसरा वह व्यक्ति है जो उसका रूपचित्र ( डिज़ाइन ) प्रस्तुत करता है और

तीसरे वर्गमें सब कलाकार—ईंट चुननेवाले, पत्थर छीलनेवाले और लकड़ीका काम करनेवाले आते हैं जो उस रूपचित्रके अनुसार भवन-निर्माण करते हैं। किन्तु काव्यमें इस प्रकारकी बातें नहीं होतीं। वहाँ यह तो सम्भव है कि किसीके कहनेपर आप उसके लिये एक कविता बना दें और जैसे गला सध जानेपर कोई गवैया चाहे जिस समय गा दे, चित्रकार जहाँ चाहे जैसा चाहे वहाँ वैसा चित्र बना दे किन्तु साहित्यकी रचना इस प्रकार नहीं होती। ✓उसमें कविको बहुत सोचना पड़ता है और अनेक प्रकारके चिन्तन, मननके पश्चात् उसे अभिव्यक्तिका आवरण पहनाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः उसका काम अत्यन्त कठिन होता है। यदि ऐसा न होता तो कवि भी गायक और चित्रकारके समान अभ्याससे नित्य काव्य लिख डाला करता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अच्छे गायकके मुखसे गाया हुआ गीत सदा मधुर लगता है किन्तु किसी कविके सभी काव्य सुन्दर नहीं होते।

### कलामें नैतिकता

जिन लोगोंने कलापर सामाजिक दृष्टिसे विचार किया है, वे समझते हैं कि कलामें भी इस बातका विचार करना चाहिए कि उससे लोगोंके मनपर कोई बुरा प्रभाव तो नहीं पड़ता। किन्तु यह बुरा क्या है इसकी कसौटियाँ कई प्रकारकी हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि 'दस व्यक्तियोंके बीच बैठकर जिन बातोंकी चर्चा करना समाजमें भद्दा समझा जाता हो या जो बातें हम माता और पुत्रियोंके सम्मुख न कह सकते हों या जिनके लिये समाजकी आज्ञा न हो वे सब बुरे, अभद्र और अश्लील हैं, उन्हें कलामें प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।' दूसरे वे लोग हैं जो कहते हैं कि 'मनुष्यकी उदात्त भावनाको अर्थात् त्याग, उदारता, परहित, आत्मबलिदान आदिको जिससे प्रेरणा मिलती हो, केवल उन्हींकी अभिव्यक्ति कलामें होनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदिको प्रोत्साहन देनेवाली रचनाएँ न रची जायँ।' कुछ लोगोंका मत है कि 'ऐसे अङ्गों या दृश्योंका चित्रण न किया जाय जो साधारणतः हमारी विलास-भावना या कामुकताको उत्तेजित करनेवाली हों।' इसी आधारपर वे लोग कपोल, स्तन, उरु, चुम्बन और आलिङ्गन आदिका वर्णन बुरा समझते हैं। इस प्रसङ्गमें यह स्पष्ट रूपसे जान लेना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिव्यक्तिके लिये वहींतक स्वतन्त्र है जहाँ-तक वह दूसरेकी स्वतन्त्रता या सुविधामें बाधक नहीं होता। यदि वह

बाधक होता हो तो उसकी स्वतन्त्रता स्वयं समाज नष्ट कर डालेगा। यही बात काव्य या कलाके सम्बन्धमें भी है। यदि आप अपने पड़ोसीका व्यंग्य चित्र बनाकर अपने घरके सामने या उसके घरके सामने टाँगें तो यह निश्चय है कि आप झगड़ा मोल ले रहे हैं। अतः व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यके साथ-साथ प्रत्येक व्यक्तिको समाजकी सुविधा और असुविधाका ध्यान रखना ही चाहिए। यद्यपि यह आवश्यक तत्त्व है किन्तु समाजको भी ऐसा मिथ्या आडम्बर नहीं धारण करना चाहिए कि मनुष्यकी जिन वासनाओंको सुन्दर प्रकारसे उत्तेजित करके हम मानवमात्रके हृदयमें समवस्थित सात्त्विक प्रेमको उद्‌बुद्ध करके उसका पोषण करना चाहते हैं, उसमें ये मिथ्या-नैतिक मूल्याङ्कन बाधक न हो जायँ। इसी आधारपर यूनानियोंने चित्रों और मूर्तियोंमें सुन्दर, सानुपात शरीर-वाले पुरुषों और स्त्रियोंकी नग्न मूर्तियाँ ढाली थीं और यही कारण है कि वह परम्परा कलाओंमें आजतक ज्योंकी त्यों चली आ रही है, किन्तु यदि काव्यमें वैसा वर्णन हो जाय तो लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं।

## क्या शृङ्गार-प्रदर्शन अनैतिक है?

काम या शृङ्गार मनुष्यकी जीवन-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति है। अपने जीवनका बहुत सा अंश मनुष्य इसीके लिये व्यतीत करता है, अतः यह आवश्यक है कि उस काम-भावना या शृङ्गार-भावनाका पूर्णतः पोषण किया जाय। किन्तु उसकी जो सीमा पहलेसे बँधी आ रही है अर्थात् अश्लीलत्वसे बचकर मनुष्यकी सौन्दर्य-भावना और काम-भावनाको उद्दीप्त करनेकी, वहाँतक उसमें कोई दोष नहीं है। यही कारण है कि महाकवि कालिदास जैसे विश्व विश्रुत कविने भी शृङ्गार-चित्रणकी उस परिपाटीमें नैतिकताकी चिन्ता न कर परिपाटीका ही पालन किया। आजकल भी जो अनेक कविताएँ, कहानियाँ और ग्रन्थ रचे जा रहे हैं उन सभीमें व्यापक रूपसे भावना तो वही है किन्तु अब वह रूपक और अध्यवसानके चोलेमें प्रकट होने लगी है जिसमें किसी अज्ञात अलौकिक प्रियतम और किसी कल्पित सजनीको लक्ष्य करके कवि अपनी भावनाओं और वासनाओंका प्रदर्शन करता है।

## कलामें गुणतत्त्व

जिस सुन्दर, असाधारण और अद्‌भुतके आरोपको हम सम्पूर्ण रचनाके आकर्षणका केन्द्र बता आए हैं उन तीनोंका समावेश व्यापक रूपसे सभी कलाओंमें होता है किन्तु उनकी अनुभूति-भावनाएँ एक दूसरेसे भिन्न होती

हैं। जो तत्त्व सुन्दर है, वह हमारे मनमें ममत्वकी प्रेरणा करता है अर्थात् उस सुन्दरको देखकर हमारी यह इच्छा, लालसा, कामना, वासना और आकांक्षा होती है कि यह सदा मेरे पास सामने रहे, मेरे कान इसकी ध्वनि सुनते रहें, मैं इसे कण्ठसे लगाए रहूँ। यह ममत्वकी भावना इस श्रेणीतक पहुँच जाती है कि उस आत्मीय सौन्दर्यको ग्रहण करनेसे जो हमें एक विशेष प्रकारका गर्व होता है उसकी तृप्तिके लिये हम उस सुन्दर वस्तुका प्रदर्शन भी करते हैं जिससे दस व्यक्ति यह पूछें कि 'यह कौन है? यह आपने कहाँसे मोल ली? यह कहाँ मिली?' आदि-आदि। इससे मनुष्यके उस अहंभावकी तृप्ति होती है जो सुन्दर वस्तु प्राप्त करनेवालेके मनमें आ बसती है। इसीलिये लोग सुन्दर वस्त्र पहनकर, सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित होकर, अपने सुन्दर पति या अपनी सुन्दर पत्नीके साथ सभाओंमें जाते हैं, जिससे दसके मनमें यह कुढ़न और ईर्ष्या उत्पन्न हो कि 'हाय! यह मुझे क्यों नहीं मिल गया (या) मिल गई? इस कुढ़न उत्पन्न करनेसे उसके मनमें एक विचित्र प्रकारका आनन्द आता है और इस आनन्दको उत्पन्न करनेका साधन जिस वस्तुमें होता है वह अवश्य सुन्दर होती है। अर्थात् सुन्दरतामें अपनाने, ग्रहण करने और अपने साथ उसका प्रदर्शन करनेकी भावना होती है।

किन्तु असाधारण तत्त्व एक प्रकारका शाश्वत सत्य होता है जो किसी व्यक्ति या वस्तुमें होते हुए भी ममत्व उत्पन्न न करके उसके प्रति श्रद्धा जागरित करता है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा आँखके सामने रहे ही। वह हमारे मनमें ऐसी प्रेरणा जगाता है कि हम उसतक पहुँचनेके लिये लालायित रहते हैं। यह असाधारण तत्त्व समाजमें उत्पन्न वैषम्यको सन्तुलित करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह केवल सात्त्विकको ही प्रेरणा नहीं देता वरन् कभी-कभी तामसी प्रकृतिवालोंको भी उद्वृत्त भावनाके लिये ऐसा प्रोत्साहन देता है कि उनके सम्पूर्ण दुर्भावोंका रेचन हो जाता है और वे राक्षससे देवता बन जाते हैं। यह भी सौन्दर्यके समान ही कलाका प्रमुख जीवन-तत्त्व है।

अद्भुत तत्त्व न तो ममत्व उत्पन्न करता है न श्रद्धा। वह एक विचित्र प्रकारका ऐसा आशङ्कारहित किन्तु भयसे पूर्ण कुतूहल जागरित करता है जो सहसा हमारी वृत्तिको ढकेलकर उसकी ओर मोड़ देता है। एकाग्रताके लिये इससे बड़ा कोई दूसरा साधन नहीं है। अतः यद्यपि यह अल्पकालिक

होता है किन्तु यह मूल तथा प्रारम्भिक जीवन-तत्त्व है जिसका यदि अभाव हो तो कलाकी ओर किसीकी रुचि न हो और रुचि न होनेसे उसके अन्तर्गत सौन्दर्य तथा असाधारणका लोग आनन्द भी न लें। अतः कलाके लिये यह आवश्यक है कि उसमें सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुतता अवश्य उपस्थित रहे।

## कलाओंका पारस्परिक सम्बन्ध

प्राचीन कालमें यूनान और रोमके आचार्योंका यह दृढ़ विश्वास था कि सब कलाएँ पूर्णतः एक दूसरेसे भिन्न हैं और प्रत्येकका सौन्दर्य-विज्ञान उनके प्रकारों, रूपों और कौशलोंके पूर्णतः भिन्न वर्गीकरणपर अवलम्बित है। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि उदात्तवादी ( क्लासिकल ), पुनर्जागरण-कालीन ( रिनैसाँ ) और नवोदात्तवादी ( निओक्लासिकल ) समीक्षामें 'कला' शब्दका प्रयोग बहुवचनमें होता है ( व्यूक्स आर्ट्स )। वर्तमान स्वैरवादी और दार्शनिक लोग कलाको एक मानते हैं। हौरेसके 'जैसा चित्रमें वैसा काव्यमें' ( उत पीक्तूरा पोएसिस ) का जो सिद्धान्त हम पीछे विविक्त कर चुके हैं उसका यही अर्थ लगाना पड़ेगा कि व्यापक रूपसे सब कलाओंका तथा विशिष्ट रूपसे काव्य और चित्रण-कलाका सामान्य ध्येय है 'प्रकृतिका अनुकरण करना।' एक प्रकारसे यह अरस्तूके अनुकरण-सिद्धान्तका ही समर्थन है।

जिस समय सम्पूर्ण कलाओंको विभिन्न अभिव्यक्तियोंके दार्शनिक समन्वयकी भावना और उनके प्रतीकात्मक तथा कौशलात्मक एकात्मताकी भावना योरोपीय संक्रान्ति-कालमें समुन्नत हुई, उस समय उदात्तवादी और मिथ्योदात्तवादी (स्यूडो-क्लासिकल) सौन्दर्यभावना लुप्त हो गई और स्वैरवादी (रोमान्टिक) सौन्दर्य-भावनाका विकास हुआ। इनका मूल सिद्धान्त ही यह था कि 'हमारी किसी भी ज्ञानेन्द्रियपर पड़ा हुआ कोई प्रभाव दूसरी ज्ञानेन्द्रियमें भी संक्रमित हो सकता है।' यह सिद्धान्त पीछे चलकर 'सहसम्वेदन' ( सिनैस्थीसिया ) कहलाया, जिसका तात्पर्य यह था कि 'यदि किसी एक इन्द्रियको कोई तीव्र उत्तेजना मिल जाय तो वह अन्य इन्द्रियको भी तत्सम रूपसे स्पन्दित कर देगी।' बोएहमे और स्वीडेनबर्गके अनुसार यही भावना आगे चलकर यातुवाद (जादूगरी), प्रेतवाद, प्रेतात्मावाद आदिमें स्थापित की गई और इस प्रकार एक सार्वभौम 'स्वर्गीय भाषा' ( ऐडनिक लैंगवेज )

में रहस्यात्मक विश्वास बनकर बँध गई। इसीको डीक्वेन्सीने अपने 'अफ़ीमचीकी रामकहानी' ( कन्फ़ैशन्स औफ़ एन ओपियम ईटर ) में स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मादक तत्त्वोंके प्रयोगसे साधारण परिणाम यह होता है कि इन्द्रियोंके बीचके बन्धन रोमाञ्चक रूपसे टूट जाते हैं।' इसी भावनाको बौदेलेयाने भी अपने 'पैरदी आर्तिफिशेल'में प्रयुक्त किया है।

'सब कलाएँ एक हैं और उन सबका प्रभाव भी एक होता है' इस भावका सर्वप्रथम प्रयोग ब्लेक और कौलरिजने अपने काव्योंमें किया और कौलरिजने तो सम्भवत: स्वेडनवर्गके ही प्रभावसे किया। किन्तु इसका प्रथम सज्ञान प्रयोग जर्मन स्वैरवादी विशेषत: नोवालिस और हौफ़मानने सौन्दर्य-विज्ञानके लिये किया। शुद्ध स्वैरवादी आवेगमें लडविग टीकने 'काव्यको सब कलाओंका समन्वय माना है', किन्तु प्रतीकवादियोंने यह श्रेय सङ्गीतको दिया है। बौदेलेयाने अपने प्रसिद्ध 'पारस्परिक सम्बन्ध' ( कारेस्पोन्दान्से ) में इसकी व्याख्या की है जिसका प्रथम अंश तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सहसंवेदनकी ही बात कर रहा हो। किन्तु जिन संवेदनों और अनुभवोंकी उसमें चर्चा है उन्हें विश्वात्माकी ध्वनियाँ और दार्शनिक उन्मेषण समझना चाहिए। जहाँ उसने इस विचारकी गद्यात्मक व्याख्या की है वहाँ उसने इन कलाओंको एकात्म न मानकर उनके विभिन्न माध्यमोंको समान माना है। कहीं तो उसने केवल सङ्गीत और चित्रकला इन्हीं दोको परस्पर सम्बद्ध माना है और कहींपर चित्रकला और काव्यको, यहाँतक कि वह काव्यको चित्रकलाका समीक्षात्मक अनुवाद मानता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ अपनी कविताओंमें उसने लय, प्रकाश और गन्धोंके व्यञ्जित सम्बन्धोंमें एकताकी बात कही है वहाँ उसने अपने सैद्धान्तिक लेखोंमें 'रङ्ग और ध्वनि' ( आडीशन कलरी या तोन्फ़ार्बे ) के बीच व्यापक सम्बन्धोंकी चर्चा करते हुए कहा कि 'ये दोनों लयात्मक और सङ्गीतात्मक हैं' और काव्य तथा सङ्गीतको लगभग एक ही बता दिया। कहीं-कहीं बौदेलेयाने एकाङ्गी होकर भी विचार किया है। स्वैरवादियों और प्रतीकवादियोंके समान ही बौदेलेया भी मूर्त्तिकलाको कोई महत्त्व नहीं प्रदान करता, क्योंकि वह उसे अत्यधिक सत्य-तुल्य मानता है। किन्तु बौदेलेया वास्तवमें विभिन्न कलाओंको बहुत एकात्मक न समझकर समकक्ष समझता था और उसका सम्बन्ध भी गहराई और ऊँचाईमें बताकर कहता था कि 'इन दोनोंकी एक ही आकांक्षा है—परम सौन्दर्यकी

ओर पहुँचने और अलौकिक संसारके साथ पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करनेकी।' उसका मत था कि 'सब कलाओंसे लगभग एक ही अभिव्यक्ति होती है और वह एक आदर्श है जो उनके रूपोंको उल्लङ्घन कर जाता है। रङ्ग, ध्वनि, रूप और गन्ध सबका इसलिये पारस्परिक सम्बन्ध है कि सभी एक दूसरेको प्रभावित करते हैं और इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध और प्रतीक दोनों एक हो जाते हैं।'

इस पारस्परिक सम्बन्धके भावका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास किया प्रतीकवादियों (सिम्बोलिस्ट्स) ने जो इस सम्बन्धको भी एक विशेष प्रकारका प्रतीक मानते हैं। किन्तु उसके अतिरञ्जित रूपोंका प्रादुर्भाव रिम्बाउटके प्रसिद्ध गीत 'वायली' (१८७१) से हुआ जो बौदेलेयाके गीतके साथ इस सिद्धान्तके सबसे अधिक प्रभावशील प्रमाण हैं। रिम्बाउडका मत था कि 'प्रतीक और पारस्परिक सम्बन्ध मानसिक हैं, काव्यगत माध्यम नहीं, जो काव्यात्मक और बौद्धिक समन्वयके साधन न होकर मानवीय और सृष्टिगत अनस्तित्वके समन्वयके साधन हैं।' उसके मतसे 'कवि वह देवदूत या भविष्य-द्रष्टा है जो अत्यन्त लम्बी और कठोर भावानुभूतिके पश्चात् अपने उदात्त और त्रासद दृश्योंतक पहुँचता है।' यही तथ्यातिरेकवाद ( सररीयलिज़्म ) का भी मूल मंत्र है।

अत्यन्त शुद्ध प्रतीकवादी कवि मलार्मेने सौन्दर्यके सम्बन्धमें विचार करते हुए और विचार लय तथा प्रतीक और पद्यमें समरूपता बताई है। इसीका समर्थन उस मण्डलके प्रतिभाशाली कवि वर्लेंकी 'काव्य-कला' ( आर्त पोइत्चिक ) में प्राप्त होता है।

ह्रासवादियों ( डिकैडेन्ट्सने ) 'सहसम्वेदन' को ही अधिक महत्त्व दिया है। अपने साहित्यिक सन्देशके ग्रन्थ हुयस्मान्सके उपन्यास ( ए रेबू ) में सम्वेदनाओंकी एक विचित्र तथा जटिल बहुलता हैं। हुयस्मान्सका नायक (दा एशियन्ते) अपनी श्रवण तथा दर्शनकी दो सौन्दर्यात्मक ज्ञानेन्द्रियोंके साथ गन्ध और स्वादको भी जोड़ लेता है। वह कहता है कि फ्रान्सीसी शैलीका क्रम लोक-प्रयुक्त गन्धोंमें होनेवाले परिवर्त्तनोंके आधारपर बदलता रहा है वह एक ऐसा साधन खोज निकालता है जिसके द्वारा वह अपनी जिह्वापर मादक रागोंका प्रयोग दिखाता है। इस प्रकार कला और इन्द्रियका पारस्परिक सम्बन्ध एक निराले तथा समाजद्वारा निषिद्ध इन्द्रियात्मक सुखका

कारण बन जाता है और वह सुख कलामें इतना नहीं जितना जीवनमें होता है। हुयस्मान्सकी इस प्रवृत्तिका अनुगमन वील्डे तथा द अनुन्ज़ियो आदि ह्रासवादी सौन्दर्यवादियोंने किया।

प्रतीकवादियोंकी दूसरी पीढ़ियोंके कवियोंने कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धको एक प्रकारका व्यावहारिक सम्बन्ध माना। यह भावना उत्तरीय और बेल्जियन मण्डलके सामाइँ, रोडनबाख़ तथा मैटरलिंक आदि कवियोंमें अधिक प्राप्त हुई। उसकी चरम सीमा देखनेको मिली कवि तथा सिद्धान्तवादी रेने घिलकी रचनामें। घिलने अपनी रचनाओंमें मौखिक अभिव्यक्तियों ( सङ्गीत और भाषा ) में इस पारस्परिक सम्बन्धकी बात दिखाई और फिर तो दृश्यता, श्रव्यता, वाणी, मनोविज्ञान और रहस्यवादका अध्ययन करके उसने वैज्ञानिक दृष्टिसे सब प्रकारके वाद्ययन्त्रों, स्वर और व्यञ्जनकी ध्वनियों, रङ्गों और उनकी छायाओं, भावनाओं, आवेगों, वासनाओं और भावोंमें पूर्ण एकत्वका सम्बन्ध सिद्ध कर दिया।

प्रतीकवादके पश्चात् फ्रांसमें तथा अन्य स्थानोंपर वर्त्तमान कवियोंने कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धके सिद्धान्त और प्रयोगको लगभग पास-पास माना है और एक सुझाव मात्र समझा है किन्तु तथ्यातिरेकवादी कवितामें और मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंमें यह सिद्धान्त पुनः मानवीय सहज प्रवृत्तियोंकी अभिव्यक्तिका ( जैसे दमन की हुई इच्छाओं और दुःस्वप्नोंकी व्याख्या करनेका ) स्वतन्त्र आधार या साधन मान लिया गया है। अतः यह कहनेका आधार बनानेके लिये कि कला एक ही है और उसके भेदोपभेद इन्द्रियों और कौशलके कारण शुद्ध अनुभवात्मक हैं, यह कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धका सिद्धान्त, शब्दपर विचार करनेवाले रहस्यवादियों और जादूगरोंके लिये बड़ा प्रबल आधार बन गया।

## मानव-जीवनमें कलाका प्रयोग

साधारणतः देखा जाय तो कलाका प्रयोग दो प्रकारसे किया जा सकता है—१. साध्यके रूपमें तथा २. साधनके रूपमें। हम किसी कलात्मक वस्तुका निरीक्षण इस उद्देश्यसे भी कर सकते हैं कि उसमें क्या है? वह क्या व्यक्त करती है? क्योंकि उसमें स्वयं एक अपना आकर्षण होता है, भले ही उसके पास पहुँचनेपर वह कुछ और ही क्यों न प्रतीत हो। हम

यह जाननेके लिये भी उसका निरीक्षण करते हैं कि उसका परिणाम अर्थात् प्रयोजन क्या है ? किसी कलावस्तुको निरीक्षण करते समय यह आवश्यक नहीं है कि हम उपर्यङ्कित दोनों प्रकारके उद्देश्योंसे प्रेरित हों और हमें उनका ज्ञान हो। यह बहुत सम्भव है कि जिस समय हम किसी कलाकृतिके सम्पर्कमें आते हैं उस समय ये दोनों भावनाएँ हमारे मनमें विभिन्न शक्तियोंके साथ उपस्थित रहती हों। किन्तु यदि वे दोनों सदा साथ रहती भी हों, तब भी हम बुद्धिसे तो भली प्रकार उन्हें अलग-अलग करके समझ ही सकते हैं। मान लीजिए कोई सुन्दर वस्तु केवल सुन्दर होनेके नाते ही हमारे मस्तिष्कको प्रभावित करती है। यह अनुभूति चाहे छोटी हो या बड़ी किन्तु वह एक प्रकारका ऐसा अनुभव है जिसमें वह सुन्दर वस्तु ही पूर्ण रूपसे हमारी भावनाओंपर शासन करती है। उसके प्रभावसे प्रभावित होनेपर मनुष्य उस वस्तुकी ओर ही एकाग्र बना रहता है क्योंकि वह वस्तु पूर्ण रूपसे आकर्षक और रुचिकर दोनों है। यदि इस अनुभवमें कोई गुणतत्त्व प्रतीत होता है तो वह उसका स्वाभाविक गुणतत्त्व होगा और उस वस्तुका अङ्गीभूत होगा, जिसके कारण वह इतना प्रभाव डालता है। किन्तु यह गुणतत्त्व उस गुणतत्त्वकी अपेक्षा भिन्न होता है, जो किसी कलात्मक वस्तुमें हमें तब प्रतीत होता है जब हम किसी वस्तुके अङ्गीभूत गुणसे आकृष्ट न होकर उसके पश्चात् व्यक्त होनेवाले प्रभावके कारण उसकी ओर आकृष्ट होते हैं।

अपनी प्रधान रुचिपर अवलम्बित उस गुणतत्त्वको हम 'अन्तःस्थित' या सौन्दर्यात्मक अनुभूतिका 'तदात्म गुणतत्त्व' मान लेते हैं और दूसरे प्रकारके अनुभवको 'बहिर्गत' या 'अस्थित' मान लें तो सम्भवतः हम उसका कुछ-कुछ रूप समझ सकेंगे। कलाका पोषण करनेके लिये हमें दो प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए, जो प्रायः एक दूसरेसे उलझाकर छोड़ दिए जाते हैं। वे प्रश्न ये हैं कि १. कलाके अन्तःस्थित गुण विशेष रूपसे क्या हैं ? और २. उसके बहिर्गत या अस्थित गुण क्या हैं ?

## कलाका 'अन्तःस्थित' गुण

वर्त्तमान मनोविज्ञानने इनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया है कि 'व्यावहारिक सजगता किसी भी वस्तुको एकाग्रताके साथ समझनेका

प्रयत्न नहीं करती वरन् शीघ्रताके साथ उन सब लक्षणोंको परख लेती है जिनके कारण वह मोटे रूपसे उस वस्तुको अन्य वस्तुओंसे अलग समझ सके और जिनका उस वस्तुको ग्रहण करनेके लिये महत्त्व हो।' जहाँ प्रत्येक वस्तु बड़े ध्यानसे देखी जाती है वहाँ वैज्ञानिक प्रयोगशालामें भी किसी वस्तुके लक्षण केवल उन सङ्केतोंके समान प्रयुक्त किए जाते हैं जो अपनेसे परे उन स्थिर सम्बन्धोंकी जटिलताका परिचय कराते हैं जो वास्तवमें वैज्ञानिकका लक्ष्य है। अपने कामसे जाते समय हम मार्गमें पड़ती हुई फूलकी दूकानको एक झपकमें देख लेते हैं किन्तु उस समय उन फूलोंके रङ्ग, उनके समूह और उनकी गुँथावटपर ध्यान नहीं देते। हम जिस समय उसे झटसे देखते हैं उसी समय तत्काल हमें स्मरण हो आता है कि हमारा एक मित्र अस्पतालमें पड़ा है, जिससे मिलने जाना है। साधारण अनुभूति इसी प्रकारकी होती है अर्थात् शीघ्रतामें हम वस्तुओंके मुख्य गुणतत्त्व पर सूक्ष्मताके साथ ध्यान नहीं देते। किन्तु यदि उसकी प्रकृति और उसके अर्थपर ध्यान दें तो जान पड़ेगा कि अपने 'अन्तःस्थित' गुणोंके कारण वे हमें बहुत देरतक आकृष्ट किए रख सकती हैं। किन्तु जो वस्तु वास्तवमें सौन्दर्यात्मक होती है वह हमारी एकाग्रताको सहसा झकझोरकर पकड़ लेती है विशेषतः यदि वह इसी उद्देश्यसे जान-बूझकर रची गई हो। ऐसी सोद्देश्य कला-कृति नवीन, एकरूप, गठी हुई बहु-विचित्र तथा स्वतःपर्याप्त होती है और इसीलिये वह हमारी रुचिको जागरूक और पुष्ट करती है। प्रत्येक रेखा, प्रत्येक धागा, प्रत्येक कथा या दृश्य इसी उद्देश्यकी पूर्ति करता है। ये सब एकत्र होकर एक ऐसी कृति प्रस्तुत करते हैं जिसका महत्त्व तभी समझा जाता है जब हम विशेष रूपसे एकाग्र होकर उस वस्तुपर ध्यान दें जो हमारे सम्मुख तत्काल प्रत्यक्ष उपस्थित की जाय। उसपर एकाग्र होनेके कारण वह हमें इस दृढ़तासे आकृष्ट कर लेती है कि उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ अर्थात् दैनिक जीवनकी निराशाएँ और विपत्तियाँ, अन्य वस्तुओंके बिखरे हुए असम्बद्ध विचार, सब मिट जाते या समाप्त हो जाते हैं और हम सन्तुष्ट तथा एकाग्र होकर बैठ जाते हैं। यही वास्तवमें कलाका अन्तःस्थित गुण है। इस 'अन्तःस्थित' गुणसे समृद्ध कला-वस्तु चाहे प्रकृतिका दृश्य हो, चाहे नाटकीय सङ्घर्ष हो, चाहे ध्वनियोंका जटिल समुदाय हो, पूर्ण रूपसे ग्राह्य हो जाता है और उसे ग्रहण करते

समय उसकी विशेष अप्रतिमताके सम्बन्धमें हमारी जो समुन्नत चेतना स्थिर हुई है वह हमें सहसा उठाकर जीवनके पूर्ण भावतक पहुँचा देती है।

## कला साधन भी है

किन्तु यदि यह आकर्षणत्व ही एकमात्र गुण होता तो सम्भव है मानव-जीवनमें कलाको वह महत्त्वपूर्ण स्थान न मिलता जो मिल रहा है। सच्चे नैतिकवादी या वे मनुष्य, जो इस हृदयहीन संसारको अपने वशमें कर लेना चाहते हैं और जो संस्कृतियोंका निर्माण और पोषण करते हैं, कलाको भी केवल एक खेल या खेल-जैसा कार्य समझते, जो उपयोगी तो है किन्तु उससे मनुष्यकी कोई महत्ता नहीं बढ़ जाती। किन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि कलाका प्रभाव केवल उसके प्रत्यक्ष दर्शनके अवसरपर ही नहीं, उसके पश्चात् भी होता है और वह जीवनके अन्तस्में प्रविष्ट होकर अत्यन्त आत्मीयताके साथ उसे उदात्त बनाकर और इसी प्रकार उसकी सहायता करके जीवनके स्तरको ऊँचा बना देती है। इसी कारण कलाको यह सम्मान दिया गया है कि 'कला ही समाजको मानवित करनेका आवश्यक साधन है।' इसलिये कला अपने अन्त:स्थित गुणोंके कारण समाजको उन्नत करनेमें भी समर्थ है और जबतक वास्तवमें उसका उचित प्रयोग नहीं किया जायगा तबतक वह समाजमें नैतिक साधनके रूपमें प्रयुक्त भी नहीं हो सकती। कलाके 'अ-स्थित' या बाह्य गुणोंका सर्वाधिक महत्त्व तो इस बातसे प्रकट होता है कि 'वह ऐसा साधन है जिसके द्वारा गुण मूर्त्तिमान और सुरक्षित रहते हैं। यदि हम बाइज़ेन्टियमके निवासियोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते तो टी० ई० हुल्मेके अनुसार इतना तो जानना ही चाहिए कि 'चाहे आदर्शके रूपमें ही सही', किन्तु जीवित मूर्तियोंकी आकस्मिक तथा तुच्छ विशेषताओंकी ओर उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे तो अपने जीवनमें गम्भीरता, स्मरणीय स्थिरता और नित्यता लाना चाहते थे।' हमें जानना चाहिए कि उनकी पूर्णताका लक्ष्य दैवी था, लौकिक नहीं। इसी प्रकार यदि हम लोपेज़के युगके सम्बन्धमें और कुछ न भी जानें तो भी हमें उसके 'कौमीदियास'से इतना तो जानना ही चाहिए कि अपने ईश्वर और अपने युगकी महिलाओंके सम्बन्धमें उन लोगोंकी क्या भावनाएँ थीं? कौनसी बातें उन्हें प्रेरित करनेवाली थीं? किन वस्तुओंको वे प्राण देकर भी सुरक्षित करना चाहते थे? किन्तु गुणोंके

अधिष्ठानमें कला केवल इतना ही काम नहीं करती, वह हमारी भावात्मक और शुद्ध संप्रज्ञानात्मक उत्सुकताको सुरक्षित रखनेसे अधिक भी कुछ कार्य करती है। जब पौल एल्मर मोरने यह कहा कि 'कलामें मानव जातिके अतीतका अत्यन्त सत्य भाव हमारे वर्त्तमानमें जीवित सत्यके रूपमें उपस्थित रहता है' तो हमें समझना चाहिए कि वह असत्य नहीं कह रहा है, क्योंकि कला तो अपनेको उन रूपोंमें व्यक्त करती है जो वास्तवमें हमारी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ बनाती हैं। कला हमारी भावनाओं और प्रवृत्तियोंको सामग्री और निर्देश प्रदान करती है और इस प्रकार उन्हें ऐसा अर्थ-गाम्भीर्य और माधुर्य प्रदान करती है कि यदि उन्हें यह न प्राप्त हो तो वे निर्जीव हो जायँ। कलाहीन मनुष्य अपने पैतृक ऋक्थका भविष्य बिगाड़ देते हैं। वे कोई इतिहास नहीं छोड़ते। हमें ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन विवरण और लेख तब-तक निर्जीव हैं जबतक उनमें कोई ऐसा विशेष जीवगुण न हो जिसने उनकी विषय-सामग्रीको प्राणदान किया हो और जिसकी रक्षा कला करती हो। कला और साहित्य दोनों मनुष्योंको यह नैतिक प्रवृत्ति प्रदान करते हैं कि वे अपने उन अनुभवोंको व्यवस्थित कर लें जो कला और साहित्यके अभावमें ऐसे अस्त-व्यस्त हो जायँगे कि न तो उनमें परस्पर सम्बद्धता होगी, न सङ्गति। आदर्शवादी दर्शनके सामाजिक सिद्धान्तमें एक विचित्र प्रकारकी अन्तर्वृत्ति मानी गई है जिसे यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा। आदर्शवादियोंने कहा है कि 'जो व्यक्ति अपनेको समाजसे पृथक् कर लेता है वह जीवनका महत्त्व ही नष्ट कर देता है, क्योंकि वह गहन तथा सुपरीक्षित उच्च उद्देश्यों तथा सौजन्यपूर्ण लक्ष्योंसे युक्त जनताके दोषोंको छोड़कर, उनके बदले नये गढ़े हुए अपेक्षाकृत हीन और स्वार्थपूर्ण उद्देश्य स्थापित कर देता है।' हमारा यह कथन नहीं है कि कला ही एकमात्र ऐसा साधन है जो सामाजिक ऋक्थकी सुरक्षा करता है। किन्तु अपने गुणोंके तात्कालिक प्रदर्शनके बलसे वह ऐसी सम्भावना उत्पन्न कर देता है जो अन्य ऐसे साधन नहीं उत्पन्न करते, जो समृद्ध वर्त्तमानकी उत्पत्तिमें सहायक हो सकें।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कला किसी प्रकारका विज्ञापन है। विज्ञापनका उद्देश्य तो कोई विशिष्ट, सीधा और तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है और उसका यह उद्देश्य तभी पूरा होता है जब वह ऐसा

विषय उपस्थित कर दे कि चाहे उसका स्वतः कोई महत्त्व भले ही न हो किन्तु उसका प्रभाव अवश्य महत्त्वपूर्ण हो जाय। कला कभी वन्ध्या नहीं होती क्योंकि वह मानव-जीवनका बहुत परिष्कार और सुधार भी करती है किन्तु उसके बाह्य गुण वास्तवमें उसके अन्तःस्थित गुणोंसे ही उत्पन्न होते हैं इसलिये वे वास्तवमें उद्देश्य नहीं हो सकते। फिर, विज्ञापनके प्रभाव तो स्पष्ट होते हैं किन्तु कलाके प्रभाव तो अज्ञात रूपसे हमारी प्रवृत्तियोंको ढालते हैं और हमारे मानदण्डको समृद्ध करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कला कभी-कभी विज्ञापनका भी कार्य करती है किन्तु यदि वह शुद्ध सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तिके रूपमें देखी जाय तब वह विज्ञापन नहीं रह जाती और यद्यपि विज्ञापनवादी लोग तो उसके बाहरी रूप और प्रभावकी ही चिन्ता करते हैं तथापि सौन्दर्यात्मक ज्ञानके लिये उसके अन्तःस्थित गुणोंका परीक्षण ही आवश्यक है।

### कला जीनेका एक ढङ्ग है

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'कला जीनेका एक ढङ्ग है।' यह स्वयं एक अनुभव है और स्वयं अपनेमें महत्त्वपूर्ण वस्तु है। मनुष्य अपने अस्तित्वका समर्थन इसीलिये करते हैं क्योंकि कभी-कभी वे उस बुराईको भी पूर्ण स्पष्टताके साथ कह सकते हैं जिसके वे आखेट रहे हैं और इसीलिये नित्य-प्रतिकी विपत्ति और अपमान झेलते हुए भी उसका विचार करके वे कहते हैं कि 'जीवन अच्छा है।' यह बात वे तब कहते हैं जब वे अपने ठाने हुए किसी काममें पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु एक मानवीय और सभ्य जीवनके अन्तर्गत उस अनुभवको भी जीवनके स्थिर तथा महत्त्वपूर्ण विषयोंमें सम्मिलित करना चाहिए जो केवल कलाके ही द्वारा सम्भव है।

### साधनके रूपमें कला

'कला साधन है या साध्य इस विषयपर जितने विचार उपस्थित हुए हैं उन्हें हम दो भागोंमें बाँट सकते हैं—१. उसे किसी कलाकृतिके बाहर स्थित उद्देश्यका सहायक माना है, या २. उसे प्रधान माना है—

१. बहुत कम ऐसे लोग हैं जिन्होंने कलाको सुख और सान्त्वनाके रूपमें सहायक तत्त्व न माना हो। हौरेसने कहा है कि 'जब मृत्यु मनुष्यके पार्थिव शरीरको नष्ट कर डालती है तब भी कला उसके यशः

शरीरको अमरत्व प्रदान करती है। कलाकारको यही सबसे बड़ी सान्त्वना कलासे मिलती है। परिवर्त्तन, ह्रास और विभाजनसे संत्रस्त मानवको कला ही शाश्वत और गम्भीर सौन्दर्यकी प्रतीति कराती है। कलाकी सुखदायिनी शक्तिकी बात अरस्तूके रेचन-सिद्धान्त ( केथार्सिस ) से प्रारम्भ होकर ब्लेकके 'क्रिया-हीन इच्छा सदा विनाश उत्पन्न करती है' के सिद्धान्तमेंको होती हुई वर्त्तमान मनोविश्लेषणके उद्दात्तीकरण ( सब्लिमेशन ) के सिद्धान्ततक प्राप्त होती है। रस्किन और मौरिसने कलाका यह भी प्रयोजन माना है कि 'वह हमारे नित्यके जीवनमें महत्त्व और शक्ति प्रदान करती है।' दूसरे दृष्टिकोणसे रस्किनने पहले यह भी कहा था कि 'कला वास्तवमें धर्म, नैतिकता, राष्ट्रीय आकांक्षा और सामाजिक आचरणकी अभिव्यक्ति तथा कुञ्जी है।'

२. इस विषयपर घोर वैमत्य है कि 'सत्यका अन्वेषण करनेके लिये दार्शनिक साधनके रूपमें भी कलाका महत्त्व है।' अपने जनतन्त्र ( रिपब्लिक ) में कलाकी इस तत्कालीन परिभाषाकी व्याख्या करते हुए कि 'कला वास्तविकताका तो अनुकरण करती है किन्तु भावका नहीं, अर्थात् किसी घटना या विचारके भौतिक प्रदर्शनका ही अनुकरण करती है। अतः वह वास्तवमें अनुकरणका अनुकरण करती है और इसलिये उसका कोई दार्शनिक आधार नहीं है।' दूसरी ओर अरस्तूका मत है कि 'कलाकार तो विचारका ही अनुकरण करता है।' जो लोग कलाको सत्य-प्राप्तिका उचित साधन समझते हैं वे घूमकर प्लेटोके विचारपर ही पहुँच जाते हैं अर्थात् वे विचार या तत्त्वको प्रधानता देते हैं और ऐसा करते हुए वे कहते हैं कि 'कलाके क्षेत्रको इतना विस्तृत कर देना चाहिए कि आदर्श सौन्दर्यकी खोज की जा सके।' यही प्लेटोके मतसे दर्शनका विषय है। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, ह्यूगो, विग्नी और रिम्बाउड आदि अनेक कवि यह मानते रहे हैं कि 'कवि सचमुच वास्तविकता या सत्यतामें भविष्य-द्रष्टा रहा है।' प्राउस्टके मतसे 'कलाका कार्य है तत्त्वोंको देखना और उन्हें प्रस्तुत करना क्योंकि तत्त्वका राज्य कालाद्यवच्छिन्न है। कला भी काल-बधित नहीं है इसलिये कला भी समयके बन्धनसे मुक्त कर देती है।' पी० डी० आउस्पेंस्कीने यही बताते हुए कहा है—'कलाकारका आत्मा कहलानेवाला सूक्ष्म शरीर ही किसी परिस्थितिमें अज्ञात तथा अज्ञातव्य वस्तुका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर पाता है। कला साधारण मानवीय दृष्टिसे आगे देखती है इसलिये जीवनके कुछ पक्षोंके सम्बन्धमें केवल कला

ही कुछ कह सकती है और उसे ही यह कहनेका अधिकार भी है।' इस वैज्ञानिक युगमें इस प्रकारके विश्वास किसी बिरलेके ही होते हैं। साधारणतः लोगोंकी यही भावना है जो मैक्स ईस्टमैनके इस वक्तव्यमें है—'कविता स्वयं अपनी प्रकृतिसे ही अनुभवकी व्याख्या करने और जिसे हम सत्य कहते उसे जाननेका काम विज्ञानको सौंपती है।'

कलाको जो पलायनवादका नैतिक ठप्पा लगा दिया है वह उसे साधन माननेके कारण ही। जो लोग उसे सत्यतक पहुँचनेका उचित साधन मानते हैं, वे स्वभावतः उसके प्रयोगोंको सीमाओंके बन्धनसे मुक्त समझते हैं। आजकल कलाके विरोधमें जो एक शब्द पलायनवाद या एकान्त-सेवन (आइवरी टावर) चल पड़ा है, वह केवल कलाके गौण रूपके लिये ही प्रयुक्त होता है और वह भी तब, जब कि उसमें आत्म-प्रवञ्चना या सामाजिक उत्तरदायित्वसे भाग खड़े होनेकी भावना रहती है।

## कलामें सत्य

जब हम कलाके प्रसङ्गमें सत्यका विवेचन करना चाहते हैं तो स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं—

१. क्या कलाके प्रसङ्गमें सत्यका प्रश्न उठाना सङ्गत है ?

२. क्या कलाके सम्बन्धमें सत्यका रूप वैसा ही है जैसा जीवनके सत्यमें होता है ?

१. प्रथम प्रश्नकी दृष्टिसे दो बातें ऐसी हैं जिनसे किसी कलाकृतिमें सत्यका प्रश्न उठाना असम्बद्ध प्रतीत होता है—

क. सत्य या झूठ तो वक्तव्योंमें ही देखा जाता है किन्तु कलाकृतिमें तो कोई वक्तव्य दिया नहीं जाता। कलाकृति तो हमारी भावनाओं और प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करती है, अतः उसमें सत्य न होकर गुण होना चाहिए।

ख. जब कोई वस्तु सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे देखी जाती है, तब उसके सत्य या मिथ्या होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, जैसे कि यदि कोई व्यक्ति बम बरसनेका विचार छोड़कर आकाशमें उड़ते हुए विमानके सौन्दर्यको देखे तब सत्य-असत्यका प्रश्न कहाँ है ? हमारी दृष्टि जब किसी वस्तुके सम्पूर्ण तत्त्वपर पड़ती है तब उस वस्तुका गुणतत्त्व समझना पड़ता है क्योंकि

गुणकी समस्या भी उतनी ही जटिल है जितनी सत्यकी। ये सब गुण प्रत्यक्षतः उनके सत्यपर ही अवलम्बित है। किसी भी मिथ्या गुणमें उलझन हो सकती है, किन्तु महत्त्व नहीं।

२. तीन मुख्य अर्थ ऐसे हैं जिनमें सत्य शब्द कलाकृतिके साथ सम्बद्ध हुआ है—

क. किसीके विश्वासोंसे एकात्म होना।

ख. जीवनसे मिलते-जुलतेको सत्य कहना, जो कि अनुकरणके सिद्धान्तमें आता है।

ग. कलाकृतिका आत्म-सङ्गत होना।

किन्तु यह काव्य-सत्य नहीं है, काव्यसत्यकी व्याख्या हम पीछे कर आए हैं।

### कलामें विशेष लक्षण

किसी कलाकृतिके रूपसज्जाके वैशिष्ट्य या विशेष लक्षणको 'मोटिफ़' कहते हैं अर्थात् एक-सी परिस्थितियोंमें आनेवाले एक ही शब्द या विचारके साँचेका प्रयोग अथवा किसी एक कृति या किसी एक प्रकारकी अनेक कृतियोंमें एक ही प्रकारका भाव जागरित करनेवाला तत्त्व ही मोटिफ़ कहलाता है। इसी विशेष लक्षणको देखकर ही हम किसी कलाकी परम्पराका अभिज्ञान करते हैं।

### कला छिपानेमें ही कला है ( आर्स एस्त सेलारे आर्तेम् )

ओविडने अपने 'प्रेमकी कला' ( आर्ट ऑफ़ लव ) में जो यह कहा है कि 'सी लातेत आर्स प्रोदेस्त' अर्थात् 'यदि कला छिपी रहती है तो वह सफल होती है', उसीको लातिन भाषामें उपर्यङ्कित कहावतके रूपमें बदल दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो सर्वश्रेष्ठ कला होती है वह स्वतःप्रवृत्त और स्वाभाविक होती है। बहुतसे लोगोंने इसीकी देखा-देखी अनेक उक्तियाँ चला दी हैं जैसे—स्टीवेन्सनने कहा है कि 'तुम्हारा यह मधुर पाठ, घृणित कठोर लेख है।' अर्थात् 'तुमने जो काव्यमें माधुर्य उत्पन्न किया है वह परिश्रमसे गढ़ा हुआ है, स्वाभाविक नहीं है।' रस्किनने इसी विचारको कुछ और परिवर्द्धित करके कहा है कि 'श्रेष्ठ काव्य वही है जो कल्पनाके पङ्खोंपर हमें वहाँतक उड़ा ले चले जहाँका दृश्य देखकर हम उस जादूकी दरीको भी भूल जायँ जिसपर चढ़कर हम वहाँतक उड़ आ

पहुँचे हैं।' अर्थात् श्रेष्ठ काव्य वह है जिसे पढ़कर हम उसमें स्वयं अपनेको भूल जायँ। रहीमने कहा है—

बिन्दुमें सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहौं।
हेरनिहार हेरान, रहिमन आपुहि आपमें॥

यह स्मरण रखना चाहिए कि अत्यन्त श्रेष्ठ कलामें यह तन्मयता उन बहुतसे लेखकों और पाठकोंको अनायास प्राप्त हो जाती है जो उसके रूपसे पूर्ण अपरिचित रहते हैं और जो इस तन्मयताके कारण उस कथाको सत्य समझ बैठते हैं।

## रचयिताका मनोविश्लेषण ( साइकोग्रैफ़ी )

सेन्त ब्यूएने समीक्षाके सम्बन्धमें कहा था 'मैं आत्माओंका प्रकृतिवादी हूँ।' इसका तात्पर्य यह था कि 'मैं किसी ग्रन्थके अध्ययनके लिये उसके रचनाकारका जीवन समझ लेना आवश्यक समझता हूँ और उसके जीवनकी दृष्टिसे ही उसके काव्यका परीक्षण करता हूँ।' इस मतका विस्तार गामालिएल ब्रेडफोर्डने किया और उस प्रसङ्गमें बताया कि 'रचयिताका मनोविश्लेषण करनेमें दो बातोंका विशेष ध्यान रखना चाहिए—

१. उस कलाकृतिमें रचयिताका जीवन कहाँतक व्यक्त हुआ है ?

२. रचयिताके वास्तविक जीवनमें दिखाई देनेवाले प्रत्यक्ष मोटे-मोटे तत्त्व या क्रियाएँ क्या थीं ? जैसे वह किस बातपर नाक-भौं सिकोड़ता था, किसी बातपर कोई टीका-टिप्पणी करता या छींटे कसता था आदि इसी प्रकारकी छोटी-मोटी अन्य बातें।'

इन लोगोंका यह सिद्धान्त था कि 'किसी भी रचनाका अध्ययन करते समय कविके जीवनसे सम्बद्ध ऐसी छोटी-छोटी बातें भी ध्यानमें रखनी चाहिएँ क्योंकि इन्हींके आधारपर कविका वह व्यक्तित्व बनता है जिसकी छाप वह अपनी रचनामें पग-पगपर देता चलता है। कलाकारको केवल समाज या प्रकृतिका ही चित्रकार नहीं समझना चाहिए। वह स्वयं अपनी प्रवृत्तियों, इच्छाओं, वासनाओं, भावनाओं और रुचियोंका भी चित्रण करता चलता है। अतः उन्हींके आधारपर उसकी रचनाओंमें अभिव्यक्त कथा, पात्र, घटना और आचार-विचारके द्वन्द्वोंका परीक्षण करना चाहिए।'

### कलाकार और समाज

बहुतसे आचार्योंका यह मत है कि 'कलाकार स्वयं समाजका एक अङ्ग है। वह समाजसे सुविधाएँ प्राप्त करके समाजमें रहता है। अतः उसका धर्म है कि वह समाजके हितका ध्यान रक्खे।' गेटेके बहुतसे आलोचकोंने उसपर यही आरोप लगाया है कि 'गेटेने अपना सारा जीवन साहित्यकी सेवामें बिता दिया किन्तु अपने साथी मनुष्यकी सहायताके लिये उसने एक उँगली भी नहीं उठाई।' यही बात अनातोले फ्रान्सकी मृत्युपर भी हुई और यह कहा गया कि 'अनातोले फ्रान्सने भी मनुष्यकी कोई सहायता नहीं की।' इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंने यह भी एक समस्या खड़ी कर दी कि 'कलाकार और तत्कालीन सामाजिक समस्याओंका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है?' यह कहा जा सकता है कि चाहे कोई भी लेखक हो किन्तु वह भी अन्य व्यक्तियोंके समान मौन या सक्रिय होकर समाजकी विशिष्ट समस्याओंका कोई न कोई पक्ष अवश्य ग्रहण कर लेता है। किन्तु इसमें भी यह तो हो ही सकता है कि कोई व्यक्ति या तो जान-बूझकर पूर्णतः तटस्थ रहे या पूर्णतः सक्रिय भाग ले, अर्थात् या तो 'गजदन्तकी अटारी' ( आइवरी टौवर ) में एकान्त सेवन करे या युद्धक्षेत्रमें आकर जूझ मरे। अप्टन सिन्क्लेयरका मत है कि 'जो लोग लेखकको सक्रिय रूपसे सामाजिक समस्याओंमें भाग लेनेका आदेश देते हैं, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जो इस प्रकार द्वन्द्व-क्षेत्रमें आकर सक्रिय भाग लेता है, वह या तो विज्ञापन-साहित्यकी सृष्टि करेगा या फिर उसे रचनात्मक कार्यके लिये समय ही नहीं मिलेगा'। इसी प्रकार जेम्स ब्रान्च (काबेल) का मत है कि 'जो लेखक पूर्णतः तटस्थ रहेगा वह अपनी जीव-शक्ति ही नष्ट कर देगा।' इस सम्बन्धमें एक दूसरा भी पक्ष है, जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि 'किसी व्यक्तिको आत्मोन्नतिके लिये समाजमें सक्रिय भाग लेना आवश्यक है, किसीको अपनी साहित्य-रचनाके लिये एकान्त तटस्थता ही अपेक्षित है क्योंकि वह अपनी इस तटस्थतामें की हुई रचनासे समाजकी सेवा कर ही देता है।' सब पक्षोंसे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि कलाकारका जीवन और उसका उद्देश्य दोनों ही उसकी रचनाओंके लिये पूर्णतः असङ्गत हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि 'किसी कलाकारका जीवन बहुत बुरा रहा हो किन्तु उसकी रचनाएँ अत्यन्त उदात्त श्रेणीकी हों।' ऐसे बहुतसे कवि और कलाकार हुए हैं जिनका जीवन अत्यन्त

कुत्सित रहा किन्तु उनकी रचनाएँ अत्यन्त श्रेष्ठ हुईं। बाणभट्टने अपने विषयमें स्वयं लिखा है कि 'मैं बहुत बड़ा निठल्ला और कुसङ्गी था तथा सब प्रकारके निम्नतम वर्गके लोगोंके साथ उठता-बैठता रहा।' फिर भी बाणकी रचनाएँ इतनी उत्कृष्ट हुईं कि पण्डितोंने उनका लोहा मानकर यह व्यवस्था दे दी—

'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'

[ सारा संसार बाणकी जूठन है। ]

## कलाके भेद

कलाके यूनानी पर्याय 'पेक्सन', लातिन 'आर्स' और जर्मन 'कुन्स्ट'का तात्पर्य है—'वह कौशल और योग्यता जो धैर्यपूर्ण अभ्यास-द्वारा सिद्ध हो और एक ऐसे निश्चित उद्देश्यके लिये प्रवृत्त हो, जो या तो सौन्दर्यात्मक हो, या नैतिक हो, या उपयोगी हो।' इन तीन उद्देश्योंके अनुसार योरोपमें कलाके तीन भेद माने गए हैं—

१. ललित कला ( फ़ाइन आर्ट्स ), जिसका उद्देश्य है सौन्दर्यकी प्राप्ति या साधना।

२. आचार-कला ( आर्ट्स औफ़ कौन्डक्ट ) जिसके अन्तर्गत शिष्टाचारकी समस्त क्रियाएँ आती हैं और जिससे शिव या लोकमङ्गलके उद्देश्यकी पूर्ति होती है।

३. उदार कलाएँ ( लिबरल आर्ट्स ), जिनका उद्देश्य है मनुष्यके किसी न किसी उपयोगमें आना जैसे बढ़ईगिरी, वस्त्र-बुनना, पाक-कला आदि—

## ललित कलाके दो रूप : चल और अचल

आजकल लोग केवल ललित कलाओं अर्थात् उन मानवीय प्रक्रियाओंको ही कला मानते हैं जो सौन्दर्य-भावनाकी ओर प्रवृत्त करें। इन ललित कलाओंको भी उन्होंने दो भागोंमें बाँट दिया है—

१. अचल-कला ( स्टैटिक आर्ट्स ), जिसके अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्ति-कला और आलेख्य-कला ( चित्र-कला ) आती हैं, और

२. चल या गतिशील कला ( डायनैमिक आर्टस ), जिसके अन्तर्गत सङ्गीत, कविता, नाटक और भाषण-कला आती है।

पीछे बताया जा चुका है कि कलाकी मूल प्रकृतिका विवेचन लोगोंने अनेक प्रकारसे किया है किन्तु उन सबमें किसी न किसी प्रकारकी त्रुटि अवश्य रह जाती है। प्लेटो और शिलरसे लेकर के० लांगेतकने बताया है कि 'कला उपयोगरहित तथा अभौतिक प्रकृतिकी होती है और वह भी एक प्रकारका खेल है।' किन्तु आजकल यह सिद्धान्त अमान्य हो गया है। अब तो कलाचार्योंकी यह धारणा है कि 'आदिम युगके लोगोंने प्रकृतिकी अज्ञात शक्तियोंसे भयभीत होकर अन्धविश्वासके कारण कलाको जन्म दिया। उन्होंने अपनी कला-कृतियोंद्वारा उन अज्ञात विरोधी शक्तियोंको प्रसन्न करनेके लिये उसका प्रयोग किया और विश्वमें व्याप्त भयङ्कर सङ्घर्षमें शान्ति और स्थिरताका प्रतीक बनाकर कलाको प्रतिष्ठित किया।' इसी सिद्धान्तके समान एक दूसरा सिद्धान्त एकात्मता ( आइनफ़्यूहलुंग या ऐम्पेथी ) का है जिसके चलाया तो सबसे पहले हैर्डरने किन्तु जिसका विस्तार किया वर्नन लीने। यद्यपि इस सिद्धान्तमें यह तो आभास मिल जाता है कि 'सौन्दर्यात्मक आनन्द वास्तवमें कैसा होता है', किन्तु इस समस्याका कोई समाधान उससे नहीं प्राप्त होता कि 'कलाकी मूल प्रकृति क्या है'। इसका समाधान न तो क्रोचेके 'अन्तःप्रेरणा ( इन्ट्यूशन ) और कलाके एकत्व'के सिद्धान्तमें प्राप्त होता है न सान्तायनके 'मूर्तीकृत आनन्द' ( ऑब्जेक्टीफ़ाइड प्लेज़र ) में। साधारणतः कलाकी जो परिभाषा दी जाती है कि 'कला किसी मनोवृत्ति-द्वारा देखी हुई प्रकृति है' वह भी अत्यन्त भ्रामक है। टॉल्स्टॉयने कुछ ठीक कहा था कि 'सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्तिके लिये भावात्मक प्रेरणा अपरिहार्य है', किन्तु अपना सिद्धान्त स्पष्ट करनेमें वह भी अस्पष्ट हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ लोगोंका यह भी मत है कि 'प्रकृतिकी प्रतिकृति उपस्थित करना ही कला है' या 'प्रकृतिमें जो सौन्दर्य है उसकी प्रतिकृति उपस्थित करना ही कला है।' किन्तु यह मत भी अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि कला कोई प्रतिकृति नहीं है, वह तो व्याख्या है। कला वहीं प्रारम्भ होती है जहाँ कलाकार प्रकृतिके शुद्ध अनुकरणसे भिन्न पथ ग्रहण करता हुआ अपनी औचित्य-धारणाके अनुसार अपनी कृतिमें एक लय भरता चलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति ही कलाकारकी प्रेरणाका अक्षय्य भाण्डार है, किन्तु किसी कलाकारकी कलाकृतिपर शासन करनेवाले नियम, प्रकृतिके नियमोंसे पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं।

### आवश्यकतासे आगे बढ़ना ही कला है

इसी आधारपर कलाकी यही परिभाषा ठीक है कि 'जहाँ मनुष्यकी आवश्यकता समाप्त होती है, वहींसे कला प्रारम्भ हो जाती है।' प्रत्येक मनुष्य अपने रहनेके लिये कोई ढका हुआ स्थान चाहता है। वह वृक्षके नीचे या गुफामें भी सो सकता है। दो बाँसके डण्डोंपर अटपट छाई हुई पुआलसे अपना काम चला सकता है। किन्तु ऐसा न करके वह ईंटें पकाता है, उन्हें एक विशेष ढङ्गसे सजाकर दीवार उठाता है और उसपर छत डाल लेता है। यहाँतक भी उपादेयता और आवश्यकता मानी जा सकती है, किन्तु जब वह उसपर बेलबूटे बनाने लगता है, उसे विभिन्न रङ्गोंसे रँगने लगता है तब वह आवश्यकतासे आगे बढ़ जाता है और यही 'आवश्यकतासे आगे बढ़ जानेकी क्रिया' ही कला है।

### साहित्य सर्वश्रेष्ठ कला है

पीछे भारतीय चौंसठ कलाओंकी सूची देते हुए हमने जिन कलाओंकी गणना कराई है, उन्हें देखनेपर प्रतीत होगा कि उनमेंसे कुछ तो नेत्रको आनन्द देनेवाली हैं जैसे चित्र और मूर्ति, कुछ कानको जैसे सङ्गीत, कुछ जिह्वाको जैसे मधुर व्यञ्जन, कुछ त्वचाको जैसे कोमल, चिकने, शीतल पुष्पोंकी रचना और कुछ नासिकाको तृप्त करनेवाली हैं जैसे सुगन्धित वस्तुएँ। किन्तु शेष ऐसी हैं जो हमारे मनको प्रसन्न करनेवाली या हमारे दैनिक व्यवहारमें कुशलता, प्रवीणता तथा योग्यता दिलानेवाली हैं। इस दृष्टिसे यदि हम कलाकी परिभाषा करें तो कहेंगे—'कर्मेन्द्रियोंका वह कौशलपूर्ण नियोजन कला कहलाता है जो ज्ञानेन्द्रियोंको तृप्त करता हुआ मनको प्रसन्न और तुष्ट करता है।' इन सब प्रकारकी कलाओंमें भी साहित्य या काव्य ही ऐसी कला है जो किसी एक इन्द्रियको हर्षित न करके हमारे मनको तुष्ट करती है, आत्माको उदात्त, नैतिक आदर्शोंके द्वारा ऊँचा उठाती है, विवेककी स्थापनाके द्वारा बुद्धिका परिष्कार करती है, सूक्तियोंके संयोजनसे वाणीका संस्कार करती है और घटनाओंके नियोजनसे व्यावहारिक ज्ञान सिखाती है। अन्य सब कलाओंके द्वारा हमारी किसी एक इन्द्रिय या दो इन्द्रियोंको सुख मिलता है और मनको क्षणिक तृप्ति मिलती है किन्तु काव्यके द्वारा कानको और नाटक-द्वारा नेत्र तथा कानको सुख मिलनेके साथ-साथ मनका भी सन्तर्पण और संस्कार होता चलता है।

### कलाका उद्देश्य

अतः कलाका उद्देश्य हुआ 'आनन्द देना' और यह आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब उस वस्तुमें अन्य तत्त्वोंके साथ सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुतताका सम्मिश्रण हो।

### कलाका कार्य

यह नहीं समझना चाहिए कि निश्चित रूपसे रची हुई किसी रचनाको ही कला कहते हैं। कला तो नवीनता उत्पन्न करनेमें भी होती है और अनुकरण करनेमें भी। इसलिये यदि हम कलाके कार्यकी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि कला पाँच कार्य करती है—

१. सजावट या अलङ्करण : अर्थात् किसी एक वस्तुमें या वस्तुपर इस प्रकारकी क्रिया करती है कि वह पहलेकी अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होने लगे अर्थात् यदि वह सुन्दर रही हो तो सुन्दरतर बन जाय, यदि असुन्दर रही हो तो सुन्दर हो जाय।

२. मिश्रण : अर्थात् कई रङ्गों, वस्तुओं या रूपाकारों (पैटर्न) को इस प्रकार घोलकर या मिलाकर उपस्थित करती है कि उनके सम्मिश्रणसे कुछ नया, निराला सुन्दर रूप उपस्थित हो जाय।

३. क्रम-सज्जा : अर्थात् बिखरी पड़ी हुई अनेक आकार-प्रकारोंकी वस्तुओंको ऐसे क्रमसे सजा देती है अथवा औचित्यकी दृष्टिसे विभिन्न पदार्थोंको इस ढंगसे उचित स्थानपर संयोजित कर देती है कि वे सुन्दर प्रतीत होने लगें।

४. अनुकरण : अर्थात् किसीकी क्रिया, वाणी और रूप आदिको ज्योंका त्यों दिखला देती है, जैसे नाटकमें होता है।

५. कल्पनाभिव्यक्ति : अर्थात् देखी या सुनी अथवा कल्पनामें आई हुई वस्तु, क्रिया या भावको आकर्षक ढङ्गसे व्यक्त कर देती है, जैसे काव्यमें।

इनमेंसे वाणीके द्वारा जो कला अनुकरण और कल्पनाभिव्यक्ति करती है वही वास्तवमें साहित्य बन जाती है।

### कला और प्रकृति

उपर्यङ्कित विवरणसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'कलाका उद्देश्य है सौन्दर्यकी सृष्टि करना'। इसे दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि 'कलासे बाहर

दूसरा कोई सौन्दर्य नहीं है।' सच पूछिए तो प्रकृतिमें कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर नहीं है क्योंकि सुन्दरता या असुन्दरता तो कलाकारकी प्रवृत्तिपर निर्भर है। वह किसी भी वस्तुको सुन्दर समझकर उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है। इस दृष्टिसे हम सौन्दर्यको सौन्दर्य-भावनाका वह मूर्तीकरण कह सकते हैं जिसे कलाकार अपने कौशलसे दृश्य या श्रव्य बनाकर उसका रस लेनेको हमें प्रेरित करता है। इसी भावनासे हम कलामें प्रकृतिको भी देखते हैं, क्योंकि उस कलाकी मूल प्रेरणा तो प्रकृति ही है। हमारे यहाँ प्रारम्भसे ही आदिकवि वाल्मीकिने वनश्री या प्रकृतिके बड़े सुन्दर और भव्य वर्णन उपस्थित किए हैं। वन, उपवन, नदी, सरोवर, शरदाकाश, समुद्र, पर्वत, निर्झर और पशु-पक्षी ये सभी इस प्राकृतिक सौन्दर्यके अनेक प्रतिनिधि हैं। मानव कलाकार भी ईश्वर कलाकारकी ये सामग्रियाँ लेकर मानव-निर्मित सुन्दरता या कलाकी सृष्टि करता चलता है।

## जड़ प्रकृतिमें सौन्दर्य

यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस यूनानने मानवीय शरीरके अनुपातका सर्वश्रेष्ठ कला-रूप स्थिर किया, वह सम्भवतः इस जड़ प्रकृतिका सौन्दर्य जानता ही नहीं था। इटलीमें तो पुनर्जागरण-कालतक पर्वतका दृश्य सुन्दर ही नहीं समझा जाता था, क्योंकि पर्वत मनुष्यकी गतिमें बाधक तथा सङ्कट और थकावटका कारण समझा जाता था। प्रसिद्ध कवि पैट्रार्कने एक पर्वतका विवरण दिया है जिसमें उसने पर्वतपर चढ़नेकी कठिनाइयों, सङ्कटों और विपत्तियोंका विवरण तो दिया है किन्तु पर्वतकी विशालता, उसकी हरीतिमा और उसके स्फटिक जल-प्रपातोंके सौन्दर्यके सम्बन्धमें उसने एक शब्द भी नहीं कहा। योरोपमें तो केवल गियोत्तोंके समयसे मनुष्यकी दृष्टिमें पर्वत सुन्दर प्रतीत होने लगा, जब उसने तथा उसके साथियोंने सर्वप्रथम अपने चित्रोंमें पर्वतोंका चित्रण किया।

## कला या कलाकारके मस्तिष्कका विशेषण सौन्दर्य है

सौन्दर्य वास्तवमें प्रकृतिका विशेषण न होकर कलाका या कलाकारके मस्तिष्कका विशेषण है। यदि ऐसा न होता तो वह अपरिवर्त्तनीय और स्थायी होता, किन्तु सौन्दर्यका मानदण्ड निरन्तर बदलता रहता है, यहाँतक कि विभिन्न देशों, जातियों और व्यक्तियोंतकमें यह मानदण्ड विभिन्न होता है,

कलाके द्वारा सौन्दर्यका जो मानदण्ड स्थापित होता है वही स्थायी होता है और उसीकी समीक्षा करना वास्तवमें कलात्मक समीक्षा होती है। अतः साहित्यमें भी हमें यही देखना होगा कि कविने इसमें कौनसे ऐसे शाश्वत सौन्दर्य, असाधारणत्व और अद्‌भुतत्त्वके संयोजन किए हैं जिनसे साहित्य समीक्षणीय हो गया है।

## क्या साहित्य भी कला है ?

कविताके सम्बन्धमें यह प्रश्न पूछना असङ्गत होगा कि 'वह कला है या नहीं', क्योंकि अब तो कविता एक मतसे कला मान ली गई है। किन्तु साहित्य तो मानवीय भावनाओं और अनुभवोंका वह विस्तृत अभिव्यक्ति-क्षेत्र है जिसकी परिभाषा ही ऊपर यह दी गई कि 'हृद्य भाषा-शैलीमें अभिव्यक्त अनुभूति ही साहित्य है।' अतः इसके अन्तर्गत कविताके अतिरिक्त भाषात्मक अभिव्यक्तिके वे सब रूप समा जाते हैं जो कवितासे भिन्न हैं या उसके विरोधी हैं। जेक्स मारिटैनने भी 'कला और विद्वद्वाद' ( आर्ट एंड स्कौलेस्टिसिज़्म, १९३७ ) में इसी मतका समर्थन करते हुए कहा है—'साहित्यमें वह दार्शनिक तत्त्व नहीं है जो काव्यमें है।' इसलिये यह उचित प्रतीत होता है कि साहित्यको समझनेके लिये हम उसके व्यापक क्षेत्रका अध्ययन करें और साहित्यको उसी व्यापक अर्थमें समझें।

इससे यह प्रश्न उठता है कि 'सर्वसम्मतिसे कला मानी जानेवाली कवितामें और उस साधारण साहित्यमें क्या अन्तर है जिसका रूप अनिश्चित प्रतीत होता है ?' इस प्रसङ्गमें यही स्पष्ट रूपसे जान लेना चाहिए कि वह कौनसा ऐसा तत्त्व है जिसके कारण कविता और साहित्य दोनों दो प्रतीत होते हैं।

## साहित्य और कवितामें अन्तर

कविताका परीक्षण करनेपर प्रतीत होगा कि उसमें दो तत्त्व हैं—

१. बौद्धिक और कल्पनात्मक सामग्री या विचार।

२. भाषामय अभिव्यक्ति।

ये दोनों तत्त्व कुछ ऐसे विचित्र रूपसे भिन्न तथा स्वतन्त्र हैं कि वह स्वतन्त्रता अन्य कलाओंमें प्राप्त नहीं होती। किसी चित्र या मूर्तिकी सामग्रीके

सम्बन्धमें जो विवरण किया गया हो उसकी अपेक्षा किसी कविताके विचार या विषय-सामग्रीके सम्बन्धमें दिया हुआ विवरण यद्यपि कविताका स्थान तो नहीं ले सकता किन्तु उससे कविताके सम्बन्धमें अधिक विवरण अवश्य प्राप्त हो सकता है । ये दोनों तत्त्व अर्थात् सामग्री और अभिव्यक्ति हमारी भावनामें पहुँचकर पूर्णतः घुल जाते हैं और कविताके शब्दोंद्वारा भाषात्मक संकेतमें समा जाते हैं । जब ये दोनों तत्त्व एक दूसरेसे स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न करते हैं तब साहित्यकी सृष्टि होती है, कविताकी नहीं, क्योंकि कवितामें छन्द ही ऐसा माध्यम है जो कल्पनागत विचारको भाषामय रूपसे जोड़ देता है । इसलिये ऊपर जो भेद बताया गया है वह वास्तवमें गद्य और पद्यका भेद है । कवितामें पहुँचकर शब्द नया हो जाता है और उस पूरी कवितामें वह एक नया रूप लेकर ढलता है । इस ढलनेकी क्रियामें यद्यपि उसपर अत्यन्त बलात्कार होता है, उसका अर्थ बदल जाता है, उसपर अनेक भावोंका बोझ लद जाता है, किन्तु वह इस बोझसे लदकर भी नूतन सृष्टिके रूपमें हमारे सम्मुख आता है । साहित्यमें जब हम भाषापर विचार करते हैं तब इसी दृष्टिसे कि वह हमारे भावोंके संक्रमणका माध्यम है। यद्यपि कविताका परीक्षण करते समय भी हम भाषाके सौन्दर्यपर विस्तारसे विचार करते हैं किन्तु उसमें भी हमारी दृष्टि यही रहती है कि हम उससे यह जान सकें कि यह भाषा उस कविताके अर्थ-परिज्ञानके लिये उचित साधन है या नहीं ।

भारतीय साहित्याचार्योंने गद्य और पद्य दोनोंमें की हुई रचनाको काव्य कहा है । उपर्यङ्कित दृष्टिसे विचार करनेपर भी यह प्रतीत होगा कि कविता अर्थात् छन्दोबद्ध साहित्य और अ-कविता-शील साहित्यमें कोई मोटा भेद नहीं किया जा सकता । इस दृष्टिसे उपन्यास भी अ-कविताशील साहित्यमें आता है किन्तु अपने तत्त्व, प्रभाव, विन्यास तथा ग्रथनकी दृष्टिसे वह भी कविताके पदपर ही पहुँच जाता है । इसीलिये कभी-कभी यह कहा जाता है कि 'साहित्यिक रूपकी दृष्टिसे उपन्यासकी प्रकृति भी काव्यमय ही होनी चाहिए।' हमारे यहाँ तो पहले ही गद्य और पद्यमें रचे हुए सम्पूर्ण रसमय वाङ्मयको काव्य ही कहा है और गद्यको भी वृत्तानुगन्धी ( पद्यकी लयपर चलनेवाला ) बताया है । इस दृष्टिसे 'साहित्य वास्तवमें किसी एक जातिके कल्पनात्मक और बौद्धिक जीवन-क्रमका वह परिचय है जो कलात्मक भाषाके माध्यमसे अभिव्यक्त

किया जाता है और जिसके विस्तृत साम्राज्यका एक छोटासा अंश कविता भी है, जो सूक्ष्म रूपमें साहित्यके सम्पूर्ण क्षेत्रमें व्यापक ही रहती है।'

## साहित्यका अन्य कलाओंसे क्या सम्बन्ध है ?

'कलाओंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?' इस प्रश्नकी मीमांसा हम पीछे कर चुके हैं। यदि हम यह पूछें कि 'अन्य कलाओंसे साहित्यका क्या सम्बन्ध है ?' और इस प्रश्नमें साहित्यके स्थानपर कविता शब्द रख दें तो एक उत्तर या एक प्रकारके उत्तर उन लेखकोंसे प्राप्त होंगे जिन्होंने कलाओंके वर्ग बाँध लिए हैं। कान्ट, शेलिङ्ग, सोल्गर, हेगेल, शौपेनहावर, श्लेइएरमाख़ेर आदि जर्मन आदर्शवादियोंका मत था कि 'चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकलामें कल्पनात्मक रचनाका तत्त्व अत्यन्त प्रमुख रूपसे व्याप्त है। इसी प्रकार नृत्य, अभिनय और सङ्गीतमें आवेगात्मक अभिव्यक्तिका तत्त्व विद्यमान है। किन्तु कवितामें इन दोनों विरोधी तत्त्वोंका सन्तुलन स्थापित किया जाता है' [ के० ई० गिलबर्ट और एच० कुह्नका 'सौन्दर्यवादका इतिहास', १९३९ ]। इस विवेचनके अनुसार सब कलाओंमें कविताको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। किन्तु बेनेदेत्तो क्रोचेने सब कलाओंको समान बताकर 'कलाओंके वर्गीकरण'का सिद्धान्त ही अमान्य कर दिया है क्योंकि वह इस प्रकारकी कला-जातियोंका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। यद्यपि कुह्नने अपने 'कला-वर्ग' ( १९४१ ) नामक लेखमें इस विषयको पुनः छेड़ा भी था किन्तु वह चल नहीं पाया।

जी० ई० लेसिङ्गने साहित्यके विभिन्न रूपोंमें अलग-अलग परिधि बाँधना तो प्रारम्भ किया किन्तु उनमें क्या पारस्परिक व्यवस्थित सम्बन्ध है, इसपर विचार नहीं किया। अपने 'लाउकून' ( १७६६ ) में उसने कहा है कि 'कविता तो लौकिक प्रतीकोंका प्रयोग करती है, इसलिये कवितामें केवल क्रियाओंकी अभिव्यक्ति होती है' अर्थात् उसमें गतिशीलता होती है, किन्तु चित्रकलामें स्थानका विस्तार और एक साथ अभिव्यक्त किए जा सकनेवाले प्रतीक होते हैं इसलिये उसकी विषय-सामग्री केवल स्थिर तथ्य-मात्र है।' कुछ ऐसे भी युग हुए हैं जिनमें चित्रकला भी साहित्यिक हो गई अर्थात् या तो उससे कोई नैतिक उपदेश निकाला गया या उसमें कथा चित्रित की गई, जैसे कैलेट, रैनौल्ड्स, हौगर्थ और राफ़ेलसे पूर्वके लोग। कुछ युगोंकी कविताएँ भी चित्रकलाके साथ होड़ लेती हुई अचल मूर्तियाँ उपस्थित करती

हैं, जैसे पारनेशियनों और बिम्बवादियों (इमेजिस्ट्स) की रचनामें। इसी प्रकार जैसे कवि लोग शब्दके द्वारा चित्रण करते हैं, वैसे ही चित्रकार लोग भी रङ्गके द्वारा अपनी कृतियोंमें भाव अभिव्यक्त कर सकते हैं। सन् १९१० में इर्विङ्ग बैबिटने इन कलाओंकी परिधिका निर्धारण पुनः प्रारम्भ किया और इस 'एक कलाको दूसरी कलामें घुसेड़ने'की वृत्तिको ह्रास ( डिकेडेन्स ) का चिह्न बताया।

### संस्कृतिका आधार—साहित्य और कला

साहित्य और कला दोनों मिलकर संस्कृतिके अङ्ग बनते हैं। 'किसी देश या जातिकी संस्कृतिके पूर्ण रूपको व्यक्त करनेके ये दो विभिन्न माध्यम हैं।' यह मत साधारणतः स्वीकृत भी हुआ और सभ्यताके इतिहासमें इसे मूर्त्त रूप भी दिया गया (१९२४)। 'यह रोमन है, गोथिक है या बारोक है', इस प्रकारकी रचना-सम्बन्धी धारणाओंका विकास करके लोगोंने साहित्यपर तो इनका आरोप किया ही, साथ ही चित्र, मूर्ति और सङ्गीत-कलापर भी इन नियमोंका प्रयोग किया। अत्यलङ्करण ( बारोक ) की भावना वास्तुकला और तत्त्वतः मूर्तिकलाकी ही एक शैली थी किन्तु उसका प्रभाव यूफ़ूवाद (यूफ़ूयिज़्म) या ब्राशो आदिकी 'दार्शनिक कविताओं'पर भी दिखाई देने लगा। विलहैल्म गिल्थेके प्रभावसे जर्मनीमें विकसित हुई गाइस्टेसवीशेनशाफ्टके द्वारा भी 'सांस्कृतिक समानता'का यह सिद्धान्त दूरतक व्याप्त हुआ। इस मतके कुछ अप्रसिद्ध अनुयायियोंने पूर्ण संस्कृतिको सरल रूपसे प्रस्तुत करनेके उद्देश्यसे साहित्य और कलाओंके पारस्परिक स्वतन्त्र अस्तित्वकी उपेक्षा की [ औसवाल्ड स्पेङ्गलरका 'दि डिक्लाइन औफ़ दि वेस्ट', १९३२ ]। सन् १९४० के लगभग कुछ जर्मन पत्रों तथा 'जर्नल औफ़ दि हिस्ट्री औफ़ दि आइडियाज़'ने भी लगभग इन्हीं विचारोंका प्रसार किया।

### रूपात्मक कलाओंको साहित्यका सहयोग

चलतेसे परिणाम निकालनेकी प्रवृत्तिने जर्मनोंकी शैली-सम्बन्धी खोज लगभग समाप्त कर दी, किन्तु अँगरेज़ कवि और समीक्षवादी लौरेन्स बिन्योनने इसे पुनः सन्तुलित किया। इस सम्बन्धमें वारबुर्ग इन्स्टीट्यूटने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया, जो पहले हम्बुर्गमें था और सन् १९३३ में लन्दन चला आया था। उसके प्रकाशनोंने साहित्य और कलाका पारस्परिक

सम्बन्ध स्पष्ट करनेमें बड़ी सहायता दी। नवीन खोजके अनुसार उन्होंने जो परिणाम निकाले और गवेषणाएँ कीं, उससे प्रतीत होता है कि 'किसी जाति या सभ्यताके विचार और कल्पनाओंको प्रकट करने और उन्नत करनेका माध्यम बननेवाला साहित्य, सदा कलाओंको शक्तिशाली विषय-सामग्री प्रदान करता रहता है।' इस प्रकार उन्होंने सिद्ध किया कि 'रूपात्मक कलाओंकी व्याख्याके लिये साहित्यका अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शन करता है।' इन दो साथियोंमें अर्थात् कला और साहित्यमें जो पारस्परिक आदान-प्रदान होता है उसे देखकर यह समझना चाहिए कि साहित्य तो नई खोज उपस्थित करता है और कलाएँ उनका विवरण देती या चित्र प्रस्तुत करती हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें ये दोनों कलाएँ अर्थात् साहित्य और चित्र साथ-साथ आते थे और आज भी यद्यपि उच्च श्रेणीकी पुस्तकोंसे चित्र लुप्त होने लगे हैं किन्तु छोटे बालकोंकी पुस्तकोंमें अब भी और कभी-कभी कथात्मक ग्रन्थों और प्रबन्ध-काव्योंमें भी उनमें वर्णित विषयोंका चित्र भी उपस्थित रहता है।

## सङ्गीत और साहित्य

हमारे यहाँ कहा गया है कि 'साहित्य और सङ्गीत जिसे नहीं आता है, वह बिना पूँछ और सींगका पशु है।' साहित्य और सङ्गीत दोनों श्रव्य शास्त्र हैं अर्थात् इनका कानपर प्रभाव पड़ता है। ये दोनों चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला आदि उन दृश्य कलाओंसे भिन्न हैं जो तल ( स्पेस ) पर विकसित होती हैं क्योंकि साहित्य और सङ्गीत तो काल या समयमें विकसित होते हैं। सङ्गीत और साहित्यमें यह समता रहते हुए भी उनमें भेद यह है कि सङ्गीतकी ध्वनियाँ तो स्वत: अपनेमें पूर्ण होती हैं किन्तु साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका अर्थ भी होता है। प्राय: प्राचीन कवियोंने साहित्य और सङ्गीतका मधुर समन्वय किया है और यह निर्देश भी दे दिया है कि 'कौन-सा गीत किस रागमें, किस लयमें, किस समय गाना चाहिए।' सूर, तुलसी आदिने तो इस विषयमें अधिक सजगता दिखलाई है। संस्कृतके गीतगोविन्दमें भी यही विशेषता मिलती है। जितना गीतात्मक सङ्गीत होता है उसमें इसी प्रकार साहित्य और सङ्गीतका सम्मिलन होता है। यद्यपि आजकल लोगोंने उसके सङ्गीत-तत्त्वकी बहुत उपेक्षा कर दी है किन्तु वह है बहुत विचारणीय बात। इन दोनों कलाओंने एक दूसरेपर बहुत प्रभाव डाला

है। यों भी कवितामें शब्दोंकी योजना कभी-कभी सङ्गीतकी दृष्टिसे की जाती है, जैसे गोस्वामीजीने लिखा है—

कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखनसन राम हृदय गुनि।

और पद्योंकी लय या गति तो शुद्ध रूपसे सङ्गीतके लयपर ही चलती है, चाहे वे पाठ्य हों या गेय। किन्तु यह सहयोग होते हुए भी साहित्य और सङ्गीत दो भिन्न कलाएँ हैं।

## क्या साहित्यमें विकास होता है?

साहित्यमें विकास, विस्तार, उन्नति और ह्रास आदि ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या सरलतासे नहीं की जा सकती। कुछ लोग तो यह मानते हैं कि 'साहित्यका विस्तार होता ही नहीं। जो है वह है ही और सदाके लिये है।' शौपेनहावरका मत ही है कि 'कला तो अपनी पूर्णताको पहुँच चुकी है।' वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास जो रचना कर गए उससे कौन पार पा सकता है, यों भले ही हम बहुतसी रचना कर डालें। किन्तु फिर भी साहित्यिक रचनाके जो अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं तथा अनेक सिद्धान्तों और रीतियोंके अनुसार जो रचनाएँ की जाती हैं वे सब विस्तार ही तो हैं। यदि यह विस्तार न होता तो न साहित्यिक रचना होती, न साहित्यका इतिहास बनता। वस्तु, कथा, घटना या व्यक्ति सदा अभिव्यक्तिके लिये प्रेरणा देते रहे हैं। यह प्रेरणा जितनी अधिक शक्तिशाली होती है उतनी ही अभिव्यक्ति भी पुष्ट और विविध होती चलती है। यही उसका विस्तार है। इस प्रेरणाका कम होना ही साहित्यका ह्रास है, इस प्रेरणाके द्वारा जितनी नवीन भावनाएँ उद्भूत होती हैं उनके अनुसार जो अभिव्यक्तियोंके नये रूप प्रकट होते हैं, वही उसका विकास है और ऐसी प्रेरणा देनेवाली जितनी अधिक शक्तियाँ क्रमशः उत्पन्न होती चलती हैं और अभिव्यक्तिके लिये प्रेरणा देती चलती हैं, वही उसकी उन्नति है।

## सब कुछ कहा जा चुका है (ताउत ऐस्त दित)

प्रारम्भसे ही लोग यह कहते आए हैं कि 'पुराने लोगोंने कोई बात छोड़ी नहीं, सब कुछ कह दी है। सूर्यके तले कुछ भी नया नहीं।' इसीलिये

आन्द्रे गिदेने कहा था कि 'वास्तवमें हम कोई नई बात नहीं कहते। हमें वही-वही बात फिर-फिर इसलिये दुहरानी पड़ जाती है कि कोई एक बार कहनेसे सुनता नहीं है।'

## साहित्य और समाज

हिरोदोतससे लेकर पीछे-तकके पश्चिमी संसारके इतिहासकारोंने यह स्वीकार किया है कि 'मानव-व्यवहारपर सामाजिक संस्थाओंका बड़ा प्रभाव पड़ता है। 'बौद्धिक, साहित्यिक और कलात्मक कृतियोंका सामाजिक संस्थाओंसे क्या सम्बन्ध है' इस विषयमें अभीतक विस्तारसे विचार नहीं हुआ है। साहित्य और समाजका ठीक सम्बन्ध स्थापित हो जानेपर यह बताना सम्भव हो सकता है कि 'किन सामाजिक परिस्थितियोंमें, किस लेखकने, किस प्रकारके साहित्यकी, क्यों रचना की?' किन्तु यह कार्य समीक्षा न होकर इतिहास बन जाता है। साहित्य और समाजके सम्बन्धकी इस चर्चासे हम साहित्यके भीतर उसकी शैली और उसके विषयकी मीमांसा कर सकते हैं। तब यह प्रश्न रह जाता है कि 'समाजकी प्रकृति-भिन्नतासे, काव्यकी शैली और सामग्रीमें किस ढङ्गसे और किस सीमातक भिन्नता आई।'

साहित्यमें समाजके तीन पक्ष उपस्थित होते हैं—

१. टैक्नोलौजी या शिल्पकारिता,

२. सामूहिक रहन-सहनकी रीति तथा

३. आत्माभिव्यञ्जनकी क्रियाएँ।

सामाजिक-साहित्यिक इतिहासकार प्रायः ३. और १. तथा ३. और २. में सम्बन्ध स्थापित करता है। वह सबसे मुख्य बात यह देखता है कि 'किसी युगके साहित्यमें उस युगकी सामान्य सामाजिक परिस्थितिका चित्रण कितना और किस रूपमें हुआ?' कुछ वर्त्तमान समीक्ष्यवादियोंने कहा है कि 'किसी कृतिका मूल्याङ्कन कुछ उस प्रकारके सम्बन्धमें भी निहित है जो उस कृति और तत्कालीन समाज या उस कृतिद्वारा अभिव्यक्त एक विशिष्ट सामाजिक प्रवृत्तिमें है।'

सामाजिक कारणोंसे सामाजिक तथा अन्य कलाकृतियोंमें कुछ दोष भी आ जाते हैं, जो लेखक और जनताके विचारोंमें मतभेद होने, जनताके संकुचित विचारवाली होने तथा समाजकी अत्याचारपूर्ण रूढियोंके कारण आ

जाते हैं। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि 'समाज जितना ही स्वस्थ होगा उतना ही साहित्य भी स्वस्थ उत्पन्न हो सकता है।'

## मानव-शास्त्र और साहित्य ( ऐन्थ्रोपौलौज़ी एंड लिट्रेचर )

प्राचीन युगके पुरुषोंका साहित्य मौखिक साहित्य है। उसका अधिकांश उनके ग्राम-गीतों, ग्राम-कथाओं और रूढ कथाओंमें सुरक्षित है और उनका बहुत-सा भाग उनकी लौकिक कहानियोंमें प्राप्त होता है। आदिम संस्कृतिके इन सभी रूपोंमें थोड़े-बहुत हेर-फेरके साथ संसार-भरमें लगभग एकसे ही जीवनोद्देश्य दिखाई पड़ते हैं और इस बातसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका मूल मस्तिष्क एक-सा ही रहा होगा।

इन आदिम मनुष्योंके साहित्यिक रूपोंका अध्ययन करनेसे उन प्रारम्भिक सामग्रियोंका ज्ञान भी होता है जिनके आधारपर हम साहित्यिक रचना और साहित्यिक आलोचनाके विज्ञानकी नींव खड़ी कर सकते हैं। ऐसी सामग्रीका बहुत अधिक परिमाण उन ग्रन्थोंमें प्राप्त हो सकता है जो नरशास्त्र-विशारदोंने पिछले सौ वर्षोंमें प्रकाशित किए हैं। अभीतक इस ऋद्ध सामग्रीका प्रयोग तुलनात्मक, आलोचनात्मक और साहित्यिक कार्योंके लिये ही किया गया है, वह भी चाडविक्सने किया है और बहुत थोड़े अंशमें।

आदिम मनुष्योंका मौखिक साहित्य मानव-अनुभूतिके प्रारम्भिक रूपोंकी पूरी परिधितक व्याप्त है और प्राय: एक ही जातिमें व्याप्त है। यह अनुभूति भी सरलतमसे लेकर अत्यन्त जटिल रूपमें प्राप्त है। पश्चिमी संसारको इस प्रकारके जितने साहित्यिक स्वरूपोंसे परिचय है उनमें कथा-वस्तु, विरोधी वस्तु, आख्यान तथा सुखान्त या दु:खान्त उपसंहार आदिसे युक्त बड़े-बड़े उपन्यासतक उनमें प्राप्त होते हैं। स्वभावत: ये मौखिक साहित्य उन संस्कृतियोंका परिज्ञान कराते हैं जिनमें उनका संस्कार या जन्म हुआ है। सभी स्थानोंमें सामाजिक मनुष्योंने अपनी कल्पनाको व्यक्त करनेके लिये अपने उस अनुभवका आधार लिया है जो उन्हें अपनी कथा, लोकगीत, कविता, धर्म तथा लौकिक साहित्यमें प्राप्त होता है। ये आदिम सभ्यताएँ आजकी अपेक्षा कहीं अधिक गठी हुई थीं। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनके अतीत और वर्त्तमान इतिहासके सम्बन्धमें अधिक सरलतासे समझा जा सकता है, इसलिये उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंकी उत्पत्ति, विकास और विस्तारके सब रूप,

अध्ययन करनेके लोकप्रिय विषय बन सकते हैं। इस दृष्टिसे आदिम मौखिक साहित्य दो प्रकारके हैं अर्थात् उनका दुहरा महत्त्व है, एक तो यह कि वे साहित्यिक रचनाओंकी मौलिक क्रियाओंके समझनेके साधन हैं और उनसे दूसरी बात यह समझमें आ जाती है कि उनके साहित्यमें कितनी बातें उनकी अपनी हैं और कितनी उन्होंने दूसरी संस्कृतियोंसे ली हैं।

अट्ठारहवीं शताब्दिके मध्यमें जब कप्तान कुक और बूगाइँविलिए आदि लोगोंने आदिम जातियोंके अस्तित्वकी खोज की, उस समय योरोपीय लेखकोंको एक नये अनुभवकी चेतना हुई। यह अनुभव पुनः विशेष रूपसे बोर्नियाके जङ्गलके जङ्गली मनुष्य अर्थात् ओरङ्गऊटङ्ग, अफ्रीकाके शिम्पाञ्ज़ी आदिकी पुनः खोजसे और भी अधिक बढ़ गए जिनका वर्णन सत्रहवीं शताब्दिके मध्यसे योरोपमें होता रहा है।

संसारमें सब प्रकारके बुद्धिमान लोग सदा एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होते रहे हैं और सत्रहवीं शताब्दिमें जबसे योरोपमें नये दर्शनका जन्म हुआ तभीसे वैज्ञानिक ग्रन्थ, अनेक साहित्यिक महापुरुषोंके लिये विचार-सामग्री बन गए थे और इसलिये इन लोगोंने इन वैज्ञानिक ग्रन्थोंके आधारपर बहुत कुछ लिखना भी आरम्भ कर दिया था। जौन डोनसे लेकर आल्डुअसले और टी० एस्० ईलियटतकके साहित्यिक लोगोंपर विज्ञानके प्रभावकी धारा अविच्छिन्न रूपसे प्रभाव डालती रही है। किन्तु नर-शास्त्रका प्रभाव ऐडीसन और ब्लेकमोरके लेखोंमें आए हुए कुछ थोड़े उदाहरणोंके अतिरिक्त मुख्य रूपसे तबतक नहीं प्रारम्भ हुए कहे जा सकते जबतक सन् १७२६ में गुलिवरकी यात्रा (गुलिवर्स ट्रैविल्स) का प्रकाशन नहीं हुआ। इसीके पश्चात् रूसोने बन्दरों और असभ्य मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्रियोंका एक विचित्र सम्मिश्रण प्रस्तुत किया (सन् १७५४), जिसमें एक 'सज्जन जङ्गली'की भावना सर्वप्रथम प्रस्तुत की गई थी और जिसके परिणाम-स्वरूप संत पियरेका 'पाउल एत वरजिनी' (१७८८) लिखा गया।

साहित्य और आलोचनामें इस नर-शास्त्रकी खोजका प्रभाव जर्मनी और इंग्लैंडमें बहुत पड़ा। जर्मन स्वैरवादके पिता हेरडेर थे। संसारकी किसी साहित्य-रचनामें नरशास्त्रीय विचारोंका इतना प्रभाव स्पष्टतः व्यक्त नहीं होता जितना उसके 'इडीन' ( १७८४ ) में। गेटे, नोवालिस, शिलर, लेसिङ्ग, हार्डेनबर्ग तथा अन्य जर्मन लेखकोंने अपने ग्रन्थोंमें इन विचारोंका

विशेष रूपसे प्रयोग किया है। इंग्लैंडमें एक तीन खण्डोंके उपन्यासमें उन्नीसवीं शताब्दिके आरम्भमें ओरङ्ग-ऊटङ्गको उपन्यासका नायक बनाकर चित्रित किया है। पीकौकके 'मेलिनकोर्ट' ( १८१७ ) में 'सज्जन जङ्गली का अत्यन्त तर्कपूर्ण ढङ्गसे समाधान किया गया है। शैलीने अपने 'क्वीन मैब' में इसी प्रकारके नरशास्त्रीय प्रभावोंका प्रदर्शन किया है किन्तु वास्तविक रूपमें नरशास्त्रीय ग्रन्थ विशेषतः उपन्यास उन्नीसवीं शताब्दिके पिछले भागमें प्रकाशित हुए। उनमेंसे सबसे पहला ग्रन्थ था हेनरी कर्वेनका 'ग्रिट ऐंड ग्रो', जो अज्ञात नामसे प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त एच० जी० वेल्सकी 'प्रस्तर-युगकी कथा' (१८९९) तथा अन्य ऐसी ही पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ जो मुख्यतः काल्पनिक थीं और जिनका आधार मनुष्यके प्रारम्भिक इतिहाससे सम्बद्ध नरशास्त्र था।

## साहित्यमें नर-शास्त्रका प्रयोग

नरशास्त्रका ज्ञान और समकालीन आदिम जातियोंके व्यक्तिगत अनुभवका प्रयोग साहित्यमें इंग्लैंडके राइडर हैगर्ड और किपलिङ्गने तथा अमेरिकामें ब्रेट हार्ट, फ़ेनीमोर कूपर, लौङ्गफ़ैलो तथा अन्य अनेक सज्जनोंने किया है। इस आन्दोलनका स्वरूप वही है जो 'सज्जन जङ्गली'-मण्डलके लोगोंने आरम्भ किया था। इलियनोर डार्कने अपने 'दि टाइमलेस लैन्ड, १९४१ ) में कहा है—'प्रायः इन सभी ग्रन्थोंमें हमें इस व्यवसायवादी युगकी भौतिकताके विरुद्ध स्पष्ट प्रतिक्रिया लक्षित होती है क्योंकि इनमें पश्चिमी संसारके पतित मनुष्योंकी तुलनामें ये 'प्राकृतिक' आदिम मनुष्य अधिक गुणशील और सच्चे प्रदर्शित किए गए हैं।' किन्तु एक और भी प्रकारके उपन्यास हैं जिनमें ये नरशास्त्रीय सामग्रियाँ बिना किसी नैतिक सन्देश-कथनके ही प्रयोगमें लाई गई हैं, जैसे राइडर हैगर्डका 'किङ्ग सौलोमन्स माइंस' और 'शी'। इस शास्त्रका अधिक लोकप्रिय प्रयोग वर्त्तमान चलचित्रोंमें 'टार्जन' आदिकी कथाओंमें और समाचारपत्रोंके व्यंग्य-चित्रोंमें भी प्रयुक्त हुआ है। टी०एस्० ईलियटके 'दि वेस्ट लैंड' (१९२२) से यदि हम प्रारम्भ करें तो ज्ञात होगा कि वर्त्तमान अँगरेजी काव्य विशेष रूपसे इस नरशास्त्रके द्वारा प्रभावित हैं, विशेषतः औडेन, स्पेन्डर, रौय केम्बेल आदि की।

## साहित्य-कलाके आधार : अनुकरण और कल्पना

यद्यपि हमारी परिभाषाके अनुसार 'हृद्य भाषा-शैलीमें की हुई अभिव्यक्ति ही साहित्य है', तथापि किसी वैज्ञानिक परिभाषाके समान साहित्य शब्दकी विवरणात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इस बाधाके होते हुए भी उसके कुछ ऐसे विशेष रूप हैं जिनके आधारपर उसके विराट् स्वरूपका कुछ न कुछ अधिष्ठान अवश्य निर्धारित किया जा सकता है जैसे—काव्यको हम साहित्यका दर्शन ही मान सकते हैं और इस आधारपर उसे कलातत्त्व तथा समीक्षासे भिन्न करके समझ सकते हैं। साहित्यमें महाकाव्य तथा लोक-साहित्य ऐसे रूप हैं, जिनसे हम जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंके सम्बन्धमें अत्यन्त उपयोगी ज्ञान सङ्ग्रह कर सकते हैं। किन्तु जबसे लोगोंने काव्यको कल्पनाका अधिक आधार बनाया तबसे उसका वह महदुद्देश्य भी शिथिल हो गया। ज़ेनोफनेस् और हिरेक्लितसने जो यह कहा कि 'दर्शनमें सत्य और ज्ञान है तथा साहित्यमें जनमतका सङ्घर्ष है' इसका तात्पर्य यही था कि साहित्य और दर्शन दोनों एक दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी हैं। यह मत अफलातूनके समयमें ही इतना पुराना पड़ चुका था कि साहित्य-सिद्धान्तके सम्बन्धमें अरस्तू और अफ़लातूनने मौलिक रचनाका विरोध करते हुए कहा था कि 'साहित्यिक कलाकारको केवल अनुकरण करना चाहिए।' अफ़लातून और अरस्तूका यह मत बहुत पीछेतक भी माना जाता रहा किन्तु आगे चलकर उनके विचार ऐसे तोड़-मरोड़ दिए गए और उनके इतने अर्थ लगा लिए गए कि उनका मूल रूप ही लुप्त हो गया। हौरेसका मत था कि 'साहित्यका उद्देश्य व्यवहार सिखाना, ज्ञान देना और शिक्षा देना है।' उसका कथन है—'कविका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह आनन्दप्रद और उपादेय तत्त्वोंका उचित सम्मिश्रण करे।' प्लूतार्कका भी यही मत था कि 'काव्यका उद्देश्य शिक्षा देना है और पाठकका भी यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह साहित्यमेंसे अच्छे गुण ग्रहण कर ले और उसमें आई हुई समस्त बुरी बातोंको निकाल फेंके।' लौंगिनसका मत है कि 'साहित्य (मुख्यतः भाषण-कला) तो ऐसे श्रेष्ठात्माओंके श्रेष्ठ विचारोंकी अभिव्यक्ति है जो हमारे मस्तिष्कको महत्ताकी ओर प्रवृत्त करती है और जो हमें देवताओं तथा वीरोंके सम्बन्धमें उद्वृत्त (सब्लाइम) विचार प्रदान करती है।' अरस्तूके मतका एक पक्ष यह है कि 'साहित्यमें प्रकृतिका अनुकरण होना चाहिए' अर्थात् उसमें वस्तुओंकी वास्तविकता दिखानी चाहिए। किन्

अनुकरण तो स्वयं विद्यमान वास्तविकताके अज्ञेय प्रतिकरण या आत्म-स्वरूप हैं। रोम साम्राज्यमें भी कलाके सम्बन्धमें यही मत प्रचलित था और तभीसे यह सिद्ध करनेके लिये कि 'अनुकरणमें क्या बात कितनी सटीक होती है', यह कहा गया कि 'अनुकरणमें जो बात व्यक्त की जाय वह सत्यसे अधिकाधिक मिलती-जुलती होनी चाहिए'—अर्थात् जिन वस्तुओं या मानवीय क्रियाओंका उसमें विवरण हो वह प्रामाणिक सत्य होना चाहिए। सिडनी आदि भी यही मानते थे और जिन समीक्षकोंने यह कहा है कि 'काव्य तो जीवनके अनुकूल ही होना चाहिए', वे भी इसी विचारकी पुष्टि करते हैं। जिस प्रकारका अनुकरण हमें सदा नई प्रकारकी रचनाएँ प्रदान करता हो और जिसमेंसे सदा नये-नये विचार उत्पन्न होते हों, ऐसी रचनाके लिये केवल अनुकरणात्मक वृत्ति ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये कुछ अधिक कौशलकी आवश्यकता है जो उतना अनुकरणात्मक नहीं होता जितना कल्पनात्मक होता है। त्यानाके अपोलोनियसने इसी 'पूर्व कल्पना'के आधारपर यह कहा है कि 'कल्पना ( फ़ैन्टेज़िया ) की प्रेरणासे अपना काव्य-चातुर्य अधिक बुद्धिसङ्गत कर लेना चाहिए।' इस प्रकार कल्पनाके संयोगसे काव्य-गुणके सम्वर्द्धनका सुझाव देते हुए उसने कहा है—'कल्पना ही ऐसी शक्ति है जिसके सहारे हम अदृष्ट वस्तुको भी प्रत्यक्ष तत्त्वके समान देख सकते हैं।' सिसरोका मत है कि 'कविके मस्तिष्कमें काव्य लिखनेसे पहले अपने इष्ट नेताका मूर्त रूप आ ही जाता है।' दियोक्रुसोस्तमका मत है कि 'आदर्श प्रतिकृति तबतक स्पष्ट नहीं होती, जबतक कलाकार ही उसे रूप देकर पूर्ण न कर दे।' इस दृष्टिसे अनुकरण और कल्पना, साहित्य-कलाके वास्तविक आधार माने गए हैं।

किसी सहित्यिक वस्तुकी रचना करनेकी प्रक्रियामें साहित्यिक सामग्रीको क्रमबद्ध करनेका कौशल सबसे अधिक आवश्यक है। योरोपमें मध्य युगमें दो कारणोंसे कविको रचयिता कहते थे—१. कवि केवल मानसिक बिम्ब ही नहीं प्रस्तुत करता वरन् उसके साथ-साथ २. अपनी भावनाओंका तत्त्व भी प्रकट करता चलता है। कवियोंमें यह प्रवृत्ति रही है कि वे भावात्मक और आध्यात्मिक वास्तविकताओंको रूपक और दृश्यात्मकताके द्वारा भौतिक बिम्बके रूपमें प्रस्तुत करते रहे हैं। साहित्यिक रूपोंकी दृष्टिसे वे इसीलिये अनुपयुक्त हैं कि कल्पनाके प्रभावसे उनकी आध्यात्मिक शक्ति कुछ ढक जाती है और उनकी उपयुक्तता आध्यात्मिक वास्तविकतासे हटकर वास्तविक संसारके भावात्मक उत्थानकी

ओर मुड़ जाती है। मध्यकालीन विचारक लोग कल्पनाके अवास्तविक प्रयोगमें जो दोष समझते थे वह रूपक और दृश्यात्मकता-द्वारा दूर कर दिया जाता था। संत औगस्टाइनने स्वीकार किया है कि 'कविको उपदेशक समझना अत्यन्त भ्रान्ति-पूर्ण है।' उसके इस मतका समर्थन अन्य बहुतसे विद्वानोंने किया है।' बोकेशियोने कहा है कि 'पिछले कई सौ वर्षोंसे विद्वान् लोग ठीक ही मानते आ रहे हैं कि साहित्यका उद्देश्य शिक्षा देना है' किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि 'साहित्यिक कलाकार केवल कल्पनाशील ही नहीं, वरन् दार्शनिक और ज्ञानका प्रेमी भी होता है क्योंकि वह सब प्रकारके रूपों और उनके कारणोंका व्याख्याता होता है। इस दृष्टिसे कविता एक प्रकारका वह धर्मशास्त्र है जिसके द्वारा दैवी प्रेरणासे सम्पुष्ट कवि अनेक गुप्त रहस्योंका भेदन करता है।' पेट्रार्कने भी कविताको यही सम्मान देते हुए और धर्म-विज्ञानके साथ उसका नाता जोड़ते हुए कहा है कि 'कविता गिरजाघरके धार्मिक प्रवचनोंके लिये अत्यन्त लाभकर और सहायक सिद्ध हो सकती है।' जागरण-कालके साहित्यिक समीक्ष्यवादियोंने कुछ थोड़े हेरफेरके साथ इन्हीं विचारोंकी आवृत्ति की है। देकार्त, हौब्स और वीचोने कल्पनाको ऐसी शक्ति माना है जो स्वयं अपनेमें पूर्ण है और आध्यात्मिक दृष्टिसे शुद्ध है। उनका कहना है कि 'कविताको किन्हीं श्रेणियोंमें विभक्त नहीं करना चाहिए। कविताको तो उसी प्रकारकी प्रेरणा माननी चाहिए जैसा स्वयं-स्फुरण होता है।' हौब्सने इस कविताको कुछ और व्यापक करके सम्बद्ध विचारोंके क्षेत्रमें स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए कहा है कि 'कल्पना वह उदार क्षेत्र है जिसमें एक कवि कविताको साधारण श्रेणोकी रूढियोंसे परे पहुँचा देता है।' ब्वालोका मत है कि 'सहसा उत्पन्न होनेवाली कल्पना तभीतक उन नियमोंके द्वारा सञ्चालित होनी चाहिए जबतक कोई साहित्यिक कृति एक निश्चित बौद्धिक क्रममें उपस्थित न हो जाय।' इसी मतके कारण स्वाभाविक प्रतिभा और रूढिगत कलाका विवाद छिड़ गया। स्पेन्सरसे लेकर आगे-तकके सब लेखकोंने इन तुलनात्मक सिद्धान्तोंकी विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। पोपने कहा है कि—'साहित्य-कला तो केवल मानव-प्रकृतिका अनुकरण-मात्र है' अर्थात् 'किसी एक विशेष समयके समाज और जीवनके सार्वभौम और बुद्धिसङ्गत तत्त्वको ही साहित्य-कला माननी चाहिए।' उसका मत है कि—'भाव और विवेक सब देशोंमें समान होते हैं, अतः वे सदा,

सब स्थानोंपर समान रूपसे मान्य और आदरणीय होंगे। फिर भी भावोंके नये सम्बन्ध खोज निकालनेकी गतिशील शक्तिके सहारे ऐसे विचार और अर्थ निकल सकते हैं जो आजतक कभी प्रकृतिमें उपस्थित ही नहीं हुए। रुचिकी शक्तिके सहारे हम साहित्यिक रचनाओंके रूप और विषय दोनोंमें सार्वभौम सौन्दर्यका दर्शन कर सकते हैं।' आजकलका आदर्शात्मक दर्शन यह चाहता है कि—'साहित्य बुद्धिसङ्गत रूपसे आध्यात्मिक संसारका रूप बतावे और उसकी व्याख्या करे' अर्थात् साहित्य एक ऐसा साधन बने जिसके द्वारा स्वतन्त्र अनुभवका क्षेत्र ज्ञानेन्द्रियोंके स्तरपर गोचर हो जाय। कान्टका मत है कि—'कल्पना वह ज्ञान-शक्ति है जो इस प्रकार रचना करती है मानो वास्तविक प्रकृति-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीमेंसे उत्पन्न हुई दूसरी प्रकृति हो। हमारे ज्ञानकी विभिन्न शक्तियाँ जब किसी वस्तु या पदार्थको समझनेके लिये प्रयुक्त की जाती हैं तब वे उस वस्तु या पदार्थको भलीभाँति समझनेके गम्भीर कार्यकी स्पर्धा करनेके लिये कल्पनाको स्वतन्त्र छोड़ देती हैं जो इतनी पूर्ण होती है कि स्वयं प्रकृतिमें भी उसके समान कोई वस्तु नहीं रहती।' इससे ठीक विपरीत दिशामें विचार करते हुए शिलरने कहा है कि 'कल्पनाका उच्चतम उद्देश्य यह है कि वह इन्द्रियातीत वास्तविकताको इस प्रकार प्रस्तुत करे कि हम उसकी प्रकृतिकी ठीक-ठीक खोज कर सकें। प्रस्तुत करनेकी यह क्रिया मनुष्यके भीतर रहनेवाली वह परा शक्ति है जिसे हम पूर्ण चेतनता कह सकते हैं।' शिलर और शैलिङ्ग दोनों इस संसारको ही कलाकृति मानते हैं और शैलिङ्गने तो कलाकी भावनाको अपनी दार्शनिक प्रणालीका एक अंग ही मान लिया है। उसके अनुसार 'साहित्य तो अपने रूपमें ससीम और निःसीमके बीचका मध्यबिन्दु अर्थात् वह केन्द्र है जहाँ आत्मा और पदार्थ दोनोंका एकीकरण हो जाता है।' गेटेका भी मत है कि 'कविता वह स्वतःप्रवाहित कल्पनाकी सृष्टि है जो सार्वभौम युक्ति-सङ्गतताके उच्च स्तरतक पहुँच जाती है और जो मनुष्य-मात्रको सार्वभौम मानवकी दृष्टिसे उपदेश देती है। उस समय साहित्यिक कलाकार उच्चतम गोचर रूप धारण करनेके लिये सम्पूर्ण प्रकृतिको आत्मसात् कर लेता है।' नोवालिसका मत है कि 'कविता वास्तवमें पूर्ण तथ्य है।' हेगेलका मत है कि 'साहित्य वह धारा है जिसमें पूर्ण आत्मा कलाकी सुन्दरतामें अभिव्यक्त होता है' अर्थात् जहाँ पदार्थपर आत्माका शासन होता है, जहाँ गोचर बिम्बका

प्रयोग करके आत्माका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है और जहाँ मानसिक बिम्ब भी सामग्रीके रूपमें ज्योंका त्यों बना रहता है।' श्लेगलका मत है—'साहित्यमें जो सार्वभौम तथ्य दिखाई पड़ता है वह उन विशेष रचनाओंके सामञ्जस्यसे उत्पन्न होता है, जिनके द्वारा कोई एक युग या राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति करता है।' सोलगेरका कथन है कि 'साहित्य तो सार्वभौम विश्व-विचार है जो कलाकारकी अतिचेतनतामें प्रकट होता है और उसके विभिन्न रूप उसी क्रमसे निश्चित रहते हैं जिस परिमाणमें वह पूर्ण तथ्य और उसके विभिन्न रूपोंमें सन्तुलित होता है।' इस सिद्धान्तका अधिक स्पष्ट प्रयोग बैलिन्स्कीने किया है जो विश्व-साहित्यका अस्तित्व मानते हुए राष्ट्रीय साहित्यका भी अस्तित्व मानता है।

## विश्व-साहित्य

विश्व-साहित्यके सम्बन्धमें बैलिन्स्कीकी धारणा है कि 'शब्दके राज्यमें मानवीय चेतनताकी अभिव्यक्ति ही विश्व-साहित्य है।' विश्व-साहित्यकी एक व्याख्या वर्गवादी सिद्धान्त-पत्र ( कौम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो ) में भी प्राप्त होती है। टेनके विचारोंमें विकास और विज्ञानका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वह कहता है—'साहित्य उस चेतनाका प्रस्तरीभूत अवशेष है जिसे किसी जाति, परिस्थिति और युगने या उस प्रकारकी परिस्थितिने उत्पन्न किया हो जिससे ज़ोलाके प्रयोगात्मक उपन्यासकी सृष्टि हुई है।' सार्वभौम सहयोगसे उपन्यासमें सामाजिक संघटनोंके वे तथ्य इकट्ठे किए जा सकते हैं जिससे चरित्र-निर्माणके नियम बनाए जा सकें। इस प्रकार 'साहित्य वह यंत्र है जिसमें' कौम्टेके मतानुसार 'विचारकी तृतीय श्रेणीकी छानबीन की जा सके।'

आजकलके विशेष मान्य सिद्धान्तोंमें बर्गसनका यह मत अत्यन्त प्रसिद्ध है कि—'यद्यपि बौद्धिक विचार तथा इन्द्रियानुभवके माध्यमसे काम करनेकी आवश्यकता-द्वारा साहित्यका वास्तविक रूप हमसे छिपा रहता है तथापि साहित्य वास्तवमें सत्यताकी आत्म-प्रेरणा उद्‌बुद्ध करता है।' नीत्शेका मत है कि 'शौपेनहावरके सङ्गीतज्ञकी अपेक्षा कवि अधिक उपादेय है।' इस भ्रमको सुलझानेके लिये कलाकी आवश्यकता होती ही है कि 'हम दर्शनकी सहायतासे सत्यका रहस्य समझ सकते हैं और कवि वही है जो ऐसे

स्वप्नोंकी वास्तविकता प्रकट कर सके और जो दृश्यमान जगत्के अन्तरालमें छिपे हुए सत्यको व्यक्त कर सके।' साहित्यमें सामाजिक सिद्धान्त माननेवाले लोग 'साहित्यको वास्तवमें जनताकी संस्कृतिका एक अंग समझते हैं और उसके समीक्षात्मक सिद्धान्तोंकी उपेक्षा करके उसका केवल बाह्य तत्त्व ही स्वीकार करते हैं।'

अतः यह जानना आवश्यक हो गया कि साहित्यकी मूल प्रेरणा-शक्तियाँ कौन-सी हैं और वे किस प्रकार साहित्य-सर्जनके लिये प्रोत्साहन या उत्तेजन देती हैं।

---

# साहित्यकी प्रेरणा-शक्तियाँ

जिन कलाओंका पीछे विवेचन किया जा चुका है उन सबमें सर्वश्रेष्ठ कला वास्तवमें साहित्य ही है। अन्य कलाओंके कलाकर अधिकांश या तो प्राचीन रूढ शैलियोंका अनुकरण करते हैं अथवा किसी अन्य व्यक्तिके निर्देशपर किसी कलाकृतिकी रचना करते हैं। इन दोनों अवस्थाओंमें वे निरन्तर अभ्यासके कारण अपनी सधी हुई उँगलीसे अथवा अपने सधे हुए कंठसे किसी भी समय जैसा चाहे वैसा चित्र या मूर्ति बना सकते हैं या गीत गा सकते हैं। उन कलाकारोंके लिये उनकी उँगलियाँ और उनके कण्ठ सदा सन्नद्ध रहते हैं। किन्तु काव्यकी रचनाके लिये इन बाह्य इन्द्रियोंका संस्कार ही पर्याप्त नहीं है। काव्यकी रचनाके लिये कई प्रकारके ऐसे संस्कार आवश्यक होते हैं जो किसी व्यक्तिको काव्य-रचनाके लिये प्रोत्साहन और प्रेरणा देते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि भाषा, छन्द और शब्द-कोषपर अधिकार प्राप्त करनेसे ही कोई कवि हो जाता है। । उसके लिये तो एक ऐसी प्रेरणा-शक्ति, वृत्ति और प्रवृत्ति आवश्यक है जो उसे अङ्कुश दे-देकर उत्तेजना प्रदान करती रहे। यह प्रेरणा-शक्ति एक है या अनेक, सात्त्विक है या बाह्य, इस विषयपर विश्व-साहित्यमें बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है।

## प्रेरणा-शक्ति ( एलाँ वाइताल )

सन् १६००से १६१४तक फ्रांसीसी साहित्यिक मण्डलके सर्वमान्य नेता तथा प्रसिद्ध दार्शनिक हैनरी बर्गसन ( १८५६ से १६४१ ) ने यह मत प्रतिपादित किया था कि 'स्वयं संसारमें ही एक ऐसी प्रेरणा-शक्ति है जो कविकी कारयित्री प्रतिभाके समान है, जिसे हम केवल स्वान्त:प्रेरणा ( इन्ट्यूशन ) से ही समझ सकते हैं और जो कविको काव्य-रचनाके लिये उत्साहित करती है।' इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बर्गसनने बुद्धिको

कोई महत्त्व नहीं दिया। बुद्धिका महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वह उसे रचनात्मिका अर्थात् रचना करनेकी शक्तिसे समन्वित नहीं मानता। भौतिकवादी कारणवाद (मैटीरियलिस्टिक डिटर्मिनिज़्म) के विरुद्ध जो वर्त्तमान रहस्यवाद (मौडर्न मिस्टसिज़्म) प्रवर्त्तित किया गया उसमें भी बर्गसनके इस मतका प्रभाव स्पष्ट गोचर होता है। मारसेल, प्राउस्ट (१८७३ से १९२२) चार्ल्स पेग्यू (१८७३ से १९१४) और पौल क्लाउदे (१८६८) आदि सभी बर्गसनके इस मतके समर्थक हैं और उन सबका विश्वास है कि 'कविको रचनाके लिये जो प्रेरणा मिलती है वह स्वयं संसारसे मिलती है।'

कल्पना (इमैजिनेशन)

अधिकांश विद्वानोंका मत है कि काव्य-प्रेरणाका आधार 'कल्पना' है। किन्तु 'कल्पना किसे कहते हैं और कल्पना क्या है?' इस विषयमें बड़ा मतभेद है। विभिन्न विद्वानोंने विभिन्न रूपसे कल्पनाकी व्याख्या की है। कुछ लोग कहते हैं कि 'कल्पना एक शक्ति है जो एक या सम्बद्ध दृश्य-बिम्ब उपस्थित करती है।' कुछ कहते हैं कि 'कल्पना ऐसी समर्थता है जो एक ओर तो इन बिम्बोंसे मानव-चरित्र और बाह्य प्रकृतिके आदर्श समन्वय (साहित्य) की सृष्टि करती है और दूसरी ओर किमेरा (सिंहके सिर, सर्पकी पूँछ और बकरेके शरीरवाला भयङ्कर कल्पित जीव) अर्थात् शेखचिल्लीके सपने या हवाई दुर्गकी रचना करती है।' कुछ लोग मानते हैं कि 'कल्पना वास्तवमें कलाकारकी वह सहानुभूति-भावना है जिसे वह पात्र और परिस्थितिमें प्रविष्ट कर देता है।' इसे एक प्रकारका नैतिक सिद्धान्त समझना चाहिए। कुछ लोगोंका विश्वास है कि 'कल्पना वह शक्ति है जो भावात्मक विचारोंके प्रतीक उपस्थित करती है।' कुछ विद्वानोंका कथन है कि 'कल्पना रहस्यात्मक स्वान्तःप्रेरणाकी वह काव्यात्मक समरूपिणी है जिसमें विवेक और इन्द्रियानुभव दोनोंका सम्पर्क नहीं हो पाता।' कुछ लोग इसे 'स्वयं-रचना-शक्ति' ही मानते हुए कहते हैं कि 'मनुष्यमें एक स्वाभाविक मूर्त्तीकरणकी प्रवृत्ति होती है जिसका नाम 'कल्पना' है।' हमारे यहाँ भी नई उद्भावना उत्पन्न करनेवाली मानसिक शक्तिको 'कल्पना' कहा गया है, (कल्पनायाः नवोद्भावनस्य शक्तिः, कल्पनाशक्तिः)। काव्य भी नई उद्भावनाओंसे भरा रहता है और इसी नवीनताके कारण ही साहित्यकी ओर लोगोंका आकर्षण होता है। अतः उन्होंने भी एक प्रकारसे कल्पनाको ही काव्यकी प्रेरणा-शक्ति मान लिया है।

आगे चलकर हम बतावेंगे कि हमारे यहाँ लोगोंने उस प्रेरणा-शक्तिको प्रतिभा माना है जो निरन्तर नई-नई उद्भावनाएँ उत्पन्न करनेमें समर्थ होती है ( नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ) ।

## मानसबिम्ब ( फ़ैन्टेज़िया )

प्लेटोने 'मानस-बिम्ब' ( फैन्टेज़िया ) को 'निम्न कोटिकी आत्माका ऐसा कार्य माना जो प्रायः भ्रामक रूप और धारणाओंकी सृष्टि करता है।' उसने यह कहा कि 'वास्तवमें यह मानस-बिम्ब कविताका नहीं वरन् मिथ्या कथा ( उपन्यास आदि ) और उस प्रेरणाका उद्गम है जो विवेकको विचलित करनेवाले भावोंको जन्म देती हैं।' अपने जिस ग्रन्थमें उसने 'पौराणिक गाथा' ( मिथ ) का विवेचन किया है, उसमें उसने स्वीकार किया है कि 'एक इस प्रकारकी कल्पना-वृत्ति अवश्य होती है जो विवेकको पार करके कुछ रहस्यात्मक दृश्य उपस्थित करती है और यह सम्भव है कि इस रहस्यात्मक दृश्यके द्वारा ईश्वर भी मनुष्यको कोई सन्देश देता हो।' अरस्तूने विशेष रूपसे गोचरता, धारणा, स्मृति और बुद्धिके सम्बन्धमें विचार करते हुए इसकी परिभाषा बताते हुए कहा है कि 'कल्पनामें सबसे बड़ी शक्ति यह होती है कि 'वह विचारकी योजना प्रदान करती है और जबतक वह शक्ति उपस्थित नहीं होती तबतक कोई धारणा नहीं उपस्थित होता।' यद्यपि यह धारणा पहले तो समीक्षासे सम्बद्ध नहीं थी किन्तु लगभग दो सहस्र वर्षतक यही प्रधान प्रभावात्मक विचार रही। प्लेटो और अरस्तू दोनोंने माना था कि 'कल्पना निम्नतर आत्मामें अवस्थित है।' इसी आधारपर स्टोइकों और नव-प्लेटोवादियोंकी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ भी ढली थीं। सम्भवतः लौंगिनसकी कृतियोंपर भी यह स्टोइक प्रभाव ही प्रधानतः व्याप्त रहा और यही मत क्विन्तीलियनका भी था जिसने मानस-बिम्ब ( फ़ैन्टेज़िया ) को वासनाके साथ सम्बद्ध करके उसे शक्ति ( इनर्जी या स्पष्ट-दृश्यता ) का उद्गम मानकर बताया कि 'मानस-बिम्बके आधारपर इस प्रकार दृश्य उपस्थित किया जा सकता है मानो आँखके सामने हो रहा हो।' यही बात ड्राइडन आदिने भी कही है। इसीके समर्थक कुछ और भी नवप्लेटोवादी थे जिन्होंने इसे निम्नतर शक्ति मानते हुए भी अपने द्वैतवादी मनोविज्ञानमें उच्चतर मानसबिम्ब ( फ़ैन्टेसी ) का प्रयोग किया और

प्लेटोके 'तीमियस'की व्याख्या करते हुए रहस्यात्मक दृष्टिकोणसे विचार करनेका मार्ग भी खोल दिया। लातिनके पिछले युगमें (फ़ैन्टेज़िया) के समानार्थी या पर्यायके रूपमें 'इमैजिनेशियो' शब्दका प्रयोग हुआ और सम्पूर्ण मध्य युगतक ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते रहे। आगे चलकर कल्पनाका अर्थ 'केवल ज्योंका त्यों सरल रूपसे बिम्बको प्रस्थापित कर देना' हुआ और 'फ़ैन्टेसी' का अर्थ हुआ 'मानस-बिम्बोंका संयोजन या उत्पादन करना।' यही अन्तर आगे चलकर विवे, ड्राइडन और जीन पौल रिख्टरने भी माना।

मध्यकालके अत्यन्त प्रभावशाली अरस्तूवादने मनोविज्ञानका विश्लेषण करते हुए कहा कि 'मस्तिष्कके तीन भागोंमेंसे सबसे अगले भागमें तो कल्पना विराजमान रहती है और शेष दो भागोंमें विवेक और स्मृति।' उसने विस्तारके साथ बताया है कि 'किस प्रकार सजाने, इकट्ठा करने, पुनः स्मरण करने और मिश्रण करनेके लिये बुद्धि अपनी सामग्री कल्पनाको दे देती है और फिर कल्पना इस सामग्रीको लेकर विवेकको दे देती है कि वह उससे विचार या सिद्धान्त निश्चय करे।' औगस्टाइन, बोनावेन्तुरा और विक्टोरिया-कालीन लेखकोंने एक पराप्रज्ञात्मक (सुप्रासैन्सिबिल) कल्पना मानकर एक रहस्यात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसपर दाँतेने अपने 'सौन्दर्यवाद'में विचार करते हुए कहा कि 'इसी परम कल्पनाके सहारे ही मुझे वह काव्य-शक्ति मिली जिसके द्वारा मैंने दृश्योंके दर्शन भी किए और उनकी अभिव्यक्ति भी की और जब यह परम कल्पना समाप्त हो गई तब कविता भी समाप्त हो गई।' सन् १८०० से पूर्व 'काव्य-कल्पना'का यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विवरण है।

पुनर्जागरण-कालका जो मनोविज्ञान मध्यकालसे विगलित हुआ था, उसने कल्पनाको बड़ा अविश्वस्त बताया और कहा कि 'वह विवेकद्वारा भावित होनी ही चाहिए।' इस अविश्वासको बल देनेवाले और भी अनेक कारण निकल आए। पैरेसेल्सस आदि लेखकोंने 'कल्पनामें ऐसी जादूकी शक्ति बताई जिसकी सहायतासे दानवी शक्तियाँ व्यक्तियोंपर शासन करती हैं।' दानववादने इस प्रभावकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'किसी एक व्यक्तिकी कल्पना किसी दूसरेपर प्रभाव डाल सकती है।' पिचो देला

मिरान्दोला, फ्येन्स और मौन्तेन आदिने 'कल्पना'पर जो विचार किए हैं उन सबमें इसी व्यापक आशंकाका सङ्केत भरा पड़ा है ।

कल्पनाके सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें कोई सम्बद्ध सामग्री प्राप्त नहीं है । मेज़ोनीने 'कौमीदिया'का समर्थन करते हुए कहा था कि 'यह कल्पनापर आश्रित स्वप्न है ।' सम्भवतः तासो और सिडनीपर भी इसी विचारका प्रभाव पड़ा था । फ्राकास्तोरोने प्रतिसर्जन करनेवाली भावना और कल्पनाको अलग-अलग बताते हुए कहा कि 'ये दोनों मिलकर शिल्पकार, सङ्गीतज्ञ और गणितज्ञ तो बना सकती हैं किन्तु कवि नहीं बना सकतीं ।' रौन्सार्ड, पुट्टेनहम और सिडनीने कल्पनात्मक ( इमैजिनेटिव ) और सनक-भरे ( फ़ैन्टेस्टिकल ) के बीच भेद समझाते हुए कहा कि 'काव्य-कल्पनामें अन्वेषणकी शक्ति होती है ।' हुआर्त्ते (१५७५) ने कहा कि 'कविकी विशेषता यह होती है कि उसमें कल्पना होती है ।' किन्तु हुआर्त्ते और उसके सभी दलवालोंने मिलकर 'अनुभवात्मक मनोविज्ञान'की सीमामें ही कार्य किया । बेकन इसका प्रमाण है जिसने यह कहा कि 'कविकी कल्पना स्वतन्त्रतापूर्वक उन वस्तुओंके साथ जाकर मिल सकती है जिन्हें प्रकृतिने काटकर अलग कर दिया है' और इस प्रकार उसने यह सिद्ध किया है कि 'गोचर सामग्रीसे आदर्श सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है ।'

सत्रहवीं शताब्दिमें कल्पनाकी यह रचनात्मिका वृत्ति दर्शन-शास्त्रियोंको अमान्य हो गई । देकार्त, गासेंदी और मालेब्रान्श्लेने बताया कि 'कल्पनाका संसर्ग बड़ा भयानक होता है और वह पूर्ण रूपसे विवेकताहीन होती है ।' हौब्सने अपने भौतिकवादी मनोविज्ञानमें इसे 'ह्रासोन्मुख भावना' ( डिकेइङ्ग सेन्स ) कहा है और बताया है कि 'मेरी समीक्षा-वृत्तिमें कल्पना केवल सजानेका काम करती है ।' उसका यह मत द्रवेनान्त, कौले आदि सभीने इस प्रकार स्वीकार किया कि—'विवेक तो काव्य-सामर्थ्य और रूप उत्पन्न करता है तथा कल्पना काव्यके लिये अलंकार उत्पन्न करती है ।' नवोदात्तवादी रूपवादियोंने फ्रान्स और इँग्लैंड दोनोंमें बुद्धिका यह प्राधान्य स्वीकार कर लिया था । कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जो मानते थे कि 'विवेक वास्तवमें कल्पनाका ठीक उलटा है ।' कभी-कभी वाग्वैदग्ध्य ( विट् ) या तुरत-बुद्धिको भी लोग कल्पनाका पर्याय मानते हैं जिसमें वे यह शक्ति मानते हैं कि 'वह

तत्काल समानता और भेदका ज्ञान कर लेती है।' यदि इसका तात्पर्य यह है कि हम अप्रत्यक्ष रूपसे कल्पनामें विवेक गुणका भी आरोप करें तो हम उसे उस 'वासना'से भिन्न कर देंगे जो पीछेके स्वैरवादी दृष्टिकोणमें आवश्यक समझा जाता रहा। ड्राइडन, रापिन और राइमरकी दृष्टिसे उपन्यासको सत्यतुल्य होना चाहिए। विवेक ही इसका प्रधान निर्णायक है—'कल्पना और विवेकको साथ-साथ चलना चाहिए। कल्पना कभी भी विवेकको पीछे छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकती।' ड्राइडनने तो अपने बहुतसे सहयोगियोंसे और हौब्ससे भी आगे बढ़कर कहा कि 'कथावस्तु और चरित्रके पश्चात् काव्यकी रचना ही वास्तवमें कविका मुख्य काम है क्योंकि उसीमें कल्पनाके प्रसारके लिये सबसे अधिक क्षेत्र होता है। यद्यपि काव्यमें भी विवेक आवश्यक है किन्तु उसमें सजीवता तो केवल कल्पना ही लाती है।' उस युगके प्रधान कवि और समीक्षावादी मिल्टन, ब्वालो, कौर्नी, बूहू, मालहर्बेने जो कल्पनाके सम्बन्धमें विचार किया है वह बहुत साधारण है।

ड्राइडनने कल्पनाकी जो व्याख्या की वह अगली शताब्दितक चलती रही। उसमें यह माना जाता रहा कि 'कविकी कल्पना स्वतन्त्र चलनी चाहिए और विवेक तथा अनुभूतिवादके दार्शनिक पक्षसे तनिक भी प्रभावित नहीं होनी चाहिए।' लौकसे लेकर ह्यूम, हल्वेतियस और कौन्दीलाकतकके लोगोंने कोई नई बात नहीं कही। ऐडीसनने 'कल्पनाके आनन्द' (प्लेज़र्स औफ़ दि इमेज़िनेशन, १७१२) शीर्षक अपने लेखोंमें 'दृष्टिसे गोचर होनेवाले बिम्बों'को ही 'कल्पना' कहा और काव्यात्मक प्रक्रियाकी उपेक्षा करके उसने लोगोंका ध्यान 'रुचिकी समस्या' अर्थात् उस आनन्दकी ओर घुमा दिया था जो हम प्रकृति और ललित कलाके बिम्बग्रहणसे प्राप्त करते हैं। उसने बिम्बग्रहण (इमेजरी) पर प्रयुक्त होनेवाले नवीन सम्पर्कात्मक मनोविज्ञान (एसोसिएशनल साइकोलौज़ी) की ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया और उस युगमें 'रुचि'के सम्बन्धमें जितने विवाद उठे उन सबमें उसने इन शब्दोंका प्रचलन किया। इतालवी समीक्षावादियोंने इस सम्बन्धमें अधिक सामग्री प्रस्तुत की। उन्होंने फ्रान्सीसी नवोदात्त-वादियोंके विरोधसे प्रभावित होकर काव्यके लिये सत्यता और शुद्धताके अतिरिक्त समीक्षणका केन्द्र ढूँढना प्रारम्भ किया। एल्० ए० मुरातोरी

और आन्तोनियो कोन्तीने 'फ़ैन्टेज़िया' और 'फ़ैन्टेज़्मी' पर विस्तारसे विचार किया। यद्यपि वे भी मानते थे कि प्रमुख शासक शक्ति बुद्धि ही है फिर भी उन्होंने बुद्धि और कल्पनाके पारस्परिक सम्बन्धकी खोज की। स्विट्ज़रलैण्डके सौन्दर्यतावादी बौडमेअर और ब्राइटिन्गेर दोनों ही कल्पना (फ़ैन्टेसी) और रूपकको परस्पर सम्बद्ध मानते थे। लियोनार्ड वेल्स्टेडने कहा है कि 'कल्पना तो विवेकका उतना ही अङ्ग है जितना स्मृति या निर्णय है या कहना चाहिए कि वह उससे और भी अधिक प्रकाशमान उन्मेषण है।'

जिन लोगोंने कलाके परीक्षणके लिये 'नियमों'का विरोध किया, उन्होंने विवेकको काव्य-निर्णयकी कसौटी बनानेका भी विरोध किया। वौर्टन, हर्ड, ह्यूज़ आदिने पोपकी महत्ता न स्वीकार करके स्पेन्सर और मिल्टनको महान् बताते हुए रचनात्मक और दीप्तिमान कल्पनाको ही अपना आधार बनाया। टौमस वौर्टनको 'फ़ेयरी क्वीन'में वहाँ लालित्य मिला जहाँ रचनात्मक कल्पनाकी शक्ति और उसकी वृत्तियाँ रमती हैं क्योंकि वहाँ वे सज्ञान विवेकसे प्रभावित नहीं हैं। हर्डने कहा कि 'समीक्ष्यवादीमें अत्यन्त पुष्ट कल्पना होनी चाहिए जिससे कि वह लेखककी श्रेष्ठताओंकी पूर्ण शक्तिका अनुभव कर सके।'

अत्यन्त कल्पनाशील स्वैरवादी कवियों और समीक्ष्यवादियोंने काव्य-कल्पनाका आध्यात्मिक अर्थ लगाया और इसका आरोप उन्होंने उस रहस्यवादमें भी किया जिसे लोग कल्पनामें स्वतःप्रेरणाकी सूक्ष्म वृत्तिकी शक्ति मानते थे। उसीके साथ कान्ट और शेलिङ्गकी समीक्षात्मक दर्शन-वृत्तिपर भी इसका आरोप किया गया। यहाँ 'आइनबिल्डुन्गसक्राफ़्ट'के अनुसार 'मस्तिष्क एक ऐसा सक्रिय साधन बताया गया, जो केवल निष्क्रिय भावोंका ग्राहकमात्र ही नहीं है वरन् जो बाह्य प्रकृतिपर भी अपना महत्त्व और एकत्व अङ्कित कर दे।' ब्लेकने इस 'स्वान्तःप्रेरणा'की प्रक्रियाका रहस्यात्मक उत्तर देते हुए कहा था कि 'ज्ञानेन्द्रिय तथा विवेकके बिना ही यह स्वान्तःप्रेरणा हमें शाश्वत सत्यका ज्ञान करा देती है।' इस प्रकार कल्पना भी एक 'आध्यात्मिक सम्प्रज्ञान', 'मनुष्यका शाश्वत शरीर' तथा 'वह वास्तविक और शाश्वत विश्व' मान लिया गया 'जिसकी अत्यन्त सूक्ष्म छाया यह वनस्पति-संसार है।' ये लोग अनुभवात्मक मनोविज्ञानके क्षेत्रको अस्तित्वहीन मानते हैं और विवेकको एक प्रकारका प्रेत और अनस्तित्व समझते हैं।

कौलरिज एक ओर रहस्यात्मक धर्म-विज्ञान और दूसरी ओर जर्मन-दर्शनसे प्रभावित हुआ था। उसने कहा है कि 'अहमस्मिके अनन्तमें रहनेवाली शाश्वत 'रचना-क्रियाकी शान्त मानसमें जो आवृत्ति होती है वही कल्पना है।' इसी प्रसङ्गमें उसने कहा है कि 'उस शाश्वत आत्माका अस्तित्व ही उस सृष्टिमें है जिसमें विषय और विषयी एक हो जाते हैं। कल्पना तो केवल मनुष्यको इस योग्य बनाती है कि वह इस रचनात्मिका क्रियाको दृश्य रूपोंमें प्रस्तुत करे।' वर्ड्सवर्थने भी इस मूल कल्पनाका सम्बन्ध उस वासनासे बताया है जो कभी-कभी बौद्धिक प्रेमका ही दूसरा रूप बन जाती है। वह प्रकृतिके रहस्यात्मक अस्तित्वको नहीं मानता था इसलिये उसने उस बहुदेववादको स्वीकार किया जिसके आधारपर मनुष्य कल्पनाके सहारे प्रकृतिको उसके मौलिक रूपसे भिन्न दूसरे रूपमें अभिव्यक्त समझता है। ब्लेक, कौलरिज और वर्ड्सवर्थ तीनों कल्पनाके आध्यात्मिक पक्षके तीन रूप प्रस्तुत करते हैं। जीन पौल रिख्टर और शिलरके मत भी इससे मिलते-जुलते थे। शैलीने 'कल्पनाको एक संश्लेषणात्मक सामर्थ्य' बताते हुए उन्हींको कवि माना है 'जो इस अच्छेद्य क्रमकी कल्पना और अभिव्यक्ति करते हैं।' वह कल्पनाको 'नैतिक शक्ति' मानता था। हैज़लिट, लैम्ब, हंट और कीट्सने इस आध्यात्मिक विवादमें कोई भाग नहीं लिया किन्तु पीछे चलकर इमर्सन अवश्य इस ओर प्रवृत्त हुआ।

इससे भी अधिक विस्तारसे उस विषयपर विचार हुआ जिसे कौलरिजने 'द्वितीय कल्पना' कहा है, जो कल्पनासे उद्भूत या कौलरिजके अनुसार 'मूल कल्पनाकी प्रतिध्वनि' अर्थात् 'वह ठेठ काव्यात्मक कल्पना है जो जान-बूझकर किसी ओर प्रवृत्त की गई हो।' जिन सामग्रियोंको वर्ड्सवर्थने लचीला, ढालने योग्य, लुजलुजा और अनिश्चित बताया है उन्हें लेकर यह द्वितीय कल्पना घोलती है, फैलाती है और उनसे पुनः रचना करनेके लिये उनका विस्तार करती है। कौलरिज और वर्ड्सवर्थने इस प्रक्रियाको समझानेके लिये कई शब्दोंका प्रयोग किया है जैसे—एक करना ( यूनिफ़ाई ), भावरूप देना (एब्स्ट्रैक्ट), सुधारना (मौडिफ़ाई),एकत्र करना (ऐग्रीगेट), सम्बद्ध करना (एसोशिएट), जागरित करना (इवोक) और मिलाना(कम्बाइन)। ले हन्ट, हैज़लिट और रस्किन आदिने भी यद्यपि इस शब्दावलीमें योग दिया किन्तु फिर भी इसका रूप स्पष्ट नहीं हो पाया क्योंकि इनके अधिकांश उदाहरण

कल्पनात्मक रूपकोंसे दिए गए थे। इस रूपमें ये लोग अठारहवीं शताब्दिकी कृत्रिम लाक्षणिक भाषाके विरुद्ध प्रतिक्रिया कर रहे थे और अपनी ओरसे अपनी उन काव्यात्मक प्रक्रियाओंका वर्णन कर रहे थे जिनका वे अभ्यास करते या जिन्हें समझते थे। उन्होंने यह भावना दूर कर दी कि 'कोई भी अलङ्कार किसी विचारका आवरण है' और यह बताया कि 'कल्पनात्मक रूपक स्वयं काव्य और विचार हैं।' उन्होंने पाठकोंको सावधान किया कि 'जिस काव्यात्मक भाषाके द्वारा हम समानता और भेदका सम्प्रेषण करते हैं, वह कोई साधारण शक्ति नहीं है, उसमें कविका सम्पूर्ण आत्मा समाया रहता है। इस प्रकार कविता उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओंकी जटिलताका परिणाम है जिसे हम कल्पना कहते हैं।'

इस शास्त्रार्थसे कल्पना और भावना (इमैजिनेशन ऐंड फैंसी) का भेद खड़ा हो गया। कुछ लोग 'भावना' शब्दको ही ठीक मानकर कहते थे कि 'इसके अन्तर्गत वे बिम्ब भी आते हैं जो कल्पनाद्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं।' ड्राइडनने अपने ग्रन्थमें यह भेद माना है। जीन पौलने फ़ैन्टेसीको ठीक समझा है। किन्तु भावना (फ़ैन्टेसी) के अन्तर्गत रहस्यात्मक (फ़ैन्टिस्टेकल), भावना (फ़ैंसी) तथा विचारशीलता (फ़ैंसीफुल) की बात भी आती थी, अट्ठारहवीं शताब्दिमें पर्यायोंको अलग करनेकी यह प्रक्रिया चलने लगी और यह कहा गया कि 'ये सब वास्तवमें एक ही शक्तिके नाम हैं किन्तु कल्पनाका प्रयोग गम्भीरके लिये किया जाता है और भावना आदिका प्रयोग उसके निम्नतर प्रयोगोंके लिये।' वर्ड्सवर्थ और कौलरिजने इसकी व्याख्या भिन्न उद्देश्योंसे की। वर्ड्सवर्थने अपनी उपमा-भरी कविताको अत्यन्त शिथिल बताते हुए कहा था कि 'वे कल्पना-भरी कविताकी तुलनामें हल्की, परिमित और क्षुद्र हैं।' कौलरिजने अपने सूक्ष्म कल्पनात्मक विचारके समर्थनके लिये कहा था कि 'हर्टलके सामञ्जस्यवादका कवितापर आरोप कर लेना चाहिए' और अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे परिभाषा करनेके लिये कहा था कि 'ये दोनों दो भिन्न तथा एक दूसरेसे पृथक् शक्तियाँ हैं।' वर्ड्सवर्थने कहा था कि 'यह भेद केवल परिमाणका है। ले हन्टने मानस बिम्ब (फैंसी) को गम्भीरतासे कुछ कम बताया था। रस्किन, लौवेल और इमर्सनने इस विवादको बड़ी शक्ति दी और आज तो इसका साहित्य बहुत बढ़ रहा है।

विक्टोरिया-कालीन लेखकोंने आलोचनापर सामाजिक और नैतिक बल देकर समीक्षात्मक दर्शनके ह्रास होनेके कारण कल्पनापर विचार ही नहीं किया। उस समय अनुभववादी मनोविज्ञान ( एम्पिरिकल साइकोलौजी ) की धूम थी और सौ वर्ष पहले डुगल्ड स्टीवर्ट और रीडने कल्पनापर जो विवरण दिए थे उन्हींका प्रभाव चल रहा था।

आजकल स्वैरवादी कवियोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा-पढ़ा जा रहा है उसमें फिरसे क्रान्तिवादी सिद्धान्तकी खोज की जा रही है। इधर साहित्यकी वर्त्तमानकालीन भूमिकाओंमें कुछ अनुभूतिवादी मनोविज्ञानका आधार लिया जा रहा है। उधर फ्रौयडके मनोविज्ञानसे भी काव्य-कल्पनाका सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है। कुछ लोग यह कह रहे हैं कि 'जो प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है वह सब क्षेत्रोंमें समान रूपसे रचना कर सकता है क्योंकि उसमें रचनात्मक कल्पना ( क्रिएटिव इमेजिनेशन ) होती है।' आजकल इस विषयपर जो शास्त्रार्थ चल रहा है वह शेरवुड एन्डरसनके उस विवेचनसे प्रारम्भ होकर जो उसने वास्तविक अनुभूतिकी परिस्थितियोंसे सम्बद्ध चरित्रोंके सम्बन्धमें किया है, क्रोचेके 'सौन्दर्यवाद' ( ऐस्थैटिक, १९०२) तक व्याप्त है जिसमें कल्पना ( स्वान्त: प्रेरणा ) को बुद्धिका प्रतिद्वन्द्वी बताया गया है और जिसके विरुद्ध एलेनने अपने प्रोपोसमें भयङ्कर विरोध करते हुए कहा है कि 'केवल रचनामें ही वास्तविकता होती है और क्रोचेकी 'कल्पना' जबतक 'कल्पना' है तबतक वह वन्ध्या है।' इ० डी० फौसेटने अपने जर्मन अध्यात्म-विज्ञानमें कल्पनाको और भी बहुतसे काम सौंप दिए हैं और कहा है कि 'कल्पनाकी शक्तियाँ अत्यन्त विस्तृत और उदार हैं, उसका क्षेत्र अपरिमित है और जितना कार्य अभीतक उससे लिया गया है उससे भी अधिक कार्य करनेका उसमें सामर्थ्य है।'

## व्यामोह, आकस्मिक धारणा या धुन ( फ्रैन्सी )

ऊपर बताया जा चुका है कि लातिन-साहित्यमें पीछे चलकर 'इमैजिनेशियो' शब्द यूनानी शब्द 'फ्रैन्टेज़िया'का पर्यायवाची हो गया और मध्ययुगतक इसी अर्थमें चलता रहा। अन्तर इतना ही रहा कि कभी-कभी इस 'बिम्बसे नया सम्पर्क स्थापित करनेकी शक्ति' (फैन्टेज़िया) को लोग प्रतिजननशील कल्पनासे भिन्न समझने लगे। पुनर्जागरण कालमें व्यामोह ( फ्रैन्सी ) का सम्बन्ध

प्राय: प्रेमकी दशा, भूत या प्रेतसे आविष्टकी दशा या विक्षिप्त, भ्रान्त तथा उन्मत्तकी मन:स्थितिसे जोड़ दिया गया और तभीसे लोगोंने मानसिक बिम्ब ( फ़ैन्टेसी ) तथा आकस्मिक सनक या व्यामोह ( फ़ैन्टेस्टिकैलिटी ) में भेद कर दिया। आगे चलकर इस व्यामोह ( फ़ैन्सी ) शब्दका अर्थ हो गया अन्वेषण या नई खोज करना और सत्रहवीं शताब्दिमें यह ऐसे वाग्वैग्ध्य या तुरत-बुद्धि (विट्) का भी पर्याय समझा जाने लगा जिसके लिये विवेक अपेक्षित होता था। अठारहवीं शताब्दिमें इस शब्दका प्रयोग कल्पनाके सरल रूपके लिये भी होने लगा और यही भेद स्वैरवादी समीक्ष्यवादियोंने भी स्वीकार कर लिया। जबतक यह भेद और अधिक स्पष्ट नहीं हो जाता तबतक इस आकस्मिक धारणाको लातिन इमेजिनेशियो या कल्पना ही समझना चाहिए और उसे साहित्य-सर्जनकी प्रेरणा मान लेना चाहिए क्योंकि वास्तवमें हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं अथवा जो भावना सहसा हमारे मस्तिष्कमें कौंध जाती है वह भी आकस्मिक धारणा ही तो होती है इसीलिये इस आकस्मिक धारणा या धुन ( फ़ैन्सी ) को भी लोग साहित्यका कारण मानते हैं।

### कल्पना-बिम्ब या मानस-चित्र ( इमेजरी )

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'प्रत्येक मनुष्यके मनमें कुछ मानसचित्र या काल्पनिक बिम्ब ( इमेजरी ) उद्भूत होते हैं।' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि 'किसी भी वस्तुको अपनी किसी इन्द्रियके द्वारा अनुभव करनेसे हमपर जो प्रभाव पड़ता है और उससे जिस प्रकारकी मानस अभिव्यक्ति होती है वही बिम्ब कहलाता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि वह हमारे हृदयपर पड़े प्रभावको अत्यन्त निश्चित कर दे और मनको मूल विचारके पास ले जाकर पहुँचा दे।' एफ्० ई० स्पर्जियन तथा उसके अनुयायियों, माननीय वाल्टर ह्विटर ( सत्रहवीं शताब्दि ) तथा कुमारी कैरोलाइनने इन मानस चित्रों या कल्पना-बिम्बोंको इतना महत्त्व दिया कि वे किसी साहित्यिक रचनाकी व्याख्या करने, किसी ग्रन्थके मूल लेखकका परिज्ञान करने तथा उसकी प्रकृतिका अध्ययन करनेके लिये उन अप्रस्तुत विधानों या कल्पना-बिम्बोंका अध्ययन करते हैं जिन्हें कवि अपनी रचनामें प्रस्तुत करता है। आर० टूवेने बताया है कि 'ये बिम्ब दो प्रकारके होते हैं—धारणात्मक और दृश्यात्मक। धारणात्मक तो वे होते हैं जो हमारे मनमें केवल कल्पनासे आते हैं ( जैसे रेडियोपर किसीका गीत सुनकर हम बैठे-बैठे अपने मनमें उसका एक काल्पनिक

रूप बना लेते हैं। ) बिम्ब और दृश्यात्मक बिम्ब वह है जो हम प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुके आधारपर बनाते हैं', जैसे किसीका मुख देखकर तत्काल कमल या चन्द्रका मानसबिम्ब प्रस्तुत कर लेना। किन्तु इस प्रकार किसी रचनाका अध्ययन इसलिये मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि कविने अपने जीवनमें कभी कमल देखा ही न हो और केवल सुनी-सुनाईके आधारपर उसका प्रयोग कर दिया हो। काव्यमें कल्पवृक्ष, आकाश-गङ्गा, स्वर्ग और नरक आदिके ऐसे अनेक विवरण प्रस्तुत किए जाते हैं जिनके सम्बन्धका कल्पनाबिम्ब निराधार और रूढि-सिद्ध ही होता है। अतः कल्पना-बिम्बको काव्यका प्रेरणा-कारण मानना पूर्णतः असङ्गत है।

### काव्य-चातुर्य ( सावे )

कुछ लोगोंका मत है कि 'कविमें एक प्रकारका काव्य-चातुर्य ( सावे ) होता है जिसके कारण वह रचना कर पाता है।' 'सावे' शब्द फ्रान्समें पहले तो बुद्धिके लिये और पीछे चलकर काव्य-कौशलके लिये प्रयुक्त होने लगा। चौदहवीं शताब्दिमें प्रौवेन्सकी भाषा ( लान्ग्वे द औक ) में कवि लोग अपनी स्वामिनी भद्र महिलाको सम्बोधित करके प्रेम और वीरताके गीत बनाकर गाया करते थे। इन कविताओंके लिये जो नियम बनाए गए उन्हें 'गाय सायन्सा' कहा गया। इन्हींसे स्पेन और कातालोनियाकी कविता भी प्रभावित हुई जहाँ ये शब्द अभीतक चलते हैं। उनका कहना है कि 'यह एक प्रकारका उल्लास-विज्ञान' ( दि गे सायन्स ) है और इसीके सहारे कवि सुन्दर भावनाएँ ग्रहण करता और काव्यकी रचना करता है।'

### काव्योन्माद ( फ्रैन्ज़ी )

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'कविमें काव्यका सीधा स्फुरण भी होता है और वह अत्यन्त प्रबल सनक या काव्योन्मादका रूप धारण कर लेता है। उस अवस्थामें उसके मनमें इतने प्रकारके अनेक भाव एकत्र हो जाते हैं कि वह पागल हो जाता है और इस प्रकार आचरण करता है मानो उसका संसारसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध न हो। जैसे जादू-टोना करनेवाले बहुतसे लोग आविष्ट होने पर ही किसी प्रकारकी भविष्यवाणी या सत्योद्घाटन करते हैं वैसे ही कवि भी जब साधारण मानव-जीवनसे हटकर किसी एक विशेष भावसे आविष्ट होकर उसीमें उन्मत्त हो जाता है

तभी वह काव्यकी रचना कर सकता है।' किन्तु यह मत भी मान्य नहीं है क्योंकि किसी भी कविके जीवनमें ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब वह इस प्रकारकी सनक या भावावेशसे आविष्ट हो सकता हो। यह आवेश या तो उस समय आता है जब मनुष्य किसी प्रेयसी या प्रेमीको प्राप्त करनेके लिये छटपटाता है अथवा किसी आकस्मिक दुःख, विपत्ति या व्यथाके कारण उद्विग्न हो जाता है। कुछ कवियोंके सम्बन्धमें यह सुना अवश्य गया है कि 'जब उनके मस्तिष्कमें कोई एक विषय ( मज़मून ) आता है तब उन्हें एक प्रकारका उन्माद या जुनून होता है, इसीलिये फ़ारसीमें 'जुनूने-शायरी' ( काव्योन्माद ) की चर्चा की गई है। फ़ारसके कुछ सूफ़ी आचार्योंने, माना है कि 'जबतक इस जुनूनमें समाधि (हाल) की अवस्था प्राप्त नहीं होती तबतक सत्यप्रेम ( इश्क़ हक़ीक़ी ) तथा काव्यका सच्चा स्फुरण ही नहीं होता।' किन्तु यह समाधि-स्थिति वहाँ ही होती है जहाँ कवि अपने वर्ण्य विषयके साथ सात्त्विक तन्मयता प्राप्त कर लेता है। जहाँ कवि द्रष्टाके रूपमें भावक होकर वस्तुका वर्णन करता है, वहाँ यदि काव्योन्माद होगा तो निश्चित रूपसे वह पक्षपातपूर्ण तथा अतिरंजित भावाभिव्यक्ति-मात्र होगी, शुद्ध काव्य नहीं। इसीलिये अभिनवभरतने स्पष्ट कह दिया है कि 'काव्य दो प्रकारसे जन्म लेता है, एक सायास होकर और एक अनायास,' जिसकी व्याख्या इस अध्यायके अन्तमें प्रतिभाके साथ की जायगी।

### मिथ्या कल्पना ( फ़ैन्टेसी )

वर्त्तमान साहित्य-समीक्षा और व्यवहारमें मिथ्या कल्पना ( फ़ैन्टेसी ) का जो अर्थ लगाया गया है उसका 'फैन्टेसी' शब्दकी निरुक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्यके सब प्रकारोंमें यह माना गया है कि 'कविको सम्भवके बदले विश्वसनीय वस्तु प्रस्तुत करनी चाहिए', किन्तु 'फ़ैन्टेसी'में यह बात मान्य नहीं है। अरस्तूका 'विश्वसनीय असम्भव' भी इसी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है, क्योंकि 'फ़ैन्टेसी'के अनुसार क्रिया, चरित्र या परिस्थिति आदिमें वे बातें आती है जो साधारण परिस्थितियोंमें या मानवीय घटनाओंके साधारण प्रवाहमें असम्भव समझी जाती हैं। साहित्यके किसी भी प्रकारमें अविश्वासका जान-बूझकर त्याग इतना आवश्यक नहीं है जितना इसमें। इसमें भौतिक विज्ञानके सब नियम-बन्धन टूट जाते हैं। 'कोई भी कृतज्ञ

प्रेत जो प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया हो वह मैड्रिडके भवनोंकी छतें उठा लेता है और अपने मुक्तिदाताको उन भवनोंके भीतरके परिचित दृश्य दिखा देता है। इसी प्रकार जादूके द्वारा सारा पेरिस नगर सुला दिया जाता है और केवल थोड़ेसे गिने-चुने विशिष्ट व्यक्ति निकलकर काम करते हैं। इसी धुनमें कोई भौतिक विज्ञानी ऐसा यन्त्र निकालता है जो पदार्थका महत्त्व नष्ट करके अध्यात्मको मुक्ति देता है किन्तु साथ-साथ समाजको भी विध्वस्त कर देता है। इसी धारामें समयके बन्धन भी समाप्त हो जाते हैं, जिससे रिप वान विङ्किल बीस वर्षकी निद्रा लेकर घर लौटता है, ययातिके समान बुड्ढा दलाल जवान होकर गिनीवेयर तथा झीलकी रानी (लेडी ऑफ़ दि लेक) को प्राप्त कर लेता है और अपनी पत्नीसे मिलनेके पूर्व स्वर्ग और नरकका भी दर्शन कर आता है।

इसी प्रकार अन्य जीवों तथा मानव-जीवनका भेद समाप्त हो जाता है। मेढक मनुष्योंसे बातचीत करते हैं। चिड़िएँ दुर्ग बनाती हैं। एक विद्वान् गधा बन जाता है। जङ्गलके जानवर मनुष्यके बच्चेको बुद्धि सिखाते हैं।

इसी झोंकमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृति भी विच्छिन्न हो जाती है। दैव-दुर्विपाकसे प्रेरित माता अपने पुत्रको ही फाड़ खाती है। इसी मनकी उड़ानमें कल्पित जीव वर्त्तमान संसारके सब विधानोंको उलट-पलट देते हैं जिससे राक्षस गरगन्तुवा एक नियम बनाकर ऐबे ऑफ़ थैलमीमें प्रसन्नता ही प्रसन्नता फैला देता है, आदि।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकारकी सभी मिथ्या बातोंसे भरी हुई कृति ही 'फ़ैन्टेसी' कहला सकती है। उसमें ऐसी ऐतिहासिक घटनाओंका भी वर्णन हो सकता है जो आजकी दृष्टिसे सम्भव या परिचित हों। किन्तु यदि उसमें सब घटनाएँ वास्तविक किन्तु अलौकिक हों तब वह फ़ैन्टेस्टिक नहीं हो सकती। यदि उसमें ऐसे धार्मिक विश्वास हों जो उसकी रचनाके समय माने जाते रहे हों या ऐसी अवस्थाओंका वर्णन हो जो रहस्यमयी तो हों किन्तु असाधारण मनोविज्ञानके अनुसार सिद्ध हो सकती हों तब वह फ़ैन्टेसी नहीं है। केवल वही विषय फ़ैन्टेसी कहला सकता है जिसे कविने शुद्ध काल्पनिक रूपमें बनाया और माना हो और उसे बुद्धिमान सयाने पाठक भी शुद्ध काल्पनिक मानते हों। एक बार जहाँ कविकी कल्पनाने उड़ान भरी तो उस कल्पनाका अन्तिम छोर उसी कल्पित

संसारका होना चाहिए जिससे कि पाठक एक समय एक ही जादूकी दरीपर चढ़कर सैर कर सके।

प्राचीन कृतियोंमें भी प्रायः सब देशोंमें इस प्रकारकी फ़ैन्टेसीका यथावसर प्रयोग होता रहा है जैसे—शेक्सपियरके 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' और 'टेम्पेस्ट'में या रामायणमें मारीचका स्वर्णमृग बनना आदि। राबैले और स्विफ्टने सामाजिक बुराइयों तथा बौद्धिक असम्बद्धताओंपर व्यंग्य कसनेके लिये भी इसका प्रयोग किया था। इनमेंसे कुछ कल्पनाएँ भयानक, रोमाञ्चकारी भी हो सकती हैं, जिनका प्रयोग वर्त्तमान लेखक ओछे व्यंग्य या केवल कुतूहलके लिये कर लेते हैं। इनमेंसे प्रायः बहुतसी फ़ैन्टेसी तो पलायनवादी प्रकृतिकी होती हैं। ऐसी घटनाएँ इस व्यवसाय-व्यस्त और नीरस संसारसे ऊबे हुओंको एक प्रकारका विश्राम देती हैं। कभी-कभी नियमबद्ध समाजसे त्रस्त व्यक्तिके मानसिक विक्षोभ या तनावको ढीला करनेमें भी ये सहायक होती हैं और बच्चोंके लिये, जिन्हें अविश्वास दूर रखना श्वासके समान स्वाभाविक है, तो ये आनन्द-प्रद हैं ही।

चलचित्रोंमें इस फ़ैन्टेसीने एक नया और अत्यन्त सफल क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया है, जो काल और स्थानकी सब अवधिका उल्लंघन कर गया है। चित्रकलाके क्षेत्रमें तथ्यातिरेकवादी ( सररियलिस्ट ) यह मान रहे हैं कि 'साहित्यिक फ़ैन्टेसीने हमारे प्रयोगोंके लिये उदाहरण उपस्थित किए हैं, यद्यपि हमारा उद्देश्य सत्य है।' शुद्ध विनोदके क्षेत्रमें 'फ़ैन्टेसी' सबसे अधिक मनोरञ्जक है। यही अद्भुतका क्षेत्र है और अद्भुत होनेके कारण ही यह आकर्षक है।

### उन्माद और काव्योन्मेष

शेक्सपियरने अपने एक नाटकमें कहा है—'पागल, प्रेमी और कवि तीनों कल्पनासे ओतप्रोत रहते हैं', किन्तु शेक्सपियरसे बहुत पूर्व प्लेटोने भी दैवी अन्तःप्रेरणा या अन्तःकरणको काव्यात्मक उत्तेजनका कारण बताते हुए कहा था कि 'किसी प्रकारसे भावाविष्ट होना और अन्तःस्फुरण दोनों परस्पर सम्बद्ध तो हैं किन्तु दोनोंमें थोड़ा अन्तर होता है। पागल व्यक्ति यह विश्वास करता है कि 'मैं जो सोच रहा हूँ वह ठीक है' और इसीमें मग्न रहता है, किन्तु कवि जो भाव-कल्पनाएँ करता है उन्हें लिखकर उनसे मुक्त हो जाता है, पागलके समान वह चौबीस घण्टे कन्धेपर लादे नहीं फिरता।'

पागलपन और स्वप्नमें अत्यन्त अव्यवस्थित तथा असङ्गत कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं जो बहुधा किसी सनक या भावात्मक प्रेरणासे प्रभावित होती हैं। किन्तु कलामें अत्यन्त व्यवस्थित कल्पना उपस्थित की जाती है जिसमें थोड़ा भाव तो रहता ही है पर उसकी लगाम कलाकारके हाथमें रहती है। दोनोंमें अन्तर यह होता है कि पागलपन तो विप्लव और अराजकताका रूप है और कवित्व ( कवि-प्रतिभा ) व्यवस्था और क्रमका सूचक है। प्रायः यह पागलपन अन्तःस्फुरण अथवा अन्तःस्फुरणकी उपजके लिये प्रयुक्त होता है। इसकी भी व्याख्या पीछे की जा चुकी है।

अन्तःस्फुरण ( इन्स्पिरेशन )

किसी कविको उस समय अन्तःस्फूर्त्त ( इन्स्पायर्ड ) कहते हैं जब यह विश्वास किया जाता है कि 'वह अन्य कार्य-कर्ताओंसे भिन्न मानसिक स्थितिमें कार्य कर रहा है और उस समय अपने बौद्धिक शक्तिपर अवलम्बित न रहकर किसी दैवी शक्तिपर अवलम्बित रहता है जो उसके कार्यकी प्रकृति निश्चय करती है।' प्लेटोने अपने 'इयोन'में कहा है कि 'अत्यन्त दरिद्र कवि भी यदि दैव-प्रेरित हो जाय तो वह अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यका उत्पादन कर सकता है और इसी प्रेरणासे हीन अत्यन्त श्रेष्ठ कवि भी निःसार वस्तुकी रचना करने लगता है।' जिस प्रकार हमारे यहाँ किसी काव्यके प्रारम्भमें कविगण वाग्देवी सरस्वतीका आवाहन करते हैं उसी प्रकार होमरने भी अपनी सहायताके लिये यूनानी वाग्देवता 'म्यूज़'का निरन्तर आवाहन किया है और पीछेके अन्य कवियोंने भी इस परिपाटीका पालन किया है। प्रश्न यह है कि 'इन लोगोंने जो इस प्रकार दैवी आवाहन किया है वह क्या केवल अनुकरणमात्र है या उनके विश्वासका परिचायक है।' दाँतेने भी अपोलोसे प्रार्थना की है कि 'मेरे हृदयमें आ बैठो' और यद्यपि अपोलोमें उसका विश्वास नहीं था फिर भी काव्यमें देखनेसे उसका यह आवाहन प्रत्यक्षतः सत्य प्रतीत होता है। यही बात हम मिल्टनमें भी पाते हैं। यद्यपि बैनेटके 'जौन् ब्राउन्स बौडी'में 'अमरीकी वाग्देवता' कुछ भिन्न है किन्तु कवि यह चाहता है कि 'वह वाग्देवी हमारी काव्य-सामग्रीको अपने प्रकाशसे स्पर्श कर ले।' सिडनीने कहा कि 'जब कवि किसी बाहरी वस्तुसे प्रभावित होकर काव्य-रचना करता है तब उसमें दैव-प्रेरणा नहीं होती, क्योंकि वह ( दैवी-प्रेरणा ) तो हृदयकी वस्तु है।

सर्वप्रथम प्लेटोने इस विषयको महत्त्वपूर्ण समझकर कहा—'सब अच्छे

महाकाव्य-रचयिताओंने जो सुन्दर कविताएँ लिखी हैं वे कलाके कारण नहीं, वरन् इसलिये कि वे दैव-प्रेरित थीं और कवि आविष्ट होकर लिखते थे।' यही बात अच्छे प्रगीतकारोंके सम्बन्धमें भी है। मैं समझता हूँ कवि यह कहते हैं कि 'वे अपनी कविताएँ वाग्देवीके उपवनोंमें बहनेवाले मधु-स्रोतोंसे प्राप्त करते हैं और उसी प्रकार लाकर हमें देते हैं जैसे मधुमक्खी हमें मधु देती है और उनके भी पंख होते हैं। वे ठीक भी कहते हैं क्योंकि कविका कौशल सूक्ष्म, पंखयुक्त ( कल्पनायुक्त ) और पवित्र होता है और वह तबतक कविता नहीं कर सकता जबतक कि वह दैवी प्रेरणा प्राप्त करके अपनी बुद्धि और विवेकता सब भूल नहीं जाता। वे जो कुछ कहते हैं अपनी कलाके कारण नहीं कहते वरन् दैवी शक्तिके आधारपर कहते हैं।'

अरस्तूने अपना दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है अपने काव्य-शास्त्रमें। वह कहता है—'काव्यकला या तो सिद्ध पुरुषका काम है या पागलका' ( कुछ लोगोंने अभी हालमें अरस्तूके उस वाक्यका एक दूसरा पाठ लेकर इसका अर्थ यह किया है कि 'काव्यकला सिद्ध पुरुषका काम है, पागलका नहीं', कास्तेलवेत्रो ) और ड्राइडनने भी इसी अर्थकी सम्भावना मानी है। मध्यम मार्गी हौरेसने दैमोक्रितसकी यह सम्मति अमान्य कर दी है कि 'समझदार कवियोंके लिये हैलिकन ( यूनानी वाग्देवी म्यूज़ेज़का मन्दिर ) के द्वार बन्द हो गए हैं' किन्तु यह भी कहा है कि 'कविके आत्मामें बहुत कुछ दैवी शक्ति होनी ही चाहिए।' मिल्टनने भी 'प्रतिभा और अभ्यासकी आवश्यकता बताई है किन्तु साथ-साथ यह भी कहा है कि 'ये तबतक व्यर्थ हैं जबतक उस शाश्वत परमात्मकी सहायता न मिले जो सब प्रकारकी वाणी तथा ज्ञानको समृद्ध करता है और अपनी वेदीकी अग्निके साथ ऐसा देवदूत भेज देता है जो उस व्यक्तिके ओठोंको स्पर्श करके शुद्ध कर देता है जिसपर वह प्रसन्न होता है।' इसे हम ईसाई ढङ्गकी दैव-प्रेरणा कह सकते हैं।

तीसरा सिद्धान्त शैलीका है जो कहता है कि 'कविता कोई तर्क-शक्ति नहीं है जो स्वेच्छापूर्वक काममें लाई जा सके। कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता—मैं कविता रचूँगा। बड़ासे बड़ा कवि भी ऐसी बात नहीं कह सकता क्योंकि रचना करनेवाली बुद्धि तो बुझते हुए कोयलेके समान है जिसे कोई अप्रत्यक्ष प्रभाव (जैसे हवाका झोंका) जगाकर चमका देता है। यह शक्ति वैसे ही भीतरसे आती है जैसे फूलका रङ्ग फूलके विकासके साथ-साथ ढलता

और बदलता चलता है और हमारी प्रकृतिकी चेतन शक्तियाँ उस अदृश्य प्रभावका न आना जानती हैं न जाना। यदि यह प्रभाव अपनी मौलिक शुद्धता और शक्तिके साथ चिरस्थायी हो जाय तो उसका परिणाम कितना महान् होगा यह वर्णनातीत है। किन्तु जब कोई रचना प्रारम्भ होती है तब यह प्रेरणा ह्रासोन्मुख होती है और संसारका सर्वश्रेष्ठ काव्य सम्भवतः कविकी मौलिक भावनाओंकी अत्यन्त मन्द छायामात्र होती है। मैं आजकलके महत्तम कवियोंसे यह पूछता हूँ—'क्या यह कहना भूल नहीं है कि कविताके श्रेष्ठतम अंश परिश्रम और अध्ययनके परिणाम हैं।' आलोचकोंने जिस 'परिश्रम और विलम्ब'की बात कही है उसका इससे अधिक कुछ अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि कविको दैव-प्रेरणाके क्षणोंका सावधानीसे सम्प्रेक्षण करना चाहिए और उन क्षणोंद्वारा दी हुई भावनाओंको रूढ अभिव्यक्तियोंसे मिलाकर उनके बीचका कृत्रिम सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

चौथे प्रकारकी व्याख्या 'पोएज़िया'में क्रोचेकी है। वह कहता है—'कविका व्यक्तित्व एओलियाकी तन्त्री ( हार्प ) है जिसे विश्वका वायु झनकारता रहता है।' यहाँ सम्भवतः वह विश्व भी मानवताकी प्रतिभासे सम्बद्ध प्रतीत होता है जिसके हृदयमें अध्वंसनीय रचनात्मिका शक्ति विराजमान है।

दैवी-प्रेरणामें किसी न किसी प्रकारका 'विश्वास' लगभग सदा रहा है यद्यपि उसकी प्रकृति और व्याख्यामें विभिन्नकालीन सामाजिक सिद्धान्तोंके अनुसार सुधार होता रहा है, जैसे इस 'विश्वास' शब्दका प्रयोग कोई विवेकवादी नहीं कर सकता क्योंकि इसमें जिस विश्वासकी आवश्यकता है उसे विवेकवादी मानता ही नहीं। फ्रौयडने माना है कि 'यह दैवी-प्रेरणा या अन्तःप्रेरणा अचेतनसे उद्भूत होती है।' अतः फ्रौयडके पश्चात् तथ्यातिरेक-वादियोंने विवेकपूर्ण संयम और सज्ञानताके अभावमें ही रचना करना आरम्भ कर दिया। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि इस अन्तःप्रेरणाके अवसरपर जो चमकता है वह सभी स्वर्ण नहीं होता। अन्तःस्फुरण वह झमक है जिसका अनुभव पाठक या श्रोता भी किसी रचनामें कर सकता है। इस अनुभूतिकी क्रियाको 'साधारणीकरण' भी कहा जा सकता है क्योंकि वह अनुभव भी किसी 'विशिष्ट' भावको 'साधारण' बनाना ही कहा जा सकता है।

### अन्त:स्फुरण का पर्याय अगनिप्पे

हैलकिन पर्वतपर अगनिप्पे नामक एक जलस्रोत है जो योरोपीय काव्य-देवी 'म्यूज़ेज़' के नामपर एक तीर्थ बन गया है और जिसके कारण उन काव्य-देवियोंको भी 'अगनेपिदेस' कहते हैं। इसीके आधारपर योरोपीय काव्य-शास्त्रियोंने काव्यके अन्त:स्फुरण ( पोइटिक इन्स्पिरेशन ) को ही अगनिप्पे कहना आरम्भ किया। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार पर्वतके अंकसे सहसा अदृश्य रूपसे उस जलस्रोतका उद्गम हुआ है उसी प्रकार सहसा मनुष्यके हृदयसे भी वाग्धाराके रूपमें कविता फूट पड़ती है और उसके पश्चात् वह प्रशस्त पयस्विनी बनकर मानव-समाजरूपी क्षेत्रको आनन्दसे परिप्लावित करती रहती है। किन्तु इस प्रकारकी वृत्ति केवल अनायास काव्यके लिये तो सम्भव है किन्तु सायासके लिये इसका कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि सायास काव्य तो शुद्ध रूपसे बुद्धि-क्रिया होती है।

### आकस्मिक स्फुरण ( स्पौन्टेनेटी )

कुछ आचार्योंका मत है कि काव्यका स्फुरण सहसा अकस्मात् होता है। बिना पहलेसे विचार किए कोई बात सहसा मस्तिष्कमें आ कूदती है। यही स्वयंस्फुरण ( स्पौन्टेनेटी ) होती है। स्वैरवादी ( रोमान्टिस्ट ) लोग इसका बड़ा महत्त्व समझते हैं। तथ्यातिरेकवादी ( सररीयलिस्ट ) स्वयंस्फुरणके इतने पक्षपाती हैं कि वे किसी विचार-प्रणालीके अभावको ही अपनी प्रणाली मानते हैं, अर्थात् वे मानते हैं कि 'विचार स्वयं बिना प्रयासके, बिना क्रमके आते रहते हैं और साहित्य बन जाते हैं।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुतसे विचार विशेषत: काव्यात्मक शब्दावली स्वयं प्रेरणाके रूपमें सहसा मस्तिष्कमें आती है क्योंकि इनपर विवेकका शासन नहीं होता, इसलिये तथ्यातिरेकवादी यह प्रयत्न करता है कि 'वह विवेकको हटाकर इस स्वयंस्फुरणको ही अभिव्यक्तिके लिये स्वतन्त्र छोड़ दे और उनसे निकलनेवाले परिणामोंके पीछे एक बड़ी लम्बी घटनोंकी धाराका स्रोत जोड़ दे।'

तथ्यातिरेकवादियोंका मत मानकर यदि हम इस आकस्मिक स्फुरणको ही साहित्यका कारण मान लें तो इससे साहित्यके बदले उन्मत्तका प्रलाप उत्पन्न होगा और हमने जो कलाकी परिभाषा बनाई है—व्यवस्थित

तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति ही कला है—वह भी समाप्त हो जायगी। अतः इस आकस्मिक स्फुरणको साहित्यका कारण नहीं माना जा सकता।

### भाविकता ( सेन्टिमेन्टिलिटी )

उपर्यङ्कित आकस्मिक स्फुरणके साथ ही भाविकता ( सेन्टिमैन्टिलिटी ) पर भी विचार कर लेना चाहिए। जब हम कलामें भाविकताकी बात करते हैं या भाविकताकी दृष्टिसे कलाकी परीक्षा करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि 'हम उसमें यह बात ढूँढ़ते हैं कि सामाजिक या सहानुभूतिपूर्ण भाव उसमें अत्यन्त अतिरेक-पूर्ण अथवा दोषपूर्ण ढंगसे प्रयोग किए गए हैं।' अर्थात् 'कोमलता, दया तथा मानव-प्रकृतिमें स्वाभाविक विश्वास इस ढङ्गसे काव्यमें व्याप्त हैं कि उससे नैतिक अनुभव होनेके बदले करुणाकी सृष्टि होती है।' किसी भावनाकी अभिव्यक्ति तबतक भाविकतापूर्ण नहीं होती जबतक वह उचित, सर्वसामान्य और न्याय्य समझी जाती हो। वर्ड्सवर्थके 'मूढ़ बालक' (ईडियट बौय) और 'फ़ौरसाइट' उपन्यासोंमें गाल्स्वर्दी-द्वारा 'जोनका विवेचन', दोस्तोइएस्कीके 'मूर्ख'को हम इस दृष्टिसे भाविकतापूर्ण समझ सकते हैं कि उसमें मूर्खता या केवल भोलेपनको मानवीय वास्तविक सद्‌गुणके रूपमें दुश्चित्रण किया गया है। भावोंके इस अतिरेक-पूर्ण और अनुचित चित्रणका प्रयोग अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियोंमें भी प्राप्त हो सकता है; यहाँतक कि कुछमें तो यह जान-बूझकर किया जाता है जैसे 'भाविकतापूर्ण यात्रा' (दि सैन्टिमेन्टल जर्नी) में 'स्टर्न'ने गधेके सम्बन्धमें अत्यन्त विनोदपूर्ण भावनाएँ व्यक्त की हैं। जब कोई पात्र ( जैसे द्वितीय रिचार्ड या; किङ्ग जौनमें रानी मार्गेरेट ) जान-बूझकर भाविक रूपसे चित्रित किए गए हों तब उनका समन्वित प्रभाव भाविकता-पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

कोई भी चतुर लेखक ऐसी रचना कर सकता और ऐसा वातावरण उपस्थित कर सकता है जिसमें पढ़नेवालेका मूल्याङ्कन वास्तविक जीवनके मूल्याङ्कनसे पूर्णतः भिन्न हो। इस प्रकारके वाचनमें आत्मसमर्पणकी भावना अत्यन्त व्याप्त रहती है और सम्भवतः इसीलिये मैरेडिथने भाविकताको 'कामुकताके तारोंपर बजाई हुई तान' कहा था। किन्तु कल्पनाके स्तरपर इस प्रकारकी भावनाको उस भाविकता-पूर्ण साहित्यसे भिन्न समझना चाहिए जो तथ्यात्मक होनेके कारण वास्तविक जीवन ही समझ लिया जाता है।

तथ्यकी ऐसी अतिरेकता 'सज्ञानताके नाटक' ( ड्रामा औफ़ सेन्सिबिलिटी ) तथा अठारहवीं शताब्दिके भाविकतापूर्ण नाटकोंमें अधिक दिखाई पड़ी। इसीपर रूसोने भाविकताका एक नया दार्शनिक सिद्धान्त ही खड़ा कर दिया जिसका आधार पाकर उन्नीसवीं शताब्दिके उपन्यासकारोंने समाजसे बहिष्कृत व्यक्तियोंको नायक-नायिका बनाना प्रारम्भ किया। प्रकृतिवादमें भी जो उस प्रकारके प्रयोग किए गए उनमें भी जीवनके प्रति नैतिक वृत्तिकी अपेक्षा करुणावृत्ति ही अधिक व्यक्त होती है।

हम पीछे बता चुके हैं कि भाविकता सदा साहित्यके लिये घातक होती है क्योंकि भाविकतामें मनुष्यका विवेक लुप्त हो जाता है और वह किसी एक विशेष भावावेशमें मग्न होकर तदनुसार अपनी भावनाओंको रँगता चलता है। उस क्रियासे जिस साहित्यकी सृष्टि होती है वह न तो स्वस्थ हो सकती, न सुन्दर और न लोक-कल्याणकारी। उलटे, यह सम्भव है कि उस साहित्यसे पाठकोंकी मानस धारणाएँ इतनी विकृत हो जायँ कि वे भी भली प्रकार उचित और अनुचितका विवेचन न कर सकें। इस प्रकारके विवेक-लोपसे काव्यकी ही नहीं, मानव-समाजकी सम्पूर्ण मर्यादाएँ, श्रेष्ठताएँ तथा औचित्यकी धारणाएँ पूर्णतः विकृत हो सकती हैं।

### उल्लास ( एक्स्टैसी )

कुछ लोगोंने यह कहा है कि 'प्रत्येक भावकमें एक उल्लासकी भावना होनी चाहिए।' जिस प्रकार किसी मल्लयुद्धको देखते हुए अथवा किसी प्रकारका खेल देखते हुए हम उनसे अलग होकर उनकी प्रत्येक क्रियाका आनन्द लेते हैं उसी प्रकार 'साहित्यकारको भी सम्पूर्ण सृष्टिका द्रष्टा होकर संसारकी क्रियाओंका आनन्द लेकर उनका चित्रण करना चाहिए।' इसी आधारपर उन लोगोंने उल्लास ( एक्स्टैसी ) को ऐसी शक्ति माना है जिसके द्वारा हम अपनेसे बाहर होकर खड़े हो सकते हैं अर्थात् जिसमें हम ऐसे रसमग्न हो जाते हैं कि हमें अपनी सुध-बुध नहीं रहती। यह मन:स्थिति उस तन्मयता या समाधिके समान होती है जो काव्यके अन्त:स्फुरणकी वेलामें उस समय उपस्थित होती है जब सब प्रकारके विचार या इन्द्रियानुभूतियाँ बिलकुल समाप्त हो जाती हैं। इस सहानुभूतिमय भावनाको गिलबर्ट मरेने अपने 'काव्यमें उदात्तवादी परिपाटी' ( दि क्लासिकल ट्रेडीशन इन पोइट्री,

१६२७ ) में नाटकका आवश्यक गुण माना था किन्तु उसने इस शब्दका प्रयोग अत्यन्त आह्लादका पर्यायवाची न मानकर विवेकका पर्यायवाची माना। किन्तु यह भी साहित्यका कारण कैसे हो सकता है।

## मन:स्थिति ( मूड या स्टिमूङ्ग )

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'कविता या साहित्यकी व्यवस्थित सृष्टिके लिये एक विशेष प्रकारकी मन:स्थिति ( मूड या स्टिमूङ्ग ) आवश्यक है।' उनका कहना है कि 'प्रकृति या कलाके सौन्दर्य-दर्शनमें निमग्न हो जानेपर जब मनुष्य एकाग्र होकर समाधिकी स्थितिमें पहुँच जाता है तथा अपनी भावात्मक वृत्तिको पूर्णत: समस्त सांसारिक भावोंसे निर्लिप्त कर लेता है, तब जो मन:स्थिति ( मूड या स्टिमूङ्ग ) होती है उसी के आधारपर साहित्यका सृष्टि होती है।' यह एक प्रकारका शान्तिपूर्ण ग्रहण और सन्त्यागका भाव है जिसमें न तो कोई निश्चित सङ्कल्प होता है न कोई सक्रम विचार। यद्यपि इस प्रकारकी मन:स्थिति या तो भक्तिमें होती है या अतिशय स्नेह और दु:खमें, किन्तु यह मन:स्थिति उस समय भी हो सकती है जब हम किसी कलाकृतिको देखते हैं अथवा सौन्दर्यात्मक अनुभवके रूपमें उसकी समीक्षा करना चाहते हैं। यह मन:स्थिति किसी प्रकारके भौतिक अनुभवके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसीको कुछ लोगोंने समाधि ( ट्रान्स ) कहा है।

## समाधि ( ट्रान्स )

ऊपर बताया जा चुका है कि कविके मस्तिष्क या मन:स्थितिकी उस अवस्थाको समाधि कहते हैं जिसमें वह अत्यन्त भावमग्न, आनन्दमग्न और तन्मय होकर अपनी और संसारकी सुध-बुध भुलाकर किसी आकर्षणके केन्द्रमें तन्मय होकर बैठ रहता है और संसारसे पूर्णत: मानसिक सम्बन्ध तोड़ देता है। इस प्रकारकी तन्मयता या तो योगकी निर्विकल्प समाधिमें होती है या मद्यप और अफ़ीमचीकी पीनकमें। उनके लिये तो यह समाधिकी अवस्था योगकी क्रियाओं या मादक द्रव्योंके माध्यमसे होती है किन्तु काव्यकी समाधि सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारणके प्रत्यक्ष या मानस अनुभवसे सिद्ध होती है। रुद्रट और राजशेखरने भी इस समाधिको ही काव्यका कारण माना है। इसपर हम आगे इस अध्यायके अन्तमें विचार

करेंगे। इस समाधिके सिद्धान्तको ही दूसरे रूपसे एकात्मता ( ऐम्पेथी या आइनफ्यूहलुङ्ग ) कहते हैं।

## एकात्मता ( ऐम्पेथी या आइन्फ़्यूहलुङ्ग )

सिद्धान्तके रूपमें 'ऐम्पेथी उस कल्पनात्मक अनुभवकी व्याख्या करनेका प्रयास करती है जिसमें हम किसी वस्तुमें बिना इच्छाके अपने आपको प्रविष्ट कर देते हैं,' अर्थात् 'ऐम्पेथी' किसी भी कल्पनाके प्रति वह प्रतिक्रिया है जो रूपों, शरीरों और गतियोंसे उत्पन्न होती है और जिसमें यद्यपि शुद्ध बौद्धिक तत्त्व ही अधिकांश उपस्थित रहते हैं किन्तु प्रधानता गतिशील विषयोंकी ही होती है। उसमें यह गुण और शक्ति उस सञ्चित और सम्बद्ध अनुभवके द्वारा आता है जो उचित प्रेरणाके द्वारा सामने आ जाता है और दृष्टिगत वस्तुके साथ तत्काल अचेतन रूपसे सम्बद्ध हो जाता है।' इसे यों समझा सकते हैं कि यदि हम किसी विशाल दृढ़ दुर्गको देखें तो उसकी दृढ़ता, भार, ठोसपन, अडिगता और बहुत दिन चल सकनेकी शक्तिका जो ज्ञान होता है वह इसलिये नहीं कि हमें उसकी बनावट और उसमें प्रयुक्त सामग्रीका पूरा ज्ञान है वरन् इसलिये कि हमने जीवनमें बहुतसे ऐसे पदार्थ देखे हैं जिनमें पुट्ठोंकी शक्ति तथा अन्य अवयवोंके तनाव आदिका अनुभव दृढ़ पदार्थोंके सम्पर्कमें हुआ है। इसी प्रकार जब एक समुद्री पक्षी सरलतासे उड़ चलता है तब हमारे मनके भीतर वे सब जटिल गतियाँ सहसा स्मृतिमें एकत्र हो जाती हैं जिनका जीवनमें हमने वास्तविक या काल्पनिक अनुभव किया है। उस स्मृतिमात्रसे हमारी भावना भी अनायास उड़ने लगती है और हम भी पक्षीके साथ उड़ने लगते हैं अर्थात् उस समय जो हम स्वयं उल्लास और आनन्दका अनुभव करते हैं उसे हम पक्षीके साथ जोड़ देते हैं।

यद्यपि बहुतसे लोगोंने ऐम्पेथीके सम्बन्धमें पहले संकेत दिए हैं किन्तु थियोडोर लिप्सको ही आइन्फ़्यूहलुंग या ऐम्पेथीके सिद्धान्तको व्यवस्थित करनेका श्रेय दिया जाता है। हरमान लोत्सेने १८५८ में यह घोषित किया था कि 'कोई भी ऐसा दृश्य रूप नहीं है जिसमें हमारी कल्पना हमें नहीं पहुँचा देती। कल्पनाके बलपर हम पक्षीके शक्ति-भरे जीवनमें प्रवेश कर जाते हैं या केंचुएके नीरस अस्तित्वके साथ एकात्म हो जाते हैं। यह एकात्मता कभी वृक्षके सौन्दर्य और जीवनके साथ भी होती है और कभी-कभी तो किसी एक भवनके

अचंचल रूपमें ही हम सजीव शरीरके बहुतसे अङ्गोंकी भावना कर लेते हैं और फिर आन्तरिक भावनाओंको पुनः अपनेमें पहुँचा लेते हैं। रौबर्ट विशेरने इस 'आइन्फ्यूहलुङ्ग'को इस प्रकार समझाया है—'यदि मैं किसी शान्त और दृढ वस्तुको देखता हूँ तो मैं अपने आपको उसकी आन्तरिक बनावटमें प्रविष्ट कर देता हूँ। मैं उससे अपना मिलान करता हूँ, अपनी विशालताको उसकी विशालतासे नापता हूँ, उसीमें फैलता हूँ, चौड़ा होता हूँ, मुड़ता हूँ और सिकुड़ता हूँ।' इसी भावको अन्तःप्रवेश ( इन्ट्रोजेक्शन ) कहते हैं।

सन् १९१३ में श्रीमती लीने इस सम्बन्धमें विचार करते हुए इस प्रकारकी एकात्म प्रतिक्रियाका शारीरिक-मनोवैज्ञानिक आधार बताया है। वे कहती हैं कि 'पर्वतकी ओर देखते हुए हममें ऊपर उठनेकी भावना होती है जो हम तत्काल पर्वतमें आरोपित कर देते हैं। यह भावना बड़ी जटिल होती है। इसमें केवल तात्कालिक आँख ऊपर उठाने और सिर उन्नत करनेके कार्यसे आरम्भ होनेवाले भाव ही नहीं है वरन् उठने और उठानेवाले उन सब तत्सम कार्योंकी एक सम्मिलित स्मृति उठ खड़ी होती है जो चाहे वास्तविक हों या काल्पनिक और जो हमारे अपने शरीरके अङ्गोंसे तथा संसार-भरके अन्य सब शरीरोंके अङ्गोंसे उत्पन्न होते हैं।

एकात्मता ( ऐम्पेथी ) शब्द सर्वप्रथम १९०९ में अँगरेज़ीमें आया जब टिचनरने 'आइन्फ्यूहलुंग'के पर्यायके रूपमें इसका प्रयोग किया। स्वयं लीने ही सौन्दर्यात्मक सहानुभूतिके अर्थमें इसका प्रयोग किया था। किन्तु १९१२ में उसने टिचनरका ही शब्द ग्रहण कर लिया। सहानुभूतिका अर्थ तो है 'अनहम्' ( नौन ईगो ) के साथ समानान्तर रहकर अनुभव करना, 'उसके भीतर रहकर नहीं।' एकात्मता ( ऐम्पेथी ) को सहानुभूतिसे पूर्वकी स्थिति समझनी चाहिए। किन्तु सहानुभूति अधिक आत्मचेतन है अतः गुणकी दृष्टिसे वह कम सौन्दर्यात्मक है और यह भी हो सकता है कि उसमें एकात्मताके गत्यात्मक तत्त्व हों ही नहीं।

हमारे अपने समयमें एकात्मता बहुत विस्तृत अर्थोंमें प्रयुक्त होती है। उसका प्रयोग साहित्यमें, नाट्य प्रयोगोंमें, खेलोंमें, संसर्पण ( स्केटिङ्ग ) तथा तैरने आदि विभिन्न कलाओंके प्रदर्शनमें भी होता है। यह एकात्मताका अनुभव सदा सौन्दर्यात्मक नहीं होता। एक लेखकने लिखा है कि 'मुझे

इस प्रकारकी एकात्मताका तीव्र अनुभव तब हुआ जब मैंने रेडियोपर सुना कि एक जापानीने अपनी बन्दूकके कुन्देसे एक बन्दीका पैर कुचल दिया।' वैद्य लोग भी इसी प्रकारके अनेक संस्मरण सुनाते हैं। काव्यात्मक कल्पनाके क्षेत्रमें इस एकात्मताकी खोज अभी शेष है और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँतक काव्यकी प्रेरणा-शक्ति है।

**अनुकरण ( मिमेसिस या इमिटेशन )**

बहुतसे लोग 'अनुकरणको ही कलाके उद्‌भवका मूल सिद्धान्त' मानते हैं, अर्थात् उसे—

क. प्रकृतिका प्रतिनिधि तथा प्रतीकवादका विरोधी मानते हैं।

ख. यूनानी और रोमन लेखकोंकी स्पर्धाके रूपमें मानते हैं जो स्वयं-स्फुरण ( स्पौन्टेनिटी ) के विरुद्ध है।

प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार साहित्यिक आदर्शोंके अनुकरणका भाषा-सम्बन्धी संयम ही 'अनुकरण' कहलाता था। प्राचीन समीक्षा-पद्धतिमें दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें हुई हैं—१. कवियोंपर प्लेटोकी यह आपत्ति कि 'वे सत्यसे दुहरी दूरीपर अनुकरण करते हैं' और २. अरस्तूका यह कथन कि 'काव्य उन उद्देश्योंका अनुकरण या प्रदर्शन है जिनकी ओर विश्व-प्रकृति प्रवृत्त होती है।' किन्तु प्लेटोकी आपत्तिका भी प्राचीन साहित्यिक व्यवहारपर बहुत कम प्रभाव पड़ा और अरस्तूका काव्यशास्त्र भी शीघ्र ही आँखसे ओझल हो गया। जबतक सोलहवीं शताब्दिमें अरस्तूके काव्य-शास्त्रकी पाण्डुलिपि नहीं मिली तबतक उसकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया। आदर्श ग्रन्थोंका अनुकरण करनेके भाषा-सम्बन्धी संयमकी बात सर्वप्रथम इसोक्रितेसने कही थी जिसका पीछे जर्मन-भाषा-शास्त्रियोंने विस्तार किया और जो पीछे रोमन युगमें गद्य या पद्य लिखनेकी शिक्षाका अङ्ग बन गया।

**अनुभव ( ऐक्सपीरिएन्स )**

जर्मन समीक्षामें डिल्थेके समयसे किसी भी रचनात्मक कृतिमें अन्तस्तत्त्व या अनुभूतिपर बड़ा बल दिया जाता है जिसे वे 'ऐर्लेब्निस' कहते हैं। शेरेअरके अनुयायी तो 'कलाकारकी अनुभूतिको शरीर-विज्ञान और समाजका प्रभाव मानते हैं और यह कहते हैं कि 'इन्हीं प्रभावोंसे वह रचना करता है।' पीछे चलकर कहा जाने लगा कि 'अनुभूतिका विषय या सामग्री निश्चित रूपसे गौण महत्त्वकी है' और वे कलाकारकी बौद्धिक तथा भावात्मक स्थितिको महत्त्व

दिया जाने लगा जैसे—सीमेलने कलाकारकी यह परिभाषा की है कि 'कलाकार वह व्यक्ति है जो साधारण वस्तुओंको वैसे ही कलाकी शक्तिशाली कृति समझता है जैसे कोई धार्मिक व्यक्ति सर्वत्र ईश्वरकी उँगलियाँ देखता है।'

### अलौकिक ( सुपरनेचुरल )

कुछ विद्वानोंने माना है कि अलौकिक शक्तियोंसे भयभीत होनेके कारण उन्हें प्रसन्न करनेकी या व्यक्त करनेकी भावनासे ही साहित्य उत्पन्न हुआ। ये कृतियाँ अलौकिकता-युक्त कहलाती हैं। 'अलौकिक' या 'पारलौकिक' ( सुपरनेचुरल ) शब्दका प्रयोग उन कृतियोंके लिये होता है जिनमें—

१. रहस्योंका दार्शनिक, अध्यात्मिक या रहस्यात्मक विवेचन हो। अतः सब प्रकारके दार्शनिक, धार्मिक या रहस्यात्मक प्रकारके साहित्यके लिये 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग होता है।

२. अधिकांशतः अदृश्य शक्तियोंके कार्यों, देवताओं, राक्षसों, भूत-प्रेतों, टोना-टोटका, जन्तर-मन्तर, जादू आदि ऐसे तत्त्वोंका प्रयोग होता हो जो साधारणतः प्रकृतिमें ही विद्यमान दिखाई गए हों। परियोंकी कहानियाँ भी इसीमें आती हैं। कौलरिजने इसे 'स्वाभाविकसे परे' ( प्रिटरनैचुरल ) कहा है जिसके भौतिक स्वरूपके लिये तो अविश्वास दूर रखते हैं अर्थात् मान लेते हैं किन्तु जिसका नैतिक प्रभाव नहीं मानते।

३. वे सब कथाएँ भी पूर्णतः सम्मिलित कर ली जाती हैं जिनमें दिव्य लोककी शक्तियोंके अस्तित्वका भाव उपस्थित किया जाता है। भय, आश्चर्य तथा अप्रत्याशित घटनाके समर्थनके लिये ये सब तत्त्व लाए जाते हैं। नाटक, उपन्यास आदिमें इनका प्रयोग बहुत किया जाता है जैसे मैलविलीके 'मौबी डिक' में जो भय और आतङ्क प्रदर्शित किया गया है वह दिव्य शक्तिकी भावनाके कारण है, भूत-प्रेत आदिके कारण नहीं। विवेकवादी लोग मानते हैं कि इनका प्रयोग अनावश्यक और अनुचित है।

### अन्धविश्वास ( सुपरस्टिशन )

कुछ लोगोंने अन्ध-विश्वासको कला और साहित्यकी प्रेरणा समझा है। इसीलिये लोक-साहित्य और कलात्मक साहित्य दोनोंमें ही अन्ध विश्वासका बड़ा प्रयोग किया गया है। वह तीन प्रकारसे हुआ है—

१. यथार्थवादी २. रूपकात्मक या प्रतीकात्मक और ३. स्वैरवादी।

यथार्थवादी विवरणमें लोक-व्यवहारमें प्रचलित सब प्रकारके विश्वासों, शङ्काओं तथा शकुनोंका वास्तविक चित्रण किया जाता है और इसलिये किया जाता है कि जिन लोगोंका वर्णन हो उन लोगोंकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका आधार और रूप स्पष्ट हो जाय। प्रतीकात्मक या रूपकात्मक विवरणमें इन विश्वासोंका इसलिये प्रयोग किया जाता है कि उनके द्वारा नैतिक भावोंका स्पष्ट या नाटकीय प्रदर्शन हो। इन अन्धविश्वासोंका स्वैरवादी प्रयोग शुद्ध कल्पनात्मक कृतियोंके लिये होता है, जैसे शेक्सपियरने अपने 'मिड-समर-नाइट्स ड्रीम'में किया है।

## मनोवैज्ञानिकोंका मत

जेम्स और मैकडूगल आदि मानते हैं कि 'मनुष्य जितने प्रकारके काम करता है उन सबमें प्रेरणा देनेवाली उसकी सहज वृत्तियाँ ( इन्सटिंक्ट ) होती हैं' जिनकी संख्या उन लोगोंने चौदह निर्धारित की है। मेकडूगलने उन्हें इस प्रकार गिनाया है—

१. भय या पलायन, २. झगड़ालूपन ( पगनेसिटी ), ३. घृणा ( रिपल्शन ) या दूर रखनेकी प्रवृत्ति, ४. कुतूहल, ५. आत्मप्रदर्शन, ६. आत्मसमर्पण, ७. कामवासना, ८. प्राणिकी वृत्ति, ९. पितृत्वकी वृत्ति १०. सङ्घवृत्ति, ११. आखेटवृत्ति, १२. अनुकरण, १३. खेल और १४. भूख।

किन्तु आजकल लोगोंने यह सहज वृत्तिका सिद्धान्त ही अस्वीकार कर दिया और उनके बदले तीन सहज वृत्तियाँ मानी हैं—

१. अहंवृत्ति ( ईगो-इन्स्टिंक्ट ), २. कामवृत्ति ( सेक्स-इन्स्टिंक्ट ) और ३. सङ्घवृत्ति ( हर्ड इंस्टिंक्ट )।

यह वर्गीकरण फ्रौयडके मनोविज्ञानके अनुसार किया गया है किन्तु इसपर लोगोंने यह आपत्ति की है कि 'यह भेद मनोवैज्ञानिक उतना नहीं है जितना शरीर-वैज्ञानिक।' अतः लोगोंने एक वर्गीकरण और सुझाया १. आकर्षण, विकर्षण और आक्रमणकी वृत्ति; और २. भूख तथा प्रतिक्रियाकी वृत्ति। उन्होंने इन दोनोंको भी 'सामान्य' और 'विशेष' दो भागोंमें बाँट दिया है। इन लोगोंने अचेतन और उपचेतनको बड़ा महत्त्व दिया है।

अचेतन ( अन्कौन्शस )

अचेतन उन मानसिक प्रक्रियाओंको कहते हैं जो चेतनकी अवस्थामें व्यक्त नहीं होतीं। इसे फ्रौयडने पूर्वचेतन ( प्रीकौन्शस ) से भिन्न माना है। कुछ विद्वानोंके अनुसार यह अचेतन, कुछ स्नावयिक प्रक्रियाओंसे सम्बद्ध है जो सहचेतन ( को-कौन्शस ) के साथ उपचेतन ( सब-कान्शस ) का ही एक वर्ग बन जाता है। कुछ लोगोंने अचेतनकी भावना ही अमान्य कर दी।

इस अचेतनका अधिक प्रयोग तथ्यातिरेकवादियों ( सर-रीअलिस्ट्स ) ने किया है, जो इसे—

१. किसी जातिकी सार्वभौम इच्छाओं और प्रतीकोंका निधान मानते हैं।

२. सौन्दर्यात्मक अन्तःस्फुरण ( ऐस्थेटिक इन्स्पिरेशन ) का मूल मानते हैं। परिणामतः ये लेखक जान-बूझकर अचेतनको भली प्रकार हलोड़ कर उसके विषयोंको स्वप्न-प्रतीकोंके द्वारा व्यक्त करते रहे।

मनोविश्लेषण ( साइको-ऐनैलिसिस )

वर्त्तमान साहित्य-योजनामें मनोविश्लेषणने कलाकार और समीक्षक दोनोंको बड़ी सहायता दी है। इस विज्ञानका विकास किया सिग्मण्ड फ्रौयड ( १८५६ से १९३९ ) ने और आधाररूप तीन बातें स्थिर कीं—

१. अचेतन मन ( अन्कौन्शस माइंड ) जिसमें जातिगत सम्पूर्ण मौलिक प्रेरणाएँ निवास करतीं और चहल-पहल मचाए रहती हैं। इसीमें अतृप्त व्यक्तिगत इच्छाएँ भी रहती हैं।

२. आन्तरिक संयम ( सैन्सर ), जो समाजके बन्धनके अनुसार इन मूल प्रेरणाओंको दबा देता है और अभिव्यक्तिके अन्य शिष्ट तथा अनिषिद्ध रूपोंमें उन्हें भासमान करता है। इन रूपोंमेंसे एक कला भी है।

३. एक मूल काम-प्रेरणा ( लिबिडो ), जिसे बर्नर्ड शौने 'जीवन-प्रेरणा' ( लाइफ़-फ़ोर्स ) कहा है, जो यदि रोक दी जाय तो उससे यदि जीवन नष्ट न हो तो विकृत अवश्य हो जाय। इसके अनुसार मनोविश्लेषणने प्रेमको ही मनुष्यकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका मूल माना है जो प्रायः काव्य, उपन्यास और नाटकका प्रधान विषय होता रहा है।

## फ्रौयडका मत

मनोविश्लेषण-शास्त्र ( साइको-एनैलिसिस ) के प्रवर्त्तक फ्रौयडका सिद्धान्त है कि 'मनुष्यकी सम्पूर्ण इच्छाओं और क्रियाओंके मूलमें केवल एक ही शक्ति काम करती है जिसे प्रेरणाशक्ति ( लिबिडो ) कह सकते हैं ।' फ्रौयडका मत है कि 'यह मूल शक्ति काम-वासनासे ही भरी हुई है' अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी करता है, यहाँतक कि यदि साहियकी भी रचना करता है तो वह इसी प्रेरणा-शक्तिसे, जो मनुष्यकी इच्छा या काम-वासनाकी तृप्तिके लिये उसे साहित्य-रचनामें प्रवृत करती है । पहले तो यह सीधे-सीधे मनुष्यको काम-वासनाकी तृप्तिके लिये प्रोत्साहन देती है किन्तु जब साधारण रूपसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती तब यह बलवती कामशक्ति अपनी तृप्तिके लिये अन्य दूसरे मार्ग प्रस्तुत करती है जिनमें इच्छावरोध ( इनहिबिशन ), पथान्तरण ( रिडाइरेक्शन ) रूपान्तरण ( ट्रान्सफ़ौर्मेशन ) और उद्वृत्तीकरण ( सब्लिमेशन ) की गणना की जाती है । इसकी व्याख्या करते हुए फ्रौयडने बताया है कि 'यह कामकी इच्छा तीन रूपोंमें दिखाई पड़ती है—

१. सम्भोगकी इच्छा अर्थात् मैथुन करनेकी वासना,

२. मानसिक संयोग अर्थात् एक दूसरेके प्रति प्रेम, और

३. अपने बाल-बच्चोंके प्रति स्नेह तथा उनकी रक्षा ।'

किन्तु जब इन तीनों इच्छाओंका दमन होता है और वह इच्छा उद्वृत्त हो जाती है अर्थात् ऊपर उठ जाती है तब कला या साहित्यकी उत्पत्ति होती है ।

## ऐडलरका सिद्धान्त

यद्यपि ऐडलरने भी इसी 'लिबिडो'को ही मूल प्रेरणा-शक्ति माना है किन्तु इसका अर्थ उसने किया है 'शासन-शक्ति', जिसका कार्य है दूसरेपर शासन करना, उसे वशमें करना, उससे अपना काम निकालना और दूसरोंको छोटा समझकर अपनेको बड़ा मानना । उसका मत है कि 'प्रत्येक मनुष्यमें किसी न किसी प्रकारका ऐसा दोष आ जाता है जिससे उसे आशङ्का बनी रहती है कि मैं ।' समाजमें हीन समझा जा रहा हूँ इस हीनताकी भावना या ग्रन्थिसे वह इतना आशंकित रहता है कि वह निरन्तर उसे छिपाने और उस दोषके विपरीत गुणोंको सिद्ध करनेमें लग जाता है । ऐडलरने

समस्त सांसारिक प्रवृत्तियोंका मूल इसी शासन-शक्तिको माना है इसीलिये ऐडलरके मनोविज्ञानको 'व्यक्तिगत मनोविज्ञान' ( इंडिविजुअल साइकोलौजी ) कहते हैं, जिसे हम प्रारम्भमें ही मनुष्यकी अहंवृत्ति बता आए हैं। किन्तु 'यही वृत्ति संसारकी प्रक्रियाओंका आधार है' यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

### यूङ्गका मत

यूङ्गने मनुष्योंकी इस आवेगात्मक लालसा या 'लिबिडो'के अनुसार मनुष्यके दो भेद किए हैं – अन्तर्मुख और बहिर्मुख। अन्तर्मुखी व्यक्ति किसी भी पदार्थको देखकर उसपर विचार करता है और मनमें यह सोचता रहता है कि 'मैं इसकी ओरसे अपनी प्रवृत्ति कैसे हटा लूँ।' इस व्यक्तिमें सब पदार्थोंकी आकर्षण-शक्ति निरन्तर असफल होती रहती है। बहिर्मुख लोग किसी भी पदार्थको देखकर उसकी ओर प्रवृत्त हुए रहते हैं, उससे कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं और निरन्तर उस पदार्थकी ओर प्रवृत्त होनेमें प्रयत्नशील होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति अपने पास-पड़ोस तथा सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियों और वस्तुओंसे समीपतम सम्बन्ध रखता है और अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने और वास्तविक जगत्के बीच एक अन्तरपट डाले रहता है। इस दृष्टिसे हम बहिर्मुखको लोकानुरक्त कह सकते हैं और अन्तर्मुखको विरक्त या उदासीन। अन्तर्मुखी व्यक्तिको देखकर बहिर्मुखी यही समझता है कि 'यह विरक्त, उदासीन और स्वप्नातुर व्यक्ति व्यर्थ है, इसका जन्म निरर्थक है। यह धोबीका कुत्ता न घरका है न घाटका।' अन्तर्मुखी व्यक्ति इस बहिर्मुखीको 'निरर्थक, नीरस और नासमझ व्यक्ति मानता है, जो भौतिक बातोंके अतिरिक्त न कुछ जानता है न जान सकता है।' यूङ्गने केवल इन्हीं दो भेदोंतक सीमा नहीं बाँधी है। वह कहता है कि 'ये दो वृत्तियाँ तो केवल मनुष्यकी चेतन प्रवृत्तियोंकी द्योतिका हैं। इनकी अचेतन प्रवृत्तियाँ ही इनकी चेतन वृत्तियोंकी ठीक विरोधिनी हैं।' उसने फिर मनोवैज्ञानिक क्रियाओंके आधारपर अवलम्बित कुछ और भी बहुतसे भेद बताए हैं। ये मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ चार हैं— विचारात्मक, अनुभवात्मक, आवेगात्मक और अन्तःप्रेरणात्मक। इस दृष्टिसे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तियोंकी चार-चार प्रवृत्तियाँ हुईं। बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी

आवेगात्मक प्रकृति और बहिर्मुखी अन्त:प्रेरणात्मक प्रकृति ; अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी आवेगात्मक प्रकृति और अन्तर्मुखी अन्त:प्रेरणात्मक प्रकृति ।

इनमेंसे जो बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिवाले होते हैं वे नीतिवादी या आचारवादी होते हैं । वे नीति या सदाचरणसे कभी टससे मस नहीं होते ।

बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले यह मानते हैं कि जिससे हमें सुख मिले, शान्ति मिले, सहारा मिले, वही ठीक है, वही अच्छा है, शेष सब बुरे और अग्राह्य हैं ।

बहिर्मुखी आवेगात्मक प्रकृतिवाले 'परान्नं दुर्लभं लोके', 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' तथा 'खाओ पिओ आनन्द करो' का सिद्धान्त मानते हैं । भोग-विलासमें उनका मन लगता है, सुन्दर भोजन और सुन्दर पुरुष या सुन्दरीसे उनकी मनस्तृप्ति होती है।

बहिर्मुखी अन्त:प्रेरणात्मक प्रकृतिवाले लोग भावी सम्भावनाओंके लिये अपनी अन्त:प्रेरणाओंका प्रयोग करते हैं । ये उस प्रकारके होते हैं जो कहा करते हैं—'मेरा मन कह रहा है कि ऐसा होगा ही' । यह प्रकृति स्त्रियोंमें विशेष रूपसे होती है और इसका प्रयोग वे इन बातोंका निर्णय करनेमें भी करती हैं कि 'किस व्यक्तिसे मिलना चाहिए, कैसे कपड़े पहननेसे अधिक प्रभाव पड़ेगा और कैसे व्यक्तिसे प्रेम करना चाहिए ।' पुरुषोंमें व्यापारी, ठेकेदार, सट्टेवाले और राजनीतिज्ञ इसी वृत्तिके होते हैं ।

अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिके व्यक्ति अपने विचारोंसे प्रभावित होकर मन ही मन मनन करते रहते हैं । दार्शनिक पुरुष इसी प्रकृतिके होते हैं । ये लोग बेढङ्गे कपड़े पहनते, सदा चिन्तनशील रहते, सदा कुछ न कुछ भूले रहते हैं और कभी दूसरोंसे खुलकर नहीं मिलते ।

अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले घुन्ने होते हैं, अपने मनकी बात किसीको जानने नहीं देते; मौन, सहानुभूति-पूर्ण तथा आत्म-विज्ञापनसे दूर रहते हैं । प्राय: ईर्ष्यालु स्त्रियाँ इसी श्रेणीकी होती हैं ।

अन्तर्मुखी आवेगात्मक प्रकृतिवाला व्यक्ति किसी प्राप्य या इष्ट वस्तुके साथ अपने आवेगोंका ठीक समन्वय नहीं कर पाता, वह ऐसी विचित्र-विचित्र कल्पना करता है जिसमें मनुष्य, पशु, प्रकृति, नदी, पहाड़ ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनका कुछ अंश उदार देवताका हो और कुछ अनुदार

राक्षसका। ऐसे ही लोग कलाकार होते हैं। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार और सङ्गीतज्ञ इसी श्रेणीमें आते हैं।

अन्तमुंखी अन्त:प्रेरणात्मक प्रकृतिके लोग आदर्शवादी होते हैं। भविष्य-वक्ता, पैगम्बर और सन्त आदि रहस्यात्मक आध्यात्मिक प्रकृतिवाले इसी श्रेणीमें आते हैं। दिन-रात हवाई दुर्ग बनानेवाले, सनकी, योजनाशील (स्कीमर) और वे कलाकार तथा कवि भी इसी वर्गमें आते हैं जो ऐसे विचित्र रहस्यात्मक दृश्यों और काव्योंकी कल्पना करते हैं जिनकी कभी मूर्त्त अभिव्यक्ति ही नहीं होती। अनादृत प्रतिभाशील व्यक्ति, पथभ्रष्ट महापुरुष, भोले-भाले बुद्धिमान तथा वे लोक-हितकारी व्यक्ति भी इसी श्रेणीमें आते हैं जो समाजमें उपेक्षित विषयोंका पक्ष लेकर निरर्थक चिल्लाया करते हैं।

इस प्रकार चरित्र-विश्लेषणके इन नये विचारों, शब्दों और धाराओंमें ऐल्फ्रेड ऐडलरने आत्महीनता (इन्फ़ीरिऔरिटी कौम्प्लैक्स) और आत्म महत्ता (सुपिरिऔरिटी कौम्प्लैक्स) और जोड़ दिया। सी०जी० यूङ्गने इसमें 'इन्ट्रोवर्ट' और 'ऐक्स्ट्रोवर्ट' (अन्त:प्रवृत्त और बाह्य प्रवृत्त) की भावनाके साथ-साथ 'सङ्घटित अचेतन' (कलेक्टिव अन्कौन्शस) का विचार जोड़ दिया, जो तथ्यातिरेकवादियोंका मूलसूत्र है। फ्रौयडने प्राचीन स्वैरवादी स्वतन्त्रताका नये विश्लेषणात्मक विचारसे समाधान करते हुए कहा—'जो दबी हुई वासनाएँ, भावनाएँ, इच्छाएँ और कामनाएँ हैं उन सबको निकाल डालो। किसी बातसे घृणा न करो, मनमें कुछ रक्खो मत; कोई भी काम करनेमें हिचको मत।' ज्वायसने तो इसे प्रतीकके रूपमें स्वीकार किया किन्तु काल्डवैल और फ़ैरल आदिने इसका अर्थ समझा 'अभिव्यक्तिमें पूर्ण स्वतन्त्रता।' किन्तु इससे यही नहीं समझना चाहिए कि फ्रौयडने इसमें केवल मानसिक स्वतन्त्रता की बात ही कही है वरन् उसने तो मानव-प्रकृतिमें लेखककी अन्तर्दृष्टिको अधिक गम्भीर और जटिल बना दिया है। प्राउस्ट आदि वर्त्तमान सभी लेखकोंने अपने पात्रोंमें फ्रौयडकी विश्लेषण-प्रणालीका प्रयोग किया है। नये जीवन-चरित-लेखनमें इससे एक नई शक्ति मिली है, जिसके द्वारा जीवन-चरित-लेखकोंको प्रत्यक्ष आधारोंके पीछे छिपी हुई भावनाओं और उद्देश्योंको समझनेमें सहायता मिली है। नाटकके क्षेत्रमें यद्यपि प्रारम्भमें इन स्वतन्त्रता ढूँढ़नेवाले फ्रौयडवादियोंकी बड़ी खिल्ली उड़ाई जाती थी किन्तु शीघ्र ही विघटित प्रेम तथा निषिद्ध सम्बन्धसे लेकर यूनानी त्रासदोंके

पुनर्निर्माणतककी सब बातों या छिपी हुई भावनाओंको प्रकट करनेके लिये इस प्रणालीका प्रयोग होने लगा। यूजीन ओ' नीलने फ्रौयडीय विश्लेषणका सबसे अधिक प्रयोग किया है। यही कारण है कि उसके बड़े नाटकोंमें संश्लेषणका अभाव है। स्टुअर्ट शेर्मन्का कहना है कि 'आजकल लोग भावनाओं या प्रेरणाओंकी मुक्ति नहीं चाहते वरन् एक सम्बद्ध शक्ति चाहते हैं।' फ्रौयडीय प्रवृत्तिपर जो कुछ थोड़ा-बहुत आक्षेप है वह यही है। कवितामें इसका प्रभाव बहुत विस्तृत है और समीक्षामें भी उसका मत ग्राह्य किया गया है।

### स्वप्न ( ड्रीम )

कुछ लोग स्वप्नको कला-कृतियोंका उद्गम तथा कला-कृतियोंके लिये प्रयुक्त होनेवाली विधिके रूपमें ग्राह्य मानते हैं।

१. स्वैरवादियोंने जाग्रत स्वप्न, सुखचिन्तन या निद्रामें आनेवाले अन्तःस्फुरणको काव्यकी प्रेरणा समझकर इसका प्रयोग किया है। कभी-कभी तो इस प्रकारके स्वप्न-रूपोंको निमन्त्रण देनेके लिये लोगोंने अफ़ीम, गाँजा आदि मादक पदार्थोंका सेवन भी किया है जैसे कि आजकलके अतितथ्यवादी लोग अपने भीतरके आत्मको समझनेके लिये मूर्छा (हिस्टीरिया) या 'आत्म-भ्रान्ति या आत्मतन्मयता' ( पैरेनोरिया ) हो जानेका रूपक दिखाया करते हैं। स्वैरवादियोंके पश्चात् इस स्वप्नवादका बड़ा विरोध हुआ। रोजर फ्राइने अत्यन्त स्पष्ट रूपमें कह दिया है कि 'स्वप्नसे बढ़कर सौन्दर्यात्मक भावनाकी विरोधिनी और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।' इस बीच थोरेऊने स्वप्नकी बड़ी प्रशंसा गाई किन्तु वह अन्तः-स्फुरणके रूपमें नहीं वरन् आकांक्षाके रूपमें, और यह बताया कि 'हमारे स्वप्न ही हमारे सबसे अधिक कठोर सत्य हैं।' फ्रौयडवादियोंने नाटकको आदर्शके रूपमें तो नहीं किन्तु वास्तविकताके रूपमें रचनात्मक प्रेरणा देनेके साधनके रूपमें माना है और कहा है कि 'नाटक छद्मवेशसे या अन्य रूप धारण करके हमारी इच्छा और हमारे भयको व्यक्त करते हैं। जाग्रत अवस्थामें भी ये चेतन रहते हैं और मुँहसे कुछका कुछ निकल जानेके रूपमें, कुछ बोल जानेके रूपमें और कुछ काव्यकी पंक्ति गुनगुनानेके रूपमें व्यक्त होते हैं, क्योंकि कला भी एक प्रकारका जाग्रत् स्वप्न है जिसमें हम अपनी अनुचित और अशक्त वासनाओंको

अपनेसे छिपाते हैं और कलाके द्वारा उसे करते या कमसे कम उस वासनासे मेल-जोल स्थापित कर लेते हैं जो जीवनमें अतृप्त रही है।' फ्रौयडका यह स्वप्न-सिद्धान्त अनेक विद्वानों-द्वारा खण्डित किया गया है। किन्तु कामके सम्बन्धमें जो उसने अपने सिद्धान्त निश्चित किए हैं उनकी कलाकार उपेक्षा नहीं कर सकते।

योरोपीय साहित्यमें स्वप्नका प्रयोग कथा चलानेके लिये बहुत किया गया। कभी-कभी इसका प्रयोग अध्यवसानके रूपमें भी किया गया जहाँ कवि सोनेवाले व्यक्तिको स्वप्नमें हाथ पकड़कर ले चलता है। दाँतेने इसी रूपमें अपने काव्यमें वर्जिल और बिएत्रिसका प्रयोग कराया है। भारतवर्षमें भी भास और कालिदास जैसे नाटककारोंने कामोन्मत्त दशाके स्वप्नोंमें प्रिय या प्रियतमाका मेल कराया है और स्वप्न टूटनेपर उनका विलाप भी। इस प्रकार यद्यपि अनेक रूपोंमें स्वप्नका मिलन किया गया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम स्वप्नको काव्यका कारण मान लें।

## बाह्य शृंखला ( ऑब्जेक्टिव कौरिलेटिव )

टी० एस्० ईलियटने कहा है कि 'कलामें भावकी अभिव्यक्तिका एक ही ढङ्ग यह है कि बाह्य शृङ्खला ( औब्जेक्टिव कौरिलेटिव ) को ढूँढ़ लिया जाय', दूसरे शब्दोंमें, 'कुछ वस्तुओंकी स्थिति या घटनाओंकी एक शृङ्खला ढूँढ़ ली जाय जो उस विशिष्ट भावको व्यक्त करनेका गुर हो। यह ऐसा हो कि यदि बाह्य वस्तुएँ उपस्थित कर दी जायँ तो इसके इन्द्रियानुभवसे निर्दिष्ट भाव तत्काल प्रकट हो सके।' यदि इसे मान लें तो अभिनय और सङ्गीत दोनों व्यर्थ हो जायँ। करुणा, भय, हास और प्रेम आदि कोई भी भाव और भी अनेक रीतियोंसे उत्तेजित किया जा सकता है। यदि 'विशिष्ट' कहनेसे ईलियटका अर्थ यह है कि 'बाह्य वस्तुओंका एक समन्वय रख देनेसे जो भावोंकी जटिलता उत्पन्न हो जाती है वही 'विशिष्ट' है' तो ईलियट केवल यही कह रहा है कि 'जीवनके समान कलामें भी कुछ विशेष परिस्थितियोंसे तदनुकूल कुछ भाव उत्पन्न होते हैं।' किन्तु केवल यह 'बाह्य शृङ्खला' ही तो काव्य-प्रेरणा नहीं हो सकती।

## वातावरण ( एन्वायरनमेन्ट या मील्यू )

बहुतसे समीक्ष्यवादियोंका मत है कि 'वातावरण भी काव्यका कारण होता है'। हिपोलाइत तेन ( १८२८से १८९३ ) ने जाति, अवसर और वातावरणको कलाकृतिकी उत्पत्तिका कारण और आधार माना है। उसने गुण और दोषको भी नीले थोथे और चीनीके समान उत्पादित पदार्थ माना है। यद्यपि यह मत इस रूपमें ठीक नहीं है, फिर भी समाजवादी समीक्ष्यवादियोंने इन्हींको आधार माना है। जो लोग वातावरण बदलनेका सिद्धान्त मानते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि 'कविको सामाजिक वातावरण ही बदल देना चाहिए', वे इस वातावरणको काव्यका अधिक आधार और कारण मानते हैं। ऐतिहासिक समीक्ष्यवादी भी यह मानते हैं कि 'कवि अपने युगका प्रतिनिधि होता है।' इसका तात्पर्य यही है कि कवि अपने युगके वातावरणसे प्रभावित होकर अपने युगकी प्रवृत्तियों, वासनाओं और आकांक्षाओंको व्यक्त करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी परिस्थिति भी मनुष्यके विचारोंपर प्रभाव डालती है किन्तु वह केवल प्रभाव ही डालती है, उसके कारण काव्यका जन्म नहीं होता, अर्थात् वातावरण स्वयं काव्यकी प्रेरणा-शक्ति नहीं है और यदि है तो वह बाह्य है। अतः इसे बाह्य प्रेरणा-शक्ति ही समझना चाहिए।

## नारी

बहुतसे आचार्योंका मत है कि 'काव्यकी वास्तविक प्रेरणा-शक्ति नारी है।' कवियोंने अपनी सब प्रकारकी साहित्य-रचनाओंमें स्त्रीका विशेष वर्णन किया है। कुछ लोगोंने तो यहाँतक कह दिया है कि 'संसारमें जितनी घटनाएँ हुई या होती हैं, सबके पीछे कोई नारी अवश्य रहती है। रामायणमें सीता, ईलिअदमें हेलन, महाभारतमें द्रौपदी, दिवाइन कौमेदीमें बिएत्रिस सभी नारियाँ ही हैं। और भी संसारमें जितनी साहित्य-कथाएँ हैं, वे चाहे नाटकके रूपमें हों, कथाके रूपमें हों या कविताके रूपमें हों, सबमें नारीका ही विशेष वर्णन है। यदि प्रत्यक्ष जगत्को काव्यके लिये प्रेरणाका आधार माना जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चेतन प्रकृतिमें नारी ही काव्यकी सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति रही है और रहेगी, पर तभीतक जबतक पुरुष साहित्यकार होंगे। जब नारी भी वेगसे साहित्य-रचना करने लगेगी तब 'नर' भी काव्यका प्रेरक-तत्त्व बन जायगा। किन्तु यह भी बाह्य प्रेरणा-शक्ति है, सात्त्विक नहीं।

## मानसिक विकार ( डीजेनेरेशन )

उन्नीसवीं शताब्दिके पिछले भागमें कलाकारकी प्रतिभाका मनोवैज्ञानिक, नर-शास्त्रीय तथा मानसोपचारीय विवेचन किया गया और कहा गया कि 'कलात्मक प्रतिभा एक प्रकारका उन्माद और विकार है।' इस सिद्धान्तके प्रमुख प्रवर्त्तक थे सेसारे लोम्ब्रोसो ( १८३५ से १९०९ ) और मैक्स नोरडाउ ( मैक्स साइमन स्यूडफ़ेल्ड, १८४९ से १९२३ )। मानसिक उपचार-कर्त्ता तथा कानूनी औषधि-विज्ञानके आचार्य लोम्ब्रोसोने कलात्मक प्रतिभाको उन्मादका एक प्रकार बताया और कहा कि 'जलवायु, तापमान, रोग, वंश-परम्परा आदिके कारण यह उन्माद होता है तथा यह भी अन्य उन्मादोंके समान ही है।' इसे प्रतिभाको भी उसने विकृत मानसिक दशा बताया है। उसका यह ग्रन्थ मानसोपचारके साहित्यमें अत्यन्त महत्त्वका माना जाता है। अपने इस सिद्धान्तके अनुसार उसने अपने समयके योरोपीय साहित्य और कलापर बड़ा आक्षेप किया है। उसके मतानुसार राफ़ेलसे पूर्वके लोग, रिचार्ड वैगनर, टौल्स्टौय, परनेशियावाले, इबसन, नीत्शे, ज़ोला आदि सब विकृत मस्तिष्कवाले थे जो समकालीन सभ्यताके स्नायविक तनावसे अति श्रान्त होनेके कारण मूल मनुष्यके अस्वस्थ रूप बन गए अर्थात् वे नैतिक उन्माद, मूर्छा आदिके आखेट थे। उसने अपने समयके रहस्यवाद ( मिस्टिसिज़्म ), अहंवाद ( ईगोमेनिया ) और तथ्यवाद ( रीअलिज़्म ) की आलोचना करते हुए कहा है कि 'ये सब उदासी रोग ( मैलंकोलिया ) की श्रेणीके उन्मादसे निकले हैं जो अवसन्न केन्द्रीय स्नायु-प्रणालीका मानसोपचारीय लक्षण हैं।' इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले मैक्स नोरडाउके 'एन्टारटूंग' ग्रन्थके प्रकाशित होनेपर बड़ी आलोचना हुई और लोग इसकी ओर प्रवृत्त हुए। बर्नार्ड शौने अपने 'कलाकी सज्ञानता' ( दि सैनिटी ऑफ़ आर्ट, १८९५ ) में और ए० ई० हेकने अपने 'पुनरुत्पत्ति' ( रीजेनरेशन, १८९६ ) में कला-प्रतिभाको मानसोन्माद बतानेके सिद्धान्तका विरोध किया। यह सिद्धान्त कान्टेके प्रत्यक्षवाद ( पौज़िटिविज़्म ), तत्कालीन भौतिकवाद तथा बी० ए० मौरल, एच्० माउडस्ले, तथा ए० बिने आदिके मानसोपचारीय सिद्धान्तोंपर अवलम्बित था। नोरडाऊने अपना सिद्धान्त जर्मनीकी स्वैरवादी परिपाटी और 'ह्रासोन्मुख' ( फ़िन-दे-सिएक्ले ) वृत्तिके अनुसार स्थापित किया था। लोम्ब्रोसो और नोरडाऊ दोनों वर्त्तमान मानसोपचारीय समीक्षाके प्रवर्त्तक हैं

और इन्हीं दोनोंको यह श्रेय है कि 'कलात्मक कृतियोंमें सात्त्विक तत्त्वका महत्त्व बताकर उन्होंने प्रकृतिवादके सिद्धान्तका निराकरण किया।' इसीसे मिलता-जुलता एक सिद्धान्त जियानेत मार्कका है जिसने अपने 'प्रतिभा और विध्वंस' (जीनियस ऐन्ड डिज़ास्टर, १९२९) में बताया कि पो, जेम्स, थौम्सन, स्विन्बर्न, फ्रान्सिस आदिने मदिरा, मादक द्रव्य तथा रोग आदिके प्रभावसे रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त आजकलकी एक यह भी प्रवृत्ति चली है कि वे किसी कलाकारकी रचनाको उसकी अचेतन-गत इच्छाओं और असफलताओंका परिणाम मानते हैं।

## काव्यके दो रूप होते हैं : अनायास और सायास

कविकी वाणी दो प्रकारसे व्यक्त होती है—एक अनायास अर्थात् बिना किसी प्रकारके बौद्धिक या मानसिक प्रयत्नके, जैसे भगवान् प्राचेतसके मुखसे, क्रौञ्च-मिथुनका वध करनेवाले निषादके प्रति 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगमः' उक्ति सहसा फूट पड़ी थी और जिसके लिये कहा गया है—'शोकः श्लोकत्वमागतः', अर्थात् शोक ही श्लोक बनकर निकला। यही अनायास, स्वाभाविक, नैसर्गिक और स्वयंव्यक्त कविता है। केवल भावात्मक मुक्तक अथवा तन्मयतायुक्त गीत ही इस श्रेणीकी सात्त्विक रचनाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य, गद्य-काव्य, उपन्यास, नाटक तथा निबन्ध इत्यादि जितने साहित्यिक रूप हैं, सब सायास होते हैं क्योंकि उनमें कवि अपनी बुद्धि तथा कल्पना इत्यादिसे गढ़कर कृत्रिम, कलापूर्ण रचना-कौशल प्रकट करता है। ये सब रचनाएँ अस्वाभाविक होते हुए भी कवि-कौशलके कारण स्वाभाविक-तुल्य प्रतीत होती हैं। इन्हींमें जो काव्य-कौशलसे हीन होती हैं वे लोकप्रिय नहीं हो पातीं और जिनमें कवि लोक-जिज्ञासा और लोकाकांक्षाकी तृप्ति करनेके साधन उपस्थित करते हैं, वे लोकप्रिय और लोक-प्रसिद्ध हो जाती हैं। ऐसे काव्य सायास और सोद्देश्य होते हैं। इसके विपरीत जो अनायास या स्वाभाविक काव्य होते हैं वे 'स्वान्तःसुखाय' या कविके अपने मनस्तोषके लिये रचे जाते हैं और वे ही सात्त्विक तथा उद्वृत्त काव्य होते हैं।

सम्भवतः बहुतसे प्रबन्ध-काव्योंमें 'स्वान्तःसुखाय'की वृत्तिके साथ-साथ लोक-कल्याणकी भावना भी निहित हो, जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीके

रामचरितमानसमें। किन्तु नाटक तो काव्यका वह रूप है जो कभी 'स्वान्तः-सुखाय' हो नहीं सकता, क्योंकि वह दृश्य होता है, उसका प्रयोजन ही है दूसरोंके सम्मुख दिखाया जाना। अतः नाटक सोद्देश्य और सायास होता है। उसमें नाटककारको केवल कला-कौशल और काव्य-कौशल दिखानेसे मुक्ति नहीं मिलती वरन् उसे पात्र-योजना, व्यापार-योजना, संवाद-योजना और सङ्गीत-योजना, सबके लिये विशेष अभ्यास करना पड़ता है और सदा सामाजिक अभिनेता, नाट्य-प्रयोक्ता और रङ्गशालाका ध्यान रखकर रचना-कार्य करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और यही कारण है कि संसारमें निबन्ध, उपन्यास, कविता और कहानीके लेखक तो बहुत हुए पर नाटककार बहुत कम। यही बात श्रव्य काव्यके लिये भी है। अतः साहित्यकी सृष्टि दो प्रकारसे हुई—सायास और अनायास।

### प्रतिभा

भारतीय साहित्याचार्योंने माना है कि 'काव्यकी एक प्रेरणा-शक्ति होती है जिसे प्रतिभा कहते हैं। इसी शक्तिसे सम्पन्न होकर मनुष्य कवि बन सकता है।' इस प्रतिभाकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध आलङ्कारिक भामहने कहा है कि 'मूर्ख मनुष्य भी गुरुसे शिक्षा लेकर शास्त्रका भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु काव्य रचनेकी प्रेरणा उसी व्यक्तिमें होगी जिसमें प्रतिभा होगी।'

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

यदि कोई व्यक्ति प्रतिभाशील हुए बिना ही काव्य-रचनामें प्रवृत्त होगा तो वह निश्चित रूपसे उसमें अनेक दोष उत्पन्न कर देगा, किन्तु प्रतिभा-सम्पन्न कवि कोई ऐसी रचना नहीं करेगा जिसकी निन्दा हो सके। भट्टतौतने प्रतिभाका लक्षण बताया है—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'

[ नई-नई बातें सुझानेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। ]

कुन्तकका मत है—

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

[ वक्रोक्तिजीवित ]

[ पिछले जन्म और इस जन्मके संस्कारसे पककर दृढ बनी हुई एक अनोखी कवित्व शक्ति ही प्रतिभा कहलाती है। ]

### वामनका सिद्धान्त

वामनने अपने 'काव्यालङ्कार' में प्रतिभान या प्रतिभाको कवित्वका मूल बीज मानते हुए बताया है कि 'जैसे बीजसे एक नया वृक्ष निकल आता है वैसे ही प्रतिभासे कविताका प्रादुर्भाव होता है।' यह प्रतिभा पूर्व जन्मसे चला आता हुआ कोई एक विशेष संस्कार होता है जो कविके जन्मके साथ उसे मिल जाता है और जिसके बिना काव्य उत्पन्न नहीं होता, और यदि उसके बिना काव्य रचा भी गया तो उससे कविकी हँसी ही होती है।

कवित्व बीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्, जन्मान्तरागत-संस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्॥

—काव्यालङ्कार सूत्र।

### भट्टगोपालकी परिभाषा

[ भट्टगोपालने प्रतिभाको कवित्वका बीज या एक प्रकारकी सामग्री माना है उसे एक विशेष संस्कार बताते हुए उसने कहा है कि 'जैसे वृक्षको देखकर हम समझ जाते हैं कि इसकी उत्पत्ति इसी बीजसे हुई होगी, वैसे ही हम किसी कविताको देखकर समझ जाते हैं कि इसके मूलमें कोई शक्ति रही होगी—'

कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णननैपुण्यलक्षणस्य बीजमुपादान-स्थानीयः संस्कार-विशेषः कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः॥

### राजशेखरका मत

राजशेखरने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में प्रतिभाकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'प्रतिभा वह शक्ति है जो कविके हृदयमें शब्द-समूह, अर्थ-समूह, उक्तिके ढङ्ग आदि ऐसी सब सामग्री सुझाती है, जो कि प्रतिभाहीन व्यक्ति कभी सोच भी नहीं सकता।' प्रतिभावाले व्यक्तिको अन्धे होनेपर भी सब पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाई पड़ते हैं और इसीलिये वे उसे उस प्रकार वर्णन कर सकते हैं मानो उन्होंने स्वयं खुली आँखोंसे देखा हो। सूरदासकी रचनाके

सम्बन्धमें अनेक समीक्ष्यवादियोंने कहा है कि 'जिस सूक्ष्मताके साथ सूरदासजीने कृष्णकी बाल-लीलाओंका वर्णन किया है उन्हें देखकर यह विश्वास नहीं होता कि सूरदासजी जन्मान्ध थे।' जिन लोगोंने इस प्रकारकी आपत्ति की है, वे सम्भवतः नहीं जानते कि हम बहुत-सी बातोंका वर्णन सुनकर या पढ़कर भी कर सकते हैं और अपनी आन्तरिक शक्तिके द्वारा भी कर सकते हैं। यही अन्तरिक शक्ति 'प्रतिभा' है। राजशेखरने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि 'मेधाविरुद्र और कुमारदास जन्मान्ध थे किन्तु उन्होंने अपने काव्योंमें सम्पूर्ण लौकिक पदार्थोंका ऐसा विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन किया है कि कोई आँखवाला भी नहीं कर सकता।' अतः इन सब आचार्योंका यही मत है कि 'प्रतिभा एक विशेष संस्कार है जो कविको पिछले जन्मसे ही अपने जीवात्माके साथ प्राप्त हो जाता है और जो दूसरे जन्ममें कवित्व-संस्कार मिलनेपर सहसा उद्‌बुद्ध हो जाता है। इसीलिये कवि लोग ऐसे विचित्र वर्णन भी कर डालते हैं जिसतक साधारण मनुष्यकी बुद्धि भी नहीं पहुँचती।'

### प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास

दण्डीने भी प्रतिभाको काव्यका कारण माना है, किन्तु उसने उसके साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास भी जोड़ दिया है। दण्डीका मत है कि 'केवल प्रतिभासे ही काव्यका स्फुरण नहीं होता, उसके साथ शास्त्रोंका परिचय तथा काव्य-रचनाका अभ्यास भी अपेक्षित है।' किन्तु उसने भी अपने काव्यादर्शमें प्रतिभाको स्वाभाविक ही मानकर उसे पूर्वजन्मकी वासना बताया है। अन्य आचार्योंके समान दण्डीने प्रतिभा-हीन कविको मुँह छिपाकर घर बैठनेका परामर्श नहीं दिया है। उसने आशा दिलाई है कि 'यदि शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय और सरस्वतीकी उपासना की जाय तो निश्चित रूपसे सरस्वतीजी उसपर कृपा करती हैं।' कहनेका तात्पर्य यह है कि दण्डीने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनोंकी प्रधानता मानी है।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतश्च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसम्पदः॥
विद्यते यद्यपि पूर्ववासना।
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम्॥

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ।
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।।

## अवधानका महत्त्व

वामनने भी लगभग वही बात कही है जो दण्डीने । उसने प्रतिभाका नाम प्रतिभान रक्खा है और उसे कवित्वका बीज मानते हुए यह भी जोड़ दिया है कि 'कविको प्रतिभाके अतिरिक्त काव्योंका ज्ञान, काव्य-रचनाके लिये अभ्यास और परिश्रम, काव्यकी शिक्षा देनेवाले गुरुकी सेवा तथा अनेक शास्त्रोंका अध्ययन भी करना चाहिए ।' इन सबके साथ-साथ उसने एकाग्रता ( समाधि ) को ही काव्य-रचनाका हेतु माना है । इस एकाग्रताका विवरण देते हुए उसने कहा कि 'इस अवधान या एकाग्रताकी उत्पत्ति देश और कालसे होती है' अर्थात् गाड़ीमें बैठे हुए कोलाहल-पूर्ण वातावरणमें कविता नहीं रची जाती । उसके लिये एकान्त हो और समय भी ऐसा न हो कि भूख लगी हुई हो, गर्मी पड़ रही हो, पसीना टपक रहा हो और मन व्याकुल हो । ब्राह्म मुहूर्तमें जिस समय सारी सृष्टि निद्रासे जाग रही हो, उस नीरव उद्बोधन-वेलामें कविताका भी उद्बोधन हो सकता है । अर्थात् वामनने प्रतिभा, काव्यज्ञान, काव्यरचनामें परिश्रम, गुरुकी सेवा, शास्त्रज्ञान और एकाग्रता इन सबको काव्यकी प्रेरणा माना है ।

## शक्ति

रुद्रटने भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति ( अनेक शास्त्रोंका ज्ञान ) तथा अभ्यासको काव्यकी प्रेरणाका कारण माना है । उसने प्रतिभाको 'शक्ति' कहा है । उसका मत है कि 'जब मनुष्य एकाग्रचित्त हो जाता है तब अनेक प्रकारके अर्थ उसके मनमें चमक जाते हैं और सुन्दर पदोंकी लड़ी कविके सामने ऐसी लहरा जाती है मानो किसीने बिजलीके अक्षरोंमें लिख टाँगी हो ।' इस प्रकार अर्थों और पदोंको कविके सामने ला खड़ी कर देनेवाली ही शक्ति कहलाती है ।

## व्युत्पत्तिसे श्रेष्ठ प्रतिभा

आनन्दवर्धनने व्युत्पत्ति और प्रतिभा, दोनोंको काव्य-साधन मानते हुए भी प्रतिभाको व्युत्पत्तिसे श्रेष्ठतर बताया है । आनन्दवर्धनका मत है कि 'जिस

व्यक्तिमें प्रतिभा नहीं है वह भी अपनी रचनामें दोष कर सकता है और जिसे व्युत्पत्ति-ज्ञान नहीं है वह भी, किन्तु प्रतिभा न होनेसे जो दोष होते हैं वे भयङ्कर होते हैं। अतः सत्साहित्यके लिये प्रतिभाका होना अत्यन्त आवश्यक है।'

### व्युत्पत्तिकी श्रेष्ठता

आचार्य मङ्गलने ठीक इससे विपरीत, व्युत्पत्तिको ही श्रेष्ठतर माना है। वह कहता है कि 'व्युत्पत्ति ( बहुज्ञता ) होनेसे कवि सब दिशाओंमें अप्रतिहत गतिसे चल सकता है।' प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुका वर्णन तो कोई भी कवि कर सकता है किन्तु जिस कविमें व्युत्पत्ति है वह तो सम्भव-असम्भव, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सबका वर्णन कर सकता है इसलिये आचार्य मङ्गलने व्युत्पत्तिको प्रतिभासे श्रेष्ठ मानते हुए है कि 'प्रतिभा न होनेके कारण कवि जो दोष कर सकता है वे सब व्युत्पत्तिसे ढक दिए जाते हैं।' राजशेखरने इस विषयमें बड़े विस्तारसे प्रतिभा या शक्तिका विवरण दिया है।

### प्रतिभा

राजशेखर कहता है कि 'वे सारस्वत कवि ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहोंकी झोपड़ीसे लेकर राजप्रासादतक समान रूपसे आदृत होते हैं। इन कारयित्री प्रतिभावाले सारस्वत कवियोंको ही यदि काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व बुद्धिवाले सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करनेवालोंकी भावयित्री प्रतिभा मिल जाय तब तो सोनेमें सुगन्ध समझनी चाहिए। वास्तवमें भावयित्री प्रतिभावाले व्यक्ति वे हैं जो भावक हों। जो व्यक्ति स्वयं सहृदयके समान रस ले सकता हो वही भावयित्री प्रतिभावाला भावक कहलाता है। क्योंकि जबतक वह काव्यार्थकी भावना न करेगा तबतक दूसरोंको रसमग्न कैसे कर पावेगा? यह कला अर्थात् कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओंका समन्वय, काव्यात्मक व्यापार और पात्रोंकी योजनाके लिये भी उतना ही आवश्यक है, जितना शब्द और अर्थके उचित प्रभावशाली संयोगके लिये। इसका अर्थ यह है कि कविको यह कला आनी चाहिए कि 'किस शब्दको वाक्यमें किस प्रकार प्रयुक्त करे कि उससे उद्दिष्ट अर्थ व्यक्त हो सके और भावना-चमत्कार भी बना रह जाय।'

## दो प्रकारके कवि

काव्य-मीमांसाकार राजशेखरने शिष्य ( कवि ) दो प्रकारके बताए हैं—१. बुद्धिमान् और २. आहार्यबुद्धि। बिना किसीके सहायताके ही जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्रोंका मर्म ग्रहण करनेमें कुशल हो वह बुद्धिमान कहा जाता है, किन्तु जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्याससे मँजती है उसे आहार्यबुद्धि कहा जाता है। बुद्धि तीन प्रकारकी होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। दृढ़ संस्कारके द्वारा बीती हुई पुरानी बातोंका स्मरण करनेवाली बुद्धिको स्मृति, प्रस्तुत विषयका मननात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिको मति और भावी विषयोंका कल्पनात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं। ये तीनों प्रकारकी बुद्धियाँ कविकी काव्य-रचनाके लिये आवश्यक होती हैं। ऊपर शिष्योंके ( कवियोंके ) जो भेद बताए गए हैं उनमें बुद्धिमान शिष्य ( कवि ) गुरुकी प्रेरणाके बिना ही स्वयं-स्वाभाविक प्रेरणासे गुरुसे शास्त्र सुननेकी अभिलाषा करता है, गुरुके उपदेशको सावधान होकर सुनता है, गुरुके उपदेश सुनकर उन्हें व्यवस्थित रूपसे अपने हृदयमें धारण करता है, सुने और जाने हुए विषयोंपर बार-बार मनन करके अपने ज्ञानकी वृद्धि करता है, विशेष ज्ञान होनेपर अपने तर्कबलसे अनेक प्रकारके विकल्पोंकी कल्पना करता है, अपनी बुद्धि-द्वारा कल्पित किए हुए उन विकल्पोंमेंसे अनुपयुक्त और अनुचित विकल्पोंको दूर करता है और इस प्रकार अपनी सुबुद्धि-द्वारा अनेक मनोव्यापारोंको उपस्थित करके विषयकी यथार्थताकी तहतक पहुँच जाता है।

आहार्य बुद्धिवाले कवियोंमें भी उपर्युक्त सभी गुणोंकी सत्ता वर्तमान रहती है। पर इनमें अन्तर बस इतना ही होता है कि इनके इन गुणोंके विकासके लिये किसी सद्गुरुकी प्रेरणा-मात्रकी अपेक्षा रहती है। किसी अच्छे गुरुकी उपासना करना दोनों ही प्रकारके कवियोंके लिये वाञ्छनीय है क्योंकि अच्छे गुरुओंकी उपासनासे बुद्धिका विकास होता है। इन दोनों प्रकारके शिष्यों ( कवियों ) के अतिरिक्त शेष कवि या रचनाकार दुर्बुद्धि कहलाते हैं।

## काव्य-संस्कार

किन्तु कविके लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें काव्य-संस्कार भी होना चाहिए अर्थात् उसे काव्य-रचनाके विधानोंका सम्यक् ज्ञान और

लोक-व्यापारका विस्तृत परिचय होना ही चाहिए। इसके बिना सारस्वत कवि भी असफल ही सिद्ध होगा और दुर्बुद्धि कवि भी यदि निरन्तर काव्य-शास्त्र या कवियोंके सम्पर्कमें रहे तो वह बुद्धिमान और आहार्यबुद्धिसे कहीं बढ़कर अच्छा कवि हो सकता है।

### समाधि

श्यामदेवका मत है कि 'कविको काव्य-रचनामें समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताकी अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि अर्थोंके चयनके लिये चित्तकी एकाग्रता अधिक उपयोगी होती है।'

सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमथ परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥

[ सरस्वती-सम्बन्धी ऐसे गूढ़ तत्त्व हैं जिनका अन्वेषण करना विद्वानोंका एकमात्र कर्त्तव्य है और उनकी सिद्धिके लिये सबसे प्रधान साधन है—चित्तकी एकाग्रता। ]

### अभ्यास और समाधि

आचार्यवर मङ्गलका कहना है कि 'काव्य-स्फूर्तिका प्रधान साधन 'अभ्यास' है। अभ्यास कहते हैं निरन्तर ग्रन्थोंके परिशीलन करनेको। अभ्याससे सभी विषयोंमें अप्रतिहत गति हो जाती है। समाधि और अभ्यासमें भेद यह है कि समाधिमें आन्तरिक व्यापारकी प्रधानता होती है और अभ्यासमें बाह्य प्रयत्नकी। समाधि और अभ्यास दोनों ही काव्य-प्रणयनकी शक्ति बढ़ाते हैं। यायावरीय 'राजशेखर'का मत है कि काव्य-रचनामें शक्ति ही मुख्य कारण है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति ये दोनों शक्तिके ही परिणाम हैं। जिस व्यक्तिमें काव्य-रचना-शक्ति होती है उसीमें प्रतिभा और व्युत्पत्तिका भी स्फुरण होता है। जो शक्तिविशेष काव्य-रचनाके प्रसारमें कविके मानसमें काव्य-रचनाके अनुकूल शब्द-समुदाय, सहृदयके हृदयको मुग्ध कर सकनेवाली शब्द-राशि, शब्दार्थोभयालङ्कार-प्रपञ्च और कवि-सिद्धान्तानुकूल उक्ति-वैचित्र्यका स्फुरण कराती है उसे प्रतिभा कहते हैं। अप्रतिभावान् व्यक्तिके सम्मुख शब्द तथा अर्थ दोनों अप्रत्यक्ष रहते हैं और प्रतिभाशालीके सम्मुख शब्द और अर्थ प्रत्यक्ष स्वानुभूतिके समान मूर्त्त रूप

लेकर उपस्थित होते हैं। इस प्रतिभाका ही प्रताप है कि मेधावि रुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियों-द्वारा प्रस्तुत वर्णनोंमें भी पाठकको प्रत्यक्षानुभूतिका दर्शन मिलता है। यह प्रतिभाका ही बल है कि कवि अपनी कुटियामें बैठा हुआ देशान्तरों और द्वीपान्तरोंकी वस्तुओंका भी अपने काव्यमें ऐसा सच्चा और सजीव चित्र खींच देता है कि पाठकोंके मनमें यह सन्देह ही नहीं हो पाता कि कविने उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है।

## कारयित्री प्रतिभा

प्रतिभा दो प्रकारकी होती है—१. कारयित्री और २. भावयित्री। जो प्रतिभा काव्यकी रचनामें रचयिताकी सहायता करती है वह कारयित्री प्रतिभा कही जाती है। उसके भी तीन भेद हैं—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। प्राक्तन जन्मान्तर संस्कारसे प्राप्त प्रतिभाको सहजा कहते हैं, वर्त्तमान जन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न तथा अत्यन्त अभ्याससे उद्बुद्ध होनेवाली प्रतिभाको आहार्या कहते हैं और मन्त्र-तन्त्र या तपस्यासे जो प्रतिभा प्राप्त होती है वह औपदेशिकी कहलाती है।

## भावयित्री प्रतिभा

काव्यके अर्थकी भावनासे जिनकी बुद्धि पक गई है उन सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। भावयित्री प्रतिभा कविके काव्य-रचना-व्यापार-रूपी वृक्षको सफल बनाती है। बिना इस प्रतिभाके वह फलहीन तथा निरर्थक ही रह जाती है। कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला भावक।

## कवि और भावक

आचार्योंका कहना है कि 'कवि ही काव्यार्थकी भावना करता है और भावक ही कविता करनेकी क्षमता रखता है।' अतः कवि और भावकमें कोई भेद नहीं समझना चाहिए। उन्होंने कहा भी है—

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥

[ प्रतिभाकी न्यूनता और अधिकतासे कवियोंके भिन्न-भिन्न पद होते हैं। भावोंमें रमण करनेवाला भावक कवि सर्वश्रेष्ठ होता है और लोक-प्रशंसा प्राप्त करता है। ] इसलिये कवि और भावकमें कोई भेद नहीं है।

### व्युत्पत्तिका विवेचन

आगे चलकर राजशेखरने काव्य-पाक-कलाका विवेचन करते हुए कहा है—

'अनेक विषयोंको अवगाहन करनेमें प्रवीण शक्तिको व्युत्पत्ति कहा जाता है' यह आचार्योंका मत है। वहाँ कवियोंकी शक्ति व्यापक और सर्वदेशगामिनी होती है। कहा गया है—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥

[ बार-बार अभ्यास किए गए विषयोंमें तो भला किसीकी बुद्धि नहीं विस्तृत होती है, पर अनभ्यस्त अत्यन्त नवीन विषयोंमें भी अपनी सर्वत्र-व्यापिनी प्रतिभासे वाणीके विकासका प्रदर्शन करना महाकवियोंका ही कार्य है। ] यायावरीय 'राजशेखर'का मत है कि योग्यायोग्यके विचारपूर्वक भावोंके आदान-प्रदानकी क्षमताका नाम ही व्युत्पत्ति है। आनन्दवर्द्धनाचार्यका कहना है कि 'प्रतिभा अधिक प्रशस्यतर होती है। प्रतिभा कविके अव्युत्पत्ति-जन्य दोषोंको छिपा देती है।' कहा गया है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संस्क्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥
शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्त्तते।

[ कविकी रचनामें व्युत्पत्तिकी कमीसे जो दोष आ जाता है वह प्रतिभारूपी शक्तिसे छिप जाता है पर प्रतिभाके अभावसे उत्पन्न हुआ दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और कविकी अक्षमता पाठकोंको प्रकट हो जाती है। ] शक्ति शब्दसे तात्पर्य है प्रतिभा-शक्ति।

आचार्य मङ्गलका मत है कि 'प्रतिभासे व्युत्पत्ति श्रेष्ठ होती है और व्युत्पत्ति ही कविके अप्रतिभा-प्रसूत दोषोंका गोपन करती है।' इस पद्यसे इस बातकी पुष्टि भी होती है—

कवेः संव्रियते शक्तिव्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचितचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥

[ कविके काव्य-रचना-प्रसङ्गमें प्रतिभाके अभावसे उत्पन्न दोषोंका संवरण व्युत्पत्ति कर लेती है। जिन भावकगणोंका हृदय काव्यकी रसवर्द्धिनी प्रणालीमें रञ्जित है उनकी अभिरुचि अलङ्कारादि योजनाओंमें नहीं हो सकती। ]

राजशेखरका मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर कविकी विशेषताका सम्पादन करती हैं।' कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिभा या व्युत्पत्ति अकेले ही किसी काव्यको उत्तमता नहीं प्रदान कर सकती किन्तु प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर रचनाको प्रशस्यतर बना देती हैं। लोकमें भी केवल लावण्यवान् या रूपवान्के लिये सुन्दर शब्दका व्यवहार नहीं होता वरन् जिसमें लावण्य और रूप-सम्पत्ति दोनों हों, वही वास्तविक सुन्दर कहलानेका पात्र हो पाता है।'

छन्दोयोजना-मात्र कर देनेसे कोई कवि नहीं हो सकता। कवि बननेके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंकी आवश्यकता होती है।

उपर्यङ्कित मतोंको हम संक्षेपमें इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

१. श्यामदेवका मत है कि समाधि ही काव्य-प्रेरक तत्त्व है।

२. मङ्गलका कथन है कि काव्यकी स्फूर्ति अभ्याससे मिलती है।'

३. रुद्रट और राजशेखर मानते हैं कि 'समाधि और अभ्याससे जो शक्ति पनपती है वही काव्यकी जननी है।'

४. आनन्दवर्धनने प्रतिभाको प्रेरणा-शक्ति माना है और मङ्गलने व्युत्पत्तिको।

५. प्रतिभा दो प्रकारकी होती है—कारयित्री और भावयित्री।

६. कारयित्री प्रतिभावाला कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला भावक, किन्तु 'सच्चे कविमें दोनों प्रतिभाएँ होनी चाहिएँ।'

७. कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकारकी होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी, जिनके अनुसार क्रमशः तीन प्रकारके कवि होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक।

### बाह्य प्रेरणा

काव्यका स्फुरण बाहरसे भी होता है—वाल्मीकिका 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इसका प्रमाण है, किन्तु यह अनायास काव्यके लिये है; सायास काव्यमें संसर्ग, अभ्यास आदिकी आवश्यकता पड़ती है।

### शक्ति निपुणता और अभ्यास

आचार्य मम्मटका मत है कि 'काव्यकी उत्पत्तिमें शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीन कारण होते हैं।' शक्तिका अर्थ तो वही है जो प्रतिभाका है।

मम्मटका मत है कि 'इस शक्ति या प्रतिभाके बिना या तो काव्यकी सृष्टि ही नहीं होती या होती है तो अत्यन्त हास्यास्पद होती है।' अन्य आचार्योंने जिसे व्युत्पत्ति कहा है उसीका नाम मम्मटने निपुणता रक्खा है और बताया है कि 'काव्य, शास्त्र तथा अन्य अनेक विद्याओंके अध्ययनसे जो कुशलता प्राप्त होती है वही निपुणता है।' किसी काव्य-मर्मज्ञ गुरुके पास जाकर उससे काव्य रचनाकी शिक्षा लेकर उसका निरन्तर प्रयोग करनेको अभ्यास कहते हैं जिसे फ़ारसी या उर्दूमें इसलाह कहते हैं। अपने मतका निरूपण करते हुए मम्मटने कहा है कि—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

## प्रतिभाका दार्शनिक रूप

शैवागममें भी प्रतिभाको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कुछ विद्वानोंने कल्पना ( इमैजिनेशन ) और अन्त:प्रेरणा ( इन्ट्यूशनको ) ही प्रतिभाका पर्याय मान लिया है किन्तु यह उचित नहीं है। ध्वन्यालोककी लोचन टीकामें शिवकी उस पराशक्तिको प्रतिभा बताया है जो निरन्तर शिवमें विश्राम करती है और जो अपनी अभिव्यक्ति-क्रियाके द्वारा अर्थात् अपनेको प्रत्यक्ष करनेकी क्रियाके द्वारा विश्वका सर्जन करती है। इसी परा प्रतिभाको कवि-प्रतिभाका भी स्वरूप समझना चाहिए क्योंकि कहा है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेक: प्रजापति: ।
यथाऽसौ रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ।।

[ अपार काव्य-संसारमें कवि ही प्रजापति है, वह जैसा चाहता है वैस ही विश्वको बना लेता है। ] तो उसकी शक्ति या अभिव्यञ्जना, क्रियाका प्रेरणा करनेवाली शक्ति ही उस काव्य-संसारका अभिव्यञ्जन करती है, अत: वही प्रतिभा है—

यदुन्मीलनशक्त्येव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ।।

किन्तु प्रतिभाकी ये सब जितनी भी व्याख्याएँ हैं, वे अस्पष्ट हैं।

## साहित्यकी प्रेरणा-शक्तियोंका विश्लेषण

जिस प्रकार किसी व्यक्तिकी स्वाभाविक वृत्ति सङ्गीत, चित्रकला अथवा अन्य किसी कार्यकी ओर होती है, उसी प्रकार काव्यकी भी एक सहज वृत्ति होती है। यह वृत्ति मनुष्यके जन्मके साथ उसे प्राप्त होती है और उसी प्रकार आवृत रहती है जैसे खानसे निकला हुआ हीरा। किन्तु जैसे खानसे निकले हुए हीरेको शानपर चढ़ाकर चमका दिया जाता है वैसे ही अध्ययन, शिक्षण और प्रोत्साहनसे यह काव्यका सहज संस्कार संसिद्ध हो जाता है। जो लोग सहज काव्य-संस्कारके बिना, केवल अध्ययन, शिक्षण और प्रोत्साहनके बलपर कवि बन जाते हैं वे कृत्रिम हीरे (इमिटेशन) के समान तुक्कड़-मात्र होते हैं, कवि नहीं होते। सिद्ध हो जानेपर सहज काव्य-वृत्ति उसी प्रकार सध जाती है जैसे वैज्ञानिककी वृत्ति होती है, जो किसी भी पदार्थको देखकर उसका तात्त्विक विश्लेषण करने लगता है। किन्तु कविकी वृत्ति इस प्रकार सधती है कि वह तात्त्विक विश्लेषण करनेके बदले उसके संश्लिष्ट रूपमें सौन्दर्यकी खोज करने लगता है और स्वयं उस सौन्दर्यसे भावित होकर उससे एक विशेष प्रकारका अन्तःस्फुरण प्राप्त करके अपनी वाणीसे उस अपने सौन्दर्य-भावनको मुखर कर देता है।

जितने लोगोंने भारत या योरोपमें काव्यकी प्रेरणा-शक्तिपर विचार किया है, सभी सिद्धान्तवादी और दार्शनिक हैं। उसमेंसे किसीने भी साहित्यके व्यावहारिक पक्षका ध्यान देकर उसकी प्रेरणा-शक्तियोंपर विचार नहीं किया। यदि हम किसी भी कविकी समस्त रचनाओंका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनमेंसे कुछ तो उसने स्वयं अपनी स्वान्तःप्रेरणासे रची हैं, कुछ दूसरोंके कहनेसे और कुछ किसी विशेष प्रयोजनसे जैसे कवि-सम्मेलनमें सुनानेके लिये, समाचार-पत्रमें प्रकाशनके लिये, पुरस्कार प्राप्त करनेके लिये, किसीको प्रसन्न करनेके लिये, उपदेश देनेके लिये, आत्म-विज्ञापनके लिये, किसी देवतासे वर प्राप्त करनेके लिये अथवा किसी अन्य ऐसे ही विशेष प्रयोजनके लिये। इस दृष्टिसे यह स्पष्ट है कि साहित्यकी प्रेरणा-शक्तियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—

१. सात्त्विक या स्वाधिष्ठित, २. परप्रेरित और ३. विशेषार्थ-प्रेरित।

## स्वाधिष्ठित अनुकरण

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही हम बता आए हैं कि मनुष्यकी तीन वृत्तियाँ होती हैं—चयनवृत्ति, जिज्ञासावृत्ति और अहंवृत्ति। ये तीनों मनुष्यकी स्वाधिष्ठित प्रेरणा-शक्तिसे सञ्चालित होती हैं। अपनी चयनवृत्तिके कारण मनुष्य अनेक पदार्थोंमेंसे एक या अनेक प्रिय पदार्थ छाँट लेता है। उस अपने प्रिय पदार्थको सुरक्षित करनेके लिये, उसकी स्मृति बनाए रखनेके लिये वह अनेक प्रकार उसका अनुकरण करता है। अतः हमारी स्वाधिष्ठित प्रेरणा-शक्तिओंमेंसे एक है अनुकरण। इसीके कारण जब मनुष्य देखता है कि 'एक व्यक्ति पाँच मिनटमें एक मील दौड़ सकता है' तो वह सोचता है कि 'मैं भी क्यों न उतने ही शीघ्र दौड़ूँ।' इसी अनुकरण-शक्तिके कारण उसमें स्पर्धा या होड़की भावना उत्पन्न होती है और वह कार्यके रूपका तो अनुकरण करता है किन्तु परिणाममें उससे बढ़ जाना चाहता है। उसकी यह इच्छा होती है कि 'यदि एक व्यक्ति पाँच मिनटमें एक मील दौड़ गया है तो मैं चार ही मिनटमें दौड़ जाऊँ।' संसारमें 'पूर्व-मान' (रिकार्ड) तोड़नेकी वृत्तिकी प्रेरणा-शक्ति यही अनुकरण है। जब यह साहित्यके क्षेत्रमें आती है तब वह दो रूपोंमें दिखाई पड़ती है। यदि हमने एक उपन्यास पढ़ा और यदि उसे पढ़कर हमारी यह इच्छा हुई कि हम भी इसी विषय, इसी भाव, भाषा, शैली या कौशलसे ऐसे ही उपन्यासकी रचना करें अथवा इससे सुन्दर उपन्यासकी रचना करें तो समझना चाहिए कि हमारी अनुकरणात्मिक शक्ति ही हमें प्रेरणा दे रही है। जब कोई व्यक्ति किसी काव्यके भाव चुराता है अथवा विषय, वाक्य या पदावली ग्रहण करता है तो यह काव्य-चौर्य भी इसी अनुकरण शक्तिके कारण होता है।

## स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया

हम बता आए हैं कि मनुष्यकी दूसरी वृत्ति होती है जिज्ञासाकी अर्थात् वह प्रत्येक दृष्ट, श्रुत या पठित विषयों, वस्तुओं और व्यक्तियोंके सम्बन्धमें जानना चाहता है। इस जानना चाहके कारण उसके मनपर उन वस्तुओं, व्यक्तियों या क्रियाओंका कुछ प्रभाव पड़ता है। उन प्रभावोंसे उसकी कुछ प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया साहित्यके क्षेत्रमें कविता, उपन्यास,

नाटक, कहानी और गीत आदि अनेक रूपोंमें प्रस्फुटित होती है। यह प्रतिक्रिया दो प्रकारसे होती है—१. स्वेन्द्रिय-ज्ञानसे और २. पर-प्रत्ययनसे अर्थात् किसी दूसरेके द्वारा कोई घटना सुनाई जानेपर। वाल्मीकिने महाभारतकी जो रचना की उसकी मूल प्रेरणा-शक्ति उनकी स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया थी जो उनके अपने इन्द्रिय-ज्ञानसे उस समय उद्बुद्ध हुई थी जब उन्होंने क्रौञ्च-मिथुनमेंसे एकको व्याधके बाणसे विद्ध होकर मरते और दूसरेको उस मृतके शोकसे प्राण छोड़ते देखा था। दूसरे प्रकारका इन्द्रिय-ज्ञान वह है जिसकी चर्चा महाकवि कालिदासने की है—

रघूणामन्वयम्वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥

[ वर्णन करनेका ठीक-ठीक प्रकार न जाननेपर भी मैं उन रघुवंशियोंका वर्णन करने चला हूँ जिनके गुणोंने मेरे कानोंमें पहुँचकर मुझे काव्य लिखनेकी ढिठाई करनेके लिये उकसाया है। ] अर्थात् स्वेन्द्रिय-ज्ञान वह भी होता है जब मनुष्य स्वयं ग्रन्थका पाठ करके, उस ग्रन्थमें वर्णित पात्रोंका मानस बिम्ब धारण करके उससे प्रभावित होता है और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप काव्यकी रचना करता है।

पर-प्रत्ययन अर्थात् किसीसे कोई घटना सुनकर उसकी प्रतिक्रियाके परिणाम-स्वरूप भी काव्यकी या साहित्यकी रचना हो सकती है जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने गुरुसे बार-बार सुनकर रामकथामें भावित होकर रामचरितमानसकी रचना की थी—

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

इसका तात्पर्य यह है कि दूसरेके सुझाने या सुनानेपर भी हमारे मनमें प्रतिक्रिया होती है और हम वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान न होनेपर भी अपनी मानसिक प्रतिक्रियाको साहित्यके रूपमें अभिव्यक्त करते हैं। अतः एक हमारी प्रेरणाशक्ति स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया भी होती है। यह शक्ति हमारी जिज्ञासा-वृत्तिको तुष्ट और पुष्ट करती चलती है। संसारमें जिन अनेक प्रकारकी मानव-प्रकृति, असंख्य प्रकारकी जड़ प्रकृति तथा अनेक प्रकारके मनोभावोंका

हम नित्य-प्रति अनुभव करते हैं और जिनके प्रत्यक्ष अनुभव करने या जिनका वर्णन पढ़ने-सुननेसे कुछ हमारी मानसिक प्रतिक्रिया होती है उस सबके परिणाम-स्वरूप जो रचना होती है उसकी मूल प्रेरणा-शक्ति स्वाधिष्ठित मानसिक प्रतिक्रिया ही है, जो हमारी जिज्ञासाको तृप्त करती है।

### स्वाधिष्ठित सात्त्विक प्रेरणा-शक्ति

किन्तु मनुष्यकी जितनी रचनाएँ होती हैं उनमें केवल उसकी चयन-वृत्ति और जिज्ञासा-वृत्ति ही नहीं काम करती अर्थात् वह केवल अनुकरण और प्रतिक्रियासे ही प्रेरणा नहीं पाता, वरन् कभी-कभी स्वत: बैठे-बैठे अकारण उसके मनमें कोई सङ्कल्प, कोई विचार या कोई भावना अकस्मात् जाग उठती है अथवा कोई पंक्ति ही अनायास सूझ जाती है जिसका प्रत्यक्ष संसारसे अथवा उसके भाव-जगत्‌से कोई सीधा आत्मीय सम्बन्ध नहीं होता। यह आकस्मिक स्फुरण ही स्वान्त:प्रेरणा कहलाता है। यह स्वान्त:प्रेरण या तो अत्यन्त पवित्र, शुद्ध-सङ्कल्प, सत्य-सङ्कल्प, पुण्यश्लोक व्यक्तियोंमें ही होता है अथवा अत्यन्त क्रूर, स्वेच्छाचारी, अभिमानी दुष्टोंमें ही। क्योंकि यह स्फुरण मनुष्यकी उस अहंवृत्तिका पोषण करता है जिसके कारण वह संसारमें नया निराला पन्थ, नया सम्प्रदाय, नया विचार, नया कार्य अथवा नये प्रकारकी पीड़ा देनेके साधन खोज निकालता है। और यदि यह सात्त्विक स्वान्त:-प्रेरणा मुखर हो जाती है अर्थात् वाणीके रूपमें अभिव्यक्त होती है तब इसीसे नई शैली, नये विषय, कौशल, नई भाषा और भावके साहित्यकी सृष्टि होती है। इसी प्रेरणा-शक्तिको अनेक आचार्योंने 'प्रतिभा' कहा है।

### प्रेरणा-शक्ति और रचना-शक्ति

कुछ लोगोंने प्रेरणा-शक्ति और रचना-शक्तिको एकमें मिलाकर दोनोंमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है किन्तु उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि प्रेरणा-शक्ति तो केवल यही कहती है—'उत्तिष्ठत जाग्रत'। [ उठो और जागो। ]

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह प्रेरणा-शक्ति लिखनेमें भी योग दे। यह तो केवल मनमें आई हुई प्रतिक्रियाको चेतन करती है अर्थात् भावको जगाती है किन्तु रचना-शक्ति तो काव्य-ज्ञान अर्थात् अध्ययन, शिक्षण और अभ्याससे ही प्राप्त होती है। जबतक इन दोनों शक्तियोंका ठीक

समन्वय नहीं होता अर्थात् सात्त्विक प्रेरणा-शक्ति और सिद्ध रचना-शक्ति दोनों नहीं मिलती हैं तबतक सत्साहित्यकी सृष्टि नहीं होती।

### परप्रेरित प्रेरणा-शक्ति

कभी-कभी हम किसीके कहनेसे कविता लिख देते हैं, नाटक रच देते हैं, और पैसा पाकर उपन्यास भी लिख देते हैं अथवा यदि कोई दूसरा व्यक्ति कथावस्तु या विषय बता दे तो हम केवल उसे शब्द और छन्दका आवरण-मात्र दे देते हैं। यह आवरण पहनकर वह वस्तु वास्तवमें सहृदयोंके आनन्दका कारण भी बनती है किन्तु उससे कविके मानसका कोई सम्बन्ध नहीं होता और इसलिये उस प्रकारके काव्य या साहित्यमें प्रेरणा-शक्ति ढूँढ़नेके लिये समीक्ष्यवादियोंको कविका इतिहास ढूँढ़ना चाहिए। कभी-कभी विवाह, अभिनन्दन अथवा सम्मानके लिये भी साहित्यिक रचनाएँ की जाती हैं जिनमें काव्य-कौशल अपने पूर्ण सौन्दर्यके साथ अभिव्यक्त होता है किन्तु उनमें भी पर-प्रत्ययन या दूसरोंका सुझाव ही कारण होता है। उस प्रकारके साहित्यमें साहित्यके सब बाह्य गुण होते हुए भी सात्त्विक अनुभूतिका अभाव होता है। ऐसी रचनाएँ यद्यपि होती तो हैं यन्त्रवत्, किन्तु उनमें भी रचनाकारके काव्य-कौशलके कारण सजीवता आ सकती है। किन्तु सात्त्विक प्रेरणाका यहाँ भी अभाव होता है और उसके पीछे जो प्रेरणा होती है वह केवल पर-प्रत्ययन होता है और इसी कारण यह पर-प्रेरित साहित्य सदा अतिरञ्जित तथा अतिशयोक्ति-पूर्ण होता है।

### विशेषार्थ-प्रेरित प्रेरणा-शक्ति

कभी-कभी काव्य-कौशलकी शक्तिसे सम्पन्न व्यक्ति द्रव्य कमाने, आत्म-विज्ञापन करने, उपदेश देने अथवा देवताकी स्तुति करनेके लिये भी साहित्यकी सृष्टि करता है। इस प्रकारकी साहित्य-सृष्टिमें प्रेरणा देनेवाले वे विशेष प्रयोजन होते हैं जिनसे प्रेरित होकर वह रचना की जाती है। इस सम्बन्धमें एक बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि जब हम किसी व्यक्तिके गुणोंसे भावित होकर उसकी प्रशंसामें काव्य लिखते हैं तब उसकी प्रेरणा-शक्ति स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया होती है, विशेषार्थ-प्रेरणा नहीं, क्योंकि उसमें हम उस वर्णनीय व्यक्तिसे किसी प्रकारके प्रतिकारकी आशा नहीं करते। किन्तु जब हमारी भावना यह हो कि जिसकी प्रशंसा हो वह उससे

प्रभावित होकर हमपर प्रसन्न हो, हमें पुरस्कार दे, हमें सम्मानित करे, और हमपर रीझे, तब वह शुद्ध रूपसे विशेषार्थ-प्रेरित होती है। योरोपके मध्यकालमें जो बहुतसे प्रेम-गीत लिखे गए थे तथा चारण-युगमें जितनी रचनाएँ हुईं अथवा राजाश्रित कवियोंने जितनी रचनाएँ कीं, वे सभी विशेषार्थ-प्रेरित थीं।

### प्रेरणा-शक्ति और कल्पना

कुछ लोगोंने कल्पनाको ही प्रेरणा-शक्ति मान लिया है किन्तु कल्पना मनकी वह शक्ति या स्वतन्त्र वृत्ति है जो कविको नई सामग्री, नई सम्भावनाएँ, नये अलङ्करण, नये अप्रस्तुत विधान, विषय और भाव देती है। इसी कल्पनाके सहारे कवि काव्य-सामग्री लेकर कवि बनता अर्थात् रचना करता है, मनीषी बनता अर्थात् स्वयं चिन्तन करता है, स्वयम्भू बनता अर्थात् अपनेको व्यक्त करके स्वयं अपनी मानस सृष्टिको प्रत्यक्ष कर देता है और परिभू होता अर्थात् अपने चारों ओरकी सृष्टिको लेकर व्यक्त होता है अर्थात् वह जो अपने चारों ओर देखता है उसके प्रति अपनी मानस प्रतिक्रियाके स्वरूप बने हुए मानस-बिम्बोंको प्रत्यक्ष करता है। अतः कल्पना मनुष्यकी रचनात्मिका शक्तिको सहायता देनेवाली है, उसकी प्रेरणा-शक्ति नहीं। यह मनकी स्वतन्त्र वृत्ति है। मनकी एक आबद्ध वृत्ति भी होती है जिसके अनुसार हम १. सङ्कल्प-विकल्प करते हैं कि 'ऐसा होगा तो क्या होगा,' 'ऐसा किया जाय' आदि, इसे चिन्ता कहते हैं। २. परिणाम सोचते हैं जिसे विवेक कहते हैं अर्थात् जिसके अनुसार हम यह परिणाम निकालते हैं कि 'यदि ऐसा करेंगे तो उसका यह फल होगा।' ३. शेखचिल्लीके सपने देखते, मन-मोदक उड़ाते या बैठे-बैठे हवाई दुर्ग बनाते हैं। ४. अनुमान करते अर्थात् किसी बातके दोनों पक्षोंको भलीभाँति सोचते हैं। ५. किसी पढ़ी या सुनी हुई बातका विचार करते हैं, जिसे मनन कहते हैं। ६. किसी पुरानी बातको पुनः ध्यानमें लाते हैं या किसी देखी, सुनी, पढ़ी बात, दृश्य, व्यक्ति, वस्तु, स्थान या विषयका स्मरण करते हैं और ७. कुछ चाहते हैं जिसके अन्तर्गत पाँच बातें आती हैं—एक तो सीधे-सीधे कुछ वस्तु या व्यक्ति पानेकी इच्छा करना जिसे अभिलाषा कहते हैं, दूसरी है लालसा या ललक जिसमें हम

चाहते हैं कि ऐसा अवश्य हो जाय, पर उसमें अपना वश न हो किसी दूसरे प्राणीके वशकी बात हो। तीसरी है कामना, जिसका पूरा होना अदृष्ट या ईश्वरके हाथमें हो, जिसमें हम यह मनाते हैं कि 'भगवान करे तुम्हारा मङ्गल हो।' चौथी है वासना, अर्थात् किसी एक विषयके प्रति इतनी आसक्ति कि जब उसकी चर्चा हो, या वह सम्मुख आवे तब सब काम छोड़कर उसकी ओर लग जाय। पाँचवीं है आकांक्षा, जिसमें यह वृत्ति होती है कि 'हम जो हैं उससे आगे बढ़ें और ऊँचे उठें।' ये सब मानसिक क्रियाएँ मनुष्यके अपने व्यक्तित्वसे पूर्ण रूपमें सम्बद्ध हैं किन्तु कल्पना मनुष्यके मनकी स्वतन्त्र वृत्ति है जो उसके व्यक्तित्वके बाहर यहाँतक कि सृष्टिके बाहरकी भी वस्तुएँ लाकर कविकी अनुभूतिको और स्वान्तःप्रेरणाको समृद्ध और चेतन भी करती है और उसकी अभिव्यक्तिको भासमान और आकर्षक बनाती है। अतः अगले अध्यायमें हम यही विचार करेंगे कि' मनुष्य की इस स्वाधिष्ठित प्रेरणा-शक्ति अर्थात् उसकी स्वान्तः-प्रेरणा, अनुकरण-वृत्ति और प्रतिक्रिया-वृत्तिको साहित्य-रूपमें प्रवर्तित करनेवाले कौनसे विषय हैं।' अर्थात् वह इस ईश्वर-निर्मित तथा मानव-निर्मित संसारके किन पदार्थोंसे प्रेरणा पाता है और फिर अपने साहित्यमें उनका किस प्रकार प्रयोग करता या कर सकता है। उसी प्रसङ्गमें हम यह भी विचार करेंगे कि कवि किस प्रयोजनसे काव्यकी सृष्टि करता है।

# साहित्यके विषय और प्रयोजन

पिछले अध्यायमें बताया जा चुका है कि मनुष्यकी साहित्य-रचनामें हमारी स्वान्तः-प्रेरणा, अनुकरण-भावना और प्रतिक्रिया-वृत्ति ही मूल प्रेरणा-शक्तियाँ हैं। इनमेंसे स्वान्तः प्रेरणाको तो उद्‌बुद्ध होनेके लिये मूर्त्त आधार नहीं चाहिए किन्तु अनुकरण और प्रतिक्रिया-वृत्तिको उकसानेवाली मूर्त्त सामग्री तो चाहिए ही। यह मूर्त्त सामग्री उस प्रत्यक्ष संसारसे प्राप्त हो सकती है जिसमें मानव-प्रकृति और मानव-व्यापार, जीव-प्रकृति और उनकी क्रिया तथा जड़ प्रकृति, सभी सम्मिलित हैं।

इस प्रत्यक्ष जगत्‌के अतिरिक्त एक मानस जगत् भी है जो अन्य जीवोंमें भी थोड़ा-बहुत होता है किन्तु जिसकी अभिव्यक्तिका साधन उनके पास न होनेसे उसका ठीक विवरण हम नहीं दे सकते। किन्तु वाणीके कारण मनुष्यके मानस जगत् या भाव-जगत्‌का भी व्यापक परिचय प्राप्त किया जा चुका है और इसीलिये हम विस्तारसे उस मानव-प्रकृति, जड़ प्रकृति तथा मानस जगत्‌का परिचय देंगे जो आजतक संसार-भरके साहित्यका आधार बनी रही है और जिसमेंसे निरन्तर सामग्री लेकर साहित्यकार अपनी काव्य-श्री समुन्नत करते आए और कर रहे हैं।

## मानव-जगत्

युङ्गने मनुष्योंके जो दो भेद अन्तर्मुख और बहिर्मुख बताए हैं उनकी विस्तृत व्याख्या हम पिछले अध्यायमें कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्योंने मानव-प्रकृतिका विश्लेषण करके उसके अनेक भेद गिनाए हैं और उनकी प्रकृतिका सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

### मानव-प्रकृति

विलियम जेम्सने बताया है कि 'मनुष्य दो प्रकृतिके होते हैं—कठोर और कोमल।' शिल्लेरने कहा है कि 'मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी।' अँगरेज़ वैद्य फ्रेन्यो जौर्डनने दो प्रकारके मनुष्य बताए हैं—अत्यावेगात्मक, अल्पावेगात्मक। क्रेट्शमेरने चार प्रकारके मनुष्य गिनाए हैं—१. दुर्बल प्रकृति, २. सबल प्रकृति, ३. मस्त प्रकृति और ४. निरर्थक प्रकृति। दुर्बल प्रकृतिके लोग दुबले-पतले, लम्बे तथा चोंचदार नाकवाले होते हैं। सबल प्रकृतिवाले भरे मुखके, लम्बे-चौड़े और तगड़े होते हैं। मस्त प्रकृतिके लोग पञ्चकोणी मुखवाले, सदा प्रसन्न-चित्त और सबसे मित्रताका भाव रखते हैं। निरर्थक व्यक्ति सदा किसी न किसी रोगसे ग्रस्त रहते हैं; न वे किसी अवस्थामें सन्तुष्ट रहते हैं न उनसे कोई सन्तुष्ट रहता है।

### अरस्तूका मत

इस सम्बन्धमें सबसे विचित्र बात यह है कि योरोपीय नाट्य-शास्त्रके आचार्य अरस्तूने केवल मोटे रूपमें अच्छे और बुरे दो प्रकारके मनुष्य बताते हुए यह कह दिया है—

'क्योंकि अनुकरणके विषय मनुष्यके चरित्र ही हैं और ये मनुष्य या तो उच्च श्रेणीके होंगे या नीच श्रेणीके, क्योंकि नैतिक चरित्रसे मुख्यत: इन्हीं दोनोंका ज्ञान होता है और अच्छाई-बुराई ही नैतिक भेद बतानेवाले विशिष्ट चिह्न हैं, अत: यह फल निकला कि या तो मनुष्योंका चित्रण हम उनके वास्तविक जीवनकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छा करें या कुछ अधिक बुरा या ठीक वैसा ही जैसे वे हैं।'

### उच्च और अपराधी प्रकृति

वर्त्तमान नाट्याचार्योंने रङ्गशाला तथा चल-चित्र दोनोंकी दृष्टिसे दो प्रकृतिके मनुष्य बताए हैं—

१. उच्च प्रकृतिके, जिनमें आत्म-त्यागी, वीर, साहसी, दानी, दयालु, सिद्धान्तवादी, मस्त, परोपकारी, लोक-सेवक, आशावादी, सदाचारी, धर्मभीरु तथा ईश्वर-भीरुकी गणना की गई है।

२. अपराधी प्रकृतिके, जिनमें अकारण दूसरोंको तङ्ग करने या कष्ट देनेवाले, चुगली खानेवाले, अभिमानी, कामी, क्रोधी, अनुरक्त, उदासीन, कायर

और हत्यारोंकी गणना की गई है। इन दो प्रकृतियोंका अलग-अलग वर्णन करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि 'बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य करनेको तत्पर हो जाता है।' ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकारकी हो सकती हैं—

१. असह्य हानि ( धन, जन या प्रतिष्ठाकी )।

२. क्रोध (अपने शरीर या अपने इष्टपर सङ्कट आने तथा कोई अप्रत्याशित घटना घटनेपर )।

योरोपीय जीवनका ध्यान करके ही उन्होंने इस प्रकारका वर्गीकरण किया है किन्तु उसे व्यापक रूपसे या सार्वभौम रूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। सृष्टि गुणावगुणमयी है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतः अच्छा या पूर्णतः बुरा नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

सगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता।।

सारी सृष्टि ही गुण और अवगुणके मेलसे बनी है। सङ्खिया विष है किन्तु परिमित मात्रामें स्वास्थ्यके लिये बड़ा गुणकारी है। इसी प्रकार मधु और घी दोनों शक्ति-वर्धक और लाभप्रद तो हैं किन्तु समान परिमाणमें मिला देनेपर विष हो जाते हैं। यही बात मनुष्यके विषयमें है। बहुतसे मनुष्य संस्कारतः मृदुभाषी और कोमल स्वभावके होते हैं किन्तु कभी-कभी वे अत्यधिक कठोर भी हो जाते हैं। कोई व्यक्ति किसी समय किसीसे अच्छा व्यवहार करता है और किसी दूसरे समय कठोर बन जाता है। अतः किसी व्यक्तिका मूल्य आकस्मिक प्रसङ्गमें उसके व्यवहारसे नहीं आँका जा सकता क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि साधारण मनुष्य परिस्थितियोंका दास होता है। ऐसे मनुष्य थोड़े हैं जो परिस्थितियोंका स्वामित्व करते हैं और अपने गुण, चरित्र तथा स्वभावसे परिस्थितियोंको बदल देते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति लोकोत्तर होते हैं जिनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगन्तव्यं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।

[ संसारमें जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और तेजयुक्त दिखाई पड़ें उन सबको मेरा अवतार समझना चाहिए। ]

## नीति और अनीति

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः मानव-चरित्रके आलोचक किसीका आचरण देखकर अपने-अपने सामाजिक मानदण्डसे उसकी नैतिकताकी परीक्षा करने लगते हैं। नीति और अनीति दोनों सापेक्ष्य हैं। एक ही कार्य एक स्थानपर नीति है और दूसरे स्थानपर अनीति। यदि हम किसीको सूई चुभो दें तो यह कार्य अनैतिक होगा किन्तु कोई आधुनिक वैद्य किसी रोगीका पेट चीरकर शल्यकर्म करता है तो वह अनैतिक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति किसी बालक या स्त्रीको निर्दयतासे पीट रहा हो और उसपर क्रुद्ध होकर यदि हम उस व्यक्तिपर हाथ चला दें तो यह अनैतिक कार्य न होगा क्योंकि हमने अनीतिको रोकनेके लिये यह कार्य किया है। यद्यपि वृक्षमें मनुष्य फल नहीं लगाता ईश्वर ही लगाता है, किन्तु यह बहाना लेकर हम किसीके उपवनसे फल तोड़कर नहीं खा सकते। अतः कोई भी कार्य स्वतः अच्छा या बुरा नहीं होता। प्रत्येक कार्यकी नैतिकता उसके कर्त्ताके उद्देश्यपर अवलम्बित होती है। जब कर्त्ताका उद्देश्य स्फुट या प्रत्यक्ष होता है तब उसके चरित्रका निर्धारण करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु जब कर्त्ता अपने उद्देश्यको गुप्त रक्खे रहता है, तब उसकी नैतिकतामें भ्रम हो जाना अधिक सम्भव हो जाता है और ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं जहाँ कोई साधु पुरुष दूसरेका दोष अपने सिरपर ले लेता है और दूसरेकी रक्षाके लिये अपना सर्वस्व यहाँतक कि मान, यश, प्रतिष्ठा, धन और प्राणतक गवाँ बैठता है। लोग समझते हैं कि वह दुष्ट और ढोंगी था किन्तु अन्ततक किसीको यह ज्ञात नहीं होता कि वह परम उत्कृष्ट श्रेणीका महापुरुष था। इस प्रकारका चरित्र नाटकके लिये अत्यन्त अनुपादेय होता है और जिन लोगोंने ऐसे चरित्र अपने नाटकोंमें लिए हैं उन सबने किसी-न-किसी प्रकारसे भेद खोलकर परमावधिपर उसका महत्त्व स्थापित करनेकी चेष्टा भी की है। यदि वे ऐसा न करते तो दर्शक भी पात्रके प्रति घृणा लेकर जाते और वह काव्य या नाटक असत्य हो जाता। किन्तु काव्य तो सत्यका प्रस्थापक होता है और कविको किसी-न-किसी प्रकार उस सत्यकी स्थापना करनी ही पड़ती है। यही सत्य-स्थापन ही काव्य-सत्य कहलाता है जिसपर पीछे विस्तारसे शास्त्रार्थ किया जा चुका है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके आचरणके उद्देश्यपर अवलम्बित है। इसीलिये हमें मनुष्योंका

वर्गीकरण करते समय उनके आचरणोंका विचार न करके उनके आचरणके उद्देश्योंपर विचार करना चाहिए।

### कुल-परम्परा और सङ्गतिका संस्कार

आजकल मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंने मनुष्योंका वर्गीकरण दूसरे ढङ्गसे किया है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुल-परम्परासे कुछ संस्कार ग्रहण करता है। इनमेंसे कुछ शारीरिक संस्कार होते हैं कुछ मानसिक। पिता या माताके समान चलने, बैठने, हँसने या बात करनेका ढङ्ग बहुतसे बालकोंमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। यह शारीरिक संस्कार है किन्तु इसके अतिरिक्त ईर्ष्या करना, दूसरेकी उन्नति देखकर कुढ़ना, चिन्तित रहना ये सब मानसिक संस्कार हैं। ये दोनों प्रकारके संस्कार बालकमें जन्मतः आ जाते हैं किन्तु कुछ संस्कार ऐसे हैं जो सङ्गके द्वारा मनुष्य अपना लेता है। बातचीतका शिष्टाचार, विनय आदि अच्छे गुण और बीड़ी-सिगरेट पीना, चोरी करना, दूसरेको हानि पहुँचाना आदि अवगुण सब सङ्गतिसे ही सीखे जाते हैं। इस सङ्ग या वातावरणके अनुसार बहुतसे कुल-परम्पराके संस्कार छूट भी सकते हैं और बढ़ भी सकते हैं। मनुष्यके चरित्रपर दोनोंका प्रभाव पर्याप्त रूपमें पड़ता है। इस विषयमें बहुतसे अपवाद भी होते हैं। अच्छे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे लोग समाजके शत्रु सिद्ध हुए हैं और बुरे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे महापुरुष भी हुए हैं। इसी प्रकार कुसङ्गमें रहनेपर भी बहुतसे लोग भले बने रह सके हैं जिनके लिये रहीमने कहा है—

> जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसङ्ग।
> चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजङ्ग॥

किन्तु ऐसे भी उदाहरण कम नहीं है जिनमें सज्जन पुरुष कुसङ्गमें पड़कर बिगड़ गए हैं—

> काजरकी कोठरीमें कैसोहू सयानो जाय,
> एक रेख काजरकी लागिहै पै लागिहै।

और ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ सज्जनोंकी सङ्गतिमें रहकर दुष्टोंने अपनी दुष्टता नहीं छोड़ी। और भी कुछ नहीं तो इतना ही हुआ कि चोर चोरीसे गया किन्तु हेराफेरीसे नहीं गया। तात्पर्य यह हुआ कि वातावरण

या सङ्गतिका तथा कुल और संस्कृतिका प्रभाव अवश्य पड़ता है। किन्तु कुछ ऐसे अपवाद अवश्य हो जाते हैं जिन्हें न कुल प्रभावित कर सकता है न सङ्गति। फिर भी मनोवैज्ञानिकोंका यही कहना है कि 'मनुष्यका चरित्र कुल-संस्कारों और सङ्गतिसे ही बनता है।' मनोविश्लेषणशास्त्रियोंका यह कहना है कि 'बाल्यावस्थामें प्रत्येक मनुष्यकी कुछ इच्छाएँ होती हैं। उन इच्छाओंकी पूर्ति होती रही तो मनुष्य भला बन जाता है। क्योंकि इच्छा या वासनाके पूर्ण न होनेसे ही मनुष्य अपराध या अनीति करनेको बाध्य होता है और जब इच्छाएँ या वासनाएँ पूरी होती हैं तभी वह भला होता है क्योंकि उस समय अपराधकी आवश्यकता ही नहीं होती। बालक देवतुल्य है, उसमें सब वासनाएँ सत् होती हैं, यहाँतक कि जो कामवासना होती है वह भी सत् होती है। उसकी पूर्ति होनेसे भी मनुष्य सत् बनता है किन्तु यदि वह वासना तृप्त नहीं होती या दबा दी जाती है तो आगे चलकर दबी हुई भावनाएँ रोग या अनीतिका रूप ग्रहण कर लेती हैं और ऐसे लोग भयङ्कर नरपिशाच या भयङ्कर रोगी हो जाते हैं।'

### अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति

मनुष्यके चरित्र-विकासका क्रम बताते हुए मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि 'व्यक्ति जैसा बार-बार करता है वह उसका अभ्यास हो जाता है और जैसे-जैसे अभ्यास बनते चलते हैं उसीके अनुसार मनुष्यका चरित्र भी बनता है। ये अभ्यास ही हमारे नैतिक जीवनके आधार हैं। अच्छे अभ्याससे अच्छा चरित्र बनता है और बुरे अभ्याससे बुरा। एक जैसी विभिन्न परिस्थितियोंमें मनुष्यकी मानसिक और आङ्गिक प्रतिक्रियाका नियमित रूप ही चरित्र कहलाता है। यह प्रतिक्रिया मनुष्यके अभ्यस्त विचारोंसे सम्बद्ध होती है। एक प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंमें जब मनुष्य एकसा ही आचरण करता है तब वह उसका चरित्र समझा जाता है। एक लेखकने इसे बहुत सुन्दरताके साथ समझाया है। वह कहता है कि 'प्रायः किसी भी सुन्दरीको देखकर प्रत्येक व्यक्तिका मन उसकी ओर आकृष्ट होता है और वह यह चाहता है कि 'यह मुझे प्राप्त हो जाय' किन्तु सामाजिक दण्ड, लोक-निन्दा, राजनियम आदिके भयसे वह स्वयं प्रयत्न-शील नहीं होता। किन्तु यदि वह स्त्री स्वयं प्रयत्नशील हो तो उसे ग्रहण करनेमें वह सङ्कोच

भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं होता। किन्तु जो मनुष्य एकान्तमें स्वयं आत्मसमर्पण करनेवाली सुन्दरीको भी माता या बहन कहकर सम्बोधित करता है, उस व्यक्तिमें चरित्र है। यह चरित्र उसकी इच्छाशक्तिकी साधनाका परिणाम है, अर्थात् जब मनुष्य अपने कार्योंकी सब गति स्वयं अपनी इच्छासे नियुक्त करता है, किसी भी प्रेरणा या दण्डके भयसे विचलित नहीं होता तो उसकी यही दृढताकी निर्णायिका शक्ति ही इच्छा-शक्ति कहलाती है। यह इच्छा-शक्ति जितनी प्रबल और दृढ होगी उतना ही चरित्र भी विशिष्ट होता चला जायगा किन्तु ऐसे व्यक्ति या तो परम दुष्ट ही होंगे या परम साधु ही। इसके विपरीत यह इच्छा-शक्ति जितनी ही परावलम्बी और दुर्बल होगी, मनुष्यमें उतनी ही चारित्र्यिक हीनता होगी और वह सदा ढुलमुल, अव्यवस्थित और परमुखापेक्षी होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक विषयमें या एक प्रसङ्गमें किसी मनुष्यकी इच्छा-शक्तिकी दृढतासे चरित्र नहीं आँका जा सकता। जो व्यक्ति अधिकसे अधिक परिस्थितियोंमें अपनी इच्छा-शक्ति स्वाधीन रखता है, उससे उसका चरित्र पहचाना जा सकता है। अतः मनुष्यके चरित्रकी पहचानका साधन हुई उसकी इच्छा-शक्ति।

### स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले

ट्रौटरने मनुष्योंको दो भागोंमें विभक्त किया है—१. स्थिर चित्तवाले और २. अस्थिर चित्तवाले। उसका कहना है कि 'स्थिर चित्तवाले लोग जिस समाज या वर्गमें रहते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषयमें उनका मत स्थिर होता है। वह न तो झटसे अपना मत बदलता ही है और न उनपर तर्क करना जानता है। अस्थिर चित्तवाले सदा मत बदलते रहते हैं और अनुभवके अनुसार अपनी मनोवृत्ति और प्रकृति भी बदलते रहते हैं।'

### कल्पनाशील और संस्कारशील

आस्टवाल्डने मानवताको दो भागोंमें विभक्त किया है—१. कल्पनाशील (रोमैन्टिक टाइप) और २. संस्कारशील (क्लैसिकल टाइप)। कल्पनाशील प्रकृतिवाले व्यक्तिके विचार बड़े वेगसे चलते हैं, वह बहुधन्धी होता है। संस्कारशील व्यक्ति धीरे-धीरे सोचता है और एकही प्रकारके कार्यमें प्रवृत्त रहता

है। कल्पनाशील प्रकृतिके व्यक्तिका व्यक्तिगत प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। वह अपने श्रोताओं या शिष्योंको बड़ी शीघ्रतासे वशमें कर लेता है और निरन्तर लोकप्रियता साधनेमें लगा रहता है। संस्कारशील प्रकृतिका मनुष्य अधिक एकान्तप्रिय होता है और लोकप्रियताकी चिन्ता नहीं करता।

## नाट्यशास्त्र और भाव-प्रकाशन

ऊपर जितने प्रकारसे मानव-चरित्रोंके भेद किए गए हैं, वे प्राय: सभी भ्रामक हैं। नाट्य-शास्त्र, भाव-प्रकाशन, और दशरूपककारने मानव-प्रकृतिके वर्णनमें या तो उनका विवरण दिया है जो सङ्गीत और नाट्यमें सहायक होते हैं, जैसे नट, भरत, कुशीलव आदि या फिर नाटकमें प्रयुक्त होनेवाले राजसी नायकोंके परिजनोंका विस्तृत परिचय दिया है। भरतने तीन प्रकारकी लोक-प्रकृति बताई है—उत्तम, मध्यम, अधम और उनके गुणों तथा अवगुणोंका जो विवरण दिया है वह भी ठीक ही है। किन्तु जब भावप्रकाशनके प्रारम्भिक अंशसे उसके पीछेके अंशकी तुलना की जाती है तो जान पड़ता है कि वे सङ्गीतके प्रयोक्ताओंसे तथा प्रेक्षकोंसे अधिक सम्बद्ध हैं क्योंकि शारदातनयने स्पष्ट ही कह दिया है कि 'राजा और राज-परिजनकी प्रकृति समझकर ही इन प्रयोक्ताओंको तदनुकूल सङ्गीतकी योजना करनी चाहिए।' नाट्यशास्त्रमें भी यह प्रसङ्ग वाद्य-प्रकरणके पश्चात् ही लाया गया है इसलिये भी शारदातनयका ही विचार ठीक प्रतीत होता है। अन्य लक्षण-ग्रन्थोंमें जहाँ अनेक प्रकारके नायक-नायिकाओंका वर्णन है उन सबका सम्बन्ध शृङ्गार रससे है और वह इतना पुराना हो गया है कि उसके अनुसार अब नायक या नायिकाओंके भेद नहीं किए जा सकते। हम ऊपर ही विवेचन कर चुके हैं कि इस युगमें नायक और नायिकाओंकी बहुतसी समस्याएँ सुलझ गई हैं। रातको देरसे लौटे हुए या दूसरे दिन प्रात:काल आए हुए आजकलके किसी नायकके ओठपर न तो किसी नायिकाकी आँखका काजल ही मिलता है न उसके गलेके हारकी साट ही पड़ी दिखाई पड़ती है। ये सब बातें व्यवहारातीत हो गई हैं इसलिये खण्डिता नायिका अब खण्डिता रह ही नहीं पाई है। इसी प्रकार इस बिजलीके युगमें कृष्णा और शुक्लाभिसारिकाएँ भी व्यर्थ हो गई हैं। बड़े परिजनवाले वे राजा भी अब नहीं रहे जिनके यहाँ चार-पाँच प्रकारकी रानियाँ, विदूषक, विट

और चेट हों। इस युगमें न तो उनकी आवश्यकता है न उनका प्रयोजन। हाँ, प्राचीन साहित्यके अध्ययनके लिये उनका ज्ञान अवश्य सार्थक हो सकता है।

## सब मतोंकी त्रुटियाँ

योरोपीय मनोवैज्ञानिकोंने तो और भी अन्धाधुन्ध वर्गीकरण किया है। एक ओर वे कहते हैं कि मनुष्यकी इच्छाशक्ति ही उसके चरित्रकी द्योतिका है, दूसरी ओर वे कुल-संस्कार और सङ्गतिका प्रभाव भी मानते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि 'मनुष्य परिस्थितियोंका दास' है। ये तीनों बातें परस्पर विरोधिनी हैं। यूङ्गने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रकृतिके नामसे जो दो भेद किए हैं वे और भी अधिक भ्रामक हैं। वे भेद केवल अपवाद-स्वरूप स्थिर प्रकृतिवालोंके लिये तो ग्राह्य हो सकते हैं किन्तु साधारण मानव-समाजके लिये उसका आरोप हम नहीं कर सकते। एक व्यक्ति न्यायाधीशके आसनपर बैठकर सदा अन्तर्मुखी रहता है किन्तु वही अपनी मित्र-मण्डलीमें बैठकर बहिर्मुखी हो जाता है। संस्कृतके यशस्वी कवि जयदेव बहुत बड़े तार्किक भी थे। उनसे किसी ऐसे ही व्यक्तिने पूछ दिया—

कविता-तर्कयोः कथं समवायः।

[ कविता और तर्क इन दोनोंका गँठबन्धन कैसे हुआ। ]

इसपर जयदेवने जो उत्तर दिया वह यूङ्गवादियोंके लिये सर्वश्रेष्ठ उत्तर है। उसने कहा—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीया शराः॥

[ जिनकी कोमल काव्य-कलासे सरस्वती लीलामयी बन जाती है, वे यदि कठोर तर्कके टेढ़े वचन भी कहें तो उनका क्या बिगड़ता है। जिन लोगोंने कान्ताके कुच-मण्डलपर आनन्दके साथ उँगलियाँ फेरी हैं उन्होंने क्या बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंके मस्तकपर बाण नहीं चलाए हैं? ]

इसकी ध्वनि यही है कि सभी प्रकारके मनुष्योंमें सभी प्रकारकी

प्रवृत्तियाँ होती हैं, कुछ थोड़ी कुछ अधिक। इनमें कोई-कोई अपवाद-स्वरूप होते हैं जो या तो महापुरुष ही होते हैं या पराकाष्ठातक पहुँचे हुए नरपिशाच ही। अतः उपर्युक्त कोई भी भेद ग्राह्य नहीं माने जा सकते।

## पुरुष और स्त्री

हमारे यहाँ सामुद्रिक-शास्त्र तथा काम-शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीके बहुतसे भेद किए गए और लक्षण बताए गए हैं। स्वयं मनु भगवान्‌ने भी लिखा है—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
> अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

[ विधाताने अपनी देहके दो विभाग करके आधेसे पुरुषकी सृष्टि की और आधेसे स्त्रीकी सृष्टि की। ] और इस प्रकार यह पुरुष-स्त्रीमय सृष्टि आरम्भ हो गई।

## पुरुष-श्रेणी-विभाजन

कामशास्त्रियोंने पुरुषोंके चार भाग किए। रतिमञ्जरीमें बताया गया है कि पुरुष चार जातिके होते हैं—शश, मृग, वृष और अश्व। जो लोग कोमल वाणीवाले सुशील, कोमलाङ्ग, उत्तम केशवाले, सर्वगुण-सम्पन्न और सत्यवादी होते हैं वे शश जातिके होते हैं। जो लोग मधुर बोलनेवाले बड़ी-बड़ी आँखोंवाले, अत्यन्त भीरु, चपल गतिवाले, सुदेह और शीघ्रगामी होते हैं वे मृग जातिके पुरुष होते हैं। जो लोग बहुगुण-सम्पन्न, अनेक बन्धु-बान्धवोंवाले, शीघ्रतासे काम करनेवाले, झुके हुए अङ्गोंवाले, सुन्दर देहवाले और सत्यवादी होते हैं वे वृष जातिके होते हैं। जो लोग पतली कमर और पतले उदरवाले होते हैं, जिनके गले और ओठ मोटे तथा दाँत, नाक, कान खड़े होते हैं, वे अश्व जातिके पुरुष होते हैं।

रसमञ्जरीमें पुरुषोंका लक्षण बताते हुए सच्चे पुरुषका लक्षण लिखा है—

> पात्रे त्यागी गुणे रागी, भोगी परिजनैः सह।
> शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पुरुषः पञ्चलक्षणम्॥

[ जो सत्पात्रको दान देते हैं, गुणोंसे प्रेम करते हैं, परिजनोंके साथ

मिलकर सुख-भोग करते हैं, भली प्रकार शास्त्र जानते हैं और युद्धक्षेत्रमें पराक्रम दिखाते हैं वे पुरुष कहलाते हैं । ]

सामुद्रिक शास्त्रमें विस्तारसे पुरुषके शुभ और अशुभ लक्षणोंका विवरण दिया है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकारके अङ्गवाला व्यक्ति किस भाग्यका होता है । बृहत्संहिताके अड़सठवें अध्यायमें विस्तारसे अनेक प्रकारके पुरुषोंका वर्णन देकर उनका भाग्य-निर्णय किया है । उसीमें परिमाणके अनुसार भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य बताए हैं । 'जो अपने हाथकी उँगलीके नापसे १०८ अंगुल ऊँचा होता है वह उत्तम, ९६ अंगुलतक मध्यम और ८४ अंगुलतकका अधम माना जाता है । ये सब पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देवता, नर, राक्षस, पिशाच और पशु-पक्षी स्वभावके होते हैं । सुन्दर पुष्पके समान गन्धयुक्त, सम्भोग-निपुण, सुन्दर, विश्वासयुक्त तथा स्थिर चित्तवाले पृथ्वी स्वभावके होते हैं । अत्यन्त जल पीनेवाले, स्त्री-लोलुप और रसभोगीका जल-स्वभाव होता है । अत्यन्त चञ्चल, तीक्ष्ण ( बात-बातमें तिन्ना जानेवाले ), भयङ्कर, क्षुधातुर लोग तेज प्रकृतिके होते हैं । दुबले और क्रोधी लोग वायु प्रकृतिके तथा निपुण, खुले मुखवाले, दूसरेकी बोली पहचाननेवाले लोग आकाश-प्रकृतिके होते हैं । त्यागी, मृदु, क्रोध-हीन और स्नेही लोग देव-प्रकृतिके होते हैं । गीत-प्रिय, आभूषण-प्रिय तथा निरन्तर सद्वस्तुओंका विभाजन करनेमें चतुर लोग नर-प्रकृतिके होते हैं । अत्यन्त क्रोधी, दुष्ट और पापात्मा राक्षस-प्रकृतिके होते हैं । चपल, गन्दे, बहुत बकवादी और स्वार्थी लोग पिशाच-प्रकृतिके होते हैं । जो पुरुष शार्दूल ( गैंडा ), हंस, मतवाले हाथी, साँड़ या मोरके समान चलते हैं वे अच्छे पुरुष होते हैं ।' बृहत्संहितामें जो यह भेद दिया गया है वह अन्य भेदोंसे स्पष्ट और व्यापक जान पड़ता है । बृहत्संहिताकारने विभिन्न पदार्थोंके अनुसार मनुष्योंका जो उपर्यङ्कित स्वभाव-विभाजन किया है वह एक प्रकारसे पूर्ण और विस्तृत है तथा संसार-भरके जितने मानव-स्वभाव सम्भव हो सकते हैं, सब इसमें आ गए हैं । फिर भी यह विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है कि साहित्यमें प्रयुक्त पात्रोंके शील-निर्देशनके लिये इसे कसौटी मान लिया जाय ।

### स्त्रियोंके भेद

जिस प्रकार पुरुषोंका श्रेणी-विभाजन किया गया है उसी प्रकार स्त्रियोंका भी श्रेणी-विभाजन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकारकी स्त्रियाँ बताई गई हैं। इन्हींको क्रमशः साध्वी, भोग्या और कुलटा भी कहते हैं। जो स्त्री प्राणान्त होनेपर भी पर-पुरुषके साथ संसर्ग नहीं करती, पतिके साथ ही देवता, द्विज और अतिथिकी पूजा करती है, व्रत, उपवासादि नियमोंका पालन करती है वह उत्तमा स्त्री कहलाती है। जो बड़ोंके डरसे परपुरुष-संसर्ग नहीं करती और स्वामीकी कम सेवा करती है वह मध्यमा कहलाती है और जो अत्यन्त निकृष्ट, बुरे वंशमें उत्पन्न हुई, झगड़ालू, कर्कशा, गाली देनेवाली, प्रतिदिन पतिके साथ कलह करनेवाली और सदा पर-पुरुषके साथ रहती है, वह अधमा है।

रतिमञ्जरीमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ बताई गई हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी। किन्तु ये भेद केवल शारीरिक अवस्थासे ही सम्बन्ध रखते हैं। जिसके अनुसार इनके सम्बन्धमें बताया गया है कि 'ये चारों प्रकारकी स्त्रियाँ, बाला, तरुणी, प्रौढ़ा और वृद्धा चार प्रकारकी होती हैं। सोलह वर्षतककी स्त्री बाला, तीस वर्षतक तरुणी, पचास वर्षतक प्रौढ़ा और उसके ऊपरकी वृद्धा कहलाती हैं। सामुद्रिक शास्त्रमें भी स्त्रियोंके विभिन्न अङ्गोंके अनुसार उनका भाग्य-निर्णय किया गया है किन्तु वह विवेचन हमारे काम नहीं आ सकता। गरुडपुराणमें भी नारियोंके शुभाशुभ लक्षण इसी प्रकारसे दिए गए हैं किन्तु साहित्यमें प्रयुक्त पात्रोंकी दृष्टिसे नारियोंका जो वर्गीकरण होना चाहिए वह इनमें भी प्राप्य नहीं है।

### मनुष्य, पशु-पक्षी तथा जड़ पदार्थ

आजतक जितना साहित्य रचा जा चुका है या रचा जा रहा है उस सबमें आनेवाले पात्रोंको हम तीन भागोंमें बाँट सकते हैं—सबुद्धि, अबुद्धि और जड़। सब चेतन प्राणियोंमें मनुष्य ही केवल ऐसा जीव है, जिसमें अच्छे-बुरे, हानि-लाभ, कर्त्तव्याकर्त्तव्य इत्यादिका विचार करने और निर्णय करनेकी बुद्धि होती है। जिस नीतिकारने यह कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

[ भोजन, नींद, भय और मैथुन ये चारों सहज प्रवृत्तियाँ सब प्राणियोंमें समान रूपसे पाई जाती हैं किन्तु मनुष्यमें धर्मकी भावना अधिक होती है अर्थात् उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी बुद्धि अधिक होती है जो अन्य प्राणियोंमें नहीं होती। जिनमें यह धर्मबुद्धि न हो उन्हें पशु ही समझना चाहिए। ] उसने मनुष्य और पशुमें सबुद्धिता और अबुद्धिताका ही भेद किया है और यह ठीक भी है। इस दृष्टिसे दिव्य और मानव-समाजके पात्र सबुद्धि-श्रेणीमें और पशु-पक्षी आदि अबुद्धि-श्रेणीमें आते हैं।

हम प्रारम्भमें ही बता आए हैं कि प्राचीन साहित्यकारोंने अपने ग्रन्थोंमें पशुओं और पक्षियोंको भी नाटकीय पात्रोंके रूपमें व्यक्त किया है। कालिदासने अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भ्रमर, मृग और सिंह-शावकको नाटकीय पात्र बनाया है। श्रीहर्षने रत्नावलीमें सारिकाको पात्र बनाया है। अरिस्तोफ़नेसने अपने प्रहसनोंमें चौपाए, बर्रे और मेंढकोंको अपने प्रहसनोंका पात्र बनाया है और इन सब पात्रोंने प्रबन्ध-काव्य कथा-वस्तुके प्रसारमें उसी प्रकार योग दिया है जैसा मानव-पात्र देते हैं। अतः वे सब पशु-पक्षी भी पात्र ही हैं जो मनुष्योंके समान प्रबन्ध-कथाको पुष्ट करते और उसका विस्तार करते हैं। सभी देशोंके साहित्योंमें व्यापक रूपसे कुत्ता, बिल्ली, तोता, मोर, बन्दर, बनमानुस, रीछ, हाथी आदि बहुतसे जीवोंका प्रयोग किया गया है। ये सब जीव शिक्षित नटोंकी भाँति व्यवस्थित रूपसे वार्त्तालाप और चेष्टा करते हैं और यदि पात्रका अर्थ यह है कि वह प्रेक्षकोंतक कथाका अर्थ पहुँचावे तो ये भी निश्चयपूर्वक पात्र ही हैं। अन्तर इतना ही है कि ये अबुद्धि होते हैं और सात्त्विक भावाभिव्यक्ति नहीं कर सकते। कुछ तो पशु-पक्षी ऐसे हैं भी जो सचमुच मनुष्यके समान बोल सकते हैं पर सब ऐसा नहीं कर सकते। इनमें तोता, मैना और वनमानुष ऐसे जीव हैं जो मनुष्यके समान बोल भी सकते हैं किन्तु हाथी, घोड़ा, बैल, गाय इत्यादि केवल मनुष्यके समान कथा-वस्तुको पुष्ट करते और उसका विस्तार करते हैं। आज-कलके सभी देशोंकी बहुतसी कथाओंमें कुत्ता, बिल्ली, तोता, मोर, बन्दर, बनमानुस, रीछ, हाथी आदि बहुतसे जीवोंका प्रयोग किया जाता है जैसे एक चित्र-नाटकमें भैंसेके द्वारा वेदपाठ कराया गया है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि जबतक ये पशु-पक्षी मनुष्योंके ही समान न बोलें तबतक उनकी

वाणी वाचिक अभिनय न समझी जाय। उनकी स्वाभाविक वाणी भी वाचिक अभिव्यक्ति बन सकती है जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तलमें जब कण्वने वन-देवताओंसे कहा कि 'तुम लोग शकुन्तलाको विदा दो' उस समय कोयल कूकी और कण्वने कहा 'कोयलकी कूकके द्वारा वन-देवताओंने शकुन्तलाको आज्ञा दे दी है।' इसी प्रकार 'महाकवि कालिदास' नाटकमें कालिदासकी मूर्खता सिद्ध करनेके लिये एक ऊँट बलबलाने लगा था उसपर कालिदासने 'उट्र-उट्र' कहकर अपनी मूर्खता प्रकट की। यह घटना उस नाटकीय कथा-वस्तुकी मुख्य घटना है। इस कथामें ऊँट उसी प्रकार आचरण करता है जैसे अन्य कोई प्रतिनायक। यहाँ केवल वाचिक अभिनयसे ही कथामें परिवर्त्तन आ जाता है इसलिये कथाके प्रस्तारमें सहायता देनेवाले पशुपक्षी भी कथाके पात्र समझे जाने चाहिएँ।

### जड़ पदार्थ भी पात्र हैं

मनुष्य तथा पशु-पक्षीके अतिरिक्त आजकल प्राय: वैज्ञानिक और रहस्यात्मक नाटकोंमें जड़ पदार्थ भी मनुष्योंके समान आचरण करके कथा-प्रस्तारमें योग देते हैं, जैसे खोपड़ीका हँसना और बोलना, मेजका आज्ञानुसार चलते हुए आना अथवा अभिनवभरत-द्वारा रचित 'विज्ञानका दम्भ' नाटकमें लोहेके बने हुए मनुष्यका आज्ञानुसार कार्य करना, गीत गाना और समाचार-पत्र बाँचना। यह प्रयोग भी नया नहीं है। राजशेखरने अपने 'बाल-रामायण नाटक'में दो पुतलियाँ बनाई हैं जो सीता और उनकी बहनके समान चलती-बोलती हैं। वे इतनी सुन्दर बनी हैं कि रावणको भी भ्रम हो जाता है। भूतप्रेत आदि भी नाटकीय दृष्टिसे चेतन ही प्राणी हैं और नाटकोंमें प्राय: उनका सजीव रूपमें प्रयोग किया गया है जैसे शेक्सपियरने अपने 'मिड - समर नाइट्स ड्रीम' तथा 'हैमलेट'में किया है। किन्तु बहुतसे नाटकोंमें रङ्ग-कौशलके द्वारा मनुष्यकी ठठरी भी चलती-फिरती और बोलती दिखाई गई है। डाक्टर वेलवेलकरके कथनानुसार अभिज्ञान - शाकुन्तलकारने वनज्योत्स्ना लताको भी एक पात्र बना दिया है जो शकुन्तला और दुष्यन्तके मिलनमें सहायता करती है। किन्तु दृश्य वस्तु और जड़ पात्रमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे अन्तर समझ लेना चाहिए। दृश्य वस्तुओंके अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ हैं जो केवल दृश्य - विधानमें

सहायक हों तथा जो रङ्गमञ्चपर लगी हुई या कथामें वर्णित हों, जिनका उद्देश्य केवल दृश्य-विधानको सहायता देना होता है। किन्तु जो वस्तुएँ कथा-प्रसार और नाटकीय व्यापारमें सक्रिय योग देती हों और स्वतः कथाकी पात्र बनकर कथावस्तुके प्रसारमें योग देती हों वे सब पात्र हैं, शेष सब दृश्य-विधानके ही अन्तर्गत हैं।' इसका अर्थ यह हुआ कि जो जड़ पदार्थ कथामें कोई क्रिया करते हैं वे भी पात्र हैं।'

ऊपर यह विवेचन किया जा चुका है कि कथाओंमें तीन प्रकारके पात्र होते हैं सबुद्धि ( देव या मानव ), अबुद्धि (पशु-पक्षी) और क्रिया-प्रधान ( जड़ वस्तुएँ )। इनमें भी अबुद्धि अर्थात् पशु-पक्षियोंके विषयमें हम पीछे कह आए हैं कि वे शिक्षानुसार चेष्टाएँ कर सकते हैं और कुछ अपनी वाणीमें और कुछ सिखानेपर मनुष्यकी वाणीमें बोल सकते हैं। किन्तु इनके विषयमें यह सिद्धान्त अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि श्रव्य - काव्य और कथाओंमें तो पशु-पक्षियोंको पात्र अवश्य बनाया जा सकता है किन्तु 'रङ्गमञ्चपर पशु-पक्षियोंको लानेका विधान नहीं करना चाहिए' क्योंकि पहले तो सब पशु-पक्षियोंका रङ्गमञ्चपर लाना असम्भव है। हाथी, घोड़े, बैल, सिंह आदि विशाल जीव रङ्गमञ्चपर आ नहीं सकते और यदि वे खुली रङ्गशालामें लाए भी जायँ तो भड़ककर उपद्रव भी कर सकते हैं और यदि न भी भड़के तो वे स्वयं इस प्रकारके लोगोंके कुतूहलकी सामग्री बन जायँगे कि जिससे नाटकमें रसभङ्ग हो जाय। अतः पशु - पक्षियोंको रङ्गमञ्चपर जहाँतक हो नहीं लाना चाहिए। बकरी, कुत्ते, बिल्ली, वानर इत्यादि प्रायः रङ्गपीठपर लाए जाते हैं किन्तु रङ्गपीठपर आकर वे ऐसी चेष्टाएँ करने लगते हैं कि मनुष्यका अभिनय उनके सामने शून्य हो जाता है। साहित्यके शेष प्रकारोंमें तो उनका प्रयोग किया जाता ही रहा है और किया जाना भी चाहिए।

## नियमका अपवाद

परन्तु बहुत-सी ऐसी कथाएँ हैं जिनमें इन जीवोंके बिना कथा चल ही नहीं सकती इसलिये उपर्युक्त नियमका यह अपवाद बनाया गया कि 'केवल वे ही जीव रङ्गपीठपर लाए जायँ जो छोटे हों, पालतू हों और उनका कार्य केवल थोड़े समयके लिये हो। वे भी केवल उतने ही समयतक

रङ्गपीठपर रखे जायँ जितने समयतक काम रहे।' नाटककारका यह धर्म है कि वह रङ्गपीठपर लाए जानेवाले जीवोंके लिये अधिक समयतक ठहरनेका विधान न करे क्योंकि जब भली प्रकार सिखाए गए मनुष्य अभिनेता भी रङ्गपीठपर आकर अनेक प्रकारकी भूलें कर सकते हैं तब पशु-पक्षियोंके लिये तो यह भूल अधिक स्वाभाविक है। इस सम्बन्धमें प्रत्येक नाटककारको यही समझ रखना चाहिए कि यथासम्भव रङ्गपीठपर किसी प्रकारके पशु-पक्षियोंको लानेका विधान ही न किया जाय और यदि उनका लाना अनिवार्य हो भी तो थोड़े ही समयके लिये केवल ऐसे पालतू और छोटे पशु-पक्षी लाए जायँ जो इतने अच्छे ढङ्गसे शिक्षित हों कि रङ्गपीठपर आकर वे न तो भड़कें और न कोई कुचेष्टा ही करें।

### जड़ पात्र

जड़ पात्रोंके विषयमें कुछ विशेष कथनीय नहीं है। वह तो लेखकके वर्णन-कौशलपर निर्भर है। अनेक लेखकोंने जड़ पदार्थोंकी ऐसी चेष्टाएँ निर्धारित की हैं जो असम्भव, दुःसाध्य या असम्भव हैं जैसे किसी घरके पूरे भागका ऊपर उड़ने लगना, जैसा 'आरव्य' उपन्यासमें दिया गया है या दरीपर बैठकर आकाशमें विहार करना, खोपड़ीका हँसना, बोलना, हड्डी की ठठरीका चलना आदि। प्रायः भयानक नाटकों जासूसी तथा वैज्ञानिक उपन्यासों और कहानियोंमें इनका विशेष प्रयोग किया गया है।

अबुद्धि और जड़ पात्रोंके लिये इतना विवरण पर्याप्त होगा अतः अब हम आगे मानव-पात्रोंके भेदोपभेदोंका विभिन्न दृष्टियोंसे वर्गीकरण करेंगे जिनके अन्तर्गत दिव्य पात्र भी आ जाते हैं।

### मानव-चरित्र

इस अध्यायके प्रारम्भमें हम बता चुके हैं कि साहित्योंमें देवता, अप्सरा, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, राक्षस, भूत-प्रेत आदि अलौकिक चरित्रोंका, स्त्री-पुरुष नपुंसकात्मक मानव जातिके चरित्रोंका और करुणा, दया, अहङ्कार, क्षमा, शान्ति आदि मानस चरित्रोंका प्रयोग मनुष्योंके समान ही किया जाता है अतः इन सबकी विवेचना मानव-चरित्रके अन्तर्गत ही की जायगी, क्योंकि नाटककारोंने इनकी क्रियाओं और मानसिक व्यापारोंका निरूपण मानवीय आचरणों और विचारोंके अनुसार ही किया है। जहाँतक अलौकिक चरित्रोंकी

रूढिगत विशेषताओंका वर्णन है, उसका ध्यान लेखकको अवश्य रखना चाहिए जैसे देवताओंके विषयमें कहा गया है कि उनकी पलकें नहीं लगतीं, वे भूमिको नहीं छूते, उनकी छाया नहीं पड़ती आदि। इन रूढिगत विशेषताओंके अतिरिक्त शेष आचरण मानव-तुल्य ही होता है। मानसी सृष्टिके करुणा, दया, क्षमा, अहङ्कार, क्रोध आदि भाव जो मनुष्य-रूपमें दिखाए जायँ उनका सब कुछ विधान उन भावोंकी प्रकृतिवाले मनुष्यके समान ही करना चाहिए।

### तीन प्रकारके मानव

सृष्टि-भरके सब मनुष्योंकी छानबीन करनेपर लिङ्गभेदसे मानव तीन प्रकारके प्राप्त होते हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक। पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रत्यक्ष भेद हैं जिनके संयोगसे मानव-सृष्टि उत्पन्न होती है। नपुंसक वे हैं जिनमें न तो पुरुषत्व है न स्त्रीत्व है। ये भी दो प्रकारके होते हैं पुन्नपुंसक और स्त्री-नपुंसक। जिनके शरीरमें पुरुषत्वके अधिक लक्षण होते हुए भी पुरुषेन्द्रियकी हीनता होती है वे पुन्नपुंसक और जिनके शरीरमें स्त्रीके अधिक लक्षण होते हुए भी स्त्रीत्व न हो वे स्त्री-नपुंसक कहलाते हैं। इन तीनोंके आचार-विचार और व्यवहारमें अन्तर होता है। देवताओंमें नपुंसक नहीं होते और न अलौकिक वर्गमें ही होते हैं।

### चार रङ्गके मानव

मानव-जातिके सब वर्गोंका अध्ययन करके विद्वान् इस परिणामपर पहुँचे हैं कि संसारमें चार रङ्गके मनुष्य हैं—१. गोरे, २. काले, ३, पीले और ४. लाल। चीन, जापान, ब्रह्मा, स्याम आदि देशोंके लोग पीले; दक्षिण भारत, अफ़रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और अमेरिकाके आदिम निवासी काले; उत्तरी भारत ( पञ्जाब, कश्मीर ) फारस, काकेशिया और योरोपके लोग गोरे तथा अमेरिकाके लाल हिन्दवी ( रेड इंडियन ) तथा कुछ योरोपीय लोग लाल होते हैं। किन्तु यह भेद साहित्यिक प्रयोजनमें अधिक साधक नहीं होता।

### शरीर-भेदसे चार प्रकारके मानव

हमारे चारों ओर जितने प्रकारके मनुष्य दिखाई पड़ते हैं, सब शरीर-भेदसे चार प्रकारके हैं—पतले, मोटे, न बहुत पतले, न बहुत मोटे।

साहित्यकारोंने इन सभी प्रकारके मनुष्योंका प्रयोग अपनी कथाओंमें किया है। कभी-कभी विशेष प्रभावके लिये या हास्य-जनक नाटकोंके लिये पात्र चुननेमें अति स्थूल और अति कृशकी भी योजना कर ली जाती है।

इसीके साथ एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है और वह है बहुत लम्बे, बहुत नाटे, न बहुत लम्बे न बहुत नाटे। आजकलके साहित्यकार पात्र-निर्देशमें इसका भी विधान करते हैं कि अमुक व्यक्ति लम्बा है या नाटा है या अमुक परिमाणका है क्योंकि कुछ देश ऐसे हैं जहाँ प्रायः लोग नाटे ही होते हैं जैसे पहाड़ी या ब्रह्मा-देशवासी और कुछ ऐसे देश हैं जहाँके लोग लम्बे ही होते हैं जैसे हाइलैंडर या पञ्जाब और हरियानेके लोग। इसीलिये साहित्यकारको साधारण पात्रोंकी छोटाई-बड़ाईका भी देश-भेदके अनुसार निर्देश कर देना चाहिए। हाँ, जहाँ किसी विशेष आकार-प्रकारका पात्र ही साहित्यकारको अभीष्ट हो, वहाँकी बात दूसरी है।

## तीन प्रकारकी आकृतियाँ

इन मनुष्योंमें भी तीन प्रकारकी आकृतियोंके लोग पाए जाते हैं। कुछ सुरूप, कुछ कुरूप और कुछ विरूप। सुरूप आकृति उसकी कहलाती है जिसके अङ्ग सानुपात हों। कुरूप उसे कहते हैं जिसके कुछ या सब अङ्ग अननुपात हों। बड़े दाँत, मोटा ओठ, चिपटी नाक, लटकी भौंहें, निकला हुआ पेट, बहुत उठी हुई नाक, ठोढ़ीका अभाव, दबे, चपटे कान आदि जिसके हों वह कुरूप होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुरूपता और कुरूपता रङ्गपर अवलम्बित नहीं है। गौर वर्णवाला व्यक्ति भी कुरूप हो सकता है और कृष्ण वर्णवाला भी सुरूप हो सकता है। विरूप व्यक्ति उसे कहते हैं जो किसी रोगके कारण या जन्मसे ही विकलाङ्ग या हीनाङ्ग हो, जैसे काना, बूचा, लँगड़ा, लूला, बौना, छंगुर ये सब विरूप हैं। इनमेंसे प्रायः सुरूप पात्र ही कथाके नायक या उसके सखा बनाए गए हैं। कुरूपको प्रतिनायक या भयानक तथा वीभत्स रसका नायक बनाया गया है और विरूपका प्रयोग अधिकतः हास्य रसमें किया गया है। कभी-कभी विकलाङ्ग या हीनाङ्ग करुणा-जनक कथाओंमें करुणाके आलम्बन बन सकते हैं किन्तु ऐसे व्यक्तियोंको देखकर जो दया या सहानुभूति होती है उसमें केवल

भावमात्र होता है रस नहीं, अतः इनका प्रयोग इसी निमित्त करना चाहिए। कुरूप या विरूप पात्रोंका प्रयोग करनेमें साहित्यकारको बहुत कौशलसे काम लेना पड़ता है क्योंकि थोड़ी-सी भी चूक होनेपर, वाणी या क्रियाकी तनिक-सी त्रुटि हो जानेपर रसभङ्गकी आशङ्का बनी रहती है। उसका कारण यह है कि मूर्ख और विकलाङ्ग सदासे हास्यके आलम्बन रहे हैं। काने, लँगड़े या लूलेको लोग काना, लँगड़ा, या लूला कहकर चिढ़ाते हैं, उनके साथ सहानुभूति नहीं करते अर्थात् उनकी कुरूपता या विरूपताके कारण कोई उनसे सहानुभूति नहीं करता। हाँ, यदि वे विपत्ति-ग्रस्त हों तो उसके साथ सहानुभूति हो सकती है। पर यह सहानुभूति तो सभी विपद्ग्रस्तोंके साथ होती है चाहे वे विगलाङ्ग हों या पूर्णाङ्ग। अतः साहित्यकारका कर्त्तव्य है कि कुरूपको यथासम्भव भयानक या वीभत्समें प्रयोग करे और विरूपको जहाँतक सम्भव हो छोड़ दे और यदि हास्यके अतिरिक्त अन्य रसमें उनका प्रयोग करना ही हो तो ऐसे कौशलसे काम ले कि उनके कारण पाठक या दर्शक हँस न पड़े। गूँगे, बहरे और मन्दबुद्धि भी हास्य रसके उचित पात्र बन सकते हैं।

## सरोग और नीरोग

सब प्रकारके मनुष्योंकी दो और अवस्थाएँ होती हैं—१. सरोगिता और २. नीरोगिता। प्रत्येक मनुष्य 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'के अनुसार कभी न कभी रुग्ण हो ही जाता है। ये रोग भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो शरीर-दोषसे अर्थात् वात, पित्त और कफके विकारसे या बाहरके आघातसे। यह आघात दैवी भी हो सकता है जैसे लू लगने, सर्दी खाने या ग्रह-बाधाके कारण अथवा ईंट-पत्थर आदिसे चोट लगनेके कारण। नये सिद्धान्तके अनुसार कह सकते हैं कि रोग तीन प्रकारके होते हैं—१. आभ्यन्तरिक, जो आहार-विहारके व्यतिक्रम अथवा जलवायुके विकारसे उत्पन्न होते हैं, जैसे सरदी, ज्वर, मन्दाग्नि, सिरपीड़ा, आँख आना तथा राजरोगादि। दूसरे वे हैं जो छूतसे उत्पन्न होते हैं जिसमें सब प्रकारकी महामारियाँ आती हैं और तीसरे हैं बाह्य, जो शरीरके बाहरकी वस्तुओंके सम्पर्कमें आनेपर विकार उत्पन्न करते हैं—पैर कुचलना, पेड़से गिरना, घोड़ेकी लातसे घायल होना आदि। रोग भी किसीके शरीरमें सदा बने रहते हैं और

किसीके शरीरमें कभी-कभी उत्पन्न होते हैं। इस सरोगिता और नीरोगिताके कारण भी मनुष्यके स्वभावमें अन्तर हो जाता है इसीलिये हमने यह भेद भी स्वीकार कर लिया है।

भगवान श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा-सङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
सत्त्वं सुखं सञ्जयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

— अ० १४।

[ हे अर्जुन सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति या मायासे उत्पन्न होते हैं और अविनाशी आत्माको बाँधते हैं। इन तीनों गुणोंमेंसे, सत्त्व गुण निर्मल, प्रकाशक और दुःख-रहित होता है, इसलिये वह आत्माको सुख और ज्ञानसे बाँधता है। अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छारूपी तृष्णा और प्राप्त वस्तुके संरक्षणकी इच्छारूपी सङ्गसे रजोगुणकी उत्पत्ति होती है, जो रागात्मक होता है। यह रजोगुण आत्माको कर्म-सङ्गसे बाँधता है। तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है, यह सब जीवोंको मोहित करनेवाला होता है तथा आत्माको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है। सत्त्वगुण जीवात्माको सुखमें लगाता है, रजोगुण काममें लगाता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है। सत्त्वसे प्रकाशरूप स्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है जिससे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है जिनसे इनका उत्पादक अज्ञान भी बढ़ता है। ]

इस क्रमके अनुसार सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणी तीन प्रकारके होते हैं। जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है वे सत्त्व प्रकृतिके, जिनमें रजोगुण अधिक होता है वे रज:प्रकृतिके और जिनमें तमोगुण अधिक होता है वे तम:प्रकृतिके होते हैं। यों तो सारी प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है किन्तु प्रत्येक प्राणीमें तीनों गुण विशिष्ट परिमाणमें रहते हैं। इनमेंसे जो अधिक सत्त्वगुणवाले होते हैं वे अधिक सज्जन और लोक-हितकारी होते हैं, जो सदा अपने ही सुखकी सामग्री जुटाते और विलासमें लीन रहते हैं उनमें रजोगुण अधिक होता है और जो सबको पीड़ा देते हैं, कष्ट पहुँचाते हैं और दूसरोंके अहितका ही चिन्तन करते हैं उनमें तमोगुण अधिक होता है। इन तीनों प्रकृतिवाले लोगोंकी पहचान बड़ी सरलतासे हो सकती है और नाट्यशास्त्रमें जो उत्तम-मध्यम और तीन प्रकारकी प्रकृति बताई गई है उनका आधार भी यही है।

## स्वभावपर सङ्गतिका प्रभाव

संसारके सभी प्राणी पिछले जन्मके संस्कार लेकर उत्पन्न होते हैं। जिसने जिस प्रकारका कर्म पिछले जन्ममें किया है, उसका अच्छा या बुरा फल भोगनेके लिये उसे जन्म लेना ही पड़ता है। उसी कर्मके फल भोगनेमें मनुष्य सुख भी भोगता है और दु:ख भी। किन्तु सब प्राणियोंमें मनुष्य ही ऐसा है जो यदि चाहे तो ज्ञानाग्निसे अपने सब कर्म-संस्कार जला सकता है। अर्थात् यदि वह सुख-दु:ख, निन्दा-स्तुति, मानापमान, शुभाशुभ, शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्व भावोंसे ऊपर उठकर द्वन्द्वातीत होकर समबुद्धि या स्थितप्रज्ञ हो जाय तभी वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह ज्ञानप्राप्ति गुरुकृपा और सत्सङ्गति दोनोंसे होती है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सत्त्व-प्रकृति होते हुए भी दैव-संयोगसे कुसङ्गतिमें पड़ जाते हैं और दुर्जनोंके विनाशकारी प्रभावमें आकर धीरे-धीरे दुर्जन हो जाते हैं। इससे परिणाम निकला कि सङ्गति और संस्कारके प्रभावसे भी मनुष्य अच्छा या बुरा हो सकता है।

योरोपीय आचार्योंने भी स्वभाव-निर्माणकी कसौटी बताई है कि 'मनुष्य जैसी सङ्गतिमें रहता है उसे वैसा ही समझना चाहिए।' इस प्रकार हमारे सङ्गति-प्रभावके सिद्धान्तको उन्होंने भी स्वीकार किया है। अत: मनुष्य

के स्वभावका विचार करते समय हमें दोनों बातोंका विचार करना होगा। एक तो उसकी प्रकृति, जो सात्त्विकी, राजसी या तामसी होगी, दूसरी उसकी सङ्गति, जो अच्छी या बुरी हो सकती है। सत्सङ्गतिसे मनुष्यके भावोंका परिष्कार होता है, उसकी बुद्धि विवेकशील हो जाती है, उसका हृदय संवेदनशील हो जाता है और उसका मन सत्कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत कुसङ्गतिसे मनुष्यके भावोंमें विकार आता है, बुद्धि अविवेकवती हो जाती है, हृदय कठोर हो जाता है और उसका मन दुष्कर्मोंकी ओर प्रवृत होता है।

### प्राक्तन जन्म-संस्कार

विदेशी दार्शनिकोंने कर्मवादको नहीं माना है। फिर भी वे कुल-परम्पराका प्रभाव मानते हैं और यह प्रभाव सांस्कारिक न मानकर प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक मानते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त भ्रमात्मक सिद्ध हो चुका है। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि महापुरुषोंके पुत्र प्रायः निकम्मे होते हैं। एक ही पिताके कई पुत्र विभिन्न स्वभाव, प्रवृत्ति और चरित्रके होते हैं। रही बाहरी आचारकी बात, वह सामाजिक है, व्यक्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इस बाहरी आचारसे मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा नहीं की जा सकती। अतः यह निश्चय है कि एक ही माताके विभिन्न पुत्रोंका विभिन्न चरित्रवाला होना किसी दूसरी शक्तिका फल है। वह शक्ति प्रत्यक्षतः देखी-सुनी नहीं जा सकती। अतः उसका कोई अमूर्त्त कारण है और वह अमूर्त्त कारण तभी जाना जा सकता है जब हम कर्मवादके सिद्धान्तको स्वीकार करें। क्योंकि कर्मवादके ही द्वारा एक ही परिवारमें विभिन्न प्रकारके प्रकृतिवाले लोगोंके चरित्रको समझनेमें कोई कठिनाई न होगी। यदि हम पौराणिक महापुरुषोंको छोड़ भी दें तो इस युगमें भी अनेक जातिस्मर बालक उत्पन्न हुए हैं और होते हैं जिन्हें अपने पिछले जन्मकी बातें स्मरण होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक विशिष्ट प्रतिभाशील लोग हुए हैं जिन्होंने अत्यन्त अल्प अवस्थामें अभूतपूर्व प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। यह पिछले जन्मका ही संस्कार हो सकता है, इस जन्मका नहीं।

## अच्छे और बुरे स्वभाव

मोटे रूपसे लोग [illegible] दो प्रकारका मानते हैं—अच्छा और बुरा। अरस्तूने भी यही दो भेद स्वीकार किए हैं। साधारण लोकदृष्टिसे यह अच्छाई या बुराई सापेक्ष्य होती है। कोई एक व्यक्ति किसी एक विशेष कर्मसे किसी व्यक्ति या वर्गके लिये अच्छा हो सकता और उसी कर्मके कारण दूसरेके लिये बुरा हो सकता है। अतः अच्छे और बुरेका भेद मनुष्यके कर्मपर निर्भर है और वह भी पर-सम्बद्ध-योगपर ही अवलम्बित है। अतः यह आचरणपर अवलम्बित अच्छे या बुरेका भेद तो ग्राह्य नहीं होना चाहिए। किन्तु सत्त्व, रज और तम गुणके कारण तथा सत्सङ्गति और कुसङ्गतिके कारण सार्वजनीन दृष्टिसे अर्थात् किसी विशेष वर्ग या समाजके हित और अहितकी दृष्टिसे अच्छा या बुरा न माना जाकर सार्वभौम दृष्टिसे वास्तविक स्वभाव अर्थात् मानसिक प्रवृत्तिसे पुष्ट स्वभावकी अच्छाई या बुराई निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि सृष्टि-भरमें दो व्यापक नैतिक सिद्धान्त हैं जिनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। वे हैं—

१. परहित करनेवाला अच्छा मनुष्य, और
२. दूसरेका अहित करनेवाला बुरा मनुष्य।

निष्कर्ष यह निकला कि परहित करनेवाला अच्छा और पर-पीडक दुष्ट होता है।

किन्तु इन अच्छे और बुरे, साधु और असाधु, सत् और असत् प्राणियोंमें भी उत्तम और अधम दो प्रकारके प्राणी होते हैं। ये दोनों कालानुवर्त्ती या वर्त्तमान परिभाषाके अनुसार अवसरवादी होते हैं। जो अवसर देखकर तदनुसार अच्छा काम करे और उससे अपना हित होता समझे वह उत्तम, और जो अपने हितके लिये दूसरोंका अपकार करे वह अधम कालानुवर्त्ती कहलाता है। जो लोग दुर्बल या कायर प्रकृतिके होते हैं उनका सूत्र है 'जैसी बहे बयार, पीठ तब तैसी दीजै।' उनकी अपनी इच्छा-शक्ति या निर्णायिका शक्ति कुण्ठित होती है। वे अपने मनसे न तो कोई बात सोच सकते हैं और न कोई नया काम ही कर सकते हैं। समय और दूसरोंकी इच्छा ही देखकर ये किसी काममें प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोग समाजमें चपट, चतुर और व्यवहार-कुशल कहलाते हैं किन्तु स्वभावकी दृष्टिसे ये शिथिल, अव्यवस्थित और अनिश्चयी होते हैं।

## स्वभावपर अवस्थाका प्रभाव

मनुष्यका वास्तविक स्वभाव उसकी परिपक्व अवस्थामें बनता है अर्थात् बचपनके संस्कार धीरे-धीरे अभ्यस्त होते-होते उसके स्वभावका रूप धारण कर लेते हैं। मनोवैज्ञानिकोंकी परिभाषाके अनुसार इसे यों कह सकते हैं कि 'जब एक ही प्रकारकी क्रियाकी सदा एक सी मानसिक स्नायविक प्रतिक्रिया होने लगती है और वे प्रतिक्रियाएँ अपना एक पथ निश्चित कर लेती हैं तो वे ही मनुष्यके स्वभाव और आचरणको प्रभावित करके मनुष्यको बदल देती हैं।' इसी प्रकार मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार भी उसके स्वभावमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस दृष्टिसे मनुष्यकी दश अवस्थाएँ होती हैं—शिशु, बाल, कुमार, किशोर, युवा, अतियुवा, प्रौढ़, अतिप्रौढ़, वृद्ध और अतिवृद्ध। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थकारोंने अवस्था-चतुष्टयमें बचपन, लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा, ये ही चार अवस्थाएँ मानी हैं किन्तु स्मृतियोंमें पाँच वर्षतक कौमार, दस वर्षतक पौगण्ड, पन्द्रह वर्षतक कैशोर उसके पश्चात् यौवन तथा सत्तरके पश्चात् वृद्धावस्था मानी है। कुछ आचार्योंके मतसे सोलह वर्षतक बाल्यावस्था, सोलहसे सत्तरतक तरुणावस्था, सत्तरसे नब्बेतक वृद्धावस्था और उसके पश्चात् वर्षीयस् अवस्था मानी है। आयुर्वेदके मतसे पन्द्रहतक बाल्यावस्था, पन्द्रहसे तीसतक कौमार अवस्था, तीससे पचासतक युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था होती है किन्तु जिस दृष्टिसे हम अवस्थाका विभाजन कर रहे हैं अर्थात् स्वभाव और आचरणकी दृष्टिसे, उसमें हमें दूसरे ही प्रकारसे अवस्था-विभाजन करना पड़ेगा।

साधारणतः तीन वर्षका बालक एक विशेष प्रकारकी परमहंसमय अबोध अवस्थामें रहता है। उसका खाना-पीना सब दूसरोंपर अवलम्बित रहता है, उसकी अपनी कोई भावात्मक इच्छाएँ नहीं होतीं। उसे जैसा सिखाया जाता है वह वैसा ही करता है। हाथ जोड़ो, कूदो, नाचो आदि आदेशोंपर वह वैसा ही निर्लिप्त आचरण करता है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि हाथ क्यों जोड़ना चाहिए, क्यों नाचना-कूदना चाहिए। यह अबोधावस्था शिशु-अवस्था कहलाती है। तीनसे पाँच वर्षकी अवस्थामें सहसा शिशु अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय आदिका विचार करने लगता है और उसमें इच्छाएँ आने लगती हैं। वह मेलेमें जाने लगता है, विशेष प्रकारके खेल-खिलौने

चाहने लगता है, कुछ-कुछ उसकी रुचि बन चलती है और उसका कुतूहल भी जागने लगता है। पाँचसे आठ वर्षतककी कुमारावस्थामें बालक अपनी बाल-प्रवृत्तियोंको पिता, माता और परिवारके लोगोंके साथ सुधारता और सँभालता चलता है। इस अवस्थामें वह माता-पिता, गुरु तथा बड़े लोगोंका गुरुत्व समझने लगता है और भय, आदर, विरक्ति आदि भावोंको पुष्ट करता चलता है। उसकी पहचान बढ़ जाती है। वह समझने लगता है कि कब किस परिस्थितिमें पिता-माता या गुरुसे क्या कहना और लेना चाहिए। मेरा-तेराका भाव भी इसी अवस्थामें पनपता है और अपनी वस्तु दूसरेके पास न जाने देने और दूसरेकी ले-लेनेकी भावना इसी अवस्थामें जागती है। इसीमें अहङ्कार भी बढ़ने लगता है। यह अवस्था कुमारावस्था कहलाती है। आठसे पन्द्रहतककी अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। इस अवस्थामें ही कुमारके सब अभ्यास बनते हैं। उसकी रुचि, प्रवृत्ति और प्रकृति दृढ़ता ग्रहण करती है। इसीमें भावी प्रवृत्तियोंकी प्रेरणा होती है। यह अवस्था संक्रान्ति-कालकी होती है। इसमें जैसी शिक्षा या सङ्गति मिलती है, मनुष्य वैसा ही बन जाता है। इसी अवस्थाको मनोवैज्ञानिक लोग निर्माण-अवस्था कहते हैं। इसीमें मनुष्यका चरित्र-निर्माण होता है। पन्द्रह वर्षसे तीस वर्षकी अवस्थातक युवावस्था होती है, इस अवस्थामें मनुष्यकी दो वृत्तियाँ विशेष रूपसे व्यक्त होती हैं। एक तो आत्म-प्रदर्शनकी और दूसरी किसीके प्रति आकृष्ट होकर उसे अपनानेकी। यह दूसरी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है। एक समाज-भावनासे प्रेरित होकर मित्र या साथी बनानेकी और दूसरी काम-भावनासे प्रेरित होकर अपना प्रेम-पात्र बनानेकी। इन दोनों चेष्टाओंमें प्रायः युवक इतनी उच्छृङ्खलता और उत्कट वासनासे काम करते हैं कि कभी-कभी समाजके बन्धनोंको भी लाँघ जाते हैं। किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

सुभाषितेपु गीतेपु युवतीनाञ्च लीलया।
यस्य न द्रवितं चित्तं स योगी अथवा पशुः॥

[ किसीकी सुन्दर उक्तिपर, गीतपर और युवतियोंके हाव-भावपर जो रीझकर लट्टू न बना, वह या तो योगी है या पशु। ]

इसीके स्वरमें स्वर मिलाकर बिहारीने कहा है—

इक भींजैं, चहले परैं बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै नै बै चढ़ती बार ।।

[ नदी और अवस्था ये दोनों जब चढ़ती हैं तब कितने उपद्रव नहीं करतीं ? क्योंकि उनसे कोई तो भींग जाते हैं, कोई दल-दलमें फँस जाते हैं और बहुतसे तो डूब जाते या बह जाते हैं । ]

एक उर्दू सूक्तिकारने भी कहा है—

जवानी आदमीकी मायये इल्ज़ाम होती है।
निगाहें नेक भी इस उम्रमें बदनाम होती है ।।

[ मनुष्यकी युवावस्थापर आरोप लगाए ही जाते हैं, क्योंकि इसमें सीधा-सादा व्यक्ति भी दुर्नाम हो जाता है । ]

यही अवस्था शृङ्गारपूर्ण साहित्यके लिये सबसे अधिक प्रयोगमें लाई गई है । 'मनुष्य क्या नहीं कर सकता ?' इस उक्तिकी सिद्धि इसी अवस्थामें होती है—साहस, दु:साहस, आवेग, त्याग, लगन, दृढ़ता, शूरता, सङ्घर्ष आदि सब ओजमयी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ इसी अवस्थामें उद्बुद्ध और पोषित होती हैं । इसी अवस्थामें युवक अपनी कामैषणाके साथ लोकैषणा और वित्तैषणा भी पूर्ण करनेके लिये चाहता है कि 'मेरा यश हो और मेरे पास धन हो ।' वह कल्पनाके अनगिनत प्रासाद उठाता है, तल्लीन होकर चिन्तन करता है, साधनोंके सहारे उन कल्पनाओंको पूर्ण करनेकी चेष्टा करता है और यदि वह असफलता पाता है तो आवेगमें आकर आत्म-घाततक कर लेता है । किन्तु इनमें जो साहसी होते हैं वे असफलतासे घबराते नहीं, डरते नहीं, आगे बढ़ते चलते और सफलता मिलनेतक परिस्थितियोंसे सङ्घर्ष करते चलते हैं । इस आधारपर भी मनुष्यके तीन भेद गिनाए गए हैं—१. उत्तम, २. मध्यम और ३. अधम ।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै:
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या: ।
विघ्नै: पुन: पुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।।

[ वे नीच या अधम कोटिके मनुष्य हैं जो विघ्नके भयसे कोई काम ही नहीं प्रारम्भ करते । मध्य कोटिके मनुष्य काममें हाथ तो डाल देते हैं किन्तु विघ्नोंसे घबराकर हाथ रोक देते हैं । किन्तु उत्तम मनुष्य वे हैं जो

विघ्नोंसे टक्कर लेते हुए भी अपने उठाए हुए काम भी पूरा ही करके छोड़ते हैं । ]

इसके पश्चात् आती है अतियुवावस्था, जो तीससे पचासतक चलती है । इस अवस्थामें मनुष्य गम्भीर होने लगता है । सामाजिक पद, गृहस्थीका उत्तरदायित्व आदि अनेक प्रकारके पारिवारिक और सामाजिक बन्धनोंमें फँसकर अपने दायित्वका चिन्तन करता है और न चाहते हुए भी उसे गम्भीरताका आडम्बर धारण कर लेना पड़ता है । इस अवस्थामें वह प्राय: यशोपार्जन और धनोपार्जनमें लगता है और इन दोनों प्रकारके उपार्जनोंमें वह इतना मग्न रहता है कि नीति-अनीतिका भी प्राय: विचार नहीं करता । पचास वर्षके पश्चात् प्राय: उसकी प्रायश्चित-अवस्था प्रारम्भ हो जाती है जो पैंसठ वर्षतक चलती है । इसे प्रौढावस्था कहते हैं । इस अवस्थामें मनुष्य कुछ अधिक धार्मिक हो जाता है, उसमें उदारता, सौहार्द आदि गुण बढ़ जाते हैं, उसका स्वभाव कुछ कोमल और उपदेश-प्रिय हो जाता है अर्थात् वह सबको उपदेश देने लगता है । इसके पश्चात् पैंसठसे पचहत्तरतक अतिप्रौढ़ अवस्था होती है । इसमें मनुष्यका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है । उसे अपने चारों ओर अनीति और अनियम ही दिखाई देने लगता है । वह समझता है कि लोग मेरा आदर नहीं करते हैं और मेरी आवश्यकता नहीं समझते । वह खीझने और कुढ़ने लगता है और इसीमें पचहत्तर वर्षके पश्चात् वह वृद्ध हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं, यही उसकी वृद्धावस्था है । वृद्धावस्थामें सत्सङ्गति तथा विशेष रूपसे अपनी अवस्थाके लोगोंसे सङ्गति करनेकी विशेष प्रवृत्ति होती है । बालक और युवक उसकी युवावस्थाकी कथा सुनें, उसका आदर करें और उसके पास उठें-बैठें तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है । यह वृद्धावस्था नब्बे वर्षतक चलती है, उसके पश्चात् नब्बेसे सौ वर्षतक मनुष्य बच्चेके समान परावलम्बी हो जाता है । दूसरे लोग उसे चलाते, उठाते-बैठाते हैं । उस समय वह केवल निर्वाणकी कामना करता है । शेक्सपियरने अपने 'ऐज यू लाइक इट' नाटकमें जेक्सके मुँहसे इसका बड़ा भव्य चित्रण कराया है—

'सारा विश्व ही रङ्गपीठ है । पुरुष और स्त्रियाँ उसके अभिनेता-भर हैं । वे प्रवेश करते हैं और निष्क्रमण करते हैं और एक ही मनुष्य अपने समयमें

कई भूमिकाएँ ग्रहण करता है। इसकी सात अवस्थाएँ ही उसके नाटकके अङ्क होते हैं। सर्वप्रथम शिशु होता है जो अपनी धायकी गोदमें रोता और मचलता है। उसके पश्चात् कुमार होता है। अपने सुन्दर प्रभातमय चमकीले मुखसे पुस्तकोंका बस्ता दबाए, दुखी मनसे, धीरे-धीरे, अनिच्छा-पूर्वक अपनी पाठशालाको जाता है। इसके पश्चात् प्रेमी उपस्थित होता है जो भट्ठीके समान निश्वास लेता हुआ अपनी प्रेमिकाकी भौंहोंपर कविता रचता है। उसके पश्चात् अनेक प्रकारके निश्चयोंसे पूर्ण, बढ़ी हुई दाढ़ीवाला योद्धा गौरवके लिये उत्सुक, झगड़ा करनेके लिये समुद्यत और तोपके मुँहपर खड़े होकर भी क्षणिक प्रतिष्ठाकी कामना करता है। उसके पश्चात् न्याय-मूर्ति, गोल पेटवाला गम्भीर आँखोंवाला, एक निश्चित प्रकारकी दाढ़ी बढ़ाए, अनेक प्रकारकी सूक्तियाँ और दृष्टान्त उपस्थित करनेवाला पुरुष सामने आता है। छठी अवस्थामें दुबला-पतला मनुष्य पतलूनमें प्रविष्ट होकर, चप्पल पहनकर, आँखोंपर उपनेत्र चढ़ाकर और अपने साथ एक झोला लटकाए और अपनी जवानीका मौजा भली प्रकार सुरक्षित करके ले चलता है और यह इतना-सा ही संसार उस दुबले-पतलेके लिये बहुत बड़ा जान पड़ने लगता है। उसका पौरुष-भरा स्वर फिर बच्चेके समान तुतलाने लगता है। उसके स्वरमें वंशी और सीटी बोलने लगती है और सबसे अन्तमें वह दशा आ जाती है जब यह घटना-भरा इतिहास समाप्त लगता है, दूसरा बचपन आने लगता है, जीवन उपेक्षित होने होने लगता है और मनुष्य बिना दाँत, बिना आँख, बिना स्वाद और बिना वस्तुका हो जाता है।'

## पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें भेद

बहुतसे आचार्योंने पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें विशेष भेद बताया है किन्तु ये सब भेद विभिन्न देशोंके सामाजिक नियमों और आचारोंपर अवलम्बित हैं। मुसलिम देशोंमें स्त्री साधारण सामग्रीकी भाँति दी और ली जा सकती है। योरोपीय महिलाएँ अधिक स्वतन्त्र और मनस्विनी होती हैं। चीन, जापान आदि पूर्वीय देशोंमें स्त्रियोंपर कड़ा नियन्त्रण है और हमारे यहाँ तो उसके लिये नियम ही बना दिया गया है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने ।।
सुतः रक्षति वार्द्धक्ये, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।

[ कुमारी अवस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और बुढ़ापेमें पुत्रोंके द्वारा रक्षा पानेवाली स्त्री कभी अपनेपर नहीं छोड़ी जा सकती । ]

ये सब विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं इसलिये इन सब बातोंका विचार परिस्थिति-प्रभावित स्वभावके अनुसार करना चाहिए। वास्तवमें साधारणतः पुरुष कठोर और नारी कोमल होती है किन्तु यह सब सत्त्व, रज, और तमके साम्य तथा वैषम्यपर अवलम्बित हैं। अनेक पुरुष स्त्रियोंसे भी अधिक कोमल होते हैं और अनेक स्त्रियाँ पुरुषोंसे भी कठोर होती हैं। अतः परिस्थितियोंके अनुसार साहित्यकारको उनका चरित्राङ्कन करना चाहिए।

## मानवकी तीन प्रवृत्तियाँ

यदि हम मनुष्यकी धारणा-प्रवृत्तियोंका परीक्षण करें तो हमें तीन प्रवृत्तियाँ मिलेंगी—

१. स्वार्थ-प्रवृत्ति,
२. परार्थ-प्रवृत्ति और
३. वर्ग-प्रवृत्ति ।

१. स्वार्थ-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे आत्म-रक्षा, सब प्रकारसे अपने प्रिय परिजनकी रक्षा, सब प्रकारसे जीविकाकी रक्षा, सब प्रकारसे सम्पत्तिका उपार्जन और उसका संरक्षण, सब प्रकारसे अपने लिये एक या अनेक सङ्गिनी ( स्त्रीका अपने लिये पुरुष-सङ्गी और पुरुषका अपने लिये स्त्री-सङ्गिनी ) प्राप्त करना, सब प्रकारसे अपनी आन या मर्यादाका रक्षण, मित्र-सङ्ग्रह, सेवक-सङ्ग्रह, जन-सङ्ग्रह ( सेना या सहायकके रूपमें ) तथा मनोविनोद ।

इन उपर्युक्त भावनाओंको तुष्ट और पुष्ट करनेके लिये मनुष्य बल, बुद्धि, सेवा, याचना, धन, सम्पत्ति और जनका प्रयोग करता है । जो सद्वृत्तिवाला मनुष्य होगा वह इन उपर्युक्त साधनोंके प्रयोगमें अच्छे तथा लोक-हितकर प्रकारसे अपनी विभिन्न भावनाओंकी तृप्ति करेगा, जो दुर्वृत्त होगा वह बुरे तथा अहितकर उपायोंसे तृप्ति करेगा । अतः उनके चित्रणमें उनकी प्रकृतिके अनुसार कार्य तथा भावोंका उद्गार कराना चाहिए ।

२. परार्थ-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मनुष्यमात्र,

जीवमात्र अथवा सृष्टिमात्रकी रक्षा, सहायता, सेवा अथवा उनका विनाश तथा पीडन ।

३. वर्ग-प्रवृत्तिके अन्तर्गत इतनी भावनाएँ आती हैं— अपने वर्ग या समाजकी प्रशंसासे प्रसन्न होना, निन्दासे अप्रसन्न होना तथा अपने वर्गकी आकांक्षा, प्रवृत्ति तथा उद्योगमें सहयोग देना, वह चाहे अच्छा हो या बुरा ।

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनमें आलस्य अथवा विरागके कारण प्रवृत्ति-शून्यता होती है ।

इनके अतिरिक्त भोजन प्राप्त करने, निद्रा लेने, भयभीत होने और काम-वासनामें प्रवृत्त होनेकी भावना सब प्रकारके स्वस्थ मनुष्योंमें होती है ।

### राग, घृणा और उदासीनता

ऊपर जिन अनेक प्रवृत्तियोंका विवरण दिया गया है उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उन अवस्थाओंके अनुसार आचरण और वाणीमें भेद हो जाता है । इन अवस्थाओंमें तीन मुख्य वृत्तियाँ हैं, शेष उन्हींसे उत्पन्न हैं—एक है राग या प्रेम, दूसरी है घृणा, तीसरी है उदासीनता या उपेक्षा । संसार-भरके मनुष्यों, प्राणियों तथा वस्तुओंके प्रति या तो हमारा राग या प्रेम होता है अर्थात् वे हमें अच्छे लगते हैं, या हमें उससे घृणा होती है अर्थात् वे हमें बुरे लगते हैं या हम उनसे उदासीन रहते हैं अर्थात् वे चाहे अच्छे हों या बुरे, हम उनकी चिन्ता नहीं करते ।

इस प्रेम या रागसे हम किसी गुणके कारण किसीपर रीझते हैं, उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, उसमें गुण ढूँढ़ते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे अपनानेके लिये प्रयत्न करते हैं, उसके न मिलनेपर व्याकुल होते हैं, इस प्रयत्नमें बाधा पड़नेपर व्यग्र और आकुल होते हैं, उसकी उदासीनतापर कुढ़ते हैं, उसपर खीझते हैं, कोई दूसरा उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता हो तो उससे ईर्ष्या या वैर करते हैं, प्रतिस्पर्द्धीको हराने तथा मार्गसे हटानेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रिय या इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तुके प्राप्त हो जानेपर हर्षित होते हैं ।

घृणाके कारण हम किसी व्यक्ति या वस्तुसे दूर रहते हैं, उसमें दोष ढूँढ़ते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, उसे दूर रखनेका प्रयत्न करते हैं, पास

आनेपर व्याकुल, असन्तुष्ट और रुष्ट होते हैं, कोई उसे स्वीकार करता हो तो प्रसन्न होते हैं कि चलो अच्छा हुआ हमसे पिण्ड छूटा, उसके ग्रहण करनेवाले व्यक्तिको प्रोत्साहित करते हैं और उस व्यक्ति या वस्तुके विनाशसे प्रसन्न होते हैं।

उदासीनताकी अवस्था आलसी, अकर्मण्य, विरक्त, मोहजित् अथवा स्थितप्रज्ञमें होती है।

### मानव-प्रवृत्तिके छः केन्द्र

संसारमें छः प्राप्य पदार्थ हैं जिनके ही निमित्त संसारमें सभी मानव-चेष्टाएँ होती हैं। वे हैं—१. सम्पत्ति या राज्य, २. स्त्री और परिवार, ३. विद्या, ४. आयुष्य (शरीरकी स्वस्थता और कुशलता), ५. यश, और ६. मोक्ष या ईश्वर-प्राप्ति। इन छः पदार्थोंके अनुसार परीक्षा करनेपर तथा संसार-भरके लोगोंके भावोंके अध्ययन करनेपर ऊपर बताई हुई अवस्थाओंमें मनकी निम्नलिखित वृत्तियोंके युग्म प्राप्त होते हैं—

१. अनुराग : व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भाव (प्रियचिन्तन, आलस्य, निद्रा, या तन्मयता) के प्रति,
घृणा : व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया, या भावके प्रति।

२. जीविका प्राप्त करनेकी,
जीविका छोड़नेकी।

३. जीविकाके रक्षण करनेकी,
जीविका नष्ट करनेकी।

४. दूसरेको जीविका दिलानेकी,
दूसरेकी जीविका हरण करनेकी।

५. सेवक, मित्र, सहायक या समाजका संग्रह करनेकी,
सेवक, मित्र, सहायक या समाजके त्याग करनेकी।

६. सेवक, मित्र, सहायक या समाज बढ़ानेकी,
सेवक, मित्र, सहायक या समाज घटानेकी।

७. अपने शरीरकी रक्षा करनेकी (रोग, ऋतु, जल, अग्नि, आघात तथा सर्पादिसे)
अपने शरीरको अरक्षित करनेकी या सङ्कटमें डालनेकी।

८. शरीरका संवर्द्धन करनेकी ( व्यायाम, पौष्टिक भोजन आदिसे )
शरीरका ह्रास करनेकी ( उपवास आदिसे । )
९. यश प्राप्त करनेकी,
यश नष्ट करनेकी ।
१०. यश बढ़ानेकी,
यश घटानेकी ।
११. दूसरेका यश बढ़ानेकी ( स्तुति या प्रशंसासे ),
दूसरेका यश घटानेकी ( निन्दा या अपस्तुतिसे ) ।
१२. अपनी मर्यादा बनाए रखनेकी,
अपनी मर्यादा नष्ट करनेकी ।
१३. धन, सम्पति, वस्तु या राज्य-सङ्ग्रह करनेकी,
धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्य त्याग देनेकी,
१४. धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्यकी रक्षा करनेकी ।
धन, सम्पत्ति वस्तु या राज्यका नाश करनेकी ।
१५. दूसरेको धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्य देनेकी,
दूसरेका धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्य लेनेकी ।
१६. परिवार-सङ्ग्रह करनेकी,
परिवार त्याग देनेकी ।
१७. परिवारके पालन और रक्षणकी,
परिवारके अपालन और अरक्षणकी ।
१८. परिवारकी उन्नतिकी,
परिवारकी अवनतिकी ।
१९. भयभीत होनेको,
निर्भीक होनेकी ।
२०. आलस्य ग्रहण करनेकी,
आलस्य त्याग करनेकी ।
२१. कल्पना करनेकी,
व्यवहार करनेकी ।
२२. दूसरेका हित करनेकी,
दूसरेका अहित करनेकी ।

२३. मनोविनोदकी,
कुढ़ते रहनेकी ।

२४. सत्साहसका कार्य करनेकी,
दुःसाहसका कार्य करनेकी ।

ऊपर जिन मनोवृत्ति-युग्मोंका उल्लेख किया गया है वे सब मनकी चार अवस्थाओंसे प्रभावित होते हैं—

१. स्वभावसे, जो नित्यके अभ्याससे सध गया हो ।

२. आवेगसे, जिसमें विचार करनेका अवसर न मिला हो ।

३. विवेकसे, जिसमें भली प्रकार सब पक्षोंका विचार करके निर्णय किया गया हो ।

४. अज्ञानसे, जिसमें अनजाने कोई काम कर दिया गया हो । इसके अन्तर्गत, निद्रा, पागलपन, अपस्मार, रोग आदि अवस्थाओंकी क्रियाएँ भी आ जाती हैं । ये चारों अवस्थाएँ भी मनुष्यकी प्रकृतिपर अवलम्बित हैं और यह प्रकृति सत्सङ्ग-कुसङ्ग, सुविद्या-कुविद्या, कुसंस्कार और पिछले जन्मोंके सुकर्म या कुकर्मोंके अनुसार बनती है ।

संवादके लिये ऊपर दिए हुए चौबीस वृत्ति-युग्मोंकी व्याख्या कर लेनी चाहिए । इस क्रममें सबसे पहले अनुराग और घृणापर विचार करना उचित है ।

## अनुराग

जब किसी व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावके विनाश, लोप, असन्निधि, अभाव अथवा उसपर सम्भावित या सम्भूत सङ्कटसे मन व्याकुल होता है तो समझ लेना चाहिए कि उस व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावसे उसका अनुराग है । यह अनुराग दो प्रकारका होता है—१. स्वाभाविक और २. अस्वाभाविक ।

जिस अनुरागमें प्रिय या इष्टसे कुछ प्राप्त करने, जीवन-यापन करनेकी सुविधा प्राप्त करने अथवा अन्य किसी प्रकारके भौतिक सुख या लाभकी प्राप्तिकी भावना होती है वह अस्वाभाविक होती है । जिसमें स्वार्थकी भावनाके बिना केवल उस इष्ट या प्रियको पास रखने, उसका कुशल चाहने, उससे

सम्पर्क बनाए रखने तथा उसे अमङ्गलसे बचाए रखनेकी भावना हो वहाँ स्वाभाविक अनुराग होता है ।

इस अनुरागकी कई श्रेणियाँ होती हैं—जिनमेंसे ये मुख्य हैं—

पारस्परिक मानव-अनुराग—

१. स्त्रीका पुरुषके प्रति—

माधुर्य भावसे ( पत्नी या प्रेमिका-भावसे ), सखी या मित्र-भावसे, पुत्री-पौत्री-भावसे, मातृ-भावसे, भगिनी-भावसे, दूती-भावसे, सेविका-भावसे, वेश्या-भावसे, शिष्या-भावसे, प्रशंसिका-भावसे, उपासिका-भावसे, स्वामिनी-भावसे, साधुनी-भावसे, पड़ोसिन-भावसे, नागरिक-भावसे और गुरु-भावसे ।

२. पुरुषका स्त्रीके प्रति—

पति-भावसे, प्रेमी-भावसे, मित्रभावसे, पिता-भावसे, पुत्र-भावसे, पौत्र-भावसे, भ्रातृ-भावसे, स्वामी-भावसे, जार-भावसे, सेवक-भावसे, गुरु-भावसे, शिष्य-भावसे, प्रशंसक-भावसे, साधु-भावसे, पड़ोसी-भावसे और नागरिक-भावसे ।

३. पुरुष और स्त्रीका परस्पर अनुराग ( प्रेमी-प्रेमिकाके रूपमें ) ।

४. पुरुषका पुरुषके प्रति—

( क ) पिता या पितामहका पुत्र या पौत्रोंके प्रति ( वात्सल्य )

( ख ) पुत्रका पिताके प्रति या पौत्रका पितामह या मातामहके प्रति ( आदर और ममत्व ) ।

( ग ) गुरुका शिष्यके प्रति ( वात्सल्य )

( घ ) शिष्यका गुरुके प्रति ( श्रद्धा )

( ङ ) मित्रका मित्रके प्रति ( स्नेह )

( च ) एक सहपाठी, सहधर्मी या सहकर्मीके प्रति ( विश्वासपूर्ण आत्मीयता )

( छ ) राजाका परिजनके प्रति तथा प्रजाके प्रति

( ज ) राजाका दूसरे राजाके प्रति

( झ ) एक देशवासीका दूसरे देशवासीके प्रति

( ञ ) परिजनका राजाके प्रति

( ट ) सेवकका स्वामीके प्रति

( ठ ) स्वामीका सेवकके प्रति

( ड ) एक पुरुषका किसी बालक या युवकके प्रति ( वासनात्मक )

( ढ ) साधारण मनुष्यका महापुरुषके प्रति ( आदर )

४. स्त्रीका स्त्रीके प्रति

( क ) माताका पुत्रीके प्रति

( ख ) पुत्रीका माताके प्रति या पितामहीके प्रति

( ग ) शिष्याका गुरु ( स्त्री ) या गुरु-पत्नीके प्रति

( घ ) स्वामिनीका सेविकाके प्रति

( ङ ) सेविकाका स्वामिनीके प्रति

( च ) गुरु-स्त्रीका शिष्याके प्रति

( छ ) सखीका सखीके प्रति

( ज ) स्वामिनीका दासीके प्रति

( झ ) दासीका स्वामिनीके प्रति

( ञ ) पड़ोसिनका पड़ोसिनके प्रति

( ट ) गृहस्थिनका साधुनीके प्रति

( ठ ) साधुनीका गृहस्थिनके प्रति

जीवोंसे भी दो प्रकारका अनुराग होता है—स्वार्थपूर्ण तथा निःस्वार्थ।

गौ, भैंस, बकरी आदिसे दूधके कारण तथा मांसभक्षी जन मांसके लोभसे अपने पालित जीवोंसे अनुराग करते हैं। गृहरक्षाके निमित्त अथवा चूहोंसे बचनेके लिये कुत्ते, बिल्ली आदिसे अनुराग होता है।

तोता, मैना आदि पक्षियोंसे उनके सौन्दर्य तथा उनकी मीठी बोली आदिके कारण अनुराग होता है। कभी-कभी यह अनुराग वात्सल्य भावतक पहुँच जाता है। अश्व, गज, वृषभ आदिसे स्वार्थपूर्ण अनुराग होता है और इसमें भी कभी-कभी परम सखा-भावका अनुराग हो जाता है जैसे राणाप्रतापका चेतक घोड़ेसे था।

जीव भी सेवा, भोजन-दान तथा सद्व्यवहारसे मनुष्यसे स्नेह करने लगते हैं और अपने पोषकके लिये प्राणतक उत्सर्ग कर देते हैं। उनकी यह भावना स्वामि-भक्ति भी कही जा सकती है और मैत्री भी। यह अनुराग एकपक्षीय भी हो सकता है और उभयपक्षीय भी। कुत्ते, हाथी और घोड़ेकी स्वामिभक्ति और मृगकी कातर-वृत्तिके अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रायः पशु-पक्षी स्वार्थी होते हैं। इनमेंसे कुछ तो इतना स्वार्थी होता है कि अवसर

पाते ही उड़ जाता है। कबूतरसे दूतका काम लिया जाता है। वह प्रायः लौटकर अपने अड्डेपर आ जाता है। मोरके साथ भी यही बात है, किन्तु अन्य पक्षी अविश्वस्त होते हैं। कुछ जीव बन्दर, सिंह आदि मनुष्यकी इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये शिक्षित किए जाते हैं, वह प्रदर्शन-मात्रके लिये भी और व्यवहारके लिये भी।

वस्तुओंके प्रति जो अनुराग होता है वह एकपक्षीय ममत्व है किन्तु उन वस्तुओंमें कुछ ऐसी हैं जिनसे हमारा मनोविनोद तथा स्वार्थ-साधन भी होता है। पुस्तक, वाद्य-यन्त्र, तूलिका तथा जीविकाके यन्त्रोंमें हमारा सखा-भाव रहता है, शेषमें स्वामित्वकी आत्मीयता होती है। कुछ वस्तुएँ शोभाके लिये सङ्ग्रह की जाती हैं, उनका केवल प्रदर्शन-महत्त्व होता है जो वैभवसिद्धि तथा आत्म-विज्ञापनमें योग देती हैं। इन वस्तुओंके प्रति भी जो ममत्व या अनुराग होता है वह उसी स्तरका होता है जैसा किसी प्रिय व्यक्तिके प्रति, क्योंकि उन वस्तुओंके कारण अपने अहंकी तृप्ति होती है।

सिद्धान्त, विचार या भावोंके प्रति भी लोगोंका अनुराग हो जाता है जैसे सत्यके प्रति, अहिंसाके प्रति, लोकसेवाकी भावनाके प्रति अथवा भक्ति-भावना आदिके प्रति।

क्रियाओंके प्रति भी अनुराग हो जाता है जैसे व्यायाम करने, व्याख्यान देने, स्नान करने, शृङ्गार करने, युद्ध करने, मलयुद्ध देखने, लिखने, पढ़ने, कथा सुनने, पाठ-पूजा करने कथा सुनने आदिका। इनमें व्यायाम करनेके यन्त्र, व्याख्यानके विषय, स्नानके पदार्थ, शृङ्गार-सामग्री, युद्धका लक्ष्य, लेख, पाठ्य अथवा कथाके विषय आदिसे कोई सम्बन्ध या अनुराग नहीं होता केवल उस क्रियामें आसक्ति होती है। यह मनोविनोदके अन्तर्गत नहीं आता क्योंकि यह केवल क्रियामें अनुराग या आसक्ति है। यह आसक्ति ही अति होनेपर व्यसन बन जाती है।

### घृणा

अनुरागके समान ही घृणाकी भी कई श्रेणियाँ होती हैं—

स्त्रीकी पुरुषके प्रति : शत्रुसे सम्बन्ध, कुरूपता, कुव्यवहार, अकर्मण्यता, कठोरता, कुरोग, विश्वासघात और पर-स्त्रीमें आसक्ति आदिके कारण।

पुरुषकी स्त्रीके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, कुरूपता, कर्कशता, कुरोग, अकर्मण्यता, विश्वासघात और पर-पुरुषमें आसक्ति आदिके कारण।

पुरुषकी पुरुषके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, अपकार, विश्वासघात, निन्दा, अपमान और अत्याचार आदिके कारण।

स्त्रीकी स्त्रीके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, कुरूपता, कुरोग, विश्वासघात, निन्दा, अपने प्रियसे प्रेम, अभिमान और कर्कशता आदिके कारण।

पुरुष या स्त्रीकी किसी जीवके प्रति : हानिकारक या निरर्थक होनेके कारण।

किसी जीवकी किसी पुरुष या स्त्रीसे घृणा : घातक होने या कष्टकर होनेके कारण।

किसी वस्तुसे घृणा : हानिकर या अरुचिकर होनेके कारण।

किसी क्रियाके प्रति : अरुचिकर होनेके कारण।

किसी भाव, सिद्धान्त या विचारके प्रति : अपने भाव, विचार या सिद्धान्तसे भिन्न होनेके कारण या किसी वैरी-द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण।

शेष वृत्तियाँ स्वयंसिद्ध और स्पष्ट हैं।

### आठ भाव

इन सभी वृत्तियोंके निर्वाहमें मनके आठ भाव निरन्तर योग देते रहते हैं। वे हैं—अनुराग, हास, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य और घृणा। काव्य-शास्त्रियोंने इन्हीं भावोंको स्थायी भाव बताया है और कहा है कि ये भाव ही विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावके संयोगसे अर्थात् उचित मेलसे रसकी निष्पत्ति या सिद्धि करते हैं। रसके प्रकरणमें हम इनकी विस्तृत मीमांसा करेंगे। यहाँ केवल सञ्चारी भावोंकी व्याख्या कर देना आवश्यक है क्योंकि वर्णन या संवाद लिखनेके लिये इनका ज्ञान आवश्यक है।

### सञ्चारी भाव

ऊपर जिन चौबीस वृत्ति-युग्मोंका विवरण दिया गया है उनका निर्वाह या संरक्षण आठ स्थायी भावोंके द्वारा होता है किन्तु उनका पोषण उन सहायक भावोंके द्वारा होता है जो अस्थिर होते हैं अर्थात् जो कुछ कालके लिये आते हैं, फिर लुप्त हो जाते हैं, एक साथ कई आते हैं या एक-एक करके

किसी विशेष क्रमसे आते हैं। नाट्य-ग्रन्थोंमें तथा साहित्य-ग्रन्थोंमें ऐसे सञ्चारी भाव तेंतीस गिनाए गए हैं। भावोंकी परिभाषा उन ग्रन्थोंमें यह बताई गई है—

वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

[ वाणी ( वाचिक अभिनय ), अङ्ग-चेष्टा ( आङ्गिक अभिनय ) तथा सात्त्विक अनुभूतिके प्रदर्शन ( सात्त्विक अभिनय ) के द्वारा जो काव्यार्थकी भावना करावे उसे भाव कहते हैं। ] किन्तु अभिनवभरतका मत है कि 'बाहरकी प्रतिक्रिया और अपनी अनुभूतिसे जो मनोविकार उत्पन्न होता है वही भाव है।'

जीवनमें हम कुछ तो स्वयं सोचते, विचारते या इच्छा करते हैं और कुछ ऐसे विचार हैं जो बाह्य जगत्की क्रियाओं, परिस्थितियों, वस्तुओं, व्यक्तियों या विचारोंके प्रभावसे हमारे मनमें कोई विशेष विकार उत्पन्न कर देते हैं। ये सभी भाव कहलाते हैं। इनमेंसे सञ्चारी भावकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। इन भावोंमेंसे ही आठ ऐसे हैं जो अभ्यास और संस्कारके कारण मानव-मानसमें स्थिर हो गए हैं। इन्हींको स्थायी भाव कहते हैं।

किन्तु मनकी एक अवस्था स्थितप्रज्ञताकी ऐसी भी हो जाती है जब मनमें कोई भाव नहीं रह पाता। इस 'शान्ति' को भी कुछ आचार्योंने भाव या मनोविकार मान लिया है पर यह भ्रमात्मक है। इसपर हम आगे विचार करेंगे।

तेंतीस सञ्चारी भाव ये माने गए हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता।

किन्तु अभिनवभरतका मत है कि सत्रह और भी सञ्चारी भाव हैं—लोभ, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिहिंसा, प्रवञ्चना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्द्धा और विजय।

इस प्रकार कुल पचास सञ्चारी भाव होते हैं किन्तु आगे हम स्पष्ट कहेंगे कि वास्तवमें सञ्चारी भाव बत्तीस ही होते हैं। इन सब भावोंके साथ अनेक लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ लोगोंने मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, विवेक, निर्णय,

क्षमा, उत्कण्ठा आदि भावोंको भी सञ्चारी माना है किन्तु रसतरङ्गिणीकारके अनुसार असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति, धृति, औत्सुक्य और चपलतामें ही इनका समावेश हो जाता है। देवने 'छल' को चौंतीसवाँ सञ्चारी माना है। यह अभिनवभरतके प्रवञ्चनाके अन्तर्गत आ जाता है। पहले हम काव्य-शास्त्रोक्त सञ्चारी भावों और उनके साथ प्रकट होनेवाले लक्षणोंका विवरण दे रहे हैं, इसके पश्चात् स्थायी भावोंके साथ प्रकट होनेवाले सञ्चारी भावों और क्रियाओंकी व्याख्या करेंगे।

१. निर्वेद : तत्त्वज्ञान, साधुसङ्गति, ईर्ष्या, पराजय, अपमान, असफलता आदिके कारण जब मनुष्य अपनेको धिक्कारने लगता है और संसारके सब पदार्थों और जीवोंको व्यर्थ, निकृष्ट, नश्वर, अविश्वस्त, घृणित और अनिष्टकर समझने लगता है तब वह निर्वेद भाव कहलाता है। निःश्वास छोड़ना, उदास रहना, रोना, मौन रहना, दैन्य, मुँह सूखना, एकान्तवास करना, सबसे दूर रहना, चिन्ता करना इसके लक्षण हैं।

ग्लानि : रति ( सम्भोग ), भूख, प्यास, परिश्रम, मनस्ताप आदि कारणोंसे जो अनुत्साह, शिथिलता, तथा अशक्ति उत्पन्न होती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें मनुष्यको कुछ अच्छा नहीं लगता है। विवर्णता, कम्प, अनुत्साह और शरीर तथा वचनोंकी क्षीणता, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

शङ्का : दूसरोंके द्वारा अथवा अपने ही दुर्व्यवहारसे अपनी इष्ट-हानि या अपने प्रियकी इष्ट-हानिका पूर्वाभास मिलनेको शङ्का कहते हैं। इसमें इष्टहानिके भयकी व्याकुलता रहती है। इसमें शरीरका काँपना और सूखना, चिन्ताकुल दृष्टि, विवर्णता, व्यग्रता और स्वर-भेद आदि लक्षण होते हैं।

श्रम : यात्रा, रति, परिश्रम, दौड़-धूप आदि कारणोंसे जो थकावट हो, उसे श्रम कहते हैं। इसमें पसीना आना, अंगोंमें कम्पन होना, प्यास लगना, लेटना, लम्बी साँस लेना आदि लक्षण होते हैं।

धृति : ज्ञान, संस्कार अथवा शक्ति आदिके कारण जो अत्यन्त आनन्द तथा विश्वास देनेवाला सन्तोष होता है उसे धृति या धैर्य कहते हैं। दृढ़ता, पुरुषार्थ तथा निश्चिन्तता इसके लक्षण हैं।

जडता : किसी इष्ट अथवा अनिष्ट बातको देखने अथवा सुननेसे कुछ क्षणोंके लिये कार्य करनेकी शक्ति खो जानेको जडता कहते हैं। अचञ्चल

भावसे स्तम्भित रह जाना, ठक रह जाना, और निर्निमेष दृष्टि उसके लक्षण हैं।

हर्ष : किसी कार्यके सिद्ध होनेसे अथवा उत्सवादिसे मनको जो अत्यन्त प्रसन्नता होती है उसे हर्ष कहते हैं। उल्लास, व्यग्रता, आँसू बहना, पसीना निकलना और गद्‌गद् वचन इसके लक्षण हैं।

दैन्य : विरह अथवा आपत्तिके कारण जब कोई निस्तेज हो जाता है तब उसके इस भावको दैन्य कहते हैं। इस अवस्थामें कहे हुए शब्दोंमें, अनुनय, विनय, आत्म-समर्पण और दीनताका भाव रहता है। घबराहट, गिड़गिड़ाना, अपनेको हीन बताना, सबसे सहायता माँगनेको दौड़ना, प्रार्थना करना, दाँत दिखाना इसके लक्षण हैं।

उग्रता : किसी दुष्टके दुष्कर्मों, दुर्वचनों, अथवा क्रूरतासे स्वभावके प्रचण्ड हो जानेको उग्रता कहते हैं। इसमें पसीना आता है, तीक्ष्ण वचन मुँहसे निकलते हैं, उसका सिर काँपता है और वह तर्जन-ताडन भी करता है।

चिन्ता : किसी व्यक्ति या इष्ट पदार्थके न मिलनेपर अथवा उसके विरहमें उसीका ध्यान बना रहना चिन्ता कहलाता है। इसमें वेगसे साँस चलने लगती है, शरीरका ताप बढ़ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो उस पदार्थके बिना जीवन शून्य हो गया हो।

त्रास : बादल अथवा सिंह आदिके गर्जन, शत्रुओंकी चढ़ाई, डाकू आदिके आक्रमण अथवा ऐसी ही और भयप्रद घटनाओंसे मनमें जो घबराहट उत्पन्न होती है, उसे त्रास कहते हैं। इसका प्रधान लक्षण कम्प, वैवर्ण्य और स्वरभङ्ग ( घिघियाना ) है।

असूया : दूसरेकी उन्नति न सह सकनेको असूया कहते हैं। इसकी उत्पत्ति तीन कारणोंसे हो सकती है—गर्वसे, दुष्ट स्वभावसे अथवा क्रोधसे। इसके लक्षण हैं—दूसरेमें दोष निकालना, निन्दा करना, अपमान करना, चिढ़ना, ताने मारना, क्रोध करना, भ्रुकुटी चढ़ाना तथा क्रोध-सूचक मुद्राएँ बनाना।

अमर्ष : किसीके दुर्वचनोंसे अथवा किसीके द्वारा किए गए अपमानके कारण उसके बदलेमें उस व्यक्तिके अहङ्कारको नष्ट करनेकी उत्कट अभिलाषाको अमर्ष कहते हैं। इसके और उग्रताके लक्षण एकसे ही होते हैं। अमर्षके

कारण भी पसीना आता है, सिर काँपता है, मनुष्य भर्त्सना-युक्त वचन कहता है और मार-पीट करनेपर भी उतारू होता है। उग्रताका भाव उस समय होता है जब अपकारीको दण्ड देनेका सामर्थ्य हो और अमर्ष तब होता है जब दण्ड दे सकनेमें असमर्थता हो, केवल उत्कट खीझ और रोष हो।

गर्व : अपने कुल, सौन्दर्य, बल, ऐश्वर्य, पद आदिकी ऐंठको गर्व कहते हैं। गर्वके कारण मनुष्य दूसरोंको उपेक्षा और घृणाकी दृष्टिसे देखता है और सबसे अपना सम्मान कराना चाहता है। इसीको दम्भ भी करते हैं। गर्वीले व्यक्तिका एक यह भी लक्षण है कि वह अपने शरीर, बल, सम्पत्ति, वेष-भूषा आदिको बड़े अभिमानसे देखता, दिखाता और उनका वर्णन करता रहता है।

स्मृति : पहलेकी देखी हुई वस्तुके समान अथवा उससे सम्बद्ध किसी अन्य वस्तुको देखकर धारणा-शक्तिके द्वारा मनमें उस पहले देखी हुई वस्तुका जो रूप जाग उठता है वही स्मृति कहलाता है। इसमें किसी व्यक्ति, बात या वस्तुकी स्मृति होनेपर भौंहें सिकुड़ जाती हैं, आँखें खिल जाती हैं, मनुष्य चिन्ताशील हो जाता है, रो उठता है, मौन हो जाता है, मुखर हो जाता है। इसमें ऐसे ही अन्य लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

मरण : धनञ्जयने मरणकी व्याख्या इसलिये नहीं की है कि उन्होंने मरणका अभिप्राय 'प्राणोंका छूट जाना' माना है। कुछ लोगोंने मरणसे यहाँ मृत्युसे पूर्वकी उस अवस्थाको माना है जिसमें प्राणोंका संयोग रहनेपर भी शरीर मृत अवस्थाके समान निश्चेष्ट रहता है और जिससे व्यक्ति पुनरुज्जीवित भी हो सकता है। इस अवस्थाको उन्होंने मूर्छा भी बताया है। पण्डितराज जगन्नाथने भी यही माना है। किन्तु मरण मनकी वह अवस्था है जब मनुष्य सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाएँ छोड़कर मृत्युके लिये अपनेको आत्म-समर्पित कर देता है जैसे राजा दिलीपने अपने गुरु वशिष्ठकी गौकी रक्षाके लिये माया-सिंहके आगे अपनेको समर्पित कर दिया था। यह भाव अत्यन्त वियोग या त्यागकी अवस्थामें होता है। यह वास्तवमें मनकी वह अवस्था या भाव ( मरणका भाव ) है जब मनुष्य अत्यन्त दुःखमें पड़कर यही चाहता है कि मैं प्राण दे दूँ और उस प्रकारकी चेष्टाएँ भी करता है। इसीपर एक उर्दूके कविने व्यंग्य भी किया है—

किसी आशिक़को हमने आजतक मरते नहीं देखा ।
मगर कहते सभी यह हैं मेरी जाँ तुम पै मरते हैं ।।

मद : मदिरा आदि मादक पदार्थोंके पानसे उत्पन्न होनेवाली अत्यन्त प्रसन्नता या अचेतनताके आनन्दको मद कहते हैं । मदके कारण अङ्ग, वाणी और गति शिथिल या अव्यवस्थित पड़ जाती है । मद्यपोंमें श्रेष्ठ लोग नशा चढ़नेपर सो जाते हैं, मध्यम श्रेणीके लोग हँसी-ठट्ठा करते हैं और अधम श्रेणीके लोग बकते-झकते, मारपीट करते या रोने लगते हैं ।

स्वप्न : स्वप्नावस्थाका उदय निद्रामें होता है । इसका प्रधान लक्षण श्वासोच्छ्वास तथा बर्राना है । इसमें कभी दिनकी सोची हुई बात मुँहसे निकलती है, कभी गोत्र स्खलन ( अपने प्रियका नाम मुँहसे निकलना ) आदि निरर्थक बातें । इसमें अनेक प्रकारकी आङ्गिक चेष्टाएँ भी होती रहती हैं जैसे गले लगनेके लिये हाथ बढ़ाना आदि । कभी भयानक स्वप्न भी आ जाते हैं जिनमें रोना-चिल्लाना या घिग्घी बँधना और चौंकना भी होता है ।

निद्रा : चिन्ता, आलस्य, थकावट आदिसे मनकी क्रियाओंके रुक जानेको निद्रा कहते हैं । इसमें जँभाई आती है, हाथ-पाँव ताननेको जी करता है, आँखें झँपने लगती हैं और रह-रहकर नींद उचट जाती है ।

विबोध : नींदके टूट जानेको विबोध कहते हैं । विबोधमें जँभाई आती है और मनुष्य अपनी आँखें मलता है ।

व्रीड़ा : दुराचरण, कामवासना, प्रशंसा, गुरुजनोंकी मान-मर्यादा तथा अन्य कारणोंसे चपलताके अभावको व्रीड़ा कहते हैं । जिस व्यक्तिको व्रीड़ा होती है वह सिकुड़ता-सा रहता है, अपने मुँह या शरीरको छिपानेका प्रयत्न करता है, उसका रङ्ग फीका पड़ जाता है, सिर झुक जाता है, गाल लाल हो जाते हैं और झेंप आती है ।

अपस्मार : ग्रहोंके योगसे, देवी-देवता तथा भूत-प्रेतसे आविष्ट होनेपर अथवा विपत्ति तथा किसी अन्य ऐसे ही कारणसे आए हुए आवेगको अपस्मार कहते हैं । अपस्मारसे आक्रान्त व्यक्ति पृथ्वीपर गिर जाता है, उसके शरीरसे पसीना बहने लगता है, साँस वेगसे चलने लगती है और मुखसे फेन निकलने लगता है ।।

मोह या मूर्च्छा : भय, विपत्ति, आवेग अथवा स्मृतिके कारण उत्पन्न

हुए चित्तके विक्षेपको मोह या मूर्च्छा कहते हैं। इसमें अज्ञान, भ्रम, पछाड़ खाना, लड़खड़ाना, देख न सकना आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

मति : शास्त्र आदिके उपदेश ग्रहण करके तथा भ्रान्तिका उच्छेदन करके तत्त्वका ज्ञान करानेवाली बुद्धिका नाम मति है। सन्तोष, आत्म-तुष्टि और विवेकपूर्ण कार्य उसके लक्षण हैं।

आलस्य : थकावट, गर्भ आदि कारणोंसे उत्पन्न हुई अकर्मण्यता या काम न करनेकी भावनाको आलस्य कहते हैं। आलस्यमें जँभाई और अँगड़ाई आती है तथा लेटने या बैठे ही रहनेको जी चाहता है।

आवेग : मनकी घबराहटको आवेग कहते हैं। यह कई कारणोंसे हो सकता है। यदि राज्य-विप्लव अथवा आक्रमणसे हो तो वीर लोग शस्त्रास्त्र ढूँढ़ते हैं और हाथी-घोड़े सजाते हैं किन्तु कायर लोग भागने और छिपनेका उपाय करते हैं। आँधी, पानी, बिजली, बाढ़ आदिके कारण भी आवेग होता है। इसमें कभी मनुष्य दौड़ता है, कभी अपनेको छिपाता है, कभी भगवान्‌को पुकारता है। यदि उत्पातसे हो तो अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। यदि इष्ट अथवा अनिष्ट-संयोगोंसे हो तो तदनुसार हर्ष अथवा शोक होता है। अग्निके कारण जो आवेग होता है उसमें मुँह धुएँसे भर जाता है और जब आवेगका कारण हाथी या सिंह आदि होते हैं तब भय, स्तम्भ, कम्प और भागनेका प्रयत्न होता है।

तर्क : सन्देह दूर करनेके लिये अथवा मानसिक द्वन्द्वके समय विचारमें पड़ना तर्क कहलाता है। उसमें व्यक्ति अपनी भौंहें, सिर, अङ्ग और उँगलियोंको नचाता है तथा कुछ बर्राता भी है।

अवहित्था : लज्जा आदि भावोंके कारण अङ्गके विकार छिपानेको अवहित्था कहते हैं।

व्याधि : शारीरिक रोगको व्याधि कहते हैं। वियोगके कारण सन्निपात आदि व्याधियाँ हो जाती हैं जिनका रूपकों तथा काव्योंमें बहुधा वर्णन पाया जाता है।

उन्माद : बिना सोचे-विचारे कोई काम करना उन्माद कहलाता है। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगोंसे भी हो सकता है और ग्रह-योग आदि

अन्य कारणोंसे भी। इसमें व्यक्ति बिना कारण रोता, गाता, हँसता, बकता तथा अन्य ऐसे ही काम करता है।

विषाद : किसी आरम्भ किए हुए काममें सफलता न प्राप्त कर सकनेके कारण धैर्य खो जानेको विषाद कहते हैं। इसमें व्यक्ति श्वासोच्छ्वास छोड़ता है, हृदयमें दुःखका अनुभव करता है और सहायकोंको ढूँढ़ता है।

औत्सुक्य : किसी सुखदायक वस्तु या इष्ट व्यक्तिकी आकांक्षासे अथवा प्रेमास्वादके अभावमें या घबराहटके कारण समय न बिता सकनेको औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास, हड़बड़ी, हृदयकी वेदना, पसीना आना, उत्सुकता, चञ्चलता और भ्रम आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

चपलता : राग, द्वेष, मात्सर्य आदिके कारण एक स्थितिमें न रह सकनेको चपलता कहते हैं। उसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छन्द आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं।

## नये सञ्चारी भाव

आचार्यों-द्वारा गिनाए हुए इन तेंतीस सञ्चारी भावोंमें श्रम, जड़ता, उग्रता, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध अपस्मार, मोह, मति, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद और चपलता ये तो भावानुगत शारीरिक या बौद्धिक दशाएँ और क्रियाएँ हैं अतः इन्हें सञ्चारी भाव नहीं मानना चाहिए। अतः शेष उन्नीस ही सञ्चारी भाव हैं। अभिनव-भरतने अपने अभिनव नाट्य-शास्त्रमें सत्रह सञ्चारी भाव या पोषक भाव मिलाकर कुल बत्तीस सञ्चारी भाव गिनाए हैं।

अभिनवभरतके मतसे केवल निम्नलिखित ३२ सञ्चारी भाव हैं—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शङ्का, ४. धृति, ५. हर्ष, ६. दैन्य, ७. चिन्ता, ८. त्रास, ९. असूया, १०. अमर्ष, ११. गर्व, १२. व्रीड़ा, १३. आलस्य, १४. विषाद, १५. औत्सुक्य, १६. लोभ, १७. ईर्ष्या, १८. लालसा, १९. कामना, २०. आसक्ति, २१. कुतूहल, २२. श्रद्धा, २३. विश्वास, २४. विनोद, २५. प्रतिकार, २६. प्रवञ्चना, २७. आशा, २८. निराशा, २९. मान, ३०. उपेक्षा, ३१. स्पर्द्धा और ३२. विजय।

इनमेंसे प्रथम पन्द्रह सञ्चारी भावोंका वर्णन ऊपर हो चुका है, शेष सत्रहका विवरण नीचे दिया जाता है। इनके तथा स्थायी भावोंके साथ

जो अनेक क्रियाएँ, चेष्टाएँ या दशाएँ होती हैं उनका विवरण साथमें दिया जा रहा है।

लोभ : किसी व्यक्ति या वस्तुके सौन्दर्य अथवा उसके किसी अन्य गुणके अपने लिये अप्राप्य होनेपर, उसे देख-देखकर उसपर रीझने तथा जब उसका स्मरण हो तब उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छाको लोभ कहते हैं। ललचाई दृष्टिसे देखना, बार-बार उस व्यक्ति या वस्तुको देखना, रह-रहकर उसकी प्रशंसा करना, दूसरोंसे उसकी प्रशंसा सुनकर मुग्ध होना, उसे पाससे न जाने देनेके लिये बहाने बनाना आदि इसके लक्षण हैं।

ईर्ष्या : जिस व्यक्ति या वस्तुको हम अपना समझते हों, उसके भोगमें किसी दूसरेका हस्तक्षेप होनेपर हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तिके प्रति जो मनमें कुढ़न, डाह या जलन होती है अथवा अपने किसी समबुद्धि, समसामर्थ्य, सहधर्मी तथा सहकर्मीके अनुचित ढङ्गके अभ्युदयपर जो मनमें अपने छोटे होनेकी ग्लानि हो जाती है वह ईर्ष्या कहलाती है। चिन्ता, उदासी, निन्दा करना, शाप देना, अमङ्गल मनाना, तन्त्र-मन्त्र या टोटके करना या कराना, गाली देना, प्रतिद्वन्द्वीको नीचा दिखाने तथा उसके कार्यों और भावोंमें दोष दिखानेका प्रयत्न करना, अपनेको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेका यत्न करना या अपने प्रतिद्वन्द्वीको मार्गसे हटानेके सब उपाय करना इसके लक्षण हैं। असूया और ईर्ष्यामें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि असूयामें गर्व, दुष्ट स्वभाव और क्रोधसे दूसरेकी उन्नति न सहन कर सकनेका भाव होता है किन्तु ईर्ष्यामें अपनी योग्यता, समर्थता, स्वत्व और अधिकारिताके ज्ञान और अस्तित्वके साथ मनस्ताप होता है।

लालसा : सुन्दर या लोक-हितकारी व्यक्तिके या अपने किसी अभ्युदय-प्राप्त इष्टको देखने या उससे मिलनेकी उत्कट इच्छा अथवा कोई सुन्दर या विलक्षण वस्तु देखनेकी तीव्र इच्छाको लालसा कहते हैं। इसमें उसे प्राप्त करने या अपनानेकी भावना नहीं रहती। दूसरोंसे दिखानेके लिये आग्रह करना, विशेष तैयारी करना, दूसरोंको प्रेरित करना, उन उद्दिष्ट वस्तुओं या व्यक्तियोंका वर्णन सुनना और सुनाना आदि इसके लक्षण हैं।

कामना : अपने या अपने इष्टके लिये मङ्गल और अभ्युदय चाहनेकी भावनाको कामना कहते हैं। मनौती मानना, ईश्वरसे प्रार्थना करना, साधु-

संन्यासियोंकी सेवा करना, दान-पुण्य-व्रतादि करना, तन्त्रमन्त्र या टोटके करना, यज्ञ कराना, उपचार कराना इसके लक्षण हैं।

आसक्ति : जब किसी अप्राप्य व्यक्ति, दृश्य या वस्तुके प्रति इतनी ममता हो जाती है कि उसके आँखोंसे ओझल होने या दूर होनेमें मानसिक व्यथा हो वहाँ आसक्ति सञ्चारी होता है। आसक्तिके लक्ष्यतक पहुँचनेमें निरन्तर प्रयास, उस प्रयासमें झूठ बोलना, बहाने बनाना इष्टके साक्षात्कारके लिये अनेक उपाय करना, घबराहट, हड़बड़ी आदि इसके लक्षण हैं।

कुतूहल : अद्भुत व्यक्ति या वस्तुको देखने अथवा उनकी कथा सुननेके लिये जो मनमें चाव और गुदगुदी होती है उसे कुतूहल कहते हैं। हर्षसे आँखें चमकना, हड़बड़ी, दूसरोंको दिखानेके लिये आग्रह, एकाग्रता, उनकी कथा सुननेके लिये दूसरोंसे अनुनय-विनय आदि इसके लक्षण हैं।

श्रद्धा : स्वहितकारी या लोकहितकारी तथा अपनेसे अवस्था, विद्या, त्याग अथवा गुणमें बड़े व्यक्तियोंके गुण-श्रवण करने या दर्शन करनेके कारण मनमें उनके प्रति जो अस्थायी सात्त्विक आदर उत्पन्न हो जाता है उसे श्रद्धा कहते हैं। वाह-वाह या धन्य-धन्य कहना, हर्षपूर्ण सिर हिलाना, उल्लाससे आँखें चमकाना आदि उसके लक्षण हैं। इसका एक स्थायी रूप भी होता है जो अपनेसे निरन्तर सम्बन्धित व्यक्तिके प्रति होता है।

विश्वास : किसी व्यक्तिकी अवस्था या उसका आचरण देख-सुनकर अथवा किसी घटनाको देख-सुनकर उसके परिणाममें निश्चयताके भावको विश्वास कहते हैं। 'वह अवश्य ऐसा करेगा', 'इसका परिणाम यही होगा' आदि कहना, निश्चिन्तता, दृढ़ता आदि इसके लक्षण हैं।

विनोद : किसी व्यक्तिकी दुर्बलता या मूर्खतासे लाभ उठाकर उसकी मूर्खतासे जी बहलानेको विनोद कहते हैं। इसमें किसीको कष्ट देने और स्वार्थ सिद्ध करनेकी बात नहीं होनी चाहिए। चाटुकारी, व्यंग्य तथा श्लेषयुक्त बातें करना तथा दूसरेसे ऐसी चेष्टा या काम कराना जिससे उसकी मूर्खता, अज्ञान या अल्पज्ञता प्रकट हो आदि उसके लक्षण हैं।

प्रतिकार : अपने साथ भलाई करनेवालेके साथ भलाई और बुराई करनेवालेके साथ बुराई करनेकी भावनाको प्रतिकार कहते हैं। आभार मानना, प्रशंसा करना, कृतज्ञता प्रकट करना, सेवा या सहायता करना,

षडयन्त्र रचना, बुराई करना, हानि पहुँचानेका प्रयत्न करना आदि इसके लक्षण हैं।

प्रवञ्चना : मूर्ख या सीधे व्यक्तिको ठगनेकी भावनाको प्रवञ्चना कहते हैं। झूठ बोलना, स्वयं सज्जन बननेका ढोंग करना, विश्वास दिलाना, अत्यन्त नम्रता दिखाना, चकमा देना, उलटी बातें समझाना, मुखपर सचाईकी मुद्रा धारण करना आदि इसके लक्षण हैं।

आशा : अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी घटनाके परिणामकी सफलतामें अनिश्चित विश्वासको आशा कहते हैं। संसारके मनस्वी और कर्मठ लोगोंकी क्रियाओंमें इसी सञ्चारी भावकी प्रेरणा समय-समयपर मिलती रहती है। उल्लास, हर्ष, निश्चिन्तता, आत्म-विश्वास, दृढ़ता, निर्भयता, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

निराशा : अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी स्वसम्बद्ध घटनाके परिणामकी असफलतामें निश्चित विश्वासको निराशा कहते हैं। उदासी, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय आदि इसके लक्षण हैं।

मान : अपने इष्ट या परम आत्मीयके द्वारा अपनी उपेक्षा या अपमान देखकर उससे रूठनेके भावको मान कहते हैं। इष्ट या आत्मीयके बुलानेपर न बोलना, उसका कहा न मानना, उसके आनेपर मुँह फेर लेना, उठकर चला जाना, व्यंग्य बोलना आदि उसके लक्षण हैं।

उपेक्षा : किसी व्यक्ति, वस्तु या कार्यके प्रति रुचि न दिखानेको तथा उसके प्रति उदासीन रहनेकी भावनाको उपेक्षा कहते हैं। किसीकी बात चुपचाप सुनना, टाल देना, सुनी-अनसुनी कर देना, हाँ-हूँ करके छोड़ देना आदि इसके लक्षण हैं।

स्पर्द्धा : अपने सहकर्मीकी उन्नति देखकर उसके समकक्ष या उससे आगे बढ़नेकी भावनाको स्पर्द्धा कहते हैं। उत्साह, परिश्रम, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

विजय : ऐसा कार्य करनेकी भावना जो पहले किसीने न की हो, विजय कहलाती है। तपस्या, त्याग, परिश्रम, उदारता, धीरता, कष्टसहन, दुःसाहस करना आदि इसके लक्षण हैं।

इन बत्तीस सञ्चारी भावोंके ज्ञानके बिना कोई भी साहित्यकार ठीक-ठीक चरित्र-निर्वाह नहीं कर सकता क्योंकि किसी दृश्य या वर्णनके ग्रथनसे

साहित्यकार जो विशिष्ट परिणाम उपस्थित करना चाहता है वह तबतक ठीक और उचित नहीं हो सकता जबतक पात्रोंकी उक्तियों, चेष्टाओं तथा व्यापारोंमें तत्सम्बद्ध सञ्चारी भावोंका समावेश नहीं हो जाता।

## स्थायी भाव

हम पीछे कह आए हैं कि स्थायी भाव आठ हैं—अनुराग, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, घृणा और स्थायी।

१. अनुराग : किसीके प्रति स्थायी तथा वनी आसक्तिको अनुराग कहते हैं। यह पाँच प्रकारका होता है—१. वात्सल्य, २. श्रद्धा, ३. मैत्री, ४. भक्ति और ५. प्रेम।

( क ) वात्सल्य : माता, पिता और घरके बड़े-बूढ़ोंकी अपने बच्चोंके प्रति, गुरुकी शिष्यके प्रति और साधुओंकी चेलोंके प्रति जो आसक्ति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—१. साधारण और २. असाधारण। साधारण वात्सल्य उस आसक्तिको कहते हैं जहाँ अपने बच्चों, शिष्यों या चेलोंके मङ्गलकी भावना या उनके संरक्षणकी भावना होती है तथा दूसरोंके बच्चोंको देखकर उनके प्रति स्नेह उमड़ता है। किन्तु जहाँ बच्चों, शिष्यों और चेलोंको सदा सामने रखने, उन्हें इधर-उधर जाने न देने, उनके आँखसे ओझल हो जाने तथा उनपर किसी प्रकारके सङ्कट पड़नेपर जहाँ उत्कण्ठापूर्ण व्याकुलता होती है वहाँ असाधारण वात्सल्य होता है। इस वात्सल्यमें घबराहट, उत्कण्ठा, उन्माद, मूर्च्छा, रोना, अपने बालकोंकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना, दूसरोंके आगे उनके लिये दैन्य दिखाना, प्रार्थना करना, असत्य बोलना, अपमानित होना, भर्त्सना सहना, अकर्त्तव्य या अकार्य कर बैठना ( किसी दूसरे बालककी बलि दे-देना आदि ) तथा आकुलताका अधिक व्यवहार दिखाई देता है।

( ख ) श्रद्धा : अपने माता, पिता या गुरुके प्रति तथा किसी साधु, सन्त, वीर या महापुरुषके प्रति जो ऐसी आसक्ति होती है कि उनकी आज्ञा मानने, उनकी सेवा करने, उन्हें सुखी, अनुकूल तथा प्रसन्न रखने और उनका निर्विरोध अनुगमन करनेमें आनन्दकी भावना होती है, वह श्रद्धा कहलाती है। यह भी दो प्रकारकी होती है—स्वार्थपूर्ण, श्रद्धा और निःस्वार्थ श्रद्धा। जहाँ श्रद्धेयसे कुछ प्राप्त न करने तथा सात्त्विक निष्काम भावसे आसक्ति हो

वहाँ निःस्वार्थ श्रद्धा होती है। यह भी दो प्रकारकी होती है—१. सम्बन्ध-श्रद्धा, और २. निःसम्बन्ध-श्रद्धा। सम्बन्ध-श्रद्धा वहाँ होती है जहाँ श्रद्धेयसे अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो और उनके साथ रहना हो। निःसम्बन्ध श्रद्धा वहाँ होती है जहाँ परोक्षमें तथा प्रत्यक्ष न होनेपर भी आसक्ति बनी रहे।

इस श्रद्धामें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार छोड़कर सेवा, आज्ञा-पालन, इष्टके कष्टमें पड़ जानेपर व्याकुलता, दैन्य, प्रार्थना, भिक्षा, आदरपूर्ण भय, सम्मान, आत्मनिवेदन, ममता, कष्ट-सहन, नम्र वचन, विनय, उत्सुकता, मङ्गल कामना, प्रशंसा, स्तुति, इष्टकी निन्दा न सहना, सत्य व्यवहार आदि अनेक मानसिक भावनाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

( ग ) मैत्री : समान अवस्था, गुण, व्यवसाय तथा विचारके लोगोंमें जो परस्पर प्रगाढ़ आत्मीयता और विश्वस्तता उत्पन्न हो जाती है उसे मैत्री कहते हैं। यह मैत्री प्रायः सहपाठी-सहपाठिनियों और पड़ोसी-पड़ोसिनियोंमें अधिक होती है। प्रायः समवेत कार्यों ( खेल, नाटक, जन-आन्दोलन, सेना आदि ) के कार्यकर्त्ताओंमें परस्पर बड़ी गहरी मैत्री हो जाती है यहाँतक कि एक दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करने तथा एक दूसरेके हितके लिये और एक दूसरेकी बात रखनेके लिये वे अपने माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियोंका परित्याग करनेको भी तैयार हो जाते हैं। एक व्यसनवाले ( जुआड़ी-शराबी आदि ) में भी मैत्री हो जाती है पर वह स्थायी नहीं होती। उसमें हँसी-ठट्ठा, परस्पर विनोद, साथ घूमना, वार्त्तालाप, प्रेममें गाली देना, एक साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना, प्रतिज्ञा, मित्रके लिये आत्म-त्याग, सेवा-सुश्रूषा, उत्कण्ठा, व्यग्रता, सत्य तथा असत्य सम्भाषण, निन्दा न सहना, मित्रका क्रोध सहना आदि मनोदशाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

( ग ) भक्ति : अपने पूज्यके प्रति निष्काम अनुराग या आसक्ति अथवा ईश्वर, ईश्वरके अवतार या देवताके प्रति अथवा देवविग्रहमें देव-भावनाके साथ जो आत्मसमर्पण-युक्त निष्काम अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने इष्टके विरुद्ध कुछ नहीं सुनना चाहता है। निरन्तर उसका गुण-श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन, अर्चन, वन्दन, पादसेवन, दास्य, सखाभाव और आत्मसमर्पण ये उसके लक्षण हैं। इस आसक्तिमें तर्क-वितर्क नहीं होता, शुद्ध निष्ठा होती है।

( घ ) प्रेम : स्त्री और पुरुषकी एक दूसरेके प्रति आसक्तिको प्रेम कहते हैं। स्त्रीका पुरुषके प्रति तथा पुरुषका स्त्रीके प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है किन्तु पुरुष और पुरुष अथवा स्त्री और स्त्रीके बीचका प्रेम स्वाभाविक अस्वाभाविक दोनों होता है। यह स्वाभाविक और अस्वाभाविक प्रेम भी दो प्रकारका होता है—स्वार्थपूर्ण और निःस्वार्थ। जहाँ इष्टके प्रति आसक्ति किसी उद्देश्यसे अर्थात् उससे कुछ प्राप्त करनेकी या उसका उपभोग करनेकी होती है वहाँ स्वार्थी प्रेम होता है और जहाँ बिना किसी उद्देश्यके और इष्टसे कुछ प्राप्त करनेकी इच्छाके बिना ही आसक्ति हो वहाँ निःस्वार्थ या सत्य प्रेम होता है। यह स्वार्थी और निःस्वार्थ प्रेम भी तीन प्रकारका होता है—कभी एकपक्षीय, कभी उभय-पक्षीय, कभी बहु-पक्षीय। एकपक्षीय प्रेममें एक व्यक्ति दूसरेके प्रति आसक्ति रखता है पर दूसरा उसके प्रति आसक्ति नहीं रखता। यह भी दो प्रकारका होता है—१. अभिव्यक्त तथा २. अनभिव्यक्त। जब आसक्त व्यक्ति, अपने प्रेमकी बात अपने इष्टसे कह देता है तब वह अभिव्यक्त कहलाता है। जब वह प्रेम करते हुए भी अपना प्रेम अपने इष्टको नहीं जनाता तब अनभिव्यक्त कहलाता है। उभयपक्षीयमें दो व्यक्तियोंकी परस्पर एक दूसरेके प्रति आसक्ति होती है। बहुपक्षीयमें एक व्यक्तिकी आसक्ति बहुतसे व्यक्तियोंके प्रति और बहुतसे व्यक्तियोंकी एकके प्रति होती है, अर्थात् एक नायिकाका बहुतसे नायकोंके प्रति या एक नायकका बहुतसी नायिकाओंके प्रति, या अनेक नायिकाओंका एक नायकके प्रति या अनेक नायकोंका एक नायिकाके प्रति अनुराग होता है। ईश्वरको प्रेमी या प्रेमिका मानकर जो माधुर्य भावसे भक्ति की जाती है वह प्रेमके ही अन्तर्गत है क्योंकि उसमें प्रेमी की-सी ही दशाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

पारस्परिक प्रेम अर्थात् पुरुष या स्त्रीके परस्पर एक दूसरेके प्रति प्रेम, परस्पर दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, अधिक सम्पर्क, समवृत्ति, उपकार, विशिष्ट गुण अथवा दैवयोग आदिके कारण होता है। इसमें सभी सञ्चारी भाव होते हैं और निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं—

मिलनोत्कण्ठा, शृङ्गार, अभिसार, उत्सुकता, व्याकुलता, प्रेम-निवेदन, प्रेमालाप, पत्रव्यवहार, दूतीकर्म, लोकापवादकी उपेक्षा, भय, उपालम्भ, चोरीसे मिलना, दीर्घ निःश्वास, चाटुकारी, शिष्टताका अतिरेक, स्वप्न, अनिद्रा,

अपने काममें अरुचि, कविता लिखना, चित्र या मूर्ति बनाना, लजाना, झेंपना, वस्तुओंका आदान-प्रदान, एक साथ घूमने जाना, जलपानगृह या मनोविनोदके स्थलों या मन्दिरोंमें जाना, लोक और समाजकी मर्यादाओंका उल्लङ्घन करना, चिन्ता, पागलपन, दुःसाहस या पराक्रमके कार्य करना, प्रियको लक्ष्य करके कविता बनाना, लेख लिखना, प्रियके नामसे कविता या लेख लिखकर छपवा देना, चित्र लेना, कला-कौशल-द्वारा प्रियको प्रभावित करनेकी चेष्टा करना, प्रेमी या प्रियकी चर्चा ध्यानसे सुनना या करना, प्रियकी वस्तुको छाती या आँखोंसे लगाना, उससे आत्मीयता स्थापित करना, मूर्च्छा, प्रलाप, रोगका बहाना करना, प्रियसे मिलनेके झूठे बहाने निकालना, रूठना, मनाना, एक दूसरेका शृङ्गार करना, सेवा करना आदि। यद्यपि चुम्बन, आलिङ्गन आदि चेष्टाएँ योरोप तथा अमेरिकाके रङ्गपीठोंपर दिखाए जाते हैं और वहाँके नाटककार उसका विधान भी करते हैं किन्तु ऐसी किसी भी क्रीड़ाकर अथवा भारतीय संस्कृतिके अननुकूल चेष्टाका विधान नहीं करना चाहिए। जापान तथा चीनमें भी रङ्गपीठपर ऐसी क्रियाएँ और चेष्टाएँ वर्जित हैं यहाँतक कि जापानमें तो साधारण जीवनमें भी चुम्बन नहीं लिया जाता। कुछ साहित्यकारोंने रति, क्रीड़ा, विपरीत रति तथा अन्य अनेक प्रकारकी शृंगार-चेष्टाओंका वर्णन किया है और कुछ लोग इसे उचित भी मानते हैं किन्तु नैतिकतावादी इसके विरुद्ध हैं।

एकपक्षीय प्रेमकी जिन दो अवस्थाओंका वर्णन किया जा चुका है उनमें सञ्चारी तो सभी होते हैं किन्तु चेष्टाएँ निम्नलिखित ही होती हैं—

दर्शन करने या मिलनेकी उत्कण्ठा और व्यग्रता, प्रेम-निवेदन, प्रार्थना, दैन्य, प्रलोभन, आत्म-समर्पण, आत्म-हत्याकी धमकी, विषपान, धरना देना, हतोत्साह होना, पागल होना, मूर्च्छा, लोकापवाद, घूम-घूमकर प्रेमका प्रचार, प्रियकी कठोरताका विज्ञापन, पत्र-व्यवहार, दूतीकर्म, तपस्या, मन्त्र-तन्त्र, बलपूर्वक उठा ले भागना, यातना देना, गाली, भर्त्सना (झिड़की), उपालम्भ, समझाना, तर्क-वितर्क, संन्यास लेना, तर्जन, अपमान, प्रशंसा, कविता लिखना, प्रियको सम्बोधित करके गुप्त साङ्केतिक भाषामें लिखकर पत्रोंमें छपवाना, प्रियके नामसे लेख छपवा देना, चोरीसे चित्र (फोटो) लेना, अनेक बहानोंसे प्रियके पास पहुँचना, प्रियकी सफलता या उसके जन्म-दिवस आदि अवसरोंपर बधाई और उपहार भेजना, प्रियके रोगी हो

जानेपर सेवाकी उत्सुकता दिखाना, सबसे उसकी प्रशंसा करना, प्रियके सामने कौशलसे उसके रूप, गुण या शीलकी प्रशंसा करना आदि ।

बहुपक्षीय प्रेममें भी सञ्चारी होते हैं और निम्नलिखित क्रियाएँ होती हैं—

परस्पर विरोध, आरोप-प्रत्यारोप, हठ, परिहास, उपालम्भ, तर्क-वितर्क, मिथ्या कथन, सपत्नीका आदर, मान, प्रभुत्व-प्रदर्शन, तपस्या, उपेक्षा, आत्म-हत्याकी चेष्टा, कलह, मारपीट, व्यवहार (मुकदमेबाज़ी), गाली-गलौज, परस्पर निन्दा, लोकापवाद, नायिकाको उठा ले भागना, हत्याकी चेष्टा तथा वे सभी चेष्टाएँ हो सकती हैं जो पारस्परिक या एकपक्षीय प्रेममें होती हैं।

प्रेममें निम्नलिखित व्यवहार भी सम्भव हैं—

दो या अधिक नायकोंका एक नायिकाके सम्बन्धमें परस्पर समझौता करके निर्णय कर लेना और एक द्वारा नायिका-ग्रहण ।

दो या अधिक नायिकाओं-द्वारा परस्पर समझौता करके अथवा आत्म-त्यागकी भावनासे अपना स्वार्थ छोड़कर प्रिय नायकको किसी एकके लिये छोड़ देना ।

कई नायिकाओंका परस्पर मिलकर एक नायकको अपना लेना ।

एक नायिकाका कई नायकोंको वैवाहिक रीतिसे अपनाना। नेपाल और तिब्बतमें ऐसे सम्बन्ध होते हैं ।

अपने पतिकी अविवाहिता प्रेयसीसे विरोध या स्नेह या उपेक्षा । प्रियको सपत्नीसे विमुख करनेके लिये तन्त्र, मन्त्र, टोटके, षडयन्त्र आदि करना ।

अपने पतिकी वेश्यासे व्यवहार : विरोध, विद्रोह अथवा उपेक्षा, प्रियको, वेश्यासे विमुख करनेके उपाय अथवा स्वयं वेश्याकी सेवा करके उसके मनमें अपने प्रति करुणा उत्पन्न करना ।

वेश्याका अपने जारकी पत्नीसे व्यवहार : विरोध दोष निकालना, घरसे निकलवाने, विष देने, आत्महत्या आदिके लिये उत्तेजित करनेका प्रयत्न ।

अविवाहिताका अपने प्रेमीकी पत्नीसे व्यवहार : अत्यन्त मृदु, चाटुकारी, स्नेह, प्रेमीकी प्रशंसा, प्रेमीके सामने उसकी पत्नीका पक्ष लेना ।

नायक-द्वारा अपनी पत्नी, वेश्या, प्रेयसी (परपत्नी अथवा कुमारी) से व्यवहार : ऊपर वर्णित सभी व्यवहार इसके अन्तर्गत हैं ।

नागरी प्रेयसी ( अविवाहिता और विवाहिता ) द्वारा नायकके प्रति व्यवहार : कला, रूप या गुणसे उसे अपनानेकी चेष्टा, पत्र-व्यवहार, पढ़ने या किसी अन्य कार्यमें नायककी सहायता माँगना, उसकी प्रशंसा करना किन्तु अपनी सखियोंमें इस अभिप्रायसे उसकी निन्दा करना कि कहीं वे न उसे फँसा लें।

समान रूप, गुण, विद्या, बल, व्यवसाय, विचार, कौशल ( खेल-कूद, कला आदि ), वीरता आदिके कारण, अधिक सम्पर्क या पड़ोसके कारण, राजनीतिक कारणोंसे, दैवसंयोगसे तथा किसीके द्वारा बचाए जानेके कारण भी प्रेम हो जाता है, यहाँतक कि गुरु और शिष्याओंमें, चिकित्सक और चिकित्सितामें, विद्वान् और विदुषीमें, अभिनेता-अभिनेत्रीमें, सहपाठी-सहपाठिनीमें प्रेम हो जाता है। ये सब प्रेम प्राय: निर्बाध होते हैं, अत: इनमें वह तीव्रता और आकुलता नहीं होती जो सहसा दर्शन या गुण-ग्रहण आदिके कारण होता है। यही बात वहाँके लिये भी है जहाँ धन, उच्च कुल या उच्च पद प्राप्त करने, ऋण-दानसे बचने, कृपणता या दरिद्रता आदिके कारण प्रेम हो जाता है। कभी-कभी कुतूहलवश भी विवाह होते हैं जैसे परस्पर दो परिवारोंका कलह बचानेके लिये, अपने संरक्षक, आश्रयदाता या उपकारकके प्रति कृतज्ञता दिखानेके लिये उससे या उसके पुत्रसे प्रेम करना।

### २. हास

हँसनेके भावको हास कहते हैं अर्थात् किसीके मूर्खतापूर्ण, मर्यादाहीन, सनकसे भरे, अनवसरोचित कार्य देखकर या वचन सुनकर अथवा किसीकी अव्यवस्थित वेश-भूषा या रूप-सज्जा देखकर अथवा किसी बातसे चिढ़नेवाले व्यक्तिको चिढ़ते देखकर, कृपणकी कृपणता देखकर, दिखावटी या बनावटी शोक-प्रदर्शनपर, बहुपत्नीवालेकी दुर्दशा देखकर, किसीको पाण्डित्य छाँटनेके लिये असम्बद्ध प्रलाप करते तथा झूठा ज्ञान छाँटते देखकर, कल्पित या झूठी विपत्तिकी कल्पना करके दैन्य, रोदन या शोक करते देखकर, चाटुकारिता, धूर्तता, भोजन-भट्टता, दुष्टके पराजयके समय उसकी पुरानी गर्वोक्तिका स्मरण दिलाते हुए ताना या व्यंग्योक्ति सुनकर, किसी दुष्टको बहकाने या चकमा देनेके लिये असत्य भाषण या धूर्तता

देखकर, असमर्थ होनेपर भी किसी कार्यको करनेका दम्भ करके उनमें असफल होकर, कायरता होनेपर वीरताका स्वाँग करने अथवा साधु, पण्डित या तपस्वी बननेके ढोंगपर, हकले, बहरे और गूँगेकी वाचिक और आंगिक क्रियाएँ देखकर, कुरूप, बौने या स्थायी विकलाङ्ग व्यक्तिका अपनेको सुरूप, सर्वाङ्गसुन्दर बतानेपर जो मनोविनोद होता है उसे हास कहते हैं। इस विनोदकी अवस्थामें मनुष्य मन ही मन हँसता है, मुस्कराता है, शब्द-युक्त हँसता है, ठठाकर हँसता है, हँसते-हँसते लोटपोट हो जाता है, हँसते-हँसते रो देता है।

कभी-कभी अपनी मूर्खतापर भी मनुष्यको हँसी आ जाती है, इसे आत्मस्थ हास कहते हैं। वास्तवमें मनोविनोद या हासकी उपर्युक्त अवस्थाओंमें व्याप्त कारण मूर्खता ही है। अतः किसीकी मूर्खता, अज्ञता, मौर्ख्य-जन्य विवशताके कारण जो भाव मनमें गुदगुदी उत्पन्न करके द्रष्टाको हँसनेके लिये प्रेरित करता है उसे हास कहते हैं। संसारके प्रसिद्ध हास्यलेखक तथा अभिनेता चार्ली चेपलिनका मत है कि 'मैं मानव-स्वभावके सम्बन्धमें कुछ थोड़ीसी साधारण बातें जानता हूँ और उन्हींका प्रयोग करके मैं अपनी रचनाओंमें हासकी सृष्टि करता हूँ।' पहली बात तो यह है कि जिन्हें हासका आलम्बन बनाना हो उनके लिये जो पद नाटकमें निर्धारित किया हो उससे अत्यन्त प्रतिकूल उनका रूप-विन्यास और वेश-विन्यास किया जाय और फिर कुछ ऐसे विधान किए जायँ कि जहाँ किसी प्रकारकी कोई आशङ्का न हो वहाँ दर्शक मूर्ख बना दिए जायँ। जैसे, एक स्थानपर किसी मूर्त्तिका उद्‌घाटन हो रहा है। उस मूर्त्तिपर एक वस्त्र पड़ा हुआ है। बड़ी गम्भीरतासे उद्‌घाटन-भाषण तथा अन्य प्रारम्भिक संस्कार होते हैं। किन्तु जैसे ही उद्‌घाटन होता है वैसे ही देखा क्या जाता है कि मूर्त्तिकी गोदमें विदूषक या अन्य कोई व्यक्ति बैठा सो रहा है। इससे भी दर्शकोंमें हासका विस्फोट हो जाता है। चार्ली चेपलिनका यह भी मत है कि 'नाटकमें एक या दो तो बड़े हास होने ही चाहिएँ जिससे हँसते-हँसते लोग लोटपोट हो जायँ किन्तु नाटक-भरमें निरन्तर मुसकान और विनोदपूर्ण हर्षकी लहरियाँ उठती रहें।' अभिनव-भरतका मत है कि 'जिस नाटकमें आद्यन्त हास्य ही व्यापक हो वहाँके लिये

तो यह ठीक है किन्तु गम्भीर नाटकोंमें दर्शकोंके भावोंका खिंचाव और तनाव ढीला करनेके लिये जब हासका प्रयोग किया जाय तब उसमें एक-दोके बदले सात-आठ हासके विस्फोट हों तब भी बुरा नहीं है क्योंकि भावोंका तनाव शिथिल होते रहना सदा उचित और आवश्यक होता है, विशेषत: उन भावुक दर्शकोंके लिये जो तनिक-से करुणा-प्रदर्शनमें रो देते हों या 'आह' कर बैठते हों।'

हासका निर्वाह अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि वह या तो फूहड़ हो जाता है या दूसरोंके आत्म-सम्मान या भावनाको ठेस पहुँचाकर उनके मनको कष्ट दे सकता है। यूनानके प्रसिद्ध प्रहसनकार अरिस्तोफ़नेसके 'बर्रें' और 'बादल' प्रहसनोंमें ऐसे बहुतसे स्थल हैं। इसलिये ऐसे हासकी सृष्टि करनी चाहिए जिसमें कभी किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज, राष्ट्र या जातिके अपमानकी व्यञ्जना न हो पावे।

### ३. शोक

अपने इष्ट ( शरीर, इष्ट व्यक्ति, प्रिय, सम्बन्धी, मित्र, वस्तु, सम्पत्ति आदि ) पर आनेवाले संकटकी आशङ्कासे, कल्पनासे या आए हुए संकटके कष्टसे मनमें जो सन्ताप होता है उसे शोक कहते हैं। इसमें इष्ट-वियोगकी सम्भावना, भावी इष्ट-वियोगकी सम्भावना, भावी इष्ट-वियोगकी दुश्चिन्ता, ज्ञात तथा अपरिहार्य विपत्ति, स्वामी या गुरुका अपराध करनेपर उनके दण्ड या क्रोधके भयसे, अपने इष्टके रोगी होने, चोट खाने, जिस यान या भवनमें इष्ट हो उसपर विपत्ति आने या सङ्कट पड़नेपर ( जैसे रेलगाड़ीके उलटने या लड़नेपर जिसमें अपना इष्ट जाता हो या आता हो; इष्ट जिस नाव या पोतमें जा रहा हो उसके डूबने ) या आग लग जानेपर, असाध्य रोगीका अपने अरक्षित तथा बाल-बच्चोंवाले विशाल परिवारके भविष्यके लिये, दरिद्रता, जीविका या व्यापार या सम्पत्तिका नाश या उनके नाशकी सम्भावना या आशंका, इष्ट-निवासमें आग, आँधी, जल-प्रलय, युद्ध, आक्रमण, लड़ाई-झगड़ा, महामारी, दुर्भिक्ष, व्याघ्र, सर्प आदिका उपद्रव या उसकी आशंका, व्यवहार ( मुकदमे ) में हारना, राजदण्ड, समाजदण्ड, अपयश, किए हुए पापके फूट जानेसे अथवा अपनी और अपने इष्टकी असफलतासे, परीक्षामें अनुत्तीर्ण होने या किसी उद्योगमें असफल

होनेपर ( व्यवसायमें असफलता अथवा किसी वैज्ञानिक प्रयोग या किसी साहस-कार्यमें बाधा पड़नेपर ), इष्टके दुर्व्यसन-ग्रस्त होने ( जुआड़ी, चोर, कामी आदि होने ) पर, इष्टके अपहरण किए जाने, खो जाने, साथ छूट जाने या अपने इष्टके द्वारा लोकनिन्दा-जनक कार्य करनेपर जो मनस्ताप होता है उसीको शोक कहते हैं ।

शोककी अवस्थामें निम्नलिखित मनोदशाएँ और क्रियाएँ होती हैं—आशङ्का, शङ्का, त्रास, भय, समुत्कण्ठा, उत्सुकता, उद्वेग, व्यग्रता, उन्माद, मूर्च्छा, प्रलाप, विलाप, आक्रोश, जड़ता, अपस्मार, उदासी, चिन्ता, दुश्चिन्ता, मनौती मानना, गुण-स्मरण, भ्रान्ति, उन्मनता (भोजन, राग-रङ्ग आदि कुछ अच्छा न लगना ), पश्चात्ताप, विह्वलता, साहस, धैर्य, उत्साह, अधीरता, कूद पड़ना, दौड़ पड़ना, सिर या छाती पीटना, हाथ-पैर पटकना, लोट-पोटकर रोना-पीटना, सान्त्वना देना, विश्वास, अविश्वास, कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, स्तम्भ, वैवर्ण्य, प्रलय, स्वरभङ्ग, व्याकुलता, तर्जन, क्रोध, वैराग्य, मौनता, भोजनत्याग, अनिद्रा, कादरता, भगवान्‌की दुहाई देना या स्मरण करना, असत्य भाषण तथा दैन्य आदि ।

४. उत्साह

असाधारण कार्य करनेकी सात्त्विक प्रेरणाको उत्साह कहते हैं । स्पर्द्धा, हर्ष, पररक्षण, परहित, यश-प्राप्ति तथा विजयकी भावनासे मनमें जो असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणा होती है उसे उत्साह कहते हैं । यह उत्साह चार प्रकारका होता है—१. स्वाभाविक, २. पर-प्रेरित, ३. आकस्मिक तथा ४. साहाय्य-पुष्ट ।

( क ) जब कोई व्यक्ति निरन्तर सब कार्योंमें असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करे तब उसका उत्साह स्वाभाविक कहलाता है ।

( ख ) जब कोई व्यक्ति दूसरेके प्रेरित करनेपर तथा दूसरेके ललकारनेपर असाधारण कार्य करनेकी वृत्ति प्रदर्शित करे तब वह परप्रेरित उत्साह कहलाता है ।

( ग ) जब सहसा कोई सङ्कट पड़ जानेपर अथवा सहसा किसी अवसरपर अनायास ही साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य-वृत्ति दिखाता है तब उसे आकस्मिक उत्साह कहते हैं ।

( घ ) साहाय्य-पुष्ट उत्साह वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति स्वयं समर्थ न होते हुए अपने पद, राज्यशक्ति, जनशक्ति अथवा मित्रोंके सहयोगके बलपर असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करता है ।

इस उत्साहके निम्नलिखित रूप हैं—

वीरता, उदारता, आत्म-त्याग, सेवा और विजय ।

वीरता : अपने शरीर, सम्पत्ति, परिवार, परिजन, आश्रित, मित्र, प्रजा, जातिबन्धु, देशवासी, मानवमात्र, प्राणिमात्र आदिके संरक्षणके लिये जो निर्भयता और धैर्यके साथ शारीरिक बल तथा युद्ध-कौशलका प्रयोग किया जाता है अथवा किसी बली या पराक्रमीका विरोध किया जाता है उसे वीरता कहते हैं ।

उदारता : दीन, दुखी, पीडित, अनाथ, रोगी, निराश्रित तथा सङ्कटापन्न व्यक्तिको अयाचित सहायता देना, अपने आश्रितोंके हितके लिये अकृपण होकर धन-सम्पत्ति लगाना तथा लोक-हितके कार्योंमें निःसङ्कोच खुले मनसे दान देना या लोकहितके कार्यमें अपनी सम्पत्ति लगानेको उदारता कहते हैं । यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक उदारता वहाँ होती है जहाँ कोई व्यक्ति अपने आर्थिक सामर्थ्यके बाहर दान दे । कोई लक्षपति सौ रुपया दान दे-दे तो वह वास्तविक उदारता नहीं कहलाती है किन्तु यदि कोई एक रुपया नित्य कमाता हो और वही कमाया हुआ रुपया किसी व्यक्तिकी सहायताके लिये या लोकहितके लिये दे-दे तो वह सात्त्विक उदारता कहलाती है । देश, काल और पात्रका विचार करके दान देनेकी वृत्ति ही उदारता कहलाती है । यहाँ यश या पद प्राप्त करने अथवा भय या स्वार्थ साधनेकी भावनासे जो दान दिया जाता है वह उदारता नहीं कहलाती ।

आत्म-त्याग : अपने इष्ट, आश्रित, देशवासी अथवा शरणागतकी रक्षाके लिये अथवा धर्म या नैतिक सिद्धान्तके पोषणके लिये अपने प्राण, परिवार, सम्पत्ति आदिको सङ्कटमें डालनेकी वृत्तिको आत्म-त्याग कहते हैं । अपनेको या दूसरोंको कष्ट देनेवाले मनुष्यों, शासकों, अत्याचारियों, जीवों, भूत-प्रेत-राक्षसों आदिसे दूसरेको बचानेके लिये अपनेको बलिदान करनेकी वृत्ति भी आत्म-त्याग ही कहलाती है ।

सेवा : सङ्कटापन्न, रोगी, दुखी, पीडित, अनाथ, निराश्रित तथा दीन व्यक्तियोंको निस्सङ्कोच होकर सेवा-सुश्रूषा करना, उन्हें भोजन-वस्त्र

दिलानेका प्रबन्ध करना, उनका पोषण करना, उनकी चिकित्साकी व्यवस्था करना, मेले-ठेलेमें लोगोंका पथ-प्रदर्शन करना, डूबतेको बचाना, जलते हुए घरसे प्राणियोंको निकालना आदि कार्य करनेकी वृत्तिको सेवा-भाव कहते हैं। यह सेवा भी निःस्वार्थ और स्वार्थी दो प्रकारकी होती है। माता, पिता, गुरु तथा स्वामी आदिकी सेवामें स्वार्थ भावना भी हो सकती है किन्तु जहाँ किसी प्रकारके प्रतिफलकी इच्छाके बिना सेवा की जाती है वही निःस्वार्थ सेवा कहलाती है।

विजय : विद्या, बुद्धि, शक्ति, कौशल, साहस आदिकी प्रतिद्वन्द्विताओंमें अपने प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेकी वृत्तिको विजयोत्साह कहते हैं। यह भावना प्रतिद्वन्द्विता करनेवालोंमें ही नहीं वरन् प्रतिद्वन्द्वियोंके साथियों और पक्षपातियोंमें भी होती है। इस विजय-वृत्तिका एक दूसरा रूप भी होता है जिसमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती वरन् मनुष्य स्वयं किसी ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त हो जाता है जैसा किसीने पहले कभी न किया हो। नया ग्रन्थ लिखना, हिमालयके शिखरपर चढ़ना, दक्षिणी ध्रुवतक पहुँचना, नये आविष्कार करना, तपस्या करना आदि इसी विजय-भावनाके परिणाम हैं। इसमें धैर्य, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्तिका प्रदर्शन, ललकार, चुनौती, हुङ्कार, शस्त्रकौशल, शास्त्रकौशल, कष्टसहन, आत्मतुष्टि, दान, रोकनेवालोंकी उपेक्षा, सहानुभूति, दया, अवज्ञा, हर्ष, उल्लास, परहितकी व्याकुलता, सहानुभूति, तर्जन, तर्क-वितर्क, शील, निर्ममता, दमन, सङ्घर्ष, उत्पीडन, क्षमा, वीर-वृत्ति (पराजयमें विचलित न होना), डटे रहना, आश्चर्य, सन्तोष, तन्मयता, साहस, अश्रान्ति, वीर-सन्देश, प्रतिज्ञा, दृढ़ता, सर्वस्व-त्याग, निर्भयता, अलोभ, शङ्का, आशङ्का, अमर्ष, गर्व, औत्सुक्य, लालसा, कामना, कुतूहल, विश्वास, आशा, आत्मसम्मान, स्पर्द्धा, विजय आदि सञ्चारी भाव तथा क्रियाएँ होती हैं।

### ५. भय

अपने इष्ट, जीविका, सम्पत्ति, यश, देह, आदि स्वसम्बद्ध अथवा इष्टसम्बद्ध जन या वस्तुपर आघात करनेवाले भूत-प्रेत, राक्षस, जीव, मनुष्यों (चोर, डाकू, हत्यारे, दुष्ट, सेना, राजा, शत्रु) से अथवा अग्नि, वर्षा, आँधी, भूकम्प आदिसे आघात होने या आघातकी सम्भावना होनेपर या इन

सम्भावनोंके अनिश्चय अथवा सन्देहकी दशामें जो अधीरता या घबराहट होती है उसे भय कहते हैं ।

इसमें व्यग्रता, कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, भय, स्तम्भ, घिग्घी बँधना, वैवर्ण्य, व्याकुलता, मूर्च्छा, गिर पड़ना, भागना, आश्रय माँगना, चिल्लाना, पुकारना, आर्त्तनाद, रोना, दैन्य दिखाना, अनुनय-विनय, प्रार्थना, उत्पीडककी प्रेरणासे डरके मारे अपनी इच्छा न होते हुए भी दूसरेका अहित करनेको उद्यत हो जाना, अपनी इच्छाके विपरीत कार्य करनेको भी उद्यत हो जाना, असत्य बोलना, विषाद, चिन्ता, सन्देह, आवेग, जिज्ञासा, त्रास, अमर्ष, ग्लानि, उत्कण्ठा, अविश्वास, भ्रान्ति, दुराशा, निराशा, आशा, आतङ्क, निरुत्साहिता, उदासी, किंकर्त्तव्यविमूढ़ होना आदि सञ्चारी भाव और चेष्टाएँ होती हैं ।

६. क्रोध

अपना या अपने इष्टका अहित करनेवाले या अहित करनेकी इच्छा करनेवाले अथवा अपना कहना न सुनने और करनेवालेके प्रति उसकी यह अवहेलना न सह सकनेके कारण मनमें जो विक्षोभ होता है उसे क्रोध कहते हैं । यह क्रोध दो प्रकारका होता है—१. स्वाभाविक और २. अस्वाभाविक । पद या अवस्थामें अपनेसे छोटे या बराबरवाले लोगोंके प्रति जो क्रोध होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं । बड़ोंके प्रति होनेवाले क्रोधको अस्वाभाविक क्रोध कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है—१. क्षोभ ( खीझ ) और २. दुःशीलता ( बढ़-बढ़कर बोलना और जीभ लड़ाना । )

दूसरोंपर अत्याचार करनेवालेके प्रति अत्याचार-निवारणार्थ जो क्रोध होता है उसे सात्त्विक क्रोध कहते हैं ।

अपने पदके अनुसार नीति-रक्षणके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे राजस क्रोध कहते हैं ।

अपने स्वार्थके लिये अथवा निरर्थक दूसरोंको पीडित करनेके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे तामस क्रोध कहते हैं ।

क्रोधकी तीन अवस्थाएँ भी होती हैं—१. सम्मोह, २. सुविचारित तथा ३. असिद्ध । जब मनुष्य क्रोधमें अन्धा होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार छोड़कर आचरण करने लगता है, उस क्रोधकी अवस्थाको सम्मोह कहते हैं । जब

क्रोध होनेपर मनुष्य भली प्रकार विचारकर आचरण करता है उसे सुविचारित क्रोध कहते हैं। जब मनुष्य मनही मन क्रोध करके रह जाता है, उससे प्रेरित होकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तब उस क्रोधकी असिद्ध अवस्था कहलाती है।

अपना या अपने इष्टका अहित करनेवालोंके अन्तर्गत अपने शत्रु, प्रतिद्वन्द्वी, अपयश करनेवाले, देश-द्रोही, समाज-द्रोही, धर्म-द्रोही तथा अपने पुत्र, स्त्री, पशु, वाहन और सम्पत्ति हरण करनेवाले सभी आते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्यत: अपनेसे असम्बद्ध व्यक्ति या वस्तुका अनिष्ट करने और अनिष्ट चाहनेवाले व्यक्तिके प्रति भी क्रोध होता है। अपने अधीन आलसी, कामचोर अथवा अकुशल कर्मचारी या सेवकके प्रति भी क्रोध होता है। ये सभी स्वाभाविक हैं।

किन्तु जब कोई अपने गुरुजनोंके प्रति इस बातपर रुष्ट होता है कि वे अनैतिक कार्यकी अनुज्ञा नहीं देते, वहाँ क्षोभ होता है किन्तु यदि गुरुजन भी हत्या आदि दुष्कृत्य करें तो उनपर क्रोध करना स्वाभाविक ही कहलायगा।

तर्जन, ओठ और नथनोंका फड़काना, भौंहें तरेरना, दुर्वचन कहना, चिल्लाना, उग्रता, डाटना, भर्त्सना, मूर्ख बनाना, व्यंग्य बोलना, जानवरोंसे उपमा देना, गाली देना, मुक्के, लात, जूते या डण्डेसे मारना-पीटना, बाँधना, यातना देना, दु:शीलताका व्यवहार करना, अमर्यादित बातें कहना, दोष बखानना, दूसरेके माता-पितामें दोष निकालना, जाति-दोष दिखाना, धक्के देना, कोठरीमें बन्द करना, भोजन-पानी न देना, उठाकर पटकना, कुटिल तथा व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसना, शङ्का, अविश्वास, गर्व, अमर्ष, अवज्ञा, आतङ्क, विरोध, भ्रान्ति, असन्तोष, वैर, ऐंठ, दूसरेको तुच्छ समझना, चिढ़ना, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, उत्तेजित होना आदि इसके लक्षण हैं।

### ७. आश्चर्य

किसी अनोखे, अद्भुत, असम्भव, अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व, अलौकिक या असाधारण किन्तु सुखकर व्यक्ति, वस्तु या क्रियाके साक्षात्कारसे अथवा अप्रत्याशित स्थलपर या दशामें इष्ट या परिचितका मिलन या अभिज्ञान ही आश्चर्य कहलाता है। यदि हमने सहसा जङ्गलमें गैंडा (शार्दूल) देख लिया तो वहाँ भय होगा आश्चर्य नहीं, किन्तु उसी गैंडेको जन्तुशालामें

देखनेसे आश्चर्य होता है। अतः आश्चर्यके लिये कुतूहलजनक व्यक्ति या वस्तुका अदुःखकर होना अत्यन्त आवश्यक है।

कुतूहल, जिज्ञासा, उत्कण्ठा, देखते रहनेकी लालसा, उल्लास, हर्ष, सन्तोष, स्तम्भ, विस्मय, आँख फाड़ना, मुँह बाना, ठोड़ीमें हाथ लगाकर चकित होकर देखना, दाँतों तले उँगली दबाना आदि इसके लक्षण हैं।

### ८. घृणा

दुःस्पर्श, दुःस्वादु, अरुचिकर, अश्लील, अभव्य तथा अशुद्ध वस्तु, व्यक्ति, स्थान तथा क्रियाके प्रति जो विराग, अरुचि, चिढ़, जुगुप्सा और ग्लानि होती है उसे घृणा कहते हैं। अपना तथा लोकका अप्रिय करनेवाले तथा समाज और नीतिसे विरुद्ध आचारण करनेवालोंसे विरति भी घृणा ही है। अपने शत्रुके अच्छे कामोंमें भी लोग दुर्गुण ही देखते हैं। उसका कारण-भाव घृणा ही है।

वस्तुसे दूर-दूर रहना, बात न करना, मुँह मोड़ना, निन्दा करना, ग्लानि, त्रास, चिढ़ना, नष्ट करनेका उद्योग करना, ईर्ष्या, क्रोध, तर्जन, घृणापूर्ण हास, उदासीनता, कुढ़ना, नाक मूँदना, भागना, मौन रहना इसके लक्षण हैं।

### वैराग्य-वृत्ति

साधारण मनुष्यकी एक और दार्शनिक या वैराग्यकी मनःस्थिति होती है जब उसके धन, परिवार आदिका नाश होता जाता है। इस अवस्थामें वह या तो विरक्त होकर साधु-सङ्गति और एकान्तवास करता है या आत्मघात कर लेता है। दरिद्रता, प्रिय-द्वारा विश्वासघात तथा कुष्ठ, क्षय आदि असाध्य तथा भयानक रोग होनेपर भी यह अवस्था हो जाती है।

### अनिश्चित वृत्ति

उन्मत्त, मद्यप, योगी, जड़, दार्शनिक, सनकी, अवधूत तथा परमहंस आदि कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनकी मानसिक वृत्तियाँ अनिश्चित रहती हैं।

### अवस्थाके अनुसार पुरुषोंके भेद

ऊपर अवस्थाओंके अनुसार जो पुरुषोंके भेद किए गए हैं वे इसलिये कि विभिन्न अवस्थाओंमें मानसिक वृत्ति और अवस्थाओंमें बड़ा अन्तर पड़ता

रहता है। मनोवैज्ञानिकोंने केवल पन्द्रह वर्षतकके बालकोंकी बुद्धिके अनुसार श्रेणियाँ बनाई हैं और वह भेद केवल उनकी योग्यता और बुद्धिके सम्बन्धमें ही है चरित्र या स्वभावके लिये नहीं। इसलिये अवस्थाके अनुसार हम पुरुष-स्वभावका विवेचन कर देना आवश्यक समझते हैं।

### शिशु

शिशु अवस्थामें बालककी विशेष प्रवृत्ति भोजनकी ओर होती है और इसके पश्चात् रङ्गीन वस्तु, वाद्य, खेल-तमाशे आदिकी ओर रुचि होने लगती है, साथ ही माता-पितासे स्नेह करते हुए वह उनके बताए और सिखाए हुए शब्दों और आचरणोंका अनुकरण करता है। वह दादा, बाबा, मामा आदि कहना सीखता है, कहनेसे हाथ जोड़ता है और हँसता, बोलता, नाचता, कूदता है।

### बालक

बाल्यावस्थामें बच्चेका मन खेलका अनुकरण करनेमें अधिक लगता है। वह साथी ढूँढ़ता और स्वच्छन्द होकर अनेक प्रकारकी क्रीडाएँ करता है और उन क्रीडाओंमें अपने पिताके व्यवसायका अनुकरण भी करता है जैसे किसी वैश्यका पुत्र मिट्टीकी दुकान सजाकर बेंचने या मोल लेनेका खेल करता है। इस अवस्थामें रुचि बढ़ने लगती है। अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तुमें अच्छे और बुरेका ध्यान होने लगता है। उसकी जिज्ञासा-वृत्ति बढ़ने लगती है किन्तु भोलापन भी बना रहता है। इस भोलेपनका विशेष चित्रण अभिनवभरतके 'वसन्त' नाटकमें प्राप्त होता है, जहाँ बालक अपने चाचासे कहता है 'ईश्वरने तुम्हारा भाग्य फोड़ दिया है ? तुम ईश्वरको पकड़ लाओ, मैं उसकी कुन्दी करूँगा।' ऐसे करुण स्थलोंमें इस प्रकारका भोलापन अत्यन्त प्रभावशाली होता है। कभी-कभी बालोचित क्रीड़ाका दृश्य दिखानेके लिये भी इन बालकोंकी योजना की जा सकती है। इस अवस्थामें बालकोंको अपने-पराएका ज्ञान होने लगता है और यद्यपि उनमें शारीरिक असमर्थता होती है किन्तु अपनी किसी वस्तु या अपने किसी सम्बन्धीके विरुद्ध होनेवाले आचरणपर उसका मानसिक विद्रोह अवश्य होने लगता है, जिसे वह कमसे कम अपने साथियोंको व्यक्त कर ही देता है। यही अवस्था बालहठकी भी है। अपने मनकी वस्तु मँगाना, अपने मनके अनुसार दूसरेसे काम कराना ही

इस हठका उद्देश्य होता है और हठ पूरा न होनेपर वह अनशन और रोने दोनोंका प्रयोग करता है। साहित्यकारको यथासम्भव करुण, भयानक, शृङ्गार, अद्‌भुत तथा वीभत्स रसोंके लिये बालक-पात्रोंकी योजना नहीं करनी चाहिए। वीरताके लिये यदि इनका प्रयोग किया जाय तो सर्वश्रेष्ठ हो और यदि ये हास्यके लिये प्रयुक्त हों तो अधिक उपयुक्त हो। कभी-कभी राजनीतिक नाटकोंमें ऐसे बालकोंका प्रयोग किया गया है जिसमें बालकोंको यातनाएँ दी जाती हैं, उन्हें पीटा जाता है और बाँधकर लटका दिया जाता है किन्तु ये सब प्रयोग अमानवीय हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाले साहित्यकार सस्ती भावकताको उत्तेजित करते हैं किन्तु उसमें कलाका अत्यन्त अभाव रहता है।

### कुमार

बाल्यावस्थाके पश्चात् आती है कुमारावस्था, जिसमें बालकका मन रचनात्मक अधिक हो जाता है। वह नई-नई वस्तुओंको तोड़-फोड़कर अपने मनके अनुसार उन्हें सजाना चाहता है। इसलिये उसका मन प्रायः खेल-कूदमें अधिक लगता है, पढ़ने-लिखनेमें कम। पढ़ने-लिखनेमें भी वह किसी प्रकारका बन्धन नहीं चाहता। जिस विषयकी ओर उसकी रुचि होती है उसी ओर वह प्रवृत्त होता है। उसका मित्र-मण्डल बढ़ने लगता है, साथ मिलकर घूमने, नटखटपन करने, फल-फूल चुराने, पेड़-पहाड़पर चढ़ने तथा जानवरोंसे छेड़छाड़ करनेमें उसे विशेष आनन्द मिलता है। इसी अवस्थामें निश्चिन्तता और भय दोनोंका प्रदर्शन होता चलता है। घरसे बाहर अपनी वृत्तिमें वह स्वतन्त्र और निश्चिन्त रहता है किन्तु अपनेसे बड़े अभिभावकोंकी डाँट-फटकार और 'दूसरा क्या कहेगा' इस प्रकारका सामाजिक भय उसके मनमें बढ़ने लगता है। इनमें जो दुर्ललित होते हैं वे प्रायः बड़ोंका अपमान करने और कहना न माननेमें भी सङ्कोच नहीं करते और ये ही दुर्ललित बालक आगे चलकर देश, समाज, परिवारके लिये बड़े भयानक हो जाते हैं। ऐसे दुर्ललित बालक असत्य बोलने, चोरी करने और दूसरोंको तङ्ग करनेमें विशेष दत्त-चित्त होते हैं। उनके उर्वर मस्तिष्क सदा ऐसे ही उत्पात सोचते रहते हैं जिनसे दूसरोंको कष्ट होते रहें, और वे उनसे उनकी मानसिक व्यथाका रस लें। इसी अवस्थामें अनेक प्रकारके व्यसन भी लग जाते हैं। मिठाई, चाट, सिगरेट, चित्र, मेला आदिके व्यसन इसी अवस्थासे प्रारम्भ होने लगते हैं।

इसी अवस्थामें जो बालक अधिक दब्बू होते हैं वे पिशुनी या चुगुलखोर हो जाते हैं और जिन्हें माता-पिता लाड़-प्यारसे सिरपर चढ़ा लेते हैं वे अभिमानी, उद्दण्ड हो जाते हैं। घरका वातावरण और बाहरकी सङ्गति जैसी होती है वैसा ही इनका आचरण और स्वभाव बनने लगता है। साहित्यकारके लिये मनुष्यकी यही अवस्था पात्र-योजनाकी प्रारम्भिक अवस्था है। सभी प्रकारके रसोंमें इस प्रकारके पात्रोंकी योजना सफलता-पूर्वक की जा सकती है।

### किशोर

किशोर अवस्थामें पहुँचकर बालकमें कुछ विचारशीलता और विवेक आ जाता है। वह अपना दायित्व समझने लगता है, हित और अहित, भला और बुरा, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सबकी पहचान उसे होने लगती है। जिन किशोर बालकोंपर कम नियन्त्रण रहता है या रहता ही नहीं वे व्यसनी, लोभी, चोर, कलह करनेवाले, अभिमानी, उद्दण्ड, हठी और कुटिल हो जाते हैं। किन्तु जिनपर भली प्रकार नियन्त्रण होता है और जिन्हें सङ्गति भी अच्छी मिल जाती है वे समाजके नेता, उपदेशक, अध्यापक, वास्तविक नेता तथा विभिन्न कार्योंके व्यवस्थापक बन जाते हैं। किशोर अवस्था वास्तवमें कुमार और यौवनके बीचकी अवस्था है। इस संक्रमण कालमें दो लालसाएँ बड़ी प्रबल हो जाती हैं—एक तो लोकमें प्रसिद्ध होनेकी और दूसरी कामवासनाकी। यदि पूरे संयमकी शिक्षा न दी जाय और सङ्गति भी कुटिल हो तो वह व्यक्ति समाजके लिये भयानक हो जाता है। किन्तु उचित शिक्षा और उचित सङ्गति मिलनेपर वही व्यक्ति सद्‌गृहस्थ और स्नेही पति भी हो जाता है। जो अत्यन्त पीडित रहते हैं, जिनकी लालसाएँ कुचल दी जाती हैं, जिनके उन्नति-मार्गमें निरन्तर बाधाएँ आती रहती हैं, वे साहसहीन, आलसी, दब्बू, सब बातोंमें दूसरोंके कथनानुसार चलनेवाले, दैन्यपूर्ण और कायर होते हैं। न उनका कोई अपना मत होता है न इच्छा होती है। वे सदा परावलम्बी होते हैं, यहाँतक कि कभी-कभी स्वयं अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले साधारण कार्योंके लिये भी वे दूसरोंसे सम्मति लेनेका प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही लोग रूढिपालक, अन्धविश्वासी, सबको सदा प्रसन्न रखनेवाले और चाटुकार होते हैं। अपने साथियों और अपनेसे छोटोंको भी ये अपना विश्वास-पात्र बनाकर उनसे सम्मति लेने और उनकी सम्मतिके अनुसार कार्य करनेमें

अपना अहोभाग्य समझते हैं। ऐसे लोग प्रायः चिन्तित, उदास और सुस्त रहते हैं जिन्हें देखकर यह प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण गृहस्थी और राज्यका भार इन्हींपर आ पड़ा हो। ये बहुत ही कल्पनाशील और चिन्तनशील होते हैं। इनके अतिरिक्त किशोर अवस्थामें ही बालक अधिक स्फूर्तिशील, गतिशील और प्रत्येक कार्यको बड़ी लगन और उत्साहसे करनेवाले होते हैं। ये भी अत्यन्त मननशील और कल्पनाशील होते हैं किन्तु ये लोग अपनी कल्पनाको मूर्तिमान करनेके लिये आकाश-पाताल एक कर देते हैं, व्यक्ति और साधनका सङ्ग्रह करते हैं और अपने बल तथा साहससे ही अपना कार्य पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे ही लोग आगे चलकर महापुरुष होते हैं। इसी अवस्थामें जिन्हें बनने, सँवरने और कपड़ा-लत्ता पहनने तथा अलङ्कार आदिका व्यसन हो जाता है वे आगे चलकर छैले हो जाते हैं। इनमेंसे अधिकांश कला-प्रिय, सङ्गीत-प्रिय और सौन्दर्य-प्रिय होते हैं और जो धनी हो जाते हैं वे ही बिगड़े हुए रईस बन जाते हैं। साहित्यकार ऐसे पात्रोंके साथ कुल, संस्कार, सङ्गति और परिस्थितिका सम्मिश्रण करके अद्भुत चरित्रोंका सर्जन कर सकता है।

बालक, कुमार और किशोर तीनों अवस्थाओंमें यद्यपि अन्तर बहुत थोड़ा-थोड़ा है किन्तु इन्हीं थोड़ेसे वर्षोंमें वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ इतनी जटिल, बहुमुखी और निश्चित हो जाती हैं कि आगेके सम्पूर्ण जीवनका अध्ययन उसी समय कर लिया जा सकता है। 'होनहार विरवानके होत चीकने पात' की उक्ति इसीलिये हुई है। किन्तु कुछ ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि मनुष्यको विवश होकर अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति बदलनी ही पड़ती है। सहसा अपने मुख्य आश्रयदाताका अन्त हो जाना, किसी कारणवश, जैसे व्यापार नष्ट होने, आग लगने, चोरी या डकैती होने, राजनीतिक उथल-पुथल होने अथवा आजकल कोषमें ( बैङ्क ) दीवालिया हो जानेपर, जब सहसा दरिद्रता आ जाती है उस समय बड़ेसे बड़े अकर्मण्य और आलसी लोगोंको भी कर्म करते देखा गया है। अतः साहित्यकारको अपने पात्रोंकी मानसिक स्थितिमें सहसा स्वतः परिवर्त्तन न दिखाकर किसी ऐसे कारणकी योजना करनी चाहिए जिसमें वह पात्रके स्वभावके विपरीत या अनुकूल न जान पड़े और न अस्वाभाविक ही प्रतीत हो।

तरुण

संसार-भरके तरुण पुरुषोंमें तीन प्रकारके लोग दिखाई देते हैं—१. अनुरक्त, जो संसारकी सम्पूर्ण मायामें मनसे या विवश होकर योग दे रहे हैं। २. विरक्त, जो संसारको माया समझकर उसके सम्पूर्ण सुख-दुःखसे अलग हो गए हैं। ३. जो उदासीन वृत्तिसे संसारमें रहते हैं। इनमें कुछ तो स्वभावतः और जान-बूझकर उदासीन रहते हैं किन्तु कुछ ऐसे हैं जो जडबुद्धि, अकर्मण्य और आलसी होनेके कारण उदासीन बने रहते हैं। इन तीनों प्रकृतिवाले पुरुषोंमेंसे उदासीनका भी प्रयोग साहित्यमें होता है। कभी-कभी जडबुद्धि, अकर्मण्य या आलसियोंका चरित्र हास्यके लिये निरूपित कर दिया जाता है। विरक्त भी दो प्रकारके होते है। एक तो वे हैं जो वास्तवमें शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण मोह-मायासे ऊपर उठ गए हैं। दूसरे वे हैं जो विरक्तिका ढोंग रचते हैं और इस बहाने लोगोंकी श्रद्धा और भक्तिके भाजन बनते हैं। छल-प्रपञ्चकी कथाओंमें इस प्रकारके पात्र बड़े उपयुक्त होते हैं। किन्तु अधिकांश नाटकोंकी सामग्री उन पात्रोंसे प्राप्त होती है जो विश्वकी मोह-मायामें पूर्णतः मनसे अथवा विवश होकर अनुरक्त हुए हैं। ये अनुरक्त भी दो प्रकारके हैं। एक लोक-सङ्ग्रही दूसरे स्वार्थी। स्वार्थियोंमें विषयी, लोभी, प्रतिस्पर्धी, ईर्ष्यालु, अभिमानी, क्रोधी, मूढ और महत्वाकांक्षी होते हैं। लोक-सङ्ग्रहीके अन्तर्गत साहसी, परमार्थी, लोकसेवक आदि वे सब प्रकारके पुरुष आते हैं जो अपने मित्रों, बन्धुओं, देशवासियोंके लिये अथवा सामूहिक रूपसे मित्र, बन्धु, जाति, राष्ट्र तथा धर्मके लिये सर्वस्व त्याग करनेको तैयार रहते हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं।

१. जो अपना हित करते हुए दूसरोंका हित करते हैं,

२. जो अपना अहित करके भी दूसरेका हित करते हैं, और

३. केवल परहित ही करते हैं, अपने हितका चिन्तन ही नहीं करते।

ऐसे ही लोग समाजमें आदर्शकी प्रतिष्ठा करते हैं। सभी महापुरुष इसी श्रेणीके होते हैं। इनमेंसे जो अपना अहित करके भी दूसरेका हित करें वे सर्वश्रेष्ठ हैं जैसे एक अँगरेज़ी नाटकमें एक महिलाके पुत्रको किसी दुष्टने अनजानमें गोली मार दी और फिर वह पुलिसके हाथसे बचनेके लिये उसी महिलाके घरमें शरण लेने चला गया। उसे यह ज्ञात नहीं था कि यह मृतककी ही माता है। उस महिलाने उस हत्यारेको अपने घरमें छिपा लिया। पुलिस-

वाले ढूँढ़ते हुए वहाँ जा पहुँचे तो उसे ज्ञात हुआ कि मेरे ही पुत्रकी हत्या हुई है और मैंने ही उस हत्यारेको शरण दी है। किन्तु उसने अपने मनोवेगको रोककर, अपनी व्यथा छिपाकर उस हत्यारेके प्राणकी रक्षा कर ली। यद्यपि नैतिक दृष्टिसे हत्यारेकी रक्षा करना उचित नहीं है किन्तु यहाँपर उस महिलाने जान-बूझकर स्वयं अपने पुत्रके हत्याकारीकी रक्षा की अर्थात् उसने अपने पुत्रके निधनको भूलकर अपने अहित करनेवाले उस हत्यारेको करुणा-वश बचा लिया। यही उसके चरित्रकी महत्ता है।

दूसरी श्रेणीके लोकसङ्ग्रही वे हैं, जो केवल दूसरोंका हित करते हैं। ऐसे लोग प्राय: वे होते हैं जिनके आगे-पीछे कोई नहीं होता। वे सभीको अपना बन्धु मान लेते हैं। परहित ही उनकी वृत्ति हो जाती है। किन्तु सबको अपना बन्धु माननेके कारण इनका परहित भी एक प्रकारसे स्वहित या स्वबन्धु-हित हो जाता है। तीसरी श्रेणीके लोकसङ्ग्रही वे हैं जो अपना हित करते हुए दूसरेका हित करते रहते हैं किन्तु जब अपने हितमें बाधा पड़ती है तो वे पर-हित छोड़ देते हैं और स्वहित-चिन्तन करते हैं।

साहसी लोक भी दो प्रकारके होते हैं—१. सुसाहसी और २. दुस्साहसी। सुसाहसी वे हैं जो दूसरेके हितके लिये अपने प्राण सङ्कटमें डाल देते हैं और दुस्साहसी वे हैं जो अपनी प्रतिष्ठा, यश या स्वार्थ-साधनके लिये अपने सामर्थ्यसे बाहर दु:साध्य काम कर बैठते हैं। हिमालयपर चढ़नेवाले, उत्तर-दक्षिण-ध्रुवकी खोज करनेवाले, समुद्र-तटसे मोती बटोरनेवाले नये-नये भयानक अन्वेषण करनेवाले, वेग या गतिका परिमाण स्थिर करनेवाले, विमान-चालक या मोटर-चालक सब दु:साहसी होते हैं और जलते हुए घरमेंसे बच्चोंको निकाल लाना, डूबते हुएको बचानेके लिये कूद पड़ना आदि सुसाहसके कार्य हैं।

### अनुरक्त स्वार्थी

अनुरक्त स्वार्थियोंमेंसे विषयी स्वार्थी दो प्रकारके होते हैं—१. शान्त, २. प्रचण्ड। शान्त वे होते हैं जो विषयी होते हुए भी उसके लिये प्रयत्नशील नहीं होते। उन्हें विलासकी सामग्री मिल जाय तो उसे उपभोग करनेमें वे किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं करते किन्तु यदि न मिले तो उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी नहीं करते। प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न करके विलासकी

सामग्री एकत्र करते हैं और उनका उपभोग करते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विलासकी सामग्री केवल दूसरोंपर रंग जमानेके लिये, अपनी महत्ताकी धाक बैठानेके लिये अथवा केवल प्रदर्शन तथा प्रचारके लिये एकत्र करते हैं। ये प्रशंसाके भूखे रहते हैं और हृदयके बड़े धनी होते हैं। किसीके गुणपर रीझकर उसे बहुत कुछ दे डालना, केवल अपनी बात रखनेके लिये सर्वस्व लुटा डालना, अपने मित्र या शरणागतके लिये सब कुछ करनेको उद्यत रहना इनका स्वभाव होता है। ये लोग अत्यन्त उदार, निष्कपट, बातके धनी और स्पष्टवादी होते हैं। इनपर भरोसा किया जा सकता है और ऐसे लोग मित्रताका निर्वाह भी करते हैं। ये लोग केवल यश-लोलुप होते हैं। इनकी प्रशंसा करके कोई भी इनसे जो चाहे सो ले सकता है।

दूसरे प्रकारके प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न करके विलास-सामग्री एकत्र करते हैं और स्वयं अकेले उसका उपभोग करना चाहते हैं। दूसरेका वैभव देखकर उन्हें ईर्ष्या होती है। वे अत्यन्त अविवेकके साथ विषयोंमें लिप्त रहते हैं, किसीका उपदेश नहीं सुनते और प्रायः इस वृत्तिके होते हैं कि 'मेरा धन है मैं उपभोग करता हूँ, तुम बीचमें क्या बोलते हो।' इन्हें चाटुकारिता अच्छी नहीं लगती। यश भी इनको प्रिय नहीं होता। ये एकान्तमें अविज्ञप्त रूपसे वासनाकी साधना अच्छी समझते हैं। ऐसे लोग किसीके मित्र नहीं होते और यदि मित्र बने भी तो ये मित्रताका निर्वाह नहीं कर सकते। ये लोग बड़े अविश्वस्त होते हैं। किसी भी बातमें इनका विश्वास नहीं किया जा सकता, इनपर अवलम्बित नहीं रहा जा सकता। ये अपने स्वार्थके लिये बड़ेसे बड़ा पाप करने या करानेमें सङ्कोच नहीं कर सकते और बड़ेसे बड़े सम्बन्धी और मित्रको मार्गसे हटानेके लिये क्षुद्रतम उपायों और साधनोंका आश्रय ले सकते हैं। अत्याचार करने, वचन-भंग करने और असत्य बोलनेमें उन्हें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं होती और अपने गुरुजन, परिजनके यहाँसे भी भोगकी सामग्री प्राप्त करनेमें वे तनिक भी हिचकिचाते नहीं। ये समाजके सबसे बड़े कलंक और शत्रु होते हैं।

### अनुरक्त लोभी

अनुरक्त लोभीका सबसे बड़ा दोष यही है कि वह धन प्राप्त करनेके किसी भी उपायको अवैध और अनैतिक नहीं मानता। इस द्रव्य-प्राप्तिके

लिये वह अपना घर-कुटुम्ब छोड़कर विदेशमें रह सकता है, अपने कुटुम्बियोंका निधन देख सकता है, अपमान भी कर सकता है और किसी भी प्रकारके दुराचरणके लिये तैयार हो सकता है, यहाँतक कि अपनी पत्नी और कन्या भी उसको दे सकता है, जिससे कुछ द्रव्य-प्राप्तिकी सम्भावना हो। इसका सिद्धान्त है 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।' वह अपने ऊपर व्यय नहीं करता। उसे धनसङ्ग्रहमें ही सुख मिलता है। द्रव्य देखने और गिननेमें उसे आनन्द मिलता है। ऐसा कृपण और लोभी पात्र या तो हास्य रसका आलम्बन हो सकता है अथवा प्रतिनायकके रूपमें कथामें लाया जा सकता है। इसके हृदयमें दया और करुणा नहीं होती। ये भी समाजके लिये निरर्थक होते हैं।

### अनुरक्त प्रतिस्पर्धी

अनुरक्त प्रतिस्पर्धी वे हैं जो दूसरेकी उन्नति देखकर स्वयं भी उसी प्रकार उन्नति करनेकी चेष्टा करते हैं। यह प्रतिस्पर्धाकी भावना तबतक स्वस्थ कहलाती है जबतक उसमें दूसरेका अहित करनेकी भावना न हो। वे प्रतिस्पर्धी बड़े परिश्रमी, प्रयत्नशील, विनम्र, अध्यवसायी और आज्ञाकारी होते हैं। अपनी प्रतिस्पर्धा पूरी करनेके लिये ये बड़ेसे बड़ा कष्ट उठानेको तैयार रहते हैं और प्रतिस्पर्धा पूरी हो जानेपर बिना आत्म-विज्ञापन किए आत्म-सन्तोषकी साँस लेते हैं। उनकी मानसिक तृप्ति तभी हो जाती है जब वे अपनेको अपने प्रतिस्पर्धीके समान समझ लेते हैं। प्रायः प्रतिस्पर्धाकी भावना विद्वानों, कलाकारों और शिल्पज्ञोंमें ही होती है। 'मैं अमुक पण्डितके समान शास्त्रार्थ करने लगूँ, अमुक सङ्गीतज्ञके समान गाने लगूँ और अमुक शिल्पीके समान हाथीदाँतकी मूर्तियाँ बनाने लगूँ' बस इतनी ही उनकी लालसा होती है और विचित्र बात तो यह है कि कभी-कभी ये लोग अपने प्रतिस्पर्धीके पास पहुँचकर उससे गुण ग्रहण करते हैं और अपनी प्रतिस्पर्धाकी भावना तृप्त करते हैं। इनकी वृत्ति शुद्ध सात्त्विक होती है। केवल स्पर्धाका थोड़ा-सा रजोगुण उसे स्पर्श करता रहता है और उसीके कारण वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यह प्रतिस्पर्धाकी भावना प्रायः समान-कुल-शील-व्यसनवालोंमें होती है और आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होनेके कारण इसकी उत्पत्ति होती है। 'हम और ये एक ही कुलके, एक ही

अवस्थाके हैं, एक ही सामर्थ्यके हैं फिर भी इसकी इतनी प्रशंसा क्यों होती है? मैं भी ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरा भी इसीके समान यश या नाम हो।' यही भावना प्रतिस्पर्धीको प्रोत्साहित करती रहती है।

## अनुरक्त ईर्ष्यालु

प्रतिस्पर्धीका ठीक उलटा होता है अनुरक्त ईर्ष्यालु। वह दूसरेकी उन्नति देखकर कुढ़ता है और 'किसी प्रकार इसको समाज या जनवर्गमें नीचा दिखाया जाय', इसके लिये वह प्रत्यत्न करता रहता है। ईर्ष्यालु व्यक्तिमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है। उसे अपनी असमर्थताके कारण यह निश्चय हो जाता है कि मैं अपने प्रतिस्पर्धीके समान विद्या, धन यश और लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता। उस समय वह अनेक अवैध तथा अनैतिक उपायोंसे अपने प्रतिस्पर्धीको हानि पहुँचानेमें लग जाता है। वह प्रतिस्पर्धीकी निन्दा करता है और अनायास गुणोंको भी दोष-रूपमें दिखानेका प्रयत्न करता है। ये ईर्ष्यालु तीन प्रकारके होते हैं—१. पर-निन्दक, २. पिशुनी (मन ही मन जलनेवाले) और ३. अपनी हानि करके भी दूसरोंकी हानि करनेवाले। ये सब भी दो-दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जो किसी विशिष्ट व्यक्तिसे ही ईर्ष्या करते हैं और दूसरे वे जो समान रूपसे सभी उन्नत पुरुषोंसे जलते हैं। व्यक्तिगत ईर्ष्या करनेवाले लोग सर्वप्रथम अपने प्रतिस्पर्धीके चरित्रमें दोष लगाते हैं, फिर उसके यशके कारणमें दोषका आरोप करते हैं, जैसे 'अमुक कविने अमुककी पुस्तक चुराकर प्रकाशित करा दी है। उसको क्या आता जाता है।' जिन क्षेत्रोंसे प्रतिस्पर्धीको यश मिलता है उन क्षेत्रोंमें ये अपनी ओरसे द्रव्य देकर या सहायता पहुँचाकर दूसरे प्रतिस्पर्धी खड़े कर देते हैं। ये सब असद्वृत्तिवाले तथा नीच प्रकृतिके होते हैं। कुछ ऐसे हैं जो मन ही मन तो जलते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे न तो विरोध करते हैं न तो उनमें विरोध करनेका साहस ही होता है। किन्तु नीच प्रकृतिवाले ईर्ष्यालु अपने प्रतिस्पर्धीमें दोषका आरोप करनेके लिये वैसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जैसी एक ईर्ष्यालु व्यक्तिने अपने एक सज्जन विपक्षीको चरित्रहीन सिद्ध करनेके लिये उत्पन्न कर दी थी जिसमें उस व्यक्तिने एक वेश्याको पुरस्कार देकर अपने सज्जन विपक्षीके पास भेज दिया और फिर उसे लांछित तथा अपमानित करनेके लिये लोगोंको एकत्र करके यह लोकापवाद खड़ा कर दिया कि इसका

वेश्यासे सम्बन्ध है। यह ईर्ष्या भी प्राय: समान कुल-शील व्यसनवालोंमें होती है। इस प्रकारकी ईर्ष्या दायाद सम्बन्धवालोंमें प्राय: दृष्टिगोचर होती है और जो सम्पन्न या विशेष गुणयुक्त सम्बन्धी होते हैं वे अपने किसी न किसी आचरणसे उस ईर्ष्याको भड़काते रहते। विवाह आदिमें बहुत धूमधाम दिखाना, सामाजिक कार्योंमें अधिक भाग लेना, राजकीय पद ग्रहण करना। एकसा व्यापार-व्यवसाय करनेवालोंमें भी इसी प्रकारकी ईर्ष्या होती है। गवैए, चित्रकार, एक ही वस्तुका व्यापार करनेवाले व्यापारी, एक ही विषय पढ़ानेवाले अध्यापक आदि इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। एक क्षेत्रमें काम करनेवाले लोग भी प्राय: इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं जैसे राजनीतिक नेता अथवा एक ही कार्यालयमें काम करनेवाले वे व्यक्ति, जिनकी आर्थिक या सामाजिक उन्नति परस्पर सङ्घर्षपर ही अवलम्बित हो। तात्पर्य यह है कि ईर्ष्याके लिये समान वृत्ति होनी चाहिए, चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो, पारिवारिक हो, आर्थिक हो या व्यावसायिक हो।

### अनुरक्त अभिमानी

अनुरक्त अभिमानी पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—१. जो अपने सामने किसीको कुछ नहीं समझते। ये आत्म-सर्वस्वी प्राय: ऐसे ही लोग होते हैं जिनमें शरीर, धन या सैन्यका अधिक बल हो। यदि इन्हें तपस्या या देव-प्रसाद-द्वारा कोई दैवी शक्ति प्राप्त भी हो जाय तो इनका अभिमान बहुमुखी हो जाता है और ये अपनेको सर्वशक्तिमान् तथा सर्व-नियन्ता समझने लगते हैं। इन्हींमें कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें किसी एक ही गुणका अर्थात् रूपबल, धनबल, शरीरबल, जातिबल, जन-बल, विद्याबल अथवा इसी प्रकारका कोई एक बल होता है। इनकी प्रकृति ऐसी होती है कि ये कभी किसी बातमें न तो दूसरेसे सम्मति लेते हैं न दूसरेकी सम्मति मिलनेपर उसका आदर करते हैं। उलटे, सम्मति देनेपर उसका प्रबल विरोध और अपमान करते हैं। अपने किसी भी विरोधीको किसी प्रकारसे सतानेमें इन्हें सङ्कोच नहीं होता। ये अपने पक्षके लोगोंका जमकर समर्थन करते हैं और उनका सब प्रकारसे पोषण करते हैं। ये प्राय: वाग्विवादी होते हैं, किसी भी प्रकार दूसरेसे परास्त नहीं होना चाहते,

प्राय: अपने मुखसे अपने पराक्रमका वर्णन करते हैं और यह चाहते हैं कि दूसरे भी हमारी बातका समर्थन करें। ये लोग दूसरोंसे ईर्ष्या भी करते हैं, दूसरेकी उन्नति देखकर चिढ़ते हैं, सदा अपने दोष छिपानेका प्रयत्न करते हैं और यदि किसी दूसरेको अपने दोष ज्ञात हो गए हों तो उनका विनाश करने, साम, दाम, दण्ड, भेद-नीतिसे उनका मुँह बन्द करने या उनको अपने पक्षमें लानेका प्रयत्न करते हैं। ये बड़े हठी और आनके पक्के होते हैं। सङ्कटमें प्राण पड़ जानेपर भी किसीकी अधीनता नहीं स्वीकार करते, न किसीके आगे दैन्य दिखाते और न किसीके आगे हाथ फैलाते। प्राय: ऐसे लोग अपनी शक्तिके कारण लोक-रुचि तथा लोकमतके विरुद्ध खड़े रहनेमें ही अपना गौरव समझते हैं। ऐसे लोगोंका अन्त प्राय: बड़ा करुण होता है और उनका पतन भी सहसा अकस्मात् हो जाता है।

दूसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी वे हैं, जो भ्रमवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, जिनके मनमें यह बात समा गई है कि संसारमें कोई भी मुझसे अधिक चतुर तथा बुद्धिमान नहीं है। इन्हें किसीका कोई गुण फूटी आँखों नहीं सुहाता। ये आत्म-विस्मृत रहते हैं। दूसरोंका अपमान करने तथा दूसरोंका दोष दिखाने रहनेमें ही उनका सब समय जाता रहता है। ये प्राय: लोकद्वारा उपेक्षित होते हैं और इसीलिये ये लोकसे भी रुष्ट रहते हैं। ये किसीसे सन्तुष्ट नहीं रहते और सदा ऐसे चिन्तित और उदास-मुद्रामें रहते हैं मानो विश्व-भरकी सब आपत्तियाँ दूर करनेका भार इन्हींपर आ पड़ा हो। प्रौढावस्थामें ये चिड़चिड़े हो जाते हैं और अपने आसपास रहने-वाले लोगोंपर तिन्नाया करते हैं। दिन-रात सब प्रकारके लोगोंकी आलोचना करना ही उनका धन्धा हो जाता है। ऐसे लोग बालकोंके चिढ़ानेकी अच्छी सामग्री बन जाते हैं। हास्य रसके लिये इनका सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे लोग न किसीका हित कर सकते हैं, न अहित ही।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी वे हैं जो केवल आत्म-प्रशंसा करते हैं। ये दूसरोंकी प्रशंसा भी सुन लेते हैं और विरोध नहीं करते किन्तु सदा चाहते यह रहते हैं कि 'सब लोग दूसरोंकी प्रशंसाके साथ मेरी भी प्रशंसा करें। अन्य कवियोंके साथ, लेखकोंके साथ, योद्धाओंके साथ, या सुन्दर पुरुषोंके साथ मेरी भी गिनती हो।' इस इच्छाकी पूर्तिके लिये

ये धन भी व्यय कर सकते हैं और परिश्रम भी कर सकते हैं। वास्तवमें ये उस प्रकारके अभिमानी नहीं होते जैसे द्वितीय श्रेणीके। ये यद्यपि दूसरोंको बुरा नहीं कहते किन्तु अपनेको किसीसे कम भी नहीं मानते। इन्हींमें एक श्रेणी मूर्ख अभिमानियोंकी होती है जो बिना किसी गुणके ही पैसेके भरोसे सस्तेमें ही प्रशंसा पाना चाहते हैं। ऐसे लोगोंकी व्याख्या हम अलग करेंगे।

एक चौथे प्रकारके भी अनुरक्त अभिमानी होते हैं जो अपनी कीर्त्ति यश, विद्या और कुल आदिके विरुद्ध कोई अपमानजनक बात न सुन सकते हैं, न सह सकते हैं। ये बड़े उत्कृष्ट कोटिके अभिमानी होते हैं। समाज तथा जातिके नेतृत्वके लिये ऐसे लोग अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं। इनके भी दो भेद होते हैं। एक तो वे जो बिना किसी गुणके ही अपने आत्म-सम्मानके पीछे पागल रहते हैं ('मैं वशिष्ठके वंशका हूँ, मैं रामके वंशका हूँ, हमारे दादा पहलवान थे' आदि कहनेवाले लोग)। दूसरे वास्तविक आत्मसम्मानी या आत्माभिमानी वे होते हैं जो मन, वचन और कर्मसे शुद्ध होते हैं, जिनमें चरित्रबल और आत्मबल होता है और जो अपनी आत्माभिमानिताके सत्यका पक्ष लेकर कारण बड़ीसे बड़ी शक्तिसे भी लोहा लेनेमें नहीं हिचकते। ये लोग निर्भीक, सच्चरित्र, लोकप्रिय तथा आत्मत्यागी होते हैं और दूसरेकी विपत्ति दूर करनेके लिये सर्वस्व-त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने परिवारसे कम सम्बन्ध रखते हैं और प्रायः ऐसी समस्याओंको लेकर खड़े होते हैं जो सब ओरसे उपेक्षित की जा चुकी हों। वास्तवमें ये आत्माभिमानी प्रकृतितः लोकसङ्ग्रही ही होते हैं किन्तु लोगसङ्ग्रहीमें जो विनय और सुशीलता होती है उसका इनमें अभाव होता है। ये लोग किसी भी प्रकारके शीलोपचारका विचार किए बिना कुछ भी कह सकते हैं और इसीलिये ये कुछ उद्धत और मुँहफट होते हैं। ऐसे लोग जहाँ एक ओर समाजका कल्याण करते हैं वहाँ कुछ लोगोंसे टण्टा भी मोल ले लेते हैं। सब प्रकारके साहित्यके लिये ऐसे पात्र बहुत उपयुक्त होते हैं।

## अनुरक्त क्रोधी

अनुरक्त क्रोधी भी तीन प्रकारके होते हैं— १. अकारण-क्रोधी, २. आवेशक्रोधी और ३. चिड़चिड़े। अकारण क्रोधी वे होते हैं, जो क्रोधके लिये अवसर ढूँढ़ा करते हैं। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि वे अपने

या दूसरोंके ऐसे दोषोंकी तालिका बना लेते हैं जिनपर क्रोध करनेके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही न हो। इस श्रेणीमें वे लोग आते हैं जो अपनी पुस्तक तनिक-सी हटाकर रखने, तकिया टेढ़ा कर देने, गिलास उलटकर न रखने, यहाँतक कि कोई एक बार पानी पीकर पुनः पानी माँगे तो पानी देनेमें महाभारत खड़ा कर दे सकते हैं। 'मेरी खाट यहाँ क्यों बिछाई?', 'मेरी वस्तु क्यों छुई?', 'मेरे प्रकोष्ठमें क्यों घुसे?' यहाँतक कि ऐसे भी अकारण क्रोधी हुए हैं जिन्होंने सामने किसीको मूँछ मरोड़ते देखकर उसका सिर उतार लिया। ऐसे अकारण क्रोधी लोग नाटकीय या औपन्यासिक कथा-प्रवाहमें बाधा उपस्थित करनेके लिये बहुत उपयुक्त होते हैं। दुर्वासा ऋषिकी गणना इसी कोटिमें की जाती है।

आवेग क्रोधी वे होते हैं जो अपने किसी इष्ट कार्य या इष्ट वस्तुके प्रति दूसरोंके द्वारा पहुँचाए जानेवाले व्याघातको सहन नहीं कर सकते। यदि किसीने उनकी पुस्तक फाड़ दी तो वे आवेग या क्रोधमें आकर उसकी आवश्यकतासे अधिक मरम्मत कर देंगे। यदि किसीने उनके पुत्रको पीट दिया तो वह भी इनके आवेगमय क्रोधका भाजन बन सकता है। ऐसे लोग प्रायः कुछ निश्चित वस्तुओं या व्यक्तियोंके प्रति आसक्त रहते हैं और जहाँ उस व्यक्ति या वस्तुको किसीने छेड़ा कि ये आग-बबूला हुए। ये आवेग क्रोधी जब क्रोधमें आते हैं तो काँपने लगते हैं, चिल्ला-चिल्लाकर बकने लगते हैं। इनका मुँह लाल हो जाता है, किन्तु ये सब गरजनेवाले होते हैं। केवल गाली दे सकते और चिल्ला सकते हैं। इनके साथ विचित्र बात यह होती है कि यदि इनका कोई प्रतिरोध कर दे तो ठण्डे हो जाते हैं। ये तभीतक सिंह बने रहते हैं जबतक कोई बोलता नहीं है, जहाँ कोई बोला कि ये भीगी बिल्ली बनकर घरमें घुस जाते हैं।

चिड़चिड़े स्वभाववाले वे होते हैं, जो सबसे असन्तुष्ट रहते हैं और किसीका कुछ बिगाड़नेकी क्षमता न होनेके कारण मन-ही-मन कुड़मुड़ाया करते हैं। ये अपना चिड़चिड़ापन तथा असन्तोष निरन्तर व्यक्त करते रहते हैं। प्रायः दुर्बल, रोगी और वृद्ध ही चिड़चिड़े होते हैं। किन्तु कभी-कभी घर या बाहरके दुष्ट बच्चे भी किसी दुर्बल, विकलाङ्ग, हीनाङ्ग, रोगी या वृद्धको चिड़चिड़ा बना सकते हैं। चिड़चिड़ा होना अभ्यासपर अवलम्बित है। यदि ऐसे लोगोंको अनुकूल वातावरण दिया जाय तो इनका चिड़चिड़ापन दूर

किया जा सकता है। श्वसुर, दादा, नाना, बड़े-बूढ़े, काने, लँगड़े, मोटे, भोजनभट्ट आदि इसी श्रेणीके होते हैं और तनिक-सा भी विरोध होनेपर उन्हें चिड़चिड़ा बनते देर नहीं लगती।

जो लोग युद्धमें शत्रुके प्रति या अन्यायीके प्रति क्रोध दिखाते हैं वे सात्त्विक क्रोधी होते हैं। उनकी गणना लोक-सङ्ग्रहियोंमें होती है। अतः उन्हें क्रोधी समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए।

### अनुरक्त मूढ

अनुरक्त मूढ तीन प्रकारके होते हैं— १. जो सदा भोले-भाले रहते हैं, जिनमें तनिक भी व्यवहार-कुशलता नहीं होती, जिन्हें कोई भी मूर्ख बनाकर उनसे रुपया-पैसा ऐंठकर अपना काम निकाल सकता है। ये स्वभावतः बड़े सज्जन होते हैं और किसीका अहित नहीं चाहते। सन्तोष ही इनका धन होता है। जो मिल जाय, जितना मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं। इनमें जीवनकी कोई भी आकांक्षा नहीं रहती और ये संसारकी घटनाओंसे तनिक भी सम्पर्क नहीं रखते। अपने छोटेसे संसारमें कूपमण्डूक बने अपनेमें ही परिमित रहते हैं। ऐसे लोग प्रायः संसारकी प्रवञ्चनाओंके आखेट बनते हैं और सदा लोकोपेक्षित जीवन व्यतीत करते हैं। दुष्ट और धूर्त लोग ऐसे लोगोंके सीधेपनका अनुचित लाभ उठाते हैं और कभी-कभी उन्हें विपत्तिमें भी डाल देते हैं। अरस्तूके अनुसार 'त्रासद' नाटकके लिये ये अधिक उपयुक्त होते हैं।

दूसरे अनुरक्त मूढ वे हैं जिन्हें धर्मभीरु कहा जा सकता है। ऐसे लोग अन्धविश्वासी, देवी-देवताओंको मनौती माननेवाले, किसीको हानि न पहुँचानेवाले और सच्चे होते हैं। इनके मनमें स्वर्ग और नरकका भय बना रहता है। ये जान-बूझकर ऐसा कोई भी काम नहीं करते जो उनकी धार्मिक रूढिके विपरीत हो। ऐसे लोगोंको ढोंगी और पाखण्डी लोग निरन्तर ठगते रहते हैं और ये जान-बूझकर भी ठगे जानेमें बुरा नहीं मानते। इनका उद्देश्य होता है 'ठगा जाना अच्छा है, ठगना अच्छा नहीं।' ऐसे लोग दुष्टों, प्रवञ्चकों और पाखण्डियोंके हाथमें पड़कर प्रायः कष्ट पाते रहते हैं किन्तु फिर भी उनमें अपनी आस्था नहीं छोड़ते।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त मूढ वे हैं जो बुद्धि-हीनताके कारण अथवा

मानसिक विकारके कारण लोक-निन्दा या लोकापमान सहन करते रहते हैं। ये लोग सदा दूसरोंके सङ्केतपर काम करते हैं और सबकी झिड़की सहते हैं। आत्मसम्मान तो इनके पास होता ही नहीं। इतनी आत्महीनता इनके मनमें समा जाती है कि ये स्वयं अपनेको मूर्ख, निरर्थक और अकुशल समझते रहते हैं। इन्हें जैसा बता दिया जाय, जैसा समझा दिया जाय उसमें भी व्यक्तिक्रम कर देते हैं, जैसे किसीको दो पत्र देकर कहा जाय कि 'एक राजाको देना, दूसरा राजकुमारको देना' तो वह उनको उलटकर राजाका पत्र राजकुमारको और राजकुमारका पत्र राजाको दे देता है जिसके फलस्वरूप बड़ी विकट समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं।

अनुरक्त मूढ़ोंमें एक श्रेणी उन लोगोंकी भी है, जिनका विवरण हम पीछे अभिमानीके प्रकरणमें दे आए हैं। ये प्राय: वैभवसे सबको प्रभावित करना चाहते हैं और उसके लिये कुछ ऐसे प्रशंसक, चाटुकार तथा विज्ञापक लोगोंको आश्रय देते रहते हैं जो इन लोगोंके प्रचारमें निरन्तर योग देते रहते हैं। ऐसे लोग मनमें तो बड़े अभिमानी होते हैं किन्तु उस अभिमानका प्रदर्शन बड़े दैन्यके साथ करते हैं, जैसे सुन्दर घोड़ा-गाड़ी या मोटर मोल लेकर उसे दूसरोंके उपयोगके लिये सदा देनेको तैयार रहना और यह कहना कि 'यह सब आपका ही है।' ऐसे लोग वास्तविक मूढ नहीं होते वरन् मूढताका रूपक करते हैं और मनसे लोकसेवाकी भावना न रखते हुए भी केवल अपने ऐश्वर्य-प्रदर्शनके लिये, लोकप्रियता सिद्ध करनेके लिये या आत्मप्रचारके लिये लोकसेवक बन जाते हैं। समाजके धूर्त्त और चतुर लोग इनसे बहुत लाभ उठाते हैं और अन्तमें ऐसे लोगोंका भण्डाफोड़ भी कर देते हैं। ये लोग प्राय: बड़े मिष्टभाषी, विनयी, सबकी सेवा करनेको तत्पर और उदारताका ढोंग करनेवाले होते हैं। ये किसीकी बातको बुरा नहीं मानते और किसी बातपर अपनी सम्मति नहीं देते। ऐसे ही लोग सबको सन्तुष्ट करनेके फेरमें पड़कर सदा ठकुरसुहाती कहते रहते हैं। इनपर किसी प्रकारका विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका कोई पक्ष नहीं होता ; जिसका प्रबल पक्ष समझते हैं उसीका पक्ष ले लेते हैं। नाटकीय द्वन्द्व और कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये ऐसे व्यक्ति बहुत कामके होते हैं क्योंकि ऐसे लोगोंके प्रतिकूल आचरणसे औपन्यासिक तथा नाटकीय कथामें सुन्दर प्रतिघात और द्वन्द्व उत्पन्न किए जा सकते हैं।

### महत्त्वाकांक्षी

महत्त्वाकांक्षी पुरुष वे होते हैं जो साधारण मनुष्यकी क्रियाओं या इच्छाओंसे आगे बढ़ना चाहते हैं। ये भी तीन प्रकारके होते हैं— १. स्रष्टा महत्त्वाकांक्षी, २. कर्त्ता महत्त्वाकांक्षी और ३. भोक्ता महत्त्वाकांक्षी। स्रष्टा महत्त्वाकांक्षी वे होते हैं जो ज्ञान-विज्ञानकी नई-नई वस्तुओं या प्रयोगोंका सर्जन, ज्योतिष, साहित्य, आयुर्वेद अथवा अन्य किसी शास्त्रमें नया सिद्धान्त निकालना और नई रचना करना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। इन्हींके साथ साथ वे भी स्रष्टा महत्त्वाकांक्षी हैं जो नये अस्त्र-शस्त्र, नई औषधि और नई-नई प्रयोगकी वस्तुओंका आविष्कार करते हैं। ये स्रष्टा महत्त्वाकांक्षी मानव-जीवनके सहायक भी होते हैं और विनाशक भी। जो मानवजीवनके लिये स्वस्थ साहित्य, स्वास्थ्यकर या हितकर वस्तुओंका आविष्कार करता है वह सहायक स्रष्टा कहलाता है और जो अहितकर साहित्य अथवा विनाशकारी वस्तुओंका आविष्कार करता है वह विनाशक कहा जाता है। इनमें कुछ स्रष्टा तो ऐसे हैं जो जान-बूझकर हितकर या अहितकर साहित्य या पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो स्वयं तो अहित नहीं करना चाहते किन्तु प्रयोगकर्त्ताओंके हाथमें पड़कर उनका आविष्कार विनाशकारी हो जाता है।

कर्त्ता महत्त्वाकांक्षी वे होते हैं जो असाधारण आचरण या क्रिया करते रहते हैं। लोकहितके लिये पत्नीका परित्याग, राज्यका परित्याग, शरीरका त्याग अथवा ऐसे स्थानपर पहुँचना जहाँ कोई न पहुँचा हो, ऐसी क्रिया करना जो किसीने न की हो आदि सब काम कर्त्ता महत्त्वाकांक्षियोंके होते हैं। दिग्विजयी राजा लोग, दुर्गम पर्वतोंपर चढ़नेवाले साहसी, अकेले बहुतसे लोगोंसे युद्ध करनेवाले शूर और अपने कौशलसे सबको परास्त करनेवाले कूटनीतिज्ञ आदि सब इसी श्रेणीमें आते हैं।

भोक्ता महत्त्वाकांक्षी वे हैं जो निरन्तर यह चाहते रहते हैं कि 'सुन्दरतम स्त्री, सुन्दरतम दृश्य, मधुरतम वाणी या सङ्गीत, विविध परम स्वादिष्ट भोजन, परम तृप्तिकर सुगन्धित द्रव्य, सर्वश्रेष्ठ रत्न और सर्वाधिक भव्य भवन आदि संसारमें जितना श्रेष्ठतम भोग्य है वह सब मैं निरन्तर पाता रहूँ' और वे उनकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्न भी करते रहते हैं।

ये तीनों प्रकारके महत्त्वाकांक्षी असि-धारा-व्रती होते हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षा तृप्त करके लिये इन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, बड़ी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं और फिर भी उन्हें पूरी सफलता प्राय: नहीं प्राप्त होती। ये सब दो-दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे, जिन्हें राजकीय या व्यक्तिगत सहायता प्राप्त हो जाती है। इनकी अड़चनें भी कम होती हैं और असुविधाएँ भी अपेक्षाकृत कम होती हैं। दूसरे वे, जो स्वयं नि:सहाय होकर अपना काम करते रहते हैं। बहुतसे भोक्ता महत्त्वाकांक्षी अपने पैतृक धन या कहीं औरसे प्राप्त किए जानेवाले धनपर आँख गड़ाकर अपनी महत्त्वाकांक्षा तृप्त करनेकी बात सोचते हैं तथा निरन्तर चाहते रहते हैं कि 'हमारे बड़े समाप्त हों तो हमें अपने मनकी आकांक्षा तृप्त करनेका अवसर मिले। ये अधम कोटिके महत्त्वाकांक्षी होते हैं। मध्यम कोटिके वे हैं, जो दूसरोंकी सहायतापर अवलम्बित रहते हैं और उत्कृष्ट कोटिके वे होते हैं जो अपने बलपर चुपचाप कष्ट उठाकर परिश्रमके साथ महत्त्व प्राप्त करते हैं।

### दुहरे चरित्रके लोग

यों तो प्राय: सब प्रकारके और सब श्रेणीके लोग दुहरे चरित्रके होते हैं अर्थात् उनका घरेलू आचरण कुछ दूसरा होता है तथा बाहर दिखानेका कुछ और, यहाँतक कि एक ही व्यक्ति बाहर समाजमें मद्यपानका विरोध करता है, स्त्रीका सम्मान करनेकी दुहाई देता है, दया और उदारताके गुण बखानता है वही घरके भीतर मदिरा पीता है, स्त्रीको पीटता है और दूसरोंका धन अपहरण करनेका नित्य प्रयत्न करता है। इस प्रकारकी विविधता अधिकत: समाज, धर्म और राष्ट्रकी सेवा करनेवाले व्यक्तियोंमें होती है। इसी द्वैधका अनुभव करते हुए कहा गया है—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरञ्च शीतलं भवति।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्त्तजन:।

[ कुलटा स्त्री बहुत लज्जा दिखाती है, खारा पानी बहुत ठण्ढा होता है, पाषण्डी बहुत ज्ञान झाड़ता है और बहुत चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाला धूर्त्त होता है। ]

इन सब प्रकारके दुहरे आचरणवाले लोग दम्भीकी श्रेणीमें ही आते हैं। यह दम्भ दो प्रकार होता है—एक तो हमारे सामाजिक जीवनके

लिये अपरिहार्य-सा हो गया है, जिसमें हम अपने इष्ट मित्र, बन्धु-बान्धव, गुरुजन आदिमेंसे किसीके प्रति श्रद्धा न रखते हुए भी शिष्टाचारवश, भयवश या परिस्थितिवश श्रद्धा दिखानेको विवश होते हैं। इस प्रकारका दम्भ वास्तविक दम्भ नहीं है, वह लोकाचारका अङ्ग बनकर शुद्ध हो गया है। इससे किसीकी हानि तो नहीं होती पर लाभ भी नहीं होता। किन्तु दूसरे प्रकारका दम्भ कुटिलपनके साथ होता है। उसमें दम्भीकी वृत्ति यह रहती है कि दूसरेको धोखा देकर या ठगकर ही अपना किसी न किसी प्रकारसे स्वार्थ साधें। ऐसे व्यक्ति बड़े स्फूर्तिमान, चतुर, वाग्मी, सदा सहायता करनेको तत्पर, सेवा-भावसे युक्त, दैन्य-मुद्रा धारण किए हुए, बहुत उपदेश देनेवाले और ज्ञान बघारनेवाले होते हैं। उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और चञ्चल होती है, वे कभी किसी कामको 'नहीं' नहीं करते। उन्हींके लिये कहा गया है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।

[ जो कहते कुछ हैं, सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं, वे दुरात्मा होते हैं। ]

इस चरित्रवाले लोग कथा-व्यापारमें प्रतिनायकके सहायक रक्खे जा सकते हैं। वर्त्तमान सामाजिक नाटकोंमें सज्जन नायकोंकी गतिमें बाधा देनेके लिये ऐसे नायकोंकी योजना प्रायः की जाती है क्योंकि अपने दुहरे चरित्रके कारण ये लोग रहस्यका उद्‌घाटन होनेतक नाटकीय कथाका कुतूहल बनाए रख सकते हैं सभी समाजों तथा सब वर्गोंमें इस प्रकारके दुहरे आचरणवाले लोग निरन्तर मिलते रहते हैं। इनमें जो अधिक प्रभावशाली होते हैं, उन्हें लोग चतुर कहते हैं और जो साधारण श्रेणीके होते हैं, उन्हें लोग धूर्त्त, काइयाँ और पाषण्डी कहते हैं। राजनीतिमें जब इस प्रकारके लोग पहुँचते हैं तो उन्हें कूटनीतिज्ञ कह दिया जाता है किन्तु हैं ये सब धूर्त्त या दम्भी श्रेणीके ही, केवल सामाजिक पदका ही अन्तर रह जाता है।

इन दुहरे चरित्रवालोंकी एक बड़ी सुन्दर विवेचना की गई है। कहा गया है—

क्वचिन्मृगमुखा व्याघ्राः क्वचिद्व्याघ्रमुखा मृगाः।
क्वचिद्व्याघ्रमुखा व्याघ्राः क्वचिन्मृगमुखा मृगाः॥

[ कुछ लोग बाहरसे सीधे और भीतर कुटिल होते हैं ( मृगमुख व्याघ्र ),

कुछ बाहर कठोर प्रतीत होते हैं किन्तु हृदयके कोमल होते हैं ( व्याघ्रमुख मृग ), कुछ लोग बाहर-भीतर दोनोंमें कठोर और कुटिल होते हैं ( व्याघ्रमुख व्याघ्र ) और कुछ भीतर-बाहर दोनोंमें कोमल होते हैं ( मृगमुख मृग ) । ] इनमेंसे प्रथम दो दुहरे चरित्रवाले होते हैं ।

### विशिष्ट प्रकृतिके लोग

मानव-समाजमें कुछ विशिष्ट प्रकृतिके लोग भी होते हैं । ये लोग अपने विशिष्ट स्वभाव, व्यवसाय या परिस्थितिके कारण किसी विशेष प्रकारका आचरण तथा व्यवहार किया करते हैं । इनमें पहली श्रेणी है चिन्ता-मुक्त या मस्त लोगोंकी जो सदा सब दशाओंमें प्रसन्न रहते हैं । यद्यपि इनकी मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञों की-सी ही होती है किन्तु ये विरक्त नहीं होते । इनकी यह स्थिति होती है कि जहाँ पड़ रहे वहीं सो गए, जो मिला वही खा लिया, जो समझमें आता गया करते चले गए । ये मान-अपमान, राग-द्वेषसे दूर, अपने फक्कड़पनमें मस्त रहते हैं । ऐसे लोग परिवारके लिये निकम्मे किन्तु समाजके लिये बड़े उत्साह-वर्धक होते हैं । ऐसे लोग अत्यन्त शीघ्र लोकप्रिय हो जाते हैं और प्रायः दूसरोंके सहारे ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । ये लोग स्वाभिमानी भी होते हैं और यदि इनके स्वाभिमानको कहीं भी ठेस लगती है तो ये अपने बड़ेसे बड़े हितू, मित्र, सहायक और सम्बन्धीकी भी अवहेलना कर सकते हैं ।

### अस्थिर चरित्रवाले

कथात्मक व्यापारकी दृष्टिसे ऐसे अस्थिर चरित्रवाले लोग अद्भुत रसमें बहुत सहायक होते हैं । इनका रोष और तोष कभी समझा या जाना नहीं जा सकता । ये सब वैसे ही अव्यवस्थित चित्तके होते हैं जिनके लिये कहा गया है—

> क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे ।
> अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्करः ॥

[ जो लोग क्षणभरमें प्रसन्न होते हैं, क्षणभरमें रूठते हैं, ऐसे लोगोंका चित्त ठिकाने नहीं रहता । उन लोगोंकी कृपा भी भयङ्कर ही होती है । ]

दूसरे प्रकारके विशिष्ट लोग वे हैं जो व्यवसाय-वैशिष्ट्यके कारण विशेष

प्रकारका आचरण करते हैं। वे सब कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक इसी श्रेणीके हैं जो खाना-पीना भूलकर केवल काव्य-चिन्तन, कला-चिन्तन, दर्शन या विज्ञानकी चिन्तामें सदा भूले रहते हैं। इन सब लोगोंकी वृत्ति एकमुखी होती है, इसलिये ये अपने विषयके अतिरिक्त शेष सब विषयोंकी ओरसे उदासीन रहते हैं। ये प्रायः भूले हुएसे मदिरके समान आचरण करते हैं। 'किससे कब क्या कहा था?' 'कौनसी वस्तु कहाँ रक्खी थी?' इसका इन्हें तनिक भी स्मरण नहीं रहता। इनकी सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियाँ वास्तविक जगत्से उठकर काल्पनिक जगतमें लीन हुई रहती हैं। ये लोग व्यवहारमें भी अटपटे, रूखे, उदासीन और ठण्ढे रहते हैं। बहुत अधिक मिलना-जुलना, बात करना तथा आना-जाना इन्हें अच्छा नहीं लगता। पारिवारिक धर्मके निर्वाहमें भी ये लोग बहुत शिथिल, अपटु और उदासीन रहते हैं। समाजको इनसे शारीरिक या व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता, इनको वृत्ति या विचारोंसे समाज प्रभावित होता रहता है। बहुतसे नाटककारोंने ऐसे चरित्रोंका प्रयोग हास्य या व्यंग्य नाटकोंके लिये किया है किन्तु यह अत्यन्त अनुचित है। गम्भीर त्रासदोंके लिये तथा करुण कथाके लिये ऐसे पात्र अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। इनमें भी कुछ बड़े व्यवहार-कुशल होते हैं किन्तु वे सब अनुरक्त, लोभी, ईर्ष्यालु, अभिमानी, महत्त्वाकांक्षी या मूढ चरित्रोंके अन्तर्गत आ जाते हैं।

एक और भी विशिष्ट प्रकारके लोग होते हैं जो मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक या राजनीतिक परिस्थितिके कारण विशिष्ट प्रकारका स्वभाव बनानेके लिये विवश हो जाते हैं। पागल, घरमें उपेक्षित, समाजसे बहिष्कृत तथा देशसे निर्वासित व्यक्ति अपनी एकान्तता और विवशताके कारण अपनी सम्पूर्ण वासनाएँ, इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ सब कुछ समाप्त करके या खोकर ऐसा ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने लगता है जिससे मनमें तीव्र आवेग, विद्रोह तथा विनाशकी भावना बल पकड़ती चलती है। उसका मस्तिष्क इस वेगसे चिन्ता-चक्र बनाता रहता है कि उसके कार्यका कोई निश्चय नहीं रहता, वह किसी भी समय कुछ भी कर सकता है। शरीरका उसे मोह नहीं रहता, विवेक लुप्त हो जाता है और उसकी अन्तःप्रेरणा केवल आवेगके अधीन हो जाती है। इस अवस्थामें वह आत्म-विनाशतक कोई भी कार्य कर सकता है। ऐसे लोग प्रायः शान्त और चिन्तित दिखाई देते हैं, मनकी बात किसीपर प्रकट नहीं

करते, जीवनके साधारण कार्योंमें अर्थात् स्नान, भोजन, शयन आदिमें भी बड़े अनियमित रहते हैं, सोते समय बर्राते हैं और उनकी मुद्रा इतनी भयङ्कर हुई रहती है कि उनके पास कोई सरलतासे जाता नहीं है। खीझ, बौखलाहट, चिड़चिड़ापन और झुँझलाहट उनके व्यवहारमें सदा दिखाई देती है। वे सदा उन्मन रहते हैं और कभी-कभी उनकी दशा विक्षिप्तोंसी हो जाती है। हत्याकारी, प्राणदण्ड पाए हुए अपराधी तथा उच्च वर्गके दण्ड पाए हुए अपराधी भी प्रायः इसी प्रकृतिके हो जाते हैं। ये स्वतः अपने लिये तथा समाजके लिये बड़े भयानक होते हैं। ये लोग चलते-बैठते हाथ चलाते या उँगली नचाते रहते हैं। इनकी सब क्रियाएँ सदा चञ्चल और अस्थिर होती हैं किन्तु सहानुभूति मिलनेपर ये लोग अपने मनकी बात प्रकट करनेमें भी सङ्कोच नहीं करते। आजकलके मनोवैज्ञानिकोंने इस प्रकारके लोगोंके लिये कुछ विशेष प्रकारके यन्त्र और परीक्षणोंका निर्माण किया है। मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंने उनकी मानसिक चिकित्साका भी आयोजना किया है और इसमें उन्हें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

### मिश्र प्रकृति

ऊपर जितने प्रकारकी मानव-प्रकृतियोंका वर्णन हुआ है वे साधारणतः हमारे मानव-समाजमें व्यापक रूपसे दिखाई पड़ती हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी सैकड़ों प्रकारकी प्रकृतिवाले पुरुष सम्भव हैं, जिनमें कई प्रकृतिके लोगोंका सम्मिश्रण है और जो जहाँ जैसी स्थिति देखते हैं वहाँ वैसी प्रकृति बदल लेते हैं जिनमें अच्छे और बुरे दोनों स्वभावोंका ऐसा विचित्र सम्मिश्रण होता है कि उनके बहुतसे कार्योंसे उनकी वास्तविक प्रकृति भिन्न ही दिखाई पड़ती है। एक नाटककारने अपने नाटकमें एक अत्यन्त दुश्चरित्र और दुष्ट व्यक्तिको अपनी कथाका नायक बनाया है और इस प्रकार घटनाओंका समावेश किया है कि उस व्यक्तिने सब कार्य सज्जनोंके समान किए हैं। वह स्वयं प्रत्येक सत्कार्य कर लेनेपर आश्चर्य करता है कि यह शुभ कार्य मैंने कर कैसे लिया और दूसरोंको भी इस बातपर आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति सत्कार्यकी ओर प्रवृत्त कैसे हुआ। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि जिस व्यक्तिसे किसी विशेष प्रकारके आचरणकी आशा नहीं की जा सकती वह व्यक्ति वैसा आचरण कर देता है। कभी तो वह परिस्थितिवश

वैसा करता है किन्तु कभी-कभी अकारण मनकी मौजपर, केवल खिलवाड़के लिये, आत्म-विनोदके लिये वह सत्कार्य कर बैठता है। ऐसोंकी कोई श्रेणी नहीं होती और न उनके कोई विशेष चिह्न होते हैं। किन्तु साहित्यकारके लिये ऐसे पात्र बड़े उपयुक्त होते हैं। अद्‌भुत रसके लिये ऐसे पात्र अधिक कामके होते हैं।

वास्तवमें मनुष्य ही ऐसा विचित्र प्राणी है कि उसकी लीला, प्रवृत्ति, क्रिया, रुचि और प्रकृतिका ठीक-ठीक भेद पाना बड़ा कठिन है, यहाँतक कि वह स्वयं अपनी प्रकृति ठीक-ठीक नहीं पहचान सकता। कभी-कभी तो वह स्वयं अपने विषयमें कहते हुए भी आत्म-वञ्चना करता है और अपने विषयकी बहुतसी बातें छिपाए रखता है। साधारणतः सभी मनुष्योंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी दुर्बलता छिपानेका प्रयत्न करते हैं या प्रकट हो जानेपर उसका किसी न किसी प्रकार समर्थन करते हैं। इनमेंसे जो सज्जन, दुर्बल और कायर होते हैं वे अपनी भूल स्वीकार कर लेते हैं और उसके लिये क्षमा माँगते तथा प्रायश्चित करते हैं। जो बलवान्, शक्तिशाली तथा निर्भय होते हैं वे अपनी बातपर अड़े रहते हैं और अपनी दुर्बलता तथा कायरता स्वीकार नहीं करते।

अतः साहित्यमें पात्रोंकी योजना करनेवाले साहित्यकारको अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिके साथ अपने चारों ओर विचरनेवाले पुरुषोंके वचनों और आचरणोंका भली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करते रहना चाहिए और उसके अनुसार अपने पात्र और पात्रोंकी प्रकृति निर्धारित करनी चाहिए।

### अति-तरुण

तरुणावस्थाके पश्चात् जो अति तरुणावस्था आती है उनमें जो अविवाहित रहते हैं वे तो तरुणवत् ही आचरण करते हैं किन्तु जो गृहस्थ हो जाते हैं वे प्रायः अपनी पारिवारिक चिन्ताओं—स्त्री या सन्ततिका अस्वस्थ होना, गृहस्थीका व्यय-भार सँभालना, बच्चोंकी शिक्षा और विवाहमें ही मग्न रहते हैं। किन्तु जिनके माता-पिता जीवित रहते हैं वे कुछ चिन्ता-मुक्त और मस्त रहते हैं। इनमें दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूपसे बलवती होती हैं—एक तो धन उपार्जन करनेकी और दूसरी यश उपार्जन करनेकी। इनमेंसे धनोपार्जन के लिये वे अनेक प्रकारके धन्धोंसे द्रव्योपार्जनका यत्न

करते हैं और जिनसे द्रव्य पानेकी आशा होती है उनकी अधिक चाटुकारी, प्रशंसा या हित-कामना भी करते हैं। यशकी कामनाके लिये वे सभा-समितियोंसे अधिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और दिखावटी रूपमें ही यथासम्भव लोक-सेवाका स्वाँग भी रचते हैं।

इन्हींमें कुछ ऐसे मनस्वी भी होते हैं जो अत्यन्त सचाई और निष्कपटताके साथ धनोपार्जन करते हैं, किसीकी भी चाटुकारी नहीं करते, किसीकी अकारण प्रशंसा नहीं करते, स्वाभाविक यश अर्जित करते हैं, दूसरोंके कहने या प्रशंसा करनेसे प्रसन्न नहीं होते और निन्दाकी चिन्ता नहीं करते। ये लोग स्वतन्त्र रूपसे अपनी योग्यता और असमर्थताके सहारे व्यवसाय या लोकसेवाके क्षेत्रमें निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इसी अवस्थामें महत्त्वाकांक्षा भी बढ़ने लगती है और जिसके पास जितने अधिक साधन होते हैं वह उन सबका प्रयोग इस महत्त्वाकांक्षाकी तृप्तिके लिये करता है। राजकीय पद पानेके लिये, कुआँ, धर्मशाला, विद्यालय आदि स्थापित करनेके लिये अथवा अन्य किसी लोकोपकारी संस्थामें सहयोग देनेके लिये इसी अवस्थामें अधिक प्रेरणा मिलती है। जो लोग तरुण अवस्थामें उद्दण्ड होते हैं, उनकी उद्दण्डता भी इस अवस्थामें कम हो जाती है और जो कुटिल, ईर्ष्यालु, अभिमानी, विषयी और क्रोधी होते हैं उनमें भी कुछ सुधार होने लगता है तथा वे अधिक समन्वयवादी बन जाते हैं। किन्तु जो लोग मस्त, विरक्त, ढोंगी और दुःसाहसी होते हैं, उनकी ये प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं। साहित्यकारको करुण, भयानक, रौद्र, वीर और अद्भुत रसोंमें इन पात्रोंका प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इनकी सम्पूर्ण मानवीय भावनाएँ पक चुकती हैं और ये किसी भी रसका स्थिर निर्वाह कर सकते हैं। जो वीर होगा वह अद्भुत वीरता दिखा सकेगा, जो करुणाशील होगा वह अधिक करुणाका आलम्बन बन सकता है, जो सदा कायर व भीरु रहा है वह भयानकका आलम्बन बन सकता है, जिसने सदा साहसके अद्भुत कार्य किए हैं वह अद्भुतत्वका दिव्य पोषण कर सकता है और जो सदा अपनी कुटिल भौहोंसे सदा सबको तर्जना देता आया है वह रौद्रमें बड़ी सरलतासे खपाया जा सकता है।

### प्रौढ

प्रौढ अवस्थामें वृत्तियाँ शिथिल होने लगती हैं, पुराने कृत्योंपर पश्चात्तापकी भावना जागने लगती है, धर्ममें तथा सन्त-समागममें रुचि बढ़ने लगती है, नवीन समाजसे चिढ़ उत्पन्न होने लगती है, वह प्रौढ व्यक्ति निरन्तर सबको उपदेश ही देता रहता है और अपने आदेशकी पुष्टि अपने जीवनके उदाहरणोंसे करने लगता है। नवीन समाजसे उसकी विरक्ति होने लगती है, वह खीझता अधिक है और बात-बातमें घर छोड़कर चले जानेकी धमकी देता है। अपमान और अनाज्ञाकारिताको वह असह्य समझता है और जिस संसारकी उसने सृष्टि की है उसीमें वह अपनेको अनुपयुक्त और अनावश्यक समझने लगता है। नाटककारके लिये ऐसे पात्र भी बड़े कामके होते हैं। इनका प्रयोग नवीन और प्राचीनका वैषम्य दिखानेके लिये, रूढि और सुधारका द्वन्द्व प्रदर्शित करनेके लिये भली प्रकार किया जा सकता है।

### अतिप्रौढ

अतिप्रौढ पुरुषमें भी धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगती हैं, युवकोंके आचरणपर वह अनावश्यक आक्षेप करने लगता है और वह अपने समवयस्कोंसे प्रीति बढ़ाने लगता है। इनका स्वभाव या तो चिड़चिड़ा हो जाता है या ये विरक्त हो जाते हैं। चिड़चिड़े पात्रोंके प्रयोग नाटककारोंने हास्य रसमें और विरक्तोंका करुण रसमें किया है। कभी-कभी केवल उत्साह-प्रदर्शनके लिये इन अतिप्रौढोंमें भी वीरताकी भावना भरी जाती है किन्तु वहाँ उनकी वीरता केवल बातोंतक ही रहती है, इसलिये वह भावमात्र बनकर रह जाता है, रसतक नहीं पहुँचता। राजपूत-इतिहासपर नाटक लिखनेवाले नाटककारोंने उत्साहपूर्ण प्रेरणा देनेके लिये ऐसे पात्रोंका प्रयोग किया है।

### वृद्ध

वृद्ध अवस्थावाले लोग अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण और उपदेशक होते हैं, अपने बचपन और यौवनकी कथाएँ सुनानेको अत्यन्त व्यग्र रहते हैं और उनकी प्रवृत्ति बहुत धार्मिक हो जाती है। ये नाटककारके बहुत कामके नहीं होते, यद्यपि इस अवस्थाके राजा, महापुरुष या किसी सुशील व्यक्तिको किसी सङ्कटमें डालकर और उनका बुढ़ापा बिगाड़कर करुण रसके परिपाकमें

उनका सुन्दर प्रयोग किया जाता है क्योंकि ऐसोंके प्रति हमारी सहानुभूति अधिक प्रबल होकर प्रवाहित होती है।

### अतिवृद्ध

इसके पश्चात् अन्तिम अतिवृद्ध या वर्षीयस् अवस्था वह है जिसके लिये कहा गया है—

'अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्'

किन्तु इसके आगे जो कहा गया है—'तदपि न मुञ्चत्याशा-पिण्डम्' यह बात नहीं है। इस अतिवृद्धावस्थावाले वृद्धोंकी एकमात्र अभिलाषा रहती है कि 'अब भगवान् उठा लेता तो अच्छा होता', जिन्होंने जीवनमें सुख देखा उनकी भी यही अभिलाषा रहती है और जिन्होंने दुःख देखा उनकी तो यह अभिलाषा तीव्रतर हो जाती है। इस दूसरे प्रकारके ही अतिवृद्धोंका प्रयोग नाटककार अपने उन नाटकोंमें करते आए हैं जहाँ दुष्ट, अकृतज्ञ, पापी और दुरात्मा पुत्र, पौत्र अपने अतिवृद्ध पिता या पितामहको यातना देते हैं और उनका अपमान करते हैं। करुण रसके लिये ये बहुत अच्छे आलम्बन होते हैं।

इतने प्रकारकी तो पुरुषोंकी प्रकृति होती है।

### स्त्रियोंकी प्रकृति

सदा समाजमें गृहिणी कहलानेके कारण तथा बहुतसे देशोंमें उपेक्षित रहनेके कारण स्त्रियोंकी प्रकृतिमें उतने अधिक प्रकार प्राप्त नहीं होते जितने पुरुषोंके चरित्रमें होते हैं। स्त्रियाँ प्रायः चार प्रकारकी होती हैं—१. सुशीला, २. कर्कशा, ३. प्रमत्ता और ४. दुहरे स्वभाववाली। ये भेद भी युवतियों और प्रौढ़ाओंके ही होते हैं। अन्य सब अवस्थाओंमें उनकी वृत्ति अलग-अलग होती है और वह प्रायः पुरुषोंके ही समान वृत्तिकी चलती है। रसमञ्जरीवालोंने अवस्थाके अनुसार चार प्रकारकी स्त्रियाँ मानी हैं—

'आषोडशाद्भवेद्बाला तरुणी त्रिंशता मता।
पञ्चपञ्चाशतं यावत् प्रौढ़ा वृद्धा ततः परम्॥'

[ सोलह वर्षतक कन्या बाला कहलाती है, तीस वर्षतक तरुणी कहलाती है, पचपन वर्षतक प्रौढ़ा और उसके पश्चात् वृद्धा कहलाती है। ]

किन्तु यदि वयके अनुसार छोटे-छोटे परिमाण बाँधें तो स्त्रियोंके निम्नलिखित भेद हो सकते हैं—

शिशु, बाला, कुमारी, किशोरी, युवती, प्रौढा और वृद्धा।

शिशु कन्या

शिशु अवस्थामें बालिकाको अपनी कुछ प्रेरणा नहीं होती। साधारण शिशुके समान भूख, माता-पितासे स्नेह, रङ्गीन पदार्थ और वाद्यके लिये उत्सुकता और अपरिचितसे सङ्कोच, बस इतने ही भाव दिखाई पड़ते हैं। यह अवस्था तीन वर्षतक रहती है। इसमें कुछ-कुछ अनुकरण-वृत्ति आने लगती है। किसीके सिखानेके अनुसार बोलना, हँसना, नाचना, कूदना आदि इस अवस्थामें दिखाई पड़ जाता है। प्रायः बहुतसे बच्चे ऐसे होते हैं जो माता-पिताद्वारा उपेक्षित रहते हैं, क्योंकि संसारमें अधिकांश माता-पिता दरिद्र और अपने-अपने व्यवसायमें लीन रहते हैं। उनके शिशु अशान्त, सुस्त और गूँगे रहते हैं। शिशुत्वकी साधारण चपलताका भी उनमें अभाव रहता है। किन्तु जहाँ माता-पिताकी ओरसे तनिक भी स्नेह और लालन-पालन बालकको प्राप्त होता है वहाँ उसके अङ्गोंमें चपलता आ जाती है। यह चपलता बालकोंकी अपेक्षा बालिकाओंमें अधिक होती है।

बाला

शिशु अवस्थाके पश्चात् दूसरी बाला अवस्था है, जिसमें वह गुड़िया खेलने लगती है, उसके शरीरमें बड़ी स्फूर्ति, बड़ी चञ्चलता आ जाती है और वह सुन्दर शृङ्गारके वस्तुओंसे अर्थात् फूल, पत्ती, वस्त्र, आभूषण इत्यादिसे अधिक स्नेह करने लगती है। घरके कामोंमें उनका मन लगता है और उसे साथ खेलनेके लिये सङ्गिनीकी आवश्यकता पड़ जाती है, जिससे वह हँसती-बोलती है, झगड़ा भी कर लेती है और मान-मनौवल भी कर लेती है। इसी अवस्थामें कन्याकी जीभ चटोरी हो जाती है, मेले-ठेलेसे अधिक स्नेह बढ़ता है, और विवाह-बरात देखनेकी इच्छा बढ़ती है। ये उसके खेलने-खानेके दिन होते हैं, इस अवस्थामें भोलापन अधिक होता है और उस भोलेपनके साथमें 'मेरेपन'की भावना भी प्रबल होने लगती है। 'मेरे पिता ऐसे हैं, मेरा घर ऐसा है, मेरे पास इतने वस्त्र या आभूषण हैं', ऐसे आत्म-प्रदर्शनके भाव जागरित होने लगते हैं। यह अभिमान नहीं, वरन् दूसरेके आगे अपनेको छोटा न दिखानेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। साहित्यकार इस अवस्थातककी बालिकाओंको अपनी कथाओंमें नहीं लाते और

यदि लाते भी हैं तो विचित्र विनोद अथवा विपत्ति उत्पन्न करनेके लिये ही लाते हैं, जैसे, कोई व्यक्ति घरमें बैठा हुआ किसी आगन्तुकसे नहीं मिलना चाहता है और कहला देता है 'जाकर कह दो, बाबूजी घरमें नहीं हैं' तो वह बाहर जाकर कह देती है—'बाबूजीने कहलाया है कि वे घरमें नहीं हैं।' रूसी नाटककारोंने प्राय: राजनीतिक षडयन्त्रोंके भण्डाफोड़में बालिकाओंके भोलेपनका प्रयोग किया है, जैसे एक कन्याने गुप्तचरोंके पूछनेपर भोलेपनके साथ कह दिया—'पिताजीको कोई नहीं पकड़ सकता। वे अम्मासे कह रहे थे कि मैं कल पीत्रोग्राद चला जाऊँगा, वहाँ मुझे कोई नहीं पा सकेगा।' इसी सङ्केतपर वह व्यक्ति पकड़ा गया। हमारे यहाँके साहित्यकारोंमें इतनी छोटी अवस्थाके पात्रोंके प्रयोगके सुन्दर उदाहरणोंमें कालिदास-द्वारा अङ्कित भरतवाला दृश्य है, जहाँ वह सिंह-शावकके मुँह खोलकर कहता है—

जृम्भस्व सिंह दन्तस्ते गणयिष्ये।

[ खोल रे सिंह ! अपना मुँह। मैं तेरे दाँत गिनूँगा। ]

जहाँतक सम्भव हो साहित्यकारको तीनसे आठ वर्षतककी बालिकाओंको यदि विनोद और बच्चोंके खेलसे सम्बन्ध रखनेवाले स्थलोंमें दिखाना हो तो उनकी योजना की जा सकती है। कभी-कभी बालकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुकूल गम्भीर तथा करुण दृश्योंमें भी ऐसी बालिकाओंकी योजना हो सकती है जैसे अभिनवभरतने अपने 'वसन्त' नाटकमें किया है।

### कुमारी

आठसे बारह वर्षतककी अवस्थावाली कन्या कुमारी कहलाती है। इस अवस्थामें चञ्चलता और शृङ्गार-प्रियता बढ़ने लगती है और उसके हृदयमें अपने समान वयके सुन्दर अथवा सुमुख बालकोंके प्रति आकर्षण भी होने लगता है, जिसमें वासना तो नहीं होती, किन्तु व्यग्रता अवश्य होती है। यह आकर्षण किसी एकके प्रति न होकर अनेकके प्रति होता है। इसी अवस्थासे अपने हृदयमें अपने मनकी बात छिपानेका रोग भी प्रारम्भ हो जाता है और दूसरेकी बात सुनकर तत्काल दूसरेसे कह सुनानेकी उत्कण्ठा भी उत्पन्न हो जाती है। वह अपनी सखियोंसे गाढ स्नेह स्थापित करने लग जाती है और सबके आचरणके विषयमें बहुत ध्यानसे सुनने और समझने लगती है।

### किशोरी

इसके पश्चात् तेरहवें वर्षमें पैर रखते-रखते उसकी किशोरावस्था आ धमकती है। यह किशोरी कुछ अधिक चञ्चल हो जाती है, मेले-ठेलेमें उसकी रुचि बढ़ जाती है, वह एकान्त-प्रिय होने लगती है और इसी अवस्थामें प्रायः मनकी वृत्ति किसी एकको ओर आकृष्ट होने लगी है। हमारे देशमें जो इस अवस्थामें विवाहका विधान है वह इसीलिये अनुकूल है कि एक ओर वृत्ति लग जानेसे उसके पतित होनेकी आशङ्का कम रह जाती है। किशोर अवस्थाकी कन्या अधिक हँसमुख, प्रगल्भ, क्रियाशील और स्नेहपूर्ण व्यवहार करने लगती है और अपने आचरणसे दूसरोंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करती रहती है।

### युवती

इसके तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् सोलह वर्षकी अवस्थामें ही वह युवती हो जाती है और यह अवस्था तीस वर्षतक चलती है। इस अवस्थावाली स्त्रियाँ अत्यन्त शृङ्गार-प्रिय, विलासिनी, मानिनी, अपने सौभाग्यपर इतरानेवाली, दूसरेके सौभाग्यसे ईर्ष्या करनेवाली, साहसी और वाक्चतुर हो जाती हैं। उनकी वृत्ति यही होती है कि यदि अपने पास धन न हो तो अपने पतिके गुणके कारण अपनेको बढ़ा हुआ समझती हैं। यहाँतक कि कभी-कभी अपने रूपतकका इन्हें गर्व होता है। असत्य बोलनेमें, अपने मनकी बात छिपानेमें, दूसरेके अवगुणके तिलको ताड़ बनानेमें इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। इसी अवस्थामें अलङ्कार-प्रियता या शृङ्गार-प्रियता बढ़ जाती है, दूसरेका वस्त्र या आभूषण देखकर वैसा ही वस्त्र या आभूषण धारण करनेकी इच्छा होती है और न मिलनेपर ये रूठना, रोना, पीटना, अनशन आदि सब उपाय करने लगती हैं। अपने ससुरालमें अपने पीहरका और पीहरमें अपने ससुरालका अपमान नहीं सहन कर सकतीं और अपने रूप, यौवन तथा वयके विरुद्ध भी वे कुछ नहीं सुनना चाहतीं। किसीके मुँहसे अपने बच्चोंकी बुराई सुनकर वे आग-बबूला हो जाती हैं और अपने निर्गुणी तथा असुन्दर बच्चोंको भी अश्विनीकुमार और बृहस्पतिसे कम नहीं समझतीं।

## चार प्रकारकी स्त्रियाँ

कुल, संस्कार और परिस्थितियोंके कारण इस अवस्थामें स्त्रियाँ चार प्रकारकी हो जाती हैं—१. सुशीला, २. कर्कशा, ३. प्रमत्ता और ४. दुहरे चरित्रवाली, जिसका सङ्केत हम ऊपर दे चुके हैं।

## सुशीला

सुशीला युवती पतिभक्ता, भोली, अपने पास-पड़ोसमें सबका हित और सबकी सेवा करनेवाली, गृहस्थीका सँभाल करनेवाली, शान्त और सुशीला होती है। वह कभी लड़ाई नहीं मोल लेती और यदि लड़ाई होने लगे भी तो मौन रहती है। सुशीला स्त्री सब प्रकारका अपमान, कष्ट और असुविधा सहकर भी दूसरोंके सुखका चिन्तन करती रहती है। वह न तो किसीपर दोषारोपण करती है, न किसीकी निन्दा करती है और ऐसा प्रसङ्ग छिड़ जानेपर या तो प्रसङ्ग बदल देती है या उठकर चली जाती है। वह सदा अपने सब सम्बन्धियोंका कुशल मनाती है और उनके लिये सब प्रकारकी दैवी और मानुषी साधना करती है किन्तु परिवारमें ऐसी स्त्रियोंको ही विशेष कष्ट भोगना पड़ता है और उन्हें अपने सम्बन्धियोंके कुचक्रका आखेट बनकर अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। किन्तु ऐसी ही स्त्रियाँ यदि सौभाग्यवती हों तो उनके पुत्र-पौत्र आदि उनका सम्मान भी करते हैं। प्रायः साहित्यकारोंके लिये ऐसी स्त्रियाँ निकम्मी होती हैं। जिसके जीवनमें सङ्घर्ष न हो, भावोंका जमवट न हो, आतंक, आवेग और उत्कण्ठा न हो, प्रतीक्षा, आशा और निराशाके झोकोंमें जिसका जीवन झूलता न हो, सफलता और असफलताके झूलेपर चढ़ी हुई जो जीवनकी पेंगें न भरती हो, उल्लास और विषादकी धूप-छाँह जिसे स्पर्श न करती हो उसे साहित्यकार भी स्पर्श नहीं करता। प्रायः ऐसी सुशीला स्त्रियोंको सामाजिक दुरन्त नीतिके चक्रमें डालकर करुण रसका आलम्बन बनाया गया है और उनकी सरलता तथा सीधेपनको दुर्बलता मानकर, विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उन्हें सुपथसे कुपथकी ओर जानेको विवश किया है। इस दृष्टिसे ये सुशीला नारियाँ दो प्रकारकी हो गईं—एक तो वे, जिन्होंने प्राण-सङ्कट आनेपर भी तथा प्रबल अत्याचार होनेपर भी अपने सतीत्वको नहीं छोड़ा, अपनी आनपर डटी रहीं। ऐसी नारियाँ सभी आदर्शवादी साहित्यकारोंकी

श्रद्धा-भाजन बनी रहीं। किन्तु एक दूसरे प्रकारकी भी नारियाँ हुई हैं, जिन्होंने यथाशक्ति अपने चरित्र तथा सतीत्वकी रक्षा की, किन्तु अपने पति, सन्तति आदिकी रक्षाके बदले अनिच्छासे सतीत्व दे डाला। ऐसी स्त्रियोंके लिये परिस्थितियाँ कभी-कभी इतनी प्रबल हो जाती हैं कि उनके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता। एक नाटकमें ऐसी ही एक परिस्थिति है जहाँ एक अत्यन्त सुशील महिला अपने पुत्रके साथ बन्दी कर ली गई है। बन्दी करनेवाला कहता है—

'यदि तुम मुझसे विवाह नहीं करोगी तो मैं तुम्हारे प्राण ले लूँगा और तुम्हारे पुत्रके भी।' वह अत्यन्त दृढ होकर विरोध करती है और अपने व्रतपर डटी रहती है किन्तु जब उसके सामने दो वधिक उसके पुत्रको लाते हैं, तप्त लोहेसे उसका शरीर दागना प्रारम्भ करते हैं और वह पीड़ासे व्याकुल होकर, छटपटाकर चिल्लाता है तब उसकी माँ साहस छोड़ देती है और कह उठती है—'छोड़ दो इसे, मैं तुमसे विवाह कर लूँगी।' ऐसी स्त्रियाँ भी सुशीला ही होती हैं। किन्तु उसके साथ सहानुभूति ही होती है श्रद्धा नहीं होती। साहित्यकार ऐसी स्त्रियोंको प्रायः अपनी पात्र-योजनामें विशेष स्थान देते हैं और वे ऐसी स्त्रियोंको कष्ट दिलाकर और दुर्बलताका परिचय दिलाकर किसी प्रकारसे उनके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये कुछ घटनाओंकी योजना करते हैं। इसी प्रकारकी स्त्रियोंमें वे भी हैं जो अनाथ हो जानेके कारण किसी एककी उदारता या सज्जनतासे प्रभावित होकर उसकी हो जाती हैं। ये सब स्वभावसे सुशीला होती हैं, केवल परिस्थिति उनके विरुद्ध होती है।

### कर्कशा

कर्कशा स्त्रियाँ वे हैं जिन्हें लड़ाई-झगड़ा करनेमें रस मिलता है। ये अत्यन्त असहनशील होती हैं, इनकी वाणीपर कोई संयम नहीं होता, किसीको कुछ भी कह देनेमें इन्हें सङ्कोच नहीं होता, ये समझती हैं कि सारा संसार उनके भाग्यपर ईर्ष्या करता है। अपनी वस्तु छू जानेपर, अपने पतिको कुछ कह दिए जानेपर, अपने पुत्रका अपमान हो जानेपर ये स्वयं मोर्चा लेने चल देती हैं। ये बड़ी छिद्रान्वेषिणी होती हैं और निरन्तर सब परिवारोंके दोष ढूँढनेकी उधेड़बुनमें लगी रहती हैं। दूसरेका उत्कर्ष या

सौभाग्य ये सहन नहीं कर सकतीं उलटे, दूसरेका अपकर्ष देखकर अत्यन्त हर्षित होती हैं। इनकी कलहप्रियता घर और बाहर दोनों स्थानोंपर दिखाई पड़ती है। छोटी-छोटी बातोंपर ये बड़बड़ाती रहती हैं—'कोई हमारी सुध नहीं लेता, हम घर-भरके लिये प्राण देती हैं, हम क्या कोई नौकरानी हैं? खानेके लिये सब हैं, काम करनेके लिये कोई नहीं, हम न रहेंगे तो देखें कैसे किसीको भोजन मिलेगा' आदि-आदि निरर्थक बातें बकती रहती हैं। अपने पति, पुत्र-पुत्री, सास, ननद, जेठानी, देवरानी, पड़ोसिन सबसे दिन-रात झगड़ती रहती हैं। ये प्रायः आचरणकी अच्छी होती हैं क्योंकि जिसमें आचरणका दोष रहता है वह सदा दूसरोंके आगे मुँह खोलनेमें लजाता है किन्तु इनमेंसे जो कुलटा हो जाती हैं वे पूर्णतः निर्लज्ज हो जाती हैं और जब कोई उन्हें टोंकता है तो कह देती हैं—'तो तुम्हें क्या? मैं करती हूँ मेरा मन, तुझे अच्छा लगे तू भी कर।' प्रायः साहित्यकारोंने ऐसी कर्कशा स्त्रियोंको हास्य रसके लिये ही चुना है, यद्यपि इनमेंसे सच्चरित्रा कर्कशा स्त्रियाँ रौद्र रसके लिये भी अधिक उपयुक्त हो सकती हैं। इन्हीं कर्कशा स्त्रियोंमें जो स्त्री अधिक ईर्ष्यालु हो जाती है और जिसमें अधिक महत्त्वाकांक्षा तथा आत्म-सम्मानकी भावना बढ़ जाती है, वह अपने प्रतिपक्षी या विरोधीकी हत्या करनेमें भी नहीं चूकती और प्रतिपक्षीके अधिक प्रबल होनेपर तथा बदला ले सकनेपर वह आत्महत्या भी कर सकती है। ऐसी स्त्री कुल और समाज दोनोंके लिये भयङ्कर होती है। पुरुष साहित्यकारोंने प्रायः अपने सभी कथानकोंमें इसी प्रकारकी डाइन स्त्रियोंकी योजना की है। शेक्सपियरकी 'लेडी मैकबेथ' इसी प्रकारकी है। ऐसी स्त्रियोंमें जब विरोधी भावना जगती है तो वे स्वयं इतनी भयङ्कर हो जाती हैं कि अपनेसे सम्बद्ध लोगोंसे भी बड़ेसे बड़े पाप करा सकती हैं। जापानी और चीनी नाटककार भारतवासियोंके समान ही नाटकमें ऐसी स्त्रियोंकी योजना करनेके विरोधी हैं। उनका समाज भी ऐसा है कि स्त्रीको इस सीमातक पहुँचनेकी न तो सामाजिक सुविधा है और न तो संस्कार ही है।

### प्रमत्ता

तीसरे प्रकारकी युवती प्रमत्ता होती है। धनी पिता या पति तथा राजपदपर प्रतिष्ठित पिता या पतिवाली स्त्रियाँ प्रायः प्रमत्ता होती हैं। इनके

अतिरिक्त किसी विशेष रूप-गुणवाली स्त्रियाँ भी प्रमत्ता हो जाती हैं। उनकी प्रमत्तताका आधार उनके पिता या पतिका धन, पद या बल होता है अथवा अपना रूप और गुण। इन प्रमत्ताओंका सबसे प्रधान लक्षण यह होता है कि दूसरोंका अपमान करने, नीचा दिखाने और अपने वैभवका आतङ्क जमानेमें इन्हें बड़ा रस मिलता है। ये अत्यन्त विलासिनी होती हैं। अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके लिये ये निरन्तर अपने सम्बन्धियों या सङ्गिनियोंको बुलाती रहती हैं, उत्सव करती रहती हैं और दूसरोंके यहाँ भी बड़ी तड़क-भड़कके साथ आती-जाती हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होती हैं, उनकी किसी वस्तुकी यदि तुलना कर दी जाय तो वे रुष्ट हो जाती हैं। दूसरोंका अपमान और निन्दा सुनकर इन्हें मन ही मन बड़ी प्रसन्नता होती है। इस अभिमानके साथ मिथ्या आत्मगौरव भी लगा रहता है जिसमें यह वृत्ति होती है कि हम किसीके आगे हाथ न फैलाएँ, किसीकी सहायता न लें, किसीकी सेवा न करें और यह मिथ्या आत्माभिमान आत्म-प्रवञ्चनाकी उस सीमातक पहुँच जाती है कि जहाँ उनके वैभवमें किसी प्रकार कमी पड़ी कि उन्हें अपना प्राण देनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। साहित्यकारोंने ऐसी प्रमत्ता स्त्रियोंकी योजना प्रायः उन कथानकोंके लिये की है जिसमें उन्होंने अभिमानका पतन दिखाया है।

### दुहरे स्वभाव

इन तीनोंके अतिरिक्त अधिकांश सभी स्त्रियाँ दुहरे स्वभाववाली होती हैं। एक सूक्ति कही गई है—

> स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं।
> दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

[ स्त्रीका चरित्र और पुरुषका भाग्य दैव भी नहीं जान सकता है फिर मनुष्य कैसे पहचाने। ]

अधिकांश स्त्रियाँ गूढ़ेङ्गित होती हैं अर्थात् उनका स्वभाव पहचानना बड़ा कठिन होता है। वे जो कहती हैं उसकी सत्यतामें सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। इसीलिये चाणक्यने कहा है—

> विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।

[ स्त्रियों तथा राजपुरुषोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। ]

प्रायः स्त्रियाँ जितना बाहर आचरण दिखलाती हैं वह उनके मानसिक निर्णयका फल नहीं होता। वे अपने आचरणमें सदा सब कुछ छिपानेकी चेष्टा करती हैं और मन ही मन ऐसे सङ्कल्प-विकल्प करती रहती हैं कि उनका ठीक-ठीक परिज्ञान करना सम्भव नहीं रहता। पुरुषोंमें ऐसे बहुत कम होते हैं जो आकार-गुप्त हों, किन्तु स्त्रियोंमें प्रायः उन्हींकी संख्या अधिक मिलेगी जो निरन्तर अपने मनकी बात छिपानेका प्रयत्न करती रहती हैं। इसीके साथ-साथ उनमें यह भी प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरोंकी बात अपने मनमें नहीं रखतीं। चाहे युधिष्ठिरने कुन्तीको शाप दिया हो या न दिया हो किन्तु स्त्रीकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह सुनी हुई बात पचा नहीं सकती। साहित्यकारकी दृष्टिसे ऐसी दुहरे चरित्रवाली स्त्रियाँ बड़ी उपयोगी होती हैं, क्योंकि नाटकीय कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये ऐसे पात्रोंसे बड़ी सहायता मिलती है।

### प्रौढा

प्रौढ़ा स्त्रियाँ तीससे चालीसकी अवस्थाकी होती हैं। इनमें केवल तीन गुण रहते हैं—

१. ये बड़ी ईर्ष्यालु हो जाती हैं और युवतियोंका साज-शृङ्गार देखकर इन्हें बड़ी टीस होती है।

२. ये निरन्तर दूसरेका दोष ढूँढ़नेमें लगी रहती हैं।

३. अपने बच्चोंके प्रति इनकी ममता अधिक बढ़ जाती है और दूसरेके बच्चोंसे डाह करने लग जाती हैं।

### वृद्धा

इसके अनन्तर स्त्री केवल वृद्धा रह जाती है। वह पूजा-पाठ अधिक करती है या अधिक धार्मिक और ईश्वर-भक्त हो जाती है और धीरे-धीरे उसका वात्सल्य स्नेह अपने परिवारसे बढ़कर फैलने लगता है। वह अपनी समवयस्काओंसे अधिक मेल-जोल रखती है और उनकी गोष्ठीमें बैठकर या तो अपने पुराने जीवनकी बातें करती है या जीवनसे निराशा प्रकट करती है अथवा नये युगकी कड़ी आलोचना करती है। यह आलोचना अवस्थाके साथ-साथ बढ़कर असन्तोषका रूप धारण कर लेती है और फिर वह चिड़चिड़ी

हो जाती है। किन्तु अपने नाती और पोतोंके प्रति उसकी ममता गहरी हो जाती है और यह चाहने लगती है कि इनका भी सुख मैं देख लूँ तो अच्छा। इसी बढ़ती हुई तृष्णामें वह समाप्त हो जाती है। वृद्धा स्त्रियोंका प्रयोग साहित्यिक व्यापारके लिये बहुत कम किया गया है। किन्तु कुछ राजनीतिक नाटकोंमें वृद्धा माताओंके वीरतापूर्ण त्याग और अपने पुत्रोंका बलिदान करनेकी उत्सुकता दिखाकर उनका अत्यन्त गौरवमय चित्रण किया गया है। वीरतापरक कथानकोंमें ऐसी वृद्धाओंको अवश्य स्थान दिया जा सकता है जो अपने पुत्रके मस्तकपर टीका लगाकर रणमें भेज दें अथवा देश और धर्मके लिये बलिदान होनेवाले पुत्रोंके लिये उल्लास प्रकट करें। बहुतसे नाटककारोंने चिड़चिड़ी वृद्धाओंको प्रहसनोंकी नायिका बनाया है किन्तु यह उचित नहीं है।

### वर्त्तमान नारी

वर्त्तमान युगमें नारीमें विशिष्ट जागर्त्ति हुई है। वह सभी क्षेत्रोंमें पुरुषोंसे होड़ करने लगी है। राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक क्षेत्रोंमें भी उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा और साहस पुरुषोंके समान ही व्यक्त किया है। अतः इस प्रवृत्तिवाली नारियोंको ठीक वैसा ही समझना चाहिए जैसे महत्त्वाकांक्षी और साहसी पुरुष होते हैं।

### विशेष स्वभाववाली

इनके अतिरिक्त सौत, विधवा, अपुत्रा, पुँश्चली, अपमानिता, ताड़िता, पीड़िता तथा कामार्त्ता स्त्रियोंका स्वभाव कुछ रूखा, व्यग्रतायुक्त और उदास होता है। वे किसी भी समय कुछ भी कर सकती हैं। सौत सदा अपनी सौतको सब प्रकारसे नीचा दिखाने तथा हानि पहुँचानेका प्रयत्न करती है, उसके फन्देसे अपने पतिको छुड़ानेके लिये तन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना आदिका भी आश्रय लेती है, अनेक प्रकारके षड्यन्त्रों और कुटिल उपायोंसे उसे पतिके विरुद्ध सिद्ध करने और पतिद्वारा परित्यक्त करानेका उपाय करती है और इस प्रयत्नमें असफल होनेपर अपने पतिकी हत्या या आत्महत्यातक करनेमें नहीं चूकती।

विधवा सदा सौभाग्यवती स्त्रियोंका सुख देखकर मन ही मन कुढा करती है और मन ही मन यह माँगती रहती है कि ये भी मेरी गति प्राप्त करें। इनमें जो पुँश्चली होती हैं उन्हें यह ईर्ष्या नहीं होती। वे उलटे

अधिक मृदुभाषिणी और सहानुभूतिमय हो जाती हैं। कुछ विधवाएँ अत्यन्त साधु प्रकृतिकी होती हैं और अत्यन्त संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं।

पुँश्चली स्त्री समाजके लिये बड़ी भयङ्कर होती है। वह जिसका समागम चाहती है उसे प्राप्त करनेके लिये नये हथकण्डे, कौशल और छलका आश्रय लेती है। वह हँस-हँसकर सबसे बोलती है और सदा सबकी सहायता करनेको सन्नद्ध रहती है। यदि वह शक्तिशालिनी हुई तो जिससे काम निकल जाता है उसे समाप्त कर डालती है और जो इसकी इच्छाका विरोध करे उसका विनाश करा डालती है। अपमानिता, ताडिता, और पीड़िता प्रायः अपनी प्राणहानि अधिक करती हैं किन्तु यदि शक्तिशालिनी हुई तो अपमानकारी, ताडनकर्त्ता और प्रपीड़कको ध्वस्त कर सकती हैं।

अपुत्रा नारी पुत्रोत्पत्तिके लिये दूसरेका पुत्र मारने तथा अन्य यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र जादू-टोना आदि भी करती हैं और पुत्रवतीसे जलती भी हैं।

कामार्त्ता अन्धी होती है। वह विवेक, लज्जा, मानापमान, लोक-निन्दा सबको तिलाञ्जलि देकर अपना हित साधनेमें लगी रहती है और यथेच्छ विहार करती है।

किन्तु उच्च कुल और संस्कारमें पली हुई सौत, विधवा, अपुत्रा अपमानिता, पीड़िता और कामार्त्ता ऐसी भी होती हैं जो स्थिर होकर अपनेको वशमें रखती हैं और किसीका अहित नहीं करतीं।

### नपुंसक

नपुंसक व्यक्ति स्त्री और पुरुष दोनोंके भावोंसे हीन होते हैं। काम-सम्बन्धी भावोंसे विरक्त और उदासीन होते हुए भी वे कामोत्तेजक बातें बहुत करते हैं। शेष सब बातें उनमें पुरुषों और स्त्रियोंके समान होती हैं। अर्थात् सर्वसाधारणके समान उनमें भी अन्य भावनाएँ पाई जाती हैं। प्राचीन संस्कृत नाटककारोंने वर्षवरों और षण्ढोंका प्रयोग राजपरिवारमें किया है किन्तु आजकलके साहित्यकार नपुंसकोंका प्रयोग साहित्यमें नहीं करते।

### बुद्धिभेद

वर्त्तमान मनोवैज्ञानिकोंने मानव-समाजकी बुद्धिका परीक्षण करके मनुष्योंके सात भेद आँके हैं। ये परीक्षण तीनसे पन्द्रह वर्षतकके बालकोंके

लिये निर्धारित किए गए हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी अवस्थावाली समझी जाती है। यदि एक आठ वर्षका बालक आठ वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया तो उसकी बुद्धि आठ वर्षके बच्चेकी होती है। इस दशामें उसकी बुद्धि-लब्धि १०० मान ली गई है। यदि वही बालक नौ या दस वर्षकी अवस्थावाली परीक्षामें सफल हो तो उसकी शारीरिक अवस्था आठ वर्षकी होते हुए भी मानसिक या बौद्धिक अवस्था दस वर्षकी समझी जायगी।

बौद्धिक अवस्थाको वास्तविक अवस्थासे भाग देकर सौसे गुणा किया जाय तो बुद्धि-लब्धि प्राप्त हो सकती है। इसमें जैसे वास्तविक अवस्थासे अधिक बौद्धिक अवस्थाके बालक होते हैं वैसे ही कमसे-कम बौद्धिक अवस्थाके भी सहस्रों बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर मनोवैज्ञानिकोंने बालकोंको सात श्रेणियोंमें बाँटा है—

१—बुद्धिफल १४० के ऊपर देवबुद्धि
,, १४० ,, ,, प्रायः देवबुद्धि
२— बुद्धिफल १२० से १४० अत्यन्त उच्चबुद्धि
३— बुद्धिफल ११० से १२० उच्चबुद्धि
४— बुद्धिफल ९० से ११० साधारण बुद्धि
५— ,, ८० से ९० स्थूलबुद्धि
६— ,, ७० से ८० मन्दबुद्धिकी सीमापर
७— ,, ७० से नीचे निश्चित मन्दबुद्धि

मनोवैज्ञानिकोंने जो उपर्युक्त भेद बताए हैं उस प्रकारसे यदि भेद किए जायँ तो सैकड़ों उपभेद हो सकते हैं। बुद्धि विशिष्ट-प्रवृत्तियुक्त होती है। एक व्यक्तिकी बुद्धि गणितमें लगती है, काव्यमें नहीं। वह गणितका प्रश्न शीघ्रतासे पूर्ण कर सकता है। इसी प्रकार एक काव्य-प्रेमी कविता सुन और रच सकता है किन्तु गणितके नामसे ही उसे जूड़ी आती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकृतिके बालक भिन्न-भिन्न गुणोंमें दक्ष होते हैं और उनमें बुद्धिमान माने जाते हैं। एक बालकका मन पढ़नेमें नहीं लगता किन्तु यन्त्र-क्रियामें वह बड़े मनोयोगसे काम करता है। इसका अर्थ यह है कि उसमें बुद्धि है किन्तु वह यन्त्र-प्रवृत्तियुक्त है। आजतक जितनी बुद्धिमापक परीक्षाएँ हुई हैं उनमें प्रत्येक बालककी प्रवृत्तिका ध्यान रखकर परीक्षा नहीं ली जाती।

इस दृष्टिसे यदि हम अपने चारों ओरके समाजका परीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि बुद्धिके अनुसार तीन प्रकारके लोग हैं—स्वाधीन-बुद्धि, पर-प्रत्ययनेय बुद्धि और जड़ बुद्धि। स्वाधीन बुद्धि वह है जो अपनी रुचिके कार्यमें स्वतन्त्र रूपसे विचार करता है और परिणाम निकालता है। दूसरेका कहा हुआ न आँख मूँदकर स्वीकार करता न किसीकी सम्मति लेता है। परप्रत्ययनेय बुद्धिवाले वे हैं जो सब बातोंमें दूसरोंकी सम्मतिसे काम करते हैं और दूसरोंकी धारणाके अनुसार अपनी धारणा बनाते हैं। जड़बुद्धि वे हैं जो न स्वयं कोई बात समझनेका प्रयत्न करते न दूसरोंके समझानेसे ही समझते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि—बुद्धिभेदसे तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—स्वाधीन, जड और पराधीन।

### वर्ग-स्वभाव

विभिन्न देशों, जातियों, वर्गों और वृत्तियोंके अनुसार भी मनुष्योंके स्वभाव बनते हैं। अपने देशमें ब्राह्मण क्षमा-शील, क्षत्रिय उत्साही और क्रोधी, वैश्य दब्बू और लोभी तथा शूद्र दीन और भीरु होते हैं। देशके अनुसार अँगरेज़ वणिक्वृत्तिवाले, स्पेनी मस्त, फ्रांसीसी विलासी, जर्मन साहसी, यहूदी अर्थपिशाच, जापानी अध्यवसायी, चीनी आलसी, इतालवी धर्मभीरु, यूनानी विनोदप्रिय और निर्द्वन्द्व, अमेरिकावाले विलासी और धनलोलुप, मुसलमान हिंसक और धर्मान्ध होते हैं। वर्गोंके अनुसार राजसी या भूमिपति वर्गवाले अधिक अभिमानी, मनस्वी और आत्माभिमानी होते हैं। मध्यम वर्गके लोग अध्यवसायी और ठकुरसुहाती करनेवाले होते हैं। हीन श्रेणीके लोग दीन और मस्त होते हैं। वृत्तिके अनुसार देखा जाय तो अध्यापक त्यागी और सरल होते हैं, वकील और डाक्टर लोभी होते हैं, बीमा कम्पनीके दलाल और नाई धूर्त होते हैं, व्यापारी कपटी और मिथ्यावादी होते हैं, स्वर्णकार प्रवञ्चक और चोर होता है। इस प्रकार कुछ देश, जाति और वृत्तिके अनुसार भी स्वभाव बनता है। कभी-कभी कुलका स्वभाव भी काम करता है, जैसा रामने कहा था—

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ॥

किन्तु इनमें अपवाद भी होता है।

### लोकावेगके अनुसार स्वभाव

अतः कभी-कभी किसी नगर, देश, राष्ट्र या वर्गपर सामूहिक विपत्ति आती है या सामूहिक रूपसे उनके मान-अपमानका प्रश्न होता है, उस समय उनके व्यक्तिगत स्वभाव बदलकर लोकावेगके रूपमें परिणत हैं। भारतके सभी जाति, वर्ग और प्रवृत्तियोंके लोग समझते थे कि अँगरेजोंने हमपर अत्याचार किया है अतः उन्हें चले जाना चाहिए। इस निमित्त जितने आन्दोलन हुए उनमें लोकावेग-स्वभाव ही काम कर रहा था। प्रत्येक व्यक्तिकी व्यक्तिगत भावनासे अलग जाति-भावना, देश-भावना, राष्ट्र-भावना, और परिवार-भावना भी प्रधान रहती है। इस भावनाको जब ठेस लगती है तब उस श्रेणीके सब लोगोंको ठेस लगती है और उसके निराकरणके लिये एक सामूहिक स्वभाव बन जाता है। यह स्वभाव व्यष्टिसे ऊपर उठकर समष्टिमें व्याप्त हो जाता है और तभी वह लोकावेग-भाव कहलाता है। शेक्सपियरने अपने कुछ नाटकोंमें और वर्त्तमान कालके अनेक नाटककारोंने इस लोक-मनोविज्ञानका आश्रय लेकर लोकावेगके दृश्य प्रायः उपस्थित किए हैं।

मनुष्य-स्वभावके अध्ययनका इतना विवरण इसलिये दे दिया गया है कि साहित्यकार मानव-स्वभावको समझकर अपनी रचनाओंमें उनका प्रयोग कर सकें और समीक्षक उनकी उनकी उचित समीक्षा कर सकें।

### योरोपीय साहित्याचार्योंके कुछ सिद्धान्त

साहित्यमें पात्रोंका चरित्रारोपण करते समय साहित्यकारको जिन बहुतसी बातोंका ध्यान रखना चाहिए, उनके विषयमें योरोपीय आचार्योंके चार मत हैं—

१. दुष्टको भयानक चित्रित करो और सज्जनको देवतुल्य।

२. रङ्गशाला तो चित्रक ( फोटोका केमरा ) का बिम्बग्राही काचफलक है, जो सामने पड़नेवाले समस्त पदार्थको ग्रहण करके दिखाता है।

३. सुन्दरका चित्रण करो, असुन्दर स्वयं लुप्त हो जायगा।

४. दोष दिखाओ, उन्हें देखकर मनुष्य स्वयं अपना सुधार कर लेगा।

इन चारों सिद्धान्तोंके आधारपर हम अपने विचार सिद्धान्त प्रकरणमें विस्तारसे बता आए हैं फिर भी यहाँ इसपर कुछ कहना आवश्यक ही है।

जहाँतक पहिले और तीसरे सिद्धान्तका सम्बन्ध है, ये दोनों स्वीकार किए जा सकते हैं और इनमें किसीको आपत्ति भी न होगी, क्योंकि दुष्टमें श्रेष्ठताका आरोप करना और सज्जनमें दुष्टताका आरोप करना नीति और समाज दोनोंसे विरुद्ध है। यही बात तीसरे सिद्धान्तके विषयमें भी है। यदि हम सुन्दरको सुन्दरतम रूपमें अत्यन्त प्रभावशाली रीतिसे उपस्थित करें तो उसके प्रभावसे ही असुन्दर लुप्त हो जायगा। यह एक साधारण-सी बात है कि सुन्दर तथा उदात्तकी ओर मनुष्यका स्वाभाविक आकर्षण होता है और उससे ऊपर उठनेकी प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी निरन्तर सुन्दर वस्तुको देखते-देखते सौन्दर्य-बोध इतना प्रबल हो जाता है कि असुन्दरकी कल्पना ही असम्भव हो जाती है। दूसरा और चौथा सिद्धान्त यथार्थवादियोंका है। इसके विषयमें हम सिद्धान्त-प्रकरणमें बहुत कुछ कह चुके हैं।

पात्र चुनने और उनके चित्रित करनेके सम्बन्धमें इनसे मिलते-जुलते तीन और सिद्धान्त हैं। ये तीनों प्रणालियाँ—'क्या हैं', 'क्या हो सकती हैं', और 'क्या होना चाहिए'—के नामसे पुकारी जाती हैं। यह 'है-वाद' यथार्थवाद है, 'हो सकता है' देववाद है और 'होना चाहिए' आदर्शवाद है। साहित्यकारको वादोंके पचड़ोंसे ऊपर उठकर इस दृष्टिसे पात्रोंमें चरित्रारोपण करना चाहिए कि इनके द्वारा ग्राहकोंका मनोविनोद हो और उन्हें शान्ति मिले।

## नाटकमें विशिष्ट पात्र-योजना

बहुतसे नाटककार नाट्य-मण्डलियोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण कुछ विशिष्ट अभिनेताओंको दृष्टिमें रखकर पात्र-योजना करते हैं। कभी-कभी उपन्यासकार भी समाजमेंसे ही परिचित व्यक्ति लेकर उनके नाम बदलकर अपने उपन्यासमें उसका चित्रण कर देता है। ऐसे साहित्यकार सफल भी हुए हैं क्योंकि विद्यमान व्यक्तियोंके अनुसार पात्र-योजना करनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि काव्यका दृश्यत्व सिद्ध हो जाता है तथा नाटकमें अभिनेताओंको स्वाभाविक अभिनयके द्वारा रस उत्पन्न करनेमें बड़ी सरलता होती है। स्वयं अभिनवभरतने अपने सभी नाटक अभिनव रङ्गशालाके प्रतिष्ठित और विद्वान् अभिनेताओं तथा विदुषी अभिनेत्रियोंको ध्यानमें रखकर लिखे हैं और वे नाटक बड़ी ही सफलतासे रङ्गपीठपर अभिनीत हो चुके हैं। नाटककारको एक और भी व्यावहारिक बातकी ओर विशेष ध्यान रखना

चाहिए कि नाटकमें सब पात्रोंकी कुछ न कुछ विशेषता और महत्ता हो और सब पात्रोंके लिये इतना व्यापार हो कि वे आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयके द्वारा अपनी अभिनय-कुशलताका परिचय दे सकें, नहीं तो फल यह होता है कि नाटकमें भूमिकाका ग्रहण करते समय सब अभिनेता छोटी या सारहीन भूमिका ग्रहण करनेमें नाक-भौं सिकोड़ते हैं। जो नाट्यकार अपने नाटकोंमें चार सिपाही, बीस चोबदार और दस सेवक-सेविकाएँ रखते हैं उन्हें यह भली-भाँति समझ रखना चाहिए कि वे नाट्य-प्रयोक्ताके लिये बड़ा बखेड़ा खड़ा कर रहे हैं। नाटककारको नियमतः यह सिद्धान्त पालन करना चाहिए कि 'नाटकमें बहुतसे निरर्थक पात्र न रक्खे जायँ'।

### उपसंहार

इसका अर्थ यह है कि काव्य-कथानकमें पात्र थोड़े हों; उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, सङ्गति, कुल-परम्परा, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर उनकी सृष्टि की जाय और यह ध्यान रक्खा जाय कि इन सब परिस्थितियोंमें पले हुए पात्र कथानककी परिस्थितियोंमें पड़कर अपने उपर्युक्त वातावरणके प्रभावके कारण स्वभावोचित गतिसे कार्य करते हुए कथा - व्यापारमें योग देकर साहित्यकारके उद्दिष्ट फलागमको सिद्ध करें। इसी दृष्टिसे उपस्थित किए हुए पात्र अधिक स्वाभाविक और सरस प्रतीत होंगे।

### स्थान-महत्त्व

कथामें 'कोई घटना कहाँ दिखाई जाय' इसका भी बड़ा महत्त्व होता है। जिस स्थानमें कोई दृश्यपीठ न हो, किसी प्रकारका आकर्षण न हो, कथामें आनेवाले पात्रोंके आश्रय या व्यापारके लिये दृश्य - विधानकी योजना न हो, सर्व-विदित या सर्व-साधारण, पूर्व-परिज्ञात स्थान न हो, वह कथा-व्यापारको उदात्त, लोकप्रिय, रुचिकर और आकर्षक बनानेमें असफल होता है। प्रायः वही स्थान अधिक कथानुकूल होता है जो नया हो, जिसका प्रयोग पहले न हुआ हो, जिसे किसीने पहले न देखा-सुना हो या पूर्व ज्ञात होनेपर भी जिसमें कोई नया चमत्कार, नई सजावट-बनावट हो, जिसके विविध भागोंको कथा-व्यापारके लिये पात्र प्रयोग कर सकते हों।

संसार-भरकी सभी कथाओं तथा काव्योंमें तो स्थानोंका अत्यन्त विस्तृत सूक्ष्म तथा भव्य वर्णन दिया जाता रहा है किन्तु नाटकोंमें स्थानोंका केवल सङ्केत-मात्र ही किया जाता रहा है। हाँ, पुराने संस्कृत नाटकोंमें स्थान-निर्देश भी पात्रोंद्वारा ही हो जाता था, उसके लिये रङ्गाध्यक्षको कुछ नहीं करना पड़ता था। पात्र स्वयं अपने अभिनय और संवादसे उसका सङ्केत कर देते थे। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें कण्वके आश्रममें दुष्यन्तके पहुँचनेकी सूचना निम्नलिखित श्लोकके द्वारा दी गई है—

> नीवाराः शुक-गर्भ-कोटर-मुख - भ्रष्टास्तरूणामधः ।
> प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।।
> विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
> स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ।।

[ कहीं तो वृक्षोंके तले, सुग्गोंके खोसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिंगोटके फल कूटे गए हैं, कहीं निडर खड़े हुए मृग इस विश्वाससे रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें कोई हमें छेड़ नहीं सकता और कहीं नदी-तालोंपर आने-जानेकी बटियापर मुनियोंके वल्कलोंसे टपके हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं। ]

## स्थानोंका प्रयोग

आजकल योरोपीय नाटककारोंने प्रत्येक दृश्यके साथ स्थान-निर्देशकी प्रथा चलाई है और अब दृश्य-विधानके युगमें स्थान-निर्देश आवश्यक भी हो गया है, क्योंकि उसके अनुसार रङ्गपीठपर दृश्य-पीठ सजानेकी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था होने लगी है। इतना सब होनेपर भी यदि हम विश्वभरके सभी प्रसिद्ध काव्य-कथाओंके दृश्योंकी तालिका बनावें तो साहित्यकारोंने निम्नलिखित स्थानोंमें कथा-व्यापार चलाया है—

वन, उपवन, उद्यान, नदीतट, पहाड, कन्दरा, पहाड़ी या जङ्गली पथ, निर्झर, मरुभूमि, खेत, घासका मैदान, समुद्रतट, झील, कूप या वापीके पास, भवनके भीतर किसी प्रकोष्ठमें या बाहर, राज-भवन या राज-सभा या रनिवासका कोई कक्ष, झोंपडी, सार्वजनिक आँगन, भोजनालय, जलपान-घर, द्यूतशाला, मदिरालय, वेश्यालय, सड़क, बैठक, कारागार,

यन्त्रालय, सार्वजनिक स्थान ( भवन या मैदान ), जलतल, आमोदगृह, स्नानागार, चित्रशाला, यातनागृह, अंधस, युद्ध-क्षेत्र, अग्निशाला, अतिथि-शाला, युद्ध-शिविर, घुडदौड़ या रथदौडके मैदान, मल्लशाला, विद्यालय, रेल, विमान या गाड़ीके अड्डे, चिकित्सालय ( नागरिक तथा सैनिक ), सङ्गीतालय, व्यापारपीठ, हाट, दूकान, आश्रम, श्मशान, काल्पनिक नरक, काल्पनिक स्वर्ग ।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इतने बड़े संसारमें साहित्यकारोंको केवल इतने इने-गिने स्थल मिले । इसीसे ऊबकर कुछ नये नाटककारोंने निम्नलिखित स्थान और बढ़ाए—दलदलके मैदान, गन्दे नालोंके ढके हुए भाग, अपाहिज-घर, किसानोंके झोंपड़े और बाड़े, मजदूरोंके गन्दे मुहल्ले और घर, भिखारियोंके कोटर, मोचीकी मड़ैया आदि अर्थात् निम्न वर्गके प्रयोगमें आनेवाले स्थान ।

इतना होनेपर भी यह सूची अधूरी और सङ्कुचित जान पडती है । न जाने कितने प्रकारके भू-भाग, जल-भाग और नभ-भाग तथा काल्पनिक स्थान हैं और हो सकते हैं जिनकी ओर साहित्यकारोंका ध्यान अभीतक नहीं गया । वर्त्तमान साहित्यकारोंका यह धर्म है कि यदि वे अपनी कथाओंका क्षेत्र विस्तृत करना चाहें और उन्हें अधिक आकर्षक बनाना चाहें तो प्रकृति और मानव - बुद्धिद्वारा सृष्ट अपिरिमित प्रकारके स्थानमेंसे नये, अद्भुत, आकर्षक, अज्ञात और सुन्दर स्थानोंकी योजना करें क्योंकि इस प्रकारकी स्थान-योजनासे व्यापार-योजना और पात्र-योजनामें भी नवीनता तथा सरसता आती है और जो लोग पुराने ढङ्गके दृश्य और व्यापार का वर्णन पढ़ते-देखते ऊब गए या खीझ गए हैं उनका भी मनस्तोष होगा ।

### नये स्थान

निम्नलिखित स्थान विभिन्न प्रकारके नाटकीय व्यापारोंके लिये अवश्य ग्राह्य हो सकते हैं—

ज्वालामुखी पर्वत, ऐतिहासिक स्थल ( जैसे बर्नर्ड शौने अपने सीजर ऐंड क्लिओपैट्रामें 'स्फिन्क्स'का प्रयोग किया है), जलमग्न प्रदेश, जिनमें लोग लकड़ीके घरोंपर रहते हैं, गृह-नौकाएँ, तेलकी खानें, हिमाच्छादित प्रदेश, चायके खेत आदि ।

## वास्तविक और काल्पनिक स्थान

जैसे कथावस्तु वास्तविक और काल्पनिक होती है वैसे ही स्थान भी वास्तविक और काल्पनिक होते हैं। वास्तविक स्थानके अन्तर्गत पृथ्वी और आकाशसे सम्बद्ध सभी प्रत्यक्ष स्थान आ जाते हैं। काल्पनिकके अन्तर्गत वे सब स्थान आते हैं जो शुद्ध रूपसे कल्पित होते हैं। इन स्थानोंकी विवेचना करनेसे पूर्व जान लेना चाहिए कि काव्य-व्यापारके लिये सब स्थान उपयुक्त नहीं होते। नाटकके लिये तो कुछ गिने-चुने ही स्थान हैं जो रङ्गमञ्चपर उपस्थित किए जा सकते हैं। प्राचीन समयमें स्थानोंकी व्यञ्जना अभिनयके द्वारा हो जाती थी। भरतने नाट्यशास्त्रके छब्बीसवें अध्यायके चित्राभिनयके अन्तर्गत विस्तीर्ण जलाशय, आकाश, पर्वत, सागर, आदि स्थानोंके अभिनयका भी विधान दे दिया है। शेक्सपीयरके युगतक एक गत्तेके टुकड़ेपर स्थानका नाम लिखकर टाँग दिया जाता था। किन्तु आजकल ऐसा प्रतीकाभिनय नहीं होता।

आजका नाटककार कला और विज्ञानका आश्रय लेकर प्रत्यक्ष दृश्योंका विधान करता है। अतः उसी स्थानका निर्देश नाटककारको करना चाहिए जो साधारणतः रङ्गमञ्चपर दिखाए जा सकें। कभी-कभी चलचित्रके योगसे जलाशय, पर्वत और अन्य भूभाग तथा जल-भाग भी रङ्गमञ्चपर रजत पटके द्वारा दिखानेकी योजना की जाती है। अतः ऐसे स्थान-दृश्योंकी योजना उन्हीं नाटकोंमें होनी चाहिए जो विशेष रङ्गशालाके लिये लिखे गए हों। साधारण नाटकोंमें जटिल, व्ययसाध्य तथा दुःसाध्य दृश्य नहीं होना चाहिए। यदि पर्वत, सागर, मरुभूमि आदि स्थानोंका कथासे सम्बन्ध हो और तत्सम्बन्धी विवरण देना भी आवश्यक हो तो उसे पात्रों-द्वारा कहला देना चाहिए, उसके लिये दृश्य-विधानका पचड़ा नहीं खड़ा करना चाहिए। यही बात काल्पनिक स्थानोंके विषयमें है। कविको ऐसे काल्पनिक स्थानोंका विधान नहीं करना चाहिए जो सर्वसाधारण रङ्ग-व्यवस्था-पकके लिये कठिन हों।

## पृथ्वी ही वास्तविक कर्म-स्थली

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर काव्यके वास्तविक स्थान पृथ्वीके ही हो सकते हैं किन्तु आजकल विमानकी सुविधा होनेसे बहुतसे काव्य-व्यापार

आकाशमें भी हो सकते हैं। कुछ नाटकोंमें ऐसे दृश्य अवश्य आए हैं जहाँ आकाश और पृथ्वीपर एक साथ व्यापार होते हैं जैसे 'कंसवध'में कंसके हाथसे छूटकर माया आकाशमें स्थित होकर बोलती है, 'उषा-अनिरुद्ध'में चित्रलेखा अनिरुद्धको शय्या-सहित उड़ा लाती है या 'कृष्णार्जुन-युद्ध'में चित्ररथ गन्धर्व अपनी पत्नीके साथ विमान-विहार कर रहा है और वहाँसे जो पीक थूकता है वह गालव मुनिकी अञ्जलिमें गिर पड़ती है। ये सब दृश्य साधारण रङ्गशालामें भी सरल यान्त्रिक कौशलसे दिखाए जा चुके हैं और काव्योंमें तो कोई बात ही नहीं है। काव्योंमें विशेष दृश्य भूमिपरके ही दिखाए गए हैं। इसलिये भूमिके स्थानोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है।

## भूभाग

भूमिके दो भाग हैं—१. स्थल और २. जल।

स्थलके भी तीन रूप हैं—१. उन्नत, २. सम और ३. निम्न। उन्नत भागमें मिट्टी या रेतके टीले, पहाड़ी, पहाड़, पठार आदि सम्मिलित हैं और ये उन्नत भाग भी घास या वृक्षोंके कारण हरे, सूखी चट्टानोंके कारण पथरीले और हिमके कारण हिमाच्छन्न हो सकते हैं। इनमें भी चौरस भूमि, घाटी, ढाल, निर्झर, गुफा, ताल और पहाड़ी पथ हो सकते हैं। समभूमि दो प्रकारकी होती है - १. उपजाऊ और २. ऊजड़। उपजाऊ भूमिमें वन, उपवन, घासके मैदान तथा खेत आदि होते हैं। ऊजड़ भूमि रेते, कङ्कड़, पत्थर, रेह आदि ऐसे पदार्थोंसे ढकी होती है जो भूमिकी उत्पादिका शक्तिमें बाधक होते हैं। ये सब पृथ्वीके प्राकृत स्थल हैं। किन्तु मनुष्यने अपनी बुद्धि-कौशलसे भूमिपर प्राकृतिक सामग्रीसे अनेक प्रकारके स्थान बनाए हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आई है कि किस प्रकार पृथुने पृथ्वीको दुहकर अपने धनुषकी कोरसे पर्वतोंके शिखरों और टीलोंको चूर-चूर करके सारे पृथ्वी-मण्डलको समतल कर दिया और प्रजागणके रहनेके लिये, गाँव, पुर, पत्तन, दुर्ग, घोष, व्रज, शिविर, आकर, खेट, खर्वट इत्यादि बस्तियाँ बना दीं जिनमें लोग सुखपूर्वक रह सकें, क्योंकि सबसे पहले पुर, गाँव आदि कुछ न थे। इस घटनाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें मैत्रेयजी कहते हैं—

चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटान् स राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ।।
अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथाहितः ।।
ग्रामान् पुरीः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान् ब्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान् ।।
प्राग्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना ।
यथासुखं वसन्तिस्म तत्र तत्राकुतोभयाः ।।

[ ४०, २८, २९, ३२,

इन सब ग्राम, पत्तन, नगरादिमें मनुष्यने अपने निवास-स्थान बनाए, उन स्थानोंमें उसने पाठशाला, गोशाला, भाण्डारागार, गन्ध-पुष्पालय, जलागार, कोठार ( लकड़ी कोयले आदिके लिये ), अस्त्र-शाला, अतिथि-शाला, चित्र-शाला, गोष्ठी-शाला, शयन-शाला, पान-शाला, पाक-शाला, नाट्य-शाला, द्यूत-शाला, नृत्य-शाला, संगीत-शाला, और न जाने ऐसी ऐसी कितनी शालाओंका निर्माण करा डाला। मनुष्यकी इन व्यक्तिगत आवश्यकता तथा विलासकी शालाओंके अतिरिक्त कुछ लोक-शालाएँ भी बनीं जैसे देवालय, चौपाल, पञ्चघर, सभा-भवन, विलास-भवन, नाट्यशाला आदि। राजाओंके भी यहाँ उनकी आवश्यकताके अनुकूल, दुर्ग, कारागार, प्राचीर, अन्तःपुर, यज्ञ-शाला, सभा-भवन, प्रमद-वन, ग्रीष्म-भवन, उद्यान, फुलवारी, अश्व-शाला, गज-शाला, सैन्य-शिविर आदि न जाने कितने स्थान बने। इसी प्रकार व्यापारके लिये भी हाट, पणि, गोदाम तथा विभिन्न व्यवसायके अनुरूप कोठियाँ बनीं और जैसे-जैसे व्यवसायोंकी वृद्धि होने लगी वैसे ही स्थानोंकी भी वृद्धि हुई। बड़े-बड़े नगरोंमें एक खण्डसे लेकर एक सौ चार खण्डतकके भवन बन गए हैं और इन सब प्रकारके भवनोंमें व्यावसायिक कार्यालय, पुतलीघर, गोदाम आदि स्थापित हैं। उन सब प्रकारके व्यावसायिक स्थानोंकी प्रकृति भी भिन्न होती है। पहले एक नाईकी कुल विभूति उसके थैलेमें आ जाती थी किन्तु इन विशाल नगरोंकी नापित-शालाओंमें अनेक प्रकारके उच्च शिराधार सहित पीठासन, मनुष्याकार दर्पण, गन्ध-द्रव्य, साबुन, तेल, बिजलीका पङ्खा और न जाने कितने प्रकारकी सामग्रियाँ सुसज्जित रहती हैं। इसी भाँति मुद्रणालय, जलपान-गृह, भोजनालय, यन्त्र-शालाएँ

आदि न जाने कितनी व्यावसायिक शालाएँ हैं। योरोप, अमेरिका और जापानके साहित्यकारोंने ऐसे अनेक स्थानोंकी योजना की है। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे स्थल हैं जैसे सार्वजनिक गोष्ठीगृह ( क्लब ), जहाँ अनेक प्रकारके खेल और भोजनादिका प्रबन्ध होता है रेलका स्टेशन, होटल आदि जिनका उपयोग साहित्यमें होने लगा है।

प्रायः योरोपीय नाटकोंके दृश्य बैठकोंमें ही होते हैं। इब्सनके ग्यारह नाटकोंके छियालिस दृश्योंमेंसे उन्तालीस दृश्य केवल बैठकोंमें ही हैं। कभी-कभी पहाड़ी मार्ग, जङ्गल, समुद्रतट इत्यादिका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका परिमाण रङ्गमञ्चसे अधिक नहीं है। कुछ बुद्धिवादी नाटकोंमें प्रस्तुत दृश्य-विधानके साथ-साथ उसके पीछेका दृश्य दिखानेका भी विधान कुछ नाटककारोंने किया है। किन्तु यह अकाण्ड काण्ड साधारण क्या असाधारण रङ्ग-व्यवस्थापकोंके लिये भी असम्भव है। इब्सनने अपने 'लोकशत्रु, ( ऐन ऐनिमी औफ़ दि पीपिल ) नामक नाटकमें सम्पादकीय कार्यालयके पीछे मुद्रण-भवन-दृश्य दिखानेका विधान देकर सरल दृश्यको भी जटिल बना दिया है। उसमें यहाँतक भी दे दिया है कि मुद्रण-भवनमें अक्षर जोड़नेवाले अक्षर जोड़ रहे हैं। इस प्रकार मुद्रण-शाला रङ्गमञ्चपर लाना असम्भव कार्य है क्योंकि रङ्गपीठका यह एक साधारण सिद्धान्त है कि दृश्य-पीठके रूपमें जो वस्तु रङ्गमञ्चपर लाकर रक्खी जाय वह सरलतासे धरी-उठाई जा सके। इन सभी प्रकारके दृश्योंके विधानमें दो बातें स्मरण रखनी चाहिएँ। एक ऐसे दृश्यका निर्देश हो जो रङ्गमञ्चके परिमाणसे बड़ा न हो। दूसरे दृश्यमें प्रस्तुत की जानेवाली वस्तुएँ ऐसी हों जो सरलतासे रखी या हटाई जा सकें। किन्तु साहित्यके अन्य कथा-रूपोंमें तो उनका प्रयोग हो ही सकता है और होता भी है।

भूमिके उन्नत और समस्थलोंके अतिरिक्त निम्न स्थल भी होते हैं जिनमें घाटी, सूखी नदियोंके कछार, खड्ड, प्राकृतिक गढ़े आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यने कृत्रिम रूपसे अन्धकूप तथा खानोंका आविष्कार किया है। प्रायः सभी देशोंमें अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये अन्धकूप भी बनवाए जाते थे जो या तो पर्वतोंके बीच होते थे या कृत्रिम रूपसे कूपके समान होते थे। खानके लिये तो निश्चित रूपसे तीन-चार सौ हाथ नीचेतककी खुदाई

होती है और उनमें पुरुष और स्त्री काम करते हैं। अनेक रूसी साहित्यकारोंने अपनी कथाओंमें खानको ही अपनी कथाका कर्मस्थान बनाया है क्योंकि साइबेरियाकी ये अन्धखानें रूसी निरङ्कुश शासकोंके कठोर यातना-गृहके रूपमें काम लाई जाती थीं। स्थलके ये उन्नत, सम और निम्न नामक तीनों भाग काव्यके दृश्य-विधानमें आ सकते हैं और उनकी प्रकृतिके अनुसार वहाँ काव्य-व्यापारकी सृष्टि की जा सकती है। इनके अतिरिक्त सड़क, पुल, बाँध, धर्मशाला, रेललाइन, रेल, मोटर या अन्य यानोंके अड्डे, लोक, उपवन, चौक आदि अनेक परिमाण, आकार, रूप तथा विवरण बनाए जा चुके हैं या बनाए जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त मरुभूमिमें मरूद्यान और हौलैंडमें बाँधका तथा मलायामें जलके भीतर लकड़ीके लट्ठोंके मकानोंका प्रयोग होता है अतः वे भी काव्य-दृश्य बन सकते हैं। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीपर ईश्वर और मनुष्यने जितने प्रकारके स्थल बनाए हैं सबका प्रयोग साहित्यकार कर सकता है। इसके अतिरिक्त चन्द्र, मङ्गल आदि लोकोंके सम्बन्धमें जो विवरण प्राप्त हुए हैं उनके आधारपर लोग उन लोकोंके स्थलोंपर भी कथा-व्यापारकी योजना कर रहे हैं।

पृथ्वीसे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा भाग है जलका। इन जलस्थानोंके अन्तर्गत छोटी पुष्करिणी, नदी, नद, झील, तालाब, सरोवर और समुद्र आ जाते हैं। इन प्राकृतिक जलस्थानोंके अतिरिक्त मनुष्यने भी अपनी आवश्यकता तथा विलासादिके लिये इन्हींकी देखा-देखी ताल, सरोवर, झरने, राजवाहे, नहर और कृत्रिम नदियाँ, कूप, वापी, तडागादि जलाशय बनवाए हैं। प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें गृह-वापियोंके जल-विहारका बड़ा विस्तृत वर्णन दिया गया है। इन जलस्थानोंमें समुद्र, नदी-नदके तट रङ्गमञ्चपर भी दिखाए जा सकते हैं। योरोपमें ऐसी बहुत सी नाट्यशालाएँ हैं जिनमें यन्त्रके द्वारा रङ्गमञ्चका काष्ठ-पीठ हट जाता है और वहाँ सुन्दर ताल दिखाई देने लगता है। एक नाटकमें तो समुद्र-तटके किनारे दुर्ग और समुद्रमें कूदता, तैरता व्यक्ति भी दिखाया गया है। इस सम्बन्धमें नाटककारको यही स्मरण रखना चाहिए कि जो भी दृश्य दिखाया जाय वह रङ्गमञ्चके परिमाणसे बाहर न हो और उसे दिखलानेमें असुविधा न हो। नाटककारको दृश्य-विधानकी दृष्टिसे रङ्ग-व्यवस्थापकका सहायक होना

चाहिए, उसका द्रोही नहीं अर्थात् उसे रङ्ग-व्यवस्थापककी सुविधा और दृश्यकी सम्भावनाका ध्यान रखकर स्थान-निर्देश करना चाहिए।

काल्पनिक स्थानोंके प्रयोगमें भी इन्हीं उपर्युक्त सिद्धान्तोंका ध्यान रखना चाहिए। इनके अन्तर्गत जैसे भी दृश्य हों उनका विधान किया जा सकता है। इसमें ध्यान रखनेकी यही बात है कि प्रत्येक देशकी संस्कृतिके अनुसार स्वर्ग, नरक, पाताल, देवी-देवता, राक्षस और जिन्न आदिके स्थानोंका विभिन्न प्रकारका विशिष्ट वर्णन है। उन देशोंसे सम्बद्ध कथाओंमें उनके पुराणमें वर्णित विवरणोंकी अनुकूलता रखनी चाहिए।

### स्वभावपर स्थानका प्रभाव

जैसे मनुष्यके चरित्र और स्वभावपर परिस्थिति और सङ्गतिका प्रभाव पड़ता है वैसे ही स्थानका भी प्रभाव पड़ता है। पर्वतपर रहनेवालोंकी प्रकृति और मैदानपर रहनेवालोंकी प्रकृतिमें बड़ा अन्तर होता है। पर्वतवासी अधिक परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं, सम-स्थलवासी निरुद्यमी और आलसी होते हैं। इसी प्रकार समुद्र-तटपर रहनेवाले लोग साहसी, वन-प्रान्तरमें रहनेवाले लोग अधिक निर्भय, मरुभूमिमें रहनेवाले लोग अकर्मण्य, ठण्ढे प्रदेशोंमें रहनेवाले अधिक सुस्त होते हैं। स्थानके ही प्रभावसे मनुष्यके व्यवसाय, उसके खान-पान, रहन-सहन, पशु-धन इत्यादिकी परीक्षा होती है जैसे टुन्ड्रामें रहनेवाले एस्किमो लोग खालसे मढ़े हिमके मकानमें रहते हैं, बिना पहिएकी, कुत्तों या बारहसिंहोंसे खींची जानेवाली फिसलन-गाड़ीपर चढ़कर आखेट करते और बारहसिंहोंकी खालका वस्त्र पहनते हैं। केवल पारिवारिक भावनाके अतिरिक्त और कोई भावना उनमें नहीं होती है। इसी प्रकार अफ्रीकाके जङ्गलमें रहनेवाला व्यक्ति वन्य आहार-विहारके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। समुद्र-तटपर रहनेवाली जातियाँ अधिक व्यापारिक होती हैं। घासके मैदानोंमें रहनेवाले लोग गाय, बकरी, भेड़ आदि चराकर पेट पालते हैं। तिब्बतके दृश्यमें जब दो मित्र मिलते हैं तो वे परस्पर हाथ नहीं जोड़ते, वे बाएँ हाथमें अपनी टोपी ले लेते हैं और दाएँ हाथसे कान पकड़कर अपनी जीभ निकाल लेते हैं, यही उनका दण्ड-प्रणाम है। अपने ही देशमें पञ्जाबी, बङ्गाली और मद्रासियोंके आचार-विचार, रहन-सहन

वेष-भूषा, खान-पान आदि सबमें बड़ा भेद है। अतः कथाके चरित्रोंके विकासमें स्थानका उतना ही महत्त्व है जितना पात्रका या संवादका। इसीसे साहित्यकारकी यह परीक्षा भी हो जाती है कि वह विभिन्न जातियों और वर्णोंके आचार-विचार आदिसे परिचित है या नहीं और वह अपने काव्योंमें निर्दिष्ट स्थानोंके अनुसार पात्रोंके आचार-विचार इत्यादिका ठीक-ठीक चित्रण कर सकता है या नहीं। अतः साहित्यकारको स्थान तथा स्थानसे सम्बद्ध आचारके अनुसार अपने पात्र, संवाद, व्यापार और दृश्यकी योजना करनी चाहिए।

साहित्य-शास्त्रके आचार्योंने उद्दीपन विभावके अन्तर्गत जहाँ सखा, सखी, दूती, ऋतु और पवनका निर्देश किया है वहाँ वन-उपवन, नदीतट, चाँदनी, कुञ्ज आदि स्थानोंका भी उल्लेख किया है किन्तु वह स्थान-विचार भी मान्य नहीं, क्योंकि आजकल शृङ्गार अर्थात् प्रेम-व्यापारके लिये इतने स्थान हो गए हैं कि उनकी सूची नहीं बनाई जा सकती। सार्वजनिक निवास-भोजनालय (होटल), पुस्तकालय, विनोद-गोष्ठी, रेलगाड़ीके विश्रामालय, डब्बे और कारागारमें, घुड़दौड़के मैदानमें, चलचित्र-निर्माण-शाला और विमानतकमें प्रेम-संयोग होने लगे हैं। सबसे विचित्र घटना तो यह है कि अब विवाह और चुंबनतक भी टेलीफ़ोनपर होने लगे हैं। अतः साहित्यकारको समय, युग, व्यक्ति, समाज और परिस्थितिका ध्यान रखकर स्थानका विधान करना चाहिए, केवल रूढिके अनुसार उद्दीपनात्मक स्थानोंके विधानकी आवश्यकता नहीं। पहले समयमें वीरता युद्धमें दिखाई जाती थी किन्तु भारतने अपना स्वातन्त्र्य-युद्ध इस प्रकार चलाया कि मरना, पिटना, गोली खाना, फाँसी पड़ना, मोटरोंके नीचे पिस जाना तथा अन्य ऐसे दमनकारी अत्याचारोंका आखेट बनना वीरताका अङ्ग समझा गया और ये सब वीरताएँ युद्धक्षेत्रमें नहीं, वरन् सड़कों, हाटों, न्यायालयोंके सामने या कारागारोंमें दिखाई गई थीं।

### ऋतु या जलवायु

स्थानोंके साथ ही ऋतु या जलवायुकी बात आ जाती है। बहुतसे नाटककारोंने वेलाका निर्देश दिया है—जैसे प्रातःकाल, अपराह्न, सन्ध्या, रात्रि इत्यादि। यहाँतक तो ठीक है, इसके साथ-साथ वर्षा होना, बादल

घिरना, झंझावात, बिजली कड़कना आदि दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं। किन्तु जब नाटककार यह भी कहने लगता है—'गर्मीके दिन हैं, लू चल रही है या जाड़ेकी रात है' तो यह निर्देश निरर्थक और नाटककारकी सीमाके बाहर है। शेक्सपीयरके 'किंगलीअर' नाटकमें आँधीसे किङ्गलीअरका संवाद है। शेक्सपीयरके युगमें आँधी दिखानेकी व्यवस्था नहीं थी। अतः जब किङ्गलीअरके कपड़े उड़ न रहे हों तो उसका आँधीका संवाद अधिक हास्ययुक्त ही प्रतीत होता है। इसीलिये जौन्सन जैसे विद्वान्ने उसकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इस वैज्ञानिक युगमें आँधी-पानी दिखानेका प्रबन्ध तो हो सकता है किन्तु गर्मी और जाड़ेका रङ्ग-निर्देश दर्शकोंको किस प्रकार कराया जा सकता है, यह तो केवल पात्रोंके संवादमें ही कहलाया जा सकता है जैसे यदि जाड़ेकी ऋतुका दृश्य उपस्थित करना है तो तत्सम्बन्धी दृश्यमें पात्रोंसे कहला दिया जाय कि 'कितना भयङ्कर जाड़ा है!' और फिर दाँत कटकटाने, थरथराने, वस्त्र खींच-खींचकर ओढ़ने तथा दोनों मुट्ठियाँ आदि बाँधनेकी क्रिया करके दर्शकोंको यह समझाया जा सकता है कि यह दृश्य जाड़ेका है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओंके विषयमें भी होना चाहिए। उसे केवल ऐसा रङ्ग-निर्देश नहीं देना चाहिए जो प्रदर्शन-अभिनेता और रङ्गव्यवस्थापक, या किसी भी व्यवस्थापकके सामर्थ्यके बाहर हो। किन्तु अन्य प्रकारके काव्योंमें तो सब ऋतुओंका वर्णन हो ही सकता है।

इस विवेचनसे यह निश्चय हो गया कि—

काव्य-कथाओंमें स्थानोंका निर्देश करते हुए स्थान-प्रदर्शनकी सम्भावना तथा प्रदर्शनीय समाजके युग, संस्कृति, पात्र और देशके अनुसार स्थान-निर्देश किया जाय।

## साहित्यमें व्यापार-योजना

रचना-कौशलके कथावस्तु प्रकरणमें हम आगे बतावेंगे कि कथा-रचनामें पात्र, और व्यापारकी आवश्यकता पड़ती है और जबतक व्यापार या कार्य न हो तबतक पात्र या स्थानका कोई महत्त्व नहीं। निश्चेष्ट पात्र और निर्जन स्थान चाहे जितने सुन्दर या भव्य हों, वे तबतक नाटकके लिये व्यर्थ हैं जबतक कि वे किसी घटनाके अङ्ग न बनें। इन घटनाओंमें मनुष्यकी स्वाभाविक गति, उसकी मानसिक क्रियाके अनुरूप चेष्टाएँ, दैवी घटनाएँ, आकस्मिक

घटनाएँ सभी नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आ सकती हैं। इनमें कुछ तो व्यक्तिगत होती हैं जिन्हें करने या न करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको होता है जैसे—चोरी करना, हत्या करना, कहीं जाना, किसीसे प्रेम करना आदि; कुछ सामूहिक होती हैं, जैसे—आक्रमण करना, मिलकर व्यापार करना, नटखटपन करना आदि ; कुछ दैवी होती हैं, जैसे—बिजली गिरना, आग लगना, घर या वृक्षका गिरना, बाढ़ आना, नाव उलटना, बाँध टूटना इत्यादि; कुछ सामाजिक होती हैं जो सामाजिक नियमोंके पालन करने या करानेके लिये की जाती हैं, जैसे—किसी असामाजिक कार्य करने, जाति-बहिष्कार या देश-द्रोह करने और देश-निष्कासन होने आदिपर। कभी-कभी किसी विशेष सिद्धान्तकी रक्षा या आदर्शकी स्थापनाके लिये भी कोई व्यापार करना पड़ता है, जैसे—रामका वनवास। कुछ ऐसी भी घटनाएँ हैं जो मनुष्यकी इच्छा पूर्ण न होनेपर उसके मानसिक विकारके फलस्वरूप होती हैं, जैसे—व्यापार नष्ट होने या किसी कामके सफल न होनेपर पागल होना, हत्या कर लेना आदि। ये सब बड़ी बड़ी घटनाएँ हैं और ये घटनाएँ या तो कथाकी पूर्ण घटना हो सकती हैं या अङ्ग-घटना हो सकती हैं किन्तु एक घटनाके अन्तर्गत भी बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाएँ होती हैं और उन उपघटनाओंकी भी अङ्गीभूत अन्य उपाङ्ग घटनाएँ हो सकती हैं। यदि हम सीता-हरणकी ही घटना लेंगे तो उसमें प्रधान घटना यह है—

'शूर्पणखाने रामसे विवाहका प्रस्ताव किया। अस्वीकार करनेपर जब उसने अपना विकट वेश दिखाया तब रामके सङ्केतपर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिए। उसने रावणके पास जाकर पुकार की और रावणने मारीचकी सहायतासे सीताका हरण किया।' इस प्रधान नाटक-घटनाको यदि अङ्ग-घटनाओंमें बाँटना हो, तो इसके शुद्ध रूपसे तीन घटनाङ्ग बनाए जा सकते हैं—प्रथम अङ्गमें शूर्पणखाको रामके पास जानेसे लेकर लक्ष्मण-द्वारा नाक-कान काटनेतककी घटना, दूसरे अंगमें शूर्पणखाकी पुकारसे लेकर मारीच और रावणके मिलन और षड्यन्त्रतककी घटना और तीसरे अंगमें मारीचके स्वर्णमृग बननेसे लेकर सीताके अपहरणतककी घटना।

इन तीनों अङ्गभूत घटनाओंमें अनेक उप-घटनाओंका समावेश हो सकता है। प्रथम अंगमें निम्नलिखित उपघटनाएँ और सहायक घटनाएँ होती हैं—रामको देखकर शूर्पणखाका सुन्दरीका रूप-धारण, रामके पास जाकर प्रेमकी बात

करना, रामका उसे लक्ष्मणके पास भेजना, लक्ष्मणका उसे फिर रामके पास भेजना, रामका फिर उसे लक्ष्मणके पास भेजना, इस व्यवहारसे रुष्ट होकर शूर्पणखाका राक्षसी वेश धारण करना, जानकीका भयभीत होना, रामका लक्ष्मणको सङ्केत करना और लक्ष्मणका नाक-कान काटना।

इन उपर्युक्त उपघटनाओंके अन्तर्गत भी अनेक क्रियाएँ हो सकती हैं, जैसे— शूर्पणखाका रामके पास वेश धारण करके जानेकी उपघटनाके अन्तर्गत निम्नाङ्कित कार्य हो सकते हैं—कुछ विशेष तान्त्रिक या जादूकी क्रियासे अपना वेश बदलना, विशेष हाव-भावके साथ, मुस्कानके साथ, रामके पास जाकर खड़ा होना, बात करना, शिष्टाचार दिखाना, परिचय पूछना, लक्ष्मणके पास उसी भावसे जाना, दो-तीन बार आने-जानेसे खीझना, रुष्ट होना, प्रलाप करना, रामका विशेष रूपसे सङ्केत करना, लक्ष्मणका तलवार निकालना, कौशलसे नाक-कान काट लेना, शूर्पणखाका रोष-पूर्ण वचन कहना।

इसका तात्पर्य यह है कि कथाकी एक मुख्य घटना होती है, उसकी विशिष्ट अङ्गभूत-घटनाएँ, अङ्ग-घटनाओंमें अनेक उपघटनाएँ और उन उपघटनाओंमें अनेक क्रियाएँ होती हैं। ये सब कथा-व्यापारके अन्तर्गत आती हैं।

कथा-व्यापारकी घटनाएँ या तो नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायक होती हैं या उसका विरोध करती हैं। सहायक घटनाओंके अन्तर्गत वे सब कार्य या व्यापार आते हैं जो नाटककारके उद्दिष्ट फलागमकी ओर कथा-प्रवाहको ले चलनेमें सहायक होते हैं। ये व्यापार या कार्य तीन प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं—१. या तो नायकके अपने कौशल-बुद्धि, चेष्टा, गुण या स्वभावसे प्रेरित होकर अथवा २. नायकके मित्र, सहयोगी, सहानुभूति करनेवाले, नायकमें रुचि रखनेवाले अथवा ३. परोक्ष रूपसे नायकका हित-चिन्तन करनेवाले या नायिकाकी ओरसे चेष्टा करनेवाली उन सखियोंकी ओरसे। इन व्यापारोंसे नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायता मिलती चलती है। कभी यह सहायता दैवयोगसे भी प्राप्त होती है। उसमें नायक अथवा नायकके अन्य सहायकोंकी सहायता न तो आवश्यक होती है न तो उसका कोई महत्त्व होता है। दैवयोगसे मिलनेवाली सहायता दो प्रकारकी होती है—एक तो वह जिसमें केवल आकस्मिकता भरी होती है और वह पीछे ऐसी जान पड़ने लगती है मानो वह अत्यन्त स्वाभाविक हो।

## सहायक घटना

दूसरी सहायक घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनमें सचमुच किसी दैवी शक्ति या भाग्यका ही विशेष विधान हो। ऐसी घटनाओंमें निरन्तर यही विश्वास होता है कि यह असम्भव बात थी, किसी प्रकारसे भी उसकी सम्भावना नहीं हो सकती थी। इससे आश्चर्य उत्पन्न होता है। यदि हम अभिज्ञान शाकुन्तलकी सहायक घटनाका समीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि दुष्यन्तका शकुन्तलाकी रक्षाके लिये पहुँचना, उसका रूप और तेज, उसके मधुर व्यवहार आदि गुण, चेष्टा और कौशल शकुन्तलाको मोहित करनेके लिये सहायक सिद्ध हुए। अनसूया और प्रियंवदाकी चेष्टाएँ और विदूषकके व्यापार भी इस फलागममें सहायक सिद्ध हुए। मातलिका इन्द्रके पाससे सन्देश लेकर आना और दानव-विजयसे लौटकर मारीचका कश्यपकी ओरसे लौटना आदि घटनाएँ ऐसी प्रतीत होती होती हैं कि दैवसंयोग होते हुए भी उनमें कोई विलक्षणता या आश्चर्यजनक बात नहीं प्रतीत होती और वहाँ शकुन्तलासे मिलन तथा दुर्वासाके शापसे मतिभ्रष्ट होनेकी घटनाएँ स्वाभाविक-सी और अपरिहार्य-सी जान पड़ती हैं। किसीके हाथ मछलीके पेटसे अँगूठी प्राप्त होना ऐसा दैवयोग है जिसे सुनकर आश्चर्य ही होता है। यह शुद्ध रूपसे भाग्यकी बात है कि वही मछली उस मछुएने पकड़ी जिसके पेटमें अँगूठी थी। अतः कथा-व्यापारमें तीनों प्रकारकी सहायता अपेक्षित होती है।

## बाधक घटना

जिस प्रकार कथा-व्यापारमें कुछ घटनाएँ सहायता देती हैं उसी प्रकार कथाके प्रवाहमें कुछ घटनाएँ बाधा भी उत्पन्न करती हैं। ये घटनाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—एक तो वे हैं जो नायककी, नायकके मित्रों और सहायकोंकी, नायिकाकी, अथवा नायिकाके सम्बन्धियों और सहायकोंकी भूलसे, अवगुणसे, मूर्खतासे या अविचारसे हो जाती हैं। दूसरे प्रकारकी घटनाएँ वे हैं जो प्रतिनायक अथवा उसके साथियोंकी चेष्टा या कुचक्रोंसे अथवा किसी बाहरी व्यक्तिके रोषसे रची जाती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जिनमें दैवका हाथ होता है, जिनमें कुछ सम्भाव्य जान पड़ती हैं और कुछ आकस्मिक। अभिज्ञान शाकुन्तलमें ही दुष्यन्तका माधव्यसे कहना—

परिहासविजल्पितं सखे! परमार्थेन न गृह्यतां वचः

[ हँसीमें कही हुई बात ( कि शकुन्तलापर मैं भी मोहित हो गया हूँ ) सच न समझ बैठना । ]

आगे चलकर इतना घातक हुआ कि जब शकुन्तलाका प्रत्याख्यान किया गया तब विदूषकको शकुन्तलाके प्रेमकी कथा स्मरण ही न आई । इसी प्रकार दुर्वासाके शापसे शकुन्तला और दुष्यन्तके मिलनकी सारी सम्भावना तत्काल लुप्त हो जाती है। यह दूसरे प्रकारका विरोध है जो बाहरी व्यक्तिके कारण हुआ। इसी प्रकार दैवयोगकी घटनाओंमें दुर्वासाका आगमन और उँगलीसे अँगूठीका निकल जाना ऐसी दैवी घटनाएँ हैं जो सम्भाव्य तो प्रतीत होती हैं किन्तु हुईं दैवयोगसे ही । सानुमती-द्वारा शकुन्तलाका हरण कर लिया जाना ऐसी आकस्मिक दैवी बाधा है जिसपर सहसा विश्वास नहीं होता और जो अकस्मात् हो जाता है ।

## तीन प्रकारकी घटनाएँ

संसार भरकी जितनी भी क्रियाएँ या चेष्टाएँ हैं उन सबका विश्लेषण करके हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि सब घटनाएँ या तो मनुष्यकी अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, चेष्टा और गुणके फलस्वरूप होती हैं या उन घटनाओंमें दूसरे सहायकों या विरोधियोंका हाथ होता है अथवा ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनमें मनुष्यका कोई हाथ नहीं होता, जो केवल संयोगसे अथवा दैवयोगसे होती हैं और जिनके आगे मनुष्यकी सब शक्ति और बुद्धि निरर्थक और असहाय जान पड़ने लगती है । इन घटनाओंके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी अत्यन्त नैतिक और धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक और पापपूर्ण कार्य करनेको विवश हो जाते हैं । कभी-कभी भ्रम-वश वह ऐसा काम कर बैठता है जिससे पीछे उसे पश्चात्ताप होता है । कभी-कभी मनुष्यके उन प्रयत्नोंका फल एकदम उलटा हो जाता है और ऐसा विषम परिणाम निकलता है जिसकी कोई कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है । यह भी दैवसंयोग ही है—

बिधिबस सुजन कुसङ्गति परहीं ।

इन घटनाओंमें जहाँतक दैवका हाथ है वह तीन प्रकारका होता है—१. या तो फलकी प्राप्ति करनेवाला नायक ही बीचमें समाप्त हो जाता है, अथवा, २. उसका फलागम ही असम्भव हो जाता है, अथवा ३. कुछ ऐसी परिस्थितियाँ

आ खड़ी होती हैं कि मनुष्यको विवश होकर अपने इष्ट फलके विपरीत आचरण करना पड़ता है।

## दो प्रकारकी क्रियाएँ

मनुष्यकी अपनी क्रियाएँ भी दो प्रकारकी होती हैं जिनसे इष्ट फलकी प्राप्ति भी होती है और उसमें बाधा भी पड़ सकती है—

१. मनुष्य या तो कुछ स्वयं करता है या २. औरोंको कुछ करनेके लिये प्रेरित करता है। यदि यह वाणी, यह क्रिया और यह प्रेरणा सत्य हुई और उसमें कोई दैवी बाधा न हुई तो निश्चय ही फलकी प्राप्ति होती है। इससे विपरीत यदि इस वाणी, कार्य या प्रेरणामें कुछ भूल हुई अथवा असद्वृत्तिका योग हुआ तो निश्चय ही फल-प्राप्तिमें बाधा होगी। हाँ, यदि दैवयोग सहायक हो जाय तो दूसरी बात है। कुशल कथाकारको इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका मेल करके घटनाओंका सुन्दर गुम्फन करना चाहिए और जहाँतक सम्भव हो दैव-योगका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि दैवयोगके प्रभावसे तो कोई भी सम्भव कार्य असम्भव किया जा सकता है और असम्भव कार्य सम्भव। कथा-रचना कौशलकी दृष्टिसे केवल उन्हीं घटनाओंका समावेश काव्यमें करना चाहिए जो उस विशिष्ट परिस्थितिमें स्वाभाविक और अपरिहार्य जान पड़ें। ये घटनाएँ जितनी अधिक स्वाभाविक होंगी और दैवयोगसे रहित होंगी उतना ही अधिक कथाकारका कौशल सराहनीय समझा जायगा। यदि कालिदासके समान कोई दैवयोगको भी अपरिहार्य और सम्भाव्य रूपसे उपस्थित कर सके तो वह भी कुतूहल उत्पन्न करनेमें सफल हो सकता है। किन्तु फिर भी दैवयोगका प्रवेश नाटककारके कौशलमें सदा हीनता ही उत्पन्न करता है।

## व्यापार-संयोग

साहित्यकारको यह स्मरण रखना चाहिए कि उसे थोड़े-थोड़े समयके पश्चात् नये पात्रों, उपघटनाओं, चेष्टाओं तथा भावावेगोंका इस प्रकार विधान करते रहना चाहिए कि कथामें नीरसता न आने पावे। यद्यपि संवाद भी कथाका विशेषतः मुख्य अङ्ग है किन्तु उसमें व्यापार या कार्योंका अधिक प्रदर्शन होना चाहिए, संवादका कम। यह कार्य या चेष्टाएँ निम्नलिखित प्रकारकी हो सकती हैं—बैठे-बैठे या लेटे-लेटे उठ खड़े होना, ध्यान बदलना, लिखना, पुस्तक बाँचना, सीढ़ीपर चढ़ना-

उतरना, खिड़की खोलकर बाहर झाँकना, पात्रोंका भीतर आना और जाना, विशेष प्रकारसे सिंहासनोंपर बैठना, पीठोंपर हाथ टेककर खड़े होना, घबराहट, भय, आशंका और मनोविकारके कारण सहसा उद्विग्न होकर उन्मत्त-चेष्टा करना, चित्र बनाना, वाद्य बजाना, हर्ष या उन्मादसे नाचने लगना, मुँह बनाना, वस्त्र पहनना, अस्त्र-शस्त्र घुमाना, मद्यपका-सा आचरण करना आदि। ये सब ऐसी चेष्टाएँ हैं जिन्हें अङ्ग-व्यापारमें डालकर कथाकी गति वेगयुक्त बनाई जा सकती है। किन्तु पात्रोंको इन क्रियाओंका आदेश देते समय पात्रके पदका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। एक साधारण श्रेणीका व्यक्ति सहसा सम्पत्ति पाकर हर्षसे नाच सकता है किन्तु कोई विद्वान्, गम्भीरी पुरुष या राजाके लिये उस प्रकारका आचरण अस्वाभाविक हो जायगा। इस प्रकार गम्भीर, प्रौढ, वृद्ध तथा उच्च पदस्थ लोगोंकी क्रियाओंमें धैर्य अधिक होता है, गति भी होती है किन्तु अल्पवयस्क, युवक तथा निम्न श्रेणीके पात्रोंकी गति वेगवती होती है और उनमें संयमका अभाव होता है। इन्हीं चेष्टाओंके अनुसार ही भाव-प्रदर्शनका भी विधान होना चाहिए। जिस अवसरपर गम्भीर और उच्च पदस्थ व्यक्ति मुस्कराते हैं, वहीं उद्धत और अभिमानी पुरुष रूखी कुटिल हँसी हँसता है, अर्थ-लोलुप व्यक्ति दाँत दिखाकर दैन्यमुद्रा साधता है और युवा तथा अल्पवयस्क उसीपर ठठाकर हँस देता है। अतः साहित्यकारको उपघटनाओंकी चेष्टाओंके साथ-साथ मानसिक भावोंके प्रदर्शनका भी विधान करना चाहिए, जिनके अन्तर्गत मुस्कराना, कटाक्ष फेंकना, अनुरागभरे नेत्रोंसे देखना, आँखसे सङ्केत करना, नथने फुलाना, ओठ चबाना, दाँत पीसना, पैर पटकना, नाक-भौं सिकोड़ना, खीझना, आश्चर्यसे आँखें फाड़कर देखना, खिसियाना, लजाना, मुँह फेरना, छेड़-छाड़ करना, सिसकियाँ भरना, आँसू बहाना, डरना, घबराना, हबुआना, घिग्घी बाँधना, रोना, चिल्लाना, गाली देना और हाथ मटकाना आदि सब मानसिक भावोंके अनुरूप अनुभावोंका प्रदर्शन आ जाता है। साहित्यकारका धर्म है कि उपर्युक्त सभी चेष्टाओं तथा आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक अनुभावोंका रह-रहकर इस प्रकार प्रयोग करे कि ग्राहक एक क्षणके लिये भी नीरसताका अनुभव न करे। क्योंकि वे ही साहित्यकार सदा असफल होते आए हैं जिन्होंने नाटकको केवल सम्वाद और उपन्यासको केवल कथा समझ लिया

है। वास्तवमें सम्वाद और कथा तो इन घटनाओंके सहायक होकर ही आए हैं। घटनाओं या नाटकीय व्यापारोंके बिना कथा-साहित्य कदापि सम्भव नहीं।

### तीन प्रकारके व्यापार

कथात्मक व्यापार शुद्ध रूपसे तीन प्रकारके होते हैं—

१. जिनमें एक या कई मनुष्य किसी इष्ट व्यक्ति, वस्तु या पद प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रयत्नमें उन्हें सफलता या असफलता मिलती है। ये प्रयत्न दो प्रकारसे होते हैं—(क) सदुपायोंका आश्रय लेकर और (ख) दुरुपायोंका। सदुपायोंमें सर्वप्रधान सहायक अपना संस्कार-पूर्ण मन होता है, जिसकी मूल प्रेरणा ही मनुष्यको सत्कार्यमें प्रवृत्त करती है। इसीके लिये कालिदासने लिखा है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

[ सज्जनोंको जिन बातोंमें सन्देह हो उनमें जो उनका मन निर्णय कर दे वही प्रमाण है, वही ठीक है। ]

इन सदुपायोंमें दूसरे सहायक होते हैं मित्र, सम्बन्धी आदि इष्टजन। इनमें तीसरा सहायक होता है दैवयोग और चौथे, सबसे अधिक सहायक हैं अपने सद्गुण, अपनी बुद्धि और अपना कौशल। जहाँ कहीं इष्ट व्यक्ति, इष्ट वस्तु या इष्ट पदकी प्राप्तिमें सफलता हुई है वहाँ केवल उपर्युक्त चार प्रकारके साधन उपयोगमें लाए गए हैं।

इन प्रयत्नोंमें जो बाधाएँ पड़ती हैं वे भी चार प्रकारकी होती हैं—

( अ ) पहला बाधक तो हमारा द्वन्द्वात्मक मन ही है। युद्धक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके उपस्थित हो जानेपर अर्जुनके मनमें व्यामोह हुआ—

न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।

[ मैं अपने बन्धुओंको युद्धमें मारकर किसी प्रकारकी भलाई नहीं देख रहा हूँ। ] अतः इस कार्यमें सर्वप्रथम बाधा प्रायः अपने मनकी होती है। यह मानसिक बाधा दो प्रकारके लोगोंके द्वारा प्रवृत्त होती है—(क) जो या तो अत्यन्त धार्मिक हों या (ख) अत्यन्त कादर तथा अव्यवस्थित-चित्त हों।

(आ) दूसरे प्रकारकी बाधा वह है जो अपने मित्र, सम्बन्धी, इष्ट जन या शत्रुओंके द्वारा हित करनेकी सद्भावना या अहित करनेकी दुर्भावनाओंसे प्रेरित हो। नारदजी अपने विवाहके लिये उत्सुक हुए और भगवान् विष्णुसे

उनका रूप माँगा। उस समय विष्णुने हितकी कामनासे उनके विवाहमें बाधा डाली। अहित-कामनासे बाधा डालनेके उदाहरण तो प्रत्यक्ष जीवनमें ही अनेक मिलते हैं, जहाँ किसीके प्रेम, व्यापार तथा यशमें अनेक स्वजन ही प्रतिस्पर्धी शत्रु या बाधक बनकर खड़े हो जाते हैं।

तीसरे प्रकारकी बाधा है दैवबाधा जिसपर मनुष्यका कोई वश नहीं। जिस प्रकार दैवसंयोग इस कार्यके लिये अनुकूल हो जाता है वैसे ही वह प्रतिकूल भी हो जाता है। यह दैवयोग दो प्रकारका होता है—एक तो स्व-सम्बन्धी, दूसरा इष्टजन-सम्बन्धी। जैसे, किसी विशेष रोगसे पीड़ित होना, कहीं चोट खा जाना, अङ्ग-भङ्ग होना, सहसा व्यापार नष्ट होनेसे दरिद्र हो जाना, अपने किसी इष्ट जनके वियोगसे अनाथ और निराश्रित हो जाना या उन्मत्त हो जाना आदि घटनाएँ स्वसम्बधी हैं। कभी-कभी इष्टजन-सम्बन्धी ऐसी दैवी घटना हो जाती हैं कि वे भी इष्ट कार्यमें बाधक हो जाती हैं, जैसे—इष्ट व्यक्तिका निधन अथवा विपत्तिमें पड़ना या देश-परिवर्त्तन तथा इस प्रकारकी अन्य घटनाएँ।

नगर-ग्राम-सम्बन्धी घटनाएँ भी इस कार्यकी सफलतामें बाधक हो सकती हैं जैसे—शत्रुका आक्रमण, अग्निकाण्ड, नदीकी बाढ़, साम्प्रदायिक या वर्गीय झगड़े, महामारी, भूकम्प, आँधी, प्रलय, वर्षा आदि।

इस फलमें राष्ट्र-सम्बन्धी घटनाएँ भी बाधक होती हैं। शत्रुपर आक्रमण, युद्ध, खण्डप्रलय तथा अन्य ऐसी सामूहिक विपत्तियाँ और परिस्थितियाँ भी बाधक हो जाती हैं जैसे छः वर्ष पूर्व भारत और पाकिस्तानके बटवारेपर करोड़ों परिवारोंकी धन, जन, गृह, और मानसिक निश्चिन्तताकी अपार हानि हुई है।

२. दूसरे प्रकारके कथात्मक व्यापार वे हैं जिनमें दृढ चरित्रवाले व्यक्ति किसी विशेष आदर्शकी स्थापनाके लिये आत्म-त्याग, सर्वस्व-त्याग, इष्ट-वियोग प्रवास, शारीरिक असुविधा, यातना तथा कष्ट सहते हैं।

३. तीसरे प्रकारके कथात्मक व्यापार वे हैं जिनमें दृढ चरित्रवाला दुष्ट पुरुष नियमित रूपसे दूसरोंको पीडा देता या दिलाता हो, दूसरोंका जन, धन, अपहरण करता या कराता हो अथवा अपने हठ और दुर्बुद्धिसे जानबूझकर या अनजाने ऐसी परिस्थिति उपस्थित कर देता हो जिससे वैयक्तिक या सामूहिक रूपसे लोगोंको कष्ट प्राप्त होता हो। इन कथात्मक व्यापारोंमें प्रायः एक व्यक्ति ही प्रधान होता है और वह इतना समर्थ तथा

शक्तिशाली होता है कि उसकी शक्ति, समर्थता तथा साधन-सम्पन्नताका सक्रिय विरोध करनेके लिये उतने ही शक्तिशाली पुरुषकी अपेक्षा होती है। इस प्रकारकी घटनाओंमें दैवयोगका विशेष उपयोग करनेसे ही कथाकी स्वाभाविकता बनी रह सकती है अन्यथा प्रतिस्पर्धीकी योजना करनेमें अस्वाभाविक होने तथा असत्य हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है। प्राय: दूसरे और तीसरे प्रकारके कथात्मक व्यापार एक साथ ही प्रयुक्त किए जाते हैं, जिनमें एक ओर कोई सत्यनिष्ठ दृढ पुरुष लोक-कल्याणके लिये सर्वस्व त्याग करनेकी निष्ठा प्रदर्शित करता है और दूसरी ओर कोई दृढ दुष्ट सबका अकल्याण और अमङ्गल करनेके लिये ही कटिबद्ध रहता है। विश्वभरके प्राय: सभी नाटककारोंने इस द्वन्द्वमें घटनाओंका संयोजन दैवी आधार देकर इस प्रकार किया है कि दुष्टका पतन होता है और सज्जनकी विजय होती है। इसीको काव्यका न्याय ( पोएटिक जस्टिस ) कहते हैं।

### घटनाओंके चार सम्बन्ध

उपर्युक्त घटनाओंका विवेचन करके हम इस परिणामपर पहुँचे कि संसारमें होनेवाले व्यापार और घटनाएँ चार सम्बन्धोंपर आश्रित होती हैं—१. स्वसम्बन्ध, २. इष्टजन-सम्बन्ध, ३. नगर-ग्राम-सम्बन्ध और ४. राष्ट्र-सम्बन्ध। यदि हम अपने सम्बन्धको विश्व-बन्धुत्व और लोकमङ्गलकी सीमातक खींच ले चलें तो एक सम्बन्ध और बढ़ जायगा 'विश्व-सम्बन्ध।'

### स्वसम्बन्धी घटनाएँ

स्वसम्बन्धी घटनाएँ कुछ हितकर होती हैं कुछ अहितकर होती हैं। हितकर घटनाएँ वे होती हैं जो हमारी कामैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको तृप्त करती हैं। कामैषणाको तृप्त करनेवाली घटनाओंमें मुख्य तीन बातें आती हैं—१. सौम्य, सुन्दरी, पतिव्रता, इष्ट कन्यासे विवाह। २. पुत्रप्राप्ति, और ३. पुत्र-सुख अर्थात् पुत्रकी विद्या, गुण और यशसे मानसिक तुष्टि। इस सम्बन्धमें विवाह, पुत्र-प्राप्ति तथा पुत्र-सुखमें भी चारों प्रकारकी सहायता मिलती है—अपने रूप और गुणकी, अपने मित्रों और सम्बन्धियोंकी, दैवयोगकी अथवा मन्त्र-तन्त्र, औषधि-प्रयोग की। इसमें बाधा भी या तो अपने मित्र, सम्बन्धी या शत्रु देते हैं या अपनी कोई त्रुटि या दुर्गुणसे होती है अथवा दैवयोग बाधक होता है। मित्र, सम्बन्धी या शत्रुकी ओरसे

पड़नेवाली बाधा या तो व्यक्तिगत होती है या समाजको उकसाकर कराई जाती है अथवा मन्त्र-तन्त्र या औषधके बलसे उपस्थित की जाती है ।

वित्तैषणाकी तृप्तिके चार उपाय हैं—

१. अपने गुणके कारण होती है जैसे—विद्या प्राप्त करके, वीरतासे, दूसरोंकी रक्षा करनेका पुरस्कार पाकर, सौजन्यसे अथवा शारीरिक सौन्दर्यके कारण ।

२. व्यापारके द्वारा धन अर्जन करके । यह भी दो प्रकारसे हो सकता है—सचाईके साथ और असत्प्रयोगसे । यद्यपि संसारमें असत्प्रयोगसे द्रव्यार्जन करनेवाले बहुतसे लोग सुखी भी पाए जाते हैं किन्तु आचरणकी शिक्षा देनेवाले और लोकमङ्गलकी कामना करनेवाले साहित्यकारका यह कर्त्तव्य है कि वह असत्प्रयोगसे द्रव्योपार्जन करनेवाले लोगोंका अन्त इतना बुरा दिखावे कि व्यापारी लोग अधर्मसे पैसा कमाना अपने सर्वनाशकी सूचना समझें । इस सद्व्यापारमें भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ कुछ तो अपने स्वभाव और भूलोंसे और कुछ मानवीय तथा दैवी कारणोंसे हो सकती हैं ।

३. वित्तैषणाकी तृप्तिका तीसरा कारण दैवयोग भी हो सकता है । सहसा भूमि खोदनेसे धन मिल जाना, अकथ भाग प्राप्त होना , कहींसे सहसा पुरस्कार अथवा भाग्य-खेल ( लौट्री ) आदिसे प्राप्त होना, ससुरालसे प्राप्त होना आदि हैं । ये सब या तो दैवयोगसे ही घटित होते हैं, या

४. हीन उपायोंसे यह वित्तैषणा तृप्त की जा सकती है और वे हैं चोरी, डाका, किसी दीनका भाग हरण करना, छूटी हुई भूमि या धन हड़प कर लेना, धरोहर निगल जाना, किसीको मारकर उसकी धन-सम्पत्तिका स्वामी बन बैठना आदि । साहित्यकारको इस प्रकारके दुष्कृत्योंसे धन उपार्जन करनेकी समस्त वृत्तियोंका अन्त इतना भयानक दिखाना चाहिए कि जो दर्शक इस वृत्तिके हों वे भी इस अन्तको देखकर 'त्राहि-त्राहि' कर उठें । इन परिणामोंके प्रदर्शनके लिये कुछ ऐसे विधान बताए गए हैं जैसे आत्महत्या करना, किसी अत्यन्त निकृष्ट प्रकारसे निकृष्ट व्यक्तिके द्वारा उसकी हत्या होना, पुत्र-पौत्र आदि सबका क्षय होना, भयानक स्वप्न दिखाई पड़ना, घरमें आग लगना, किसी ऐसे अत्यन्त बीभत्स रोगसे ग्रस्त होना जिसमें उसे अत्यन्त पीड़ित और जर्जर होकर जीवन बिताना पड़े ।

लोकैषणा-वृत्तिकी तृप्तिके भी दो उपाय हैं—१. अपने गुणोंसे यश प्राप्त करना और २. औरोंकी निन्दा करके तथा कुचक्रद्वारा दूसरेको नीचा दिखाकर यश और पद प्राप्त करना। अपने गुणोंसे जो यश प्राप्त किया जाता है उसके अतिरिक्त अपने सम्बन्धियों तथा दैवयोगके द्वारा भी यश प्राप्त हो जाता है। ऐसी लोकैषणाकी तृप्तिके लिये विद्वान्, साहसी, तेजस्वी, नीति-कुशल, लोक-हितकारी और सज्जन पात्र होना चाहिए। जो यश दूसरेकी हानि करके, निन्दा करके या अपकार करके अर्जित किया जाता है उसका फल भयानक दिखाना चाहिए। कभी-कभी दैवयोगसे भी यश प्राप्त हो जाता है जैसे, सहसा किसी देशमें पहुँचकर दूसरोंके द्वारा राजा या नेता चुना जाना और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि अनिच्छा रहते हुए भी संयोगवश दूसरोंकी देखा-देखी या लोकनिन्दाके भयसे कोई कार्य ऐसा हो जाता है जिससे सहसा ख्याति हो जाती है। कभी-कभी मनुष्य अपने घरवालोंसे चिढ़कर लोकहितके लिये अपना सर्वस्व देकर ऐसी संस्थाएँ स्थापित कर देता है जिससे उसकी कीर्ति चिरस्थायी हो जाती है। कभी-कभी सनकमें भी ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनसे बिना परिश्रम किए यश प्राप्त हो जाता है। साहित्यकारको ऐसी घटनाएँ अधिक काममें नहीं लानी चाहिएँ। उसे केवल उन घटनाओंपर विशेष ध्यान देना चाहिए जो स्वयं किसी व्यक्तिके अपने गुण-अवगुण या कार्यके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप उपस्थित हुई हों। कुछ योरोपीय प्रहसनकारों और व्यंग्य-लेखकोंने लोकैषणाकी तृप्तिमें आकस्मिक और दैवी घटनाओंका समावेश अवश्य किया है जिसके दूसरे प्रहसनों तथा व्यङ्ग्य नाटकोंपर बड़ा प्रभाव भी पड़ा है।

स्वसम्बन्धी अहितकर घटनाओंमें शरीर, यश, धन, जन, पशु, सम्पत्तिकी हानि ही प्रधान है। शरीरकी हानि या यातना, विष, फाँसी, आत्महत्या, जलमें डूबना, ऊँचे स्थानसे नीचे गिरना, दुष्टोंद्वारा अथवा राजपुरुषों-द्वारा अनेक प्रकारकी नृशंस यातना सहना, रोगग्रस्त होना किसी दीवाल या भवनके नीचे दब जाना, किसी जानवरसे काटा, मारा या दबाया जाना, वृक्षसे गिरना तथा इस प्रकारके अन्य उपादानोंसे शारीरिक और मानसिक कष्ट प्राप्त करना है। यह सब शारीरिक हानि इष्ट व्यक्ति, यश अथवा धनकी हानिसे, अप्राप्तिसे अथवा कोई बात न सहन करनेसे होती है। कभी-कभी अपने किसी इष्टका विपरीत आचरण देखकर भी मनुष्य

प्राण-त्याग कर देता है और कभी स्वयं अपनी मूर्खता अथवा भूल या भ्रमसे भी शरीरकी हानि कर देता है। यश और धनकी हानिके लिये भी प्रायः अपने इष्ट, मित्र या शत्रु सहायक होते हैं या दैव ही विपरीत हो जाता है। कभी-कभी अपने पुत्र और पुत्रियोंके दुराचारसे ऊबकर भी लोग मृत्युकी शरण लेते हैं। ये सब घटनाएँ स्वसम्बन्धी होती हैं।

### इष्टजन-सम्बन्धी घटनाएँ

इष्टजन-सम्बन्धी घटनाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—१. इष्टप्राप्ति, २. उसका वियोग और ३. उसके कारण सुख-दुःख। अपने किसी प्रियको प्राप्त करना इष्टप्राप्ति कहलाता है, उससे बिछुड़ना इष्ट-वियोग कहलाता है। इष्ट-प्राप्तिके लिये साहित्यकारको ऐसी घटनाओंका संयोग करना चाहिए जिसमें नायकके व्यक्तिगत गुण, उसके मित्रों और सम्बन्धियोंका सहयोग तथा दैवयोगकी सहायताका हाथ हो। इष्ट-वियोगमें नायकके दुर्गुण उसकी भूलें, दूसरोंकी प्रेरणा या कुचक्रका समावेश हो। कभी-कभी इष्ट-वियोगका लक्ष्य उदात्त हो जाता है। जहाँ कोई व्यक्ति किसी दूसरेके हितके लिये जान-बूझकर अपने पुत्र, स्त्री या अन्य किसी निकटतम सम्बन्धीका त्याग या बलिदान करे। इष्ट-वियोगमें दैवयोगका प्रयोग करना भी नाटकको अधिक आकर्षक बना देता है। कभी-कभी इष्ट-प्राप्तिके लिये प्रपञ्च, छल, मिथ्याचार मन्त्र, तन्त्र, अभिचार-प्रयोग तथा अन्य अनुचित उपायोंपर भी अवलम्बित किया जाता है। जहाँतक परस्पर स्नेही व्यक्तियोंके लिये ऐसे उपायोंका व्यवहार किया जाय वहाँतक तो ठीक है किन्तु जब एक व्यक्ति किसी दूसरेको उसकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्राप्त करनेके लिये छल, बल, कौशल आदिका प्रयोग करे तब वह प्रयोग अनुचित है और वह केवल प्रतिनायकों-द्वारा ही कराना चाहिए।

### नगर-ग्राम-सम्बन्धी घटनाएँ

तीसरे नगर-ग्राम-सम्बन्धी या सामाजिक घटनाओंमें शत्रुका आक्रमण, अग्नि-काण्ड, जल-प्रलय, सम्प्रदाय, वर्ग, सामाजिक नियमों या रूढिसे सङ्घर्ष, सामूहिक आन्दोलन, महामारी, भूकम्प और प्रभञ्जन आदि हैं। अनिष्टकारी घटनाओंके विपरीत [सार्वजनिक सभाएँ, उत्सव, पर्व, मेले,

चुनाव आदिमें होनेवाली घटनाओंका भी प्रयोग नाटकीय व्यवहारके निर्वाहार्थ किया जा सकता है ।

### राष्ट्र-सम्बन्धी घटनाएँ

राष्ट्र-सम्बन्धी घटनाओंमें शत्रुका आक्रमण, खण्ड-प्रलय, भूकम्प, चुनाव, दुर्भिक्ष, सामूहिक आन्दोलन आदि घटनाओंके संयोगसे भी कथा-व्यापारमें सहायता या बाधा उत्पन्न की जा सकती है ।

### विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ

विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ तीन प्रकारकी हो सकती हैं—

१. पारस्परिक राजनीतिक व्यवहारसे सम्बद्ध, जिनके कारण अन्य देशोंसे समयपर सहायता प्राप्त हो सकती है या विरोध हो सकता है ।

२. सांस्कृतिक सम्बन्ध जिनके कारण विभिन्न राष्ट्रोंमें पारस्परिक एकता स्थापित हो सकती है, और

३. व्यवसाय-सम्बन्ध, जिनके कारण एकसे दूसरे देशमें आवश्यक वस्तुओंका लेना-भेजना बन्द होनेसे व्यापक कष्ट हो सकता है और चलाए रखनेसे आर्थिक समृद्धि हो सकती है ।

इन पाँचों सम्बन्धोंवाली घटनाएँ मूलतः दैवयोग, व्यक्तिगत आचरण और व्यक्तियों तथा समाजोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंके आचरणोंपर अवलम्बित हैं । अतः पात्रोंके कर्म, शील, कौशल, भाव आदिके अनुसार दैवयोगका सम्मिश्रण करते हुए कथा-व्यापारकी घटनाओंका गुम्फन करना साहित्यकारका धर्म है ।

### साहित्य-विषयपर भारतीय आचार्य

ऊपरके विवरणसे प्रतीत होगा कि संसार और संसारके बाहरकी तथा मनुष्यकी कल्पनामें आनेवाली कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो साहित्यमें वर्णित न की जा सके । इसीलिये भरत मुनिने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें कहा है—

न तज्ज्ञानं त तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

[ कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, कर्म और योग ऐसा नहीं है जो नाट्यमें न दिखाया जा सके । ]

भामहने भी अपने काव्यालङ्कारमें काव्यके विषयकी मीमांसा करते हुए कहा है—

न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया ।
जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः ।।

[ कोई शब्द, अर्थ, शिल्प और क्रिया संसारमें ऐसी नहीं है जो काव्यका अङ्ग न बन जाय, इसीलिये कविके ऊपर सचमुच बड़ा भारी भार है । ]

आनन्दवर्धनने भी यही सङ्केत करते हुए कहा है—

वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते । न तदस्ति वस्तु किञ्चित्, यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् ।

[ संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी न किसी रसका अङ्ग न बन जाती हो । संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कविके मनमें एक विशेष प्रकारका भाव न उत्पन्न कर देती हो क्योंकि यदि वह किसी विशेष प्रकारका भाव उत्पन्न न करे तो वह काव्यका विषय ही नहीं बन सकती । कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारकी सब वस्तुएँ साहित्यका विषय बन सकती हैं । ]

आनन्दवर्धनने तो संसारकी वस्तुओंकी ही बात कही है किन्तु हम पीछे बता आए हैं कि कवि केवल प्रत्यक्ष संसारका ही नहीं वरन् मानस संसारका भी वर्णन और चित्रण करता है । धनञ्जयने अपने दश-रूपकमें कहा है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम् ।
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।।
यद् वाप्यवस्तु कविभावकभावनीयं ।
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ।।

[ सुन्दर, घृणित, उच्च, नीच, भयानक, हर्षदायक, गम्भीर और विकृत कोई भी वस्तु हो, वह कवि या सहृदयकी भावनासे भावित होकर संसारमें रस बन जाती है । ]

शेक्सपियरने अपने 'मिड्-समर नाइट्स ड्रीम'में काव्य-विषयका सङ्केत करते हुए कहा है 'कविकी दृष्टि अत्यन्त तन्मयतापूर्ण आनन्दोन्मादसे घूमती हुई स्वर्गसे पृथ्वी और पृथ्वीसे स्वर्गतक देख जाती है और जैसे-जैसे अज्ञात वस्तुओंके रूपोंको कल्पना मूर्त्त करने लगती है वैसे-वैसे कविकी लेखनी

उनको आकार प्रदान करती है, और जो वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं उनका भी नामकरण और स्थानयोजन कर देती है।'

शेलीने 'काव्यका समर्थन' ( ए डिफेन्स ऑफ़ पोइट्री ) में लिखा है—

'कविता प्रत्येक वस्तुको मनोहरता प्रदान करती है। जो अत्यन्त सुन्दर है उसके सौन्दर्यको संवर्धित करती है और जो अत्यन्त विरूप होती है उसे सौन्दर्य प्रदान करती है।' ले हन्टने अपने 'कविता क्या है ?' ( ह्वाट इज़ पोइट्री ? ) शीर्षक निबन्धमें कहा है कि 'विश्व-भरमें जो कुछ है सभी काव्यका विषय है।' प्रसिद्ध दार्शनिक शौपेनहावरने कहा है कि 'ससारमें कोई निश्चित सुन्दर वस्तुएँ नहीं हैं, अर्थात् कोई वस्तु अपनेमें सुन्दर नहीं होती। प्रत्येक वस्तु सुन्दर समझी जानेके योग्य है और यदि हममें उसे समझनेकी आवश्यक प्रतिभा हो तो सम्भवतः अनेक प्रकारसे सुन्दर समझी जा सकती है।'

आचार्य शुक्लजीने कविके इस व्यापक साम्राज्यका विवरण देते हुए कहा है—

'लोकमें फैली हुई दुःखकी छायाको हटानेमें ब्रह्मकी आनन्द-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणतामें भी अद्भुत मनोहरता, कटुतामें भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डतामें भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरोधोंका यही सामञ्जस्य कर्म-क्षेत्रका सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुलताका सामञ्जस्य ही लोक-धर्मका सौन्दर्य है।' और यह केवल कर्म-क्षेत्र और लोक-धर्मका ही नहीं, साहित्यका भी सौन्दर्य है क्योंकि कवि कर्म-क्षेत्र और लोक-धर्मके इसी सौन्दर्यका दर्शन करता, उसीसे भावित होता और उसीका निरूपण करता है अतः जितने विषय गोचर हो सकते हैं और जिनकी कल्पना की जा सकती है वे सभी काव्यके विषय हो सकते हैं।

काव्यका विषय जाननेके पश्चात् सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि इतना बड़ा भार लेकर कवि अपने कवि-कर्ममें प्रवृत्त ही क्यों होता है ? क्या उसे इस झञ्झटमें पड़नेसे कोई विशेष आनन्द मिलता है ? अथवा उसके किसी स्वार्थकी सिद्धि होती है ? क्योंकि भामहने कविके जिस महान् भारका सङ्केत किया है उसे उठाते हुए क्यों कोई व्यक्ति दुरूह काल्पनिक कार्यमें

व्यस्त होता है ? यह सचमुच एक बड़ी समस्या है जिसका समाधान होना ही चाहिए।

## काव्यका प्रयोजन

प्रश्न यह है कि 'कविगण या लेखक इतनी सामग्रीका प्रयोग किस लिये करते हैं।' पीछे बताया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ कहना चाहता है, किसी ढङ्गसे कहना चाहता है, किसी प्रेरणासे कहना चाहता है और किसीके लिये कहना चाहता है ? अतः हमें यह विचारना चाहिए कि वह क्यों कहना चाहता हैं। पीछे कई प्रसङ्गों हम बता चुके हैं कि मनुष्य या तो स्वयं अन्तःस्फुरणसे कोई गीत गा उठता है या बाहरकी घटनाओं दृश्योंके इन्द्रियानुभवसे अपने मनपर पड़े हुए प्रभावकी प्रतिक्रियाके रूपमें कुछ कह उठता है। अर्थात् उसके मनमें जो सहसा आकस्मिक कोई भावना आई अथवा उसने जो कुछ सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत देखा या सुना उस अपने आनन्दको स्वयं सुरक्षित रखने अथवा दूसरोंको सुना देनेके लिये वाणीके रूपमें व्यक्त करता चलता है। कभी-कभी मनुष्य कुछ अपनी लौकिक आवश्यकताओं और वृत्तियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये भी काव्य-रचनाका सहारा ढूँढता है। राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसा कहा है—

स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।

[ जैसा कविका स्वभाव होगा वैसा ही उसका काव्य होगा। ]

### मम्मटका मत

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर मम्मटने काव्य प्रकाशमें काव्यका प्रयोजन समझाते हुए कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे॥

[ यशके लिये, द्रव्य कमानेके लिये, व्यवहार सिखानेके लिये, विपत्ति दूर करनेके लिये, तत्काल आनन्द प्राप्त करनेके लिये और सदुपदेशके लिये काव्य रचा जाता है। ] अर्थात् कवि अपने काव्यके द्वारा यश प्राप्त करना चाहता है, धन प्राप्त करना चाहता है, लोक-व्यवहार सिखाना चाहता है, कान्ताके

समान उपदेश देना चाहता है, स्तोत्र आदि लिखकर विपत्तिसे मुक्त होना चाहता है और तत्काल आनन्द प्राप्त करना या कराना चाहता है ।

किन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे प्रयोजन हो सकते हैं। अपने किसी प्रियको प्रसन्न करनेके लिये, काव्यकला दिखानेके लिये, राजनीतिक या सामाजिक सिद्धान्तों तथा नीतियोंके प्रचारके लिये, वर्णनके लिये, वस्तुका विज्ञापन करनेके लिये, किसी विशेष व्यक्ति या वर्गकी निन्दा-स्तुतिके लिये, किसीके प्रति शोकोद्गार व्यक्त करनेके लिये भी काव्यका प्रयोग किया जाता है किन्तु ये सब विज्ञापन है और साहित्यका प्रयोग ऐसे काव्योंके लिये करना साहित्य-व्यभिचार है। इस दृष्टिसे साहित्यके चार प्रकारके प्रयोजन हो गए हैं—

१. स्वार्थ-सिद्धिके लिये ।
२. निःस्वार्थ भावसे उपदेश देने या लोकमङ्गलके लिये ।
३. कला-प्रदर्शनके लिये ।
४. आनन्द-सिद्धिके लिये ।

### वास्तविक काव्य-प्रयोजन

कवि निरंकुश होता है, स्वतन्त्र होता है वह समस्त संसारका गुरु, निर्लिप्त द्रष्टा और चित्रकार होता है। वह प्रजापतिके समान जब जैसी चाहे तब तैसी सृष्टि रचता है किन्तु किसीके बन्धनमें नहीं रहता। अतः जो कवि विज्ञापनके लिये, किसीको प्रसन्न करनेके लिये, किसी दल, नीति तथा सिद्धान्तके बन्धनमें पड़कर, अपने विवेकको तिलाञ्जलि देकर, पराधीन-चेतस् होकर रचना करता है वह कवि नहीं 'भाट' है ; जो अपने आत्माको कीलित और विवेकको तिलाञ्जलि देकर दूसरोंके द्वारा निर्दिष्ट नीतिमें बँधकर रचना करता है वह कवि नहीं, कविकुल-कलंक है। सुकविकी स्वयं एक अपनी पृथक् सारयुक्त सत्ता होती है, जिसके आश्रयपर वह निर्भीक तथा निःशङ्क होकर स्वतन्त्र रचना करता है ।

### समाज-सुधार

कुछ कवियोंने डङ्का पीटकर समाज-सुधार अथवा नैतिक संस्कारके लिये भी रचनाएँ की हैं किन्तु यह उद्देश्य तो प्रत्येक सुन्दर कवितामें गौण रूपसे उपस्थित रहता ही है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—

हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति

[ यह नाट्य हितकर उपदेश देनेवाला होगा। ]

तात्पर्य यह है कि संसारका हित करना काव्यका प्रयोजन नहीं वरन् काव्यमेंसे व्यञ्जित होनेवाले काव्यार्थका काम है। इसीलिये आचार्योंने बताया है कि काव्यका उद्देश्य है—'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्तिः' अर्थात् काव्यसे चतुर्वर्ग ( धर्म, अर्थ काम, मोक्ष ) की सिद्धि होनी चाहिए और काव्यसे पाठकोंको यह परिणाम निकालना चाहिए—

रामादिवद्वर्त्तितव्यं न रावणादिवत्।

[ राम आदिके समान आचरण करना चाहिए, रावण आदिके समान नहीं। ]

बहुतके कवि ऐसे अवश्य हैं जिन्होंने शुद्ध रूपसे उपदेश देनेके लिये ह। अथवा कोई आदर्श स्थापित करनेके लिये ही काव्य-रचना की है। टौल्स्टाय जैसे मनीषी लेखकोंने कहा भी है—'साहित्य या कलाका उद्देश्य है लोक-जीवनका संस्कार', और वह भी साधारण जीवनका सुधार नहीं वरन् उससे और भी बहुत आगे। आचार्य शुक्लजीने कहा है—हृदयपर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारोंको सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृतिके साथ मनुष्यकी अन्तःप्रकृतिका सामञ्जस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ताके प्रकाशका प्रयास करती है।'

## योरोपीय आचार्योंका मत : उपदेश और आनन्द

काव्यके प्रयोजनके सम्बन्धमें योरोपमें बड़ा त्वञ्चाहञ्च चला। वहाँ उदात्तवादी ( क्लासिसिस्ट्स ) तथा नवोदात्तवादी ( निओक्लासिसिस्ट्स ) यही मानते रहे कि 'काव्यका प्रयोजन शिक्षा देना है'। किन्तु एमील ज़ोला और फ्लाउबे आदि फ्रान्सीसी प्रकृतिवादियों ( नैचुरलिस्ट्स ) और तथ्यवादियों ( रीअलिस्ट्स ) ने यह हल्ला मचाया कि 'कला कलाके लिये है, शिक्षाके लिये नहीं।' इसकी विशेष चर्चा हम अलग वादोंके साथ करेंगे। किन्तु उन सब मतोंको जान लेना चाहिए जिन्होंने काव्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए हैं।

योरोपमें विशेषतः यूनानमें बहुत दिनोंतक व्यापक रूपसे यही माना जाता रहा कि 'काव्यका प्रथम उद्देश्य शिक्षा देना ही है।' प्लेटोके समयमें

तो यह विचार और भी दृढताके साथ मान्य था और हेसियड तो कहता था कि 'केवल पद्य ही ऐसी वस्तु है जो कण्ठस्थ की जा सकती है।' यूनानमें बालकोंको कविता इसलिये पढ़ाई जाती थी कि उससे वे देवताओंके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करें, अनुकरणीय चरित्रोंका अध्ययन करें और अनेक सैन्य-सञ्चालन आदि विषयोंका ज्ञान प्राप्त करें। प्लेटोने होमरको अपने गणतन्त्रसे इसीलिये बाहर रक्खा क्योंकि उसने देवताओंको अनैतिक रूपमें चित्रित किया, अखेलेस्को रुलाया और उसका काव्य किसीको भी सेनापति नहीं बना सका। प्लेटोके इस सिद्धान्तको क्रोचेने 'कलाका अनस्तित्व मानना' ( निगेशन ऑफ़ आर्ट्स) बताया है। उसने यह भी कहा है कि 'यह उपदेशवादका सिद्धान्त अत्यन्त असङ्गत है क्योंकि होमरने सेनापतित्वपर पुस्तक नहीं लिखी थी, उसने तो काव्य लिखा था।' 'काव्य-शास्त्र' (पोएटिक्स) में अरस्तूने कविताके उपदेशात्मक महत्त्वको स्वीकार करते हुए यह कहा कि 'उसके सौन्दर्य-पक्षका भी मैं विवेचन करना चाहता हूँ।' इस दृष्टिसे सर्वप्रथम अरस्तूने ही योरोपमें कविताको सौन्दर्यकी दृष्टिसे देखना प्रारम्भ किया। हौरेसने अपने 'आर्सपोइतिका' में कहा—'कविको चाहिए कि वह शिक्षा दे, प्रसन्न करे या दोनों कार्य करे।' लुक्रेतियसने उपदेशकी बात तो मानी किन्तु उसके साथ मम्मटके कान्ता-सम्मित उपदेशकी योजना भी जोड़ दी। इसे समझाते हुए उसने कहा कि 'जैसे वैद्य लोग बच्चोंको कड़वी औषधि पिलाते समय पात्रके चारों ओर मधु लगा देते हैं उसी प्रकार कविताका बाह्य रूप सुन्दर होना चाहिए, जिससे कि उसकी मधुरताके कारण लोग उसे ग्रहण करें और फिर उसके उपदेशको आत्मसात् कर जायँ।' मध्य युगमें पहुँचकर भी लोग उपदेश ही काव्यका लक्ष्य मानते रहे और दाँतेने भी कहा कि 'कविता इसलिये होनी चाहिए कि वह हमें दुःखसे आनन्दकी ओर ले जाय।' सिड्नीने हौरेसके मतसे कुछ थोड़ा-सा भिन्न होकर कहा कि 'कवितासे आनन्दप्रद शिक्षा ( डिलाइटफुल टीचिंग ) प्राप्त होनी चाहिए।' तासोने हौरेसके सिद्धान्तका विवेचन करते हुए कहा कि 'जितना वीर-काव्य है वह आनन्द देनेके साथ हितकर होता है अर्थात् आनन्दके ही कारण लोग उससे लाभ उठाते हैं क्योंकि आनन्द ही लोगोंको पढ़नेके लिये प्रेरित करता है। किन्तु सम्पूर्ण काव्यका ही उद्देश्य सम्भवतः यही है कि 'वह आनन्दके द्वारा लाभ सिद्ध करे।' इसपर बड़ा मतभेद हुआ। कास्तेलवेत्रोने कहा कि 'कविता

केवल जनताको प्रसन्न करने और मनोविनोदके लिये ही प्रारम्भ हुई अर्थात् इसलिये कि वह अपढ जनता और साधारण मनुष्यके मस्तिष्कको प्रसन्नता दे और उसका मनोविनोद करे। सत्रहवीं शताब्दिमें पियरे कौर्नीलने कहा—'नाट्यकाव्यका उद्देश्य केवल यही है कि वह दर्शकोंको आनन्द दे' किन्तु साथ-साथ उसने यह भी कहा कि 'मैं उनका विरोध नहीं करता हूँ जो आनन्दके साथ-साथ हितकर होनेकी भी बात करते हैं।' ड्राइडनने अपने 'नाटकीय काव्यपर निबन्ध' (ऐसे औफ़ ड्रमेटिक पोइट्री) में कहा है कि 'यह मानव-मात्रके आनन्द और उपदेशके लिये है' अर्थात् उसमें उपदेश और आनन्द दोनोंको ही शिक्षाका उद्देश्य माना है। वर्ड्स्वर्थने अपने 'प्रगीत काव्य' लिरिकलबैलेड्सकी भूमिकामें कहा है कि 'कवि केवल एक यही बन्धन मानकर लिखता है कि मनुष्यको मनुष्य होनेके नाते जितना ज्ञान होना चाहिए उसके अनुसार उसे तात्कालिक आनन्द प्राप्त हो जाय।' शेली कुछ अधिक मुँहफट था, उसने कहा—'उपदेशात्मक कवितासे तो मैं घृणा करता हूँ', किन्तु आगे चलकर वह कहता है—'मेरा उद्देश्य अबतक केवल यही रहा है कि पाठकोंके विशिष्ट वर्गोंकी अत्यन्त उदात्त कल्पनाको नैतिक उच्चताके श्रेष्ठतम आदर्शोंसे परिचित करा दूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि जबतक मनुष्य नैतिक सदाचारके सिद्धान्तोंसे स्नेह न करे, प्रभावित न हो, उनमें विश्वास न करे और उन्हें सहन न करे तबतक ये सिद्धान्त उन बीजोंके समान है जो चलती सड़कपर अज्ञान पथिकोंके पैरोंसे कुचले जाकर लूल बन गए हैं।' गेटेने इसने तनिक-सा परिवर्त्तन करते हुए कहा—'अच्छी साहित्य कृति हमें शिक्षा नहीं देती, हमें बल देती है।' कीट्सने पोपके काव्यकी आलोचना करते हुए कहा—'कविताका महान उद्देश्य यह है कि वह मित्र बनकर हमारी चिन्ताओंका शमन करे और मनुष्योंके विचार ऊपर उठा दे।'

काव्य-द्वारा शिक्षा देनेके सिद्धान्तका विरोध करते हुए पोने कहा—'जब कविता कविताके लिये हो, तभी श्रेष्ठ होती है।' इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा कि 'मनुष्यका अन्तिम ध्येय सुख है। शिक्षा तो केवल इस सुखके लिये मार्ग प्रदर्शित करती है किन्तु कलाएँ तो हमें ठीक उस सुखतक पहुँचा देती है।' 'कलार्थे कला'के सिद्धान्त वालोंने इस शिक्षावाले उद्देश्यका विरोध करते हुए बहुत-सी बातें कही हैं—बौडेलेयरने कहा है कि 'सब वस्तुएँ स्वभावसे बुरी होती हैं। प्रत्येक युगमें मानवताको ऐसे कलाकारों और महापुरुषोंकी

आवश्यकता पड़ती रही है जो सन्मार्ग दिखावें अत: सम्पूर्ण गुणोंके उद्भवका आधार होनेके कारण कला ही प्रधान है।' वौस्कर वाइल्ड आदिने यह बताया कि 'जीवन सदा कलाका अनुकरण करता है और कला ही जीवनकी श्रेष्ठताके मान स्थापित करती है।' इसीलिये पेटरने कहा कि 'जीवनको ललित कलाके रूपमें ही बिताना चाहिए।' रैमी दे गौर्मौंने और भी एक पग आगे बढ़कर कहा—'कलाकी एक और भी कारणसे प्रधानता है। कलासे यह नहीं समझना चाहिए कि वह किसी व्यक्ति या समूहको सुधारकर ऊँचा उठा देगी। उससे ऐसी आशा करना तो ऐसा ही है जैसे गुलाबको इसलिये श्रेष्ठ समझना कि उससे गुलाबजल निकालकर आँख भी अच्छी की जा सकती है।'

इसी युगमें ऐसे भी लोग उत्पन्न हुए जो काव्यका उद्देश्य पुन: शिक्षा देना ही मानने लगे। रस्किनने स्पष्ट कहा था 'कलाओंका मुख्य उद्देश्य ही यह होना चाहिए कि वह जनताको शिक्षा दे।' उसने कविता या कलाके तिहरे उद्देश्य बताए—

१. मनुष्योंकी धार्मिक भावनाओंको शक्तिशाली बनावे,

२. उनकी नैतिक स्थिति ठीक करे और

३. उन्हें व्यवहार-ज्ञान सिखावे।

उसका मत था कि 'आनन्द तो उन कलाओंके उचित रूपसे कार्य करनेका चिह्न-मात्र है। वह उद्देश्य नहीं, वरन् कलाके साथकी उपज है।' टौल्स्टौयने रस्किनके इन तीन उद्देश्योंमेंसे प्रथम दोका समर्थन किया और हौरेसने अन्तिम दो का। बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें उदार कहलानेवाले अनेक व्यक्तियोंने 'कलार्थे कला'की ही पुकार मचाई। इसपर लोगोंने यह टिप्पणी की कि 'अपनी मूर्खता के कारण और नियम-पालन करनेमें असमर्थता होनेके कारण उनसे मुक्त होनेके लिये ही यह कोलाहल किया जा रहा है।' टी० एस्० ईलियटने इस सिद्धान्तको निरर्थक बताते हुए कहा कि 'इस सिद्धान्तका हल्ला तो बहुत होता है किन्तु व्यवहार कुछ नहीं, क्योंकि सब लोग कुछ न कुछ सिखाने और जतानेके लिये ही साहित्य-रचना करते हैं। कोई भी ऐसा लेखक नहीं है जो कलाके लिये उसकी रचना करके उसे प्रदर्शनकी सामग्री बनावे, प्रचारकी नहीं।'

नव मानवतावादी (निओह्यूमेनिस्ट्स) लोग तथा उस सिद्धान्तको माननेवाले समीक्षक, उपन्यासकार, नाटककार और कवि सभी अपने

समाजवादी दृष्टिकोणके कारण अपनी सब रचनाओंमें उपदेशवादको ही प्रधानता देते हैं, कलावादको नहीं।

### वास्तविक प्रयोजन

एक बार फिर रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे किसीने पूछा कि 'आप क्यों लिखते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—मेरे मनमें आता है लिखूँ, बस लिख देता हूँ।' यही बात सब लेखकोंकी होती है। कोई अच्छा कवि उपदेश देनेके लिये नहीं लिखता, वह तो अपनी मस्तीमें लिखता है। उससे यदि कोई उपदेश निकाले तो निकाल ले, पर कवि उपदेश देनेकी वृत्तिसे नहीं लिखता। फिर भी कुछ तो ऐसे कवि होते ही हैं जो विशेष उद्देश्योंके अनुसार लिखते हैं। इन विद्वानोंने काव्यका प्रयोजन इतना उच्च दिखाकर कवियोंको आकाशमें चढ़ा दिया है किन्तु यदि हम कवियोंके जीवन-चरितका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि कविता निम्नलिखित उद्देश्योंसे ही की गई है—

१. आत्म-विज्ञापन, २. अर्थ-प्राप्ति, ३. किसी सम्प्रदाय या नीतिका समर्थन, ४. किसी वादका प्रतिपादन, ५. उपदेश, ६. प्रार्थना, ७. स्तुति, ८. वर्णन, ९. समाज-सुधार, १०. भावाभिव्यञ्जन ११. स्वान्तःसुखाय तथा १२. काव्य - चातुर्य-प्रदर्शन। वास्तवमें काव्यका तो मुख्य प्रयोजन है आनन्दकी सृष्टि करना और आनन्दानुभूति, किन्तु आनन्द-प्रदानकी दृष्टिसे कोई रचना नहीं करता। अधिकांश कवि आजकल केवल अर्थ-लिप्सा और यशो-लिप्साके लिये अथवा किसी वादके फेरमें पड़कर कविता रचते हैं इसलिये साहित्यकार या तो वे व्यापारी रह गए हैं या भाट।

### प्रोत्साहन

प्रायः सभी देशों और कालोंमें अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ किसी राजा, राज्य, धनी, उदार, प्रकाशक, समाज या संस्थाके प्रोत्साहनसे लिखी गईं। भारतमें तो विक्रमादित्यने परिपाटी ही चला दी थी जो पीछेके सभी राजाओंने अपनाई और जिसके लिये सबसे अधिक ख्याति पाई धाराके राजा भोज ( ग्यारहवीं शताब्दि ) ने जिसके यहाँ सदा कवियोंका बड़ा जमावड़ा रहता था। अतः प्रतिभा और व्युत्पत्तिसे सम्पन्न कवि भी तबतक काव्य-रचनाके पचड़ेमें नहीं पड़ता जबतक उसे भोजनादिकी निश्चिन्तता न हो। 'भूखे भजन न होहिं

गोपाला' के साथ यह भी कहना चाहिए—'भूखे कबित न होहिं गोपाला ।' अतः कविताके लिये पूर्ण निश्चिन्तता अत्यन्त अपेक्षित है क्योंकि जबतक पञ्चांगुलि-संयोगकी ठीक व्यवस्था नहीं होगी तबतक उदरप्रान्तमें गणेशवाहन घमाचौकड़ी मचायँगे और मस्तिष्कमें रोटियोंके स्वप्न। अतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और समाधिके साथ-साथ भोजनकी निश्चिन्तता भी अत्यन्त अपेक्षित है। इस निश्चिन्तताके होनेसे ही कल्पना ठीक कार्य करती है और श्रेष्ठतम काव्यकी उत्पत्ति होती है।

# कवि

जो रचना करता है वह साधारणतः कवि या लेखक कहा जाता रहा है। इधर थोड़े दिनोंमें उसके लिये साहित्यकार और कलाकार शब्दका प्रयोग चल पड़ा है। हम कवि और साहित्यकार नामसे ही उसकी विवेचना कर रहे हैं।

## प्रकृति और अभ्यास

पिण्डरने दो प्रकारके कवि बताए हैं—

१. जो प्रकृतितः बहुत-सी बातें जानते हैं।

२. जिन्होंने विद्याके द्वारा अपनी काव्य-कला सीखी है।

इस विभाजनसे उसने यह परिणाम निकाला है कि 'सम्पूर्ण मानवीय सद्‌गुण सहज और परम्परागत होते हैं।' पिंडर आदिका कहना था कि 'स्वयं प्रकृति ही दैवकी ओरसे सब वस्तुओंमें प्रेरणा देनेवाली और व्यवस्था करनेवाली शक्ति है। इसलिये कवि जन्मसे ही होता है, बनाया नहीं जाता।' पीछेकी यूनानी साहित्यिक सैद्धान्तिक प्रणालियोंमें साहित्यिक क्रिया और साहित्यिक योग्यताके सम्बन्धमें यह माना गया कि 'कविमें कुछ तत्त्व तो स्वाभाविक होते हैं और कुछ अध्ययन तथा प्रयास-द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। इन सब अनेक प्रकारके मानवीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये कुछ सिद्धान्त निर्मित किए जाते हैं।' इन्हें हम कई नामोंसे पुकार सकते हैं प्रकृति और अभ्यास, ज्ञान और प्रकृति, नियमित क्रिया और कला या केवल प्रकृति और कला। इस प्रकारके जितने भी सिद्धान्त बनाए गए उन सबमें प्रकृतिको ही पहला स्थान दिया गया। प्रायः सभी आचार्योंका मत रहा है कि 'यह सहज सामर्थ्य ( नेटिव एन्डाउमेन्ट ) साहित्यकी श्रेष्ठताके लिये

अनिवार्य गुण है ।' कुछ लोगोंका कहना है कि 'जो प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य तत्त्व बताए गए हैं वे स्वाभाविक योग्यताको बौद्धिक प्रक्रिया और लेखानुभवसे पूर्ण कर देते हैं ।' अरस्तूके समयसे ही यह विचार मान्य होने लगा था कि 'कविताकी क्रिया तो प्रकृतिकी रचनात्मक प्रक्रियाओंका अनुकरण ही है अतः काव्यकी सफलता इसीमें है कि वह सार्वभौम क्रियाओं और मनुष्यकी वासनाओंका ठीक-ठीक चित्रण कर सके ।'

रोमन युगमें सिसरोसे लेकर लौञ्जिनसतक सभीने यह कहा कि 'साहित्यिक पूर्णताके लिये प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक शक्ति और कला दोनोंका पारस्परिक सहयोग आवश्यक है ।' किन्तु साहित्यिक कलाके सम्बन्धमें साधारणतः यह विश्वास रहा है कि 'वह ( साहित्य-कला ) प्रकृतिके नियमोंसे बँधी हुई है ।' अपनी नियमित क्रियाके द्वारा अच्छे लेखनके लिये सार्वभौम प्रकृतिको एक व्यवस्थित शैली चाहिए । प्रकृति अर्थात् अन्तःप्रेरणा या सहज योग्यता या प्रतिभाको पूर्ण करनेवाली कलाके सम्बन्धमें समझा जाता है कि 'यह अतीतके बड़े-बड़े लेखकोंके अभ्यासोंमें प्रतिबिम्बित होती है ।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'होमर डैमस्थेनेस आदिकी साहित्यिक प्रणालियों और कौशलोंके अनुकरणके साथ कलाका सामञ्जस्य करके ही कवि अपनी सहज शक्तिको पूर्ण सफल और व्यवस्थित कर लेता है । यह पूर्णता प्रकृतिके अनेक रूपोंमें दिखाई देनेवाली रूप-सज्जाओं ( पैटर्न ) से ली जाती है ।' सिसरोका मत है कि 'व्यापक प्रकृति सब मनुष्योंमें एक प्रकारकी ऐसी साहित्यिक रुचि उत्पन्न कर देती है जिससे वे समझ सकें कि भाषाके प्रयोगमें क्या मूलतः सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण है ।' रोमीय साम्राज्य-युगके समीक्षकोंका मत रहा है कि 'साहित्यिक श्रेष्ठताकी समीक्षा करना केवल उन्हीं बुद्धिमान् व्यक्तियोंका काम है जिन्होंने स्वाभाविक रुचिसे ही कलामें श्रेष्ठ और हीनका अन्तर समझना सीख लिया है ।' यही मत पुनर्जागरणकालमें मान्य रहा और अठारहवीं शताब्दिके साहित्यिक सिद्धान्तवादियोंने भी यही स्वीकार कर लिया ।

मध्ययुगमें यह माना जाने लगा कि 'प्रत्येक वस्तुमें रचना तथा व्यवस्थाके लिये दैवी उद्देश्यके अनुसार सहज शक्ति या प्रकृति काम करती है ।' उनकी धारणा है कि 'साहित्य-कलाका भी उस व्यापक पूर्ण प्रकृतिमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो अपने रूपों, प्रणालियों और उद्देश्योंके

द्वारा उस पूर्ण प्रकृतिमें किसी न किसी प्रकारसे स्थिर हो गई है।' एकरूप कार्यों और शाश्वत प्रभावोंको अभिव्यक्त करनेवाली व्यवस्थित प्रकृतिको ही बोकेशियोने कविताकी परिभाषामें 'स्थिर विज्ञान' बताया है।

पुनर्जागरणकालतक भी यह मत मान्य रहा कि 'कवि भी दार्शनिकके समान सौन्दर्यकी चल-शक्तिसे प्रेरित होकर सत्यका ही प्रतिपादन करता है।' अरस्तूके शिष्योंने आगे चलकर यह कहना प्रारम्भ किया कि 'कवि तो अन्त: प्रकृतिके आदर्श उद्देश्योंको अभिव्यक्त करता है।' इस प्रकार उन्होंने कविको दार्शनिकसे भी ऊँचा उठा दिया। सत्रहवीं शताब्दिमें फ्रान्सीसी उदात्तवादने मानवतावादियों (ह्यूमेनिस्ट्स) से प्रभावित होकर कहा कि 'साहित्य-कला तो व्यापक प्रकृतिके उन नियमोंसे सञ्चालित होती है जो साहित्यिक प्रणालियोंके लिये रूपों और उद्देश्योंकी स्थापना करते हैं।' फ्रान्सीसी समीक्षकोंने इसमें 'रुचि' को भी जोड़ दिया। इसके पश्चात् यह कहा जाने लगा कि 'जो साहित्य-कलाकार प्रकृति (सहज शक्ति) का अनुगमन करता है वही प्रकृतिके विवेकपूर्ण उद्देश्योंके अनुसार वास्तविक मानवीय और अनुभवसिद्ध व्यवहारको छाँटकर उन्हें आदर्श बनाते हुए सत्य (सार्वभौम कार्य और वासना) का प्रतिपादन करता है इसीलिये वह कुछ थोड़ेसे ही ऐसे सुसंस्कृत लोगोंको प्रभावित कर पाता है जो अपनी विवेक-प्रेरित रुचिके अनुसार इस आदर्श प्रकृतिके साहित्यिक चित्रणका आनन्द लेते हैं।'

योरोपमें पहलेसे ही यह सिद्धान्त मान्य होता चला आ रहा है कि 'एक व्यवस्थित विश्व ही साहित्य-कलापर एकरूपता और नियमितताके नैसर्गिक नियमकी छाप डालता रहता है।' इस मतका समर्थन यद्यपि रापिन, ड्राइडन, पोप, जौन्सन आदिने किया तो किन्तु ये लोग आकस्मिक साहित्यिक रूढि और प्रकृतिके अपरिवर्त्तनीय सिद्धान्तोंमें भेद मानते हैं। इसी आधारपर जौन्सनने शेक्सपियरकी इस प्रवृत्तिका समर्थन किया कि उसने नाटकीय एकत्वोंकी अवहेलना की। उसका मत था कि 'ये सब एकत्वकी बातें प्रकृति-सङ्गत और विवेक सङ्गत नहीं हैं वरन् आकस्मिक संयोगसे आ गई हैं।' इसी बीच एक दूसरी भावना चली कि 'मानव-प्रकृति अत्यन्त अपूर्ण है और जबतक दैवी कृपासे वह पूर्ण नहीं हो जाती तबतक वह किसी कामकी नहीं होती।' आगे चलकर रूसोने कहा कि 'मानव-प्रकृति मूलत:

अच्छी होती है किन्तु संसार उसे बिगाड़ देता है।' इसीके साथ-साथ यह भी एक साहित्यिक सिद्धान्त चला कि 'साहित्यिक कलाकारकी प्रकृति तबतक अपूर्ण और असफल रहती है जबतक वह कला-द्वारा व्यवस्थित और पूर्ण नहीं होती।' इस प्रकार कलाकारकी प्रकृतिको एक स्वतन्त्र महत्त्व दे दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दिमें साहित्यिक यथार्थवाद (लिटरेरी रीअलिज़्म) का जो सम्प्रदाय चला, उसने प्रकृतिवादका सिद्धान्त चलाया। वैज्ञानिक प्रयोगोंके आधारपर साहित्यिक कलाकारके अनुभव और उसकी क्रियाको व्यवस्थित प्रकृतिके उद्देश्यों, प्रक्रियाओं या पदार्थोंसे एकात्म सिद्ध करना कठिन है। व्यापक प्रकृतिकी उद्देश्यवादिता मनुष्यकी आकांक्षाओं और इच्छाओंके साथ मिलती नहीं दिखाई पड़ती। इस प्रकार मनुष्यकी प्रकृति और व्यापक प्रकृतिके बीचकी कड़ी टूट जाती है। वर्त्तमान मनोविज्ञानके आए हुए साहित्य-समीक्षक मानव-प्रकृतिके सम्बन्धमें कोई व्यापक नियम बनानेमें हिचकते रहते हैं इसलिये आजकल साहित्यिक सिद्धान्त और समीक्षाके क्षेत्रमें प्रकृति-प्रेरणाकी कसौटी अमान्य हो गई है।

## व्यक्तित्व

कुछ आचार्योंका मत है कि 'कविका एक व्यक्तित्व या निरालापन होता है जिसे व्यक्त करनेके लिये वह रचना करता है।' किसी व्यक्तिकी विशेषताओंके निराले योगको व्यक्तित्व कहते हैं और यह किसी भी रचनामें दिखाई पड़ता है चाहे वह व्यक्तित्व बाह्यात्मक हो या आन्तरिक। जेम्स जौयसने कहा है कि 'यदि कोई साहित्यकार अपनी रचनामें अपने व्यक्तित्वका कोई अंश छिपाता भी है तो दैवी अंश ही छिपाता है और फिर उसके पश्चात् वह कुछ नहीं रह जाता।' जो लोग अपनी रचनाओंमें अपना व्यक्तित्व प्रकाशित करनेका प्रयत्न करते हैं वे या तो उसे कृत्रिम या उसकी अति कर देते हैं। ऐसी अनेक कृतियाँ हैं और हो सकती हैं जिनमें कविके व्यक्तित्वका स्पर्श भी नहीं है। उधर ऐसे कवियोंकी भी कमी नहीं है जिनकी रचनाओंमें आद्यन्त कविका व्यक्तित्व ही प्रतिबिम्बित हुआ है। अतः केवल व्यक्तित्वका प्रदर्शन करनेवालोंको ही कवि नहीं कहते।

### कवि और वैज्ञानिकमें अन्तर

कुछ लोगोंका मत है कि 'कवि भी वैज्ञानिक होता है क्योंकि वह भी प्राचीन सामग्रीकी खोज करता है, नईकी रचना करता है और सत्यकी स्थापना करता है।' किन्तु यह मत अत्यन्त भ्रामक है। कवि और वैज्ञानिकमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कवि प्राचीन सामग्री लेता तो है किन्तु उसमें कल्पनाका योग देकर उसके संश्लिष्ट रूपको सजाता और सुन्दर बनाता है। उधर वैज्ञानिक, प्रत्येक प्रत्यक्ष पदार्थका विश्लेषण करके उसके तत्त्व समझाता और उसके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसके प्रयोगकी प्रक्रियाका विधान करता है। कल्पनासे उसका कोई काम नहीं निकलता। वह तो भौतिक प्रत्यक्ष सत्यको सिद्ध करके दिखाता है किन्तु कवि एक सार्वभौम तथ्यकी व्यञ्जना करके उसका प्रतिपादन-मात्र करता है। अन्य कलाकारोंसे भी कवि इसलिये अच्छा है कि वह स्वयं कल्पना करता है, स्वयं रचता है, जब कि अन्य कलाकार ( मूर्त्तिकार , चित्रकार तथा वास्तुकार ) प्रायः दूसरोंकी प्रेरणा और दूसरोंकी कल्पनाके अनुसार रचना करते हैं।

### प्राकृत और भाविक ( नेव उन्ड सैन्टीमेन्टालिस )

शिलरने कहा है कि 'कोई भी प्राकृतिक ( नेव ) कवि वह है जिसका व्यक्तित्व प्रकृतिके साथ पूर्णतः एकात्म हो गया हो' जैसे—यूनानी कवि, शेक्सपियर और गेटे। इनके अतिरिक्त सेन्टीमेन्टालिस या भाविक कवि वे हैं जिन्होंने प्रकृतिके साथ अपना तात्कालिक सम्बन्ध तो नहीं भङ्ग कर दिया है किन्तु उसकी ओर लौटनेके इच्छुक अवश्य हैं जैसे—स्वयं शिलर और अधिकांश वर्त्तमानवादी। इस प्रकार नेव कवि यथार्थवादी हैं और भाविक कवि आदर्शवादी हैं और ये दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। अन्य लोगोंने इस भेदके लिये अनेक शब्दोंका प्रयोग किया है जैसे—एन्टीक बनाम रोमान्टिक या माडर्न, डायोनीज़ियन बनाम एपोलोनियन, क्लासिकल बनाम बारोक, क्लासिकल बनाम रोमान्टिक तथा प्योरिटन बनाम पैगन। किन्तु यह भेद भी ठीक नहीं है।

### कवि भी अपरिवर्त्तनीय तत्त्व

रसायन-शास्त्रमें एक क्रिया होती है जिसमें कोई तत्त्व अपनी उपस्थितिमें कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न तो कर देता है किन्तु स्वयं अपनेमें कोई स्थिर

परिवर्त्तन नहीं करता। टी० ऐस्० ईलियटने इसी आधारपर कहा है कि 'कवि भी एक ऐसा ही स्वयं अपरिवर्त्तनीय तत्त्व है जो जीवनके बहुरूप-तत्त्वों तथा कविकी अभिव्यक्ति ( कविता ) के मेलसे बना है,' अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि कविने अपनी रचनामें जिन अनेक तत्त्वों या दशाओंका मिश्रण किया हो उनसे स्वयं प्रभावित भी हो।

### भविष्य-द्रष्टा ( सांअर )

कुछ लोगोंका मत है कि 'कविका काम है भविष्यका दर्शन करना।' उनके मतसे 'अपनी विशाल और व्यापक अन्तर्दृष्टिके कारण कवि ही भविष्य-द्रष्टा हो जाता है। रस्किनने चार प्रकारके मनुष्य बताए हैं—

१. जो प्रभावित कम होते हैं किन्तु देखते हैं ठीक, अर्थात् जो गुलाबके फूलको गुलाब-मात्र समझते हैं।

२. जो प्रभावित अधिक होते हैं, सोचते हैं कम, अर्थात् जो गुलाबका फूल देखते ही उसे 'परित्यक्त अप्सरा' समझ लेते हैं।

३. कवि, जो तीव्र रूपसे भावित होता, तीव्रताके साथ सोचता और ठीक-ठीक देखता है।

४. भविष्य-द्रष्टा।

इस भेदको न मानते हुए भी लोगोंने कविको भविष्यद्द्रष्टा बताते हुए कहा है कि 'जब कवि दैवी अन्तःस्फुरणसे समन्वित होकर अपने सामाजिक वातावरणसे ऊपर उठकर विश्वात्मसे एकात्मता स्थापित कर लेता है, उस समय उसकी दृष्टि भूत, भविष्य, वर्त्तमानमें व्याप्त हो जाती है और वह त्रिकालज्ञ होकर संसारके सम्पूर्ण भूत और भविष्यको भी हस्तामलकवत् देखने लगता है।' किन्तु यह दृष्टि गोस्वामी तुलसीदास जैसे इने-गिने कवियोंको ही मिलती है, जिन्होंने स्वत्व-शुद्धिसे अपने अन्तःकरण और आत्माको शुद्ध, बुद्ध और निरञ्जन कर लिया है। ऐसे ही कविको फ्रांसीसीमें 'वाते' कहते हैं जो पूर्णतः अन्तःस्फुरणसे भावित हो। कार्लाइलने कवि और भविष्यद्द्रष्टामें भेद दिखाते हुए कहा है कि 'भविष्य-द्रष्टा तो यह बताता है कि हमें आगे क्या करना है और कवि यह बताता है कि हमें आगे किससे प्रेम करना है।' किन्तु यह भेद भी निरर्थक है। भविष्यद्द्रष्टा होना एक विशेष दैवी सामर्थ्य अवश्य है और वह किसी-किसीको ही प्राप्त होता है

किन्तु कवि इसलिये भविष्यद्रष्टा होता है कि वह तो देशकालाद्यवच्छिन्न सार्वभौम सत्यका प्रतिपादन और नियोजन करता है अतः वह कवि भी है, त्रिकालज्ञ भी ।

## लेखक

कुछ लोगोंने साहित्यकारको लेखक कहा है । उन्होंने लेखकोंके बहुतसे वर्ग भी बनाए हैं, जिनमेंसे प्रायः दो विशेष मान्य हैं—

( क ) वह मनुष्य, जो कोई कथा या भाव प्रदान करना चाहता है और उसके लिये शब्द ग्रहण करता है ।

( ख ) वह मनुष्य जो शब्द, भाषा और अभिव्यक्तिके चमत्कारसे प्रभावित करना चाहता है और उसके लिये कोई कहानी ग्रहण कर लेता है ।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी वर्गीकरण है—

१. चारण ( ट्रेलब्लेज़र्स जैसे होमरसे पूर्वके चारण ) ।

२. महालेखक जैसे—वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपियर आदि ।

३. अनुकरणकर्त्ता ( डायलूटर्स ) ।

४. प्रतिनिधि ( रिप्रेजेन्टेटिव ) या वे छोटे तुच्छ लेखक, जो अपने युगका चित्रण करते हैं ।

५. विशिष्ट कलाकार ( बेल्स-लेत्रिस्त ), जो किसी एक विशेष प्रकारके काव्य-रचना-कौशलको उच्च श्रेणीतक पहुँचा देते हैं ।

६. सनकी, जो एक विशेष सनकमें कोई नई शैली चला देते हैं जैसे—गोंगोरा या जौएस ।

## प्रेत लेखक ( घोस्ट राइटर )

बहुतसे विद्वान् लेखक ऐसे भी हैं जो स्वयं न लिखकर किसी दूसरेसे अपने ग्रन्थ लिखाते और उसपर अपना नाम दे देते हैं । ऐसे लेखक सब युगोंमें और सब देशोंमें हुए हैं । प्रायः बड़े-बड़े लेखक और चित्रकार अधिकांश कार्य अपने शिष्योंसे कराते हैं और स्वयं कभी-कभी उसे ठीक करके अपने नामसे चला देते हैं । ऐसे ग्रन्थोंके मूल लेखक ही 'प्रेत लेखक' कहलाते हैं । आजकल तो यह प्रथा ही चल गई है कि ग्रन्थ लिखता है कोई अप्रसिद्ध विद्वान् जिसे द्रव्य देकर मौन कर दिया जाता है और पुस्तक किसी दूसरे

प्रसिद्ध लेखकके नामसे प्रकाशित होती है। कुछ ऐसे धनी लोग भी हैं जो विद्वानोंसे ग्रन्थ लिखवाकर, उन्हें द्रव्य देकर, उस ग्रन्थको अपने नामसे प्रकाशित करवा लेते हैं। बहुतसे ऐसे लेखक भी प्रेत लेखक कहलाते हैं जो जान-बूझकर किसी ग्रन्थको प्रसिद्ध कर देनेके उद्देश्यसे उसपर किसी प्रसिद्ध कविका नाम देकर प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे सब लेखक प्रेत-लेखक ही हैं। ऐसे लेखकोंमें या तो आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मानका अभाव होता है अथवा वे इतने दीन और साधु होते हैं कि विवश होकर उन्हें ऐसा कार्य करना पड़ता है।

## कारयित्री प्रतिभाके अनुसार कवियोंके भेद

राजशेखरने काव्य-मीमांसामें बड़े विस्तारके साथ कवियोंके भेदोपभेद गिनाए हैं। उसने दो प्रकारकी प्रतिभा बताई है—कारयित्री और भावयित्री। इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि जो प्रतिभा कविको रचनाके लिये उत्तेजित करती और उसकी सहायता करती है वह कारयित्री कहलाती है। उसके तीन भेद होते हैं—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इनके अनुसार क्रमशः तीन प्रकारके कवि होते हैं—१. सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३. औपदेशिक। जिस बुद्धिमान् पुरुषको अध्ययनके बिना ही केवल जन्मान्तर संस्कारोंसे सारस्वत अनुभवोंका ज्ञान हो जाता है उसे सारस्वत कवि कहते हैं। जिसे इसी जन्मके अभ्याससे प्रतिभा-सम्पत्ति प्राप्त होती है वह आहार्य-बुद्धि या आध्यात्मिक कहलाता है। मन्त्रादिके अनुष्ठानसे जिसमें कवित्व-शक्तिका उद्भव हो वह दुर्बुद्धि-शिष्य औपदेशिक कवि कहा जाता है। आचार्योंका मत है कि औपदेशिक कवियोंको छोड़कर शेष सारस्वत और आभ्यासिक कवियोंकी कवित्व-शक्तिके उद्भावनके लिये मन्त्र-तन्त्र आदिके अनुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि जो दाख स्वयं मधुर है उसमें गुड़ मिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती। किन्तु यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'आभ्यासिक और सारस्वत कवियोंके लिये भी मन्त्र-तन्त्र आदिका प्रयोग उपयोगी ही है क्योंकि एक ही कार्यका सम्पादन करनेवाले यदि दो साधनोंको प्रयोग कर लिया जाय तो क्रियाँका फल अधिक तथा शीघ्र प्राप्त होता है।' इन तीनों प्रकारके कवियोंमें क्रमशः औपदेशिकसे आभ्यासिक और आभ्यासिकसे सारस्वत कवि उत्तरोत्तर कुशल होते हैं क्योंकि कहा गया है—

सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मतः ।
औपदेशिककविस्त्वत्र वल्गु फल्गु न जल्पति ॥

[ सारस्वत कवि अपने ध्यानमें स्वतन्त्र होता है । नैसर्गिक प्रतिभासे उसकी वाग्धारा निर्बाध गतिसे प्रवाहित होती चली जाती है । द्वितीय कोटिका आभ्यासिक कवि अपने इहलौकिक शास्त्राभ्यासके बलसे रचना करता है पर उसकी रचना एक परिमित क्षेत्रके भीतर ही व्याप्त रहती है । मन्त्र-तन्त्र आदिके उपदेशके प्रभावसे कवित्व-शक्ति अर्जित करनेवाला औपदेशिक कवि कभी मनोहर और कभी निरर्थक रचनाएँ भी किया करता है इसलिये वह सबसे निकृष्ट कोटिका कवि कहा जाता है । ]

यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'तीनों प्रकारके कवियोंमें जिसकी रचनामें उत्कर्षकी मात्रा अधिक होगी वही उत्तम कवि कहा जायगा, चाहे वह औपदेशिक हो, आभ्यासिक हो या सारस्वत हो ।' गुणोंकी अधिकतासे उत्कर्ष होता है । जिस कविमें जितने ही गुण होंगे उसकी कविता उतनी ही उत्कृष्ट मानी जायगी । कहा गया है—

बुद्धिमत्वञ्च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च ।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥

[ काव्य-रचनामें उपयोगिनी विद्याओंका निपुणता-पूर्वक ज्ञान, काव्य-रचनाका अभ्यास और कवियोंके रहस्य-ज्ञानसे हुई कवित्व-शक्ति ये तीनों बातें एक व्यक्तिमें सुलभ होना असम्भव है । काव्य-काव्याङ्ग-भूत छन्द-कोश विद्याओंका पूरा अभ्यास और मन्त्र-तन्त्रादिके प्रयोगका भी उपयोग करनेवाले व्यक्तिके लिये महाकवि कहलाना अत्यन्त सरल बात है । ]

कवियोंके उत्कर्षापकर्षके विषयमें यह प्रसिद्ध कहावत है—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्या विदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव ॥

[ एक ऐसे अकुशल कवि होते हैं जिनकी रचना उनके घरमें ही पड़ी-पड़ी सड़ जाती है और उसका तनिक भी प्रचार नहीं हो पाता । दूसरे प्रकारके वे कवि होते हैं जिनकी रचनाका प्रचार उनके सुहृद्वर्गतक ही रह जाता है

और वे सर्व-साधारणके मानसको आह्लादित करने में असफल सिद्ध होती हैं। सबसे उत्कृष्ट तीसरे प्रकारके वे सारस्वत कवि होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहोंकी झोपड़ीसे लेकर राजप्रासादोंतक समान रूपसे आदृत होते हैं। ]

### भावक-कवि

राजशेखरने कहा है कि 'जो प्रतिभा काव्यके अर्थको भली प्रकार समझ सकनेवाले, परिपक्व बुद्धिवाले सहृदयोंके हृदयोंको आह्लादित करती है उसे भावयित्री कहते हैं। यही प्रतिभा काव्य-रचनाको सफल करती है।' इसी प्रसङ्गमें राजशेखरने बताया है कि, 'कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि और भावयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति भावक कहलाता है।' आचार्योंका मत है कि 'कवि तो काव्यके अर्थकी वास्तविक भावना करता है और भावक उसकी रचना करता है।' अतः कवि और भावकमें कोई अन्तर नहीं समझना चाहिए—

> प्रतिभा-तारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
> भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥

[ प्रतिभाकी कमी और अधिकताके आधारपर ही कवियोंके अलग-अलग वर्ग बनते हैं। भावोंमें रमण करनेवाला व्यक्ति भावक कवि ही सर्वश्रेष्ठ और लोकवन्द्य होता है। ] अतः कवि और भावकमें स्वरूपका कोई भेद नहीं है।'

### कवि और भावक भिन्न होते हैं

कवि और भावकमें एकताके प्रतिपादन करनेवाले आचार्योंके मतसे कालिदास सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'कवि और भावकमें महान् अन्तर है। काव्यके रचयिताको कवि कहा जाता है और काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व बुद्धिवाला वह सहृदय व्यक्ति भावक कहलाता है जो वर्णनीय वस्तुमें तन्मय होकर रसास्वादनकी अवस्थाको पहुँचता है।' कवि और भावकके विषयमें भी बहुत अन्तर है। कविके वर्णनीय घट, पट आदि पदार्थ विषय होते हैं और रसमात्रके आस्वादनमें लीन भावकका विषय रसास्वादन-मात्र होता है। ऐसि स्थितिमें कवि और भावकके परस्पर स्वरूप तथा विषय दोनोंमें भेद होनेके कारण कवित्व और भावकत्व भिन्न-भिन्न हैं, जैसा कि किसीने कहा है—

कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां ।
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ।।

[ कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी कारयित्री प्रतिभाके बलसे केवल काव्योंकी रचना करनेमें ही कुशल होते हैं और कुछ ऐसे लोग होते हैं जो भावयित्री प्रतिभाके प्रतापसे काव्य-वाणीको सुनकर उसके रसास्वादनमें ही निपुण होते हैं । पर कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभाओंका परिचय देकर तुम्हारी बुद्धि तो हम लोगोंको आश्चर्यान्वित कर देती है । एक ही व्यक्तिमें सारे गुणोंका होना कोई सहज नहीं है । देखो ! एक पारस पत्थर सोनेको उत्पन्न करता है किन्तु उसकी परीक्षाके लिये दूसरे पत्थर ( कसौटी ) की आवश्यकता होती है । एकमें ही दोनों कार्य कर देनेकी क्षमता नहीं होती । ]

## दो प्रकारके भावक

मङ्गलका मत है कि 'भावक दो प्रकारके होते हैं—अरोचकी और सतृष्णाभ्यवहारी ।' यायावरीय 'राजशेखर' का मत है कि 'अरोचकी, सतृष्णाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी ये चार प्रकारके भावक होते हैं ।'

१. जिस प्रकार आरोचक रोगमें मनुष्यको सुस्वादयुक्त भोज्यमें भी स्वाद नहीं प्रतीत होता उसी प्रकार अरोचकी भावकको सरस काव्यमें भी सन्तोष नहीं होता । वह नाक-भौं सिकोड़कर अपनी अरोचकताकी व्यञ्जना कर देता है । सतृष्णाभ्यवहारी भावक उन मरभुखोंके समान होता है जो परोसे हुए अन्न, व्यञ्जनमेंसे एक दाना भी नहीं छोड़ता, सम्पूर्ण काव्य-मात्रमें रसास्वादन करनेको उत्सुक रहता है । अब विचारणीय यह है कि 'अरोचकी भावकोंमें स्वाभाविक अरोचकता होती है या ज्ञानपूर्विका' १. इनमें यदि स्वाभाविक अरोचकता हो तब तो सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी बङ्ग रसकी स्वाभाविक कालिमाके समान दूर नहीं हो सकेगी । हाँ, यदि वह ज्ञान-पूर्वक उत्पन्न हुई होगी तो विशेष रस और ध्वनियोंसे पूर्ण काव्यको सुनकर दूर हो जायगी और उसमें रसास्वादनकी रुचि जागरित हो जायगी ।

२. काव्य-निर्माणके क्षेत्रमें पहले-पहल आनेवाले व्यक्तिकी वृत्ति

सतृष्णाभ्यवहारिताकी ही हुआ करती है। प्रारम्भावस्थामें विवेककी कमीके कारण काव्योंके गुणागुणका विचार कठिन होता है। पर आगे चलकर इन गुणोंको पहचाननेकी क्षमता आने लगती है।

३. जो स्वभावसे ही दूसरोंके गुणोंसे द्वेष करनेका अभ्यासी होता है उस मत्सरी भावकको काव्यके अच्छे गुण प्रकट करनेमें भी हिचक होती है और इस डरसे वह काव्यके यथार्थ गुणोंको प्रकट नहीं करता कि कहीं 'दूसरे कविकी ख्याति न हो जाय'। ऐसे कम भावक देखनेमें आते हैं जो मत्सर-हीन हों। इस बातको प्राचीनोंने इस कथन-द्वारा स्पष्ट कर दिया है :—

कस्त्वं भो कविरस्मि काप्यभिनवासूक्तिः सखे पठ्यताम्।
त्यक्ता काव्यकथेव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्॥
यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः।
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

[ कोई किसीसे पूछ रहा है कि 'तुम कौन हो?' इसपर दूसरा उत्तर देता है कि 'मैं कवि हूँ।' पुनः पहला उससे प्रार्थना करता है कि 'मित्र! यदि तुम कवि हो तो कोई रचना सुनाओ।' पुनः दूसरा उत्तर देता है कि 'आजकल तो मैंने काव्य-रचना छोड़ दी है।' काव्य-रचना छोड़ देनेका कारण जब पहलेने पूछा तो दूसरा कहता है कि सुनो—'जो दोष-गुणोंका भली-भाँति विवेचन करनेमें कुशल हो और स्वयं भी अच्छा कवयिता हो वही भावक कहलाता है। ऐसे भावक इस समय कहीं देखनेको भी नहीं मिलते। यदि कोई मिलते भी हैं तो मत्सरसे भरे हुए। तब भला बताओ मैं कविता करके करूँगा क्या? उसकी परख करनेवाले तो कहीं हैं ही नहीं।' ]

४. तत्त्वाभिनिवेशी भावक वह होता है जो काव्यके सम्पूर्ण गुणतत्त्वोंको भली-भाँति जानकर निःशङ्क और निष्पक्ष होकर उनका विवेचन करता है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोगोंने हृदय-भावक, वाग्भावक, गूढ़ भावक और तत्त्वाभिनिवेशी चार प्रकारके भावक माने हैं।

जो व्यक्ति स्वयं किसी काव्यका आनन्द लेकर अपने मनमें ही रक्खे रहता है, बाहर नहीं कहता उसे 'हृदय-भावक' या 'समीक्षक'; जो काव्यके गुण-दोषोंकी शाब्दिक व्याख्या करता है उसे 'वाग्भावक'; जो तन्मय होकर काव्य-पाठ करता हुआ कभी 'आह', कभी 'वाह' करता हुआ, हँसता,

रीझता, खीझता हुआ अनुभाव व्यक्त करता चलता है वह 'गूढ-भावक' कहलाता है। तत्त्वाभिनिवेशीका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। किन्तु वास्तवमें ये तो समीक्षकके भेद हैं, कविके नहीं।

## तीन प्रकारके कवि

राजशेखरने यह बताया है कि 'छन्दोयोजना-मात्र कर देनेसे कोई कवि नहीं हो जाता। उसके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति अपेक्षित है। इन दोनों शक्तियोंसे सम्पन्न कवि तीन प्रकारके होते हैं—१. शास्त्र-कवि, २. काव्य-कवि और ३. उभय-कवि।

श्यामदेवाचार्यका मत है कि इनमें 'शास्त्र-कविसे काव्य-कवि और काव्य-कविसे शास्त्र-काव्योभय कवि उत्तरोत्तर अच्छे होते हैं' पर यायावरीय 'राजशेखर'का कहना है कि 'सभी कवि अपने अभ्यस्त विषयोंमें उत्कृष्ट होते हैं। अतः दो प्रकारकी रचना करनेवालोंमें किसीको एक दूसरेसे उत्कृष्ट कहना अनुचित है। नीर-क्षीर-विवेकमें कुशल राजहंस भी चन्द्रिका-पानमें असमर्थ होता है और चन्द्रिका-पानमें दक्ष चकोर नीर-क्षीर-विवेकमें असमर्थ होता है अतः उसमें उत्कृष्टापकृष्टत्वका विवेचन करना कठिन होता है। उसी प्रकार कवियोंके भी अपने-अपने क्षेत्रमें उत्कृष्ट होनेसे आपसमें उनका तारतम्य नहीं किया जा सकता। क्योंकि शास्त्र-कवि शास्त्रोंके अध्ययन-बलसे काव्योंमें साधारण रूपसे प्रविष्ट रहते हैं पर रसाभिव्यक्तिकी क्षमतावाली शब्दावलीका प्रयोग वे नहीं कर पाते। काव्य-कवि काव्योंमें सविशेष अभ्यासके कारण रसाभिव्यञ्जन योग्य शब्दावलीका प्रयोग तो भली-भाँति कर लेता है पर शास्त्रीय पदार्थोंका वर्णन शास्त्रीय पारिभाषिक पद्धतिसे नहीं कर पाता। शास्त्र-काव्योभय-कवि यदि शास्त्र और काव्य दोनों विषयोंमें समान रूपसे प्रवीण हो तो वास्तवमें उन दोनों प्रकारके कवियोंसे श्रेष्ठ कहा जा सकता है। इस स्थितिमें शास्त्र-कवि और काव्य-कवि दोनोंका समान स्थान मानना उचित जान पड़ता है। हाँ, यह आवश्यक है कि काव्य-कवि और शास्त्रकविका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव होता है। विशेषता यह है कि शास्त्रोंमें साधारण प्रवेश कविकी काव्य-रचनामें कुछ वैचित्र्य उत्पन्न करता है पर सर्वदा किसी शास्त्रमें अत्यन्त मग्न हो जानेसे सुकविताके लिये परमावश्यक उपयुक्त शब्दोंकी स्फूर्ति

करानेवाली शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार काव्यार्थ-भावनामय संस्कार भी शास्त्रीय तर्क-कर्कश पदोंको भी सरस भावसे वर्णन करनेकी शक्ति प्रदान करता है, पर सर्वदा काव्योंमें ही मग्न रहनेसे तो बुद्धि कोमल हो जाती है और वह व्यक्ति शास्त्रीय कठिन पदार्थोंको नहीं ग्रहण कर पाता।

शास्त्र-कवि

इन कवियोंमें शास्त्र-कवि तीन प्रकारके होते हैं जो शास्त्रीय ग्रन्थ रचते हैं वे एक प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं, जो शास्त्रीय पदार्थोंको काव्यका स्वरूप प्रदान करते हैं वे दूसरे प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं और जो काव्योंमें भी शास्त्रार्थ अर्थात् शास्त्रीय परिभाषाओंका निवेश करते हैं वे तीसरे प्रकारके शास्त्र-कवि कहलाते हैं। साहित्यके लिये तीनों प्रकारके शास्त्र-कवि निषिद्ध हैं क्योंकि वे नाटकको दुर्बोध और अस्पष्ट बनाए बिना नहीं मान सकते।

काव्य-कवि

काव्य-कवि आठ प्रकारके होते हैं—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलङ्कार-कवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि, और शास्त्रार्थ कवि।

श्रुति-सुखद और प्रगाढ़, प्रौढ़ पदबन्धोंवाली रचना करनेवाला कवि रचना-कवि कहलाता है।

शब्द-कवि तीन प्रकारके होते हैं—नाम-कवि, आख्यात कवि, तथा नामाख्यात कवि। उनमें नामाख्यात कवि प्रधान रचनावाला कवि नाम-कवि कहा जाता है। जो कवि अपनी रचनामें आख्यात अर्थात् क्रिया-शब्दोंका ही अधिक प्रयोग करे वह आख्यात कवि कहा जाता है, जिन कवियोंकी रचनाओंमें नाम और आख्यात दोनोंका समान रूपसे प्रयोग पाया जाता है वे नामाख्यात कवि कहे जाते हैं।

अलङ्कार, रस, भाव आदिकी अपेक्षा न कर अर्थ-मात्रका वर्णन करनेवाला कवि अर्थ-कवि कहा जाता है।

अलङ्कार - कवि दो प्रकारके होते हैं—शब्दालङ्कार - कवि और अर्थालङ्कार-कवि।

सामान्य रूपसे जो वस्तु कही जानेवाली है उसे भङ्ग्यन्तरसे कहकर सहृदय-हृदयाह्लादकताका रूप जो दे उसे उक्ति-कवि कहते हैं। अपने काव्यमें रसके ही विधानकी ओर अधिक प्रवृत्ति रखनेवाला कवि रस-कवि कहलाता है। रीति-

प्रधान कविता करनेवाला कवि मार्ग-कवि कहलाता है। जो कविगण शास्त्रीय विषयोंको काव्यमें निबद्ध करते हैं वे शास्त्रार्थ-कवि कहलाते हैं।

### भेद निरर्थक

अभिनवभरतका मत है कि 'वे आठ प्रकारके भेद निरर्थक हैं क्योंकि कवि अपने-अपने काव्योंमें शब्द, अर्थ, अलङ्कार, रस आदिका यथा स्थान प्रयोग करते ही हैं। जो इनमेंसे केवल एकको लेकर रचना करता है वह काव्य-कवि नहीं है, वह तो गढ़िया है जो काव्यकी सायास रचना करता है वह कवि नहीं कहला सकता। अतः 'कवि एक ही प्रकारका होता है और वह कवि या रचनाकार है।'

### उत्तम, मध्यम और अधम कवि

स्वयं राजशेखरने ही आगे स्वीकार किया है कि 'इन सब कवियोंके गुणोंमें जो व्यक्ति दो या तीन गुणोंसे युक्त हो वह अधम श्रेणीका कवि, पाँच गुणोंवाला मध्यम श्रेणीका कवि और सब गुणोंसे अलङ्कृत व्यक्ति महाकवि कहलाता है।' कवियोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान और आहार्यबुद्धिकी सात अवस्थाएँ होती हैं और औपदेशिककी तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन दस अवस्थाओंमें रहनेवाले कवियोंका काव्य-विद्यास्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता इन दस प्रकारोंसे व्यवहार होता है। जो कवित्वकी अभिलाषासे काव्यविद्याएँ तथा उपविद्याएँ सीखनेके लिये गुरुकुलोंमें निवास करते हैं, ये विद्यास्नातक कहे जाते हैं। जो लज्जावश अपने दोष प्रकट न करनेकी अभिलाषासे मनमें ही रखते दूसरेके सामने नहीं प्रकाशित करते, वे हृदय-कवि कहे जाते हैं। वे कविगण जो स्वरचित काव्यके दोषपूर्ण होनेके डरसे सभामें दूसरेका बताकर सुनाते हैं, अन्यापदेशी कहलाते हैं। जो व्यक्ति केवल छन्दोयोजनाका अभ्यास रहनेसे प्राचीन कवियोंके ही भावोंको अपने छन्दोंमें निबद्ध किया करते हैं वे सेविता कहे जाते हैं। वे कवि, जो निर्दोष और भावपूर्ण रचनामें समर्थ होते हुए भी रचनाको प्रबन्ध-रूप नहीं दे पाते, वे घटमान कहे जाते हैं। जो गद्य-पद्यात्मक उभयविध-प्रबन्ध-रचनामें कुशल होते हैं वे महाकवि कहे जाते हैं। जो मागधी, शौरसेनी आदि प्राकृत भाषाओं तथा संस्कृत और अपभ्रंशमें

भी रस-भावपूर्ण कविता कर सकनेकी कुशलता रखते हों वे कविराज कहलाते हैं। कविराज तो प्रायः नहीं मिलते कहीं मिले भी तो एक दो। जो मन्त्र-तन्त्र आदिकी सिद्धि प्राप्त करके देवता आदिके प्रसादसे आविष्ट होकर कविता करते हैं उन्हें आवेशिक कहते हैं। जिसको किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं होता उन्हें अविच्छेदी कवि कहते हैं। वे व्यक्ति, जो मन्त्रसिद्ध होकर कन्या, कुमार आदिमें शिरःस्पर्श आदिके द्वारा अपनी शक्ति आविष्ट कर दें उन्हें संक्रामयिता कहा जाता है।

### उपसंहार

कवियोंके जो इतने भेद गिनाए गए हैं ये सभी अव्यावहारिक हैं। कवि वह है जो किसी भी विषयको लेकर उसे अपनी प्रतिभा और कल्पनासे सजीव तथा आकर्षक बना दे। संसारमें जिन कवियोंने ख्याति पाई वह इसी शक्तिके कारण। जिस कविमें स्वाभाविक काव्य-शक्ति या प्रतिभा हो, इस प्रतिभाको जिसने अभ्यास तथा कवि-संसर्गसे चमका लिया हो और जिसे भोजन-वस्त्रकी चिन्ता न हो उसी कविकी रचना शुद्ध, सात्त्विक, हृदयहारिणी और सुन्दर होगी। शेष जो लोग कविता करते हैं वे तो काव्य-प्रासादका गारा ढोनेवाले या ईंट पाथनेवाले पथेरे हैं, उन्हें कवि कहना कविका अपमान करना है।

### युग-प्रतिनिधि कवि

आजकल एक नई बयार चली है युग-प्रतिनिधि कविकी। जो कवि अपनी रचनाओंमें अपने युगकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामूहिक वृत्ति, प्रवृत्ति, भावना, आकांक्षाका समर्थन और प्रतिपादन करते हैं उन्हें युग-प्रतिनिधि कहते हैं। ऐसे कवियोंमें विषय चुननेकी प्रतिभा नहीं होती। ये तो किसी विशिष्ट जनान्दोलन अथवा विशिष्ट व्यक्तिद्वारा प्रवर्त्तित तथा प्रभावित विचार-धाराके मुख बनकर उसका प्रचार करनेमें योग देते हैं। ये सब भी तृतीय श्रेणीके कवि होते हैं और एक प्रकारके भाट होते हैं।

### राष्ट्र-कवि

इसी 'प्रतिनिधि-कवि' शब्दके समान ही भ्रामक शब्द चला है 'राष्ट्र-कवि'। 'राष्ट्रकवि'का अर्थ तो है 'राष्ट्रका कवि'। इस दृष्टिसे सभी राष्ट्रकवि

होते हैं किन्तु 'राष्ट्रकवि' शब्दका अर्थ लोगोंने लगाया है 'राष्ट्रकी आकांक्षाओं और भावनाओंको व्यक्त करनेवाला व्यक्ति।' यह भी युग-प्रतिनिधिके समान या तो भाटकी श्रेणीमें आता है जो शुद्ध व्यवसायी होता है, जो समय देखकर तदनुरूप रचना करता जाता है और 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै' उक्तिको चरितार्थ करता रहता है। उसकी रचनाएँ किसी विशिष्ट राजनीतिक आकांक्षाकी भावनाको प्रेरणा देने या उसकी व्याख्या करनेवाली होती हैं। किन्तु वास्तविक राष्ट्रकवि वह है जिसकी रचनाओंमें आद्यन्त अपने देशकी संस्कृति, इतिहास, आचार-विचार, वनश्री, सरित्-सरोवर-सिन्धु-वन-भूधर-मरुस्थलका संस्कार भरा हो, जो चाहे जिस कथा या विषयको लेकर साहित्य-रचना करे किन्तु उसमें व्यापक रूपसे अपने देशकी सांस्कृतिक और भौगोलिक विवरणकी छाप हो, जिसकी वाणीसे यही ध्वनित होता हो—

सभी अपने दोषोंके साथ
मुझे प्रिय लगते, मेरे देश !

इसी दृष्टिसे वास्तविक राष्ट्र-कवि वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, बाण आदि वे हैं जिनकी रचनाओंमें अपने देशकी महत्ता पग-पगपर प्रतिध्वनित होती है।

### जन-कवि

इधर प्रकृतिवादियों, लोकवादियों (पौपुलिस्ट्स) तथा तथ्यवादियों (रीअलिस्ट्स) ने एक नये प्रकारके कविकी पुकार मचाई है जिसे वे जन-कवि या लोक-कवि कहते हैं। उनके मतानुसार 'जन-कवि वह है जो निम्न श्रेणीकी साधारण जनताके भावों और विचारोंको प्रोत्साहन दे, उनकी भावनाओंको उन्हींकी शब्दावलीमें, उन्हींमें प्रचलित अप्रस्तुत विधानों-द्वारा उन्हींकी मनोवृत्तिके अनुकूल अभिव्यक्त करे।' ये कवि भी दो प्रकारके होते हैं—

१. जो साधारण अर्थात् निम्न कोटिकी जनताका नेतृत्व करके उन्हें उद्बोधित करके अपने अधिकारों, स्वत्वों और कर्त्तव्योंके प्रति जागरूक करते हैं।

२. जो स्वयं उस साधारण जन-वर्गका एक अङ्ग बनकर उनकी इच्छा, लालसा, कामना, आकांक्षा और वासनाकी काव्यमय अभिव्यक्ति करते हैं

और इस अभिव्यक्तिके लिये लोक प्रचलित छन्दों और गीतोंकी लय, उनमें प्रचलित अलङ्कार, वर्ण-विन्यास, भाव-व्यञ्जना आदिका ही प्रयोग करके जनताकी रुचिका प्रतिनिधित्व करके उन्हें यह सान्त्वना देते हैं कि 'तुम लोग जो कुछ जिस ढङ्गसे आत्माभिव्यञ्जन करते हो वह सब भी उतना ही मान्य और आदरणीय है जितने राजाश्रित या नागरिक कवियोंके काव्य।'

### युग-निर्माता

'सर्वश्रेष्ठ तथा वास्तविक कवि वह होता है जो चतुर वैद्यके समान मानव-मात्रकी मानसिक नाड़ी पहचानकर ऐसी रामबाण काव्यौषधि प्रस्तुत करे कि उसे प्राप्त करनेके लिये स्वयं सम्पूर्ण मानव-जाति लालायित हो और उस सञ्जीवनीको प्राप्त करके अपना कायाकल्प नया कर ले।' ऐसे कवि संसारमें कोई विरले योगभ्रष्ट होकर उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी लेखनीका स्पर्श पाकर कविता धन्य हो जाती हैं, जिनके काव्यामृतका सद्यःपान करके मानव सजीव हो जाता है, जिसकी पंक्ति-पंक्तिसे शाश्वत सार्वभौम सौन्दर्य लोक-मानसको आह्लादित करता है, जिसके आदर्श असाधारणका दिव्य दर्शन करके मावन अपनेसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा प्राप्त करता है और जिसके कौतूहलपूर्ण अद्भुतको वह एकटक होकर देखता रह जाता है, उसकी ओरसे आँखें नहीं हटाता और जिसकी रचना इतनी सरल, इतनी व्यापक, इतनी गम्भीर किन्तु इतनी तरल होती है कि छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, पण्डित-मूर्ख, राजा-रङ्क सब समान रूपसे उसमें अवगाहन करके समान स्फूर्त्ति तथा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम सबकर हित होई॥

[ जो कविता सरल हो, सबकी समझमें तत्काल आ जाती हो, जिसमें किसी महापुरुष या लोकवन्द्य चरित्रकी विमल कीर्त्तिका वर्णन हो उसीका आदर चतुर लोग करते हैं यहाँतक कि उसे सुनकर शत्रु भी अपना स्वाभाविक वैर भुलाकर उसकी प्रशंसा करते हैं। यश, काव्य और ऐश्वर्य वही श्रेष्ठ होता है जो गङ्गाजीके समान भेद-भाव भुलाकर सबका हित करे। ]

अतः वास्तविक कवि वही है जो मानव-मात्रकी भावनाओंमें व्याप्त होकर उनकी शाश्वत महत्त्वाकांक्षाओंको तुष्ट करनेका मार्ग प्रदर्शित करता हुआ उन्हें आह्लादित करे, केवल उनकी प्रवृत्तियों और वासनाओंका चित्रण करके उनकी पशु-वृत्तियोंको उत्तेजित न करे।

## कवि-प्रसिद्धि

कुछ लोगोंका मत है कि कवि अपनेको अमरत्व प्रदान करनेके लिये ही काव्य-कर्ममें प्रवृत्त होता है। संसारके साहित्यको इतिहास पढ़नेसे ज्ञात होगा कि साहित्यने तीन प्रकारके व्यक्तियोंको भौतिक अमरता प्रदान की है—

१. उन महापुरुषोंको, जिन्होंने पराक्रमका कार्य करके इतना नाम कमाया है कि सब लोग उनका वर्णन करते हैं। स्विफ़्टका मत है कि 'चाहे कवि कुछ भी कहें किन्तु यह स्पष्ट है कि वे काव्य-रचना करके अपनेको ही अमरता प्रदान करते हैं, किसी दूसरेको नहीं क्योंकि हम होमर और वर्जिलका आदर करते हैं, उनके काव्योंमें वर्णित अखिलेस (एकीलीज़) और ईनीसको नहीं।' किन्तु स्विफ़्टका यह मत अमान्य है क्योंकि लोग ईलियाद और 'उदेसा'को जानते हैं पर होमर और वर्जिलको नहीं जानते। भारतीय कवियोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। हम रामायण और महाभारतका तथा उसके विभिन्न चरितोंका गुणगान करते हैं, उनका आदर करते हैं किन्तु हममें ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो वाल्मीकि और व्यासको भी जानते हों। अतः यह तो अपने-अपने देशकी परम्परा और कविकी भावनापर अवलम्बित है।

२. वे लोग जो कवियोंके प्रिय रहे हों जैसे—दाँतेकी बिएत्रिस्, सूर या मीराके कृष्ण, तुलसीके राम या घनानन्दकी सुजान वेश्या।

३. स्वयं कवियोंने भी अपनेको अमर किया है जैसे अफ़लातून (प्लेटो) या आइसोक्रतेस तथा केशव आदिने, जो यह समझते हैं कि 'मेरी कृति काँसेकी मूर्तियोंसे अधिक सुन्दर स्मारक बनेगी।' सान्तायनने कहा है कि 'वास्तवमें यह तो किसी भी कृतिके अन्तर्गत भावनापर अवलम्बित है कि वह किस प्रकार जनताको प्रभावित कर सकती है।'

किसी भी रचनाका ठीक मूल्याङ्कन करनेके लिये समीक्षावादीको यह भी जानना चाहिए कि किसी साहित्यकारकी प्रसिद्धि क्यों हुई।

कविकी प्रसिद्धिका अध्ययन चार प्रकारसे होता है १. समयकी दृष्टिसे, २. प्रयोजनकी दृष्टिसे, ३. सूक्ष्म विश्लेषणकी दृष्टिसे और ४. समीक्षाकी दृष्टिसे। इस सम्बन्धमें प्राय: यह विचार किया जाता है कि—

१. कविने अपने समयमें कितनी सफलता या असफलता पाई अर्थात् उसकी कितनी प्रशंसा या निन्दा हुई और यह प्रशंसा या निन्दा कबतक रही।

२. विभिन्न प्रकारकी काव्य-शैलियोंके होते हुए भी कविने कितनी सफलता पाई।

३. विभिन्न युगोंमें एक ही कृतिके विभिन्न पक्षों या आदर्शोंकी दृष्टिसे कितनी प्रशंसा या निन्दा हुई।

इस प्रसिद्धिका अध्ययन करनेके लिये कविके तीन युगोंका समीक्षण आवश्यक है—

( क ) तत्कालीन, अर्थात् कविके ही समयमें उसके काव्योंके प्रति जनता-द्वारा उपेक्षा, प्रशंसा या निन्दा।

( ख ) शनैः शनैः प्रसिद्धिका विकास या अतिशय प्रतिक्रिया।

( ग ) अधिक सन्तुलन, निर्णय, मान।

किसी कविकी श्रेष्ठता या निकृष्टताका निर्णय करने और उसके अनुसार उसकी प्रसिद्धि नापनेके लिये यह देखा जाता है कि निम्नलिखित प्रभावोंमेंसे किसने उसे सहायता दी—

( क ) युगकी विशेषता, जैसे—सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक।

( ख ) किसी शक्तिशाली व्यक्तिके कारण अर्थात् मित्र या शत्रुके कारण ( इसमें समीक्षक नहीं आते )।

( ग ) अन्य सहायक पुस्तकोंमें या व्याख्यानोंमें उनका विवरण या उनकी समीक्षा।

( घ ) विद्यालय या पाठशालाओंके पाठ्यक्रममें निर्धारण।

यह समझ रखना चाहिए कि प्रसिद्धि और प्रभावके अध्ययनमें अन्तर है और उस अन्तरको समझकर ही उसपर विचार करना चाहिए।

## छद्म-समर्थन ( रेशनलाइज़ेशन )

कुछ लोगोंका मत है कि 'कवि केवल अपने विचारोंका छद्म-समर्थन करनेके लिये काव्यका आश्रय लेता है' अर्थात् लेखक काव्य-विवेककी ओट

लेकर अपने विचारका समर्थन करता है। जेम्स हार्वी रौबिन्सनका मत है कि 'दर्शन, समाज, विज्ञान और साहित्य सबमें इसी वृत्तिका अर्थात् काव्यकी ओटसे अपने विचारोंका समर्थन करनेकी भावनाका बड़ा प्रभाव है।' जिसे इन विद्वानोंने छद्म-समर्थन कहा है वही तो वास्तवमें कविका उद्देश्य होता है, जिसे सिद्ध करनेके लिये वह 'विवेककी ओट' नहीं लेता, वरन् विवेकपूर्ण रूप तथा शैलीमें उसे व्यक्त करता है। उन अभिव्यक्तिके रूपोंमेंसे एक काव्य भी है।

### मिथ्या-सम्मान ( रीक्लेम )

फ्रान्समें जिस व्यक्तिको झूठी समीक्षा प्रशंसाके द्वारा सम्मान मिल जाता है उसे 'रीक्लेम' कहते हैं। यह मिथ्या-सम्मान उन प्रचारवादियोंको प्रायः मिल जाता है जिनके मित्रोंमें सम्पादक और साहित्य-समीक्षक होते हैं, जो धनी और उच्च राजपदपर होते हैं अथवा जिनके साथ अनुगृहीत शिष्य-मण्डली या मित्र-मण्डली होती है। इस प्रकारका मिथ्या सम्मान सब देशों और कालोंमें सदा मिलता रहा है।

### सहलेख ( कौलेबोरेशन )

यों तो प्रायः सब लेखक स्वतन्त्र रचना करते हैं किन्तु कुछ विद्वानोंका मत है कि 'दो लेखकोंका मिलकर काव्य-रचना करना अच्छा होता है विशेषतः नाटककी रचना।' फ्रान्सके उपन्यास-साहित्यमें एर्कमान-चत्रियाँ और गोनकोर बन्धुओंने वैसे ही साथ मिलकर ग्रन्थ लिखे हैं जैसे हिन्दीमें मिश्रबन्धुओंने। हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ नाटकोंमें प्रशंसा-प्राप्त 'महाकवि कालिदास'की रचना भी हृदय और रुद्रने की है। इंग्लैंडमें समीक्षाके क्षेत्रमें लौरा राइडिंग और रौबर्ट ग्रेव्ज़ने 'वर्त्तमान काव्यका समीक्षण' ( ए सर्वे औफ़ मौडर्न पोएट्री, १९२९ ) के लेखनमें एक-एक शब्दमें सहयोग देकर ग्रन्थको प्रभावोत्पादक बनाया है। एलेक्सान्द्रे द्यूमाका कोई सहयोगी तो नहीं था किन्तु उसके सहायक बहुतसे थे। इसी प्रकार द्यूमाके पुत्र बुलवर लितनका कहना है कि 'जैसे-जैसे कोई साहित्यिक कृति लिखी जाती रहे वैसे-वैसे उसपर विस्तृत विचार-विमर्श करते चलना चाहिए।' नाट्यके क्षेत्रमें रासीन, कौरनील, मौलिए, सरवान्ते, कालदेरों, लोपे दे वेगा, सबने किसी न किसीको साथ लेकर अपनी रचनाएँ की हैं, यहाँतक कि बहुतसे एलिज़ाबेथ-कालीन नाटककारोंने

यहाँतक कि शेक्सपियरने भी यही किया है। सबसे अधिक एकमत होकर ब्यूमौन्ट और फ़्लेचरने लिखा है। इस प्रकारके सहयोगमें कभी तो यह होता है कि दोनों साथी उसका एक-एक रूप प्रस्तुत करते हैं और फिर दोनोंकी तुलना करके उन्हें मिला देते हैं या उनमेंसे एकको छाँटकर उसे सुधार लेते हैं। लाबीचेने बहुतसे लोगोंके साथ मिलकर ग्रन्थ लिखे हैं और उसका कहना है कि 'इस प्रकारके मेलजोलसे की हुई रचनाओंमें बड़ी सरलता आ जाती है क्योंकि उसमें एक तो सोचता और निर्देश करता रहता है और दूसरा लिखता रहता है।' यह भी सम्भव होता है कि एक व्यक्ति कथावस्तु और दृश्य-रचनामें कुशल हो और दूसरा व्यक्ति सम्वाद लिखनेमें, अतः इन दोनोंका समन्वित प्रयास निश्चित रूपसे नाटक या उपन्यासको सुन्दर बना देगा। वर्त्तमान नाट्य-क्षेत्रमें एल्मर राइस और फ़िलिप बारीने सुन्दर आरभटी नाटक (मेलोड्रामा) लिखा है जिसका नाम है 'कौक रोबिन, १९२८), जिसमें पत्र-व्यवहार-द्वारा ही एक दूसरेको सहयोग मिला था। इसी प्रकार जौर्ज एस्० काउफ़मैनने मौस हार्टके साथ मिलकर 'यू कान्ट टेक इट विद यू' (१९३६), एडना फ़रवरके साथ मिलकर 'दि रौयल फ़ैमिली (१९२७), डिनर एट एट (१९३२) और स्टेज-डोर (१९३६) तथा मार्ककौनेलीके साथ मिलकर आठ नाटक लिखे (१९२४)। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब कोई नाटककार एक नाटक लिख देता है तो नाट्य-प्रयोक्ता किसी पुनर्लेखक (रीराइटमैन) को बुलाकर उसकी रचना या सम्वादमें उचित प्रभाव लानेके लिये सुधरवा लेता है। नाट्य तो वास्तवमें स्वयं सहयोगपूर्ण कला या कलाओंका समन्वय है। इसलिये अन्य कलाओंकी अपेक्षा इसमें सहयोगसे अधिक लाभ हो सकता है।

# साहित्यके रूप

हमारी स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया तथा अनुकरण-वृत्तिकी प्रेरणा अथवा स्वान्त:प्रेरणासे हमारी रुचि किसी एक वस्तु, व्यक्ति, विषय या घटनाके सौन्दर्य, अद्‌भुतत्त्व या असाधारणत्वसे आकृष्ट होकर उसे अङ्गीकार करके उसमें इस प्रकार तन्मय हो जाती है कि वह वस्तु, विषय, व्यक्ति या घटना उसके पश्चात् हमारे मस्तिष्कमें वात्याचक्र बनकर घूमने लगती है और हमारे सम्पूर्ण मानस-व्यापारका एक बलिष्ठ केन्द्र बन जाती है। परिणाम यह होता है कि हमारे मनकी स्वतन्त्र शक्ति 'कल्पना' निरन्तर उसके पोषणमें प्रवृत्त हो जाती है और उसे मूर्त्त रूप देनेके लिये उसकी शृंगार-सामग्री जुटाने लगती है। नई घटनाएँ, नये पात्र जोड़कर, अरुचिकर तथा अनाकर्षक घटना और पात्र निकालकर नया क्रम, नई शब्दावली और नया छन्द सुझाकर वह मनको विश्वास दिला देती है कि अब यह पूर्ण है और अभिव्यक्तिके योग्य है। इतना मानस पाचन हो चुकने पर बुद्धिके सम्मुख यह प्रश्न रह जाता है कि 'उसे किस रूपमें उपस्थित किया जाय।' किसी रूपमें प्रस्तुत करनेका कार्य विवेक करता है जो ग्राहककी रुचि, समाजकी आवश्यकता तथा अपनी रुचि और समर्थताको समझकर कविको सङ्केत देता है कि अमुक रूपमें इसे उपस्थित किया जाय।' कविका विवेक उस समय यह विचार करता है कि 'हम जिस वस्तुको उपस्थित करना चाहते हैं उसके लिये यदि सहृदय श्रोता अधिक मिलें तो कविता रची जाय, यदि सर्वसाधारण जनताके लिये वह रुचिकर, आकर्षक और हितकर हो तो नाटककी रचना की जाय, यदि विद्वान् विचारक लोगोंके योग्य वह विषय हो तो निबन्ध लिखा जाय। यदि सर्वसाधारण पढ़े-लिखे लोगोंकी रुचिको तृप्त करनेवाला हो तो उपन्यास रचा जाय।'

तात्पर्य यह है कि साहित्यके रूपका विवेक करनेमें चार बातें सहायक होती हैं—

१. विषयकी गम्भीरता अथवा विषयकी प्रकृति ।

२. ग्राहकोंकी रुचि ।

३. स्वतः कविकी रुचि, परिस्थिति और समर्थता ।

४. समाजकी रुचि और आकांक्षा ।

इनमें भी कविकी स्वयं अपनी रुचि तथा परिस्थिति प्रधान होती है । यदि कविको स्वयं नाटक अच्छे लगते हैं और वह नाटय-कौशलसे परिचित या रङ्गशालाके साथ सम्बद्ध है तब वह नाटककी रचना करता है । यदि वह कवियोंके साथ उठता-बैठता है या काव्य पढ़ता है तो उसे कविता लिखनेमें रुचि होगी । यदि वह अधिक कल्पनाशील है और उपन्यास पढ़ता है तब वह उपन्यास या कहानी ही लिखेगा । यदि वह स्वयं सुकण्ठ तथा सङ्गीतज्ञ है तो वह गीत लिखेगा । कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो साहित्यके सभी रूप प्रस्तुत कर देते हैं और वह भी या तो यों ही अपना काव्याभ्यास माँजनेके लिये, काव्य-कौशल दिखानेके लिये या अपना महत्त्व सिद्ध करनेके लिये । ऐसे बहुत कम लोग हैं जो सब प्रकारकी रचना करनेमें समान रूपसे समर्थ होते हैं ।

## रूप, कौशल और शैली

साहित्य-रचना करनेकी वृत्तिके साथ तीन बातोंका निर्णय करना आवश्यक हो जाता है—

१. क्या रूप हो ?

२. किस कौशलसे उपस्थित किया जाय ?

३. क्या भाषा-शैली हो ?

इन तीनोंमेंसे सर्वप्रथम रूपका ही निर्णय करना पड़ता है । अतः इसी क्रमसे हम भी यह विचार कर लेना चाहते हैं कि साहित्यके कितने रूप हैं या हो सकते हैं ।

## साहित्य और इतिहास

साहित्यके रूपोंका विवेचन करनेसे पूर्व साहित्य और इतिहासका भे[illegible] स्पष्ट समझ लेना चाहिए क्योंकि साहित्य और इतिहास दोनोंका सदा चोली-

दामनका साथ रहा है और उन दोनोंने समान रूपसे मानव-समाजको प्रभावित भी किया है। सिसरोका मत है कि 'कवि राष्ट्रीय वीरोंके साहसपूर्ण कृत्योंका विवरण देकर लोक-सेवा करता है अत: वह भी इतिहासकार है।' क्विन्तीलियनने भी कहा है कि 'इतिहास गद्य-काव्य है।' पुनरुत्थानकालके समीक्षकोंने यह मानते हुए कहा था कि 'इतिहास तो नैतिक उपदेश देकर काव्यकी सहायता करता है।' इसके अतिरिक्त काव्यमें शिक्षा और सौन्दर्यमें जो तत्त्व हैं उनका आधार भी ऐतिहासिक ही माना गया है और पुटेनहमने तो दैवी काव्यके पश्चात् ऐतिहासिक काव्यको ही स्थान दिया है। इस प्रकार अनेक विद्वानोंने माना है कि 'काव्य और इतिहास दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं।' भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नाट्यवेदको 'सेतिहास' (इतिहास-सहित) बताया है। संसारके प्रसिद्ध महाकाव्योंकी कथाएँ भी इतिहास-प्रसिद्ध ही रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इतिहास सदा साहित्यको सामग्री तो देता रहता है किन्तु साहित्य नहीं बन पाता। उसका कारण केवल यही है कि वह प्रत्यक्ष जगत्में भूतकालका प्रत्यक्ष द्रष्टा बनकर बोलता है किन्तु साहित्य तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान, प्रत्यक्ष तथा कल्पना-जगत् और दृष्ट तथा अदृष्ट सबका मनोहर व्याख्याता होता है।

## साहित्यिक वर्गीकरण

संसारकी अन्य वस्तुओंके समान साहित्यिक कृतियोंका भी उनकी समानता और असमानताके अनुसार वर्गोंमें विभाजन हो सकता है। साहित्यिक कृति और प्रक्रियाके परीक्षणका उद्देश्य यह है कि उस कृतिके विशिष्ट तत्त्व खोलकर उनका लेखा बनाया जाय और उन तत्त्वोंकी विशेषताएँ स्पष्ट की जायँ। यही समीक्षकका मुख्य कर्त्तव्य भी है। इनमेंसे कुछ तत्त्व तो किसी एक कृति या साहित्यिक रचनामें अद्वितीय होते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो दूसरी कृतियों या प्रक्रियाओंमें भी दिखाई पड़ते हैं। अत: वर्गीकरण करनेका सिद्धान्त यह है कि 'एकसे, समान रूपसे व्यापक तथा एक निर्दिष्ट तत्त्वोंवाली सब कृतियों और साहित्य-प्रक्रियाओंको एक वर्गमें स्थापित कर दिया जाय।' इस बातपर विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है कि इस वर्गीकरणकी क्रियामें हमारा क्या मानसिक व्यवहार होता है। मध्यकालीन नामवादी (नौमिनलिस्ट) (जो मानते हैं कि सामान्य शब्दका मस्तिष्कके भीतर या बाहर कोई

अस्तित्व नहीं होता वे केवल शब्द होते हैं।) और वर्त्तमान प्रत्यक्षवादी (पौज़िटिविस्ट) लोगोंका मत है कि 'जिन वस्तुओंमें कुछ समानताएँ हों उनके लिये एक नाम दे देना ही वर्गीकरण कहलाता है।' दूसरे पक्षका कहना है कि 'वर्गीकरणमें केवल नाम देना मात्र ही पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि उस वर्गके सब पदार्थोंकी सार्वभौमिकता या व्यापकता भी निर्धारण करना चाहिए।' इस दूसरे मतके अनुसार यह साधारणतया माना जाता है कि 'किसी वस्तु या ज्ञानके सम्बन्धमें यह समझाया जाय कि उसकी निज सत्ता अथवा उस सत्ताके तत्त्वकी व्यापकता 'जातिगत' है या 'विशिष्ट' है। स्वतन्त्र सत्तावाली विशिष्ट वस्तुका बौद्धिक ज्ञान होनेका साधारणतः यही अर्थ समझा जाता है कि उसमें भावनीयता की बात नहीं रहती। कुछ वर्त्तमान समीक्षक और दार्शनिक विशेषतः क्रोचे और उसके अनुयायी मानते हैं कि इस प्रकारके भेदों के कारण ही साहित्यिक या कलात्मक कृतिका वर्गीकरण न तो सम्भव है न उपयोगी।

इन समीक्षकोंका तर्क है कि 'किसी भी कलाकृतिका पूर्ण तत्त्व अनिवार्य रूपसे निजी, निराला सबसे अलग होता है, अतः उसको समझनेमें कोई भाव नहीं उत्पन्न हो सकता और इसलिये उसे किसी वर्गमें नहीं रख सकते। यों भी जितनी कलाकृतियाँ होती हैं, वे पूर्णतः अद्वितीय होती हैं, इसलिये वे निजी रूपसे किसी भी वर्गमें नहीं आ सकतीं अर्थात् कोई भी दो कलाकृतियाँ एक श्रेणीमें नहीं रक्खी जा सकतीं। इस प्रकार वर्ग और स्वतन्त्र अस्तित्व दोनों एक ही हो जाते हैं, अर्थात् जितनी व्यक्तिगत कलाकृतियाँ हैं उतनी ही उनकी श्रेणियाँ हो जाती हैं। इस आपत्तिका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य वस्तुओंकी भाँति कलाकृतियोंमें समानता और भेदके कोई लक्षण नहीं ढूँढे जा सकते, वरन् कलाकृतियोंमें जो तत्त्व अद्वितीय नहीं हैं अर्थात् जिन तत्त्वोंपर वर्गीकरण आश्रित होता है वे अनावश्यक और निस्तत्त्व होते हैं इसलिये वे वर्गीकरण समीक्षाके लिये असङ्गत होते हैं।' इसका स्पष्ट उत्तर तो यह है कि 'सर्वाङ्ग समीक्षाके लिये किसी वस्तुका कोई भी पक्ष असङ्गत नहीं हुआ करता। जो बात किसी कलाकृतिमें अप्रतिम है वह उस कलाकृतिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् तत्त्व हो सकता है। उसे ग्रहण करना और बताना समीक्षकका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य भी है। किन्तु समीक्षकका कार्य केवल उसे बता देना भर ही तो नहीं है। किसी

वस्तुके पूर्ण वर्णनके लिये यह भी स्वतः एक सङ्गत, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है कि अमुक कृतिमें अमुक बातें सर्व-सामान्य हैं और अमुक विशिष्ट अर्थात् अप्रतिम हैं।

साधारण गुणोंके अनुसार वस्तुओंका वर्गीकरण करना मस्तिष्कका स्वाभाविक और अपरिहार्य कार्य है क्योंकि किसी वस्तुके अप्रतिम तत्त्व जाननेके लिये उन सब वस्तुओंका विवरण दे देना आवश्यक है जो उसमें अप्रतिम नहीं है। इससे वस्तुके परिज्ञानमें बड़ी सुविधा होती है। यद्यपि क्रोचे और उनके बहुतसे साथी साहित्यके प्रकारोंकी भावनाकी दार्शनिक महत्ता स्वीकार नहीं करते, किन्तु यह अवश्य मानते हैं कि ऊपर-ऊपरसे परस्पर सम्बद्ध गुणोंके अदार्शनिक भेदीकरणसे वर्ग जाननेमें सुविधा होती है क्योंकि—

१. क्रोचेके सिद्धान्तमें इस सुविधाको बतानेका कोई साधन नहीं दिया गया।

२. क्रोचेने कहीं भी युक्तिसङ्गत रूपसे इसका विवेचन नहीं किया है कि 'क्या सुविधा होती है ?'

### वर्गीकरणकी महत्ता

वास्तवमें वर्गीकरण अत्यन्त सुविधाजनक होते हैं क्योंकि अत्यन्त अभिव्यञ्जनावादके सौन्दर्यवादसे बाहरकी जो समीक्षात्मक क्रियाएँ रहती हैं, उन्हें एक स्थानपर सङ्ग्रह करना सुविधाजनक और आवश्यक होता है। कुछ लोगोंकी आपत्ति है कि 'इस प्रकारके वर्गीकरणकी क्रिया प्रायः बड़े भद्दे ढङ्गसे की जाती है साधारण साहित्यिक भावनाओंकी परिभाषाएँ असन्तोष-जनक हुई हैं और व्यवहार तथा निर्णयके लिये अत्यन्त मिथ्या और अपर्याप्त विचारके कारण अत्यन्त अप्रामाणिक सिद्धान्त निकाले गए हैं।' किन्तु इससे यह तो नहीं समझा जा सकता कि 'वर्गीकरणका कार्य ही व्यर्थ तथा सदाके लिये अव्यवहार्य है।' इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सर्वसामान्य और विशिष्टके बीच रूढिगत भेदकी झूठी और निःसार रेखा खींच ली गई है क्योंकि कोई भी विशिष्ट काव्यकृति किसी जाति या वर्गके विचारोंको चाहे जितना भी अधिक दूर रखनेका प्रयत्न करे किन्तु वह किसी न किसी प्रकार उन विचारोंको उपस्थित अवश्य करती है। उन विचारोंसे उसमें कोई दोष नहीं आता वरन् उस कृतिके वैशिष्ट्यका शुद्ध रूप ज्ञात हो जाता है। यह दोष

सामान्यको देखनेसे नहीं वरन् उस जातिको ठीक समझनेसे ही आता है विशेषत: जब हम किसी कलाकृतिको उसके कलाकारके व्यक्तित्वसे आँकने लगते हैं। सूर या मीराका कोई गीत कुछ कम गीत नहीं प्रतीत होता क्योंकि हम जानते हैं कि 'वह एक गीत है और क्योंकि वह गीतके अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता।' और यदि यह बात हमारे मस्तिष्कसे निकल जाय कि यह गीत है तो हम उसकी वास्तविकताको कभी जान ही नहीं सकते।

## चार मौलिक सिद्धान्त

साहित्यिक कृतियाँ चार मौलिक सिद्धान्तोंसे आँकी जाती हैं जो अरस्तूके चार कारणोंसे मिलती-जुलती हैं। ये चारों हैं—

१. वह कारण, कर्त्ता या साधन जो उस कृतिको जन्म देते हैं।
२. वह उद्देश्य, जिसके लिये उसका जन्म होता है।
३. वह सामग्री, जिसमेंसे उसका निर्माण होता है।
४. वे विशेषताएँ, जो विश्लेषणके द्वारा मूर्त्त रूपसे उसमें मिलती हैं।

यदि हमें साहित्यिक वर्गीकरण करना हो तो इनमेंसे एकसे अधिक सिद्धान्तोंका प्रयोग करना पड़ेगा जैसे काव्यके वर्गीकरणमें यह सिद्धान्त कि—

१. वह किसी अन्त:स्फूर्त्त पागलके द्वारा लिखी गई या सज्ञान-द्वारा।
२. प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे लिखी गई या उपदेश देनेके।
३. किस काव्य-भाषा और शैलीमें लिखी गई ?
४. पद्यमें लिखी गई या गद्यमें ?

जब हम इन सिद्धान्तोंके भेदको जाने बिना इनका प्रयोग करने लगते हैं तब गड़बड़ी हो जाती है।

१. इन सिद्धान्तोंमेंसे हम यदि पहलेका प्रयोग करें तो कर्त्ता या लेखककी सब कृतियोंको एक श्रेणीमें बाँधकर रख सकते हैं और इनमें भी अन्य श्रेणियाँ इस दृष्टिसे बना देते हैं कि लेखकके जीवनमें विभिन्न प्रकारकी भावनाएँ किस प्रकार काम कर रही थीं। इसी प्रकार किसी एक युग या स्थानके या किसी एक प्रभावके या मतके लेखकोंको हम एक वर्गमें रखते हैं।

२. रचनाकारके सिद्धान्तकी अपेक्षा उसके उद्देश्यकी दृष्टिसे वर्गीकरण करनेका सिद्धान्त अधिक बाह्य है। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्राचीन कालके

आचार्योंने सम्पूर्ण आलङ्कारिक रचनाओंके क्षेत्रको तीन भागोंमें बाँट दिया था—पहला था सन्तुलन, दूसरा था निर्णय और तीसरा था प्रयोग। इसी सिद्धान्तपर उन लोगोंने शैलीके विभिन्न रूपोंके भेद निश्चित किए थे क्योंकि प्रत्येक शैली-भेद किसी एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त होता था, जैसे सूचनाके लिये सरल शैली, उत्तेजित करनेके लिये भव्य शैली और प्रसन्न करनेके लिये मध्यम शैली। प्रचार और पलायनका साहित्य ( लिटरेचर औफ़ प्रोपेगैंडा या लिटरेचर औफ़ एस्केप ) आदि भेद इसी प्रकारके हैं।

३. किसी साहित्यिक कृतिके लिये प्रयुक्त होनेवाली सामग्री अर्थात् भाषाकी दृष्टिसे किया वर्गीकरण सबसे अधिक प्रत्यक्ष और अत्यन्त कम भेद उत्पन्न करनेवाला होता है जैसे फ्रान्सीसी लेखको अँगरेज़ी लेखसे भिन्न बताना या सङ्गमर्मरकी मूर्त्तिको लकड़ीकी मूर्त्तिसे भिन्न बताना, यद्यपि उनमें निर्माण किए हुए साहित्यकी दृष्टिसे दो भाषाओंके भेदसे वास्तवमें सामग्रीका भेद भी हो जाता है। किन्तु फ्रान्सीसी साहित्य और अँगरेज़ी साहित्यका भेद केवल सामग्री भरका ही भेद नहीं है क्योंकि दोनों भाषाएँ अपनी-अपनी रूढिसे उत्पन्न हुई हैं और दोनोंकी ध्वनियाँ भी लगभग समान हैं। अन्तर यही है कि दोनों जातियोंने विषय-चयन और रचनाके भेदसे ध्वनिको विभिन्न रूप दे दिए हैं। ये रूप इन साहित्यिक कृतियोंमें विशिष्ट रूपसे प्रकट होते हैं, यद्यपि हैं ये अत्यन्त छोटे तत्त्व। वस्तुमें ऐसे विशिष्ट तत्त्वोंका अधिक महत्त्व होनेसे साहित्यिक वर्गीकरणके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निकल आते हैं। यह वर्गीकरण अधिक बाह्य और उपयोगी भी है क्योंकि अन्योंके सम्बन्धमें हमारी जानकारी कलात्मक कृतियोंके उन विभिन्न पक्षोंके ज्ञानसे ही प्राप्त होती हैं, जिनमें हम एक तत्त्वको दूसरेसे भिन्न देखकर परखते हैं। किसी साहित्यिक वस्तुमें ये विशिष्ट तत्त्व भी या तो ध्वनिके रूपमें या अर्थके रूपमें वर्गीकृत किए जा सकते हैं और अपने आधारके अनुसार इन तत्त्वोंमेंसे एक या अनेकके ऊपर आश्रित हो सकते हैं इन्हींमेंसे एक या उनके समूहको हम साहित्यिक वर्गमें बाँध सकते हैं।

## पद्य और गद्य

ध्वनिकी बनावटके अन्तरके अनुसार जो हम भेद स्थापित करते हैं उनमेंसे मुख्य वह है जो साहित्यको निम्नलिखित दो भागोंमें बाँटता है—

एक पद्य और दूसरा गद्य, जो ध्वनिकी दृष्टिसे ही अलग-अलग रूप हैं। अर्थ और अर्थकी बनावटके भेदकी दृष्टिसे जो भेद पाए जाते हैं वे अधिक जटिल हैं। इसलिये हम दो प्रकारके साहित्यिक रूपोंके एक रेखा खींच लेते हैं।

१. वे वर्ग जो साहित्यके साधारण रूपोंका बोध कराते हैं।

२. वे वर्ग जो एक जातिके रूपोंका बोध कराते हैं।

### साहित्यके तीन वर्ग

इनमेंसे प्रथम श्रेणीमें अर्थात् साधारण साहित्यिक रूपोंके वर्गमें निम्नलिखित रूप आते हैं—

( अ ) व्याख्यात्मक, जैसे निबन्ध।

( आ ) कथात्मक, जैसे उपन्यास।

( ई ) नाटकीय, जैसे नाटक या संवाद।

इन साधारण साहित्यिक रूपोंका वर्गीकरण इस बातपर विशेषतः अवलम्बित है कि 'किस प्रकारकी वस्तुओंका उसमें उपयोग किया गया है' अर्थात् किसी घटनासे सम्बद्ध किसी कथाका गत्यात्मक रूप है या किसी विचारके विवेचनसे सम्बन्ध रखनेवाला स्थिर रूप है। उनमें यह भी देखा जाता है कि वाणी और सम्बोधनके विविध प्रकारोंका रचनात्मक भेद किस प्रकारका है।

### काव्य-रचनाकी जाति

काव्य-रचनाकी जातिका वर्गीकरण साहित्यमें उसकी प्रकृतिसे अर्थात् उसके अर्थोंसे पूर्णतः सम्बद्ध होता है, उसकी बनावटसे नहीं। यह जाति इस बातसे निश्चित की जाती है कि 'उसका विषय किस प्रकारका है।' यदि वह ग्रामवासियों या गड़रियोंसे सम्बन्ध रखता है तो वह ग्रामीण ( पैस्टोरल ) है, वीरोंसे सम्बन्ध रखता है तो वह महाकाव्य है और यदि कुछ विचित्र कल्पनात्मक है तो स्वैरवादी ( रोमान्स ) है। कभी-कभी यह जाति-भेद उसकी आन्तरिक प्रवृत्तिपर भी अवलम्बित रहता है जैसे व्यंग्यात्मक, हास्यजनक आदि। कभी-कभी इन दोनोंका भी प्रयोग होता है जैसे त्रासदमें, जहाँ बाह्य विपत्ति और भावकी गम्भीरता दोनोंकी आवश्यकता होती है। इन दोनों प्रकारके वर्गोंको अलग रखना सदा लाभकर होता है। यद्यपि हम व्यवहारमें इन दोनोंको मिला देते हैं, जैसे जब हम त्रासद (ट्रेजेडी) कहते हैं तब

इसका तात्पर्य यह होता है कि वह नाटकीय तो है, किन्तु उसकी जाति त्रासद है। इस प्रकारके विवेचन अनुसार हम किसी भी अनाटकीय साहित्यिक कृतिको, जैसे 'उपन्यास'को, उसकी जातिके कारण कह सकते हैं कि 'वह भी त्रासद है'। वास्तवमें साहित्य-रूपके तीन मौलिक प्रकार हैं किन्तु उनकी जातियाँ उन साहित्यिक कृतियोंसे सम्बद्ध विषयोंके अनुसार बहुत-सी हैं और ऐसी बहुत-सी कृतियाँ भी हैं जो उन्हें प्रभावित करती हैं। अतः उन सबके लिये बहुतसे विशेषण भी दिए जा सकते हैं।

### मौखिक और लिखित साहित्य

यहाँ एक और साधारण साहित्यिक वर्गीकरणकी बात बताना आवश्यक है, जिसमें हम मौखिक और लिखित साहित्यका भेद कहते हैं। यह भेद साहित्यिक कृतियोंके अभिव्यञ्जनकी प्रक्रियाका भेद है, रचनाका नहीं। यह भेद कभी-कभी बहुत महत्त्वका हो जाता है विशेषतः तब, जब कि किसी साहित्यिक कृतिका इसलिये प्रयोग किया जाता है कि यह मुखसे कहा जायगा अथवा पढ़ा जायगा जैसे आल्हा, चारणोंके कवित्त अथवा इसी प्रकारके रूढ महाकाव्य। हमारे यहाँ श्रव्य और दृश्य रूपसे जो काव्यके भेद किए गए थे उनका आधार यही था। श्रव्य काव्यमें यह उद्देश्य होता है कि वाचक भावानुसार पाठ करके श्रोताओंतक काव्यके उचित रसका संक्रामण कर दे। इसलिये उसकी रचना सरल, अधिक भावपूर्ण और अधिक मर्मस्पर्शी होती है। उसमें तर्क और चिन्तनका अवसर कम होता है, संवेदनका अधिक। इसके विरुद्ध, जो रचनाएँ वाचनके लिये लिखी जाती हैं, उनमें भाषाकी जटिलतासे भाव भी जटिल हो जाते हैं, क्योंकि उनमें वाचकको इतना अवसर मिलता रहता है कि वह प्रत्येक बातको विचार-विचारकर आगे बढ़ावे। इसी भेदसे आगे चलकर लोक-साहित्य और कला-साहित्यका भेद भी उत्पन्न हो जाता है किन्तु यह भेद अब अवैज्ञानिक समझा जाने लगा है। यह भेद भी वास्तवमें मौखिक और लिखित साहित्यके भेदके अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि लोक-साहित्यमें भी कलाका पूर्णतः प्रयोग किया ही जा सकता है। कर्त्ताकी दृष्टिसे एक भेद अवश्य हो सकता है जातीय और व्यक्तिगत रचनाका।

### कल्पित आदर्श साहित्य ( यूटोपियन लिटरेचर )

प्लेटोके समयसे ही आदर्श राष्ट्रोंकी कल्पनाका प्रचलन रहा है। इन राष्ट्रोंकी भावना केवल प्लेटोमें ही नहीं वरन् अरस्तूमें भी है क्योंकि उसने इस प्रकारका नगर-निर्माण करनेवाले हिपोदेमसकी चर्चा भी की है। किन्तु यह भावना आई है प्लेटोसे ही, जिसका कहना है कि 'संसारकी प्रत्येक वस्तुका एक आदर्श रूप होता है।' इसलिये किसी एक पूर्णतः आदर्श समाजका विवरण केवल उसकी वास्तविक प्रकृतिका ही विवरण नहीं देता वरन् विकासकी सम्भावनाओंका भी निर्देश करता है। ऐसे उदात्तवादी आदर्श ग्रन्थोंमें प्लेटोका गणतन्त्र ( रिपब्लिक ) है, जिसने वर्गवादको अधिक महत्त्व दिया। इस पूरे साहित्यको ही यूटोपिया नाम दिया टौमस मूरने, जो पुनर्जागरणकालका मानववादी था। उसने इस शब्दके दो अर्थ लगाए—एक तो आउटोपिया अर्थात् जिसका कोई स्थान ही न हो और दूसरा एउटोपिया या सुन्दर स्थान। इसीके अनुसार पहले अर्थसे पलायनवादका यूटोपिया बना दूसरेसे पुनर्निर्माणका। पहलेमें लेखकके हृदयमें व्याप्त असंयत, मन-मौजी कल्पना या स्वप्न-विवेचन रहता है, जिसका वास्तविकतासे बहुत कम सम्बन्ध रहता है। इसके अन्तर्गत आता है अनुकरणात्मक यूटोपिया जैसे तोमासो कम्पानेलाका 'सिटी ऑफ़ दि सन' या बुलवर लिटनका 'दि कमिङ्ग ऑफ़ दि रेस', अठारहवीं शताब्दीसे पुनर्निर्माणका यूटोपिया अधिक लोकप्रिय हुआ जिसमें पुनर्निर्माणके ऐसे प्रयोग सुझाए जाते हैं जिनसे लाभ उठाकर श्रेष्ठतर समाजका निर्माण हो सके इस श्रेणीमें कैबेटका 'वौएज टु आइकेरिया' और एडवर्ड बेलामीका 'लुकिङ्ग बकवर्ड' मुख्य है। यद्यपि इन दोनोंमें कोई विशेष भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती फिर भी उनका अन्तर स्पष्टतः प्रतीत होता ही है। ऐन्जिल्सने अपने समाजवाद ( सोशलिज़्म ) में इस प्रकारकी हवाई कल्पनाओंको बहुत कोसा है फिर भी इन्हीं लोगोंने समाजको ऊपर उठाने और उसका पथ-प्रदर्शन करनेके नये मार्ग दिखाए हैं।

### अध्यवसान ( एलिगरी )

अलङ्कार-शास्त्रमें जो अन्योक्तिका स्थान है वही काव्य-स्वरूपमें अध्यवसानका स्थान है। जैसे अन्योक्ति अलङ्कारमें वर्णन तो किसीका होता है किन्तु लक्ष्य कोई दूसरा होता है वैसे ही अध्यवसान-काव्यमें काव्यके प्रत्यक्ष विषयमें अप्रत्यक्ष विषयार्थ छिपा रहता है और वही अर्थ मुख्य

होता है। 'पद्मावत', 'फ़ेयरी क्वीन', 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और 'इडिल्स औफ दि किङ्ग' ऐसे ही अध्यवसान-काव्य हैं। ऐसे काव्योंमें जो छिपा हुआ मुख्य विषय होता है वह या तो नैतिक होता है या पारमार्थिक।

## अपोलोवादी दिअनुससवादी ( एपोलोनियस डिओनीज़ियन )

ये दोनों शब्द फ़्रीडरिख़ नीत्शेने अपने प्रथम ग्रन्थ 'सङ्गीतके भावसे त्रासदका जन्म' ( बर्थ औफ़ ट्रेजेडी आउट औफ़ दि स्पिरिट औफ़ दि म्यूजिक', अर्थात् 'स्वभाविकतावाद और निराशावाद' हेलनिज्म ऐण्ड पैसिमिज़्म ) में प्रयुक्त किए थे। नीत्शेके मतसे यूनानी देवता अपोलो और दिअनुसस दोनों परस्पर विरोधी शक्तियोंके प्रतीक-देवता हैं। इस प्रारम्भिक ग्रन्थके अस्पष्ट और जटिल अध्यवसान या रूपकमें, जिसके कुछ दोष लेखकने पीछे स्वीकार भी कर लिए थे, उपर्युक्त दोनों शब्दोंका कोई विशेष तत्त्व नहीं रहा और वे पीछे चलकर उदात्त-काव्यवाद और स्वैरवादके सङ्घर्षके रूपमें चला लिए गए।

नीत्शेने इस रूपकको यों समझाया है कि 'अपोलो और दिअनुससका द्वन्द्व वास्तवमें विवेक ( अपोलो ) और 'सहज प्रकृति' ( दिअनुसस ) का विरोध है' जिसे हम व्यक्ति और समाज, सभ्यता और प्राकृतिक स्थिति, विवेकवाद और रूढिका सङ्घर्ष मान सकते हैं। जीवनके ये पक्ष एक ओर गतिशील कलाओं ( अपोलो ) और दूसरी ओर सङ्गीत ( दिअनुसस ) में व्यक्त हुए हैं। नीत्शेका मत है कि 'इन दोनोंका संयोग सर्वप्रथम यूनानी त्रासदोंमें ही हुआ' जो जीवनको महत्त्वपूर्ण माननेवाली यूनान जातिके गम्भीर आशावादका परिचायक है। नाटकमें भी यह रूपक स्पष्ट प्रतीत होता है; जहाँ सम्वादोंमें अपोलोकी प्रकृति है और समवेत गानके स्तोत्रीय सङ्गीतमें दिअनुससकी भावना विराजमान है। नीत्शेके मतसे सुकरात और प्लेटोने जो विवेकवादकी भावना चलाई उसे यूनानी पतनकी भावना समझनी चाहिए। वास्तवमें नीत्शेके ग्रन्थका शीर्षक 'विवेकवादसे त्रासदकी मृत्यु' होता तो अच्छा होता।

नीत्शेने जर्मनकलाके ह्रासमें उस समय आशाकी किरण देखी जब उसने अपने समयमें वैगनरका ओजपूर्ण सङ्गीत सुना जिसे वह दूसरा 'अस्कुलस' मानता था। वैगनरके उद्गमको वह दिअनूसी भावनाका

पुनर्जन्म मानता था। यह भी स्पष्ट है कि नीत्शेने जो बहुतसी अपनी भूलें स्वीकार नहीं की हैं उनमेंसे एक यह भी है कि वह नाटकमें स्तोत्रीय सङ्गीतके तत्त्वको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देता है क्योंकि वह स्वयं प्राचीन काव्यका पण्डित था और वह जानता था कि दिअनुसस स्वयं यूनानी त्रासदमें अन्य महत्त्वपूर्ण पौराणिक देवताओंमें सबसे अधिक महत्त्वका समझा गया है। जर्मनोंने त्रासदके जन्मको साहित्यमें इतनी प्रधानता दे दी है कि जिससे वर्त्तमान नाज़ी राज्यका ऐसा व्यवस्थित बुद्धिवाद-विरोधी सिद्धान्त बन गया है जिसमें जातिकी दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता, व्यक्तिको समाजमें लीन कर दिया जाता है और मनोवेग तथा स्वामीकी इच्छापर अन्ध आत्मसमर्पण कर दिया जाता है।

इसी प्रकारकी परस्पर - विरोधी भावनाएँ निम्नलिखित शब्दोंमें भी व्यक्त हुई हैं जैसे–मैथ्यू आरनोल्डके हेलिनिज़्म और हिब्राइज़्ममें, प्योरिटन और पैगनमें, नेव और सेन्तीमेन्तालिस ( शिलर ) में, ऐन्टीक और मौडर्नमें, क्लासिकल और बारोक या रोमान्टिकमें तथा डैमोक्रेटिक और ऐरिस्टोक्रेटिकमें। ये सभी विरोधी शब्द पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं इसलिये इनके कारण अन्तहीन शास्त्रार्थ उठ खड़े हुए हैं क्योंकि सभी इन्हें परस्पर पूर्ण रूप मानते जा रहे हैं। यदि इन्हें अलग-अलग प्रवृत्तियोंके रूपमें माना जाय तो इससे लाभकर परिणाम निकल सकता है और इनमेंसे प्रत्येकमें विशेष प्रकारकी प्रवृत्तिका अध्ययन किया जा सकता है।

### ललित साहित्य ( बेल् एस्प्रित )

फ्रान्समें एक नये प्रकारका साहित्य चला था जिसकी प्रकृति कोमल होती थी और जिसके अन्तर्गत सुन्दर पत्र या ललित पत्र-लेखन भी समाविष्ट था। बेल् एस्प्रित ( बहुवचन ब्यू 'एस्प्रित्स' ) उस व्यक्तिको भी कहते थे जो अपनी प्रत्युक्तियों, भाषाकी सुन्दरताओंके लिये प्रसिद्ध हो। यह भाषाकी सुन्दरता कभी-कभी कृत्रिमताकी सीमातक भी पहुँच जाती थी। अतः कृत्रिम रूपसे सुन्दर, ललित लेख-विन्यासको ही बेल् एस्प्रित कहने लगे।

### शीलयुक्त साहित्य ( पोलाइट लिटरेचर या बेल्स लेत्रे )

फ्रान्समें पहले व्याकरण, भाषण-कला और कविताको ही शीलयुक्त साहित्य कहते थे किन्तु आजकल साहित्य-समीक्षा तथा सम्पूर्ण साहित्य

( काव्य ) मात्रको विशेषतः साहित्यिक कलाके सौन्दर्य-भावको शीलयुक्त साहित्य कहते हैं ।

## शरीर-विश्लेषणात्मक साहित्य ( एनेटौमिकल लिटरेचर )

प्रकृति-वादियोंने अपने साहित्यमें विशेषतः उपन्यासोंमें व्यक्तियोंका वर्णन करते हुए उनके शरीरके विभिन्न अङ्गोंका वर्णन करना भी आरम्भ किया जो कभी-कभी बड़ा फूहड़ होता है। अतः उन्हीं लोगोंके लिये यह तिरस्कारात्मक शब्द चलाया गया और उनके साहित्यको शरीर-विश्लेषणात्मक साहित्य कहा जाने लगा । ऐसे एक लेखकने एक महिलाका चित्रण करते हुए लिखा है—'उसके साएमेंसे उभरे हुए उसके दोनों गोल, गोरे, चिकने स्तन अपना अधखुला सौन्दर्य लेकर वहाँ खड़े हुए सभी युवकोंको लुभानेके अत्यन्त पर्याप्त साधन थे । उन स्तनोंपर ढलती हुई इकहरे मोतियोंकी हारकी लड़ी जब झूलती थी तो उसके दोनों स्तनोंके कोरोंको छू-छूकर बीचमें लटक जाती थी । जब वह बार-बार अपनी अँगूठीसे सजी हुई पतली उँगलियोंके हावमय विलाससे उस हारको सरकाने लगती थी और कभी - कभी नीचे झुकती थी तब साएके ऊपर खुले हुए गलेमें दोनों स्तनोंकी गोलाई इस आकर्षणके साथ झलक उठती थी कि अत्यन्त अरसिक व्यक्ति भी उन्हें छातीसे लगाने या अत्यन्त तन्मयताके साथ उनपर हाथ फेरनेमें अपना जीवन धन्य समझने लगे ।' यह विवरण भी उन प्रकृतिवादियोंका अत्यन्त कम प्राकृतिक वर्णन समझना चाहिए । विशेष प्राकृतिक बनानेमें तो उन्होंने शालीनता और सुन्दरताकी सब सीमाएँ ही पार कर दी हैं । यह प्रयास एक नवीन ढङ्गका नख-शिख-वर्णन ही है ।

## प्रवास-साहित्य ( ऐमिग्रे या ऐक्सपैट्रिएट )

फ्रान्ससे जिन अनेक लेखकों और कवियोंको राज्य-क्रान्तिके समय या अन्य अनेक युगोंमें अपने देशसे बाहर जाकर रहना पड़ा, उन्होंने विभिन्न देशोंमें जाकर अनेक देशोंकी भावनासे भावित होकर जो रचनाएँ कीं, उन्हें फ्रान्समें 'एमिग्रे' कहते हैं । इनमेंसे कुछ तो दूसरे देशोंमें दास होकर गए,जैसे प्रसिद्ध आख्यायिकाकार 'ईसप' । कुछ लोग स्वेच्छासे अन्य देशोंको चले गए जैसे मध्यकालमें आयरलैंडके साधु लोग। कुछ लेखक राजनीतिक या नैतिक अपराधोंमें देश-निकालेका दण्ड पाकर चले गए थे । सन्त एव्रेमौन्दे सन्

१६६१ में निर्वासित किए गए जो इँगलैंडमें जाकर रहने लगे, जहाँ उन्होंने फ्रान्सीसी साहित्यिक विवादोंको विशेषतः इस विवादको प्रारम्भ किया कि 'प्राचीन साहित्य श्रेष्ठतर है या नवीन।' फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्तिके अवसरपर देशसे निकाले हुए वौल्तेयाने इंग्लैंड, प्रशा और स्वित्सरलैन्डमें रहकर अन्ताराष्ट्रिय भावनाओंका साहित्यमें प्रवेश किया। प्रथम जर्मन-महायुद्धके पश्चात् यह धारा और भी तीव्र हो गई और अनेक लेखक अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रिया, इटलीसे भाग-भागकर विभिन्न देशोंमें जाकर रहने लगे यह देश-त्यागवाला साहित्य एक तो अपना देश छोड़कर दूसरे देशमें लोग बैठकर सीखनेकी वृत्तिसे चला और दूसरा उस प्रवृत्तिसे चला जिसके कारण अनेक गाँवमें रहनेवाले लोग बड़े नगरोंमें आ बसे। शेक्सपियर जैसे अनेक कवियोंने लन्दनमें डेरा जमाया और कुछने शिकागो और न्यूयार्क जैसे बड़े नगरोंमें। किन्तु शेरवुड एन्डर्सन जैसे कुछ ऐसे भी लेखक थे जिन्होंने अपनी जन्मभूमिका महत्त्व अधिक विस्तारसे प्रतिपादित किया और प्रदेशवाद (रीजनलिज़्म) का आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसका तात्पर्य था 'अपनी जन्मभूमि, जन्मग्राम आदिको ही साहित्यका विशेष आधार बनाना।' इस प्रकारके आन्दोलनोंसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि 'कलाकी वृत्तियाँ ऐसी सन्तुलित हो जाती हैं कि उनमें न तो पूर्ण गाँवका ही वातावरण रह जाता है और न नागरिक प्रकोष्ठोंकी बहुत कृत्रिम सभ्यताका आडम्बर ही।' इस प्रकारके प्रवास-साहित्यमें लेखकों और कवियोंने अत्यन्त स्वच्छन्दताके साथ उन अनेक परिस्थितियोंका अत्यन्त स्पष्ट विवरण और चित्रण दिया है जिनके सम्बन्धमें वे स्वदेशमें रहकर सम्भवतः एक शब्द भी न कहते। अतः ऐसी रचनाएँ किसी देशका वास्तविक स्वरूप जानने और समझनेमें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई हैं।

इन रचनाओंके दो रूप होते हैं—

१. जिनमें कवि या लेखक अत्यन्त भावकताके साथ स्वदेशकी प्रकृतिका, वहाँके आचार-विचार और दृश्योंका, वहाँके आत्मीय जनोंका तथा परोपकारी किन्तु शासकों-द्वारा प्रताडित महापुरुषों और सज्जनोंका चित्रण करता है।

२. जिनमें कवियों और लेखकोंने नवस्वीकृत देशोंका गुण गाकर अपने देशकी प्रथाओं या शासन-नियमोंकी तुलना करके निन्दा की।

कुछ ऐसा भी साहित्य लिखा गया है जिनमें पर्यटकोंने दूसरे देशोंने जाकर वहाँके दृश्यों या आचार-व्यवहारसे प्रभावित होकर या तो उनकी

स्तुति की है अथवा वहाँकी असुविधाओंके कारण उनकी निन्दा की है। किन्तु ऐसी रचनाओंमें कवि अपना पक्षपात प्रदर्शित करता है अतः वह त्याज्य है। फिर भी ऐसे लेखकोंकी कमी नहीं है जिन्होंने विदेशोंमें रहकर अत्यन्त निष्पक्षताके साथ वहाँके जीवनका समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकारका विवरण उस 'यात्रा-साहित्य' ( ट्रेविल लिटरेचर ) से भिन्न होता है जिसमें लेखक क्षणिक अनुभवके प्रभावसे चित्रण किया करता है।

### तुलनात्मक साहित्य

स्वैरवादसे पहले सम्पूर्ण साहित्य एक ही रूपका समझा जाता था। इसके पश्चात् फिर राष्ट्र-साहित्योंकी गिनती होने लगी और उसके पश्चात् तुलनात्मक साहित्यका प्रश्न उठा। इस प्रश्नके उठनेका कारण वे दोनों विभिन्न आन्दोलन थे जो वर्त्तमान विचारोंके सम्बन्धमें उठाए गए—एक था सौन्दर्यवादी और सांस्कृतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक, दूसरा था वैज्ञानिक। इन दोनों विचार-धाराओंने तुलनात्मक साहित्यके दो भिन्न अर्थ लगाए। इनमेंसे पहला विचार वीचो और हर्डरके सम्मिलित विचारोंसे प्रारम्भ होता है जो गेटेके वर्त्तमान मानवतावादके साथ मिल गया है क्योंकि गेटे भी विश्व-साहित्य ( वैल्टलिटराटूर ) की भावनाका प्रवर्त्तक था। फिर उसका सामञ्जस्य उस आन्दोलनके साथ हुआ जो स्वैरवादी विश्व-बन्धुत्ववाद कहलाता है। यह अन्तिम स्वैरवादी विश्व-बन्धुत्ववाद जीव-शास्त्रके क्षेत्रमें तुलनात्मक प्रणालीके प्रयोगसे प्रारम्भ हुआ और फिर तो इसका प्रयोग अन्य प्रकृति-विज्ञानों तथा बौप और डीत्स आदि जर्मन-भाषा-शास्त्रियों-द्वारा भाषाओंकी परीक्षाके लिये प्रयुक्त होने लगा। इससे स्वैरवादमें एक नवीन व्यापक दृष्टिकोणका प्रसार किया गया और यह बताया गया कि 'जातीय या राष्ट्रीय साहित्य भी होता है और किसी भाषा तथा साहित्यका सांस्कृतिक आत्म-सम्मान या गौरव अवश्य बनाए रखना चाहिए।' इस प्रकार 'तुलनात्मकता'का अर्थ हुआ 'दो या अधिक साहित्योंके बीच सम्बन्ध स्थापित रखनेमें रुचि होना।' यह प्रवृत्ति स्वित्सरलैन्डवासी सिस्मौन्डी और जर्मन बाउटरवेकके ग्रन्थोंमें पाई जाती है जिन्होंने दक्षिणी और पश्चिमी योरोपके सब साहित्योंका मध्यकालसे प्रारम्भ करके व्यवस्थित रूपमें अध्ययन किया

था। आगे चलकर तुलनात्मक साहित्य उस सांस्कृतिक साहित्यका एक रूप भी समझा जाने लगा जो एक निश्चित राष्ट्रीय रूढिकी सीमाओंके भीतर या बाहर हो। यह विचार कुछ अंशोंमें विलेम्याँ और एम्पिएका ही था।

अपने सौरबोन-पाठ्यक्रम ( १८२९ ) की भूमिकामें विलेम्याँने ही अपने एक ग्रन्थको तुलनात्मक साहित्यका नाम दिया था। एम्पिएने अपने विश्वविद्यालयके 'पाठ्यक्रम' (१९३०) और उसके पश्चात्के अंशको 'कला और साहित्यका ऐतिहासिक तुलनात्मक अध्ययन' नाम दिया था। यही सिद्धान्त विभिन्न भावनाओंमें अनूदित होकर उन्नीसवीं शताब्दिके दूसरे और तीसरे अंशमें व्याप्त रहा। वाल्डेंसपरगेरने माना है कि 'इस तुलनात्मक साहित्यका संक्षिप्त रूप एम्पीएपर लिखे हुए सेन्त ब्यूएके लेखसे प्रारम्भ हुआ है।' वह इस साहित्यिक तुलनाके सम्बन्धमें अत्यन्त आशावान् था। धीरे-धीरे सभी स्थानोंपर इस शब्दका व्यवहार होने लगा, केवल जर्मनीमें अब भी यह 'वर्गलाइशेंडेलिटेराटूरगेशिख्टे' कहलाता है। सेन्ट्स्बरीका मत है कि 'यह शब्द उचित नहीं है क्योंकि यह साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनका घुला-मिला-सा रूप है। इससे अच्छा तो 'तुलनात्मक आलोचना' शब्द है।' इस कार्यमें अधिक रुचि दिखानेवाला सर्वप्रथम अँगरेज़ी विद्वान् आर्नोल्ड था जिसने १८४८ में 'कम्पैरेटिव लिटरेचर्स' शब्दका प्रयोग किया है।

जब स्वैरवादी आदर्शवादके बदले उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें प्रत्यक्षवाद ( पौज़िटिविज़्म ) आ पहुँचा तब उसने मानवीय अध्ययन और साहित्यिक इतिहासको अधिक प्रभावित किया। टेनने घोषणा की कि 'मैं ऐसे आदर्शोंके अनुसार लिखना चाहता हूँ जैसे रसायन-शास्त्रकी पुस्तक लिखी जाती है।' इस प्रवृत्तिका यह परिणाम हुआ कि 'सब प्रकारकी साहित्य-कृतियोंमें एक कार्य-कारणका प्राकृतिक और भौतिक सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा जिसमें जाति, समाज और कालका ध्यान रखकर पूर्णतः समाजवादी दृष्टिसे उसकी व्याख्या की जाने लगी। पौसनेटके 'कम्पैरेटिव लिटरेचर' ( १८८६ ) में किसी प्रकारकी भी साहित्यिक कृतिकी व्याख्या इस दृष्टिसे की जाती थी कि 'वह जातीय जीवनसे नागरिक जीवनके रूपमें तथा सामन्तवादसे राष्ट्रीयताके रूपमें होनेवाले सामाजिक परिवर्त्तनकी अभिव्यक्ति है।' इसके पीछे साहित्यिक पीढ़ियोंकी भावना बल पकड़ने लगी। ये सब विचार ऐतिहासिक और आलोचनात्मक मानदण्ड बनानेके बदले सामाजिक व्याख्याके रूपमें ही थे। इतिहासको विज्ञानके

रूपमें समझनेकी जो भावना चली उसने तुलनात्मक साहित्यको बहुत प्रभावित किया। उसने सिद्धान्त और व्यवहार दोनोंमें केवल तुलनात्मक प्रणालीके महत्त्वपर ही अधिक बल नहीं दिया वरन् नवान्वेषणके विभिन्न प्रकारों या विशिष्ट क्षेत्रोंमें उसके वर्गीकरणकी भी प्रेरणा दी।

इसके चार मुख्य क्षेत्र थे—१. प्रथम था लोक-कथा ( फ़ोकलोर ) जो बहुत दिनोंतक अत्यन्त महत्त्व-शाली रहा, जिसपर नववैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिसे और आदिम कविता तथा लोक-कलामें अतिरेक-पूर्ण स्वैरवादी और प्रत्यक्षवादी रुचिके साथ विचार किया गया क्योंकि वह सब प्रकारके साहित्योंका उद्गम समझा जाता था। बहुत दिनोंतक फ्रांस और विशेषतः जर्मनीमें 'दन्त-कथाओं, लोक-कथाओं, परियोंकी कहानियों, प्रबन्ध-काव्यों तथा अज्ञात और मौखिक साहित्यका तुलनात्मक अध्ययना करना' ही उच्चतम प्रकारकी साहित्यिक विद्वत्ता समझी जाती थी। लोक-कलाको दिया हुआ यह महत्त्व अन्य स्थानोंमें अधिक दिनोंतक नहीं ठहर सका। उसका एक दूसरा नाम ही 'थैमाटोलौजी' दे दिया गया जिसका अर्थ थ 'साहित्यिक कृतियोंके अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्धोंका अध्ययन'। कथाओं या उद्देश्योंके रचना-प्रयोगका बाह्य और अनालोचित रूप प्रस्तुत करना ही इसका उद्देश्य था।

२. दूसरा क्षेत्र था 'साहित्यिक जातियों और रूपोंका अध्ययन' जिसे साहित्य-रचना-शास्त्र (मौर्फ़ौलौज़ी) कह सकते हैं। निश्चित रूपोंके क्षेत्रमें जैसे काव्यका कौशल या पद्यीकरणकी दृष्टिसे विचार करना भी तुलनात्मक भाषा-शास्त्रकी ही शाखा है। इसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यञ्जन उस सिद्धान्तमें है जिसे ब्रूनेतिएने 'कोटिका विकास' (ए्वोल्यूशन द जैनरे) कहा है। प्राचीनतावादियोंने साहित्यिक कोटियोंको 'स्थिर-रूप' अर्थात् सुस्थिर तथा बौद्धिक मानदण्ड बताया है। स्वैरवादियोंने उसे ही 'मानवीय प्रवृत्तियोंकी सौन्दर्यात्मक अभिव्यञ्जना' बताया है। ब्रूनेतिएने साहित्यको भी 'वैसा ही सजीव पदार्थ बताया है जो उत्पन्न होते, बढ़ते, फैलते, क्षीण होते और समाप्त हो जाते हैं।' अतः तुलनात्मक पर्यवेक्षणका अर्थ यही है कि 'किसी एक दी हुई साहित्य-कोटिके जीवन-क्रमके अध्ययनमें अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे विचार किया जाय।'

३. किन्तु खोजके जिन दो क्षेत्रोंमें कारण और कार्यका वैज्ञानिक भाव अत्यन्त पूर्णताके साथ विजयी हुआ, वे हैं 'स्रोतकी खोज' ( क्रीनालौजी )।

४. 'किसी लेखक, आन्दोलन या साहित्यका अन्य लेखकों, आन्दोलनों और साहित्यमें उसके प्रभाव या भाग्यका अध्ययन।' इन्होंने परिमाणकी दृष्टिसे खोजों और रचनाओंका अच्छा बड़ा सङ्ग्रह स्थापित कर रक्खा है और ये साधारणतः तुलनात्मक साहित्यके विशिष्ट रूप समझे जाते हैं। इन्हीं अध्ययनोंने वक्ता, सम्बोध्य और मध्यस्थकी भावना उत्पन्न की है और इन्होंने ही साहित्यिक इतिहासमें पत्रकारिता और अनुवादका महत्त्व भी बतलाया है किन्तु इस उद्गम और प्रभावके भावकी कोई निश्चित सीमा इन्होंने नहीं स्थापित की।

उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें इस नये सिद्धान्तकी परिधि कुछ और विस्तृत हुई। अब प्रभाव और उद्गमको कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं माना गया वरन् उसे भी योरोपीय विचारकी महाधाराके रूपमें समझा जाने लगा। गेयार्ग ब्रेंडेज़ ही इस विचारका प्रवर्त्तक था। उसने यह धारा (करैन्ट) शब्द जोसेफ़ टैक्स्टे और ब्रूनेतिएके सम्बन्धमें प्रयुक्त भी किया जिसने तुलनात्मक साहित्यके अध्येताओंकी प्रथम महत्त्वपूर्ण सभा (पैरिस् १९००) में इसका समर्थन भी किया। किन्तु स्टौफ़गेशिख़्टे (प्राचीन कथाओं तथा महाकाव्योंका तुलनात्मक अध्ययन) का भी वहाँ गैस्टन पैरिसने अनुमोदन किया। यह विशेष भाव-परिवर्त्तन इस क्षेत्रकी सभी पत्रिकाओंमें प्राप्त है। कुछ पत्रिकाएँ इन दोनों अतिवादोंका सामञ्जस्य करके मध्यम मार्ग चलानेके पक्षमें थीं। इस विचारधाराको हम उद्गमात्मक कह सकते हैं क्योंकि पैट्रार्क, मौन्टेन, देकार्ते तथा गेटेको भी यही बात अच्छी लगती थी कि 'प्रकृति या कलाकी किसी कृतिको समझनेका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि उसके विकासका ध्यानपूर्वक सम्प्रेक्षण किया जाय।'

यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक साहित्य साधारण साहित्यिक इतिहासके समान या तो विज्ञानके रूपमें अध्ययन किया जाय या स्वतन्त्र और व्याख्यात्मक खोजके रूपमें, यद्यपि बहुतसे लोग जो इस क्षेत्रमें काम कर रहे हैं, वे अपनेको पूर्णतः एक ओर होकर नहीं रहने देना चाहते। केवल फ़ान् टीघेम ऐसा व्यक्ति है जो शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे ही इसकी मीमांसा करना चाहता है। बाल्डेनस्पर्गर और हेज़र्ड सैद्धान्तिक क्षेत्रमें अधिक उदार हैं। उन्होंने इस प्रकारकी थेमाटोलौजिकल दृष्टिको अत्यन्त निन्द्य बताया है।

इतिहासको व्याख्या और सौन्दर्यवादको स्वयंसिद्ध क्रिया समझनेकी

भावनासे प्रेरित होकर बैनेदेत्तो क्रोचेने 'वुडबैरीके पत्र'के प्रथम अङ्कमें एक लेखकी टिप्पणी लिखते हुए इस समस्याको सुलझानेका प्रयत्न किया। उसने बताया है कि 'तुलनात्मक पद्धति तो खोजकी प्रणालीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये अध्ययन-क्षेत्रकी कुछ निश्चित सीमाएँ निर्धारित करनेमें उससे तनिक भी सहायता नहीं मिलती। यह प्रणाली तो अध्ययनके सब क्षेत्रोंमें समान रूपसे प्रयोजनीय है। उसका प्रयोग विशेष रूपसे साहित्यिक विद्वत्ताके लिये नहीं किया जा सकता।' हमारे पूर्व पुरुष भी अपनी आलोचनामें तुलनाओंका प्रयोग करते थे किन्तु केवल उपदेशात्मक साधनके रूपमें ही। स्वैरवादी आलोचनामें भी तुलना साधारण-सा साधन था किन्तु उसका प्रयोग मनमाने ढङ्गसे किया जाता था और यह समानता और भेद दार्शनिक तत्त्वोंके रूपमें उपस्थित किया जाता था। तुलनात्मक साहित्यकी भावना ही गति या विकासका चिह्न है क्योंकि उसमें तुलना और समानताओंके वास्तविक सम्बन्धोंको ऐसे रूपमें देखा जाता है मानो दो या अधिक भिन्न लेखकों या ग्रन्थोंके वास्तविक सम्बन्धोंका विचार किया जा रहा हो। आजकल साधारण साहित्यके सम्बन्धमें एक नया विचार विकसित हुआ है जिसका प्रवर्त्तन ब्रूनेतिएने किया है, जिसके अनुसार अन्ताराष्ट्रिय स्तरके बड़े आन्दोलनोंका अध्ययन किया जाता है जैसे—पाण्डित्यवाद ( पैट्रार्किज़्म ), पुनर्जागरण ( रिनैसाँ ), उद्धत शैली (बारोक), या उदात्तवाद ( क्लैसिसिज़्म ), नवोन्मेष ( ऐनलाइटेनमेण्ट ) या स्वैरवाद ( रोमान्टिज़्म )। यह वास्तवमें सौन्दर्यवादके इतिहासमें एक विशेष श्रेणी है जो व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टिसे 'रुचिका इतिहास' समझा जा सकता है। यदि हम किसी साहित्यिक रचयिताकी व्यक्तिगत विशेषता और रूढिके लक्षणोंके बीचमें रेखा खींच सकें, यदि हम दो लेखकोंके आवश्यक और सामान्य अंशका अध्ययन करके यह जान सकें कि इसमें नवीन, स्वतन्त्र और अनोखा क्या है, यदि हम सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे उद्गम और प्रभावपर विचार करें तब यह समझा जायगा कि विशेष अध्ययनके अतिरिक्त साहित्यके विस्तृत अध्ययनके लिये तुलनात्मक साहित्य कितना आवश्यक हो गया है।

### कल्पित काव्य ( फ़ैक्टीशस )

नन्ददास कविकी विशेषता बताते हुए यह कहा गया है कि 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' अर्थात् और कवि तो गढनेवाले होते हैं किन्तु नन्ददास जड़िया (शृङ्गार करनेवाले) हैं।' इस प्रकार कुछ काव्य ऐसे भी होते

हैं जिनमें कवि परिश्रम करके अपनी प्रतिभाके बलसे रचना करता है। इस प्रकारके काव्य कृत्रिम हो जाते हैं और उनमें कविको परिश्रम करके सब सामग्री खोजकर निकालनी पड़ती है। प्रायः उपन्यास या काल्पनिक काव्य अथवा नई कथा खोजकर रचे जानेवाले काव्य इसी श्रेणीमें आते हैं। इस दृष्टिसे भी साहित्यके दो भेद हुए—कल्पित साहित्य और ऐतिहासिक साहित्य।

**अभिव्यक्ति ( ऐक्स्प्रेशन )**

वर्त्तमान अर्थमें अभिव्यक्ति ( ऐक्स्प्रेशन ) का अर्थ है 'किसी आन्तरिक वास्तविकताका बाहर प्रकट करना या एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका व्यक्तीकरण, प्रदर्शन या स्पष्टीकरण।' इन दोनों विभिन्न अर्थोंमें भाव यही है कि कोई वस्तु भीतरसे बाहर निकाली जाती है। यदि अँगरेज़ी शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय तो उसका अर्थ होगा—'दबाकर बाहर करना' जैसे फलसे रस निकालते हैं। इसी अर्थमें प्रारम्भिक लातिनमें भी इस शब्दकी व्युत्पत्ति की जाती है—'जो वस्तु या विषय इस प्रकार बाहर निकाला या प्रकट किया जाय वह अभिव्यञ्जनशील ( ऐक्स्प्रेसिव ) है।' ओविड, कर्टियस, हौरेस आदिने भी इसी अर्थमें 'ऐक्स्प्रेस' शब्दका प्रयोग किया है। अतः इन उदाहरणोंकी दृष्टिसे जब हम 'ऐक्स्प्रेस' शब्दका प्रयोग वाणी या शब्दोंके साथ करेंगे तो उसका तात्पर्य प्रथम तो 'बाह्य व्यक्तीकरण या उद्घाटन' ही होगा और तत्पश्चात् होगा 'बाह्य प्रदर्शन या स्पष्टीकरण' और इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'मनके भीतर रहनेवाली वृत्तियों या भावोंको बाहर प्रकट करना'। किसी भी अभिव्यक्तिको समझनेवाले मस्तिष्कके अतिरिक्त तीन मुख्य तत्त्व हैं जो किसी भी अभिव्यक्तिकी क्रियामें सम्मिलित होते हैं—

१. अभिव्यञ्जनीय अर्थात् जो कुछ कहा जानेवाला है ( ऐक्स्प्रिमेन्ड या कथनीय ) और जब कहा जा चुका है तब यह कथित ( ऐक्स्प्रेसम ) हो जाता है।

२. अभिव्यञ्जनशील या मनकी बातको बतानेका साधन ( ऐक्स्प्रेसिव ) इसे ही ऐक्स्प्रिमेन्ट कहते हैं जैसे शब्द।

३. भीतरकी बातको बाहर कहनेवाला व्यक्ति ( ऐक्स्प्रेसर या बोलनेवाला व्यक्ति )।

अभिव्यक्तिकी क्रिया इन विभिन्न तत्त्वोंके द्वारा किस प्रकार होती है, इस सम्बन्धमें लोगोंके बड़े भिन्न मत हैं। सान्तायनने ऐक्स्प्रमेन्ट अर्थात् शब्द और ऐक्स्प्रमेन्ड अर्थात् 'विचार'का सम्बन्ध केवल सम्पर्कात्मक अभिव्यञ्जन या अभिज्ञानात्मक सूचना अर्थात् केवल अर्थ माना है। यह कुछ ठीक भी प्रतीत होता है। यहाँ ऐक्स्प्रेशन शब्द ठीक अर्थमें बैठ जाता है क्योंकि ऐक्स्प्रेशनसे चाहे और जो कुछ अर्थ निकलता हो किन्तु अर्थका भाव तो व्यक्त होता ही है। अतः हम कह सकते हैं कि 'अभिव्यक्त करनेका अर्थ यही है कि उससे किसी दूसरे भावका बोध होता हो।' यूनानियोंने उपर्युक्त विचार और शब्दके सम्बन्धको अनुकरण (इमिटेशन) कहा था जिसका अर्थ केवल अन्य-भाव-बोध नहीं वरन् एक प्रकारकी समता थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि 'विचारोंमें शब्द स्वयं भागी हैं।'

एक वर्त्तमान भावना यह भी है कि 'किसी अभिव्यक्तिको बाहर व्यक्त करनेका अर्थ है शब्दोंमें विचारका वास्तविक तात्त्विक संक्रमण।' किन्तु यह विचार स्पष्टतः भ्रान्तिपूर्ण और उलझा हुआ प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो यह स्पष्ट है कि जब हम 'मोदक' शब्द कहते हैं तो उससे लड्डू नहीं उठ खड़ा होता और यह मानना भी असङ्गत प्रतीत होता है कि 'जैसे ही हम मोदक शब्दका भाव या विचार शब्दमें व्यक्त करते हैं तो वह तत्काल मस्तिष्कसे निकलकर शब्दमें पहुँच जाता है।' होता केवल यही है कि शब्दकी ध्वनियाँ पहले हमारे मस्तिष्कके विचारसे, तदनन्तर उसके द्वारा मोदकसे अथवा वे सीधे मोदकसे ही या केवल विचार या भावनासे ही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। ध्वनिका यह सम्बन्ध ही स्पष्टीकरण है जो अर्थका एक अङ्ग है। शब्दमें उसकी रचनाके भाग और रूपात्मक तत्वके रूपमें यह स्पष्टीकरण विद्यमान है। किन्तु ऐक्स्प्रमेन्ड या मोदक या विचार या भावना पूर्णतः उसे व्यक्त करनेवाले अर्थसे बाहर और उसके तात्त्विक रूपसे पूर्णतः भिन्न रहती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि 'विचारकी वस्तु और शब्द दोनों पूर्णतः एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।'

वर्त्तमान सिद्धान्तोंमें इसी विचारसे मिलता-जुलता एक दूसरा भी सिद्धान्त है जिसका कहना है कि 'किसी अभिव्यक्तिको बाहर प्रकट करनेका अर्थ यह है कि एक प्रकारके रेचनके द्वारा मस्तिष्कसे ऐक्स्प्रमेण्ड या विचारको निकाल बाहर करें।' किन्तु अत्यन्त साधारण बुद्धिवाला भी यह समझ सकता है

कि 'किसी विचार या बिम्बको शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त करनेसे मस्तिष्कसे उसका अस्तित्व नहीं लुप्त होता वरन् वह उसकी सजगताको तीव्र कर देगा।' यहाँ हम उस दो प्रकारकी अभिव्यक्तिको स्पष्ट कर देना चाहते हैं जिसे वैज्ञानिक भी स्पष्ट नहीं कर पाए। उनमेंसे एक तो है अभिज्ञानों ( कौगनिशन्स ) की अभिव्यक्ति अर्थात् जिन वस्तुओंका हमें ज्ञान हुआ है उन्हें बतलाना और दूसरा है भावों और सङ्कल्पोंको अभिव्यक्त करना। तब यह सम्भव है कि यह क्रिया सङ्कल्पके विचारको मस्तिष्कसे बाहर कर दे अर्थात् कोई एक सङ्कल्प करके जो मनमें उलझन बनी रहती है वह उसे व्यक्त करनेके पश्चात् हल्की पड़ जाय। पर अभिव्यक्ति यह काम नहीं करती है, वह तो अभिव्यक्तिकी क्रिया-मात्र करती है। 'अभिज्ञान कुछ कठोर होते हैं। भावों तथा सङ्कल्पोंकी अपेक्षा अभिज्ञानोंसे ठीक बाह्य सम्बन्ध स्थापित करना सरल है या नहीं' यह विवादास्पद है। किसी भी वस्तुकी अभिव्यक्तिकी कठिनाई किसी विचारकी जटिलता और सूक्ष्मतासे निश्चित होती है, उसकी अभिज्ञानात्मकता या इच्छासे नहीं। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है किसी अभिज्ञानको उसके प्रभावों और प्रेरणाओंके साथ अभिव्यक्त करके मनके भाव सङ्कल्पात्मक क्षोभको बिना अभिज्ञान नष्ट किए ही कम कर दें और पूर्ण अभिव्यक्ति मनका वास्तविक रेचन कर दे क्योंकि मनमें जो भावात्मक सङ्घर्ष होता है वह शब्दोंके बाह्य तथा स्थिर रूपमें पहुँचकर मनके विक्षोभको शिथिल कर देता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कुछ कह चुकनेके पश्चात् एक प्रकारके रेचन या शान्तिका अनुभव करे तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नये विचार उसके मस्तिष्कसे लुप्त हो गए हैं।

किन्तु यह बाह्य संक्रमण भी सापेक्ष्य है। शब्द या एक्स्प्रिमेण्ट यद्यपि विचार या ऐक्स्प्रिमेन्डको बाह्य रूप देनेमें समर्थ समझा जाता है किन्तु वह स्वयं भी पूर्णतः मस्तिष्कमें ही स्थिर माना जा सकता है। मध्यकालीन युगमें इसका अर्थ उस क्रियासे था जिसके द्वारा मस्तिष्क अपने उन विचारों और बिम्बोंको उद्‌घाटित करता है जो स्पीसीज़ एक्स्प्रैसी और स्पीसीज़ एम्प्रेसीके विपरीत कहलाती हैं। क्रोचेने कहा है कि अन्तःप्रेरणा ( 'इन्ट्यूशन ) ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मनुष्यका मस्तिष्क स्वयं अपनी अनुभूतिकी वास्तविकताओंको अपने भीतर ही व्यक्त कर लेता है।' इस क्रोचेके सिद्धान्तमें यद्यपि विचार और शब्द अर्थात् एक्स्प्रिमेन्ड और

एक्स्प्रमेन्ट ही दोनों मान्य हैं किन्तु एक्स्प्रमेन्ड या विचार पूर्णतः तद्नुकूल शब्दपर ही आश्रित है। उनका कहना है कि 'व्यक्त विचार या एक्स्प्रेसममें आनेके पश्चात् ही मनुष्य उस विचारका ज्ञान प्राप्त करता है।'

## प्रकार ( काइण्ड )

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दिमें इङ्गलैन्डमें किसी वर्ग या श्रेणीकी कृतिके लिये प्रकार या काइन्ड शब्दका प्रयोग होता था जैसे वीरकाव्य या त्रासद आदि। इन प्रकारोंके अनुसार इस प्रकारकी समालोचना की जाती थी कि 'कोई कृति किसी श्रेणीमें पड़ती थी' और तब यह निर्णय करती थी कि 'उस प्रकारकी कृतियोंके नियमोंका पालन उसमें हुआ है या नहीं।' किसी कृतिका परीक्षण करनेका यह ढङ्ग सम्पूर्ण योरोपमें व्याप्त था किन्तु पीछे चलकर लोगोंने इसे 'प्रकारका अत्याचार' कहकर इसपर आक्षेप किया, जिसके बन्धनसे स्वैरवादी छूटकर अलग हो गए।

## भाषणात्मक और काव्यात्मक साहित्य (हिटौरिकल ऐन्ड पोइटिक)

योरोपके कुछ आचार्योंका मत है कि 'हमारा उदात्त वाङ्मय दो प्रकार का है—१. भाषणात्मक और २. काव्यात्मक।' भाषणात्मक वह है जिसमें हम व्यावहारिक प्रभाव डालनेकी वृत्ति रखते हैं अर्थात् जिसमें हम अपनी वाणीको इस प्रकार साधकर काममें लाते हैं कि उसके द्वारा हम जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं वह सिद्ध हो जाय। अतः भाषणात्मक साहित्य व्यावहारिक प्रभावपर अधिक आश्रित है। दूसरे प्रकारका साहित्य है काव्यात्मक जिसका उद्देश्य व्यावहारिक उतना नहीं है जितना सौन्दर्य-निरूपक। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यावहारिक या भाषणात्मक साहित्य वह है जिसे हम गद्य कहते हैं और काव्यात्मक वह है जिसे पद्य कहते हैं क्योंकि यह भी सम्भव है कि 'किसीने गद्यमें ऐसा सुन्दर निबन्ध लिखा हो जो पूर्णतः काव्यात्मक हो और किसीने ऐसा छन्दोमय व्यंग्य-काव्य लिखा हो जो शुद्ध रूपसे भाषणात्मक अर्थात् एक विशेष रूपसे प्रभाव डालनेवाला हो।' पहले तो भाषण और काव्य दोनों मौखिक होते थे किन्तु अब लेखबद्ध हो जानेके कारण प्रायः भाषण और काव्यमें लोग भेद समझने लगे हैं। किन्तु जो व्यक्ति अत्यन्त समाधानशील भाषण देता हो और जो कविता रचता हो उन दोनोंकी भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ तो एक ही होती

हैं, दोनों ही कुछ कथावस्तु या विषय-वस्तु लेकर चलते हैं, दोनोंमें पात्र होते हैं, चाहे वे कविता लिखते हों या भाषण देते हों। यद्यपि वर्त्तमान स्वैरवादी कविताके अभिव्यञ्जनावादियोंने दर्शक या श्रोताका महत्त्व कम करके कविको अधिक महत्त्व दिया है किन्तु उसके कारण काव्यात्मक और भाषणात्मक साहित्यके लक्षणमें कोई भेद नहीं हो पाता।

इनमें मुख्य भेद तब खड़ा हो सकता है जब उनके रचियताने उस रचना या भाषणमें कोई विशेष उद्देश्य निहित कर दिया हो। कविका उद्देश्य तो यह होता ही है कि 'हम इसके द्वारा पाठकों या श्रोताओंका मनोरञ्जन करें, उन्हें उत्साहित करें, उन्हें स्रावित तथा प्रभावित करें' किन्तु व्याख्याताका उद्देश्य यह होता है कि वह लोगोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जिस कामके लिये वह उत्तेजना देता है उस काममें प्रवृत्त हो जाय' अर्थात् वह शिक्षा देता है, समाधान करता है, अपनी बातकी छाप डालता है और उन्हें अपने पक्षमें करनेका प्रयत्न करता है। जितने प्रकारका साहित्य वर्त्तमान वर्गवादियों तथा किसी विशेष सम्प्रदाय या मतकी भावनाके समर्थनके लिये निकलता है वह सबका सब भाषणात्मक प्रकृतिका ही होता है। इस विवरणसे यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि 'यह भेद केवल उद्देश्य और वृत्तिपर अवलम्बित है, रूपपर नहीं।'

## साहित्य-युग

कुछ विद्वानोंने साहित्य-युगकी दृष्टिसे भी साहित्यक वर्गीकरणकी समस्या-पर विचार किया है।

साहित्य-युग उस विशेष कालावधिको कहते हैं जिसमें किसी साहित्यिक आदर्शकी एक प्रणाली चलती रहती है और उसकी प्रधानता रहती है। जर्मन विद्वानोंमें यह कहा जाता है कि 'साहित्यिक युग एक दार्शनिक एकरूपता है' किन्तु उपर्युक्त परिभाषासे यह मत अमान्य हो जाता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'साहित्य-युग केवल एक भावात्मक छाप है।' कुछ साहित्यके इतिहासकारोंका यह भी कहना है कि 'साहित्यके इतिहासमें युग नहीं बाँटना चाहिए।' कुछ लोग राजनीतिक दृष्टिसे युग बाँटते हैं जैसे एलिजाबेथका युग या विक्टोरियाका युग आदि। कुछ ऐसे युग हैं जैसे बारोक-युग या रीतिकाल, जो कला या रचनाकी दृष्टिसे विचार

करते हैं। किन्तु ये सब वर्गीकरण उचित नहीं है। वास्तवमें कलाकी दृष्टिसे या विषयकी दृष्टिसे किया हुआ वर्गीकरण ही सर्वश्रेष्ठ होता है जैसे प्रबन्ध-काव्य एक काव्य-रूप है। इसपर विचार करते समय सब प्रकारके प्रबन्ध-काव्योंपर विचार हो जाना चाहिए।

## कविताके चार युग

टौमसलव पीकौकने कविताके चार युग बताए हैं—

१. लौहयुग, २. स्वर्णयुग, ३. रजतयुग और ४. पीतल-युग।

लौहयुगके कवि अपने समयकी भद्दी आदिम अवस्थाके विकृत गीत गाते हैं। उसके पीछे स्वर्ण युग आता है जिसके कवि अपने पूर्वजोंसे प्रेरणा पाकर उच्च सचेतन कलाकी सृष्टि करते हैं जैसे होमर और शेक्सपियर। रजत-युगके कवि अपनेसे पहले कवियोंकी रचनाओंकी आवृत्ति करते हैं। उनके वंशज पीतल युगवाले वे हैं जो रजतयुगकी चमक और विद्वत्ताको अस्वीकार करके लौहयुगकी विकृत रूढियों और वन्यताकी ओर लौटकर यह कहते हैं कि 'हम प्रकृतिकी ओर लौट रहे हैं' और इस प्रकार वास्तवमें कविताको दूसरा बचपन प्रदान करते हैं जैसे अँगरेज़ स्वैरवादी।

## अन्तःमूलक या सात्त्विक (सब्जैक्टिव) तथा बाह्यरूपात्मक (ऑब्जैक्टिव)

कोई भी साहित्य-कृति उस समय अन्तःमूलक या सात्त्विक कहलाती है जब उसमें निम्नलिखित गुण हों—

(क) उसका विषय उसमें अभिव्यक्त होनेवाले भाव तथा वर्णित होनेवाली घटनाएँ लेखकके व्यक्तिगत अनुभवसे एकत्र की गई हों जैसे कि जीवन-चरितात्मक उपन्यासोंमें होता है।

(ख) उसका उद्देश्य जीवनके प्रति अत्यन्त उच्च व्यक्तिगत वृत्तिकी अभिव्यक्ति करना हो, जिसमें वह मानवताके अधिक विशाल मण्डल या भागके सम्बन्धमें कुछ न कहकर जीवनके किसी विशिष्ट पक्षका निरूपण करे, जैसे कुछ प्रगीतात्मक कविताओं या संस्मरणोंमें होता है।

(ग) वह या तो अपने आनन्दके लिये 'स्वान्तःसुखाय' अपनी इच्छासे अपनी भाषा चुनकर बिना इस बातका विचार किए अभिव्यक्ति कर दे कि

कोई इसे समझता है या नहीं; या कुछ थोड़ेसे गिने-चुने लोगोंके समझनेके योग्य शैलीमें प्रस्तुत करे जैसे—कोटरी लिटरेचर।

साहित्यिक आलोचना उस समय आन्तरिक (सात्त्विक) कहलाती है जब वह प्रभावात्मक होती है या जब उसके निर्णय विशिष्ट व्यक्तिगत रुचियों द्वारा प्रभावित होते हैं।

बाह्य ( औब्जेक्टिव ) रचनाएँ वे होती हैं जिनमें कवि केवल अपना कौशल-मात्र दिखलाना चाहता हो जैसे—पहेली, अन्तर्लापिका, चित्र-काव्य आदि अर्थात् वे सभी रचनाएँ जिनमें कविका हार्दिक सम्बन्ध न होकर बौद्धिक होता है, जिसमें वे कारीगरी करते हैं।

## नेत्र-भ्रामक ( त्रौम्पे-ल ऐल )

वे सब रचनाएँ भी बाह्य ही कहलाती हैं जिनमें बाह्य वर्णनकी प्रचुरता रहती है। कुछ प्रकृतिवादी लेखक अपनी रचनामें इतना सटीक और विस्तृत विवरण देते हैं कि उससे वास्तविकताका भ्रम हो जाता है। प्रकृतिवादी लेखोंमें ऐसे प्रयोगोंकी भरमार है। ये सभी रचनाएँ बाह्य या प्रत्यक्ष ही हैं।

## प्रवञ्चना-साहित्य ( स्पेक्ट्रिज़्म. हौक्स फ़ोर्जरी )

योरोपमें जिन दिनों बहुत कम साहित्य रचा जा रहा था उन दिनों एक प्रकारका प्रवञ्चना-साहित्य रचा जा रहा था जिसने 'कलार्थे कला'-वादियोंको अथवा उन व्यक्तियोंको बहुत प्रभावित किया जो बहुत ऊपर-ऊपरसे ललित कलाओंसे स्नेह करते हैं और तनिक भी गम्भीर दृष्टिसे उनपर ध्यान नहीं देते। ऐसे लोगोंको मस्त कलावादी ( डिलेटन्टिज़्म ) कहते हैं। प्रायः ये लोग किसी बड़े लेखकके नामसे कोई रचना लिखकर उस नामसे चला देते हैं और उसके सहारे संसार भरकी आँखोंमें धूल झोंकते हैं। इस मिथ्या नाम ( ऐलोनिम ) का प्रयोग कभी तो राजनीतिक कारणोंसे होता है और कभी जान-बूझकर। इसी आधारपर अनेक आचार्योंका मत है 'कि शेक्सपियरके नामसे प्रसिद्ध रचनाएँ किसी दूसरेकी लिखी हुई हैं।' ऐसे लेखकोंकी एक बड़ी विशेषता होती है कि ये अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हैं और ठीक उसी शैलीमें रचना करते हैं जिस शैलीमें अनुकरणीय कविने की थी। हमारे यहाँ चन्दबरदाईके नामसे चलनेवाले पृथ्वीराज

रासोके सम्बन्धमें भी लोगोंकी कुछ ऐसी धारणा है और कालिदासके नामसे प्रसिद्ध शृङ्गारतिलक आदि कुछ ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी यही धारणा है। वर्त्तमान कालके बहुतसे साहित्यिक गुप्तचरोंने तो उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यसे पूर्व महान् लेखकोंके नामसे चली हुई सब कृतियोंको सन्देहकी दृष्टिसे देखना प्रारम्भ किया है। ऐसी रचनाएँ कुछ तो लोगोंने अनुकरणीय कविके प्रति श्रद्धा होनेके कारण लिखी हैं, कुछ शुद्ध रूपसे लोगोंको धोखा देनेके लिये।

इसी वासनासे प्रेरित होकर बहुतसे लोगोंने अपने देशका सम्मान करनेके लिये अथवा उसकी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिये भी कवियोंकी रचनाओंमें हेर-फेर करके उन्हें मूल ठहरानेका प्रयत्न किया है। इसी कारण अनेक कवियोंने होमरका संशोधन इस दृष्टिसे किया कि उससे यूनानकी महत्ता बढ़े, जैसे ५६० ई० पू० में सोलनने किया था। एलेग्ज़ेन्ड्रियाके यहूदियोंने हेसियदके पाठमें इस दृष्टिसे परिवर्त्तन किया जिससे यह प्रतीत हो कि यूनानका सम्पूर्ण ज्ञान पैन्तातेउखसे लिया गया है। इसी प्रकार प्रारम्भिक ईसाइयोंने भी गिरजाघरकी शक्ति बढ़ानेके लिये न जाने कितनी पुस्तकें गढ़ीं, अनेक जीवतचरितोंमें नई-नई बातें भरीं और इस प्रकार प्रवञ्चना-पूर्ण साहित्य रचनेकी एक परिपाटी ही चल पड़ी। हमारे यहाँ भी इसी वृत्तिके अनुसार ग्रन्थोंमें क्षेपक भरे गए।

इस प्रवञ्चना-पूर्ण साहित्यका सबसे अधिक प्रचार हुआ अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दिमें जिसमें योरोपके प्रत्येक लेखकने किसी न किसी प्रकारका ऐसा काव्य-चौर्य या प्रवञ्चनात्मक लेखन-कार्य किया कि बहुतसे लोगोंने तो केवल अज्ञात नामों और मिथ्या नामोंसे की हुई रचनाओंका ढेर लगा दिया। इस प्रयासमें डीफ़ो, स्विफ़्ट, हौथौर्न, कूपर और स्कौट आदिने तो अपने उपन्यासोंको इस रूपसे प्रस्तुत किया मानो वे शुद्ध सत्य हों। इस प्रकारके प्रवञ्चनापूर्ण साहित्यके प्रकाशनको अमेरिकावालोंने बड़ा प्रोत्साहन दिया क्योंकि वे ग्रन्थोंके प्रथम संस्करण अधिक खोजते थे। इसलिये कुछ लोगोंने अपना यह व्यवसाय बना लिया कि वे लोग पुराने लेखकोंकी कृतियोंको मूल लिपिके अनुसार लिखवाकर उन्हें अनाजके बोरोंमें रखकर या रसोई-घरोंमें टाँगकर पुराना बनाकर बेच देते थे। आजकल जिस प्रकारका प्रवञ्चनापूर्ण साहित्य रचा जा रहा है उसमें केवल इतना ही करते हैं कि किसी महापुरुषके शब्द लेकर उसमें घटा-बढ़ा देते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि बैंजामिन

फ्रैंकलिन सेमेटिक-विरोधी था या टौमस जैफर्सन जनतामें विश्वास नहीं करता था। ये सब कार्य अधिकांश राजनीतिक कारणोंसे किए जाते हैं। इस प्रकार असाहित्यिक उद्देश्योंके लिये काव्यका रूप बिगाड़ना अत्यन्त अभव्य और अशिष्ट है। इस प्रकृतिका यथासम्भव दमन करना चाहिए।

### काव्य-चौर्य ( प्लेजियरिज़्म )

दूसरेके शब्दोंको ज्योंका त्यों ले लेना और उसका नाम भी न बताना काव्य-चौर्य कहलाता है और इस प्रवृत्तिको प्राचीन कालमें उतना ही निन्द्य समझते थे जितना आजकल। पुराने समयमें भी यह काव्य-चौर्य प्रचलित था क्योंकि उन दिनों 'स्वत्वाधिकार' ( कौपी राइट ) के नियम ही नहीं थे और साहित्यिक इतिहासकार तथा वैयाकरण ऐसे काव्य-चौर्यको खोज निकालनेमें ही पाण्डित्य समझते थे। विचित्र बात यह है कि कोई बड़ा लेखक ऐसा नहीं है जिसपर काव्य-चौर्यका आक्षेप न हो। यद्यपि यह काव्य-चौर्य बुरा समझा जाता था किन्तु किसी प्रसिद्ध अनुकरणीय ग्रन्थके अनुकरणको प्रोत्साहित भी किया जाता था।

### गरमागरम साहित्य ( पौट् बौएलर )

कुछ लोगोंका मत है कि 'ऐसा गरमागरम साहित्य रचना चाहिए जो हाथों-हाथ बिक जाय' अर्थात् ऐसी कृति रची जाय जिसका महत्त्व भले ही न हो किन्तु जिससे लेखकको पैसा मिले या जिससे उसकी जीविका चले। यह साहित्य टुकड़हे ( पेंच-पैनी ) साहित्यसे कुछ भिन्न होता है।

### शक्तिका साहित्य

कुछ विद्वानोंके साहित्यको दो प्रकारका बताया है—

१. शक्तिका साहित्य और २. ज्ञानका साहित्य। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया कि 'शक्तिका साहित्य वस्तुतः ज्ञानके साहित्यका उलटा है। ज्ञानका साहित्य हमें कुछ सिखाता है और उसी स्तरपर आगे बढ़ाता चलता है। किन्तु शक्तिका साहित्य गतिशील होता है और वह हमें ऊपर उठाता है। ज्ञानका साहित्य नष्ट हो जाता है और उसके बदले दूसरा आ जाता है किन्तु शक्तिका साहित्य जबतक भाषा रहती है तबतक जीवित रहता है।' इस दृष्टिसे केवल काव्य ही अमर शक्तिका साहित्य है, शेष सब नश्वर ज्ञानका साहित्य है।

### गद्य और कविता

सन् १९१३ में एज़रा पाउन्डने कहा था कि 'अब वैज्ञानिक सटीकताके साथ गद्य और पद्यपर लिखना लगभग असम्भव है, जबतक कि कोई लेखन-कलापर एक पूर्ण ग्रन्थ ही न लिखे और उसमें प्रत्येक शब्दकी वैसी ही व्याख्या न करे जैसे रसायन-शास्त्रके एक-एक शब्दकी की जाती है। इसलिये कवितापर जितने निबन्ध लिखे गए हैं वे केवल नीरस और अशुद्ध ही नहीं वरन् पूर्णतः निरर्थक भी हैं।' यही बात सौ वर्ष पूर्व आर० ह्वेटलेने कही थी। अपने ग्रन्थके तीसरे खण्डमें कवितापर लिखते हुए उसने कहा कि 'पद्यमें लिखी हुई किसी भी रचनाको लोग रचना कह देते हैं चाहे वह अच्छी हो या बुरी और ऐसे ही लोग कहते हैं जिनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता। इसलिये मेरा उद्देश्य यह है कि मैं कविताकी ठीक-ठीक व्याख्या कर दूँ।' किन्तु वह भी ठीक व्याख्या नहीं कर पाया।

कविता और गद्यमें जितने अन्तर बताए गए हैं उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे एक व्यापक तत्त्व है—'गद्य तो साधारण बातचीत है और कविता असाधारण बातचीत।' अतः कविताकी परिभाषा करनेका अर्थ है 'उसकी असाधारणताका विश्लेषण करना।' वास्तवमें पद्य या गद्यका अन्तर या कविता और गद्यका ठीक अन्तर योरोपवाले न तो समझ सके न बता सके किन्तु हमारे यहाँ बहुत सुविधाके साथ काव्य-शास्त्रियोंने दोनोंको काव्यके दो रूप बताकर समझा दिया कि 'काव्य दो प्रकारसे लिखा जा सकता है—गद्यमें और पद्यमें।'

ह्वेटलेका मत है 'कि गद्य और पद्यमें जो अन्तर है वह केवल ध्वनिकी रचनाका है और यह अन्तर सदासे है और रहेगा।' बहुतसे आचार्योंने पद्य और कवितामें अन्तर किया है। अरस्तूने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'केवल पद्यात्मक होनेसे ही कोई रचना कविता नहीं हो जाती क्योंकि कविता होनेके लिये उसमें विशेष गुण होने चाहिएँ। यदि हम पद्यमें आयुर्वेदका ग्रन्थ लिखें तो वह काव्य-ग्रन्थ नहीं हो सकता।' इस भेदका विस्तृत विचार हम कविता और गद्यके प्रकरणमें अलग करेंगे।

### गद्य रचना

भाषण-शास्त्र या शैली-शास्त्रपर जितने ग्रन्थ लिखे गए हैं उनमें चार प्रकारकी गद्य-रचनाओंका विवरण दिया है—१. व्याख्या, २. तर्क, ३. वर्णन

और ४. कथा। यह वर्गीकरण प्रायः प्रत्येक प्रकारके लिये प्रयुक्त उद्देश्य और सामग्रीके अनुसार किया गया है। इन रूपोंमें भेद समझानेके लिये जो प्रयास किए गए हैं वे भी प्रायः इसी साँचेके हैं—

१. वह गद्य जिसमें परिभाषाएँ, प्रक्रियाएँ और परिणाम हों अर्थात् जो विचारों और सिद्धान्तोंको इस प्रकार स्पष्ट करे कि अत्यन्त सरल और आवेगहीन भाषामें अर्थ स्पष्ट कर दे उसे व्याख्या कहते हैं।

२. जिस गद्यमें किसी एक विषयका पक्ष लेकर उसका समर्थन और प्रतिपादन इस दृष्टिसे किया जाता हो कि दूसरे उसे मान लें और उसके अनुसार कार्य करनेके लिये प्रयुक्त हों तब उसे तर्क कहते हैं।

३. जिस गद्यमें सब कुछ इन्द्रियानुभवपर आश्रित रहता हो और जो वैसा ही इन्द्रियानुभवशील प्रभाव उत्पन्न करता है वह वर्णनात्मक है।

४ जिस गद्यमें वास्तविक या काल्पनिक घटनाओंको समय और स्थानके क्रमसे सजाकर विस्तारसे कहा जाता है, उसे कथा कहते हैं।

कभी-कभी इनमें तुलना भी की जाती है जैसे—व्याख्या और तर्क हमारी बुद्धिको प्रभावित करते हैं किन्तु यह हमें कोई बात माननेके लिये फुसलानेका काम ( परसुएशन ) नहीं करता क्योंकि वह फुसलानेकी क्रिया तो हमारे भावोंको प्रभावित करती है किन्तु वर्णन और कथा हमारी कल्पनाको प्रभावित करते हैं। व्याख्या और तर्क प्रायः व्यावहारिक रूप समझे जाते हैं अर्थात् वे हमारा ज्ञान बढ़ाते हैं। इससे उल्टे, वर्णन और कथा केवल कलात्मक रूप हैं क्योंकि उनकी प्रभावोत्पादकता अधिकांशतः उनमें निर्दिष्ट उन कल्पनात्मक परिस्थितियोंपर अवलम्बित है जिनका पाठक आनन्द ले सकें।

यह आवश्यक नहीं है कि एक लेखमें लेखक एक ही प्रकारके गद्य-रूपका प्रयोग करे। कभी-कभी वह एक ही रचनामें चारों रूपोंका प्रयोग कर सकता है और फिर कविता और गद्य दोनोंमें चारों रूप विभिन्न प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'ये सब स्वयं रूप नहीं हैं वरन् विभिन्न साहित्यिक रूपोंके तत्त्वों और विषयोंतक पहुँचनेके साधन-मात्र हैं।'

### गद्यकी लय

कुछ आचार्योंका मत है कि 'गद्य और पद्यमें कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि दोनोंमें लयात्मकता होती है।'

भारतीय आचार्योंने इसीलिये गद्यको भी वृत्तानुगन्धी बताया था अर्थात् उसमें भी उन्होंने लयकी उपस्थिति मानी थी। योरोपमें थ्रासूमाखसको यह श्रेय दिया जाता है कि उसने यूनानी गद्यको वृत्तानुगन्धी या लयात्मक बनाया था जो पीछे चलकर कलात्मक गद्यका एक नियमित लक्षण ही बन गया और पीछेके आचार्योंने उसका समर्थन भी किया था।

### काव्यके भेद

राजशेखरने काव्यमीमांसामें काव्यने भेदोंपर विचार करते हुए कहा है कि 'काव्य-रचनामें सिद्ध-हस्त कवियोंकी वाणी ही पाकावस्थाको प्राप्त होती है। यहाँ आचार्योंका प्रश्न है कि 'पाक है क्या वस्तु है?'। इसके समाधानमें मङ्गलाधर्म उत्तर देते हैं कि 'सुबन्त-तिङन्त पदोंके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक कहा जाता है।' पर आचार्य लोग इस उत्तरसे सहमत नहीं हैं क्योंकि सुवन्त-तिङन्तके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक न कहकर सौशब्द्य (सुशब्दता) कहा जा सकता है; पाक कहते हैं सुबन्त-तिङन्त आदि पदोंके प्रयोगमें स्थिरताको। किसीने कहा भी है—

आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलयते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हस्तसिद्धा सरस्वती॥

[काव्यमें समुचित पदोंका सन्निवेश और अननुकूल पदोंके त्यागका व्यापार कविको तभीतक करना पड़ता है जबतक उसका ज्ञान विकल्पात्मक रहता है और वह पदोंके प्रयोगमें स्थिरता नहीं प्राप्त कर चुकता है। पदोंके प्रयोगमें स्थिरता आ जानेपर कवि पाकावस्था या परिणामावस्थाको पहुँच जाता है और सरस्वती उसके सामने सिद्ध-सी प्रत्यक्ष हो जाती है।]

वामनाचार्यका भी यही कहना है कि 'जब कविको कवितामें एक बार प्रयुक्त कर देनेपर उन शब्दोंको परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता न पड़े तभी समझना चाहिए कि उसकी रचना मुख्य पाकावस्थाको पहुँच गई है।' इस पद्यसे भी यही बात पुष्ट होती है—

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

[जिस ग्रन्थके पदोंमें परिवर्त्तनकी तनिक भी आवश्यकता न हो और

उसके परिवर्त्तन करनेसे अभीष्टार्थकी प्रतीति भी न हो सके, उसे 'शब्दपाक' कहा जाता है। ]

राजशेखरकी पत्नी अवन्तिसुन्दरीका मत है कि 'पदोंके परिवर्त्तनासहत्वको पाक नहीं कहा जा सकता प्रत्युत, यह तो असमर्थता है क्योंकि एक ही भावको व्यक्त करनेके लिये महाकवियोंको अनेक पद प्रयुक्त करते और उनको परिपाकावस्थातक पहुँचाते देखा जाता है। इसलिये 'शब्दोंके ऐसे सुन्दर प्रयोगको ही पाक कहा जा सकता है जो रसके पोषणमें समर्थ हो'। इस बातकी पुष्टि इस पद्यसे भी होती है—

गुणालङ्काररीत्युक्ति - शब्दार्थ-ग्रथन - क्रमः।
स्वदते सुधिया येन वाक्यः पाक. सभां प्रति॥

[ जिसके कारण, गुण अलङ्कार रीति, उक्त और शब्दोंके विन्यास-क्रम सहृदयोंके आस्वादनके योग्य हो जायँ उसे पाक कहा जाता है। ]

सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

[ अच्छे वक्ता, श्रुतिमधुर शब्द और रसाभिव्यञ्जक अर्थ होनेपर भी जिस वस्तुके बिना वाणीमें माधुर्यकी कमी रह जाती हो उसे ही पाक कहा जाता है।]

### नौ प्रकारके काव्य-पाक

इस पाकका अनुमान सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करनेवाले कार्यसे किया जाता है। जिस वस्तु विशेषके बिना आह्लाद नहीं हो पाता वही पाक है और वही सहृदय-मण्डलके व्यवहारका अङ्ग है। इस पाकके नौ भेद हैं। इन नवों पाकोंमें जो आदि और अन्त दोनोंमें अस्वादु हो उसे पिचुमन्द ( निम्ब )–पाक कहते हैं। वह जैसे सब अवस्थाओंमें तिक्त होती है उसी प्रकार सब अवस्थाओंमें कम स्वादु होनेसे उस पाकको भी पिचुमन्द-पाक कहा जाता है। जो आदिमें अस्वादु किन्तु परिणाममें मध्यम हो उसे बदर या बेर-पाक कहते हैं। जो आरम्भमें अस्वादु और परिणाममें मधुर हो ऐसे पाकको मृद्वीका ( द्राक्षा या अङ्गूर ) पाक कहते हैं। वह जैसे पहले खट्टी और पकनेपर अत्यन्त मधुर होती है उसी प्रकार मृद्वीका-पाक भी पहले अस्वादु और परिणामावस्थामें सुस्वादु होता है। जो पहले मध्यम श्रेणीका हो और अन्तमें स्वाद-रहित हो उस पाकको वार्त्ताक ( बैंगन ) पाक कहते हैं। आदि, अन्त दोनोंमें मध्यम श्रेणीके

स्वादवाले काव्यको तिन्तिडीक या इमली-पाक कहा जाता है। आदिमें मध्यम श्रेणीके और अन्तमें स्वादयुक्त काव्यको सहकार ( आम )-पाक कहते हैं। आदिमें स्वादु और अन्तमें अस्वादु काव्यको क्रमुक ( सुपारी ) पाक कहते हैं। आदिमें उत्तम और अन्तमें मध्यम स्वादवालेको त्रपुष या ककड़ी-पाक कहते हैं तथा आदिमें स्वादु और अन्तमें भी मधुर रहनेवाले काव्यको नारिकेल-पाक कहा जाता है।

इन नवों प्रकारके पाकोंमें प्रथम पिचुमन्द, वार्त्ताक और क्रमुक-पाकोंको अस्वादु होनेके कारण अनुपादेय समझना चाहिए, क्योंकि सारहीन कविता करनेकी अपेक्षा कविता न करना अच्छा है। कु-रचना सदा रचयिताको आजीवन तप्त और दुर्नाम किया करती है। मध्यम श्रेणीके बदर, तिन्तिडीक और त्रपुष-पाकवाले कवि संस्कार उत्पन्न करके अपनी कविताको उपादेय बना सकते हैं अर्थात् गुणवाले व्यक्तिके गुणोंमें भी संस्कारसे उत्कर्ष आ जाता है। देखा जाता है कि निम्न कोटिका सुवर्ण भी अग्नि-संस्कारसे उत्तम कोटिका परार्घ्य सुवर्ण बन जाता है। शेष मृद्वीका, नारिकेल और सहकार-पाकके कवि प्रत्येक अवस्थामें उत्तम होते हैं और उनकी रचनाएँ उपादेय होती हैं। उनकी प्रतिभा स्वभाव-सिद्ध होती है इसलिये उन्हें किसी प्रकारके संस्कारकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि सुवर्णका उत्कर्षाधायक शाण मुक्तामणिकी विशेषता प्रकट करनेमें अनुपयुक्त पाया जाता है। जिस प्रबन्धकी पाकावस्था कोई निश्चित रूप नहीं प्राप्त कर लेती उसे कपित्थ-पाक कहते हैं। ऐसे प्रबन्धके अनुशीलन करनेसे अनुशीलयिताको उसी प्रकार थोड़ेसे सुभाषित मिलते हैं जैसे पुवालके दानोंसे बहुत थोड़े अन्नकण।'

किन्तु ये सब भेद राजशेखरने केवल पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये किए हैं क्योंकि प्राय: सभी प्रबन्ध-काव्य-रचयिताओंने यथास्थान उपयुक्त सभी प्रकारकी रचनाओंका समावेश किया है। इस मीमांसाका केवल यही प्रयोजन है कि कवि सुसंस्कृत और सुघटित होना चाहिए। इस दृष्टिसे काव्यपाक वही ठीक है जो स्वाभाविक होते हुए भी काव्यकी ध्वनि और संस्कारसे युक्त हो। इस प्रकारका काव्य वही कवि लिख सकता है जिसने अपने काव्यमें प्रयुक्त किए हुए वर्णनका प्रत्यक्षानुभव किया हो, उनका सूक्ष्म अध्ययन किया हो और जो भाषाके आचारसे भली प्रकार परिचित हो।

## वाङ्मयके तीन रूप

ऊपर साहित्य-रचनाके जितने रूप दिखाए गए हैं वे सभी या तो एकाङ्गी हैं या किसी विशेष दृष्टिपर अवलम्बित करके रचे गए हैं। किन्तु साहित्यके रूपोंका विश्लेषण अन्य प्रकारसे किया जाना चाहिए।

यदि हम विश्वभरके वाङ्मयको सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो ज्ञात होगा कि 'सम्पूर्ण वाङ्मय तीन प्रकारसे उद्‌भूत हुआ है—

१. मनुष्यने सृष्टिके सम्बन्धमें, सृष्टिकर्त्ताके सम्बन्धमें तथा अन्य अनेक रहस्यपूर्ण वस्तुओंके सम्बन्धमें जिज्ञासा की है। यह जिज्ञासा दो प्रकारकी हुई है—इनमेंसे एक तो कल्पनाश्रित है जिसमें मनुष्यने ईश्वर-जीव, आत्मा-परमात्मा आदि अदृश्य तत्त्वोंके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है। इस जिज्ञासाके परिणाम-स्वरूप वर्णन तथा विचारात्मक निबन्धोंकी सृष्टि हुई है। दूसरी जिज्ञासा प्रयोगाश्रित होती है जिसमें मनुष्यने किसी वस्तुका तत्त्व जाननेके लिये सूक्ष्म अध्ययन किया और प्रयोगके द्वारा कुछ परिणाम निकाले। इनमेंसे जिन परिणामोंका ज्ञान निश्चित है वह विज्ञान कहलाता है और जिनका परिणाम अनुमान तथा आप्तवचनपर आश्रित है वह शास्त्र कहलाता है।

२. मनुष्यने अपनी इन्द्रियोंसे जो कुछ देखा, सुना, सूँघा, छुआ या चखा है, उन सबका वह वर्णन करना चाहता है। इस वर्णनको उसने कभी केवल वर्णनके रूपसे व्यक्त किया है और कभी इतनेसे सन्तुष्ट न होकर वस्तु, व्यक्ति स्थल आदिका ज्योंका त्यों वर्णन करनेके साथ जो घटनाएँ सुनी या देखीं उन्हें कथा-रूपमें प्रस्तुत किया है।

३. मनुष्यने विश्व-भरमें जिन पदार्थों, व्यक्तियों या विषयोंसे सम्पर्क प्राप्त किया उनके कारण उसके हृदयपर एक विशेष प्रभावके कारण कुछके प्रति राग और कुछके प्रति विराग हुआ। इस राग और विरागसे विक्षुब्ध होकर, अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावोंको उसने मानसिक सङ्कल्प, लालसा, कामना, आकांक्षा, वासना आदिसे भलीभाँति शोधकर अर्थात् अपने मानसका मन्थन करके उन हृदयकी भावनाओंको अनेक रूपोंमें व्यक्त किया। इनमें उसका उद्देश्य कुछ तो आत्माभिव्यञ्जन रहा और कुछ रही दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेकी वृत्ति।

अतः सम्पूर्ण वाङ्मयको हम तीन भागोंमें बाँट सकते हैं—

१. जिज्ञासाजन्य, जिसमें बुद्धिका प्रयोग होता है।
२. अनुभवजन्य, जिसमें इन्द्रियाँ प्रधान होती हैं।
३. कल्पनाजन्य, जिसमें हृदय प्रधान होता है।
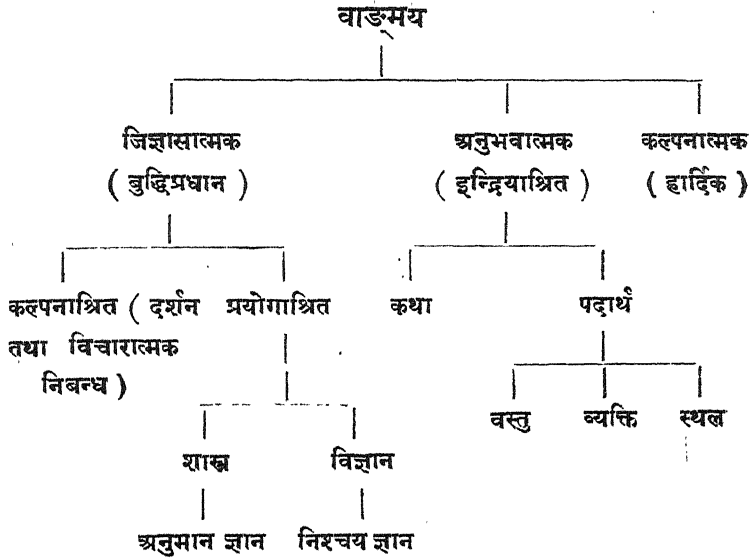
## साहित्य-भेदका नैतिक आधार

जिन विद्वानोंने साहित्यको उपदेशका साधन माना है उन्होंने कहा है कि 'मनुष्यमें तीन वृत्तियाँ होती हैं जिन्हें हमारे यहाँ एषणा कहा गया है—

१. लोकैषणा, जिसमें मनुष्यकी यह इच्छा होती है कि 'मैं संसारमें यश अर्जित करूँ'। इस कार्यके लिये वह या तो आत्मत्याग करता है और इस आत्मत्यागके अन्तर्गत धन, सम्पत्ति पुत्र, कलत्र और प्राणतक दूसरोंके लिये दे देता है अथवा राजसी रूपमें वह देश जीतकर अथवा लोक-कल्याणके अनेक कार्य करके यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है।

२. वित्तैषणा, जिसमें मनुष्य धन सङ्ग्रह करनेका प्रयत्न करता है और उस धन-सङ्ग्रहसे अपनी इच्छाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह चाहे अच्छे व्यवसायसे हो या बुरे व्यवसायसे।

३. कलत्रैषणा अर्थात् किसी नारीको अपनी अर्धाङ्गिनी बनाकर पुत्र उत्पन्न करना चाहता है। किन्तु आजकल इस एकपक्षीय भावके न होनेसे हम कलत्रैषणाको कामैषणा कह सकते हैं, अर्थात् नारीकी इच्छा होती है कि मैं किसी पुरुषके साथ रहूँ और पुरुषकी इच्छा होती है कि मैं नारीके साथ रहूँ। इस इच्छाकी पूर्ति या तो सहसा हो जाती है या निर्बाध होती है या उसमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं। संसारके जितने भी काव्य हैं वे इन तीन वृत्तियोंके अनुसार तीन प्रकार के हैं—

१. वह साहित्य, जिसमें ऐसे लोगोंका चरित्र हो जो संसारमें श्रेष्ठ कार्य करके तथा महत् कार्य करके यश अर्जित कर चुके हों।

२. वह साहित्य, जिसमें ऐसे लोगोंका वर्णन हो जिन्होंने अनेक सङ्कट सहकर वित्तार्जन किया हो। किन्तु इस प्रकारका साहित्य संसारमें बहुत ही कम है।

३. वह साहित्य, जिसमें स्त्री और पुरुषके प्रेमकी व्याख्या और उसका विवरण दिया गया हो तथा उस प्रेमकी सिद्धिमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ दिखाकर या तो अन्तमें दोनोंको मिला दिया गया हो या उनका विच्छेद किया गया हो। इस प्रकारका साहित्य संसारमें बहुत अधिक है और उसके अनेक रूप भी प्राप्त होते हैं।
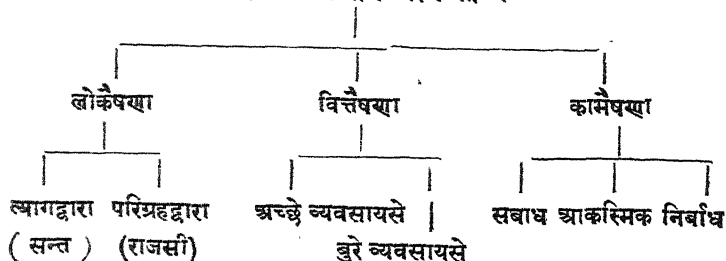
### गद्य, पद्य और गद्यपद्य

अत्यन्त साधारण रीतिसे काव्य या साहित्यके तीन भेद किए गए हैं—

१. गद्य, २. पद्य और ३. गद्यपद्य। गद्यमें छन्दका प्रयोग नहीं होता। जिस प्रकार हम लोग बातचीत करते हैं उसी प्रकार उसमें

भाषाका प्रवाह चलता है। किन्तु पद्य-साहित्य छन्दमें बँधा रहता है। गद्यपद्यमें कुछ अंश गद्यके और कुछ पद्यके होते हैं।
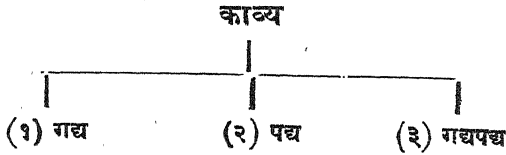
( क ) गद्यके भी पाँच रूप होते हैं।

१. दृश्य : जिसके अन्तर्गत नाटक आता है।

२. वाचनीय : जिसके अन्तर्गत नाटक, उपन्यास और कहानी आती हैं। इस कहानीमें भी या तो केवल एक कथा होती है अथवा परम्परित कथा माला होती है जिसमें एक ही कथामें अनेक कथाएँ गुँथी रहती हैं, या नीति-कथा होती है जिसमें किसी जीव जन्तुके आधारपर गढ़ी हुई कथाके द्वारा कोई नैतिक उपदेश देना अभीष्ट होता है, या कोई ऐतिहासिक कहानी होती है, या दृष्टान्त होता है या वर्त्तमान ढङ्गकी छोटी कहानियाँ होती हैं, जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, जासूसी, या प्रतीकात्मक ढङ्गसे कथाका क्रम चलाया जाता है।

३. श्रव्य : इसके अन्तर्गत पहले तो काव्य ही आते थे किन्तु अब तो पत्र-साहित्य, अभिनन्दन पत्र, सम्मानपत्र, कथा तथा श्रव्य नाटक ( रेडियो प्ले ) की भी उसमें गणना होती है। श्रव्य कथाएँ या तो उस प्रकारकी होती हैं जैसे नानी या दादीकी कहानियाँ अथवा वे ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ जो व्याख्याता तथा कथा-वाचक लोग अपने प्रवचनों और कथाओंमें प्रयुक्त करते हैं।

४. अध्ययनीय : यद्यपि उपन्यास पाठ्य श्रेणीका गद्य है और नाटक दृश्य श्रेणीका किन्तु कुछ लोगोंने भाषा-शैलीकी दुरूहतासे ऐसे नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं कि वे विशेष रूपसे अध्ययनीय हो गए हैं। किन्तु विशिष्ट अध्ययनीय गद्यके अन्तर्गत विचारात्मक निबन्ध ही आते हैं।

५. मननीय : जिसके अन्तर्गत साहित्य-समीक्षा और दार्शनिक विवेचन आता है।
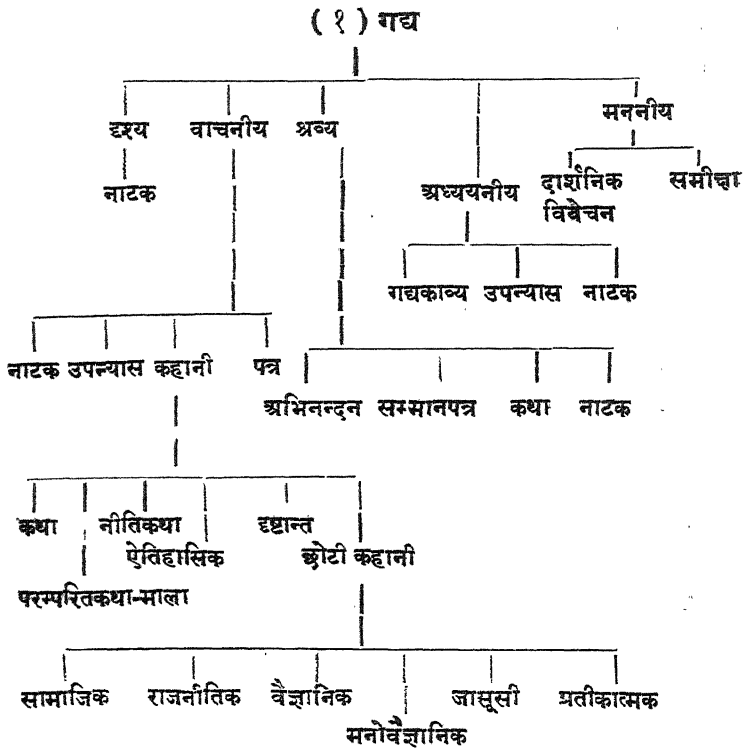
(ख) पद्यके चार रूप होते हैं—१. दृश्य, २. पाठ्य, ३. श्रव्य, ४. अध्ययनीय।

१. दृश्यके अन्तर्गत नृत्य-नाट्य, नाट्यगीत, गीति-नाट्य और मूकाभिनय आते हैं।

२. पाठ्य पद्यके अन्तर्गत कथाकाव्य (जैसे आल्हा), भावकाव्य, प्रगीत तथा सब प्रकारके लयात्मक पद्य आते हैं।

३. श्रव्यके अन्तर्गत भावकाव्य, गीतकाव्य, कथात्मक प्रगीत तथा अन्य सब प्रकारकी कविताएँ आती हैं।

४. अध्ययनीयके अन्तर्गत महाकाव्य, गीतकाव्य तथा अन्य सब प्रकारके भावकाव्य आते हैं। यह वर्गीकरण भी प्राचीन ही है यद्यपि इसमें थोड़ेसे नये रूप प्रविष्ट हो गए हैं।
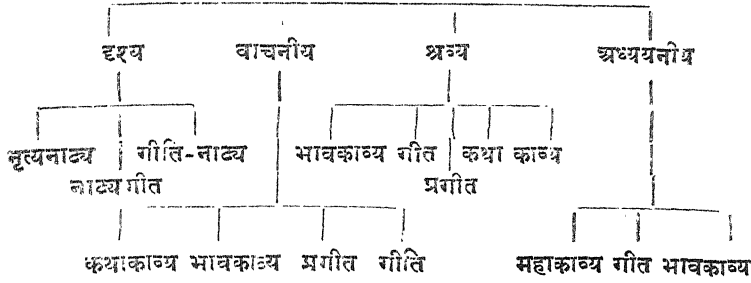
(ग) गद्यपद्यके भी चार रूप होते हैं—१. दृश्य, जिसके अन्तर्गत नाटक आता है। २. वाचनीय, जिसके अन्तर्गत नाटक और चम्पू आते हैं। ३. श्रव्य, जिसके अन्तर्गत चम्पू और श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले) आता है। ४. अध्ययनीय, जिसके अन्तर्गत चम्पू और नाटक आता है।
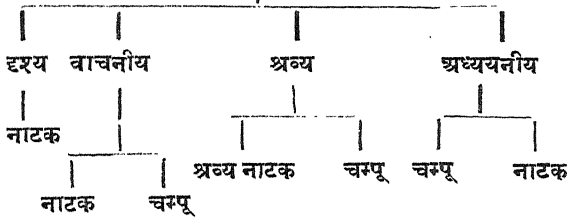
## कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक

साहित्यका तात्त्विक विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि विश्व-भरका साहित्य तीन प्रकारका है—१. कथात्मक, २. भावात्मक और ३. विचारात्मक।
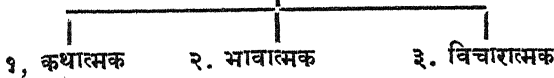
कथात्मकके अन्तर्गत—१. लयात्मक या अतुकान्त छन्दकी कविता, २. पद्यात्मक अर्थात् छन्दानुगामिनी कविता, ३. गद्यात्मक कविता, तथा ४. गद्यपद्यात्मक, ये चार प्रकारकी रचनाएँ आती हैं। पद्यात्मकके अन्तर्गत प्रबन्ध

काव्य और प्रगीत आते हैं। प्रबन्ध-काव्यके अन्तर्गत नाटकीय गीत, महाकाव्य, गीतिनाट्य, खण्डकाव्य, एकार्थ, मुक्तक तथा अध्यवसान-काव्य आते हैं। मुक्तकके अन्तर्गत प्रगीत, गीत, लोकगीत, वर्णन आदि आते हैं।

गद्यात्मकके अन्तर्गत नाटक, वर्णन, उपन्यास, कथा और कहानीका समावेश होता है। कथा भी दो प्रकारकी होती है—१. आत्मकथा और २. परकथा। आत्मकथाके अन्तर्गत वास्तविक आत्म-चरित्र रूपकात्मक आत्मकथा आती है। रूपकात्मक वह है, जिसमें हम किसी वस्तुको व्यक्ति मानकर उसकी ओरसे उसका जीवन-चरित्र वर्णन करते हैं जैसे 'पैसेकी आत्मकथा।' शेष सब प्रकारकी कथाएँ परकथा होती हैं जो प्रत्यक्ष, परश्रुत, कल्पित या इतिहास-पुराणादिसे सम्बद्ध होती हैं।

गद्य-पद्यात्मकके अन्तर्गत चम्पू, नाटक, रासक, वर्णन, नौटङ्की, रास और रामलीला आदिका समावेश होता है।
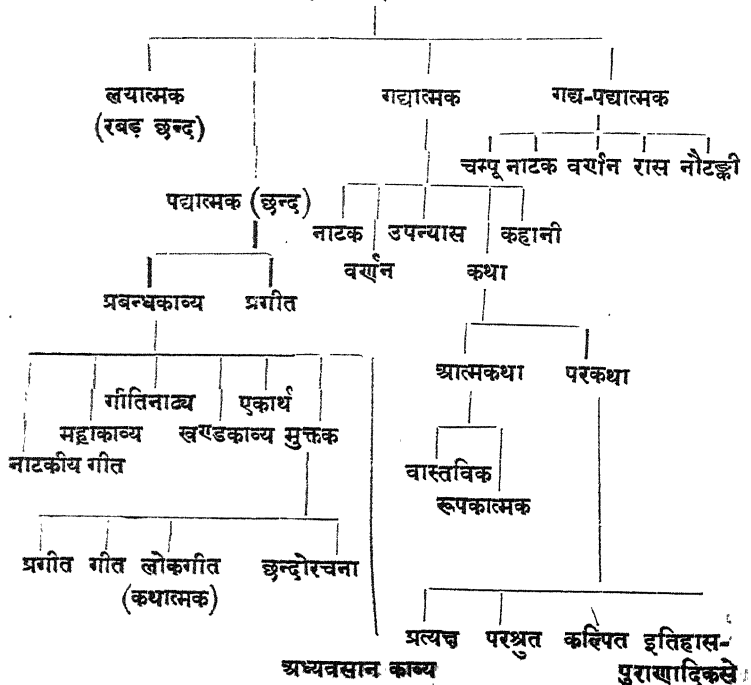
२. भावात्मक साहित्यके अन्तर्गत दो प्रकारकी रचनाएँ आती हैं—पद्यात्मक और गद्यात्मक। पद्यात्मकके अन्तर्गत वे गीत, प्रगीत, छन्द या मुक्तक रचनाएँ आती हैं जो अनायास किसी वस्तु या भावके गोचर या मानस प्रत्यक्षीकरणपर स्वयं फूट उठती हैं। गद्यात्मकके अन्तर्गत भावपूर्ण गद्यगीत और भावात्मक निबन्ध आते हैं, जिनमें हम किसी वस्तु, व्यक्ति या विषयके प्रति आकृष्ट होकर भावपूर्ण एकात्मताके साथ तन्मय होकर भावाभिव्यञ्जन करते हैं।
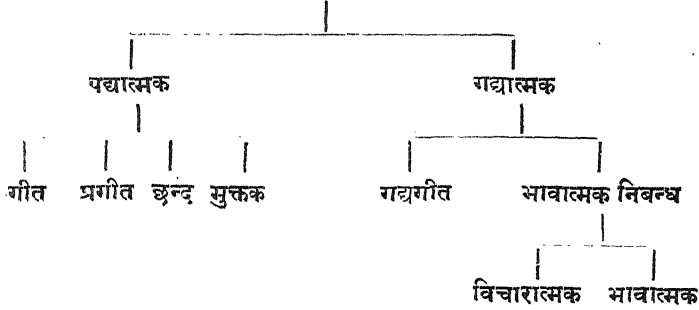
३. विचारात्मक साहित्यके अन्तर्गत वे सब रचनाएँ आती हैं जिनमें हम किसी विषयपर तर्क-वितर्क करके अर्थात् बुद्धिके योगसे विचार करते हैं। सब प्रकारके विचारात्मक तथा समीक्षात्मक निबन्ध इसी श्रेणीमें आते हैं।
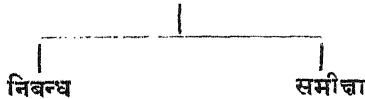
## विश्लेषणात्मक वर्गीकरण

साहित्यका वर्गीकरण उसके विश्लेषणात्मक स्वरूपके आधारपर भी किया जा सकता है। इस दृष्टिसे साहित्य चार प्रकारका होता है—१. प्रेरणात्मक, २. विचारात्मक, ३. आत्माभिव्यञ्जनात्मक, तथा ४. लक्ष्यप्रधान।

१. प्रेरणात्मक साहित्य वह है जिसमें मनुष्य किसी लौकिक प्रेरणा अर्थात् धन, यश, पद तथा अन्य किसी लौकिक फलसे प्रेरित होकर लिखता है।

प्रेरणात्मक साहित्य वह भी होता है जो सात्विक प्रेरणासे उद्भूत होता है जैसे सौन्दर्यसे, वह चाहे प्रकृतिका हो, व्यक्तिका हो या भावका हो। कभी किसीके उदात्त चरित या असाधारण गुणसे भी प्रेरणा मिलती है। ईश्वर अथवा अपने किसी इष्ट देवता या महापुरुषके प्रति रचे हुए साहित्य-रूप इसी श्रेणीमें आते हैं।

सात्विक प्रेरणा किसी घटनासे भी होती है जैसे—दुःख, शोक, क्रोध आदि उत्पन्न होनेसे। कभी कुछ अद्भुत वस्तु देखकर भी यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि इसे काव्य रूप दिया जाय। इस प्रकारका साहित्य प्रेरणात्मक होता है।

२. विचार-प्रेरित साहित्य वह है जो मनुष्यके अपने चिन्तन, अध्ययन और मननके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होता है। यह वस्तुगत भी हो सकता है और कल्पनासे उद्भूत भी। वह सम्पूर्ण साहित्य जिसमें लेखकोंके विचारोंका प्रस्फुटन हुआ है, सब इसी श्रेणीके अन्तर्गत आता है।

३. आत्माभिव्यञ्जनात्मक साहित्य वह सब है जिसमें मनुष्य अपने अनुभव और भाव व्यक्त करता है। नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता आदि सब इसीके अन्तर्गत आते हैं।

४. संसारका कुछ साहित्य लक्ष्यप्रधान भी होता है अर्थात् वह किसी विशिष्ट देवता, इष्ट, प्रिय अथवा किसी विशेष व्यक्तिको लक्ष्य करके अथवा संसारको ही लक्ष्य करके अथवा किसी विशिष्ट समाजको ही लक्ष्य करके रचा जाता है। यह लक्ष्य-प्रधान साहित्य पाँच प्रकारका होता है—

१. उपदेशात्मक, ( डाइडेक्टिक ) २. व्यंग्यात्मक, ( सैटायरिकल ) ३. विनोदात्मक, ( ह्यूमरस ) ४. मननीय ( फिलौसौफ़िकल ), ५. कलात्मक या वाक्कौशलयुक्त ( विटी )।

## ग्राहकोंकी दृष्टिसे वर्गीकरण

आजकल एक नये प्रकारसे भी विश्व - साहित्यका वर्गीकरण किया जा रहा है और वह है ग्राहकोंकी दृष्टिसे। उन लोगोंका यह सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण साहित्य किसीके लिये लिखा जाता है अतः उस साहित्यकी रचना करते समय लेखकको अपने ग्राहक अर्थात् पाठक, श्रोता या दर्शकको ध्यानमें रखकर रचना करनी चाहिए। इस दृष्टिसे सम्पूर्ण साहित्य छः प्रकारका है—

१. श्रव्य, जिसे लोग सुनकर आनन्द ले सकें, जैसे लोक काव्य, श्रव्य नाटक ( रेडियो प्ले ) ।

२. दृश्य, जिसे देखकर आनन्द ले सकें, जैसे—मूकाभिनय (पैन्टोमीम) या नृत्याभिनय ( डान्स बैले ) ।

३. श्रव्य-दृश्य, जिसे देख भी सकें और सुन भी सकें जैसे—नाटक या गीत-नाट्य ।

४. अध्ययनीय अर्थात् वे ग्रन्थ जो कक्षाओंमें पढ़ाए जायँ अथवा जो गुरुद्वारा समझाए जानेपर ही समझमें आवे—जैसे महाकाव्य। किन्तु रामचरितमानस जैसे कुछ ऐसे भी महाकाव्य होते हैं जिन्हें लोग स्वयं भी पढ़ सकते है ।

५. वाचनीय, अर्थात् जिनका आनन्द बाँचकर ही लिया जा सके। जैसे—उपन्यास कहानी आदि ।

६. मननीय, अर्थात् जिन्हें पढ़नेके साथ विचार भी करना पड़े और सोचना भी पड़े जैसे विचारात्मक निबन्ध अथवा अध्यवसानात्मक काव्य ।
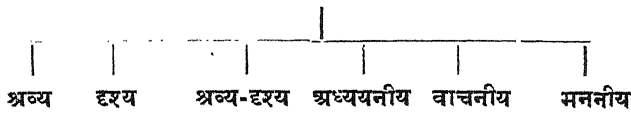
## वर्गाधार भेद

ग्राहकोंकी दृष्टिसे साहित्यका जो वर्गीकरण किया जाता है वह रूस और अमरीकामें एक नए ढङ्गसे होने लगा है जैसे, बालकोंके लिये । ( बाल-साहित्य ) कुमारोंके लिये ( कुमार-साहित्य ) युवकोंके लिये, स्त्रियोंके लिये, श्रमिकोंके लिये, मध्यवर्गके लिये आदि । इस आधारपर वहाँके प्रकाशकोंने पुस्तकोंपर यह ठप्पा देना भी प्रारम्भ किया है कि यह पुस्तक या ग्रन्थ किस प्रकारके समाज या वर्गके लिये है ।

### गम्भीर और मृदुल साहित्य

इधर कुछ लोगोंने साहित्यमें एक और भी वर्गीकरण चलाया है। वे कहते हैं कि 'जिस साहित्यके अध्ययन करनेमें बुद्धिका योग देना पड़े, एकाग्रता अपेक्षित हो, विचार करना पड़े, वह सब गम्भीर साहित्य (सीरियस लिटरेचर) है और जिस साहित्यको हम बाँचते हुए उसका अर्थ समझते और उसका आनन्द लेते चले जायँ वह मृदुल साहित्य ( लाइट लिटेचर ) है।'

### उदात्त रचनाकार और लोक रचनाकार

'गम्भीर और मृदुल' साहित्य-भेदसे मिलता-जुलता ही एक भेद दूसरी ईसवी शताब्दिमें आउलस गेलिअसने लेखकोंके भेदसे बताया था—

१. 'उदात्त रचनाकार' ( स्क्रिप्टोर क्लासिकस ), जो इने-गिने सुखी व्यक्तियोंके लिये लिखता हो।

२. लोक-रचनाकार ( स्क्रिप्टोर प्रोलितेरियास ), जो जनसाधारणके लिये लिखता हो।

इस दृष्टिसे साहित्यके दो वर्ग हुए—१. उच्च वर्ग या विद्वानोंके लिये, २. साधारण, कम-पढ़ी या अपढ़ जनताके लिये।

### वर्गीकरणके अनेक आधार

अतः साहित्यका वर्गीकरण अनेक दृष्टियोंसे किया जा सकता है—

१. रचनाकी दृष्टिसे, २. विषयकी दृष्टिसे, ३. भावकी दृष्टिसे, ४. प्रभावकी दृष्टिसे, ५. उद्देश्यकी दृष्टिसे, तथा ६. ग्राहककी दृष्टिसे।

### उपसंहार

वर्गीकरणके इतने प्रकार होते हुए भी साहित्य रूपके निम्नलिखित प्रकार ही मुख्यतः मिलते हैं—

१. नाटक, २. कविता, ३. गीत, ४. उपन्यास, ५. कहानी, ६. पत्र, ७. जीवनचरित, ८. वर्णन, ९. निबन्ध, १०. नीति, ११. समीक्षा तथा १२. चित्र-काव्य या काव्य-कौशलके प्रदर्शनके निमित्त रची हुई कृतियाँ। इस दृष्टिसे हम साहित्यका वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—
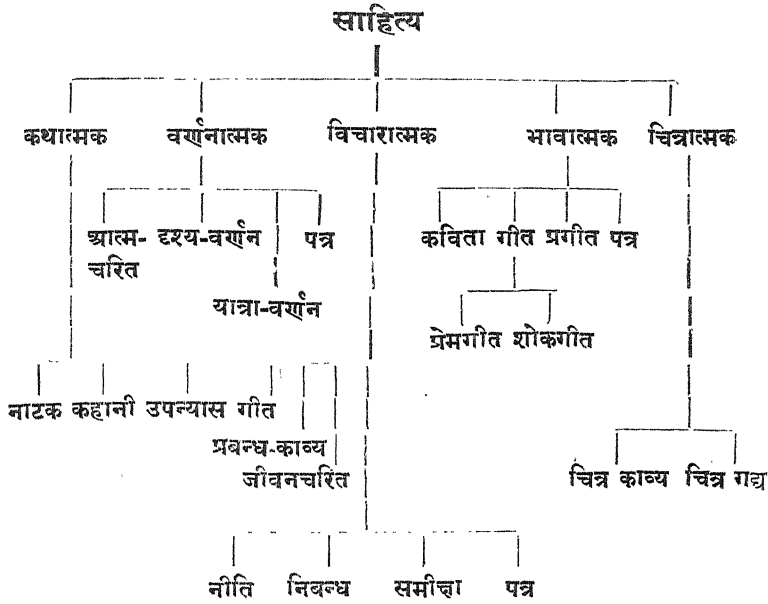
उपर्युक्त विवेचनमें गीतको कथात्मक और भावात्मक दोनोंमें रक्खा गया है क्योंकि गीत दोनों प्रकारके होते हैं। इसी प्रकार पत्र भी कुछ वर्णनात्मक, कुछ विचारात्मक और कुछ भावात्मक होते हैं अतः उन्हें भी तीन श्रेणियोंमें गिना दिया गया है।

# रचना-कौशल

किसी कलात्मक कृतिके प्रस्तुत करनेके विशिष्ट ढङ्गको कौशल कहते हैं अर्थात् उस कृतिके रूप-निर्माण और ढलन आदिकी विशिष्ट योजनाको कौशल ( टेकनीक ) कहते हैं। कुछ लोगोंका मत है कि 'साधारण अभिव्यक्तिका ढङ्ग कुछ और होता है और कौशल एक भिन्न वस्तु होती है।'

'किसी भी कलाकृतिमें विशेष सौन्दर्य उत्पन्न करनेका जो बौद्धिक नियोजन किया जाता है उसीको कौशल कहते हैं', अर्थात् वे सब साधन, प्रयोग तथा संयोजन मिलकर कौशल कहलाते हैं जिनके कारण वह कृति 'इस विशिष्टताके साथ सुन्दर प्रतीत होने लगे कि साधारण मनुष्य भी उसकी ओर सहसा प्रवृत्त हो जाय।' अनेक आचार्य यह मानते हैं कि कलामें यह शक्ति होनी चाहिए कि 'वह दूसरोंको प्रभावित करे। इस प्रभावित करनेके लिये कलाकार अपनी कलाकृतिमें जितनी नवीनता, विशेषता अथवा विचित्रता उत्पन्न करता है वही उसका कौशल है।' मान लीजिए काव्यकी यह परिपाटी रही है कि 'प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करके शनैः-शनैः कथा प्रारम्भ की जाय।' नवीन लेखक देखता है कि 'इस प्रकारके काव्यकी ओर लोगोंकी रुचि नहीं रही, वे उससे ऊब चले हैं', अतः वह प्रारम्भसे कथा न कहकर कहीं बीचसे आकस्मिक घटना प्रारम्भ कर देता है और फिर किसी एक विशेष क्रमसे उससे पूर्वकी घटना भी इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह अक्रम, अस्वाभाविक या असङ्गत नहीं प्रतीत होती। हरिऔधजीका 'प्रिय-प्रवास' इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। साधारणतः सब प्रबन्ध-काव्योंमें कवि दूरद्रष्टा होकर इस प्रकार वर्णन करता है मानो वह कथाकी प्रत्येक घटनाका प्रत्यक्ष साक्षी हो। किन्तु हरिऔधजीने यद्यपि प्रारम्भ तो इसी प्रकार किया है किन्तु कृष्णके वियोगकी विह्वलता

विभिन्न प्रकारके व्यक्तियोंसे उन्होंने विभिन्न रूपसे कहलाई है। यही उनका विशेष कौशल ( टेकनीक ) है।

## परिश्रम ही कौशल है

योरोपके प्राचीन कलाचार्य परिश्रमको ही कौशल समझते थे। प्रसिद्ध चित्रकार लियोनार्दो द विञ्चीने कहा था—'हे ईश्वर! तुम हमें सब सुन्दर वस्तुएँ परिश्रमके मूल्यपर बेचते हो।' अपनी सम्पूर्ण कृतियोंमें द विञ्चीने कौशलका आधार अन्तःस्फुरणकी अपेक्षा उचित परिश्रमको ही अधिक माना। टर्नरने भी कहा है—'मेरी सफलताका रहस्य है कठोर परिश्रम।' प्लिनीने अपेलेसकी सफलताका रहस्य 'निरन्तर अभ्यास' ही बतलाया है। एक चीनी कलाकारने कहा है कि 'कोई मनुष्य अपनेको तबतक कलाकार नहीं कह सकता जबतक कि उसने दस सहस्र चित्र न बना लिए हों।' कौशलके सम्बन्धमें प्रायः सभी पूर्वी और पश्चिमी कलाकारोंका यही मत रहा। किन्तु जिन लोगोंने स्वयं किसी कलाकृतिकी रचना नहीं की है और जिन्होंने केवल सौन्दर्यवादी सिद्धान्तकी दृष्टिसे इस प्रश्नपर विचार किया है उनका मत है कि 'एक रहस्यमयी अन्तःप्रेरित दैवी वासना ही कौशलको भी आभास देती है।'

यदि हम सब काव्योंकी परीक्षा करें और उनमें प्रयुक्त हुए कौशलपर विचार करें तो प्रतीत होगा कि कवियोंने अपने काव्योंमें नवीनता और आकर्षण उत्पन्न करनेके लिये इतने कौशलोंका प्रयोग किया है कि उनकी गणना नहीं की जा सकती। किन्तु फिर भी हम उनकी कुछ रूपरेखा तो निश्चित कर ही सकते हैं।

## योजना

कुछ आचार्योंका मत है कि 'प्रत्येक कलाकार अपनी कलाकृतिके निर्माणके लिये जो प्रक्रिया-क्रम बनाता है वही योजना कहलाती है।' इन लोगोंका मत यह भी है कि 'ऐसी बँधी हुई योजनाका पालन करनेसे रचना अत्यन्त यन्त्रबद्ध हो जाती है और अन्तःस्फुरण भी कुण्ठित हो जाता है।' बहुतसे कलाकार मानते हैं कि 'रचनाका क्रम तो स्वयं बनता-ढलता चाहता है।' अतः वे इस योजना प्रयोगको बुरा समझते हैं। किन्तु यह योजना लाभकर अवश्य होती है। प्रत्येक कलाकारको इसका पालन करना चाहिए।

### गुर या सूत्र ( फ़ौर्मूला )

कुछ लोगोंका मत है कि 'किसी भी प्रकारकी रचनाके लिये कुछ बँधे हुए सूत्र ( फ़ौर्मूला ) होते हैं जिनकी सहायता लेकर ही किसी एक साँचेकी रचना की जाती है।।' रहस्यात्मक आरभटी नाटक ( मैलोड्रामा ) के लिये यह गुर बन गया है कि 'प्रथम अङ्कमें किसीपर सन्देह न करो, द्वितीय अङ्कमें सबपर सन्देह करो और तृतीय अङ्कमें उस अपराधीको पकड़ लो जिसपर किसीका सन्देह न हो।' बहुतसे लोगोंने अपने-अपने साहित्यिक वादके अनुसार विस्तारसे छोटी कहानी लिखनेके गुर बताए हैं। एम्० एल्० मालेविंस्कीने 'नाटक लिखनेका विज्ञान' नामकी एक पुस्तकमें नाटक रचने या नाटकका विश्लेषण करनेका गुर बताया है। किन्तु गुरके अनुसार रचे हुए उपन्यास या नाटक निर्जीव और नीरस ही होते हैं।

### प्रस्तुतीकरण-कौशल

पीछे हम बता आए हैं कि सम्पूर्ण साहित्यको उनकी अन्त:प्रकृतिके अनुसार हम पाँच भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक और कलात्मक या चित्रात्मक। इन पाँचोंके लिये मुख्यत: पाँच प्रकारके कौशलोंका प्रयोग किया गया है।

१. कथाकी अभिव्यक्ति करनेवाले व्यक्तिके स्वरूपमें अर्थात् कथा उत्तम पुरुषमें, मध्यम पुरुषमें या प्रथम पुरुषमें प्रस्तुत की जा सकती है। इन तीनोंको क्रमशः व्यक्तिगत अभिव्यक्ति ( पर्सनल नैरेशन ), संवादात्मक अभिव्यक्ति ( कनवर्सेशनल नैरेशन ) और 'एक राजा था अभिव्यक्ति' ( 'वन्स देअर वाज़ ए किङ्' नैरेशन ) कहते हैं। इन्हींको क्रमशः सम्प्रेक्षक-वृत्ति (औब्ज़र्वर्स मोड या स्टोरी-टैलर्स मोड ), १. स्वयं-भागी वृत्ति (पार्टेकर्स मोड) तथा २. वक्तृवृत्ति ( एड्रेसर्स मोड ) कह सकते हैं।

इन तीनों शैलियोंमें रामायणकी कथा कहें तो संक्षेपमें यों कहेंगे—

१. 'मैं उन दिनों अयोध्यामें रहता था। उस समय राजा दशरथजीने यज्ञ करके चार पुत्र प्राप्त किए, पर उनकी छोटी रानी कैकेयीने रामके राज्याभिषेकके समय बड़ा अड़ङ्गा डाला। हम सब अयोध्यावासी मिलकर राजद्वारतक पहुँचे। हमने देखा कि वनवासी-वेष धारण किए हुए राम, सीता और लक्ष्मण सिंह-द्वारसे निकल रहे हैं। यह देखते ही सबकी आँखें छलछला आईं, मुँहसे

शब्द नहीं निकला और सब कैकेयीको कोसते हुए और उस वनपथको अपने आँसुओंसे भिगोते हुए मूक भेड़ोंकी भाँति रामके रथके पीछे-पीछे दौड़ चले।'

२. 'तुम जानते हो रामको ? जिस दशरथने उस रामके लिये पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, उसीने प्रमदाके वशमें होकर उन्हें वनवास दे दिया। आज वे चले जा रहे हैं वनको, और उनके साथ जा रहे हैं लक्ष्मण और सीता भी, जिसने भूलकर भी कभी पृथ्वीपर पैर नहीं रक्खा। इससे बड़ा और क्या अन्याय हो सकता है ! अब कौन ऐसी अयोध्यामें रहेगा ?'

इसी कौशलमें कुछ लोगोंने एक नया प्रयोग प्रारम्भ किया है, जिसमें वे कथाके किसी पात्रको ही अपने सामने खड़ा हुआ एक पात्र मानकर उसे सम्बोधित करके कहते हैं। मान लीजिए, कैकेयी ही सामने खड़ी है उसे सम्बोधित करके सम्पूर्ण रामायणकी कथा इस शैलीमें कही जाय तो यों होगी—

'तुम्हीं महाराज दशरथकी सबसे छोटी रानी कैकेयी हो ? जिस समय पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ था उस समय तो तुमने बड़ी उदारतासे अपने भागके चरुमेंसे आधा निकालकर सुमित्राको दे दिया था ! तुम्हीं रामको अपना सगा पुत्र समझती रहीं न ! रामके विवाहपर तुम्हींने अपने समस्त आभूषण उल्लासमें आकर बाँट दिए थे न ! और आज तुम्हींने उसी रामके लिये चौदह वर्षका वनवास माँगा है ? तुम्हारा हृदय दो टूक नहीं हो गया ? तुम्हारी जिह्वा कटकर गिर नहीं गई ? घूरकर क्या देख रही हो ? जिन आँखोंसे आज तुम अग्निकी ज्वाला फेंक रही हो, उन्हींसे एक दिन ऐसी पश्चात्तापकी धारा निकलेगी कि तुम्हारा सम्पूर्ण महत्त्व उसीमें डूब मरेगा और संसारकी काली कृतियोंमें तुम्हारी भी गणना होगी।'

जो लोग इस प्रकारके कौशलका अनुमोदन और समर्थन कर रहे हैं, उनका तर्क है कि 'प्रथम पुरुषमें जब कोई कथा कहता है तब वह अपनी दृष्टिसे कहता है, किन्तु जिनके सम्बन्धमें कहता है और जिन्हें सुनानेके लिये कथा कहता है, उनकी मानसिक तथा आङ्गिक प्रतिक्रियाओंका कोई परिचय नहीं देता।' किन्तु उपर्यङ्कित कौशलसे कथा प्रस्तुत करनेमें कथामें वर्णित पात्रोंकी प्रतिक्रिया भी दिखाई जा सकती है और श्रोतापर जो प्रभाव पड़े उसकी प्रतिक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है अर्थात् इसमें कथा कहनेवाले, कथा सुननेवाले और कथाके पात्र तीनोंका मानसिक अभिव्यञ्जन हो सकता है।

३. 'एक था राजा - कौशल' वही है जिसमें प्रायः कथाएँ लिखी जाती रही हैं अर्थात् जिनमें कथा कहनेवाला द्रष्टा होकर सम्वाददाताके समान सब समाचार कहता है और उसपर बीच-बीचमें अपनी वृत्तिके अनुसार अपनी मानसिक प्रतिक्रियाका पुट देता चलता है। संसारके सब प्रबन्ध-काव्यों, उपन्यासों और कहानियोंमें अट्टानबे प्रतिशत रचनाएँ इसी शैलीमें है।

### अन्य रीतियाँ

कथा प्रस्तुत करनेके ऊपर जो तीन भेद बताए गए हैं, उनके अतिरिक्त और भी कौशल चले हैं जैसे पत्र, सम्वाद, आत्मकथा, दैनन्दिनी ( डायरी ), विवरण, समाचार, व्याख्यान, संस्मरण अथवा कथाके किसी पात्र-द्वारा ही कथा-वर्णन करा देना। आप चाहें तो होमरके प्रसिद्ध काव्य 'इलियाद'की कथाके नायक अट्लियसके लिये एक अभिनन्दन-पत्र लिखकर उसीमें अत्यन्त भावकता-पूर्ण शैलीमें पूर्ण कथा कह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ लोगोंने शास्त्रार्थ, रूपक या अध्यवसायन (एलेगरी), सम्बोधन, मूर्त्तीकरण, आवाहन, उपालम्भ, उन्मत्त-प्रलाप तथा स्वप्नमें देखी हुई घटनाके रूपमें भी कथाएँ प्रस्तुत की हैं।

### सात्त्विक और बाह्य

इन वर्णन-शैलियोंके अनुसार ही कृतियाँ सात्त्विक और बाह्य कहलाती है। कोई साहित्यिक कृति तब बाह्य ( ऑब्जैक्टिव ) कहलाती है जब—

( क ) उसका रूप ऐसा बन गया हो कि लेखक उस कृतिमें अपने मानसिक अनुभव न डाल सकता हो जैसे—नाटकमें या प्रथम पुरुषमें लिखे हुए उपन्यास और कहानीमें या उत्तम पुरुषमें लिखे हुए उपन्यासमें लेखकको अपने सात्त्विक तथा मानसिक अनुभव डालनेका अवसर रहता है अतः वे सात्त्विक होते हैं।

( ख ) वह वर्णनीय घटनाओं तथा परिस्थितियोंका यथार्थवादी प्रभाव डालनेमें सफल होती हो। या—

( ग ) वह इस चलते ढङ्गसे रची गई हो कि उसमें दबी हुई वासनाको व्यक्त करनेकी वृत्ति हो या वर्णनीय घटनाओं और परिस्थितियोंके प्रति उदासीनता दिखाई गई हो। इसलिये जिन साहित्य-समीक्षाओंमें दिए हुए निर्णय निष्पक्ष और व्यक्तिगत प्रभावसे दूर हों या जिनमें केवल उसके रचना-कौशलपर ही विचार किया गया हो, वे बाह्य कहलाती हैं।

### कथा-वस्तुका कौशल

कथा-वस्तु या घटना-निर्माण करनेमें ही साहित्यकारके कौशलकी सबसे बड़ी परीक्षा होती है। सभी साहित्यकार अपनी रचनामें नवीनता लाना चाहते हैं। इस नवीनताके लिये वे नये पात्र और नई घटनाका प्रयोग करना चाहते हैं। इस प्रयोगमें कुछ लोग अपनी रचनाको अधिक कुतूहलजनक बनानेके फेरमें अनावश्यक पात्रों तथा अविश्वसनीय घटनाओंका संयोजन कर देते हैं, जिनका परिणाम यह होता है कि कथा जटिल भी हो जाती है, साथ ही उसके प्रति कुतूहल न होकर अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अतः कथा-वस्तु रचना-कौशलके सम्बन्धमें निम्नाङ्कित सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिएँ—

१. यथासम्भव कम पात्र हों, जिनके कार्य और चरित्र समझनेमें सुविधा हो और जो निश्चित रूपसे कथाके प्रवाहमें योग देते हों।

२. घटनाएँ कम हों और जितनी हों, वे गृहीत परिस्थितियोंमें विश्वसनीय हों, उनका क्रम सङ्गत हो और उस क्रमसे यह प्रतीत हो कि ये घटनाएँ निश्चित रूपमें इसी क्रमसे ही सम्भव हो सकती हैं।

इस कौशलमें—१. कुछ लेखक तो एक घटनाको क्रमसे लाते हैं, उन्हें धीरे-धीरे उलझाते हैं और धीरे-धीरे खोलते या सुलझाते हैं। २. कुछ लेखक सब घटनाओंको उलझाकर पहले उपस्थित कर देते हैं, फिर धीरे धीरे खोलते हैं। ३. कुछ ऐसे हैं जो घटनाओंको अलग-अलग धाराओंमें ले चलते हैं और सहसा उन्हें अत्यन्त आकस्मिक रूपमें उलझाकर या तो छोड़ देते हैं कि पाठक अपना परिणाम निकाले और अपने ढङ्गसे उनका मानसिक समाधान करे या उसे स्वयं सुलझा देते हैं। ४. कुछ लोग आदिसे अन्ततक उलझाते चलते हैं और सहसा कोई अद्‌भुत घटना लाकर उसे सुलझा देते हैं। ५. कुछ लोग कथा तो सरलता-पूर्वक चलाते रहते हैं किन्तु उसका परिणाम इतना उलझाते हुए धीरे-धीरे खोलते हैं कि ग्राहक उसके परिणामकी प्रतीक्षा व्याकुल होकर करता है।

### दो कौशल

ये सभी कौशल ग्राहकको आकृष्ट करनेमें पर्याप्त सफलता प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु दो कौशल ऐसे हैं जो सबसे अधिक सफल और सुन्दर माने गए हैं—

१. कथाकी धारामें ऐसी बाधाएँ उत्पन्न की जायँ कि कथा बार-बार लौटकर वहीं पहुँच जाय जहाँसे प्रारम्भ हुई हो और अन्तमें किसी विशेष घटनाके द्वारा उसका निर्वहण हो जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कथा ।

२. कथामें पात्रोंकी मनोवृत्तियोंके कारण ऐसी अनिश्चितता उत्पन्न कर दी जाय कि पाठकके मनमें निरन्तर यह जाननेका कुतूहल बढ़ चले कि आगे क्या होनेवाला है ।

इन्हीं कौशलोंमें कुछ नये प्रयोगमें चले हैं—

१. एक ही स्थानपर पूरे नाटक या उपन्यासकी घटनाएँ दिखाई जायँ ।

२. कुछ लोगोंने भौतिक या प्रत्यक्ष घटना तो एक ही रक्खी है किन्तु मानसिक द्वन्द्व इतने प्रकारके उत्पन्न कर दिए हैं कि इन्हींके कारण परिणामकी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है ।

३. कुछ सशक्त नाटककार या कथाकार अपने बुद्धि-कौशलसे अत्यन्त असङ्गत, असम्भव तथा अस्वाभाविक घटनाको भी सङ्गत, सम्भव और स्वाभाविक सिद्धके ग्राहकको यह विश्वास दिला देते हैं कि माता भी अपने पुत्रकी हत्या कर सकती है । इसी कौशलको शक्ति-प्रदर्शन-कला ( तूर दे फ्रोर्स ) कहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि 'कथावस्तुकी घटनाओंकी उस क्रम-सज्जाको ही कौशल कहते हैं 'जिससे कुतूहलकी सृष्टि हो और यह कुतूहल निरन्तर बना रहे ।'

कुतूहलकी सृष्टिमें घटनाएँ सत्य, असम्भव, सत्याभास या मिथ्या हों, यह तो कथाकी प्रकृतिपर अवलम्बित है । परियों और राक्षसोंकी कहानियोंमें सभी असम्भव और मिथ्या घटनाएँ हो सकती हैं किन्तु मानव-चरित्रका जहाँ वर्णन हो वहाँ घटनाओंके सम्बन्धमें सावधान होकर देख लेना चाहिए कि 'परिस्थितिके अनुसार वह घटना उचित, सम्भव तथा सङ्गत है या नहीं' इसी आधारपर कथावस्तुकी रचना करनी चाहिए ।'

### इतिवृत्त और कथावस्तु

जिन कथाओंके आधारपर नाटक या उपन्यास लिखा जाता है उसे इतिवृत्त और उसे बदलकर नई घटनाएँ जोड़कर जो कथा बना ली जाती है उसे कथावस्तु कहते हैं । पुराण, इतिहास, अनुश्रुति, कवि-कल्पना, प्रतीक और प्रत्यक्ष ज्ञानसे ये इतिवृत्त लिए जाते हैं । इस प्रकार इतिवृत्तके छः भेद हुए—

१. पौराणिक, २. ऐतिहासिक ३. आनुश्रौतिक ४. कल्पित ५. प्रतीकात्मक और ६. वास्तविक। कुछ लोगोंने इसमें ७. वैज्ञानिक और ८. अध्यवसान (एलेगौरिकल) भी जोड़ दिया है। वैज्ञानिक तो वास्तविकके अन्तर्गत है और अध्यवसान भी प्रतीकात्मकका ही एक रूप है।

## पाँच कौशल

आजतक विश्वमें जितना भी कथा-साहित्य रचा गया है, सबमें पाँच कौशलोंमेंसे किसी न किसीका आश्रय लिया गया है—

१. नायक-केन्द्र-रीति : जिसमें नायकको केन्द्र बनाकर सारी कथा उसीपर अवलम्बित की गई हो। इसमें इस क्रमसे घटनाओंका गुम्फन किया जाता है कि प्रत्येक भावी घटना नायक या नायिकाके किसी कार्य, विचार या कथनके परिणाम-स्वरूप प्रकट होती चले और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नायक या नायिकाका महत्त्व उस घटनामें दर्शकोंको प्रतीत होता चले। इस प्रकारकी कथाएँ प्रायः पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंको लेकर लिखी जाती हैं क्योंकि इन सबमें व्यापक रूपसे व्यक्तिका महत्त्व अधिक होता है, घटनाका कम। उनमें व्यक्तिके चरित्रसे घटनाका विकास होता है, घटना-चक्रसे व्यक्तिके चरित्रका विकास नहीं।

२. घटना-चक्र-रीति : इस रीतिमें घटनाओंका क्रम और घटनाओंके प्रकार इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उन घटनाओंके चक्रमें पड़े हुए व्यक्ति घटना-प्रवाहसे उलझकर, उसमें बहकर, उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्व और चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी कथाएँ कौशलकी दृष्टिसे सबसे अच्छी समझी जाती हैं। यूनानी त्रासदकारोंने भी व्यापक रूपसे यह बात मानी है कि 'भाग्यके विरुद्ध किसीका कोई वश नहीं चलता। वह अच्छेसे अच्छे व्यक्तिको विपत्तिमें डाल सकता है।' किन्तु नीतिकार इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि 'यदि विपत्ति न आवे और कष्ट न हो या मनुष्यको अपनी नैतिक सीमा लाँघनेका अवसर न मिले तो वह अपने चरित्रका विकास कैसे दिखा सकता है?' अतः घटना-चक्रकी रीतिसे बनी हुई कथावस्तुमें चरित्रोंकी तुलनात्मक अभिव्यक्तिके लिये भी अवसर रहता है और कुतूहलकी सृष्टि करनेके लिये भी पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता है। ऐसी कथावस्तुओंमें घटनाओंका क्रम इस प्रकार बाँधना चाहिए कि चलती हुई धारामें ऐसी स्वाभाविक

तथा अपरिहार्य बाधाएँ पड़ें जिनसे कथावस्तुका प्रवाह फिर जहाँका तहाँ पहुँच जाय और इस अद्भुत ढंगसे निर्वहण या फलागम हो कि उसकी कल्पना भी दर्शक न कर सकते हों। घटनाचक्र-रीतिसे वस्तु-निर्माण करनेवाले नाटककार असम्भावित और कृत्रिम घटनाओंका समावेश अधिक करते हैं, इसीलिये उनके नाटकोंकी पोल खुल जाती है और उनकी अस्वाभाविकता अमर्यादित तथा अभव्य होकर दर्शकोंको क्षुब्ध कर देती है।

घटनाचक्र-रीतिसे कथावस्तु-रचनाके तीन उपाय हैं—१. घटनाओंमें विरोधी व्यक्तियों और विरोधी परिस्थितियोंका समावेश कर लिया जाय, जैसे यदि कोई व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता हो तो उसका साथी प्रसिद्ध ठग या धूर्त रख दिया जाय, उसके परिवारमें कोई ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति खड़े कर दिए जायँ जो आर्थिक बाधा उपस्थित करें तथा अन्य सहव्यवसायियोंकी ओरसे भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। इस प्रकारकी बाधाएँ स्वाभाविक बाधाएँ कहलाती हैं। २. घटनाओंमें दैवयोगका सम्मिश्रण कर दिया जाय, जैसे व्यवसायके लिये जाते हुए गाड़ी उलटना, पुल टूट जाना, आँधी-पानी आदि। ३. नायकके स्वभावमें ही कुछ दोष आरोपित कर दिए जायँ जैसे वह सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होते हुए भी किसी विशेष वर्ग या दलसे ईर्ष्या करता हो।

३. तीसरी रीति है मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति : यह रीति केवल इन्हीं कथावस्तुओंके प्रथनमें काम आती है जहाँ व्यक्तियोंकी मानसिक भावनाओंमें द्वन्द्व या घात-प्रतिघात हो। यह प्रायः उन व्यक्तियोंसे सम्बद्ध कथाओंमें प्रयुक्त की जाती है जिनके सब पात्र परस्पर निकट सम्बन्धी हों और फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो गया हो जैसे रामायणमें वनवासकी कथा। कैकेयीने मन्थराके बहकानेसे भरतके लिये राज्य और रामके लिये वनवास माँगा था। दशरथ भी भरतको राज्य देनेमें सङ्कोच नहीं करते थे किन्तु रामको वनवास देना उन्हें दुःसह प्रतीत हो रहा था। कौशल्याको अपने पुत्रके वियोगका दुःख था किन्तु पिता और माताकी आज्ञाका उल्लङ्घन कराकर वे उन्हें अयोध्यामें रखनेको तैयार न थीं। भरत भी जब लौटकर आए तब उनके मनमें भी इसी बातका दुःख था कि लोग यही समझते होंगे कि इसमें भरतका हाथ है।

मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्तिकी रीतिपर रची जानेवाली कथावस्तुमें कथाकारको

तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—(क) पात्रोंके गुण, शील, पद, मर्यादा और रूढ़िसे प्रतिकूल कोई कार्य न हो। (ख) सबका व्यवहार और सम्वाद अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिके अनुकूल हो। प्रत्येक घटनाका पूर्वापर सम्बन्ध अत्यन्त क्रमिक, सङ्गत और पूर्वकी घटनाका स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम हो।

४. कुतूहल-निर्वाह-रीति : यह रीति प्राय: आजकलके सभी कथाकारों, नाटककारों, विशेषत: चलचित्रवालोंने अपनाई है। सस्ता भावावेग उत्पन्न करनेके लिये इस प्रकारकी कथावस्तु बड़ी सफल होती है। इन कथावस्तुओंमें सम्भव, असम्भव, अद्भुत तथा अप्रत्याशित घटनाओंका एक ढाँचा खड़ा करके इस प्रकारका क्रम बाँध लिया जाता है कि आदिसे अन्ततक कुतूहल बना रहता है। एक उदाहरण लीजिए — एक नायिकाको कोई प्रतिनायक आकर नायकके कक्षसे उठा ले जाता है, उसे वशमें करनेके अनेक प्रयत्न करता है, असफल होनेपर उसे यातनाएँ देता है। इसी बीच वह किसी कौशलसे निकल भागती है किन्तु किसी और दुष्टके हाथ पड़ जाती है। वहाँसे भी बचकर निकलती है तो वन या मरुभूमिमें निकल जाती है, जहाँ वह पुन: प्रतिनायकके फन्देमें जा पड़ती है किन्तु अचानक एक नदी पार करते हुए पुलपर नायकसे भेंट हो जाती है। नायक-प्रतिनायकका द्वन्द्व होता है और दोनों लड़ते-लड़ते नदीमें गिरनेतककी अवस्थामें पहुँच जाते हैं। दर्शकोंका कुतूहल और उनकी उत्सुकता चरम सीमातक पहुँच जाती है। नायिकाका क्रन्दन उस कुतूहलको और भी आवेगमय बना देता है और फिर अचानक प्रतिनायक नदीमें गिर पड़ता है, नायक-नायिकाका मिलन होता है, दर्शक सन्तोषकी साँस लेते हैं। ऐसी कथावस्तु दर्शकोंकी दृष्टिसे चाहे जितनी भी आकर्षक हो, कलाकी दृष्टिसे सर्वथा हेय है क्योंकि बहुतसी कष्टदायक, विषम और अवास्तविक परिस्थितियोंको नीचे-ऊपर गाँजकर इकट्ठा करना एक बात है और स्वाभाविक गतिसे घटनाओंके क्रमका सुसङ्गत निर्वाह करना विशेष कौशल है।

५. दृश्यानुकूल रीति : इस रीतिमें नाटककार दृश्यके अनुसार घटनाओंका क्रम बाँधता है। यह रीति प्राय: ऐसी वस्तुओंकी रचनामें काम आती है जहाँ एक ही दृश्यमें पूरी कथा या नाटक दिखानेकी योजना हो। आजकल योरोपमें तथा भारतमें ऐसे नाटक और उपन्यास बहुतसे लिखे गए हैं जो समूचे एक

ही दृश्यपर दिखाए जाते हैं। स्वयं अभिनवभरतने वाल्मीकि और देवता नाटकोंकी कथावस्तु इसी रीतिपर रची हैं। इसमें नाटककारको इस कौशलसे कथावस्तु रचनी पड़ती है कि नाटककी विभिन्न घटनाएँ एक ही स्थानपर दिखाई जा सकें। यह रीति बहुत कठिन है और बहुत बड़े कुशल कलाकार ही इसे सँभाल सकते हैं।

### कवि-स्वातन्त्र्य

कवि या नाट्यकारको काल्पनिक कथा-वस्तुकी रचनामें तो पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओंमें उसे कुछ बन्धनके साथ चलना पड़ता है। कथाकारको इतना ही अधिकार दिया जा सकता है कि वह नायकके चरित्रके विकासके लिये स्वतन्त्र तथा सम्भावित घटनाओं और पात्रोंकी कल्पना करे अथवा इतिहासमें जिन बातोंका केवल सङ्केत है उनके लिये पात्रों और घटनाओंकी योजना कर ले। शिवाजीने किसी मुसलिम महिलाको मुक्त करके उसके पतिके पास भेज दिया था। इस कथामें उस महिलाके वन्दिनी बननेकी परिस्थिति और मुक्त होनेकी बातचीत कल्पित की जा सकती है। किन्तु कथाकारको यह अधिकार नहीं है कि वह शिवाजीकी मन:स्थितिको तीव्रतम व्यक्त करनेके लिये यह दिखावे कि शिवाजी जब औरङ्गज़ेबके दरबारमें पहुँचे तो औरङ्गज़ेब डरके मारे झुककर उनके पैरों पड़ गया और थरथर काँपने लगा या शिवाजी जब मिठाईकी टोकरीमें छिपकर निकले तो औरङ्गज़ेबके पुत्रको भी पकड़ते ले गए। तात्पर्य यह है कि कथाकारको इतना ही अधिकार है कि ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओंके वृत्त और चरित्रका निर्वाह करते हुए उनके गुणोंका उत्कर्ष दिखलावे। लक्ष्मणको मेघनादके डरसे भागते हुए दिखाना, सीताके वियोगमें रामका डाढ मारकर रोना या पद्मिनीका आत्मसर्पण करनेकी बात सोचना आदि दिखाना कथाकारके अधिकारके बाहर की बात है। हाँ, यदि इतिहासकारने किसी घटना, चरित्र या व्यक्तिके सम्बन्धमें अशुद्ध या भ्रमात्मक निर्णय दिया हो तो उसे सप्रमाण उलटने और सत्यकी स्थापना करनेका कथाकारको पूर्ण अधिकार है, जैसा अभिनवभरतने अपने पुष्यमित्र और रज़िया नाटकोंमें किया है।

## एक, अनेक तथा सङ्गमधारा कथावस्तु

कथावस्तु-कौशलकी एक और दृष्टिसे मीमांसा की जा सकती है और वह है कथावस्तुके भीतर चलनेवाली कथाधाराओंकी दृष्टिसे। कुछ कथाओंमें एक ही नायक कुछ घटनाओंका केन्द्र बनकर कथाके फलागमका केन्द्र होता है। ऐसी कथाएँ 'एकधारा कथा' कहलाती हैं और उनकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तु होती है। किसी कथामें एक ही फलकी प्राप्तिके लिये दो या दोसे अधिक व्यक्ति प्रयत्नशील रहते है, दोनोंमें द्वन्द्व होता है और अन्तमें इष्ट नायकको सफलता प्राप्त होती है। ऐसी कथावस्तु भी एकधारा कथावस्तुके अन्तर्गत ही आती है।

कभी-कभी एक ही कथाके अन्तर्गत कई नायक अलग-अलग प्रकारकी फल-प्राप्तिके लिये अलग-अलग चेष्टा करते हैं किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्धमें किसी प्रकारका व्याघात या विरोध नहीं होता। ऐसी कथावस्तु अनेकधारा-वस्तु कही जाती है। भवभूतिका 'मालतीमाधव' तथा शेक्सपियरका 'ऐज़ यू लाइक इट' (जो तुम चाहो), इसी श्रेणीके हैं। इनमें दो प्रेम-कहानियाँ चलती हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसी भी कथावस्तुएँ हो सकती हैं जिनमें प्राप्य फल कुछ और हो और प्राप्त कुछ और ही हो जाय। एक नाटकमें यही दिखाया गया है कि एक व्यक्ति प्रयत्न करता था कि अमुक कन्यासे मेरा विवाह हो। प्रयत्नके लिये जाते हुए सहसा वह एक नगरमें टिकनेको बाध्य हो जाता है और जिस भवनमें वह टिकता है उसके स्वामीकी पुत्रीसे उसका प्रेम-व्यापार चलने लगता है। साथ ही कुछ राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि वह नगर छोड़कर नहीं जा सकता और उसी कन्यासे विवाह कर लेता है। ठीक यही घटना उस दूसरी कन्याके साथ भी होती है। वह भी पहले तो कुछ दिनोंतक अपने पहले प्रेमीकी प्रतीक्षा करती है किन्तु सहसा अपनी माता और भाईकी मृत्यु हो जानेसे एक हितचिन्तक पड़ोसीसे विवाह कर लेती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु भी अनेकधारावस्तुके ही अन्तर्गत आती है।

एक प्रकारकी और भी अनेक-धारा कथावस्तु होती है जिसमें दो या दोसे अधिक कथा-धाराएँ अलग-अलग चलती हैं किन्तु अन्तमें सब आकर इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे बहुत-सी नदियाँ एक सङ्गमपर मिलकर एक-धारा हो

जाती हैं। ऐसी कथावस्तु अनेक-धारा-सङ्गम कथावस्तु कही जाती है। इसी प्रकारके अन्तर्गत वे सब कथाएँ भी हैं जिनमें किसी एक कार्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंमेंसे कुछ तो ईर्ष्यावश कार्यसिद्धिमें बाधक होते हैं और कुछ साधक होते हैं; किन्तु बाधक लोग भी जब देखते हैं कि बाधा सफल नहीं हो सकती तब वे भी साधक बन जाते हैं। ऐसी सब कथावस्तुएँ अनेक-धारा-सङ्गमके अन्तर्गत आ जाती हैं जैसे किसी सङ्गमपर नदियाँ भी मिलती हैं और नाले भी।

## गम्भीर और हास्यात्मक कथावस्तु

अरस्तूने कथावस्तुके या काव्यके दो भेद किए हैं—गम्भीर और हास्यात्मक और उन्हीं दो भेदोंसे उसने क्रमशः त्रासद और प्रहसनका विकास माना है। दोनोंमें उसे विशेष अन्तर यही बताया कि 'गम्भीरमें श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्योंका वर्णन किया जाता है और हास्यजनकमें निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका प्रदर्शन।' किन्तु कथावस्तुको इस प्रकारके भेदोंमें नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि गम्भीर कथावस्तुमें भी हास्य तथा व्यंग्यके प्रसङ्ग अत्यन्त सुन्दरताके साथ लाए जा सकते हैं। इसी प्रकार हास्य तथा व्यंग्य कथावस्तुमें भी गम्भीर बातोंका समावेश किया जा सकता है। कथावस्तुमें कहाँ गम्भीरता लाई जाय और कहाँ हास्य उत्पन्न किया जाय यह सब कथाकारके कथा-निर्वाहपर अवलम्बित है। अतः ऐसा कोई भेद नहीं बनाया जा सकता।

## विशिष्ट कथावस्तु

बहुतसी कथावस्तुएँ ऐसी होती हैं जिसमें नाटकके प्रयोगका ध्यान रक्खा जाता है, जैसे गीति-नाट्यके लिये जो नाटक लिखा जायगा उसकी कथा-वस्तुमें सम्वादात्मक पद्य बहुत कम होंगे, गीतोंकी अधिकता होगी, अभिनयात्मक पद्य अधिक संख्यामें होंगे और नृत्यके लिये विशेष अवसरोंका विधान होगा। इसी प्रकार छाया-नाटकों, मूकाभिनयों तथा श्रव्य-नाटकों (रेडियो-फीचर) आदिके लिये उनकी प्रकृतिके अनुसार कथावस्तुकी रचना करनी होगी। कुछ नाटकोंमें कोई विशेष प्रभाव दिखानेके लिये भी कथा-वस्तुकी रचना की जाती है। कभी ऐसी भी चित्र कथा-वस्तुएँ हो सकती हैं जिनमेंसे किसीमें नायक या नायिका ही न हो, किसीमें सम्वाद ही न हों और यदि हों भी तो अत्यन्त सूक्ष्म। कुछ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें

कथाका आधार ही न हो जैसे एक नाटक है—'सड़कपर पन्द्रह मिनट'। इसमें एक सड़कपर पन्द्रह मिनट खड़े व्यक्तिने क्या-क्या देखा, इसीका चित्रण है। इसमें न तो कोई उद्देश्य है, न नायक है, न नायिका है, न रस है, न कुतूहल, फिर भी अवस्थानुकृतिर्नाट्यके अनुसार वह नाट्य अवश्य है। कभी-कभी ऐसी भी कथा-वस्तु हो सकती है जिसमें पूरी कथा तो दिखा दी गई हो किन्तु परिणाम दर्शकोंकी कल्पनापर छोड़ दिया गया हो। यद्यपि इस प्रकारकी कथावस्तु दर्शकोंके मनमें खीझ उत्पन्न कर देती है परन्तु फिर भी नाटककार इसीमें अपना कौशल समझता है। आजकलके बहुतसे समस्या-नाटक इसी प्रकारकी कथावस्तुपर रचे जाते हैं जहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विषमताओंके कुछ चित्र नग्न रूपमें इस प्रकार उपस्थित किए जाते हैं कि उनका समाधान करना नाटककार स्वयं समस्या समझता है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि जनता उसका समाधान ठीक उसी प्रकार अपने मनमें करे जैसा नाटककार अपने मनमें चाहता है।

### कथा-वस्तुकी गति

नायकके गुण-दोषके अनुसार कथावस्तु तीन गतिसे चलती है—ऊर्ध्वगति, अधोगति और समगति। जहाँ कथावस्तु नायकके गुणोंकी ही योजना करती है वहाँ कथावस्तुकी ऊर्ध्व गति होती है। जहाँ नायकके दोषोंकी योजना ही की जाती है वहाँ कथावस्तु अधोगतिवाली होती है और जहाँ नायक सर्वसाधारण मानवका-सा व्यवहार करता है वहाँ कथा-वस्तुकी गति सम होती है।

अरस्तूने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—साधारण और गूढ। जिसमें बिना किसी परिवर्त्तन या अभिज्ञानके ही निर्वहण या फल-लाभ हो वह साधारण और जिसमें परिवर्त्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके योगसे फल-लाभ होता हो उसे गूढ कहते हैं। इसे ही सरल भाषामें कहा जा सकता है कि 'जहाँ किसी नायक या किसी घटनाको बिना किसी बाधाके सीधे ऊपर उठाते हुए फल-लाभतक पहुँचा दिया हो या गिराते-गिराते असफलता-तक पहुँचा दिया हो वे कथाएँ साधारण या निम्न कोटिकी होती हैं। गूढ इतिवृत्त वे होते हैं जिनमें नायकके चरित्रका अर्थात् उसके गुण-दोषोंका उतार-चढ़ाव होता रहे और फिर गुणोंकी समष्टिसे उसका अभ्युत्थान हो अथवा

घटनाओंका क्रम इस प्रकारसे गूँथा जाय कि अनेक सम-विषम परिस्थितियोंके बीच डूबते-उतराते, लड़ते-झगड़ते, सफल-असफल होते इष्ट परिणामकी प्राप्ति हो। इस क्रमसे कथावस्तु तीन प्रकारकी होगी—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कथावस्तु वह है जिसमें सम परिस्थितिसे नायक या घटना-चक्रका सम-विषम-बाधित विकास हो और आद्यन्त कुतूहलका निर्वाह करते हुए अन्तमें सहसा किसी स्वाभाविक संयोगसे इष्ट परिणाम प्राप्त हो। मध्यम कथावस्तु वह है जिसमें कथावस्तुकी ऊर्ध्वगति हो, फिर अधोगति हो और समपर आकर उसकी समाप्ति हो जाय। अधम कथावस्तु वह है जो केवल उर्ध्व गतिवाली हो या केवल अधोगतिवाली ही।

ऊपर दिए हुए कथावस्तुके विभिन्न प्रकारोंकी मीमांसा कर चुकनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि कथा-वस्तुका निर्माण करते समय नाटककारको घटनाओंकी समता और विषमताओंका गुम्फन इस प्रकार करना चाहिए कि स्वाभाविकता नष्ट न होते हुए घटनाक्रम नितान्त अपरिहार्य और आवश्यक जान पड़े। इसके लिये तीन सिद्धान्त बताए गए हैं—

१. कथामें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनोंका समुचित समावेश हो अर्थात् पात्रोंकी भी मानसिक क्रियामें द्वन्द्व हो और घटना-क्रममें भी।

दैवी और आसुरी सम्पत्तिका अनादि कालसे चला आता हुआ द्वन्द्व ही इसका आधार है। सद्वृत्ति और असद्वृत्ति, गुण और अवगुण दोनोंका सामान्य कलह इस द्वन्द्वका आधार हो सकता है। लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहङ्कार, द्वेष आदि विकार मनुष्यके सत्त्वगुणसे सदा युद्ध करते आए हैं और क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है इसलिये सात्त्विक पुरुषमें भी कभी-कभी रज और तमका आविर्भाव हो सकता है। इस रज और तमके आविर्भावसे अनेक क्लेश और दुःख उत्पन्न हो सकते हैं। इसी सिद्धान्तके आधारपर अनेक प्रकारके द्वन्द्वोंकी रचना की जा सकती है और नाटकीय वस्तुको गूढ और कुतूहलजनक बनाया जा सकता है।

२. कथाकारको अपने नाटक या उपन्यासके लिये कथावस्तुकी रचना करनेके पूर्व यह भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि उसका नायक कैसा है, नायिका कैसी है, कथा-विषय किस प्रकारका है, उसे उपस्थित करनेका प्रभावशाली रूप क्या होगा अर्थात् वह एकांकी नाटक गीत-नाट्य, छाया-नाट्य, उपन्यास, कहानी आदिमेंसे किस रूपमें प्रस्तुत करना है। किस

प्रकारके रङ्गमञ्चपर, किस अवसरपर, किस उद्देश्यसे और किस प्रकारकी जनताके लिये उसकी रचना करती है।

३. जो नाटककार विशेष रङ्गशाला, अवसर या किसी विशेष वर्गके लिये कथा नहीं लिखते उन्हें देखना चाहिए कि विभिन्न रुचिकी जनता अमुक रीतिके अनुसार रचे हुए संविधानकमें रस लेगी या नहीं। इस रस लेनेके सम्बन्धमें एक बात हम ऊपर बता आए हैं कि नाटकमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनों होने चाहिएँ। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जबतक उसमें अद्भुतके तत्त्वका सम्मिश्रण नहीं होगा, एक धारामें बहती हुई घटना सहसा किसी बाधाके उपस्थित होते हुए किसी दूसरी धारामें न मुड़ चलेगी तबतक लोक-विनोद सम्भव नहीं हो सकता।

## कथावस्तु-रचनाके उपाय

कथावस्तु या संविधानककी व्यवस्थित रचनाके लिये दो उपाय बताए गए हैं—एक है दृश्य-क्रम-संविधानक, दूसरा है घटनाक्रम- संविधानक। दृश्य-क्रम-संविधानकमें जिन दृश्यों या स्थानोंपर घटना दिखानी हो उन्हें क्रमसे लिख लिया जाय और फिर उन स्थानोंमें प्रस्तुत किए जानेवाले पाठ और घटनाएँ जिस क्रमसे लानी हों उस क्रमसे भर दी जायँ। दूसरेमें जितनी मुख्य घटनाएँ जिस क्रमसे लानी हों उन्हें क्रमसे अलग-अलग लिख लिया जाय और फिर उन घटनाओंको अधिक शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक बनानेके लिये जिन पात्रोंकी कल्पना करनी हो या जो पात्र लाने हों उनका क्रमिक उल्लेख कर दिया जाय, जो नई घटनाएँ भरनी हों उनका विवरण दे दिया जाय और यदि किसी पात्रसे कोई विशेष बात कहलानी हो तो वह भी भर दी जाय। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये घटनाक्रम-संविधानक बनाना चाहिए। अन्य सब प्रकारके नाटकोंके लिये दृश्यक्रम-संविधानक ही ठीक है। दोनों प्रकारके संविधानकोंका निर्माण करते समय सब पात्रोंके आने और जाने तथा विशेष क्रिया करनेका विवरण होना चाहिए और कथाका कितना भाग किस एक अङ्क, अध्याय और दृश्यमें किस क्रमसे दिखाया जायगा इसका भी ब्यौरा होना चाहिए।

### घटना-गुम्फन-कौशल

दूसरे प्रकारका कौशल कथाके घटना-क्रमके गुम्फनमें है। कुछ लोग साधारण तिथि-क्रम या घटनाके अस्तित्व-क्रमसे कथाकी रचना करते हैं, किन्तु कौशलकी दृष्टिसे वह ठीक नहीं माना जाता। इसीलिये कौशल-शास्त्रियोंने यह कहा है कि 'कथा कहीं बीचसे सहसा उठानी चाहिए और फिर उससे पूर्वकी घटना विशेष प्रसङ्गके द्वारा उपस्थित कर देनी चाहिए।' इसीको उपन्यासों और नाटकोंमें पश्चाभास कौशल (फ्लैश बैक टेकनीक) कहा है, जिसका विवरण हम उपन्यासों और नाटकोंके विवरणमें देंगे। इसी प्रकार कुछ लोग अन्तसे कथा चलाकर प्रारम्भतक उसे लाते हैं जैसे भवभूतिने अपने उत्तर राम-चरितमें चित्रशालाके दृश्यमें पूर्वकी सब घटनाओंकी उद्धरणी करा ली या हरिऔधजीने प्रिय-प्रवासमें यशोदा, नन्द, गोप, गोपी, आदिसे कृष्णका सम्पूर्ण चरित्र कहला डाला।

घटना-गुम्फन-कौशलके कुछ सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए गए हैं—

१. अनावश्यक, असङ्गत तथा असम्बद्ध घटनाएँ न लाओ।

२. अनावश्यक रूपसे कथाकी वस्तुको जटिल न बनाओ।

३. आकस्मिक घटनाओंको ऐसे ढङ्गसे प्रस्तुत करो कि कथाकी प्रकृतिके अनुसार वे अविश्वसनीय न प्रतीत हों।

४. कम घटनाओंको ही ऐसे क्रमसे चलाओ कि अन्ततक कुतूहल बना रहे।

५. कुतूहल-निर्वाह ही घटना-गुम्फन-कौशलकी कसौटी है।

### परिस्थिति-संयोग

इधर प्रकृतिवादी (नैचुरलिस्ट) साहित्यमें भाग्यके निश्चित परिणाम दिखानेके बदले कुछ लोगोंने आकस्मिक घटना-चक्रका प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि 'कभी-कभी कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं कि जो भाग्यको भी बदल देती हैं' अर्थात् एक मनुष्य जब सुखका भोग करनेके लिये पूर्ण रूपसे सन्नद्ध होता है उसी समय कोई आकस्मिक घटना आकर उसमें बाधा दे देती है। यही परिस्थिति-संयोग ही आकस्मिक संयोग (कैज़ुवल फ्रौर्चुइटी) भी कहलाता है जैसे हार्डीने अपने उपन्यासोंमें किया है।

कभी-कभी कोई उपन्यासकार या नाटककार ऐसी परिस्थिति या घटना

लाकर खड़ा कर देता है जिसमें कोई ऐसा विरोध या ऐसा द्वन्द्व होता है कि पाठकका सम्पूर्ण भाव उसीपर केन्द्रित हो जाता है क्योंकि उसीमेंसे कथाके मुख्य रस और घटनाएँ प्रादुर्भूत होती हैं।

परिस्थितिका भयङ्कर तथा दुःखद परिणाम वह होता है जहाँ कोई बाह्य शक्ति जैसे भाग्य या जीवनकी समस्याएँ सहसा अनिच्छित दुःखद अन्त उपस्थित कर देती हैं।

## अलौकिक ( मर्वैल्यू )

साधारणतः यह माना जाता रहा है कि 'अलौकिक'का प्रयोग साहित्यमें नहीं करना चाहिए किन्तु अलौकिकतासे पूर्ण साहित्यका संसारमें अम्बार लदा हुआ है। इसलिये सत्रहवीं शताब्दिके समीक्षकोंने अलौकिक वस्तुओं, दृश्यों और प्रयोगोंके लिये कुछ नियम बना दिए थे। ब्वालोने अलौकिकके प्रयोगकी आज्ञा देते हुए कहा है कि 'वे सत्यतुल्य होनी चाहिएँ।' पर साथ ही उसने यह भी कहा है कि 'वीर-काव्य और नाटकमें ईसाई धर्म-सम्बन्धी अलौकिक तत्त्वोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए।' किन्तु यह नियम ठीक नहीं है। संसारमें अनेक अलौकिक घटनाएँ होती रहती हैं। अतः उनका प्रयोग अनिवार्य है।

## भाव-योजना ( मोटीवेशन )

उन सब परिस्थितियोंके समन्वय अथवा ऐसी परिस्थितियोंके समन्वय करनेकी कलाको मोटीवेशन कहते हैं जो किसी पात्रके कृत्योंको समर्थनीय कर देती है। यह कार्य पूर्व घटनाओंको विवेकपूर्ण आधार देकर किया जाता है। किसी सङ्घर्ष या उसके अन्तर्गत कथाके प्रेरणात्मक कारणको ही मोटीवेशन कहते हैं, जिसपर कार्य करके कोई व्यक्ति अपनी प्रकृतिके अनुसार उसको दूसरा रूप दे देता है। यह कहा जाता है कि सभी गम्भीर कृतियोंमें प्रत्येक पात्र ठीक ही होता है अर्थात् वह ठीक कार्य ही करता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी मोटीवेशन ठीक है और पाठक यह मान लेते हैं कि यदि उन परिस्थितियोंमें यह व्यक्ति होता तो इसमें दिखाए हुए सब कार्य स्वाभाविक रूपसे ही परिणत होते। कुछ विनोदपूर्ण कृतियोंको छोड़कर ग्राहक ऐसी प्रत्येक कृतिके सम्बन्धमें यह विश्वसनीयता अवश्य चाहता है कि कथाकी मुख्य भावना उचित प्रकारसे प्रेरित हुई है।

### विषय-चयनका कौशल

विषय-चयनका वास्तवमें कोई कौशल नहीं है। यह तो कविके अपने अनुभव, सम्प्रेक्षण, रुचि, प्रवृत्ति और भावनापर निर्भर होता है। जो विचार, घटना, वस्तु या भाव कविको प्रभावित करे, उसीको वह अपने काव्यका विषय बना सकता है। किन्तु कभी-कभी कुछ रचनाएँ केवल विषयके कारण भी प्रसिद्ध हो गई। अतः विषय-चयनका भी कम महत्त्व नहीं है। उसके लिये भी एक विशेष सिद्धान्त है 'निर्णायक क्षण' का।

### निर्णायक क्षण ( मोमेन्ट डिसीज़िव ) का सिद्धान्त

बहुतसे विद्वानोंने इस विषयपर बहुतसा शास्त्रार्थ किया है कि काव्यका विषय छाँटनेके लिये क्या कसौटी बनाई जा। अरस्तू, आर्नोल्ड तथा ऐर्सकाइनने तीन कसौटियाँ बताई हैं—

१. प्रस्तार ( मैग्नीट्यूड ), अर्थात् कथा बड़ी हो, वह अनेक परिस्थितियों और घटनाओंसे समन्वित हो।

२. उच्च गम्भीरता ( हाइ सीरियसनेस ) अर्थात् उसमें कोई गम्भीर जीवन-सम्बन्धी तत्त्व हो।

३. दूरी ( रिमोटनैस ) अर्थात् उसमें अपने युग, बहुत पहले या अपने प्रदेशसे दूरका वर्णन हो।' किन्तु यह सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है। लौञ्जिनस, पाश्चिज़ी और स्वैरवादियोंने कहा है कि 'अन्तःस्फुरणाके सङ्गीतमें भावात्मक व्याख्याके काव्यक्षणके लिये कोई भी विषय उपयुक्त है।' किन्तु वास्तवमें विषय ऐसा हो जिसके साथकी घटनाएँ ऐसी मार्मिक स्थलोंसे भरी हों, जो मानव-मात्रको आकृष्ट और प्रभावित कर सकें। यह मार्मिकता पात्रोंके चरित्रपर अधिक अवलम्बित होती है।

### पात्र-संयोजन-कौशल

पीछे हम जितने प्रकारके पात्रोंका विवरण दे आए हैं उनमेंसे 'किस प्रकारके पात्र हमारी कथाको अधिक आकर्षक या कुतूहल-जनक बना सकते हैं' इसका चयन ही कथाकारकी सबसे बड़ी बुद्धिमानी है और इस चयनके पश्चात् उनका उचित संयोजन ही सबसे बड़ा कौशल है। इस संयोजनके लिये एक अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है—

'ऐसे पात्र अधिक प्रयोगमें लाए जायँ जो अस्थिर-चित्त और जटिल प्रकृतिके हों, तभी काव्यमें कुतूहलका निर्वाह हो सकता है।'

कुछ आचार्योंने कहा है कि 'कथाके मुख्य पात्र रहस्यपूर्ण ( मिस्टीरियस ) हों जिनकी रहस्यमयताका ज्ञान पाठकको प्रारम्भमें ही करा दिया जाय किन्तु रहस्योद्घाटन अन्तमें ही हो।' कुछ लोग अनेक पात्रोंकी योजना करते और उनका बाह्य विवरण अधिक देते हैं। कौशलकी दृष्टिसे यह अत्यन्त हेय कार्य है। कथाकारको पात्रके सम्बन्धमें स्वयं उतना ही विवरण देना चाहिए जितना अन्य प्रकारसे व्यञ्जित न किया जा सके। पात्र ग्रहण करते समय साहित्यकारको यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि 'वह जिन पात्रोंका प्रयोग करे उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, सङ्गति, संस्कार, शील, गुण आदिको देखकर घटनाओंकी परिस्थिति और पात्रोंकी मर्यादाके अनुरूप चित्रित करे।' इसका विवेचन पीछे 'साहित्यके विषय'के अन्तर्गत किया जा चुका है।

## जड़में मानवीय भावका आरोप ( पैथेटिक फेलसी )

साहित्यमें एक कौशल यह भी चला है कि जड़ पदार्थको मानवीय भावोंसे ओतप्रोत करके चित्रित किया जाता है। यह आरोप किसी एक संक्षिप्त वाक्य या विशेषणसे लेकर पूरे काव्यतकमें हो सकता है, जैसे—हम कह सकते हैं 'निर्दय पत्थर, उदार हिमालय, बयारसे मस्त झूमती हुई शाखा', इसी प्रकार गङ्गाजीपर एक पूरा काव्य भी लिख सकते हैं जिसमें गङ्गाजीको सजीव मूर्तिवती देवीके रूपमें मान लेते हैं। इस प्रकारका प्रयोग भारतमें भी हुआ है और योरोपमें भी प्लेटोसे लेकर स्वैरवादियोंतकमें मिलता है जिसे वहाँ ( पेन्सीशिज़्म ) कहते हैं। उसका एक दूसरा रूप है 'सर्वजीववाद' ( हाइलोज़ोइज़्म ) जिसमें मानते हैं कि संसारके सब पदार्थोंके जीव होता है। आजकल हिन्दीमें छायावादी कवियोंने इस प्रकारके बहुत प्रयोग किए हैं जिनमें इसी प्रकार छाया, किरण आदि जड़ पदार्थोंको सजीव मानकर सम्बोधित किया गया है। इसी विवेचनमें रस्किनने चार प्रकारके व्यक्ति बताए हैं—

१. जो अनुभव करनेमें तो असमर्थ होते हैं किन्तु समझते ठीक हैं। इन लोगोंके लिये नदीके किनारे उगे हुए वसन्ती गुलाबका कोई महत्त्व नहीं है।

२. जो अनुभव करनेमें तो समर्थ हैं किन्तु सोचनेमें अशक्त हैं इसलिये शुद्ध रूपसे देख नहीं पाते। इनके लिये वसन्ती गुलाब किसी परीका कवच है या परित्यक्ता कुमारी है।

३. वह कवि जो अनुभव करनेमें भी समर्थ है, सोचनेमें भी सशक्त है और देखता भी सत्य रूपसे है।

४. महात्मा।

### स्थान-संयोजन

यद्यपि स्थान-संयोजन भी कथामें आवश्यक है किन्तु उसके लिये कौशल अपेक्षित नहीं है। वह तो कथाके साथ स्वतः आता चलता है। उस सम्बन्धमें केवल यही बात कथाकारको स्मरण रखनी चाहिए कि 'कथामें अधिक स्थानोंका परस्पर दूरस्थ, असम्भव तथा असङ्गत स्थानोंका वर्णन नहीं देना चाहिए। स्थानोंका उतना ही विवरण देना चाहिए जितना आवश्यक हो और वह विवरण भी अत्यन्त सटीक तथा सत्य होना चाहिए।' क्योंकि पाठककी प्रवृत्ति कथामें रहती है, वर्णनमें नहीं। कथाकी धारा बनाए रखनेके लिये वह वर्णन छोड़कर आगे बढ़ जाता है और लेखकका प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

### प्रारम्भ-कौशल

कथाके प्रारम्भ करनेमें भी कौशलका प्रयोग किया जाता है। कोई तो सीधे मङ्गलाचरणसे, कोई लम्बी-चौड़ी भूमिका, परिचय या प्रस्तावना देकर, कोई आकस्मिक घटना प्रस्तुत करके, कोई पात्रका वर्णन करके और कोई स्थानके वर्णनसे कथा प्रारम्भ करते हैं। प्रायः सब देशोंके प्रारम्भिक उपन्यासोंमें अन्तिमका ही अधिक प्रयोग हुआ है, जिनमें स्थानों तथा दृश्योंका इतना अधिक वर्णन हुआ है कि कथा अत्यन्त अरुचिकर और नीरस हो जाती है। कभी-कभी कुछ लेखक घटनाके बदले किसी पात्रका मानसिक द्वन्द्व उपस्थित करके ही कथा प्रारम्भ कर देते हैं। प्रारम्भ करनेके सम्बन्धमें आचार्योंका मत है कि 'कोई भी कथा चाहे वह प्रबन्ध-काव्यके रूपमें प्रस्तुत की जाय, चाहे नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके रूपमें किन्तु उन सबका प्रारम्भ किसी ऐसी आकस्मिक घटनासे करना चाहिए जिसकी ओर पाठक या ग्राहककी चित्तवृत्ति सहसा केन्द्रित हो जाय।' इस प्रारम्भमें ही कथाके द्वन्द्वका बीज

इस प्रकार डाल देना चाहिए कि वहींसे पाठक या दर्शककी वृत्ति कथामें चिपक जाय। यही प्रारम्भ करनेका एकमात्र श्रेष्ठ कौशल है।

## निर्वहण-कौशल

जिस प्रकार कथाके प्रारम्भका आकर्षक होना आवश्यक है, उसी प्रकार कथाके उपसंहारका भी, क्योंकि उसी उपसंहारके समन्वित प्रभावका संस्कार लेकर ही पाठक आत्म-चिन्तन और आत्म-भावन करता है। अत: उपसंहारके सम्बन्धमें भी लेखकको सजग रहना चाहिए। प्राय: कथा लिखते-लिखते, उसके अन्ततक पहुँचते-पहुँचते लेखकका धैर्य छूट जाता है और वह उसे समाप्त करनेकी हड़बड़ीमें पड़ जाता है। यही मानसिक कारण है कि अधिकांश कथाकारोंकी कथाओंके परिणाम ठीक नहीं हुए हैं। यों तो कथाकार जो परिणाम दिखा दे वही ग्राहकको ग्राह्य हो जाता है किन्तु विवेकशील ग्राहक उस परिणामको देखकर कभी-कभी यह भी सोचता है कि 'कथाकारको यह अन्त नहीं दिखाना चाहिए था।' इसी भावनासे काव्य-न्याय (पोएटिक जस्टिस) का सिद्धान्त निकला है जिसका तात्पर्य यह है कि 'कथाके अन्तमें सज्जनका पतन या नाश और दुष्टका उत्कर्ष तथा वैभव नहीं दिखाना चाहिए।' इससे ग्राहकको तो निराशा और चोट लगती ही है, विश्व-चेतनामें जो सत्य और न्यायके उत्कर्षकी उदात्त भूमिका व्याप्त है वह भी लड़खड़ाकर गिर पड़ती है।

कुछ लेखक कथाओंका आकस्मिक अन्त करते हैं और परिणाम निकालनेका भार ग्राहकपर छोड़ देते हैं। कुछ सुखमय या दु:खमय परिणाम उत्पन्न तो कर देते हैं किन्तु उसका औचित्य नहीं सिद्ध कर पाते। कुछ लोग धीरे-धीरे परिणाम दिखाते हैं। इस सम्बन्धमें एक अत्यन्त व्यापक उपसंहार-कौशलका यह सिद्धान्त माना जाता है—

'परिणाम सुखद हो या दु:खद, किन्तु उसके औचित्य और अपरिहार्यत्वके पूर्ण प्रमाण देकर उसे ऐसे क्रमसे उपस्थित किया जाय कि ग्राहकको विश्वास हो जाय कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम सम्भव ही नहीं हो सकता था।'

सबसे अधिक कौशल-पूर्ण कथाएँ वे समझी जाती हैं जिनमें अप्रत्याशित परिणाम दिखाया जाता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह अधिक स्वाभाविक

नहीं है क्योंकि इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि कथाकारके अतिरिक्त सभी लोग मूर्ख हैं। अतः परिणाम केवल कुतूहल-जनक हो, कुछ उत्सुकता जगाकर प्रस्तुत किया जाय और उचित हो, जिससे पाठकको यह सन्तोष हो कि 'जो हुआ वह ठीक हुआ।' वह यह न कहे कि 'राम-राम ! यह क्या हो गया ?' उसे मानसिक असन्तोष और व्यथा न हो।

कुछ लोग परिणामके सम्बन्धमें अत्यन्त असावधान रहते हैं और या तो वे पहले ही परिणाम बता देते हैं या परिणाम के अवसरपर वर्णन अधिक करने लगते हैं, या एकसी घटनाओंकी आवृत्ति करते हैं या पात्रोंकी अधिकतासे परिणाम अस्पष्ट कर देते हैं या परिणाम दिखाकर उसका औचित्य सिद्ध करनेके लिये दार्शनिक विवेचन करते हैं। यह सब उपसंहारका संहार है।

इस सम्पूर्ण विवेचनका तात्पर्य यह है कि 'रचना-कौशलके लिये कोई नियम या सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।' जिस लेखकका ज्ञान जितना विस्तृत होगा वह अपनी कथाको उतना ही कौशल-पूर्ण बना सकेगा। कौशल-योजनाका तात्पर्य यही है कि 'कथाकार अपनी कथामें जितनी ही— १. नवीनता, २. सम्भव तथा सङ्गत आकस्मिकता और ३. कुतूहलपूर्ण एकाग्रता उत्पन्न करेगा उतनी ही अधिक वह रचना कौशलपूर्ण होगी।'

तथ्यातिरेकवादियों ( सर-रीअलिस्ट्स ) का मत है कि 'कथामें अपनी मानस अपरिच्छिन्न चेतन-चिन्तन-धारा ( स्ट्रीम ऑफ़ कौन्शशनेस ) का ही निरूपण करना चाहिए।' कुछ लोग चरित्र-चित्रणको, कुछ सूक्ष्म विवरणको, कुछ व्यापार-योजनाको, कुछ वास्तविक चित्रणको और कुछ लोग नाटकीयताको कौशल मानते हैं किन्तु ये सब तो कथा प्रस्तुत करनेके कौशलके विभिन्न साधन हैं, कौशल नहीं।' कुछ लोगोंका मत है कि 'साहित्यका उद्देश्य भाषाकी शिक्षा देना अर्थात् भाषाका संस्कार करना है अतः कौशलके फेरमें न पड़कर भाषाका सौन्दर्य व्यक्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि कथा तो चाहे जैसी हो, वह कुतूहलजनक होगी ही। मानव-मस्तिष्क सदासे कथाके प्रति सरुच रहा है अतः उसके बनाव-शृङ्गारके फेरमें नहीं पड़ना चाहिए।' यद्यपि भाषाका प्राधान्य साहित्यमें आवश्यक है किन्तु 'कथा जबतक आकर्षक न होगी तबतक भाषाकी ओर प्रवृत्ति कैसे होगी ?' अतः कथा-कौशलका संयोजन अत्यन्त आवश्यक है।

इसी सम्बन्धमें कुछका मत है कि 'कौशलकी दृष्टिसे यही महत्त्वकी बात है कि कवि कथाको चाहे जैसे चलावे किन्तु मर्मस्पर्शी स्थलोंका चित्रण प्रभावशीलता और सूक्ष्मदर्शिताके साथ करे।' भारतीय प्रबन्धकारोंका यही कौशल रहा है। वे केवल सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी स्थलोंका तो विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ करते रहे, शेष स्थलोंको साधारण—'आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया' शैली से चलाते रहे।

साहित्यके विभिन्न रूपोंके लिये क्या कौशल अपेक्षित हैं, इसकी मीमांसा हम उन-उन रूपोंके विवेचनके साथ-साथ करते चलेंगे।

# शैली

रचना - कौशलका विवेचन कर चुकनेके पश्चात् स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि साहित्यके रूपोंको विभिन्न रचना-कौशलकी योजनाके अनुसार व्यक्त करनेके लिये भाषाका संयोजन किस प्रकार किया जाय। इसी भाषा-संयोजनके वैचित्र्यको ही शैली कहते हैं। यों तो काव्य या साहित्यके रूप—नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता भी अभिव्यक्ति-शैलियाँ ही हैं और जिसे हम रचना-कौशल कह आए हैं वह भी विषय प्रस्तुत करनेकी शैली ही है किन्तु शैली ( डिक्शन ) शब्दका रूढ अर्थ है भाषा-शैली । इस शैलीका विवेचन करनेसे पूर्व हमें साहित्यके रूप, सामग्री और शैलीका पारस्परिक सम्बन्ध जान लेना चाहिए ।

( फ़ौर्म या स्ट्रक्चर )

किसी वस्तुका वास्तविक रूप वह है जो अनुभव करनेपर उसकी लम्बाई, चौड़ाई, रङ्ग, बनावट आदिका बोध करावे अर्थात् उस बनावटका बोध करावे जिसमें किसी वस्तुके या अनुभवके सब तत्त्व प्रतीत हों। रूपकी भावना समीक्षाके क्षेत्रमें बहुत पुरानी है तथा पूर्व और पश्चिम दोनोंमें व्याप्त है। यह भावना विश्वकी रचनाके सम्बन्धमें भी है कि ईश्वरने जब यह संसार रचा तो इसे और इसके प्रत्येक पदार्थको रूप और गुण प्रदान किया। अर्थात् जो वस्तु उत्पन्न की जानेवाली है, उसका मानसिक दर्शन या बिम्ब ही रूप या उस वस्तुका रूप-सिद्धान्त है। प्लेटोने सब वस्तुओंके रूपों या भावोंके सम्बन्धमें बताया है कि 'उनके भौतिक अस्तित्वसे अलग उनका एक मानसिक अस्तित्व है जो उनकी अनुकृति है।' अरस्तू मानता है कि 'हमारा मस्तिष्क मानवीय कलाकृतियोंमें दिखाई पड़नेवाले रूपों या आकृतियोंका भण्डार है।' किन्तु मन भी तो बाह्य

अनुभवोंकी वास्तविकतासे ही रूप ग्रहण करता है इसलिये किसी भी कलाकृतिका रूप उसकी बाह्य वास्तविकताका अनुकरण होता है। आजकल रूप शब्दका प्रयोग इस अर्थमें किया जाता है कि 'वह किसी कलाकृतिका विश्लेषण या वर्णन होता है' और यह अर्थ प्लेटो और अरस्तूके बताए अर्थसे मिलता-जुलता भी है अर्थात् इसके द्वारा किसी वस्तुका वैशिष्ट्य या बनावट या उसके रूप या आकारका अनुभव बतलाया जाता है।

## रूप और सामग्री

अरस्तूकी प्रणालीके अनुसार रूप उन चार कारणोंमेंसे एक है जो पूर्णतः किसी वस्तुके अस्तित्वकी गति बताता है। शेष कारणोंमेंसे दो अर्थात् कर्त्ता और उद्देश्य तो उस वस्तुसे बाहरके हैं किन्तु रूप और सामग्री उसके भीतरी कारण हैं। सामग्री वह है जिसे लेकर कोई वस्तु बनाई जाय और रूप वह प्रत्यक्ष वस्तु है जो उस सामग्रीसे बनी हो। यदि हम एक अँगूठीको लें तो कह सकते हैं कि सोना और हीरा इसकी सामग्री है। उस सामग्रीने ही उँगलीमें पहने जानेवाले आभूषणका रूप धारण कर लिया। इसलिये अरस्तूके मतसे रूप केवल बाह्य आकार-प्रकार ही नहीं वरन् वह तत्त्व भी है जो उसे आकार प्रदान करता है अर्थात् वह केवल बनावट ही नहीं वरन् बनावटका वह सिद्धान्त भी है जिसके कारण उसे वह विशेषता प्राप्त होती है। अरस्तूकी दृष्टिसे केवल बनावट-मात्र ही रूप नहीं है वरन् वह सब साधन भी रूप ही है जो उस विशेष आकारको व्यवस्थित करता है अर्थात् सोने या हीरेको अँगूठीके रूपमें ढालना-मात्र ही रूप नहीं वरन् वह सिद्धान्त भी रूप ही है, जिसके अनुसार वह अँगूठी किसी उँगलीमें ठीक नापसे बैठाने, हीरेको उचित स्थानपर लगाने, तथा उसमें अनेक प्रकारकी चित्रकारी आदि करनेकी क्रियाओंको प्रेरणा देकर उसके रूप-निर्माणमें योग देता है। इसलिये वह मानता है कि 'अर्थ या अभिव्यक्तितत्त्व तथा बनावट या रचना वास्तवमें रूपात्मक तत्त्व हैं। किन्तु अर्थ स्वयं रचनायुक्त होते हुए और रचना करनेकी शक्ति होते हुए भी स्वयं एक बनावटका प्रकार है।' अरस्तू आदि किसी कलाकृतिमें एक ही नहीं, अनेक रूप मानते हैं अर्थात् उन अनेक रूपात्मक तत्त्वों ( रचनाओं और अर्थों ) की जटिलता मानते हैं जिन सब ( रचना, अर्थ, वैशिष्ट्य या गुण ) का समन्वय ही उस पूर्ण

कृतिका वास्तविक रूप है। यह पूरा रूप आदर्श रूपसे पूरी कृतिमें व्याप्त होता है अर्थात् वह पूरी कृति अर्थयुक्त और रचना-युक्त होती है। साथ ही जिसे अर्थ प्रदान किया जाता है तथा जिसकी रचना की जाती है वह भी रूप है। सामग्री और रूप दोनों ही किसी कृतिमें सब स्थानोंपर होते हैं यद्यपि किसी वस्तुको देखकर मन उसे सामग्री न समझकर वह बना हुआ पदार्थ समझेगा जिसमें रचना भी होती है, अर्थ भी। जहाँ भी रूप होगा, वहीं सामग्री होगी और जहाँ सामग्री होगी, वहीं रूप भी होगा। अतः सामग्री और रूपको भिन्न समझनेके लिये एक बड़ी मानसिक क्रिया करनी होगी, क्योंकि वास्तविक वस्तुमें इन दोनोंका समन्वय होता है और इनके संयोगसे ही कोई वस्तु बनती है।'

अरस्तूने 'रूप और सामग्री'का यही शुद्ध अर्थ और भाव बताया है। इन्हें ठीकसे समझा जाय तो वर्त्तमान विश्लेषणके परिणामोंसे इनका सामञ्जस्य बैठ जायगा। रूप और सामग्रीके सम्बन्धमें कुछ लोगोंने अत्यन्त भ्रामक धारणाएँ फैला दी हैं। कुछ लोग किसी साहित्यिक कृतिकी सामग्रीको उसका विषय ही समझ बैठे हैं और इस दृष्टिसे रूप तो वह वस्तु रह जाती है जो अर्थ निकालनेपर बचती है अर्थात् उसका नग्न, बाहरी ढाँचा विशेषतः ध्वनिकी रचना। इसीलिये प्रायः बहुतसे लोग 'सामग्री'के बदले 'तद्गत विषय' ( कन्टेन्ट ) शब्दका प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थितिमें रूप तो आकस्मिक साधन या आवरणमात्र रहता है और उसी रूपमें महत्त्वका समझ लिया जाता है। तब लोग उसके बदले तत्त्व ( सबस्टेन्स ) शब्द जोड़ देते हैं। किन्तु यह शब्द वास्तवमें विचार और अभिव्यक्तिका बोधक है। शैली शब्द कभी अभिव्यक्ति या कभी रूपके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इन शब्दोंके प्रयोगकी जटिलताके कारण विचारकोंके लिये इनका रूप निर्धारित करना कठिन हो गया है। इसलिये ठीक मार्ग यही है कि विचारक लोग यह समझ लें कि इन शब्दोंसे कई बातें खुलती हैं, एक नहीं।

### रूप और सामग्रीका सम्बन्ध

रूप और सामग्रीमेंसे प्रथम अर्थात् रूपको यदि हम रूढ अरस्तू-वादी भेद समझ लें तो 'रूप' वह गुर है जो वस्तुओंके रूपका विश्लेषण करनेके लिये प्रयुक्त किया जाता है। इस गुणके अनुसार रूप और सामग्रीके सम्बन्धमें ये दो प्रश्न पूछे जा सकते हैं—

१. अमुक वस्तुमें वह क्या सामग्री है जिससे वह वस्तु बनाई गई है ?

२. वह क्या वस्तु है, जो इस सामग्रीसे बनी है ?

इनमेंसे प्रथम प्रश्नका साधारण उत्तर यह है कि 'जिस सामग्रीसे कलाकृति बनाई जाती है वह भाषा है, क्योंकि कोई भी कवि अपने भाव और भाषाके आधारपर ही कोई रचना करता है। किन्तु यह भाषा ही अकेली वह रूपहीन सामग्री नहीं है जिससे कवि काम लेना प्रारम्भ करता है। वह तो स्वयं कुछ अंशमें वह कलाकृति है, जो रूपोंने सामग्रीमेंसे मानवीय धारणाके अनुसार अपनेको बना लिया है। भाषामें मूल सामग्री ध्वनि है। इसीको विशेष चयनके साथ रूप दिया जाता है, इसमें भेद किया जाता है (स्वर और व्यञ्जनका), इसमें रचना की जाती है ( पद और वाक्य ), इसमें विशिष्ट अर्थ डाले जाते हैं, जो कुछ स्वाभाविक और कुछ रूढ होते हैं और इन सबकी कुछ रूढ व्यवस्थाओंके अनुसार इनका संयोजन किया जाता है। इसलिये जब कोई लेखक लिखना प्रारम्भ करता है तो उसकी सामग्री स्वयं रूपात्मक तत्त्वोंसे बनी होती है। यद्यपि किसी भी कृतिमें ये रूपात्मक तत्त्व रहते हैं फिर भी किसी पूर्ण कृतिमें रूपात्मक तत्त्व उस सामग्रीके अंशमात्र हैं जो वह प्रदान करना चाहता है या व्यक्त करना चाहता है। उसकी कृतिका रूप वह रूप है जिसे वह इन भाषात्मक रूपोंके समूह और शुद्ध सामग्रीके साथ ढालकर उसे ऐसा आकार प्रदान करता है कि उससे स्वयं कोई अर्थ व्यक्त हो सके, अर्थात् वह जितना कुछ वाणी-प्रयोग करता है, उस सबका समूह ही वह रूप है। जबतक वह कृति समाप्त नहीं हो जाती तबतक अपनी भाषापर जो वह नया रूप चढ़ाता है वह केवल एक विचार या भावमात्र है जो धुँधले रूपसे उसके मनमें अवस्थित है अर्थात् बनाई जानेवाली वस्तुका वह भाव-मात्र होता है। इस प्रकारके रूपात्मक विचार केवल विचारोंके प्रेत हैं, वे ऐसे भाव नहीं हैं जो व्यक्त किए जा सकें, उनके लिये कोई चिह्न नहीं है, उनका कोई अनुवाद नहीं है वे विचार नहीं हैं, भावना हैं अर्थात् बनाई जा सकनेवाली वस्तुकी भावना हैं जिनका बाह्यीकरण उस वस्तुके बनानेसे सम्भव हो सकता है। यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि मस्तिष्कमें वे जो प्रेरणा उत्पन्न करते हैं वह कुछ बात कहनेके लिये नहीं वरन् केवल रचनेके लिये होती है। फिर भी किसी भी कवितामें कुछ अभिव्यक्त तो किया ही जाता है इसलिये अपूर्ण विश्लेषणके लिये यह मान लेना सरल है कि जो कुछ अभिव्यक्त होता है

उसमें कविताकी वह विशिष्ट सामग्री प्राप्त होती है, जिससे कोई कविता या कोई भाषण बनाया जाय वही यह होती है जो उसमें कहा जाता है अर्थात् किसी वास्तविकता या अनुभवके सम्बन्धमें कोई विचार या भावना या वह वास्तविकता या स्वयं अनुभव। वास्तवमें इसमें कुछ थोड़ा-सा भ्रम हो सकता है, जिसे स्पष्ट कर देना उचित है। कवि अपने चारों ओर व्याप्त वास्तविकताका अनुभव करता है। यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसे केवल कवि ही नहीं, सब अनुभव करते हैं। यह वास्तविकता अत्यन्त अराजकता-पूर्ण भ्रान्तिके रूपमें उसके आगे उपस्थित होती है और उसका मस्तिष्क इसे व्यवस्थित करता हुआ इस अराजकता-पूर्ण सामग्रीमें शान्ति और नियमकी स्थापना करता है। यह उसकी दूसरी प्रक्रिया है। तत्पश्चात् वह उसे भाषामें व्यक्त करना चाहता है अर्थात् अपने विचारको वह इस व्यवस्था या नियमसे बाँधता है। यह तीसरी प्रक्रिया है। किन्तु ये सब प्रक्रियाएँ अलग-अलग हैं यद्यपि किसी न किसी रूपमें ये तीनों प्रक्रियाएँ उपस्थित अवश्य रहती हैं। कवितामें विचारकी अभिव्यक्ति केवल अर्थोंकी रचनाके रूपमें रहती है। कवितामें अर्थ स्वयं है ही, इसलिये न तो विचार, न वास्तविकता ही ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्धमें चिन्तन किया जाय। कवि वास्तवमें किसी वास्तविकता या वास्तविकताके किसी अनुभवके अनुसार नहीं रचता, न अपने विचारों या भावोंसे रचता है, वरन् अंशतः शब्दोंमें प्राप्त होनेवाले अर्थोंसे रचता है क्योंकि वह शब्दोंसे कविता बनाता है और शब्दोंमें ही अर्थ होते हैं।

### रूपमान (पैटर्न)

कभी-कभी जो अनेक रूपोंकी सृष्टि की जाती है उसका आधार कोई रूपमान होता है। उस व्यवस्था या विस्तृत योजनाको रूपमान या साँचा कहते हैं, जिसका ठीक-ठीक अनुकरण किया जा सके। प्रकृति और कला दोनोंमें ऐसे असंख्य साँचे मिलते हैं जिन्हें मिलाकर बड़े-बड़े रूप बनाए जा सकते हैं। यदि किसी कृतिमें बहुत अधिक ज्ञात साँचोंका प्रयोग किया जाता है तो वह कृति पुरानी या बासी समझी जाती है। यदि उनका कमसे कम प्रयोग किया जाय तो वह तथ्यातिरेकवादी कही जा सकती है।

सावयव रूप ( ऑर्गेनिक फ़ौर्म )

अँगरेजी समीक्षा-पद्धतिमें कौलरिजने रूप ( फ़ौर्म ) को दो प्रकारका बताया—एक सावयव और दूसरा भावात्मक या मिकैनिक। कौलरिजने कहा है कि 'कोई भी रूप उस समय भावात्मक ( मिकैनिक ) होता है जब किसी दी हुई सामग्रीको हम ऐसा पूर्वनिश्चित रूप दे देते हैं जो उस पदार्थके तत्त्वोंसे समुद्भूत नहीं होता।' यदि हम गीली मिट्टी लेकर उसे कोई ऐसा रूप दे देते हैं जो हम उसके सूखनेके पश्चात देखना चाहते हैं। सावयव रूप उसमें स्वाभाविक रूपसे होता है। वह स्वयं जैसे-जैसे बढ़ता है, अपने भीतरसे ही रूप धारण करता चलता है और उसके विकासकी पूर्णता भी उसके बाह्य रूपकी पूर्णताके समकक्ष ही होती है जैसे यह वास्तविक वस्तु है और ठीक ऐसा ही रूप है। समीक्षाकी दृष्टिसे यह सिद्धान्त भले ही ठीक हो किन्तु इसमें रूप और सामग्रीका भेद कुछ अस्पष्ट हो गया है। सौभाग्यवश टी० एस्० ईलियटने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है 'कुछ रूप कुछ भाषाके लिये ठीक होते हैं, कुछके लिये नहीं। इसलिये सभी रूप किसी एक युगके लिये ठीक होते हैं, दूसरेके लिये नहीं। एक अवस्थामें एक पद किसी एक वाणीके ठीक और प्राकृतिक रूपमें ढलकर एक साँचा बन जाता है किन्तु वह पद अपनी पूर्णताके समय स्थिर हो जाता है अर्थात् साधारण बातचीतसे उसका सम्बन्ध टूट जाता है क्योंकि उसके साथ पिछली पीढ़ीकी मानसिक भावना जुटी रहती है। वह पद उस समय अयोग्य हो जाता है, जब केवल उन्हीं लेखकों-द्वारा उसका प्रयोग होता है जो उन्हींके भीतर रचना करनेकी प्रेरणा न पा सकनेके कारण अपने तरल भावोंको बने-बनाए ऐसे साँचेमें ढाल देते हैं, जिसमें ठीक बैठनेकी वे निरर्थक आशा करते हैं।' ईलियटने इस सिद्धान्तको औचित्य कहा है अर्थात् न तो इसमें सामग्रीके तत्त्वोंमेंसे रूप निकलनेकी बात आती है ( जो असम्भव है ) और न इसमें स्वाभाविकताकी बात है। समस्या तो यह है कि उसके सब रचना-तत्त्व और अर्थ सचमुच सङ्गत और शुद्ध मेलके साथ बैठ जाने चाहिएँ अर्थात् उसका क्रम और उसकी सङ्गति ठीक बैठनी चाहिए।

रूप शब्द दृश्य-कलाओंके लिये ठीक लग जाता है। किसी पुस्तकका बाहरी आकार-प्रकार उसकी बाहरी संगतिके लिये पुस्तकके अनुरूप होना चाहिए। कभी-कभी प्रकार या जातिके लिये भी रूप शब्दका प्रयोग हुआ है जैसे—प्रबन्ध-रूप या नाटकीय रूप। इन मुख्य जातियोंके बदले इसका प्रयोग

उपजातियोंके लिये भी किया जा सकता है जैसे नाटकका प्रहसन-रूप या गीतका मुक्तक रूप। इस प्रकार रूपके और भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हैं।

## सहृदय सम्बन्ध (कौम्युनिकेशन)

कुछ लोगोंका मत है कि 'लेखकको ग्रन्थ लिखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जो कुछ लिख रहा है, वह पाठकके लिये लिख रहा है और वह पाठक भी ऐसा है जिसे प्रत्येक बार भली-भाँति समझना पड़ेगा।' यद्यपि कोई भी लेखक अपनी शैली, अपने वाक्य-विन्यास और अपनी विवरण-पद्धति छोड़ नहीं सकता इसलिये पाठकसे सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेनेमें उसे स्वाभाविक कठिनाइयाँ हो सकती हैं, फिर भी लेखकका यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी कठिनाइयोंको पार करे और अपने लेखको इस प्रकार व्यवस्थित करनेका प्रयत्न करे कि उसमें और पाठकमें एक प्रकारकी आत्मीयता स्थापित हो जाय। इस प्रकारकी आत्मीयता प्रायः वाक्-प्रगल्भतासे स्थापित की जाती है जैसे डिकेन्सने की है या पाठकको अपना विश्वास-पात्र बनाकर स्थापित की जाती है कि 'वास्तवमें जो कथा कही जा रही है वह सुननेके योग्य है।'

इस प्रकारकी आत्मीयता स्थापित करनेके लिये 'पारस्परिक सौहार्द' और और 'आगेके लिये आशा' ये ही दो मुख्य शक्तियाँ हैं। किन्तु लेखक और पाठकके बीच कागजके पृष्ठपर लिखे हुए या छपे हुए शब्द ही पुलका काम करते हैं। अतः शब्दोंके अर्थका यह महत्त्व होना चाहिए कि वह जहाँतक हो सके वहाँतक लेखकके भावों और विचारोंको पाठकके कानतक पहुँचा दे। एस्किमो लोगोंके लिये जो बाइबिलका अनुवाद किया गया उसमें जहाँ-जहाँ 'लेम्ब, बकरीका बच्चा' शब्द आया वहाँ-वहाँ बेबी-सील या सील 'मछलीका बच्चा' शब्द रख दिया गया क्योंकि कोई भी एस्किमो किसी प्रकार यह जान ही नहीं सकता कि 'बकरीका बच्चा क्या होता है।' लेखक और पाठकके इस सम्बन्धको स्थिर करनेके लिये दूसरा साधन है सरलीकरण जैसे—आइन्स्टाइनकी 'भौतिक विज्ञानपर लोकप्रिय पुस्तक' या एच० जी वेल्सका 'इतिहासकी रूप-रेखा।' यदि पाठक पृष्ठपर लिखे हुए शब्दोंको ग्रहण कर सका तो वह लेखकमें विश्वास करने लगता है और लेखकके

प्रति सौहार्दका अनुभव करता है। यदि इतना हो गया तो लेखक और पाठकके बीच सीधा और पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। यदि दूसरी ओर पाठक ऊब जाय और यह समझने लगे कि 'यह रचना अर्थहीन या अविश्वसनीय है या लेखकके भावों और शब्दोंसे उसका मेल नहीं खाता' तो यह सम्बन्ध टूट जाता है। इसीलिये 'सरलता' शैलीका प्रधान गुण समझा जाता रहा।

## रूप और अभिव्यक्ति

किसी भी बातको व्यक्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम सामग्रीपर रूपका इस प्रकार आरोप करें कि रूपका यह आरोप उस सामग्रीको कुछ अभिव्यक्त करनेकी शक्ति दे दे। इसीसे रूप शब्दके प्रयोगसे उठ खड़ी होनेवाली झञ्झटें प्रारम्भ हो जाती हैं क्योंकि किसी वस्तुमें अभिव्यञ्जकता एक रूपात्मक तत्त्व है इसलिये उसे हम रूप ही समझ सकते हैं अतः कुछ अभिव्यक्त करनेकी क्रियाके कारण कोई सामग्री रूपयुक्त सामग्री (इन्फ़ौर्मेमेटर) के द्वारा कुछ कहनेकी क्रियाका भी बोध दे सकती है। इस एकात्मताके कारण सौन्दर्य-शास्त्रने जो सिद्धान्त दिए हैं उससे बहुत बातें ज्ञात होती हैं।

कुछ लोग केवल अभिव्यक्तिको ही कलाकारकी एकमात्र क्रिया मानते हैं और पूर्ण कृतिमें केवल अभिव्यञ्जकता एक गुण मानते हैं। यों तो जब सामग्री और रूप दोनों एकमें मिल जाते हैं तब एकता हो ही जाती है किन्तु कोई भी बात चाहे जितनी पूर्णताके साथ कही गई हो किन्तु 'क्या कहा गया है' और 'क्या उसे अभिव्यक्त करता है' ये दोनों भिन्न रहेंगे। जो वस्तु अभिव्यक्त की गई है और जो वस्तु उसे अभिव्यक्त करती है इस दोनोंका सामञ्जस्य असम्भव है क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। यदि कोई अभिव्यक्ति अपनेको अभिव्यक्त करनेवाली वस्तुसे एकात्म हो जाय तो वह उसकी अभिव्यक्ति करनेके बदले स्वयं वह वस्तु ही हो जायगी। विषय और शब्दका यह आवश्यक भेद अभिव्यक्त करनेकी क्रियामें किसी प्रकारकी कमी नहीं करता क्योंकि यद्यपि स्वैरवादी अभिव्यञ्जनावादमें अभिव्यक्तिके उद्देश्यको एक असम्भव मेल बना दिया है किन्तु वह मेलमें कुछ सङ्गत नहीं जान पड़ता क्योंकि किसी भी वस्तुमें वह वस्तु और रूप मिले ही रहते हैं। जब किन्हीं जटिल वस्तुओंमें हम कुछ विशेषता देखते हैं तो वह

केवल सामग्री और रूपका समन्वय-मात्र नहीं होता वरन् उस रूपके द्वारा प्रस्तुत अनुभव होता है और इस अनुभवमें अभिव्यञ्जकता सबसे मूल्यवान् तत्त्व हो सकती है। किसी भी कलाकृतिकी रचनाका सत्य उद्देश्य, विषय और अभिव्यक्ति-साधन या भाषाकी असम्भव एकात्मता नहीं होती वरन् पृथक् रूपात्मक तत्त्वोंका पूर्ण सम्बद्ध वस्तुमें सङ्गत बैठाव होता है और इसी क्रियाकी प्राप्ति ही वास्तविक कलाकारकी अभिव्यक्ति होती है। हम किसी पूर्ण कृतिमें यह नहीं देखते हैं कि उसमें सामग्री और रूप दोनों मिल गए हैं या नहीं, हम तो वह सुन्दर रूप देखते हैं जो सामग्रीके साथ मिल गया है। कलाकार अपनी कृतिको चाहे जिस अवस्थामें छोड़ दे फिर भी रूप और सामग्री उसमें होगी ही और वह मिली हुई होगी। प्रश्न इतना ही होगा कि 'वह रूप केवल रेखा चित्र-मात्र है या किसी वस्तुका पूर्ण सुन्दर रूप है।'

## रूप और शैली

कुछ काम करनेकी एक निश्चित परिपाटी, ढङ्ग या रीतिको शैली कहते हैं। शैलीको हम किसी प्रकारकी प्रक्रियासे भिन्न नहीं समझ सकते। रूपसे भेद दिखानेके लिये यही पर्याप्त है क्योंकि रूप तो वस्तुओंमें ही होता है, क्रियाओंमें नहीं किन्तु किसी वस्तुकी रचनाका विश्लेषण करनेमें जो एक रूपात्मक तत्त्व है वही उस वस्तुके अस्तित्वकी क्रियाका विश्लेषण करनेमें शैलीका तत्त्व हो सकता है। वस्तुओंमें जो रूपात्मक तत्त्व होते हैं वे प्रक्रियाओंके ही व्यञ्जक होते हैं, जैसे चित्रकलामें तूलिका-सञ्चालन आदि क्रियाएँ स्वयं उन प्रक्रियाओंके रूप हैं जिनके द्वारा किसी वस्तुकी रचना हुई है। किसी तन्त्रीवादककी मनमानी तानोंके रूपमें ऐसी अवस्थाएँ या प्रक्रियाकी घटनाएँ भी हो सकती हैं जो उस वस्तुको समझनेके लिये आवश्यक हों। गोथिक मेहराबमें एक रूप होता है। रोमन मेहराबमें दूसरा रूप होता है। यदि हम दोनोंको इस दृष्टिसे देखें कि ये किसी स्थानको मेहराब-द्वारा घेरते हैं तो उनमें रूपात्मक भेद न होते हुए भी एक क्रियाको पूर्ण करनेके दो ढङ्ग या दो शैलियोंका भेद तो है ही। इसलिये शैलीका विचार करनेमें कुछ वस्तु तो सर्व-सामान्य होती है किन्तु प्रक्रिया अर्थात् जो कार्य किया जाता है, जो भिन्न और पृथक् होता है अर्थात् उसको करनेका ढङ्ग ही शैली कहलाता है।

किसी साहित्यिक कृतिमें शैली ढूँढ़ना तबतक असम्भव है जबतक हम यह न मान लें कि उस कृतिमें या उस कृतिसे कुछ किया जा रहा है अर्थात् वह केवल एक वस्तुमात्र नहीं है वरन् किसी प्रक्रियाका तत्त्व या स्वरूप है। यह तबतक असम्भव है जबतक हम यह न समझ लें कि यह रचना किसी और प्रकारसे या शैलीसे रची जा सकती है या रची जा सकती थी। जहाँ एक बार भी हमने प्रक्रियाकी बात सोची और उसकी खोज करने लगे वहीं रूपात्मक तत्त्व ही शैली-सम्बन्धी तत्त्व बन जाते हैं। अर्थात् किसी वस्तुमें जिसे हम रूप समझते हैं वही उस प्रक्रियामें शैली हो जाता है जिसमें उस वस्तुका निर्माण होता है, क्योंकि कविताको प्रक्रियाके भीतर बैठाना गद्यकी अपेक्षा कठिन है इसलिये हम शैली शब्दका प्रयोग कविताके बदले गद्यके लिये करते हैं। यह मत इसलिये मान्य नहीं है कि कवितामें भी शैलीके भेदोपभेद होते हैं और वे एक कविताको दूसरी कवितासे पृथक् समझनेमें सहायता भी देते हैं।

### देमेत्रियसका मत

शैलीपर फ्लेरमके देमेत्रियसकी लिखी एक पुस्तिका है। यह समझा जाता है कि वह पहली शताब्दि ईसवीमें लिखी गई थी। उसने शैलीके चार भेद माने हैं—१. उदात्त ( एलीवेटेड ), २. सुरुचिपूर्ण तथा ललित ( ऐलिगैन्ट ), ३. सरल ( प्लेन ) और ४. ओजस्वी ( फ़ोर्सफ़ुल )।

### रीति ( मैनर )

सोलहवींसे अठारहवीं शताब्दितक किसी साहित्यिक कृति या उसके चित्रणके ढङ्गको 'मैनर' कहते थे। आगे चलकर उस साधारण ढङ्गको कहने लगे जिसमें किसी ग्रन्थका विकास किया जाता था अर्थात् उसकी शैली, जिसे उसकी सामग्रीसे भिन्न समझना चाहिए।

किसी व्यक्तिका ढङ्ग जीवनकी ओर उसकी प्रवृत्तिमें प्रतिबिम्बित होता है जैसे प्रसन्न, सनकी, मस्त, अर्धविक्षिप्त या उदासीन। इस प्रकारकी प्रवृत्ति या तो अभ्याससे बन जाती है या किसीकी मनोवृत्तिका परिचय देती है। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि किसी ग्रन्थके लिखते समय भी उससे लेखककी वृत्तिका ज्ञान हो अर्थात् शैली या ढङ्ग कृत्रिम भी हो सकता है, जिसमें कवि किसी विशिष्ट सम्प्रदायका अनुगमन भी कर सकता है।

## शैली

प्रारम्भमें शब्द या किसी वस्तुके नामसे एक आदेश या अर्थका बोध होता था। कहा जाता है कि शब्द ही विचारोंके वस्त्र हैं। लौञ्जिनसने कहा है 'सुन्दर शब्द ही व्यवहारतः और वस्तुतः भावनाके प्रकाश हैं।' मोपासाँने कहा है 'शब्दोंके आत्मा होता है। अधिकांश पाठक शब्दोंसे केवल अर्थमात्र चाहते हैं और कुछ नहीं, किन्तु यह आवश्यक है कि शब्दोंके आत्माको खोजकर प्रकट किया जाय जो अन्य शब्दोंके सम्पर्कमें आकर व्यक्त होता है और जो कुछ पुस्तकोंमें अनल्प आलोकके साथ उसे भासमान करता है।' इस प्रवृत्तिका परिणाम यह हुआ कि लोग शब्दोंके ही पीछे पड़ गए और आरिस्तोफ़नेसने अस्कुलसपर टिप्पणी करते हुए कहा—'भले आदमी! कमसे कम मनुष्योंकी भाषाका तो प्रयोग करो।' बेकनने भी इसीका समर्थन करते हुए कहा था—'विद्याकी सबसे पहली हत्या तो तब होती है जब लोग शब्दका अध्ययन करते हैं, विषयका नहीं।'

वास्तवमें शैलीको दो कसौटियोंपर प्रयोग करना चाहिए। पहली बात तो यह है कि कथा या विषय, उसका भाव, उद्देश्य, उसके पाठक तथा उसका प्रयोग करनेवालोंकी दृष्टिसे उसमें औचित्य होना चाहिए और दूसरे कुतूहलकी रक्षा करनेके लिये उसमें अनेकरूपता होनी चाहिए। समस्या यह है कि यह निश्चय किया कैसे जाय कि कौनसे शब्द ठीक बैठते हैं। औस्कमका छुरा यहाँ हमारी सहायता कर सकता है। वह कहता है कि 'जबतक किसी असाधारण शब्दके प्रयोगका पर्याप्त कारण न हो तबतक परिचित शब्द ही सर्वश्रेष्ठ होता है। असाधारण या अप्रयुक्त शब्द चाहे जितना भी सटीक हो किन्तु वाक्यमें प्रयुक्त हो जानेपर पाठक का सारा ध्यान उस शब्दमें केन्द्रित हो जाता है और भाव लुप्त हो जाता है।' दूसरी ओर साधारण शब्द बहुत साधारण हो सकता है जो किसी एक धारामें पड़कर लुप्त हो जायगा और विचारका स्थान अभ्यास ले लेगा। इस सङ्कटका ध्यान रखते हुए जौबर्टने साधारण शब्दका महत्त्व समझाया है—'परिचित शब्दोंके द्वारा शैली पाठकके अन्तसको बेधती है। उन्हींके द्वारा बड़े-बड़े विचार लोक-प्रचलित होते हैं और उसी प्रकार टकसाली बनकर सत्य-निष्ठाके साथ सबके द्वारा स्वीकृत होते हैं, जैसे किसी परिचित छापके चाँदी और सोनेके सिक्के।' ये परिचित शब्द

उस व्यक्तिमें आत्म - विश्वास उत्पन्न करते हैं, जो अपने भावोंके स्पष्टीकरणके लिये उनका प्रयोग करते हैं क्योंकि इस प्रकारके प्रयोगसे यह प्रतीत होता है कि 'यह मनुष्य जीवनको समझता है और उसके सम्पर्कमें है।' इस प्रकारके शब्द शैलीको स्पष्ट भी बना देते हैं। वे घोषणा करते हैं कि 'लेखकने इस विचार या भावनाको भली-भाँति विचारा है और उसने इस विचार या भावनाको इतना आत्मसात् कर लिया है कि साधारण शब्दोंमें ही वह अपनी बात कह डालता है क्योंकि जो कुछ वह कहता है वह अधिक सत्य प्रतीत होता है। दूसरी कोई भी शैली परिचित शब्दावलीसे बढ़कर स्पष्ट नहीं हो सकती और स्पष्टता स्वयं सत्यका लक्षण है। सम्पूर्ण लेखोंका आधार ही परिचित शब्द हैं और ये उद्देश्यके अनुसार भिन्न रूपोंमें नमक-मिर्चके साथ प्रयुक्त होते हैं।'

### शब्दोंका भावात्मक प्रयोग

आई० ए० रिचार्ड्स आदिने शब्दोंमें दो प्रकारके भेद माने हैं—

१. भावानुगत (इमोटिव), जिसके अन्तर्गत हमारी वृत्तियोंकी अभिव्यक्ति या प्रेरणाएँ होती हैं।

२. प्रकीतात्मक ( सिम्बौलिक ), जो किसी कलाको जाननेके लिये सहायक या साधन हो। इनमेंसे भावानुगत शब्द अधिक आदिम हैं। जानवरोंमें जो संकटके समय चिल्लाहट या प्रेमके समय अनेक शब्द होते हैं उससे इसका सीधा सम्बन्ध है। बच्चोंकी चिल्लाहट या रोना भी इसी श्रेणीमें आता है। सङ्केतके द्वारा जो हम बात समझाते हैं वे सब मुख्यतः भावानुगत (इमोटिव) ही होते हैं। अतः शब्दोंका प्रयोग या तो बोलनेवालेकी आन्तरिक परिस्थितिके लिये साधन होता है या श्रोता अथवा सम्बोध्यकी भावनाओंको प्रभावित करनेके लिये होता है। इसी दूसरे अर्थके कारण ही यह माना जाता है कि 'कलामें भाषाका यही मूल कार्य है' और यही प्रचारमें पहुँचकर भयानक शस्त्र हो सकता है।

वर्त्तमान अर्थविज्ञानके अध्ययनके अनुसार ये दो विभाग भी परिसीमित हो गए हैं। रिचार्ड्सने चार प्रकारके अर्थ बताते हुए कहा है कि 'भाषाके उतने ही कार्य हैं जितने हम सुविधानुसार समझते जा सकें।

शैली ( स्टाइल )

शैली या स्टाइल शब्द लातिनके स्ताइलस ( कलम ) शब्दसे निकला है जो मोम लिपटे हुए पट्टोंपर लिखनेके काम आता था। पीछे चलकर यह शब्द कलमके बदले सुन्दर लिखनेवालेके लिये प्रयुक्त होने लगा। धीरे-धीरे उसके अर्थका विकास हुआ और आजकल समीक्षक-द्वारा किसी लेखकके गुणके स्वीकृत या अस्वीकृत होनेके लिये ही प्रयुक्त होता है।

यद्यपि यह स्टाइल शब्द लातिनसे लिया गया किन्तु यूनानियोंने उसके लिये दूसरे शब्दोंका प्रयोग करके इसके सम्बन्धमें कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे। भारतवर्षमें रीतिके नामसे शैलीका प्रचलन हुआ किन्तु वह कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध हुआ। यद्यपि उनपर विशेष विचार भी किया गया उसमें देश-भेदसे पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी आदि रीतियोंकी चर्चा चलाकर उसे समाप्त कर दिया गया किन्तु यूनानमें शैलियोंके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त चले उनसे पूर्व भाषण-शास्त्रके सम्प्रदायों और सौन्दर्य-शास्त्रपर लिखे हुए लेखोंमें इस विषयपर होनेवाले सब शास्त्रोंकी नींव डाल दी थी।

शैलीके सम्बन्धमें जो दो मुख्य विचार थे वे प्लेटो और अरस्तुके समय या उससे भी पूर्वके हैं। प्लेटो-सम्प्रदायवाले समीक्षकोंका मत है कि 'गुणके रूपमें शैली वह तत्त्व है जो कुछ अभिव्यक्तियोंमें होती है और कुछमें नहीं।' अरस्तू-सम्प्रदायके समीक्षकोंका कहना है कि 'शैली वह गुण है जो सब अभिव्यक्तियोंमें अवश्य विद्यमान होता है।' अर्थात् एक सम्प्रदाय तो यह मानता है कि 'किसी कृतिमें या तो शैली होती है या नहीं होती।' दूसरा सम्प्रदाय यह मानता है कि 'शैली होती तो है किन्तु वह उत्कृष्ट या निकृष्ट, बलवती या दुर्बल, अच्छी या बुरी होती है।' ये दोनों विचार एक दूसरेसे इतने भिन्न हैं कि एक मोटी-मोटी परिभाषा बना लेना ही सम्भव है और वह यह है कि 'साहित्यिक समीक्षाका जो शैली शब्द है, जो कुछकी दृष्टिसे विशिष्ट और कुछकी दृष्टिसे एक जातिका बोधक है उसका प्रयोग किसी अभिव्यक्तिकी रीति या गुणके अभिज्ञान या वर्णनके लिये प्रयुक्त होता है।'

शैलीके सम्बन्धमें प्लेटोका जो विचार है वह 'लोगस'के उस यूनानी सिद्धान्तका स्वाभाविक परिणाम है, जिसमें प्रत्येक विचार भी विषय रूपकी दृष्टिसे पूर्ण है। अर्थात् जब कोई विचार अपने मूल रूपसे सम्पन्न

होता है तब शैलीका प्रादुर्भाव होता है। विचार और रूप दोनोंका असम्पृक्त सम्बन्ध है। सन्त जौनका 'प्रारम्भमें शब्द था' इस मतका अधिक तीव्रताके साथ अभिव्यञ्जन करता है। शैलीका मुख्य और आवश्यक गुण है उसका अपरिहार्य रूपसे होना। अर्थात् यदि किसी ढङ्गसे कोई विचार नहीं कहा गया तो उस विचारका अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा। रूपमें किसीका परिवर्त्तन होनेसे उसके विषयमें भी परिवर्त्तन हो जाता है। फ्लाउबर्टने यह माना था कि 'सारभूत शब्दका अस्तित्व होता है और वह खोजा जा सकता है। गद्यमें सौन्दर्य और सत्यके समन्वयका परिणाम ही शैली है।' पेटरका कहना है कि 'आन्तरिक दृश्यको वाणीकी सुन्दरतम योजनाके साथ बैठाना ही शैली है।' कवितामें अन्त:प्रेरणा ( एफ्लेटस ), कविका पागलपन या तन्मयता, अन्त:-स्फुरण आदि सब तत्त्व शैलीसे पूर्व उपस्थित होने ही चाहिएँ। आर्नोल्डका कहना है कि 'वर्ड्सवर्थमें शैलीका अस्तित्व इसी रूपमें है मानो प्रकृति ( लोगस ) स्वयं उसके हाथसे कलम लेकर अपनी नङ्गी अन्तर्व्यापिनी शक्तिके द्वारा लिखती चलती है। जब यह होता है तो परिणाम अपरिहार्य, अप्रतिम और अद्वितीय होता है।' इन समीक्षकोंने शैलीके अभाव या अशैलीकी उपस्थितिके लिये शब्द चलाए हैं—ढङ्ग ( मैनर ), दुरभ्यास ( मैनरिज़्म ) और अलङ्कार ( ह्रिटौरिक )। जब अन्त:प्रेरणा लुप्त हो जाती है तो शैली भी लुप्त हो जाती है। जब हम ढङ्ग (मैनर) की बात कहते हैं तब इसका तात्पर्य यह है कि 'लेखक किसी अन्त:प्रेरणायुक्त अपने या दूसरेके लेख या शैलीका अनुकरण करके अन्त:प्रेरणाकी स्थिति प्राप्त करना चाहता है।' फिर समीक्षक ऐसे कुछ अंश भी बतलाते हैं जिनमें शैली है और ऐसे, जिनमें केवल अलङ्कार होता है। स्टेन्ढालने शैलीकी यह परिभाषा दी है—'किसी एक निश्चित विचारमें उस पूर्ण प्रभावको उत्पन्न कर देनेवाली सब परिस्थितियोंके योगको शैली कहते हैं, जो उस विचारद्वारा प्रस्तुत होनी चाहिएँ।' कोई भी समीक्षक शैलीको तभी समझ सकता है जब वह अनेक प्रकारकी समीक्षाएँ कर ले और उनमेंसे प्रत्येक समीक्षा या प्रमाणको ऐसी कसौटीके रूपमें ग्रहण कर ले कि अन्य लेखोंकी शैली भी उसकी समझमें आ सके।

अरस्तू-सम्प्रदायके समीक्षक शैलीको एक व्यापक शब्द मानते हैं। वे शैलीको 'तत्त्व' न समझकर 'अनेक तत्त्वोंकी उपज' मानते हैं। उनके अनुसार जितने लेख हैं उतनी ही शैलियाँ हैं। ये शैलियाँ प्रकार और

अंशमें भिन्न होती हैं। इसके अनुसार मूल शैली भी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओंमें विभक्त होकर व्यक्तिगततक पहुँच जाती है बफ़ोनका मत है कि 'शैली मनुष्य ही है।' शौपैन हावरका मत है कि 'शैली मस्तिष्ककी मुखमुद्रा है।' न्यूमैनका कथन है कि 'भाषा में विचार करना ही शैली है।' ये सब इस विचार-धाराके अनुसार लोकप्रिय परिभाषाएँ हैं क्योंकि अरस्तूवादी शैलीको एक प्रकार मानता है। वह साधारणतः वर्गीकरणवाले विशेषणको इसके पहले लगा देता है अर्थात् वह किस प्रकारकी शैलीपर विचार कर रहा हैं जैसे मिल्टनकी शैली, ब्रिटिश शैली, अठारहवीं शताब्दिकी शैली, परिचित शैली, तार्किक शैली या व्यङ्ग्यात्मक शैली। इन विशेषणोंका परीक्षण करनेपर प्रतीत होता है कि ये सब सात शाखाओं या शीर्षकोंमें बाँधी जा सकती हैं और वे सब भी छोटे-छोटे अन्य उपशीर्षकोंमें। इन विभिन्न रूपोंमें सात महान् तत्त्व मिलते हैं जो भाव-संक्रमणमें प्रविष्ट होकर शैलीको प्रभावित करते हैं। कोई भी शैली या तो १. लेखकके नामपर चले जैसे—बाणकी शैली या होमरकी शैली, २. समयके अनुसार, जैसे मध्यकालीन शैली, ३. भाषा या माध्यमके अनुसार, जैसे—जर्मन शैली या प्रगीत शैली, ४. विषयके अनुसार, जैसे दार्शनिक शैली, ५. भौगोलिक स्थानके अनुसार, जैसे चीनी शैली या बिलिंसगेट शैली या भारतीय रीतियाँ, ६. पाठकोंके अनुसार, जैसे सर्वबोध-शैली, ७. उद्देश्यके अनुसार, जैसे विनोद-शैली या हँसोड शैली। अरस्तूने शैलीके विश्लेषणोंमें इनमेंसे एक या कई या सब तत्त्वोंका निरूपण किया है। कभी-कभी कुछ समीक्षकोंने शैलीकी परिभाषा बताते हुए उनमें बहुत भ्रम उत्पन्न कर दिया है, जैसे मैथ्यू आरनोल्डने उपर्युक्त दोनों विचारोंमेंसे कभी एकके अनुसार परिभाषा बनाई है, कभी दूसरेके अनुसार। प्लेटो-सम्प्रदायके अनुसार वह कहता है—'मनुष्यके कथनीय विचारोंको एक विशेष प्रकारसे आध्यात्मिक उत्तेजनाकी एक विशेष अवस्थामें इस विशेष प्रकारसे पुनः ढालने और ऊँचा करनेको शैली कहते हैं, जिससे कि उसमें एक भव्यता और विशेषता आ जाय'। अरस्तू-सम्प्रदायके अनुसार वह कहता है—'कोरिन्थियन शैलीमें बिना सरलताके चमक है, बिना आकर्षणके प्रभावोत्पादकता है। उसकी विशेषता यह है कि उसमें आत्मा नहीं है, उसका अस्तित्व इसीलिये है कि अपना उद्देश्य सिद्ध हो, अपना काम बने, अपने विपक्षियोंकी हानि

हो, अपनी प्रशंसा हो और विजय हो। उदात्तवादी सत्य और शोभासे इतनी दूर शैलीमें प्रान्तीयताका निश्चित रूपसे आरोप है।'

### काव्य-शैली

कोई भी कविता शब्दमें ही लिखी या बोली जा सकती है किन्तु प्रश्न है कि उसमें किस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग किया जाय। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें कहा है—'सचेतन या सावधान होकर नियमित रूपसे अलङ्करण करना ही काव्य-शैली है।' आगे चलकर जब उसने यह कहा कि 'साहित्यमें कभी तो जीवनको श्रेष्ठतर चित्रित किया जाता है, कभी हीनतर और कभी याथातथ्य' तब इसके अनुसार पीछेके आचार्योंने उच्च, निम्न और मध्यम शैलीकी योजना की थी। हौरेसने तो कोई नई बात नहीं कही किन्तु यूनान और रोमके अलङ्कार-शास्त्रियों—अरस्तू, सिसरो और क्विन्तीलियनने यही बात दुहराई कि 'कवियोंको सचेतन होकर अर्थात् जान-बूझकर भाषाका शृङ्गार करना चाहिए।' अतः शैलीपर व्याकरण और अलङ्कार-शास्त्र दोनों दृष्टियोंसे विचार किया गया। वाणीकी वक्रताओं और अलङ्कारोंको नियम और क्रमसे सजाकर रक्खा गया और भाषा ऐसे बाह्य वस्त्रके रूपमें समझी गई जो किसी इष्ट प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये किसी विचारके लिये प्रयुक्त हो। दान्तेने शब्दोंकी श्रेणियाँ बाँधी हैं—बचपनभरी, स्त्रैण, पौरुषभरी, सँवारी हुई और फूहड़ आदि। इस प्रकार उसने काव्यके काममें आनेवाली भाषाको अलग छाँटकर रख दिया है और यह बताया है कि विशेष काव्यरूप या प्रभावके लिये किस प्रकारके शब्द उचित हैं। जैसे-जैसे विभिन्न राष्ट्रोंके साहित्य बनते और बढ़ते गए वैसे-वैसे आलोचकोंकी यह प्रवृत्ति रही कि वे कविताके लिये उच्च, उदात्त तथा मान्य आदर्शोंके अनुसार भाषाका रूप व्यवस्थित करने लगे और पुनर्जागरण कालसे पूर्व कवियोंकी भी यह प्रवृत्ति रही कि उन्होंने नियमोंकी चिन्ता न करके स्वयं अपनी भाषा बनाई। फ्रान्समें प्लीएदने और इंग्लैंडमें जौन्सन और बैन-मण्डलीने काव्यको उदात्त बनानेके उद्देश्यसे भाषाका संस्कार किया। नवोदात्तवादियोंने निश्चित शुद्ध भाषाको ही कविताके लिये श्रेष्ठ समझा। इंग्लैंडमें सत्रहवीं शताब्दिके अन्तमें और अठारहवींके प्रारम्भमें औचित्य, लालित्य और अत्यन्त उच्च सुन्दर प्रकारसे चुनी हुई भाषाको ही कविताके लिये उचित माना

और फूहड़, विशिष्ट तथा सनकभरी भाषाका बहिष्कार किया। लौंगिनसने कल्पना, अलङ्कार, रूपक और शक्तिशाली विचार और भावोंको ही शैलीका तत्त्व माना। जौन्सनने कहा कि 'कविता सर्वसाधारण और सार्वभौम होनी चाहिए अर्थात् किसी भी युग, जाति वर्गके द्वारा सरलतासे समझमें आनी चाहिए। कविता ऐसी लिखनी चाहिए कि उससे प्रकृतिकी व्याख्या हो तथा मनुष्योंका पथप्रदर्शन हो। कविको यह समझना चाहिए कि 'मैं ही भावी पीढ़ियोंके आचार-विचारका अधिष्ठाता हूँ।' आजकल तो इतने प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग हो रहा है कि उसके लिये नियम बनाना ही कठिन है। वास्तवमें कविताकी भाषा ऐसी होनी चाहिए कि वह मानवीय अनुभूतिको शुद्ध, पूर्ण समृद्ध और तीव्रताके साथ दूसरोंके हृदयतक पहुँचा सके।

## काव्य-शैली

अरस्तू और दान्ते आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वानोंने कहा है कि 'कविको अत्यन्त उदार (लिबरल) और भव्य (ग्रैन्ड) शब्दावलीका प्रयोग करना चाहिए।' कभी-कभी कुछ कवियोंने जान-बूझकर अपनी भाषा कृत्रिम रूपसे अलंकृत और दुरूह कर दी है। वर्ड्स्वर्थने इस अलङ्करण-शैलीके विरुद्ध विद्रोह करते हुए कहा है कि 'काव्यमें भी गद्यकी भाषाका प्रयोग होना चाहिए।' इसीपर बीसवीं शताब्दिके कुछ अतिरेक करनेवालोंने बहुतसे ग्रामीण, लौकिक और व्यावसायिक शब्दोंका प्रयोग करते-करते विदेशी शब्दों और अश्लील शब्दोंतकका प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकारकी काव्य-शैली नितान्त दोषपूर्ण है क्योंकि गद्यके शब्दोंसे कविताके शब्द भिन्न होने ही चाहिएँ और वह भी केवल अर्थकी दृष्टिसे नहीं वरन् इस दृष्टिसे कि उनमें संक्षेपता, भाव-विशदता और अन्तर्व्याप्त ध्वनि भी हो।

## रङ्गभाव ( टोन या टोनकलर )

इसीलिये कुछ आचार्योंने कहा है कि 'काव्य-शैलीमें भाव या भावरङ्ग लाना चाहिए।' किसी कृतिमें उसकी शैलीद्वारा अभिव्यक्त प्रवृत्ति अथवा किसी एक भावका आगमन या उस भावकी रचना करनेवाली प्रक्रियाएँ, रङ्गभाव कहलाती हैं। इनके प्रयोगसे वर्णन और विवेचन अधिक स्पष्ट, प्रभावशाली और हृद्य होता चलता है।

प्रभाववादी शैली ( एक्रीतूरे आर्तिस्ते )

इसी भावनासे फ्रान्समें गोनकोर बन्धुओंने भावकतापूर्ण प्रभाववादी शैली ( एक्रीतूरे आर्तिस्ते ) चलाई। इसीका प्रयोग (एडमन्ड १८२२ से ९६ ) और यूले ( १८३० से ७० ) ने भी किया था। इन लोगोंने विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये प्रायः व्याकरण तथा वाक्य-विन्यासके नियमोंकी उपेक्षा की। इस शैलीका प्रभाव पीछेकी फ्रान्सीसी साहित्यपर बहुत पड़ा।

उद्धत शैली ( बारोक )

योरोपमें पिछले दो सौ वर्षोंसे एक नई शैलीका कोलाहल मचा जिसे उद्धत ( बारोक ) शैली कहते हैं।

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि 'उद्धत ( बारोक ) शैलीका उद्‌गम कहाँसे हुआ' किन्तु इसका सर्वप्रथम प्रयोग अठारहवीं शताब्दिमें उदात्तवादी समीक्षकोंने कलाके लिये किया था, जिसमें उस उदात्तवादी रुचिकी निन्दा की गई थी, जो पिछली शताब्दिमें व्याप्त थी। कुछ समयमें ही बारोक शब्दने भी अपना निन्द्य अर्थ छोड़ दिया था। जर्मनीके कला-इतिहासकार एच्० वौल्फ़लिनने पुनर्जागरण या रिनैसाँ और बारोकको दो निरन्तर एक दूसरेके पीछे आनेवाले शैलीके ऐसे सिद्धान्त बताए हैं, जिनमेंसे कोई भी एक दूसरेसे बढ़कर नहीं कहा जा सकता। सी० साख्स, एच्० जे० मोज़र और ई० वैलेस्ज़ने वौल्फ़लिनकी इस बारोककी परिभाषा सङ्गीतपर आरोपित किया। के० जोएल जैसे दार्शनिक इतिहासकारोंने एक नया बारोक-दर्शन ही ढूँढ निकाला और अन्य विद्वानोंने एफ़्० स्ट्रिच तथा ओ० वालज़ेलका अनुसरण करते हुए इन सिद्धान्तोंको साहित्यपर ला बैठाया। मानसिक अस्तित्ववाद ( कन्सेप्टुअलिज़्म, जिसका सिद्धान्त है कि संसारके समस्त पदार्थ अपने भौतिक अस्तित्वसे भिन्न हमारे मनमें भी अपना अस्तित्व रखते हैं ), कृत्रिम तथा दुरूह शैलीवाद ( यूफ़ुइज़्म ), पाण्डित्य-प्रदर्शनवाद ( गौङ्गोरिज़्म ), दार्शनिक काव्य ( मैटाफ़िज़िकल पोइट्री ), अति-संस्कारवाद ( प्रेशियोसिते ) तथा मिथ्यातिरेकवाद ( सीसेन्टिज़्मो ) आदि नामोंसे जो नये साहित्यिक प्रयोग चल रहे थे उनपर इस कलाकी तुलनाने नया प्रकाश डाला।

साहित्यमें उद्धत ( बारोक ) वह शैली मानी जाती है, जो अनिश्चित तथा

अनन्तको ग्रहण करके निश्चितका परित्याग करती है, जो गतिशीलता लानेके लिये एकरूपता, सुसङ्गतता और अनुपातका परित्याग कर देती है, जो विरोधात्मक और विस्फोटात्मक तत्त्वोंका प्रयोग अधिक उपयुक्त समझती है, जो सनकभरे, आश्चर्य-जनक, खेद-भरे, अप्रयुक्त, कठोर ध्वनिवाले और ऊर्मिमयको भाषा-प्रयोगको अधिक श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकारके लक्षण बारोक-विचारके परिचायक समझे जाते हैं, जो अपने द्वैतवादमें नये मध्ययुगवादको पुनर्नवित करते हुए और पुनर्जागरणकाल तथा प्रबुद्धकालके एकत्ववादकी अत्यन्त विरोधी तुलनाके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार बारोक व्यक्तिकी यह पहचान है कि 'वह असन्तुलित हो, कामुकता और आध्यात्मिकताके बीचमें लड़खड़ाता हो, माया और मृत्युके बीचमें उलझा हुआ हो और अत्यन्त तीव्र आवेगोंसे परिचालित होकर अव्यक्त और अप्राप्यके लिये उत्सुक रहता हो।'

साहित्यमें इसके कुछ और भी नये सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। इस बारोक-गतिवाद और उल्लाससे अभिव्यञ्जनावादियोंने अपना साम्य घोषित किया। जी० डेहियो, एफ़्०स्ट्रिच और डब्लू० वारिङ्गरने बारोकके प्रत्युदात्तवादी विरोधमें गोथिक भावनाका पुनरुज्जीवन तथा नौर्डिक अविवेक-वादकी अभिव्यक्ति देखी। किन्तु केथौलिक, दक्षिण जर्मनी और विशेष रूपसे आस्ट्रियन सभ्यता मूलतः बारोक समझी गई और इसीलिये वह जर्मन-संस्कृतिके प्रोटेस्टेन्ट घेरेसे पूर्णतः भिन्न और स्वतन्त्र रही। अत्यन्त अतिरेकपूर्ण बारोककी अभिव्यक्ति स्पेनके स्वर्णयुगने प्रस्तुत की हैं इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'स्पेनका राष्ट्रीय चरित्र भी संस्कारतः बारोक ही है।'

इन सब बातोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो बारोक केवल शैलीका ही एक प्रकार नहीं रह जाता। बारोक-कलाके पुनर्मूल्याङ्कनसे लोगोंमें यह भावना जगी कि 'प्रति-सुधार, काव्यका स्वयंपूर्णतावाद (एब्सोल्यूटिज्म) और सभा-सभ्यता ( कोर्ट-कल्चर ) न तो पुनर्जागरणकालकी हैं और न तर्कसङ्गतताके युगकी, वरन् उसका एक अलग अपना युग है। व्यापक अर्थमें यह ऐतिहासिक शब्द है, जिससे शैलीका कोई सम्बन्ध नहीं है। युगकी दृष्टिसे देखा जाय तो सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें पुनर्जागरणके पतनसे बारोकका प्रारम्भ होता है और अठारहवीं शताब्दिमें शृङ्गारवाद ( रोकोको ) या अत्यालङ्करणके रूपमें समाप्त होता है। इसके लक्षण सब देश में प्राय: समान नहीं रहे।

१. साधारणतः बारोकका विस्तार कैथोलिक देशों अर्थात् स्पेन, इटली, आस्ट्रिया, दक्षिण जर्मनी, बेल्जियम और कुछ अंशतक फ्रान्समें हुआ। योरोपके उन प्रोटेस्टेन्ट-वादी भागोंमें इसका प्रचार नहीं हुआ, जहाँ उदात्तवाद तथ्यवाद ( रीअलिज़्म ) तथा विवेकवाद ( रैशनलिज़्म ) की बारोकहीन प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। अतः डब्लू० वौइसबाख़के शब्दोंमें हम बारोकको 'प्रतिसुधारकी कला' कह सकते हैं।

२. सामाजिक दृष्टिसे बारोक ऐसे अबुर्जुवा अथवा अ-मध्यमवर्गीय लोगोंपर अवलम्बित था जैसे—सरदार, जागीरदार, जमीन्दार, पादरी, पुरोहित और किसान आदि। नगरवासियोंमें शुद्ध रूपसे बारोक-विरोधी प्रवृत्तियाँ थीं।

३. अभिव्यञ्जनाके रूपोंमें बारोकने अधिक परिणाममें और अधिक उपयुक्तताके साथ दृश्य कलाओंमें अधिक अभिव्यक्ति पाई जैसे नाटक, चल-चित्र और सङ्गीतमें। किन्तु साहित्य और दर्शनमें इसकी अभिव्यक्ति कम हुई। सम्भवः बारोक-शैली उस प्रकारके प्रभाव उत्पन्न करनेका प्रयास है, जो वासानात्मक कलाओंमें विद्यमान हैं और इसीलिये बारोक-साहित्यमें इतनी तड़क-भड़क दिखाई पड़ती थी।

## ललित भिन्नता ( ऐलीगैन्ट वैरिएशन )

यह शैलीका दोष माना जाता है, जब कोई व्यक्ति जान-बूझकर एक ही अर्थमें आनेवाले शब्दको न दुहराकर उसके बदले दूसरे-दूसरे पदोंका प्रयोग करता है। भारतीय दृष्टिसे 'पुनरुक्ति' दोष माना जाता है किन्तु योरोपमें पुनरुक्ति ही गुण है, यद्यपि ऐसे शब्दों और ध्वनियोंकी आवृत्ति वहाँ भी भद्दी समझी जाती है, जिन्हें लोग असावधानीसे विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग कर देते हैं। बीउलफने अपने लेखकी तरह पंक्तियोंमें नावको निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—सागरनौका, ऊर्मि-तरणि, समुद्रगन्धा, झाथकन्ठीपात्र, सुसज्जित पात्र, ऊर्मिगन्ता, विस्तीर्ण-हृदय-पात्र आदि। जान-बूझकर लाए हुए इस प्रकारके उपर्युक्त शब्द दोष माने गए हैं।

## भाषा और भावका अलङ्करण

यदि कलात्मक दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो सुन्दरसे सुन्दर विचार भी तबतक व्यर्थ है, जबतक उसे उचित तथा सुन्दर भाषाका आवरण न

पहनाया गया हो। भाषाका प्रयोग अभ्याससे आता है। यह अभ्यास या तो बहुत पढ़नेसे आता है या बहुत लिखनेसे, क्योंकि अधिक पढ़नेवाला अच्छा वक्ता होता है और अधिक लिखनेवाला अच्छा लेखक।

### लेखन और शैलीका सम्बन्ध

लेखन और शैलीका चोली-दामनका साथ है। बिना शैलीकी शिक्षा दिए रचना-शिक्षा व्यर्थ है। हमारे यहाँ भाषाकी दृष्टिसे अभिव्यक्ति की दो रीतियाँ बतलाई जाती हैं, जिन्हें 'शैली' और 'शक्ति' कहते हैं। परन्तु शक्ति तो शैली-विशेषका ही एक गुण है। शैलीके अन्तर्गत दो बातें आती हैं—१. विषय और २. भाषा। विषय और भाषाके भी दो-दो विभाग हैं। विषयमें १. पहली बात है विषयान्तर्गत दृश्यका वर्णनात्मक चित्र और २. दूसरी बात है विषयान्तर्गत मानव-चरित्र या भावका वर्णन।

### शब्द और अर्थ

लिखने और बोलनेमें शब्दभेदके कारण अर्थभेद होता है पर कभी-कभी केवल बोलनेमें उच्चारण-भेदसे भी अर्थभेद हो जानेकी सम्भावना रहती है। अर्थभेद तीन प्रकारका होता है, जिसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। तीनोंका एक-एक उदाहरण लीजिए—

१. मैं शिमलेमें रहता हूँ ( मैं शिमला नामक नगरमें रहता हूँ )।

२. मैं शिमलेमें रहता हूँ ( मैं शिमला नगरके आसपास रहता हूँ )। इस लक्ष्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग लिखते हैं—'यह समझिए कि मैं शिमलेमें ही रहता हूँ।'

३. मैं शिमलेमें रहता हूँ ( मैंने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि मुझे अपने काशीवाले घरमें ही वह ठण्ढक और तरावट मिल जाती है जो शिमलेमें प्राप्त हो सकती है )। इस वाक्यके व्यंग्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग प्रायः इस प्रकार लिखते-बोलते हैं—'मैंने तो काशीको ही शिमला बना लिया है।'

उक्त उदाहरणमें एक ही वाक्य केवल अर्थभेदके कारण वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका उदाहरण बन गया है।

### भाषा-शैलियाँ

हिन्दीमें भाषा-विषयक कई शैलियाँ प्रचलित हैं। उर्दूके चौर-द्वारसे हिन्दीके गद्यमें प्रवेश करनेवाले लेखक प्रायः रूढोक्तियों (मुहावरों) से अधिक काम लेते हैं। दूसरी ओर सनातनी लेखक संस्कृत न जाननेपर भी तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग करते हैं और रूढोक्तियोंको अछूत समझकर उन्हें अपनेसे दूर ही रखते हैं। तीसरे वर्गके लोग मध्यम मार्गवर्ती हैं, उनके समीप भाषा उस नटीके समान है जो विषयके अनुसार, अपनी वेष-भूषामें निरन्तर परिवर्त्तन करती चलती है। परन्तु भाषाको इच्छानुकूल नचानेके लिये उसके विविध रूपोंका परिचय रखनेके साथ-साथ उसपर पाण्डित्यपूर्ण अधिकारकी आवश्यकता रहती है। अतः सभी पक्षोंसे विचार करनेके पश्चात् यही कहा जा सकता है कि 'अच्छी शैली वही है जो लोक प्रयोगसे समन्वित हो और जो अपनी, अपने देशकी जान पड़े, जिसमें देशी शब्दोंकी संख्या अन्य शब्दोंसे अपेक्षाकृत अधिक हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके और जिसमें उचित तथा शिष्ट शब्दोंका प्रयोग हो।'

### शैलियाँ

प्रभावोत्पादक होना ही शैलीका प्रमुख गुण है। इस गुणकी प्राप्तिके चार उपाय हैं—१. भावकता, २. तर्क, ३. आवृत्ति और ४. प्रमाण। भावकतावाली आवेगात्मक शैली वहाँ काममें लानी चाहिए, जहाँ जन-समूहको सम्बोधित करके उनके हृदयको वशमें करना हो। इसका प्रभाव सदा क्षणिक होता है। विद्वानोंमें आदर पानेके लिये तर्क-शैली सदा भारी सहारा देती है। किसी बातको बार-बार दुहराते-समझाते चलनेकी शैलीका प्रयोग बालकों, अपढ़ लोगों तथा विद्यार्थियोंके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। प्रमाण-बहुला शैलीका प्रभाव मध्यम श्रेणीके लोगोंपर बहुत पड़ता है। अतः यह समझकर शैलीका प्रयोग करना चाहिए कि हम किसके लिये लिख रहे हैं। विषय उपस्थित करनेकी ऐसी अनेक शैलियाँ विभिन्न रूपोंमें प्राप्त हैं जिनका विस्तृत सोदाहरण विवरण हम नीचे दे रहे हैं।

### भाषा-शैलियाँ

प्रायः सभी देशोंमें विभिन्न रूपोंके विषय उपस्थित करनेकी अनेक भाषा-शैलियाँ हैं, जिनमें चार अधिक प्रसिद्ध हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिका ( कोलोकियल )।

२. रूढोक्ति या मुहावरोंसे पूर्ण ( इडियोमेटिक )।

३. संस्कृत-निष्ठ, साहित्यिक शैली ( हाइ स्टाइल )।

४. अति प्रचलित विदेशी शब्दोंसे भरी शैली ( ले मैंस स्टाइल )।

नीचे एक वाक्यको ही हम इन चारों शैलियोंमें प्रयुक्त कर रहे हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिका शैली—

तड़के-तड़के एक बन्दरने आकर मेरी सारी पोथियाँ फाड़ डालीं।

२. रूढोक्ति या मुहावरेसे पूर्ण—

अभी पौ भी नहीं फटी थी कि एक ललमुँहेने आकर मेरी सब पोथियाँ टूक-टूक कर डालीं।

३. संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक शैली—

प्रात:कालके समय एक वानरने मेरी सम्पूर्ण पुस्तकें नष्ट कर डालीं।

४. अति प्रचलित विदेशी शब्दोंसे भरी शैली—

सबेरे-सबेरे एक बन्दरने मेरी किताबोंके वर्क़-वर्क़ चीर डाले।

विदेशी शब्दोंसे भरी शैलीका प्रयोग प्राय: वे लोग करते हैं जो अपनी भाषाकी शुद्ध प्रकृतिसे अपरिचित होते हैं या जो कई भाषाओंका व्यवहार करते हैं जैसे कालेजमें पढ़नेवाले या कचहरीवाले लोग। यह शैली सर्वथा त्याज्य है क्योंकि खिचड़ी भाषा लिखना या बोलना भाषाका दोष है, गुण नहीं। इस प्रकारकी शैलीमें ऐसे बेढङ्गे उदाहरण भी आते हैं—

'मैंने मौर्निङ्ग-पेपरमें यह न्यूज़ पढ़ी कि इलाहाबादके गुण्डे रईसोंने एक विद्वान्‌पर झूठा केस चलाया और मजिस्ट्रेटको इन्फ्लुएन्स करके उनका कन्विक्शन करा दिया।'

## वाक्योंकी बनावट

वाक्योंकी बनावट दो ढङ्गकी होती है—

१. जिसमें एक क्रियावाले या सरल वाक्य होते हैं जैसे—

मैं गङ्गाजी गया था। वहाँ मैंने बहुतसे लोगोंको नहाते देखा। वे सब तैरते-कूदते और डुबकियाँ लेते हुए आनन्द ले रहे थे।

२. जिनमें कई वाक्योंको मिलाकर एक वाक्य बनाया जाता है जैसे—

मैं गङ्गाजी गया तो वहाँ मैंने ऐसे बहुतसे लोगोंको नहाते देखा, जो तैरते, कूदते और डुबकियाँ लेते हुए आनन्द ले रहे थे।

### सजावट

वाक्योंकी सजावट चार ढङ्गोंसे की जाती है—

१. किसीमें अलङ्कारोंकी छटा होती है ( अलङ्करण-शैली )।

२. किसीमें कहनेके ढङ्गका अनूठापन होता है ( लाक्षणिक शैली )।

३. किसीमें अपनी बात दूसरों या बड़े लोगोंकी बातोंके सहारे समझाते चलनेकी लहर होती है ( समर्थनात्मक शैली )।

४. किसीमें किसी दूसरेपर बात ढालकर कहनेकी सनक होती है ( प्रतीकात्मक शैली )।

नीचे हम सबके साँचे उन्हीं शैलियोंमें दे रहे हैं, जिससे समझनेमें कठिनाई न हो।

### अलङ्करण-शैली

अलङ्करण-शैली वह है, जिसमें पद-पदपर सुन्दर, शोभन शब्दावलीसे भरे अलङ्कार वैसे ही सजे होते हैं जैसे रेशमकी सतरङ्गी चादरपर गङ्गा-जमुनी तारोंसे बेल बूटे काढ़ दिए गए हों। शैली वह अभिव्यक्ति-गङ्गा है, जो अपने साथ न जाने कितनी भाव-धाराओंके विचार-जलको अपने अङ्कमें समेटकर अपनी भावधारा अविच्छिन्न बनाती हुई उद्देश्य-सिन्धुतक पहुँच जाती है। शैली वह अलौकिक भल्लिका है जो बिना फलके श्रोताको घायल कर दे, वह मधुबाला है जो बिना मधु पिलाए उन्मत्त बना दे, वह सुधाधर है जिसे कानसे पीकर मनुष्य अमरत्वको क्षुद्र समझने लगे। कलापूर्ण शैली द्राक्षाके समान मधुर, हिमशिखरकी भाँति समुन्नत, सिन्धुतलके समान गम्भीर, द्वितीयाके चन्द्रमाके समान निष्कलङ्क और माताके समान पवित्र होती है। सुन्दर अलंकृत शैली वह चन्द्र है, जिसे राहुकी छाया स्पर्श नहीं कर सकती। इस अलंकृत कला-शैलीमें जो पारङ्गत हो जाता है, वह नन्दन-काननके झूलोंपर पेंग मारता है, अप्सराओंके हाथकी गुँथी मालासे पुलकित होता है और सारे संसारसे अपनी पूजा कराता है।

### लाक्षणिक शैली

लाक्षणिक शैलीका बल पाकर भाषा सरस, पुष्ट और समृद्ध होती है। वह वक्ताकी जिह्वापर चढ़कर जब लास्य करने लगती है, तब उसकी भावमयी मुद्राओंकी गतिपर कभी तो श्रोताओंके नेत्र झरने बन उठते हैं, कभी हृदयकी कली खिलकर गुदगुदी उत्पन्न करने लगती है, कभी दन्तावलीकी चन्द्रिका ओठके कपाट खोलकर चाँदनी बिखेर देती है और कभी आँखें ऊपर चढ़कर अद्‌भुत रसका स्थायी भाव मूर्त्तिमान कर देती हैं।

### समर्थनात्मक शैली

समर्थन-प्रभाव-शैलीमें लेखक अपनी प्रत्येक बातका दूसरोंसे समर्थन कराता चलता है क्योंकि तुलसीदासजीने भरतसे कहलाया है—

करब साधुमत लोकमत, नृप-नय-निगम निचोरि।

साधुमत और लोकमतका तो सदा सम्मान होता ही है। अँगरेज़ीमें कहावत है—'शैली ही व्यक्ति है।' शैलीमें मनुष्य अपना, अपने हृदयका पूरा परिचय दे देता है, अपना परिचय देनेके लिये, अपने मनकी बात स्पष्ट करनेके लिये वह सोच-समझकर मुँह खोलता है, क्योंकि अरबकी लोकोक्ति है—'अपनी जीभ बाँधकर रक्खो, कहीं वह सिर न कटवा ले।' यही बात कबीरने भी दूसरे ढङ्गसे कही है—

जिभ्या मेरी बावरी, कहिगी सरग पतार।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपार॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि सब जिस बातको ठीक समझें, वही बात ठीक है क्योंकि 'पञ्चोंकी वाणीमें परमेश्वरकी वाणी होती है।' भगवान् श्रीकृष्णने भी भगवद्गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

[ श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा करते और कहते हैं, वैसा ही दूसरे भी करने-कहने लगते हैं। ]

अवाज़े ख़ल्कको नक्क़ारए ख़ुदा समझो।
[ जनताकी वाणीको परमेश्वरका डङ्का समझो। ]

अर्थ यह है कि संसार जो बात कहे वही सबको माननी पड़ती है। बड़ोंकी ओट लेकर आप जो बात कहेंगे वह सुनी भी जायगी।

### प्रतीकात्मक शैली

प्रतीकात्मक शैली कोई प्रतीक लेकर चलती है जैसे कविके वर्णनमें हंसको प्रतीक मानकर उसका इस प्रकार वर्णन करेंगे—

'हे कवि ! तुम्हीं सरस्वतीके हंस हो । नीचेसे ऊपरतक श्वेततासे स्नात, अपने दुग्ध-धवल पक्ष फैलाकर तुम सरस्वतीको असूर्यम्पश्य लोकोंमें भी घुमा लाते हो, किन्तु तुम्हारी श्वेतता और गौरवतामें कहीं भी कालिमा छू नहीं जाती । सबसे विचित्र बात तो यह है कि न जाने कितनी बार तुम्हारे आगे पानी मिलाकर दूध रख दिया जाता है किन्तु न जाने तुममें क्या शक्ति है कि तुम दूधका दूध और पानीका पानी कर देते हो ।'

### लिखनेवालेकी बहक

कभी-कभी लिखनेवाला ऐसे भी ढङ्गसे लिखता है कि आप झट पहचान जायँगे कि वह लिखनेवाला हँसोड़ होगा, चिड़चिड़ा होगा, सोचने-विचारने-वाला होगा या बहुत तीखा होगा । ऐसे लिखनेवाले यों तो बहुत ढङ्गसे लिखते हैं, पर उनकी पाँच शैलियाँ बहुत चलती हैं—

१. विनोदात्मक शैली । २. व्यंग्यात्मक शैली । ३. दार्शनिक शैली । ४. तर्कप्रधान शैली । ५. आवेगात्मक शैली ।

### विनोदात्मक शैली

विनोदात्मक शैलीमें लिखनेवाले लोग फागके दिन जन्म लेते हैं और बात-बातमें ऐसे कौशलसे गुदगुदाते हैं कि अच्छे - अच्छे मुहर्रमी भी खिलखिलाकर बतीसी निकाल देते हैं । रेलके डब्बेमें सही-साँझको मुँह बाकर सोनेवाले साथी यात्रीकी घर्राती हुई नाकमें कागजकी बत्ती बनाकर डाल दीजिए और फिर वह जो शीर्षासन करे, उसमें चमगीदड़वाले लटकौवलका आनन्द आपको न आवे तो मैं मूँछें मुड़वा दूँ और कलम घिसनेसे कान पकड़ लूँ । पर यदि मैं इस विनोदात्मक शैलीमें लिखनेकी सौगन्ध ले लूँ तो दोनों गालोंमें पानकी गिलौरी दबा रखनेवाले घसीटेमलका कुत्ता पीछेसे कैसे रँगा जायगा और लफ्टन्ट साहब हँसीमें लोट-पोट होकर अपना खोड़ा मुँह खोलकर उसमें दिल्ली-दरवाजा कैसे दिखलावेंगे ?

### व्यंग्यात्मक शैली

व्यंग्यात्मक शैलीमें आपके व्यंग्यका कोई लक्ष्य होना चाहिए । मान लीजिए 'कवि घण्टाजी' ही आपके लक्ष्य हैं, तब आप कह सकते हैं—

'रातको कवि-सम्मेलन हुआ। उसमें घण्टा बड़ा टनटनाया, बड़ा गूँजा, बड़ा घहराया, पर सुननेवालोंको केवल टनटनाहट ही हाथ लगी। उसकी टनटनाहट क्यों हो रही थी, क्यों वह इतनी देरतक ढनटनाता रहा और लोगोंके ताली पीटनेपर भी क्यों घहराता रहा यह समझमें न आया। पर भाई वाह रे घण्टे! तुम्हें तो सारनाथके विहारमें या विश्वनाथजीके मन्दिरमें लटकना चाहिए था। जहाँ किसीने छेड़ा कि आप टनटनाए। भैया! कवि-सम्मेलनमें आप मत बजा कीजिए क्योंकि न तो घड़ीके घण्टेका आपमें संयम है, न स्कूलके घण्टेकी आपमें अवधि, न लन्दनकी बिगबैनके घण्टेकी मधुरता। इसलिये आप अपनी घनघन-टनटन बन्द रखिए। आपकी घनघनाहट सहन करनेके लिये कानमें गैंडेकी खालके परदे होने चाहिएँ पर ब्रह्माने भूलसे आपको बनाते समय आपके श्रोताओंके कानपर गैंडेकी खालके परदे नहीं बाँधे।'

## दार्शनिक शैली

दार्शनिक शैलीमें दर्शनकी गम्भीरता और सूत्रोंकी संक्षेप वृत्ति होती है। दार्शनिक शैलीमें गम्भीर विचारोंकी शृङ्खला तनकर ऐसी बँधी रहती है, जिसमें चिन्तन और मनन तथा बौद्धिक ऊहापोहके लिये आवश्यक अवसर रहता है। शैलीका सात्त्विक विवेचन मानव-मस्तिष्ककी सूक्ष्मतम क्रियाओंका संश्लिष्ट परिणाम है। इस परिणामकी प्राप्ति केवल बौद्धिक विश्लेषणसे नहीं, वरन् आध्यात्मिक पर्यवेक्षणसे ही सम्भव है क्योंकि भावोंकी जटिलताको अध्यात्मसे सुलझाना उतना कठिन नहीं है जितना तर्कसे।

## तर्क-प्रधान शैली

तर्क-प्रधान शैलीमें तर्कोंके बलपर किसी भी तत्त्व, पदार्थ या विषयके दोनों पक्षोंका परीक्षण किया जाता है। तर्क-प्रधान शैली जहाँ एक ओर सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयोंके लिये उचित और अनुकूल है, वहाँ वह वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तथ्योंके लिये अत्यन्त असङ्गत है क्योंकि सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयोंके दोनों पक्ष इतने प्रबल होते हैं कि उनपर अनेक दृष्टियोंसे, अनेक अवसरों और परिस्थितियोंके अनुसार विचार किया जा सकता है। किन्तु 'दो और दो चार हो सकते हैं या नहीं?' 'आग छूनेमें ठण्ढी लग सकती है या नहीं?'

'सूर्य पश्चिममें उग सकता है या नहीं?' 'अकबर हुमायूँका पुत्र था या नहीं?' ये ऐसे प्रश्न हैं जिनपर किसी प्रकारका तर्क नहीं हो सकता।

## आवेगात्मक शैली

आवेगात्मक शैलीका एक अपना अलग महत्त्व है। यदि आपने साहित्य पढ़ा है, यदि आपने तुलसी, मीरा, सूर और रसखानकी काव्य-सरितामें अवगाहन करके उनका रस लिया है, यदि आप शब्द और अर्थके सम्बन्धको ठीक-ठीक समझनेमें समर्थ हो सकते हैं, तो आपको यह समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी कि आवेगात्मक शैलीका भी अपना अलग महत्त्व है। भाषणकारकी भाषामें, विद्रोही राजनीतिज्ञकी ललकारमें, भावुक इतिहासकी लेखनीमें यदि आवेगात्मक शैलीका वास न हो तो वह क्षण-भरमें विशाल ताजमहलको भी खण्डहर कर देगा, व्यासकी विभूति महाभारतके पन्ने-पन्ने चीर डालेगा और भारतीय वाङ्मयकी उदात्त निधिको भी प्रलय-सागरमें डुबो देगा। क्या आपने सिसरोकी वाणी सुनी है? क्या आपने ऐंटनीका भाषण पढ़ा है? क्या आपने विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अङ्कमें पुरूरवाका प्रलाप सुना है? यदि नहीं सुना, यदि नहीं पढ़ा तो पुस्तकालयकी गुफामें बैठकर अध्ययन-तपस्या करके उन सब महानुभावोंसे सत्सम्पर्क प्राप्त कीजिए, जिन्होंने अपनी भावमयी वाणीमें आवेग भरकर उसे उद्दीप्त, सजीव और सशक्त बना दिया है।

## शब्दोंके उचित प्रयोगका महत्त्व

किन्तु लेखक होनेकी आवश्यक कसौटी यह है कि उसके मस्तिष्कमें शब्दोंका भरपूर भण्डार हो, शब्दोंको उचित रूपसे चयन करने तथा उनका उचित प्रयोग करनेकी बुद्धि और 'कौनसी बात किस प्रकारसे कही जाय' इसका ज्ञान हो। अतः यह जानना चाहिए कि भाषाके क्या तत्त्व हैं, शब्द किसे कहते हैं, वाक्य क्या होता है और उन वाक्योंसे महावाक्य, अनुच्छेद, अध्याय, सर्ग, आदि कैसे बनाए जाते हैं।

---

# शैलीका रूप-योजन

पीछे बताया जा चुका है कि अभिव्यक्तिके दो रूप हैं—१. लेख और २. भाषण। इन दोनोंमें ही भाषाका प्रयोग होता है जो ध्वनि, अक्षर, शब्द, काव्य, अनुच्छेद, प्रकरण और अध्यायके रूपमें शैलीके भीतर पहुँचकर अपना अस्तित्व सिद्ध करती है। शैलीके परिज्ञानके लिये इनका परिचय आवश्यक है।

## ध्वनि

कानसे जो सुनाई दे उसे ध्वनि कहते हैं। इन ध्वनियोंमें जिनके अर्थ स्थिर कर लिए गए हैं और जो वाणी-द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं उन्हें व्यक्त ध्वनि और शेषको अव्यक्त ध्वनि कहते हैं। इन ध्वनियोंमेंसे जो सुननेमें अच्छी लगें वे श्रुतिमधुर, जो बुरी लगें वे कर्णकटु कहलाती हैं। व्यक्त ध्वनियोंको तो हम साहित्यमें वर्णों या अक्षरोंके द्वारा लिखते हैं, अव्यक्त ध्वनियोंका वर्णन-मात्र करते हैं, जैसे—बादल गरज रहा है, गाय रँभा रही है, घण्टा टनटन बोल रहा है आदि।

## वर्ण

व्यक्त ध्वनियोंको ही वर्ण कहते हैं। ये वर्ण दो प्रकारके होते हैं—१. ध्वन्यात्मक, २. अक्षरात्मक। ध्वन्यात्मक वर्ण ध्वनिके रूपमें बोलचालमें सुनाई पड़ते हैं और अक्षरात्मक वर्ण लिखे हुए अक्षरोंके रूपमें। तन्त्राचार्योंने कहा है कि 'मनुष्यके मूलाधार ( गुदा और लिङ्ग या योनि ) के बीच दो अङ्गुलके जिस इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक 'त्रिकोण' स्थानमें करोड़ों सूर्योंके प्रकाशसे युक्त स्वयम्भू लिङ्ग है, उसीमें साँपके समान कुण्डली मारे एक 'कुण्डलिनी' नाड़ी रहती है जो स्वर, वर्ण, पद, शब्द, वाक्य और

अर्थको व्यक्त करती है। उसका क्रम यह है कि इस कुण्डलीसे शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्द्धेन्दु ( ँ ) अर्धेन्दुसे बिन्दु ( ं ) तथा बिन्दुसे बयालीस वर्णोंकी वर्णमाला उत्पन्न होती है। वह चित्‌शक्ति जब सत्त्व-संयुक्त होती है तब उसमें ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य प्रकट हो जाते हैं। जब वह रजोगुणसे मिलती है तब शब्द उत्पन्न होता है और जब तमोगुणसे मिलती है तब पद और वाक्यका रूप धारण कर लेती है।

## चार प्रकारके वर्ण

भारतीय दर्शनाचार्योंने चार प्रकारके वर्ण बताए हैं—१. परा २. पश्यन्ती ३. मध्यमा और ४. वैखरी। मूलाधारमें नाद रूपसे उत्पन्न वर्णको परा, मूलाधारसे उठकर हृदयमें पहुँचकर गूँजनेवाले वर्णको पश्यन्ती, हृदयसे उठकर सङ्कल्प और बुद्धिसे मिले हुए वर्णको मध्यमा और बुद्धिसे बाहर आकर मुँहसे प्रकट होनेवाले वर्णको वैखरी कहते हैं। अत: बोली हुई वाणी वैखरी, लेख-रूपमें प्रकट होनेवाली वाणी मध्यमाका परिणाम, सब प्रकारकी हृदयानुभूतिके रूपमें व्यक्त होनेवाली भावनाएँ पश्यन्तीका परिणाम और परमात्म-चिन्तन केवल पराका विषय होता है।

## निरुक्ता और अनिरुक्ता वाणी

वैदिक साहित्यमें वाक् या वाणीके दो भेद किए गए हैं—निरुक्ता और अनिरुक्ता। जो प्रकट सुनाई पड़े और व्यक्त हो वह निरुक्ता; जो अप्रकट और अव्यक्त हो वह अनिरुक्ता। वैखरी वाणी निरुक्ता होती है; मध्यमा कभी निरुक्ता और कभी अनिरुक्ता होती है; पश्यन्ती तथा परा वाणी केवल अनिरुक्ता होती हैं। वैखरी वाणी भी दो प्रकारकी होती है—व्याकृता तथा अव्याकृता। जिन ध्वनियोंको मनुष्यने सार्थक बनाकर अपने व्यवहारके लिये बोलचालका साधन बनाया है और जिसे वे किसी विशेष नियमके साथ प्रयोग करते हैं उसे व्याकृता कहते हैं। शेष सब ध्वनियाँ अव्याकृता हैं, जैसे पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ, बच्चेकी तोतली बोली आदि। सभी काव्योंमें केवल व्याकृता वाणीका ही प्रयोग होता है किन्तु नाटक या रूपक एक ऐसा काव्य है जिसमें अव्याकृता वाणीका भी प्रयोग किया

गया है और किया जा सकता है जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलमें कोकिलका कूजन आदि। जो ध्वनि एक देशके लिये व्याकृता है वह भी दूसरेके लिये अव्याकृता हो सकती है।

## दैवी, भौतिक और पार्थिव वाक्

वैदिक साहित्यमें तीन प्रकारकी वाक् बताई गई है—दैवी, भौतिक और पार्थिव। दैवी वाक् वह है जो योगियोंको समाधि-अवस्थामें सुनाई पड़ती है और जिसे अनाहत नाद कहते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी भी इसी श्रेणीमें आती हैं। भौतिकके अन्तर्गत वे सभी ध्वनियाँ हैं जो पञ्च महाभूतोंमें व्यक्त होती हैं जैसे बादलोंका गर्जन, बिजलीकी कड़क, वायुकी मर्मराहट, हरहराहट, जलकी छलछलाहट या गरगराहट, आगकी सरसराहट, भूकम्प या ज्वालामुखीकी गड़गड़ाहट आदि। पार्थिव वाक् दो प्रकारकी बताई गई है—निरुक्ता और अनिरुक्ता। जिन ध्वनियोंका निर्वचन किया जा सके, व्युत्पत्ति की जा सके, अर्थ निकाला जा सके, उन सभी मानुषी ध्वनियोंको निरुक्ता कहा गया है और पशु-पक्षियोंकी बोली तथा बैल-गाय हाँकते समयकी क्लै-क्लै या हुर्र-हुर्र आदि सभी ऐसी सब ध्वनियाँ अनिरुक्ता हैं जिनका निर्वचन न किया जा सके।

## निरुक्ता वाक्

काव्य-शास्त्रियोंने केवल निरुक्ता वाक्को ही ग्रहण किया है। उसीको नियमित, संयत, शक्तिशाली, शिष्ट और संस्कृत करनेके लिये उन्होंने व्याकरण, छन्द अलङ्कार, ध्वनि, रस आदिका विधान करके उसे सुन्दर, ललित, प्रभावशाली, सशक्त और बहुमुख बनानेका प्रयत्न किया और उसके लिये गुण-दोषके बन्धन बाँधकर इन्होंने उसे प्रेय और श्रेय बनानेका भी प्रबन्ध किया। नाटकीय संवादोंको छोड़कर साहित्यकारको सर्वत्र शिष्ट निरुक्ता भाषाका ही प्रयोग करना चाहिए। निरुक्ता वाणी व्याकृत होती है। वह एक विशेष नियमके अनुसार चलती है अतः व्यापक रूपसे सब प्रकारके, सब जातियों और देशोंके लोगोंके पढ़नेके लिये भाषाका शिष्टजन प्रयुक्त रूप ही व्यवहृत किया जाना चाहिए। हाँ, नाटककी भाषा पात्रोंके देश, प्रकृति और संस्कारके अनुसार अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु होनी चाहिए वह भी सर्वबोध्य ही। अतः दर्शकोंकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि नाटककी भाषा एक

ही हो जो व्यापक रूपवाले देशके सब भागोंमें समान रूपसे समझी जाती हो और विभिन्न प्रदेशोंके उच्चारण तथा वाक्योंके रूपोंके कारण विभिन्न प्रदेशोंके भाषा-भाषियोंके द्वारा कुछ परिवर्त्तनके साथ बोली जाती हो। भाषाका प्रयोग करते समय साहित्यकारको वर्णनमें तो शिष्ट शैली किन्तु संवादोंमें प्रत्येक पात्रसे अपने पद, मर्यादा, ज्ञान, योग्यता, मानसिक या शारीरिक स्थिति तथा सम्बोध्य व्यक्तिकी योग्यता, अवस्था तथा पदके अनुकूल शिष्टके ही विभिन्न रूपोंका भाषा-व्यवहार कराना चाहिए। इस व्यवहारमें यह सम्भव है कि कुछ शिष्ट तथा विद्वान् पात्र तो व्याकरण-सिद्ध भाषामें तथा पूर्ण वाक्योंमें बातचीत करें किन्तु शेष ऐसे भी हो सकते हैं जो अशुद्ध, अप्रयुक्त, दुष्प्रयुक्त, कठिन, विरोधार्थी शब्दोंसे लदी, विभिन्न भाषाओंकी खिचड़ी बनी हुई, अपूर्ण, असङ्गत, अयुक्त और असमय वाक्य कहें या कभी-कभी भावावेशमें अधूरे और अस्पष्ट शब्दोंका प्रयोग करें और कभी-कभी अपने चरित्रके अनुसार ऊटपटाँग अनर्गल प्रलाप भी करें। अतः संवादकी भाषापर किसी व्याकरणका शासन नहीं हो सकता। किन्तु उसे शिष्टताकी सीमामें तो रहना ही चाहिए।

### अव्याकृताका प्रयोग

इसके अतिरिक्त नाटककी भाषामें तो अव्याकृता वाणीके प्रयोगका भी यथावसर निर्देश किया जा सकता है जैसे सिंहका गरजना, कोयलका कूकना आदि। यहींतक नहीं, बिजलीकी कड़क, समुद्रका गर्जन, झञ्झाकी हरहराहटका भी निर्देश करके नाटकमें प्रयोग कराया जा सकता है। हाँ, एक दैवी वाक् या अनिरुक्ता वाणीका प्रयोग नाटककार नहीं कर सकता और उसका रूप व्यक्त न होनेसे यन्त्रके माध्यमसे भी उसे प्रकट करके दिखाना सम्भव नहीं है फिर भी यदि उससे नाटकके व्यापारकी सिद्धि हो सके तो आकाशवाणीके समान उसका भी प्रयोग कराया जा सकता है।

### वाक्यका व्यापक अर्थ

जिस शब्द या शब्द-समूहसे वर्णन या संवादके प्रसङ्गमें पूर्ण वाक्यका इष्ट भाव प्रकट किया जा सके वही वाक्य है। कभी-कभी तो केवल एक हुँकारी या हुङ्कारसे स्वीकृति या अस्वीकृति, आदेश या निषेध कर दिया जाता है। नाटककी दृष्टिसे वह हुँकारी या हुङ्कार ही वाक्य बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस शब्द या शब्द-समूहसे वाक्यका अर्थ या भाव व्यञ्जित हो वह व्याकरणकी परिभाषाके अनुसार पूरा वाक्य न भी हो फिर भी वह वाक्य ही होता है क्योंकि उतनेसे ही इष्टार्थकी व्यञ्जना हो जाती है।

## संवाद

किसी कथा या नाटकमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति परस्पर बातचीत, विचार-विमर्श, कहा-सुनी, वाद-विवाद, गाली-गलौज, तर्जन-आह्वान आदिके लिये जो परस्पर वाग्व्यापार करते हैं अर्थात् वाणीका प्रयोग करते हैं उसीको संवाद कहते हैं। कभी-कभी मनुष्य अकेलेमें डरकर चिल्लाता है, सपनेमें बर्राता है, मन ही मन बुदबुदाता है, किसी सुन्दर वस्तुको देखकर प्रशंसात्मक शब्द बोल उठता है, विचित्र वस्तुको देखकर सहसा विस्मयसूचक शब्द उच्चरित कर उठता है, पत्र पढ़कर उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें करुणा, भय, स्नेह या आश्चर्यकी मुद्रामें कुछ कह बैठता है, देवी-देवताके आगे मनौती मानता या प्रार्थना करता है, मद्यके मदमें बकवाद करता है, किसीसे रुष्ट हो जाने या अपनी हानि हो जानेपर अपने शत्रु या हानि करनेवालेको कोसता है, पीड़ासे कराहता है, विचारमग्न होकर कुछ बड़बड़ाता है, अपने प्रिय या शत्रुकी किसी वस्तुको देखकर स्नेह या क्रोधसे कुछ कह बैठता है या शाप दे देता है। यह स्वयंलाप वाग्व्यापार भी संवाद ही है, क्योंकि इस प्रकारके वाग्व्यापारमें यद्यपि किसी दूसरेकी प्रत्यक्ष आवश्यकता या अपेक्षा प्रकट नहीं होती किन्तु परोक्ष रूपसे दूसरे व्यक्तिकी भावना इसमें अन्तर्हित होती ही है। अतः चाहे कोई व्यक्ति स्वतः कुछ वाग्व्यापार करता है या दूसरोंसे कराता है, सभी संवादके अन्तर्गत है। कभी-कभी मनुष्य अत्यधिक उल्लासके कारण निरुद्देश्य गाने लगता है या कुछ-कुछ बकने-झकने या बोलने लगता है वह संवाद नहीं होता, किन्तु नाटकीय वाग्व्यापारमें उसका भी प्रयोग होता है अतः उसे भी संवादका ही रूप मान लेना चाहिए। गद्य और पद्य दोनोंमें इस वाग्व्यापारकी रचना होती है, इसकी व्याख्या हम पीछे कर चुके हैं।

## भाषामें काव्यत्व

'भाषामें काव्यत्व कैसे आ सकता है।' इसकी व्याख्या की जा चुकी है। स्वाभाविक प्रतिभाके अतिरिक्त यह भाषाका संस्कार चार प्रकारसे आता है—

१. साहित्यकारोंके संसर्गसे, २. साहित्यका अध्ययन करने और नाटक देखनेसे, ३. साहित्य सर्जन करनेकी कलाके ज्ञानसे, और ४. जनताके विभिन्न वर्गों, संप्रदायों, वृत्तियों और समुदायोंके सम्पर्क तथा अध्ययनसे। किन्तु इन चारों प्रकारसे भाषाका संस्कार प्राप्त करनेके लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति और प्रतिभा आवश्यक है। जबतक लोकाचरणके अध्ययनकी प्रवृत्ति नहीं होगी और उस अध्ययनको ग्रहण करनेको प्रतिभा नहीं होगी तबतक वह संस्कार नहीं प्राप्त होगा। इसकी व्याख्या भी की जा चुकी है।

### पद या शब्द

पद या शब्दकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की गई है। पाणिनिने कहा है—'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्त शब्दको पद कहते हैं। सुबन्तका अर्थ है विभक्तिसे युक्त शब्द और तिङन्तका अर्थ है विभिन्न कालको व्यक्त करनेवाले रूपमें ढला हुआ क्रियापद। कुछ लोग शब्दकी परिभाषा यह बताते हैं कि 'अक्षरों या अक्षरोंके सार्थक मेलको पद या शब्द कहते हैं।' कुछ समीक्षकोंने कहा है कि 'मनुष्य-निर्मित उस ध्वनि-मेलको शब्द कहते हैं जिसका वह किसी अर्थमें प्रयोग करता हो और जो व्याकृत हो अर्थात् जिसकी व्याकरण-द्वारा मीमांसा की जा सकती हो।' किन्तु हमारी व्याख्याके अनुसार 'किसी वस्तु या क्रियाका सङ्केत देनेके लिये जो लोक-व्यवहृत ध्वनि या ध्वनि-समूहका प्रयोग किया जाता है उसे शब्द कहते हैं।'

आचार्योंने काव्यमें तीन प्रकारके शब्द माने हैं—१. वाचक, २. लक्षक या लाक्षणिक, ३. व्यञ्जक। वाचक शब्दोंके अर्थ वाच्यार्थ, लक्षक या लाक्षणिक शब्दोंके अर्थ लक्ष्यार्थ और व्यञ्जक शब्दोंके अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाते हैं। अभिधा शक्तिसे वाच्यार्थ प्रकट होता है, लक्षणा शक्तिसे लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना शक्तिसे व्यंग्यार्थ, अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके व्यापार अथवा क्रियाके द्वारा शब्दोंसे अर्थका बोध होता है। ये तीनों शब्दकी शक्ति या वृत्ति भी कहलाती हैं।

### तीन प्रकारके शब्द

शब्द तीन प्रकारके माने गए हैं—१. रूढ, २. यौगिक और ३. योगरूढ। इनके भी तीन-तीन उपभेद किए गए हैं, जैसे क. रूढ शब्द अव्यक्तयोग भी हो सकता है, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति छिपी रहती है, जैसे वृक्ष। ख. दूसरा

नियोग, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति नहीं होती, स्वयं व्यक्त होता है जैसे भू। ग. तीसरा योगाभास, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति दोनोंकी छाया हो जैसे मण्डप।

यौगिक शब्दके भी तीन भेद माने गए हैं—१. शुद्ध यौगिक, १. यौगिकमूल और ३. सम्भिन्नयौगिक, जैसे—क्रान्ति शब्द शुद्ध यौगिक है, स्फुरत्कान्ति यौगिकमूल है और कौन्तेय सम्भिन्नयौगिक है।

योगरूढके भी तीन भेद हैं—१. सामान्य, २. विशेष और ३ मिश्र। नीरधि शब्द सामान्य योगरूढ शब्द है, पङ्कज विशेष योगरूढ शब्द है और सागर, भूरुह आदि मिश्र हैं। क्षीर-सागर, आकाश-पङ्कज आदि सामासिक शब्द भी इसीसे बन जाते हैं।

## कूट शब्द

अभिनवभरतका मत है कि 'इन तीन प्रकारके शब्दोंके अतिरिक्त एक कूट शब्द भी होता है जिसका प्रयोग अन्य काव्य-रूपोंमें भी हो सकता है किन्तु नाटकमें तो अवश्य ही हो सकता है। राजनीति और विशिष्ट व्यापारवाले लोग अपने व्यवसायवालोंमें समझने-समझानेके लिये एक ऐसी शब्दावली बना लेते हैं जैसे दलाल और पण्डे कुछ साङ्केतिक शब्द चलाते हैं। लाक्षागृहमें विदुरजीने युधिष्ठिरको जिस भाषामें समझाया था वह भी कोई कूट भाषा ही थी। बहुतसे लोग अपने परस्पर वार्त्तालापके लिये भी शब्दोंका हेरफेर करके या घटा-बढ़ाकर या कोई विशेष अक्षर लगाकर शब्द-विकृति कर लेते हैं, जैसे—काशीके दलाल रुपएमें टका दलालीके लिये 'झज्जी', एक आनेके लिये 'खरे', दो आनेके लिये 'मङ्गल' और डेढ़ आनेके लिये 'ब्यौहार' कहते हैं।

## शब्दमें वाक्यकी ध्वनि

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो पूरे वाक्यकी ध्वनि व्यक्त करते हैं। एक साधारण शब्द ले लीजिए 'हाँ'। इस 'हाँ को काकुकी अनेक ध्वनियोंसे हम विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त कर सकते हैं। साधारणतः यह 'हाँ शब्द स्वीकारोक्तिका बोधक है, किन्तु किसीका गुप्त रहस्य जान लेनेपर इसी 'हाँ'को स्वरित करके यह अर्थ निकाला जा सकता है कि 'मैं तुम्हारा सब रहस्य समझता हूँ। मुझसे क्या छिपा रहे हो?' इसी 'हाँ'को किसी अप्रत्याशित

घटनाके उत्तरमें आश्चर्यकी मुद्रा साधकर इस अर्थमें व्यक्त किया जा सकता है कि 'मुझे यह आशा न थी कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य कर सकेगा।' इसी प्रकार यह प्रश्नवाचक, उपेक्षासूचक, उत्सुकता-निर्देशक और उपालम्भ-व्यञ्जक भी हो सकता है। इस प्रकारके शब्दोंमें 'हाँ, ना, अच्छा, क्या, क्यों, ऐसा, कैसे, कब, जब, नहीं, तो' आदि सम्मिलित हैं। कभी-कभी एक शब्द ही अर्थात् कोई संज्ञा या क्रिया-शब्द ही एक वाक्यका अर्थ दे देता है, जैसे—यह पूछनेपर—'क्या तुम काशी गए थे?' उत्तर मिला—'गया था।' इस 'गया था' का वाक्यरूप यह होगा—'हाँ, मैं काशी गया था।'

## तीन अन्य प्रकारके शब्द

सम्वाद तथा नाटककी दृष्टिसे ऐसे शब्द-वाक्योंका बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि वहाँ प्रायः एकशब्दीय वाक्य अधिक होते हैं और स्वाभाविकताकी दृष्टिसे एकशब्दीय वाक्य ही शुद्ध और स्वाभाविक होते हैं। अतः रूढयौगिक और योगरूढ शब्दोंके अतिरिक्त—१. कूट, २. काकुध्वनिक और ३. वाक्यव्यञ्जक भी शब्द होते हैं जो प्रश्न या उत्तरमें पूरे प्रश्न या पूरे उत्तरका स्पष्ट और निश्चित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

शब्दसे कैसे अर्थ निकलता है इसका विवेचन दूसरे खण्डमें शब्द-शक्तिके प्रसङ्गमें करेंगे।

## शब्दोंके रूप

निरुक्तमें प्रयोगके अनुसार शब्द चार प्रकारके माने हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। आजकल व्याकरण लिखनेवालोंने बताया है कि शब्द पाँच रूपोंमें आते हैं—१. संज्ञा (नाम), २. क्रिया (काम बताकर), ३. सर्वनाम (नामके बदले आकर). ४. अव्यय (सदा एक-से रहकर) ५. विशेषण, (संज्ञा या क्रियाकी विशेषता बनकर)। योरोपवाले इसमें सम्बन्धवाचक, परसर्ग (प्रिपोज़िशन), आकस्मिकता-सूचक, प्रत्यय और उपसर्ग आदि और भी रूप मानते हैं किन्तु आचार्य चतुर्वेदीने अपने 'भाषा-लोचन'में केवल तीन प्रकारके शब्द माने हैं—

१. संज्ञा (किसी स्थान, वस्तु, व्यक्ति, जाति, गुण या क्रियाका नाम)। २. अव्यय और ३. स्वयंस्फुट। संज्ञाका काम है किसी वस्तु,

स्थान, व्यक्ति भाव, काम और गुणका नाम बताकर उन्हें पहचनवाना, अव्ययका काम है शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध बताना, स्वयंस्फुटका काम है 'आह-वाह' बनकर मुँहसे निकल पड़ना।

### अर्थ

साहित्यदर्पणकारने कहा है—

वर्णाः पदप्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ( २।४ )

[ पद उस वर्ण-समूहको कहते हैं जिसका प्रयोग किया जा सके, जो दूसरे शब्दके अर्थसे अलग हो, एक हो और उसका कोई अर्थ हो। ]

किन्तु नाटकमें प्रत्येक वक्ता व्याकरणके नियमके अनुसार शब्द या वाक्यका प्रयोग करनेको बाध्य नहीं होता। कभी-कभी वह हाँ, ऊँ आदि ध्वनि ही करता है जिसकी यद्यपि साधारणतः कोई निरुक्ति नहीं की जा सकती किन्तु वक्ता उसका परिस्थितिवश प्रयोग करता है और उसका श्रोता उसका एक विशेष अभीष्ट अर्थ ग्रहण कर लेता है। कभी-कभी ये अर्थ दुहरे होते हैं जिनमेंसे एक अर्थ सामाजिकके लिये होता है, दूसरा नाटकीय पात्रके लिये। अभिनवभरतके 'अजन्ता' नाटकमें तीसरे अङ्कके तृतीय दृश्यमें पिण्डोल कहता है—

'बस, एक ही पौमें अमात्य और दण्डनायकको पीटनेकी सामग्री जुट रही है।'

सामाजिक-गण पिछला प्रसङ्ग जाननेके कारण इसका अर्थ यह लगाते हैं कि अब अमात्य और दण्डनायक दोनों पकड़े जायँगे और दोनोंको दण्ड मिलेगा किन्तु चण्डसेन और नागदत्त समझते हैं कि हमारे पासेकी गोटी ही पिटनेवाली है। अतः अभिनवभरतका मत है कि 'अर्थ दो प्रकारके होते हैं—१. वक्ताभिप्रायवाची और २. श्रोतृग्रहणानुसारी अर्थात् एक कहनेवालोंके अनुसार और दूसरा सुननेवालोंके अनुसार। शब्दकी तीन शक्तियाँ माननेसे सबसे बड़ा दोष तो यह हो गया है कि कविने अपनी रचना जिस विशिष्ट अर्थमें की है उसके न जाने कितने अर्थ टीकाकारोंने अपने पाण्डित्यके कारण अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तिके आधारपर निकाल लिए जो मूल कविका अभिप्राय ही नहीं रहा। अतः वाक्यमें तो शब्दकी एक ही शक्ति माननी चाहिए और वह है केवल व्यञ्जना-शक्ति। वाक्यका प्रत्येक

शब्द व्यञ्जक होता है और वाक्यका सामूहिक भाव भी एक व्यंग्य भाव ही रहता है जिसे उसका प्रभाव कहते हैं। अतः 'कुछ कहे हुएको सुनकर या लिखे हुएको पढ़कर जो समझमें आवे उसे अर्थ कहते हैं।'

**वाक्य**

वक्ताके भावोंकी व्यञ्जना करनेवाले शब्दोंके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यके सम्बन्धमें कहा गया है—'तिङ्सुबन्तयोश्चयः समुदायः कारकान्विता क्रिया च वाक्यम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्त शब्दोंका कारक और क्रियासहित समूह वाक्य कहलाता है।' यह भी कहा गया है—'परस्पराभिसम्बन्धः पदसमूहो वाक्यम्' ( परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध शब्दोंके समूहको वाक्य कहते हैं )। रीतिकारोंने कहा है—

वाक्यं स्यात् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। [ साहित्यदर्पण २ ]

[ योग्यता, आकांक्षा और सन्निधिसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। ]

**योग्यता**

योग्यताका अर्थ है एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ उचित सम्बन्ध, जैसे कोई कहे—'मैं जलसे नहाता हूँ।' इसमें औचित्य है। किन्तु यदि कोई कहे कि 'मैं आगसे नहाता हूँ' तो यहाँ औचित्य या योग्यता नहीं है। अतः यह वाक्य ही नहीं है। कुछ लोगोंने वाक्यकी परिभाषा यह बताई है—'सार्थक शब्द-समूहको वाक्य कहते हैं।' 'मैं आगसे नहाता हूँ' में सभी शब्द सार्थक हैं और व्याकरणवाले भी अपने नियमसे अर्थात् कर्त्ता, कर्म, क्रियाके उचित क्रमसे होनेके कारण इसे वाक्य माननेमें कोई सङ्कोच नहीं करेंगे, फिर भी औचित्य न होनेसे यह वाक्य नहीं माना जा सकता। काव्यमें भी जहाँ तुलसीदासजीने कहा है कि चन्द्रमाको देखकर सीताजी उसे सूर्य समझती हैं और कहती हैं—

सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहिँ जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥

यहाँ सीताजी चन्द्रमाको सूर्य समझकर प्रणाम कर रही हैं किन्तु यहाँ विरह व्यंग्य है इसलिये योग्यता न होनेपर भी सीताजीकी मानसिक अवस्थाके कारण इसे भी 'योग्यता' के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। संवादोंमें पागलोंके उन्मत्त प्रलाप अथवा विदूषककी उक्तिमें योग्यताहीन वाक्य भी लाए जा सकते हैं।

## आकांक्षा

आकांक्षा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यमें किसी पदकी कमी रह जाती हो जैसे 'मैं पुस्तक' कहनेसे वाक्य पूरा नहीं जान पड़ता। इसमें 'पढ़ रहा हूँ' पदकी आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु नाटकमें प्रायः संवादोंमें एक शब्दमें ही वाक्य आ जाते हैं, जैसे—

हरि—चलोगे ? ( मेरे साथ चलोगे ? )

मोहन—कहाँ ? ( मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो ? )

हरि—गङ्गाजी ( गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये तुम्हें अपने साथ ले चलना चाहता हूँ। )

ऊपरकी तीनों उक्तियोंमें 'चलोगे', 'कहाँ' और 'गङ्गाजी' शब्द ही हैं किन्तु कोष्ठकमें दिए हुए वाक्योंके व्यञ्जक हैं। अतः यहाँ अन्य पदोंके न होनेपर भी प्रकरणके कारण अन्य पदोंका अध्याहार हो जाता है।

## सन्निधि

'सन्निधि'का अर्थ यह है कि वाक्यके सब शब्द एकके पश्चात् दूसरेके क्रमसे अविलम्ब कहे जाने चाहिएँ। यह नहीं कि 'तुम जाओ' वाक्य कहनेमें 'तुम' के पश्चात् किसी दूसरेसे बातचीत करके कहा जाय 'जाओ' या कुछ विलम्बसे कहा जाय। यह काल-व्यवधान माना जाता है। दूसरी बाधा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यके शब्दोंके बीचमें कोई दूसरे शब्द आ जायँ। जैसे कहना है—'यह काली घटा उमड़ी चली आ रही है।' इसीको यदि कोई कहे 'यह काली, पान तो लाओ जी, घटा उमड़ी, पोथीके पन्ने किसने फाड़ दिए, चली आ रही है।' इसे अनुपयुक्त पद-व्यवधान कहते हैं। किन्तु साहित्यमें सन्निधिका होना अनिवार्य नहीं है। रोगी, विक्षिप्त, व्यथित, अन्यमनस्क, स्वप्निल तथा भयातुर व्यक्ति तो सन्निधि-हीन वाक्यका भी प्रयोग कर सकता है। तथ्यातिरेकवादी तो मानते ही हैं कि चेतनाधारामें जिस क्रमसे विचार आवें उसी क्रमसे रखते चले जाओ चाहे उसमें सङ्गति या सम्बन्ध हो या न हो।

अतः नाटककी दृष्टिसे वाक्य उस शब्द-समूहको कहते हैं जो किसी पात्रके मुखसे नाटककार-द्वारा निर्दिष्ट स्थितिमें व्यक्त होकर नाटकीय कथावस्तु चरित्र, भाव अथवा परिस्थिति समझनेमें दर्शकोंको योग दें।

राजशेखरने कहा है—'पदानामभिधित्सितग्रथनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्'—अर्थात् इच्छित अर्थको गूँथनेवाले पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यकी यह परिभाषा काव्यके लिये अत्यन्त योग्य है।

### वाक्यके दस भेद

राजशेखरने काव्य-मीमांसामें वाक्योंके दस भेद भी बताए हैं—एकाख्यात, अनेकाख्यात, आवृत्ताख्यात, एकाभिधेयाख्यात, परिणताख्यात, अनुवृत्ताख्यात, समुच्चिताख्यात, अध्याहृताख्यात, कृताभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात।

### विधि-निषेध-वाची वाक्य

सभी वाक्य या तो विधिवाची होते हैं या निषेधवाची। 'मैं जा रहा हूँ' विधिवाची है, 'मैं नहीं जा रहा हूँ' यह निषेधवाची है। किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें विधि या निषेधकी बात नहीं होती। उसमें सम्बोध्य व्यक्तिसे निश्चित रूपसे कोई कार्य करानेकी भावना होती है किन्तु उसके लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह १. विधिमुखेन प्रवृत्तिवाला भी हो सकता है और २. निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला भी। निम्नलिखित दोनों अनुनयात्मक वाक्योंका अर्थ यही है कि 'आप मेरे लिये अमुक कार्य कीजिए', किन्तु दोनोंकी प्रकृति अलग-अलग है। विधिमुखेन प्रकृतिवाला वाक्य यह होगा—'आप कृपाकर मेरा काम अवश्य कर दीजिए।' निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य होगा—'आप कैसे मेरे लिये यह काम नहीं कर दीजिएगा? (अर्थात् अवश्य कर दीजिएगा)।

### काकुसिद्ध वाक्य

वाक्यकी एक तीसरी प्रकृति होती है जिसे काकु प्रकृति कहते हैं। उसकी अर्थ-व्यञ्जना कहनेवालेके ढङ्गपर अवलम्बित होती है। 'आप तो साक्षात् बृहस्पति हैं', या 'आइए पण्डितराज', अथवा 'आप थे?' आदि वाक्योंमें बोलनेके अनुसार यह अर्थ निकल सकता है कि 'आप परम मूर्ख हैं', 'आइए मूर्खराज', 'यह मूर्खताका काम आपके अतिरिक्त कौन कर सकता है?' ये सब वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं—१. प्रश्नवाची और २. उक्तिवाची। ये सब वाक्य भी विधि-निषेधात्मक होते हैं। गद्य-वाक्योंकी कितनी शैलियाँ होती हैं, इसका विवरण हम पीछे दे आए हैं अतः यहाँ केवल संवादोंके वाक्योंकी प्रकृतिका विवेचन करेंगे।

## वाक्यके रूप

संवादोंमें जितने भी वाक्य आते हैं वे भाव-प्रधान होते हैं अर्थात् मनुष्यके मन और हृदयकी भावनाओंसे रँगकर वे किसी विशिष्ट भावकी व्यञ्जना करना चाहते हैं। इनमेंसे कुछ तो केवल उपचारसूचक होते हैं जो विभिन्न चरित्रोंके पद, मर्यादा और अवसरके अनुकूल केवल लोकाचारके प्रदर्शनार्थ प्रयोग किए जाते हैं, जैसे—मैं आपको प्रणाम करता हूँ, चिरञ्जीव हो, आयुष्मान् हो।' ये उपचार-शब्द संस्कृतके 'अभिवादये' और 'आयुष्मान्' भावके रूपान्तर हैं। नागरी भाषामें बड़ोंको प्रणाम, समानको नमस्कार, छोटोंको 'जियो' कहना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'आइए, पधारिए। कहिए कुशल तो है? बस आपकी कृपा है। बाल-बच्चे तो अच्छे हैं' आदि आचार-वाक्योंका प्रयोग लोकाचारके अनुसार किया जाता है। ये प्रयोग देश-भेदके अनुसार अलग-अलग प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। कहीं 'राम-राम', कहीं 'जय सियाराम', कहीं 'जै श्रीकृष्ण', कहीं 'पालागन', कहीं 'दण्डवत्', यहाँतक कि मुसलमानी आचारके अनुकरणमें बहुतसे हिन्दू भी 'आदाब अर्ज़, तसलीमात् अर्ज़, सलाम वालेकुम्' आदिका प्रयोग करते हैं और अँगरेज़ोंकी देखा-देखी 'गुड मौर्निङ्ग, गुड नाइट, और गुड बाइ'का भी प्रयोग करते हैं। इन सब उपचार-वाक्योंका प्रयोग देश, काल, पात्रके अनुसार ही करना चाहिए। उसके लिये कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। किन्तु शुद्ध भारतीय प्रणालीके अनुसार बड़ेको 'प्रणाम', समवयस्कको 'नमस्कार' और छोटेको 'आशीर्वाद' कहना चाहिए। सौभाग्यवती स्त्रियोंक 'सौभाग्य अचल हो' और कन्याओंको 'स्वस्तिमती हो' कहना चाहिए।

## भावके अनुसार वाक्य-रचना : क्रम-विपर्यय

भावके अनुसार वाक्यके अनेक भेद हो सकते हैं जिनमेंसे मुख्य नीचे दिए जाते हैं—

भावानुकूल वाक्य-रचनामें कभी-कभी विशेष बल देने अथवा प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये शब्दोंके क्रमका विपर्यय भी कर दिया जाता है, जैसे—'मैं तुम्हें जानता हूँ' वाक्यका 'मैं जानता हूँ तुम्हें', अथवा 'तुम्हें मैं जानता हूँ' अथवा 'तुम्हें जानता हूँ मैं' आदि। अतः वाक्य-रचनामें साहित्यकारको

यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई निर्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये कौन-सा शब्द वाक्यमें कहाँ रक्खा जाय ।

### सूचनात्मक वाक्य

साधारणतः अधिकांश वाक्य सूचनात्मक होते हैं । 'मैंने अमुक कार्य किया, मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ, मैं अमुक कार्य करनेवाला हूँ या करूँगा, मैंने अमुक कार्य नहीं किया, मैं नहीं कर रहा हूँ अथवा मैं नहीं करूँगा ।' इनमें दोनों प्रकारके विधि और निषेधवाची वाक्य सूचनात्मक हैं ।

### प्रश्नात्मक वाक्य

प्रश्नात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—१. केवल जिज्ञासाकी तृप्तिके लिये पूछे हुए, जैसे—क्या आप वहाँ गए थे? क्या आप उधर जाइएगा ?' आदि । २. ऐसे वाक्य जिनमें आज्ञाकी भावना निहित रहती है, जैसे—'क्या तुम नहीं जाओगी ? क्या तुम नहीं करोगी ?' इत्यादि । ३. वे वाक्य हैं जिनमें किसी दूसरेके मनका भेद निकलवानेकी वृत्ति होती है या किसी विशेष कार्यके लिये भेजे हुए व्यक्तिसे सविशेष जाननेकी उत्कण्ठा होती है । इनमेंसे प्रथम प्रकारके वाक्योंमें काइयाँपन, धूर्त्तता, कूटनीतिज्ञता भरी होती है , जैसे—'जब तुम गए और तुमने मेरे विषयमें पूछा तब उनका मुँह कैसा हो गया था ?' अथवा 'तुम्हारी बात सुनकर क्या उन्होंने मेरे विषयमें कुछ पूछा था ?' आदि । उत्कण्ठापूर्ण प्रश्नात्मक वाक्योंमें प्रायः उत्तर थोड़ा होता है किन्तु प्रश्न अधिक रहते हैं, जैसे अपने प्रियके पाससे सन्देश लानेवाली दूतीसे कोई नायिका पूछती है—'कहो मिल आई ? कैसे थे ? क्या कर रहे थे ? मेरी बात सुनकर क्या कहा ? कुछ मेरे लिये सन्देश भी दिया है ?' आदि ।

### समर्थनात्मक वाक्य

कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें किसीके कहे हुए वक्तव्यका समर्थन-मात्र होता है। ये भी चार प्रकारके होते हैं–१. समर्थन करनेवाला कहनेवालेके प्रति पूरी सहानुभूतिके साथ सक्रिय रूपसे योग देता है अर्थात् उसमें समर्थन करनेवालेकी स्वानुरक्ति होती है, जैसे—'ठीक किया आपने, मैं भी उसको समझ लूँगा ।' २. जिनमें केवलचाटुकारिताका प्रदर्शन होता है, जैसे—'बड़ा

अच्छा किया आपने, आप न करेंगे तो ऐसा करेगा कौन ?' ३. जिनमें किसीके कार्यकी प्रशंसामें उसका समर्थन किया जाता, जैसे—'आपने देशके लिये जो त्याग किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। हम सब उससे गौरवान्वित हैं।' ४. जिनमें अर्थ-समर्थन समझना चाहिए, जैसे—'अच्छा ! जो किया ठीक ही किया' आदि।

## विरोधनात्मक वाक्य

समर्थनात्मकके उलटे विरोधनात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—

१. जिनमें उद्दण्डता और अधिकार होता है, जैसे—'तुम कुछ नहीं जानते; तुम ठीक नहीं कर रहे हो।'

२. जिनमें मित्र-बुद्धि रहती है जैसे—'भाई ! तुम जो चाहो सो करो, पर मेरी सम्मति नहीं है।'

३. जिनमें कान्तासम्मित विरोध होता है जैसे—'यदि तुम यह नहीं करोगे तो मैं विष खाकर प्राण दे दूँगा, डूब मरूँगा, नहीं बोलूँगा।' कुछ विरोधनात्मक वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें ढुलमुलपन होता है जैसे—'आप यह न करते तो अच्छा ही था किन्तु कर रहे हैं तो कोई चिन्ता नहीं, देखा जायगा' अथवा 'देखिए क्या होता है, आपने तो कर ही दिया।' पद और मर्यादाके अनुकूल ऐसे विरोधनात्मक वाक्य अनेक कौशलोंसे कहे जा सकते हैं, जैसे—'आपके पितामहने आजतक दीनोंको अपने द्वारसे विमुख नहीं किया। आपके पिताजीने स्वयं द्वारपर खड़े होकर न जाने कितने निर्धनोंको धनी बना दिया, कितने अनाथोंको सनाथ कर दिया। वे जब स्वर्गसे देखेंगे कि आपके हाथ संकुचित हुए बैठे हैं तब उन्हें क्या मर्मान्तक पीड़ा न होगी।' इस वाक्यसे अनुदार व्यक्तिकी अनुदारताका विरोध किया गया है और उदारताके लिये उत्साहित किया गया है।

## आदेशात्मक वाक्य

कुछ वाक्य आदेशात्मक होते हैं। समय, प्रकृति, सम्बोध्य व्यक्ति तथा परिस्थितिके अनुसार ये आदेश विभिन्न प्रकारके हो सकते हैं। राजा अपने सेवकको, सेनापति अपने सैनिकको शुद्ध आज्ञा देता है—ऐसा करो, ऐसा मत करो। प्रेयसी भी प्रियके पास सन्देश ले जानेवालेके लिये आदेशात्मक वाक्यका

प्रयोग करती है—'देखो, वहाँ जाना तो इस प्रकार कहना, इस प्रकार मनाना, इस प्रकार मेरा विरह वर्णन करना।' कभी-कभी मनुष्य क्रोध या हठमें आकर कुछ आदेश देता है—'यह करो नहीं तो खाल खींच लूँगा, प्राण ले लूँगा।' कुछ आदेश केवल स्नेहवश दिए जाते हैं, जैसे वृद्ध पिता अपने प्रौढ पुत्रको यात्राके समय समझाता है—'देखो किसी ऐसे-वैसेके साथ मत उठना-बैठना, पैसा सँभालकर रखना, चलती गाड़ीपर मत चढ़ना।' मित्रों या समीपवर्त्तियोंके भी कुछ आदेश होते हैं—'वहाँ जाना तो अमुक वस्तु ले आना, उसके लिये प्रयत्न करना, उसे सहायता देना' आदि। कभी-कभी साधु-संन्यासी लोग विशिष्ट फलके लिये अपने शिष्योंको आदेश देते हैं—'अमुक प्रकारसे मन्त्रका जप करो या अमुक अनुष्ठान कराओ तो अमुक फल होगा।' ये आदेश सदा मान्य नहीं होते। किन्तु ऊपर जितने आदेशोंका वर्णन है वे सब अवस्थामें प्रायः मान्य होते हैं।

### सम्मतिसूचक वाक्य

कुछ वाक्य सम्मत्यात्मक होते हैं। इनकी वृत्ति यह होती है कि इनमें दोनों पक्षोंका हिताहत समझाया जाता है, निर्णय कुछ भी नहीं दिया जाता, जैसे—'अमुक कार्य करनेसे तुम्हें द्रव्य मिलेगा, यश भी प्राप्त होगा किन्तु वहाँका जलवायु तुम्हारे स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं होगा। जा रहे हो तो जाओ पर दो बातोंका सदाका ध्यान रखना, एक तो वहाँ ठग बहुत हैं और दूसरे वहाँ गुणज्ञ कोई नहीं है।'

दूसरे प्रकारकी सम्मति निर्णयात्मक सम्मति कहलाती है। इसमें निर्णय तो दे दिया जाता है किन्तु मानने न माननेका अधिकार सम्बोध्यपर छोड़ दिया जाता है, जैसे—'वहाँ जाओगे तो निश्चय तुम्हें रोग पकड़ लेगा। अब सोच लो, जो चाहो वह करो।' ये सम्मत्यात्मक वाक्य कभी-कभी छल और प्रवञ्चना-पूर्ण भी होते हैं। इनका उद्देश्य ऐसी भ्रमात्मक सम्मति देना होता है जिससे सम्बोध्यकी निश्चित रूपसे हानि हो, जैसे—'उस व्यक्तिका कभी भी विश्वास न कीजिएगा। वह भाई होते हुए भी आपके विरुद्ध षड्यन्त्र करता रहता है। उसका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए।' धूर्त्त, प्रवञ्चक, षड्यन्त्रकारी और कुटिल जन सदा इसी प्रकारकी सम्मति देते हैं। उनकी शब्दावलीमें जितनी अधिक आत्मीयता

होगी उतनी ही अधिक वह प्रभावशाली होगी जैसे—'आज मैं गया था था आपके लिये कुछ फल लेने। वहाँ देखा तो आपके भाई खड़े हुए आपके लिये दस बातें सुना रहे थे। मुझसे भी न रहा गया, मैंने भी उनको भर-पेट सुनाया। उन्होंने मेरा अपमान भी किया पर आपके लिये मैंने सब सह लिया। आप-जैसे देवताका ऐसा भाई! राम-राम! फिर भी आप उसके लिये प्राण दे रहे हैं? मेरा ऐसा भाई होता तो कभी उसका मुँह न देखता। आपके लिये ऐसे-ऐसे दुर्वचन कहे, मुझे तो कहनेमें लज्जा आती है', आदि।

### उपदेशात्मक वाक्य

उपदेशात्मक वाक्य छः प्रकारके होते हैं—

१. वृद्ध, गुरु, साधु, संन्यासी अथवा महापुरुष किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज या सम्पूर्ण मानव-समाजके हितकी बात कहते हैं। इन सब वाक्योंके कहनेवाले अपने अनुभवकी अथवा पुराणेतिहास-सिद्ध घटनाओंका उदाहरण देकर अपने वक्तव्यका समर्थन करते हैं, जैसे—'वे तुम्हारे बड़े भाई हैं। जानते हो लक्ष्मण और भरतने अपने बड़े भाईके लिये क्या किया? एकने चौदह वर्षतक उनके साथ जङ्गलमें रहकर उनकी सेवा की और दूसरेने भाईके लिये मिला हुआ अखण्ड राज्य भी ठुकरा दिया। क्या तुम अपने भाईके लिये थोड़ासा भी त्याग नहीं कर सकते?'

२. जिनमें कहनेवाला अपने धन अथवा पदके कारण अपनेको उपदेश देनेका अधिकारी समझकर उपदेश देता है—'अरे भाई हमारे पके हुए बालोंका तो कुछ ध्यान करो। हमारी बात तुम्हें माननी ही होगी। हम जैसा कहें वैसा करनेमें तुम्हें लाभ ही होगा।'

३. जिनमें माता-पिता अथवा बड़े लोग शिष्टाचारकी शिक्षा देते हैं जिनमें फलकी भी साथ-साथ विवेचना रहती है जैसे—'बड़ोंकी सेवा करोगे, उनका आदर करोगे तो बुद्धि बढ़ेगी, आयुष्य बढ़ेगा' आदि।

४. जिनमें कोई वय या पदमें छोटा व्यक्ति अपनेसे वय या पदमें बड़े व्यक्तिके अनीतियुक्त अथवा अनुचित कार्यपर समझाता हो, जैसे विभीषणने रावणको समझाया कि—'सीताजी जगदम्बा हैं। उन्हें हर लानेसे आपका कल्याण नहीं होगा।'

५. जहाँ कोई व्यक्ति अपने स्वामी या अपने किसी वृद्ध अभिभावक अथवा गुरुके आदेशानुसार किसीको जाकर उपदेश दे, जैसे अङ्गदने रावणको उपदेश दिया था।

६. जहाँ कोई सखी या वृद्धा किसी प्रेमासक्त नारीको प्रेम-विरत होनेका उपदेश देती हो।

पिछले तीन प्रकारके उपदेश प्रायः ग्राह्य नहीं हुआ करते और सम्बोध्य-द्वारा इनका विरोध, तिरस्कार या उपेक्षा होती है।

### तर्जनात्मक वाक्य

तर्जनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति किसी दूसरेको हानि पहुँचानेका भय दिखाकर उसे उग्र शब्दोंमें सम्बोधन करे। ये तर्जनात्मक वाक्य चार प्रकारके होते हैं—

१. जिनमें माता, पिता, गुरु और स्वामी अपने शिष्य या सेवकको अनुचित कार्य करनेसे रोकनेके लिये, अनुचित कार्य करने या पुनः न करने देनेके लिये या अनुचित कार्यमें बार-बार प्रवृत्त होनेपर उसे शारीरिक या बहिष्करण दण्ड देनेके लिये उद्धत शब्दोंमें सम्बोधन करते हैं। ऐसे तर्जनात्मक वाक्योंका उत्तर प्रायः दैन्यपूर्ण आत्म-निवेदन और क्षमा-प्रार्थना होती है। इन तर्जनात्मक वाक्योंके साथ प्रायः ताडनका भी प्रयोग होता है।

२. जहाँ दो प्रतिद्वन्द्वी अपने स्वत्वकी रक्षाके लिये अथवा अपना स्वत्व नष्ट होनेपर प्रतिहिंसाकी भावनासे तर्जन करते हैं। ये तर्जनात्मक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं—

( क ) एकमें केवल गाली-गलौज होकर रह जाती है। इसमें भाग लेनेवाले दोनों प्रतिद्वन्द्वी ऐसे कायर होते हैं जो केवल मौखिक युद्ध करते-करते कभी-कभी बाँह भी समेट लेते हैं पर इससे आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकारके तर्जनात्मक वाग्युद्ध प्रहसनोंमें बहुत उपयुक्तताके साथ प्रयुक्त हो सकते हैं।

( ख ) जो ओज, आवेश, क्रोधके साथ तर्जनयुक्त वाक्योंसे बढ़ते-बढ़ते मारपीट और युद्धतक पहुँच जाते हैं।

३. जिनका प्रयोग सदासे वीर लोग युद्ध-क्षेत्रमें अपने शत्रुओंको ललकारते समय करते आए हैं। इस प्रकारका तर्जन सात्त्विक तर्जन कहा जाता है और उत्साह उसका प्रेरक होता है। प्रायः सभी प्रकारके

तर्जनात्मक वाक्योंमें क्रोधकी भावना अवश्य रहती है। वह क्रोध जितना सात्त्विक अथवा उदात्त होगा उतना ही अधिक तर्जनात्मक वाक्य भी उदात्त और शिष्ट होगा, जैसे घोड़ा चुरा ले जानेवाले इन्द्रको रघुने कहा था—'हे इन्द्रदेव ! आप मेरे पिताके अश्वमेध-यज्ञके लिये यह अश्व छोड़ दीजिए। आप तो स्वयं वेदका मार्ग दिखानेवाले महात्मा हैं। ऐसा ओछा काम करना आपको शोभा नहीं देता।' इसपर भी जब इन्द्र न माने तब रघुने तर्जन करते हुए कहा—'यदि आपने यही निश्चय किया हो तो उठाइए शस्त्र और कीजिए युद्ध ! रघुको जीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते।' किन्तु ज्यों-ज्यों क्रोधमें प्रतिहिंसा, दम्भ और अभिमानका सम्मिश्रण होता रहता है त्यों-त्यों तर्जनात्मक वाक्य अत्यन्त निम्न कोटिके होते जाते हैं और उनमें गाली भर जाती है।

४. जिनमें यह आवश्यक नहीं होता कि प्रतिपक्षी सामने हो, जैसे किसी शत्रुका पत्र पढ़कर, सन्देश पाकर अथवा किसीके द्वारा अपने विरुद्ध शत्रुका आचार सुनकर मदपूर्ण तर्जनात्मक वाक्यका प्रयोग करना। ये वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं—( क ) आत्म-विश्वाससे भरे हुए, जैसे—'करे न चढ़ाई, हम किस बातमें कम हैं ? आप जैसे सेनापतियोंके रहते हम उसके जैसे दस शत्रुओंको ललकार सकते हैं।' इसमें आत्म-विश्वासके साथ प्रतिपक्षीके प्रति उपेक्षा भी भरी रहती है। ( ख ) जिनमें आत्म-प्रशंसा और अभिमान भरा रहता है, जैसे—'मैं उसको समझता क्या हूँ, मैं उसे चुटकीसे मसल दूँगा। मेरे बाणोंके आगे उसकी सेना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती' आदि।

### स्नेहाधिकारात्मक वाक्य

स्नेहाधिकारात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें दो स्नेही मित्र एक दूसरेपर अपना इतना अधिकार समझते हैं कि एककी बात दूसरा टाल नहीं सकता, जैसे—'जैसे भी हो, यह काम तुम्हें करना ही होगा। मेरे लिये तुम इतना कर दो, इसमें मेरे मानका प्रश्न है, बस तुम्हें करना ही होगा' आदि।

ये स्नेहाधिकारात्मक वाक्य कभी-कभी धर्म-बन्धनसे समर्थन करके भी प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे कष्टमें पड़ी हुई कोई अपरिचिता भी किसी समर्थ व्यक्तिको राखी भेजकर कहलावे—'यह राखी भेजती हूँ, आजसे तुम मेरे भाई हो, रक्षक हो। मुझे इस विपत्तिसे बचाना तुम्हारा धर्म है।'

## प्रार्थनात्मक वाक्य

कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें किसी व्यक्तिसे कुछ कार्य करनेकी प्रार्थना की जाती है। वे वाक्य परिस्थितिके अनुसार चार प्रकारके हो जाते हैं— १. अनुनयात्मक, २. अभ्यर्थनात्मक, ३. अनुरोधात्मक, और ४. आग्रहात्मक।

१. अनुनयात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति अपने बड़े, अपने स्वामी अथवा राजासे किसी विशेष पुरस्कार, प्रतिकार या कृपाकी भिक्षा माँगता है। प्राय: अनुनयात्मक वाक्य अपनेसे अतिरिक्त किसी दूसरेके हितकी साधनाके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं जैसे—'मेरा अनुनय है, इस बार इसे छोड़ दीजिए, क्षमा कर दीजिए या इसकी भूमि लौटा दीजिए।' किन्तु कभी-कभी अपने लिये भी अनुनय किया जा सकता है। उस समय यह दैन्य प्रार्थना-युक्त हो जाता है। इस प्रकारके वाक्यमें गिड़गिड़ाकर कहनेकी प्रवृत्ति होती है और अपने विशिष्ट अहितकी आशङ्का भी प्रकट की जा सकती है जैसे—'इस बार छोड़ दीजिए सरकार! आप हमारे माई-बाप हैं, आप दया न कीजिएगा तो सारा घर बिगड़ जायगा' आदि।

२. अभ्यर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई विशिष्ट पुरुष किसी मङ्गल-कार्यके लिये शासक या जनताके किसी विशेष व्यवहार या सहायताके लिये कहे, जैसे— 'गुजरातमें दुर्भिक्ष पड़ गया है, पशु समाप्त हो गए हैं, मनुष्य भूखसे व्याकुल घूम रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मैं अभ्यर्थना करता हूँ कि आप लोग अपनी रोटीका चौथाई भाग उन पीड़ित भाइयोंके लिये भेजें, जिन्होंने एक माससे अन्नका दर्शन नहीं किया है।' 'अथवा 'आप लोगोंने जिन्हें अपना अतिथि बनाकर बुलाया, उन्होंने आपका वैभव लूटकर, आपको नि:सत्त्व करके अपने भण्डार भरे और अपने शरीर पाले। आज वह समय आ गया है कि आप अपने पैरोंपर खड़े होकर इस अन्यायका प्रतिरोध करें और अपना छीना हुआ अधिकार लौटा लें।' इनमेंसे पहले प्रकारके वाक्योंमें करुणा और भावकता प्रधान होती है, दूसरे प्रकारमें आवेग और उत्तेजनाका प्राधान्य होता है।

३. अनुरोधात्मक वाक्य वे हैं, जहाँ सम्बोध्यसे कुछ सम्बन्ध अवश्य हो किन्तु उस सीमातक न हो कि उसे आज्ञा दे सकें या अधिकारसे वशमें कर सकें। अपने नेताओं अथवा शासकों तथा बड़ोंसे अनुरोध किया जाता है कि जो काम कहा जाय वह करें। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि अनुरोधको

सम्बोध्य मान ही ले। अनुरोधात्मक वाक्योंका प्रयोग साधारण परिचितोंके लिये भी किया जा सकता है जैसे—'तुम्हारी भाभीका अनुरोध है कि विवाहमें अवश्य सम्मिलित होना। आशा है तुम यह अनुरोध टालोगे नहीं।'

४. आग्रहात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—(क) जिनमें शुद्ध हठ भरा रहता है, जैसे स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियोंसे कहती हैं—'तुम मेरे लिये चन्द्रहार नहीं लाए?' बालक कहता है 'आप मिठाई नहीं लाए?' (ख) जिनमें कोई कष्टमें पड़ा हुआ व्यक्ति किसी अपने समर्थ किन्तु कञ्जूस मित्रसे किसी विशेष सहायताके लिये बार-बार हठपूर्वक विनय करता है, जैसे—'भाई इस बार जैसे भी हो तुम दो सौ रुपए दे ही दो। और कोई मेरा नहीं है। तुम्हें देना ही होगा। तुम्हारे रहते मैं माँगने किससे जाऊँ?' इस प्रकारके वाक्योंमें दैन्य, हठ, विवशता, चाटुकारी, प्रार्थना तथा अनुरोध सबका सम्मिश्रण होता है। (ग) जिनमें बड़े-बड़े नेता, राजा या महापुरुष जनतासे किसी विशेष त्याग या सहायताके लिये आग्रह करते हैं। इनमें अधिकारकी मात्रा अधिक रहती है, जैसे—'सेठजी! युद्ध-कोषके लिये आपको एक लाख रुपया देना ही होगा।' सेठजीके टालमटोल करनेपर भी अधिकारके बलपर उतना ही लिख लिया जाता है और प्राप्त कर लिया जाता है।

इन आग्रहात्मक वाक्योंके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्तपूर्ण आग्रहात्मक वाक्य होते हैं जो किसी विशेष व्यक्तिके सिद्धान्तकी रक्षाके लिये उसके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इनमें सत्याग्रह भी होता है दुराग्रह भी। इनमें प्रतिज्ञाकी अधिक प्रवृत्ति होती है जैसे—'जबतक गोवध बन्द नहीं होगा तबतक मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' यह सत्याग्रहात्मक वाक्य है। दुराग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें केवल अपनी सनक या अपनी धारणाको अपने व्यक्तित्वके बलपर सबसे मनवानेका आग्रह होता है, जैसे—'जबतक अन्त्यज मन्दिरोंमें प्रवेश नहीं करेंगे तबतक मैं जल ग्रहण नहीं करूँगा।' सत्याग्रहात्मक वाक्योंमें सार्वभौम लोकमङ्गलकी कामना होती है और दुराग्रहात्मक वाक्योंमें किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या वर्गके प्रति पक्षपात होता है।

### व्यग्रता-सूचक वाक्य

व्यग्रता-सूचक वाक्य वे हैं जिन्हें कोई व्यक्ति भय, आशङ्का या विपत्तिके समय अथवा किसी दूसरेको कोई कुसंवाद सुनानेके प्रयोगमें लाता है। इन

वाक्योंमें अधीरता, अक्रमता, असम्बद्धता, उद्विग्नता और व्याकुलता भरी रहती है जैसे—वेणीसंहारके पताकास्थानकमें—

[ दुर्योधन— ········ मेरी दोनों जङ्घाएँ ।

( घबराया हुआ कञ्चुकी आता है )

कञ्चुकी—देव ! टूट गई, टूट गई ।

दुर्योधन—किसने तोड़ी ?

कञ्चुकी—भीमने ।

दुर्योधन—किसकी ?

कञ्चुकी—आपकी ।

दुर्योधन—क्या बकता है ?

कञ्चुकी—मैं ठीक कह रहा हूँ, देव ! भीम वायुने आपके रथकी ध्वजा तोड़ फेंकी है । ]

ऐसे व्यग्रता-सूचक वाक्य कभी-कभी भयङ्कर स्वप्न देख लेनेपर भी मुँहसे अनायास निकल पड़ते हैं । ये प्रारम्भमें भय और अचेतनासे भरे हुए होते हैं किन्तु धीरे-धीरे चेतना होनेपर वे ठीक हो जाते हैं जैसे—

[ स्वप्न देखकर ]

'कौन, कौन ? तुम, मेरे शत्रु ! ( चिल्लाकर ) आह ! कोई है ? लाओ तो मेरी तलवार ! ( आँखें मलते हुए ) एं ! मैं क्या देख रहा था ? स्वप्न ! बड़ा भयङ्कर स्वप्न था ।'

### उन्माद-सूचक वाक्य

कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनमें असम्बद्ध प्रलाप भरा रहता है । इनमें सम्बद्ध-असम्बद्ध, सज्ञान और अज्ञानयुक्त वाक्योंका बड़ा गड़बड़-घोटाला भरा रहता है । मद्यप, अफ़ीमची और उन्मत्त लोगोंकी बातें ऐसे ही वाक्योंमें होती हैं । विक्षिप्त और सनकी भी इसी श्रेणीकी बातें करते हैं । अन्तर यही होता है कि ये जो कहते हैं उसमें कुछ सज्ञानता अवश्य रहती है ।

### हास्यात्मक वाक्य

हास्यात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—

१. जो केवल प्रहसनोंमें ही काम आते हैं, जैसे यह प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी—

'अपनी नाक तो देखो, जैसे किसीने सिंघाड़ा छीलकर टाँक दिया हो ।'

'पहले अपनी नाक तो सँभालो, जिसपर रथका पहिया घूम गया ।'

२. जो मूर्ख बनानेके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं । ये कई प्रकारके होते हैं—( क ) जिनमें सत्यका रूपक धारण करके ऐसा असत्य भाषण किया जाता है जिसे सत्य समझकर आचरण करनेपर सम्बोध्य मूर्ख बनाया जाता है, जैसे—'अरे, आप यहाँ बैठे हैं ? आपकी गाय अमुक व्यक्ति खोल ले गया है ।' यह सुनकर वह व्यक्ति घरकी ओर झपटता है और कहनेवाला हँस देता है ।

३. जिनमें सम्बोध्यकी झूठी प्रशंसा करके अथवा उसे कोई झूठा सुसंवाद सुनाकर उससे द्रव्य ऐंठा जाय, जैसे किसी रसिक वृद्धसे कहा जाय—

'लाइए, खिलाइए मिठाई ! आपका विवाह निश्चित हो गया ।'

'सच क्या ?'

'हाँ, हाँ, यह लीजिए पत्रिका ।'

[ पत्रिका दे देते हैं । वृद्ध बहुत प्रसन्न होता है और जेबसे कुछ रुपए निकालकर देता है । ]

इस प्रकारके मूर्ख बनानेवाले वाक्य सम्बोध्यकी प्रकृतिके अनुसार और सम्बोधककी योग्यताके अनुसार बहुत प्रकारके हो सकते हैं ।

### उपेक्षात्मक वाक्य

कुछ वाक्य उपेक्षात्मक होते हैं जिनमें किसीके वचन या क्रियाके प्रति उपेक्षा प्रकट की जाती है । ये दो प्रकारके होते हैं—१. एकमें निरन्तर दोष करनेवाले व्यक्तिके प्रति ऊबसे भरी हुई उपेक्षा भरी होती है, जैसे—

'क्या करें भाई ! हमने तो बहुत समझाया, अब नहीं मानता तो जो उसकी इच्छा हो वह करे । हमारी ओरसे भाड़में जाय ।'

२. दूसरे उपेक्षात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें आत्मसम्मानकी बात अधिक होती है, जैसे—

'वे धन्नासेठ होंगे अपने घरके । मैंने कभी उनके आगे हाथ नहीं पसारा । यदि वे अपने घरके बड़े हैं तो मैं भी अपने घरका बड़ा हूँ ।'

### व्यंग्यात्मक वाक्य

१. व्यङ्ग्यात्मक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं—जिनमें ताना भरा हुआ होता है जैसे—

'उड़ा लो मौज बेटा अपने चाचाके बलपर ! कर लो मौज और चार दिन ! फिर देखेंगे कहाँसे मोटर आती है। बड़ी नाक हो तो अपनी कमाईका व्यय करो। दूसरेके बिरतेपर क्या नवाबी कर रहे हो ? बाप न मारी मेढ़की, बेटा तीरन्दाज़ ।'

२. जहाँ किसीको चिढ़ानेकी प्रवृत्ति हो जैसे—

'आँखके काने नाम नयनसुख। बचके रहना भाई ! यह काटता भी है ।'

कभी-कभी इस चिढ़ानेकी प्रवृत्तिमें मुँह बनाकर किसी वक्ताके कथनकी ज्योंकी त्यों आवृत्ति भी कर दी जाती है । जैसे—

वक्ता—कलसे मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा ।

दूसरा—( मुँह बनाकर ) कलसे मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा । क्या करोगे ? चोरी करोगे या डाका डालोगे ?

**चाटुकारितायुक्त वाक्य**

चाटुकारितायुक्त वाक्य वे होते हैं जिनमें सम्बोध्यकी झूठी और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती है । ऐसे वाक्योंके वक्ता या तो सम्बोध्यके आश्रित होते हैं अथवा उससे किसी प्रकारके लाभकी आशा रखते हैं जैसे—

'आपके समान दाता तो इस विश्वमें दूसरा उत्पन्न ही नहीं हुआ । कर्ण और दधीचि भी आपके सामने कुछ नहीं हैं। आप न होते तो संसार दाने-दानेको तरस गया होता ।'

**अन्य वाक्य**

इन वाक्योंके अतिरिक्त ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, आलस्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, उत्सुकता, दीनता, हर्ष, व्रीडा, रोष, चपलता, वितर्क, भय, सङ्कोच, आश्चर्य या विस्मय आदि अनेक भावोंके अनुसार भी वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। विशेषतः प्रेम-प्रसङ्गमें रूठने, मनाने, उपालम्भ, प्रेम-प्रदर्शन आदिके लिये नायक और नायिकाकी प्रकृति, परिस्थिति, अवसर, मर्यादा और भावके अनुसार अनेक प्रकारके वाक्योंका यथाप्रसङ्ग प्रयोग किया जा सकता है ।

**वाक्य-प्रयोगका कौशल**

वाक्योंके प्रयोगमें साहित्यकारका कौशल दो बातोंमें देखा जाता है—

१. भावके अनुकूल वाक्यविन्यासमें और २. पात्रके अनुकूल भाषा-शैलीकी योजनामें । बहुतसे कथाकारोंने अज्ञानवश अपनी सम्पूर्ण कथाकी

सम्वाद-भाषाशैली सब पात्रोंके लिये एक-सी रक्खी है। यह प्रयोग अत्यन्त गर्हित और अवाञ्छनीय है क्योंकि इससे पात्रोंकी भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और अस्वाभाविक होनेके कारण उसमें रस नहीं मिलता।

सम्वादोंके विषयमें साहित्यकारको पाँच सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिएँ—

१. सम्वाद स्वाभाविक हों अर्थात् पात्रकी प्रकृतिके अनुरूप हों।

२. सम्वाद उतना ही हो, जितनेसे कथाका विस्तार और चरित्रोंका विकास हो।

३. भाषा लोक-बोध्य हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दोंके प्रयोगों और विषयोंका विवेचन न हो।

४. सम्वादोंमें जोड़-तोड़के उत्तर-प्रत्युत्तर हों जिससे सम्वादमें सजीवता आवे, केवल विभिन्न व्यक्तियोंके वक्तव्य-मात्र न हों।

५. सम्वाद लम्बे न हों, केवल उतने ही हों जितने उस परिस्थितिमें आवश्यक, अनिवार्य और स्वाभाविक हों।

इनके अतिरिक्त संवाद-लेखकको कुछ नाट्य-परिस्थितियोंका भी परिपालन करना चाहिए। वे ये हैं—

१. सम्वाद निरन्तर दो या तीन व्यक्तियोंके बीचमें ही नहीं चलते रहना चाहिए। उसमें थोड़े-थोड़े समयके अन्तरसे नये पात्रोंके प्रवेश और पुरानेके निष्क्रमणका भी विधान होना चाहिए और नीरसता दूर करनेके लिये उनमें आङ्गिक व्यापार भी होता रहना चाहिए, जैसे—उठना, बैठना, घूमना, फल चुनना, कुछ उठाना, रखना आदि।

२. नाटकीय सम्वादोंमें आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये भी पूर्ण अवकाश मिलना चाहिए अर्थात् वे केवल वाचिक-मात्र न हों।

३. सम्वादोंकी भाषामें पूर्ण वाक्य होना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकारसे उत्तर-प्रत्युत्तर देनेमें स्वभावतः शब्द, वाक्यांश या वाक्यका प्रयोग होता हो वही करना चाहिए।

## भव्य शैली ( ग्रैंड स्टाइल )

पीछे भाषा-शैली और भाव-शैलीके विवेचनके साथ उपर्यङ्कित संवाद-वाक्योंकी प्रकृति समझ लेनेके पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परिस्थिति और मनःस्थितिके अनुसार शैलियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती हैं किन्तु उनमें एक

शुद्ध रूपसे भव्य शैली है जिसमें उदात्त विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिये पारिभाषिक तथा शिष्टजन प्रयुक्त भाषाके भावकतापूर्ण लाक्षणिक और व्यंग्य रूपका प्रयोग किया जाता है।' इसी भव्य शैलीकी व्याख्या करते हुए मिल्टनने कहा है—'जब कोई सज्जन काव्यगुणसे सम्पन्न होकर किसी गम्भीर विषयको अत्यन्त सरलता या कठोरतासे लिखने लगता है तभी कवितामें गम्भीर शैलीका जन्म होता है, जैसे मिल्टनकी शैली कठोर गम्भीर शैली है और होमरकी सरल भव्य शैली है।' लौवेलने इसी 'सरल भव्य शैली'को श्रेष्ठ और स्वाभाविक बताया है।

### दुरूह शैली ( फ़ेबस )

कुछ लोग 'दुरूह, कठिन तथा अप्रयुक्त' शब्द शास्त्र ही भव्य शैली मानते हैं। इसी भ्रमसे सत्रहवीं शताब्दिमें अत्यन्त कठिन, जटिल, अप्रयुक्त, विशेष ध्वनि-समन्वित काव्य पाण्डित्यपूर्ण शब्दोंसे लदी हुई शैलीका फ्रांसमें औपन्यासिक पात्रोंकी भाषाके लिये प्रचलन हुआ।

### सरल और निम्न शैली

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इतना सरल लिख दिया जाय कि वह सबकी बोली बन जाय। 'सरल'का अर्थ है समझमें आनेवाली वह भाषा-शैली जिसमें चमत्कार अवश्य हो। जिस शैलीमें चमत्कार न हो और उसका वाक्य विन्यास लोक-भाषाके तुल्य हो वह निम्न तथा त्याज्य शैली कहलाती है।

### महावाक्य, अनुच्छेद और अध्याय

एक सम्बद्ध विचारांश व्यक्त करनेके लिये जब कई उपवाक्योंका संयुक्त रूप अभिव्यक्त किया जाता है उसे महावाक्य कहते हैं।

जब एक प्रसङ्गके एक विषयको कई महावाक्यों-द्वारा व्यक्त करके अलग रखते हैं उसे अनुच्छेद ( पैरेग्राफ़ ) कहते हैं।

किसी कथा, ग्रन्थ या काव्यके एक प्रसङ्गके अलग-अलग वर्गको परिच्छेद, अध्याय या प्रकरण कहते हैं।

### सर्ग और काण्ड

जिन महाकाव्योंमें कई नायकोंकी कथाएँ चलती हैं, उनमें एक-एक

नायककी कथाका अंश सर्ग कहलाता है। कुछ लोगोंने एक ही नायककी कथाके विभिन्न प्रसङ्गोंको क्रमसे अध्याय कहनेके बदले सर्ग कह दिया है। उसके यदि भिन्न-भिन्न कथात्मक खण्ड हों तो उन्हें काण्ड कह सकते हैं जैसे रामायणमें हैं।

## भारतीय आचार्योंका मत

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो गया होगा कि पाश्चात्य आचार्योंने भव्य शैलीके छः गुण बताए हैं—१. सरलता, २. स्पष्टता, ३. स्वच्छता, ४. प्रभावोत्पादकता, ५. शिष्टता तथा ६. लयात्मकता। भारतीय आचार्योंने यद्यपि ऐसा विवेचन नहीं किया किन्तु उन्होंने १. प्रसाद, २. माधुर्य और ३. ओज तीनको ही गुण माना है। जिस प्रकार योरोपवालोंने शैलीके सम्बन्धमें अलग विवेचन किया है उस प्रकार भारतीय साहित्य-शास्त्रमें सर्वप्रथम अभिनवभरतने अपने अभिनवनाट्यशास्त्रमें किया है, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। किन्तु भारतीय साहित्य-शास्त्रमें भी रीति, शब्द-शक्ति, गुण और दोषकी विवेचनाके साथ रीतिके पोषक गुणोंके रूपमें, रसके सहायक गुणोंके रूपमें तथा कुछ स्वतन्त्र रूपसे शैलीकी विवेचना बिखरी मिलती है।

## रीति ही शैली है

कुछ लोग भारतीय साहित्य-शास्त्रियों-द्वारा वर्णित रीतिको ही शैली मानते हैं किन्तु वास्तवमें वे तो साहित्यिक अभिव्यक्तिकी कुछ प्रणालियाँ-मात्र हैं। रीति और शैलीमें विशिष्ट अन्तर यही है कि 'रीति तो काव्य-रचनाका ढङ्ग है' और 'शैली है भाषात्मक अभिव्यक्तिकी प्रणाली।' 'शैली वास्तवमें उस साधनका नाम है, जो वाणीकी अभिव्यक्तिमें अभिनव तथा समर्थ शक्तिका सञ्चार करे', किन्तु 'रीतिको काव्यकी आत्मा' ( रीतिरात्मा काव्यस्य ) माननेवाले आचार्य वामनने अपने काव्यालङ्कार-सूत्र-वृत्तिमें 'पदोंकी विशेष रचनाको रीति' ( विशिष्टा पदरचना रीतिः ) माना है। अतः गुणोंके आधारपर की हुई विशेष-पद-रचना-रूपकी इस रीतिको शैलीसे सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिए। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें छत्तीस नाट्य-लक्षणोंका निर्देश करके तदनन्तर दस काव्य-गुणोंका परिचय दिया है, जिनका विवरण 'काव्यके गुण-दोष' अध्यायमें आगे दिया गया है। वामनके समयतक सभी आचार्योंने गुणोंकी संख्या दस ही मानी थी। भामहने यद्यपि खुले

रूपसे रीतियों या वृत्तियोंका निर्देश नहीं किया है किन्तु उन्होंने भी 'माधुर्य, प्रसाद और ओज' तीनकी चर्चा करते हुए बताया है कि 'समासवाले लम्बे-लम्बे पदोंके प्रयोगसे रचनाका माधुर्य और प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है' किन्तु ओज गुणकी सिद्धिके लिये समासकी बहुलता होनी ही चाहिए।' भामहका यह तर्क निरर्थक है क्योंकि आजकलकी अनेक भाषाएँ तो समास-हीन शैलीमें चल रही हैं। उनमें क्या ओज नहीं आ सकता? अतः मम्मट आदि आचार्योंने काव्यमें रसकी पुष्टिके लिये ओज, प्रसाद और माधुर्यके अन्तर्गत ही दस गुण माने हैं, किन्तु इन तीन गुणोंका प्रथम सङ्केत भामहने ही किया है। दण्डीने केवल दो ही शैलियाँ मानी हैं—वैदर्भी और गौडी। उन्होंने वैदर्भी शैलीमें दस गुण और इनके उलटे गुण गौडी रीतिमें माने हैं।

> श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
> अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
> इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
> एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥
>
> —काव्यादर्श।

### भामह और रीतिके दस गुण

भामहने वैदर्भी रीतिमें अग्राङ्कित दस गुण गिनवाए हैं—१. श्लेष (रचनामें ढिलाई न होना), २. प्रसाद (सुनते ही या पढ़ते ही समझमें आ जाना), ३. समता (प्रवाह बना रहना), ४. मधुरता (सुनने और समझनेमें अच्छा प्रतीत होना), ५. सुकुमारता (कोमल अक्षरोंका प्रयोग), ६. अर्थ-व्यक्ति (बिना किसी रुकावटके अर्थ समझमें आना), ७. उदारता (उक्तिमें महत्त्वका आभास), ८. कान्ति (सबको प्रसन्न करनेवाली उक्तियोंका विधान), ९. ओज (समाससे भरपूर होना) और १०. समाधि (लक्षणा-व्यञ्जना आदिका ठीक प्रयोग)।

### उद्भटका मत

दण्डी और वामनने जो रीतियाँ गिनाई हैं वे अलग-अलग देशकी काव्य-रचना-प्रणालियाँ हैं। उद्भटने अनुप्रासका विवरण देते हुए तीन वृत्तियाँ बताई हैं—१. (परुषा जिसमें श, ष, रेफवाले वर्ण या ह्र, ह्व, ह्य या टवर्गसे अनुप्रास बनाया जाता हो) २. उपनागरिका (जिनमें द्वित्व

तथा टवर्ग छोड़कर 'शेष वर्गोंके अक्षरोंका पञ्चम अक्षरोंसे संयोग अधिक दिखाया जाता हो ), ३. ग्राम्या या कोमला ( जिसमें परुषा और उपनागरिका वृत्तिवाले वर्णोंको छोड़कर शेष अक्षरोंका प्रयोग होता हो, विशेषतः ल, क, तथा र की अधिक आवृत्ति हो ) ।

## वामन और शब्द-गुण

वामनने काव्य-शैलीके सम्बन्धमें विशेष रूपसे विचार करते हुए तीन रीतियाँ मानी हैं १. वैदर्भी, २. गौडीया तथा ३. पाञ्चाली। ये तीन भेद भी उन्हीं दस गुणोंपर आश्रित हैं, जिनका वर्णन भरतके नाट्यशास्त्रमें और दण्डीके काव्यादर्शमें ऊपर दिया गया है। किन्तु अन्तर इतना ही है कि वामनने ये दस गुण शब्द और अर्थ दोनोंमें माने हैं। इसका विवेचन देते हुए उसने कहा है—

'पद-रचनामें समर्थता लानेसे ओज आता है और शिथिलतासे प्रसाद। किन्तु ओजके साथ मिलकर प्रसाद भी गुण हो जाता है। अनेक अलग-अलग पदोंका समासके समान मिला हुआ प्रतीत होना ही श्लेष गुण है। आरम्भसे अन्ततक रचनाका एकरूप होना ही समता कहलाता है। क्रमिक रूपसे आरोह और अवरोह होना समाधि कहलाता है। पदोंका अलग-अलग होना माधुर्य है और कोमल पदोंका प्रयोग ही सुकुमारता कहलाता है। शब्द-विन्यासमें जब अर्थ नाचते हुए-से प्रतीत होते हैं तब उसे उदारता कहते हैं। जिन पदोंसे अत्यन्त शीघ्र अर्थकी प्रतीति होती है उसे अर्थव्यक्ति कहते हैं। सुन्दर तथा भव्य पद-योजनासे कान्ति उत्पन्न होती है।'

## शैलीके अर्थ-गुण

अर्थमें प्रौढ़ता आना ही ओज कहलाता है। इसके कई भेद हैं— (क) एक पदसे जो अर्थ जाना जा सके उसके लिये वाक्यका प्रयोग, (ख) वाक्यसे बताए जानेवाले अर्थके लिये एक शब्दका प्रयोग, (ग) वाक्यसे बताए जानेवाले संक्षिप्त अर्थको विस्तारसे कहना, (घ) विस्तारसे कही जानेवाली बातको संक्षेपमें कहना, और (ङ) बिना बीचका शब्द दिए ही उसके अर्थकी प्रतीति करा देना। अर्थात् जब वाणीमें प्रगल्भता और शक्ति आती है तभी ओज आ जाता है। अर्थकी संक्षेपता अर्थात् केवल आवश्यक पदोंका प्रयोग करनेसे अर्थ स्पष्ट हो जानेको प्रसाद गुण, उक्तिका विशेष सङ्घटन करनेको श्लेष, सरलता-पूर्वक

अर्थबोध होनेको समता, ध्यान देनेपर अर्थबोध होनेको समाधि, उक्ति-वैचित्र्यको मधुरता, कठोर बातको कोमल रूपमें कहनेको सुकुमारता, शिष्ट रूपसे कहना उदारता, सभी वर्णित विषय तत्काल समझमें आ जानेको अर्थव्यक्ति और उक्तिमें रस प्रतीत होनेको कान्ति गुण कहते हैं। यही वामनके अर्थ-गुण हैं जिनके आधारपर वामनने उस रीतिका अस्तित्व माना है जिसे वह काव्यका आत्मा बताता है। उसके अनुसार जिस शैलीमें ये सब शब्द और अर्थ-गुण हों, वह वैदर्भी, जिसमें केवल ओज और कान्ति गुण हों वह गौड़ी और जिसमें केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुण हों उसे पाञ्चाली कहते हैं।

## रीतिके दो भेद

यद्यपि पीछे चलकर रुद्रटने लाटी रीतिकी भी चर्चा की किन्तु वह प्रसिद्ध न हो पाई। वामनने भी जो शब्द-गुण और अर्थ-गुण माने हैं उन्हें देखकर यही प्रतीत होता है कि उन्होंने पद-रचनाकी दृष्टिसे वर्गीकरण किया है, अर्थयोजनाकी दृष्टिसे नहीं। यही बात पीछेके आचार्योंमें भी रही है। रुद्रटने वृत्ति ( रीति ) के दो भेद माने—समासवती और असमासवती। इनमेंसे समासवतीके उन्होंने तीन भेद किए—

१. लघु समासवाली पाञ्चाली।

२. मध्यसमासवाली लाटीया।

३. विस्तृत समासवाली गौडीया।

असमासवतीको उन्होंने वैदर्भी रीति बताया है।

## माधुर्य, ओज और प्रसाद

अनुप्रासकी व्याख्या करते हुए जो रुद्रटने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्राका निर्देश किया वह भी ध्वनि-विन्यासके आधारपर ही किया है। साहित्यदर्पणकारने पदोंकी सङ्घटनाको ही रीति ( पदसङ्घटनादि रीतिः )' माना है। उसने वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी चार रीतियाँ मानी हैं और माधुर्य, ओज तथा प्रसादको उनका उपकारक गुण। वास्तवमें वामनने जिन रीतियोंका विवेचन किया वे ही अधिक मान्य रहीं। मम्मट और विश्वनाथने भी सब आचार्योंके मतोंकी सूक्ष्म विवेचना करनेके पश्चात् उद्घोषित किया कि 'माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ही तीन गुण मुख्य हैं। अन्य

गुणोंमेंसे कुछ तो इन्हींमें आ जाते हैं और कुछ वास्तवमें गुण न होकर दोषके अभाव हैं।' इनका मत है कि 'रस ही काव्यका आत्मा है। ये सब गुण उस रसके धर्म हैं जिनकी सहायतासे आत्मामें उत्कर्ष आ जाता है।' इनके मतसे 'माधुर्य गुणके कारण चित्त कोमल होकर आनन्दमय हो जाता है अतः उसका प्रयोग शृङ्गार, करुण, और शान्त रसोंमें होना चाहिए। ओज गुणसे हृदय दीप्तिमय होकर अत्यन्त विशाल और विस्तृत हो जाता है अतः वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसोंमें ओजका प्रयोग करना चाहिए। जिन पदोंको सुनकर सरलता और सुगमतासे अर्थ समझमें आ जाय उनमें प्रसाद गुण समझना चाहिए। उसका प्रयोग सब रसों और रचनाओंमें करना चाहिए, इस सिद्धान्तकी विशेषता यही है कि 'ये लोग ओज, प्रसाद और माधुर्यको रसके गुण मानते हैं और रसके अनुकूल इनकी योजना करनेका आदेश देते हैं।'

## शैलीकी समीक्षा

शैलीके सम्बन्धमें भारतीय दृष्टिसे यह विवेचन अत्यन्त विस्तृत और पर्याप्त है किन्तु आज संसारके समस्त देश एक दूसरेके निकट आ गए हैं, एक दूसरेकी भावनासे प्रभावित हो रहे हैं। अतः शैलीपर विचार करते समय हमें लेखकपर पड़े हुए प्रभावके अनुसार विवेचन करके ही उसकी शैलीकी समीक्षा करनी चाहिए और उसमें निम्नाङ्कित बातें देखनी चाहिएँ—

१. जिस समाजके लिये लिखी है उसकी समझमें आती है या नहीं? दुर्बोध तो नहीं है।

२. जो प्रभाव लेखक डालना चाहता है, वह उत्पन्न हुआ है या नहीं?

३. अशिष्टता या फूडड़पनको नहीं है।

४. हल्की, चलती-सी बाज़ारू तो नहीं है।

५. जिस विषयका निरूपण किया है उसकी प्रकृतिके अनुकूल है या नहीं।

६. पात्रोंके संवादोंमें उनकी प्रकृतिके अनुकूल योग्यता, स्वाभाविकता, आवश्यकता तथा सङ्गति है या नहीं।

# साहित्यके गुण और दोष

साहित्यके विभिन्न रूपों, विषयों, कौशलों तथा शैलियोंका विवेचन कर चुकनेके पश्चात् साहित्यके व्यापक गुण-दोषका परिचय दे देना भी आवश्यक है क्योंकि साधारणतः समीक्ष्यवादी तथा साहित्यके अध्येता इसी आधारपर साहित्यका समीक्षण और अध्ययन करते हैं।

### सदा, सर्वत्र और सबके द्वारा

सन्त विन्सेन्ट ( ३०४ ई० ) ने श्रेष्ठ साहित्यकी कसौटी बताई थी—'क्या सदा हो ? क्या सर्वत्र हो ? और क्या सबके द्वारा हो ?' ( कोड सेम्पर, कोड रौबिक और कोड एब औम्नीबस )। लौंगिनसने अपने 'उद्वृत्तपर' ( औन दि सब्लाइम ) शीर्षक निबन्धमें लिखा है—'कलाकी उद्वृत्त और सत्य महत्ता सब मनुष्योंको, सब युगोंमें प्रसन्न करती है।' हौरेसने भी अपने काव्यशास्त्र 'आर्स पोइतिका'में इसीका समर्थन किया है। किन्तु यह उद्वृत्त किस प्रकारका हो, उसके क्या लक्षण हों, यह भी स्पष्ट होना चाहिए।' इसका तात्पर्य यही है कि साहित्यमें देशकालाद्यवच्छिन्नता और शाश्वतता होनी चाहिए।

## साहित्यके बाह्यतत्त्व

### सङ्गीत, दृश्यबिम्ब और मानसिक चेतना

एज़रा पाउन्ड ( जन्म १८८५ ) ने काव्यके गुणोंकी एक विचित्र व्याख्या करते हुए कहा है कि 'कविता अपने अर्थके अतिरिक्त तीन रूपोंके द्वारा उद्दीप्त की जा सकती है—

१. सङ्गीतात्मक गुणों ( मैलोपोइया )के द्वारा।

२. दृश्य-बिम्ब ( फ़ेनोपोइया ) उपस्थित करके।

३. शाब्दिक अभिव्यक्तिके सब रूपोंके प्रति मानसिक चेतना ( लोगोपोइया ) जगाकर अर्थात् 'शब्दोंकी सभामें बुद्धिका नर्त्तन' कराकर।

इनमेंसे सङ्गीतात्मकताका प्रयोग विशेष प्रकारके शृङ्गार तथा करुण भावोंके कोमल चित्रणमें तो सम्भव है किन्तु सर्वत्र न तो वाञ्छनीय है, न सम्भव। दृश्य-बिम्ब ( विज़ुअल इमेज ) भी कथात्मक तथा वर्णनात्मक साहित्यमें रहता ही है अतः वह तो अनिवार्य तत्त्व है, गुण नहीं। तीसरा गुण इतना स्पष्ट और व्यापक है कि उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। उसका सीधा अर्थ है 'काव्यको पढ़कर मानसिक प्रतिक्रियात्मक चिन्तन।' यह भी सब प्रकारके काव्योंमें होता है। यदि उसका अर्थ 'उल्लास' है तो वह सब प्रकारके साहित्यमें सम्भव नहीं है।

### अभिव्यञ्जनाके गुण

योरोपमें जितने भी समीक्षा-सम्प्रदाय चले हैं सबने अपने-अपने मतसे शुद्ध अभिव्यक्तिके लक्षण और गुण बताए हैं। वहाँ साधारणतः यह माना गया है कि किसी भी अभिव्यक्तिमें तीन गुण होने चाहिएँ—

१. प्रसाद या स्पष्टता, ( क्लीयरनेस ), २. समास या संक्षेपता ( कन्साइज़नेस ) और ३. शुद्धता ( करेक्टनेस )। वहाँके प्राचीन आचार्योंने भाषणकलाके लिये भी ऐसे ही तीन गुण निर्धारित किए थे—स्पष्टता (क्लेरिटी), संक्षेपता ( ब्रीविटी ) और सत्यतुल्यता ( वेरीसिमिलिट्यूड )। उन लोगोंने 'शुद्धता'की परिभाषा यह बताई थी कि वह सत्य और सङ्गत होना चाहिए। आजकल लोगोंने उपर्यङ्कित तीन गुणोंके साथ सजीवता ( यूनानी एनार्जिया या विविडनेसको ) भी जोड़ दिया है।

### स्पष्टता

अभिव्यञ्जनाके जो ऊपर तीन मुख्य गुण बताए गए हैं उनमें स्पष्टताको समझ लेना चाहिए क्योंकि संक्षेपता और शुद्धता तो स्पष्ट हैं। यह स्पष्टता—१. व्याकरणकी दृष्टिसे हो, २. तथ्योंकी दृष्टिसे हो, ३. सङ्गत क्रमकी दृष्टिसे हो ( जैसा अठारहवीं शताब्दिमें माना जाता था ) और ४. विस्तृत कल्पनाकी दृष्टिसे हो ( जैसा उन्नीसवीं शताब्दिमें माना जाता था )। कोई लेखक इतना ही कहकर छुट्टी नहीं पा सकता कि 'मैंने बात कह दी है, अब आप

समझिए।' उसका यह भी धर्म है कि 'वह अपनी बातको इस प्रकार स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करे कि वह सबकी समझमें आ जाय।'

### प्रसाद-शैली

उपर्यङ्कित तीनों गुणोंमें प्रसाद शैलीको ही सिसरोने सर्वश्रेष्ठ माना और कहा कि 'इसकी सरलता विषयको सुबोध और सर्वबोध्य बना देती है और अनलंकृत होनेसे उसमें कहीं बाधा नहीं पड़ती, उसका स्वतन्त्र प्रवाह बना रहता है।' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'सरल कबित'की प्रशंसा करके इस प्रसाद गुणका ही समर्थन किया है।

### सूक्ष्मवर्णन ( सेकुंडेन्स्टिल )

जर्मनीवासी आर्नो-होल्ज़का मत है कि 'साहित्यमें अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ विस्तृत वर्णन होना चाहिए। यही साहित्य तथा साहित्यकारका सबसे बड़ा गुण है। होल्ज़का कहना है कि 'यदि लेखकको किसी गिरती हुई पत्तीका वर्णन करना हो तो उसे ऊपरसे नीचे गिरती हुई उस पत्तीकी प्रत्येक गतिका विवरण देना चाहिए।' इसीको चित्रात्मक तथ्यता ( फ़ोटोग्राफ़िक रीएलिटी ) कहते हैं। किन्तु यह अत्यन्त अव्यवहार्य गुण है। यदि इतनी सूक्ष्मतासे वर्णन करनेकी शैली चल जाय तो उपन्यासका एक ही अध्याय महाग्रन्थ बन जाय। हाँ, जहाँ कथा-प्रवाहके सन्दीपन और स्पष्टीकरणके लिये सूक्ष्म वर्णन अपेक्षित हो वहाँ शब्द-कार्पण्य अवश्य दोष है।

### सरलता ( सिम्प्लीसिटी या अफ़ेलिया )

अनेक आचार्योंने सरलताको काव्यका गुण माना है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा ही है—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।

सरलताके सम्बन्धमें क्विन्तीलियनने कहा है कि 'सरलतामें उस प्रकारका विचित्र पवित्र अलङ्करण होता है जो स्त्रियोंमें अधिक प्रशंसनीय होता है।' यह सरलता दो प्रकारकी होती है—

१. रोमकी भाषा-सरलता इसीमें थी कि सीधे-सीधे, दो-टूक, निश्छल बात कह दी जाय, बहुत लल्लो-चप्पो न की जाय।

२. ग्राम्य सरलता दो प्रकारकी होती है—गाँववालोंकी अनगढ

भोलेपनकी स्वाभाविक बातचीत तथा असभ्य लोगोंकी भद्दी अनगढ़' और फूहड़ बातचीत । अतः सरलताको भलीभाँति समझ लेना चाहिए। जैसे जटिल और गम्भीरमें अन्तर है वैसे ही 'छिछलेपन' और 'सरलता'में भी अन्तर है। यह भेद काव्यमें भी समझ लेना चाहिए। सरलताका सीधा-सादा अर्थ है 'कृत्रिमता-हीन, स्वाभाविक तथा अत्यलङ्कार-हीन', जो कहते ही समझमें आ जाय।

ओकामका कथन है कि 'कोई भी बात यदि अत्यन्त सरल ढङ्गसे कही जाय तो सबसे अच्छी है। बिना किसी आवश्यक कारणके उसे दुरूह बनाना या अलंकृत करना ठीक नहीं।' आजकल अधिकांश लेखक इसीको साहित्यका सबसे बड़ा गुण और लेखनका मूल सिद्धान्त मानते हैं और इसीलिये इसे उन्होंने कन्जूसीका सिद्धान्त ( प्रिन्सिपिल औफ़ पार्सिमनी ), औस्कामका छुरा ( औकाम्स रेज़र ) कहा है।

## लालित्य ( एलीगेन्स )

अठारहवीं शताब्दिमें लालित्य भी साहित्य-शैलीका गुण माना जाता था जिसे शील, मनोहरता तथा संस्कारसे समन्वित करके एक सौन्दर्य-विशेषके रूपमें ढाला जाता था। बैरेट वैन्डलने इसे 'शैलीका वह विशिष्ट गुण' बताया है 'जो सुरुचिको तुष्ट करता है।' किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यसे प्रायः शैलीके उसी गुणको लोग 'लालित्य' मानने लगे जिसमें बाह्य रूप अर्थात् शब्द-सज्जाको ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस लालित्यके प्रयासमें यही सङ्कट रहता है कि कहीं अनावश्यक अलङ्करण और शब्द-योजनासे भाव न दब जायँ। हमारे यहाँ छायावादी साहित्यमें जो अस्पष्टता आई है उसका अधिक कारण यही 'लालित्य' लानेका प्रयास है।

## शोभा ( ग्रेस )

जिन विभिन्न युगोंमें कलाके लिये नियम बने उन सभीने शोभाको ऐसा प्रधान गुण माना है जिसके होनेपर अन्य सब गुणोंकी उपेक्षा की जा सकती है। क्विन्तीलियन, हौरेस और लौञ्जिनस सभीने इसे काव्यका महत्त्वपूर्ण गुण माना है। किन्तु पुनर्जागरणकालवाले मानते हैं—'यह शोभाका गुण बिना नियमके ही प्रसन्न करता है क्योंकि इसका प्रभाव तत्काल होता है। इसके विश्लेषणकी आवश्यकता नहीं होती।' कुछ लोगोंने तो इसकी

प्रशंसामें यहाँतक कह दिया कि 'सौन्दर्यमें जबतक शोभा न हो तबतक वह आकृष्ट नहीं कर सकता।' किन्तु अठारहवीं शताब्दिमें एक नया शब्द 'उद्‌वृत्ति' ( सब्लाइम ) आ गया जो विवेकपूर्ण सौन्दर्यके सम्मुख प्रधान गुणके रूपमें शोभाके बदले खड़ा कर दिया गया। अतः आगे चलकर शोभा शब्दका अर्थ हुआ 'वह आकर्षण, जो किसी वस्तुके आङ्गिक अनुपातमें शोभा प्रकट करे।' और अब तो वह सरलता और सहजता अथवा शैलीका अलङ्कार-मात्र रह गया है।

### दीप्ति ( गस्टो )

कुछ लोगोंने 'दीप्ति' ( गस्टो ) को ही साहित्यका गुण माना है। हैज़्लिटका मत है कि 'दीप्ति (गस्टो) वास्तवमें साहित्यिक शैलीका वह गुण है जो किसी विषयको व्यक्त करनेमें शक्ति या तीव्रता भरता है।' इसका प्रयोग सौन्दर्यके उस अबुद्धि-सङ्गत पक्षके लिये प्रयुक्त होता था जिसके लिये पहले शोभा ( ग्रेस ) या उद्‌वृत्ति ( सब्लाइम ) का प्रयोग होता था और जो अन्तः-स्फुरण तथा प्रतिभासे उत्पन्न होता था। सेन्ट्सबरीने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'दीप्ति तो साहित्यिक सौन्दर्य और उसके उल्लासमय आनन्दकी विलासपूर्ण खोज है'। पौल एल्मर मोरने कहा है कि 'विवेकपर आश्रित अत्यन्त आनन्दानुभूतिकी शक्ति ही दीप्ति है।'

### निर्वाह ( एग्ज़िक्यूशन )

कुछ आचार्य प्रबन्ध-निर्वाह ( एग्ज़िक्यूशन ) को ही साहित्यका सबसे बड़ा गुण मानते हैं। किसी भी साहित्यिक कृतिको किसी भी रूपमें विकसित करनेकी शैलीको निर्वाह कहते हैं। ड्राइडनने कहा है कि 'साहित्यिक कृतिकी उत्कृष्टता उसके रचना-कौशलपर अवलम्बित है क्योंकि कलाकारके आदर्श तो चाहे जब प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु महत्त्वकी बात तो उसके चित्रण-कौशलकी है अतः वही महत्त्वपूर्ण गुण है।' इसीलिये कुछ विद्वानोंका मत है कि 'यह रचना-यन्त्रण ( मिकैनिज़्म ) का कौशल ही कलाकारकी सबसे बड़ी कसौटी है।' किसी कृतिके रचना-कौशल, उसके निर्वाहका चातुर्य या उस कृतिके परस्पर सम्बद्ध भागोंकी उस व्यवस्थाको 'मिकैनिज़्म' कहते हैं जिसमें रचनाकी दृष्टिसे ही उसपर विचार किया जाता है। इस कौशलको अभिव्यञ्जना और शैली तथा विषय और अर्थसे भिन्न समझना चाहिए।

पीछे रचना-कौशलके अध्यायमें हम इस कौशलकी पूर्ण मीमांसा कर आए हैं।

## अर्थगौरव ( प्रोफ़न्डिटी )

अनेक आचार्योंने अर्थगौरवको भी काव्यका महत्त्वपूर्ण गुण माना है। हमारे यहाँ 'भारवेरर्थगौरवम्' ( भारविका अर्थ-गौरव ) प्रसिद्ध ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धिक गम्भीरता ( अर्थगौरव ) अच्छा गुण है किन्तु साथ ही इसमें यह भय भी बना रहता है कि कहीं वह दुरूह और अस्पष्ट न हो जाय तथा लोगोंकी समझमें न आवे अतः अर्थ-गौरव या अर्थ-गाम्भीर्यका समुचित प्रयोग अत्यन्त कुशल कविका कार्य है।

## औचित्य ( देकोरम या प्रेपोन )

लातिन तथा यूनानीमें क्रम और औचित्यसे सम्बद्ध सौन्दर्यके गुणको ही औचित्य ( देकोरम या प्रेपोन ) कहते थे। अरस्तूने अपने भाषण-शास्त्र ( हृटौरिक ) में कहा है—'शैली न तो बहुत हलकी हो न बहुत उच्च वरन् उचित ( प्रिपाउसा ) हो।' अपने 'काव्यशास्त्र' ( पोएटिक्स ) में उसने आदेश दिया है—'नाटककारको अपनी कृतिके सब भागोंका इतना स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि वे सब अङ्ग इकट्ठे होकर उचित ढङ्गसे बैठ जायँ।' यही बात सिसरोने भी कही थी। पुनर्जागरणकालमें गिराल्डी सिन्थियोने कहा कि 'औचित्य ( देकोरम ) और कुछ नहीं है, केवल शोभा तथा उचित सामञ्जस्यका नाम है। और इसका ध्यान केवल व्यवहारमें ही नहीं वरन् मनुष्यके परस्पर वार्त्तालापमें भी होना चाहिए। यह औचित्य केवल किसी ग्रन्थके एक भागमें ही नहीं वरन् प्रत्येक भागमें समान रूपसे व्याप्त होना चाहिए।' अठारहवीं शताब्दिमें गोल्डस्मिथने इस औचित्यकी बड़ी अच्छी मीमांसा करते हुए उदाहरण दिया था कि 'यदि किसी दृश्यमें कोई अत्यन्त मोटी और पुष्ट अभिनेत्री दर्शकोंके सम्मुख यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करे कि वह भूखके मारे मर रही है तो वह दृश्यका अनौचित्य होगा।' कहनेका तात्पर्य यह है कि बातचीत, वेशभूषा, वर्णन, प्रदर्शन सब बातोंमें सहित्यकारको औचित्यका विचार करना ही चाहिए। विशेष रूपसे साहित्यके पात्रको मर्यादाके सम्बन्धमें जो धारणा चली आ रही हो उसमें भी अन्तर नहीं आने देना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्तजीका 'साकेत' इस

दृष्टिसे अनौचित्यका भण्डार कहा जायगा। उसमें लक्ष्मण और उर्मिलाकी बातचीत वर्त्तमान युगके दम्पतियोंके समान हुई है, रघुकुल और निमिकुलके उपयुक्त नहीं। आगे चलकर विदेहकी पुत्री और यती लक्ष्मणकी पत्नी उर्मिलाका विलाप भी उस कुल-मर्यादा और क्षत्राणीके गौरवके अत्यन्त विरुद्ध है, जिसकी सास सुमित्राने अपने पुत्र लक्ष्मणको अत्यन्त अविचलित भावसे वन जानेकी अनुज्ञा दे दी थी। उसी काव्यके अन्तिम भागमें वशिष्ठजीका ताली बजाकर लङ्काका दृश्य दिखाना और भरत-शत्रुघ्नके रहते हुए उर्मिलाका झण्डा लेकर नेतृत्व करनेके लिये निकलना ये सब अत्यन्त फूहड़ अनौचित्यकी बातें हैं। इस ग्रन्थके दूसरे खण्डमें औचित्यवादकी व्याख्या करते हुए हम इसे विस्तारसे समझावेंगे।

### सङ्गति ( कंसिस्टेन्सी )

कुछ आचार्योंने औचित्यसे मिलते-जुलते एक ( सङ्गति ) नामक गुणकी चर्चा की है। उनका कथन है कि 'किसी कथा या ग्रन्थके सब अङ्गोंमें पारस्परिक सङ्गति होनी चाहिए अर्थात् उसका एक भाग दूसरे भागसे उचित प्रकारसे बँधा हुआ दिखाई देना चाहिए।' इस सङ्गतिको बहुतसे विद्वानोंने 'कलाकी वास्तविक कसौटी' माना है। इसे वास्तवमें 'निर्वाह' और 'औचित्य' दोनोंका समन्वय मानना चाहिए।

### व्यञ्जना ( सजेस्शन )

शब्दोंकी ध्वनि और अर्थसे परे जो विचार, भावनाएँ और प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं उनपर विचार करते हुए कलाकार इस प्रकार शब्दोंको चुनता और प्रयुक्त करता है कि उनके समन्वयसे वे भाग अपने प्रत्यक्ष अर्थसे भी अधिक समृद्ध प्रतीत हों। यही व्यञ्जना है।

### निष्ठा ( सिन्सिएरिटी )

कोई भी बात निश्छल, स्पष्ट और सत्य कहना ही 'निष्ठा' कहलाती है। इसे बहुतसे विद्वानोंने किसी कृतिका अत्यन्त प्रशंसनीय और वाञ्छनीय गुण माना है। किन्तु सत्य बात यह है कि प्रत्येक कृतिमें उसके लेखकक वृत्ति स्वभावतः आ ही जाती है। यदि वह द्विजिह्व और धूर्त्त होगा तो उसकी कृतिमें भी ऐसे ही व्यक्तियोंका चित्रण होगा। व्यावहारिक क्षेत्रमें कभी भी दो उद्देश्य दृष्टिमें रखकर कलाकृतिका निर्माण नहीं किया जा

सकता। हाँ, किसी लेखकपर अनिष्ठाका आरोप इस दृष्टिसे अवश्य लगाया जा सकता है कि उसने लोगोंसे झूठा सम्मान प्राप्त करने या लोगोंसे पैसा ऐंठनेके लिये काव्य लिखा है या इस बातका आरोप लगाया जा सकता है कि उसने सच्चे मनसे नहीं लिखा। उसपर नीरसता अर्थात् भावनाके अभाव अथवा भाव या अभिव्यक्तिके अनुचित सन्तुलनका आरोप लगाया जा सकता है। किन्तु यदि किसी लेखकने स्पष्ट रूपसे या शुद्ध भावनासे लिखा है तो उसकी रचनामें निष्ठाका गुण आवश्यक है किन्तु यह काव्यका गुण नहीं, लेखककी वृत्ति है अतः इसे गुणकी सूचीमें नहीं लिया जा सकता।

### सन्तुलन ( ईक्विलिब्रियम )

कुछ लोग 'सन्तुलन'को ही विशिष्ट काव्य-गुण मानते हैं। किसी भी कलाकृतिमें सब तत्त्वोंका आनुपातिक सङ्घटन ही 'सन्तुलन' कहलाता है। अपरस्थ संवेदन ( सिनेस्थेसिस ) के सिद्धान्तके अनुसार ( जहाँ उत्तेजनके केन्द्रसे भिन्न स्थलपर संवेदन हो )' ग्राहकमें कलाकृतिके प्रति जो सन्तुलन-प्रतिक्रिया होती है, उसे भी सन्तुलन ( ईक्विलिब्रियम ) कहते हैं, जैसे किसी नाटकमें भय और करुणा उत्पन्न करनेके साथ शान्ति और सन्तोष साथ-साथ उत्पन्न करना क्योंकि यदि उसमें अधिक भय उत्पन्न किया जायगा तो दर्शक चिल्ला उठेगा या भाग जायगा और यदि अधिक शान्ति होगी तो दर्शक निद्रा लेने लगेगा या छोड़कर चला जायगा। इसी प्रकार यदि अधिक करुणा दिखाई पड़ेगी तो दर्शक सहायताके लिये चिल्ला उठेगा। यदि अधिक सन्तोष दिखाई पड़ेगा तो वह उदासीन हो जायगा। इन सब चारों तत्त्वोंका उचित आनुपातिक सम्मिलन ही पात्रों और नाटकीय व्यापारोंके समझनेमें हमारे भावात्मक प्रवाहको ठीक रक्खेगा। अतः आचार्योंका मत है कि 'साहित्यमें भावोंका सन्तुलन ही प्रधान गुण है।' किन्तु यह गुण न होकर मनोवैज्ञानिक विधान है, जिसपर रचना-कौशलके अध्यायमें विचार होना चाहिए।

### सावधानी

जैसे हमारे यहाँ औचित्यवादियोंने यह बताया है कि कविको रस, अलङ्कार, शब्द, अर्थ, छन्द आदिके प्रयोगमें सावधान होना चाहिए, वैसे ही योरोपीय आचार्योंने भी सबमें सावधानी (केअर)को काव्यका विशेष गुण बताया

है। यद्यपि स्वैरवादी ( रोमान्टिसिस्ट्स ) और उनकी सन्तान तथ्यातिरेकवादी ( सररीअलिस्ट्स ) इसे नहीं मानते किन्तु उन्होंने भी अपनी कृतियोंमें बड़ी सावधानीसे इसका प्रयोग किया है जैसे स्वैरवादी ( बायरन ) ने। सबसे पहले हौरेसने लेखकोंको सावधान किया था कि 'जो शब्द एक बार मुँहसे निकल पड़ते हैं, वे फिर लौटकर मुँहमें नहीं आते, अतः बहुत सावधान होकर बोलना चाहिए।' जौन्सनने भी कहा था कि 'बिना प्रयासके जो कुछ लिखा जाता है वह साधारणतः अरुचि-पूर्वक पढ़ा जाता है। अतः सोच-समझकर लिखना चाहिए।' किन्तु अनातोले फ्रान्सने इसपर टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'यदि अत्यन्त आत्मचेतन होकर तथा ध्यान देकर काव्य-रचना की गई तो उसमें बहुत बनावट या कृत्रिमता आ जायगी।'

ये सब उपर्यङ्कित काव्यके गुण वास्तवमें बाह्य गुण हैं, जिनका ध्यान लेखकको रचनासे पूर्व ही कर लेना चाहिए। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ आन्तरिक गुण भी हैं जिनका विवेचन भी आवश्यक है।

### सार्वभौमता ( युनवर्सैलिटी )

कुछ आचार्योंका मत है कि 'कलाकृति सार्वभौम होनी चाहिए। किसी कलाकृतिकी जिस विशेषताके कारण उसका महत्त्व किसी विशेष घटना, परिस्थिति, स्थान, समय, देश या व्यक्तिकी सीमाओंका लङ्घन करके सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो जाता है उस गुणको 'सार्वभौमता' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह कलाकृति या ग्रन्थ सब देश-कालोंके सब मनुष्योंको समान रूपसे प्रभावित करता रहेगा। इस प्रकारका प्रभाव उत्पन्न करना अत्यन्त प्रतिभाशाली कविका काम है। यह गुण उसकी साहित्यिक रचना-शक्ति, कल्पना-शक्ति और प्रयोग-शक्तिपर निर्भर है अर्थात् इस प्रयासमें कवि ऐसा सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करता है जिसके द्वारा वह अपने विस्तृत, गम्भीर और उदात्त अनुभव तथा बौद्धिक, भावात्मक और समवेदनापूर्ण अनुभवको व्यक्त करने लगता है।

### आवृत्ति ( रिपिटिशन )

कोई कौतूहल जगाकर उसकी सन्तुष्टिके लिये जो उसकी प्रतिध्वनि अपेक्षित है, उसके लिये कलामें आवृत्ति या दुहरानेको काव्यका मौलिक

सिद्धान्त या गुण माना गया है। 'विचित्रता'के साथ 'आवृत्ति'का योग करके इस प्रकार प्रदर्शित करना ही 'आवृत्तिका कौशल' समझा जाता है कि उस वस्तुकी एकताके भीतर ही बहुलता उत्पन्न कर दी जाय अर्थात् एक ही कुतूहलजनक वस्तु या विषय इतने रूपोंमें प्रस्तुत किया जाय कि वह चिर-नवीन प्रतीत हो।

### विचित्रता ( वैराइटी या वेरिएशन पोन्सिफ़ )

बातचीत करने या वर्णन करनेमें थोड़ी-थोड़ी दूरीपर किसी एक बातको पुनः न दुहराकर नये-नये ढङ्गसे नई-नई बात कहना ही 'विचित्रता' कहलाता है क्योंकि आवृत्तिसे नीरसता आ जाती है। हमारे यहाँ इसीलिये 'पुनरावृत्ति' या 'पुनरुक्ति'को तबतक दोष माना गया है जबतक कि वह पुनरुक्तवदाभास बनकर शुद्ध न हो जाय। यह विचित्रता वास्तवमें सब प्रकारके काव्योंमें सरसता और नवीनता उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक गुण है। इसीका एक रूप है 'परिवर्त्तितोक्ति' ( पोन्सिफ़ ), जिसका प्रयोग फ़्रान्समें होता है। इसमें किसी पुरानी उक्ति या बातको ऐसे नये ढङ्गसे कहते हैं कि वह नई प्रतीत हो।

### नवीनता ( नावेल्टी )

प्रायः सभी आचार्य 'नवीनता'को बड़ा महत्त्व देते हैं। जब कोई लेखक प्राचीन दृश्य, शैली, विचार, अलङ्कार तथा रहन-सहनका वर्णन छोड़कर सब बातोंमें नवीन प्रयोग करता है तब उसे 'नवीनता' कहते हैं। कुछ लोगोंने इस नवीनताको ही ऐसा सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करनेवाला, अद्‌भुत और आश्चर्यजनक सौन्दर्य और महद्‌गुण बताया है। ये लोग कहते हैं कि 'नवीनता ही तन्द्राकी शत्रु है और सदा मनमें एक प्रकारकी हरीतिमा या स्फूर्त्ति भरती रहती है। नवीनतासे ही कोई वस्तु हमारे शरीर और बुद्धिपर एक नयेपनका प्रभाव डालती है, कल्पनाको स्वच्छ और प्रकाशमान बनाती है तथा उदासी दूर कर देती है।' एडीसनने कहा है कि 'ईश्वरने ही हमें वह नवीनता प्रदान की है, जिससे हम अपने कौतूहलको शान्त कर सकें और उसकी सृष्टिमेंसे नये-नये आश्चर्य ढूँढ निकालें।' यह नवीनताका सिद्धान्त यद्यपि अट्ठारहवीं शताब्दिमें साधारणतः स्वीकार कर लिया गया था किन्तु कुछ लोगोंने इसमें दोष और गुण दोनों पाए हैं। मिल्टन चाहता है कि 'कलामें शाश्वत

सत्यको प्रतिष्ठित करनेके लिये मौलिक नवीनता और निरालापन होना ही चाहिए अर्थात् साधारण वस्तुएँ इस प्रकार अलंकृत की जायँ कि उनकी शोभा और भी अधिक आकृष्ट करने लगे। स्वैरवादी युगके लेखकोंमें नवीनताके सम्बन्धमें दो मत हैं। कुछ तो नवीनता ढूँढ़नेको सनक समझते हैं और कुछ लोग कौलरिजके स्वरमें स्वर मिलाकर कहते हैं 'प्रतिभाका निश्चित लक्षण यह है कि उससे अत्यन्त प्रबल रूपसे नवीनताका आभास होने लगता है।'

इधरके लेखकोंने इस नवीनताके सिद्धान्तमें बहुत कम रुचि प्रदर्शित की है। केवल पो और बौदेलेयाने कृत्रिम नवीनतामें कुछ रुचि दिखलाई है और पेटर तथा उसके मण्डलवालोंने सौन्दर्यमें विचित्रता दिखानेपर बल दिया है और केवल कोई कौतूहल या आघात या आश्चर्य उत्पन्न करनेके लिये नवीनताको आदर्श माना है। किन्तु ये सब द्वितीय श्रेणीके लेखक हैं। ईलियट आदि प्रमुख समीक्षकोंने नवीनताकी कसौटी यह बतलाई है कि 'वह वास्तविक मौलिकताका परिणाम होना चाहिए और शाश्वत तथा सार्वभौम सत्यके रूप ग्रहण करनेवाली अनोखी अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'

### मौलिकता ( ओरिजिनैलिटी )

हम अनेक आचार्योंका मत पीछे बता चुके हैं कि 'संसारमें कुछ भी नया नहीं कहा जा सकता, जो कुछ कथनीय है, सब पूर्वाचार्योंने कह दिया है, अतः विषयके चयनमें नवीनता या मौलिकताकी बात ही नहीं उठती।' इसीलिये ड्राइडन और स्कौटका मत है कि 'मौलिकता तो विषयके निर्वाह-कौशलमें है।' वास्तवमें काव्यके रूप इतने प्रकारके हो गए हैं कि साधारणतः कवि या लेखक उनमेंसे किसी एकको ग्रहण कर लेते हैं किन्तु अपने रचना-कौशलसे उसमें एक प्रकारकी नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। यही नवीनता ही मौलिकता है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो विषय प्रस्तुत करनेके रूप भी नये या मौलिक खोज निकालते हैं, जैसे डैनियल डीफ़ोने 'सिन्दबाद दि सैलर'की रचनामें। इसके अतिरिक्त भाषा-शैलीमें भी मौलिकता लाई जा सकती है किन्तु यह मौलिकता ऐसी बेढङ्गी नहीं होनी चाहिए कि वह विषयको ही अस्पष्ट कर दे जैसे जेम्स जौएसने अपने 'यूलिसिस'में प्रयुक्त की है, जिसके अन्तिम अध्यायमें विराम-चिह्नोंसे रहित एक लम्बा वाक्य बयालीस पृष्ठोंतक चला जाता है। अतः नवीन

विचारको प्रस्तुत करनेके नवीन ढङ्ग तथा उस विचारको अभिव्यक्त करनेके लिये कवि या लेखक जिस नवीन शैलीका प्रयोग करता है, वही उसकी मौलिकता होती है।

### वाग्वैदग्ध्य और विनोद ( विट ऐण्ड ह्यूमर )

कुछ लोगोंने वाग्वैदग्ध्य ( विट ) और विनोद ( ह्यूमर ) को ही काव्य या साहित्यका प्रधान गुण माना है। मूलतः 'ह्यूमर' शब्दका अर्थ था 'वह शारीरिक रस, जो किसीके व्यक्तित्वको प्रभावित करता है।' पीछे चलकर उसका अर्थ हुआ 'किसी हास्यास्पद वस्तुके सम्प्रेक्षण करनेकी शक्ति'। इसी हास्यास्पद वस्तुको देखकर हास्यकी प्रेरणा पानेको ही विनोद कहते हैं। किन्तु वाग्वैदग्ध्य ( विट ) का सम्बन्ध है बुद्धिसे। आजकल इसका अर्थ है 'एक प्रकारकी मानसिक चञ्चल सजगता' अर्थात् परस्पर असम्बद्ध वस्तुओंमें विनोदकारक और आश्चर्यजनक समानता ढूँढ़नेकी योग्यता। तात्पर्य यह है कि वाग्वैदग्ध्यका सम्बन्ध मस्तिष्कसे है, जिसके लिये मस्तिष्कको स्वच्छ, तीव्र, प्रसन्न और बुद्धियुक्त होना चाहिए। विनोदका सम्बन्ध है शरीरसे, जिसके लिये शरीरको ढीला, उदार, भावात्मक, प्रसन्न और मस्त होना चाहिए। इसी विनोद ( ह्यूमर ) का एक रूप है 'परिहास' (जोक), जो प्रायः समान रूप, गुण, शील और वयके व्यक्तियोंकी पारस्परिक बातचीतमें उस वाग्वैदग्ध्यके रूपमें हुआ करता है, जिसमें प्रायः एक दूसरेको मूर्ख बनानेकी भावना निहित रहती है।

### वाग्वैदग्ध्य ( विट )

प्रारम्भमें 'विट' शब्दका तात्पर्य था 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ'। पीछे चलकर उसका अर्थ हो गया पाँच प्रकारकी चित्त-शक्तियाँ—

१. भावसंक्रामिका ( कामियूनिस सेन्सस )।
२. कल्पना ( इमैजिनेशियो )।
३. मनकी उड़ान ( फ़ैन्टेज़िया )।
४. विवेक ( एस्टीमेशियो )।
५. स्मृति ( मेमोरिया )।

पुनर्जागरणकालमें विटका अर्थ हुआ वह 'मानसिक सामर्थ्य' या 'वृत्ति' या 'प्रतिभा' जो 'परिश्रम-पूर्वक प्राप्तकी हुई विद्वत्ता'की विरोधिनी मानी गई

थी, जिसे लातिनमें 'इञ्जेनियम्', 'इञ्जैग्नो', स्पेनमें 'इन्गेग्न' और फ्रान्समें 'एस्प्रित' कहते हैं। आगे चलकर एश्चम और लिलीने 'बौद्धिक स्फूर्तिके अर्थमें 'विट' शब्दका प्रयोग किया। सिडनी, मीअर्स और जौन्सनने तो कविताके प्रति एक विशेष प्रवृत्तिके अर्थमें इसे प्रसिद्ध किया, किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि 'इसका अतिरेक नहीं होना चाहिए जैसा शेक्सपियरकी रचनाओंमें प्राप्त होता है।'

समीक्षाके क्षेत्रमें विट शब्दका प्रयोग दवेनाँ और हौब्स ( १६५० ) से लेकर पोप और एडीसन ( १७११ ) तक चला। दवेनाँ और हौब्सके मतसे वास्तविक वाग्वैदग्ध्य ( ट्रू विट ) तो विचार, भावना या कल्पनाकी तत्परता या चतुरता है, जिसे हमारे यहाँ प्रत्युत्पन्नमतित्व कहते हैं। ड्राइडनने इसे समझाते हुए कहा कि 'यह प्रत्युत्पन्नमति चञ्चल श्वानके समान काव्य-सामग्री प्राप्त करनेके लिये स्मृतिके क्षेत्रमें वेगसे घूमती रहती है। यही मत बौयल, एडिसन और वेलस्टेडका भी था किन्तु उन्होंने इसमें आकस्मिकता ( सरप्राइज़ ) का होना आवश्यक बताया था। काव्यक्रियाके लिये लोगोंने इसे 'प्रत्यक्षतः असम्बद्ध सामग्रीमें समानता ढूँढ़नेकी मूल समर्थता' बताया और कहा कि 'यह तो वर्णनातीत है, इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।' कुछ लोगोंने इसके दो भेद किए— १. केवल वाग्वैदग्ध्य, २. मिथ्या वाग्वैदग्ध्य।

### सत्य और मिथ्या वाग्वैदग्ध्य (ट्रू ऐन्ड फ़ाल्स विट)

एडिसनने मिथ्या और सत्य वाग्वैदग्ध्यमें भेद बताते हुए कहा कि यह वाग्वैदग्ध्य केवल समानताके कारण ही नहीं, वरन् विरोधके कारण भी होता है किन्तु उसमें अद्भुतका समावेश आवश्यक है जैसे—'मेरी स्वामिनीका हृदय ऐसा श्वेत है जैसा हिम—और उतना ही ठण्ढा भी।' इस वाक्यमें 'उतना ही ठण्ढा भी' अंश आकस्मिकता-जनक है। अर्थात् सत्य वाग्वैदग्ध्यमें विचारोंका सम्बन्ध रहता है किन्तु मिथ्या वाग्वैदग्ध्यमें केवल शब्दोंका ही सम्बन्ध होता है। श्लेष ( पन या वर्ड प्ले ) आदिमें इसी प्रकारका मिथ्या वाग्वैदग्ध्य होता है।

### विनोद ( ह्यूमर )

अठारहवीं शताब्दिमें विनोद ( ह्यूमर ) शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग उस हास्यकी सामग्रीके लिये हुआ था, प्रहसन-लेखन आदि उन गम्भीर साहित्यिक

तथा उदात्त रूपोंसे भिन्न था जो उस समय अधिक लोकप्रिय थे और जिनके रूपोंमें व्यंग्य नाटक ( सेटायर ) परिहास ( मौकरी ) और उपहास ( रिडीक्यूल ) प्रसिद्ध थे। किन्तु आजकल इस शब्दका प्रयोग उन सब बातोंके लिये किया जाता है जो मनुष्यकी वृत्तिको हास्यकी ओर प्रवृत्त करें। यह अर्थ-परिवर्त्तन इसलिये किया गया कि मनोविज्ञानसे और बच्चोंके वैज्ञानिक सम्प्रेक्षणसे यह परिणाम निकला कि अपने सरल शरीर-सम्बद्ध क्रियामें जो हास्य उत्पन्न होता है वह स्थिर, स्वीकारात्मक ( एफ़र्मेटिव ) तथा स्वस्थ होता है।

डार्विनने कहा है कि 'हास्य मूलतः केवल प्रसन्नता या हर्षकी वह अभिव्यक्ति है जो प्रायः खेलकी परिस्थितियोंमें रहती है। किन्तु इन खेलोंमें ही एक गौण हँसी भी उठ खड़ी होती है जो साधारणतः प्रसन्नता या हर्षकी नहीं वरन् एक विशिष्ट भावात्मक आनन्दकी होती है, जो ध्यानपूर्वक समझनेपर कुटिल आनन्द प्रतीत होगा। यह हँसी और यह भाव ही वास्तवमें विनोद ( ह्यूमर ) के वास्तविक तत्त्व हैं।' प्लेटोने भी विनोदके सम्बन्धमें कुछ-कुछ इसीसे मिलती-जुलती बातें कहीं थीं। उसने इस विषयपर शास्त्रार्थ चलाते हुए कहा था कि 'प्रहसनमें हमें दुःख और सुखकी मिश्रित भावनाका अनुभव होता है।' अरस्तूने हास्यकी परिभाषा करते हुए यह कहा था कि 'हास्यास्पद ( लुडिक्रस ) उस त्रुटि या कुरूपताको कहते हैं जिसमें दुःखकी भावना निहित न हो।' यह भी लगभग डार्विनसे मिलता-जुलता मत है किन्तु अरस्तूके वक्तव्यमेंसे यह अर्थ तो निकलता ही है कि 'जितना कुछ हँसना होता है सब दूसरेपर ही हँसना होता है और वह दूसरा व्यक्ति भी अत्यन्त निम्न कोटिका होना चाहिए। इसलिये या तो वह झूठी शान बघारनेवाला होगा या दम्भी।' सिसरोने अरस्तूके विचारको आगे बढ़ाया। वर्त्तमान कालमें टौमस हौब्सने इस विचारको स्पष्ट करते हुए कहा कि 'आकस्मिक शान दिखाना वह भाव है जो दर्शकोंको उस प्रकारकी मुखमुद्रा बनानेको प्रेरित करता है जिसे हँसी कहते हैं। देकार्ते, लमेन्या, मैरेडिथ ग्रूस, बर्गसन आदिने भी यही परिभाषा स्वीकार की। आजकल भी परिहासकी हँसीमें उसका समर्थन प्राप्त होता ही है। झूठी शान बघारना और द्वेष रखना मनुष्यकी गम्भीरता और हास्यवृत्ति दोनोंमें उपस्थित रहती है किन्तु ये लक्षण हास्यके नहीं वरन् मनुष्यकी वृत्तिके ही लक्षण हैं।

वौल्तेयाने इसका तत्त्व भली भाँति समझ लिया था क्योंकि वह स्वयं इस प्रकारके उपहासात्मक हास्यका पण्डित था। उसने कहा था कि 'हँसी सदा मनकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होती है जो घृणा और क्रोधके साथ कभी नहीं रहती।' जर्मनीके विनोदी लेखक जीन पौन रिख्टेने भी यही बात कही थी। किन्तु स्पिनोज़ाने उपहासके इस सिद्धान्तको अस्वीकृत करते हुए कहा कि 'हँसी और विनोद तो एक प्रकारके आनन्द हैं।' कान्टने भी इसीका समर्थन करते हुए कहा—'जब कोई तनी हुई आशा सहसा अनस्तित्वमें परिवर्त्तित हो जाती है उसे हँसी कहते हैं। जब बच्चा हँसता है तो अपनी निराशाओंमें हँसता है, आपकी निराशामें नहीं।' शौपेनहावरने कान्टके इस विचारका अनुमोदन तो किया किन्तु साथ ही यह भी कहा कि 'यह हँसी केवल बौद्धिक निराशाओंमें ही आती है।' हरबर्ट स्पेन्सरने कहा कि 'हम तभी हँसते हैं जब कोई बड़ी वस्तु चाहनेपर छोटी मिल जाय अर्थात् खोदा पहाड़, निकली चुहिया' पर। हेगेल और भी चार पग आगे बढ़ गया। उसने कहा कि 'वही अवस्था और विश्वास हास्यात्मकतासे पूर्णतः सम्पन्न होता है जो अपने परस्पर विरोधसे ही बहुत ऊँचा उठ जाता है।' हेगलने इसमेंसे यह परिणाम निकाला कि 'सर्वोच्च श्रेणीके प्रहसनसे दर्शकगण अभिनेताके साथ हँसते हैं उसपर नहीं हँसते।' यह अर्थ दोनों प्रकारसे असङ्गत है। यह बात महत्त्वकी है कि प्रहसनकी हँसी पहलेसे ही अपने और दूसरेका भेद मानती है, इस भेद-भावसे प्रभावित होती है और जो व्यक्ति हँसता है इससे उसकी विनोदपूर्ण निराशाएँ प्रेरित होती हैं क्योंकि बिना यह बात समझे हुए वाग्वैदग्ध्यकी परिभाषा करना या उस जटिल प्रक्रियाकी व्याख्या करना असम्भव है जिसे मज़ाक़ या ठट्ठा कहते हैं। ठट्ठा तो श्रोताकी आशामें वह विनोदपूर्ण निराशा ही है जिसमें किसी दूसरी रुचि या बुभुक्षाकी तृप्तिकी बात छिपी हुई हो। ठट्ठेकी बातमें किसी एक बातकी समाप्ति होनेके अनन्तर किसी दूसरी बातकी सन्तोषमय समाप्ति होती है। विदूषक और कथाकार दोनों अपने श्रोताओंपर निरन्तर चाल खेलते रहते हैं और सदा विनोदपूर्ण ढंगसे उन्हें मूर्ख बनानेका उपाय खोजते रहते हैं और जब वे परास्त हो जाते हैं तब वे किसी आनन्दमय विचार, कल्पना या भावपर उतर आते हैं। इस पतनसे जो हास्यात्मक आनन्द उत्पन्न होता है वह अगणित अन्य

भावोंके साथ प्रायः अत्यन्त गम्भीर भावोंके गुणके साथ मिल जाता है। इसमें घृणाकी भावना तो होती ही है और साथ-साथ करुणा तथा प्रशंसाकी भी होती है। इसीमेंसे विनोदपूर्ण अनुभवोंके अनन्त रूप और प्रकार भी उत्पन्न हो जाते हैं*।

उपहासको विनोद कहनेका सिद्धान्त अब भी कुछ लोग, विशेषतः वे लोग मानते हैं, जो स्वयं विनोद नहीं है और जो स्वयं अपने ऊपर हँस देनेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। किन्तु विनोदके प्रकारोंका वर्गीकरण या कौशल या वाग्वैदग्ध्य (विट) की परिभाषा और मज़ाक़ या ठट्ठेका विश्लेषण वह प्रक्रिया है जिसने खेलके सिद्धान्तसे सम्भूत होनेके कारण विनोदवादियों और प्रहसनकारियोंको व्यावहारिक शक्ति दी है। जान पड़ता है कि इन आधारोंपर हम विनोदको भली-भाँति समझ सकेंगे और हमारी विनोद-भावना साहित्यके विभिन्न रूपोंमें ठीक प्रकार विकसित हो सकेगी।

जिन आचार्योंने यह कहा है कि विनोदमें किसी दूसरे व्यक्तिपर हँसनेकी बात होती है, उन्होंने इस मतका आधा निरूपण किया है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम स्वयं भी कोई मूर्खता कर बैठते हैं और उसका या तो चुपचाप आनन्द लेते हैं या अपने घनिष्ठ मित्रोंको विश्वास-पात्र बनाकर समन्वित आनन्द लेते हैं। हम पीछे साहित्यके विषयके अन्तर्गत इसका विवेचन कर आए हैं।

### प्रत्याशिता (एक्सपेक्टेन्सी)

कुछ आचार्योंका यह निश्चित मत है कि सब प्रकारके प्रबन्ध-साहित्यमें प्रत्याशिता (एक्सपैक्टैन्सी) ही सबसे बड़ा गुण है और सब कलाओंमें यही एक मूल तत्त्व इस प्रकार व्याप्त हो कि वह ग्राहकके हृदयको आकृष्ट करके उसकी रुचिको बाँधे रहे। यही दर्शककी कुतूहल-वृत्तिको जगाती है। नाटकमें इस प्रत्याशिताका बड़ा महत्त्व होता है और यही नाटकीय व्यापार तथा सफलताकी कुञ्जी है। उपन्यासमें भी इसी प्रकारकी प्रत्याशिता-वृत्ति व्याप्त रहनी चाहिए। इसीका दूसरा रूप है उत्कण्ठा (सस्पेन्स) और इसीको 'पौइज़्ड एक्स्पेक्टेन्सी' भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शक, श्रोता या पाठककी उस समयकी मानसिक स्थितिको प्रत्याशिता कहते हैं जब वह

कोई उपन्यास या काव्य पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय इस उत्कण्ठापूर्ण उलझनमें पड़ा रहे कि 'आगे क्या होनेवाला है' और यह उत्कण्ठा तथा उलझन इतनी उद्वेगपूर्ण हो कि जबतक उसका समाधान न हो तबतक वह मनको क्षुब्ध और संशय-पूर्ण बनाए रक्खे और यह धुकधुकी जगाए रक्खे कि 'हाय राम ! इसका जो परिणाम हो वह हम यथाशीघ्र जान लें।' यह प्रत्याशिता वृत्ति दो प्रकारकी होती है—१. अनिश्चयताकी, जिसमें यह नहीं जान पड़ता कि आगे क्या होगा । २. दूसरी परिणाम-निश्चयताकी कि 'अमुक परिणाम कब निकलता है ।' इसमें परिणामकी कल्पना तो वह पहले हो कर लेता है किन्तु उसे यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि वह परिणाम कब होगा ।

### काव्य-न्याय ( पोइटिक जस्टिस )

कुछ आचार्योंका मत है कि काव्य-न्याय ही काव्यकी कसौटी है, उसका प्रधान गुण है । यह विचार प्राय: सामाजिक या नैतिक दृष्टिसे प्रस्तुत किया गया । अँगरेज़ीमें पोइटिक जस्टिस, पोएटिक पेनाल्टी, ड्रमेटिक और स्टेज - डिसप्लिन , जर्मनीमें पोइटिशे गेरेख्टिगकैइट , इटलीमें 'गिउस्तीज़िया पोएतिका' शब्द, काव्य-न्यायके पर्यायवाची हैं । यद्यपि स्पेन और फ्रान्समें इसके लिये कोई शब्द नहीं है किन्तु सत्रहवीं शताब्दिमें वहाँ भी इस विचारका व्यापक प्रचार हुआ । इस शब्दके दो परस्पर सम्बद्ध किन्तु स्पष्टत: भिन्न अर्थ हैं—

१. साहित्यिक विद्वान् उसका यह अर्थ लगाते हैं कि 'भलाई और बुराईके बीच जितने सङ्घर्ष होते हैं वे चाहे नाटकमें या काव्यमें या उपन्यासमें हों, किन्तु उनका परिणाम यह होना चाहिए कि भलेको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड मिले, जिससे कि भले लोगोंको भला जीवन व्यतीत करनेके लिये प्रोत्साहन मिले और बुरे लोगोंको बुराई करनेमें भय और हिचक हो ।' एस्० एच्० बूचरने इसे सूखा न्याय ( प्रोज़ेक जस्टिस ) कहा है जिसमें भलेको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड दिया जाता है ।

२. साधारण व्यक्तिके लिये काव्य - न्यायका अर्थ है 'वह पुरस्कार या दण्ड ( प्राय: दण्ड ), जो किसी अच्छे कार्य या अपराधके लिये कुछ विचित्र प्रकारसे उचित प्रतीत होता हो, चाहे वह ऐसा ही क्यों न हो जो साधारण जीवनमें कभी होता न हो किन्तु वह संतोषजनक हो, और उस

अपराधके लिये ठीक जमता हो, जैसे—खलनायक स्वयं उन विपत्तियोंमें फँस जाय जो उसने दूसरोंके लिये ढूँढ रक्खी थीं।'

यद्यपि अरस्तूने अपने समयकी इस भावनाको अमान्य कर दिया था कि 'जो त्रासद इस सिद्धान्तका पालन करे वही सर्वश्रेष्ठ है', किन्तु योरोपके सभी समीक्ष्यवादियोंने व्यापक रूपसे इस काव्य-न्यायकी आवश्यकता बताई है। आगे चलकर सन् १६६० में कौर्नीलने और १७११ में एडीसनने इसपर आपत्ति की। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों लोगोंकी रुचि 'करुणा'में आनन्द लेनेकी ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों समीक्ष्यवादी और जनता दोनोंने इस सिद्धान्तका परित्याग कर दिया। किन्तु फिर भी व्यवहारमें अनेक चलचित्रों, उपन्यासों, कथाओं और नाटकोंमें इसका प्रयोग होता ही है। भारतमें तो प्रारम्भसे ही 'मधुरेण समापयेत्' ( सुखमें समाप्त करो ) की भावनाने सदा काव्य-न्यायका ध्यान रक्खा और साहित्यका उद्देश्य ही यह रक्खा—'रामादिवद्वर्त्तितव्यं न रावणादिवत्।' ( रामके समान आचरण करो, रावणके समान नहीं। ) इसीके साथ भारतीय काव्यमें सदा यह ध्वनि गूँजती रही—सत्यमेव जयते नानृतम्। [ सत्यकी ही जीत होती है। झूठ की नहीं। ] यतो धर्मस्ततो जयः। [ जहाँ धर्म होगा वहीं जीत होगी। ] हमारे यहाँ यह काव्य-न्याय नहीं वरन् साहित्यका उद्देश्य ही माना जाता रहा है।

### जन-साधारणका चित्रण

इधर जबसे देश-विदेशमें वर्ग-सङ्घर्ष प्रारम्भ हुए, सामन्तवादका विरोध होने लगा और जनवादकी पुकार उठ खड़ी हुई तबसे काव्यका एक ही गुण समझा जाने लगा कि उसमें जन-साधारणका चित्रण हो। यह वास्तवमें गुण नहीं, एक प्रकारकी वृत्ति ही है जो ह्विटमैनके समयमें कवितामें दिखाई पड़ने लगी थी। यह प्रवृत्ति प्राचीन कुलीनताकी भावना ( एरिस्टोक्रेटिक स्पिरिट ) की विरोधिनी थी। इस लोकतन्त्रात्मक भावनाके समर्थकोंमें 'पो' और 'बौदेलेया' प्रमुख थे। इन दोनों प्रवृत्तियोंका तुलनात्मक स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

| कुलीनतात्मक (एरिस्टोक्रेटिक) | लोकतन्त्रात्मक ( डेमोक्रेटिक ) |
| --- | --- |
| १. रूप और रूढ़िपर ध्यान रखते थे किन्तु कभी-कभी कुछ थोड़ा सा अन्तर कर देते थे जैसे पो । | १. नवीन स्वतन्त्र रूपोंमें पद्यात्मक गद्य और स्वतन्त्र अतुकान्त पद्य लिखते हैं जैसे एमी लौवेल । |
| २. अत्यन्त परिष्कृत, कठिन छन्द-रचनामें और कभी-कभी जान-बूझकर कठिन साहित्यकी रचना जैसे टी० एस्० ईलियट । | २. प्रायः गाने या सस्वर पढ़नेके योग्य स्निग्ध और सरल गीत लिखते हैं जैसे क्रेयमबर्ग, लिंडसे । |
| ३. सटीक, भली प्रकार चुनी हुई शैलीमें असाधारण शब्दों तथा विदेशी भाषाके शब्दोंके प्रयोगसे पूर्ण रचना करते थे जैसे वलेरी, टी०एस्० ईलियट, एज़रा पाउंड । | ३. विस्तृत क्षेत्रमें व्याप्त रूखी, भद्दी और कटु वर्णोंसे युक्त साधारण बोल-चालकी भाषा काममें लाते थे जैसे सैंडबर्ग । |
| ४. भावोंसे सम्बद्ध तथा भावकतापूर्ण वासनामय प्रवाहसे युक्त ऐसी रचना करते थे जिसमें कभी-कभी विषयसे उदासीनता या उसकी अस्पष्टता भी प्रतीत होती थी जैसे स्विन्बर्न, वलेरी । | ४. अपने विचारोंके प्रचारमें रुचि रखते थे और कोई सन्देश देना चाहते थे जैसे मास्टर्स, मैकलीश । या कविताका प्रयोग उपदेश या प्रार्थनाके रूपमें ही करते थे । |
| ५. जनताकी उपेक्षा करके कभी-कभी जनसाधारणको क्षुब्ध कर देनेकी इच्छासे पूर्ण और अस्पष्ट रचना भी करते थे जैसे मलार्मे, वलेरी । कभी-कभी आघातपूर्ण भी जैसे कौकट्यू । | ५. साधारण मनुष्यको प्रभावित करनेवाली उसीकी भावनाओंसे पूर्ण और सरल विषयोंका चित्रण करनेवाली रचना करते थे जैसे लिंडसे, फ्रौस्ट । |
| ६. कल्पनापूर्ण, चिन्तनपूर्ण और मनोविश्लेषणात्मक रचना करते थे जैसे ई० ए० रौबिन्सन । | ६. कथात्मक और वर्णनात्मक रचना करते थे जैसे मेसफ़ील्ड, फ्रौस्ट । |

**अलङ्करण ( और्नामेन्ट )**

कुछ लोगोंने अलङ्करणको ही साहित्य-रचनाका प्रधान गुण माना है। किसी साहित्यिक कृतिको सुन्दर बनानेके लिये जो सजावट की जाती है उसे अलङ्करण या काव्यका शृङ्गार कहते हैं। पहले तो 'उसके उपयुक्त निर्वाहके लिये उसके विभिन्न भागोंको उचित क्रमसे सजाना' ही अलङ्करण कहलाता था। इस सम्बन्धमें सन्त औगस्टाइनने कहा है कि 'जब कोई भी अलङ्करण उत्तरदायित्वकी सीमासे आगे बढ़ जाता है तब वह पण्डितम्मन्यता हो जाता है।' इस सम्बन्धमें हम विस्तारसे अलङ्कारोंके प्रसङ्गमें विवेचन करेंगे।

**निरर्थक शृङ्गार ( पर्पिल पैच )**

किसी रचनामें जब कोई अनावश्यक रूपसे अलंकृत वाक्य जोड़ दिया जाता है तब उसे पर्पिल पैच कहते हैं। अतः कोई भी अलङ्कृत वाक्य जो उस कृतिसे अलग दिखाई पड़े उसे 'पर्पिल पैच' कहते हैं। यह रचनाका दोष माना जाता है, जैसे निम्नाङ्कित वाक्यमें रेखाङ्कित अंश—

'मैं सङ्कटमोचनजीके दर्शन करने गया। वहाँ अनेक भक्तोंकी भीड़ दिखाई पड़ी। <u>भावोन्मेषकी रहस्यमयी वृत्तिसे प्रेरित अलौकिक भावधाराने मेरे मानसको भक्तिरसके मधुसेकसे आप्लावित कर दिया।</u> मेरे बहुतसे मित्र वहाँ मिले। कुछ देर बातचीत हुई और फिर हम लोग रिक्शेपर चढ़कर घर लौट आए।'

**लय ( ह्रिद्म )**

कुछ लोगोंका मत है कि 'लय भी साहित्यका एक विशेष गुण है।' भाषामें वह स्वाभाविक लहर, या किसी प्रकारके शब्दपर बल, या स्वरका आरोहावरोह, या शब्दोंके क्रमका ऐसे नियमित रूपसे आना ही लय है जो सार्थक ध्वनियोंके प्रवाहमें स्वयं आ जाता है और जैसे-जैसे भावका प्रवाह बढ़ता चलता है वैसे-वैसे वह लयात्मक रूप स्पष्ट होता चला जाता है। इसपर हम साहित्यके रूपोंका विवेचन करते हुए गद्यकी लयके अन्तर्गत समझा चुके हैं।

**विवेकवाद-स्वाभाविकतावाद ( एनेलौजी एनोमली )**

भाषाकी शुद्धता या शुद्धतावादके ये दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्त थे जो रोमीय गणतन्त्रकी समाप्ति और रोम साम्राज्यवादके प्रारम्भमें प्रचलित हुए।

एनेलौजीवालोंका कहना था कि 'भाषा उन सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है जिनका ध्यान शब्द-निर्माणमें रखना चाहिए।' एनोमलीवालोंका कहना था कि 'भाषामें बहुत शब्द-विवेकसे काम नहीं लेना चाहिए।' उन्होंने बताया कि 'भाषा या शैलीका वही रूप ठीक समझना चाहिए जो लोकमें प्रचलित हो।' यदि हम इस सिद्धान्तको हिन्दीके उदाहरणमें समझावें तो एनेलौजीवालोंके अनुसार भाषामें वायु, आत्मा शब्दोंका प्रयोग पुल्लिङ्गमें होना चाहिए किन्तु बहुतसे लोग 'वायु चलती है' और 'आत्मा कहती है' जैसे प्रयोग इस आधारपर उचित और ठीक मानते हैं कि प्रसिद्ध लेखकोंने वैसा ही लिखा है। इन्हें हम 'एनोमलीवादी' कह सकते हैं। अर्थात् एनेलौजीवादियोंको व्याकरण-वादी और एनोमलीवादियोंको हम गतानुगतिकवादी कह सकते हैं। यह शास्त्रार्थ वास्तवमें सारल्यवाद (ऐटिसिज़्म) बनाम आवेगवाद (एशियानिज़्म) के रूपमें चला था। इनमेंसे आवेगवादी शैलीके लोग 'एनोमलीवादी' थे और सारल्यवादीवाले 'एनेलौजीवादी' थे। इसका विशद विवेचन इस ग्रन्थके चतुर्थ खण्डमें सारल्यवाद (ऐटेसिज़्म) और आवेगवाद (एशियानिज़्म) के के विवरणमें दे दिया गया है।

### लौकिक प्रयोग (स्लैङ्ग)

यद्यपि इस शब्दके उद्गमका तो ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है किन्तु आजकल इसका अर्थ वह लोकभाषा है जिसमें किसी वर्ग या सम्प्रदायका विचार नहीं होता। यह भाषा चलती भाषाकी अपेक्षा मूल भाषासे अधिक भिन्न होती है क्योंकि चलती भाषासे वह शैली, वाक्य-रचनाके ढङ्ग आदि सब बातोंमें शिथिल होती है जैसे 'उसने सब गड़बड़ कर दिया' यह तो चलती भाषा है और 'उसने सब लीप दिया', या 'बिलटा दिया' 'स्लैङ्ग' है। ये उक्तियाँ अलग-अलग प्रदेशोंमें अलग-अलग ढङ्गसे चलती हैं। साहित्यमें इस प्रकारकी लोकभाषाका प्रयोग दोष माना गया है किन्तु आजकलके लोकवादी नाटककारों और उपन्यासकारोंने अपने सम्वादोंमें इसका धुआँधार प्रयोग करना प्रारम्भ किया है। परिणाम यह हुआ है कि वे इतने दुर्बोध हो गए हैं कि साधारणतः किसीकी समझमें नहीं आते। बिहारमें 'भोजन करने'के बदले लोक-प्रयोग है 'कचरकुट्ट करना।' यह प्रयोग अन्य प्रदेशवालोंके लिये दुर्बोध हो जायगा। अतः ऐसे प्रयोग नाटक और उपन्यास दोनोंमें वर्जित समझने चाहिएँ।

### दुरभ्यास ( मैनरिज़्म )

जब कोई लेखक अपनी कृतिमें किसी विशेष शब्द, वाक्य, रूढोक्ति आदिका बार-बार प्रयोग करने लगता है और उसके औचित्य-अनौचित्यका तथा प्रसङ्गका भी ध्यान भूल जाता है, उसे दुरभ्यास ( मैनरिज़्म ) कहते हैं। इसीको फ़ारसीमें सख़ुनतकिया कहते हैं। परिवृत्ति-काव्यों ( पैरोडी ) तथा साधारण नाटकोंमें भी हास्य रसके लिये इसका प्रयोग भले ही किया जाय किन्तु अन्य साहित्यिक रचनाओंके लिये यह अत्यन्त अभद्र दोष है।

### नीरसता ( फ़्रिजिडिटी )

अरस्तूने यह कहा है कि जब किसी कृतिमें अत्यन्त समासयुक्त, अप्रचलित, प्राचीन और विदेशी शब्दोंका प्रयोग होता है या अधिक लाक्षणिकता आती है तब वह नीरसता कहलाती है। काव्यमें उसका प्रयोग वर्जित माना जाता है।

इनके अतिरिक्त वे सभी प्रयोग दोष समझने चाहिएँ जो उपर्यङ्कित गुणोंके विरोधी हों।

### भारतीय गुण-मीमांसा

भारतीय आचार्योंने जिस विस्तारके साथ काव्य या साहित्यके गुण-दोषोंका विवेचन किया उतना किसी देशमें नहीं हुआ। चन्द्रालोकमें जयदेवने काव्यके गुणोंका परिचय देते हुए लिखा है—

'जिस कथित वाक्य-समूहका भीतरी अर्थ बिना प्रयास तथा कठिनताके जलके समान निर्मल और सरल रूपसे पढ़ने और सुननेके साथ ही झलकने लगे उसमें 'प्रसाद' गुण होता है।' ( किन्तु दण्डी 'किसी पदार्थके प्रसिद्ध गुणके कथन करनेको' ही प्रसाद मानते हैं। यह ठीक नहीं है। उर्दूवाले जिसे ज़बानकी सफ़ाई और सादगी कहते हैं वही प्रसाद गुण है अर्थात् उक्तिके लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ समझनेमें कठिनाई न होना ही प्रसाद गुणका लक्षण है। ) 'समता' गुण वहाँ होता है जहाँ एक-एक शब्द पृथक्-पृथक् सजाए हुए वाक्यार्थ प्रकट करते हों, जिनमें परस्पर ध्वन्यात्मक समानता पाई जाती हो और समास कम होनेसे कुछ क्लिष्ट भी न प्रतीत हों। जिन गहरी रसमयी उक्तियों ( रसीली बातों ) को सुनकर विवेकशील और आलङ्कारिक

व्यक्तियोंके हृदय गद्गद् हो जाते हैं और उनके शरीरपर आनन्दांकुर उठने लगते हैं, उनके ऐसे अर्थ-महिमान्वित गुणको 'समाधि' कहते हैं। 'माधुर्य' गुण वहाँ माना जाता है जहाँ शब्दोंकी पुनरुक्ति होते हुए भी उसमें विचित्रता और सुन्दरता स्थायी रहे और उसमें सानुनासिक ध्वनि भी हो। जहाँ संक्षेपमें या विस्तारके साथ जो अर्थोंसे भरे वाक्य-रूपमें वीर, बीभत्स, रौद्र और भयानक भावोंका उनके उपयुक्त शब्दोंमें वर्णन हो वहाँ 'ओज' गुण होता है। कर्णकटु और कठोर शब्दोंका प्रयोग बचाते हुए सरल शब्दोंमें अर्थ प्रकट करते हुए जो बात कही जाय उसे 'सौकुमार्य' माना है। जहाँ भाव तथा भाषामें वैदग्ध्य या चतुरता होती है वहाँ 'उदारता' गुण होता है, उसमें फूहड़पन नहीं होना चाहिए।' दण्डी कहते हैं 'व्यङ्ग्योक्त्यर्थप्रत्यायकत्वं तत्त्वमिति' अर्थात् यह लगभग व्यंग्योक्तिके अर्थकी ही छाया है।

वामनने जो दस गुण माने हैं उनपर विचार करते हुए जयदेवने इन आठ गुणोंको समझाकर कहा है कि 'यदि मान लिया जाय कि शेष दो गुण कान्ति और अर्थव्यक्ति भी हैं तो ये दोनों क्रमसे माधुर्य और प्रसादमें ही आ जाते हैं।' दण्डीने कहा है कि 'जहाँ प्रसिद्ध भावनाका विरोध नहीं होता है, वही कान्ति होती है और जहाँ लाक्षणिकता आदिका अभाव होता है और अर्थ स्पष्ट होता है वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। जैसे, स्त्रियोंके शरीरकी शोभा बढ़ानेवाले धातुनिर्मित भूषणोंके अतिरिक्त अन्य और भी अञ्जन, तिलक, केशमार्जनादि विशेष साधन हैं, वैसे ही रूपक, उपमादि अनेक अलङ्कारोंके रहते हुए भी ये उपर्युक्त गुण भी काव्यकी शोभा बढ़ाते हैं।'

इनके अतिरिक्त गुणोंका वर्णन करते हुए जयदेवने कहा है—'जहाँ विचित्र सूत्रोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ 'न्यास' गुण, वर्णोंके ध्वनि-साम्यकी शृङ्खला जहाँ पूरी उतर जाय वहाँ 'निर्वाह' गुण, अन्य अर्थवाले पदसे इच्छित अर्थ व्यक्त करानेको 'प्रौढि', प्राचीन कवि-सम्मत प्रयोग करनेको 'औचित्य', रूपकोंमें अन्य शास्त्रके प्रकृत प्रसङ्गोंकी छेड़छाड़को 'रहस्योक्ति', एक ही अर्थके कई शब्दोंके एकत्र प्रयोग करनेको 'सङ्ग्रह' तथा किसी विशेष अभिप्रायसे कही गई बातको 'दिक्प्रदर्शिता' गुण कहते हैं।

भरतने नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें निम्नलिखित गुण माने हैं—

'श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति,

उदारता और कान्ति। ये दस गुण चन्द्रालोकमें दिए हुए गुणोंसे मिलते-जुलते ही हैं।'

### अभिनवभरतका मत

यद्यपि ये सभी काव्यके गुण माने गए हैं किन्तु वास्तविक बात यह कि जिस प्रकारसे सहृदय लोग प्रसन्न रहें वही गुण है। अभिनवभरतका मत है कि' काव्यमें केवल दो ही गुण आवश्यक हैं— एक तो प्रसाद गुण अर्थात् ऐसी भाषा जिसका लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ समझनेमें पाठकोंको कोई कठिनाई न हो। दूसरा विशिष्ट गुण है कौतूहल अर्थात् काव्यका ऐसा ग्रथन कि पाठक या दर्शक प्रतिक्षण आगे पढ़नेको और यह जाननेको समुत्सुक रहे कि आगे क्या होगा। यदि इन दो गुणोंका पूर्णत: पालन किया जाय तो काव्य अवश्य सफल और सुन्दर होगा।' ये ही सम्पूर्ण साहित्यके लिये भी उचित गुण हैं।

### साहित्यके दोष

चन्द्रालोकमें जयदेवने काव्यके निम्नलिखित दोष उदाहरणपूर्वक गिनाए हैं—

१. कर्णकटु : जहाँ कानको अप्रिय लगनेवाले अक्षरोंको सुननेके साथ ही चित्त उद्विग्न हो जाय।

२. च्युतसंस्कृति : जहाँ व्याकरणके विरुद्ध ऐसे प्रयोग किए गए हों जो समझे न जाते हों।

३. अप्रयुक्त : जो कवि-मण्डली-द्वारा वर्ज्य हों।

४. असमर्थता : जो ठीक अर्थ न दे पावे।

५. निहतार्थ : सर्वसाधारण प्रचलित शब्दके स्थानपर अप्रचलित शब्दका प्रयोग करना।

६. अनुचितार्थपद : जिसके श्रवणमात्रसे, किसी अनुचित अर्थात् मर्यादासे हीन अर्थकी ध्वनि निकले।

७. पद-पूरक : जहाँ अकारण ही वाक्य या पद-पूर्त्तिके निमित्त शब्द रखे जायँ।

८. अवाचक : जहाँ शुद्ध शब्दके अर्थका काम अशुद्ध शब्दसे लिया जाय।

९. एकाक्षर : जहाँ एक अक्षरका दूसरेके साथ संयोग न हो जैसे नभस्तलके बदले ख-तल कहना ।

१०. तीनों प्रकारका अश्लील दोष है—व्रीडात्मक, जुगुप्सात्मक और अमङ्गलात्मक ।

११. द्व्यर्थक : जहाँ अर्थमें सन्देह हो जाय ।

१२. अप्रतीत : जिसका प्रयोग शास्त्रोंमें तो होता हो किन्तु साहित्यमें न होता हो ।

१३. शैथिल्य : व्याकरणके अप्रचलित प्रयोगोंके द्वारा भाव प्रकट किए गए हों ।

१४. ग्राम्य : जहाँ हीन समाजमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका उच्च कोटिके साहित्यमें प्रयोग किया जाय ।

१५. नेयार्थ : जहाँ आवश्यकतासे अधिक और अश्लील शब्दोंके द्वारा लक्षणा प्रकट की जानेसे मनोहर न हो ।

१६. क्लिष्ट : जिसमें व्यर्थ ही एक शब्दका सम्बन्ध दूसरेसे, दूसरेका तीसरेसे दिखलानेपर वह अर्थ निकले जो किसी एक शब्दसे ही निकल सकता हो ।

१७. अविमृष्ट-विधेय : जहाँ वाक्यमें प्रधान या विधेय शब्दको किसी दूसरे शब्दके साथ समासके द्वारा लपेटकर इस प्रकार कहा जाय कि उसका प्रभाव नष्ट हो जाय ।

१८. विरुद्धमतिकृत् : जो समास-भेदसे दूसरा अर्थ प्रकट करने लगे ।

१९. अन्यसङ्गत : जहाँ वक्तव्यके दो भिन्न गुणोंका एक ही समासमें समावेश हो ।

२०. प्रतिकूलाक्षर : जहाँ रसके अनुकूल अक्षरोंका प्रयोग न हो ।

२१–२२. उपहत-विसर्ग और लुप्त-विसर्ग : जिनमें विसर्गका ठीक प्रयोग न हो ये दो प्रकारके होते हैं ।

२३–२४. सन्धि-दोष : ( कुसन्धि और विसन्धि ) अर्थात् भद्दी सन्धि ।

२५. हतवृत्त : जहाँ मात्रा, छन्द, क्रम सब ठीक होते हुए भी सुननेमें अरुचिकर और पाठ करनेमें कठोर लगे ।

२६. न्यूनता : जहाँ कोई रूपक बाँधनेमें उसका अङ्ग छूट गया हो ।

२७. अधिकता : जहाँ न कहने योग्य बात भी कह दी गई हो ।

२८. कथित : जहाँ पुनरुक्ति की गई हो।

२९. विकृत : किसी शब्दको अनेक सूत्रों-द्वारा परिवर्त्तित करके प्रयोग किया हो।

३०. पतत्प्रकर्ष : जहाँ प्रारम्भ किए गए अनुप्रासका निर्वाह न हो पाया हो।

३१. समाप्तपुनरात्त : जहाँ क्रिया-द्वारा वाक्य समाप्त कर देनेपर भी कोई विशेषण कह दिया जाय।

३२. अर्थान्तर-पदापेक्षि : जहाँ पूरे पद्यमें कथित विशेषणकी पुष्टि करनेके लिये एक पृथक् पद लिखकर उसमें उसका कारण दिखाया जाय।

३३. अभवन्मतयोग : जहाँ पदका अन्वय करनेपर उस पद-द्वारा व्यक्त होनेवाले अर्थकी ध्वनिके लिये उसके शब्द अनुचित जान पड़ें।

३४. अस्थानस्थ समास : जहाँ आवश्यकता हो वहाँ न लिखना और जहाँ न हो वहाँ लिखना।

३५. सङ्कीर्णता : जहाँ अनेक बातें मिलाकर कही जायँ।

३६. भग्नप्रक्रम : जहाँ अपना आन्तरिक अभिप्राय समुचित शब्दोंमें प्रकट न किया जा सके।

३७. अमतार्थान्तर : जहाँ मुख्य रसके विरोधी रसका उद्दीपन कराया जाय।

३८. अपुष्टार्थ : जहाँ विशेष्यमें बताई हुई विशेषता उसके विशेषण-द्वारा न प्रकट हो।

३९. कष्ट : जहाँ वाक्य सुननेके साथ ही उसका अर्थ स्पष्ट हृदयङ्गम न हो।

४०. व्याहत : जहाँ एक ही वाक्यके आगे-पीछेके अर्थमें विरोध पड़ जाय।

४१. पुनरुक्त : जहाँ अपनी ही बात कहकर काट दी जाय या बात समाप्त हो जानेपर फिर उसमें नई बात निकाली जाय।

४२–४३–४४. क्रमके तीन प्रकारके दोष होते हैं—दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्ध। शास्त्र-विरुद्ध कहना दुष्क्रमत्व, प्रत्यक्ष ग्रामीण भाव है ग्राम्य और प्रश्न-सा प्रतीत होनेवाला सन्दिग्ध।

४५. अनौचित्य : जहाँ विशेष्यमें उस विशेषताका आरोपण किया जाय जो उसका स्वाभाविक अङ्ग न हो।

४६. विरुद्ध : जहाँ लोकप्रसिद्धसे विरुद्ध या शास्त्र-विरुद्ध कहा गया हो ।

४७. सामान्य-परिवृत्ति : जहाँ किसी अपेक्षित गुणको प्रकट करनेके लिये कोई ऐसा बेढङ्गा शब्द कह दिया जाय जिससे अर्थ ही न प्रतीत हो ।

४८. सहचराऽचारु : दृष्टान्त-प्रयोगमें समान गुण प्रदर्शित न किया जाय ।

४९. विरुद्धान्योन्यसङ्गति : जहाँ विरोधी बातोंसे सङ्गति न बैठती हो ।

पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य, वाक्य-कदम्ब आदिमें शब्द और अर्थसे उत्पन्न दोषोंपर उपर्युक्त विधिसे विचार करना चाहिए ।

दोषाङ्कुश

जानते हुए भी जो दोष आ गए हैं और विश्रृङ्खलता उत्पन्न किए हुए हों उनका परिहार करनेको 'दोषाङ्कुश' कहते हैं । यह तीन प्रकारसे होता है—

१. दोषमें गुणका आरोपण करके ।

२. दोषको मिटाकर ।

३. आए हुए दोषको अपरिहार्य बनाकर ।

भरतने भी नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें दोष गिनाते हुए गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत ये दस दोष गिनाकर उनकी यह व्याख्या की है—

१. जहाँ गूढ अर्थवाला मूल शब्द न कहकर उसका ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढता नष्ट हो जाय, वहाँ 'अगूढत्व' दोष होता है ।

२. जहाँ जिस वस्तुका वर्णन न करना हो उसका अनावश्यक वर्णन कर देना 'अर्थान्तर' कहलाता है ।

३. जहाँ संवादमें असम्बद्ध बातें भरी हों और उसके भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हों वहाँ 'अर्थहीन' दोष होता है ।

४. 'भिन्नार्थ' दोष दो प्रकारके होते हैं—

( क ) जिनमें असभ्य और ग्राम्य ( फूहड़ ) शब्द या वाक्य हों ।

( ख ) जिनमें कुछ ऐसे वाक्य बीच-बीचमें आ गए हों जो कवि-द्वारा वर्णनीय इष्ट अर्थमें बाधा देते हों ।

५. जहाँ केवल एक ही अर्थवाले वाक्योंका प्रयोग हो ( अर्थात् जहाँ केवल वाच्यार्थसे युक्त पदोंका ही प्रयोग हो, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका अभाव हो ) वहाँ 'एकार्थ' दोष होता है ।

६. जहाँ वाक्यके एक चरणमें संक्षेपमें बात कही जाय वहाँ अभिप्लुतार्थ दोष होता है।

७. जहाँ ज्ञान-विज्ञानसे विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाय वहाँ न्यायादपेत दोष होता है।

८. जहाँ छन्दमें दोष हो वहाँ 'विषम' दोष होता है।

९. जहाँ एक-एक शब्द कह कहकर उसकी विशेषता भी बतलाते चला जाय वहाँ 'विसन्धि' दोष होता है।

१०. जहाँ आवश्यक शब्द छोड़ दिया गया हो वहाँ शब्दच्युत दोष होता है।

इतने नाटकाश्रय दोष समझने चाहिएँ और इनसे उलटी बातोंको ही गुण समझना चाहिए।

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें जो काव्यके दोष गिनाए हैं वे ही प्रायः अन्य आचार्योंने भी गिनाए हैं। इनमेंसे अधिकांश तो संस्कृत भाषाके लिये ही हैं। किन्तु ये दोष नाटकके लिये कभी-कभी गुण होकर भी आ सकते हैं जैसे जयदेवने भी अन्तमें कहा है कि दोष लाकर उसे अनिवार्य कर देना और ऐसे पात्रमें उसका आरोप करना कि उस दोषयुक्त वाक्यके प्रयोगसे ही उसके चरित्रका स्पष्ट रूप प्रकट हो। अतः अनेक प्रकारके व्यक्तियोंका नाटकमें चित्रण करते समय कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि पात्रकी प्रकृतिके अनुसार दोषयुक्त वाक्य भी कहलाया जाय। किन्तु भरतने जो नाटकाश्रय दोष बताए हैं वे विचारणीय हैं। इस बातमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि नाटकमें अनावश्यक, असम्बद्ध, निरर्थक, असभ्य, ग्राम्य, धारा-बाधक तथा अप्रामाणिक, अस्पष्ट वार्त्ता या वर्णन नहीं होने चाहिएँ। इसलिये अभिनव-भरतका मत है कि 'साहित्यमें कुछ भी असम्बद्ध, निरर्थक, असभ्य, द्वेष्य, धाराबाधक, अप्रामाणिक, अबोध्य, अस्पष्ट, अमङ्गल नहीं होना चाहिए।'

१. असम्बद्ध या असङ्गत दोष वहाँ होता है जहाँ वाक्योंमें पूर्वापर-सम्बन्ध न हो।

२. निरर्थक बातचीत वह कहलाती है जहाँ कथा या नाटकके चरित्रोंसे कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाली बातें कहलाई जायँ। बहुतसे उपन्यासकार और नाटककार अवसर मिलते ही अपने दार्शनिक ज्ञानका भाण्डार खोलकर

अपने विशिष्ट पात्रोंसे दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने लगते हैं। यह सब निरर्थक दोष है।

३. जिस देशमें जो वाक्य या शब्द शिष्ट लोग प्रयोग न करते हों और जिनका प्रयोग व्रीड़ाजनक तथा फूहड़ समझा जाता हो, जिसे सुनकर शिष्ट लोग नाक-भौं सिकोड़ते हों उसे 'असभ्य' कहते हैं।

४. 'द्वेष्य' वाक्य वे हैं जिनसे संसारके किसी विशेष वर्ग, जाति, वृत्ति, धर्म, सम्प्रदाय या उनके विशिष्ट व्यक्तियोंका अपमान, विरोध, अनादर या द्वेष प्रकट होता हो।

५. 'धाराबाधक' शब्द या वाक्य उन्हें कहते हैं जो किसी प्रसङ्गके बीचमें प्रयुक्त हो जानेपर उसके स्वाभाविक प्रभावमें बाधा डालते हों।

६. 'अप्रामाणिक' उन बातोंको कहते हैं जो इतिहास, शास्त्र, पुराण, विज्ञान, लोक-विश्वास आदिके विरुद्ध हों जैसे सूर्यका पच्छिममें निकलना, ध्रुवतारेका चलना, अशोकके युगमें बन्दूकका प्रयोग।

७. 'अबोध' या क्लिष्ट शब्द या वाक्य वे होते हैं जिनका साधारणतः प्रचलन न हो जैसे नाटकमें 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की नैयायिक पद्धतिसे विवाद।

८. 'अस्पष्ट' शब्द या वाक्य उन उक्तियोंको कहते हैं जहाँ शब्द तो सरल हों किन्तु सम्वादका अर्थ ही स्पष्ट समझमें न आवे।

९. 'अमङ्गलसूचक शब्दोंका प्रयोग भी नाटकमें नहीं होना चाहिए।'

साहित्यमें उपर्युक्त दोष यदि न रहें तो वह अवश्य प्रभावशाली होगा।

## कविको छूट ( पोइटिक लाइसेन्स )

क्विन्तीलियनने कहा है कि 'कवि लोग अपने छन्दोंके दास होते हैं इसलिये यदि वे उन्हें नाम दे दें तो उनके अपराधको क्षमा कर देना चाहिए। अब मह उन्हें आर्ष प्रयोग (मैटास्लाज़्म या शेमाटिज़्म) कहते हैं और जो उनकी त्रुटियाँ हैं उन्हें हम गुण बताकर उनकी प्रशंसा करते हैं।' यह छूट या लाइसेन्स झूठे कवियोंको प्रोत्साहन देनेके लिये नहीं वरन् केवल बुरी कारीगरीके लिये या रचना-दोषकी उपेक्षा-मात्र करनेके लिये है। यदि कवि इस प्रकारकी स्वतन्त्रता ग्रहण

करने लगें तो उनका स्वातन्त्र्य अधिकार छीन लिया जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो बात आज दोष दिखाई पड़ती है वह कविके युगमें स्वाभाविक हो या जानबूझकर की गई हो अतः कविकी छूटपर विचार करते समय उसकी समर्थता, तत्कालीन प्रयोग आदिका ध्यान रखकर गुण-दोषकी मीमांसा करनी चाहिए। कवि-स्वातन्त्र्य प्रायः सभी देशोंमें, सभी युगोंमें रहा है। 'निरंकुशाः कवयः' (कवि लोग निरंकुश होते हैं) यह उक्ति ही इस बातका प्रमाण है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि लोक और साहित्यकी जो सार्वभौम मर्यादाएँ बनी हुई हैं उनका अतिक्रमण कवि नहीं कर सकता।

---

# भाषण

यद्यपि भाषाका मुख्य प्रयोजन मुँहसे बोलकर किसी दूसरेको अपने मनकी बात समझाना है किन्तु आश्चर्यकी बात यह रही है कि आजकल समीक्षाके क्षेत्रमें भाषणका कोई महत्त्व नहीं समझा जाता है। उसका कारण यह है कि समीक्ष्यवादी तो एकान्तमें बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित साहित्यकी ही छान-बीन कर सकता है। न तो वह संसार-भरमें होनेवाले भाषण सुन ही सकता है, न सुनकर उनकी समीक्षा ही कर सकता है क्योंकि भाषणके समय इतना अवसर नहीं मिलता कि उसके सम्बन्धमें उचित जिज्ञासा करके उसका परीक्षण और विश्लेषण किया जा सके। किन्तु प्राचीन रोम और यूनानमें किसी समय भाषण-कलाका ही बोलबाला था, लेखन-कला बहुत कम लोग जानते थे इसलिये वहाँ साहित्यके सम्बन्धमें जो विचार और समीक्षण हुआ वह प्रारम्भमें भाषण-शास्त्र ( ह्रटौरिक्स ) पर ही हुआ।

## भाषणका महत्त्व

यद्यपि हमारे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवहारोंमें भाषण और प्रवचनका बड़ा महत्त्व है किन्तु हमारे यहाँ न तो कोई भाषण-शिक्षाकी योजना ही है, न साहित्यके विद्वान् और आचार्य भाषणके नियमनके लिये कोई व्यवस्था ही करते हैं। रोमवासियोंके दृष्टिमें 'व्याख्याता ही संस्कृति और शिक्षाका प्रतीक था।' वे लोग भाषणकलाके विद्यालयोंमें नियमित रूपसे भाषणकी शिक्षा देते थे और तीन प्रकारके व्याख्यान सिखाते थे—स्पष्ट, युक्तियुक्त और प्रशंसापूर्ण। इन व्याख्यानोंमें भी इस बातपर ध्यान दिया जाता था कि 'भाषण-कला सीखनेवालेको भाषणके विषय, क्रम, शैली, स्मृति और भाषा-प्रवाहका ठीक ज्ञान हो।' यद्यपि आजकल भी हमारे यहाँ विद्यालयोंमें भाषण-कलाकी प्रतियोगिताएँ होती हैं किन्तु उनकी उचित व्यवस्थाके लिये कोई शिक्षण-प्रबन्ध नहीं है।

### संस्कृता वाक्

हमारे यहाँके आचार्योंने तो सुसंस्कृत वाणीको ही मनुष्यका सबसे बड़ा अलङ्कार माना है—वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते । [ जो वाणी अच्छी माँजी हुई और सुसंस्कृत होती है वही वास्तवमें मनुष्यकी सच्ची एकमात्र अलङ्करण-भूषा है । ] अतः यों तो सभी प्रकारके व्यक्तियोंको वाणीका संस्कार प्राप्त करना चाहिए किन्तु उन लोगोंको विशेष रूपसे, जो अध्यापन, प्रवचन, कथावाचन, भाषण आदिका नित्य व्यवहार करते हैं ।

### भाषणकी समीक्षा भी आवश्यक

हम लोग जब किसीका भाषण सुनते हैं तब कहते हैं—'बड़ा अच्छा भाषण हुआ, बड़ा सुन्दर भाषण हुआ ।' इस प्रशंसामें हम दो बातोंपर ही ध्यान देते हैं—

१. उसकी भाषा सुन्दर और कहनेका ढङ्ग ( उच्चारण, स्वर-विन्यास ) सुन्दर था ।

२. उसने जितनी बातें कहीं वे इतनी तर्क-सम्मत थीं कि हमारी शङ्काओंका समाधान हो गया और हम उससे इतने प्रभावित हुए कि उसकी सब बातें मान गए ।

वास्तवमें भाषणके ये ही दो गुण हैं जिनकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की गई है । इसका तात्पर्य यह है कि भाषणमें भाषाका प्रयोग होता है और उसमें भी गुण होते हैं अतः उसकी भी समीक्षा आवश्यक है ।

### परिभाषा और साधन

'जब कोई व्यक्ति, किसी विशेष अवसरपर, किसी जनसमूहके सम्मुख, किसी विषयपर, अपने विचार अभिव्यक्त करता है तब वह भाषण कहलाता है ।' इसका तात्पर्य यह है कि 'भाषणमें छः साधन होते हैं—

१. वक्ता, २. अवसर, ३. श्रोता, ४. विषय, ५. विचार और ६. अभिव्यक्ति । इनमेंसे वक्ता, अवसर, श्रोता, विषय और विचारकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वक्ता, अवसर और श्रोता संसारमें अनेक प्रकारके और सभी हैं और इनका विवेचन भी विषय और विचारके प्रकरणमें हम विस्तारसे कर आए हैं । यहाँ केवल अभिव्यक्तिका ही परिचय देना अभीष्ट है ।

## साधनाएँ

भाषणकी चार साधनाएँ हैं—१. भावभङ्गी ( जेश्चर ), २. देहमुद्रा (पौश्चर), ३. भाषाशैली ( डिक्शन ) और ४. प्रवचन ( डिलिवरी )। यद्यपि भावभङ्गी और देह मुद्राका सम्बन्ध साहित्य-शास्त्रसे नहीं है किन्तु साहित्यको मौखिक रूपसे प्रस्तुत करनेके लिये उसपर भी प्रासङ्गिक विचार आवश्यक है। भावभङ्गी आवश्यक हो, सुवर हो, भावोंको स्पष्ट करनेवाली, प्रभावशाली और विचारोंको सहायता देनेवाली हो। देह-मुद्राके सम्बन्धमें भी आचार्योंका मत है कि 'भाषण-कर्त्ताको सीधे खड़े होकर अपना बायाँ हाथ पीठकी ओर घुमाकर सब लोगोंकी ओर धीरे-धीरे मुँह घुमाते हुए गम्भीरता-पूर्वक भाषण देना चाहिए, जिससे सुरुचि, विद्वत्ता, शालीनता और स्फूर्तिका आभास मिले। व्याख्याताको अवसरके अनुकूल अपनी मुखमुद्रा प्रसन्न या गम्भीर बना लेनी चाहिए।'

भाषा-शैलीके सम्बन्धमें हम पीछे बता आए हैं कि उसमें चार गुण होने चाहिएँ—

१. शुद्धता, २. कलात्मकता, ३. मधुरता और ४. प्रभावोत्पादकता। वक्ताको इस प्रकार भाषण देना चाहिए कि श्रोता उसकी ओर आकृष्ट हों और वह जो कुछ बोले उसे तन्मय होकर सुनें। इस सम्बन्धमें रोम और यूनानमें अत्यन्त विस्तारसे विचार किया गया है कि भाषण कितने प्रकारके होते हैं और उनके कितने अङ्ग होते हैं।

## भाषणके प्रकार

क्विन्तीलियनने तीन प्रकारकी जाति या वर्गके अनुसार भाषण-कलाकी भी तीन जातियाँ बताई हैं जो श्रोताओंके वर्गोंके अनुसार तीन प्रकारकी होती हैं—

१. श्रोता या तो बीती हुई बातोंके निर्णायक होते हैं या तथ्यके प्रश्नोंपर निर्णय देते हैं अर्थात् किसी न्यायालयके निर्णायक या परामर्शदाता (जूरर) का काम करते हैं।

२. भावी बातोंका निर्णय या नीति निर्धारित करते हैं अर्थात् किसी धारा-सभा या राजनीतिक दलके सदस्यका काम करते हैं।

३. समीक्षावादी लोग सम्प्रेक्षक होते हैं, जो वक्ताकी चातुरीको समझते तथा उसके भाषणसे सम्बद्ध गुण जानते हों।

इस प्रकार भाषणकी तीन सीमाएँ होती हैं या तीन प्रकारके मौलिक भाषण होते हैं—

१. निर्णायक भाषण ( फ़ोरेन्ज़िक या जुडीशल ) जो न्यायालयोंमें आए हुए विषयोंपर होते हैं और यह बताते हैं कि क्या हो गया है या क्या नहीं हुआ है।

२. विचारात्मक या राजनीतिक ( डेलीबरेटिव या पोलीटिकल ), जिसमें सभासदों-द्वारा सम्मति दी जाती है कि कौन-सी बातें होनी चाहिएँ, कौन-सी नहीं।

३. कलात्मक भाषण ( एपिडीक्टिक या डिमौन्स्ट्रेटिव ), जिसमें लच्छेदार भाषामें वर्त्तमान सभी विषयोंपर भाषणात्मक प्रदर्शन होता है। ऐसे भाषणमें किसी पक्षका अतिरञ्जन होता है। ये दो प्रकारके होते हैं—( क ) प्रशंसात्मक और ( ख ) निन्दात्मक अर्थात् उसका उद्देश्य यह बताना होता है कि क्या सुन्दर और अच्छा है और क्या असुन्दर, बुरा तथा निन्दनीय है। यही भाषणका सबसे स्वतन्त्र रूप है और इसीमें बहुत अलङ्करणका अवसर है। यही वास्तवमें साहित्यिक भाषण कहला सकता है।

### भाषणकला

भाषणकला वास्तवमें शब्द-योजनाकी कला और विज्ञान है जिसके निम्नाङ्कित आठ अर्थ योरोपमें प्रचलित हुए जो सभी प्रायः पिछले चौबीस-सौ वर्षोंसे प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं—

१. उन सिद्धान्तोंका समूह जो प्रभावशाली सार्वजनिक प्रवचनोंकी रचनाके लिये काममें लाए जाते हैं। २. स्वयं भाषण। ३. वक्ताकी कला। ४. प्रकाशित गद्य-साहित्य या मौखिक प्रवचनके सिद्धान्त। ५. गद्यशैलीकी कला। ६. कृत्रिम गद्यशैली। ७. मौखिक गद्य या पद्य-रचनाके शृङ्गारका व्यवस्थित सिद्धान्त। ८. गद्य या पद्यके लिये इन शृङ्गारों या प्रक्रियाओंका प्रयोग।

### भाषणका तत्त्व

ऊपर बताया जा चुका है कि रोम और यूनानमें प्राचीन कालमें भाषण-कलाकी व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। उस समय भाषणकलाके कुछ ऐसे भी आचार्य थे, जिनका उद्घोष था कि 'हम भद्दे व्याख्यानको भी

सुन्दर बना सकते हैं।' किन्तु सुकरातका मत था कि 'भाषणकला पूर्णतः कृत्रिम कला है।' अरस्तूने तो सार्वजनिक व्याख्यानकी एक प्रणाली ही निकाल ली थी। उसने अपने भाषण-शास्त्रमें कहा है कि 'नियमित तर्क ही सत्य और प्रभावशाली भाषणका प्रमुख आधार है।' उसने १. तर्कपूर्ण तथा २. न्यायशालाओंमें काम आनेवाली दो प्रकारकी भाषण-कलाओंके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकारकी ३. प्रशंसात्मक भाषणकलाकी भी चर्चा की है और उसके पश्चात् उसने विभिन्न परिस्थितियोंमें काम आने योग्य तर्कका विवरण, व्याख्यानोंकी योजना तथा उक्ति-चयन और प्रवचनकी दृष्टिसे शैलीका निरूपण भी किया है। रोमके भाषण-शास्त्रियोंने शाब्दिक अलङ्करणको भाषणमें अधिक महत्त्व दिया है और प्रत्येक प्रकारके अलङ्करणका नामकरण भी किया है। मध्यकालमें भाषण-शास्त्रपर जो ग्रन्थ लिखे गए, उन्होंने तीन प्रकारकी शैलियाँ मानीं— १. सशक्त, २. मध्यवर्गीय और ३. निम्न, जिनमेंसे सशक्त या उच्च शैलीमें अलङ्करणका प्रयोग ही अधिक माना गया। पुनर्जागरणकालमें सार्वजनिक भाषणके लिये एक प्रक्रिया ही बता दी गई कि भाषणके लिये पाँच शक्तियाँ होनी चाहिएँ—१. तर्कान्वेषण (इन्वेन्शियो), २. मनोवृत्ति (डिस्पोज़ीशियो), ३. भाषण-शैली (इलोक्यूशियो), ४. स्मृति ( मैमोरिया ) और ५. भाषा-प्रवाह ( प्रोनंसिएशियो )।

### विषय या तर्कान्वेषण ( इन्वेन्शियो )

उपर्यङ्कित शक्तियोंमेंसे विषय (इन्वेन्शियो), मनोवृत्ति ( डिस्पोज़ीशियो ) और शैली ( इलोक्यूशियो ) के सम्बन्धमें अरस्तूका मत है और मध्य युगमें भी यह विश्वास था कि 'ये तीनों गुण तर्क, नैतिक सिद्धान्त तथा लगनसे प्राप्त होते हैं।' आगे चलकर इस शब्दका प्रयोग सब साहित्यिक रूपोंमें सामग्रीकी खोज या परीक्षणके लिये भी होने लगा। पुनर्जागरणकालके काव्यशास्त्रमें इसकी यह परिभाषा की गई कि 'इस तर्कान्वेषण शक्तिसे इन्द्रियानुभूति तथा काल्पनिक वर्णन और कथा आदिके नये समन्वयसे रची जानेवाली सामग्रीकी सूझ होती है और इसलिये इसे वाग्वैदग्ध्य (विट), कल्पना (इमैजिनेशन) और भावना (फैन्सी) का कुछ-कुछ पर्याय समझ सकते हैं। कभी-कभी इस शब्दका प्रयोग स्वयं 'भाषा'के लिये भी किया जाता था जिसके अन्तर्गत 'काव्य-सामग्री' और 'शैली' दोनों आ

जाते थे। सत्रहवीं शताब्दिमें भी इस तर्कान्वेषणका अर्थ था वाग्वैदग्ध्य, जो कभी तो समीक्षाके लिये और कभी-कभी भाषणके लिये भी प्रयुक्त होता था जैसे ड्राइडनने कहा है कि 'कविकी कल्पनाका प्रथम उन्मेष यह है कि वह विचारोंकी खोज करे।' टेम्पिलने कहा है कि 'यह तर्कान्वेषण-शक्ति प्रतिभाका फल और कविताकी माता है।' अठारहवीं शताब्दिमें यह 'वाग्वैदग्ध्य' ( विट ) और 'कवि-सामर्थ्य' के लिये प्रयुक्त होने लगा। पोपने कहा है कि 'इस तर्कान्वेषणकी परीक्षा करके ही सभी महान् प्रतिभा-शालियोंकी आनुपातिक महत्ता व्यक्त होती है।' उस शताब्दिके अन्ततक यह 'कल्पना'का पर्याय ही समझा जाता रहा, जिसके कारण स्वैरवादी सिद्धान्तमें 'अन्वेषण'का अर्थ समझा जाता था 'सम्प्रेक्षण-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीसे चरित्रोंका निर्माण करनेकी शक्ति।' उन्नीसवीं शताब्दिमें इसका अर्थ हुआ 'वास्तविकताके बदले काल्पनिक सामग्री खोजनेकी शक्ति।' तात्पर्य यह है कि उन लोगोंने विषय, विषयके समर्थक विचार तथा विषयको अलंकृत करनेके साधन सबका समन्वित नाम तर्कान्वेषण ( इन्वेन्शियो ) रख छोड़ा था।

### वृत्ति ( डिस्पोज़ीशियो )

भाषणके योगमें यह दूसरी शक्ति समझी जाती है। इसका तात्पर्य है भाषण प्रस्तुत करनेकी शक्ति। इस शक्तिके अन्तर्गत छः गुण आते हैं—

१. स्पष्टता, अर्थात् संक्षिप्त और नम्र प्रारम्भ या भूमिका (ऐग्ज़ौर्दियम)।

२. विषय-कथन ( नैरेशन ), अर्थात् सरल, विश्वसनीय, संक्षिप्त और हर्षपूर्ण मुद्रामें मूल बातों या तथ्योंका निवेदन।

३. प्रस्तावन ( प्रपोज़िशन ), अर्थात् अपना पक्ष उपस्थित करना। यदि पहलेसे विषय-सूत्र दिए गए हों तो इसे विश्लेषण ( पार्टिशन ) कहते हैं।

४. मण्डन ( कन्फ़र्मेशन ), या तर्कोंके द्वारा अपना पक्ष सिद्ध करना।

५. खण्डन ( रेफ्यूटेशन ) अर्थात् विरोधी तर्कोंको झूठा, असम्भव और असङ्गत सिद्ध करना।

६. प्रभावक उपसंहार ( पैरीरेशन ), अर्थात् अत्यन्त भावकता-पूर्ण अभ्यर्थनाके साथ समाप्त करना।

### वाचाशक्ति ( इलोक्यूशियो )

यह भाषणकी तीसरी शक्ति मानी जाती है। इसके तीन भाग हैं—

१. रचना ( स्पष्टता और वाणीका औचित्य ),

२. लालित्य ( ऐलिगेन्स ), अर्थात् भाषाकी शुद्धता, शिष्टता, नम्रता और सरलता ।

३. भव्यता ( डिग्निटी ) या भावोंको आलङ्कारिक सौन्दर्यसे सज्जित करना । उन्नीसवीं शताब्दिके पश्चात् इस शक्तिका महत्त्व कम हो गया ।

### स्मृति ( मेमोरिया )

यह भाषणकी चौथी शक्ति समझी जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि वक्ताको जो कहना हो वह विषय, उस विषयसे सम्बद्ध उक्तियाँ, उसके पक्ष या विपक्षके सब प्रमाण उसे ऐसे कण्ठस्थ और प्रस्तुत रहें कि उचित अवसरपर उपस्थित किए जा सकें ।

### प्रवाह ( प्रोनन्सिएशियो )

प्रवाहका अर्थ है अपने भाषणमें प्रत्येक अक्षर तथा शब्दको शुद्ध तथा स्पष्ट रूपसे उच्चरित करके, भावके अनुकूल स्वरके आरोह-अवरोहके साथ उसे इस प्रकार व्यक्त करे कि वह श्रोताओंपर जो भी करुणा या हासका प्रभाव डालना चाहता हो, उससे वे अवश्य प्रभावित हो जायँ और अश्रु तथा उल्लास आदि अनुभावोंसे उसे अभिव्यक्त करें ।

हालिकारनेसस-निवासी दिअनुससने भाषणकी दो शक्तियाँ बताईं— १. तर्कान्वेषण ( ह्यूरेसिस ) और २. शैली ( लेक्सिस ) । अब इसमें लोग भाषण-शैली ( डिलिवरी ) को भी जोड़ते हैं ।

### भाषणकी पाँच शक्तियाँ

रोमके प्रसिद्ध वक्ताओंने भाषणकी पाँच शक्तियाँ बताई हैं—

१. भाषणके विषयोंकी खोज ( इन्वेन्शन या डिस्कवरी ) अर्थात् किसी भाषणके योग्य सामग्रीको ढूँढ़ना, इकट्ठा करना, प्रस्तुत करना, विश्लेषण करना और भाषाके लिये उचित सामग्री चुनना । अरस्तूके मतका उनपर यह प्रभाव पड़ा कि वे तर्कान्वेषणको ही महत्त्वपूर्ण भाग मानने लगे ।

२. भाषणमें सामग्रीका क्रम और सजावट ( टेक्सिस ओइकोनोमियाँ या डिस्पोज़ीशियो ) ।

३. उचित भाषामें विचारोंको व्यक्त करना ( लेक्सिस इलोक्यूशियो ) ।

४. भाषामें आवेष्टित भाषणके विचारोंको स्मरण रखना या स्मृति ( नीम या मैमोरिया ) ।

५. भाषणको प्रभावशाली शैलीमें अभिव्यक्त करना (इफ़ैक्टिव डिलिवरी, हाइपोक्रिसिस, एक्टियो और पीछे चलकर प्रोनन्सेन्शियो), जिसमें स्वर ( ओसिस ), खड़े होनेका ढङ्ग ( गेस्टर मौडरेशियो ), मुद्राएँ ( ओल्टिस ) और क्रम ( विन्स्टेट ) आते हैं।

## भाषणके अङ्ग

योरोपीय आचार्योंने भाषणके मुख्य अङ्गोंको विभिन्न प्रकारसे अभिव्यक्त किया था जिसका एक परिचय ऊपर वृत्ति ( डिस्पोज़ीशियो ) के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अरस्तू, सिसरो और क्विन्तीलियनने भाषणके चार अङ्ग बताए हैं—

१. प्रस्तावना ( प्रोएम, एग्ज़ोर्दियम )। २. विषय-स्थापन ( दीगेसिस, नैरेशियो )। ३. तर्क ( एगौन ) जिसके और भी दो अङ्ग थे—( क ) मण्डन ( पिस्तिस, अपोदीक्सिस, प्रोवातियो ) और ( ख ) खण्डन ( लिसिस ) और ४. उपसंहार ( एपिलोगस, पेरीरेशियो )। कुछ लोग इनमें २. विषय-स्थापनके पश्चात् और भी अङ्ग मानते हैं—डीवोज़िओ या पार्टीशियो, जिसके अन्तर्गत ( क ) मान्य बातें, (ख) अमान्य बातें और (ग) वक्ता-द्वारा इच्छित बातोंकी स्थापना आती है। कुछ लोग ४. उपसंहारसे पूर्व एक दूसरा तत्त्व असङ्गत वस्तुओंका प्रवेश ( डाइग्रेशन या एक्सकर्शन पारेकवेसिस ) लाना चाहते हैं। ये अङ्ग आजतक भी ज्योंके त्यों प्रयोगमें आते हैं और यूनान तथा रोमके भाषण-विद्यालयोंमें सिखाए जाते हैं।

## तीन तत्त्व

लातिनमें व्याख्याके तीन तत्त्व माने गए हैं—

१. रचना ( कम्पोज़ीतियो ) अर्थात् व्याख्या ( एक्स्पोज़िशन ), तर्क ( आर्गुमेंट ), विवरण ( डेस्क्रिप्सन ), कथन ( नैरेशन ) से संयुक्त करके भाषणका रूप स्थिर करना। २. एलीगेन्शिया और ३. भव्यता (डेग्नाताश)।

एलिगेन्शिया या लालित्यके दो अङ्ग हैं—

१. सुरुचि ( लातीनितास्त ) तो ग्राम्य दोषों और असम्बद्ध वाक्योंसे बचकर चलना है और २. स्पष्टता ( ऐक्सप्लेनेशियो ) शब्दोंके उचित प्रयोगसे बातको स्पष्ट करना कहलाता है। भव्यताका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

### तथ्यका प्रश्न

भाषणमें दो प्रकारके प्रश्न लिए जाते हैं—१. तथ्य-सम्बन्धी २. नीति-सम्बन्धी। तथ्य-सम्बन्धी प्रश्नोंमें किसी ऐसी घटना या अवस्थाका विवरण होता है जो हो चुकी हो या सम्भव है हो चुकी हो या जिसके हो चुकनेकी कल्पना की जाती हो। यह शुद्ध रूपसे निम्नाङ्कित प्रमाणपर अवलम्बित है—

१. वक्तव्य, किसी तथ्यका प्रस्तुत रूप है।

२. समर्थन ( एसर्शन ) वह वक्तव्य, जो वक्ताके प्रमाणपर प्रमाणित किया जाय, अर्थात् ऐसा कहा जाता है।

३. साक्ष्य अर्थात् उस प्रकारका कथन जो किसी दूसरे-द्वारा तथ्यको स्थापित करनेके लिये प्रस्तुत किया जाय।

४. प्रत्यक्ष साक्ष्य, जो किसी तथ्यकी स्थापनामें सटीक सहायता करता हो।

५. प्रमाण, जो किसी तथ्यको स्थापित करनेके लिये स्वीकार कर लिया गया हो।

नीतिका प्रश्न किसी भावी कार्य-पद्धतिके सम्बन्धमें सम्मति लेना है कि यह उचित है या नहीं। इसलिये इसमें प्रमाणकी प्रक्रिया आवश्यक नहीं है और इसीलिये उसके लिये कम प्रामाणिक प्रणालीसे भी काम चल जाता है, जैसे—१. शास्त्र-प्रमाण, २. साम्य-प्रमाण, ३. विवरण, ४. उदाहरण, ५. तर्क, जैसे—जहाँ धुआँ हैं वहाँ अग्नि होगी। इस कम प्रमाणिकताके कारण किसी नीति-सम्बन्धी प्रश्नके लिये तथ्य-सम्बन्धी मौलिक प्रश्नोंको ठीक कर लेना आवश्यक होता है। ये नीति-सम्बन्धी प्रश्न भी दो प्रकारके होते हैं—१. निश्चित और २. अनिश्चित। इनमेंसे निश्चितके अन्तर्गत विशिष्ट या परिमित बातें आती हैं, अनिश्चितमें सामान्य।

### प्रश्नाभास ( इरोतेसिस )

भाषणमें जब कोई विशिष्ट उत्तर प्राप्त करनेके लिये प्रश्न किया जाता है, वह प्रश्नाभास कहलाता है। इसीको ह्रिटौरिकल क्वैश्चन कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसके कई रूप हैं जैसे—

१. तात्कालिक प्रभावके लिये कोई छोटा बल-पूर्ण प्रश्न करना ( इपरौटैसिस )।

२. प्रश्न पूछकर स्वयं उसका उत्तर देना ( ऐन्थुपोफ़ोरा )।

३. ऐसा प्रश्न करना जिसका उत्तर प्रत्यक्ष हो ( इरोतेमा )।

४. केवल विरोधके लिये प्रश्न करना ( उस्मा ), जैसे—क्या मैं अपने भाईका रखवाला हूँ कि उसका ठिकाना बतला दूँ ?

५. किसी प्रतिपक्षी, निर्णायक, कल्पित या अनुपस्थित व्यक्तिको सम्बोधित करके प्रश्न करना ( ऐनेकौयनोसिस )।

६. इस प्रकार प्रश्न करना मानो सम्मति ले रहे हों या परामर्श कर रहे हों ( सिम्बाउलेउसिस )। इस प्रकारके प्रश्नोंका प्रयोग स्थान-स्थानपर भाषणको प्रभावशाली बनानेके लिये किया जाता है किन्तु यथा-सम्भव इस प्रकारके भाषणात्मक प्रश्न केवल कहीं-कहीं प्रयोग करने चाहिएँ, निरन्तर नहीं।

### संवर्धन ( एम्लीफ़िकेशन )

योरोपीय भाषण-शास्त्रियोंने किसी भावको भाषाके द्वारा अधिक अभिवृद्ध या तीव्र करनेके लिये अथवा उस भावका ह्रास करनेके लिये बहुत-सी विधियाँ निकाली थीं—

१. नया शब्द चुनकर जैसे—'उसे मारा' के भावको तीव्र करनेके लिये 'उसकी जान ले ली' या 'उसका कचूमर निकाल दिया।' 'उन्होंने उसको मार गिराया'के भावका ह्रास करनेके लिये 'उन्होंने उसे यों ही थोड़ा चपतिया दिया।'

२. शब्दोंकी अनवरत तुलना करके जैसे—वह चोर नहीं डाकू था, स्त्री-गामी नहीं व्यभिचारी था, पाखण्डी नहीं धूर्त्त था।'

३. कई प्रकारका क्रमिक बल देकर, जिसे आजकल लोग पराकाष्ठा ( क्लाइमेक्स ) कहते हैं, जैसे—'तुम इतने छोटे, इतनी कच्ची अवस्थाके, इतना कम ज्ञान लेकर और इतने थोड़े साधनके साथ इतने बड़े शत्रुके साथ लड़ने जा रहे हो ?'

४. कम या अधिक महत्त्वकी वस्तुसे उपमा देकर, जिससे कि प्रस्तुत वस्तु अधिक महत्त्वकी या कम महत्त्वकी प्रतीत हो, जैसे—'तुम्हारे मुखकी उपमा चन्द्रमासे देकर मैं तुम्हारा अपमान नहीं करना चाहता।'

५. किसी प्रसङ्गगत बातको इतना बढ़ाकर कि 'उसमें प्रस्तुत विषय आ जाय, जैसे सिसरोने मदिरा पिए हुए एन्टनीका तिरस्कार करते हुए कहा था कि 'तुम ऐसा खुरखुरा गला लेकर, शरीरमें यह डगमगाहट और यह पागलपन

लेकर यहाँ खड़े हो?' यहाँ तिरस्कारके द्वारा सिसरोने श्रोताओंको यह समझाया कि एन्टनीने कितनी मदिरा पी है।

६. संग्रह अथवा एक ही बातको कई प्रकारसे कहना जैसे—'कहो, तुम्हारी तलवार क्या कर रही थी? किसके शरीरपर उसका लक्ष्य था? कहाँ गए थे तुम्हारे हाथ? कहाँ थे तुम्हारे विचार? तुम्हारी आँखें? तुम्हारा भयङ्कर साहस? तुम्हारी अपरिमित शक्ति?'

### अस्पष्टता या द्विविधा ( एम्बिगुइटी )

अस्पष्टता भाषणका दोष है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'जहाँ वाक्य या बातका अर्थ अनिश्चित हो अथवा उसके एकसे अधिक अर्थ लगाए जा सकें वहाँ अस्पष्टता होती है। इसके दो रूप हैं—१. अनिश्चित वाक्य-विन्यास ( एम्फ़ीबोल या एम्फ़िबोलोजी ) जिसमें शब्द तो स्पष्ट होते हैं, किन्तु वाक्यकी रचना ऐसी होती है कि अर्थ समझमें नहीं आता जैसे 'चन्द्र बिखरा-सा समुद्रमें लहरोंमें प्रतिबिम्बित होकर लगता था।' यह वाक्य होना चाहिए—'समुद्रमें प्रतिबिम्बित होकर चन्द्र, लहरोंमें बिखरा-सा लगता था।'

२. दूसरा होता है अनेकार्थ शब्द ( इक्वीवोकेशन ) अर्थात् एक ही बातमें एक ही शब्दको कई अर्थोंमें प्रयुक्त करना या भ्रम उत्पन्न करनेके लिये कई अर्थोंमें एक शब्दका प्रयोग कर देना। डब्ल्यू० एम्प्सनने ऐसी सात प्रकारकी अस्पष्टताएँ बताई हैं—

१. कोई शब्द या वाक्य-विन्यास एक साथ कई प्रकारके प्रभाव डालता हो।

२. जहाँ लेखकके एक ही अर्थमें दो या अधिक अर्थ ध्वनित हों।

३. श्लेष, जहाँ दो अर्थ एक साथ ठीक लगते हों।

४. जहाँ किसी वक्तव्यके दो या अधिक अर्थ आपसमें मेल न खाते हों।

५. जहाँ किन्हीं दो वस्तुओंके बीच कोई उपमा ऐसी लटक जाय कि लेखक एक वस्तुका वर्णन करते-करते दूसरी वस्तुका वर्णन करने लगा हो।

६. जहाँ किसी वक्तव्यसे कोई अर्थ ही न निकलता हो अर्थात् या तो वे परस्पर विरोधी हों अथवा निरर्थक पुरावृत्ति होती हो या असङ्गत वक्तव्य

हों और स्वयं पाठकको ऐसे वक्तव्य उसमेंसे ढूँढ़ने पड़ते हों जो परस्पर-विरोधी हों।

७. जहाँ दोनों अर्थ विरोधी हों और प्रसङ्गसे पूर्णतः विपरीत हों।

## सिसरोवाद (सिसरोनियनिज़्म)

योरोपके पुनर्जागरणके मध्य और अन्तिम अंशमें कुछ लोगोंने सिसरोकी लातिन शैली और शब्दावलीका अत्यन्त अतिरेकपूर्ण तथा यन्त्रवत् अनुकरण प्रारम्भ कर दिया था। इसे प्रारम्भ किया पेत्रार्कने, यद्यपि उसकी शैली सिसरोसे उतनी मिलती-जुलती नहीं थी। धीरे-धीरे यह रोग इटलीसे फैलते-फैलते सम्पूर्ण योरोपमें यहाँतक फैल गया कि सिसरोके शब्दोंका कोष बन गया और कुछ लोग तो उसके इतने अन्ध-भक्त बन गए कि सिसरोकी शब्दावलीके अतिरिक्त शब्दोंका प्रयोग करना ही उन्हें दोष प्रतीत होने लगा। किन्तु इरास्मसने इस अतिरेकका विरोध किया और कहा कि 'सबको अपनी-अपनी भाषण-शैली बनानी चाहिए, किसीका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए।'

## भाषणकी प्रकृति

भाषण साधारणतः दो प्रकृतिके होते हैं—१. गम्भीर और २. विनोदी। ये दोनों प्रकृतियाँ अवसरपर अवलम्बित होती हैं: हर्षके अवसरपर सामान्य जनता या मित्र-मण्डलीमें विनोदी तथा दुःखके अवसरपर या विद्वज्जनोंमें या गम्भीर औपचारिक अवसरोंपर गम्भीर भाषण देने चाहिएँ। इनकी भाषा-शैलीके सम्बन्धमें हम पीछे शैलीमें पूर्ण विचार कर आए हैं।

## भारतीय मतसे भाषणके गुण-दोष

यद्यपि भारतीय आचार्योंने भाषण-कलाके सम्बन्धमें तो अलग विवेचन नहीं किया किन्तु वाचनके सम्बन्धमें पाणिनीय और याज्ञवल्क्य-शिक्षामें उच्चारणकी विधि बतलाते हुए कहा गया है—

व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥
मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
सनाथैकस्य देशस्य न वर्णाः सङ्करं गताः॥

यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ।।
—याज्ञ० शि० १०२–१०४

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ।।
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ।।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभने ।।
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।
शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।।
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ।।
विरलं विस्वरं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ।।

[ जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चोंको इस प्रकार अपने मुँहमें लेकर चलती है कि न तो बच्चोंको दाँत ही चुभें और न वे मुँहसे ही गिरें, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर चबा-चबाकर बोले जायँ कि मुँहमें ही रह जायँ और न ऐसा ही हो कि वे मुँहसे गिर-गिर पड़ें और स्पष्ट एक दूसरेसे अलग टूटे हुए सुनाई दें।

वर्ण मधुर हों, स्पष्ट हों तथा दूसरे वर्णोंसे दबे हुए न हों। सब वर्ण पूरे उच्चारित किए जायँ, एक दूसरेमें मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैरके बाद दूसरा पैर रखता है उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्तको अलग-अलग स्पष्ट बोलना चाहिए।

शङ्कित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टताके साथ, नाक़से, कौवेके स्वरमें, मूर्धा स्थानसे ही उच्चारण करके, मुँहमें ही वर्णोंको काटकर, फेंकते हुएसे, रुक-रुककर, गद्गद स्वरसे, गा-गाकर, चबा-चबाकर, पदों और अक्षरोंका पूर्ण रूपसे उच्चारण न करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है। ]

[ बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँध जाना उचित नहीं

है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसकी प्रकृति अच्छी है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ एवं विनीत है, वही वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शङ्कित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट नकिया-नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, नीरस ध्वनिमें, सुस्वर-रहित, अलग-अलग, बेढङ्गे रूपमें बलाघात करके, व्याकुलता-पूर्वक एवं तालहीन पढ़ना, ये पढ़नेवालेके चौदह दोष हैं। ]

### वक्ताके गुण-दोष

उसी शिक्षामें आगे चलकर भले-बुरे ढङ्गसे पढ़नेवालोंके भी गुण-दोष बतलाए गए हैं—

> माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
> धैर्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः॥
> गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
> अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

[ मिठास, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदोंका पृथक्-पृथक् उच्चारण, सुन्दर स्वर, धीरता और लयके अनुसार पढ़ना—पाठकर्त्ताके ये छः गुण हैं। गाकर, हड़बड़ीके साथ, सिर हिलाते हुए, चुपचाप, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरसे पढ़नेवाला अधम पाठक है। ]

ये गुण-दोष वक्ताके गुण-दोष भी समझ लिए जायँ तो कोई बाधा न होगी।

### भाषणके प्रकार

आजकलके भाषण-शास्त्रियोंने भाषणके निम्नलिखित प्रकार गिनाए हैं—

१. औपचारिक : विवाह, भोज, माङ्गलिक अवसरपर तथा सभापतिका प्रस्ताव या धन्यवाद आदि सभाचारके लिये प्रयुक्त होनेवाले।

२. गम्भीर : किसी दार्शनिक, शास्त्रीय या साहित्यिक विषयपर शास्त्रार्थ या विवेचन अथवा जयन्ती, शोकसभा, धारासभा या विद्वद्गोष्ठीमें प्रयुक्त होनेवाले।

३. उत्तेजनात्मक : राजनीतिक, धार्मिक या सोद्देश्य आन्दोलनके लिये जनमत जागरित करने और लोगोंके भड़कानेके निमित्त प्रयुक्त होनेवाले।

४. अभ्यर्थनात्मक : किसी संस्थाके लिये अथवा सङ्कट-ग्रस्त जनता या देशकी सहायता देनेके निमित्त जनताका सहयोग प्राप्त करनेके लिये भाविकता-पूर्ण भाषण।

५. विनोदपूर्ण : जनताके मनोरञ्जनके लिये।

६. आत्मनिवेदन : सरलता तथा निश्छलताके साथ अपना पक्ष उपस्थित करना।

७. प्रवचन : धार्मिक कथाओं या काव्योंकी भावपूर्ण व्याख्या।

८. उपदेश : बालकों या किसी वर्गको उपदेश देनेके लिये समझानेवाली शैलीमें भाषण।

९. भजनोपदेश : प्राय: धर्म-प्रचारकों द्वारा भजन तथा गीतके साथ दिए जानेवाले व्यंग्यात्मक और प्रचारात्मक भाषण।

१०. शास्त्रार्थ या वाद-विवाद।

### भाषण-क्रम

आजकल भाषण-शास्त्रियोंका मत है कि कम बोलो और भाषणमें यह क्रम रक्खो—

१. अत्यन्त संक्षिप्त प्रस्तावना।

२. विषयका स्पष्ट परिचय।

३. विरोधी पक्षका खण्डन।

४. अपने पक्षका समर्थन।

५. जनतासे अपना मत माननेके लिये भावपूर्ण अभ्यर्थना।

शास्त्रार्थ या वाद-विवादमें यदि पूर्व पक्ष स्थापित करना हो तब तो उपर्यङ्कित पाँचों पदोंका प्रयोग करना चाहिए अन्यथा केवल अन्तिम तीन पदोंका ही।

### भाषणाचार

भाषण-शास्त्रियोंने वक्ताके कुछ आचार बताते हुए कहा है कि प्रत्येक सफल वक्ताको सामाजिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ नियमोंका पालन करना चाहिए, जिनकी अवहेलना करनेसे भाषा-शैली, विषय और वपुष्मत्ता आदि सब निरर्थक हैं। वे नियम हैं—

'सभामें समयसे पहुँचो। अपने पदका ध्यान रक्खो। मुस्कराहट तथा

विनम्रताके साथ हाथ मिलाओ या हाथ जोड़ो। धीरे-धीरे चलो। एक आसनसे पल्थी मारकर या कुर्सीपर सीधे बैठो । मुँह-हाथ खुजलाते हुए, आसन बदलते हुए, या टेढ़े-मेढ़े होकर मत बैठो । धीरे-धीरे पैर रखते हुए मञ्चकी ओर बढ़ो। यदि कोई माला पहनावे तो सिर झुका लो और हाथ जोड़ो । जबतक सभा समाप्त न हो तबतक माला न उतारो, क्योंकि माला उतारनेका अर्थ है मालाका और माला पहनानेवालेका अपमान। मञ्चपर पहुँचकर सबको एक दृष्टिसे धीरे-धीरे सिर घुमाकर देख लो। सीधे तनकर खड़े हो। मेजपर हाथ न पटको। नीचे न देखते रहो । नियमित रूपसे इधरसे उधर धीरे-धीरे सिर घुमाते हुए सबको सम्बोधित करते हुए भाषण दो। व्याख्यानके विषयमें जहाँ जिस प्रकारका भाव आवे उसके अनुरूप ललित, सुरुचिपूर्ण तथा आवश्यक भावभङ्गी, मुखमुद्रा, वाणीका आरोह-अवरोह और अङ्ग-सञ्चालनका प्रयोग करो। यदि कोई हास्यकी बात कहो तो स्वयं न हँसो । यदि करुण बात हो तो स्वयं रो मत पड़ो, केवल अपना स्वर कुछ भारी कर लो । जिस प्रकारका भाषण हो उसीकी प्रकृतिके अनुसार अपनी भाषा-शैली रक्खो । भाषा-शैलीका प्रयोग करते समय श्रोताकी योग्यताका ध्यान रक्खो। अत्यन्त संक्षिप्त प्रस्तावनाके साथ प्रारम्भ करो। अत्यन्त नाटकीय ढङ्गसे भावावेग उत्पन्न करते हुए सहसा समाप्त करो । श्रोताओंकी मुद्रा देखते रहो । यदि यह प्रतीत हो कि वे असन्तुष्ट या श्रान्त हैं तो बात बदल दो, दृष्टान्त या कथा सुनाओ, जिससे उनकी वृत्ति केन्द्रित हो जाय। यदि विलम्बके कारण श्रोता थक गए हों और आपसे पूर्व कई वक्ता बोल चुके हों तो अपना भाषण संक्षिप्त कर दो । जिसकी सभामें जाओ उसके मतसे सहमत न होते हुए भी उसकी बुराई न करो। किसी शोक-सभामें मृत व्यक्तिके दोषोंका वर्णन न करो। जिस व्यक्तिकी जयन्तीमें बोलते हो उसके भी दोषोंका नाम न लो। बीच-बीचमें 'एक बात और' कहकर व्याख्या न बढ़ाओ। जो कुछ कहना है सब एक धारामें कहो। सभापतिने जितना समय दिया हो उतने समयमें ही भाषण समाप्त करो, न तो अधिक समय माँगो न कम समय मिलनेपर टिप्पणी करो, न इस बातमें समय गँवाओ कि आपको भाषणके लिये कितना समय चाहिए था और कितना मिला। यदि कई वक्ता हों तो कम बोलो। अधिकसे अधिक सभाका क्रम डेढ़ घण्टेतक चलना चाहिए अतः जितने

वक्ता हों उसी अनुपातसे अपना समय निर्धारित कर लो। भाषणके प्रारम्भमें बहुत मङ्गलाचरण, स्तुति या 'जय-जय सियाराम' मत करो। केवल प्रथम वक्ताके लिये ही इस प्रकारका उपचार पर्याप्त है। यदि अन्य लोग भी इसका प्रयोग करना चाहें तो एक श्लोक, एक दोहा या एक मन्त्र पर्याप्त है। जो बात औरोंने कह दी हो या जो स्वयं कह चुके हों उसे तबतक न दुहराओ जबतक उसका विरोध न करना हो। भाषणके समय रोष न प्रकट करो। घबराओ मत, टेक ( सखुनतकिया ) का प्रयोग न करो। किसी के भाषणपर आह-वाह न करो। अपने भाषणमें या परस्पर बातचीतमें किसी व्यक्ति, धर्म, संस्था या जातिकी खिल्ली न उड़ाओ। कम बोलो जिसमें अर्थ अधिक भरा हो, निरर्थक बात न कहो। भाषणके पहले या पीछे यह कभी न कहो कि 'मैं अयोग्य हूँ आप लोगोंने मुझपर बड़ी कृपा की है' आदि। भाषणके बीचमें न घड़ी देखो, न पानी पियो, न जनताको डाटो। शीतकाल, वृष्टि या धूपमें जनताको झूठी वीरताकी उत्तेजना देकर मत रोको। प्रतिपक्षीकी समीक्षा करते हुए अत्यन्त मृदुताके साथ उसके तर्कोंका खण्डन करो और उस प्रतिपक्षीका कभी नाम न लो। अत्यन्त नम्र और मधुर स्वरमें भाषण करो। जब अन्य लोग बोल रहे हों उस समय किसीसे बात न करो और अपने भाषणमें भी अन्य वक्ताओंपर कभी टिप्पणी न करो। पर्चा लेकर पढ़ते हुए भाषण न दो। ध्वनिसे एक हाथ दूर खड़े होकर बोलो। भाषणके समय श्रोताओंके मनकी परीक्षा भी करते चलो। बालकोंकी सभामें सुन्दर कहानियों तथा आख्यायिकाओं-द्वारा अपनी बात समझाओ। उन्हें ऐसी बातें सुनाओ जो अद्भुत हों, जिसमें उन्हें कुतूहल हो। महिलाओंकी सभामें कोई फूहड़, अश्लील या सङ्कोचजनक बात न करो। महिलाओंकी सभामें कोई ऐसी बात भी न कहो जिससे वे भयभीत और शङ्कित हो जायँ क्योंकि वे स्वभावतः कोमल हृदयवाली और धर्मभीरु होती हैं। उन्हें धार्मिक कथाएँ, वीरतापूर्ण उद्धरण सुनाकर तथा मातृत्वका उद्बोधन करके, उनकी प्रशंसा करके अपनी बात मनवाओ। अपढ़ जनताकी वृत्ति भी बालककी-सी होती है अतः उन्हें भी लोक-प्रसिद्ध चुटकुलों, कथाओं, आख्यानों और दृष्टान्तोंके द्वारा अपनी बात समझाओ। यदि श्रोता उठने लगे हों, ऊँघते हों, जम्हाई ले रहे हों, ताली बजाते हों और आपसमें बातचीत करते हों तो समझ लेना चाहिए कि अब भाषण समाप्त कर देना चाहिए।

भाषणकी समीक्षा

सारांश यह है कि भाषणकी समीक्षा चार दृष्टियोंसे करनी चाहिए—

१. वक्ताकी वेश-भूषा, बैठना-उठना, अङ्ग-सञ्चालन सुघर है या नहीं ?

२. उसका उच्चारण शुद्ध, भाषा उपयुक्त और प्रभावशाली तथा प्रवचन उचित स्वर-साधनाके साथ प्रवाहशील है या नहीं ?

३. विचारोंमें क्रम तथा तर्कोंमें प्रामाणिकता और विश्वसनीयता है या नहीं ?

४. वक्ता जिस विषयका प्रतिपादन करना चाहता था उसे स्पष्ट तथा प्रभावशाली रूपमें प्रतिपादित करके श्रोताओंको सन्तुष्ट कर सका है या नहीं ?

# कथा-साहित्य

मनुष्यका समस्त प्रारम्भिक वाङ्मय कथाओंसे भरा पड़ा है क्योंकि उस समय कथा किसी घटनाका वर्णन-मात्र नहीं वरन् मनोरञ्जनकी साधक थी, उनके दैनिक व्यवहारमें दृष्टान्त और उदाहरण बनकर पथप्रदर्शन करती थी, उनके सम्मुख त्याग, तपस्या, बलिदान, वीरता आदिके उदात्त आदर्श उपस्थित करके उन्हें प्रोत्साहन देती थी, उनके इतिहासका पोषण करती थी और उनके उल्लास तथा कल्पनाका आधार बनती थी। यह कथाकी प्रवृत्ति इतनी अधिक लोकप्रिय थी कि छोटे बच्चे अपनी दादी-नानीसे कथा सुनते थे, युवक और प्रौढ़ कथा-वाचकोंसे कथा सुनते थे, राजा लोग एक विशेष कथा-वर्णक अपनी सभामें नियुक्त रखते थे जो कथा सुनाकर मनोरञ्जन करता था। हमारे यहाँ विदूषक और ऐंग्लो-सैक्सन राज-सभाओंमें 'ग्लीमैन' नामक विनोदी व्यक्ति होता था जो घूम-घूमकर राजसभा-सम्बन्धी उन कथाओंको सुनाता फिरता था जो उस राजसभाके चारण बनाए रखते थे। नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी और प्रबन्ध-काव्यके रूपमें हमारा साहित्य भी कथा-साहित्य ही है। भावात्मक तथा विचारात्मक साहित्यके रूपोंमें भी या तो भावों और विचारोंकी कथा है या उन भावों तथा विचारोंकी पुष्टिके लिये बीच-बीचमें वर्णन हैं।

## परिभाषा

'परिणाम-युक्त घटना वर्णन ही कथा कहलाता है।' तात्पर्य यह है कि 'मनुष्य, जीव या जड़ पदार्थके सम्बन्धमें किया हुआ वह वर्णन ही कथा कहलाता है जिसमें उस मनुष्य, जीव या जड़ पदार्थकी किसी विशेष अवस्था या अवस्थाओंका आदिसे अन्ततक वर्णन हो।' ये वर्णन और वर्णनके आधार यदि सत्य हों तो ऐतिहासिक काव्य ( कथा, नाटक,

प्रबन्ध-काव्य ) या इतिहासकी सृष्टि होती है, काल्पनिक हों तो कथा, कहानी, आख्यायिका, उपन्यास, छोटी कहानी, नाटक या प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती है। नाटक और प्रबन्ध-काव्य दोनों कथात्मक होते हुए भी एक विशिष्ट रूपसे विकसित हुए हैं, इसलिये उनपर हम अलग विचार करेंगे।

### कथा-साहित्यकी उत्पत्ति

उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें इस बातपर बड़ा विवाद चला कि कथाओंकी उत्पत्ति भारतमें हुई या योरोपमें। सर विलियम जोन्सने एक विवेचनमें कहा है कि 'हिन्दुओंको तीन बातोंके अन्वेषणका श्रेय दिया जा सकता है—चतुरङ्ग या शतरञ्जका खेल, दशमलव-प्रणाली और कथाओंके द्वारा उपदेश।' हमारे यहाँ तो यह साधारण विश्वास ही है कि जीव-जन्तु भी उसी प्रकार चेतनता और विवेकसे बात-चीत कर सकते हैं जैसे मनुष्य। सम्पूर्ण रामायणकी कथा ही काकभुशुण्डीने गरुडको सुनाई थी अतः जीव-जन्तुओंके द्वारा नीतिकी कथा सुनानेकी प्रणाली हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन है और उसका प्रारम्भिक प्रयोग नीति सिखाने या उपदेश देनेके लिये ही किया गया। ह्राइ डेविसका मत है कि 'आर्य कथाएँ ही योरोपके विभिन्न भागोंमें अनेक रूपोंमें फैली।' ओटो कैलरने कहा है कि 'भारत और यूनानमें जो समान रूपकी कहानियाँ प्रचलित हैं वे सब भारतमें ही उत्पन्न हुई और वे असूरिया ( असीरिया )मेंको होकर यूनानमें पहुँची।' योरोपीय कथाओंके साथ जो भारतीय कथाओंका मेल हुआ वह नीति-कथाओंके या जीवोंके आधारपर लिखी हुई नीति-कथाओंके द्वारा ही हुआ। बौद्ध साहित्यके 'महावैपुल्य सूत्रों'में 'इत्युक्त' और 'व्याकरण' के नामसे प्राचीनतम संस्कृत कथाएँ मिलती हैं जो ब्राह्मण साहित्यके इतिहास-पुराण श्रेणीकी हैं। ये सब कथाएँ 'अवदान' नामसे नीति कथा ( पैरेबिल ) के रूपमें मिलती हैं जिनमें कुछ अद्भुत धर्म या अद्भुत बातें भी हैं और जिनमें 'उपदेश' और 'निदान' भी दिए गए हैं। इनमेंसे कुछ कथाएँ पौराणिक, कुछ उपदेशात्मक और कुछ प्रतीकात्मक हैं जो पुराणोंमें अनेक रूपोंमें स्थान-स्थानपर मिलती हैं। बौद्ध कथाओंमें जातक कथाएँ भी विशेष प्रकारकी हैं जिनमें बुद्धके पिछले जीवन( बोधिसत्त्व ) का वर्णन भी है और साथ-साथ कोई उपदेश भी। उनसे भी बहुत पूर्व ऋग्वेदमें मनुष्य और मत्स्यकी कथाएँ तथा मर्कट और कपिंजल नामके पक्षियोंके रूपमें इन्द्रके परिवर्तित होनेकी कथाएँ हैं। छान्दोग्य उपनिषदमें कुत्तोंका व्यंग्य या प्रतीकात्मक विवरण है जो अपने

लिये भोजन जुटानेके निमित्त नेताकी खोज करते हैं। पतञ्जलिने भी अपने महाभाष्यमें वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक कथाओंकी चर्चा की है। जैनियोंके प्राचीनतम सूत्रोंमें भी नीति तथा धर्म-विषयक अनेक कथाएँ विद्यमान हैं विशेष रूपसे षष्ठितन्त्रमें सांख्यदर्शनको समझानेवाली कथाएँ विद्यमान हैं। भारतीय साहित्यमें गुणाढ्यकी पैशाचीमें लिखी हुई वड्डकहा 'बृहत्कथा'की बड़ी प्रसिद्धि है। इनके अतिरिक्त पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, सैकड़ों जैन कथाएँ तथा वैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी, शुक-सप्तति कथा आदि अनेक कथा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अरबमें अलिफ़-लैलाकी कहानी भी उसी प्रकार प्रसिद्ध है, जिसमें अनेक कथाएँ भारतीय कथा-साहित्यसे ली गई हैं। जीवोंका प्रयोग केवल नीति कथाओंमें ही नहीं वरन् साहित्यमें भी किया गया है। कादम्बरीमें राजा शूद्रककी राजसभामें चाण्डालीके हाथमें लटके हुए सुग्गेने ही सब कथा सुनाई है। इनके अनन्तर जो उच्चतम उपन्यास-कोटिकी कथाएँ दशकुमार चरित अथवा कादम्बरी या वासवदत्ताके रूपमें मिलती हैं उनकी चर्चा हम आगे करेंगे। किन्तु इनकी विशेषता यही रही है कि ये सब घटना-प्रधान या नीति-प्रधान ही थीं जिनका उद्देश्य मनोरञ्जन करना और शिक्षा देना था।

## कथा-तत्त्व

उपदेशवाली कथाओंमें दो व्यापक तत्त्व होते हैं—१. घटना और २. उद्देश्य, किन्तु शेष प्रकारकी कथाओंमें १. नायक-नायिका, २. उद्देश्य, ३. घटना-चक्र, ४. नायक-नायिकापर विपत्ति, ५. सम्मिलन या उद्देश्य-सिद्धि ये पाँच तत्त्व होते हैं। इन सब कथाओंमें उद्देश्यकी सिद्धिके लिये दुर्बलको दैवी सहायता प्राप्त होना, परियों, देवताओं अथवा अन्य शक्तियों-द्वारा नायक या नायिकाको सहायता प्राप्त होना आदि होता है। कुछ आचार्योंका मत है कि 'मनुष्य जब वास्तविक संसारमें गुणका आदर नहीं प्राप्त करता तो वह कथाके कल्पित संसारमें उस गुणका आदर कराकर, उसे उचित फल दिलाकर अपनी मनस्तुष्टि कर लेता है।' यह मनस्तुष्टि वास्तविक संसारसे ऊबकर हो या न हो किन्तु सद्वृत्त मनुष्यकी एक उदात्त वृत्ति होती ही है कि उचितका उचितके साथ संयोग देखनेके लिये वह लालायित और उत्कण्ठित रहता है। इसी उत्कण्ठाको तृप्त करनेका प्रयास ही कथा है।

## कथाके रूप

संसारमें जितनी कथाएँ प्राप्त हैं वे दो प्रकारकी हैं—१. सत्य और २. काल्पनिक। इस आधारपर हमारे यहाँ कथाके दो भेद हुए—१. आख्यायिका ( सत्य घटनापर आश्रित ); २. कथा ( कल्पित घटनाओंपर आश्रित ) जब लेखक किसी सत्य कथाको अधिक रुचिकर बनानेके लिये उसमें कल्पनासे नवीन घटना तथा पात्रका संयोजन कर देता है तब वह सत्य घटना इतिहासके क्षेत्रसे निर्वासित होकर कथा-साहित्यके क्षेत्रमें पहुँच जाती है। आजकल कथा-साहित्यके निम्नलिखित मुख्य रूप प्राप्त होते हैं—

१. पौराणिक कथाएँ ( सत्य और काल्पनिक कथाओंका संयोग ) जिनमें असाधारण मानव-चरित्र या देव-चरित्रका वर्णन होता है।

२. उदाहरण, किसी बातको समझानेके लिये दृष्टान्त रूपमें कही हुई कल्पित कथा।

३. कहानी, जिनमें अद्भुत तत्त्वका वैशिष्ट्य रहता है। परियों, राक्षसों, कल्पित राजा-रानियों आदिकी कथाएँ इसी श्रेणीमें आती हैं।

४. आख्यान या स्वयं अनुभूतिके रूपमें वर्णित कथा।

५. उपाख्यान या कथाके अन्तर्गत आई हुई दूसरी कथा।

६. यात्रा-कथाएँ।

७. उपन्यास और उपन्यासिका।

८. छोटी कहानी।

९. उपदेशात्मक कथाएँ ( फ़ेबिल )।

१०. दन्तकथा ( लीजेन्ड ) या अनुश्रुति, जो जनसाधारणमें ऐतिहासिक तथा सत्य समझी जाती हैं।

११. चुटकुले।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष वातावरणमें तथा उद्देश्योंसे कथाएँ रची गईं और उनके अनेक रूप हुए जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

## लोककथा

लोककथा उन कथाओंको कहते हैं जो प्राय: मौखिक रूपसे हमें एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीको मिलती रही हैं। ईसपकी कहानियाँ भी प्राय: लोककथा ( फोकटेल ) कही जाती हैं। इस श्रेणीके अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक और

मौखिक कथाएँ आ जाती हैं जिनके बीच कोई भेदकी रेखा नहीं खींची जाती। इन कहानियोंकी कुछ ऐसी श्रेणियाँ सरलतासे पहचानी जा सकती हैं।

१. पौराणिक कथा, जिसके भीतर वे सब कहानियाँ आ जाती हैं जो किसी कल्पित संसारमें हुई हैं। देवता तथा विश्वोत्पत्ति आदिकी कथाएँ इसी श्रेणीकी हैं।

२. वीरोंकी कहानी जिसमें परियोंकी कहानी ( मैर्शेन ) भी आ जाती है। सी० डब्लू० फ़ौन साइडोने दो प्रकारकी कथाएँ बताई हैं—

१. हिन्द-योरोपीदेशोंकी अनिश्चित समय और स्थानकी कहानी ( शिमेरा )।

२. सेमेटिक लोगोंका निश्चित समय और स्थानकी कहानी ( नोवेला )।

किन्तु यह भी ठीक वर्गीकरण नहीं है। इस प्रकारके अन्य रूप प्राचीन लोक-कथा ( सागे ), चुटकुले ( जेस्ट ), आपबीती ( एनेकडोट ), गीति-कथा ( फेबिल ), जीवकथा एनीमल ( टेल ) आदि भी हैं।

लोककथाका अध्ययन करनेवाले विद्वान् दो दृष्टियोंसे इन कथाओंका परीक्षण करते हैं—

१. कथाओंकी उत्पत्ति और विस्तार।

२. कथाका कलारूप।

साहित्यिक लिखित कथा और मौखिक कहानीके रूपमें बड़ा अन्तर होता है। मौखिक कहानीमें एक ही बात बार-बार कही जाती है और इस ढङ्गसे कही जाती है कि सुननेवाले हुँकारी भरते चलें। उनमें कभी-कभी ऐसे लम्बे-लम्बे वाक्य या पद आते हैं जिनका एक शब्द भी इधरसे उधर नहीं किया जा सकता। कुछ कहानियोंमें ऐसी टेक आती है जो मूर्खता-पूर्ण तो होती है किन्तु जो बीच-बीचमें कहानीको सजाती चलती है। सर्वप्रथम इन कथाओंका अध्ययन ग्रिम-बन्धुओंने किया था किन्तु अब तो इतिहास-भूगोल-प्रणालीसे उनके प्रकारों और उद्देश्योंपर विस्तृत विचार हो रहा है।

## पौराणिक कथाएँ

यों तो पुराण (माइथोलौज़ी) का अर्थ है किसी प्रकारकी भी कथाएँ किन्तु इसका तात्पर्य लोककथा या परियोंकी कथासे था। इन कथाओंको अन्य कथाओंसे केवल इसलिये भिन्न समझते हैं कि इनमें उच्च श्रेणीके प्राणियोंका

ही वर्णन होता है। हमारे यहाँ पुराणका परिचय दिया गया है—सर्गश्चोप-सर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च। [ जिनमें सृष्टिकी उत्पत्ति, अनेक वंशों और मन्वन्तरोंका वर्णन हो, उसीको पुराण कहते हैं। ] इसी आधारपर हम भारतीय पौराणिक कथाओंमें ही यूनानी, नौर्स, आयरिश या मिस्री ऐतिहासिक कथाएँ भी सम्मिलित कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि इनमें देवताओं और सृष्टिकी उत्पत्तिकी कथाओंका क्यों वर्णन किया गया है। प्लेटोने यूनानी पुराणोंके सम्बन्धमें कहा है कि 'पहले ये सब भी मनुष्य थे, किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य करनेके कारण उन्हें भी राजाओंके समान देवता मान लिया गया।' कुछ लोग मानते हैं कि 'ये कथाएँ वास्तविक इतिहासमेंसे निकली हैं।' किन्तु यह मानना भ्रामक है कि सब पौराणिक कथाओंमें ऐतिहासिक मनुष्योंके ही कार्य हैं। कुछ लोग इन कथाओंको शुद्ध अध्यवसान या रूपक मानते हैं। कुछ लोगोंने कहा है कि 'इनमें प्रकृतिकी शक्तियोंका प्रतिनिधित्व और उनकी कथा होती है कि किस प्रकार जाड़ेपर वसन्त आता है, आँधीपर धूप निकलती है' आदि। किन्तु यह मत भी मान्य नहीं हुआ। कुछ लोगोंने यह भी कहा कि 'ये कथाएँ वास्तवमें ग्रहोंकी हैं मुख्यतः चन्द्रमाकी।'

कभी-कभी इन गाथाओंका प्रयोग प्राकृतिक घटनाओंके लिये भी होता है जैसे ग्रहणके लिये राहुकी कथा। किन्तु अभीतक भी इन गाथाओंकी वास्तविक सत्ताके कारणोंका परिचय नहीं मिल सका है। आजकल लोग पौराणिक गाथा ( मिथ ) और कथा ( टेल ) में भेद बताते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन कथाओंने सामाजिक विचारों और आचारोंको व्यापक रूपसे बहुत प्रभावित किया है।

पौराणिक कथाके लिये योरोपमें जो 'मिथ' शब्द चला वह वास्तवमें धार्मिक शब्द है। उसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'यह धार्मिक कर्मकाण्डसे भिन्न इस दृष्टिसे है कि यह केवल कही हुई बात है। कोई भी वास्तविक पुराण-गाथा (मिथ) अर्थहीन, हास्यास्पद या अश्लील नहीं होता। यह शुद्धतम रूपमें दार्शनिक होती है और वास्तविकताकी आकस्मिक अन्तः-प्रेरणा ( इन्ट्यूशन ) की अत्यन्त अभिन्नतम मौखिक अभिव्यक्ति होती है। काव्यके रूपमें मिथ स्वयं पूर्ण वस्तु है जिसका कोई दूरस्थ उद्देश्य नहीं होता।' वास्तवमें किसी पुराण-कथाका न तो प्राचीन रूप या उद्गम ही ठीकसे ज्ञात

हो पाया न उन्हें उस रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न ही किया गया। वर्त्तमान युगमें पुराण-गाथाके अध्ययनका सर्वप्रथम प्रयास मैक्समूलरने किया। इधर कुछ दिनोंसे इन पौराणिक गाथाओंमें प्रयुक्त होनेवाले कुछ प्रतीकोंपर अध्ययन किया जा रहा है जैसे 'रावणके दस सिरका क्या अर्थ है? ड्रैगन क्या हैं? नायक किसका प्रतीक है? वज्र किसका प्रतीक है?' इस विषयमें सबसे मूल्यवान ग्रन्थ मनोवैज्ञानिक सी० जी० यूङ्गका है। यूङ्गका कहना है कि 'इन गाथाओंमें किसी जाति या समूहके अचेतनमें विद्यमान सम्पूर्ण पूर्व अनुभव संगृहीत हैं और इस प्रकार प्रत्येक गाथाका प्रतीक सुरक्षित कर लिया गया है।' इस बातका और किन्हीं दृष्टियोंसे भले ही विरोध हो किन्तु यह उन अन्वेषकोंके मतसे बहुत मिलता-जुलता है जो कहते हैं कि 'ये गाथाएँ सटीक इतिहास भले ही न हों किन्तु परस्पर सम्बद्ध घटनाओंके परिणाम अवश्य हैं।'

### लम्बाख्यान ( त्रादीशियों )

किसी इतिहास या पौराणिक कथासे कथानक लेकर लम्बा आख्यान चलानेकी एक प्रणाली चली जिसे दक्षिण अमरीकामें पेरू-निवासी रिकार्डो पाल्माने पौराणिक गाथा-मात्र न रखकर कलारूपमें विकसित किया।

### परियोंकी कहानी

साधारण लोक-कथाओंसे, नानी-दादीकी कथाओंसे, पूर्वके देशोंके सहस्र रजनी-चरित आदि ग्रन्थोंसे या स्वयं भारतमें ही ये परियोंकी कहानियाँ वर्त्तमान रूपमें तीन देशोंमें अधिक प्रचलित की गईं—१. फ्रान्समें पेरौल्तकी 'कान्ते ब्लू' ( १६२८से १७०३ ) जो १६९६–९७ में छपी। २. जर्मनीमें ग्रिम-बन्धुओंकी 'इन्डेरे' और 'हाउस मैरशेन्'। ३. डेनमार्कमें 'हान्स क्रिश्चियन एन्डर्सन' ( १८०५ से ७५ ) की 'एवेन्टिर' ( १८३५ ) आदि। परियोंकी कहानी और नीति-कथामें यही भेद है कि परियोंकी कहानीमें सब विचित्र घटनाएँ तो इस भौतिक स्तरपर ही होती हैं और आध्यात्मिक स्तरपर स्नेह, सदाचार, न्याय और प्रेम आदिकी व्यवस्था रहती है। एक कथामें दिया हुआ है कि 'कैसे प्रिंस चार्मिंग पक्षी बनकर अपनी प्रियतमाके पास उड़कर जाता है और उसे गीत सुनाता है' आदि।

नीति-कथाओं ( फेबिल ) में एक व्यावहारिक या कौशलपूर्ण यथार्थवाद रहता है जिनमें 'लोमड़ी अंगूरतक पहुँच नहीं सकती है, बल लगानेके बदले फुसलाना अच्छा है' आदि। उनमें अन्तमें चलकर सर्वमान्य नीतिकी विजय होती है। परियोंकी कहानियोंमें सबसे छोटा बेटा, कुरूप बच्चा सिन्डरेला चुपचाप शान्ति और धैर्यके साथ यातनाएँ सहता रहता है। अन्तमें परीके रूपमें दैवी शक्ति आती है और उसकी सहायता कर देती है। बच्चोंकी काल्पनिक आनन्दानुभूतिके लिये परियोंका लोक सबसे अधिक सजीव और सुन्दर होता है। नीति-कथाएँ उन्हें सावधान करती रहती हैं कि वास्तविक संसारमें उन्हें किस प्रकार जीना और बढ़ना चाहिए।

## नीति-कथाएँ

उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे लेकर साधारण ग्रन्थोंतक सबमें कुछ नैतिक उपदेशोंकी व्याख्याके लिये कथाओंका प्रयोग किया गया है। इनका विशिष्ट सङ्ग्रह किसी विष्णुशर्माने 'कथाके बहाने बच्चोंको नीति' सिखानेके लिये ( कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ) के उद्देश्यसे पञ्चतन्त्रके नामसे प्रस्तुत किया था। अभी आजकल जो बहुतसी खुदाइयाँ और खोजें हुई हैं उनके आधारपर ज्ञात होता है कि यूनानियोंने बैबिलोनियावालोंसे और असूरियावालोंसे वे कथाएँ ली हैं जो ईसपके नामसे प्रसिद्ध हैं। ईसप स्वयं छठी शताब्दि ई० पू० में एशिया माइनरका रहनेवाला था। उससे पूर्व ये जीवोंवाली कथाएँ हेसियद ( आठवीं शताब्दि ई० पू० ) और आर्खिलौखसकी रचनाओंमें पाई जाती हैं। तीन सौ ई० पू० से पूर्व लगभग पन्द्रह कथाएँ यूनानी साहित्यमें पाई जाती हैं और भारतीय साहित्यमें ऐसी कथाएँ कुछ नीतिके रूपमें और कुछ कथाके रूपमें छिट-फुट बिखरी हुई थीं ही। इससे ज्ञात होता है कि इनका प्रयोग भारतमें व्यापक रूपसे था। यूनानमें लेखकों और वक्ताओंके व्यवहारके लिये इन कथाओंका प्रथम सङ्ग्रह ३०० ई० पू० में हुआ। इसके पीछे इसी प्रकारकी कथाएँ ईसपके नामसे प्रचलित हुईं। वास्तवमें ईसपने स्वयं लिखा कुछ नहीं था, वह तो घाघ और भड्डरीके समान बातचीतमें ऐसी कथाएँ कहा करता था।

विनोद और व्यंग्यके चुटकुलोंके अतिरिक्त ईसपकी कहानियोंका उद्देश्य और भाव उपदेश देना है, जिनमें पशु, मनुष्य, देवता, और निर्जीव पदार्थ

कुछ सवमाननीय आचरण करके नीतिका मार्ग सुझाते हैं। इन कथाओंकी परिस्थितियाँ कुछ तो साधारण जनजीवनसे ली गई हैं और कुछ कल्पनाके द्वारा। इनकी प्रवृत्ति यथार्थवादी और व्यंग्यात्मक हैं। इनके कुछ उपदेश ये हैं—'आधी तज सारीको धावै, आधी रहै न सारी पावै', 'सीखा वाको दीजिए जाको सीख सुहाय', 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य', 'जो दूसरेके लिये कुआँ खोदता है उसके लिये खाई खुदी रहती है', 'जैसा कर वैसा भर' आदि।

ये कथाएँ पाँच प्रकारकी होती हैं—

( क ) पौराणिक कथाएँ, जिनमें कोई कल्पित होती है या किसी राक्षस या अलौकिक व्यक्तिसे सम्बद्ध लोक-प्रचलित गाथा होती है।

( ख ) कोई मूर्खतापूर्ण कहानी, जिसमें सब असङ्गत और असम्भव बातें भरी रहती हैं जैसे—'पेड़की जड़में नीचे एक मार्ग जाता है। वहाँ एक प्रासाद और उद्यान होता है' या 'नदीमें एक भवन होता है जिसमें जलपरी रहती है।'

( ग ) जान-बूझकर कोई कहनी गढ़ी गई हो या झूठ-मूठ किसी घटनाका होना माना गया हो।

( घ ) कोई एक व्यक्ति या वस्तु जो किसी कहावतमें चल जाय जैसे—राजा भोज और गाँगू तेली।

( ङ ) जैसे किसी नाटक या कविताकी कथावस्तुपर कथा बनाना।

भारतमें ऐसी कथाएँ कई ढङ्गकी होती हैं। कुछ तो ऐसी हैं जिनमें पशुओंको ही पात्र बनाकर उससे कोई शिक्षा या उपदेश निकाला जाता था जैसे पञ्चतन्त्र या हितोपदेशमें। कभी कुछ व्यक्ति मिलकर अपनी-अपनी कथा कहते हैं और उन कथाओंमें सामाजिक दोषों या रीतियोंकी टिप्पणी करते हैं जैसे—'दशकुमार-चरित', 'क़िस्सा साढ़े तीन यार' आदि। कभी एक कथा मुख्य होती है और उस कथामेंसे ही अनेक कथाएँ निकलती चली जाती हैं। भारतवर्षके कथासाहित्यमें प्रायः यही पद्धति रही है, यहाँतक कि कादम्बरीके रूपमें जो कथा-काव्य लिखा गया उसमें भी तीन जन्मकी कथा आई है। गुणाढ्यने जो वड्डकहा या बृहत्कथा लिखी है उसमें प्रायः ऐसे व्यापारियोंकी कथा है जो विदेशमें जाकर व्यापार करते हैं। किन्तु प्रायः सभी कथाओंके साथ किसी न किसी प्रकारकी शिक्षा अवश्य जुटी रहती है। बनावटमें ये कहानियाँ छोटी भी हैं और बड़ी भी और इनके अन्तमें किसी एक पात्र-द्वारा

कोई एक महत्त्वकी शिक्षा, सारांश या वक्तव्य होता है जो हितकर होता है या विनोदजनक या दोनों।

### जातक-कथा

भारतवर्षमें कुछ ऐसी भी कथाएँ लिखी गई थीं जिनमें किसी व्यक्तिके पिछले अनेक जीवनोंसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी ही छोटी-छोटी कथाएँ थीं। बौद्ध साहित्यमें बुद्धके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कथाओंको जातक-कथा कहा है। उनमें भी कथाके अन्तमें गाथा कहकर एक उपदेश दिया जाता था। किन्तु उसकी एक विशेषता यह भी होती थी कि उस कथाके पात्रोंका आरोप वर्त्तमान कालमें भी होता था।

### दृष्टान्त-कथा ( पैरेबिल )

छोटी, उपदेशप्रद, साहित्यिक प्रकारकी कहानियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—१. अध्यवसान ( एलेगरी ), २. दृष्टान्त ( पैरेबिल ) और ३. कथा (फ़ेबर्ल)। दृष्टान्त वह छोटी कथा है जिसके सब पात्र मनुष्य होते हैं और उस घटनामें कोई उपदेश या सिद्धान्तका समर्थन किया जाता है। कथामें सब पात्र मुख्यतः जीव, पेड़, पौधे यहाँतक कि निर्जीव पदार्थ भी होते हैं किन्तु घटना बिना शिक्षाके ही स्वतःपूर्ण होती है। अध्यवसानमें भाग लेनेवाले सब नाम भावात्मक गुणोंके होते हैं जैसे दया, क्षमा, भय, क्रोध आदि और उनका परिणाम स्पष्ट होता है। गौतम बुद्धने जातकोंमें या उपदेशोंमें जो कथाएँ दी हैं वे सब दृष्टान्त ही हैं।

### दन्त-कथा ( लीजेंड या आलेतिशस )

कुछ सत्य या अप्रमाणित कथाएँ लोकमें प्रचलित होनेके कारण कभी-कभी ऐतिहासिक कथाओंके साथ भी जुड़ जाती हैं और जनसाधारण उन्हें ऐतिहासिक समझ बैठता है। ऐसी सब कथाएँ दन्तकथा ( लीजेंड ) कही जाती हैं और एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीतक अनुश्रुति बनकर चलती रहती हैं।

### कहनी ( टेल )

विनोदके लिये जो कल्पित शिथिल वर्णनात्मक कथानक होता है उसे कहनी कहते हैं। इनमेंसे कुछ इस प्रकार कही गई हैं मानो सत्य हैं किन्तु

हैं वे अविश्वसनीय। इसके अतिरिक्त गप्पसे भरी हुई परियोंकी कहानियाँ तथा ऐसी कहानियाँ भी होती हैं जिनमें सुन्दरी कन्याओं तथा सन्तोषी वीरोंको अन्तमें सुख प्राप्त होता है।

### गाथा ( सागा ) या आइसलैंडकी कथाएँ

यों तो सागाका अर्थ 'कुछ कहा जाना' ही है किन्तु सागा वास्तवमें आइसलैंडकी कहानियाँ ही थीं। ऐसी तीन प्रकारकी सागा मिलती हैं—

१. वंशगाथा, जिनमें प्राचीन आइसलैन्डके परिवारके कुछ व्यक्तियोंकी वीरताओंका वर्णन है।

२. ऐतिहासिक गाथा अर्थात् उस मूल देशकी कथाएँ जहाँ से वे निकाली गई थीं।

३. मिथ्या गाथा, जिनमें केवल गप्प और कल्पित बातें भरी हैं।

### धूर्त्त-कथा ( मिलेशियन टेल )

प्राचीन रोममें एक प्रकारकी छोटी-सी कामोत्तेजक या धूर्त्ततापूर्ण कथा बहुत प्रचलित थी जिसका उद्देश्य धूर्त्तोंका चरित्र वर्णन करना, विलासका चित्रण करना और निम्न वृत्तिको उत्तेजना देना था।

### श्वाङ्क

जर्मनीमें मध्यकालमें एक श्वाङ्क नामकी हास्यजनक लोक-कथा प्रचलित थी। पद्यात्मक फ़ेब्लियाऊके समान होती थी।

### फेब्लियाऊ

फ़्रांसमें बारहवीं और तेरहवीं शताब्दिमें तथा उसके पूर्व भी पद्यमें लगभग चार सौ पंक्तियोंमें एक छोटी कहानी कही जाती थी जिसमें मध्यम श्रेणीके जीवनका विनोदात्मक वर्णन होता था। कभी-कभी ये कथाएँ विनोदपूर्ण व्यंग्यसे, भरी और अश्लील भी होती थीं। इन कथाओंमें जहाँ एक ओर अत्यन्त समादृत एकान्तवासी कोई प्रधान नायिका होती थी वहीं दूसरी ओर अत्यन्त कुलटा और सामान्याएँ भी होती थीं।

### मौर्ख्य-साहित्य ( फ़ौली लिटरेचर )

जर्मनीमें पन्द्रहवींसे सत्रहवीं शताब्दितक मौर्ख्य-साहित्य ( फ़ौली लिटरेचर या 'नारेनलिटराटूर' ) नामका एक नीतिपूर्ण कथा-साहित्य प्रादुर्भूत

हुआ जिसमें जनताके विनोद लिये कहानियोंके प्रख्यात मूर्खका प्रयोग किया गया। सीबेस्टियन ब्रैन्टने इसके साथ फटे बाँसका व्यंग्य ( स्लैपस्टिक सैटायर ) यात्रा-कथाओंके साथ जोड़ दिया। इस प्रयोगने स्पेनके धूर्त्ततावादी उपन्यासों ( पिकारेस्क नावेल ) के प्रसारमें बड़ी सहायता की और फिर मानवतावादी साहित्यमें भी उसका प्रयोग होने लगा।

### कथामें कथा

भारतमें जो कथा-साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें प्रायः वैसी ही कहानियाँ हैं जिनमें एक कहानीसे दूसरी कहानी निकलती है। वड्डकहा, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदिमें इसी प्रकारकी कथाएँ हैं कि एक कथाके अन्तर्गत बहुत-सी अनेक सम्बद्ध कथाएँ कहकर उनका समाधान किया जाता है। फ़ारसीमें अलिफ़लैलाकी कहानी भी इसी ढङ्गकी है जिसके आधारपर 'सहस्र रजनीचरित' (अरेबियन नाइट्स या वन थाउज़ेंड एण्ड वन नाइट् ) प्रसिद्ध हुआ। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दिमें फ्रांसीसी उपन्यासोंमें भी यह प्रणाली मिलती है।

जर्मनीमें 'राहमैनेरज़ाहलूँग' नामसे यही कथा कहनेकी परिपाटी चली अर्थात् एक ऐसी प्रधान कहानी जिसके बीचमें एक या अनेक कहानियाँ कही जायँ। इसीसे मिलता-जुलता वह भी रूप है जिसे क्रमानुगतिकता (सीक्वेन्स) कहते हैं। इसमें समय, स्थान और क्रियाके एकत्वके अनुसार उपस्थित किए हुए कथाके एक पक्षसे सम्बद्ध दृश्यमाला क्रमशः आती रहती है जैसे चलचित्रमें। इसके अतिरिक्त कई ऐसी घटनाओंको भी सक्रम कथा (सीक्वेन्स) कह सकते हैं जो सम्बद्ध और क्रमागत हों।

### संस्मरण ( रैमिनिसेंस )

कुछ लोगोंने अपने जीवन-कालकी कुछ मनोरञ्जक घटनाएँ संस्मरण-कथाके रूपमें वर्णित की हैं, जिनमें प्रत्येक वर्णित वस्तु, विचार या घटनापर उस व्यक्तिकी व्यक्तिगत भावनाओंकी छाप बनी रहती है।

### यात्रा-कथा ( ट्रैविल लिटरेचर )

बहुतसे लोगोंने विभिन्न देशोंमें घूम-घूमकर यात्रा-साहित्य लिखा है। इनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो केवल समाचार या सूचना-मात्र हैं, कुछ भौगोलिक वर्णन हैं किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनका साहित्यिक महत्त्व है। ऐसे ही ग्रन्थोंका विवरण यात्रा-साहित्यके अन्तर्गत आता है।

### भ्रमण-कथाएँ ( गेस्टा या लाइ )

जिस प्रकार दशकुमारचरितके दस कुमार घूम-घूमकर अपना-अपना विवरण सुनाते हैं वैसे ही ग्यारहसे चौदहवीं शताब्दितक बहुत-सी ऐसी कथाएँ योरोपमें चलीं, जिनमें प्राचीन या नवीन वीरोंकी साहसपूर्ण कथाओंका चित्रण होता था।

### चुटकुले ( जेस्टबुक )

मध्यवर्गीय नागरिकके लिये मध्यकालीन सामन्तों (नाइटों) की वीर-गाथाएँ यदि कथाके रूपमें नहीं तो वास्तविकताके रूपमें अवश्य आईं और जिस प्रकार हमारे यहाँ अकबर-बीरबल या भोज-कालिदासके चुटकुलोंका सङ्ग्रह है वैसे ही वहाँ भी इस प्रकारके चुटकुलोंके सङ्ग्रह हुए। इनमें मध्यवर्गीय जीवनके सम्बन्धमें चुटकुले, हँसी-ठट्ठेकी बातें और मूर्ख बनानेकी व्यावहारिक प्रक्रियाओंका वर्णन है।

### कथा-कौशल

इन कथाओंका मुख्य कौशल होता था कथाको इस प्रकार प्रस्तुत करना कि सुननेवालेका कुतूहल बना रहे। इस कुतूहलके संवर्धनार्थ कथा-निर्माता लोग अत्यन्त सुन्दरी नायिका तथा अत्यन्त सज्जन, भोले, अल्पवयस्क, साधु राजकुमार या बालकको लेते थे जिससे कि सुननेवालेकी सहानुभूति तत्काल उसकी ओर केन्द्रित हो जाय। इसके पश्चात् उस नायक या नायिकाके मिलन या उद्देश्य-सिद्धिमें बाधाएँ उत्पन्न की जाती थीं और ये बाधाएँ भी ठीक ऐसे अवसरपर उपस्थित की जाती थीं, जब मिलन या कार्य-सिद्धि अविलम्ब होने ही वाली हो। कहानी कहनेवाले इस कुतूहलको बनाए रखनेके लिये एकमें दूसरी कहानी जोड़ते चलते थे या बार-बार एक ही बातकी आवृत्ति करते चलते थे, जिससे सुननेवाला एकाग्र होकर सुनता चले और व्याकुल होकर फलकी प्रतीक्षा करे। हुँकारी भरकर श्रोता भी यही सङ्केत करता है कि 'मैं कथा सुनकर समझता चल रहा हूँ, अब इसका अन्त बताओ क्या होगा।'

## कथाकी समीक्षा

आजकल कहानियाँ या तो घरोंमें सुननेको मिलती हैं या कभी-कभी रेडियोपर। कहानी रचने और कहनेकी कला अब समाप्त हो गई क्योंकि उपन्यास और छोटी कहानीने विषय, रूप, कौशल और अभिव्यक्तिकी इतनी प्रणालियाँ निकाल दी हैं कि अब साधारण कथाओंकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति ही नहीं रही। यदि हो भी तो मौखिक कहानीकी समीक्षा, विषय, कथानक और चरित्रकी दृष्टिसे ही हो सकती है, अभिव्यक्ति-कौशलकी दृष्टिसे नहीं, क्योंकि वह प्रत्येक व्यक्तिके साथ भिन्न होता जाता है।

# उपन्यास

साहित्यके सभी रूपोंमें उपन्यास सबसे अधिक प्रचलित है किन्तु उसकी परिभाषा बताना अत्यन्त कठिन है। उपन्यासने अपने विकासकी अनेक अवस्थाओंमें साहित्यिक रूप तथा लेखक-पद्धतियोंके अनेक रङ्ग ग्रहण किए और यह निबन्ध, संस्मरण, इतिहास, क्रान्तिकारी घोषणापत्र, यात्रा-विवरण आचार-ग्रन्थ तथा पद्यकी अन्य विभिन्न शैलियोंमें सँवरकर प्रस्तुत हुआ। यह न तो कभी नाटकके समान जनताके सम्मुख आया, न कविताके समान कहीं पढ़ा ही गया इसलिये इसके रूपोंकी उतनी कड़ी आलोचना नहीं हो पाई और न इसके रूप ही उतने रूढ हो पाए जितने कविता या नाटकके। यों कहना चाहिए कि 'उपन्यास वह साहित्य-रूप है जो लेखक और पाठकमें एक प्रकारका व्यक्तिगत घरेलू सम्बन्ध स्थापित करता है और जिसमें अपने अनुभवको सीधे पाठकके पास पहुँचानेकी प्रबलतम सम्भावनाएँ उपस्थित रहती हैं।' अतः इसमें शैलीकी अपेक्षा विषय-सामग्रीका ही बड़ा महत्त्व रहा है।

## उपन्यासका विकास

साधारण पाठक यह चाहता है कि उपन्यासमें ऐसी सामग्री मिले जिसमें वह तन्मय हो सके। इसीलिये साधारण उपन्यासकार भी अपने विषयको कुतूहलजनक बनानेका प्रयत्न करता रहता है और समीक्ष्यवादी भी ऐसे ग्रन्थोंकी यों ही चलती-सी समीक्षा कर देते हैं। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उपन्यासने एक अपना कौशल (टेकनीक) स्थिर कर लिया है जो सूक्ष्म और जटिल भी है, साथ-साथ सरल भी। अँगरेज़ीमें जिसे 'नावेल', हिन्दीमें 'उपन्यास', फ्रान्सीसीमें 'रोमाँ' कहते हैं, उसका विकास मध्यकालीन स्वैराचार (रोमांस) से हुआ है। अँगरेज़ी 'नोवेल' शब्द इतालवी 'नोवेला' से

निकला है जिसका अर्थ है ऐसे 'समाचार' या 'नई घटनाएँ' जो सद्यःजात और सत्य हों। इस प्रकार उपन्यास एक ओर वीरगाथाओंसे और दूसरी ओर वर्त्तमान पत्रकारितासे जुड़ा हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इसने साहित्यिक प्रचार और मध्यवर्गकी आर्थिक दशा सुधारनेमें बड़ा सहयोग दिया। आजकल उपन्यास तथा अन्य उस प्रकारके साहित्योंकी प्रधानता किसी पुस्तकालय या पुस्तककी दूकानमें देखी जा सकती है जहाँ सब पुस्तकोंके दो भाग ही कर दिए गए हैं—१. उपन्यास ( फ़िक्शन ) और २. उपन्यासेतर ( नौन-फ़िक्शन )।

### उपन्यासकी वृत्ति

वर्त्तमान उपन्यास जिस रूपमें प्राचीन कथासे भिन्न हुआ है उसका आधार है सत्य और काल्पनिकताका विरोध। 'डौन क्विग्जोट' वास्तवमें 'आमादिस दे गौले' तथा अन्य स्वैरवादी उपन्यासोंपर यथार्थवादी टिप्पणी है। इसका तात्पर्य यह है कि समयके उपन्यासकारको उन सभी प्रवृत्तियों और विधियोंका विरोध करना चाहिए जो प्राचीन उपन्यासकार स्थापित कर गए हैं और जो नये युगधर्ममें असङ्गत प्रतीत होती हैं। इस प्रकार उपन्यासने निरन्तर बनावटीपन या कृत्रिमका सदा विरोध किया है। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि बड़े-बड़े यथार्थवादियोंने अपने पूर्वजोंपर व्यंग्य-वृत्तियाँ लिखकर ही अपना लेखन-कार्य प्रारम्भ किया है।

### उपन्यासमें यथार्थवाद

अतः साहित्यमें यथार्थवाद एक नियमित और निरन्तर प्रयास रहा है, जिसके अनुसार लेखकगण युग-धर्मका अनुगमन करके साहित्य-कौशलको सदा व्यवस्थित करते चलते हैं। इस दृष्टिसे साहित्यके सब रचना-कौशलोंमें उपन्यास सबसे अग्रणी रहा है। प्राचीन रूढियों और विचारोंका विरोध करनेके लिये महाकाव्य और स्वैराचारी काव्यके बदले उपन्यासका ही प्रयोग हुआ है। आजकलके उपन्यासकार पुराने साहसपूर्ण कार्यों और अद्भुत यात्राओंमें उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी रातदिन चारों ओर होनेवाली घटनाओंमें। इसीलिये उनमें आन्तरिक सङ्घर्ष अधिक होता है, बाह्य सङ्घर्ष कम, और इसलिये उनमें हास्यास्पद घटना-संयोग और आवेगात्मक नाटकोंके आश्चर्यजनक परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते। वे जितना ही कथावस्तुपर कम ध्यान देते हैं उतना ही चरित्र-चित्रणपर अधिक। हैनरी जेम्सने कहा ही है—

'चरित्र क्या है ? घटनाओंका परिणाम । घटना क्या है ? चरित्रकी व्याख्या ।' इसीलिये आजकलके उपन्यासोंमें सामाजिक या नैतिक दृष्टिसे बहुत ऊँचे वर्गके पात्र नहीं लिए जाते । समाजके आखेटोंमेंसे ही वीरतापूर्ण व्यक्ति ले लिए जाते हैं और स्वयं समाजको ही खलनायक बनाकर चित्रित किया जाता है ।

### परिस्थितिका महत्त्व

यदि चरित्रको कथा-वस्तुका परिणाम मानें तो कथावस्तु भी परिस्थितिका परिणाम है । अठारहवीं शताब्दिमें कुछ बँधे-बँधाए प्रकार ढूँढ़कर कुछ बँधी बँधाई परिस्थितियोंमें कुछ ऐसे चित्रण खींचे गए हैं जिनमें गाँवसे लेकर नगरके जीवनके बीच धूर्तों और डकैतोंसे भरी सड़कका चित्रण हो गया है । कुछ लोगोंने उलटा मार्ग लेकर नगरसे गाँवकी ओर घूमकर स्थानीय रङ्ग-ढङ्ग चढ़ानेकी ही घटिया खोज निकाली है । प्रकृतिवादी रूढ़ियोंके कारण ये परिस्थितियाँ या परिदृश्य अधिक महत्त्वके होने लगे और पात्र तथा समाज उन परिदृश्यों तथा परिस्थितियोंके परिणाम बन गए । स्कौटने यद्यपि अपने उत्तरी भागका वर्णन करके प्रादेशिकता ही दिखाई है किन्तु उसके प्रसिद्ध उपन्यास वे ही हैं जिनमें अत्यन्त प्राचीन अतीतका वर्णन किया गया है । उसने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर स्वैरवादी पलायनका मार्ग ग्रहण करके प्राचीनतावादी यथार्थ-वादकी प्रणाली ढूँढ़ी है, जिसमें उसने कृत्रिम वीर और राजाओंकी कथा ही नहीं वरन् साधारण किसानों और उनकी झोपड़ियोंतककी कथा लिखी है । किन्तु बालज़कने कहा है कि 'मैं मानव-प्रकारोंका प्रकृतिवादी हूँ ।' उसने 'कौमेदी' ह्यूमेनमें मानव-सम्बन्धोंका बड़ा जटिल जाल बुनकर यह प्रदर्शित किया है कि राजधानीका प्रान्तोंसे और संसारकी स्त्रियोंका युवकोंसे क्या सम्बन्ध है । जिस समय ज़ोलाने परिवारके प्राकृतिक और सामाजिक इतिहासका विवरण ढूँढ़ना प्रारम्भ किया तो उसके पास बालज़कसे अच्छा वैज्ञानिक साधन था किन्तु उसके उपन्यासोंमें कुल-परम्पराके नियमोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष सामग्री नहीं प्राप्त होती ।

यद्यपि ज़ोलाने बहुत तड़क-भड़कके साथ सामग्री एकत्र की है फिर भी वह पाठकोंको रुचती नहीं है । यही कारण है कि उसके अनुगामियोंने यह मार्ग छोड़ दिया । वे तो फोटोग्राफ़ीके चित्रणके समान स्पष्ट वस्तुएँ लाकर रखना चाहते हैं और किसी ऐसी एक ही महत्वपूर्ण बातपर ध्यान आकृष्ट

करना चाहते हैं जिसे मोपासाँने 'जीवनका टुकड़ा' कहा है। इन लोगोंकी प्रणाली इसीलिये छोटी कथाओंपर अधिक सफलताके साथ प्रयुक्त हुई है, बड़ी कथाओंपर कम।

## तटस्थता और लिप्तता

इसी समय यथार्थवादसे प्रभाववादकी ओर और समाजवादसे उपन्यासके मनोवैज्ञानिक पक्षकी ओर अर्थात् कथासे बदलकर कथाकारकी ओर प्रवृत्ति हुई। इस दृष्टिसे देखा जाय तो प्रतीत होगा कि एक ओर कथाकार अपनी कथाके प्रति उदासीन या तटस्थ भी हो सकता है, स्वयं अपना ही चित्रण भी कर सकता है, किसी निम्न कोटिके चरित्रसे भी कथा कहला सकता है और कभी दूसरी ओर 'मैं' से प्रारम्भ करके भी कथा कह सकता है। किन्तु इन रूपोंमें उसका कार्य-क्षेत्र परिमित हो जाता है और चरित्र-चित्रण करना कठिन हो जाता है। डिकेन्सने दोनों रूपोंका प्रयोग किया है। अच्छा तो यह है कि वह तटस्थ रहकर लिखे। इससे उपन्यासकार अपने मुख्य चरित्रपर अधिक ध्यान दे सकता है। इधर कुछ दिनोंसे कुछ लेखकोंने अपने मुख्य पात्रोंके साथ एकात्मता स्थापित कर ली है अर्थात् लेखक किसी पात्रका दृष्टिकोण ग्रहण करके एक मौलिक प्रभाववादकी ऐसी शैली ग्रहण कर लेता है जो उसकी चेतना-धारासे मिलती-जुलती होती है उसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि सत्यने कल्पना (फिक्शन) को पराजित करके उपन्यासको उन घटनाओं और परिस्थितियोंमें बाँध दिया है, जो उपन्यासकारकी अपनी प्रवृत्तियोंसे मिलती-जुलती हैं। इस प्रकारकी अत्यन्त बाह्य चित्रणताका परिणाम यह है कि वे अत्यन्त अन्तःस्थ हो जाती हैं। इस प्रकारकी आत्म-कथाकी प्रवृत्तियाँ साधारण पाठकको ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वे कलाकारकी ऐसी व्यक्तिगत समस्याएँ हैं, जिनमें वह भद्दे प्रकारसे उलझा हुआ है, जिन्हें वह अपने कौशलसे दिखलाना चाहता है और जो अधिक लोगोंकी आवश्यकताओंके अनुसार सामग्री उपस्थित न करके थोड़े ही पाठकों और विशिष्ट लोगोंतक ही परिमित रहना चाहती हैं।

## उपन्यासका भविष्य

मध्यवर्गीय समाजने यथार्थवादी उपन्यासमें जो आलोचनात्मक दर्पण पाया था वह अब तीव्रतासे बदल रहा है। अतः उपन्यासके रूपोंमें भी तदनुरूप परिवर्त्तन होना आवश्यक है, किन्तु ये नये रूप किस प्रकारके होंगे यह नहीं कहा

जा सकता। टौमस मानके शब्दोंमें उसकी गति कुछ इस प्रकार होगी कि 'मध्यवर्गीय और व्यक्तिगतसे वे विशेष मानव-श्रेणी ( टाइप ) के चित्रक और पौराणिक हो जायँगे।' यह भी आशा करनी चाहिए कि प्रतीकात्मक कौशल और आदर्शात्मक प्रवृत्तिवाले लेखक भी अब अपने उपन्यास सामने लायँगे।

उपन्यासका भविष्य चाहे जो कुछ हो किन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसमें प्राचीन सभ्यताके शाश्वत स्मारक, संस्मरण, मानवीय आचार-विचारों और कलाकृतियोंका सुन्दर संयोग प्रदर्शित हुआ है। इसलिये हम उपन्यासको दो दृष्टियोंसे देख सकते हैं—एक सत्य और दूसरा सौन्दर्य, अर्थात् हम यह देख सकते हैं कि वह जीवनके कितने समीप है, उसमें सूक्ष्म दर्शकका कितनी गहराई है, उसके सम्प्रेक्षणकी कितनी व्यापक परिधि है और यह भी देख सकते हैं कि वह जीवनसे कितना मिला हुआ है, उसका निर्वाह कितना व्यापक हुआ है और किस प्रकार एक विशेष रूपमें वह अनुभवके साथ ढल गया है।

## परिभाषा

उपन्यासकी परिभाषा कुछ लोगोंने यह बताई कि 'उपन्यास वह कल्पित गद्य-कथा या वर्णन है जिसमें पुरुषों या स्त्रियोंके वास्तविक जीवन तथा भावावेगोंका चित्रण हो।' किन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है। आजकल अनेक उपन्यास ऐसे भी लिखे गए हैं जिनमें व्यक्तिके बदले स्थानका अधिक महत्त्व है जैसे 'ए टेल ऑफ़ टू सिटीज़', 'लास्ट डेज़ ऑफ़ पौम्पिआइ' आदि। संसारमें जितने कथानक हैं उन्हें हम दो मुख्य भागोंमें बाँट सकते हैं—

१. एक व्यक्तिपर आश्रित, जिनमें कोई व्यक्ति अपने प्रभावसे सम्पूर्ण समाज और विश्वको विचलित तथा प्रभावित कर देता है।

२. घटनापर आश्रित, जिनमें कोई ऐसी घटना ही दैवसंयोगसे हो जाती है जो मानव-जीवन और समाजको प्रभावित कर देती है और जिसमेंसे कुछ विशिष्ट व्यक्ति निकल आते हैं।

इन दोनों प्रकारोंके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं—रामायण और महाभारत। रामायण व्यक्ति-प्रधान है और महाभारत घटना-प्रधान। उपन्यासके सम्बन्धमें भी यही बात है। किन्तु इधर कुछ ऐसे उपन्यास लिखे गए जो किसी विशेष वाद या प्रवृत्तिके समर्थक बनकर आए। ये उपन्यास केवल उद्देश्य-प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सत्य ऐतिहासिक

घटनाओं, वैज्ञानिक आविष्कार आदिको भी उपन्यासके रूपमें ढाला जाने लगा है क्योंकि हेनरिख़ मान, लडविग रुबिनर आदिने यह कहा है कि 'उपन्यास ही सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है अतः उसीके द्वारा सब ज्ञान-विज्ञान देना चाहिए।' इस मतका समर्थन करते हुए कुर्ट हिलरने सन् १९१९ में इस मतका नामकरण 'विश्व बन्धुत्ववाद' (ऐक्टिविज़्म) किया। इस व्यापक दृष्टिसे उपन्यासकी परिभाषा यह होगी—

'उपन्यास वह गद्य-कथा है जिसमें विशेष कौशलसे कुतूहल उत्पन्न करके कोई ऐसी सत्य या कल्पित कथा कही जाती है जिससे मनोविनोद होता हो या किसी विषय या नीतिका परिचय और प्रचार किया जाता हो।'

## उपन्यासके प्रकार

उपन्यासमें अनुभवात्मक वास्तविकताका चित्रण इतना अधिक है और उसके रूप या शैलीके विषयमें पाठकोंकी उदासीनता इतनी है कि उपन्यासके निम्नाङ्कित वर्ग ही माने गए हैं—

१. सामाजिक, २. मध्यवर्गीय, ३. मनोवैज्ञानिक, ४. स्थानीय चित्रण-युक्त, ५. अपराध-चित्रक और ६. भावावेगपूर्ण। इनके भी और बहुतसे छोटे-छोटे भेद हो सकते हैं। सामाजिक उपन्यासमें किसी एक विशेष युग और स्थानका, वहाँके मानव-आचार-विचारपर वहाँकी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंके पड़े हुए प्रभावका चित्रण होता है। इस प्रकारके उपन्यास व्यावसायिक आन्दोलनके समय अधिक दिखाई पड़े। इन उपन्यासोंके विषय अत्यन्त परिमित होनेके कारण और सौन्दर्य-निरपेक्ष होनेके कारण इनका महत्त्व केवल अल्प कालके लिये तथा किसी विशिष्ट स्थानके लिये हो सकता है और पीछेके पाठकोंके लिये ऐतिहासिक महत्त्वका हो सकता है। इस प्रकारके उपन्यासोंके अन्तर्गत एक समस्या-उपन्यास (प्रौब्लम नौवेल) होते हैं, जिनमें कोई विशिष्ट सामाजिक प्रश्न होता है, जैसे पति-पत्नी-परित्याग (डाइवोर्स) या जातीय रङ्गभेदकी भावना आदि। दूसरे प्रकारके वे उपन्यास वे हैं जिनमें किसी एक वर्गका पक्ष लेकर दूसरेकी निन्दा की जाती हो। उन्हें प्रचारवादी उपन्यास कहते हैं। कुछ मजदूरवादी उपन्यास होते हैं जिनमें मजदूरोंकी समस्याके साथ सहानुभूतिमय विचार किया जाता है। स्थानगत (रीजनल) उपन्यासोंमें वहाँकी परिस्थिति और अवस्थाओंका

तथा मनुष्य-द्वारा निर्मित आर्थिक प्रणालीका ही नहीं वरन् वहाँकी धरती, उजाड़, जङ्गल या कहीं दूरकी आदिम भूमिका चित्रण होता है। स्पेन और स्पेनी अमरीकाके उपन्यासोंमें 'कौस्तम्ब्रिस्मो' नामके ऐसे ही यथार्थवादी चित्रण चले जिनमें आचार-विचारके अध्ययनको ही महत्त्व दिया गया है।

## ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासोंमें वास्तविक घटनाओंका चित्रण होता है जिनमें पात्र, स्थिति और घटनाएँ अतीतसे ली जाती हैं। किन्तु यह परिभाषा इसलिये अपर्याप्त है कि ऐतिहासिक उपन्यासोंके सम्बन्धमें यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि इसमें ऐतिहासिक चरित्र कितने हैं? वे मुख्य हैं या गौण हैं? दृश्य कितना महत्त्वका है? क्या यह वहाँके राष्ट्रीय जीवनके शाश्वत तत्त्वोंका परिचय देता है? अतीतसे क्या अर्थ है? क्या उसका अर्थ है वह अत्यन्त प्राचीन युग जिसके लिखित प्रमाण नहीं मिलते या सजीव स्मृतिकी परम्पराका वह भूत जो अभी बीता है? इससे तीन प्रकारके ऐतिहासिक उपन्यासोंका परिचय मिलता है—

१. विशिष्ट-युगीन उपन्यास, जो ऐतिहासिक खोजके आधारपर लिखे गए हों और जिसके पात्र उस युगके जीवनका परिचय देनेवाले हों, भले ही वास्तविक न हों।

२. वह ऐतिहासिक उपन्यास, जिसमें प्राचीन अतीतके राजाओं और साहसिकोंके ऐतिहासिक कृत्योंका वर्णन होता है, जिसमें प्रायः लेखक इस युगकी जटिलताओंसे बच-निकलकर या पलायन करके काम करना चाहता है।

३. शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास, जो वास्तविकताको छोड़ता नहीं, वरन् और भी तीव्र कर देता है। इनमें प्रायः एक पीढ़ी पहलेके दृश्य होते हैं जिससे कि लेखक अपने बचपनकी स्मृतिको कुरेदकर रचनात्मक शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

## विवरणात्मक उपन्यास

रचना-कौशलकी दृष्टिसे हम उपन्यासके दो रूप मान सकते हैं, जो एक दूसरेसे बहुत मिलते-जुलते हैं—

१. विवरणात्मक ( पैनोरेमिक या इपिक )।

२. नाटकीय ( दृश्यात्मक ) तथा सुसम्बद्ध ।

विवरणात्मक उपन्यासमें कथावस्तु शिथिल होती है और किसी एक बातपर कथा बँधी नहीं रहती। उसकी घटनाएँ अंशतः दैवसंयोगपर, पात्रोंके स्वभाव और परिस्थितियोंपर अवलम्बित रहती हैं। उसका अन्त बहुत दूरतक चलता रहता है, सहसा निर्णयात्मक नहीं होता। संक्षेपमें, विवरणात्मक कथावस्तु उतनी तर्कसङ्गत, घटनापूर्ण और त्रासद नहीं होती, जितनी नाटकीय क्योंकि उसमें चरित्र असंख्य होते हैं और वे भी व्यक्तिगत होनेके बदले किसी एक वर्गके प्रतिनिधि होते हैं और एक ही व्यक्ति सदा ध्यान आकृष्ट किए रहता है।

## नाटकीय उपन्यास

नाटकीय उपन्यासमें एक ही तत्त्वकी प्रधानता है जो तर्कसङ्गत रूपसे किन्हीं परिस्थितियोंका परिणाम होता है अर्थात् जो किसी एक विशिष्ट परिस्थिति और पात्रोंकी प्रकृतिका परिणाम होता है। इस प्रकारकी कथावस्तुओंको पढ़कर जो भावोंका तनाव होता है वह निर्णयात्मक अन्तमें पहुँचकर समाप्त हो जाता है। इसके सब पात्र उपन्यास-व्यापारसे बँधे रहते हैं। नाटकीय उपन्यासोंमें आकस्मिकता अधिक रहती है इसलिये उसमें जीवनका एक ही खण्ड दिखाया जा सकता है किन्तु विवरणात्मकमें मानवीय अनुभवोंके सब विस्तृत पक्ष आ सकते हैं। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो हमें उपन्यास-कौशल, विषय तथा चित्रणकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके उपन्यास मिलते हैं।

## औपन्यासिक विवरण ( रोमान्टिक गेस्टेस या क्रोनिकल )

तेरहवींसे पन्द्रहवीं शताब्दितक योरोपमें कुछ ऐसे ऐतिहासिक और साहित्यिक विवरण लिखे गए, जिनमें राष्ट्रीय चरित्रका भव्य चित्रण करते हुए सत्य और काल्पनिक कथाओंका सम्मिश्रण किया जाता था। इन्हें एक प्रकारसे उपन्यासका पूर्वरूप समझा जा सकता है।

## पत्रात्मक उपन्यास

अठारहवीं शताब्दिमें योरोपमें पत्रके रूपमें उपन्यास लिखनेका बड़ा प्रचलन हुआ किन्तु वह शीघ्र ही समाप्त भी हो गया। सैमुएल रिचर्डसनने जब

'पामीला, १७४०' के द्वारा पत्रके रूपमें उपन्यास लिखा, उससे एक शताब्दि पूर्व ही उपदेशात्मक और विनोदपूर्ण कथाओंमें वास्तविकताका भाव लानेके लिये, यात्रा, दन्तकथा तथा मिथ्या इतिहासकी रुचि तृप्त करनेके लिये तथा स्त्री हृदयके भावकतापूर्ण विश्लेषणके लिये पत्र-शैलीका प्रयोग किया जाता रहा। रिचर्डसनने इस कौशलको बहुमुखी और पूर्ण कर दिया। उसके पत्र-लेख दो श्रेणियोंके हैं—

१. किसी युगके विशेष व्यक्ति-द्वारा तत्कालीन घटनाओंके लिये लिखे हुए पत्रके रूपमें जैसे—पामीला।

२. विभिन्न पात्रोंके युग्मोंके बीच पत्र-व्यवहारके रूपमें लिखे हुए। रिचर्डसनके अनुगामियोंने कई रूपोंमें इस कौशलका प्रयोग किया जैसे—

१. पूरा वर्णन या पूरी कथा एक ही पत्रमें दे देना।

२. अनेक पत्रोंके द्वारा किसी कहानीका विस्तार करना, जो अनेक लेखकों-द्वारा लिखे गए हों और जिनके उत्तर पुनरावृत्ति दूर करनेके लिये प्रायः दबा दिए गए हों।

३. किसी पत्र 'मासिक पत्र' या दैनन्दिनीमें घटना लिख देना।

४. किसी नायकके पराक्रम-कृतियोंकी घटनाएँ जिसे ज्ञात हों उस लेखकके द्वारा पत्रके रूपमें घटनाका उद्घाटन।

५. दो व्यक्तियोंमें परस्पर पत्र-व्यवहार, जिनकी कथाएँ समान महत्त्व की हों।

६. कथा-रूपमें कही जानेवाली कहानियोंके बीचमें किसी पत्रका प्रासङ्गिक प्रयोग।

हमारे यहाँ 'दशकुमार-चरित', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'किस्सा तोता-मैना' आदि ऐसी कथाएँ तो थीं, जिनमें विभिन्न व्यक्ति मिलकर अपनी आपबीती सुनाते थे किन्तु पूरा उपन्यास पत्रके रूपमें हमारे यहाँ नहीं मिलता। साधारण उपन्यासकी अपेक्षा या साधारण कथाकी अपेक्षा इन पत्र-रचनाओंमें पात्रोंको यह अधिक अवकाश मिलता था कि पूर्ण कथा-व्यापार करते हुए भी अपने विचार और भावनाओंको व्यक्त कर सकें और जब विभिन्न संस्कृत विचारके विद्वान् एक ही घटनापर पत्र लिखना प्रारम्भ करते थे तो उनमें नया चमत्कार भी मिलता था। इस प्रकारके पत्र-रूपोंमें एक विशिष्ट आकर्षक मौलिकता भी होती थी, जो परिस्थिति-ज्ञान होनेके कारण सरल हो

जाती थी। इसमें ऐसे भावक लोगोंको भी पर्याप्त अवसर मिलता था जो अपने भावोंका विश्लेषण करना चाहते थे। इस प्रकारके पत्र-लेखनसे उन लोगोंको भी आनन्द मिलता था, जो सच्ची या सच्चे रूपमें उपस्थित कथाएँ पढ़ना चाहते थे। सन् १७८०तक इस प्रकारके पत्र-उपन्यासोंका अम्बार लग गया जिनमें प्रायः भावकतापूर्ण उपन्यास अधिक थे। इसी प्रकारके उपन्यासोंसे आचार-शिक्षक घरेलू उपन्यास ( डोमेस्टिक नौवेल्स ) भी चल पड़े। इस प्रकारकी पत्र-शैलीने सिद्धान्त और प्रचारके उपन्यासोंको भी बड़ा सहारा दिया, जिनमें शिक्षाके सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये पत्रोंका प्रयोग किया गया था।

### सर्वज्ञ लेखन-शैली ( औम्नीशिएण्ट औथर स्टाइल )

ऐतिहासिक और गौथिक उपन्यासोंके उत्थानके साथ-साथ पत्र-शैली समाप्त हो गई। इस प्रकारके पत्र-शैलीके साहित्यमें कई दोष भी थे—

१. लेखकका पाठकोंसे सम्बन्ध टूट जाता था।

२. उसे अपनी कथापर और अपने चरित्रोंपर टिप्पणी करने और उनकी व्याख्या करनेका अवसर नहीं मिलता था। इसीलिये जेन आस्टिनने इस पत्र-शैलीका बहिष्कार करके अर्थात् सर्वज्ञ तथा सर्वद्रष्टा लेखक ( आम्नीशियन्ट औथर ) की शैली ग्रहण की, जिसमें लेखक स्वयं सब कुछ देखनेवाला बनकर कथाकी रचना करता है।

### गोथिक

यह शब्द मध्यकालीन कथा और विचारके पक्षोंके लिये प्रयुक्त होता था और सर्वप्रथम प्रारम्भिक सत्रहवीं शताब्दिके नोकदार भवन-कलाके लिये प्रयुक्त होता था। आगे चलकर यह शब्द कुछ विशिष्ट या कृत्रिम वस्तुओंके लिये प्रयुक्त होने लगा। गोथिक साहित्यमें आवृत्ति, ऊबड़-खाबड़ पत्थरके घेरों, आकर्षक कुञ्जों और खण्डहरोंकी मधुर वेदनाभरी रहती थी। गोथिक उपन्यास भी एक विशेष निराशापूर्ण वातावरण लेकर चले और निराशा-भरी कविता भी गोथिक कहलाने लगी।

### भाविकतापूर्ण उपन्यास ( सेन्टिमेन्टल फ़िक्शन )

अठारहवीं शताब्दिमें योरोपमें भावात्मक उपन्यासोंका समाजपर बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। यद्यपि सत्रहवीं शताब्दिमें ही सामन्तवादी स्वैरवादी

रचनाओंमें इस प्रकारकी भावनाएँ दिखाई पड़ रही थीं किन्तु उपन्यासमें भाविकतावादका प्रयोग मध्यमवर्गीय प्रभाव ही है, जो अठारहवीं शताब्दिके मध्यसे चला और जिसका कार्य यही था कि वह उस विशाल जनताको और उसकी भावनाओंको तुष्ट करे, जिसे करुण नाटक (कौमेदी लार्मोयान्ते) तृप्त कर रहे थे। इन उपन्यासोंका एक व्यापक सिद्धान्त यह था कि 'साधारण मनुष्य बहुत अच्छा होता है और इसके मौलिक गुण उदारतापूर्ण होते हैं।' इन लोगोंको बड़े-बड़े समीक्ष्यवादियोंका समर्थन मिला। नीतिवादी भी इससे सन्तुष्ट हुए और आलोचक भी कहने लगे कि 'उपन्यासका काम ही है शिक्षा देना।' आशावादके गुलाबी धुन्धमें वास्तविकताको छिपानेकी प्रवृत्तिके कारण यह स्वैरवादसे ही कुछ जुड़ता-सा जान पड़ा क्योंकि मनुष्यकी पूर्णता और व्यक्तिगत मनुष्यकी भावनाओंमें इनका विश्वास था। यह भावना दूसरे देशोंमें भी जा पहुँची और इङ्गलैन्ड तथा जर्मनीमें इनका प्रचार हुआ। इन लोगोंका अनुकरण करनेवाले लोगोंने एक सन्तुष्टि-सम्प्रदाय या समझका सम्प्रदाय चलाया जिसमें विचारके बदले तात्कालिक भाव उत्पन्न करना ही लक्ष्य हो गया। भावात्मकताकी यह तीव्रताकी प्रवृत्ति और आगे बढ़ गई और यह भाविकता आवेशतक पहुँच गई यहाँतक कि इसने आत्म-हत्याको फैशन ही बना दिया। यह भाविकता स्नायविक आत्मग्लानिके अभिशापसे सस्ती बनकर आदर्श सामाजिक और मानवीय प्रेरणाओंमें पहुँच गई और उसकी अभिव्यक्ति अनेक उपन्यासोंमें, अनेक रूपोंमें हुई। उपदेशात्मक रूपमें इसने शिक्षा देनेवाले उपन्यासोंमें, क्रान्तिकारी आदर्श भरकर सैद्धान्तिक उपन्यासोंमें, अलौकिकवादसे रङ्गकर गोथिक उपन्यासोंमें, मानवतावादीसे मिलकर उद्देश्य-वादी उपन्यासोंमें, इतिहाससे मिलकर ऐतिहासिक स्वैरवादी उपन्यासोंके पात्रोंको आदर्श बनानेमें और आचार-विचारके अध्ययनसे पुष्ट होकर गृहस्थ उपन्यासोंमें एक नवीन चमत्कार उत्पन्न किया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें इसका महत्त्व कम हो गया और यह समाप्त हो गई।

## जासूसी उपन्यास

कुतूहलकी प्रधानता होनेके कारण जासूसी उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय होते हैं। इन कथाओंमें किसी विशेष जटिल समस्या ( विशेषत: हत्या ) का समाधान कोई जासूस ऐसे विचित्र ढंगसे करता है कि जिसे हम साधु समझते

हैं वही हत्यारा सिद्ध होता है। यह माना जाता है कि एलेन पो ही सबसे पहला व्यक्ति था, जिसने जासूसी उपन्यासका प्रारम्भ किया था और 'दि मर्डर्स इन दि रयू मौर्ग '१८४१' की रचना की थी। जासूसी उपन्यासमें छः तत्त्व होते हैं जो रूढ हो गए हैं—

१. प्रत्यक्षतः पूर्ण दुर्घटना ( बन्द कमरा ) आदि।

२. निरपराध व्यक्तिपर शङ्का, जिसके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई पड़ते हैं।

३. पुलिस-द्वारा पैरोंकी पहचानमें गड़बड़ी।

४. जासूसकी तीव्र प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टि।

५. जासूसका साथी, जो उससे कम बुद्धिवाला होता है किन्तु उसकी प्रशंसा करता हुआ कथा कहता है।

६. बाह्य प्रमाण सब असङ्गत होते हैं।

उपन्यासोंमें १. कुछ तो रोमाञ्चकारी होते हैं, जिनमें एक दुर्घटनापर दूसरी दुर्घटना होती चलती है और सब कुछ अन्तमें जाकर सुलझता है। २. कुछ बौद्धिक होते हैं, जिनमें दुर्घटना हो चुकनेपर जासूस उसकी खोजमें लगता है और अन्तमें अपराधीको पकड़ लेता है। धीरे-धीरे विज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान और औषधि-विज्ञानने इसमें बड़ी सहायता की और नये-नये ढङ्गोंसे जासूसोंकी खोज-वृत्ति दिखाई जाने लगी। मुख्य बात इसमें यही होती है कि जासूसी उपन्यास एक वैसी समस्या उत्पन्न करता है जिसका समाधान अप्रत्याशित रूपसे होता है। इस प्रकारके उपन्यास यद्यपि फ्रान्स और बेल्जियममें भी लिखे गए किन्तु इनका अधिक क्षेत्र अमरीका और इङ्गलैन्ड ही रहा है और यह भी कहा जाता है कि अधिक अपराधोंके बढ़नेका श्रेय इन्हीं जासूसी उपन्यासोंको है।

### नवीन प्रयोग

विभिन्न देशोंमें और भी प्रकारके उपन्यास लिखे गए।

इटलीमें गियोबानी, बोकेशिया आदिने कुछ ऐसी छोटी गद्यात्मक कथाएँ ( नोवेला ) लिखीं, जो प्रायः नीतिवादी, यथार्थवादी और व्यंग्यात्मक होती थीं। जर्मनीमें 'आबेन्टेउएरोमान' नामके साहसपूर्ण उपन्यास लिखे गए, जिनका जन्म मध्यकालीन राजपरिवारोंकी गाथाओंसे हुआ किन्तु पीछे चलकर

ठगों और धूर्त्तोंकी कथाओंके स्पेनी उपन्यास ( पिकारेस्क ) के प्रभावमें पड़कर ये तथ्यवादी बन गए, जैसे ग्रिम्मेलशाउसेनका 'सिम्प्लीसिस्सिमस ।' सत्रहवीं सदीमें इसी धारामें डेनियल डीफ़ोके 'रौबिन्सन क्रूसो'से प्रभावित होकर 'रौबिन्सोनाडेन' लिखा गया। पर यह स्थिति भी बदल गई और आगे चलकर ये सर्वसाधारणप्रिय साहसात्मक कहानियोंके रूपोंमें ढल गए। जर्मनीमें कुछ 'प्रोफ़ेसोरेनरोमान' नामके ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए, जिनमें किसी घटनाके विस्तृत विवरण अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण सटीकताके साथ दिए जाते हैं किन्तु जिनमें कला कम होती है।

## एल्जर-उपन्यास

अमेरिकाके लेखक होरेशियो एल्जर (१८३२–९९) ने कुछ ऐसे लोकप्रिय बाल-उपन्यासोंकी रचना की जिनमें कोई दरिद्र किन्तु योग्य बालक अनेक विघ्न-बाधाओंसे युद्ध करते हुए भी सफलता प्राप्त करता है। एल्जरके पश्चात् और भी बहुतसे लोगोंने इस प्रकारके उपन्यास लिखने प्रारम्भ किए, जिनके शीर्षक प्रायः अनुप्रासात्मक होते थे जैसे 'सिन्क और स्विम'। इस प्रकारके उपन्यासोंमें कुछ ऐसे बालकोंके चरित्र दिए जाते थे जिन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवनमें विशेष घटनाओंका सामना किया हो। इन पुस्तकोंमें प्रायः दो बालक अत्यन्त सङ्कटपूर्ण परिस्थितियों तथा उत्तेजनात्मक वातावरणमें प्रदर्शित किए जाते थे और कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ लाकर उपस्थित करते थे कि उस सङ्कटमें ये दोनों अलग हो जाते थे और फिर उपन्यासके अन्तमें मिल जाते थे। किन्तु ये एल्जर-उपन्यास बहुत दिनोंतक नहीं चल पाए और इनके बदले सच्ची कहानियाँ ( ट्रू स्टोरीज़ ) नामक उपन्यास आ धमके।

## कौस्तम्ब्रिस्मो

स्पेन और स्पेनी अमेरिकामें एक प्रकारके 'कौस्तम्ब्रिस्मो' नामके उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमें किसी समाजके आचार-विचारपर विशेष बल दिया जाता है।

फ्रान्समें पहले धारावाहिक रूपसे पत्रोंमें उपन्यास ( फुइलेतों ) प्रकाशित होते रहे। उन्हींके ढङ्गपर दरिद्र कोटिके उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे और 'फ़ुइलेतों' नामसे निन्द्य उपन्यास भी चल निकले। फ़्रान्समें एक

प्रकारके छोटे उपन्यास या उपन्यासिका ( नाउवेल ) निकलीं, जिनका कथा-कौशल तो बहुत चुस्त नहीं होता था किन्तु वे मनोरञ्जक बहुत होती थीं। इन्हींके साथ वहाँ 'रोमाँ' नामके उपन्यास लिखे गए जिनमें मध्यकालकी काल्पनिक कथाएँ भरी रहती थीं किन्तु उनकी भाषा 'रोमान्स' भाषा होती थी 'लातिन' नहीं।

### क्रमिक उपन्यास

कुछ ऐसे भी उपन्यास मालाबद्ध लिखे गए जिनके चरित्र कई उपन्यासोंमें क्रमशः चलते रहते हैं जैसे, चन्द्रकान्ता सन्तति या रुद्र 'काशिकेय'का 'बहती गङ्गा'।

### नीली पोथी

अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें और उन्नीसवींके आरम्भमें उपन्यासकी बाढ़ देखकर और जनताकी उस ओर तीव्र रुचि देखकर अनेक व्यवसायी निम्न कोटिके लेखकोंने लोगोंकी वासनाको उत्तेजित करनेवाले दरिद्र तथा सस्ते भयानक उपन्यास लिखने प्रारम्भ किए, जिन्हें 'पेनी ड्रेडफुल', 'शिलिङ्ग शौकर', 'ब्ल्यू बुक', 'डाइम नौवेल' या 'यलो बैक' कहते थे, जिनमें भयानक रोमाञ्चकारी कथाओंका सन्निवेश होता था।

### वैज्ञानिक उपन्यास

आजकल अज्ञात विषयों, लोकों तथा देशोंके सम्बन्धमें जो वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए हैं और अटकलें लगाई जा रही हैं, उनके अनुसार भी अनेक कुतूहलपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं जैसे 'चन्द्रलोक की यात्रा', 'मङ्गल ग्रहका मानव,' 'यन्त्र-मानव' आदि। इन उपन्यासोंमें या तो विज्ञानकी ज्ञात बातोंका प्रयोग करके उनका प्रयोगात्मक परिचय दिया जाता है या वैज्ञानिक सम्भावनाओंकी कल्पना करके उनके आधारपर अत्यन्त रोमाञ्चकारी कथा प्रस्तुत की जाती है।

### उपन्यासिका ( नौवलेट )

बड़े उपन्यासोंके साथ कुछ छोटे और छोटी कथाओंसे कुछ बड़े तीस सहस्रसे पचास सहस्र शब्दोंतककी कहानियाँ नावेलेट ( उपन्यासिका ) नामसे लिखी गईं।

### उपन्यासका नया वर्गीकरण

उपर्यङ्कित विवरणके अनुसार विषयके आधारपर यदि हम उपन्यासोंका वर्गीकरण करें तो निम्नलिखित प्रकारके उपन्यास मिलेंगे—

१. सामाजिक, २. राजनीतिक, ३. धार्मिक, ४. पौराणिक, ५. ऐतिहासिक, ६. वैज्ञानिक, ७. वासनात्मक और ८. जासूसी।

### उपन्यासके तत्त्व

कुछ विद्वानोंने उपन्यासके छः तत्त्व माने हैं—१. वस्तु, २. पात्र, ३. संवाद, ४. देशकाल, ५. शैली और ६. उद्देश्य। किन्तु वास्तवमें उपन्यासके तत्त्व तो तीन ही होते हैं—१. कथा, २. पात्र और ३. व्यापार ( घटना-समूह )। 'उद्देश्य' वास्तवमें तत्त्व न होकर परिणाम है और 'संवाद' तथा 'शैली' उस कथाको उद्देश्यतक पहुँचानेके साधन हैं। देशकाल भी घटना-समूह या व्यापारके अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ आचार्योंने घात-प्रतिघात या द्वन्द्व ( कौन्फ़्लिक्ट ) तथा कुतूहल ( सस्पेन्स ) को भी तत्त्व माना है किन्तु ये सब तो उद्देश्य-सिद्धिके लिये तत्त्वोंके संयोजनके कौशल हैं अथवा पाठकोंको फँसाए रखनेके उपाय हैं। इन्हें तत्त्व नहीं समझना चाहिए। कथावस्तु, पात्र और व्यापारके सम्बन्धमें हम पीछे समझा आए हैं।

### कथावस्तु

हमारे यहाँ नाटकके सम्बन्धमें तो कथावस्तुका विचार किया गया है किन्तु उपन्यासके सम्बन्धमें नहीं। किन्तु कथावस्तुके जितने प्रकार नाटकके लिये हो सकते हैं उतने ही प्रकार उपन्यासके लिये भी। कथावस्तु और उसके ग्रथन-कौशलके सम्बन्धमें हम नाटकके विवरणके साथ व्याख्या करेंगे। यहाँ उपन्यास-कौशलके सम्बन्धमें विशेष रूपसे जो कहना आवश्यक है उसीकी मीमांसा करेंगे। साधारणतः यह माना जाता है कि उपन्यासमें एक आधिकारिक कथा या मुख्य कथा होती है और शेष कथाएँ प्रासङ्गिक होती हैं, जो उस मुख्य कथाके पोषणके लिये काम आती हैं। इसी मुख्य कथाको कुछ लोगोंने कथासूत्र ( थीम ) और प्रासङ्गिक कथाको 'एपिसोड' या उपकथा ( अन्डर-प्लौट ) माना है। आजकल यह प्रणाली चली है कि उपन्यासोंमें प्रामाणिक दृश्य और कथाएँ देनी चाहिएँ, जिससे उनकी सत्यता प्रमाणित हो जाय।

### कथासूत्र ( थीम )

कथासूत्र उस मुख्य विचार या किसी क्रियाका आधारभूत कार्य या कोई विशेष विषय होता है जिसका कथामें कोई विशेष वर्णन हो। डाह्लस्ट्रोमने कथा-सूत्र ( थीम ) को पाँच भागोंमें बाँटा है—

१. भौतिक, जिसमें मनुष्यकी एक जीवांश है। २. आवयविक, जिसमें मनुष्य सजीव तत्त्व है। ३. सामाजिक, जिसमें मनुष्यका सामाजिक दृष्टिसे विवेचन होता है। ४. अहंभूत, अर्थात् मनुष्यका व्यक्तिके रूपमें चित्रण और ५. दैवी मनुष्यका आत्माके रूपमें चित्रण। इनमेंसे भौतिक शक्तिका मानवीय कारण भी हो सकता है।

### प्रासङ्गिक कथा ( एपीसोड )

किसी लम्बी कथाके बीच-बीचमें जो प्रसङ्गवश उससे सम्बन्धित कथाएँ आ जाती हैं, उन्हें अन्तर्कथा 'एपीसोड' कहते हैं। कभी-कभी ये कथाएँ प्रसङ्गसे कुछ बाहर भी चली जाती हैं अथवा उससे शिथिल रूपसे सम्बद्ध होती हैं। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें कहा है कि 'नाटकोंमें वे नाटक सबसे भद्दे होते हैं जिनमें बीच-बीचमें असङ्गत कथाएँ आ जाती हैं।'

### उपकथा ( अण्डर-प्लौट )

ड्राइडनने प्रासङ्गिक कथावस्तुके लिये 'अन्डर-प्लौट' शब्दका प्रयोग किया है किन्तु यह प्रासङ्गिक कथावस्तु वह है जिसे 'उपकथा' कहा जा सकता है और जो मुख्य कथावस्तुके साथ सहायक रूपमें चलती है।

### प्रमापूर्ण उपन्यास ( डौक्यूमेन्टरी नौवेल्स )

साहित्यमें किसी विषयपर जो प्रमाण-सहित सूचना दी जाय, उसे 'प्रामाणिक लेख' कहते हैं। अतः साहित्यमें जो रचना सीधे जीवनसे ली जाती हैं और यथासम्भव वास्तविक रूपमें व्यक्त की जाती हैं उन्हें प्रामाणिकता-युक्त कहते हैं। प्रकृतिवादियोंके उपन्यास इसीलिये 'दौक्यूमेन्थस ह्यूमेन्स' कहलाते हैं, जिनमें या तो परिस्थिति या स्थानीय वातावरण ही कथाका आधार हो या जो स्थानीय विशेषताओंसे युक्त हो और जिसके पात्र भी वास्तविक जीवनसे लिये गए हों। जबसे ज़ोलाने १८८० में 'रोमाँ एक्सपैरीमेन्तल' और स्वाभाविक तथा सामाजिक और पारिवारिक इतिहाससे युक्त अपनी 'रूगन-

मकार्ड' उपन्यास-माला ( १८७१ से ९३ ) लिखी, तबसे ऐसे उपन्यासोंका प्रचलन हुआ, विशेषतः अमरीकामें पिछले 'सामाजिक तीस वर्ष' ( सोशल थर्टीज़ ) में इस प्रकारके उपन्यास लिखे गए। सिन्क्लेयर लुईने अपने घरेलू 'डौक्टर'को ही अपने उपन्यास ( ऐरो-स्मिथ ) का नायक बनाया। ड्रीज़रने एक अमेरिकी त्रासदमें कचहरीके सब कागज-पत्र ही लगभग ज्योंके त्यों डाल दिए।

ऐसी कृतियाँ यद्यपि तत्तत्स्थानीय परिस्थितियोंसे अनुप्राणित रहती हैं किन्तु उनमें व्यापक दृष्टिका अभाव होता है। किन्तु जो लोग उस परिस्थितिसे सम्बद्ध हैं, वे लोग उससे अवश्य आनन्द पाते होंगे। इसीलिये बहुतसे विद्वानोंका मत है कि 'ऐसा साहित्य अस्थायी होता है और कलामें उसका कोई स्थान नहीं होता।' यद्यपि डिकेन्स इस बातका प्रमाण है कि 'प्रमाणयुक्त उपन्यास' भी स्थायी हो सकते हैं। क्योंकि प्रमाण और कलाका वैर तो है नहीं, और नष्ट होनेको तो अच्छी-अच्छी पोथियाँ भी संसारसे मिट गई हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ऐसी प्रमाणयुक्त रचनाएँ अत्यन्त परावलम्बी होती हैं क्योंकि उनमें नित्य होनेवाले परिवर्त्तनोंका निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है। इसीलिये बहुतसे उपन्यासकार इस प्रकारके उपन्यास प्रारम्भ करनेमें ही घबराते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि जबतक उपन्यास पूरा हो, तबतक घटनाओंका चक्र ही बदल जाय। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो अभी मिला, जब जापानियोंने पर्ल हार्बरपर आक्रमण किया तो ब्रौडवेमें खेले जानेवाले दो नाटक बन्द कर दिए गए क्योंकि उनमें वर्णित घटनाओंका इससे विरोध हो जाता था। सबसे अधिक स्थायी प्रकारका प्रमाणयुक्त उपन्यास वह है, जिसमें किसी स्थानकी भूस्थितिका तथा उसकी विशेषताओंका वर्णन हो जैसे ई० हाल्डेमान-जूलियसके 'डान्स'में' या मनुष्यकी असफलताके किसी स्थायी पक्षका वर्णन हो जैसे ई० काल्डवेलने 'टोबैको रोड'में किया है, या किसी कथाके सहारे अपना अनुभव प्रस्तुत किया गया हो जैसे जे० स्टीन-बेक्ने 'औफ़ माइस ऐन्ड मैन'में किया है।

## उपन्यास-कौशल

हम पीछे बता आए हैं कि कथा अनेक प्रकारसे कही जाती है और उसे उपस्थित करनेके लिये अनेक कौशलोंका भी प्रयोग होता है। इनमेंसे एक प्रश्न यह है—'कथाको किस पुरुषमें कहा जाय?' हम बता आए

हैं कि कुछ लोगोंने उत्तमपुरुष अर्थात् 'मैं'से कथा प्रारम्भ की है, कुछने मध्यमपुरुष या 'तुम' सम्बोधित करके और कुछने प्रथम पुरुष या 'वह' के रूपसे कथा कही है। आचार्योंका कथन है कि 'इन विभिन्न पुरुषोंमें कथा कहनेका तात्पर्य है एक विशेष दृष्टिकोणकी स्थापना, जिसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व है।'

### दृष्टिकोण : सात्त्विक

'कथा कहनेवालेका कथासे क्या सम्बन्ध है', इसीको अनेक समीक्षकोंने दृष्टिकोण कहा है और यह बताया है कि 'यही दृष्टिकोण उस रचनाके वैशिष्ट्य और उसकी प्रणालीको सञ्चालित करता है।' यह दृष्टिकोण सात्त्विक अर्थात् अन्तर्भावात्मक और बाह्य दोनों हो सकता है।

सात्त्विक दृष्टिकोणमें कथा कहनेवाला स्वयं पात्र बन जाता है अतः वह कथा भी उत्तमपुरुष या 'मैं'की कथा हो जाती है किन्तु बाह्य दृष्टिकोणसे जब कथा कहनेवाला कथासे बाहर अपना मस्तिष्क रखकर कथा कहता है अर्थात् वह कथामें कोई भाग नहीं लेता, ऐसी स्थितिमें कथा निश्चय रूपसे अन्य-पुरुषवार्चा बन जाती है।

### सात्त्विक दृष्टिकोण ( उत्तम पुरुप )

सात्त्विक दृष्टिकोणवाली कथाएँ अनेक प्रकारसे कही जा सकती हैं—

१. मुख्यपात्र-द्वारा कथा कही गई हो, जो एक प्रकारसे छद्म आत्म-कथा ही है। इस प्रणालीसे बहुतसे लाभ भी हैं—

( क ) यदि कथा विचित्र, भयानक, अलौकिक या अविश्वसनीय होती है तो इस प्रणालीसे कहनेमें पाठक उसपर विश्वास कर लेगा क्योंकि वह इस प्रकार कही जाती है, मानो वह कथाकारका प्रयत्त अनुभव हो जैसे 'रौबिन्सन क्रूसो।'

( ख ) उत्तम पुरुषमें कही हुई कथामें भावात्मक अनुभव हृदयसे कहा जाता है अतः वह अधिक आत्मीयतापूर्ण और तीव्र होता है, क्योंकि 'मैं' अधिक आत्मीयतापूर्ण होता है और 'वह' कुछ दूर। आत्मीयतासे कुछ व्यापक दृष्टिकोण भी प्रतीत होता है।

(ग) उत्तम पुरुषमें कही हुई कथामें अत्यन्त सरलता और सङ्गति भी होती

है, अर्थात् उसमें आए हुए 'मैं' कथाके सब अङ्गोंको अत्यन्त सरलतासे मिला भी देते हैं।

इस सात्त्विक दृष्टिकोणसे कुछ दोष भी हैं—

( क ) इसमें नायक केवल अपने विचार ही कह सकता है, दूसरोंके विचार व्यक्त करनेका उसके पास कोई साधन नहीं होता।

( ख ) नायक स्वयं अपना विश्लेषण कर सकता है और वह भी भीतरसे बाहर, किन्तु बाहरसे भीतर नहीं कर सकता अर्थात् अपने मनकी बात तो कह सकता है, चरित्रकी व्याख्या नहीं कर सकता। वह कह सकता है कि 'मुझे गर्मी लग रही है' किन्तु वह यह नहीं वर्णन कर सकता कि 'उसी कथाके अन्य पात्रोंको वह कैसा प्रतीत होता है।' इसीलिये मनोवैज्ञानिक कथामें यह आवश्यक है कि वह अन्यपुरुष या बाह्य शैलीमें ही व्यक्त किया जाय।

( ग ) इस शैलीमें कथा कहनेवालेका चरित्र-चित्रण करना बड़ा कठिन होता है क्योंकि नायक स्वयं अपने विषयमें यह नहीं कह सकता कि 'मैं कितना श्रेष्ठ हूँ।' उसे अपनी क्रियाओं और विचारोंके द्वारा यह समझाना पड़ेगा कि 'वह वास्तवमें श्रेष्ठ है' इसलिये पाठकको बड़े घुमा-फिराकर कथा-वक्ताके सम्बन्धमें धारणाका निर्माण करना पड़ेगा और वह भी ऐसी चतुराईके साथ कहा जाना चाहिए कि पाठक उसे ज्योंका त्यों स्वीकार न कर ले, वरन् उसके आधारपर धारणा बना सके।

( घ ) यदि कथा-वक्ता कोई सुन्दर कथा कहता हो तब पाठक यह भी प्रश्न कर सकता है कि 'वह बालक या शिल्पी इतनी अच्छी कथा कह कैसे सकता है?' क्योंकि सब प्रकारके पात्रोंसे तो यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अत्यन्त कलात्मक भाषामें सम्पूर्ण प्रभावोंसे युक्त शैलीमें कथा कह सकेंगे। इस बातसे पाठकके मस्तिष्कमें अविश्वास उत्पन्न हो सकता है किन्तु यह एक ऐसी मान्य रूढि बन गई है कि पाठक इस बातपर विश्वास कर ही लेता है कि 'टूटे हुए जलपोतका नाविक रौबिन्सन क्रूसो अच्छा कथा-वक्ता भी है।'

सात्त्विक या अन्तर्भावात्मक कथा कहने या उत्तमपुरुषमें कथा कहनेका एक यह भी ढङ्ग है कि किसी निम्न कोटिके पात्रसे कथा कहलाई जाय, नायकसे नहीं। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह है कि वह निम्न कोटिका पात्र नायकके बाह्य पक्षका भी वर्णन कर सकता है और नायकके साथ रहकर

उसके साहसपूर्ण कृत्योंका भी विवेचन कर सकता है। जहाँ विशेष रूपसे नायक कोई अद्भुत पुरुष हो, वहाँ तो यह सात्विक दृष्टिकोण अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि लौर्ड जिम् जैसे व्यक्तिके लिये आत्म-प्रसंशा करना सर्वथा अनुचित ही होगा। पुलिस-रहस्यात्मक उपन्यासमें डाक्टर वाट्सन यही काम करते हैं, जिसे समीक्षयवादियोंने आदर्श दर्शक ( आइडियल स्पेक्टेटर ) कहा है।

तीसरी प्रणाली यह है कि 'कथा कई पात्रोंसे कहलाई जाय और प्रत्येक पात्र उस कथाके अलग अङ्गोंका वर्णन करें।' इस प्रकारकी कथाके भी लाभ अत्यन्त स्पष्ट हैं क्योंकि इससे पूरी कथा स्वाभाविक रूपसे कह दी जा सकती है। इसमें केवल एक दोष है कि सम्बन्ध कभी-कभी विच्छिन्न हो जाता है, जबतक कि कथानक अत्यन्त सशक्त न हो और विभिन्न अनुभवोंके परिणाम स्वाभाविक न हों।

### दृष्टिकोण : बाह्य

बाह्य दृष्टिकोणको यदि व्यापक अर्थमें लें तो उसकी परिधि बड़ी विस्तृत प्रतीत होगी। कोई भी उदात्त मस्तिष्क कथासे बाहर रहकर उस कथाके सब पात्रोंको समान दूरीसे देखता है। वह त्रिकालज्ञ देवता बनकर भूत, भविष्य और वर्त्तमान सब जानता है और अपने सब पात्रोंके गुप्त विचारों और भावनाओंको भी जानता है। उसे यह भी बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि अपने पात्रोंके सम्बन्धमें उसे यह रहस्य ज्ञात कैसे हुआ। उसके कान कुछ बात कहनेके पहले ही सुनते और उसकी आँखें बन्द द्वारों और अन्धकारमें देख सकती हैं। इस दृष्टिकोणका नाम दैवी ( ओलिम्पियन ) दृष्टिकोण है।

इस दैवी ( ओलिम्पियन ) दृष्टिकोणका मुख्य दोष यही है कि वक्ता दृश्यसे कुछ दूर होकर देखता है। इसीलिये इसमें न तो सूक्ष्म-दृश्यता होती है और न आत्मीयताकी ही कोई भावना होती है।

इन दोषोंके परिहारके लिये एक और भी बाह्य दृष्टिकोण है, जो कथा कहनेवालेकी ओलिम्पियन शक्तियोंका परिसीमन करता है। इस दृष्टिकोणसे पाठक कथा-व्यापारके स्थानके निकटतर पहुँच जाता है। यह सीमा और भी आगेतक बढ़ाई जा सकती है और बाह्य कथा इस प्रकार कही जा सकती है मानो उस कथाके

पात्रोंमेंसे किसी एक ही व्यक्तिने देखी हो। इस प्रकारके बन्धनमें ओलिम्पियन दृष्टिकोणके तथा सात्त्विक दृष्टिकोणके लाभ भी आ जाते हैं। इसमें एक और प्रकारसे भी कथा कही जा सकती है। कथा कहनेवाला अपनी सब दैवी शक्तियोंका त्याग करके केवल इतनी ही बात कहे, जितनी बाह्य रूपसे उन घटनाओंके साक्षीके रूपमें कही जा सकती हो क्योंकि अलग खड़ा हुआ व्यक्ति निर्लिप्त होता है और उतनी ही बातें कहता है जितनी उसने देखी या सुनी हों। वह उसके सम्बन्धमें अपनी कोई सम्मति नहीं देता, न यही बताता है कि पात्रोंके मनके भीतर क्या हो रहा है जैसे कि मोपासाँकी एक कथामें पाठकपर ही यह छोड़ दिया गया है कि वह कथाकी घटनाओंसे स्वयं परिणाम निकाल ले।

पाठक और लेखकमें तब मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और व्यक्तिगत भावना जुड़ जाती है, जब लेखक यह स्वीकार कर लेता है कि 'मैं स्वयं कथा सुना रहा हूँ और इसमें जितनी सम्मति और टिप्पणी है, वह सब मेरी है।'

संसर्पणशील दृष्टिकोण

एक तीसरा दृष्टिकोण भी होता है, जिसे संसर्पणशील दृष्टिकोण ( शिफ्टङ्ग व्यू प्वाइन्ट ) कहते हैं। इसमें एक ही कथा या पुस्तकमें ऐसे अनेक दृष्टिकोण उपस्थित किए जाते हैं जिन्हें कभी तो लेखक अनजाने उपस्थित कर देता है और कभी साधारण पाठक ही उसपर ध्यान नहीं देता। ई०एम० फोर्स्टरने कहा है कि 'इस दृष्टिकोणके संसर्पणसे लेखकमें यह शक्ति आती है कि वह अपने पाठकोंको यह 'विश्वास दिला दे कि मैं जो कह रहा हूँ वह सत्य है।' डिकेन्सके ब्लीक हाउसका प्रथम अध्याय ओलिम्पियन दृष्टिकोणसे लिखा गया है, मानो कोई देवता न्याय-सभाके समक्ष सबका वर्णन कर रहा है। दूसरा अध्याय अर्ध-दैवी है, जिसमें दृश्य-सूक्ष्मताकी सीमा बँधी हुई है। तीसरा अध्याय उत्तमपुरुष या सात्त्विक दृष्टिकोणसे लिखा गया है, किन्तु इस प्रकारका संसर्पण या परिवर्त्तन पाठक समझ नहीं पाता क्योंकि डिकेन्स पाठकको धुआँधार कुदाता ले चलता है।

'डौक्टर जेकिल एन्ड मिस्टर हाइड' शुद्ध बाह्य दृष्टिकोणसे लिखा गया है किन्तु उसका अन्तिम अध्याय, जिसमें अपराध-स्वीकृति है, उसमें यह

दृष्टिकोण उत्तम पुरुषमें पहुँच गया है। अतः कभी-कभी पाठकको इस दृष्टिकोणके परिवर्त्तनसे अत्यन्त शान्ति मिलती है और यह शान्ति पाठमें ही किसी पत्र या सन्देशका प्रयोग लाकर पूर्ण की जा सकती है। इस कौशलसे एक और नई बात होती है कि यदि कथा बाह्य हो तो उससे उत्तम-पुरुषको शान्ति मिलती है।

संसर्पणशील दृष्टिकोणमें यह भी शक्ति होती है कि वह पाठककी दृश्य-परिधिको विस्तृत या सङ्कुचित कर दे और इस प्रकार उसे दृश्यके पास या दूर पहुँचा दे। इस प्रकारके प्रयोगसे लेखमें जीवन आ जाता है और पाठक कहीं तो यह समझने लगता है कि मैं स्वयं कथामें भाग ले रहा हूँ और कहीं यह अनुभव करता है कि मैं दूर खड़ा हुआ हूँ, उपस्थित नहीं हूँ। ऐसे बहुत कम पाठक हैं जो इस प्रकारके दृष्टिकोण-परिवर्त्तनको समझ सकते हैं। अन्य कौशलोंके समान यह कौशल भी अनजाने ही अधिक प्रभाव करता है।

श्येन सिद्धान्त ( फ़ालकेनथियरी )

पौल हेसेने अपने 'ड्यूटशेर नौवेलेनशात्स'के प्रथम संस्करणके प्रथम खण्डकी भूमिकामें उपन्यासके लिये एक नया 'श्येन सिद्धान्त' ( फ़ालकेन-थियरी ) निर्धारित किया था। डैकामेरनके पाँचवें दिनकी नवीं कथामें दिया है कि 'अपनी धनी प्रेयसीका प्रेम प्राप्त करनेमें असफल होकर जब वह पूर्ण दरिद्र हो जाता है, तब उसके पास केवल उसका प्यारा बाज़ या श्येन रह जाता है। इसे भी वह अपनी प्रियतमाके सत्कारके लिये मार डालता है और इस प्रकार उसका हृदय पिघलाकर उससे विवाह कर लेता है।' इस कथाके आधारपर हेसेने श्येन या बाज़को उस अप्रतिम या प्रत्यक्ष प्रतीकके रूपमें मान लिया है अर्थात् उस 'स्टार्के सिलहूटी'के रूपमें जो अन्य उपन्यासोंकी अपेक्षा अपने पाठकके ऊपर अमिट छाप डाल देता हो। उसके अतिरिक्त यह श्येन या बाज़ उपन्यासकी कथाका वह स्थल है, जहाँसे कथाका प्रवाह घूमता है, जिसे जर्मन समीक्ष्यवादियोंने 'वेन्डेपुक' कहा है।

कथा-केन्द्र

उपन्यास नाटक या कथामें प्रायः किसी ऐसे स्थलसे सीधा कार्य प्रारम्भ जाता किया है, जो अत्यन्त प्रभावशाली हो। प्रायः महाकाव्य भी कथाके बीचसे प्रारम्भ करते हैं और आगे चलकर पिछली कथा देते हैं। इस कौशलको प्रत्यावर्त्तन कौशल कहते हैं।

## खूँटा ( क्लाउ )

फ्रान्सीसी भाषामें इस मुख्य घटनाको 'क्लाऊ' या खूँटा कहते हैं जो किसी उपन्यास या नाटक या कथाकी उस परिस्थितिके लिये प्रयुक्त होता है, जिसपर सम्पूर्ण कथा या शेष कथा लटकती है या जिसपर श्रोता या पाठक साँस रोककर उत्सुकता-पूर्वक उसके परिणामके लिये लटके रहते हैं। इसे हम साधारणतः 'चरमोत्कर्ष' या 'उत्पादक परिस्थिति' कह सकते हैं।

## प्रत्यावर्त्तन कौशल ( फ्लैशबैक या कटबैक टेकनीक )

प्रायः चलचित्रोंसे यह कौशल ले लिया गया है जो पहले जासूसी कहानियोंमें था कि नाटकका आरम्भ किसी विशेष घटनाके परिणाम या मध्यसे जैसे किसी विशेष अपराध, बन्दीकरण या न्यायालयसे होता है और फिर सहसा वह अध्याय समाप्त करके उससे पहलेकी वह घटना या वे सब सम्बद्ध घटनाएँ शीघ्रतासे वर्णन कर देते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप मुख्य कथा-व्यापार प्रारम्भ हुआ था। कभी-कभी जब कोई पात्र अपनी पिछली घटना सुनाना चाहता है या स्मरण करने लगता है तब भी उसका प्रयोग किया जाता है।

## उपन्यासके सिद्धान्त

बहुतसे आचार्योंने इस बातपर विस्तारसे विचार किया है कि 'उपन्यासोंकी रचनामें कितनी बातें अत्यन्त आवश्यक हैं, जिनसे उपन्यास सजीव हो सकता है।' इसीको आधार बनाकर उन्होंने विस्तारसे कुछ नियम निर्धारित किए हैं। उनका कहना है कि 'उपन्यासमें सत्यता या सत्यतुल्यता होनी चाहिए, न्याय होना चाहिए, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा और परिस्थितिका कुतूहलपूर्ण संयोग होना चाहिए, स्थानीय चित्रण होना चाहिए, चरमोत्कर्षके स्थलका निर्वाह होना चाहिए और भविष्यवाणी होनी चाहिए।' कुछ लोग इसमें यह भी जोड़ते हैं कि 'इसमें जनसाधारणका चित्रण हो, दलितों और पीड़ितोंके साथ सहानुभूति दिखाई जाय और शिक्षा भी दी जाय, जिससे मनुष्य आत्मचेतन होकर विश्वमें अपना स्थान निश्चित करे।' अस्तित्व-वादियोंका यही सिद्धान्त है।

## सात प्रश्न

पियरे आबेलार्द ( १०७९ से ११४२ ) के समयसे अधिकांश भाषण-

शास्त्रियोंने विशेषतः मध्यकालीनवालोंने यह कहा है कि 'प्रत्येक कथाके प्रारम्भमें ही निम्नलिखित सात प्रश्नोंका उत्तर मिलना चाहिए—

१. कौन ? २. क्या ? ३. कहाँ ? ४. कैसे ? ५. क्यों ? ६. किन उपायोंसे ? और ७. किस ढङ्गसे ?' अन्तिम दो प्रश्नोंके लिये' 'कब' प्रश्न डालकर वर्त्तमान पत्रकारिताके सम्प्रदायवाले भी उपर्यङ्कित बातें ही मानते हैं। किन्तु उपन्यासके लिये यह नियम मान्य नहीं है क्योंकि उसमें किसी भी बातका ठीक उत्तर प्रारम्भमें दे देनेसे उसकी हत्या हो जायगी; अतः यह सात प्रश्नोंवाला सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है।

### उपन्यासमें सत्य

उपन्यासमें लेखक जीवनकी घटनाओंका अनुकरण करके सत्य खोजता है। स्टीवेन्सनने कहा है कि 'जब मैंने किसी पुस्तकमें कोई अविश्वसनीय घटना पढ़ी, तब मैंने यह विश्वास कर लिया कि यह किसी वास्तविक घटनाका ही दूसरा रूप है।' यथार्थवादी तथा प्रमाणपूर्ण उपन्यासवाले जब अपने उपन्यासोंमें किन्हीं अभियोगोंका वर्णन करते हैं, तो वे वास्तविक व्यक्तियोंका नाम लेते हैं। इससे इनकी बिक्री भले हो जाय किन्तु उनकी कृतिकी कलात्मक सत्यताके लिये असङ्गत हो जाता है। चाहिए तो यह कि वह सदा हममें 'जानबूझकर अपने अविश्वासको दूर रखनेकी वृत्ति' ( विलिङ्ग सस्पैन्शन औफ़ डिसबिलीफ़) उत्पन्न करे जैसा कौलरिजने कहा था। कीथने एक समाधान किया है कि 'कामेदी फ्रान्शेकी अपेक्षा पुतलीका नाच क्यों अधिक विवेकपूर्ण लगता है ? इसलिये कि वह वास्तविकतासे और भी दूर हट गया। उसमें इतना विश्वासजनक तत्त्व है कि आपको विचार-सङ्घर्ष करना ही नहीं पड़ता।' हम यह बात मान लेते हैं, यद्यपि उनका तर्क हमें स्वीकृत नहीं है। मोटे ढङ्गसे सत्यकी चार श्रेणियाँ हैं, जो उपन्यासोंमें दिखाई जाती हैं—१. असम्भव, २. अविश्वसनीय, ३. विश्वसनीय और ४. अपरिहार्य। इनके अतिरेकमें ही सौन्दर्य आता है। आजकल वे ही प्रेम-कथाएँ अधिक बिकती हैं जो अधिक अविश्वसनीय होती हैं या जो यथार्थवादी दृष्टिसे सम्भव कहानियाँ हैं। किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें हैं ( गुलिवर्स ट्रैविल्स जैसी), जो केवल असम्भव हैं, उनमें अपरिहार्य शृङ्खलामें बँधे हुए आवयविक ढङ्गके बदले अपराध और आध्यात्मिकताका निरूपण होता है।

### न्यायकी भावना

सब प्रकारके काल्पनिक उपन्यासों या साहित्य-रचनाओंमें न्यायकी भावना सदा निहित रहती है। यह बात क्लटन-ब्रोक (१८६८ से १९२४ तक) ने सम्भवतः सबसे पहले कही थी—'यदि कविताका प्रधान गुण प्रेम है तो गद्यका प्रधान गुण न्याय है। जहाँ प्रेम आपको तत्क्षण कुछ कहने या करनेके लिये प्रेरित करता है, वहाँ न्याय चाहता है कि आप जाँच करें, धैर्य रक्खें और शान्तिके साथ विचार करें।' कुछ लोग इस मतके विरोधी हैं। क्विलर काउचने कहा है 'मैं इस बातको कुछ भिन्न ढङ्गसे समझाना चाहता हूँ और भिन्न शब्दोंका प्रयोग भी करना चाहता हूँ। क्लटन ब्रोकके 'प्रेम' शब्दके बदले में 'अत्यन्त विवशकारी भाव' ठीक समझता हूँ और गद्यका प्रथम गुण 'न्याय'के बदले 'सन्तोष' या 'मनवानेकी वृत्ति' (परसुएशन) ठीक समझता हूँ, चाहे वह गद्य-कथाके रूपमें हो या तर्कके रूपमें।' ऐसे बहुतसे लोग हैं जो समझते हैं कि 'निबन्ध, विशेषतः प्राकृतिक निबन्ध न्यायके कम्बलसे पूर्णतः ढका नहीं रहता।' कल्पनात्मक साहित्यकी एक भी कृति वीरकाव्यसे लेकर लघुतम कहानीतक ऐसी नहीं है, जो उसकी सीमासे बाहर हो। यह सब उपन्यासोंमें यहाँतक कि प्राच्य उपन्यासोंमें, ईसपकी गद्य-आख्यायिकाओंमें, परियोंकी कहानियोंमें तथा वोल्तेयाके शिष्ट व्यंग्योंमें भी उपस्थित है।

न्यायको पुलिस या कचहरीकी क्रियामात्रसे कुछ अधिक समझना चाहिए। यह एक मानवीय गुण है जो मानवीय दुर्बलताओं और दुर्गुणोंसे पराभूत है। यह नैतिक भावना उन विवेक, सत्य, स्पष्टता आदि गुणोंसे सम्बद्ध है, जिनसे चरित्रकी श्रेष्ठताका निर्माण होता है। उसका अभाव ही निरंकुश राजा और गुण्डोंकी सृष्टि करता है। न्याय सदा अभावका पक्ष लेता है, बुराइयोंसे युद्ध करता है और उच्च श्रेणीके उपन्यासोंका सबसे प्रधान गुण है। इससे भी आगे बढ़कर बड़े-बड़े महाकाव्यों, त्रासदों आदिपर भी वह शासन करता है, जो आद्यन्त इस गुणसे व्याप्त रहते हैं। काल्पनिक गद्यकथाकी शैली और न्यायके गुणमें एक निश्चित सम्बन्ध है। जहाँ न्याय ऊँचा होता है, वहाँ गद्य-शैली महत्त्वकी नहीं होती। जहाँ न्याय शिथिल होता है, वहाँ शैली महत्त्वकी हो जाती है। इसीलिये बड़े परिमाणकी साहित्यिक कृतियोंमें बीच-बीचमें सुन्दर शैलीका अभाव हो जाता है। जान-बूझकर उत्पन्न किया हुआ सौन्दर्य न्यायकी सीमासे बाहर पड़ता है। न्यायके नाटकीय और त्रासदीय

भावको काव्यात्मक लेख, सुन्दर, अलंकृत वाक्य और वाक्केलि-युक्त पद दुर्बल और नष्ट कर देते हैं। किन्तु जो महत्तम कला होती है, उसमें सौन्दर्य और न्याय दोनों मिल जाते हैं। कोनराडने रचनात्मक लेखकी परिभाषा यह बताई है—'स्वयं कलाको हम दृश्य संसारके सम्मुख उच्चतम प्रकारका न्याय उपस्थित करनेका एकाकी मानसका प्रयास कह सकते हैं।'

## गीत-रूप ( सोनाटा फ़ॉर्म )

जैसे सङ्गीतके लिये ए० बी० ए० शैलीका निर्माण हुआ उसीसे मिलता-जुलता साहित्यमें भी एक तीन खण्डका रूप चला, जिसमें मध्य गति मन्द होती है। इसके लिये छोटी कहानियोंमें तो उसके दो क्रिया-खण्डोंके बीच एक शान्ति या स्वप्न होता दिखाया जाता है, जो या तो कल्पना-चिन्तन ( फ़ैन्टेसी ) हो या अलौकिक दृश्यका वर्णन हो। इसका उद्देश्य यही है कि कथाको गम्भीरता प्रदान कर दी जाय। साधारणतः यह रचनात्मक दृष्टिसे उतना विचारणीय नहीं है, जितना भाव और प्रभाव ( मूड और टेम्पो ) की दृष्टिसे। यही उपन्यासमें विश्राम या अन्तराल ( पौज़ ) कहलाता है।

## विश्राम या अन्तराल

उपन्यासमें एक ऐसा स्थान आता है, जहाँ लेखक सहसा रुककर या तो चरमोत्कर्षके लिये या उसका प्रतिरूप प्रदर्शित करनेके लिये तैयारी करता है। पाठकको एक दृश्यसे दूसरे दृश्यपर पहुँचानेके लिये इस प्रकारके विश्रामकी आवश्यकता होती ही है। इस शान्त अन्तरिम कालमें लेखक चाहे तो समयका व्यतीत होना निर्दिष्ट कर दे या तुलनाके लिये इस विश्रामकालमें वर्णनको सुन्दर बनाकर या कोई लम्बी व्याख्या करके व्यवधान प्रस्तुत कर दे। इस विश्रामसे पाठकको यह अवसर मिल जाता है कि वह पिछली आवृत्ति करके छूटे हुए तन्तुओंको जोड़ ले और जो कुछ हो रहा है या होनेवाला है उसके लिये पूर्णतः जागरूक और सन्नद्ध हो जाय। यही मनोवैज्ञानिक क्षणकी अवस्था होती है।

## मनोवैज्ञानिक क्षण

किसी नाटक या उपन्यासमें वह स्थल, जहाँ दर्शक या पाठक किसी विशेष घटनाकी आशा करता है और वह घटना उसी समय हो भी जाती है, उसे मनोवैज्ञानिक क्षण कहते हैं। यहींसे उत्कण्ठित प्रत्याशा प्रारम्भ हो जाती है।

## उत्कण्ठित प्रत्याशा ( पौएज़्ड एक्स्पेक्टेन्सी )

उत्कण्ठित प्रत्याशा उपन्यासके उस स्थलमें होती है जहाँ ग्राहक या पाठक आकस्मिक और नाटकीय दुर्घटनाके बीच धुकधुकीके साथ आनेवाले परिणामकी प्रतीक्षा करता है। प्रायः सभी उपन्यासकारोंने पाठककी रुचि जागरित करने और बाँधे रखनेके लिये इसका प्रयोग किया है। इसके दो मुख्य रूप हैं—१. एक तो वह जिसका फल अनिश्चित रहता है और २. दूसरा वह, जिसमें फल तो पहलेसे कल्पित कर लिया जाता है किन्तु इसी बातकी उत्कण्ठित प्रतीक्षा होती है कि 'देखें वह फल कब होता है।' इनके अतिरिक्त ३. तीसरी दयनीय उत्कण्ठा ( आयरनिक सस्पेन्स ) भी होती है जिसमें ग्राहक या पाठक तो नायकपर आनेवाली विपत्तिको पहलेसे जान लेता है किन्तु स्वयं नायक नहीं जानता है। नाटकीय दयनीयता ( ड्रैमेटिक आयरनी ) इसीका मध्यम मार्ग है, जिसमें कभी-कभी हम पूर्णतः समझ बैठते हैं कि नायकपर विपत्ति आने ही वाली है, उसी समय सहसा कोई दैव-प्रेरित घटना उसे बचा देती है या कभी कभी कोई दुर्घटना सहसा होते-होते अन्त समयमें दूर हो जाती है। ये सब स्थितियाँ उत्कण्ठित प्रत्याशाकी ही हैं। उपन्यासमें उनका जितना कौशलपूर्ण प्रयोग होगा उतना ही वह अधिक आकर्षक और मोहक प्रतीत होगा। इस दशाके लिये ही उपन्यासमें 'परिस्थिति'की रचना की जाती है।

## परिस्थिति

किसी कथामें किसी स्थलपर घटनाओंका मेल ही 'परिस्थिति' कहलाता है। यद्यपि यह परिस्थिति उपन्यास या नाटकमें कहीं भी हो सकती है किन्तु आधारभूत कथा-प्रधान परिस्थिति क्रमशः १. वह है, जिसमें सङ्घर्षकी उत्पत्ति होती है और २. पराकाष्ठाकी परिस्थिति, जिसकी ओर सब घटनाएँ चलती हैं। बहुतसे लोगोंने इन आधारभूत परिस्थितियोंको कथा-सामग्रीका आधार मानकर बड़े विस्तारसे इसे अनेक भागोंमें बाँटा है। पराकाष्ठाकी परिस्थितियोंसे चरमोत्कर्षकी सृष्टि होती है।

## चरमोत्कर्ष ( क्लाइमेक्स )

किसी कथामें वह कार्य या कार्यका क्षण चरमोत्कर्ष कहलाता है, जिससे कथाकी धारा सहसा वेगपूर्ण घुमाव लेकर एक ओर बह चलती है जिससे

कथा-धाराका परिवर्त्तन ( रिवर्सल ) निश्चित हो जाता है। इसे ही कथा या नाटकीय द्वन्द्वका निर्णायक क्षण माना जाता है। पाँच अङ्कके नाटकमें प्राय: तीसरे अङ्कके अन्तमें यह क्षण उपस्थित किया जाता है जैसे 'हैमलेट' में 'खेलका दृश्य' या 'औथेलो' में दोषारोपणवाला दृश्य या टौमसी टौमस हार्डीके 'टेस' नामक उपन्यासके चौंतीसवें अध्यायके अपराध-स्वीकरणवाली घटना। ऐसे दृश्योंके लिये जो चरमोत्कर्षका प्रयोग होता है इसका तात्पर्य यह है कि उसके आगे जो होनेवाला है वह वास्तवमें ठीक उसका उलटा ( एन्टीक्लामेक्टिक ) होता है। कभी-कभी लेखक घटनाकी सुलझन ( डिनूवमेन्ट ) इस प्रकार धीरे-धीरे करना चाहता है कि दर्शकोंकी उत्सुकता चढ़ती-गिरती रहे, जिससे कि अन्तिम यवनिका-पतनसे पूर्व दर्शकोंकी रुचि शिथिल न पड़ जाय, जैसे कालिदासने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकके सप्तम अङ्कमें दुष्यन्त और शकुन्तलाके मिलनके लिये प्रयोग किया है। आजकल पाठक और दर्शकोंके अधैर्यके कारण यह सहसा होनेवाला कार्य छोटा कर दिया है, विशेषत: चलचित्रके प्रारम्भसे। आजकल जो जासूसी रोमाञ्चकारी, त्रासद, भूत-प्रेतादिवाले और इस प्रकारके भयानक उपन्यास और तीन अङ्कके नाटक चले हैं, वे भावोंका तनाव अन्ततक ले चलते हैं और उनमें जहाँपर निर्णयात्मक अवस्था या चरमोत्कर्ष आ जाता है, वहीं सङ्घर्ष समाप्त हो जाता है और कथा भी वहीं समाप्त हो जाती है। इसीलिये चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) शब्दका प्रयोग जो अन्तसे पहले किसी घटनाके लिये किया जाता है, वह वास्तवमें ऐतिहासिक मात्र है। कुछ रचनाओंमें के चरमोत्कर्ष उन छोटे-छोटे चरमोत्कर्षोंके भी द्योतक हैं, जो अन्तिम चरमोत्कर्षमें सहायता देनेके लिये बीच-बीचमें आ जाते हैं। किन्तु इस प्रकारकी रचनाएँ घटना-बहुल ( एपिसोडिक ) होती हैं, जो महाकाव्य या प्रबन्ध काव्यमें उचित हो सकती हैं, उपन्यास या नाटकीय रूपमें नहीं। इस चरमोत्कर्षको शुद्ध करनेके लिये लोग प्रवृत्ति प्रयोग करते हैं।

### प्रवृत्ति ( मोटीवेशन )

प्रवृत्ति ( मोटीवेशन ) वह परिस्थितियोंका समन्वय या समन्वय करनेकी कला है, जो अतीतकी घटनाओंको विवेकपूर्ण आधार देकर पात्रोंके कार्योंको प्रशंसनीय बना देती है। किसी कथाके मुख्य उत्तेजनात्मक सङ्घर्षके

कारणको या किसी व्यक्तिकी प्रकृतिके अनुसार काम करनेवाली भावनाको भी प्रवृत्ति कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उसमें घटनाओं और कार्योंका संयोग ठीक है अर्थात् पाठक यह मानता चलता है कि 'यदि ऐसा व्यक्ति हो और ऐसी परिस्थितियाँ हों तो निश्चित रूपसे उसका स्वाभाविक परिणाम यही होगा।' कुछ छोटे-मोटे विनोदपूर्ण कथानकोंमें श्रोता या पाठक अनुभव करता है कि कोई ऐसी बात होनी ही चाहिए जिससे उपन्यास या नाटककी गति उचित रूपसे संचालित प्रतीत होती हो। इस गतिशीलताको तीव्र करनेके लिये कुछ लोगोंने भविष्य-सङ्केत या भविष्यवाणीका प्रयोग भी किया है।

### भविष्य-सङ्केत (प्रौमिस)

जैसे नाटकमें पताका-स्थानक होता है अथवा कोई ऐसा सङ्केत दे दिया जाता है, जिसके आधारपर दर्शकका कुतूहल बना रहता है और जैसे कवितामें भी कुतूहल-वृत्तिकी स्थापना की जाती है, वैसे ही उपन्यासोंमें रुचिको उकसानेके लिये और एकाग्रता स्थापित करनेके लिये भविष्य-सङ्केतका प्रयोग किया जाता था। यह भविष्यका सङ्केत जितना ही तीव्र होगा, उतनी ही पाठककी उसमें रुचि होगी। कौनराडने अपने उपन्यासोंमें कहीं-कहीं इसका ऐसा प्रयोग किया है कि कभी-कभी तो पृष्ठके-पृष्ठ तीव्र उत्सुकता तथा भावावेगके साथ पढ़ जाने पड़ते हैं। इसीलिये कुछ लोगोंने इसे 'कौनराड-ज्वर' (कौनराड फ़ीवर) कहा है। किन्तु साधारणतः उपन्यासोंमें छोटे-छोटे सङ्केत दिए जाते हैं और उनका पालन भी होता है, नहीं तो पाठकका विश्वास ही उठ जाय। पाठकका कौतूहल जगाए रखनेके लिये कुछ उपन्यासकार यह भी करते हैं कि जब एक प्रतिज्ञा पूरी हो जाती है तो उसके साथ दूसरी दो-तीन जोड़ देते हैं। ड्यूमाके उपन्यासोंमें अनेक अध्याय ऐसे हैं जिनके अन्तमें इस प्रकारके कुतूहल-सङ्केत बने रहते हैं। 'दि ब्रदर्स कारामाज़ोव (खण्ड ११ अध्याय ८) में अन्तिम पंक्ति यह है—'स्पष्टतः कोई बात, कोई वस्तु वहाँ ऐसी थी कि उसे तङ्ग किए हुए थी, कष्ट दे रही थी और उलझन उत्पन्न कर रही थी।' पाठक यही देखनेके लिये आगे पढ़ता चला जाता है कि 'यह विचित्र वस्तु क्या हो सकती है' और अन्तमें पाठक देखता है कि 'वह उस राक्षसकी ही छाया थी।' अतः भविष्य-सङ्केत या सङ्केत-वचन वास्तवमें कुतूहलका तत्त्व है। कभी-कभी इस प्रकारका सङ्केत केवल एक व्यञ्जना-

मात्र होता है जिसमें सङ्केतसे भी अधिक इतनी सामग्री भरी रहती है कि पाठक कभी निराश नहीं होते ।

भविष्यवाणी ( प्रोफ़ैसी )

उपन्यासमें और विशेषतः नाटकमें भविष्यवाणी केवल भविष्यके लिये वचन देने-मात्रका काम नहीं करती, वरन् तत्सम्बद्ध उन शक्तियोंकी सार्वभौमिकताका परिचय देती है जो मनुष्यकी पहुँचसे परे हैं जैसे अदरवर्ल्डली ड्रामामें । इसमें चार बातें हो सकती हैं—

१. भविष्यमें होनेवाली घटनाके लिये साधारण सङ्केत, जो किसी प्रकार व्यवस्थित करके पूरा किया जाता है जैसे जूलियस सीज़रमें—'मार्चके मध्यसे सावधान ।'

२. जो कार्य पहले हो चुका है उसकी सूचना, जिसका शनैः-शनैः उद्‌घाटन ही कथाका विकास होता है जैसे 'ओडिपस ।'

३. ऐसा वचन जो सुननेमें सुन्दर हो किन्तु आशामें मिथ्या हो जैसे—चुड़ैलका वचन या कथन कि 'स्त्रीसे उत्पन्न कोई पुरुष मैकबेथको हानि नहीं पहुँचा सकता ।'

४. ऐसी भविष्यवाणी, जो स्वतः अपनेको सत्य करा देती है जैसे—लेडी मैकबेथके होते हुए चुड़ैलके वचन घटनाओंको इस प्रकार चलाते हैं कि वे सत्य हो जाती है । इनमेंसे अन्तिम प्रकार सबसे अधिक नाटकीय होते हैं किन्तु इसके उदाहरण कम मिलते हैं ।

विनोद-तत्त्व

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'भयानक रोमाञ्चकारी उपन्यासोंके भावोंका तनाव बीच-बीचमें शिथिल करनेके लिये ऐसे व्यक्तियों, दृश्यों या स्थलोंका वर्णन देते रहना चाहिए जो कथासे पूर्णतः सम्बद्ध हों और जिनके कारण विनोद हो । यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह प्रयोग अत्यन्त वाञ्छनीय है किन्तु इसमें इतना भय अवश्य बना रहता है कि कहीं रसभङ्ग या रस-विरोध होनेसे कथाका प्रभाव ही समाप्त न हो जाय । अतः उचित यही है कि विनोद-तत्त्वका प्रयोग चरमोत्कर्ष ( क्लाइमैक्स ) से पहले ही हो जाना चाहिए, उसके पश्चात् नहीं ।

### उपन्यासका प्रारम्भ

उपन्यासका प्रारम्भ करनेके अनेक कौशल प्रसिद्ध हैं—

१. स्थान, काल, युग आदिका वर्णन करके, २. किन्हीं व्यक्तियोंके सम्वादसे, ३. आकस्मिक घटनाकी सूचना आदिसे। प्रायः इनमेंसे प्रथम प्रणालीका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली प्रणाली यह है कि किसी आकस्मिक तथा सहसा मनको आकृष्ट करनेवाली घटनासे ही प्रारम्भ कर दिया जाय, जिससे प्रारम्भसे ही पाठक उसमें दत्तचित्त हो जाय।

### उपन्यासका अन्त

कुछ लोगोंका मत है कि 'उपन्यासका अन्त नाटकीय ढङ्गसे सहसा हो जाय जिसे पढ़कर पाठक 'हाय' या 'वाह' कर उठे।' इस प्रकारके अन्तको नाटकीय या आकस्मिक अन्त ( ड्रैमेटिक या सडन ऐन्ड ) कहते हैं। किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि 'उपन्यासका अन्त सङ्घर्षके पश्चात् पूर्णतः शान्त रूपमें हो, जिसे स्थिर अन्त ( स्टैटिक एन्डिग ) कहते हैं।' कुछका मत है कि 'उपन्यासके अन्तमें जो परिणाम दिखाया जाय, उसका विवेकपूर्ण समर्थन करके पाठकको यह विश्वास दिला दिया जाय कि जो परिणाम दिखाया गया है वह न्यायकी दृष्टिसे तथा घटना-संयोगकी दृष्टिसे पूर्णतः सङ्गत और उचित है।'

### भाषा-शैलीका महत्त्व

उपन्यासोंमें भाषा-शैलीका बड़ा महत्त्व है क्योंकि उनमें भाषा-शैलीके द्वारा ही कथाका प्रवाह चलाया जाता है, पात्रोंका चरित्र-वर्णन किया जाता है तथा सम्वाद कराए जाते हैं। भाषा-शैलीके विवेचनमें और सम्वाद-शैलीके विवेचनमें हम इन दोनोंका परिचय दे आए हैं। इस सम्बन्धमें केवल यही बात ध्यान देने योग्य है कि ( क ) सम्वाद प्रत्येक पात्रकी योग्यता, मनः-स्थिति और परिस्थितिके अनुकूल हो, ( ख ) वर्णन उतने ही हों, जितने कथाके प्रवाहको आगे बढ़ाने तथा पात्रोंका चरित्र स्पष्ट करनेमें योग देते हों, ( ग ) वर्णनकी भाषा-शैली सरल, और सुबोध होते हुए सूक्तिपूर्ण और व्यञ्जना-प्रधान हो। ( घ ) उपन्यासकारको स्वयं सब बातें न कहकर बहुत कुछ इस प्रकार कहनी चाहिए कि पाठक सरलतासे उसका स्वयं ज्ञान

प्राप्त कर सके और स्वयं परिणाम निकाल सके। (ङ) विशेष बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि वर्णनोंकी आवृत्ति न हो और अनावश्यक रूपसे भाषा-शैली दुरूह न की जाय क्योंकि ऐसा करनेसे पाठकका जी ऊब जाता है और अत्यन्त सुन्दर कथा भी अग्राह्य हो जाती है। इस सम्बन्धमें आचार्योंने यह विचार किया है कि 'वर्णनकी क्या सीमा हो ?'

## वर्णन

किसी उपन्यासमें वर्णन केवल समय, स्थान या समाजके सामाजिक वातावरणका ही चित्रण उपस्थित नहीं करता, वरन् वह कथाके पात्रोंका भी परिचय देता है और कथावस्तुकी प्रगतिके मार्गमें आनेवाली बाधाओंका भी निराकरण करता चलता है। अर्थात् वर्णनसे कथाको शरीर ही नहीं प्राप्त होता, वरन् वह उस अविश्वाससे भी जानबूझकर दूर रखनेमें सहायता करता है, जो इस अनन्त काल और अनन्त स्थानके संसारमें बाह्य सत्यता स्थापित करता है।

यह वर्णन या तो सीधा होना चाहिए या वक्रोक्तिके द्वारा कहा जाना चाहिए। इस वर्णनमें केवल आवश्यक बातें ही विस्तारके साथ गिनाई जानी चाहिएँ जो प्रभावात्मक हों, जिनमें केवल मुख्य बातोंका विवरण दिया। किसी स्थान या व्यक्तिका विवरण देनेवाले वर्णनात्मक अनुच्छेदमें यह क्रम होना चाहिए कि—

(क) जो मुख्य प्रभाव उत्पन्न करता हो उसपर सदा ध्यान रक्खा जाय।

(ख) जो दृष्टिकोण भौतिक या मानसिक हो या दोनोंमेंसे जो अधिक लाभकर हो, उसे चुन लिया जाय।

(ग) उन विस्तृत विवरणोंको छाँट लिया जाय, जो अधिक सशक्त रूपसे मुख्य प्रभाव उत्पन्न कर सकें।

(घ) यथासम्भव अधिकसे अधिक इन्द्रियोंको प्रभावित किया जाय।

(ङ) इन सब विविध विस्तृत बातोंको स्थान, तिथि-क्रम, अलङ्कार तथा पारस्परिक सम्बन्धके क्रममें जोड़ लिया जाय।

विशेष प्रभावोंके लिये दूसरी प्रणालियोंका भी प्रयोग किया जाता है जैसे—चेतनाधारावाले (स्ट्रीम ऑफ़ कौन्शसनेस) उपन्यासोंका असम्बद्ध प्रभाववाद।

वर्णनको संक्षिप्त करनेकी साधारण प्रणाली यह है कि दृश्य या परिस्थितिके सब सूक्ष्म वर्णनोंको पात्र और व्यापारके साथ तथा कथा-प्रवाहमें ही मिला लिया जाय, जैसे कैथराइन मैन्सफ़ील्डने 'ए कप ऑफ़ टी'में किया है। आजकल अच्छे लेखक इसी समन्वयवाली प्रणालीका ही प्रयोग करते हैं।

कुछ और भी वर्णन-कौशल हैं, जिनसे स्पष्टता और सूक्ष्मता आती है जैसे—(क) प्रारम्भमें ही मूल बिम्ब उपस्थित कर देना, जैसे थौरिडके केप कौडका 'नङ्गा और झुका हुआ हाथ', (ख) जान-बूझकर आवृत्ति करना, जैसे 'ब्लीक हाउस' में धुन्ध, (ग) तुलना, (घ) सीधी और विशिष्ट क्रियाओंका प्रयोग और (ङ) किसी पात्रको अत्यन्त सक्रिय कर देना।

## स्थानीय रङ्ग (लोकल कलर)

आजकल लोगोंका मत है कि उपन्यासमें स्थानीय रङ्ग अधिक और सटीक होना चाहिए। जब किसी उपन्यास या कहानीमें किसी एक विशेष वर्णित स्थानके सम्बन्धमें विस्तृत विवरण दिया जाता है और वहाँके सामाजिक, भौगोलिक तथा सांस्कारिक विषयोंका सूक्ष्म निदर्शन किया जाता है तब वह 'स्थानीय रङ्ग' कहलाता है। इसे प्रदेशवाद (रीजनलिज़्म) से भिन्न समझना चाहिए। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें नये या अपरिचित दृश्य खोजे जाते हैं या किसी परिवर्त्तनोन्मुख या ह्रासोन्मुख स्थान-रूपका विवरण सुरक्षित किया जाता है जैसे 'रुद्र'जीकी 'बहती गङ्गा'में। प्रदेशवादी तो प्रत्येक प्रदेशमें ऐसी विभिन्न स्थितियाँ देखता है, जो वहाँके निवासियोंके जीवनपर बहुत प्रभाव डालती हैं और उसके अनुसार संस्कृति तथा चरित्रके विभिन्न साँचे उपस्थित करती हैं किन्तु स्थानीय रङ्गकार किसी ग्राम-दृश्यके प्रति पर्यटकका दृष्टिकोण उपस्थित करता है। कहा जाता है कि 'फ्रान्सिस, हौप्किंसन स्मिथने स्थायीय रङ्गसे भरे संयुक्तराज्य अमेरिकाके अनेक भागोंपर उपन्यास लिखे थे।' अतः स्थानीय रङ्गका अर्थ हुआ 'किसी कथाके मूल तत्त्वके रूपमें नहीं, वरन् सजावटके उस कथाके लिये दृश्य, भाषा, वेश, आचार विचार और व्यवहारका सटीक विस्तृत वर्णन देना।'

## वर्णन-शैली

उपन्यासके वर्णन करनेकी शैलियाँ अनेक प्रकारकी और अनेक रूपोंकी चल गई हैं। सचित्रता, अद्भुतता तथा त्रास उत्पन्न करनेके लिये स्वैरवादी

सम्प्रदायने दृश्यको अधिक महत्त्व दिया ; कथाके अतीतको व्यक्त करनेके लिये स्कौट और ह्यूगोने पृष्ठभूमिको आवश्यक बताया और ज्यों-ज्यों लोग नवोदात्तवादी भाषासे हटकर वर्त्तमान व्यक्तिवादमें आए, त्यों-त्यों स्थान, दृश्य, सामाजिक वातावरण और व्यक्तियोंके वर्णनका महत्त्व बढ़ गया। अपने जीवन-सिद्धान्तोंके समर्थनके लिये उन्नीसवीं शताब्दिके द्वितीय भागमें तथ्यवादियों और प्रकृतिवादियोंने परिस्थितिको अधिक महत्त्व दिया और जार्ज इलियट, मैरेडिथ, फ्लाउबे, ज़ोला और स्वैरवादी स्टीवेन्सनने इस बातका उत्तर देनेके लिये परिस्थिति ( मिल्यू ) को महत्त्व दिया कि प्रकृति उदार है, उदासीन है या अनुदार है। आजकल सामाजिक परिवर्त्तनके इच्छुक तथ्यवादी तथा फ्रौयडीय मनोविज्ञानवाले 'परिस्थिति'का विशेष अध्ययन करते हैं, जैसे बालकके बचपनकी स्मृतियोंका। अतः आजकल परिस्थिति और स्थानका चित्रण, उपन्यासोंके उपेक्षित दास न रहकर पोषक खाद्य बन गए हैं, जिससे कि कथानक और पात्र दोनों अपना अस्तित्व और पोषण प्राप्त करते हैं। अतः वर्णनमें लेखकको यह सावधानी रखनी चाहिए कि वह ऐसे सभी तत्त्वोंका सन्निवेश करे, जिससे कथा-प्रवाहको समझने और पात्रोंका चरित्र भली प्रकार पहचाननेका आधार मिल सके।

### दुरूह शैली ( फीबस )

सत्रहवीं शताब्दिमें फ्रांसमें उपन्यासोंके पात्रोंकी भाषामें अत्यन्त कठिन, अप्रचलित तथा विशेष ध्वनिवाले पाण्डित्यपूर्ण शब्दोंके प्रयोगका चलन हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि वे उपन्यास त्याज्य समझे गए, यह 'दुरूह शैली' ( फ़ीबस ) शब्द दोषका लक्षण माना जाने लगा और उस शैलीमें लिखे हुए सब उपन्यास जहाँके तहाँ पड़े रह गए। न तो जनताने उनका आदर किया, न विद्वानोंने ही। उपन्यासकी भाषाके लिये सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि उपन्यासका उद्देश्य उन वाचकोंको तृप्त करना है, जिनकी योग्यता अधिक नहीं होती और जिनका शब्द-भाण्डार भी परिमित होता है। अतः उपन्यासके लिये वही भाषा-शैली उपयुक्त है, जो सर्वबोध हो।

### चरित्र-चित्रण

आरनोल्ड बैनेटने अरस्तूका खण्डन करते हुए कहा है—'अच्छे उपन्यासकी नींव ही चरित्र-सृष्टि है और कुछ नहीं'। प्रायः यह मान लिया

गया है कि अधिकांश अच्छी कथाओंमें सब घटनाएँ सङ्गत रूपसे उसके व्यक्तियोंकी प्रकृतिसे प्रवाहित होती हैं। लेखक या उपन्यासकार अथवा नाटककार अपने पात्रोंको दो साधारण रूपोंमें उपस्थित कर सकता है— एक तो सीधे, जिसमें वह स्वयं पाठकको पात्रके सब गुण बता देता है और दूसरे क्रिया या व्यापारके द्वारा जिसमें वह पात्रकी उन क्रियाओंका प्रदर्शन करता है, जिनके आधारपर उस पात्रका चरित्र ज्ञात होता है। निम्न कोटिके पात्रोंके लिये तो पहली ही विधि अधिक प्रचलित है किन्तु मुख्य पात्रोंके लिये दोनों विधियोंका प्रायः प्रयोग होता है। सीधे वर्णनमें या गुण-व्याख्यामें एक लाभ यह होता है कि पात्रकी वृत्तिका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। किन्तु उससे यह हानि भी होती है कि पात्रके सम्बन्धमें पाठकका कुतूहल शान्त हो जाता है और कभी-कभी जब अच्छे बताए हुए पात्रसे कुछ दोष हो जाता है तो पाठक घबरा उठता है और जब बुरा चित्रित किया हुआ पात्र अच्छा काम करता है तो पाठक खीझ उठता है। अर्थात् उपन्यासकारने किसी व्यक्तिका जो चित्र खींचा है, उसमें तनिक-सा भी विपर्यय होनेसे पाठकको मानसिक असुविधा होने लगती है। कभी-कभी कुछ लेखक इस विवरणको एकदम सीधे न देकर थोड़ा-थोड़ा करके एकत्र करते हैं अर्थात् धीरे-धीरे उसका पूरा चित्रण करते हैं। यही क्रमिक प्रणाली अधिक प्रचलित है और व्यापारके द्वारा चित्रण करनेकी प्रक्रियामें अपरिहार्य भी है। इससे पाठकको यह लाभ होता है कि वह पात्रके सम्बन्धमें स्वयं अपनी धारणाएँ निश्चित करता चलता है जो लेखक-द्वारा दी हुई चरित्र-विवरणीकी अपेक्षा अधिक दृढ़ और वास्तविक होती हैं। इस आत्म-परिज्ञानकी भावनासे पाठक अधिक गम्भीरताके साथ कथाधारामें प्रविष्ट हो जाता है। प्रायः प्रथम-पुरुषमें कही हुई कथाओंमें और नाटकोंमें ये दोनों प्रणालियाँ विपरीत चित्र प्रस्तुत करती हैं और पाठकको स्वयं यह निर्णय करना पड़ता है कि 'क्या व्यापार ही शब्दोंकी अपेक्षा पात्रका चित्रण स्पष्ट कर रहे हैं ?'

### जनान्तिक

कुछ उपन्यासोंमें किसी भी पात्रकी द्वन्द्वात्मक विचारधाराको उपन्यास-कारोंने जनान्तिक शैलीमें प्रस्तुत किया है। ओनीलने भी अपने स्ट्रेञ्ज इन्टरल्यूडमें इसीका प्रयोग किया है। बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें यह रूप कुछ और सुधरकर चला। ए० गस्टर्नवर्गके एकांकी नाटक ओवरटोन्समें

पात्रोंके साथ-साथ कुछ अवगुण्ठनयुक्त मूर्त्तियाँ चलती हैं, जो पात्रोंके प्रत्येक कथनके पश्चात् उसके दमन किए हुए विचारोंको व्यक्त करती चलती हैं। बोवेके लूक्रीसमें एक कथाकार मूकाभिनयमें देखे हुए व्यापारके उद्देश्योंको समझाता चलता है या कथाके अन्य अदृश्य अंशोंको बतलाता चलता है।

### स्थिर-चरित्र ( स्टैटिक )

बहुत-सी कथाओंमें अमुख्य पात्र प्रायः किसी एक रूपमें प्रस्तुत किए जाते हैं। जैसे सदा एकरस ( फ्लैट ) सरलतासे प्रभावित होनेवाले ( थिन ), बेपेंदीके लोटे ( डिस्क )। कभी-कभी तो जैसे स्कौटके उपन्यासोंमें, मुख्य पात्र भी स्थायी या स्थिर होते हैं जो प्रारम्भसे लेकर अन्ततक एकसे रहते हैं, किन्तु इस रूपमें भी वे अच्छी प्रकारसे विस्तारके साथ प्रदर्शित किए जा सकते हैं। एक पूर्ण चरित्र-चित्रणमें बहुतसे प्रत्यक्ष गुण दिए जा सकते हैं और यह सम्भव है कि उनमेंसे कोई एक विशेषता प्रमुख हो और वह विशेषता अन्य सब गुणोंको प्रभावित करती हो। इस प्रकार एक प्रधान गुणके साथ अनेक गुण मिलकर पात्रके व्यक्तिका संश्लेषण करके उसका प्रकार स्पष्ट कर देंगे और उसकी सार्वभौम विशेषताएँ स्पष्ट कर देंगे।

### गतिशील ( डायनमिक ) पात्र

किन्तु किसी कथाके मुख्य पात्र प्रायः उन्नतिशील या गतिशील भी हो सकते हैं जिनके आत्मापर कथाके अन्तर्गत द्वन्द्व तथा उनका मानसिक द्वन्द्व ऐसा प्रभाव डालता हो जो उनकी भलाईके लिये भी हो सकता है, बुराईके लिये भी, और यह भलाई-बुराई भी वैसे ही वैसे क्रमशः आती-जाती रह सकती है, जैसे-जैसे मनुष्यके मनमें घटनाएँ प्रभाव डालती रहें। किन्तु इस प्रकारके परिवर्त्तन उन घटनाओंकी शक्तिके साथ मेल खाते हुए होने चाहिएँ, अस्वाभाविक या असम्भव न हों। प्रायः बड़े-बड़े उपन्यासोंमें इसी प्रकारके गतिशील पात्र मिलते हैं और प्रायः अन्तमें एक विशेष प्रकारका अभिज्ञान प्रस्तुत कर दिया जाता है, जिससे कि उनका अन्त अत्यन्त शान्त प्रकारसे हो जाता है और दूसरे प्रकारके परिणामकी सब सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इन पात्रोंके अनेक प्रकार हो सकते हैं जिसमें महापुरुषसे लेकर साधारण जन भी हो सकते हैं।

महापुरुष ( सुपरमैन या उबेरमैंश )

महापुरुष वे कहलाते हैं, जो अपनेसे पूर्वके महापुरुषोंकी नैतिकताका अनुगमन करते हुए वीरतापूर्वक उच्च सामन्तवादी या स्वेच्छावादी संस्कृतिकी स्थापना करते हैं। इन महापुरुषोंके पूर्वजोंमें सभी ऐतिहासिक महापुरुष आ जाते हैं—राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम आदि। इन महापुरुषोंके लक्षण हैं अहंवृत्ति, सङ्कल्प-शक्ति और जीवनके सङ्घर्षोंसे युद्ध करनेमें आनन्द प्राप्त करना। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दिके साहित्यमें यह महापुरुषवाली भावना अनेक रूपोंमें प्राप्त होती है। इस उच्च आदर्शसे हटकर अब तो प्रहसनात्मक चलचित्र, उपन्यास और धारावाहिक चलचित्रके लोकप्रिय नायकके लिये भी इसका प्रयोग होने लगा है।

नायक ( हीरो ) और नाइका ( हीरोइन )

किसी उपन्यास या नाटकमें जिस व्यक्तिमें उस नाटककी सब क्रियाएँ केन्द्रित हों या जिसके साथ पाठक या दर्शककी सहानुभूति रहती हो, वह नायक कहलाता है। प्रायः यह प्रतिनायकका प्रतिद्वन्द्वी होता है। यदि ये दोनों शक्तियाँ किसी एक ही व्यक्तिमें हों तो वह द्वन्द्व नायक ( प्रोटैगोनिस्ट ) कहलाता है। नायिका प्रायः नाटकके सङ्घर्षकी केन्द्र होती है। वह या तो नाटक-द्वारा प्राप्य होती है या जासूसी उपन्यासोंकी डाकू 'नायका'के समान कथाकी सञ्चालिका होती है। भारतीय नाट्य-शास्त्रमें चार मुख्य प्रकारके नायक माने गए हैं—धीर-ललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत तथा नायिका तीन प्रकारकी—१. स्वकीया, २. परकीया और ३. सामान्या। इनका विवेचन नाटकके प्रकरणमें किया जायगा।

प्रकार ( टाइप )

किसी उपन्यास या नाटकमें जब कोई व्यक्ति अप्रतिम या अद्वितीय रूपसे निराला न होकर किसी एक विशेष मानव-वर्गके लक्षण प्रदर्शित करे, उसे 'वर्ग-प्रकार' (स्काट करेक्टर) कहते हैं। प्रायः अठारहवीं शताब्दिके फ्रान्सीसी नाटकों तथा चलचित्रोंमें अभिनेता इन प्रकारोंमें ढाल दिए जाते थे क्योंकि उनका रूप और आकृति उन मुख्य चरित्रोंसे मिलती-जुलती थी। इस प्रकारकी चयन-पद्धतिके सबसे अधिक सफल आखेट वे हैं जो 'कैरेक्टर एक्टर्स' कहलाते हैं अर्थात् वे अभिनेता, जो सदा एक ही प्रकारका अभिनय

करते हैं। इन्हींकी देखादेखी उपन्यासोंमें भी विशेषतः यथार्थवादी उपन्यासोंमें ये 'वर्गप्रकार'के पात्र ही लिए जाने लगे जैसे श्रमिक, भूमिपति, अध्यापक, वकील, व्यापारी आदि।

निम्नभूमि ( अन्डर-ग्राउन्ड )

दोस्तोएवस्कीने अपने उपन्यासोंमें निम्नभूमि ( अन्डरग्राउन्ड ) को उन सामाजिक, बौद्धिक और भौतिक शक्तियोंका प्रतीक माना है, जो आत्महीन, मलिन व्यक्तियोंको उत्पन्न करती तथा मनुष्योंकी स्वतन्त्रता नष्ट करती है। इसी प्रतीकके आधारपर दोस्तोएवस्कीने समाजवाद और बुद्धिवादका पक्ष लेकर प्राचीन रूढ़ियोंपर अत्यन्त कटाक्ष किया है और चरित्र-चित्रणका उसे आधार बनाया है।

मिथ्यानाम ( लित्रे-आक्लेफ़ )

कुछ उपन्यासकारोंने ऐसे भी उपन्यास लिखे हैं, जिनके सभी पात्र वास्तविक हैं किन्तु उनके नाम बदलकर रख दिए गए हैं। यद्यपि यह प्रणाली कलाकी दृष्टिसे तो बहुत अच्छी है किन्तु सामाजिक दृष्टिसे यह अत्यन्त निम्न कोटिकी है क्योंकि इसमें किसी विशेष व्यक्तिकी निन्दाकी भावना छिपी रहती है। सामाजिक दृष्टिसे इस वृत्तिको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

चरित्र-चित्रणके सम्बन्धमें उपन्यासकारको इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि पात्र अधिक न हों, आदिसे अन्ततक उनके चरित्रका निर्वाह हो और उनके कार्यों और विचारोंसे उनके चरित्रका विश्लेषण हो, उपन्यासकार द्वारा दिए हुए वर्णनसे नहीं। जिस श्रेणीसे पात्र लिए जाएँ तदनुरूप अर्थात् उसकी मर्यादाके अनुसार उसके कार्य और विचार होने चाहिएँ। पात्रकी सहनशीलता और सामर्थ्यका विवेचन भी उसी दृष्टिसे होना चाहिए अर्थात् आदिसे अन्ततक वह ऐसा पूर्णतः स्वाभाविक और सत्य-तुल्य प्रतीत हो, जिसका पाठक विश्वास कर सके और जो पात्रके पद और उसकी मर्यादासे असङ्गत न प्रतीत हो।

उपन्यासकी समीक्षा

उपन्यासकी समीक्षा करते समय निम्नाङ्कित प्रश्नोंको ध्यानमें रखकर निर्णय करना चाहिए—

१. उपन्यासकी कथावस्तु कहाँसे ली गई है ?

२. यदि कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक है तो लेखकने उसमें क्या परिवर्त्तन करके क्या विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है ?

३. इस परिवर्त्तनके निमित्त लेखकने किन नवीन पात्रों या घटनाओंका समावेश किया है ?

४. इन पात्रों या घटनाओंमेंसे कितनोंकी आवश्यकताएँ वास्तविक हैं और वे कहाँतक उचित हैं ?

५. यदि कथा काल्पनिक है तो वह कहाँतक सम्भव, विश्वसनीय, स्वाभाविक और सङ्गत है और उपन्यासकार जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है उसमें कहाँतक सफलता मिली है ?

६. लेखक अपना उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेमें कहाँतक सफल हुआ है ?

७. इस सफलताके लिये उसने किस भाषा-शैलीका आश्रय लिया है और वह भाषा-शैली कथाकी प्रकृति तथा पाठकोंकी योग्यताके कहाँतक अनुकूल है ?

८. सम्वादोंकी भाषा-शैली पात्रोंकी प्रकृति तथा परिस्थितिके कहाँतक अनुकूल, स्वाभाविक तथा उचित मात्रामें है ?

९. लेखकने पाठकका मन उलझाए रखनेके लिये किस कौशलका प्रयोग किया है—

( क ) प्रारम्भ उचित ढङ्गसे किया है या नहीं ?

( ख ) घटनाओंका गुम्फन अधिक जटिल तो नहीं हो गया और मार्मिक स्थलोंपर उचित ध्यान दिया गया है या नहीं ?

( ग ) कथाका चरमोत्कर्ष दिखानेमें शीघ्रता या विलम्ब तो नहीं हुआ और इस चरमोत्कर्ष दिखानेमें अनुचित, अनावश्यक, अस्वाभाविक तथा असङ्गत घटनाओंका समावेश तो नहीं किया गया ?

( घ ) उपन्यासका अन्त जिस प्रकार किया गया वह कथाकी प्रकृति, घटना-प्रवाह और पात्रोंके चरित्र और मर्यादाके अनुकूल सङ्गत, आवश्यक, अपरिहार्य और स्वाभाविक है या नहीं ? अनावश्यक रूपसे उपन्यासको दुःखान्त या सुखान्त तो नहीं बना दिया ?

( ङ ) किस पुरुषमें कथा कही गई ? क्या वह रीति कथाके लिये उपयुक्त है ?

( च ) किस रूपमें कही गई ?—वर्णन, पत्र, भाषण, समाचार, संवाद आदि ।

( छ ) रूपकी नवीनता उत्पन्न करनेसे उपन्यासके कथा-प्रवाहमें क्या दीप्ति या दोष आ गए ?

१०. उपन्यासमें वर्णन कहाँतक उचित परिमाणमें, आवश्यक और स्वाभाविक है ?

११. जो बातें व्यञ्जनासे बतानी चाहिएँ थीं अर्थात् पात्रोंका स्वभाव आदि अपनी ओरसे तो नहीं कह दिया ? पात्रोंका चित्रण उनकी मर्यादा और प्रकृतिसे भिन्न, अस्वाभाविक, असङ्गत या अतिरञ्जित तो नहीं हो गया ?

१२. उपन्यासकारने किस विशेष वाद, सम्प्रदाय, नीति या सिद्धान्तसे प्रेरित होकर लिखा है और उसकी सिद्धिमें वह कहाँतक सफल हो पाया है ?

१३. उपन्यासकारने अपने व्यक्तिगत जीवन या अनुभवकी जो अभिव्यक्ति की है, वह कितनी प्रत्यक्ष है और कितनी व्यंग्य ? वह कहाँतक उचित है या अनुचित ?

१४. उस उपन्यासका मनपर क्या प्रभाव पड़ सकता है और वह पाठककी वृत्ति, प्रवृत्ति, स्वभाव, चेष्टा आदिको कहाँतक अपने पक्षमें ला सकता है ? सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिसे वह प्रभाव कहाँतक वाञ्छनीय है ?

१५. उपन्यासमें क्या मौलिकता है और उसमें सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण तत्त्वोंका सन्निवेश कहाँ और किस प्रकार किया गया है ?

१६. अलौकिक तत्त्वोंका प्रयोग कहाँतक उचित और बुद्धि-सङ्गत हुआ है ?

१७. उपन्यासकी कथावस्तु, घटना-गुम्फन, भाषा-शैली, चरित्र-चित्रण और परिणाम आदिमें जो दोष हों, उनका सुधार आप कैसे करते ?

# छोटी कहानी

यद्यपि छोटी कथा ( शौर्ट स्टोरी ) शब्दका अर्थ तो किसी छोटी घटनाका वर्णन या किसी घटनाका संक्षिप्त वर्णन-मात्र है किन्तु उपन्यासोंमें 'कहानी' शब्दका अर्थ था 'वह वर्णन जिसमें सङ्घर्षका चित्रण हो।' इसी आधारको लेकर छोटी कहानीका एक निश्चित नियमित विकास हुआ है जिसमें उपन्यासके अनेक तत्त्वोंमेंसे किसी एकपर विशेषरूपसे ध्यान केन्द्रित किया जाता है। उसमें चरित्र-चित्रण तो होता ही है किन्तु उतना नहीं होता जितना 'उपन्यासिका' ( नौवलेट ) में, जो केवल एक छोटा उपन्यास-मात्र होता है। वास्तवमें कथा तो एक छोटा कथानक-मात्र होता है जो प्राय: अत्यन्त शिथिलता-पूर्वक रचा जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तविक ही हो। वह परियोंके देशका या मङ्गल ग्रहका भी चित्रण कर सकता है। किन्तु कहानी या छोटी कहानीका जो रूप प्रचलित है उसके लिये फ्रान्सीसी शब्द 'कौन्ते' और जर्मन 'नौवेले' शब्दोंका प्रयोग ही उचित जान पड़ता है। रेखाचित्र ( स्केच ) से भी यह छोटी कहानी भिन्न होती है क्योंकि रेखाचित्र ( स्केच ) में छोटी कहानीकी गम्भीरता नहीं रहती, जिसमें वर्णन दब जाता है और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति प्रधान कर दी जाती है। इसी प्रकार गद्य-कथा ( प्रोज़ इडिल ) भी एक प्रकारका संक्षिप्त और कोमल प्रेम-कथानक होता है। लम्बी कथामें अवास्तविकताकी मात्रा अधिक होती है और प्राय: वह अतिरञ्जित रूपसे चित्रित होती है। उसमें अधिकांश बाहरी अनुभवोंका विशेष वर्णन होता है जैसे आखेट करना, युद्ध करना, मछली मारना आदि या फिर पौराणिक तथा लोक-प्रसिद्ध वीरोंका वर्णन होता है। अत: जब हम 'छोटी कहानी'की चर्चा करते हैं तब वह परियोंकी कथा, रेखाचित्र, गद्य-कथा ( प्रोज़ इडिल ), लम्बी कहानी सबसे भिन्न विचित्र प्रकारकी कथा है।

प्राचीन मिस्रियोंने 'जादूगरोंकी कहानी' नामसे छोटी-छोटी गद्य-कथाओंका सङ्ग्रह रख छोड़ा है जिसमें लगभग ४००० ई० पू० की कहानियाँ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे देशोंमें कहानियाँ प्राप्त होती हैं जैसे भारतकी, हिब्रुओंकी, यूनानियोंकी और अरबोंकी। योरोपके मध्ययुग और पुनर्जागरण-कालमें चौपायोंकी कहानियाँ, धूर्तोंकी कहानियाँ ( पिकारेस्क टेल्स ), साहस-पूर्ण कथाएँ ( गैस्टा रोमानोरम ), दस दिनमें कही हुई बोकेशियोकी सौ कहानियाँ ( डैकामेरोन ) और उसके अनुकरणपर बहुत कहानियाँ लिखी गईं किन्तु जिस रूपको हम 'छोटी कहानी' कहते हैं वह उन्नीसवीं शताब्दिमें ही विकसित हुई।

## छोटी कहानीका विकास

एडगर एलेन पोने सन् १८४२ में कुछ ऐसे समीक्षात्मक और रचना-कौशलके सिद्धान्त निश्चित किए जिनके आधारपर लम्बी कथाओं और संक्षिप्त कथाओंमें अन्तर स्पष्ट समझा जाने लगा। हौदोर्न-द्वारा रची हुई पुनरावृत्त कहानियाँ ( ट्वाइस-टोल्ड स्टोरीज़ ) की समीक्षा करते हुए उसने 'छोटी गद्यमय कथा'की प्रकृति और रचनापर कुछ सिद्धान्त स्थापित किए। 'छोटी'से उसका तात्पर्य ऐसी कथासे था 'जिसे पढ़नेमें आध घण्टेसे लेकर एक या दो घण्टे समय लगे।' इस संक्षेप-वृत्तिका तात्पर्य यह है कि 'रचना इतनी छोटी है कि उसमें लेखक कोई एक पूर्ण तथा अकेला प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, और ऐसी घटनाएँ खोजनेका प्रयत्न करता तथा उन्हें ऐसे शब्दोंसे साज लेना चाहता है कि उनसे वह एक ही प्रभाव उत्पन्न कर सके। उसका उद्देश्य केवल उस प्रभावका पूर्ण प्रस्थापन-मात्र है।' इसके लिये औचित्य या सङ्गति तथा घटना और शैलीमें संक्षेपता ही विशेष साधन है। पोके इस नियमके होनेपर भी उन्नीसवीं शताब्दिकी अधिकांश छोटी कहानियाँ अत्यन्त शिथिल रूपसे ही रची जाती रहीं। उनके लिये 'छोटी' शब्दका प्रयोग बहुत कम होता था क्योंकि उन छोटे कथानकोंको प्रायः टेल्स ( कहानियाँ ), स्केच ( रेखा-चित्र ), संक्षिप्त चित्रण ( विगनेत्त ) या कभी-कभी निबन्ध ( ऐसेज़ ) भी कहा जाता था। ब्रैण्डर मैथ्यूने लघु-कथा-दर्शन (दि फ़िलौसोफ़ी औफ़ शौर्ट स्टोरी ) में 'कथा' (स्टोरी) शब्दपर अधिक बल दिया और कहा कि 'जो कहानी केवल छोटी-मात्र हो उससे यह छोटी कहानी नितान्त भिन्न है।' उसने 'छोटी-

कहानी' शब्दको समस्त पद बना दिया और इस प्रकार छोटी-कहानीको एक साहित्यिक रूपमें स्थिर कर दिया।

## छोटी-कहानीके अनेक रूप

पोका सिद्धान्त प्रायः अभीतक मान्य है किन्तु जिन अनेक रूपोंमें छोटी-कहानीका विकास हुआ है उनकी सम्भवतः उसे कल्पना भी नहीं थी। वह स्वयं जासूसी कहानियाँ या गोथिक शैलीकी कहानी लिखता था जिनमें भय, प्रतिहिंसा और सङ्कटपूर्ण साहस-कृत्योंकी कथाएँ रहती थीं। किन्तु साहित्यमें यथार्थवादी और प्रकृतिवादी आन्दोलनोंमें 'कलात्मक प्रभाव'के बदले 'विषय' पर अधिक बल दिया गया। वे चाहते हैं कि कहानीमें 'यन्त्र-चित्रकी सटीकता' ( फ़ोटोग्राफ़िक रीएलिटी ) हो और जो कुछ लिखा जाय उसके ऐसे 'लेखबद्ध प्रामाणिक साक्ष्य' (डौक्यूमेन्टरी प्रूफ़) हों, जिनमें जीवनकी वास्तविकताओंका चित्रण हो, किसी कलात्मक सिद्धान्तके सत्यका चित्रण नहीं। पो स्वयं योरोपीय परिपाटीसे प्रभावित था। जर्मनीके स्वैरवादी गोथिकोंने उन्नीसवीं शताब्दिकी छोटी कहानियोंपर अपनी छाप छोड़ ही दी थी। मुख्यतः जर्मनोंने 'नौवेले'को अधिक पसन्द किया जिसका प्रचार गेटे, कैलर और फर्डिनेन्ड मेयरने किया था। इस दृष्टिसे फ़्रान्सीसियोंका प्रभाव बहुत अधिक था क्योंकि 'छोटी कहानी' ( कौन्ते ) में सूसेने चञ्चलता और तरलतापन दिया, मैरिमीने नाटकीयता, दौदेने भावावेग ( सेन्टीमेन्ट ), जो कभी-कभी भाविकताकी श्रेणीतक पहुँच जाता था और मोपासाँने सूक्ष्मता और सशक्त संक्षेप-वृत्तिकी शक्ति दी। संयुक्तराज्य अमरीकामें छोटी कहानीके लिये अन्ताराष्ट्रिय कापी-राइट न होनेसे, पत्र-पत्रिकाओं की बहुतायत होनेसे, लम्बी कहानियोंकी परम्परा होनेसे और जीवनमें बहुत व्यस्तता और यान्त्रिकता होनेसे वहाँ छोटी कहानीका बहुत विकास हुआ। भूगोलमें विशेष रुचि होनेके कारण वहाँ स्थानीय चित्रणकी कहानियाँ भी बहुत चलीं। किपलिङ्गने भारतीय कहानियोंको लेकर विदेशी स्थानीय कहानियोंको प्रोत्साहन देनेके साथ-साथ प्रदेशवाद ( रीज़नलिज़्म ) का विस्तार किया।

बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें अमरीकी छोटी कहानियोंने ओ० हेनरी ( विलियम सिडिनी पोर्टर ) के हाथों एक नया रूप ग्रहण किया। स्थानीय चित्रणकी परम्परासे उसने प्रादेशिक चित्रणका प्रयोग लिया, लम्बी

कहानियोंसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-प्रणाली ग्रहण की, फ्रांससे नाटकीय संक्षेपवृत्ति और अन्तमें व्यंग्यात्मक वृत्ति ग्रहण की, पत्रकारितासे वेग और तात्कालिकता ग्रहण की तथा पोसे उसने एकाकी प्रभावकी वृत्ति ग्रहण की। किन्तु वर्त्तमान छोटी कहानियोंको वर्त्तमान रूपमें ढालनेका सबसे अधिक श्रेय रूसके आन्तोन चेखवको है। बाह्य चित्रण तथा कथावस्तुकी छोटी-सी जटिलताके साथ जीवनका एक छोटा-सा खण्ड उपस्थित करनेकी जो प्रणाली उसने चलाई उसने सब कहानी-लेखक-सम्प्रदायोंको प्रभावित किया है। उसने केवल 'प्रभावके लिये प्रभाव उत्पन्न करने'के बदले 'जीवनके लिये प्रभाव उत्पन्न करने'की चेष्टा की। इन कहानियोंमें समाजवादी या मनोविज्ञानवादी सामग्रीका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इन कहानी-लेखकोंका आदर्श यह है कि 'कमसे कम स्थानमें जीवनका अधिकसे अधिक भाग समेटकर प्रस्तुत कर दिया जाय।' यही कारण है कि कलात्मक ( साहित्यिक ) कहानीमें और चातुर्यपूर्ण ( लोकप्रिय ) कहानीमें बड़ा भारी अन्तर हो गया है। अधिकांश छोटी कहानियाँ अत्यन्त वेगशील, पठनीय, नाटकीय उत्कर्षसे पूर्ण और अद्भुत तत्त्ववाली होती हैं। वे सबकी सब साधारण जनताके लिये लिखी जाती हैं। इनमें कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें विषय और शैलीका उपयुक्त समन्वय हो पाया है, शैली पूर्णतः निराली तथा व्यक्तिगत हो गई है और जिनका अन्त भी स्वाभाविक और अपरिहार्य हो गया है। ऐसी कहानियाँ कभी-कभी कुछ गिनी-चुनी पत्रिकाओंमें या पुस्तक-रूपमें प्रकाशित होती रहती हैं। साधारण लोकप्रिय कहानीमें ओ० हेनरी द्वारा प्रभावित पोकी परम्परा ही चलती है जिसमें नाटकीय कथानकपर फ्रांसीसी प्रभाव दिखाई पड़ता है और यही साहित्यिक कहानी का मान्य आदर्श है। 'जीवनका खण्ड दिखाने'की परम्पराने हमारे उन युवक यथार्थ-वादियोंको अधिक प्रभावित किया है, जो रूप या शैलीको अधिक महत्त्व देते हैं। हैनरी जेम्सने यह नवीनता की है कि उसने कथा लम्बी कर दी है।

## नौवेले

जर्मनी उपन्याससे छोटी-छोटी गद्य-कथाएँ उन्नीसवीं शताब्दिमें 'नावेले' नामसे विकसित हुईं। श्लैगेल और गेटेने उसकी परिभाषा बताते हुए कहा—'नौवेले वह कथा है जिसमें एक ही विचित्र तथा वास्तविक घटना हो।' हेसेने १८७१ में कहा कि 'इसमें एक पूर्ण रूपरेखा होनी चाहिए और

चरमोत्कर्ष होना चाहिए ।' धीरे-धीरे यही 'छोटी कहानी'के रूपमें अभ्युदित हुआ ।

### कौन्ते

फ्रांसमें आरम्भमें किसी प्रकारकी भी छोटी काल्पनिक कहानीको 'कौन्ते' कहते थे किन्तु अब तो वास्तविक 'छोटी-कहानी' ( शौर्ट स्टौरी ) को ही 'कौन्ते' कहते हैं, जो 'नाउवेल' और 'रोमाँ'से भिन्न हैं । ये 'कौन्ते' अपनी संक्षिप्तताके कारण और कथावस्तुकी बनावटके परिसीयनके कारण अधिक प्रसिद्ध हैं ।

### अति लघु-कथा ( शौर्ट-शौर्ट स्टोरी )

अति लघु-कथा एक प्रकारका अत्यन्त सूक्ष्म तथा कथा-रूप होता है होता है, जिसमें सौसे डेढ़ सहस्रतक शब्द होते हैं । कुछ अमेरिकाके पत्रोंमें इनका बड़ा प्रचार है जो उनके पत्रके एक पृष्ठमें समा जाती हैं । प्राय: इस कहानियोंमें एक घटना या एक दृश्य होता है जिसे वे 'ओ० हैनरी-पर्यवसान' शैलीसे समाप्त करते हैं ।

### ओ० हैनरी पर्यवसान ( ओ० हैनरी एन्डिङ्ग )

कुछ ऐसी छोटी कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं जिनका अन्त किसी आकस्मिक घटना या प्राय: करुण दुर्भाग्यपूर्ण घटनासे होता है । ऐसी-कहानियाँ ओ० हैनरीने लिखी हैं, इसीलिये उनका नाम ओ० हैनरी पर्यवसान ( ओ ० हैनरी एन्डिङ्ग ) ही पड़ गया है ।

### विगनेत्ते

संक्षिप्त तथा अत्यन्त कोमल शब्दावलीमें किसी घटनाका चित्रण ही 'विगनेत्ते' कहलाता है । यह भी छोटी कहानीके समान प्रतीत होता है किन्तु पूर्णत: उससे भिन्न होता है ।

### छोटी कहानीके तत्त्व

छोटी कहानीके निम्नलिखित तत्त्व हैं—

१. एक ही परिणाम या एक ही प्रभाववाली पूर्ण आवयविक घटना ।

२. उस घटनासे सम्बद्ध पात्र ।

३. उन पात्रोंका बाह्य तथा मानसिक द्वन्द्व ।

४. बाह्य तथा मानसिक द्वन्द्वको स्पष्ट करनेवाली भावानुरूप भाषा-शैली।

५. एक ही परिणाम या प्रभाव ।

६. संक्षिप्तता अर्थात् एक बैठकमें पढ़ी जा सकनेवाली ।

हम ऊपर बता आए हैं कि उपन्यास ( रोमाँ ), उपन्यासिका ( नाउवेले ) और छोटी कहानी ( कौन्ते ) तीनों भिन्न हैं। उपन्यास और उपन्यासिकामें तो केवल परिमाणका भेद है किन्तु छोटी कहानी तो उपन्यास या उपन्यासिकासे उद्देश्य और प्रकृति दोनोंमें भिन्न होती हैं। एलेन पोने बताया ही था कि 'कहानीमें एक अपनी पूर्णता ( ट्रोटलिटी ) होती है जो लम्बे उपन्यासमें नहीं होती क्योंकि एक बैठकमें न पढ़े जा सकनेके कारण उसमें वह पूर्णता नहीं आती।' यद्यपि वह 'संक्षेप-वृत्ति' को ही छोटी कहानीके लिये आवश्यक मानता है किन्तु साथ-साथ यह भी कहता है कि 'इसमें कवितावाला अति संक्षेपी-करण नहीं होना चाहिए।' ब्रेन्डर मैथ्यूजने 'छोटी कहानीका दर्शन' शीर्षक निबन्धमें कहा है—'वास्तविक छोटी कहानी उस कहानीसे भिन्न है जो 'छोटी' होती है। उपन्याससे भी छोटी कहानी इस बातमें भिन्न होती है कि यह तो केवल एक ही प्रभाव उत्पन्न करती है और उपन्यास अनेक प्रभाव उत्पन्न करता है। और भी सटीक शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं कि 'छोटी कहानीमें ऐसी सम्बद्धता होती है जो उपन्यासमें नहीं होती।' इसे यों भी कह सकते हैं कि 'फ्रान्सीसी उदात्त नाटकके तीनों एकत्व भी छोटी कहानीमें प्राप्त होते हैं क्योंकि उसमें एक दिनका, एक स्थानपर होनेवाला, एक ही व्यापार या कार्य होता है। छोटी कहानीमें एक चरित्र, एक घटना, एक मनोवेग या एक ही स्थितिसे उत्पन्न मनोवेग-माला होती है।'

इस पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये छोटी कहानी पूर्ण आवयविक होनी चाहिए। सर सिडनी कालविनने एक बार स्टीवेन्सनको यह सुझाव दिया था कि 'आप अपनी कहानीका अन्त बदल डालिए।' इसपर स्टीवेन्सनने उसे लिखा था 'बदल डालूँ? ठीक है। किन्तु मैं तो इस प्रकार लिखता ही नहीं हूँ। दूसरा अन्त करनेका तात्पर्य यह होगा कि मैं सम्पूर्ण प्रारम्भको समाप्त कर दूँ। मैं तबतक किसी ऐसे प्रभावका प्रयोग नहीं करता, जबतक मेरा वश चलता है और जबतक कि वह ऐसे प्रभाव न सुझा दे जो आगे सम्भव हों। यही तो वास्तवमें कथा है। किसी भी लम्बी कथाका कोई उपसंहार नहीं होता, उसकी समाप्ति ही उसका उपसंहार है, जिसे आप

चाहे जैसे पूर्ण कर दें। किन्तु कथाका शरीर और अन्त उसके प्रारम्भकी हड्डीकी हड्डी और रक्तका रक्त है।' तात्पर्य यह है उसके सब अङ्ग परस्पर पूर्णतः गुँथे हुए हों, अलग न प्रतीत हों।

छोटी कहानीका दूसरा गुण है संक्षिप्तता, किन्तु यह उतना बड़ा गुण नहीं है जितना उसका सुसङ्घटित होना अर्थात् वह अपनेमें इतनी पूर्ण होनी चाहिए कि उसके प्रारम्भके सम्बन्धमें और अन्तके पश्चात् किसी प्रकारकी जिज्ञासाका समाधान न करना रह जाय। छोटी क़हानीके रूपमें इतने विषय, प्रकार, कौशल प्रयुक्त हुए हैं, उनके आरम्भ और अन्तके इतने नये प्रयोग हुए हैं कि सबकी व्याख्या करना न सम्भव है न उचित। कुछ लोगोंने छोटी कहानियोंमें विनोद तथा स्थानीय चित्रण प्रारम्भ करना भी प्रयुक्त कर दिया है। प्रथम जर्मन महायुद्धके पश्चात् एक नई प्रकारकी छोटी कहानियाँ प्रारम्भ हुईं, जिनमें वास्तविक जीवनका चित्रण प्रारम्भ किया गया और नर और नारीके पारस्परिक सम्बन्धोंका भी स्पष्ट चित्रण होने लगा। इन सबपर रूसके आन्तोन चेखवका बड़ा प्रभाव पड़ा और इन नये विद्रोहियोंने छोटी कहानीके चले आते हुए रूपकी हँसी उड़ाना प्रारम्भ किया। उसके बदले एक नई सूचनात्मक कथा आने लगी है जिसमें न कथा होती है न उदात्त भाव, वरन् निम्न कोटिके मनुष्योंका चित्रण ही अत्यन्त असंयत रूपसे होने लगा है।

## परिभाषा

छोटी कहानीका विषय चाहे जो हो किन्तु उसकी परिभाषा यह होगी—

'छोटी कहानी वह सुसम्बद्ध, संक्षिप्त तथा पूर्ण कहानी है, जो कौशल-पूर्ण रचना-शैलीमें भावानुकूल भाषा-शैलीमें कही गई हो और जो पाठकके मनपर एक प्रभाव डाले या जिसका एक परिणाम हो।

## छोटी कहानीकी समीक्षा

छोटी कहानीकी समीक्षा करते समय निम्नाङ्कित प्रश्नोंपर ध्यान देकर रचना करनी चाहिए—

१. कथाकारका क्या उद्देश्य है? कथाकार कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है या केवल मनोविनोद?

२. कथाकारने एक ही घटना ली है या नहीं? उसने भूलसे किसी

अनेक घटनाओंवाली कथाको छोटा करके कहना ही तो छोटी-कहानी नहीं समझ लिया ?

३. वह कथा अपनेमें पूर्ण—आदि, मध्य और अन्तसहित—है या नहीं और वह साधारणतः एक बैठकमें पढ़ी जाकर (आध या पौन घण्टेमें) एक ही प्रभाव उत्पन्न करती है या नहीं ?

४. उसकी भाषा-शैली कथाके अनुरूप तथा पाठकोंकी समझमें आ सकनेवाली है या नहीं ?

५. पात्रोंके चरित्र और संवाद उनकी मर्यादा और प्रकृति तथा परिस्थितिके अनुकूल हैं या नहीं ?

६ कहानीको रुचिकर बनानेके लिये लेखकने किस कौशलका आश्रय लिया है—

( क ) प्रारम्भ कैसे किया है ?

( ख ) कहानीकी घटनाको प्रभावशाली बनानेके लिये बाह्य द्वन्द्व तथा पात्रोंके मानसिक द्वन्द्वका किस प्रकार समन्वय किया है ?

( ग ) चरमोत्कर्षपर कहानी समाप्त कर दी या उपसंहार भी किया है ?

( घ ) कहानीका अन्त कहाँतक उचित और न्याय-सङ्गत हुआ है ?

( ङ ) किस पुरुषमें कहानी कही गई—१. प्रथम पुरुष, २. मध्यम पुरुष या ३. उत्तम पुरुषमें ?

( च ) किस रूपमें कही गई—वर्णन , पत्र , संवाद , भाषण , समाचार आदि ।

७. किस वाद, सम्प्रदाय, नीति, सिद्धान्त या प्रभावको दृष्टिमें रखकर लिखी गई और उसकी सिद्धिमें लेखक कहाँतक सफल हुआ ?

८. लेखकका व्यक्तित्व या उसकी अपनी धारणाएँ कहाँतक व्यक्त हुई हैं ?

९. अनावश्यक वर्णन या विस्तार तो नहीं है ?

१०. कथाका मनपर क्या प्रभाव पड़ सकता है और वह नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिसे कहाँतक वाञ्छनीय है ?

११. उसमें क्या मौलिकता है और लेखकने किन सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण तत्त्वोंका सन्निवेश किया है ?

१२. आपको जो दोष प्रतीत होते हैं उनका आप कैसे मार्जन करते ?

# कविता

संसार-भरके समस्त साहित्योंमें कवितापर जितना विचार हुआ है उतना साहित्यके किसी अङ्गपर नहीं हुआ, यहाँतक कि साहित्यके सिद्धान्तोंपर भी जो वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन हुआ उसके लिये भी उन आचार्योंने कविताको ही आधार बनाया। इसका कारण कुछ तो यह था कि प्रारम्भमें साधारण बातचीतके अतिरिक्त साहित्यिक कृतिके रूपमें जो कुछ भी व्यक्त हुआ वह कविताके ही रूपमें हुआ जिनमें कुछ तो छन्दोमयी कथाएँ थीं, कुछ गीत थे, कुछ मन्त्र या स्तोत्र थे और कुछ प्रेमाभिव्यक्ति थी। अतः कविता मानव-भावनाओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व करनेका साधन बनी हुई थी।

## कविताकी परिभाषा

योरोपीय आचार्योंने कविताकी परिभाषाएँ अनेक प्रकारसे की हैं। अरस्तूने कहा है—'महाकाव्य ( इपिक ), कविता, त्रासद, प्रहसन, और स्तोत्र-काव्य ( दिथुरम्बिक पोइट्री ) तथा वंशी और तन्त्रीका सङ्गीत अपने अधिकांश रूपोंमें तथा अपनी भावनाओंमें अनुकरणके रूप-मात्र हैं।' पी० सिडनीने कहा है कि 'कविता तो अनुकरणकी कला है या इसे रूपककी भाषामें कहा जाय तो वह बोलता हुआ चित्र है, जिसका उद्देश्य है शिक्षा देना और आनन्द देना।' जौन मिल्टनने कहा है कि 'कविता सरल इन्द्रियोंको आनन्द देनेवाली तथा भावात्मक होनी चाहिए।' जौन ड्राइडनने कहा है कि 'यह सत्य है कि कविका कार्य भली प्रकार अनुकरण करना है, किन्तु आत्माको प्रभावित करना, भावोंको उत्तेजित करना, और हमारी रीझको उत्तेजित करनेका काम केवल अनुकरणसे नहीं हो सकता।' जे० डैनिसने कहा है कि 'अत्यन्त करुण तथा संख्यातीत शब्दोंके द्वारा प्रकृतिका अनुकरण ही काव्य है और तीव्र भाव ( पैशन ) ही काव्यका विशिष्ट चिह्न है।' जौन्सनने

कहा है कि 'कविता केवल छन्दात्मक रचना है तथा कविता वह कला है, जिसके द्वारा सत्यसे आनन्दका गठबन्धन हो सके और विवेककी सहायताके लिये कल्पनाको निमंत्रित किया जा सके। कविताका तत्त्व ही नई खोज है और कविताका उद्देश्य है आनन्द देकर शिक्षा देना।' विलियम वर्ड्सवर्थने कहा है कि 'कविता सम्पूर्ण ज्ञानकी साँस और सूक्ष्मतर चेतना है। कविता शक्तिशाली भावोंका तथा शान्तिके समय स्मरण किए हुए भावों और उद्वेगोंका स्वयंप्रवाह है।' एस्० टी० कौलरिजने कहा है कि 'कविता साहित्य-रचनाका वह प्रकार है, जो विज्ञानसे उलटा है, जिसका तात्कालिक उद्देश्य आनन्द देना है, सत्य नहीं।' एक और स्थानपर उसने कहा है—'सर्वश्रेष्ठ क्रमसे शब्दोंको सजाना गद्य कहलाता है और सर्वश्रेष्ठ शब्दोंको सर्वश्रेष्ठ क्रमसे सजाना कविता।' पी० बी० शैलीने कहा है कि 'व्यापक अर्थमें कविताको हम कल्पनाकी अभिव्यक्ति कह सकते हैं क्योंकि वह सदा आनन्दसे संयुक्त रहती है।' जे० एच० न्यूमैनने कहा है कि 'अरस्तूके अनुसार आदर्शका प्रदर्शन ही कविता है और कविताका तत्त्व है कल्पना (फ़िक्शन)।' टी० कार्लाइलने कहा है कि 'मैं तो कविताकी पुरानी अनगढ़ बातको ठीक समझता हूँ कि कविता छन्दोमयी होनी चाहिए जिसमें सङ्गीत हो, जो गेय हो। ऐसा सङ्गीतमय विचार ऐसे मस्तिष्ककी उपज हो सकता है, जो किसी वस्तुके अत्यन्त अन्तरालमें प्रविष्ट हुआ है और उसके गूढ़तम रहस्यको खोज पाया है।' लार्ड मैकौलेने बताया है कि 'शब्दोंका इस प्रकारसे प्रयोग करना ही कविता है कि वे कल्पनामें भ्रान्ति उत्पन्न करें अर्थात् शब्दोंके द्वारा वह क्रिया करें जो चित्रकार रङ्गोंसे करता है।' ले हन्टने कहा है 'कविता तो सत्य, सौन्दर्य और शक्तिके तीव्र भावकी अभिव्यक्ति है, जो अपने विचारोंको कल्पना और भावनाके द्वारा स्पष्ट करती है।' एडगर एलेन पोने कहा है—'आनन्ददायक भावके साथ संयुक्त सङ्गीत ही कविता है और बिना सङ्गीतका विचार ही गद्य है।' मैथ्यू आरनोल्डने कहा है—'कविता तो केवल उस अभिव्यक्तिका अत्यन्त आनन्ददायक और पूर्ण रूप है जिसतक मानव-शब्द पहुँच सकते हैं।' उसीने एक स्थलपर कहा है—'कविता तो मनुष्यकी सबसे अधिक पूर्ण वाणी है, जिसमें वह सत्य कहनेकी अवस्थाके निकटतम पहुँच जाता है।' आगे चलकर उसने कहा है कि 'कविता तो जीवनकी समीक्षा है।' जे० एस मिल्ने कहा है कि 'कविता

तो विचारों और शब्दोंका वह समन्वय है, जिसमें हमारा भावावेग सहसा मूर्त्त हो जाता है।' वौट्स-डन्टनने कहा है—'भावात्मक तथा लयात्मक भाषामें मानव-मस्तिष्ककी प्रत्यक्ष और कलात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।' विलियम हैज़लिटने कहा है कि 'कविता तो कल्पना और भावोंकी भाषा है।' केविलने कहा है—'पूर्ण कल्पना और अति संगृहीत भावनाका मुक्ति-द्वार ही कविता है।' रस्किनने बताया है कि 'कल्पनाके द्वारा उदात्त भावोंके लिये उदात्त भूमिका जो सङ्केत मिलता है, वही कविता है।' कोर्टहोपने कहा है कि 'छन्दोमयी भाषामें काल्पनिक विचार और भावनाका उचित अभिव्यञ्जन करके आनन्द उत्पन्न करनेकी कला ही कविता है।' बैनेदेत्तो क्रोचेने कहा है कि 'कला (कविता) अन्तःप्रेरणा है।' किन्तु हमारा मत है—'कविता उस लयवती अथवा छन्दोवती वाग्योजनाको कहते हैं, जिसमें असाधारण अर्थारोपसे किसी पदार्थ-वर्णन या भावाभिव्यक्तिको सहृदय-हृद्य किया जाय।'

शब्दमें काव्यत्व

भारतीय आचार्योंने काव्यकी अनेक परिभाषाएँ दी हैं। १. दण्डीने काव्यादर्शमें और २. कान्तिचन्द्रने अपनी काव्यदीपिकामें 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः' [ इच्छित अर्थको व्यक्त कर देनेवाली पदावली ] को ही काव्य बताया है। ३. शौद्धोदनिने अलङ्कारशेखरमें और ४. वृत्तिकार केशव मिश्रने 'काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्' [ रस आदि गुणोंसे युक्त, सुननेमें सुखद वाक्य ] को ही काव्य बताया है। ५. भोजने सरस्वती-कण्ठाभरणमें कहा है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

[ जो कवि दोषरहित, गुण-सहित और अलङ्कारोंसे सजा हुआ रसात्मक वाक्य रचता है, उसे कीर्त्ति और प्रीति मिलती है। ] ६. विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' [ रसभरे ( रसीले ) वाक्यको ही काव्य ] बताया है। ७. जयदेवने चन्द्रालोकमें कहा है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

[ दोषरहित, लक्षणोंवाली, रीति तथा गुणोंसे गुँथी हुई, अलङ्कार और

रसोंवाली, अनेक छन्दोंमें सजी हुई वाणी ही काव्य कहला सकती है । ] ८. पण्डितराज जगन्नाथने माना है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' [ रमणीय अर्थका बोध करानेवाला शब्द-ही काव्य है । ] इन आठ मतोंने शब्दमें ही काव्यत्व माना गया है ।

## शब्द और अर्थ दोनोंमें काव्यत्व

कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ दोनोंमें काव्यत्व माना है । १. भामह, २. रुद्रट, ३. रुद्रट और ४. आनन्दवर्धनने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' [ जो शब्द और अर्थके सहित हो वही काव्य है । ] माना है । ५. वामनने 'काव्यालङ्कार' में 'काव्यशब्दोऽयम् गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते' [ गुण और अलङ्कारसे परिष्कृत शब्द और अर्थ ] को ही काव्य बताया है । ६. कुन्तकने अपने 'वक्रोक्तिजीवितमें' कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी ।।

[ असाधारण कवि-व्यापारसे युक्त और असाधारण कवि-कर्म जाननेवाले लोगोंको प्रसन्न करनेवाली रचनामें जो व्यवस्थित हितकर शब्द और अर्थ होते हैं, उन्हींको काव्य कहते हैं । ] ७. मम्मटने 'काव्य-प्रकाश' में और ८. 'हेमचन्द' ने काव्यानुशासनमें 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' [जो शब्द और अर्थ दोषरहित हों,गुण-युक्त हों और कहीं-कहीं अलङ्कारसे हीन भी हों ] उसे ही काव्य माना है । ९. वाग्भट्टने माना है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये ।।

[ जो कवि कीर्त्ति पाना चाहे उसे चाहिए कि भले शब्द और अर्थके ऐसे समूहसे काव्यकी रचना करे जो गुण और अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो, जिसकी रीति स्पष्ट हो और जो रसोंसे पूर्ण हो । ] १०. विद्याधरने 'एकावली' में सीधे-सीधे कहा है—

शब्दार्थौ वपुरस्य शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम् ।

[ शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं इसलिये शब्द और अर्थके शरीरवाली रचना ही काव्य कहलाती है । ] ११. विद्यानाथने 'प्रताप-रुद्रीय' में कहा है—

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ।।

[ गद्य तथा पद्य या दोनोंमें गुण और अलङ्कारसे युक्त, दोषसे रहित शब्द और अर्थसे जो रचना की जाती है, उसीको काव्यके पण्डित लोग काव्य मानते हैं । ] १२. अच्युतरायने 'साहित्य-सार' में लिखा है—

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम् ।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम् ।।

[ जो गद्य-पद्य आदिमें बँधा हुआ, गुणसे युक्त शब्द और अर्थ होता है वही काव्यका साधारण लक्षण है । ] १३. धर्मसूरीने साहित्यरत्नाकरमें कहा है— 'सगुणालंकृतिः काव्यम् पदार्थौ दोषवर्जितौ ।' [ गुणयुक्त, अलंकृत और दोषहीन शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं।] १४. क्षेमेन्द्रने 'कविकण्ठाभरण'में 'काव्यं विशिष्टशब्दार्थं - साहित्यसदलंकृतिः' [ अर्थात् वह विशिष्ट शब्द और अर्थ जो साहित्य-शास्त्रमें वर्णित श्रेष्ठ अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो ] उसे काव्य बताया है । १५. न्यायवागीशने 'अलङ्कार-चन्द्रिका' में कहा—

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ ।
नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते ।।

[ गुण और अलङ्कारसे युक्त, भावमें पगे हुए, सदा दोषसे मुक्त शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं । ]

ये पन्द्रह मत शब्द और अर्थमें ही काव्य बताते हैं ।

### अनुभाव-विभावका वर्णन ही काव्य

कुछ लोगोंने 'अनुभावविभावानां वर्णना काव्य-मुच्यते' अनुभाव और विभावके वर्णनको ही काव्य ] कहा है ।

### मतोंपर विचार

इन सब मतोंमें एक व्यापक दोष है । प्रायः सभीने शब्द या शब्दार्थकी निर्दोष रचनाको ही काव्य माना है । किन्तु यह नहीं विचारा कि मनुष्यकी रचना जबतक दैवप्रेरित न हो तबतक वह निर्दोष कैसे हो सकती है? और फिर जो कवि गुण , दोष और अलङ्कारका सदा ध्यान रक्खेगा उसकी रचनामें स्वाभाविकता कैसे आ सकती है ? क्योंकि वह पग-पगपर या तो यह चेष्टा करेगा कि मैं अलङ्कारोंका सन्निवेश करूँ अथवा यह विचार करनेके लिये रुकता और सँभलता चलेगा कि कहीं दोष न आ जाय । जिन कवियोंने इन नियमोंका ध्यान रखकर शब्द और अर्थको ही सजानेमें अपना कौशल

दिखाया है उनकी रचना रूढ, एकरस और लोक-समाराधनके गुणसे हीन रही। आचार्य मम्मटके कथनानुसार 'दोषरहित, गुणसहित, प्रायः अलंकृत किन्तु कभी-कभी अनलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य है' यह परिभाषा व्यापक रूपसे पण्डित-समाजमें मान्य है, किन्तु इस परिभाषाको पूर्णतः ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूप-लक्षणके भीतर किसी वस्तुके गुण-युक्त तथा दोषयुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम घोड़ेका स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न होगा कि 'दोषमुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको घोड़ा कहते हैं।' क्योंकि यद्यपि वेगसे चलना घोड़ेका गुण है, तथापि यदि वह वेगसे न चले तो भी उसके घोड़ेपनमें कोई अन्तर नहीं आवेगा, वह घोड़ा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त गुण शब्दका अर्थ यदि ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि लें तो उसका सम्बन्ध रीतिसे हो जायगा, जो उक्त लक्षणस्वरूपके भीतर नहीं आता। वस्तुतः गुणका सम्बन्ध रससे होता है, शब्द या अर्थसे नहीं। फिर परमात्माके सिवाय और कौन निर्दोष कहला ही सकता है १. चन्द्रालोककार जयदेवने मम्मटकी परिभाषाका खण्डन करते हुए लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

[ जो अलङ्कारहीन शब्दार्थको भी काव्य मान सकता है, वह यह क्यों नहीं मान लेता कि अग्नि ठण्ढी भी हो सकती है। ]

### रीति

इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामनने रीतिको काव्यका आत्मा बतलाया है। रीतिसे अर्थ है—गौड़ी, वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे अर्थात् इसका सम्बन्ध कानोंपर पड़नेवाले प्रभावसे है। वामन तो काव्यमें सङ्गीत-तत्त्वके समर्थक हैं। वे इसे ही कविता मानते हैं। पर विचारणीय बात यह है कि यदि हम इसीको कविताका आत्मा मान लें तो काव्य और सङ्गीत-तत्त्वके सम्मिश्रणसे केवल कविताका माधुर्य ही तो बढ़ता है। अतः काव्यमें रीति केवल सहायक-मात्र है। इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणमें केवल वर्णोंका ध्यान रक्खा गया है, शब्द और अर्थका नहीं। अतः केवल वर्णोंकी व्यवस्था ही काव्यानुभूतिके लिये पर्याप्त नहीं है।

### अलङ्कार

दूसरी ओर भामह और दण्डीने काव्यमें अलङ्कारका होना आवश्यक माना है। शोभामें वृद्धि करनेवाली वस्तुओंको अलङ्कार कहते हैं अर्थात् पहलेसे ही सुन्दर वस्तु उपस्थित रहती है, अलङ्कार केवल उसकी शोभा बढ़ाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि अलङ्कारोंसे शोभा बढ़ सकती है, न कि उसकी उत्पत्ति होती है। कभी-कभी अत्यधिक अलङ्कारोंसे सुन्दर वस्तु भी असुन्दर लगती है, असुन्दर तथा अशोभन वस्तु और भी भद्दी लगने लगती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि बलपूर्वक अलङ्कार भरे ही जायँ। दृश्य-काव्यकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो अलङ्कारोंकी सदा आवश्यकता भी नहीं पड़ती क्योंकि उसमें जो वाच्यांश होता है वह सब लोक-व्यवहारकी बातचीतपर आश्रित रहता है। कहीं-कहीं अधिक आवश्यकता पड़नेपर किसी विशिष्ट पात्रकी भाषामें अलङ्कारका प्रयोग कराया जा सकता है, किन्तु यदि सभी पात्रोंसे अलङ्कारयुक्त भाषामें बातचीत कराई जाय तब तो पूरा नाटक ही अस्वाभाविक हो जाय।

### रमणीयता

इस सम्बन्धमें पण्डितराज जगन्नाथने काव्यकी परिभाषा की है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' [ रमणीय अर्थ सुझानेवाला शब्द ही काव्य है। ] और रमणीयताकी परिभाषा यह है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' [ क्षण-क्षणमें जो नया-नया रूप धारण करे वही रमणीयता कहलाती है।] किन्तु महाकाव्य और नाटकमें सदा सब वाक्य रमणीय ही हों, यह भी सम्भव नहीं क्योंकि वाक्योंकी प्रकृति तो उसके प्रयोग करनेवाले पात्रकी प्रकृतिपर अवलम्बित है। दुष्ट, क्रूर, मूर्ख और उन्मत्तके सम्भाषणमें नाटककार रमणीयता कहाँसे लाकर भर सकता है? हाँ, यदि 'वाक्य' शब्दकी अतिव्याप्ति करके उसका अर्थ 'काव्य' कर लिया जाय तब यह परिभाषा मान्य हो सकती है। इसीलिये अभिनवभरतने अभिनव-नाट्यशास्त्रमें 'प्रबन्ध-सारस्यं काव्यत्वम्', अर्थात् प्रबन्धकी सरलताको ही काव्य माना है।

### रसात्मकता

विश्वनाथ कविराजने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर बड़ी गोल व्याख्या की है। रसात्मक शब्द इतना व्यापक है कि उसकी ठीक-ठीक

परिधिका ज्ञान होना ही बड़ा कठिन है। एक वाक्य जो एक व्यक्तिको सरस और मधुर लग सकता है वह दूसरोंको भी वैसा ही सरस लगे यह आवश्यक नहीं। फिर साहित्य-ग्राहकोंमें तो विभिन्न रुचिके लोग आते हैं। उन सबको समान रूपसे तुष्ट करना कविका कर्त्तव्य है। अतः यह परिभाषा भी काव्यकी परिभाषाके लिये बहुत सहायक नहीं हो सकती।

### ध्वनि

आनन्दवर्धनाचार्यने अपने 'ध्वन्यालोक'में ध्वनिको ही काव्यका आत्मा माना है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।' वे लोग उस विशेष अर्थको 'ध्वनि' कहते हैं जो शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धका अतिक्रमण करके श्रोता या दर्शकको किसी 'विशेष अर्थ' की प्रतीति करावे। यह परिभाषा कई दृष्टियोंसे विशेषतः नाटककी दृष्टिसे अत्यन्त विचारणीय है। नाटकमें एक ही रङ्गपीठपर अनेक अभिनेता उपस्थित होते हैं। उनमेंसे नायक एक वाक्य कहता है 'मैं सब समझता हूँ।' इस एक वाक्यको रङ्गपीठपर उपस्थित प्रतिनायक तो भयमिश्रित आशङ्काके साथ समझता है कि मेरा भेद खुल गया और राजाका मित्र यह समझता कि मैं जिस कार्यके लिये आया हूँ उस कार्यमें राजाकी सहायता प्राप्त होगी। इतना ही नहीं, कभी-कभी मुस्कराहट, आश्चर्यमुद्रा और गम्भीरता आदि भाव-भङ्गियोंसे भी विशिष्ट ध्वनि निकलती है, जिसका प्रभाव उस दृश्यके पात्रों तथा दर्शकोंपर अलग-अलग ढङ्गसे पड़ता है। अतः शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धात्मक परिणामके अतिरिक्त भी उसका कुछ भाव होता है, वही वास्तवमें ध्वनि है।

### तुलसीकी काव्य-परिभाषा

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें प्रसङ्गवश काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

[ जो कविता सरल हो अर्थात् कहते ही समझमें आ जाय और जिसमें किसी विमल कीर्तिवाले महापुरुषका वर्णन हो, उसी कविताका चतुर लोग आदर करते हैं। वही कविता श्रेष्ठ होती है, जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर भुलाकर उसकी बड़ाई करने लगे। ]

यह परिभाषा है तो प्रबन्ध-काव्यके लिये, किन्तु इसमेंसे यदि 'कीरति बिमल' वाला अंश निकाल दें, तो सब प्रकारके कवि-कर्मके लिये इस परिभाषाका प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि किसी भी काव्यका पहला गुण यह होना चाहिए कि वह समझमें आवे। यदि कविता श्रोताओंकी समझमें न आ सके तो वह रस, अलङ्कार और रीतिसे युक्त होकर भी क्या करेगी ? और फिर यदि कवितामें यह शक्ति है कि सुजान भी आदर करें, और शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर उसकी बड़ाई करें, तो यह स्पष्ट है कि उसमें श्रेष्ठ काव्यके सब गुणतत्त्व विद्यमान हैं। क्योंकि काव्य तो समाजके लिये रचा जाता है और यदि समाज ही उसके लाभसे वञ्चित हो तो उसका होना न होना बराबर है। सम्भवतः इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने काव्यका विनियोग बताते हुए कहा है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरिसम सब कहँ हित होई ॥

[ वही कीर्त्ति, कविता और ऐश्वर्य श्रेष्ठ है जिससे गङ्गाजीके समान सबका हित होता हो। ]

अँगरेज़ कवि कीट्सने पोपके 'रेप औफ़ दि लौक' काव्यपर टिप्पणी करते हुए काव्यकी यह परिभाषा बताई थी—

···· फौर्गेटिंग दि ग्रेट एन्ड
औफ़ पोइट्री, दैट इट शुड बी ए फ्रेन्ड
टु सूद दि केअर्स ऐन्ड लिफ़्ट दि थौट्स औफ़ मैन्।

[ पोपने ध्यानमें नहीं रक्खा कि कविता काव्यका यह महान् उद्देश्य है मित्रके समान मनुष्यकी चिन्ताओंका शमन करना और मनुष्यके विचारोंको उदात्त बनाना। ] यह वक्तव्य शुद्ध परिभाषात्मक नहीं है, केवल काव्यका प्रयोजन ही व्यक्त करता है कि काव्यकी रचना समाजके हितके लिये होती है। यदि गोस्वामीजीकी और कीट्सकी उपर्यङ्कित परिभाषाओंका विश्लेषण किया जाय तो उसका तथ्य परिभाषा-निर्माण करनेमें सहायक हो सकेगा।

### अभिनवभरतका मत

समाजमें अनेक प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं। वे सभी उसी रचनाकी ओर आकृष्ट हो सकते हैं, जिसमें कुछ सुन्दर, अद्भुत और असाधारण प्रसङ्ग हों। ऐसे प्रसङ्ग होनेपर भी जबतक वे सरल और सर्वबोध न होंगे तबतक लोगोंकी रुचि उनमें न हो सकेगी। अतः काव्य सरल हो, उसमें सुन्दर

अद्भुत, अलौकिक वस्तुओं, व्यक्तियों या व्यापारोंका समावेश हो, उसकी भाषा सरल हो, असाधारण होते हुए भी सर्वबोध उक्तियोंसे पूर्ण हो और ऐसी शैलीमें हो कि उससे लोगोंका जी न ऊबे वरन् उत्तरोत्तर उनके कुतूहलकी वृद्धि होती चले। इसलिये अभिनवभरतका मत है—'कौतूहलाविरलत्वं काव्यसारस्यम्।' [ अविरल कौतूहल ही काव्यकी सरसता कहलाती है। ]

## आचार्य शुक्लकी परिभाषा

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने 'कविता क्या है' निबन्धमें कविता या काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

'कविता वह साधन है, जिसके द्वारा हम शेष सृष्टिके साथ अपने रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह करते हैं।'

इस परिभाषामें भी यह स्पष्ट है कि हमारे रागात्मक सम्बन्ध कविता-रूपी साधनके द्वारा तबतक व्यक्त नहीं हो सकते जबतक हम उस साधनको अर्थात् कविताके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझ लें। और फिर रागात्मक सम्बन्धोंकी रक्षा और निर्वाह तभी सम्भव है जब हम कवितामें वर्णित वस्तु, व्यक्ति या व्यापारकी भावनासे अपनेको भावित न कर लें। यह भावना तभी सम्भव है जब कविकर्म इस कौशलसे किया गया हो कि कविताके द्वारा कवि जिन भावोंका श्रोताके हृदयमें संक्रमण कराना चाहता है, वे भली प्रकार शब्दों और अर्थोंके द्वारा श्रोताके मानसमें प्रकट हो जायँ। यह विभावन तभी सम्भव है जब शब्द और अर्थ सरल हों, इस प्रकार गुँथे हुए हों कि उनके वैचित्र्य अथवा रमणीयत्वसे आकृष्ट होकर श्रोता या पाठक उस काव्यमें लीन हो जाय। यह कार्य केवल वाक्यों या शब्दोंके अलग-अलग अस्तित्वसे नहीं होता। यह तभी सम्भव है जब पूरी रचना आदिसे अन्ततक कुतूहलजनक, सरल और सरल शब्दार्थ-व्यापारसे मण्डित हो। इस प्रकार कवि-द्वारा निर्दिष्ट काव्यके इष्ट फलकी साधना करनेवाली कवि-रचनाको ही काव्य माना जा सकता है। यह रचना चाहे मुक्तकके रूपमें एक दोहा, श्लोक या गीत-मात्र हो अथवा महाकाव्य या नाटक हो।

कविताकी सबसे सरल परिभाषा स्वयं काव्य शब्द ही है। कवि-कर्मको ही काव्य कहते हैं। अतः किसी प्रकारका भी कविकर्म काव्य हो सकता है। यदि प्लेटोकी सम्मति ली जाय तो कवियोंको किसी लोकतन्त्र-

शासनमें रहने ही न दिया जाय किन्तु कवि सब युगोंमें सदा सब देशोंमें होते चले आए हैं। समाज और राष्ट्रके नेताओंका कर्त्तव्य है कि वे सत्काव्य और असत्काव्यकी परिभाषाएँ निश्चित करें और निम्न कोटिके कवियोंको उन नियमोंके अनुसार रचना करनेके लिये बाध्य करें। किन्तु जो श्रेष्ठ आत्माभिमानी कवि होंगे वे निश्शङ्क होकर शाश्वत काव्यकी सृष्टि करेंगे क्योंकि मम्मटने भी कहा है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

[ प्रकृतिके बनाए हुए समस्त नियमोंसे मुक्त, सदा आह्लादसे भरी हुई, स्वतन्त्र, नये ( या नौ ) रसोंसे सजी हुई कविकी वाणी सदा विजयी हो। ]

## गद्य और पद्य

हमारे देशमें गद्य और पद्य दोनों काव्यके अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँतक कि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' [ गद्य ही कवियोंकी सच्ची कसौटी कही गई है। ] कहकर गद्यकारको ही श्रेष्ठ कवि बताया गया है। आचार्योंने गद्यको 'वृत्तानुगन्धी' अर्थात् छन्दोमय कविताका-सा रस भरे हुए गद्यको ही अच्छा गद्य बताया है। किन्तु योरोपमें गद्य और पद्य दोनों अलग-अलग माने गए। मोटे रूपसे सरस छन्दोबद्ध रचनाको पद्य और नीरस छन्दहीन रचनाको गद्य बताया गया है। यहाँतक कि यदि कोई नीरस कविता हो तो उसे भी वे प्रोज़ेक ( गद्यात्मक ) अर्थात् नीरस कहते हैं अर्थात् गद्य वहाँ नीरसताका द्योतक है। पहले योरोपमें कविताका सम्बन्ध सङ्गीतसे ही था। हेलेना पुस्तकमें गार्गियासने कहा है—'छन्दमें लिखी हुई प्रत्येक वाणीको मैं कविता कहता और समझता हूँ।' अफलातून ( प्लातो ) ने अपने जनतन्त्र ( रिपब्लिक, ६०१ बी ) में और अरस्तूने भाषणशास्त्र ( ह्टौरिक्स १४०६ बी, १४०८ बी ) में इसी बातका समर्थन किया है। किन्तु अरस्तूने अपने काव्यशास्त्र ( पेरिपोइतिखीस अर्थात् पोएटिक्स १४४७ बी ) में स्पष्ट रूपसे गद्य और कवितामें अन्तर समझाया है। हौरेसके समयतक यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो गया था क्योंकि उसने सिसरोकी षट्पदियोंको पद्यानुबद्ध गद्य ही माना था। योरोपके जागरणके पश्चात् यह भेद अधिक स्पष्ट हो गया। दुवले, रीमस और सिडनीने कहा है कि 'पद्यको काव्यका कारण

नहीं मानना चाहिए। वह तो अलङ्कार-मात्र है।' जौन्सनने कहा है कि 'कवि और तुक्कड़ दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। पद्यमें लिखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं, वह तो बेचारा कवितासे पेट पालनेवाला होता है।' वर्ड्सवर्थने प्रीफ़ेसमें कहा है कि 'काव्यका उलटा छन्दहीन शब्द नहीं वरन् विज्ञान या तथ्य होता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि कविता और गद्यमें उनके रूपका नहीं, वरन् सामग्रीका विभेद है। सर पी० हार्टोगने इसपर टिप्पणी करते हुए अपने 'कविता और पद्यके सम्बन्धपर' ( औन दि रिलेशन औफ़ पोएट्री टु प्रोज़ ) में कहा है कि 'कवितामें एक विशेष अर्थ या भाव-सामग्री होनी चाहिए, जो पद्यमें नहीं प्राप्त हो सकती।' इतना सब शास्त्रार्थ होनेपर भी कविता और पद्य दोनों समानार्थी शब्द माने जाते हैं। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो लोग पद्यको कवितासे भिन्न मानते हैं, वे भी यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि 'सम्पूर्ण कविता पद्यमें ही लिखी जानी चाहिए' और यह बात हेगेल जैसे दार्शनिक और आर्नोल्ड जैसे समीक्ष्यवादियोंने भी मानी है।

## विदेशी आचार्योंके मतोंपर विचार

अरस्तूने कहीं भी खुलकर काव्यकी परिभाषा नहीं बताई है। उसने अपने काव्यशास्त्रमें कविताको जो अनुकरण बताया है वह नाटक या प्रबन्ध काव्यके लिये ठीक हो सकता है पर भावात्मक मुक्तक या गीतको अनुकरण कैसे माना जा सकता है। पीछे स्टोइकोंने अनुकरण और काव्यको एक ही मान लिया और सोलहवीं शताब्दिमें इतालवियोंने इसी विचारको प्रोत्साहन दिया। इसका तात्पर्य यह है कि कविता भी कल्पित वस्तु या फ़िक्शन है यह सचमुच विचित्र बात है कि योरोपीय काव्य-सिद्धान्त-शास्त्रमें कविताको अधिकांश कल्पना ही मानते हैं। फिललेमन हालेनने जेम्स ला आँतकी दी हुई परिभाषाका अनुवाद है कि 'कविता तो मिथ्या कथाओंको गढ़ने और खोज निकालनेका कौशल है।' जौन्सनने भी कहा है कि 'छन्दमें लिखनेवाला कवि नहीं होता। कवि तो वही है जो मिथ्या कथाएँ बनावे और गढ़े, क्योंकि कथा और कल्पना तो किसी भी काव्य-ग्रन्थ या कविताके शरीर और आत्मा हैं।' मार्स्टनने भी यही पूछा है—'बताओ तो आलोचक महोदय! क्या काव्यका आत्मा कल्पित कथा नहीं है ?' डोनने अपने 'उपदेश' (सर्मन्स)

में कहा है कि 'कविता तो झूठी रचना है, क्योंकि वह अस्तित्वहीन वस्तुओंको ऐसे उपस्थित करती है मानो उनका अस्तित्व हो।' ड्राइडनने भी अपने 'निबन्धों' ( ऐस्सेज़ ) में कहा है—'मनगढ़न ही कविताका तत्त्व है।' इस युगमें भी एफ़०सी० प्रेस्कौटने अपने 'कवि-मस्तिष्क' ( दि पोएटिक माइण्ड ) में कहा है—'कविता गद्यमें भी उपस्थित हो सकती है और पद्यमें भी। उसका तत्त्व है मिथ्या गाथा ( मिथ ), मनगढ़न ( फ़िक्शन ) या काव्य ( पोएट्री ); तीनों एक ही बात है।'

होरेसने कविताको गद्यसे भिन्न बताते समय कल्पना या अनुकरणकी बात नहीं सोची थी। होरेसके अनुसार यह भेद उनके अलङ्करण, प्रवाह या शैलीका है। उसके अनुसार 'कविमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वह उत्तेजित कर सके और उसकी भव्यताका प्रभाव पड़े।' उसके मध्यकालमें कविताकी यही विशेषता समझी जाती थी कि 'उसकी भाषा असाधारण रूपसे आलङ्कारिक और भव्य हो।' तेरहवीं शताब्दिमें व्यूवेके विंसेंटने कविताकी एक विचित्र परिभाषा बनाई है, जिसमें कहा गया है—'कविता वह काल्पनिक वस्तु है जो अलङ्कार तथा भाषाके अन्य उदात्त सौन्दर्योंसे आकर्षक बन गई हो।' उसी समयके लगभग दाँतेने 'कविताको सङ्गीतमय आलङ्कारिक कल्पना' बताया था। यह अलङ्कारका रोग ऐसा लगा कि पीछेके कवि लोग अलङ्कार-शास्त्री ही कहलाए जाने लगे। मैथ्यू आर्नोल्डने कविताके विषयमें कहा है—'कविताके दो कार्य हैं; १. एक तो मनुष्यके विचारों और भावोंके कोषोंका अभिवर्धन करना और २. दूसरे, मस्तिष्कको एक नियमित भावके साथ, अनेक अन्तःकथाओंके साथ और भव्य शैलीसे संयत और विकसित करना।'

इधर जबसे मनोविज्ञानकी चर्चा चारों ओर होने लगी है तबसे कविताके पीछे रचयिताकी मानसिक प्रक्रिया या भावनाओंको समझनेकी समस्या उठ खड़ी हुई है। आजकल काव्यकी प्रकृतिके सम्बन्धमें तीन विचार अधिक प्रचलित हैं। कुछ लोग कविताको 'अभिव्यक्तिकी क्रिया' मानते हैं। इनमें क्रोचे-जैसे कुछ लोग तो कविता और अभिव्यक्तिको एक ही मानते हैं। उनका कहना है कि 'कोई वाणी, जहाँतक वह अभिव्यक्ति-शील है वहाँतक कवितामयी है।' किन्तु ये सिद्धान्त अभिव्यक्तिके सिद्धान्तमें इतने घुल-मिल गए हैं कि वास्तवमें यह भेद अभिव्यक्तिकी क्रियाका नहीं है वरन् जो अभिव्यक्त

किया जा रहा है ( कल्पना भाव आदि ), उसकी प्रकृतिका है। दूसरे दलका यह विचार है कि 'कविताकी क्रिया भाव-वहनकी क्रिया है।' पर गद्य भी भाव-वहनका ही काम करता है। अतः ये दोनों क्रियामें भेद न बताकर वहनीय वस्तु ( अनुभव, भाव या ज्ञान ) की प्रकृतिमें ही भेद स्थापित करते हैं। उनके अनुसार 'गद्य बड़े रूखे और सौन्दर्यहीन ढङ्गसे भाव व्यक्त करता है किन्तु कवितामें यह अभिव्यक्ति या भाव-वहन बड़ा सटीक, संक्षिप्त और अधिक भावपूर्ण होता है, जिसके कारण कविता गद्यकी अपेक्षा अधिक भाव-वहन कर सकती है। तीसरे विचारवालोंका कहना है कि 'काव्यकी क्रिया केवल एक वस्तु अर्थात् कविताका बनाना-मात्र है।' इस विचारके अन्तर्गत अभिव्यक्तिकी सम्भावना और भाव-वहनकी भावना निहित है किन्तु इन सिद्धान्तोंमें उसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। ये लोग भावकी अपेक्षा उन तत्त्वोंको अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, जो कविता-निर्माणमें आवश्यक होते हैं।

काव्यकी क्रियाके सम्बन्धमेंजो भी विचार हों और भावको चाहे जितना भी महत्त्व दिया जाता हो, पर आजके समीक्ष्यवादी यह समझते हैं कि 'काव्यमें व्यक्त किए हुए भावकी प्रकृति, गद्यमें व्यक्त किए हुए भावसे भिन्न है।' स्वैरवादी आन्दोलन ( रोमांटिक मूवमेंट ) के समयसे तो कविताका पूर्ण प्रभाव ही आवश्यक समझा जाता रहा अर्थात् कविताका पढ़नेवालेके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है और उसकी क्या भावना होती है—यह बात मुख्य मानी जाती रही। आजका समीक्ष्यवादी कहता है कि 'कविता केवल ज्ञानबोध करानेके लिये या व्यावहारिक निर्देशके लिये नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य यह है कि वह ऐसा भाव उपस्थित करे, जिससे यह गन्ध ही न निकले कि वह कोई ज्ञानबोध करा रही है या वह व्यावहारिक जीवनसे सम्बद्ध है।' उन्नीसवीं शताब्दिमें 'काव्यगत भाव' वही समझा जाने लगा 'जो भावात्मक या व्यापक होनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष और विशिष्ट हो।' बहुतसे लोग इससे असहमत हैं, फिर भी भावना यही है। आजकल काव्यके सम्बन्धमें जो शास्त्रार्थ हो रहे हैं उनमें कल्पनाकी बात कम सुनाई पड़ती है किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें कल्पनाको ही काव्यका प्रधान तत्त्व माना जाता था, जिससे ज्ञानकी प्राप्ति और उसका समझना सम्भव होता था। आजकलके प्रायः सभी समीक्ष्यवादी वर्ड्सवर्थके समान काव्यका उलटा विज्ञान ही मानते हैं।

### सायास और अनायास काव्य

कविकी वाणी दो प्रकारसे व्यक्त होती है—१. एक अनायास अर्थात् बिना किसी प्रकारके बौद्धिक या मानसिक प्रयत्नसे, जैसे भगवान् प्राचेतसके मुखसे क्रौञ्चमिथुनका वध करनेवाले निषादके प्रति 'मा निषाद' वाली उक्ति सहसा फूट उठी थी और जिसके लिये कहा गया है 'शोकः श्लोकत्वमागतः' अर्थात् शोक ही श्लोक बनकर निकला।' यही अनायास, स्वाभाविक, नैसर्गिक, स्वयंव्यक्त कविता है। केवल भावात्मक मुक्तक अथवा तन्मयतायुक्त प्रगीत ही इस श्रेणीकी सात्त्विक रचनाएँ होती हैं। २. दूसरे सायास, जिनमें प्रबन्ध काव्य, गद्यकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा निबन्ध इत्यादि साहित्यिक रूप आते हैं क्योंकि उनमें कवि अपनी बुद्धि तथा कल्पना इत्यादिसे गढ़कर कृत्रिम कलापूर्ण रचनाका कौशल प्रकट करता है। ये सायास रचनाएँ अस्वाभाविक होते हुए भी कवि-कौशलके कारण स्वाभाविक-तुल्य प्रतीत होती हैं। इन्हींमें जो काव्य-कौशलसे हीन होती हैं वे लोकप्रिय नहीं हो पातीं और जिनमें कवि लोक-जिज्ञासा और लोकाकांक्षाकी तृप्ति करनेके साधन उपस्थित करते हैं, वे लोकप्रिय और लोक-प्रसिद्ध हो जाती हैं। ऐसे काव्य सायास और सोद्देश्य होते हैं। इसके विपरीत जो अनायास या स्वाभाविक काव्य होते हैं वे 'स्वान्तःसुखाय' या कविके अपने मनस्तोषके लिये रचे जाते हैं, भले ही इसमें औरोंको रस मिलता हो। वे ही सात्त्विक तथा श्रेष्ठतर काव्य हैं।

### कविताका भाग्य

कोई कविता अच्छी हो या बुरी किन्तु उसकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि भाग्यपर निर्भर है। यदि किसी कविताको उचित प्रोत्साहन और आश्रय मिले अथवा अच्छे समीक्षवादीका समर्थन मिले तो वह अच्छी न होते हुए भी प्रसिद्ध हो जाती है, जैसे आजकलकी अनेक रचनाएँ। जायसीको सूर-तुलसीके समकक्ष बैठानेका श्रेय एकमात्र आचार्य शुक्लजीको है, अन्यथा वह तत्त्वतः इतनी उत्कृष्ट रचना नहीं है कि उसे इतना गौरवममय पद दिया जाता। प्रसादजीकी कामायनी अत्यन्त दुर्बोध, असम्बद्ध और अतिलाक्षणिक है किन्तु उनके समर्थकोंकी प्रबलताने उसे इतने ऊपर पहुँचा दिया है कि साधारण बुद्धिका समीक्षवादी आतङ्कके कारण उसपर लेखनी उठानेसे घबराता है। यही बात मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत'के सम्बन्धमें भी है किन्तु

उसकी समीक्षा इधर ठीक-ठीक होने लगी है। अतः कविताकी श्रेष्ठताका आधार अब विज्ञापन, प्रचार और समर्थन है, गुण नहीं।

## कविता और छन्द

स्वैरवादने छन्दःशास्त्रके क्षेत्रमें जो नवीनता उत्पन्न की, वह यही थी कि प्राचीन छन्दोयोजनाके सब कठोर नियम इन्होंने शिथिल कर दिए। फ्रान्समें ह्यूगोने तथा सेन्त ब्यूएने कुछ नये छन्दोंका प्रयोग किया किन्तु फ्रांसीसी स्वैरवादी लोग रचना और साधारण विचारोंकी उत्पत्तिमें अधिक लगे हुए थे, काव्य-सिद्धान्त या काव्य-कौशलमें कम। दूसरी ओर जर्मन स्वैरवादी सौन्दर्य-शास्त्रने पद्यबद्धताको रूढ अर्थमें केवल बाह्य शृङ्गार-मात्र नहीं माना, वरन् उसे आध्यात्मिक एकात्मताका प्रत्यक्ष चिह्न माना। होल्डरलिनने यह कहा कि 'भावनाके नियम छन्दोमय ही होने चाहिएँ।' सब स्थानोंपर विशेषकर इंग्लैन्ड और इटलीमें पद्य बहुत शिथिल बना दिया गया। उनमें ऐसे नये स्वच्छन्द रूप डाल दिए गए, जो शास्त्रीय न होनेपर भी लोकप्रिय थे। किन्तु ये नवीनताएँ वास्तवमें छन्दके क्षेत्रमें नये संयोजन-मात्र थे। अपने नियमित क्षेत्रमें पद्यको बिना छेड़े छोड़ दिया गया था। 'स्वतन्त्र पद्य' ( फ्री वर्स ) अचानक नोवालिसकी एक पुस्तक निकली, जिसकी पुस्ती तो पद्यके ढङ्गपर लिखी हुई थी किन्तु छपकर वह गद्य-रूपमें प्रस्तुत हुई।

एक पीढ़ी पश्चात् सर्व-प्रथम 'गेस्पार्ड दे लानुइत' पत्रमें गद्य-कविताएँ प्रकाशित हुईं किन्तु पुस्तककी ओर तबतक ध्यान नहीं गया, जबतक बौदेलेयाने अपने उसे ग्रन्थके लिये आदर्श नहीं बनाया। वास्तवमें स्वैरवादके पश्चात् जो नये काव्यान्दोलन हुए ( कलार्थ-कला, पारनासे, और प्रतीकवाद आदि ), वे यही मानते रहे कि छन्दोमयता ही काव्यकी भाषा है। उन्होंने फ्रान्सके छन्दरूपोंका विस्तार किया और स्वैरवादी स्वच्छन्द प्रयोगोंका त्याग भी किया। इससे फ्रान्सीसी कविता अधिक समृद्ध हुई और साथ-साथ अधिक नियम-बद्ध और सुरूप भी हुई। बौदेलेया भी होल्डरलिनका समर्थक था और छन्दका पक्षपाती।

यह कहा जाता है कि प्रथम स्वच्छन्द पद्य फ्रान्सी-परूवियन कवि देला-रोचा दे वर्गालो-द्वारा प्रारम्भ हुए और फ्रान्सी-पोलिश कवयित्री मेरी क्रिसिंस्का ( १८८० ) द्वारा लिखे गए। किन्तु ये वास्तवमें उस रूपकी गद्य-कविताएँ थीं,

जो रूप प्रायः परजातीय भाषामें कविता करनेवाले प्रयोग करते थे। जून १८८६ में प्रतीकवादी पत्र 'ला वोग'में रिम्बाउटकी लिखी हुई दो स्वतन्त्र-छन्दीय पोथियाँ छपीं। उसके पश्चात् तो ऐसी कविताओंका ताँता लग गया। दूसरी पीढ़ीके प्रतीकवादियोंने मानो युद्ध जीत लिया, यहाँतक कि जिस मलार्मेने प्रारम्भमें इसका विरोध किया था, उसीने स्वयं इसमें रचना की, जिसे इतालवी भविष्यवादियोंने 'पैरोल इन लिबरता'की संज्ञा दी। जो लोग प्रतीकवादमें विश्वास नहीं करते थे, वे नये सिद्धान्तोंकी ओर झुक चले, जैसे शक्तिवाद (वाइटलिज़्म) और बर्गसनके अन्तःप्रेरणा-सिद्धान्तकी ओर या स्वैरवादी व्यक्तिवादकी ओर झुक चले। नियमित पद्य-बद्धताको छन्द-स्वातन्त्र्यकी ओर ले जानेमें 'वर्स लिबेरे' भी सहायक हुआ, जो स्वैरवादियोंका वह अतिशय प्रयास था जिसने रूढ छन्दोंको लचीला बना दिया। इस प्रयासके आचार्य वर्लें थे।

इस स्वच्छन्द छन्दके विकाससे कुछ और भी नये प्रकारके काव्यरूप उपस्थित हुए। वास्तवमें यह स्वच्छन्द छन्द उन सम्प्रदायों और आन्दोलनोंका काव्य-माध्यम है, जो एक ओर तो स्वच्छन्दता और बुद्धिवाद-विद्रोहकी बात करते हैं और दूसरी ओर सामाजिक और सङ्घ-शक्तियोंकी जैसे, (पौप्यूलिज़्म या लोकचित्रणवाद, यूनानिमिज़्म या सङ्घवाद, वौर्टिसिज़्म या वर्त्तमानवाद, डाडाइज़्म या परम-स्वातन्त्र्यवाद, फ़्यूचरिज़्म या भविष्यवाद और सररीयलिज़्म या तथ्यातिरेकवाद। अमरीकी और इतालवी कवि इस स्वच्छन्द छन्दमें प्रगीतकी शुद्धता और उदात्त रूप उत्पन्न करके एक नये प्रकारकी छन्द-रचना करने लगे हैं। इस प्रकार वे निश्छन्द कविताको शुद्ध करते और छन्दोबद्धताके कारण उत्पन्न होनेवाली असङ्गत वाग्विषमताओंको दूर रखते हैं। प्राचीन भारतीय छन्दःशास्त्रमें मात्रिक और वर्णिक छन्दमें रचना करनेकी प्रणाली तो थी किन्तु साथ ही तुकका बन्धन नहीं था। इसीके साथ-साथ एक विशेषता यह भी थी कि वे लोग गद्यको भी वृत्तानुगन्धी मानते थे इसलिये प्रारम्भमें योरोपमें जो गद्य-कविताएँ लिखी गईं उनमें भी लयका ध्यान रक्खा जाता था, केवल छन्दोंमें रक्खे जानेवाले लघु और गुरु पदोंकी गणना नहीं की जाती थी। किन्तु व्यापक रूपसे छन्दोमयी-रचनाको ही हमारे यहाँ कविता मानते रहे।

### शुद्ध कविता

कुछ समीक्ष्यवादियों और विद्वानोंका विचित्र मत है कि 'लयात्मक अभिव्यक्तिकी कुछ एक विचित्र और अवर्णनीय कल्पित तत्त्व-वृत्ति ही कविताका तत्त्व है।' इस सिद्धान्तके बहुत अर्थ लगाए गए और १८८४ में इसे स्वैरवादकी प्रतिक्रियाके रूपमें माना गया। इसके समर्थक कहते हैं कि 'कवितामें व्यर्थ शब्दाडम्बरकी टीम-टाम नहीं होनी चाहिए और सङ्गीत-तत्त्व अधिक होना चाहिए।' अर्थात् उसमें रूप और विषयकी एकात्मता होनी चाहिए।

### मौखिक काव्य

प्रारम्भमें सब देशोंमें मौखिक कविता ही पाई जाती थी, जो अब भी लोकमें प्रचलित है। यह पाँच रूपोंमें मिलती है—१. कथात्मक काव्य, जो विनोदके लिये होती है किन्तु व्यापक नहीं। हिब्रू, अफ्रीकी आयरिश, और वेल्श जातियोंमें कम हैं। गद्य रूपमें ऐसी कथाएँ बहुत हैं। २. कुछ प्रवचन और सम्वाद, जो बड़े ग्रन्थोंमें हैं किन्तु स्वतन्त्र कविताके रूपमें भी सब स्थानोंपर मिलते हैं। प्रायः इङ्गलैण्ड, रूस, भारत, हिब्रू, अफ्रीका, मध्यकालीन काव्य और वीरकाव्यमें भी हैं। ३. उपदेशात्मक कविता और कथा, जो व्यक्तियोंसे सम्बद्ध हैं, वे संस्कृत और हिब्रूमें बहुत मिलती हैं। ४. प्रार्थना, स्तोत्र आदिके रूपमें सब स्थानोंपर मिलती हैं। ५. भिन्न प्रकारकी कविताएँ, जिनका सम्बन्ध कवि और परिदृश्योंसे है, वे भी सब स्थानोंपर मिलती हैं किन्तु अब प्रायः नहीं होती।

### कविताके रूप

कविता निम्नलिखित रूपोंमें मिलती है—

१. कथात्मक या प्रबन्ध काव्य २. वर्णनात्मक, ३. विचारात्मक, ४. भावात्मक और ५. चित्रकाव्य। इनमेंसे कथात्मकके अन्तर्गत महावंशकाव्य (ईपिक), एकवंशकाव्य, एक-नायककाव्य, खण्ड-कथाकाव्य, एकार्थकाव्य, गीति-कथा, मुक्तक प्रबन्ध, नाट्य-प्रगीत और आत्मचरित आते हैं। वर्णनात्मकके अन्तर्गत, किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, दृश्य, यात्राका वर्णन आता है। विचारात्मकमें नीतिबोधक, धर्म-निर्देशक या उपदेशप्रद कविताएँ आती हैं। भावात्मकमें सब प्रकारकी भावनाओंको व्यक्त करनेवाली व्यक्तिगत मुक्तक कविताएँ, गीत, प्रगीत, प्रेमगीत, शोकगीत, स्तोत्र, प्रार्थना, आत्मनिवेदन,

दैन्य-प्रदर्शन, उपालम्भ आदिकी रचनाएँ आती हैं। चित्रात्मकमें खड्गबन्ध आदि चित्र-काव्योंके अतिरिक्त शब्द-चित्र, प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, अपह्नुति (मुकरनि), कूट, पदगुप्त, मात्राच्युत आदि, अन्तरालाप, बहिरालाप, प्रश्नोत्तर, चित्र, भाषा-चित्र या भाषासमक, अन्योक्ति आदि आती हैं। किन्तु यह सूची पूर्ण नहीं है। विषय, शैली, कौशल, छन्द, उद्देश्य आदिकी दृष्टिसे न जाने कितने प्रकारकी कविताएँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं जिनमेंसे कुछका परिचय आगे दिया जा रहा है।
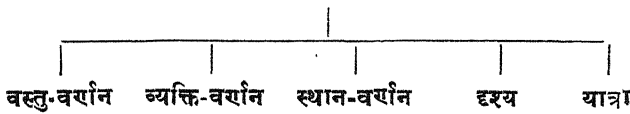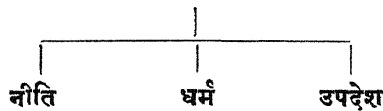
## महाकाव्य ( इपिक पोइट्री )

जिस प्रकार हमारे यहाँ वाल्मीकिका रामायण और व्यासका महाभारत है, उसी प्रकार यूनानमें सबसे पुराना महाकाव्य होमरका इलियाद और उदूसी है, जिन्हें अँगरेज़ीमें 'इलियड' और 'उदीसी' कहते हैं। यह 'इपिक' शब्द बना है 'ईपौस' शब्दसे, जिसका अर्थ है 'शब्द'। धीरे-धीरे इसका अर्थ हुआ वक्तव्य या कथा, गीत, वीरतापूर्ण कविता और फिर वीररस-काव्य, जिसमें किसी विशाल घटनाको अत्यन्त भव्य शैलीमें वर्णित किया गया हो। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ये वीरकाव्य वास्तवमें निम्न श्रेणीकी कथात्मक कविताओंसे उत्पन्न हुए, जो मूलतः वीरों और उनके कृत्योंकी पद्यात्मक कथाएँ थीं। किन्तु उन कथाओंका कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। हमारे यहाँ राजपूतानेमें रासो या रासक नामसे जो वीरकाव्य प्राप्त होते हैं, उसी श्रेणीके काव्य ये ईपिक भी होते थे किन्तु उनकी भूमिका उन चारण-गीतोंमें प्राप्त हो जाती है, जो आज भी राजपूतानेके गाँव-गाँवमें चारणोंके कण्ठोंमें जीवित हैं। भूमध्यसागरकी सभ्यता और साहित्यिक रूढ़िके प्रसारके श्रेय और वीरकाव्यकी रचनाके लिये आज भी ईलियाद और

अदूसी ही आदर्श माने जाते हैं। वर्जिलने जो अपना लातिन वीरकाव्य 'ईनीड' लिखा, वह ठीक होमरके अनुकरणपर ही रचा गया, यहाँतक कि उसने ट्रौयकी कथा भी ग्रहण कर ली। मध्ययुगमें जब यूनानी वीरकाव्य पश्चिमी योरोपमें नहीं पढ़े जाते थे, उस समय वर्जिलके प्रभावने होमरकी परिपाटी जीवित रक्खी। किन्तु मध्ययुगके कवियोंने स्वतन्त्र होकर इन उदात्त काव्य-आदर्शोंसे भिन्न वीरकाव्योंकी रचना की, जैसे 'व्योवुल्फ, दि सौङ्ग ऑफ़ रोला, नीबेलूङ्गिनलीड।' पीछेके वीरकाव्य-रचयिता कैमुवन्सका 'लूसियाद्स', तासोका 'जेरूसलमडिलिवर्ड' और मिल्टनका 'पैराडाइज़ लौस्ट' इसी प्रकारसे स्वतन्त्र रूपमें रचे गए।

वीरकाव्य शब्दकी बहुतसी परिभाषाएँ दी गई हैं। यह तो सभी मानते हैं कि वीरकाव्य कथात्मक कविता होती है, जो बहुत बड़ी होती है, जिसमें चरित्रों, घटनाओं और कथा-व्यापारों अथवा परिस्थितियोंकी संख्या भी अपार होती है। वीरकाव्यके पात्र भी साधारण जीवनसे कुछ भिन्न और विलक्षण होते हैं। उसमें छोटी-छोटी बातों जैसे वेशभूषा धारण करने या वस्त्र उतारने आदिका भी बहुत विस्तारके साथ वर्णन होता है, क्योंकि वे उस जीवनका चित्रण करती हैं जो हमारे जीवनकी अपेक्षा अधिक समृद्ध था। वीर-काव्यमें यही आवश्यक नहीं है कि केवल प्रधान नायक या वीर ही सबसे उच्च हो, उसके साथ कार्य करनेवाले और भी बहुतसे व्यक्ति उसीके समान वीर और पराक्रमी होते हैं। वीरकाव्यकी स्वाभाविक और साधारण घटना यही होती थी कि कोई व्यक्ति महत्ता या पराक्रमका कार्य कर सके क्योंकि उन दिनों बहुतसे दानव भी होते थे, जिन्हें मारना ही बड़े पराक्रमका काम था। पन्द्रहवीं शताब्दिके पिछले अंशमें खोज तथा अन्वेषणका युग प्रारम्भ हुआ, जिसका वर्णन पुर्तगाली महाकाव्य 'लूसियाद्स' में हमें श्रेष्ठतम रूपमें प्राप्त होता है। किन्तु उसके पूर्वका युग वीरकाव्यके लिये सर्वथा अयोग्य है। केमौएनके समकालीन तासोने अपने काव्योंका आधार ईसाई धर्म-युद्ध ( क्रूसेड ) का युग रक्खा है और सौङ्ग ऑफ़ रोला (लगभग ११०० ई०) ने अपने वीरकाव्यके लिये शार्लमेग्नेके राज्यका वह युग लिया है, जो फ्रान्सका वीरयुग कहला सकता है। यूनानका वीरयुग शुद्ध कल्पनात्मक या पौराणिक है, यद्यपि वीरकाव्य-रचयिताओंने उन पौराणिक कथाओंको भी इतिहासकी शाखा ही माना है। पर उसका तात्पर्य यह है कि अत्यन्त प्राचीन समय और स्थानके

ऐतिहासिक विवरणको ही हम ईपिक या वीरकाव्यका लक्षण मान सकते हैं। काल और स्थानकी दूरीके कारण वीरकाव्यकी सामग्रीका प्रयोग करनेमें भी स्वतन्त्रता होती है, जैसे 'सौङ्ग ऑफ़ रोला' में सेनाकी पिछली टुकड़ीका सङ्घर्ष ही मुख्य घटना बन गया है और वह सङ्घर्ष अत्यन्त सार्थक है।

वीरकाव्यकी कथामें देवता, भूत प्रेत आदि अलौकिक पात्रोंका प्रयोग भी हुआ करता था क्योंकि होमर और वर्जिलके काव्योंमें देवता ही प्रमुख भाग लेते रहे हैं। अलौकिक प्राणियों अथवा देवयोनिके जीवोंका प्रयोग इसमें प्रायः अपरिहार्य माना जाता था। इसीलिये कैमौएनने भी उदात्त काव्योंके देवताओंको अपनी पन्द्रहवीं शताब्दिके 'पुर्तगाली समुद्र-यात्रा' में सक्रिय भाग लेते हुए दिखलाया हैं। यद्यपि इस विषयपर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है कि वीर-काव्यमें बहुदेववादियोंकी सामग्री रखी जाय या ईसाइयोंकी, किन्तु अपनी परिधि साधारण जीवनसे बड़ी होनेके कारण वीरकाव्यने अलौकिकके प्रयोगको स्वीकार कर लिया है। व्योवुल्फ जिस समय राक्षसको मारता है उस समय वह निश्चय ही अतिमानव बन जाता है। मिल्टनके 'स्वर्ग-लोप' (पैरेडाइज़ लौस्ट) में जहाँ उस वीर काव्यकी भव्यता चर्मोत्कर्षपर पहुँच जाती है, उस समय आदम और हव्वाको छोड़कर शेष सभी अलौकिक जीव ही उसके चरित्र रह जाते हैं।

वीरकाव्योंकी रचनामें कविकी स्वतन्त्रता इस विषयमें परिमित होती है कि उसका भावी परिणाम पाठक जानते हैं और यदि उसमें अधिक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर दिए गए तो लोग उसका विरोध करेंगे, जैसे—मैथिलीशरण गुप्तके साकेतकी लोग इसीलिये निन्दा करते हैं कि उन्होंने रामायणके चरित्रोंको ही नहीं वरन् कथाको भी विकृत कर दिया। वास्तवमें वीरकाव्य तो रूढ कथाओंका विकसित रूप है। वीरकाव्योंमें निरन्तर वे ही वीर और वीरतापूर्ण कार्य चुने गए हैं, जिनकी जनतामें पहलेसे प्रसिद्धि थी। कविकी मौलिकता या नवीनता इसी बातमें है कि वह किसी विशेष अङ्गपर बल दे, विस्तार करे या छोटे-मोटे वर्णनोंमें हेर-फेर कर दे, किन्तु ऐसा नहीं कर सकता जैसा माइकेल मधुसूदन दत्तने मेघनाद-वधमें किया है। कविकी शक्तियाँ नई कथा जाननेमें नहीं लगती हैं वरन् एक प्रसिद्ध कथाको वीरकाव्यका रूप देनेमें लगाई जाती हैं।

फिर वीरकाव्यका रूप पूर्णतः रूढ होता है। उसमें कुछ ऐसी रूढ बातें

आती हैं, जिससे कवि अलग नहीं जा सकता, यहाँतक कि एक अत्यन्त साधारण रूढि, जैसे प्रारम्भमें ही मूल कथामें कूद पड़ना तकका लोगोंने पालन किया है। यद्यपि होमरने स्वयं इलियादमें उसका प्रयोग नहीं किया।

कभी-कभी ऐसे काव्योंको भी वीरकाव्य या ईपिक कह दिया जाता है, जो उपर्युक्त काव्योंके रूपसे सर्वथा भिन्न है, जैसे—दाँतेकी 'दिवाइन कौमेदी'को भी लोगोंने ईपिक या वीरकाव्य कह दिया है। इस काव्यमें कोई वीर या नायक ही नहीं है। इसका मुख्यपात्र स्वयं कवि ही है, जो आद्यन्त प्रथम पुरुष अर्थात् 'मैं' के रूपमें बोलता है। और फिर कविने जो कथा गढ़ी है वह भी स्वयं कविकी अपनी यात्रा है, जिसके द्वारा वह उस संसारका विवरण देना चाहता है जहाँ हम मरकर पहुँचते हैं। स्वयं इस यात्राका भी कुछ वीरकाव्यात्मक सम्बन्ध है। यह उस परिचित वीरकाव्यकी शैलीपर आश्रित है, जिसमें नायकको नरकमें उतरना पड़ता है और जो दाँतेने स्वयं नरक और स्वर्गमें जाकर पूरी की है। इस प्रकारसे वीरकाव्यकी परिपाटी लेकर एक वर्णनात्मक कथा पूर्ण काव्य बन गई है। 'दिवाइन कौमेदी' की विशद शैली और गम्भीरता ही ऐसी है, जिसके कारण कुछ लोगोंने उसे ईपिक या वीरकाव्य कह दिया है। हीसियडके 'वर्क्स एन्ड डेज़' जैसी लम्बी उपदेशात्मक कविताको भी लोगोंने ईपिक या वीरकाव्य कह दिया है और इस प्रकारकी समानताके कारण गद्यके बड़े-बड़े ग्रन्थोंको भी लोग अब ईपिक कहने लगे हैं।

नवस्वैरवादी समीक्षाके युगमें विशेष रूपसे मौखिक वीरकाव्यों और लिखित वीरकाव्योंमें अन्तर कर दिया गया। इनमेंसे मौखिक तो अज्ञात रचयिताओंके हैं, जो शुद्ध रूपसे मनोविनोदके लिये रचे गए हैं। वे सभ्यताकी प्रारम्भिक अवस्थाका चित्रण करते हैं जैसे वर्जिलके 'ईनीड'की तुलनामें 'ईलियाद' है। रचनाकी दृष्टिसे वीरकाव्य एक ही धारामें चलता है। उसमें बीचमें कथा-धारा नहीं टूटती, यद्यपि यह बात प्रारम्भिक यूगोस्लावी वीरकाव्यों तथा भारतीय वीरकाव्योंमें नहीं है। ईपिककी शैली सुन्दर उक्तियों, वक्रोक्तियों और कहावतोंसे पूर्ण होती है। कहीं-कहींपर व्याख्यान भी जोड़े जाते हैं, जो कविताका बहुत भाग बढ़ा देते हैं। इस काव्यका व्यापार या कार्य थोड़े ही समयका होता है या पिछले वर्षोंकी घटनाएँ

सुनवाई जाती हैं, जैसे अदूसियसने फ़ेशियन राज-सभामें कथा सुनाई है या मूल कथा-व्यापार थोड़ेसे दृश्योंमें सम्बद्ध कर दिया जाता है और उनके बीचका अंश थोड़ी-सी पंक्तियोंमें कह दिया जाता है। ईलियादमें उनचास दिनोंका वर्णन है, जिसमेंसे इक्कीस दिनोंकी कथा प्रथम खण्डमें आ गई है। ब्योवुल्फ़के प्रथम भागमें पाँच दिनकी कथा आई है और दूसरे भागमें केवल एक दिनकी कथा। यद्यपि ईलियादमें साधारण जीवनसे ही उपमान खोजकर अप्रस्तुत-विधान किया गया है, किन्तु उसकी मुख्य कथामें, साहसपूर्ण यात्राएँ, लूट-मार, यातना-सहन आदि उन राजकुमारों और उनके अनुगन्ताओंका है, जो युद्धमें और राजसभाओंमें खाते-पीते घूमते हैं। युद्ध वास्तवमें वीरकाव्यके जीवन-शैलीका केन्द्रीय तत्त्व है। भारतीय महाकाव्योंमें या वीरकाव्योंमें न तो दिनोंका ही बन्धन है, न घटनाओंका ही है और मुख्य बात यह है कि जहाँ हमारे काव्योंमें युद्ध और सङ्घर्ष दोनों प्रचुर मात्रामें मिलते हैं, वहीं साथ-साथ नीतिके तत्त्व भी घुलते-मिलते चलते हैं, जिनमें दार्शनिक सिद्धान्तोंसे लेकर व्यावहारिक नीतितककी सब बातें अर्थात् सम्पूर्ण भारतीय दर्शन, इतिहास और धर्मनीतिके सब अङ्गोंका व्यापक परिचय प्राप्त हो जाता है।

**सिल्लोग्राफर**

इन महाकाव्यों या वीरकाव्योंका प्रयोग पहले तो गम्भीर कथाओंके लिये किया गया किन्तु पीछे चलकर कुछ यूनानी लेखक महाकाव्य-रूपमें व्यंग्यात्मक कविताएँ या आक्षेप ( लैम्पून या सिल्ली ) भी लिखने लगे।

**कथा-काव्य ( इडिल )**

यों तो यूनानमें 'इडिल'का अर्थ है छोटा चित्र या प्रतिबिम्ब, किन्तु विद्वानोंने थियोक्रितसके पौराणिक और वीर-काव्य तथा ग्रामीण-काव्यों और पिण्डरके प्रगीतोंके लिये भी इस शब्दका प्रयोग किया है। इसके अन्तर्गत वे ही काव्यरूप आते हैं जो छोटे, वर्णनात्मक और नाटकीय हों। आगे चलकर संक्षिप्त ग्राम-काव्य ( एक्लौगरे ) से भिन्न करनेके लिये 'इडिल'के अन्तर्गत पद्यबद्ध वीरकाव्य, प्रेमकाव्य और त्रासद कथाएँ भी आ गईं, किन्तु जैसे ग्रामकाव्य कहनेसे एक प्रकारके काव्यकी शैली और उसके रूपका बोध होता है, उसी प्रकार 'इडिल' या 'इडलिक' कहनेका तात्पर्य यह था कि उसमें पद्य या गद्यमें आदर्श शान्ति, सन्तोष और हर्षकी भावना निहित है और यही कारण है कि 'इडिल'का कोई नियमित और सङ्गत विकास नहीं हो पाया।

### महावंश-काव्य

विश्व-साहित्यमें कुछ ऐसे भी काव्य लिखे गए, जिनमें एक नायकके बदले अनेक वंशोंके अनेक नायकोंको अनेक कथाओंका वर्णन है। 'ईपिक' शब्द भी इसी प्रकारके काव्योंके लिये प्रयुक्त हुआ था क्योंकि होमरका 'ईलियाद' इसी प्रकारका काव्य है। महाभारत इसी श्रेणीमें आता है।

### एकवंश महाकाव्य

कुछ काव्य ऐसे भी हैं, जिनमें किसी एक ही वंशका एक साथ चरित कहा गया है। रघुवंश जैसे काव्य एकवंश-महाकाव्य कहलाते हैं।

### महाकाव्य

महाकाव्यका लक्षण बताते हुए हमारे यहाँ कहा गया है 'कि उसकी रचना सर्गबद्ध होनी चाहिए' किन्तु सर्गका अर्थ उन आचार्योंकी भी समझमें नहीं आया जिन्होंने सर्गको अध्याय-मात्र समझा है। हम पीछे बता चुके हैं कि सर्ग वहाँ होता है जहाँ एक खण्डमें एक पूरी कथा आ जाती है। उसके लिये यह भी नियम था कि महा-काव्यमें आठसे अधिक सर्ग हों और एक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग हो किन्तु सर्गके अन्तमें छन्द बदल जाय। प्रत्येक सर्गमें चरितनायककी कथा अवश्य हो, जिसके अन्तिम भागमें आगेकी कथाका आभास मिलता जाय। उसमें घटनाएँ और वर्णन दोनों होने चाहए। इसी विवरणके साथ-साथ यह भी दिया है कि महाकाव्यके प्रारम्भमें नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण भी होना चाहिए। उसमें पञ्चसन्धियाँ होनी चाहिएँ तथा शृङ्गार या वीरमेंसे कोई रस प्रधान होना चाहिए। महाकाव्यका नामकरण चरितनायक या नायिकाके नामपर जैसे रामायण अथवा प्रमुख घटनाके नामपर जैसे महाभारत होना चाहिए। इधर लोगोंने कविके नामपर भी उसके ग्रन्थको पुकारना प्रारम्भ कर दिया है जैसे शिशुपालवधको लोग उसके रचयिताके नामपर 'माघ' कहते हैं। इनके अतिरिक्त यह भी विधान है कि महाकाव्यमें कुछ दृश्यों और वस्तुओंका भी वर्णन होना चाहिए—सूर्य, चन्द्र, प्रभात, संध्या, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, वन, समुद्र, ऋतु, संयोग, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नरक, यज्ञ, सङ्ग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र, अभ्युदय आदि।

### महाकाव्यके तत्त्व

महाकाव्यके इस प्रकार चार तत्त्व हुए— १. अनुबन्ध-पूर्ण कथा, २. वर्णन, ३. रस और ४. चरितनायक। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी महाकाव्य लिखे गए हैं जैसे दाँतेका 'दिवाइन कौमेदी', जिसमें कवि स्वयं नायक बनकर कार्य करता है।

### खण्डकाव्य

जब किसी बड़ी कथाका कोई एक अंश या खण्ड लेकर उसपर काव्य रचा जाता है वह खण्ड-काव्य कहलाता है। उसकी रचना महाकाव्यकी ही शैलीमें होती है किन्तु वह घटना अपनेमें सुसम्बद्ध तथा आद्यन्तयुक्त होनी चाहिए।

### काव्य-निबन्ध

कुछ लोगोंने ऐसी लम्बी-लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं जो इन उपर्युक्त श्रेणियोंमें तो नहीं आ सकतीं किन्तु वे स्वयं अपनेमें पूर्ण वर्णन हैं जैसे 'झाँसीकी रानी।'

### एकार्थ काव्य

एकार्थ काव्य वे होते हैं जिनमें न तो महाकाव्यकी पञ्चसन्धियोंका विधान होता है, न उनका विस्तार ही होता है, वरन् इनमें कथाका कोई उद्दिष्ट पक्ष होता है। इसमें कथा-प्रवाह भी बहुत जटिल नहीं होता और कविकी वृत्ति वर्णन करने या भाव-व्यञ्जना करनेपर ही लगी रहती है जैसे— रत्नाकरजीका 'गङ्गावतरण'।

### गीतिकथा

कुछ लोगोंने इधर गीतोंके रूपमें या गेय पदोंके रूपमें भी कथाएँ लिखी हैं जो हैं तो मुक्तक किन्तु गीत रूपमें कथाएँ हैं, जो गीत होते हुए भी कथाकी श्रृङ्खला जोड़ती चलती हैं। सूरदासकी रचना इसी शैलीकी है।

### मुक्तक प्रबन्ध

इनके अतिरिक्त इसी श्रेणीकी वे रचनाएँ भी हैं, जिनमें गीत न होकर अलग-अलग छन्द हैं, जो रूपमें तो मुक्तक हैं किन्तु सब मिलकर कथा बन जाते हैं। रत्नाकरजीका 'उद्धवशतक' इसी प्रकारका है।

### मुक्तक कथा

इनके अतिरिक्त कुछ मुक्तक भी ऐसे हो सकते हैं जिनमें एक छन्दमें ही एक पूरी कथा कह दी जाती है, अतः मुक्तक भी कथात्मक हो सकता है।

### नाटकीय गीत ( ड्रैमेटिक लिरिक )

नाटकीय गीत एक प्रकारके छन्दोमय आत्मचरित होते हैं जिन्हें किसी कथाके पात्र अलग-अलग आत्मानुभव या आत्म-भावनाके रूपमें अभिव्यक्त करते हैं, जैसे 'द्वापर'में मैथिलीशरण गुप्तने कृष्ण, यशोदा, नारद, कंस आदिके मुखसे ही स्वयं अपने मनोभावोंकी अभिव्यक्ति कराई है।

### काव्यका प्रारम्भ

जैसे हमारे यहाँ काव्यका प्रारम्भ मङ्गलाचरणसे होता है, वैसे विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारसे प्रारम्भ किए जाते थे। प्रारम्भिक यूनानी वीरात्मक कविताओंमें जब कथावस्तु प्रारम्भ की जाती थी तब आवाहित वाग्देवता ( म्यूज़ ) से पूछा जाता था कि 'क्या वस्तु प्रारम्भ की जाय ?' वाग्देवताके उत्तरसे ही वह कविता प्रारम्भ की जाती थी। कभी किसी बड़ी कविताके प्रारम्भमें कवि वाग्देवीका आवाहन ( इन्वोकेशन ) करता था कि वे आकर काव्य-प्रेरणामें सहायता दें। यूनानकी वाग्देवी जब समाप्त भी हो गई, तब भी कवि लोग उस दैवी शक्तिका आवाहन करते रहे। भारतीय काव्योंकी तो यह परम्परा ही रही है कि उनके प्रारम्भमें किसी न किसी प्रकारका मङ्गलाचरण रहता है, जिसमें विशेषत: गणेशजी और सरस्वतीजीकी स्तुति की जाती थी, गणेशजीकी स्तुति विघ्न दूर करनेके लिये और सरस्वतीजीकी स्तुति अन्तःप्रेरणा देनेके लिये। कभी-कभी किसी समवेत गानके प्रस्तावनात्मक गीत ( ओड ) या गीतकी प्रस्तावना ( प्रो ओड ) से कविता प्रारम्भ होती थी। इसी प्रकार वीरकाव्य प्रारम्भ करनेकी एक यह भी प्रणाली थी कि कथा बीचसे ( इन मीदियास रेस ) ही प्रारम्भ कर दी जाती थी और जिन घटनाओंके परिणाम-स्वरूप वे घटनाएँ होती थीं उनका विवरण पीछे दिया जाता था। आजकल उपन्यासोंमें इसका प्रयोग अधिकांश होता है। स्पेनमें किसी गीतके विषयका परिचय (ऐस्त्रिबिलो) देकर ही प्रारम्भ करते थे और फिर गीतमें उस भावको विस्तारसे बढ़ा देते थे। कुछ कवि महाकाव्यके प्रारम्भमें अपना और अपने कुलका परिचय भी देते हैं किन्तु श्रेष्ठ

विधि यह है कि वाग्देवीका आवाहन करके प्रारम्भ करें और सहसा कथा प्रारम्भ कर दें।

### काव्यका उपसंहार

काव्यके उपसंहारमें हमारे यहाँ मङ्गल-कामनाकी प्रणाली थी कि 'सब प्रसन्न हों, सुखी रहें' या उस ग्रन्थपाठका फल दिया जाता था कि 'जो इसे पढ़ेगा उसे सुख-समृद्धि प्राप्त होगी' अथवा कवि अपना परिचय भी देता था। योरोपमें किसी कविताके पीछे समर्पण ही किया जाता था, जिसे 'एम्पाई' कहते थे किन्तु अब तो किसी गीत ( बेलेड ) के अन्तमें जो छोटा पद ( ला एन्वाई ) जोड़ा जाता है, जिसमें प्रायः उस व्यक्तिका नाम और पद दिया जाता है जिसे कविता सम्बोधित की जाती है। हमारे यहाँ श्रीहर्षने नैषधचरितके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें अपना परिचय और अपनी प्रशंसा की है। किन्तु महाकाव्यका अन्त नाटकीय होना चाहिए अर्थात् सहसा कार्यसिद्धि या परिणाम दिखाते ही समाप्त कर दिया जाय और वह परिणाम सुखद ही हो, जिससे पाठकको हार्दिक तथा सात्त्विक हर्ष और सन्तोष प्राप्त हो।

### कथात्मक लोकगीत

सभी देशोंमें प्रारम्भमें कथात्मक लोकगीत चले जैसे अब भी रामायण, महाभारत, भर्तृहरिकी कथाएँ गाई जाती हैं। रूसमें ऐसा कथात्मक लोकगीत बाइलिना या स्तारिनो था, जिसमें प्राचीन पौराणिक वीरोंकी कथा तथा कीवके राजा व्लादेमीरके दरबारियोंकी कथाएँ भरी होती हैं। शैली और विषयकी दृष्टिसे इन गीतोंमेंसे कुछ तो सोलहवीं शताब्दि और उसके पीछेकी घटनाओंके ऐतिहासिक गीतोंसे मिलते-जुलते लगते हैं। रूसी लोक-कथाओंमें एक स्काज़्मा है जो परियोंकी कथाके समान होती है और जिसमें आश्चर्यजनक वस्तुओं और परिस्थितियोंका वर्णन होता है। यों तो इसका रूप लौकिक ही था किन्तु इसके साहित्यिक अनुकरण भी किए गए। यूनानमें इसी प्रकार आइडीलिएन नामकी छोटी-सी वर्णनात्मक कविता होती थी जिन्हें पहले थियोक्रितसने विशेषतः ग्रामीण विषयोंपर रची थीं किन्तु पीछे चलकर अन्य कवियोंने भी उसका अनुगमन किया। इसी प्रकारकी लातिनमें ग्राम्य-जीवनसे विशेषतः कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाली गेओर्गिक नामकी कविता लिखी गई।

ब्राज़ीलके साहित्यमें भी कौस्तम्ब्रिस्मोका ही एक रूप सर्टानिज़्मो चला, जिसमें परनाम्बुकोंकी अत्यन्त पिछड़ी और जङ्गली जाति श्रोस-सरटोसके आचार-विचारका चित्रण होता है।

### लोकगीत

लोकगीत प्रायः दो प्रकारके होते हैं—

१. देश भक्ति-सम्बन्धी, जो प्रसिद्ध लेखकोंने लिखे हैं और जिन्हें लोग मिलकर गाते हैं।

२. जो मौखिक ही लोगोंमें प्रचलित हैं और जिन्हें लोग घूम-घूमकर प्रसिद्ध किए रहते हैं। अब तो अच्छे साहित्यिक कवि भी लोकगीत लिखने लगे हैं, जिनमें वे जनताकी भावना और जीवनका प्रतिनिधित्व करते हैं। योरोपीय राजदरबारोंमें घूम-घूमकर गानेवाले कुछ चारण (ह्रैपसोड) होते थे, जो प्रायः अपने बनाए हुए गीत (ह्रैपसोडी) गाते थे। धीरे-धीरे ये लोग व्यावसायिक वाचक-मात्र रह गए। इनके गीत प्रायः पाठ्य होते थे जैसे हमारे यहाँ भाट लोग कहा करते हैं। आगे चलकर ह्रैयका अर्थ हुआ कोई भी साहित्यिक कृति, जिसमें कोई सङ्गति या सम्बन्ध न हो।

### ग्रामकाव्य ( पैस्टोरल पोइट्री )

योरोपमें ग्रामकाव्य ( पैस्टोरल पोइट्री ) की परम्परा भी चलती रही, जिसके साहित्यिक रूपकी निरन्तर एक विशेषता यह रही है कि उसमें अप्रत्यक्ष रूपसे नगर और ग्रामकी तुलना की जाती रही है। इसलिये इसे गाँवोंमें प्रचलित अन्य प्रकारके ग्रामीण गीतोंकी श्रेणीमें नहीं रखना चाहिए। इनमें हर्षमग्न गड़रियोंका विवरण रहता है। थियोक्रितसने ( २८० ई० पू० ) सिसिली या कौसके संस्मरणोंमें स्वयं एक नागरिकके रूपमें ग्रामजीवनके लिये उत्कण्ठा प्रकट करते हुए एकाङ्की प्रवचन या संवादका एक रूप प्रस्तुत किया और जिस ग्राम-दृश्यको वह जानता था और जो उसे अच्छा लगता था उसके एक गड़रिएके जीवनकी कल्पना करके उसने स्वानुभूतिकी कलात्मक अभिव्यक्ति की। पीछेके सभी ग्राम-गीतकारोंने या तो थियोक्रितसका अनुकरण किया या उसके किसी अनुकरण-कर्त्ताका। थियोक्रितसने ग्राम-कविताओंके तीन रूप सिद्ध किए, जो पीछे चलकर युगकी आवश्यकताके अनुसार कुछ परिवर्त्तित भी हो गए—

१. गीत-प्रतिद्वन्द्विता, जिसका प्रारम्भ लोकोत्सवोंमें होनेवाली प्रतियोगिताओंसे हुआ। इसमें दो गड़रिए मिलते हैं। उनमें कुछ आनन्ददायक झिक-झिक होती है और फिर वे एक गीत-प्रतियोगिता-द्वारा अपने मतभेदका समाधान कर लेते हैं। एक तीसरा गड़रिया निर्णायक बनकर वहाँ रहता है। प्रतियोगी गड़रियोंके बारी-बारीसे गाए जानेवाले गीतोंमें प्रेमियोंके हर्ष और शोक भरे रहते हैं। इस प्रतियोगितामें प्रायः गोटी डालकर निर्णय होता है क्योंकि निर्णायक उनके गानेकी योग्यताका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता।

२. एक ही गड़रिया अपने गीतमें प्रेमिकाके सौन्दर्यका चित्रण करता और अपने दुर्भाग्यको कोसता है। प्रारम्भमें तो गीत गानेवाला अपनी प्रेमिकाको सम्बोधन करता है। पीछे चलकर कवि उस दृश्य और उस गायकका वर्णन करता है, जिसका गीत अलग रहता है और उस पूरी कृतिका प्रासङ्गिक भाग होता है।

३. शोक-गीत (एलेजी या डर्ज) जो ग्रामकाव्यका अत्यन्त शाश्वत रूप है। थियोक्रितसका प्रथम शोक-गीत 'दाफ़निसके लिये विलाप' ऐसा आदर्श रहा है कि उसीका नियम निरन्तर पिछली शताब्दियोंमें पालन किया जाता रहा है। इसमें क्रम यह है कि एक गड़रिया थुरसिससे मिलता है और उसे प्रलोभन देता है कि यदि तुम पुराण-वर्णित दाफ़नका वह प्राचीन गीत गा दो जिसमें प्रेमको धिक्कारा गया है, तो मैं पुरस्कार दूँगा। इसके पश्चात् जो गीत देवियोंको सम्बोधन किया जाता है, वह शोकगीतका प्रासङ्गिक किन्तु विस्तृत अंश होता है, और गीतकी जो टेक दी जाती है वह अनेक देवताओंके पास पहुँचाई जाती है और प्रकृतिसे प्रार्थना की जाती है कि दुःखके बदले अपने नियम वापस ले लो। इन सब बहुतसे प्रयोगोंके साथ बीच-बीचमें गीतकी पहली टेक दुहराई जाती है। इस ग्रामकाव्यके समाप्त होनेपर भी शोकगीतोंमें पुराने रूपक और पुरानी प्रक्रियाएँ चलती रहीं, विशेषतः उन गीतोंमें, जिनमें कि कवि लोग अपने मृत सम्बन्धियों या सुहृदोंके सम्मानमें गीत बनाते थे।

७० से १९ ई० पूर्वतक वर्जिलने ये ग्रामकाव्य रोममें पहुँचाए, जिसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी ग्रामकाव्यका महत्त्व जाता रहा, क्योंकि उसमें रोमके वास्तविक दृश्योंका अभाव था। तबसे सदाके लिये ही यह अनुकरण

कला बन गई। बीचमें किसी व्यक्तिकी प्रशंसा (पैनेजिरिक) जोड़ देनेके अतिरिक्त इसके रूप प्रायः अपरिवर्त्तित रहे क्योंकि इनका उद्देश्य व्यक्तिगत हो गया, जिसमें या तो सम्राटसे प्रार्थना की जाती थी कि कविकी सम्पत्ति लौटा दो अथवा किसी मित्रको उसकी पत्नीके निधनपर सान्त्वना दी जाती थी। वर्जिलने जो ग्रामकाव्य लिखे, उनमें कला, संक्षेपवृत्ति, शब्द-माधुर्य और मन्द प्रवाह है क्योंकि ये ग्रामकाव्य नागरिकोंको गाँवोंके मधुर स्वप्न दिखा रहे थे। परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण आचार-विचारकी वास्तविकताओंके बदले युगके आनन्दपूर्ण ग्रामचित्र उपस्थित किए जाने लगे।

वर्जिलने लातिनमें लिखा था। उसने किस यूनानी ग्रामकाव्यको आदर्श बनाया यह अज्ञात है और यही कारण है कि अन्ध युगमें भी रोमके ग्रामकाव्य चलते ही रहे। आगे चलकर पेत्रार्क और बोकेशियोने भी वर्जिलके साँचेपर मध्यकालीन ग्रामकाव्य लिखे और ये ग्रामकाव्य व्यक्तिगत हो गए।

पुनर्जागरणकालमें इस उदात्तवादी ग्रामकाव्य (एक्लोग) के तीन अङ्ग बन गए, जिन्होंने नये-नये रूप धारण करके कुछ विदेशी सामग्री भी अपनानी प्रारम्भ की— १. थियोक्रितससे प्रेरणा लेकर सन्नाज़ारोने 'मत्स्य-काव्य' (पिस्केटरी एकलौग) प्रारम्भ किया जिसमें गड़रियोंके बदले मछुवे आ गए। यह रूप भी वर्जिलके अनुसार ही चलता रहा किन्तु बहुत लोकप्रिय न हो पाया। इसका ही दूसरा रूप है ग्रामीण नाट्य (पैस्टोरल ड्रामा)। २. इटली-वासियोंका आदर्श लेकर तथा फ़्रान्सीसी 'प्लेयादे'का सहारा लेकर अँगरेज़ी कवियोंने भी ग्रामकाव्य लिखे, जिनमें कुछ बातें प्राचीन भी थीं और कुछ नई भी, जैसे प्रेमीका दुखी होना, गीत-प्रतियोगिता, शोकगीत, किसी व्यक्तिकी प्रशंसा और गिरजाघरका अध्यवसान या रूपक। वर्जिलकी परम्परामें स्पेन्सरके ग्रामकाव्य सर्वोत्कृष्ट हैं। ग्राम-नाटक आगे चलकर मुखौटा-नाट्य (मास्क) में मिल गया और नगर-वासियोंके लिये ग्रामीण विषय और सरलताका 'प्रेमीके लिये उत्कण्ठापूर्ण मार्ग देखनेके लिये' ग्राम-प्रगीत एक-मात्र साधन बन गए। इस प्रकार धीरे-धीरे 'ग्रामीण' (पैस्टोरल) का अर्थ विषयसे अधिक सम्बद्ध हुआ, शैलीसे कम। ३. अठारहवीं सदीका नवोदात्तवादी ग्राम-काव्य 'हंसगीत' (स्वान-सौंग) है। इनमें फ़्रान्सीसी राजसभाकी वैभव-वृत्तिके साथ-साथ अँगरेजी मानवता-

वाद और स्वैरवादी प्रवृत्तियाँ भी आने लगीं अतः इन धाराओंके बीच नियमित ग्रामकाव्यका जीवित रहना ही असम्भव हो गया।

## शोकगीत ( ऐपीसोड, एलेजी, मरसिया )

प्रायः अपने किसी सगे सम्बन्धीके निधनपर काव्यात्मक शोकोद्वेगके रूपमें लोग विस्तृत काव्य-रचना करते हैं। थियोक्रितसके ग्राम्य शोकगीतोंसे लेकर आजतक इसका प्रयोग होता चला आया है। कालिदासने रघुवंशमें इन्दुमतीके लिये अजका विलाप और कामके लिये रतिका विलाप कराकर शोकगीत-काव्य लिखा तो पर उसकी परम्परा नहीं चली। पर योरोपमें भी उसका पालन बहुत हुआ और फारसीमें भी बहुत 'मरसिए' लिखे गए, जो अकेले भी गाए जाते हैं और समवेत भी। यूनानमें एक समवेत शोकगीत था 'थ्रेनाडी'। इसी प्रकार किसी स्त्री-द्वारा स्वतः सद्यःरचित शोक-गीत 'मीरियोलोग' था। ऐसी ही अकेले पढ़ी जा सकनेवाली यूनानी मौलिक शोक-कविताएँ 'मोनोडी' थीं।

यूनानमें भी कुछ मौलिक-गीत लिखे गए थे, जो वंशी और तन्त्रीके साथ गाए जाते थे। इसके अनेक रूप दिथुरम्ब, पीअरे और हिम्न सातवींसे पाँचवीं ई० पू० तक प्रसिद्ध रहे। इंग्लिस्तानमें अत्यन्त हृदय-विदारक दुःखसे भरी हुई कविता 'लैमेन्ट' कहलाती थी जो शैलीके कारण साधारण शोकोपालम्भ ( कम्प्लेन्ट ) की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होती है। स्पेनमें भी इसी ढङ्गकी डर्ज या एलेजीके समान शोकगीत ( एण्डेचा ) लिखे जाते थे। अन्त्येष्टिगीत ( डर्ज ) भी शोकगीत ही होते थे। रोममें यह नियम था कि जिस व्यक्तिका निधन होता था उसके शवके साथ जानेवाले लोग उस मृतक व्यक्तिकी प्रशंसा (नीनियाँ ) के गीत बाँसुरीके साथ गाते थे, जो यूनानके 'थ्रेनाडी' और 'एपिलियम' के समान होते थे। पहले तो ये गीत मृतकके सम्मानमें दिए हुए भोजके अवसरपर परिवारके सदस्यों-द्वारा गाए जाते थे, किन्तु पीछे किराएपर रोनेवाली स्त्रियों ( प्रेफ़ेसी ) द्वारा गाए जाने लगे और इस प्रकार धीरे-धीरे वे लग्नग होते चले गए। भारतवर्षमें पंजाब और गुजरातमें अब भी यह प्रथा है कि वहाँ किराएपर रोनेवाले सियापा देते हैं। आगे चलकर ये शोकगीत साधारण लोकगीतोंके समान शोकभरे गीतमात्र रह गए। अरबी फ़ारसीमें ऐसे शोकगीत 'मरशिया' कहलाते हैं।

प्रेम-गाथाएँ

संसारके सभी देशोंमें दो सहस्र वर्ष पूर्वसे लेकर एक सहस्र वर्ष पूर्वतक प्रेम-गाथाओंकी एक बाढ़ ही आ गई थी, जिसमें किसी सुन्दरीके प्रेममें कोई नायक पराक्रम दिखाकर उसे प्राप्त करता था। हमारे यहाँ इसके लिये रासक (रासो) और पद्मावत जैसे रूपक-काव्य (एलेगरी) लिखे गए। जीवनकी निश्चिन्तता, शान्त वातावरण, वासनात्मक जीवन और राजाश्रय ही ऐसी कविताओंके आधार थे, जिनमें नायिकाके सौन्दर्य और नायकके पराक्रमके अतिरञ्जित वर्णनके अतिरिक्त देश - विदेशके दृश्यों, युद्धों तथा अन्य तत्सम्बन्धी विषयोंका विस्तृत वर्णन होता था। रूपक-काव्योंका उद्देश्य कुछ पारमार्थिक और रहस्यात्मक भी होता था किन्तु उनमें भी वह धारा प्रेमगाथाके साथ-साथ ही चलती रही।

यूनानी प्रेम-गाथाओं (ग्रीक इरोटिक रोमान्स) का जन्म प्रथम शताब्दिमें हुआ, किन्तु कैसे हुआ यह अज्ञात है। इन काव्योंकी विशेषता यह है कि इनकी कथावस्तु अत्यन्त शिथिल होती है, इनके दृश्य असङ्गत, अस्पष्ट और बहुत दूर-दूरतक विस्तृत रहते हैं और भौगोलिक वर्णन केवल अलङ्करणके लिये प्रयुक्त होते हैं। उनके सब पात्र राजासे रङ्कतक कुछ थोड़े असाधारण होते हैं। वीर भी शरीरसे अत्यन्त दृढ़ और सुन्दर होते हुए भी नैतिक बलसे रहित होते हैं। स्त्रियोंका चित्रण पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है और वे ही प्रमुख होती हैं। भाग्य या परिस्थिति प्रेमियोंको अनेक कष्टों और हर्षोंसे पार कराती हुई सौभाग्यतक पहुँचाती है। इसके बीच अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं। नायकको अनेक कामात्मक प्रलोभन मिलते हैं, नायिकाको तर्जना मिलती है किन्तु वे सदा सङ्कटसे बाल-बाल बच जाते हैं। बहुतसी असम्भवनाएँ भी होती हैं, जो यद्यपि अलग-अलग तो असम्भव नहीं किन्तु मिलकर अविश्वसनीय हो जाती हैं। इनकी शैली भी आवेगात्मक होती है और कुतूहलका प्रयोग कथावस्तु और शैली दोनोंमें होता है। कुछ समीक्षवादियोंका मत है कि 'जर्मन प्रेम-गाथाएँ मौलिक, आदर्श और गम्भीर होती हैं।' उनका प्रभाव सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दिके ग्रामीण और प्रेम-कथाओंपर बहुत पड़ा। इसी प्रकारकी प्रेमगाथा यूनानमें 'मैड्रीगल' थी, जो ग्रामगीत और अजापाल गीतकी श्रेणीकी होती थी। उत्तरी फ्रान्समें, दक्षिणी फ्रान्सके त्रूबादूरके समान ग्यारहवींसे

चौदहवीं शताब्दितक 'त्राउबेयर' नामक चारण-गीत चलते थे जिनमें विशेषतः प्रेम-गीत और वीरतापूर्ण प्रेम-कथाएँ होती थीं। फ्रान्समें एक प्राचीन शैलीका 'माल मारिए' नामका प्रगीत भी था, जिसे 'चान्सन द्रामातीक' या 'चान्सन' या 'परसोनाजे' या 'सोन् दआमोर' कहते थे। यह 'मे महोत्सव'का नृत्यगीत था, जिसमें एक कवि अपने निःस्नेही पतिके विरुद्ध उपालम्भ करती है अथवा कोई ईसाई भिक्षुणी इस बातपर दुःख प्रकट करती है कि मैंने जो वृत्ति ग्रहण की है उसमें मन नहीं लगता। लातिनमें इस प्रकारके छोटे गीतोंको 'कैन्टिकला' कहते थे। वास्तवमें इनका उद्गम प्रचलित पुर्तगाली गीतोंसे हुआ। स्पेनमें इस प्रकारके गीत 'कन्तारे दे गेस्ता'के विरोधी समझे जाते थे। इसके तीन रूप प्रचलित हैं—१. वीर-प्रेमगीत ( कन्तिगस दे आमोरा ), जिनमें वीर लोग अपने अपूर्ण प्रेमपर आरोप लगाते हैं। २. उपालम्भ (कन्तिगस दे अलिगो), जिसमें प्रेमिकाएँ अपने प्रेमियोंके लिये मिलन-प्रार्थना करतीं और उनकी कठोरताओंके गीत गाती है। ३. लयात्मक व्यंग्य गीत ( कन्तिगस दे स्कारनिया)। इनके अतिरिक्त कुछ धार्मिक कन्तिगा भी हैं जैसे–'लस कन्तिगास दे सान्तामारिया'। दक्षिण फ्रान्स और उत्तर इटलीमें ग्यारहवीं या तेरहवीं शताब्दितक प्रगीत-कवियों ( त्रूबादूर ) का एक ऐसा वर्ग ही था जो लाग्वेदाक प्रावेन्ककी भाषामें प्रेम और वीरताके गीत गाता था। ये गीत किसी सभ्य महिलाको सम्बोधित किए जाते थे जो उनकी रक्षिका होती थी। जब पद्यके रूपमें इसे प्रयोग किया गया तो इसके अनेक रूप निकल आए।

ट्रूबाडूरके ऐलवाससे एक प्रकारके और भी 'ऐलवा' नामके गीत-कथानक लिए गए, जिनमें प्रातःकालके समय प्रेमियोंकी विदाका भाव व्यक्त किया जाता था। यह एक प्रकारकी विशिष्ट साहित्यिक शैली ही बन गई। इस प्रकारके मध्यकालीन प्रेमगीत या विदागीत अधिकांशतः ओविड-द्वारा प्रभावित थे, जिनकी कृतियोंमें ऐसे अनेक विरह-गीतोंका समावेश है जो स समापन्न ऊषापर लिखे गए हैं जो उस मिलनको समाप्त कर देती है।

यों तो मिन्स्ट्रेल शब्दका अर्थ है—विशिष्ट कार्यके लिये नियुक्त सेवक, इसीलिये राजाको प्रसन्न करनेवाला तथा मध्यकालमें वीरकाव्य पढ़ने या गानेवाला ही चारण (मिन्स्ट्रेल) कहलाता था। ये घूमनेवाले चारण सभी गायक, विदूषक और नट होते थे। अमरीकामें जिन प्रदर्शनोंमें गोरी जातियाँ काला

मुँह करके हब्शियोंके गीत, नृत्य और विनोद करते हैं उन्हें 'मिन्स्ट्रेल्सी' कहने लगे। आगे चलकर यह परिपाटी बन गई कि एक अर्धवृत्ताकारमें यह नृत्य होता था, जिनके बीचमें एक 'सूत्रधार' ( श्री इन्टरलौक्यूटर ) बीचमें खड़े होते थे और 'श्री तेम्बू' ( साम्बो ) तम्बूरा बजाते थे। इस विनोदका चरमोत्कर्ष 'रोटी' खेल होता था, जिसमें सर्वश्रेष्ठ नाचनेवालेको पुरस्कारमें रोटी दी जाती थी। यह वादेविलेका एक रूप था जो उन्नीसवीं शताब्दिमें लोकप्रिय रहा।

जर्मनी आयरलैंन्डमें नवींसे पन्द्रहवीं शताब्दि तक कैल्टिक राजकवियोंकी रचनाएँ चारणगीत ( बारडेन्डिखटून ) श्रेणीकी होती थीं। हमारे यहाँ भी चारण लोग विभिन्न राज्य-परिवारोंके साथ सम्बद्ध होकर प्रायः युद्धोंमें अथवा विशेष अवसरोंपर उस राज्यकुलकी प्राचीन वीर-गाथाएँ गाकर या वीरतापूर्ण लयमें पढ़कर सुनाते थे। योरोपमें इस प्रकारकी वीर-गाथाएँ १७६५ से १६७५ तक अपने चरमोत्कर्षतक पहुँच चुकी थीं। यद्यपि ये प्राचीन जर्मन-संस्कृतकी झूठी भावनाओंपर अवलम्बित थीं किन्तु उन्होंने उस युगके छिछले, वासनात्मक तथा उद्दाम कामुकतापूर्ण गीतोंसे अच्छा लोहा लिया। अरजेन्टाइना और उरुग्वेमें गौंचो गायकों-द्वारा ऐसे ही भ्रमणगीत ( पोएजिया गाउचेस्का ) नामके गीत गाए जाते थे, जिनके अनुकरणपर प्रसिद्ध विद्वानों और कवियोंने भी कविताएँ लिखी थीं।

## देवस्तुति या स्तोत्र

सभी देशोंमें मन्त्र, श्लोक या किसी देवता या देवताओंकी स्तुतिके रूपमें अनेक कविताएँ लिखी गईं, जो विभिन्न देशोंमें हिम्न, बौरिएलिज़्म, नेउया ( स्तोत्र ), सोक्कबला, सौय, क्वेम कोएरिटीज़ और मैलिज़्मा आदि नामोंसे प्रचलित थीं।

इनके अतिरिक्त ईश्वरकी प्रशंसामें गाए जानेवाले मध्यकालीन इतावली गीत ( लाउदी ) थे जो केवल विषयमें ही लौकिक प्रेम-गीतोंसे भिन्न थे। धीरे-धीरे इनमें संवाद जुटने लगे और ये लाउदी तेरहवीं शताब्दिमें 'दिओगिओनी' बन गए और पन्द्रहवीं शताब्दिमें 'साक्रे राप्रेसान्ते गिओनी' बन गए और फिर मध्यकालीन 'नाटक'के रूपमें आकर स्थिर हो गए। यूनानमें भी 'अपोलो'की सहायता माँगनेके लिये, उसे धन्यवाद देनेके लिये, अपनी मुक्तिके लिये

उसकी प्रशंसा करनेके लिये और विजयोपलक्ष्यमें जो गीत गाए जाते थे, वे सम्भवत: सर्व-प्राचीन यूनानी स्तोत्र-गीत ( पेयन ) थे। इनके अतिरिक्त युद्धोंके लिये कुछ युद्धके गीत होते थे जो प्रार्थनाके पश्चात् गाए जाते थे। प्लेटोने तिनीकसके 'पेयन'को सबसे सुन्दर गीत बताया है।

## स्तोत्र-गीत ( दिथुरम्ब )

किन्तु इन सबमें वास्तविक स्तोत्रके रूपमें वे स्तोत्रगीत ( दिथुरम्ब ) थे, जो किसी समय यूनानी गीत-रूपके अत्यन्त प्रचलित स्वरूप थे किन्तु जिनका आजतक कोई भी पूरा पाठ प्राप्त नहीं हो पाया। सम्भवत: प्रारम्भमें दिअनुससर बलिके समय ये गीत गाए जाते थे, जिन्हें पचास-पचास व्यक्ति एक साथ उन उत्सवोंपर मिलकर गाते थे। इनका सङ्गीत कुछ फ्रिजीय शैलीका स्तोत्रात्मक और आवेगपूर्ण होता था, जिनमें स्वर अत्यन्त उदात्त, शैली अत्यन्त विषम और छन्द भी विभिन्न होते थे। अरस्तूका मत है कि 'त्रासदोंकी उत्पत्ति इन्हीं स्तोत्रोंसे हुई।'

## धार्मिक कविता

संयुक्त राज्य अमेरिकामें हबशियोंका एक 'स्पिरिचुअल' नामक धार्मिक लोकगीत है जिसमें उदासी, करुणा और आत्म-विसर्जनकी भावनाके साथ-साथ सात्त्विक विश्वास भरा रहता है और अन्तमें उल्लास या आनन्द होता है। इस गीतमें आवृत्ति बहुत होती है। हमारे यहाँ भी विभिन्न उत्सवों और संस्कारोंके लिये गीत बने हुए हैं किन्तु वे इतने लौकिक हो गए हैं कि उनकी धार्मिक महत्ता कम हो गई है।

## कथात्मक प्रगीत

बड़े प्रबन्ध-काव्योंके साथ-साथ सभी देशोंमें छोटी प्रगीतावर्स, प्रगीतात्मक कथाएँ लिखी गईं जैसे प्रोवेन्कमें 'वर्स', इङ्गलैन्डमें 'ले' या कथा-गीत (बैलड), बाइज़न्टाइन युगमें लोकप्रिय यूनानी पद्य ( वर्सस पोलितिका )। फ्रान्समें प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दिके स्वैरवादी भावनावाले 'लेरिस्मे' या गाउचो गायक या पायादोरोंका 'पायादा' नामक गीत।

## मिनेसांग

जर्मनीमें लगभग ११५० से १३०० तक एक प्रकारके राजसी गीत चले जो उपदेशवादी 'स्प्रूख़डिख़्टूँग' नामके गीतोंसे ठीक उलटे थे। कोई भ

कवि या वीर होहेमिनेके गीत गाता है। ये गीत प्राचीन देशी भाषाके प्रेम और वीरताके गीत गानेवाले कवियों ( ट्राउबाडोर्स ) के गीतोंसे उद्भूत हुए और राजसभाओंमें पले। इनके कई रूप मिलते हैं— टागेलीड, पास्टूरेले, क्रौइज़लीड, क्लागेलीड और मिनेलीड। इनमें शब्द और राग दोनों एक ही आदमी स्थिर करता था जैसे सूर-तुलसी आदिने अपने गेय पदोंमें किया है। इनके प्रारम्भिक कवियोंने तो स्त्रियोंको भारतीय स्त्रियोंके समान ऐसा चित्रित किया था कि वे ही किसी पुरुषकी ओर आकृष्ट होती हैं, किन्तु मिनासांगमें पुरुष ही स्त्रीकी ओर आकृष्ट होता है।

## अनाक्रेओन्टिक काव्य

छठी शताब्दिके अन्तमें यूनानमें अनाक्रेओने एक प्रकारके मुक्तक प्रगीत रचे थे, जो पीछे चलकर अठारहवीं शताब्दिके जागरणकालमें बड़े प्रसिद्ध हुए। इन लोगोंने वास्तवमें विलासवाद ( एपिकक्यूरिज़्म ) का पल्ला पकड़ा। इनकी रचनाएँ अत्यन्त मधुर, कोमल, सुन्दर, लच्छेदार शब्दावलीसे सजी हुई, स्थान-स्थानपर चुभती हुई थीं, जिनमें आनन्ददायक वचन, कामुकता और विलासिता इतनी भरी हुई थी कि काव्यका स्वरूप कुछ छिछला और कृत्रिम लगता था। इनका उद्देश्य यही था कि मनुष्यके हृदयमें बैठी हुई वासनाको सरल और सस्ते प्रोत्साहन द्वारा जगा दें।

## गेय-काव्य या गीतिकथा ( बैलड )

साहित्यिक और सङ्गीत प्रकरणोंमें योरोपमें 'बैलड' शब्दके बहुतसे अर्थ प्रचलित हैं। साहित्यमें तो मूलतः इसका अर्थ उन छोटी सरल कथाओंसे है जो गीतके रूपमें कही गई हैं अर्थात् बैलडको हम गीतिकथा कह सकते हैं। हमारे भावोंको उत्तेजित करने या प्रभावित करनेवाले छोटे गीतको ही जनसाधारणमें बैलड कह दिया जाता है, चाहे उसका विषय धार्मिक हो, राजनीतिक हो, शृङ्गारात्मक हो, हास्यात्मक हो या करुणा-जनक हो। स्विनबर्नने जो 'ए बैलेड ऑफ़ ड्रीमलैन्ड' या कथाहीन रचनाएँ की हैं, वे वास्तवमें 'नृत्य नाट्य' ( बैलेड ) हैं। सङ्गीतकी परिभाषामें बैलेड एक व्यक्ति-द्वारा गाने योग्य भी हो सकता है, समवेत भी हो सकता है, केवल वाद्यात्मक भी हो सकता है, प्रसंशा या दोषारोपणका गीत भी हो सकता है, नृत्य-गीत भी हो सकता है और कुछ गेय भी हो सकता है।

बैलेड, बैलेदी, बैलेट और वाले नाम लातिन या इतालवी 'बलारे' शब्द अर्थात् 'नर्त्तन करना' से बनाए गए हैं। इसलिये बहुत दिनोंतक यह समझा जाता रहा कि इस प्रकारकी गीतात्मक कथाओंका मूल नृत्यमें ही है। फ्रान्सीसी गीतात्मक पद्योंमें जो जटिल नृत्यगीत या बैलेदी थे वे सबके सब कलात्मक नृत्यगीत थे, जिनमें कथा-तत्त्व तनिक भी नहीं था। चौसरके समयमें जो अँगरेजी बैलेडी इङ्गलिस्तानमें लिखी गई, वह तो राजसभाका नृत्यगीत था। सोलहवीं शताब्दिमें 'बैलड' शब्द हल्के सरल पद्योंके लिये और किसी प्रकारके भी सङ्गीतके लिये प्रयुक्त होने लगा, किन्तु अठारहवीं शताब्दिमें 'बैलेड' शब्द निश्चित रूपसे कथात्मक गीतके लिये ही बँध गया।

काव्यात्मक गीतों ( बैलेड ) में दो मुख्य प्रकार दिखाई देते हैं—१. लोकप्रिय रूढगीत, जैसे इङ्गलैन्ड और स्कौटलैन्डके बैलड हैं, जो एक मुँहसे दूसरे मुँहमें पहुँचते हुए अपना रूप बदलते रहते हैं और स्वैरवादी पुनर्जागर्तिके समयसे अबतक लोगोंकी रुचिके मुख्य केन्द्र रहे हैं। २. वे कथागीत, जिन्हें साहित्यिक गीत कहते हैं और जो प्रसिद्ध कवियों-द्वारा रचे गए हैं। इन साहित्यिक गीतोंमें भी कुछ ऐसे हैं जिन्होंने रूढ शैलीका अनुसरण किया जैसे लौङ्गफ़ैलोका 'दि रेक् औफ दि हेस्पेरेस', स्विनबर्नका 'मे जेनेट' और 'दि विच मदर'। किन्तु ब्राउनिङ्गका 'हाउ दे ब्रौट दि गुड न्यूज़' इस प्रकारकी रूढ पद्धतिमें सम्मिलित नहीं है।

कहा जाता है कि 'बैलेड' ही संसारके सर्वप्राचीन तथा सार्वभौम काव्य-रूप थे। यह बात असत्य है। वास्तवमें सर्वप्राचीन रूप तो शुद्ध गीत ही है। सर्वप्रथम कवितामें कुछ घटनाओंका कहीं-कहीं नाम आ गया है किन्तु सीधी घटना या नाटकीय रूपमें उनका समावेश नहीं हुआ। गीतके प्रकारोंमें कथागीत ( बैलड ) का प्रवेश साहित्यिक इतिहासमें सम्भवत: ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दिमें आया। पिछले मध्यकालीनवादमें इसे बड़ा प्रोत्साहन मिला और अनेक गीत-रूप उत्पन्न हुए। इसकी सङ्गीतात्मकता और पद्यात्मकताका अधिक श्रेय गिरजाघरसे सम्बन्ध रचनाओंको है। तेरहवीं शताब्दिके जूडास नामक रचनाके कुछ भाग प्राय: सर्व-प्राचीन अँगरेज़ी बैलेड कहलाते हैं। प्ररम्भिक रोबिनहुड कविताएँ इतनी लम्बी हैं कि वे कथागीतों ( बैलेड ) के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं। उनमें महाकाव्यों या स्वैरवादी कथाओंकी कुछ ध्वनि

तो प्राप्त होती है क्योंकि उससे वे सम्बद्ध हैं और गेयकी अपेक्षा पाठ्य अधिक हैं। उनका प्रयोग सङ्गीत या समवेत गानके लिये नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसकी रचना की है, उस प्रकारके गीत-कथाओं ( बैलड ) का सम्पूर्ण विश्व-साहित्यमें अभाव है क्योंकि रामचरितमानसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पाठ्य भी है और गेय भी अर्थात् साधारण काव्यके रूपमें भी इसका पाठ किया जा सकता है और एकाङ्की या समवेत रूपसे इसका गान भी किया जा सकता है। किन्तु योरोपमें जो बैलेड लिखे गए वे कथात्मक अधिक बने रहे, अधिक गेय न हो पाए। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिमें ये बैलेड अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गए थे, यद्यपि इङ्गलैन्ड और स्कौटलैन्डके कुछ ऐसे कथागीत हैं जो अठारहवीं शताब्दिकी घटनाओंपर अवलम्बित हैं। उनका उच्च स्तर और काव्य-सौष्ठव भी इस बातका प्रमाण है कि अत्यन्त कुशल हाथोंसे उनकी उत्पत्ति हुई थी। समय, स्थान और गायकोंके अनुसार यह कथागीत-शैली भिन्न होती रही है। उसकी मुख्य विशेषता यही रही है कि उसमें जो कथा कही जाती है वह सरल होती है, उसमें आत्म-चेतनाका अभाव होता है।

योरोपके सभी बड़े और छोटे देशोंमें इस प्रकारके कथागीतोंकी भरमार है। इनमेंसे सबसे अधिक सुन्दर हैं—'स्केन्डिनेवियाके कथागीत, स्पेनके काव्यगीत तथा इङ्गलैन्ड और जर्मनीके स्लाविक गीत।'

स्पेनमें भी रोमांस नामका एक प्रकारका कथा-काव्य ( बैलेड ) होता था जो अँगरेज़ी बैलडसे बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इनमेंसे कुछ तो ऐतिहासिक, भावकतापूर्ण और बाइबिलपर आश्रित हैं और कुछ स्पेन और मूरोंके बीच होनेवाले युद्धों और प्रेम-कथाओंके कथाकाव्य हैं, जिन्हें 'रोमान्सेज़ फ्रान्तेरिज़ोस' कहते थे। इसी प्रकारके प्रावेन्कमें प्रचलित चारण-गीत ( रिट्रोएन्का ) थे, जिनकी अन्तिम कड़ी बार-बार दुहराई जाती थी। फ्रान्समें इन गीतोंको 'रीट्राएंगे' कहते थे। वेल्सके चारणके समान एक एंग्लोसेक्सन चारण कवि ( स्काल्प ) होता था, जो एक राजसभासे दूसरी राजसभामें जा-जाकर गाया करता था और रचना करता था, जिनके विषय प्राय: जर्मन जातिकी वीरतापूर्ण कहानियाँ होती थीं या बाइबिलकी कथाएँ होती थीं या जो परिवार उन्हें आश्रय देते थे उनकी ये प्रशंसा करते थे। इस प्रकारकी कविताओंको 'लौड' भी कहते हैं।

### गीतिका ( सॉनेट )

नियमित तुकवाली चौदह चरणोंकी गीतिकाको प्रगीत ( सौनेट ) कहते हैं। इसीकी देखादेखी हिन्दीमें इधर छोटे पाठ्य-गीत भी प्रगीतके नामसे लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें चरणोंका बन्धन नहीं है। भावात्मक होना और छोटा होना ही उनका प्रधान गुण होता है। कवि लोग प्राय: ऐसे प्रगीतोंको आकर पढ़ते हैं। यूनानमें इसी प्रकारकी गीतात्मक कविता 'ट्रायड' थी। वेल्श साहित्यमें इसका प्रयोग उन कहावतों, काव्य-नियमों, परिपाटियों आदिके लिये होता है जो तीन-तीन खण्डोंमें हैं। पुरानी नौर्स भाषामें जो राजसी कविताएँ ( स्काल्डिक वर्स ) आठवीं शताब्दिके पिछले भागमें रची गईं और जो दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दिकी अत्युन्नत दशाको पहुँचीं ये सबकी सब अत्यन्त मधुर, अलंकृत और कृत्रिम प्रगीत शैलीकी ही होती थीं जिनमें छन्द-माधुर्य भी होता था। इटलीमें भी एक प्रकारकी गीत कविता ( स्तारनेलो ) होती थी जो प्राय: पढ़ी जाती थी।

### प्रगीत ( लिरिक )

प्रगीत ( लिरिक ) यूनानमें लायर या तन्त्रीके साथ गाई जानेवाली कविताको कहते थे जो समवेत ( कोरल ) भी गाई जाती थी और एकाकी ( मोनोडिक ) भी। इसके दोरिअन रूपमें साथ-साथ नृत्य भी चलता था और आयोनियन या यूनानी रूपमें प्राय: कविकी अपनी भावनाओंकी अभिव्यक्ति होती थी। आगे चलकर प्रगीत ( लिरिक ) का अर्थ हुआ प्राय: छोटी व्यक्तिगत कविताएँ। अभी हालमें एक नये प्रकारकी प्रगीत ( लिरिक ) कविताएँ भी चली हैं जो गाई जाती हैं।

### समवेत-प्रगीत

उदात्तवादी युगमें योरोपमें समवेत प्रगीतका अत्यन्त भव्य और सुसंस्कृत रूप सम्बोधन-गीत (ओड) था। नाटकमें आकर इसकी लय दुहराई जाती थी। पिंडरके ओडमें तीन पदोंकी आवृत्ति पूरे काव्यमें होती है और इसीसे वीरात्मक ओडका जटिल, दुरूह तथा निश्चित रूप-सज्जावाला रूप बनने लगा। रोममें ओडका प्रगीतात्मक रूप था और उसमें आदिसे अन्ततक एक ही प्रकारके छन्दका प्रयोग होता था। वर्त्तमान कालमें प्रारम्भमें तो यह ओड किसी भी प्रकारके प्रगीतके लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु आगे चलकर यह

अत्यन्त भव्य विषय, भाव और शैलीके प्रगीतोंके लिये ही परिमित हो गया, जिसमें डेढ़ सोसे अधिक पंक्तियाँ नहीं होती थीं। यह प्राय: एक प्रकारका सम्बोधन प्रगीत होता है।

सन् ८४० से १३०० तक लगभग सम्पूर्ण फ्रान्सीसी और प्राविन्केल साहित्य पद्यमें उच्च स्वरसे गाया जाता था। ११०० से पूर्व प्रचलित साहित्यके तीन रूप थे—नृत्य काव्य, सन्तोंकी जीवनियाँ और वीरकाव्य (चान्सों द गेस्टे)। सम्भवत: गिरजाघरके विरोधके कारण ११२७से पूर्व प्राविन्केल और ११४७ से पूर्व फ्रान्सीसी प्रगीतकाव्य नहीं मिलता। फ्रान्स और प्रावेन्ककी सीमापर मई और वसन्तमें नृत्योत्सव हुआ करते थे, जो आगे चलकर उत्तरी फ्रान्समें उच्च शैलीमें प्रचलित हुए। इन प्रगीतोंका पद्य-रूप निश्चित नहीं था और ये विषयके अनुसार बँटे हुए थे जिनमें हर्ष, शोक, ग्राम-गीत, धार्मिक-गीत तथा और भी कई प्रकारके गीत प्रचलित थे। उत्तरी फ्रान्समें एक थे 'चान्सों आ तौएल' अर्थात् किसी स्त्रीका कपड़ा बुनते या पानी खींचते हुए गाना जैसे हमारे यहाँ अब भी देहातमें चक्की पीसते हुए स्त्रियाँ गाती हैं। इसी प्रकार 'चान्सों द गेस्ते' सन्तोंकी जीवनीपर होते थे, जो बारहवीं शताब्दिमें कुछ नये रूपमें आए। तेरहवीं शताब्दिमें एक रूप चला रोमाँ दे ला रोज़, जो स्वैरवादी शैलीमें अध्यवसान और उपदेशका सम्मिश्रण था। चौदहवीं शताब्दिमें फ्रान्सीसी प्रगीतके निश्चित रूप बन गए जिनमेंसे कुछ उन्नीसवीं शताब्दिमें 'सामाजिक पद्य' (वर्स दे सोसाइते) या हल्के पद्यके रूपमें प्रचलित हुए।

प्राचीन फ्रान्समें एक प्रकारके ऐस्त्रावोत या ऐस्त्रास्वो नामके प्रगीत चलते थे, जो वस्तुत: व्यक्तिगत व्यंग्य या आक्षेप होते थे, किन्तु इसका कोई उदाहरण मिलता नहीं है। इसी प्रकारका प्रगीत-काव्यका एक व्यंग्यात्मक उपवर्ग 'सीरवेन्ते' था, जिसमें प्रेम, प्रशंसा तथा अन्य ऐसी ही आनन्दपूर्ण कथाओंके बदले राजनीतिक, नैतिक और किसी मृत आश्रयदाताके लिये दु:ख प्रकट किया जाता था। साहित्यकी समीक्षाके लिये भी इन रचनाओंका प्रयोग किया गया है।

### गेय-काव्य

मध्ययुगके उत्तरकालमें दक्षिण-पश्चिमी जर्मनीमें विशिष्ट रागोंमें गाई जानेवाली 'गौइस्टेर-गेसाङ्ग' नामक कविता चली जो सोलहवीं शताब्दिमें हान्स

शास्त्रकी रचनामें सर्व-सुन्दर रूपसे व्यक्त होकर सत्रहवीं शताब्दिमें समाप्त हो गई। वहाँ मौइस्टेरजिन्गेर नामकी संस्था ( जिसमें अधिकांश मजदूर और व्यापारी थे ) यह मानती थी कि 'सङ्गीत और काव्य-कलाएँ भी सीखी जा सकती हैं।' इनका अधिकतम विकास हुआ तो विद्यालयोंमें किन्तु इनका प्रचार हुआ और ये भी व्यावसायिक सङ्घ (गिल्ड) के आधारपर सङ्घटन करने लगे।

लौकिक मध्यकालीन विषयोंके अतिरिक्त इसमें धार्मिक विषय भी आने लगे, किन्तु प्रेम-कथाएँ नहीं आईं। इन लोगोंने कोई भी कलात्मक और शाश्वत ग्रन्थ नहीं लिखा। हाँ, यह अवश्य हुआ कि इन्होंने मध्यवर्गपर नैतिक प्रभाव बहुत डाला और सुधारके सिद्धान्तोंका प्रचार किया।

### कलह-काव्य

प्रोवेन्कमें राजसी प्रगीत-काव्यको 'पास्टोरैला' कहते थे, जो उत्तर फ्रान्सीसी पोस्टोरेले कहलाता है। इसमें एक नाइट या वीर किसी गड़रिनसे मौखिक शास्त्रार्थ करता है, जिसमें गड़रिन जीत जाती है। प्रोवेन्कमें जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें यह परिपाटी है कि गड़रिन उस नाइटको अस्वीकार कर देती है और अपनी पवित्रता बनाए रहती है। आगे चलकर इस कन्याकी वृत्तिके अनुसार और भी अनेक प्रकार बन गए जैसे—अजापालिका ( केत्रिएरा ), हंसपालिका ( आउकिएरा ), ग्वालिन ( वाकेएरा ), शूकर-पालिका ( पारकीएरा ) और मालिन ( हारतोलाना ) नायिका बन गईं।

फ्रान्समें तेरहवीं शताब्दिमें 'जेउयार्त्ती' नामक कलह-कविताएँ लिखी जाती थीं, जिनमें दो व्यक्ति क्रमशः बारी-बारीसे एक-एक पदमें अपने तर्क उपस्थित करते थे। ये व्यक्ति वासनात्मक भी होते थे और प्रतिनिधि भी। जब कविता पूर्ण हो जाती थी, तब किसी मध्यस्थके पास निर्णयके लिये पहुँचा दी जाती थी। इनमें प्राय: प्रेम-सम्बन्धी समस्याओंकी प्रधानता रहती थी। ग्राम्य-काव्य ( पेस्टोरल ) में ऐसे काव्य-शास्त्रार्थ अधिक होते थे।

### देश-भक्तिके काव्य

सभी देशोंमें स्वदेश-भक्तिकी रचना अनेक रूपोंमें हुई है जिनमें उस देशके वीरोंसे लेकर भूमितकपर भावात्मक वर्णन हुए हैं।

अफ्रीकाके गाला लोगोंमें एक बहुत लम्बी स्वजातीय गौरव-कविता या दम्भ-कविता ( फ़ारसा ) होती है जिसमें उस जातिके वीरों, उनके कार्यों

और उनकी शक्तियोंका एक लम्बा-चौड़ा विवरण होता है। कभी-कभी ऐसी कविताएँ व्यक्तिगत अर्थात् एक व्यक्तिके सम्बन्धमें लिखी जाती हैं जो 'गीरासा' कहलाती हैं। इसी प्रकार नैपोलियनके विरुद्ध जर्मन लेखकोंने स्वतन्त्रताके युद्धके लिये देशभक्तिपूर्ण साहित्य ( फ्रौइहौएट्स डिख्टूङ्) लिखा था जो अधिकांश प्रगीतोंके रूपमें रचा गया है, यद्यपि क्लीस्टनने एक नाटक और आर्न्टने गद्य ग्रन्थ भी लिखा है। इसी प्रकार प्रौवेन्कमें ग्यारहवींसे तेरहवीं शताब्दितक वीरतापूर्ण प्रेमके गीत गानेवाले कवि थे, जो उस प्रकारकी 'गाएसाबेर' रचनाएँ करके लोगोंमें सात्विक वीरता और सात्विक प्रेमका भाव भरते थे। इसी प्रकार स्पेनमें प्राचीन, स्वतन्त्र लोकप्रिय वीर-गीत 'मेस्टर दे जुग्लारिया' थे। सर्बोक्रोटियन वीर-काव्य दो रूपोंमें मिलते हैं—१. लम्बी पंक्तिवाले पद्योंमें, २. छोटी पंक्तिवाले पद्योंमें। अब इनमेंसे केवल छोटेवाले गाए जाते हैं। इन दोनोंमें तुर्कोंके साथ युद्ध या सङ्घर्षका विवरण होता था।

## अगतिका

सन् १९२० में जब रूसी राज्य-क्रान्तिकी लहर व्याप्त हुई, उस समय वहाँके देश-भक्तोंने और विद्रोही क्रान्तिकारियोंने जन-जागरणके लिये 'अगितका' नामकी अनेक प्रकारकी कविताएँ रचीं जिनके तीन उद्देश्य थे—१. जारशाहीको उखाड़ फेंकना, २. जनतामें आत्म-विश्वास उत्पन्न करना और ३. सङ्घटनके लिये प्रेरणा देना। इन कविताओंमें विशेष रूपसे उन अत्याचारोंका अत्यन्त करुणाजनक चित्रण होता था, जो रूसी शासकोंने तथा उनके सहायकोंने रूसी जनताके दमनके लिये प्रयुक्त किए थे। इन करुणा-जनक गीतोंमें तथा कविताओंमें ऐसी प्रभावोत्पादकता तथा प्रेरणा भरी रहती थी कि सम्पूर्ण रूसी समाज थोड़े ही समयमें विद्रोही बन गया। जब सोवियत सरकार स्थापित हो गई और जारशाही समाप्त हो गई, तब भी वहाँके कवियोंने साम्यवाद और वर्गवादके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये उसी शैलीकी कविताओंका प्रयोग किया।

## विशिष्ट गीत

जब यूनानके कोई वीर जीतकर लौटते थे तब उनकी विजयकी स्मृतिमें यूनानके प्रसिद्ध खेलोंके चार अवसरों अर्थात् ओलिम्पियन, पिथियन,

निमियन और इस्थमियनपर विजय-गीत ( एपिनिकियम ) गाए जाते थे। इनके अतिरिक्त यूनानमें एक प्रकारके वैवाहिक गीत ( एपिथैलोमी ) गाए जाते थे, जिन्हें युवा पुरुष या युवतियाँ समवेत रूपसे नववधूके प्रकोष्ठके द्वारपर उस समय गाते थे, जब वर-वधू उस प्रकोष्ठमें प्रविष्ट हो जाते थे। ऐसे ही यूनानमें एक प्रकारका 'स्कोलियन' नामक गीत था, जो सार्वजनिक भोजोंके समय मदिरा पीनेके समय गाया जाता था। हमारे यहाँ रहट चलाते, चक्की पीसते या खेत गोड़ते समय भी गीत गाते हैं और माङ्गलिक अवसरोंके लिये तो गीत बने ही हुए हैं।

### गाली

इन सब विशिष्ट प्रकारके गीतोंमें एक गाली ( एब्यूज़ ) भी है, जो फूहड़से लेकर पूर्ण साहित्यिक रूपमें मिलती है और जो माङ्गलिक अवसरका प्रेमगीत समझा जाता है। अफ़्रीकाकी गाला, तुआरेग और अबीसीनियावालोंमें इनका अधिक प्रचार है। वहाँ पुरुष और स्त्री दोनों ही किसी शत्रुको खिझानेके लिये या लोक-निन्द्य नेताओंकी हँसी उड़ानेके लिये इन्हें गाते हैं।

### यात्रा-गीत ( प्रोज़ोडियम )

किसी धार्मिक यात्रामें चलनेवाले लोग जो गीत गाते हैं, कहा जाता है कि योरोपीय नाटककी उत्पत्ति इन्हींसे हुई। हमारे यहाँ बङ्गालमें ऐसे यात्रा-गीत बहुत लिखे गए।

### दार्शनिक कविता

सभी सभ्य देशोंमें दार्शनिक कविताएँ भी लिखी गई हैं किन्तु हमारे यहाँ ऐसी कविताओंको शास्त्र कहकर काव्यसे अलग कर दिया गया। फिर भी सूफ़ियोंके 'कलाम' और 'ख़याल' नामसे जो लोकप्रिय रूप चले हैं वे दार्शनिक ही हैं। प्रोवेन्सकी कविताका एक प्राचीन सम्प्रदाय भी 'त्रोबार क्लस' है, जो काव्यात्मक पहेलियोंसे निकलकर पीछेके चारणोंके दार्शनिक रहस्यवादके रूपमें परिवर्त्तित हो गया। इसीके साथ-साथ जो अत्यन्त सरल और लोकप्रिय प्रगीत होते थे, वे 'त्रोबार क्लार्क' कहलाते थे।

फ़्रान्समें साधारण कविताके अतिरिक्त एक ऐसी कविता ( पोयमे ) भी होती थी, जिसमें प्रबन्ध-काव्य या नाटकके रूपमें कोई दार्शनिक विचार उपस्थित किया जाता था। ये सभी कविता रचनेवाले दार्शनिक कवि

( मैटाफ़िज़िकल पोयट्स ) कहलाते थे जैसे जौन डोन ( १५७२ से १६३१ ) और सत्रहवीं शताब्दिके वे कवि, जिनकी शैली डोनसे मिलती-जुलती थी, यद्यपि वे वास्तवमें दार्शनिक थे नहीं। हमारे यहाँ भी जायसीको दार्शनिक कवि कह सकते हैं।

## विनोदात्मक कविता

कभी कुछ रचनाएँ केवल विनोदके लिये भी रची गईं। योरोपमें मध्यकालमें एक प्रकारकी फ़ाव्रासी नामक पद्य-रचना होती थी, जिसमें भ्रान्तिके कारण हास्यात्मक असम्बद्धता उत्पन्न की जाती थी। प्राय: यह असम्बद्ध और मूर्खतापूर्ण रूपमें लिखी जाती थी। सम्भवत: इसका जन्म उस हास्यपूर्ण मिथ्या-धार्मिक मूर्खोत्सव ( फ़ेते दस फ़ाउस ) से उत्पन्न हुआ था और पुनर्जागरणकालके मुखौटोंके प्रहसन (कौमेडी ऑफ़ मास्क्स) में 'डाक्टर'के स्वगत-कथनतक चलता रहा। इसी प्रकार यूनानमें 'पैग्नियाँ' नामकी विनोदपूर्ण कविता लिखी जाती रही। जर्मनी, फ़्रान्स और इङ्गलैन्डमें बारहवीं और तेरहवीं शताब्दिमें पढ़े-लिखे विदूषकों या घुमन्तू छात्रोंमेंसे एक 'गोलियर्ड' था, जो क्षुद्र तथा व्यङ्ग्यात्मक पद्य ( रिबौल्ट ) लिखा करता था।

## परिवृत्ति-काव्य ( पैरेडी )

जिस रचनामें किसी कवि या किसी प्रकारके कवियोंकी शैली और भावनाका इस प्रकार अनुकरण किया जाता है कि वे हास्यास्पद प्रतीत हों, उसे परिवृत्ति कहते हैं। यह परिवृत्ति प्राय: कुकवि ही किया करते हैं। कुछ शठ लेखकोंने तुलसीदास जैसे महाकवियोंकी रचनाको भी 'गड़बड़ रामायण' के रूपमें परिवृत्त किया है। योरोपीय साहित्यमें इसके असंख्य उदाहरण हैं। यह परिवृत्ति तीन रूपोंमें मिलती है—१. शब्दात्मिका, जिनमें किसी शब्दको बदल देनेसे वह रचना ही तुच्छ हो जाती है, २. रूपात्मक, जिसमें किसी लेखककी शैली या शब्द-प्रयोगको हास्यात्मक विषयके लिये प्रयुक्त करते हैं। ये दोनों स्तर विनोदात्मक होते हैं। ३. विषय-सम्बन्धी ( थीमैटिक ), जिसमें किसी कृतिका विषय और लेखककी भावना ही बदल देते हैं। इस रूपमें एक कविके द्वारा दूसरे कविकी प्रभावपूर्ण समीक्षा भी हो जाती है। व्यंग्यके लिये परिवृत्तिका प्रयोग बड़े कवियोंने भी किया है। जब एक ही

लेखककी कई कविताओंसे विभिन्न अंश एकत्र करके परिवृत्तिके रूपमें सङ्ग्रह कर लिए जाते हैं और उसका उद्देश्य किसी दूसरे लेखककी कृतिका अनुकरण करना होता है तब वह 'पास्टिशे' कहलाती है। इस प्रकारकी व्यंग्यात्मक परिवृत्ति 'तेमा कौन वेरियाज़ियोर्नी' कहलाती है।

सूक्ष्मोक्ति ( एपिग्राम )

फ़ान्स और यूनानमें किसी भी प्रकारके शिला-लेख या उत्कीर्ण लेखको 'एपिग्राम' कहते थे, किन्तु आगे चलकर व्यंग्यात्मक शोकपूर्ण छोटी कविताको 'एपिग्राम' कहने लगे। पुनर्जागरणकालमें समीक्षवादियोंने मधुर, खट्टा, तीखा और नमकीन इन चार भागोंमें 'एपिग्रामों' का वर्गीकरण किया था। आजकल माधुर्यपूर्ण ( प्रेमभरे ) और खटासपूर्ण ( उदासीभरे ) एपिग्राम तो बहुत कम हैं किन्तु अत्यन्त तीखे व्यंग्योंसे भरे तथा एटिक या यूनानी नमकीनपनसे सजे एपिग्राम बहुत हैं। फ़ान्सीसी राज्यक्रान्तिके समयसे किसी भी पैनी व्यंग्योक्तिको एपिग्राम कहते हैं। कहावत ( प्रोवर्ब ) की अपेक्षा यह अधिक व्यक्तिगत किन्तु कम गम्भीर होती है और इसमें सूक्ति ( एपोथेम ) की अपेक्षा अधिक कृत्रिमता होती है।

ब्वालोने कुछ कटु रूपसे एपिग्रामकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'यह एक प्रकारकी सूक्ति होती है, जो दो पंक्तियोंमें कही जाती है।' कौलरिजने इसीको बढ़ाकर कहा है कि 'एपिग्राम क्या है? एक बौना है, जिसका शरीर है संक्षेपता और सूक्ति है जिसका आत्मा।' वास्तवमें ये सब परिभाषाएँ अत्यन्त अपर्याप्त हैं क्योंकि बेन् जौन्सनके एपिग्राममें ११६ पंक्तियाँ हैं। यूनानी लातिन और वर्त्तमान साहित्यमें गम्भीर समाधि-लेख भी 'एपिग्राम' माना जा सकता है और अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण श्लेषोक्ति भी। इसमें प्रशंसा भी हो सकती है और व्यंग्यात्मक आक्षेप भी। विषयकी दृष्टिसे यह सुन्दर प्रेम-कविता, विनोदपूर्ण घटना, नैतिक या दार्शनिक विचार या किसी विशिष्ट विचार या परिस्थितिपर एक सामयिक कविता ही है, जिसे हम प्रगीत (लिरिक) से भिन्न नहीं कह सकते। चाहे जो भी उसका विषय हो किन्तु उसका लक्षण यह है कि वह छोटी और सुसंस्कृत हो, उसके अन्तमें कोई सुन्दर, मौलिक, पैनी, गम्भीर, भावपूर्ण सूक्ति या व्यंग्योक्ति हो अर्थात् उसका अन्त इसी एक विशेष ढङ्गसे होना ही चाहिए। मार्शलने जो १५०० छोटी कविताएँ

लिखी हैं उनमें सब प्रकारके एपिग्राम आ जाते हैं इसलिये कभी-कभी लोग एपिग्रामको 'मार्शल' भी कहने लगते हैं।

### चित्रकाव्य

कभी-कभी कुछ कवियोंने कुछ ऐसी रचनाएँ की हैं, जिन्हें एक विशेष रूप और क्रममें सजाकर लिखनेसे किसी वस्तुका रूप बन जाता है जैसे खड्गबन्ध, सर्पबन्ध, धनुर्बन्ध आदि। योरोपमें भी इस प्रकारकी चित्र-रचनाएँ 'चार्मेन फ़िगरेतम' नामसे लिखी जाती थीं, जिनमें कोई पद्य ईसाके क्रौस या मदिरा-चषकका रूप ग्रहण करते थे। इनकी विशेषता यह थी कि जिस वस्तुका पद्यमें वर्णन होता था उसी वस्तुका चित्र भी बनता था। यूनानमें इन्हें 'तैक्तोपैग्नियन' कहते थे। आचार्य मम्मटने इस प्रकारके काव्यको अधम काव्य माना है—'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।' [ बिना व्यञ्जनवाला शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र अधम काव्य कहलाता है। ]

इस प्रकारके चित्र काव्योंमें एक है पहेली ( रिडिल, पज़िल या रोबस ), जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकारके प्रश्न या विवरण होते हैं जिनका सम्बन्ध साधारण जीवनके अनुभवों तथा वैज्ञानिक प्रयोगोंसे होता है। इसका प्रयोग उपन्यासों, कहानियों तथा नाट्योंमें भी निरन्तर होता रहा है। इनमें बहु-विषयक ज्ञान अधिक अपेक्षित होता है। स्पेनकी पद्यात्मक पहेलियाँ ( प्रगुण्टा ), मनोविनोदके अतिरिक्त शिक्षाके लिये प्रयुक्त होती थीं।

इसीका दूसरा सूत्रमय रूप 'कहावत'के रूपमें मिलता है, जिसमें सर्व-सामान्य अनुभूतिके आधारपर जीवनकी संक्षिप्त आलोचना होती है, जैसे 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी।' यद्यपि यह जन-साधारण-मस्तिष्ककी उपज रही किन्तु साहित्यमें इसे विशेष सम्मान मिला। यूनान और रोममें इसीके द्वारा साहित्यिक और नाटकीय आलोचना होती रही।

कुछ लोगोंने गद्यमें भी ऐसी कला दिखानी प्रारम्भ की। १९१४ में आमी लाविलने छन्द, स्वतन्त्र पद्य, लय, ध्वनि, अनुप्रास आदि सबका सम्मिश्रण करके एक विचित्र बहुध्वनीय गद्य ( पोलिफ़ोनिक प्रोज़ ) बनाया। इसकी कसौटी यह थी कि यह लेखककी भावना और रुचिको भी व्यक्त करती थी अर्थात् उसे पढ़कर आप समझ जाते थे कि लेखक क्रोधमें है या हर्षमग्न है, निराश है या दुःखी है।

### कलङ्कित काव्यगीत ( वुटजेन शोइवेन )

उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें जर्मनीमें एक अत्यन्त लोकप्रिय काले काँचवाले गीत ( वुटज़ेनशोइबेनलिरिक ) नामकी कविता चली थी और जिसमें हेइज़ेने उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें रची हुई उन रचनाओंका कलङ्कित चित्रण किया है जिनमें मध्यकालीनवादको स्वैरवादी तथा आदर्शवादी बनाया गया था।

ऐसे ही १९२९ में जर्मनीमें क्रेटिनने विचित्र जटिल छन्दों और तुकोंमें एक भव्य शैली चलाई, जिसमेंसे फूहड़पन बिलकुल निकाल दिया गया था।

इटलीमें एक प्रकारकी 'चियारोस्कुरो' रचनाएँ चलीं, जिनमें कुछ भाग स्पष्ट रहता था, कुछ अस्पष्ट। उस शैलीका प्रवर्त्तन तो हुआ था चित्रकलाके द्वारा, जिसमें रङ्गोंके बदले केवल प्रकाश और छायाके द्वारा चित्रण किया जाता था। अतः वे गोथिक स्वैरवादी रचनाएँ भी 'चियारोस्कुरो' कहलाने लगीं, जिनमें प्रकाश और अन्धकार अथवा आशा और निराशाका सम्मिश्रण रहता था।

चित्र-प्रयोगोंमें 'पैलिन्ड्रोम' कविता भी थी जो आगेसे या पीछेसे एक-सी पढ़ी जाय जैसे—खर! नवीन वीन रख। इसी प्रयोगमें 'कुण्डलिया' ( सरपेन्टाइन वर्स ) भी आती है जिसमें आदि और अन्तका शब्द एक ही होता है।

ऐसे ही यूनानमें केवल विनोद और खेलमें जो कविता लिखी जाती थी, उसे पेग्निया कहते थे। इसके अनेक रूप थे जैसे प्रेमगीत ( ईरोतोपेग्निया बागातिलेस ) और चिह्नगीत ( टैक्नोपेग्निया )।

कुछ कवियोंने एक कवितामें कई भाषाओंका योग करके भाषा-समक ( मैकेरौनिक ) कविताएँ भी प्रायः विनोदपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये रची हैं जैसे—येषां बुद्धि-विचार-सार-सरिता सूखी बही जा रही।

कुछ ऐसी भी कविता या लेख लिखे गए हैं, जिनमें कुछ अक्षरोंका प्रयोग छोड़ दिया जाता हो। फ्रान्सीसी रङ्गशालापर इस प्रकारकी भाषावाले बहुतसे नाटक खेले गए हैं।

ऐसे ही अँगरेज़ीका 'लिमेरिक' पद्य होता है, जिसमें सब प्रकारकी मूर्खताओं और खिलवाड़ोंका समावेश होता है। ऐसे मन्द पद्य ( लाइट वर्स )

खिलवाड़में लिखे जाते हैं। ये प्रायः छोटे प्रगीत होते हैं, जिनमें कभी-कभी व्यक्तियों और सार्वजनिक आचरणोंकी आलोचना भी होती है। मिल्टन, गेटे और शेक्सपियर जैसे लोगोंने भी ऐसे पद्य लिखे हैं। ये पद्य अत्यन्त सार्थक व्यंग्य नाट्योंसे लेकर जान-बूझकर अर्थहीन मूर्खताओंसे पूर्ण लिखे गए हैं। इनमें गीत, परिवृत्ति, सूक्ति और लोकालोचनतक सब आ जाते हैं। आजकल भी बहुतसे लोग इस प्रकारकी रचनाएँ कर रहे हैं।

### आशु-कविता ( इम्प्रोविजेशन, एक्सटेम्पोर )

कभी-कभी कुछ ऐसे प्रतिभाशाली कवि होते हैं, जो धाराप्रवाह कविता रचते हैं। 'बूत्सराइम्स' या पद्य-प्रतियोगिताके घरेलू खेलोंमें या विजयोल्लासमें लोग इस प्रकारकी कविता रचते हैं। कुछ कवि-सम्मेलनोंमें ऐसे कवि आते हैं, जो इस प्रकार सद्यःरचना करते हैं और जो विषय दे दिया जाता है उसी विषयपर धारा-प्रवाह बोलने लगते हैं किन्तु इनकी कविता बहुत उत्कृष्ट कोटिकी नहीं होती। संस्कृतमें बहुतसे ऐसे सिद्ध कवि थे, जो धारा-प्रवाह अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिकी कविता रचते चले जाते थे। वर्त्तमान युगमें पण्डित देवीप्रसाद कवि-चक्रवर्त्तीजीका नाम ऐसे कवियोंमें गिनाया जा सकता है, जो काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके संस्कृत-साहित्यके अध्यक्ष थे। ये कवि तीन प्रकारके होते हैं— १. जो किसी दिए हुए विषयपर धारा-प्रवाह छन्दोंमें रचना करते चले जाते हैं। २. जो दी हुई समस्या या किसी दिए हुए चरणके अनुसार पादपूर्ति करते हैं और ३. जो एक बार सुनकर किसी कविताको दुहरा देते हैं। अफ्रीकामें कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो विशेष उत्सवों या शोकके समय गीत जोड़ लेती हैं। अठारहवीं शताब्दिमें कुछ रूसी किसान ऐसे थे, जो स्वयं बैठकर पद्योंमें बातचीत करते थे। यूगोस्लावमें कुछ ऐसे चारण थे, जो अपने प्रतिद्वन्द्वीकी रचना सुनकर उसे पढ़ तो देते ही थे, साथ ही उसे बढ़ा भी देते थे।

### चीनी कविता

सर्वप्राचीन कविता, गीत या कथागीत 'बैलेड'के रूपमें मिलते हैं। इनमेंसे प्रारम्भिक तो वे थे, जो धार्मिक कृतियोंमें काम आते थे और जो ईसासे सम्भवतः ६०० शताब्दि पूर्व लिखे गए थे। इन सबोंका और पीछेके कविता-सङ्ग्रह 'शिहचिंग' या सम्बोधन-गीत ( ओड ) का सङ्ग्रह किया

गया। इनमें प्रेम, युद्ध, भोजन, मद्यपान, नृत्य, राजाओंके दोष और गुण तथा जनताके सुख और दुःखकी कथाएँ हैं। इनमेंसे बहुत-सी कविताओंका उद्देश्य तो धार्मिक है, शेषमें व्यंग्य, प्रेमगीत, सेनापतिके विरुद्ध सैनिकोंका आरोप या फिर कुछ लोकप्रिय उत्सवोंका वर्णन है। किन्तु चीनमें सबसे श्रेष्ठ कविता 'लि पो' या 'लि ताइपो' ( निर्वासित देवदूत ) की हैं जो मदिरा पी-पीकर अत्यन्त सुन्दर कविताएँ लिखा करता था। उसके गीतोंमें मार्मिक करुणाकी अत्यन्त विशुद्ध और प्रभावशाली धारा प्रवाहित है। उधर तफूने निराशा, दुःख और विपत्तियोंकी कथा लिखकर अत्यन्त तथ्यवादी रचनाएँ की हैं।

## जापानी साहित्य

सर्वप्रथम 'प्राचीन विषयोंका लेखा' ( कोजिकी ) जापानमें लिखा गया जिसमें पुराण-शैलीकी ऐसी प्राचीन कथाएँ हैं, जिनमें बीच-बीचमें गीत दिए हुए हैं। दूसरा 'निहोंगी' है जिसमें चीनी आचार-विचारका वर्णन है। विचित्र बात यह है कि जापानमें अधिकांश काव्य स्त्रियोंने लिखे या लिखवाए हैं।

ग्यारहवीं शताब्दिमें दो प्रसिद्ध ग्रन्थ दो महिलाओंने लिखे—एक है 'गैञ्जीकी कथा' ( गैञ्जिमोनोगातारी ), जो मुरासाकी नो शिकिबूने लिखी थी। यह एक प्रकारका लम्बा उपन्यास है जो है तो बड़ा कठिन किन्तु उस युगके वास्तविक जीवनका दर्पण है। सेइसोनागोनने मकूरा नोसोकी या 'तकिया-चित्रण' नामसे जीवन और उसकी व्यावहारिक समस्याओंका विस्तृत विवरण दिया है जिसके दो अंश हैं—

१. वे वस्तुएँ, जिनसे मैं घृणा करती हूँ।

२. वे वस्तुएँ, जिनमें मुझे रुचि है।

जापानी कविताके दो रूप हैं 'तङ्का और होवकू।' किन्तु पीछे चलकर इन लोगोंने रूसके प्रभावमें पड़कर नये प्रकारके प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिए।

## अरबी कविता

कुरानसे पहले अरबीका कोई लिखित साहित्य ही नहीं प्राप्त होता। अरबी कविता रूप और विषयकी दृष्टिसे दो श्रेणियोंमें विभाजित हो सकती हैं—१. शैर और २. शोकगीत ( मर्सिए )। इनके अतिरिक्त कसीदे हैं जो साठसे सौ पंक्तियोंमें लिखे जाते हैं और जिनका एक विशेष क्रम है। इनके

प्रारम्भिक पद्योंमें 'नसीब' होता है, जिसमें यह दिखलाया जाता है कि कवि अपनी यात्राके लिये चल पड़ा है। वह एक उजाड़ खण्डमें अपने साथियोंके साथ ठहरता है जहाँ उसे अपने प्राचीन प्रेमकी स्मृति आ जाती है और जहाँ वह अपने प्रेम और विरहकी कथा कहने लग जाता है। इसके पश्चात् वह अपने ऊँट और घोड़का वर्णन करता है और इसीके साथ-साथ कुछ प्राकृतिक दृश्यों और आखेटोंका वर्णन करता है। इस प्रकार चलते-चलते वह कविताके मुख्य विषयपर पहुँच जाता है जिसका उद्देश्य है अपनी जाति या वीरताकी प्रशंसा करना अथवा डेरे या मरुभूमिके जीवनका वर्णन अथवा उस आश्रयदाताका वर्णन, जिसके सम्मानमें कविता लिखी गई है। विचित्र बात यह है कि इस प्रकारके एकरूप, कलात्मक और सन्धिकी नियमिततासे पूर्ण काव्योंका अरब जैसे दरिद्र देशमें अम्बार लग गया है।

पहले तो ये कविताएँ रावी या गायक लोग घूम-घूमकर गाते थे, जिन्हें पूरेके पूरे काव्य कण्ठस्थ थे और जिन्होंने कभी-कभी मूल पाठोंमें भी बहुत हेर-फेर कर दिया। इन चीन काव्योंका सङ्ग्रह 'दीवान'के नामसे किया गया है। दूसरे प्रकारके सङ्ग्रह वे हैं, जिनमें कि अन्य कवियोंकी रचनाएँ सङ्ग्रहीत हैं। इन सङ्ग्रहोंमें १. मुअल्लकात, २. हमीस (युद्धवीरता, धैर्य, स्थिरता, वीरता आदिका वर्णन) और ३. मुफ़द्दलियात है, जिसमें अरबके विचार और काव्य कलाका पूरा विवरण है। किन्तु अरबमें काव्यकी बहुरूपता नहीं प्राप्त होती यहाँतक कि योरोपके अत्यन्त निकट होनेपर भी काव्यके रूपोंमें नवीनता नहीं आ पाई। उन्नीसवीं शताब्दिमें सीरिया और मिस्रमें जो सामाजिक जागर्त्ति हुई, उससे कुछ पश्चिमी भावनाएँ अवश्य आईं किन्तु विशेष रूपसे उपन्यास और नाटकके क्षेत्रमें।

### फ़ारसी कविता

फ़ारसी साहित्यमें जो प्रारम्भिक रचनाएँ मिलती हैं, वे हैं—

१. कसीदा अथवा किसीकी प्रशंसामें लिखी हुई कविता।

२. ग़ज़ल, प्रेमगीत, मदिरा-गीत या धार्मिक गीत।

३. रुबाई या चतुष्पदी।

४. मस्नवी, जिसका प्रयोग प्रबन्ध काव्योंके लिये किया जाता है। ये सभी रूप फ़ारसी काव्योंमें प्रारम्भसे मिलते हैं।

फ़ारसीमें शाहनामा, जहाँगीरनामा, फ़रारमुर्ज़नामा और गुशास्पनामा जैसे महाकाव्य तो पहले लिखे गए और फिर पीछे हमदुल्ला मुस्तौफ़ीने ७५००० शैरोंका ज़फ़रनामा लिखा जिसमें मुहम्मद साहबके जन्मसे लेकर १३३१ तकका पूरा विवरण दिया हुआ है।

फ़िरदौसीके समयमें ही स्वैराचारी उपन्यास प्रारम्भ हो गए थे और युसुफ़ज़ुलेखाकी मसनवी लिखी गई, जिसे शुद्ध पद्यात्मक उपन्यास कह सकते हैं। इस प्रकार सर्वाधिक प्रेम-कथाएँ महाकाव्यके रूपमें फ़ारसमें ही लिखी गई किन्तु अधिकांश कविताएँ कसीदे या प्रशंसात्मक पद्यके रूपमें ही लिखी गईं। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत व्यंग्यके रूपमें भी काव्य लिखा गया जिसमें [illegible]के नामसे बहुत-सी हँसी-ठट्ठेकी बातें भी लिखी गईं। इनके अतिरिक्त उपदेशात्मक कविताएँ सूफ़ियोंने लिखीं और फिर तो गीत भी रचे जाने लगे, जो सबके सब ग़ज़लमें ही थे।

## अरब और फ़ारसकी कविता

ग़ज़ल : अरबमें 'ग़ज़ल' नामका एक आदमी था। उसने अपनी सारी उम्र प्रेम-व्यसनमें बिता दी। वह सदा प्रेम और सौन्दर्यकी ही बातें किया करता था और उन्हीं विषयोंके छन्द ( शैर ) पढ़ा करता था। उसी समयसे, जिस कवितामें प्रेम और सौन्दर्यका वर्णन हो, लोग उसे ग़ज़लकी स्मृतिमें 'ग़ज़ल' कहने लगे। ग़ज़लका अर्थ है युवावस्थाकी दशाका वर्णन करना अथवा प्रेमिका ( माशूक़ ) की सङ्गति और प्रेमका वर्णन करना। इसलिये एक ग़ज़लमें प्रेमके भिन्न-भिन्न भावोंके शैर लानेका नियम रक्खा गया है। किसी शेरमें प्रेमी ( आशिक़ ) अपनी मनोवेदना प्रकट करता है, जिससे माशूक़पर उसका कुछ प्रभाव पड़े। किसी शैरमें वह माशूक़की प्रशंसा करता है, जिससे वह प्रसन्न हो। किसी शैरमें वह माशूक़की निष्ठा ( वफ़ा) और क्रूरता (ज़फ़ा) का और किसीमें प्रतिद्वन्द्वी ( रक़ीब ) की दुष्टताका वर्णन करता है, अर्थात् जिन बातोंके कहनेसे माशूक़के प्रसन्न होने या और कोई विशेष परिणाम निकलनेकी आशा होती है, वही बातें ग़ज़लमें आती हैं। कभी-कभी सौन्दर्य, प्राकृतिक दृश्य और वैराग्यकी बातें भी ग़ज़लमें कही जाती हैं। अब तो देश-भक्तिकी बातें भी ग़ज़लोंमें कही जाने लगी हैं क्योंकि ग़ज़लोंका स्वर बहुत लोकप्रिय हो चला है। इसलिये उर्दूके कवि ग़ज़लोंसे

देशसेवाका काम भी लेने लगे हैं। पर ग़ज़लोंका जन्म हुआ था केवल प्रेम-वर्णनके लिये।

ग़ज़लोंमें शैरोंकी संख्या ताक (दोसे न बँटनेवाली) होती है। साधारण नियम यह है कि एक ग़ज़लमें पाँचसे कम और ग्यारहसे अधिक शैर नहीं होने चाहिएँ। पर कुछ पुराने शायरोंने कमसे कम तीन शैर और अधिकसे अधिक पच्चीस शैरतककी ग़ज़लें मानी हैं। आजकल सोलह, उन्नीस और इक्कीस शैरतककी ग़ज़लें लिखी जाती हैं। यदि कोई कवि ग़ज़लके नियमोंका पालन और मुहावरोंका उचित प्रयोग करता हुआ पचास शैरकी ग़ज़ल लिखे तो यह उसके लिये गौरवकी बात है, नियमकी अवहेलना नहीं।

क़सीदा : क़सीदा उन शैरोंको कहते हैं, जिनमें किसी व्यक्ति, वस्तु या विषयकी प्रशंसा या निन्दा हो। ग़ज़लके लिये जैसे प्रेमकी रीति-नीतिका ज्ञान होना आवश्यक है, वैसे ही क़सीदेके लिये राजसी आचार-विचार और लोक-व्यवहारसे अभिज्ञ होना अत्यावश्यक है, जिससे कवि प्रत्येक विषयका ठीक-ठीक वर्णन कर सके और कोई बात मर्यादाके बाहर न कहीं जाय। ग़ालिब कहते हैं कि 'जो शायर क़सीदा नहीं लिख सकता, उसकी गिनती शायरोंमें करनी ही नहीं चाहिए।' क्योंकि क़सीदेसे ही कविका बहुज्ञताका बोध होता है।

मसनवी : मसनवी किसी प्रसिद्ध व्यक्तिके पद्य-बद्ध जीवन-वृत्तान्त या कल्पित कथाको कहते हैं। ये प्राय: प्रेम-कथाएँ होती थीं।

फ़ारसीमें शाहनामा, सिकन्दरनामा और यूसुफ़-जुलेख़ा नामकी मसनवियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मरसिया : मरसिया शोक-गीतको कहते हैं। प्रायः सब मरसियोंमें हसन-हुसेनका शोकप्रद वृत्तान्त कहा गया है।

उर्दूका कवितापर आद्यन्त इन अरबी और फ़ारसी शैलियोंका प्रभाव है।

## विदेशी भावापन्न कविता (आलामोडे लिटेराटूर)

सत्रहवीं शताब्दिमें जर्मन-साहित्यमें एक विशेष प्रकारकी कृत्रिमता-पूर्ण रचनाएँ होने लगीं, जिनमें विशेष रूपसे विदेश-भाव और विदेशी शैलियोंका आधिपत्य था और जो मुख्यतः तत्कालीन फ्रान्सीसी शैलियोंसे प्रभावित थीं। इनकी विशेषता यह थी कि उस प्रकारके लेखक अपना

पाण्डित्य और विश्वात्मवाद सिद्ध करनेके फेरमें अत्यन्त प्रचलित फ्रांसीसी और लातिन वाक्यावलियोंका प्रयोग करते रहे । किन्तु जब ग्रोमैलशौसेन, मोशेरोश और लोगाउने इन शैलियोंके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया और उनके दोषोंका उद्‌घाटन करना प्रारम्भ किया, तो इस प्रकारके साहित्यको लोग हीन दृष्टिसे देखने लगे और सब प्रकारके कृत्रिम साहित्यको तथा हेय साहित्यको लोग 'आलोमोडे लिटेराटूर' कहने लगे ।

## छन्दोयोजना

व्याकरणकी व्युत्पत्तिके अनुसार ( छन्दयति आह्लादयति चदि·असुन् चस्य छश्च' अर्थात् जो प्रसन्न करे उसीको छन्द कहते हैं । बहुतसे कोषकारोंने छन्दको पद्यका पर्याय माना है । साहित्यदर्पणकारने भी 'छन्दोबद्धं पदं पद्यम्' अर्थात् 'विशिष्ट छन्दमें बँधे हुए पदको ही पद्य' कहा है । ये छन्द लघु, गुरु स्वर या मात्राकी नियमित वर्ण-योजनासे बनते हैं । सभ्य या असभ्य सभी देशोंमें छन्दोबद्ध रचनाएँ होती पाई गई हैं । अभीतक भी जङ्गली जातियाँ गीत गा-गाकर नाचती और उत्सव मनाती हैं । इससे जान पड़ता है कि मनुष्य-मात्रमें स्वभावतः पद्य या छन्दके प्रति आकर्षण होता है । यूनानी नाटकोंमें पहले सब सम्वाद समवेत गानोंके साथ होते थे, इसलिये उन्होंने अपने लिये कुछ विशेष छन्दोंका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था जो रसके अनुकूल होते थे । हमारे यहाँके संस्कृत नाटकोंमें भी गद्यके साथ-साथ सम्वादमें पद्य रखनेकी प्रथाका ही निर्वाह किया गया । अँगरेज़ीमें एक नये प्रकारके पद्यका अविष्कार हुआ, जिसे लयात्मक गद्य ( ब्लैङ्क वर्स ) कह सकते हैं । उसमें लयका ध्यान रक्खा जाता है, तुक, वर्णसंख्या या मात्रा-संख्याका नहीं ।

### छन्दमें रस और भावकी अनुकूलता

काव्यमें छन्दोयोजना ऐसी करनी चाहिए जो रस और भावके अनुकूल हो, संतुलित हो, उसके पढ़नेमें लय-भङ्ग न हो और सरलतासे सबकी समझमें आ सके । संसार-भरकी कथाएँ तीन रूपोंमें मिलती हैं—१. पद्य, २. गद्य और ३. गीत । हमारे यहाँ वेदको भी छन्दस् कहा है, किन्तु वेदकी भाषा भी तीनों रूपोंमें मिलती है—१. वेदके पद्य-भागको ऋक् या मन्त्र कहते हैं, २. गीत-

भागको साम और ३. गद्य-भागके कुछ अंशको यजुः और कुछको ब्राह्मण कहते हैं। किन्तु विचित्र बात यह है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें केवल सात छन्दोंका ही प्रयोग हुआ है—१. गायत्री, २. उष्णिक्, ३. अनुष्टुप्, ४. बृहती ५. पंक्ति, ६. त्रिष्टुप् और ७. जगती। इनमेंसे गायत्रीमें तीन चरण होते हैं, जिनमें चौबीस अक्षर या स्वरवर्ण होते हैं, उष्णिक्में अट्ठाइस, अनुष्टुप्में बत्तीस, बृहतीमें छत्तीस, पंक्तिमें चालीस, त्रिष्टुप्में चवालीस और जगतीमें अड़तालीस अक्षर होते हैं। कात्यायनने आगे चलकर इनके भी बहुतसे भेद कर डाले हैं। इन्हीं सात प्रकारके ही वैदिक छन्दोंमेंसे पीछेके कवियोंने जो बहुतसे छन्द बना लिए उन्हें लौकिक छन्द कहते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ छन्दोंके दो भेद हुए—वैदिक और लौकिक।

### लौकिक छन्द

लौकिक छन्द पहले-पहल किसने चलाए इस सम्बन्धमें यही कथा प्रसिद्ध है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि तमसा नदीमें स्नान करने चले जा रहे थे। उन्होंने सहसा देखा कि एक व्याधने क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एकको बाणसे बींध दिया। दूसरा भी उसीके साथ चिल्लाकर समाप्त हो गया। इसपर वाल्मीकिको इतनी करुणा आई कि उन्होंने अत्यन्त क्रोधसे व्याधको शाप दिया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

[ हे निषाद ! तुम अनन्त वर्षोंतक शान्ति न पाओ क्योंकि तुमने काममोहित क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एकको मार डाला है। ] यह श्लोक सुनकर वनदेवताको बड़ा आश्चर्य हुआ—'चित्रआम्नायादन्योऽयं नूतनश्छन्दसामवतारः।' [ बड़ी विचित्र बात है। यह तो वैदिक छन्दोंसे अलग एक नया ही छन्द बन गया है। ] स्वयं वाल्मीकिको भी आश्चर्य हुआ कि—'किमिदं व्याकृतं मया !' [ यह मैंने क्या कह डाला ]।

इससे प्रायः यही माना जाता है कि लौकिक छन्दोंका आविष्कार महर्षि वाल्मीकिने ही किया। किन्तु वाल्मीकि-रामायणके आधुनिक टीकाकार श्रीरामानुज यह नहीं मानते। उनका कहना है कि 'वाल्मीकिसे पहले भी लौकिक छन्दोंका प्रयोग हुआ करता था।' किन्तु वे कौनसे छन्द थे और किन्होंने उनका प्रयोग किया, इस विषयमें वे मौन हैं। परन्तु यदि हम वेदको ही

सर्व-प्राचीन ग्रन्थ मान लें तो हमें यह समझनेमें कोई आपत्ति नहीं होगी कि छन्दका महत्त्व लोगोंने बहुत पहले समझ लिया था और वैदिक ऋषियोंने उसी रूपमें मन्त्रोंके दर्शन भी किए थे।

### छन्दकी परिभाषा

इन सब छन्दोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि स्मृतिमें स्थिर रखनेके लिये, पढ़नेमें स्निग्धता, माधुर्य और गति प्राप्त करनेके लिये ही छन्दोंकी सृष्टि की गई। इसलिये 'छन्द उस शब्द-योजनाको कहते हैं, जो किसी विशेष नियमसे अक्षर या मात्राओंके बन्धनमें बँधी हुई चलती हो।' अभिनवभरतने परिभाषा दी है कि 'शब्दोंकी गतिका संयम ही छन्द कहलाता है।' यों छन्द शब्दका अर्थ भी है शासन, अर्थात् शब्दोंके प्रवाहपर शासन करना ही छन्द कहलाता है। हमारे यहाँ यों तो लौकिक छन्दःशास्त्रपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उनमें महर्षि पिङ्गलका बनाया हुआ ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। पिङ्गलाचार्यने अपने महाग्रन्थमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर सहस्र दो सौ सोलह प्रकारके वर्णवृत्तोंका उल्लेख किया है, जिनमेंसे लगभग पचास छन्द ही लौकिक संस्कृत काव्योंमें प्रयुक्त हुए हैं।

ऊपर कहा गया है कि गतिके संयमको छन्द कहते हैं। इस गतिके संयममें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि छन्दमें कितने पद हों, प्रत्येक पदमें कितनी मात्रा या कितने वर्ण हों, कहाँ यति हो, गणोंकी सङ्गति किस प्रकार हो और चरणोंके पदोंमें किस प्रकारका मेल हो। अतः छन्दःशास्त्रको भली प्रकार समझनेके लिये ये सब पारिभाषिक शब्द भली-भाँति समझ लेने चाहिएँ।

### मात्रिक और वर्णिक वृत्त

छन्द दो प्रकारके होते हैं—१. मात्रिक, २. वर्णिक। मात्रिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप मात्राओंकी गिनतीसे की जाय। वार्णिक छन्द उसे कहते हैं, जिसके प्रत्येक चरणकी नाप वर्णों या अक्षरोंकी गिनतीसे की जाय।

सस्वर ह्रस्व वर्ण एक मात्रावाले और दीर्घ वर्ण दो मात्रावाले कहलाते हैं—अ, इ, उ, ऋ, इ, उ ऋ की मात्रावाले ( कि, कु, कृ, आदि ) तथा की से ह तक एक मात्रा मानी जाती है और आ, ई ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः

तथा इनकी मात्रावाले कसे ह तकके ( का, की, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः आदि ) सभी अक्षर दो मात्राओंवाले माने जाते हैं। जहाँ दो अक्षर मिले हुए हों उनसे पहले आनेवाला अक्षर भी दीर्घ गिना जाता है जैसे 'मर्म' शब्दमें 'र्म' अक्षर 'र् और म' से मिला हुआ संयुक्त वर्ण है इसलिये उससे पहले आनेवाला 'म' अक्षर दीर्घ अर्थात् दो मात्राका गिना जायगा। इसी प्रकार जिन अक्षरोंपर अनुस्वार हो, जैसे, चंद्र, कंठ पंख, उन्हें भी दीर्घ समझना चाहिए और उनकी भी दो मात्राएँ गिननी चाहिएँ। अतः उपर्युक्त शब्दोंके 'चं', 'कं' और 'पं' में दो-दो मात्राएँ ही गिननी चाहिएँ। यही नियम विसर्गके साथ भी है, जैसे दुःख शब्दमें 'दुः' को दीर्घ समझना चाहिए और उसमें दो मात्राएँ गिननी चाहिएँ।

किन्तु हिन्दीमें 'ल्ह न्ह और म्ह' आदि संयुक्त होते हुए भी पूर्ण संयुक्त नहीं उच्चरित होते, स्पर्श-संयुक्त उच्चरित होते हैं। अतः इनके पहले आनेवाला अक्षर दीर्घ नहीं होता। जैसे 'कुल्हाड़ा', 'तुम्हारा' में 'कु' और 'तु' की एक ही मात्रा गिनी जायगी। कुछ संस्कृतके आचार्योंने कहा है कि 'श्लोकके चरणोंके अन्तमें आनेवाले लघुको भी विकल्पसे अर्थात् कभी-कभी दीर्घ ही समझना चाहिए।' किन्तु अभिनवभरत इसे नहीं मानते हैं। विकल्पका प्रयोग करना अच्छे कविका गुण नहीं है। पारिभाषिक शब्दावलीमें एक मात्रा या कलावाले अक्षरको लघु और दो मात्रावाले अक्षरको गुरु कहते हैं। दोनोंको सङ्केतमें व्यक्त करनेके ये चिह्न हैं—लघु = । गुरु = ऽ या ।।

लघु या गुरुका निर्णय उच्चारणपर भी निर्भर है। कभी-कभी कुछ अक्षर लिखे तो जाते हैं दीर्घ, पर उच्चरित किए जाते हैं लघु ही, जैसे—

अवधेसके द्वारे सकारे गई सुत गोदकै भूपति लै निकसे।

इसमें रेखाङ्कित अक्षर 'के रे, रे, कै' देखनेमें तो दीर्घ या गुरु हैं किन्तु उच्चारणमें ह्रस्व या लघु हैं अतः इन्हें लघु ही मानना चाहिए और इनकी एक ही मात्रा गिननी चाहिए।

हम ऊपर बता आए हैं कि छन्द दो प्रकारके होते हैं—१. मात्रिक और २. वर्णिक। जिस छन्दमें प्रत्येक चरणकी नाप मात्रा गिनकर होती है उसे

मात्रिक और जिसमें प्रत्येक चरणकी नाप उसके वर्ण या अक्षर गिनकर होती है उसे वर्णिक कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी एक चौपाई लीजिए—

माँगी नाव न केवट आना। = १० वर्ण
ऽऽ ऽऽ । ऽ।। ऽ ऽ = १६ मात्राएँ
कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥ = १२ वर्ण
।।।।ऽ। ।।। ऽ ऽऽ = १६ मात्राएँ
चरन कमल रज कहँ सब कहई। = १५ वर्ण
।।। ।।। ।। ।।।। ।।ऽ = १६ मात्राएँ
मानुस-करनि मूरि कछु अहई ॥ = १३ वर्ण
ऽ।। ।।। ऽ। ।। ।।ऽ = १६ मात्राएँ

इसके चार चरणोंमेंसे प्रत्येकमें सोलह-सोलह मात्राएँ किन्तु वर्ण १०, १२, १५ और १३ हैं इसलिये यह मात्रिक छन्द है वर्णिक नहीं।

अब उन्हींका दूसरा तोटक छन्द लीजिए—

जय राम रमा रमणं शमनं,
भवताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेश सुरेश रमेश विभो,
शरणागत माँगत पाहि प्रभो।

इसके प्रत्येक चरणमें बारह-बारह वर्ण हैं अतः यह वर्णिक छन्द है।

## शुभ, अशुभ और दग्धाक्षर वर्ण

हमारे यहाँ छन्दशास्त्रियोंने मात्रिक और वर्णिक भेदोंतक ही नहीं छोड़ा है। उन्होंने यह भी विचार किया है कि अक्षरोंमें कौन अक्षर शुभ हैं, कौनसे अशुभ हैं और कौनसे दग्धाक्षर अर्थात् अत्यन्त त्याज्य हैं। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ प्रत्येक अक्षर भी सार्थक शब्द है। इन अक्षर-शब्दोंमेंसे जो शुभ, मङ्गलकारी वस्तुवाची या श्रेष्ठ देव-वाची हैं, वे शुभ माने गए हैं। जिनके अर्थोंमें अन्य अर्थोंके साथ-साथ अमङ्गलकारी वस्तु भी ध्वनित होती है वे अशुभ और जिनके अर्थोंमें अग्नि, दैत्यराज, दैत्यगुरु, विनाश आदि आते हैं उन्हें दग्धाक्षर बताया गया है और उनका प्रयोग काव्यके प्रारम्भमें वर्जित और निषिद्ध माना गया है। इस विचारके अनुसार तीनों प्रकारके अक्षरोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

शुभ अक्षर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ च छ ज ड द ध न य श स क्ष।

अशुभ अक्षर—ङ झ ञ ट ठ ढ ण त थ प फ ब भ म र ल व ष ह।

दग्धाक्षर—झ ह र भ ष

### अपवाद

यदि उपर्युक्त दग्धाक्षरोंमेंसे किसी वर्णका प्रयोग पद्यके प्रारम्भमें करना ही पड़े तो उसे दीर्घ कर दें जैसे झा, झी, झू, झे, झो, झौ आदि या उस दग्धाक्षरसे प्रारम्भ होनेवाला शब्द देववाची कर दिया जाय जैसे हरि, रघुपति, भरत आदि।

### मात्रिक और वर्णिक वृत्तके उपभेद

जिन छन्दोंके चारों चरणोंके वर्ण या उनकी मात्राएँ समान हों उन्हें समवृत्त कहते हैं। जिनके पहले तीसरे और दूसरे-चौथे चरणोंकी मात्राएँ या वर्ण समान हों उन्हें अर्द्धसम कहते हैं। जिन छन्दोंके चारों चरणोंकी मात्राओं या वर्णोंकी संख्या भिन्न-भिन्न हों उन्हें विषम कहते हैं।

### गण और उनके फल

हमारे आचार्योंने वर्णोंके क्रमको छन्दमें व्यवस्थित करनेके लिये तीन-तीन अक्षरोंके आठ गण या अक्षर-समूह बना दिए हैं, जिनके प्रयोग और फलका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

मो भूमिः श्रियमातनोति यजलं वृद्धिर्रं चाग्निर्मृतिम्।
सो वायुः परदेशदूरगमनं तव्योमशून्यं फलम्॥
जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्।
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिति प्राहुर्गणानां बुधाः॥

[ श्रुतबोध ]

| गण | देवता | फल | लक्षण |
|---|---|---|---|
| मगण | भूमि | धन | ऽ ऽ ऽ ( तीनों गुरु ) |
| नगण | स्वर्ग | सुख | । । । ( तीनों लघु ) |
| भगण | चन्द्रमा | यश | ऽ । । ( गुरु लघु लघु ) |
| यगण | जल | वृद्धि | । ऽ ऽ ( लघु गुरु गुरु ) |
| जगण | सूर्य | रोग | । ऽ । ( लघु गुरु लघु ) |

| | | | |
|---|---|---|---|
| रगण | अग्नि | मृत्यु | ऽ । ऽ ( गुरु लघु गुरु ) |
| सगण | वायु | प्रवास | । । ऽ ( लघु लघु गुरु ) |
| तगण | आकाश | शून्य | ऽ ऽ । ( गुरु गुरु लघु ) |

गुरुका चिह्न ऽ

लघुका चिह्न ।

इन्हीं नियमोंके अनुसार हमारे यहाँ अनेक कवियोंने अनेक प्रकारके छन्दोंका आविष्कार किया और इन्हीं छन्दोंमें कविता और गीतका निर्माण किया गया। ये छन्द एक मात्रावाले या एक वर्णवाले अक्षरोंसे प्रारम्भ होकर ३२ मात्रा और २६ अक्षरोंतकके हैं और अब तो और भी अनेक प्रकारके अनेक अक्षरोंवाले स्वच्छन्द छन्द और रबड़ छन्द बनने लगे हैं।

## रस, भाव या विषयके अनुसार छन्दोयोजना

हम ऊपर कह आए हैं कि छन्दोंकी योजना अथवा गीतोंकी योजना रस और भावके अनुसार होनी चाहिए अर्थात् छन्दोंकी शब्दावलीसे ही नहीं वरन् उनकी गति या लयसे भी रस और भाव समझनेमें सुविधा हो, जैसे हिन्दीमें छप्पय और घनाक्षरीका प्रयोग वीर, भयानक और रौद्रके लिये किया गया है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने 'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके सम्बन्धमें एक विशेष पद्धतिकी स्थापना करते हुए कहा है—

'सर्गके प्रारम्भमें, कथाका विस्तार कम करनेके लिये, उचित उपदेश और वृत्तान्त कहनेके लिये सज्जन लोग अनुष्टुप्का प्रयोग करते हैं। उपजाति छन्दमें शृङ्गार तथा उसके आलम्बन नायक-नायिकाके रूपका वर्णन और वसन्त तथा उसके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। विभाव अर्थात् चन्द्रोदयादि उद्दीपनमें रथोद्धता छन्दका और षाड्गुण्य नीतिका वर्णन वंशस्थ छन्दमें शोभा देता है। वीर और रौद्रके मेलके लिये वसन्ततिलका और सर्गके अन्तमें द्रुततालवाली मालिनीका प्रयोग किया जाना चाहिए। परिच्छेद या विभाजन करनेके लिये शिखरिणीका प्रयोग किया जाय तथा उदाहरण, रुचि और औचित्यका विचार करनेके लिये हरिणीका प्रयोग हो। राजाओंके द्वारा आक्षेप, क्रोध तथा धिक्कार और वर्षा, प्रवास तथा दुःखमें मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओंका शौर्य वर्णन करनेमें शार्दूल-विक्रीडित, आँधीका वर्णन करनेमें स्रग्धरा तथा दोधक, मुक्तक सूक्तियोंके लिये तोटक और नर्कुटका प्रयोग होना चाहिए।'

महाकवि क्षेमेन्द्रने कालिदासकी छन्दोयोजनाका विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमनस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ।।
सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थान-निवेशिनाम् ।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ।।

[ जैसे अच्छा घुड़सवार अच्छी काम्बोजी घोड़ीको अपने वशमें करके उसपर सवारी करता है, वैसे ही कालिदास भी मन्दाक्रान्ताको अपने वशमें किए हुए हैं। सुन्दर वर्णवाले प्रबन्ध-काव्योंमें छन्दोंका प्रयोग वैसी ही कलाके साथ करना चाहिए जैसे सोनेमें रत्न यथास्थान जड़े जाते हैं । ]

रीति-ग्रन्थकारोंने काव्य-दोष गिनाते हुए 'हतवृत्तता' नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि 'जो-जो वृत्त रसके स्वभावसे विपरीत पड़ता हो, उसका प्रयोग उस रसके लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है।' इसका तात्पर्य यह है कि रसका छन्दसे सम्बन्ध अवश्य है ।

ऊपर क्षेमेन्द्रने जो विवरण दिया है और जिन-जिन छन्दोंमें जिस-जिस प्रकारके वर्णनकी योजना की है, उससे अभिनवभरत पूर्णतः सहमत हैं किन्तु छन्दोंकी संख्या और उनका प्रस्तार अपरिमित है। कौन कवि किस छन्दमें किस प्रकारकी कविता रचे या गीत लिखे, यह कविकी व्यक्तिगत चतुरता और सूक्ष्म दृष्टिपर अवलम्बित है। इस सम्बन्धमें मनुष्यका कान सबसे अधिक प्रामाणिक है। किसी भी छन्दको पढ़ते हुए कानके द्वारा हृदयपर जिस प्रकारका प्रभाव पड़े, वैसे ही प्रभावके वर्णनके लिये वह छन्द उपयुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार सङ्गीतके आचार्योंने विभिन्न रागोंको विभिन्न रसोंके उपयुक्त बताया है, वैसा विवेचन पिङ्गलाचार्यने नहीं किया और फिर जिस उदारतासे उन्होंने छन्दोंके लगभग डेढ़ करोड़ भेद गिना दिए हैं, उन्हें ध्यानमें रखते हुए यह सम्भव भी नहीं था कि उनमेंसे प्रत्येकके सम्बन्धमें वे रसका भी निर्देश कर देते। ऐसी स्थितिमें अन्तःकरण-प्रवृत्तिको कानके साक्ष्यसे प्रमाण मानकर चलना ही श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

### अन्य देशोंमें छन्दकी योजना

संसारमें ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ भाषाका प्रयोग कविता या गीतके रूपमें न होता आया हो। यह प्रयोग इतने प्राचीन कालसे होता चला

आया है कि किसी देशमें प्रामाणिकताके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि छन्दका प्रयोग कबसे होने लगा है। कुछ विद्वानोंका तो यह विचार है कि भाषाका प्रारम्भिक रूप छन्दोबद्ध ही था, क्योंकि उस समय न तो लिखनेकी सुविधाएँ ही प्राप्त थीं, न गद्यको स्मृति-सिद्ध रखना ही सम्भव था, इसलिये अनिवार्य रूपसे सम्पूर्ण सुरक्षित किया जानेवाला वाङ्मय छन्दोबद्ध ही था, जिसके अन्तर्गत काव्यके अतिरिक्त आयुर्वेद, गणित और ज्यौतिष जैसे विषय भी सम्मिलित थे। इसीलिये यूनानी दार्शनिक अरस्तूने काव्यकी परिभाषा बताते हुए यह सङ्केत कर दिया था कि 'केवल पद्यबद्ध कर देनेसे कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती।'

विभिन्न देशोंमें जिस प्रकारसे छन्दोबद्ध रचनाएँ होने लगीं, उनमें अन्तर केवल इतना ही था कि किसीमें लय प्रधान होने लगा और एक ही स्वर लयकी रक्षाके लिये दूरतक खींचा जाने लगा, किसीमें शब्दोंके बीच-बीचमें मौन रहकर मात्रा और तालकी गति ठीक कर ली जाने लगी और किसीमें कुछ अधिक मात्रावाले शब्दोंको शीघ्रताके साथ कहकर कम मात्राओंमें ही बाँधकर उच्चरित कर लिया जाने लगा किन्तु संस्कृत छन्दोंमें ये सब अव्यवस्थित नियम नहीं हैं। उसमें शब्दोंकी मात्राएँ इस क्रमसे बँधी होती हैं कि न तो किसी अक्षरको अनावश्यक रूपसे लम्बा करके उसकी मात्रा पूरी की जाती है, न मौन रहकर शब्दोंके दारिद्र्यका परिचय दिया जाता है और न थोड़ी मात्राओंमें अधिक शब्दोंको निकालनेका 'नट-कुण्डली न्याय' सिद्ध किया जाता है।

### छन्दके तीन अङ्ग

योरोपीय लेखकोंने छन्दके तीन अङ्ग बताए हैं—

१. गुरु और लघु या लम्बे और छोटे मात्राक्षरों या ध्वनि-मात्राओं (सिलेबल) को एक विशेष क्रमसे इस प्रकार रक्खा जाय कि वे एक विशेष नियमसे अपनी आवृत्ति करके छन्दका रूप बना लें।

२. इस प्रकारके विभिन्न रूपोंके कई पद बनाकर उन्हें एक विशेष छन्दका रूप दे दिया जाय।

३. इन सब विभिन्न प्रकारके रूपोंको मिलाकर छन्दकी एक विशेष गति निर्धारित कर ली जाय। इनमेंसे पहलेको अँगरेज़ीमें 'केडेन्स', दूसरेको 'ग्रूपिङ्ग'

और तीसरेको 'मेज़र' कहते हैं।' इसका तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि और मौनके सापेक्ष्य-प्राधान्यके एक विशेष क्रमिक रूपको ही छन्द कहते हैं। हम ऊपर बता आए हैं कि योरोपवाले अपने छन्दोंमें लयान्विति (सिलेबिल) के अनुसार छन्दका रूप निर्धारित करते हैं।

योरोपके प्राचीन लेखकोंने छन्दकी प्रकृति और उसके उद्देश्यकी व्याख्या करते हुए छन्दकी निम्नलिखित परिभाषाएँ बताई हैं—१. एक प्रकारसे एक-एक कर चलनेवाली ध्वनियोंके समूहको छन्द कहते हैं। २. नियमित अवकाशपर एक प्रकारकी या परस्पर मिलती हुई ध्वनियोंकी आवृत्तिको छन्द कहते हैं। ३. छन्द वह रीति है, जिसके द्वारा दो अवधियोंके शब्द एक प्रकारसे ध्वनित किए जायँ (अरस्तू)। ४. एक जैसे ध्वनि-समूहोंकी आवृत्ति ही छन्द है (ब्लेयर)। ५. दो पद्योंके अन्तमें दो ध्वनि-मात्राओंकी मिलती हुई एकसी ध्वनिवाले पदको छन्द कहते हैं (शूरसे)। ६. एक प्रकारसे व्यवस्थित ध्वनिवाली मात्रा-ध्वनियोंको विशेष क्रमसे रखनेको छन्द कहते हैं (एडविन गेस्ट)। उपर्युक्त सभी परिभाषाओंमें कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं है किन्तु इन सबने अपनी परिभाषाओंमें यह बतानेकी चेष्टा नहीं की कि इन सब प्रकारकी मात्रा-ध्वनियोंकी आवृत्ति करने या एकसे ध्वनि-समूहोंको एक विशेष रूपसे सजानेकी आवश्यकता क्यों पड़ गई? उससे लाभ क्या हुआ? या मनुष्यके मानसको और उसके बुद्ध-तत्त्वको इस प्रकारकी व्यवस्थाने किस प्रकार उल्लसित या प्रभावित किया?

### छन्दका प्रयोजन

पीछेके कुछ लेखकोंने थोथी परिभाषाके फेरमें न पड़कर यह भी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है कि छन्दका प्रयोजन क्या है। इन सब लेखकोंने छन्दके दो प्रधान कार्य बताते हुए कहा है—

१. छन्द स्वतः सुन्दर होता है। भाषा मानव-जीवनका अत्यन्त ललित और मनोहर तत्त्व है। उसके प्रत्येक अंशमें उसकी विशिष्ट मोहकता होती है। समुचित अन्तरपर यदि इस प्रकारके अंश बार-बार आते रहें तो वे सहसा अपने ध्वनि-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्यसे हमारा मन और ध्यान आकृष्ट करते रहेंगे। वे ही अंश यदि गद्यमें साधारणतः एक बार कहकर पार कर दिए जायँ तो वे अत्यन्त शीघ्र हमारी स्मृतिसे मिट जाते हैं। यही कारण है कि गीतकी

टेक और कविताके पद दोहराने और तिहरानेकी प्रथा अभीतक गायकों और कवियोंमें चली आती है। अतः छन्दमें केवल अर्थ-सौन्दर्य ही प्रधान नहीं रह जाता, उसका ध्वनि-सौन्दर्य भी विशेष प्रभावकारी होता है और इसीलिये उसका सङ्गीतसे भी सीधा सम्बन्ध है।

२. जब हम कोई पद्य लिखते हैं तब उसमें यति और तुकके अनुसार छन्दके विभिन्न चरणों या चरणाङ्गोंका उचित अवसान ज्ञात होता चलता है और उससे तालका क्रम भी बँधता चलता है। इसीलिये क्रिरमुन्स्कीने छन्दके उद्देश्यके अनुसार उसकी यह परिभाषा की है कि 'छन्द वह ध्वन्यात्मक आवृत्ति है, जो पद्यकी छन्दोबद्ध रचनामें व्यवस्था उत्पन्न करती है।'

छन्दका यह कार्य केवल यति अथवा तुक बैठानेतक ही समाप्त नहीं हो जाता, वह कविताके भीतर अनुप्रास आदिके द्वारा लयात्मकता या माधुर्य भी स्थापित करता है। फ्रान्सीसी पद्योंमें स्वरित ( ऐक्सेण्टेड ) और निःस्वरित ( अनऐक्सेण्टेड ) लयस्थितियों ( सिलेबिल्स) में उतना अन्तर नहीं है जितना जर्मन और अँगरेज़ी भाषामें, इसलिये इन भाषाओंमें कानके अभ्याससे पढ़नेके ढङ्गपर ही छन्दका भास होता है।

पश्चिमी विद्वानोंमें सबसे पहले अरस्तूने अपने 'हटौरिक' ( भाषणशास्त्र ) में इस विषयकी चर्चा की थी और उसने जो परिभाषा दी थी वह हम ऊपर कह आए हैं। क्विन्तीलियनने कहा है कि 'दो या कई वाक्योंको एक समान तुकान्त करनेकी कवि-कुशलताको छन्द कहते हैं।' सबसे पहले दांतेने ही यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'छन्दका काम यह है कि वह पद्यकी लयात्मक रचनाको व्यवस्थित करे।' सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिके अँगरेज़ छन्दःशास्त्रियोंने इसी सिद्धान्तको पुष्ट किया। जार्ज पोट्टेनहम और विलियम वेबसे लेकर मिल्टन और ड्राइडनसे होते हुए एडविन गेस्ट और सेंट्सबरीतक सब यही मानते हैं कि 'छन्द केवल लयका सहायक है।' इनका कहना है कि 'छन्द स्वरोंका स्वरूप स्थिर करता है और इस प्रकार छन्दको पुष्ट करता तथा उसकी सहायता करता है।' फ्रांसीसी छन्दः-शास्त्रियोंका यह विचार है कि 'छन्दका काम तो केवल भाषाको अलंकृत करना है।' मार्मोन्तेलन ( १७२३–९९ ) ने बड़े विस्तारसे यह बताया है कि 'छन्दके द्वारा विचारकी अभिव्यक्तिको विशदता और सुकुमारता प्राप्त होती

है और विचित्र बात यह है कि फ्रांसीसी लोग छन्दके इस बाह्य सौन्दर्य-प्रभावसे मुक्त नहीं हो पाए।' यहाँतक कि ग्रामोने डङ्केकी चोट यह घोषणा की है कि 'छन्द कानके लिये है, आँखके लिये नहीं।' जर्मनीके आचार्योंने भी छन्दके सङ्गीत-तत्त्वको अधिक महत्त्व दिया है। पीछेके जर्मन छन्दःशास्त्री शूल्से और श्लेगेलने यह भी कहा कि 'स्मृतिके लिये छन्द बड़ा सहायक होता है।' काण्टका शिष्य होनेके कारण शूल्सेने छन्दको दार्शनिक रूपसे समझाते हुए बताया कि 'ध्वनिका रूप तभी सुन्दर हो सकता है, जब उसमें अर्थोंकी विभिन्नता हो।' यह रमणीयता या सौन्दर्यका सिद्धान्त हमारे यहाँके रमणीयतावाले सिद्धान्तसे ज्योंका त्यों मिल जाता जाता है, जिसमें यह बताया गया है कि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' [ क्षण-क्षणपर जिसमें नवीनता उत्पन्न हो, उसे ही रमणीयता या सौन्दर्य कहते हैं। ] श्लेगलका मत है कि 'छन्दकी सौन्दर्य-वृत्ति यह है कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करे और हमारे मनको सौन्दर्य-भोगके लिये बाधित करे।' हेगेलका भी यह मत है कि 'छन्दमें शब्दोंके प्रति ध्यान आकृष्ट कराकर उनके प्रत्यक्ष रूपकी रक्षा की जाती है।' गेटेने कहा है कि 'छन्द तो शब्दोंका वह प्रत्यक्ष रूप है जो हृदयसे निकलता है, बुद्धिसे नहीं; और तत्काल हमारी इन्द्रियोंको प्रभावित करता है।' अमेरिकाके सिडनी सैनियर और हेनरी लौंजका यह मत है कि 'कविता तो सङ्गीतका एक प्रकार है।' अतः लौंजका मत है कि 'पद्य-रचनामें छन्द वही काम करता है, जो सङ्गीत-रचनामें स्वर करते हैं।'

## योरोपीय छन्दःशास्त्र

योरोपीय छन्दःशास्त्र जाननेके लिये हमें उनकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिएँ। पहली बात तो यह है कि उनके यहाँ प्रत्येक पदमें कुछ चरण ( फ़ुट ) होते हैं, जिनमें दो लयान्वितियाँ ( सिलेबिल ) होती हैं। इन दो लयान्वितियोंमें से या तो दोनों दीर्घ ( — — ) या एक लघु और एक गुरु ( ⏑ — ) या दोनों लघु ( ⏑ ⏑ ) अथवा इन्हींके उलटे-पलटे मेलसे लयान्वितियाँ होती हैं और इन्हींके अनुसार छन्दोंका नामकरण भी होता है। दूसरी बात है लयान्वितियोंपर बल, जिसे अँगरेज़ीमें 'स्ट्रैस' या 'एम्फ़ैसिस' कहते हैं। कविता पढ़ते समय किसी विशेष लयान्वितिपर यह बल देनेसे

छन्दकी गति बनती चलती है। इस बलको साधारणतः वे लोग 'एक्सैन्ट' कहते हैं।

भावके अनुसार भी उनके यहाँ छन्दोंकी गति चलती है जैसे वीर गतिका छन्द ( हीरोइक वर्स )। वहाँ वीरत्वपूर्ण वर्णनोंके लिये प्रायः आयम्बिक पैन्टामीटरका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार प्रेम, सरस वर्णन तथा भावात्मक वर्णनोंके लिये 'आयम्बिक टैट्रामीटर'का प्रयोग किया जाता है, जैसा स्कौटने अपनी वर्णनात्मक रचनाओंमें किया है, यद्यपि उसने उसकी एकरसता भङ्ग करनेके लिये बीच-बीचमें त्रिपदी ( ट्रायमीटर ) का भी प्रयोग किया है। 'बैलड' अथवा 'प्रबन्ध-काव्य'में प्रायः दो या चार पंक्तियोंके छोटे-छोटे छन्द होते हैं, जिनमें प्रायः दो आयम्बिक टैट्रामीटर और बीच-बीचमें दो आयम्बिक ट्रायमीटर दे दिए जाते हैं। कुछ लोग प्रबन्धकाव्य लिखते हुए 'ट्रौकी' छन्दका भी प्रयोग करते हैं और दुःखात्मक काव्य ( एलीजियक स्टैंज़ा ) लिखनेके लिये 'आयम्बिक पैन्टामीटर' अथवा 'आयम्बिक टैट्रामीटर'का प्रयोग करते हैं।

प्रायः योरोपके बड़े कवियोंने कुछ गिने-गिनाए सधे हुए छन्दोंका ही प्रयोग किया है। परं इधर कुछ लोग स्वतन्त्र छन्द भी लिखने लगे हैं, जिनमें दोसे चौदहतक पंक्तियोंवाले छन्द हैं और जिनकी प्रत्येक पंक्ति स्वतन्त्र रूपसे बड़ी-छोटी होती है। इनमेंसे कुछके तो नाम भी रख लिए गए हैं जैसे—ट्रियोलेट, राउन्डिल, रौन्ड्यू, बैलाडे, टर्ज़ारीमा, राइम रौयल, विलानिल आदि। योरोपीय कवियोंका प्रायः यह सिद्धान्त रहा है कि 'छन्दकी गति वह रक्खी जाय जो पढ़ने या सुननेमें मधुर तथा स्वाभाविक लगे।' कुछ ऐसे भी छन्द हैं जिनमें पंक्ति और लय एक विशेष क्रमसे सजे हुए रहते हैं और जिनकी सब पंक्तियाँ निश्चित लम्बाईकी रहती हैं, जैसे सौनेट, पिण्डारिक ओड, बैलाडे, रौन्ड्यू, ट्रियोलेट और विलानिल। इस प्रकार योरोपीय कवियोंने भी भावके अनुसार ही छन्दकी गतिका प्रयोग उचित माना है।

### अरबी छन्दःशास्त्र

अरबी भाषाकी छन्दोयोजना कुछ भिन्न प्रकारकी होती है। वहाँ शब्द-बलके आधारपर छन्दकी लय बैठाई जाती है। प्रायः प्रत्येक छन्दमें दो मिसरे

या पदार्ध होते हैं और दूसरे मिसरेके अन्तिम शब्दमें पदान्त (मिसरा तरह) होता है, जिसमें स्वर और स्वरान्त व्यञ्जन होता है और जो सब प्रकारकी काव्य-रचनाओंके लिये अनिवार्य समझा जाता है। ग़ज़लके प्रत्येक मिसरेमें उस प्रकारका अन्त स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रारम्भमें अरबी कवितामें कई प्रकारके छन्द थे, जिनमेंसे दो 'मुतक़ारिब' और 'रमल' तो निश्चय ही सासानी प्रभावके कारण समुन्नत हुए होंगे। कहा जाता है कि लगभग ७८२ ईस्वीमें हलील बिन अहमदने 'अरूद' या छन्दःशास्त्रकी प्रथम रचना की थी। सम्भवतः उसने ही 'फल्' धातुसे विभिन्न प्रकारके छन्दोंका रूप बाँधनेकी रीति निकाली थी। इस प्रकार 'तबील' अर्थात् सबसे अधिक पुराने चलते छन्दका रूप इस प्रकार था—

'फ़ऊलुन मफ़ाइलुन फ़ऊलुन मफ़ाइलुन'

इसी प्रकार पीछेकी कविताओंमें प्रयुक्त होनेवाला 'हजाज़' नामक छन्द इस गतिसे चलता था—

मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन

इसकी गति 'शिवताण्डवस्तोत्र' के 'जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी' के अनुसार चलती है। सुरियों या सीरियोंके प्रभावमें हलीलसे बहुत पहले ही छन्दवाची बहुतसे शब्द चल पड़े थे, जिनमें कविता-प्रयोगिता (बैत) होती रही है। छठी शताब्दिमें हलीलने सोलह छन्द गिनवाए हैं, जिनमेंसे अधिकांशका प्रयोग काव्योंमें होता रहा। इन सब छन्दोंका विशेष प्रयोग और विवरण फ़ारसी कवितामें अभीतक पाया जाता है।

## फ़ारसी छन्दःशास्त्र

सातवीं शताब्दि ( ईसा पूर्व ) जरथुस्त्रसे बहुत पहले— ईरानमें छन्दःशास्त्र प्रयुक्त होता था। उसकी गाथाओंमें इस प्रकारकी लय होती थी, जिनमें प्रत्येक पदके अक्षरोंकी गणना की जाती थी। आवेस्ताके बहुतसे यास्तों ( स्तोत्रों )के अधिकांश छन्द अष्टाक्षरी हैं। वर्त्तमान फ़ारसीके सबसे पुराने उदाहरण नवीं शताब्दिसे ही प्राप्त होते हैं, जिनके अधिकांश छन्द अरबीसे लिए गए हैं। प्रत्येक मिसरे या पदमें कई चरण ( अरकान ) और लयान्विति ( उसूल या सिलेबिल ) होते हैं। उसूल तीन प्रकारके होते हैं—सबब, वतद और फ़ासिला; और इन तीनोंके भी दो-दो भेद होते हैं—ख़फ़ीफ़ ( कोमल )

और थक़ील ( कठोर ) । 'ख़फ़ीफ़ सबब' वह अक्षर होता है, जिसमें स्वरित व्यञ्जनके पीछे स्वरहीन व्यञ्जन आता है जैसे—काम् । 'थक़ील सबब' वह अक्षर होता है, जिसमें दो स्वरित व्यञ्जन एक साथ आते हैं, जैसे—फ़रा । खफ़ीफ़ वतदमें दो स्वरित अक्षर और एक स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—चमन् । 'थक़ील वतद' में स्वरहीन अक्षर बीचमें आता है, जैसे—पारसा । 'ख़फ़ीफ़ फ़ासिले' में दो स्वरित अक्षर होते हैं और उनके पीछे अनुनासिक ( तनवीन ) की ध्वनिके साथ स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—जबलिँ । 'थक़ील फ़ासिले' में तीन स्वरित अक्षर आते हैं और उनके पीछे एक स्वरहीन अक्षर 'तनवीन' के ध्वनिके साथ आता है जैसे—बरकतिँ ।

चरण ( अरकान ) या तो पूरे ( सालिम ) होते हैं या अपूर्ण ( ग़ैर-सालिम ) होते हैं । पूर्ण पद (सालिम अरकान) में किसी प्रकारका परिवर्त्तन या परिवर्द्धन नहीं होता किन्तु अपूर्ण पदमें परिवर्त्तन, परिवर्द्धन या परिहरण सब कुछ हो सकता है । इस अपूर्ण पदको 'मुज़ाहफ़' कहते हैं और परिवर्त्तनको 'ज़िहाफ़ ।'

अरबी छन्दःशास्त्रकी व्याख्या करते समय हम बता आए हैं कि 'फल्' धातुसे सब प्रकारके छन्दोंका नामकरण हुआ है और सबका रूप निम्नलिखित आठ साँचोंपर स्थिर किया गया है—

१. फ़ऊलुन ( । ऽ ऽ ) ◡ — —
२. फ़ाइलुन ( ऽ । ऽ ) — ◡ —
३. मफ़ाइलुन ( । ऽ ऽ ऽ ) ◡ — — —
४. मुस्तफ़इलुन ( ऽ ऽ । ऽ ) — — ◡ —
५. मुफ़ाइलतुन ( ऽ ।। ऽ ) ◡ — ◡◡ —
६. मुतफ़ाइलुन ( ।। ऽ । ऽ ) ◡◡—◡—
७. फ़ाइलातुन ( ऽ । ऽ ऽ )—◡——
८. मफ़ऊलातु ( ऽ ऽ ऽ । ) ———◡

इन आठोंके आधारपर उन्नीस छन्द ( बहर ) हैं—तवील, मदीद, बसीत, वाफ़िर, कामिल, हजाज़, रजाज़, मुतक़दब, रमल, मुन्सरिह, मुदारि, मुज्तथथ, सरी, जदीद, क़रीब, ख़फ़ीफ़, मुशाकिल, मुतक़रिब और मुतदारिक । इनके और भी लगभग अस्सी भेद हैं । उपर्युक्त उन्नीसमेंसे प्रथम पाँच

तो शुद्ध अरबीके छन्द हैं, जिनका फ़ारसीके कवियोंने बहुत कम प्रयोग किया है। चौदहवें, पन्द्रहवें तथा सत्रहवें छन्द शुद्ध फ़ारसीके हैं, शेष ग्यारह अरबी-फ़ारसी दोनोंमें प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक छन्दके अन्तमें तुक ( क़ाफ़िया ) मिलता है।

### शैर, मिसरा, मतला और मक़ता

इन छन्दोंके कुछ विशेष रूप हैं—

**शैर :** यह अरबी भाषाका शब्द है और इसका अर्थ है बाल। सुन्दर कविता एक सुन्दरी है, शैर उसके केश हैं या साहित्य ( अदब ) ही प्रेयस् ( माशूक़ ) है और शैर उसके केश ( गेसू ) हैं। साहित्यिक परिभाषामें शैर एक ऐसा साँचा है, जिसमें विचार ढाले जाते हैं और यह ढालनेवाला शायर कहलाता है। शैरकी उपमा भौंहोंसे दी जाती है क्योंकि माशूक़के चेहरेपर दो भौंहें एक शैरके पदोंके समान होती हैं। कोष ( लुग़त ) में शैरका अर्थ स्त्री ( ज़नाना ) भी लिखा है। इस शैरके एक चरण या एक पंक्तिको 'मिसरा', शैरोंके समूहको 'ग़ज़ल', ग़ज़लके सबसे पहले शैरको 'मतला' और अन्तिम शैरको 'मक़ता' कहते हैं।

### तुक ( काफ़िया ) और पदान्त ( रदीफ़ )

क़ाफ़िएको हिन्दीमें 'तुक' कहते हैं। हिन्दीकी तरह उर्दूमें तुक मिलानेके कठोर नियम नहीं हैं। उर्दूमें 'लगा, सदा, हुआ, बजा' भी तुकमें मान लिए जाते हैं क्योंकि इन शब्दोंमें सबके अन्तमें 'आ' है।

क़ाफ़िएके पश्चात् रदीफ़ आता है और वह सब शैरोंमें अपने स्थानपर व्यवस्थित रहता है, कभी बदलता नहीं। जैसे—

> इशरते क़तरा है दरियामें फ़ना हो जाना।
> दर्दका हदसे गुज़रना है दवा हो जाना॥

इसमें 'फ़ना' और 'दवा', तो क़ाफ़िया है और 'हो जाना' रदीफ़ है। यह 'हो जाना' पूरी ग़ज़लके प्रत्येक शैरके दूसरे मिसरेमें आवेगा। कभी-कभी एक ही अक्षरका रदीफ़ होता है और कभी-कभी आधेसे अधिक मिसरातक रदीफ़ हो जाता है जैसे—

> मुझे तो प्यार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।
> वो बुत बेज़ार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता॥

इसमें 'प्यार' और 'बेज़ार', 'क़ाफ़िया' है और 'ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता' कुलका कुल रदीफ़ है।

कभी-कभी रदीफ़ रहती ही नहीं, जैसे—

हर शाख़में है शिगूफ़ाकारी।
समरा है क़लमका हम्दे बारी॥

इसमें 'कारी' और 'बारी'का क़ाफ़िया तो है, पर रदीफ़ नहीं।

## कुछ विशेष छन्द और प्रयोग

फ़ारसीमें रुबाई चार मिसरोंका छन्द होता है, जिसमें नीति या उपदेशकी बड़ी-बड़ी बातें थोड़े शब्दोंमें, सुन्दर, तथा रूढोक्तिपूर्ण (मुहावरेदार) भाषामें कही जाती हैं। अरबी और फ़ारसीमें रुबाइयोंका बड़ा प्रचार है। फ़ारसीमें उमर ख़ैयामकी रुबाइयाँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि संसारकी प्रायः सब प्रसिद्ध भाषाओंमें उनके अनुवाद हो चुके हैं।

दूसरा छन्द है 'मुसल्लस' जिसे हिन्दीमें 'तिपदा' या 'तिकड़ी' कहना चाहिए। इसमें तीन मिसरे समान परिमाण (वज़न) के होते हैं। जैसे—

या तो अफ़सर मेरा शाहाना बनाया होता।
या मेरा ताज गदायाना बनाया होता॥
वर्ना ऐसा जो बनाया न बनाया होता।

तीसरे 'मुख़म्मस' छन्दको 'पँचकड़ी' समझिए, जिसमें पाँच-पाँच कड़ियोंका एक-एक बन्द होता है और पाँचवीं कड़ीका तुक मिलता हुआ रहता है। चौथा 'मुसद्दस' छन्द छः मिसरों या तीन शैरोंका होता है, जिसके पहले चार मिसरोंके तुक एक होते और शेष दोके तुक अलग होते हैं। उर्दूमें 'हाली'का मुसद्दस बहुत प्रसिद्ध है। अनीस और दबीरके मसरिए भी मुसद्दसमें लिखे गए हैं।

## चीनियोंकी छन्दोयोजना

चीनमें अन्य देशोंकी छन्दोयोजनासे भिन्न एक विचित्र प्रकारसे लयपर तथा छन्दके बदले ध्वनि-प्रसारपर अधिक बल देते हैं। इसीलिये चीनी भाषामें पद्यके लिये कोई शब्द ही नहीं है। 'शिः' शब्द कभी तो पद्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है और कभी काव्यात्मकताके अर्थमें, किन्तु वास्तवमें यह शब्द एक विशेष प्रकारके छन्दका बोधक है। वहाँ लिखित छन्दको ही पद्य कहते हैं।

उसका कारण यह है कि चीनी भाषाका प्रत्येक अक्षर एक प्रारम्भिक और एक अन्तिम व्यञ्जनसे बना शब्द होता है और अन्तिम अक्षर तो स्वर या अनुनासिक-मात्र ही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकारके लयवाले अक्षर कई सहस्र हैं, जिसका परिणाम यह है कि आप किसी प्रकार भी लयसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते।

जिस प्रकार हमारे यहाँ वर्णवृत्त हैं उसी प्रकार चीनमें भी अक्षर-वृत्त हैं, जहाँ अक्षरसे तात्पर्य उस चिह्नसे है जो कभी-कभी वाक्यका भी बोधक होता है। कभी-कभी तो जब चीनी पद्य सस्वर पढ़ा जाता है तब एक-एकके बदले कभी-कभी दो-दो अक्षर एक ध्वनिमें मिलाकर पढ़े जाते हैं, जिसमें पहलेपर कुछ हलका बल देकर दूसरेको स्वरित करके मिला दिया जाता है। वास्तवमें चीनी पद्यमें यही स्वर अर्थात् किसी ध्वनिको हल्केसे उच्चरित करना अथवा किसी ध्वनिको अधिक खींचकर बोलना ही चीनी छन्दकी कला है। तात्पर्य यह कि चीनी पद्यमें लय तो अवश्य है किन्तु स्वर ऐच्छिक है।

चीनी लोग चार प्रकारके पद्य मानते हैं—१. शिः, २. फुः, ३. त्जु़उ और ४. चउ। इनमेंसे 'शिः' अधिक प्रचलित है। प्रायः सम्पूर्ण लोकगीत और चारण-गीत तथा साहित्यिक पद्य प्रारम्भसे आजतक इसी छन्दमें लिखे गए हैं। इसके भी तीन विशेष भेद हैं—चतुराक्षरी पंक्तिवाला (शिः चिङ्), जो पीछे पञ्चाक्षरी और सप्ताक्षरी पंक्तियोंमें रचा जाने लगा। यह भी जब सङ्गीतके लिये लिखा जाता है तब 'यो फुः' कहा जाता है। चीनी काव्य-साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गीति-प्रधान है, प्रबन्ध-प्रधान नहीं। इसीलिये पूरे चीनी काव्य-साहित्यमें एक भी महाकाव्य नहीं है और प्रायः साधारण कवितामें चारसे बारहतक पंक्तियाँ होती हैं। चीनकी सबसे बड़ी कथात्मक कविता, जिसमें 'च्याओ चुङ्-चिङ्की पत्नी' की कथा है, जिसमें कुल तीन सौ पचास पंक्तियाँ हैं।

'शिः' और 'फुः'में अन्तर यह है कि 'शिः'में तो भाव या आकांक्षा (येन चिः) प्रधान होता है और 'फुः'में प्रकृति अथवा वस्तुओंका वर्णन प्रधान होता है। दूसरा भेद यह होता है कि 'शिः' पद्योंकी रचना सङ्गीतके लिये होती है और 'फुः'की रचना पाठ्य साहित्यके लिये। त्जु़उ भी नये ढङ्गका सङ्गीतोपयोगी छन्द है जिसका प्रचलन नवीं शताब्दिमें हुआ। इसकी रचना-शैलीको 'त इएन् त्जु़उ' अथवा रागके अनुसार शब्द भरना कहा जाता है यहाँतक

कि पीछेके 'त्ज़ुउ' लेखक पुराने चले आते हुए गीत-रागों ( तर्जों ) में बाँधकर ही 'त्ज़ुउ' लिखते रहे। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसमें कोई भी पंक्ति सम नहीं थी, सब विषम थीं और यह छन्द अत्यन्त भावात्मक गीतोंके लिये ही काममें आता रहा। चऊको त्ज़ुऊका सङ्गीतहीन रूप समझना चाहिए। इस दृष्टिसे चीनी पद्यके केवल दो ही ढङ्ग रह जाते हैं—एक ओर केवल 'शि:' और 'फु:' और दूसरी ओर 'त्ज़ुऊ' और 'चऊ'। इन सबमें लयकी प्रधानता होती है। 'शि:' और 'फु:'में पंक्तियाँ सम होती हैं और 'त्ज़ुऊ' और 'चऊ'में विषम।

## जापानी छन्दोयोजना

जापानकी छन्दोयोजना समझनेसे पहले उस भाषाकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिएँ। जापानी भाषामें पाँच ह्रस्व स्वर हैं अ, इ, उ, ए, ओ। विशेष बात यह है कि काव्यमें और शुद्ध उच्चारणमें प्राकृतके समान स्वर अलग-अलग बोले जाते हैं, जैसे—सुउमार, बअणो, किई। इसे हम 'सूमार', 'बाणो' या 'की' नहीं पढ़ सकते। साधारण बातचीतमें कभी-कभी अन्तिम ऊको या बीचके इको भी छोड़कर पढ़नेकी चलन है, जैसे 'इमासऊ'को 'इमास' अथवा 'इमाशिताइ'को इमाशता। प्रत्येक जापानी अक्षरका अन्त सस्वर होता है। इसीलिये जापानमें न तो लयका प्रयोग ही कवितामें अधिक प्रचलित हो सका और न जापानीमें अक्षरोंपर बल देने या उन्हें स्वरित करनेकी ही कोई विशेष रीति चल पाई। वहाँ केवल लघु और गुरु शब्द-समूहके अनुसार ही लयका निर्माण होता है। जापानी छन्दोंमें प्रसिद्ध छन्द है 'नगउता', जिसमें क्रमशः पाँच और सात अक्षरोंकी योजना होती है और जिसकी अन्तिम पंक्ति सात अक्षरोंकी होती है। कुछ कविताओंमें सन्तुलित वाक्यांश, टेक शब्द, दोनों ओर लगनेवाले शब्द और श्लेषका अधिक प्रयोग होता है। प्रायः शास्त्रीय कविताका रूप ५—७—५—७—७ अक्षरोंका होता था। यहाँतक कि जापानीमें इस प्रकारकी कविताको ही 'तङ्का' कहने लगे। तेरहवीं शताब्दिमें कुछ कवियोंने इस 'तङ्का'को सुधारकर 'रेङ्गा' ( शृङ्खलाबद्ध प्रवाह ) नामका छन्द निकाला, जिसमें दो या अधिक कवि बारी-बारीसे चौदह (७—७) और सत्रह (५—७—५) अक्षरोंके छन्द बनाते थे और जिसका मुख्य विषय पहला कवि उपस्थित करता था।

जापानी छन्दोंमें सबसे छोटा छन्द है 'होक्कु' या 'हेक्कु', जिसमें 'तङ्का' के प्रथम भागके समान सत्रह (५—७—५) अक्षर होते हैं। इस छन्दके आचार्य हुए इस्सा महोदय। इन चार छन्दों (नगउता, तङ्का, रेङ्गा और हेक्कू) के अतिरिक्त और किसी छन्दमें जापानी कविताकी रचना नहीं हुई।

## उपसंहार

इन सब वर्णनोंसे यह समझनेमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जायगा कि जिस विस्तार और सूक्ष्मताके साथ हमारे देशमें छन्दपर विचार किया गया है उतनी सूक्ष्मता और विचारके साथ अन्य किसी देशमें नहीं हुआ। हमारे यहाँ सच पूछिए तो छन्द एक नया शास्त्र ही बन गया था, जिसका उद्देश्य पद्य-रचना-मात्र सिखाना ही नहीं था वरन् जिसमें प्रत्येक ध्वनिकी विशेषता, उसके विभिन्न प्रयोग और उन प्रयोगोंके परिणाम-तककी कल्पना कर ली गई थी।

## कविता और गीत

प्रायः छन्दमें बँधी हुई प्रत्येक रचनाको सब लोग साधारणतः कविता कहते हैं। किन्तु केवल छन्दमें बँधने-मात्रसे कोई रचना कविता नहीं हो जाती। हमारे यहाँ तो गद्यको भी कहा गया है कि उसमें छन्दका प्रवाह होना चाहिए—गद्यं वृत्तानुगन्धि स्यात्। यहाँतक कि गद्यके जो भेद मुक्तक, चूर्णक, वृत्त-गन्धि और उत्कलिका-प्राय हैं, उनमें वृत्तगन्धि नामक शैली लययुक्त ही होती है। यह वृत्तगन्धित्व बाणकी कादम्बरीमें अनेक स्थलोंपर अत्यन्त भव्य रूपमें प्राप्त है। इसका एक उदाहरण हिन्दीमें अभिनवभरत-द्वारा लिखित 'वह अँधेरी रात' कहानीसे उद्धृत किया जाता है—

'वह महीना माघका, पछुआँ पवन, बादल-भरा आकाश, बिजलीकी कड़क, घनघोर अँधियारा, अँधेरा पाख, पथरीली कँटीली झाड़ियोंवाली भयङ्कर अटपटी-सी गैल, बीहड़ बन, सियारोंका रुदन, चीत्कार, कोलाहल, निरन्तर भुनभुनाते कीट, भुनगे और मच्छर-डाँस, ऐसी विकट वेला, विकट पथपर चल रहे हम तीन, धुकधुक कर रहे थे हृदय जिनके। झाड़ आगे, झाड़ियाँ दाएँ, उधर बाँएँ बड़ा-सा खड्ड, बिजलीकी चमकमें फाड़कर मुँह कह रहा था—बस! उधर रहना, इधर बढ़ना न तुम पग एक।'

### अतुकान्त पद्य ( ब्लैंक वर्स )

सत्रहवीं शताब्दिमें योरोपमें एक नई छन्द-शैली ही चली, जिसे रिक्त पद्य या अतुकान्त पद्य ( ब्लैंक वर्स ) कहते हैं। इसका प्रचलन 'सरे'ने सन् १५४१ में सम्भवतः इतालवी कवि 'वर्सीस्कियोलनी' से प्रभावित होकर अँगरेज़ीमें प्रयुक्त करना आरम्भ किया और पूर्व एलिज़ाबेथीय लोगोंने तुकहीन लम्बी पुरानी कविताओंके अनुवादके लिये इसका प्रयोग किया था। सन् १५५७ में इसका प्रयोग नाटकमें हुआ और प्रसिद्ध कवि मार्लोवेने अपनी 'टैम्बरलेन' ( तैमूरलङ्ग ) नामक कवितामें खुलकर इसका प्रयोग किया। तबसे शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैली, टेनीसन, ब्राउनिङ्ग, स्विनबर्न आदि बड़े-बड़े कवियोंने बड़े धड़ल्लेसे इसमें रचनाएँ कीं। इसकी विशेषता यह थी कि इसमें लयकी प्रधानता थी, तुक और मात्राओं अथवा एक चरणकी लघु-गुरु अन्वितियोंकी कोई गणना नहीं थी।

### गीत

गीतकी छन्दोयोजनामें चार बातोंका ध्यान रखना पड़ता है—१. अवसर, २. रस या भाव, ३. गति और ४. राग। अवसरका अर्थ यह है कि किस ऋतुमें, किस विशेष परिस्थितिमें, किस पात्रके द्वारा गीत गवानेका आयोजन किया गया है। कविका यह धर्म है कि वह गीतका निर्माण करते समय इस बातका ध्यान रक्खे कि कितनी मात्रामें, किस लयमें, किस राग और किस कालमें गीत बाँधे जायँ। कविता और गीतकी छन्दःप्रकृतिके सम्बन्धमें एक विशेष बात यह स्मरण रखनी चाहिए कि गीतोंमें एक टेक ( बर्डन ) होती है, वह एक पंक्तिकी हो या दो पंक्तियोंकी, जो गीतके प्रारम्भमें होती है और जो निरन्तर प्रत्येक पदके पश्चात् दुहराई जाती है। आजकल अँगरेज़ीके सौनेटके ढङ्गपर भी गीत लिखे जाने लगे हैं पर उनमें भी पहली पंक्तिका प्रयोग टेकके समान ही किया जाता है। एक या दो कड़ी गाकर टेक दुहराने, तिहराने या चौहरानेकी प्रथा सब देशोंके गीतोंमें है।

रस और भावके सम्बन्धमें इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि कोमल रसों और भावोंमें कोमल, सरस और सरल पदावलीका तथा कठोर भावों अथवा अकोमल रसोंमें कर्कश, कर्णकटु तथा कठोर शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए, जिससे उस भाव या रसका रूपक खड़ा करनेमें सहायता

मिले। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी रामायणमें दोनोंके उदाहरण दिए हैं। जब सीताजी उपवनमें आती हैं तब—

कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय करि लीन्हीं।।

और जब धनुष टूटता है तब सहसा गोस्वामीजीकी वाणी बादलकी कड़क लेकर गरज उठती है—

भरि भुवन घोर कठोर रव रबि-बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज, डोल महि अहि कोल कूरम कलमले।।

### काव्यके तत्त्व

ऊपर काव्यके जितने रूप दिए गए हैं उन्हें देखनेसे प्रतीत होगा कि काव्यके तत्त्वोंका निर्धारण दो दृष्टियोंसे करना होगा—१. सायास कथा-काव्यकी दृष्टिसे और २. 'अनायास भाव-काव्यकी दृष्टिसे।

### सायास कथा-काव्यके तत्त्व

१. सायास कथा-काव्यके अन्तर्गत वे सभी महावंश, एकवंश-महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, कथा-गीत आदि हैं, जिनमें कविने परिश्रमपूर्वक द्रष्टा बनकर अन्य पुरुषमें कथा-काव्यकी रचना की हो। ऐसे काव्योंमें निम्नाङ्कित तत्त्वोंका अस्तित्व अनिवार्य है—

### सात्त्विक तत्त्व

( क ) कथानक या थीम ( ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित )।

( ख ) कथावस्तु या घटना-संयोग (आधिकारिक अर्थात् मुख्य कथावस्तुके साथ प्रासङ्गिक घटनाओंकी कल्पना और उनका समुचित संयोग और द्वन्द्व।)

( ग ) पात्र ( वास्तविक और कल्पित ), उनके आचार, विचार मानसिक, भाव और द्वन्द्व तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धोंका निर्वाह।

( घ ) रस या उद्दिष्ट प्रवाह।

( ङ ) उद्देश्य

### बाह्य तत्त्व

( च ) वर्णन ( स्थल, वस्तु, भाव, कार्य तथा व्यक्ति ),

( छ ) भाषा-शैली ( शब्द, अर्थ, अलङ्कारका समन्वय )

( ज ) छन्द

## भव्य शैली और स्पष्टता

मैथ्यू आरनोल्डने कहा है कि 'जब कोई एक भला व्यक्ति काव्य-गुणसे समन्वित होकर किसी गम्भीर विषयको अत्यन्त सरसता या कठोरताके साथ लिखने लगता है, तब कवितामें गम्भीर शैलीका जन्म होता है', जैसे मिल्टनकी शैली कठोर गम्भीर शैली है और होमरकी शैली सरल भव्य शैली है। लावेलने इसे श्रेष्ठ और स्वाभाविक बताया है। यह कथाकाव्यके लिये अपेक्षित है। किन्तु कविताका सबसे बड़ा गुण है सरलता और सबसे बड़ा दोष है। अस्पष्टता अतः शैली भव्य अवश्य हो। विषय और कथा नायककी मर्यादाके अनुकूल हो किन्तु स्पष्ट अर्थात् सरलतासे समझमें आनेवाली हो।

## कथाकाव्यमें रूपण

अलौकिकका अत्यन्त प्रयोग होने तथा कल्पनाश्रित साहित्यकी भरमार होनेसे कुछ लोग काव्यको मिथ्यावाद कहने लगे। पुनर्जागरणकालमें बोकेशियो और रोन्सार्ड आदिने उनका विरोध किया और कहा कि 'नैतिक दृष्टिसे झूठ बोलनेका अर्थ है धोखा देना किन्तु कलाकी दृष्टिसे 'रूपण करना (फैनिङ्ग) अथवा कल्पना करना वास्तवमें शिक्षा देना है।' इन लोगोंका कहना है कि 'सत्यको सुन्दर बनाने और आवृत करनेके लिये कविको प्रयत्न करना ही चाहिए क्योंकि साहित्य वास्तवमें अध्यवसानात्मक धर्म-विज्ञान ही है, जो यदि नङ्गा कर दिया जाय तो समझमें नहीं आ सकता।' शेक्सपियरके 'ऐज़ यू लाइक इट' में टचस्टोनने कहा ही है कि 'अत्यन्त सत्य कविता वही होती है, जो अत्यन्त कल्पनापूर्ण होती है।' अतः कथाकाव्यमें घटनाओंकी कल्पना करना उचित है किन्तु वह सङ्गत और विश्वसनीय अवश्य होनी चाहिए।

## काव्य-समीक्षा और चारणवाद (बार्डोलेटरी)

जो लोग कवि नहीं हैं उनका ध्यान है कि 'कविता कोई रहस्य, जादू या अलौकिक पदार्थ है।' इसी आतङ्क या सन्देहको 'चारणवाद' (बार्डोलेटरी) कहते हैं। यूनानमें होमरको एक धार्मिक सङ्ग्राहकके रूपमें आदृत किया गया। कैल्टिक चारण लोग भी उस धार्मिक सम्प्रदायके अङ्ग थे, जो ओक वृक्षोंके नीचे पूजा किया करते थे। शेक्सपियरपर जो समीक्षाएँ लिखी गईं उनके अध्ययनसे भी प्रतीत होता है कि कविकी अनेक प्रकारसे प्रशंसा गाई

गई है। सत्रहवीं शताब्दिमें कहा गया कि 'शेक्सपियर सार्वभौम है, तथ्यवादी है और सरल है, किन्तु केवल इतना दोष बताया गया कि 'उसमें कलाका अभाव है।' अठारहवीं शताब्दिमें इङ्गलैण्डने उसके नाटकोंका अत्यन्त उत्साह-पूर्ण स्वागत किया किन्तु उसके व्याकरण-ज्ञानका, उसकी अप्रचलित शब्दावलीका अत्यन्त विरोध किया और या तो उसकी सनकभरी प्रतिभाकी अभिव्यक्तिके कारण उसकी कला-हीनताको क्षमा कर दिया या उसके धाराप्रवाह भावाभिव्यञ्जनकी प्रशंसा की गई। फ्रान्सवालोंने उसकी कुरुचिका सङ्केत देकर भी उसे सार्वभौम कवि बताया। जर्मनोंने उसे प्रकृतिका व्याख्याता बताया और उसके दर्शन या तत्त्वज्ञानपर शास्त्रार्थ किया। उन्नीसवीं शताब्दिमें इस कविकी प्रशंसा करते हुए जर्मनोंने यहाँतक कह दिया कि 'जो कुछ उसने किया सब ठीक है।' बीसवीं शताब्दिने उसे और भी अधिक सिर चढ़ा लिया और पिछली समीक्षाओं और वर्त्तमान भाषा-शास्त्रीय सुधारोंकी दृष्टिसे उसके नाटकोंकी साहित्यिक परिस्थितियोंका परीक्षण होने लगा। किन्तु ध्येय बदल-बदलकर आज भी यह कवि-गुण-गान कम नहीं हुआ है। हमारे यहाँ हिन्दीमें तो यह चारणवाद और इतना अधिक फैल गया है कि किसी कविकी उचित समीक्षा करना असम्भव हो गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ समीक्ष्यवादीको भी वर्त्तमान पक्षपातपूर्ण साहित्यिक महन्त-वादियोंसे घबराकर अपने प्रसिद्ध 'हिन्दी साहित्यका इतिहास'की भूमिकामें लिखना पड़ा—'वर्त्तमान लेखकों और कवियोंके सम्बन्धमें कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना है।........वर्त्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियोंका उल्लेख भी थोड़े-बहुत विवेचनके साथ डरते-डरते किया गया।' इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक लेखकका एक ऐसा समर्थक मण्डल बन गया है जो उसके विरुद्ध कुछ सुनते ही शृगाल-रव प्रारम्भ करके बोलने-वालेका स्वर दबा देता है। यह गति शुद्ध साहित्य-समीक्षाके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा है जो तत्काल समर्थ समीक्ष्यवादियों-द्वारा दूर कर दी जानी चाहिए।

### कथा-काव्यकी समीक्षा

कथा-काव्यकी समीक्षा करते समय समीक्ष्यवादीको अग्राङ्कित प्रश्नोंका समाधान करना चाहिए—

१. कविने जो कथा चुनी या कल्पित की है वह ग्राहकोंके भाव-संस्कारके

अनुकूल हैं या नहीं? उसमें विश्व-मात्रके भाव-संस्कारको आकृष्ट करनेकी शक्ति है अथवा किसी विशेष वर्गके?

२. घटना-संयोग उचित, आवश्यक, सम्भव, विश्वसनीय, आकर्षक तथा कुतूहलजनक है या नहीं? यदि ऐतिहासिक कथा है तो उसमें कविने क्या घटना-परिवर्त्तन क्यों किए हैं और उनसे कथामें क्या विशेषता या त्रुटि आ गई है?

३. पात्रोंके चयनमें कविने क्या नीति अपनाई है? उसने अनावश्यक पात्र तो नहीं लिए हैं? जिन्हें लिया है उनका चित्रण उनकी मर्यादा, परिस्थिति तथा मनःस्थितिके अनुकूल हुआ है या नहीं? किसीका चित्रण अतिरञ्जित तो नहीं हो गया या किसीके साथ अनुचित पक्षपात तो नहीं किया गया? यदि किया गया तो क्यों और उस पक्षपातसे क्या दोष आ गया?

४. कवि क्या प्रभाव या रस उत्पन्न करना चाहता है? उसमें कितनी सफलता मिली है और उस सफलताके लिये उसने किन गुण-तत्त्वोंका कहाँ-कहाँ किस कौशलसे सन्निवेश किया है?

. कविका उद्देश्य क्या है? वह अपने उद्देश्यमें कहाँतक सफल हुआ अर्थात् ग्राहकोंने उस-उस उद्दिष्ट अर्थका कहाँतक स्वागत और समर्थन किया?

६. वर्णन कितना आवश्यक, सङ्गत और सानुपात हुआ है और इस वर्णनमें भी सटीकता और सूक्ष्मता कितनी है? किन मार्मिक स्थलोंपर वर्णनका चमत्कार आवश्यक और सुन्दर अथवा अनावश्यक, असुन्दर या अत्यन्त अल्प हुआ है?

७. भाषा-शैली उस कथाकी प्रकृति, विभिन्न स्थलोंपर वर्णित विषयों तथा भावोंके कहाँतक अनुकूल, प्रभावशील, आकर्षक और सुबोध है? वाक्योंकी जटिलता, वर्णनोंकी भरमार और अलङ्कारोंके अतिशय प्रयोगसे भाषा कृत्रिम तो नहीं प्रतीत होती और उसके कारण मुख्य भाव दब तो नहीं गए हैं?

८. कथा-विषय, रस और भावके अनुकूल छन्द हैं या नहीं? यदि हैं तो उनकी गति, यति शुद्ध और लय-युक्त है या नहीं? यदि केवल लयात्मक पद्यमें ही कथा-काव्य लिखा गया है तो लयकी धारा ठीक है या नहीं?

९. कविने अपने सम्बन्धमें जो परिचय अपने काव्यमें दिया है वह उस काव्यका उद्देश्य या उसकी वृत्ति समझनेमें कहाँतक सहायक है?

१०. कविने अपने काव्यके आधार, उसकी प्रेरणा तथा अपने जीवन-सिद्धान्तका जो परिचय काव्यमें या भूमिकामें दिया है, उसका काव्यसे क्या सम्बन्ध है ?

११. जैसे जर्मनीमें किसी कविके अनुकरणपर निम्न कोटिका अनुकरण-साहित्य ( एपिगोवेनडिक्टूङ्ग ) रचा जाता था उस प्रकार कविने केवल अनुकरण-मात्र तो नहीं किया है ? यदि अनुकरण किया है तो वह अनुकरणीय ग्रन्थ या शैलीसे अच्छा है या बुरा ?

### भावात्मक काव्यके तत्त्व

शुद्ध तात्त्विक या भावात्मक कविताओंके या गीतोंके अन्तर्गत ही वर्णनात्मक और विचारात्मक कविताएँ भी आती हैं, क्योंकि कथाके प्रसङ्गके अतिरिक्त कवि जब किसी वस्तु, दृश्य या व्यक्तिका वर्णन करता, कोई विचार या सिद्धान्त स्थापित करता, कोई प्रतीक उपस्थित करता अथवा नीतिके द्वारा उपदेश देना चाहता है, तब उसके साथ यद्यपि कविकी बौद्धिक अनुकूलता तो होती है किन्तु उसका भाव-पक्ष भी समन्वित रहता है क्योंकि किसी प्रकारके भावात्मक प्रभाव तथा अनुभवकी मानसिक प्रतिक्रियाके रूपमें ही इस प्रकारकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। इस प्रकारकी भावात्मक कविताके विषय, साधन और तत्त्व ये हैं—

१. कोई वस्तु, जैसे—फूल, कोई दृश्य, जैसे—पर्वत, कोई व्यक्ति, जैसे—सुन्दर, अद्‌भुत या असाधारण पुरुष या स्त्री, कोई भाव, जैसे—देश-भक्ति, कोई क्रिया, जैसे—किसीका मुसकराना।

२. उस वस्तु, दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रियाकी परिस्थिति, अर्थात् किस ऋतु, काल, अवसर तथा मनःस्थितिमें कविने उसे देखा।

३. उस वस्तु, दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रियाके लिये अप्रस्तुत विधान ( उपमान ) या प्रतीक।

४. मानसिक भाव, अनुराग, विरक्ति, क्रोध, श्रद्धा आदि।

५. भावानुकूल शब्द, श्रुतिमधुर, श्रुतिकटु, समस्त पद आदि।

६. भावानुकूल लय, छन्द और राग।

ऐसी भावात्मक रचनाओंमें रस न होकर केवल भाव होता है और उसका उद्देश्य केवल उस भावको सशक्त रूपसे व्यक्त कर देना-मात्र होता है, अतः उसमें उद्देश्य भी नहीं होता। ऐसी रचनाएँ भावावेशकी अवस्थामें व्यक्तिगत

तुष्टिके लिये रची जाती हैं। ऐसी ही रचना केवल कलाके लिये रची जा सकती हैं। ऐसी रचनाएँ मुक्तक, प्रगीत या गीत-रूपमें ही हो सकती हैं।

### भावात्मक कविताकी समीक्षा

भावात्मक कविताकी समीक्षाके लिये निम्नाङ्कित प्रश्नोंका समाधान करना चाहिए —

१. कवि किस परिस्थितिमें विद्यमान किस दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रिया ( घटना ) से किस मन:स्थितिमें प्रभावित हुआ ?

२. इस प्रभावका क्या भावरूप था ( अनुराग या विराग ) ?

३. इस प्रभावको व्यक्त करनेके लिये उसने जो अप्रस्तुत विधान या प्रतीक उपस्थित किए, वे कहाँतक सङ्गत तथा उचित हैं ?

४. इस प्रभावकी अभिव्यक्तिके लिये उसने अभिव्यक्तिकी जिस रूप-शैली ( वर्णन, रूपक, संस्मरण या विश्लेषण ) का प्रयोग किया, वह कहाँतक उचित और प्रभावशाली है ?

५. अपनी अभिव्यक्ति-शैलीके लिये उसने जो भाषा-शैली ग्रहण की, वह कहाँतक उचित, प्रभावशाली, भावानुकूल और सुबोध है ?

६. जिस लय, छन्द और रागमें बाँधकर कविता लिखी गई है, वह भावानुकूल है या नहीं ?

७. वह कविता अपने शब्द, उपमान और छन्दके समन्वयसे ग्राहकके हृदयपर भी वर्ण्य विषय और भावके प्रति वही भाव उत्पन्न करती है या नहीं, जो कविके हृदयमें उत्पन्न हुआ था ?

### चित्रकाव्य

केवल कलाके लिये तो वास्तवमें चित्रकाव्य रचा जाता है, जिसमें चमत्कार प्रधान होता है। उसमें केवल एक ही तत्त्व होता है 'चमत्कार'। ऐसी रचनाओंका समीक्षण केवल इस दृष्टिसे करना चाहिए कि उसमें कविने शब्दों या अर्थमें किस प्रकार चमत्कार उत्पन्न किया और उस चमत्कारमें उक्ति सम्बन्धी कुछ सौन्दर्य, अद्‍भुतत्व या असाधारणत्व है या नहीं या वह केवल शाब्दिक बाजीगरी-मात्र है। बहुतसे कवियोंने केवल भाषा-कौशल ( ज़बान-दानी ) के लिये ही रचना की है। अत: उनके कौशलकी समीक्षा करते समय भावोंकी गहराई नापनेके फेरमें न पड़कर सीधे यह देखना चाहिए कि कविने कितने सरल तथा संक्षिप्त शब्दोंमें कितने बड़े अर्थ भर दिए हैं।

---

# नाटक

काव्यके सब रूपोंमें नाटक ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। हमारे यहाँके आचार्योंने स्पष्ट कहा है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' [ काव्योंमें नाटक ही सबसे अधिक सुन्दर है। ] यूनानमें अरस्तूने भी त्रासद और महाकाव्यकी तुलना करते हुए त्रासद नाटकको ही श्रेष्ठतर ठहराया है। महाकवि कालिदासने भी मालविकाग्निमित्रमें नाटककी प्रशंसा करते हुए कहा है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्' [अलग-अलग रुचिवाले सब लोगोंको नाट्य ही अकेला तृप्त करता है। ]

## नाटकका उद्देश्य

हमारे यहाँ भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नाटकको 'विनोदजननम्' ( सबका मन बहलानेवाला ), 'हितोपदेशजननम्' ( हितकर उपदेश देनेवाला ), 'विश्रान्तिजननम्' ( शान्ति देनेवाला ) और इन सबके साथ धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि बढ़ानेवाला बताया है। इसकी प्रशंसा करते हुए नन्दिकेश्वरने अपने अभिनय-दर्पणमें इसे 'अपि ब्रह्मपरानन्दादिमभ्यधिकम्' ( ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द देनेवाला ) बताया है। योरोपमें अरस्तूने नाट्यका उद्देश्य भावोंका रेचन या परिष्कार ( कथार्सिस ) बताया है, जिसका विवेचन हम आगे रस-निरूपणमें करेंगे। हम पीछे बता आए हैं कि काव्यमें अर्थात् नाटक और महाकाव्य दोनोंमें तथा भूत, भविष्य, वर्त्तमान संसारके सभी वास्तविक और काल्पनिक विषय आ सकते हैं।

## नाट्यकी उत्पत्ति

भरतने अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें ही कथा दी है कि 'इन्द्र आदि देवताओंने जाकर ब्रह्माजीसे कहा कि हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं,

जो देखा भी जा सके, सुना भी जा सके और जिसमें सब वर्णोंके लोग आनन्द ले सकें—

क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यञ्च यद्भवेत् ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ।।

तब ब्रह्माजीने ऐसा नाट्यवेद बनाया, जिसमें संसारके सब कार्योंका अनुकरण दिखाया जा सके, सब शास्त्रोंके तत्त्व और शिल्प भरे हों। इसके लिये पढ़ने या बोलनेका अंश अर्थात् पाठ्य तो उन्होंने लिया ऋग्वेदसे, गीत लिया सामवेदसे, अभिनय लिए यजुर्वेदसे और शृङ्गार आदि रस लिए अथर्ववेदसे। इस नाट्यका प्रयोग कराया भरतने, इसमें महादेवजीने ताण्डव अर्थात् उद्धत नृत्य और पार्वतीजीने नृत्त कोमल जोड़ा।' भावप्रकाशनम्के रचयिता शारदातनयने कथा दी है कि 'शिवजीने नन्दीको आज्ञा दी कि गन्धर्ववेदके सब तत्त्व ब्रह्माजीको बता दो। ब्रह्माजीने सब कुछ सीखकर नटकी कल्पना की। पाँच शिष्योंके साथ एक मुनि आकर प्रकट हो गए जिन्हें ब्रह्माजीने नाट्यवेद दे दिया। वे ही लोग भरत कहलाए और उन्हींके नामपर नाट्यवेद भी भारत कहलाता है।' इस विवरणसे इतनी बातें सिद्ध होती हैं—

१. नाट्यका जन्म संसारकी चिन्ताओंको भुला देनेके उद्देश्यसे हुआ।
२. ब्रह्माजी इसके आदि स्रष्टा हैं।
३. वेदोंके तत्त्व मिलाकर ही नाट्य बनाया गया।
४. नाट्यमें पाठ्य, गीत, अभिनय और रस चारों होते थे।
५. नाट्यका द्वार सबके लिये खुला था।

यदि ये कथाएँ पौराणिक कल्पना मान ली जायँ, तब भी हमें 'नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं'का प्रसङ्ग यजुर्वेदमें मिलता है। इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत और बौद्ध तथा जैनोंके धर्म-ग्रन्थोंमें भी नाटककी चर्चा आई है और पतञ्जलिने महाभाष्यमें तथा कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें नट, नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव आदिकी चर्चा की है।

## नाट्योत्पत्तिके सिद्धान्त

मैक्डौनलने ऋग्वेदके सरमा और पणिस, यम और यमी तथा पुरूरवा और उर्वशीके संवाद-सूत्रोंको ही भारतीय नाट्यका मूल माना है। कीथने इन संवादोंको आख्यान कहा है, इसलिये इस सिद्धान्तका नाम ही आख्यान-

सिद्धान्त है, जिसका प्रवर्त्तन किया विन्डिश और ओल्डेनबर्गने और समर्थन किया पिशल और गैल्डेनरने। किन्तु अभिनवभरतका मत है कि 'संवाद तो सभी प्रकारके काव्यों या कथनोंमें होते ही हैं, उन्हें हम अभिनय-निर्देशके अभावमें नाटकीय तत्त्व नहीं मान सकते।' मैक्समूलरने नाट्यकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डसे बताई, जिसका समर्थन सिल्वन लेवी, औएडेर और हर्टेलने किया है। उन्होंने तो मण्डूक-सूक्तिकी तुलना अरिस्तोफ़नेसके 'मेंढक' नामक प्रहसनसे कर डाली। पर कीथने इसका खण्डन किया और कहा कि 'ये सम्वाद वैसे ही पौरोहित कर्म-मात्र थे, जैसे ईसाई गिरजाघरोंमें पादरी कहते हैं—अपने हृदय ऊपर उठाओ, जन-समुदाय उत्तर देता है—हम अपने हृदय भगवानतक उठाते हैं।' विन्टरनित्सने भी इन सूक्तोंको नाटकका स्थानापन्न तो नहीं पर नाट्यका एक दूसरा रूप माना था। अभिनवभरतका मत है कि 'नाट्य तो स्वतः यज्ञ है, वह दूसरे यज्ञका अङ्ग क्यों बनेगा।' 'देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं।' [मुनियोंका कहना है कि नाट्य तो देवताओंकी आँखोंको सुहानेवाला यज्ञ है।]

मैक्डौनलने नाटक शब्द 'नृत्' धातुसे निकला मानकर नाचसे ही नाटककी उत्पत्ति बताई है। पर नट्, नृत् और णट् तीन अलग-अलग धातुएँ हैं, जिनसे क्रमशः 'नाट्य, नृत्य और नृत्त' शब्द बनते हैं। किसी वाक्यके अर्थको अभिनय-द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करनेको नाट्य कहते हैं (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं नाट्यम्)। एक शब्दके अर्थका अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करनेको नृत्य कहते हैं (पदार्थाभिनयं भावाश्रयं नृत्यम्)। ताल और लयके साथ हाथ-पैर चलानेको नृत्य कहते हैं (नृत्तंताललयाश्रयम्)। अतः मैक्डौनलका अर्थ भ्रामक है। पिशेलने कठपुतलियोंके नाचसे ही हमारे नाटकोंकी उत्पत्ति बतलाई और उसमें आए हुए 'सूत्रधार' शब्दको उन्होंने पुतली नचानेवालेसे जोड़ दिया। पर रिज्वेने इसका खण्डन किया है और इसे नाटकसे अलग सस्ता प्रदर्शन माना है। अभिनवभरतने इस मतका खण्डन करते हुए कहा है कि 'सूत्रधार तो वह व्यक्ति कहलाता है, जो नान्दी-श्लोकमें नाटककी कथावस्तु, नायक और नाटकके रसका सूत्ररूपमें वर्णन करता है। अतः पुतली नचानेवालेसे इसका कोई मेल नहीं है।' पिशेलने यह भी मत प्रतिपादित किया कि 'उन छाया-नाटकोंसे नाटकोंकी उत्पत्ति हुई, जिनका प्रचार मलाया, कम्बोदिया, श्याम

चीन आदि देशोंमें है।' इसका समर्थन ल्यूडर्स, कोनो और लेवीने भी किया है। पर छाया-नाटककी चर्चा संसारके किसी भी नाट्य-ग्रन्थ या परिपाटीमें प्राप्त नहीं है। कुछ लोगोंने वीर-पूजाकी वृत्तिको ही नाटककी उत्पत्तिका कारण माना है। किन्तु हम ऊपर ही बता आए हैं कि यह तो क्रीडनीयक या खेल था, किसी आदरके लिये इसकी रचना नहीं हुई थी। इसी प्रकार कीथने कहा है कि 'प्रकृतिमें जो जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि परिवर्त्तन होते हैं, वे सब रूपक बनाकर नाटकमें दिखाए जाते हैं।' पर अपने पीछेके ग्रन्थोंमें कीथने इसे अस्वीकार कर दिया। कुछ लोगोंने यूनानी नाटकसे ही भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति बताई है, पर यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि—

१. यूनानी नाटकोंमें समवेत गानका प्राधान्य था।

२. अभिनेताओंकी संख्या एकसे प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढ़ी थी।

३. अभिनेतागण मुँहपर मुखौटा और पैरोंमें ऊँचे खड़ाऊँ बाँधकर आते थे।

४. यूनानी रङ्गशालामें नाटकके साथ समवेत गीत होता था।

५. उनकी रङ्गशाला किसी पहाड़ीकी ढालपर गोल सीढ़ीके रूपमें बनी होती थीं।

६. उनके नाटक या तो भय और करुणा उत्पन्न करनेवाले त्रासद होते थे या फूहड़ गीतों और व्यंग्योंसे भरे परिहास होते थे।

७. दिअनूनससके उत्सवोंपर ही नाटक होते थे और दो-दो तीन-तीन दिनतक चलते रहते थे।

इनमेंसे एक भी बात हमारी नाट्य-प्रणालीमें नहीं है और सबसे विचित्र बात यह है कि जिस त्रासद नाटकको अरस्तूने श्रेष्ठ बताया है वह हमारे यहाँ निषिद्ध माना गया है। यूनानमें धर्मोत्सवों तथा उन स्तोत्रोंसे नाटककी उत्पत्ति हुई, जो यूनानके दिअनुसस या बाखस देवताकी उपासनामें गाए जाते थे। गायक लोग अपना आधा शरीर बकरेके चर्मसे ढककर जो उग्र स्तोत्र गाया करते थे, उन्हें लोग 'बकरीका गीत' (त्रैगोदा) कहते थे। इन्हींमें नाटककारोंने अभिनेताओंका समावेश करके नाटक बनाए, जिन्हें वे त्रासद (ट्रेजडी या त्रैगोदी) कहने लगे। इसी प्रकार वहाँ कृषिके लिये एक प्रजनन-उत्सव होता था, जिसमें लोग पुरुषके लिङ्गका कृत्रिम रूप बनाकर खेतमें घुमाते थे और लिङ्ग-सम्बन्धी फूहड़ गीत गाते थे। इन्हींसे प्रहसनोंकी उत्पत्ति

हुई, जिनमें अभिनेता लोग कृत्रिम पुरुष-जननेन्द्रिय लगाकर अभिनय किया करते थे। रोमके नाटकोंकी उत्पत्ति इत्रूरियावालोंके नृत्य और अभिनयसे हुई, जो वहाँके लूदी या विनोदपूर्ण ( फ़ैसेनाइन ) पद्योंके मेलसे विकसित हुए, किन्तु वहाँके नाटकोंकी उत्पत्तिका ठीक विवरण सन्देहास्पद है। चीनमें वान् ते नामक चीनी सम्राट्ने नाटकका आविष्कार किया। जापानमें धार्मिक और सामाजिक कारणोंसे नाटकोंकी उत्पत्ति हुई और फ़ारस आदिमें तो पूर्ण अभाव ही रहा। अब थोड़े समयसे वहाँ 'शबबाज़ी' नामके कुछ प्रहसनात्मक प्रयोग होने लगे हैं। इसके अतिरिक्त मर्सिए और तग़लीब (छद्मवेश) का कुछ-कुछ प्रदर्शन हुआ करता है। दूसरे प्रकारके फ़ारसी नाटक 'तमाशा' चले हैं, जो प्रहसन या भड़ैंतीके प्रकारके होते हैं। अभिनवभरतका मत है कि 'स्वभावतः मनुष्य प्रारम्भसे ही सबका अनुकरण करनेमें आनन्द प्राप्त करता रहा है अतः आङ्गिक, वाचिक तथा सात्त्विक अनुकरणके द्वारा केवल लोगोंका मनोरञ्जन करके, उन्हें सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त करनेके लिये तथा विशेष पर्वों और उत्सवोंको सङ्गीत, कथा और अभिनयसे सुन्दर बनाकर मनोविनोद और उपदेश देनेके लिये नाट्यकी सृष्टि की गई।'

## परिभाषा

अँगरेज़ी 'ड्रामा' शब्द नाटक या रूपकका पर्याय है। साधारणतः इसकी परिधिमें अभिज्ञान-शाकुन्तलसे लेकर भड़ैंती तथा मूकाभिनय आदितकके सब अनुकरणात्मक प्रयोग आ जाते हैं। किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है 'वह रचना, जो अभिनेताओं-द्वारा खेले जानेके लिये लिखी गई हो।' नाटक ( ड्रामा ) का व्यापक अर्थ है ऐसा खेल, जिसमें कुछ लोग किसी कथाके पात्रोंका रूप धारण करके अपने साथियोंके सामने उन पात्रोंके समान आचरण करते हैं। यह अनुकरण या रूप-धारण ही नाटकका प्रथम और मूल तत्त्व है। दूसरी बात है दर्शकोंकी उपस्थिति। दर्शकोंकी भीड़की दृष्टिसे ही लोग किसी अनुकरणात्मक प्रदर्शनको नाटक कहने लगते हैं। इसलिये कभी-कभी नाटकीय तत्त्वोंसे पूर्णतः रहित अत्यन्त लोकप्रिय प्रदर्शन ( बौक्स-औफ़िस शो ) भी अकारण ही नाटक मान लिया जाता है। अतः नाटकपर दो दृष्टियोंसे विचार करना चाहिए—

१. कलाके रूपमें नाटकका तात्पर्य यह है कि वह रङ्गमञ्चपर खेला जाय। 'पाठ्यनाटक' ( क्लोज़ेट ड्रामा ) इसीलिये शुद्ध नाटक नहीं होता। नाटककार

साधारणतः ऐसी वस्तु लिखना चाहता है जो खेली जा सके और अपने युगके दर्शकोंको प्रभावित कर सके। कुछ ऐसे भी नाटककार हुए हैं, जिन्होंने जानबूझकर भविष्यके लिये नाटक लिखा है। ऐसे नाटकोंमें नाटकत्व ढूँढ़नेका व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

२. यद्यपि नाटककारसे यही आशा की जाती है कि वह सीधे जनताको प्रभावित करे किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम उसके वास्तविक गुणोंकी उपेक्षा करें। नाट्यशालामें किसी नाटकका बहुत दिन चलना उसकी श्रेष्ठताका प्रमाण नहीं है। उसका मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह निरन्तर अनेक युगोंमें समान रूपसे आदृत किया जाय। विक्रमादित्यके पश्चात् कालिदासके नाटक कहीं खेले गए हों या नहीं, किन्तु आज भी सारा विश्व उनके विशिष्ट गुणोंके कारण उनकी प्रशंसा करता है।

### नाटक और खेल ( ड्रामा एन्ड प्ले )

इधर कुछ लोगोंने पढ़ने योग्य साहित्यिक नाटकोंको नाटक ( ड्रामा ) और खेलने योग्य सर्वबोध नाटकोंको खेल ( प्ले या स्टेज प्ले ) कहना प्रारम्भ किया है। इसी विचारसे कुछ लोग विद्यालयोंमें पढ़ाए जानेके लिये विशिष्ट नाटक लिखने लगे, जिन्हें लोगोंने साहित्यिक कहना प्रारम्भ किया। किन्तु यह भ्रम है, नाटक नाटक ही है और वह साहित्यिक तभी हो सकता है जब वह दृश्य हो, खेलने योग्य हो। सुन्दर भाषा-शैलीसे लदे हुए सम्वादोंको दृश्योंमें विभाजित करना नाटक नहीं कहलाता, वह मिथ्या-काव्य होता है। वास्तवमें किसी प्रकारकी अनुकरण-क्रिया-द्वारा, रङ्गमञ्चपर जनताके सम्मुख प्रदर्शित प्रदर्शन-काव्य ही नाटक कहलाता है। इसीलिये कुछ लोगोंका मत है कि 'अभिनेय नाटक ( एक्टिङ्ग प्ले ) वह है, जो नट-सिद्ध ( एक्टर प्रूफ़ ) हो' अर्थात् वह चाहे जैसे अभिनेताओंको दे दिया जाय किन्तु वह सफल होता ही है। केवल आवश्यक यही है कि उसे ठीक प्रकारसे खेला जाना चाहिए। ये अभिनेय नाटक उन साहित्यिक नाटकोंसे भिन्न हैं, जिन्हें खेलनेके लिये बहुत नाट्य-निर्देश और शिक्षाकी आवश्यकता पड़ती है। इनके अतिरिक्त तथा इन दोनोंसे भिन्न वे पठनीय नाटक ( क्लोज़ेट ड्रामा ) हैं, जिनका उद्देश्य खेला जाना नहीं, पढ़ा जाना है।

भरतने नाट्य-शास्त्रमें दो स्थानोंपर नाटककी परिभाषा दी है। इक्कीसवें अध्यायमें उन्होंने कहा है—

यस्मात्स्वभावं संहृत्य साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्॥

[ क्योंकि इसमें सब अङ्गों, उपाङ्गों और गतियोंको क्रमसे व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है अर्थात् 'दर्शकोंतक' पहुँचाया जाता है इसलिये इसे नाटक कहते हैं। ] सत्रहवें अध्यायके अन्तमें उन्होंने पूरी व्याख्याके साथ नाटककी पहचान बताई है—

मृदुललितपदार्थं गूढ़शब्दार्थहीनं।
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्॥
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

[ जिसमें कोमल ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ हों, जो विद्वानोंको सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान उसे खेल सकें, अनेक रसोंके लिये अवकाश हो, सब सन्धियोंके जोड़ ठीक हों, वही प्रदर्शनोंके लिये श्रेष्ठ नाटक होता है। ] अर्थात् भरतने सम्वाद, सुख-कथा, अभिनेयता, रस तथा रचना-कौशलको नाटकके लिये आवश्यक तत्त्व माना। किन्तु अभिनवभरतने नाटककी यह सर्वश्रेष्ठ परिभाषा की है—

'किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर नाट्यकार-द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता-द्वारा सिखाए हुए नट जब जनताके सम्मुख अभिनय, सम्वाद तथा सङ्गीतादिके द्वारा प्रेक्षकोंके मनमें रस उत्पन्न करके उनका मनोविनोद करते हैं तथा उस विनोदसे उपदेश और मनःशान्ति प्राप्त करते हैं तब वह सम्पूर्ण प्रयोग ही नाटक या रूपक कहलाता है।'

इसमें साध्य है रस; साधन हैं अभिनय, सम्वाद तथा सङ्गीतादि; निमित्त हैं नट; भोक्ता हैं दर्शक; आधार है कथा और इन सबका संयोग करनेवाले हैं नाट्यकार और नाट्य-प्रयोक्ता। इनमेंसे नाट्यकार तो संविधानक (कथावस्तु), सम्वाद और गीत-रचना करके अभिनय-सम्बन्धी रङ्ग-निर्देश करता है और नाट्य-प्रयोक्ता उस रचनाके आधारपर रङ्गपीठकी व्यवस्था करके, नटोंको शिक्षा देकर, उन्हें अभिनय, सम्वाद और सङ्गीत सिखाकर, दर्शकोंके सम्मुख

उनका प्रयोग करता है। अतः नाटकके दो पक्ष हैं—१, रचना और २. प्रयोग। यहाँ रचनाकी दृष्टिसे ही 'नाटक'पर विचार किया जायगा।

## सिद्धान्त : आदर्शवाद और यथार्थवाद

बहुतसे आचार्योंका मत है कि 'नाटक आदर्शवादी होना चाहिए, अर्थात् उसमें किसी विशिष्ट पुरुषके गुणोंका इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया जाना चाहिए कि जीवनकी अनेक विषमताओंमेंको होता हुआ सब परिस्थितियोंमें उसका व्यवहार असाधारण हो, किन्तु इस असाधारणतामें परहित, आत्मत्याग तथा लोक-मङ्गलकी ही भावना निहित हो।' किन्तु आदर्श कोई यथार्थसे भिन्न बात नहीं है। वास्तवमें जो कुछ यथार्थ हम देखते हैं उसीमें जब कोई व्यक्ति असाधारण कार्य कर बैठता है और मानव-समाज उस कार्यके कारण उस घटनाके नायकको प्रेम, आदर, श्रद्धा और भक्तिकी भावनासे देखने लगता है तो वह व्यक्ति आदर्श पुरुष हो जाता है, उसके कार्य आदर्श कार्य हो जाते हैं और उस व्यक्ति तथा उसके कार्यके आधारपर जो साहित्यिक रचना की जाती है वह आदर्श काव्य या आदर्शवादी कहलाने लगती है। अतः जिसे हम आदर्श या आदर्शवादी कहते हैं वह भी होता तो यथार्थ ही है किन्तु वह असाधारण तथा अद्भुत यथार्थ होता है और यही असाधारणता तथा अद्भुतता दोनों काव्यके गुणतत्त्व हैं।

प्रत्येक रचनामें कवि चार परिस्थितियोंका वर्णन करता है—१. क्या हो चुका है ? २. क्या हो रहा है ? ३. क्या हो सकता है ? और ४. क्या होना चाहिए ? इनमेंसे प्रथम और द्वितीय यथार्थवादी हैं, क्योंकि वे केवल भूत और वर्त्तमान घटनाओं या व्यापारोंका लेखा उपस्थित करते हैं। किन्तु यह भूत और वर्त्तमानका लेखा काव्यका नहीं, इतिहासका विषय है। जो हो चुका या हो रहा है वह हमारे पूर्वजोंके समाजका या हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है, उसमें कविको विचार करनेका, निर्णय करने या सन्देश देनेका अवकाश ही कहाँ है, और फिर जो वस्तु सबकी प्रत्यक्ष अनुभूत हो उसे लोकके सम्मुख उपस्थित करनेमें कुतूहल ही क्या है।

मनोविज्ञानके आचार्योंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी भी वस्तुमें तन्मयता प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति मनकी एकाग्रता आवश्यक है, मनकी एकाग्रताके लिये उस वस्तुमें रुचि अपेक्षित है, रुचिके लिये उस वस्तुमें

कुछ कुतूहल होना चाहिए और कुतूहल केवल उसीमें हो सकता है जो अलौकिक या असाधारण हो। जबतक यह तन्मयता नहीं होगी तबतक उस वस्तुका वास्तविक आनन्द या रस नहीं मिल सकता, अतः रस या आनन्दका मूल असाधारणता ही है। किसी असाधारणताका दूसरा नाम आदर्श है। तात्पर्य यह हुआ कि लोकको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये काव्यमें आदर्श अर्थात् असाधारणकी प्रतिष्ठा करनी ही पड़ेगी।

### यथार्थवाद

यथार्थका अर्थ है ज्योंका त्यों कह देना। यथार्थवादियोंका एक यह मिथ्या आरोप है कि 'प्राचीन ग्रन्थकारोंने केवल राजा-रानियों या सामन्तोंके ही अतिरञ्जित गीत गाए हैं, जनसाधारणके प्रति उन्होंने उदासीनता दिखाई है। इसीलिये यथार्थवाद (रीअलिज़्म) का जो आन्दोलन फ्रान्समें रूसो, वौल्तेआ और दिदरोने प्रारम्भ किया उसमें मूल प्रवृत्ति यही थी कि 'जितना कुछ रूढ है, परम्परागत है, वह सब थोथा, निरर्थक, हानिकारक और समाजकी उन्नतिमें घातक है। उसका पालन करनेका अर्थ है केवल कुछ थोड़ेसे गिने-चुने लोगोंके हाथमें विशाल जन-समूहका भाग्य सौंपना। अतः उसका विरोध अवश्य होना चाहिए, समानताके आधारपर नई सृष्टि होनी चाहिए, नई शिक्षा होनी चाहिए और ऐसा नया समाज बनना चाहिए, जिसपर केवल एक विशिष्ट स्वार्थी वर्गका प्रभुत्व न होकर सभी लोगोंका समान अधिकार और समान प्रतिनिधित्व हो।' इन सबका कहना है कि 'हमें अपने काव्योंमें जीवनकी वास्तविकताओंका उसी शुद्धता और सटीकता (फोटोग्राफ़िक एक्यूरेसी) से चित्रण करना चाहिए, जिस शुद्धता और सटीकतासे चित्रकार अपने चित्रक यन्त्रसे चित्र खींचता है और कलात्मक चित्रणका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिए।' इस निसर्गवादकी झोंकमें इन लोगोंने ऐसी विचित्र शैली और पदावलीमें रचना प्रारम्भ कर दी कि जब यह शैली समाप्त हो गई तब एक लब्ध-प्रतिष्ठ फ्रान्सीसी विद्वान्‌ने केवल इनकी पदावलीका अर्थ समझानेके लिये एक नये कोशका निर्माण किया था।

इन लोगोंने यथार्थ, तथ्य और सत्यका पल्ला थामकर जो निसर्गवाद या स्पष्टवाद खड़ा किया वह अधिक दिनोंतक नहीं टिक सका। थोड़े दिनोंमें इन लोगोंकी कृतियोंसे यही परिणाम निकाला जाने लगा कि जो असुन्दर, अभव्य,

विद्रोहात्मक, उच्छृङ्खलतापूर्ण, अरुचिकर और ध्वंसकारी हो वही निसर्गवाद या यथार्थवाद है। इन लोगोंकी प्रारम्भिक सत्यवादिता और स्पष्टवादिताने अन्तमें चलकर व्यक्ति तथा समाजका कटु, अशिष्ट तथा अश्लील आलोचन या आरोपका स्वरूप धारण कर लिया।

यथार्थवादियोंका यह आरोप भी अशुद्ध है कि देशोंके कवियोंने राजकुलोंसे ही अपने काव्य-विषय लिए हैं क्योंकि साधारण धनहीन कुलवाले गुणी लोगोंके चरित्र भी काव्यके विषय बने हैं। मृच्छकटिक और दरिद्र चारुदत्तका चारुदत्त सीधा-सादा, सात्त्विक, गुणज्ञ ब्राह्मण ही तो है। भरतने तो रूपकके विभिन्न भेदोंमें ऐसे अनेक रूपक और उपरूपक बताए हैं, जिनके नायक निम्न या साधारण श्रेणीके हैं। अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि प्राचीन काव्यकारोंने साधारण मानव-समाजकी उपेक्षा की है। हमारे यहाँ केवल निम्न श्रेणीके गुणहीन व्यक्तिकी कल्पित विपत्ति, व्यथा और निर्धनताका चित्रण नहीं किया गया, क्योंकि काव्यका विषय वही बन सकता है जिसके चरितसे लोकविनोद हो, उपदेश मिले और मनको शान्ति मिले। अतः वह यथार्थवाद निरुद्देश्य है, जो केवल चित्रण-मात्रके लिये किसी उपेक्षित वर्ग या श्रेणीका चित्रण करता है, वह तबतक निरर्थक है जबतक वह हमारे भावोंको उद्वेलित करके हमारी श्रद्धाको नहीं उकसाता और यह तभी हो सकता है जब उसमें कोई गुण हो, कोई विशेषता हो और जहाँ विशेषताका चित्रण हुआ कि वह तत्काल आदर्शवाद बन जाता है। अतः यथार्थवादी भी जो चित्रण करते हैं वह लोकमङ्गलकारी, असाधारण यथार्थ या आदर्शका चित्रण ही होता है।

### नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नाटकको 'सुखाश्रयम्' [ सुखकी बातोंसे भरा ] बताया है। 'मधुरेण समापयेत्' [ अन्त मधुर हो ] की भावना भी इतनी प्रबल होकर हमारे संस्कारमें पड़ गई थी कि अमङ्गलकारी परिणामकी ओर हमारे कविगण प्रवृत्त ही नहीं हुए। यथार्थवादियोंकी एक यह भी बड़ी आपत्ति है कि साधारण जीवनमें प्रायः प्रत्येक मनुष्यका जीवन दुःखमय ही दिखाई देता है, अतः सत्यनिष्ठ लेखकको सत्यकी रक्षा करनेके लिये ही दुःखमय जीवनका वास्तविक रूप उपस्थित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त

स्वयं भरतने भी कहा है कि 'नाटकमें सभी अवस्थाओंका अनुकरण दिखाया जायगा।' तब उन्होंने ही व्यवस्था क्यों दी कि—'न वधः तत्र स्यात् यत्र तु नायकः ख्यातः।' [ प्रसिद्ध नायकका वध नाटकमें नहीं कराना चाहिए। ] कारण यह है कि नाटकका उद्देश्य है जन-मन-रञ्जन। जन-मन-रञ्जन उसी कार्यसे होगा जिसमें चाहे जितनी पीड़ा, बाधा, विपत्ति आदिका वर्णन हो किन्तु उसका अन्त हर्षमय हो। हम लोग साधारण जीवनमें तो अनेक प्रकारके दुःखमय अनुभव करते ही हैं और उस दुःख-समुदायसे छुटकारा पानेके लिये, कुछ क्षण उस नरकसे निवृत्त होकर अपना मन किसी दूसरी ओर लगानेके लिये, जी बहलानेके लिये रङ्गशालामें जाते हैं। वहाँ जाकर भी यदि हमारे भाग्यानुसार वही सब देखनेको मिले तो हमारा जीवन बृहत्तर नरक बन जाय। इसलिये दुःखात्मक अन्त हमारे कवियोंने ग्राह्य नहीं किया।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसी कोमल प्रकृतिके होते हैं कि वे भयानक दृश्य नहीं सह सकते। किसीकी हत्या या किसीकी विपत्ति देखकर उनके धैर्यका बाँध टूट जाता है और वे अधीर होकर या तो रोने लगते हैं या मूर्च्छित हो जाते हैं। अतः लोकहितकी दृष्टिसे भी दुःखान्त नाटक त्याज्य हैं। दुःखान्त नाटकका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उसमें नायककी हत्या और दुष्टोंकी विजय हो जाती है। यह विजय चाहे जितनी स्वाभाविक और अपरिहार्य हो किन्तु इसका दर्शकोंके मनपर सबसे बुरा प्रभाव और संस्कार यह पड़ता है कि दुष्टके हाथ सज्जन भी मारे जा सकते हैं, सत्यके आगे असत्यकी विजय होती है और अन्यायके आगे न्याय घुटने टेक देता है। ऐसे दृश्य देखकर लोकका आत्म-विश्वास शिथिल हो जाता है, न्याय और असत्यमें श्रद्धा नहीं रहती, पशुबल और स्वेच्छाचारिताको ही वह वास्तविक शक्ति मान बैठता है और उसका परिणाम वही होता है जो योरोपमें हो रहा है कि अहिंसाको धर्म माननेवाली ईसाई जातियाँ आज विश्व-संहारके लिये कमर कसे बैठी हुई हैं। इस महान् नैतिक कारणसे भी दुःखान्त नाटक नहीं लिखना या दिखाना चाहिए।

त्रासद या दुःखान्त नाटकका रूप बताते हुए आचार्य अरस्तूने कहा है—'त्रासदका विषय उस मनुष्यका वर्णन है जो पूर्णतः या विशेषतः श्रेष्ठ और बुद्धिमान् न हो और जो अपनी किसी भूल या दुर्बलताके कारण ही विपद्ग्रस्त

हो गया हो। किसी हम-जैसे साधारण मनुष्यपर अकस्मात् अनागमनीय विपत्ति ढहाकर और त्रास उत्पन्न करके ही त्रासदमें करुणा उत्पन्न करनी चाहिए।'

इस मतसे भी यह स्पष्ट है कि 'अरस्तू किसी विशिष्ट महापुरुषको विपद्-ग्रस्त करके या उसकी हत्या कराकर त्रासदकी सिद्धि नहीं करना चाहता। त्रासदके लिये वह साधारण व्यक्ति चाहता है और उसको विपत्ति भी वह उसकी किसी भूल या दुर्बलतासे उत्पन्न करना चाहता है। साथ ही वह यह भी कहता है वह विपत्ति ऐसी हो जो उस प्रकारके व्यक्तिपर आनी नहीं चाहिए थी किन्तु उसीके कारण आ गई है और दर्शकके हृदयमें करुणा उत्पन्न कर रही है।' इसका तात्पर्य यही है कि वह व्यक्ति साधारणतः भला होना चाहिए जो लोगोंकी सहानुभूतिका पात्र हो सके।

त्रासदकी परिभाषा देते हुए अरस्तू कहता है—'त्रासद उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिणामका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अङ्ककारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकारके कलात्मक अलङ्कार नाटकके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाए जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोंका उचित रेचन या परिष्कार ( कथार्सिस ) कर सके।' भयानक और करुणाजनक परिस्थितियोंका वर्णन करते हुए वह लिखता है—'त्रासके प्रभावको उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारोंमें होती है जो या तो परस्पर मित्र हों या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है तो उससे वध-कार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमें ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात परस्पर उदासीन मनुष्योंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है जो एक दूसरे अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं, जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी या माँ अपने पुत्रकी या पुत्र अपनी माँकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय, तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।'

इन उपर्युक्त स्थितियोंको किस कौशलसे प्रयोग करना चाहिए, इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तू कहता है—

१. 'एक स्थिति यह है कि जान-बूझकर व्यक्तियोंका परस्पर ज्ञान होनेपर भी कोई ( भयानक, त्रासात्मक ) कार्य करा दिया जाय, जैसे इउरीपिदसने जानकर मीद्रियाके द्वारा अपने बच्चोंका वध कराया। २. 'दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य अज्ञानमें कराकर, सम्बन्ध या मित्रताका ज्ञान पीछे कराया जाय, जैसे सोहराबको घातक चोट पहुँचा देनेपर रुस्तमको ज्ञान हुआ कि यह मेरा पुत्र है। ३. तीसरी स्थिति यह है कि व्यक्ति परस्पर एक दूसरेको जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जायँ।' ४. चौथी अवस्था वह है जब किसी प्रकारका अपरिहार्य कार्य करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये ही सम्भव मार्ग हो सकते हैं क्योंकि व्यापार या तो हो या न हो और वह भी या तो जानकर हो या अनजानमें हो। किन्तु इन सब मार्गोंमें सबसे बुरा यह है कि व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उद्यत हो और फिर उसे न करे। इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि अज्ञानमें कार्य हो चुके और पीछे भेद खुले। किन्तु अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रेस्फोन्तेस्में ज्यों ही मरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है, त्यों ही उसे पहचानकर वह छोड़ देती है।

इस विवरणसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि भयानक या त्रासजनक परिणाम दिखानेके पक्षमें तो अरस्तू है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि नाटकमें नायककी या इष्ट पात्रकी हत्या कराई ही जाय। जिन चार प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन ऊपर किया गया है, उनमेंसे उसने चौथी अवस्थाको ही श्रेष्ठतम बतलाया है, जिसमें अभिज्ञान या पहिचान हो जानेके कारण भयानक परिणाम होते-होते रुक जाय। इसका अर्थ यही होता है कि अरस्तू त्रासजनक तथा भयानक परिणामोंकी स्थिति उत्पन्न करनेके पक्षमें तो है, किन्तु सदा दुःखान्त करनेके पक्षमें नहीं है।

जहाँतक त्रासात्मक तथा भयानक घटनाओंका सन्निवेश है, उसमें तो हमारे नाटक भी पीछे नहीं हैं। मालतीमाधव नाटकमें कापालिक मालतीका वध करनेको तैयार होता है। मृच्छकटिकमें चारुदत्तके लिये शूलीका विधान होता है। ये अवस्थाएँ कम त्रासजनक या भयानक नहीं हैं। इनके अतिरिक्त रूपकों और उपरूपकोंमें कई ऐसे भी हैं, जिनमें आरभटी-वृत्ति अर्थात् मार-काट और युद्धका

ही वर्णन होता है, जैसे व्यायोग या डिममें भयानक कृत्य, अभिचार, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध आदिका वर्णन होता है, किन्तु इतना सब होनेपर भी इनका अन्त सुखाश्रित ही होता है। जहाँ अरस्तू चौथी प्रकारकी स्थिति अर्थात् भयानक काण्ड होते-होते सहसा पहचानके द्वारा नाटक सुखान्त करनेको सर्वश्रेष्ठ समझता है, वहाँ वह यूनानी साहित्यके संस्कारसे प्रभावित होनेके कारण तथा इतिहासकी रक्षाका पक्षपाती होनेके कारण बलपूर्वक, अस्वाभाविक रीतिसे सुखमें समाप्ति करनेके पक्षमें नहीं था। उसका कहना है कि 'प्रायः दर्शकोंकी दुर्बलताका पक्षपात करके कवि अपने नाटकोंका अन्त सुखमय करते हैं। किन्तु यह बड़ा भारी दोष है और ऐसे अन्त केवल प्रहसनोंके लिये ही उपयुक्त होते हैं।' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। ऊपर हम जो अनेक कारण दे आए हैं उन नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणोंसे नाटकको दुःखान्त नहीं करना चाहिए।

### स्थान, काल और कार्यका एकत्व

योरोपके अनेक आचार्योंका मत है कि 'नाटकका वृत्त एक ही स्थानका हो, एक ही कालका हो और केवल एक ही व्यापार या घटनासे सम्बन्द्ध हो, अर्थात् किसी नाटकमें एकसे अधिक स्थानोंका प्रदर्शन न हो, एकसे अधिक कालका विवरण न हो और उसमें एकसे अधिक व्यापार या इतिवृत्त न हों।' इन नाटकीय एकत्वोंको फ्रांसवालोंने बहुत महत्ता प्रदान की। उनका अनुमान है कि अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें इसका निश्चित विधान किया है, किन्तु अरस्तूने वास्तवमें समय और स्थानके बाह्य एकत्वको तनिक भी महत्त्व नहीं दिया है। इतिवृत्त या व्यापारके विषयमें अरस्तूने अवश्य स्पष्ट कहा है कि 'नाटकमें इतिवृत्त एक ही होना चाहिए।' इसकी व्याख्या करते हुए वह कहता है—'किसी इतिवृत्तमें एक नायकका वर्णन होनेसे ही कोई इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता, जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्यके जीवनमें अनन्त भिन्न-भिन्न घटनाएँ होती हैं, जिन्हें सङ्कलित करके एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्यके द्वारा बहुतसे चरित (कार्य) हो सकते हैं, जिन्हें संकलित करके एक सङ्गत कार्य नहीं बन सकता। अतः जैसे अनुकरणात्मक कलाओंमें एक ही अनुकरणीय वस्तुके एक होनेपर भी अनुकरण एक ही होता है, वैसे ही एक ही व्यापारका अनुकरण होनेके कारण इतिवृत्त भी एक होना चाहिए।

उसके अङ्ग परस्पर ऐसे गुँथे हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असङ्गत हो जाय, क्योंकि जिस वस्तुके रहने या न रहनेसे कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं होता वह सम्पूर्ण पदार्थका आवयविक अङ्ग हो नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि नाटकमें एक नायकके पूरे जीवनकी कथा न होकर ऐसा एक व्यापार या कार्य होना चाहिए जो स्वतः पूर्ण हो।'

जहाँतक समय और स्थान एक होनेकी बात है, वह अत्यन्त अव्यावहारिक तथा अस्वभाविक है क्योंकि एक व्यापार या कार्य न जाने कितने दिनों और कितने विभिन्न स्थानोंमें पूर्ण होता है। उसे एक दिनमें, एक स्थानमें कैसे बाँधा जा सकता है? इसीलिये किसी अच्छे नाटककारने एक ही स्थान समयमें सब कार्य पूरा करनेका प्रतिबन्ध नहीं माना है।

यद्यपि आजकल एक ही स्थानपर नाटकीय व्यापार दिखानेकी प्रणाली भी चल पड़ी है और यह सम्भव भी है कि कोई नाटक एक ही स्थानमें पूरा कर दिया जा सके, किन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि एकाङ्की नाटकोंमें समय और स्थान एक हो सकता है और कुछ नाटकोंमें एक स्थानपर कई अङ्कोंका व्यापार दिखाया जा सकता है।

### नाट्य-रूढियाँ

सभी नाटककारोंने कुछ निश्चित रूढियोंका नियमित रूपसे पालन किया है। नान्दी, पूर्वरङ्ग-प्रस्तावना, नाटक-वस्तु और नाटककारका परिचय, कुछ गिने-चुने कार्योंका निषेध, सूत्रधार और नटी, स्वगत-कथन, भरतवाक्य आदि ऐसी बातें हैं जो समान रूपसे हमारे सभी नाटकोंमें पाई जाती हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ पूर्वरङ्ग-प्रस्तावना और भरतवाक्यका विधान है, उसी प्रकार यूनानी नाटकोंमें पूर्वकथन (प्रोलोग) और उपसंहार (एपीलोग) का विधान था। किन्तु वहाँके उपसंहारमें वैसी लोगमङ्गलकी कामना नहीं रहती थी जैसी हमारे यहाँ भरतवाक्यमें। उसमें तो केवल क्षमा-याचनाकी भावना निहित रहती थी और वह भी बड़ी लच्छेदार भाषामें जनताकी चाटुकारी-मात्र रहती थी, जिसका तात्पर्य यह था कि जो 'कुछ अच्छा-बुरा है वह हमने कर दिखाया है। आप लोग बड़े रसिक हैं, गुणज्ञ हैं। आप हमारे दोष क्षमा कीजिएगा।' इस क्षमा-याचनाका तात्पर्य यही था कि रङ्गशालासे बाहर जाकर जनता कुछ न कहे, बुराई न करे।

### पूर्वरङ्ग

जहाँतक पूर्वरङ्ग या दैवत-पूजनका विधान है, वह तो प्रत्येक देशकी अपनी-अपनी रूढ़ि और अपने-अपने विश्वासकी बात है। पारसी रङ्गशालाओंमें भी नाटक प्रारम्भ होनेसे पहले रङ्गपूजा करनेकी और ईश्वर-विषयक स्तुतिसे नाटक प्रारम्भ करनेकी चलन है। चीन और जापानमें भी इस प्रकारकी पूर्वरङ्ग-क्रियाओंकी प्रथा है। पूर्वरङ्गके समान ही धार्मिक क्रिया यूनानमें भी हुआ करती थी क्योंकि वहाँके नाटक दिअनुससके सम्मानमें ही खेले जाते थे। वहाँ नाटक प्रारम्भ करनेसे पूर्व उस देवताकी भली प्रकारसे पूजा की जाती थी और बलि चढ़ाई जाती थी, विशेषत: सुराके देवता बाखसके लिये तो बलि चढ़ाई ही जाती थी।

### प्रस्तावना

नाटककी प्रस्तावनामें नाटक और कविका परिचय देना भी बड़ी प्राचीन रूढि थी। प्राय: हमारे सभी नाटकोंमें नाटककारोंने तीन बातोंका परिचय दिया है—१.अपना, २. नाटककी वस्तुका और ३.नाटक खेलनेके अवसरका। कभी-कभी इस परिचयमें नाटकारने अपने कुल और गोत्रका भी परिचय दे दिया और अवसरकी चर्चा करते हुए उसने यह भी निर्देश किया है कि किस व्यक्ति या समाजकी आज्ञासे नाटक खेला गया है। इस प्रकार प्रस्तावनासे बहुत-सी जिज्ञासाओंकी परितुष्टि हो जाती है और नाटकका विवेचन तथा परीक्षण करनेवालोंको बड़ी सुविधा मिल जाती है। नाटक खेला ही इसलिये जाता है कि जनता उसमें रस ले और रस तभी प्राप्त हो सकता है जब जनता उसकी कथा भली प्रकार समझ सके। इसलिये नाटकोंमें प्रस्तावना अवश्य होनी चाहिए और यह प्रस्तावना नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधारके द्वारा ही होनी चाहिए। नाटककी कथा यदि इतनी सर्व-विदित हो कि वह प्रस्तावनाके बिना ही समझमें आ सके तब प्रस्तावनाकी इतनी आवश्यकता नहीं है। यह देखा भी गया है कि कभी-कभी बिना प्रस्तावनावाले नाट्योंकी कथा समझनेमें दर्शकोंको कोई असुविधा नहीं हुई किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि प्रस्तावनामें नाटककार या नाट्यवस्तुकी ही चर्चा हो, कथा या परिणाम आदि ऐसी बातें न बताई जायँ जिससे दर्शकोंकी कुतूहल-वृत्ति

किस प्रकार चलाई गई है, उसमें क्या-क्या घटनाएँ हुई हैं और उनका क्या परिणाम हुआ है।

### सूत्रधार-नटी

प्रस्तावना सूत्रधार-नटीसे कराई जाय या किसी भी प्रस्तोता या स्थापकके द्वारा कहला दिया जाय, इस विषयमें पाँच बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—१. नाटकके प्रत्येक पात्रको रङ्गपीठपर उपस्थित होकर अपनी कला दिखानेका अवकाश मिलता है किन्तु जो सूत्रधार पात्रोंको शिक्षा देता है, विभिन्न प्रकारके अभिनय सिखाता है, उसकी कला देखनेका अवसर जनताको प्राप्त नहीं होता। २. सूत्रधार ही अभिनेय नाटकके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और सूक्ष्म भेदोंसे परिचित रहता है। वही वास्तवमें नाटकका सच्चा पारखी होता है क्योंकि नाटककी अभिनेयताके सब गुण वह परख चुकता है। इसलिये उसे अधिकार भी है कि वह नाटक और नाटककारके विषयमें अपनी सम्मति दे। ३. नाटक खेलते समय नाटकके सभी अभिनेता अपने-अपने कार्यमें व्यस्त हो जाते हैं। किसीको इतना अवसर नहीं रहता कि वह रङ्गपीठपर आकर प्रस्तावना करे और फिर अपनी भूमिका भी सँभाले। अतः सूत्रधार ही एक बच जाता है, जिसे इसके लिये अवकाश रहता है। ४. प्रत्येक नाटकका प्रयोग आरम्भ होनेसे पहले अभिनेताओंको तैयार होनेमें प्रायः विलम्ब हो जाया करता है। ऐसी परिस्थितिमें ऐसा कोई एक व्यक्ति अवश्य चाहिए, जो जनताका मनोरञ्जन कर सके और समय काट सके। इसीलिये नटीका भी विधान किया गया है कि वह उतने समयमें कुछ ऋतु-सम्बन्धी गीत गाकर या नाचकर जनताको रिझा सके और अभिनेताओंको तैयार होनेका अवसर दे सके। ५. मुख्य बात यह है कि नाटक देखनेवाली जनता इतनी विज्ञ नहीं होती कि वह चटसे किसी कथाका सूत्र पकड़ सके। इसलिये ऐसी प्रस्तावना होनी ही चाहिए जिससे नाटककी कथा समझते चलनेमें सुविधा हो।

### निषेध

हमारे यहाँ कुछ बातें नाट्य-निषिद्ध भी बताई गई हैं। नाट्य-शास्त्रके बीसवें अध्यायमें भरत कहते हैं—

> क्रोधप्रमादशोकाः शापोत्सर्गौ च विद्रवोद्वाहौ।
> अद्भुतसंश्रयदर्शनमङ्कप्रत्यक्षजानि स्युः ॥

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगररोधनं चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि ।।

[ क्रोध, पागलपन, शोक, ताप, परित्याग, भगदड़ या खलबली, विवाह और अद्भुत रससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखलाई जायँ किन्तु युद्ध, राज्यविप्लव, मरण, नगरका घेरा आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखलाकर उनकी सूचना दे देनी चाहिए । ] साहित्यदर्पणके छठे परिच्छेदमें नाट्य-निषिद्ध क्रियाओंको गिनाते हुए कहा गया है—

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ।।
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरञ्च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ।।
स्नानानुलेपने चेभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।

[ दूरसे पुकारना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, मृत्यु, मैथुन, दन्तच्छेद, नखच्छेद, शयन, चुम्बन, नगर आदिका घेरा, स्नान और अनुलेपन इत्यादि काम नाटकमें नहीं दिखाने चाहिएँ । ] इन दोनोंमें सबसे बड़ा अन्तर यह प्रतीत होता है कि साहित्य-दर्पणकारने दूरसे पुकारना, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, स्नान और अनुलेपन भी त्याज्य समझ लिया है । इन सब विवरणोंसे इतना स्पष्ट है कि तीन प्रकारके कार्य निषिद्ध बतलाए गए हैं—१. जो साधारण लोकमें भी सबके सामने नहीं किए जाते, २. जो भयङ्कर, बीभत्स और लोम-हर्षक हों जैसे मृत्यु, ३. जिन्हें किसी भी प्रकार रङ्गमञ्चपर दिखाना सम्भव न हो, जैसे युद्ध, राज्य-विप्लव । इन सब निषिद्ध बातोंमें दूराह्वान अर्थात् दूरसे पुकारनेकी बात सभी नाटकोंमें होती है । अतः भावप्रकाशनकार और दशरूपककारने इसके बदले 'दूराध्वानम्' शब्द दिया अर्थात् 'दूरतकका चलना' दिखाना निषिद्ध बताया है । लोकशील और लोक-मर्यादाके अनुसार सभी देशोंमें यह बात मान्य है कि स्नान, मैथुन आदि क्रियाएँ नाटकमें नहीं दिखानी चाहिएँ, किन्तु योरोपमें भोजनका दृश्य दिखाना या रङ्गपीठपर चुम्बन करना अनुचित नहीं समझा जाता । युद्ध और राज्य-विप्लव तथा नगरावरोधके दृश्योंके लिये इतनी अधिक भूमि चाहिए कि उन्हें रङ्गपीठपर

उपस्थित करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसी प्रकार युद्धका दृश्य दिखाना भी रङ्ग-व्यवस्थापककी शक्तिसे बाहरका कार्य है। वध और मृत्यु आदि बीभत्स काण्ड मनोवैज्ञानिक और लोक-मङ्गलकी दृष्टिसे दिखाना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि देश, समाज और कालके अनुकूल जो चेष्टा घृणित, लज्जाजनक, अश्लील और बीभत्स या भयङ्कर हो, जिन दृश्योंको रङ्गमञ्चपर दिखलाना सम्भव न हो और जिससे लोक-हितके बदले लोकका अहित होता हो उनका विधान नाटकमें नहीं करना चाहिए।

## नाटकमें पद्य

बहुतसे आचार्योंका विचार है कि 'नाटकमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग होना चाहिए।' संस्कृत नाटककारोंने भी अपने सम्वादोंमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग किया है। उनमें जहाँ वर्णन, भाव या रसकी अभिव्यक्ति करनी हुई है वहाँ-वहाँ तो पद्यका प्रयोग खुलकर किया गया है। केवल नमस्कार, आशीर्वाद, शिष्टाचार-वाक्य, आदेश, प्रस्ताव या वक्तव्य आदि गद्यमें कहे गए हैं। पारसी रङ्गमञ्चपर जो नाटक लाए गए उनकी भी यही विशेषता थी कि उनमें बात-बातपर पद्य कहे जाते थे, यहाँतक कि 'इन्दर सभा' नामके नाटकके सब सम्वाद ही पद्यमें हैं।

पद्यका प्रयोग करनेका सङ्केत तो नाट्य-शास्त्रमें दिया गया है। किन्तु किस क्रमसे और कहाँ-कहाँ छन्दोंका प्रयोग करना चाहिए, इस विषयमें कुछ नहीं कहा गया है। यदि हम प्रभाव और स्वाभाविकताकी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि पद्यमें कहे हुए वक्तव्य अधिक प्रभावशाली होते हैं, किन्तु जहाँतक स्वाभाविकताकी बात है, पद्यका प्रयोग होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यदि नाट्य अवस्थानुकृति है तो साधारण जीवनमें कहीं भी बातचीत या व्यवहारमें पद्यका प्रयोग नहीं होता। अतः नाटककारके लिये सुमार्ग यही है कि वह सब सम्वाद गद्यमें ही रक्खे और पद्यका प्रयोग केवल वहीं करे जहाँ कोई सिद्धान्त या कोई उपदेश कहनेकी आवश्यकता पड़े और वह भी इस प्रकारसे कहा जाय कि अस्वाभाविक न जान पड़े।

## गीतोंका प्रयोग

आजकल नाटककार जहाँ एक ओर स्वाभाविकताकी दुहाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर लोकरञ्जनका बहाना लेकर गीतोंकी भरमार किए रहते हैं।

इन सब गीतोंके सम्बन्धमें दो सिद्धान्त निश्चित रूपसे समझ लेने चाहिएँ—१. 'अतिसर्वत्र वर्जयेत्' अर्थात् गीत अधिक नहीं होने चाहिएँ। २. जिस स्थानपर गीत अधिक आकर्षक, स्वाभाविक और आवश्यक हो, वहीं उसका विधान करना चाहिए। नायकके वियोगमें नायिकाका और नायिकाके वियोगमें नायकका बैठे राग अलापना, परस्पर मिलनेपर दोनोंका सङ्गीतमय वार्त्तालाप करना, किसी इष्टके निधनपर गीत गाकर रोना आदि ऐसे अनुपयुक्त और अस्वाभाविक प्रसङ्ग हैं, जहाँ गीतका प्रयोग करनेसे जनताका मनोरञ्जन भले ही होता हो किन्तु सङ्गीत और नाट्यकलाकी हत्या हो जाती है और उचित रसानुभूति होनेमें भी बड़ी बाधा पड़ती है। अतः नाटककारको गीतका विधान केवल वहीं करना चाहिए जहाँ गीतका प्रयोग नाट्य-वस्तुकी स्वाभाविक आवश्यकताके अनुकूल हो।

### सम्वाद सर्वश्राव्य हो

प्राचीन नाट्याचार्योंने सम्वाद तीन प्रकारके बताए हैं—१. सर्वश्राव्य, २. नियत-श्राव्य और ३. अश्राव्य। जो सबके सुननेके लिये हो अर्थात् रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्रोंके भी सुननेके लिये हो, उसे सर्वश्राव्य या प्रकाशवचन कहते हैं। जो सबके लिये अश्राव्य हो उसे स्वगत कहते हैं। जो कुछ निश्चित लोगोंके सुननेके लिये है उन्हें नियत-श्राव्य कहते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—१. जनान्तिक और २. अपवारित। जनान्तिक उसे कहते हैं, जब त्रिपताका-मुद्रासे रङ्गमञ्चपर उपस्थित अन्य लोगोंकी ओट करके दो व्यक्ति परस्पर बातचीत करते हैं। अपवारित उसे कहते हैं, जब उपस्थित व्यक्तिकी ओरसे घूमकर उसका कोई रहस्य कहा जाता हो। इनके अतिरिक्त एक आकाश-भासित भी होता है, जहाँ बिना दूसरे पात्रके ही एक पात्र आकाशकी ओर देखकर इस प्रकार प्रश्न और उत्तर करता है मानो वह किसीसे बातचीत कर रहा हो, जैसे भाणमें होता है।

आजकलके नाटककोर इन्हें अस्वाभाविक मानते हैं। जनान्तिक, अपवारित और आकाश-भाषित तो प्रत्यक्ष रूपसे अस्वाभाविक हैं ही। रङ्गमञ्चपर उपस्थित लोगोंके सम्मुख कोई बात कही जाय, उसे सारी जनता सुने और रङ्गमञ्चवाले लोग न सुन पावें, यह सर्वथा असङ्गत बात है। प्राचीन युगमें प्रतीकात्मक अभिनय होता था। उस समय त्रिपताका-मुद्रा साथ

लेनेपर जनता यह समझ जाती थी कि अब जो बात कही जायगी वह केवल हमारे लिये है, रङ्गपीठपर उपस्थित अन्य लोगोंके लिये नहीं है। किन्तु आजकल जब उस त्रिपताका-का विधान ही नहीं हैं तब जनान्तिक और अपवारितकी कोई उपादेयता और आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यही बात स्वगत-कथनके विषयमें कही जा सकती है। ये स्वगतकथन योरोपीय रङ्गशालामें बड़े महत्त्वके समझे जाते थे और उनमेंसे बहुतसे स्वगत-कथन तो विश्व-साहित्यकी अमर विभूति हैं किन्तु स्वाभाविकताकी कसौटीपर वे भी खरे नहीं उतरते। स्वगत-कथन या मानसिक क्रियाकी अभिव्यक्ति पात्रके कार्यके द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए, शब्दोंके द्वारा नहीं। अतः सम्वादमें स्वगत-कथन, जनान्तिक, अपवारित और आकाश-भाषितका प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो कुछ वर्णनीय हो वह सर्वश्राव्य सम्वादों और व्यापारोंके द्वारा ही अभिव्यक्त करना चाहिए।

## नाटकका परिमाण

वर्त्तमान नाटककारके सम्मुख एक यह भी बड़ा प्रश्न है कि नाटक कितना बड़ा हो। वह युग गया, जब लोग रात-रात-भर बैठकर आनन्दसे नाटक देख सकते थे। आजकल जीवन अधिक व्यस्त हो गया है, मानवीय सम्बन्ध इतने अधिक और इतने प्रकारके हो गए हैं कि मनुष्य मनोरञ्जनके लिये उतना समय नहीं दे सकता। चलचित्र और बोलपटके आ जानेसे इतने सस्तेमें और थोड़े समयमें लोगोंका मनोरञ्जन हो जाता है कि अधिक व्यय-साध्य और अधिक समय-साध्य मनोरञ्जनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। घर-घरमें नभस्वन (रेडियो) लग जानेसे घरपर ही लोगोंका मनोरञ्जन होने लगा है क्योंकि उससे केवल व्याख्यान या समाचार ही नहीं मिलते प्रत्युत गीत, नृत्य, काव्य, सम्वाद और श्रव्य नाटकोंका भी रस मिलता है। अतः हमारे लिये उचित है कि नाटकको भी सरल और अल्प-समय-साध्य बनाया जाय। इसके तीन उपाय हैं—

१. नाटक अधिकसे अधिक चार घण्टेमें समाप्त कर दिया जाय। ठीक अवधि तो यह है कि नाटक ढाई घण्टेमें समाप्त हो जाय।

२. नाटकमें पात्र कम हों, जिससे उनकी वेश-भूषा, नेपथ्य-कर्म तथा शिक्षामें कम सामग्री और समय लगे।

३. नाटकमें बहुत कम दृश्य हों, जिससे कि दृश्य-विधानमें बहुत द्रव्य न लगे। ये तीन बातें होंगी तो नाटक खेलनेवालोंको सुविधा होगी, पात्र छाँटना सरल होगा, थोड़े पात्रोंको अधिक मनोयोगसे शिक्षा दी जा सकेगी, बहुधन्धी लोग भी थोड़े समयवाले नाटकको अधिक संख्यामें देख सकेंगे और उसकी व्यवस्था करनेमें भी कठिनाई नहीं होगी। विशेष बात तो यह है कि चल-चित्रके समान एक दिनमें दो-दो तीन-तीन खेल भी दिखाए जा सकेंगे।

इन सब सिद्धान्तोंकी विवेचना करनेके पश्चात् हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि नाटकमें अभिनेयता होनी ही चाहिए अर्थात् वह खेलनेके योग्य हो, केवल पढ़ने की वस्तु नहीं। उसमें एक ही प्रधान कथा या इतिवृत्त होना चाहिए। उसका अन्त सुखमय होना चाहिए, उसमें ऐसे दृश्य नहीं होने चाहिएँ जो अश्लील या विनाशात्मक हों, उसमें सम्वाद गद्यात्मक हों, गीत केवल उपयुक्त स्थलपर नियोजित हों, उसे दिखाना रङ्ग-व्यवस्थापककी शक्तिके बाहर न हो, उसमें पात्रों और दृश्योंकी संख्या कम हो, संवाद केवल सर्वश्राव्य हों, वह थोड़े समयमें दिखाया जा सके, उसमें आदिसे अन्ततक कूतूहल व्याप्त हो और उसकी निवृत्ति सुखान्त ही हो।

### नाट्यकार

भरतने अपने नाट्यशास्त्रके भूमिका - पात्र - विकल्प नामक पैंतीसवें अध्यायमें नाट्यकारकी परिभाषा बताई है कि 'जो व्यक्ति पात्रोंमें सात्त्विक भाव प्रतिष्ठित करता है वह नाट्यकार कहलाता है' अर्थात् सुख और दुःखके सात्त्विक भावोंको जो पात्रोंमें ढालता है या आरोप करता है वही नाट्यकार कहलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकारको मनुष्यके सब भावोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए। उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकारका कौन-सा व्यक्ति किस साधारण या असाधारण परिस्थितिमें किस प्रकार बातचीत या व्यवहार करेगा, करता है, कर सकता है या उसको करना चाहिए। इस दृष्टिसे प्रत्येक नाटककारको भूत और वर्त्तमान समाजोंका अर्थात् पुराण, इतिहास, वर्त्तमान कालके सामाजिक आचार, सब शास्त्र, शिल्प और विद्याओंका पूर्ण पण्डित होना चाहिए।

किन्तु नाट्यकारको भूमि-विकल्प अर्थात् नाटकीय पात्रोंमें सात्त्विक

भावोंका आरोप भी करना पड़ता है। अतः नाट्यकारको रङ्गपीठके सब आचार, विधान और लोक-रुचिका भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। रङ्गपीठके आचार और विधानके अन्तर्गत दृश्य - विधान, अभिनय और सङ्गीत आदि सभी व्यापार आ जाते हैं। जबतक नाटककारको इन सब बातोंका ज्ञान नहीं होगा तबतक वह सात्विक भावोंका आरोपण अपने पात्रोंमें कैसे कर सकता है।

## चार प्रकारके नाटककार : आदर्शवादी

नाटककार सिद्धान्ततः चार प्रकारके होते हैं—

१. आदर्शवादी, २. सम्भावनावादी, ३. वस्तुवादी और ४. भाग्यवादी।

आदर्शवादी नाटककार वे हैं, जो अपने प्रधान पात्रमें केवल गुण ढूँढ़ते हैं। ये भी चार प्रकारके होते हैं—१. जो अपने देशकी प्राचीन संस्कृतिके अनुरूप आदर्श नायक और आदर्श परिणाम ढूँढ़ते हैं, २. जो समय और युगधर्मके अनुसार आदर्श पात्रोंकी सृष्टि करते हैं, ३. जो आदर्शवादमें केवल उपयोगिता ढूँढ़ते हैं अर्थात् जो किसी एक व्यक्तिके सामूहिक पूर्ण चरित्रकी उपेक्षा करके केवल उन गुणोंतक अपना सम्बन्ध रखना चाहते हैं जो अपने समाजके लिये उपयोगी हों। ४. जो ऐसे जो लोक-सुख या प्राणि-मात्रके कल्याणकी भावना रखनेवाले आदर्श पात्रोंकी कल्पना करते हैं। इनमेंसे चौथे प्रकारके आदर्शवादी अत्यादर्शवादी होते हैं, जिनके लिये विश्व-साहित्यमें नायक ढूँढना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

## सम्भावनावादी नाटककार

सम्भावनावादी नाटककारोंका सिद्धान्त है कि 'संसारमें कोई वस्तु असम्भव नहीं है।' उनका मत है कि 'साधारणतः सामाजिक नियम, राजदण्ड, लोकशील, शारीरिक निर्बलता तथा अक्षमता आदिके कारण मनुष्य बहुतसे इच्छित कार्य नहीं कर पाता। किन्तु उसे छूट मिले तो वह सब कुछ कर सकता है।' उनका कहना है कि 'नाटकीयता उत्पन्न करनेके लिये सम्भावना ही एक-मात्र सिद्ध मार्ग है।' फाँसीपर लटकाए जानेवाले व्यक्तिको अकस्मात् कोई व्यक्ति आकर छुड़ा ले जाता है, यह कार्य स्वभावतः साधारणतः नहीं होता। किन्तु सम्भावनाके कारण इसका समर्थन हो सकता है। ऐसी

ही परिस्थितियोंमें आकर नाटकीय वस्तुमें कुतूहल उत्पन्न हो जाता है और वह सरस हो जाती है। सम्भावनावादी लोग नाटकमें एक ही तत्त्व मानते हैं कि नाटकमें ऐसे अलौकिक दृश्य ही दिखलाने चाहिएँ, जो असाधारण होते हुए भी स्वाभाविक जान पड़ें। ये लोग परिस्थितिको प्रधान मानते हुए कहते हैं कि 'परिस्थिति ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए कि उससे पढ़नेवाला कोई भी व्यक्ति चाहे जिस प्रकारका भी हो, वह विवश होकर उसी मार्गका अवलम्बन करे जो नाटककारको अभीष्ट हो और जिसे देखकर प्रत्येक दर्शक भी यही कहे कि यदि मैं इस स्थानपर होता तो मैं भी यही करता।' ये लोग दैवयोगवादी भी हैं। दैवयोग या संयोगका अर्थ यही है कि जहाँ जिस बातकी तनिक भी आशङ्का न हो वहाँ वह बात हो जाय। बरसोंसे बिछुड़े हुए भाईका सहसा मिल जाना, भली प्रकार सुरक्षित दुर्गके प्रकोष्ठमें शत्रुसे सहसा साक्षात्कार हो जाना, गोलियोंकी बौछारके बीचसे अनाहत बचकर निकल जाना, ये सब दैवयोगके उदाहरण हैं। सम्भावनावादी नाटककार ऐसे ही उदाहरण एकत्र करते हैं।

### वस्तुवादी नाटककार

वस्तुवादी नाटककार सब प्रत्यक्षवादी हैं। इनका विश्वास है कि 'संसारमें सुख नामकी कोई वस्तु नहीं है। संसारमें चारों ओर पाप और दुःख छाया हुआ है। लोग उसमें इतने सध गए हैं कि वे इस दुःखको दुःख और पापको पाप नहीं समझते। अतः यदि वे दुःखको दुःखके रूपमें और पापको पापके रूपमें देखेंगे तो उन्हें दुःख और पापकी अनुभूति होगी और वे उससे विरक्त होनेकी चेष्टा करेंगे।' ये वस्तुवादी नाटककार पापका प्रदर्शन करके पापसे उद्धारकी कल्पना करते हैं। ये वस्तुवादी नाटककार भाग्यमें कम विश्वास करते हैं, पौरुषमें अधिक। ये कर्मफलको मानते ही नहीं। इनका विश्वास है कि मनुष्य-जातिके कुछ वर्गोंने छल तथा अन्यायके साथ अपने वर्गके लिये कुछ विशेष सुविधाएँ सुरक्षित कर ली हैं और दूसरे लोगोंको दुःख भोगनेके लिये छोड़ दिया है। यदि समाजका विधान बदल दिया जाय तो कमसे कम वे सब दुःख दूर हो सकते हैं, जिन्हें लोग ईश्वर-प्रदत्त या भाग्य-प्रदत्त समझते हैं। वस्तुवादी नाटककार केवल उन्हीं तथ्यों और वस्तुओंको ग्रहण करनेके पक्षमें है जिसका समर्थन तर्क और बुद्धिके द्वारा हो सके।

## भाग्यवादी नाट्यकार

भाग्यवादी नाटककार वे हैं, जो समझते हैं कि मनुष्य तथा संसारके प्राणी सब परवश हैं। कोई अलौकिक सत्ता विशेष अवधितकके लिये सबको संसारमें भेजती है। प्रयोजन तथा अवधि बीत जानेपर उसका संहरण हो जाता है और इसी क्रमसे सारी सृष्टि चलती है। ये लोग कर्मफलमें विश्वास करते हैं। इनमें दो मत हैं—१. जो इस जन्मके जीवनको पिछले जन्म और कर्मके संस्कारका फल मानते हैं। २. जो मानते हैं कि 'हमारे जीवनमें जितनी क्रियाएँ होती हैं उतनी ही प्रतिक्रियाएँ भी होती चलती हैं। यह सब क्रिया और प्रतिक्रिया दैवाधीन होती है।' ३. जो भाग्य और पौरुष दोनोंका समन्वय करता है, किन्तु मूलतः वह भी भाग्यको पुरुषार्थसे अधिक प्रबल मानता है। इन सब प्रकारके नाटककारोंमें श्रेष्ठ नाटककार वे हैं, जो किसी वादका पल्ला थामकर नहीं चलते, जिनके सम्मुख लोकविनोद, लोक-विश्रान्ति और लोकोपदेश-मात्र उद्देश्य होता है।

## गम्भीर और अगम्भीर

स्वभावके अनुसार नाटककार दो प्रकारके होते हैं—१. गम्भीर २. अगम्भीर। गम्भीर नाटककार समाजके गम्भीर महापुरुषों, गम्भीर घटनाओं और गम्भीर इतिवृत्तोंसे अपने नाटककी सामग्री प्राप्त करते हैं। जो नाटककार अगम्भीर स्वभावके होते हैं, जिनमें व्युत्पत्ति अर्थात् बहुविषयक ज्ञानकी कमी होती है, जिनका अध्ययन परिमित होता है, जिनकी सङ्गति निम्न कोटिके मनुष्योंसे अधिक होती है, वे मनुष्यकी दुर्बलताओंकी खिल्ली उड़ाते हैं और अपने नाटकोंमें मनुष्यकी दुर्बलताओं और निम्नताओंका ही प्रदर्शन करते हैं। ऐसे ही लोग प्रहसन, व्यङ्ग्य नाटक और निन्दात्मक एकाङ्कीकी सृष्टि करते हैं। अरस्तूने काव्यके दो भेद गम्भीर और हास्यजनक बताते हुए कहा है—

'लेखकोंके व्यक्तिगत स्वभावके अनुसार काव्य दो दिशाओंकी ओरको चल पड़ा। गम्भीर प्रकृतिवाले लेखकोंने श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्योंके आचरणका अनुकरण काव्यके रूपमें उपस्थित किया तथा अधिक सामान्य श्रेणीके लेखकोंने निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका अनुकरण काव्यके रूपमें प्रस्तुत किया। इन रचयिताओंने तो व्यङ्ग्य काव्य रचे और गम्भीर

लेखकोंने देवताओंकी स्तुतियाँ बनाईं तथा प्रसिद्ध पुरुषोंकी प्रशंसामें काव्य रचे।'

किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि सभी प्रहसनकार छिछले होते हैं। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि जिन नाटककारोंने उदात्त चरित्रोंवाले नाटकोंकी रचना की है उन्होंने ही प्रहसनोंकी भी रचना की है। अतः वास्तविक नाटककार वही है, जिसने मानव-जीवनके सभी पक्षों और अङ्गोंका भली प्रकार अनुभव प्राप्त कर लिया हो क्योंकि तभी वह अपने नाटकोंमें उपयुक्त स्थलोंपर उनका उचित समावेश कर सकता है।

इसी अन्तर्दृष्टिकी कमीके कारण बहुतसे नाटककारोंकी रचनाएँ केवल पाठ्य-मात्र रह गई हैं, अभिनेय नहीं हो सकीं। चौथी शताब्दि ई० पू० में ख़ैरेमौन नामका एक यूनानी नाटककार था जिसे लोगोंने पाठ्य-त्रासदकार ( रीडिङ्ग ट्रेजीडियन ) का दुर्नाम दे दिया था। उसने ऐसे नाटक लिखे थे जिनमें अभिनयका अंश कम था, साहित्य और काव्यत्वका अधिक। इस प्रकारके नाटककार अपने नाटकोंमें अभिनय-व्यापारयुक्त संवादके स्थानपर भावपूर्ण, रहस्यमय, लाक्षणिक भाषामें दार्शनिक संवाद रखते हैं। अतः नाटककारको अपने नाटककी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि उसका अभिनय किया जा सके और उसका भाव जनतातक पहुँचाया जा सके।

## नाटककी भाषा

भाषा-शैलीके सम्बन्धमें हम पीछे विवेचन कर आए हैं। व्यापक रूपसे नाटककी भाषाके सम्बन्धमें चार नियम बनाए गए हैं—

१. सभ्य शिष्ट पात्र साहित्यिक भाषामें बातचीत करें, अन्तर इतना ही हो कि निम्न कोटिके लोगोंसे बातचीत करते समय भाषा सरल हो जाय।

२. निम्न कोटिके पात्र सरल साहित्य-व्यवहृत भाषासे मिलती-जुलती ऐसी भाषाका व्यवहार करें जो व्यापक रूपसे उस देशके सभी प्रान्तोंके लिये सुबोध हो।

३ विदेशी पात्र उस भाषाको इस प्रकार विकृत करके बोलें कि दर्शकोंकी समझमें भी आ सके और जिससे उसके देशके उच्चारणकी विशेषता भी प्रतीत हो जाय, जैसे 'तुम क्या कहते हो?' वाक्यको अँगरेज़ कहेगा 'टुम क्या बोलता है?' इसका अर्थ समझनेमें भी कठिनाई न होगी और अँगरेज़ी उच्चारणकी विशेषता भी स्पष्ट हो जायगी।

४. सब पात्रोंकी विद्या, उनके पद और जिससे बात करते हों उसकी योग्यताके अनुकूल उनकी भाषा होनी चाहिए। दो विद्वान् परस्पर बातचीत करते हों तो उनकी भाषा अधिक प्रौढ़, अलङ्कारयुक्त और भावपूर्ण हो। यदि उन्हींमेंसे एक विद्वान् अपने सेवकको पुकारकर कुछ आदेश देना चाहता हो तो उसे तत्काल अपनी भाषा उस सेवकके भाषा-ज्ञानके स्तरतक उतार देनी चाहिए।

आजकल योरोपके नाटककार अपने नाटकोंमें अधिकतः साधारण लोक-भाषाका प्रयोग करके उसे अत्यन्त दुरूह और दुर्बोध बना देते हैं। यह भी अवाञ्छनीय है। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो पात्रकी स्वाभाविक वाणी बनी हुई भी लोगोंकी समझमें सरलतासे आ सके।

## नाटकके तत्त्व

नाटकको 'दृश्य' या 'रूपक' बताते हुए साहित्यदर्पणमें कहा गया है—दृश्यं तत्राभिनेयं स्यादूपारोपात्तु रूपकम्॥ [ नाटकका अभिनय करके दिखलाया जाता है, इसलिये इसे दृश्य कहते हैं और इसके अनुसार ( नटोंमें रामादि-चरित्रोंका ) आरोप होता है, इसलिये इसे रूपक कहते हैं। ] अतः रचनाकी दृष्टिसे नाटकके तीन तत्त्व होते हैं, जिनके बिना नाटक रचा नहीं जा सकता—

१. कथा : जिसके अन्तर्गत एक नायकके जीवनके किसी एक इतिवृत्तके सम्बन्धकी घटनाओंका वर्णन हो अर्थात् नायक, नायिका, पात्र, स्थान तथा व्यापारके पूर्ण संयोजन को कथा कहते हैं।

२. संवाद, जिसके अन्तर्गत कथामें आए हुए विभिन्न पात्रोंका परस्पर वार्त्तालाप हो और यह वार्त्तालाप पात्रोंके चरित्र और कथाके प्रसारमें योग देता हो।

३. रङ्ग-निर्देश, जिसके अन्तर्गत रङ्ग-व्यवस्थापकों तथा अभिनेताओंके लिये दिए हुए निर्देश हों।

बहुतसे विद्वानोंने कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देश-काल और उद्देश्य ये छः तत्त्व माने हैं। कुछने इनमें पात्रके स्थानपर चरित्र-चित्रण और देश-काल निकालकर कुतूहल, घात-प्रतिघात अर्थात् द्वन्द्व और अभिनयशीलता ये तीन तत्त्व और बढ़ा दिए हैं। किन्तु ये सब तत्त्व नहीं

हैं। किसी वस्तुके तत्त्व कहनेका यह अभिप्राय है कि यदि उनमेंसे एक तत्त्व भी निकल जाय तो वह वस्तु निरर्थक हो जाय। तत्त्वोंके अस्तित्वसे ही किसी वस्तुके अस्तित्वका बोध होता है। यदि हम किसी रूपकको देखें तो रचनाकी दृष्टिसे उसमें तीन ही तत्त्व मिलेंगे—

१. कथा : जिसमें किसी एक विशेष घटना-क्रममें कुछ व्यक्तियोंके चरित्र और चेष्टाएँ दिखलाई गई हों। घटना और पात्र तो उस कथाके आधारभूत अङ्ग होते हैं। वास्तविक तत्त्व कथा ही है। २. संवाद और ३. रङ्ग-निर्देश। नाटकमें दो ही प्रकारसे कथाका विकास किया जाता है—१. संवादसे, २. क्रियाओंसे, जो रङ्ग-निर्देशके द्वारा ही बताई जा सकती हैं। नाटककार यदि निर्देश न करे तो यही पता न चले कि किसको कब आना या जाना है, क्या करना है, क्या भाव प्रदर्शित करना है, क्या चेष्टाएँ करनी हैं, एक दूसरेके प्रति क्या व्यवहार करना है। ये रङ्ग-निर्देश भी उतने ही महत्त्वके हैं जितने संवाद। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि रङ्ग-निर्देशके विषयमें सभी देशोंके नाट्याचार्य अत्यन्त मौन रहे हैं।

कथा-तत्त्वके दो अवयव होते हैं—वस्तु और पात्र। घटनाओंके गुम्फनको वस्तु कहते हैं और पात्र वे हैं जो उन घटना और क्रियाओंमें साधक होते हैं, अर्थात् कथाके दो कारण होते हैं—घटना और पात्र। कथा कार्य है, घटना और पात्र कारण हैं। इसलिये कथा ही मूल तत्त्व है। देश-काल कोई तत्त्व ही नहीं है। यह तो कथा-वस्तु और पात्र दोनोंमें निहित है। कोई भी घटना या पात्र किसी विशेष देश या कालसे ही सम्बद्ध होंगे, कथा स्वयं उनका विवरण देगी। देश और काल वस्तुके ही अङ्ग हैं, वे कोई अलग तत्त्व नहीं। शैली भी कोई तत्त्व नहीं है, वह तो संवादका साधन है। शैली और संवादको अलग तत्त्व मानना ही बड़ा भारी भ्रम है, और उद्देश्य तो साध्य है, वह तत्त्व कैसे हो सकता है?

### रचना-कौशल

कब, किस प्रकारके, कौन-कौनसे पात्र किस ढङ्गसे, किन घटनाओंके साथ नाटकमें उपस्थित किए जायँ कि दर्शक तन्मय होकर नाटकका रस ले सकें। यही नाट्याचार या रचना-कौशल कहलाता है। वस्तु-रचना करते समय नाटककारको यह देखना पड़ता है कि कथाकी घटनाओंको कितने भागों या अङ्कोंमें बाँटा जाय, कितनी बातें सूच्य हों, कितनी

श्राव्य हों और कितनी दृश्य अर्थात् आङ्गिक चेष्टाओंके द्वारा दिखलाई जायँ। इसका अर्थ यह हुआ कि श्राव्य और सूच्य जितनी बातें हैं वे सब सम्वादके द्वारा ही दिखलाई जा सकती हैं और जितना दृश्य अंश है अर्थात् जो कुछ आङ्गिक, सात्त्विक, आहार्य तथा दृश्य अभिनयके द्वारा दिखलाना है, उसके लिये रङ्ग-निर्देश करना होगा। नाटककार केवल इन तीन तत्त्वोंके सहारे अर्थात् कथा, संवाद और रङ्ग-निर्देशका आश्रय लेकर ही रूपक-काव्यकी रचना करता है।

अरस्तूने अपने 'काव्य-शास्त्रमें त्रासदकी परिभाषाके साथ उसके तत्त्वोंका विवेचन करते हुए कहा है—'प्रत्येक त्रासदके छः तत्त्व होने चाहिएँ—१. इतिवृत्त, २. आचार, ३. विचार, ४. वर्णन-शैली, ५. दृश्य और ६. गीत। इनमेंसे प्रथम दो अङ्ग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका ढङ्ग है और शेष तीन अनुकरणके आधार हैं। अतः इतिवृत्त ही त्रासदका सर्वप्रथम अङ्ग है अर्थात् उसका आत्मा है। दूसरा स्थान आचारका है। 'आचार वह है जो वक्ताका नैतिक उद्देश्य प्रकट करे अर्थात् यह दिखलावे कि किस प्रकारकी बातें मनुष्य अच्छी समझता या परित्याग करता है। अतः जिन वाक्योंसे यह नहीं प्रकट होता कि वक्ता किसे अच्छा समझता और किसका परित्याग करता है वे वाक्य आचार-व्यञ्जक नहीं होते। तीसरा स्थान विचारका है, अर्थात् उपस्थित परिस्थितियोंमें क्या सम्भव और सङ्गत है यह कहनेकी योग्यता। दूसरी बात यह है कि विचार वहाँ पाया जाता है जहाँ किसी बातका होना या न होना प्रमाणित किया जाता हो अथवा कोई सार्वभौम सत्य या सिद्धान्त निर्धारित किया जाता हो।

ऊपर गिनाए हुए तत्त्वोंमें चौथा स्थान वर्णन-शैली या शब्दों-द्वारा भावोंकी वह अभिव्यक्ति है। उसका प्रयोग पद्य और गद्य दोनोंके लिये एक-सा ही है। वर्णनशैली या सम्वादोंका सम्बन्ध तो भाषण-कलासे है क्योंकि प्राचीन कवियोंने अपने पात्रोंके मुखसे राजनीतिक और नागरिक जीवनकी भाषा कहलाई है किन्तु हमारे समयके कवि आलङ्कारिक भाषाका ही प्रयोग करते हैं।

शेष दो तत्त्वोंमेंसे गीतको ही त्रासदकी सौन्दर्य-वर्द्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वास्तवमें दृश्यमें स्वतः ही एक भावात्मक आकर्षण होता है, किन्तु त्रासदके सब अङ्गोंमें यह सबसे कम कलात्मक है जो काव्य-कलासे सबसे कम

सम्बन्ध रखता है क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अभिनय और नटोंके बिना भी त्रासदके प्रभावका अनुभव हो सकता है। इसके अतिरिक्त दृश्यात्मक प्रभावका उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रङ्ग-सञ्चालकपर अधिक अवलम्बित है।'

अरस्तूके बताए हुए तत्त्वोंमें इतिवृत्त तो वही है जिसे हमने कथा-तत्त्व कहा है। विचार और आचारका सम्बन्ध पात्रोंके चरित्र और व्यापारसे है। अतः वह भी कथाका ही अंश है। वर्णन-शैली संवादके अन्तर्गत आ ही जाती है। दृश्यके विषयमें स्वयं अरस्तूने कहा है कि 'दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रङ्ग-सञ्चालकपर अधिक अवलम्बित है', फिर भी अरस्तूने उसे नाटकका तत्त्व मान लिया यह आश्चर्यकी ही बात है। रही गीतकी बात, वह यूनानी रङ्गशालाकी अपनी विशेषता थी। इसीलिये अरस्तूने उसे 'त्रासदकी सब सौन्दर्यवर्द्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च' स्थान दिया है क्योंकि यूनानी त्रासदोंका आधार ही गीत था। किन्तु वह परम्परा यूनान और रोमके नाटकोंके साथ समाप्त हो गई। अरस्तूके बताए हुए तत्त्वोंका विवेचन करनेपर तीन ही प्रधान तत्त्व रह जाते हैं—१. कथा (इतिवृत्त, आचार और विचार), २. संवाद (वर्णन-शैली और गीत), और ३. रङ्ग-निर्देश (अभिनय और दृश्य विधान)।

बहुतसे आचार्योंने दशरूपकके—'वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः' [ वस्तु, नेता अर्थात् नायक और रसके कारण उनके (रूपकों, उपरूपकोंके) भेद किए गए हैं। ] के आधारपर वस्तु, नेता और रसको भूलसे नाटकका तत्त्व मान लिया है। वास्तवमें रूपकों और उपरूपकोंके भेद इसी आधारपर हैं कि उनमें या तो किसी प्रकारकी विशेष वस्तु है या कोई विशेष प्रकारका नायक है या किसी विशेष प्रकारका रस है, जैसे 'प्रकरण'का नायक धीर-शान्त होता है, 'नाटक'की कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और 'अङ्कमें' करुण रसकी प्रधानता होती है। अतः वस्तु, नेता और रसको रूपकका तत्त्व माननेकी भूल नहीं करनी चाहिए। तब रूपक-रचनाके तीन ही मुख्य तत्त्व रह जाते हैं—
१. कथा, जिसके अन्तर्गत घटना, घटना-स्थल और पात्रोंका समावेश होता है।
२. संवाद, जिसके अन्तर्गत नाटकका सब श्राव्य अंश आ जाता है और
३. रङ्ग-निर्देश, जिसके भीतर वे सब आदेश और निर्देश आ जाते हैं जो अभिनेताओंके आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयके लिये तथा रङ्ग-

व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, नेपथ्य-विधायक तथा सङ्गीत-व्यवस्थापककी क्रियाओंके लिये आवश्यक होते हैं। अतः हम इन्हीं दृष्टियोंसे नाटक या रूपक-काव्यकी रचनाका विवेचन करेंगे।

## संविधानक

### इतिवृत्त और संविधानकमें भेद

कथा ( इतिवृत्त ) तथा कथावस्तु ( संविधानक ) को एक नहीं समझना चाहिए। इतिवृत्त या कथा किसी नाटकके लिये आधार-मात्र है, उसमें जितने पात्र होते हैं या जिस क्रमसे घटनाएँ होती हैं, उतने पात्र या उतनी घटनाएँ नाटकके लिये या तो पर्याप्त नहीं होतीं या आवश्यकतासे अधिक होती हैं। इतिवृत्त या कथा उस घटनाक्रमको कहते हैं जिसमें किसी नायकके जीवनका पूर्ण चरित आ जाय। किन्तु अङ्कों और दृश्योंके अनुसार घटनाओंकी ऐसी सजावटको संविधानक या कथावस्तु कहते हैं, जिसमें नाटकीय प्रदर्शनकी दृष्टिसे घटनाओंका वह क्रमिक ढाँचा आ जाय।

कथामें तो व्यक्ति, स्थान, घटना और परिणाम, चार बातें रहती हैं किन्तु संविधानकमें इन सबके रहते हुए भी पात्र अधिक या कम हो सकते हैं, स्थानमें परिवर्त्तन हो सकता है, घटनाएँ अधिक, कम या परिवर्त्तित हो सकती हैं और परिणाम भी बदला जा सकता है। कथामें यदि नायक क्षीण और कायर हो तो नाटककार इस कौशलसे कथावस्तुकी रचना कर सकता है कि नायककी क्षीणतापर श्रद्धा हो, उसकी कायरता आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो। अरस्तूने इस क्रिया या व्यापारको त्रासदका प्रथम सिद्धान्त और आत्मा माना है। इसका यह अर्थ हुआ कि संविधानक (कथा-वस्तु) की रचना ही नाट्य-रचनाका मुख्य कौशल है। यह रचना-कौशल कई बातोंपर अवलम्बित है—१. नायक या नायिकाके प्रति विशेष भावना, २. कथाका विषय, ३. प्रदर्शन करनेका ढङ्ग, ४. रङ्गपीठ, ५. अवसर, ६. नाटकका विस्तार, ७. जनताकी रुचि और ८. नाटककारके अपने सिद्धान्त। ये सब बातें मिलकर नाटककी कथा-वस्तुका साँचा बनानेमें योग देती हैं। आजकल वैज्ञानिक साधनोंने हमारे रङ्गपीठोंको अत्यन्त सम्पन्न कर दिया है इसलिये नाटककारको और भी अनेक प्रकारसे संविधानक रचनेकी सुविधाएँ मिल गई हैं।

### तीन एकत्व ( थ्री यूनिटीज़ )

अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें घोषणा की है कि 'त्रासदमें नाट्य-व्यापारका एकत्वसे अर्थात् नाटकमें एक ही कार्य हो।' उसने कहा है कि 'नाटककी कथामें किसी एक ही कार्यका और उस कार्यके भी पूरे अंशका अनुकरण होना चाहिए। उस कार्यके सब अंग इस प्रकारसे व्यवस्थित होने चाहिएँ कि यदि उनमेंसे एक भी इधर-उधर कर दिया जाय या निकाल लिया जाय तो वह पूराका पूरा भिन्न और परिवर्त्तित हो जाय।' नाटकमें एक ही समयका वर्णन हो इस सम्बन्धमें उसने इतना ही कहा है—'त्रासद सूर्यकी एक परिक्रमामें ही अपनेको परिमित करनेका प्रयत्न करता है या थोड़ा-सा अधिक भी हो सकता है।' नाटकमें एक ही स्थानका कार्य दिखाया जाय, इस सम्बन्धमें उसने इतना ही सङ्केत किया है कि 'महाकाव्यकी तुलनामें त्रासदकी कथाएँ अत्यन्त छोटी होती हैं और अत्यन्त थोड़ी परिधिमें घिरी होती हैं।' पुनर्जागरणकालमें १५७० में कास्तोलवेत्रोने तीनों एकत्वोंको क्रमशः सजाकर उनकी परिभाषा बना दी और यह माना जाने लगा कि अरस्तूने केवल तीन एकत्वोंका वर्णन ही नहीं किया है वरन् आग्रहपूर्वक सब लेखकोंको उन्हें नियमित रूपसे माननेके लिये बाध्य भी किया है। उदात्तवादी सम्प्रदायने तो यह घोषणा ही कर दी थी कि 'अरस्तू यह चाहता था कि किसी नाटकका नाट्य-व्यापार एक अखण्ड पूर्ण होना चाहिए। उसमें चौबीस घण्टेका ही कार्य-व्यापार होना चाहिए, ( यद्यपि कुछ लोग छत्तीस घण्टेका मानते हैं ) और दृश्य भी एक ही अपरिवर्त्तित रहना चाहिए अथवा कमसे कम एक नगरकी परिधिमें ही होना चाहिए।' स्पेनमें लोप दे वेगा ( १६०९ ) ने घोषणा की थी कि 'जब मुझे कोई नाटक लिखना होता है तो मैं इन नाटकीय एकत्वोंके नियमको छः तालियोंमें बन्द कर देता हूँ और जनतासे प्रशंसा चाहनेवाले लोगोंकी कलाके अनुसार लिखता हूँ उसके थोड़े ही वर्षों पीछे मोलिएने फ्रांसमें यह प्रश्न खड़ा करके उत्तर दे दिया था कि 'क्या सब नियमोंसे बड़ा नियम यह नहीं है कि प्रसन्न किया जाय ?' उसने अपने एक पात्रके मुँहसे कहलवाया है—'जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, जब कोई नाटक देखनेपर उसकी बात मुझे प्रभावित करती है और मेरा पूर्ण मन-बहलाव हो जाता है तब मैं यह नहीं पूछता हूँ कि, मुझसे भूल तो नहीं हो गई और अरस्तूके नियम मुझे हँसनेसे रोकते तो

नहीं हैं।' वास्तवमें ये तीन एकत्वके नियम अरस्तूके उद्दिष्ट थे भी नहीं और न इन तीनोंमें बाँधकर नाटकका संविधानक रचा जा सकता है।

### कथावस्तु : आधिकारिक और प्रासङ्गिक

हमारे यहाँ वस्तु दो प्रकारकी मानी गई है—१. आधिकारिक और २. प्रासङ्गिक। कथा-वस्तुके मुख्य व्यापार ( कार्य ) को आधिकारिक और गौण व्यापारको प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तुका उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तुकी सौन्दर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापारके विकासमें सहायता देना है। रूपकका फल प्राप्त करनेकी योग्यता ही अधिकार है और उस फलका स्वामी ( प्राप्त करनेवाला ) ही अधिकारी कहलाता है। उसी अधिकारीकी कथाको 'आधिकारिक वस्तु' कहते हैं। इस आधिकारिक वस्तुके साधक वर्णनोंको प्रासङ्गिक वस्तु कहते हैं, जैसे रामायणमें रामचन्द्रका चरित्र आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीवका चरित्र प्रासङ्गिक वस्तु। प्रासङ्गिक वस्तुसे किसी दूसरेकी भी अर्थ-सिद्धि होती है और प्रसङ्गके मूल-नायकका स्वार्थ भी सिद्ध होता है।

प्रासङ्गिक कथा-वस्तुके दो भेद हैं—१. पताका और २. प्रकरी। जब कथावस्तु सानुबन्ध होती है अर्थात् बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं, जब वह थोड़े कालतक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं। प्रासङ्गिक वस्तुमें चमत्कार-पूर्ण धारावाहिकता लानेके लिये 'पताका-स्थानक' का प्रयोग किया जाता है।

### पताका-स्थानक

जहाँ प्रयोग करनेवाला पात्र कुछ और ही कार्य करना चाहता हो, परन्तु समान विवरणवाले अथवा समान गुणवाले किसी नये पदार्थ या भावके कारण कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव कुछ हो किन्तु सहसा कोई नया भाव प्रकट होकर कुछ और ही कार्य करा डाले, वहाँ 'पताका-स्थानक' होता है। संक्षेपमें इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परन्तु अकस्मात् कोई कारण आ पड़नेसे कुछ और ही करना पड़े, वहाँ अथवा उस कार्यको पताका-स्थानक कहते हैं। साहित्य-दर्पणकारके अनुसार यह चार प्रकारका होता है—

१. जहाँ किसी प्रेमयुक्त व्यवहारसे सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय।

२. जहाँ अनेक चतुर वचनोंसे गुम्फित और अतिशय श्लिष्ट, दुहरे अर्थवाले वाक्य हों।

३. जहाँ किसी दूसरे अर्थको सूचित करनेवाला, अप्रत्यक्ष अर्थवाला तथा विशेष निश्चययुक्त ऐसा वचन कहा जाय, जिसका उत्तर भी श्लेषयुक्त हो।

४. जहाँ सुन्दर श्लेषयुक्त या दो अर्थवाले वचनोंका प्रयोग हो और जिसमें प्रधान फलकी सूचना होती हो।

ये चारों पताका-स्थानक किसी सन्धिमें मङ्गलार्थक और किसीमें अमङ्गलार्थक होते हैं, किन्तु होते सब सन्धियोंमें हैं।

आधिकारिक, पताका और प्रकरीकी नामके तीनों प्रकारके इतिवृत्तोंके तीन-तीन भेद होते हैं—१. प्रख्यात आधिकारिक, २. उत्पाद्य आधिकारिक, ३. मिश्र आधिकारिक : १. प्रख्यात पताका, २. उत्पाद्य पताका, ३. मिश्र पताका : १. प्रख्यात प्रकरी, २. उत्पाद्य प्रकरी, ३. मिश्र प्रकरी। ये इतिवृत्त भी या तो दिव्य अर्थात् देव-सम्बन्धी होते हैं या मर्त्यलोक-सम्बन्धी।

### अर्थ-प्रकृति

कथावस्तुको प्रधान फलकी प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंशोंको 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। मानव-जीवनका उद्देश्य अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति है। नाटकके अर्थमें प्रदर्शित इन उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये जो उपाय किए जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति हैं। इनके पाँच भेद माने गए हैं—१. बीज : मुख्य फलके लिये जो कथा-भाग क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापार-शृङ्खला आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। २. बिन्दु : जो बात कारण बनकर बीचकी कथाको आगे बढ़ाती है और प्रधान कथाको भी बनाए रखती है। ३. पताका : निरन्तर चलती हुई प्रासङ्गिक कथा। पताका नामक कथांशके नायकका अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। उसकी समस्त चेष्टाएँ प्रधान नायकके फलको सिद्ध करनेके लिये ही होती हैं। गर्भ या विमर्श-सन्धिमें उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीवकी राज्य-प्राप्ति। ४. प्रकरी : प्रसङ्गमें आए हुए एकदेशीय अर्थात् छोटे-छोटे वृत्त जैसे रामायणमें रावण और जटायुका संवाद। प्रकरी-नायकका भी कोई

स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं होता। ५. कार्य : जिस परिणामके लिये सब उपायोंका आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धिके लिये सब सामग्री इकट्ठी की गई हो जैसे रामायणमें रावणका वध।

## अवस्था

प्रत्येक नाटकमें कार्य या व्यापार-शृङ्खलाकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं— १.आरम्भ : जिसमें किसी फलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है, २. प्रयत्न : जिसमें उस फलकी प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग किया जाता है, ३. प्राप्त्याशा अथवा 'प्राप्ति-सम्भव' : जिसमें सफलताकी सम्भावना जान पड़ती है, किन्तु साथ ही विफलताकी आशङ्का भी बनी रहती है, ४. नियताप्ति : जिसमें सफलता निश्चय हो जाती है, ५. फलागम : जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्यकी सिद्धिके साथ ही अन्य समस्त सञ्चित फलोंकी प्राप्ति हो जाती है। साधारणतः सुव्यवस्थित कथा-वस्तुवाले नाटक वे ही समझे जाते हैं, जिनमें प्राप्त्याशा-अवस्था लगभग मध्यमें आती है। नाटकका पहला आधा अंश आरम्भ तथा प्रयत्नमें और पिछला आधा अंश नियताप्ति तथा फलागममें प्रयुक्त किया जाता है।

## सन्धियाँ

कथाकी उपर्यङ्कित पाँच अवस्थाओंके योगसे अर्थ-प्रकृतियोंके रूपमें फैले हुए कथानकके पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजनको साधनेवाली विभिन्न कथाओंका नाटकके किसी एक प्रयोजनके साथ सम्बन्ध होनेको 'सन्धि' कहते हैं। ये पाँच प्रकारकी होती हैं—

( क ) मुख-सन्धि : 'प्रारम्भ' नामक अवस्थाके साथ संयोग होनेसे जहाँ अनेक अर्थों और रसोंके व्यञ्जक 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति की उत्पत्ति हो उसे 'मुख-सन्धि' कहते हैं। मुख-सन्धिके नीचे लिखे बारह भेद माने गए हैं—

१. उपक्षेप : बीजका न्यास अर्थात् संक्षेपमें इतिवृत्तकी सूक्ष्म सूचना, २. परिकर : बीजकी वृद्धि अर्थात् सूक्ष्म इतिवृत्तका विषय-विस्तार, ३. परिन्यास : बीजकी निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषयको निश्चयके रूपमें प्रकट करना, ४. विलोभन या गुण-कथन, ५. युक्ति : प्रयोजनों या उद्देश्योंका सम्यक् निर्णय, ६. प्राप्ति : सुखकी प्राप्ति, ७. समाधान : बीजको ऐसे रूपमें पुनः प्रदर्शित करना, जिससे वह नायक

अथवा नायिकाको अभिमत प्रतीत हो, ८. विधान : सुख-दुःखके कारण प्रस्तुत होना, ९. परिभव या परिभावना : किसी आश्चर्यजनक दृश्यको देखकर कुतूहल-युक्त बातोंका कथन, १०. उद्भेद : बीजके रूपमें छिपी हुई बात खोलना, ११. करण : प्रस्तुत अर्थका आरम्भ, १२. भेद : प्रोत्साहन देना।

ये बारहों अङ्ग हमारे आचार्योंके सूक्ष्म भागोपभाग करनेकी रुचिके सूचक-मात्र हैं। सब अङ्गोंका किसी नाटकसे निर्वाह होना कठिन है इसलिये यह भी कह दिया गया है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, समाधान और उद्भेद इन छः अङ्गोंका होना तो आवश्यक है, शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है, नहीं तो इन्हींसे मुख-सन्धिका उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

( ख ) प्रतिमुख-सन्धि : मुख-सन्धिमें दिखलाए हुए बीजका जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीतिसे उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फलका साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख-सन्धि' कहते हैं। प्रतिमुख-सन्धि 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिन्दु' अर्थ-प्रकृतिके समान कार्य-शृङ्खलाको अग्रसर करती है। 'प्रयत्न' अवस्थामें फल-प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग होता है, 'बिन्दु' अर्थ-प्रकृतिमें कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढ़ती है तथा प्रतिमुख-सन्धिमें मुख-सन्धिके प्रधान फलका किञ्चिन्मात्र विकास होता है। इस सन्धिके तेरह अङ्ग माने गए हैं—१. विलास : आनन्द देनेवाले पदार्थकी कामना, २. परिसर्प : पहले विद्यमान किन्तु पीछे खोई या नष्ट वस्तुकी खोज, ३. विधूत : अरति अर्थात् सुखप्रद वस्तुओंका तिरस्कार, ४. शम : अरतिका लोप, साहित्य-दर्पणकारने इस अङ्गके स्थानपर 'तापन' अङ्गका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ 'उपायका अदर्शन' या 'अभाव' है, ५. नर्म : परिहास-वचन, ६. द्युति या नर्मद्युति : परिहाससे उत्पन्न आनन्द अथवा दोष छिपानेवाला परिहास, ७. प्रगमन : उत्तर-प्रत्युत्तरके उत्कृष्ट वचन, ८. निरोध : हितरोध अर्थात् हितकर वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट, ९. पर्युपासन : क्रुद्धका अनुनय, १०. पुष्प : विशेषतापूर्ण वचन अर्थात् विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन, ११. उपन्यास : युक्ति-पूर्ण वचन, १२. वज्र : सम्मुख निष्ठुर वचन, १३. वर्णसंहार : चारों वर्णोंका सम्मेलन। अभिनवगुप्ताचार्यका मत है कि 'वर्णसंहार' के 'वर्ण' शब्दसे नाटकके पात्र लक्षित होते हैं। अतः पात्रोंके सम्मेलनको 'वर्णसंहार' कहना चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न जातिके लोगोंका समागम', यही ठीक भी है।

( ग ) गर्भ-सन्धि : इसमें प्रतिमुख-सन्धिके किञ्चित् प्रकाशित बीजका बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस सन्धिमें प्राप्त्याशा, अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्थामें सफलताकी सम्भावनाके साथ विफलताकी आशङ्का भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृतिमें प्रधान फलका सिद्ध करनेवाला प्रासङ्गिक वृत्तान्त रहता है। यदि इस सन्धिमें पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। गर्भ-सन्धिके बारह अङ्ग माने गए हैं—१. अभूताहरण : कपट-वचन, २. मार्ग : सच्ची बात कहना, ३. रूप : वितर्क-युक्त वाक्य, ४. उदाहृति या उदाहरण : उत्कर्ष-युक्त वचन, ५. क्रम : जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसीके भावका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, ६. सङ्ग्रह : साम-दाम-युक्त उक्ति, ७. अनुमान : किसी चिह्न-विशेषसे किसी बातका अनुमान करना, ८. अधिबल : धोखा होना, ६. त्रोटक : क्रोधीका वचन। १०. उद्वेग : शत्रुका डर, ११. सम्भ्रम : शंका और त्रास, १२. आक्षेप : गर्भ-स्थित बीजका स्पष्ट होना।

साहित्यदर्पणमें गर्भ-सन्धिके तेरह अंग माने गए हैं। उसमें 'आक्षेप' अंग नहीं है। 'संभ्रम' के लिये 'विद्रव' शब्दका प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अङ्ग अधिक हैं। प्रार्थनाका अर्थ है 'रति, हर्ष और उत्सवोंके लिये अभ्यर्थना' तथा क्षिप्तिका अर्थ है 'रहस्यका भेद खुलना'। जो लोग निर्वहण-सन्धिमें प्रशस्ति नामक अङ्ग नहीं मानते, वे गर्भ-सन्धिमें तेरह अङ्ग मानते हैं।

( घ ) अवमर्श या विमर्श-सन्धि : गर्भ-सन्धिकी अपेक्षा बीजका अधिक विस्तार होनेपर उसके फलोन्मुख होनेमें जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभनके कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श-सन्धि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है। इसके तेरह अङ्ग माने गए हैं—१. अपवाद : दोषका फैलना, २. सम्फेट : दोष-भरे वचन ( खिसियानी बातें ), ३. विद्रव, ४. द्रव : गुरुजनोंका अपमान, ५. शक्ति : विरोधका शमन, ६. द्युति : तर्जन और उद्वेजन ( डाटना-फटकारना ), ७, प्रसङ्ग : गुरुजनोंका कीर्त्तन, ८. छलन : अपमानका अनुभव, ६. व्यवसाय : अपनी शक्तिका कथन, १०. विरोधन : कार्यमें विघ्नका ज्ञापन, ११. प्ररोचना : भावी अर्थ-सिद्धिकी सूचना अर्थात्

सफलताके लक्षण देखकर भविष्यका अनुमान, १२. विचलन : बढ़-बढ़कर बातें बनाना, १३. आदान : कार्यका सङ्ग्रह अर्थात् अपने अर्थका साधन ।

( ङ ) निर्वहण-सन्धि : इसमें प्रधान प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समाहार हो जाता है। पूर्व-कथित चारों सन्धियोंमें यथास्थान वर्णित अर्थ और मुख्य फलकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति आती है। रत्नावली नाटिकामें विमर्श-सन्धिके अन्तसे लेकर चौथे अङ्ककी समाप्तितक यह सन्धि होती है। इसके चौदह अङ्ग माने गए हैं— १. सन्धि : बीजका आगमन (उद्भावन) अर्थात् बीज डालना, २. विबोध : कार्यका अनुसन्धान या जाँच, ३. ग्रथन : कार्यका उपक्षेप, चर्चा या वार्त्ता, ४. निर्णय : अनुभव-कथन, ५. परिभाषण : एक दूसरेको कह सुनाना, ६. प्रसाद : पर्युपासना अर्थात् कुछ कह या करके प्रसन्न करना, ७. आनन्द : वाँछिताप्ति या अभिलषित अर्थकी प्राप्ति, ८. समय : दुःखका निर्णय या दूर होना, ९. कृति : लब्धार्थका निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थके द्वारा शोक आदिका शमन अथवा शोकादिसे उत्पन्न अस्थिरताका निवारण, १०. भाषण : प्रतिष्ठा, मान, यज्ञ आदिकी प्राप्ति अथवा साम-दाम आदि, ११. पूर्व भाव : कार्यका दर्शन, १२. उपगूहन : अद्भुत वस्तुकी प्राप्ति या अनुभव, १३. काव्यसंहार : वरदान-प्राप्ति, १४. प्रशस्ति : आशीर्वाद ।

सन्ध्यन्तर

कुछ शास्त्रकारोंका मत है कि 'सन्धियोंके अन्तर्गत उपसन्धियाँ, अन्तः-सन्धियाँ या सध्यन्तर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृङ्खलाकी शिथिलता दूर करके उसे अग्रसर करना और उसमें चमत्कार लाना होता है। ये अन्तःसन्धियाँ इक्कीस बतलाई गई हैं—१. साम : अपनी अनुवृत्तिको प्रकाशित करनेवाला प्रिय वाक्य, २. दान : अपने प्रतिनिधि-स्वरूप भूषणादिका समर्पण, ३. भेद : कपट-वचनों-द्वारा सुहृदोंमें भेद डालना, ४. दण्ड : अविनय सुन या देखकर डाटना, ५. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ६. वध : दुष्टका दमन, ७. गोत्रस्खलन : नामका व्यतिक्रम, ८. ओज : स्वशक्तिके सूचक-वचन, ९. धी : इष्टके सिद्ध न हो जानेतक चिन्ता, १०. क्रोध, ११. साहस, १३. माया, १४. संवृत्ति : अपने कथनको छिपाना, १५. भ्रान्ति, १६. दौत्य, १७. हेत्ववधारण : किसी हेतुसे कोई निश्चय,

१८. स्वप्न, १९. लेख, २०. मद, २१. चित्र। इनमेंसे स्वप्न, लेख और चित्र आदिका उपयोग प्रायः संस्कृत नाटकोंमें आता है।

### सन्ध्यङ्गों और सन्ध्यन्तरोंका उद्देश्य

इस प्रकार पाँच सन्धियोंके चौंसठ अङ्ग और इक्कीस सन्ध्यन्तर हुए। इनका प्रयोग छः निमित्तोंसे होता है—१. इष्टार्थ : जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करनेके लिये, २. गोप्य-गोपन : जिस बातको गुप्त रखना हो, उसे छिपानेके लिये, ३. प्रकाशन : जिस बातको प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करनेके लिये, ४. राग : भावोंका सञ्चार करनेके लिये, ५. आश्चर्य-प्रयोग : चमत्कार लानेके लिये और ६. वृत्तान्तका अनुपक्ष : कथाको ऐसा विस्तार देनेके लिये, जिससे उसमें लोगोंकी रुचि बनी रहे।

साहित्य-दर्पणकारका कहना है कि 'जैसे अङ्गहीन मनुष्य कोई काम करनेके लिये अयोग्य होता है, वैसे ही अङ्गहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं होता। सन्धिके अङ्गोंका सम्पादन नायक या प्रतिनायकको करना चाहिए। उनके अभावमें पताका-नायक इसे करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। सन्धिके अङ्ग प्रायः प्रधान पुरुषोंके द्वारा प्रयोग करनेके योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अङ्गों (मुख-सन्धि) में बीज-भूत अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उनका प्रयोग अप्रधान पुरुषोंके द्वारा हो सकता है। इन अङ्गोंका प्रयोग रसाभिव्यक्तिके निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्र-पद्धतिका अनुसरण करनेके लिये नहीं। जो वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होनेपर भी रसाभिव्यक्तिमें अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों, उन्हें पूर्णतः छोड़ देना या बदल देना चाहिए।

अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृङ्खलाकी भिन्न-भिन्न स्थितियोंकी द्योतक हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तुके तत्त्वोंकी सूचक हैं और सन्धियाँ नाटक-रचनाके विभागोंका निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थकी सिद्धि करती हैं, पर तीनोंके नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियोंसे किए गए हैं—एकमें कार्यका; दूसरेमें वस्तुका और तीसरेमें नाटक-रचनाका ध्यान रक्खा गया है। इस प्रकार अर्थ-प्रकृति, अवस्था और सन्धि तीनोंके पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे एक दूसरेके सहायक या अनुकूल होकर आते हैं। वस्तुके तत्त्वोंसे अर्थ-प्रकृतियों, कार्य-व्यापारसे अवस्थाओं और रूपक-रचनाके विभागोंसे सन्धियोंका सम्बन्ध है।

| वस्तु-तत्त्व ( अर्थ-प्रकृति ) | कार्य-व्यापारकी अवस्था | सन्धि |
|---|---|---|
| १. बीज | १. आरम्भ | १. मुख |
| २. बिन्दु | २. प्रयत्न | २. प्रतिमुख |
| ३. पताका | ३. प्राप्त्याशा | ३. गर्भ |
| ४. प्रकरी | ४. नियताप्ति | ४. विमर्श |
| ५. कार्य | ५. फलागम | ५. निर्वहण |

### अङ्क

एक स्थानपर एक समय निरन्तर होनेवाली घटना ही नाटकका अङ्क कहलाती है। एक अङ्कमें एक दिनसे अधिककी घटनाएँ न हों। यदि यह सम्भव न हो तो उसे इस प्रकारसे संक्षिप्त करना चाहिए कि वह काव्यके सौष्ठवको नष्ट न कर पावे। सब अङ्क सम्बद्ध होने चाहिएँ अर्थात् प्रथम अङ्ककी घटना दूसरे अङ्ककी घटनासे साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अङ्कोंमें वस्तु-विन्यास सम्यक् रीतिसे होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अङ्कमें किसी कार्यकी समाप्ति अथवा किसी फलकी प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापारको अग्रसर करे। परन्तु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखनेमें ही आता है कि एक अङ्कके अनन्तर दूसरा अङ्क आ जाय और दोनोंमें जिन घटनाओंका वर्णन हो, उनके बीचके समयकी घटनाओंका उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अङ्कोंके बीच एक वर्षतकका समय अन्तर्हित रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कमका कर देना चाहिए। सामाजिकोंको इस अन्तरकी सूचना देनेके लिये शास्त्रकारोंने पाँच प्रकारके दृश्योंका विधान किया है, जिन्हें 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं।

### अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपकके द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं, जो सूच्य वस्तुओंमें गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

१. विष्कम्भक : जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो उसकी सूचना इसमें मध्यम पात्रोंके द्वारा दी जाती है या उसका संक्षिप्त

वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकारका होता है—(क) शुद्ध और (ख) सङ्कर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं तब शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रोंके द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह सङ्कर कहा जाता है। शुद्ध विष्कम्भकमें मध्यम पात्रोंका भाषण या वार्त्तालाप संस्कृतमें और संकीर्ण विष्कम्भकमें मध्यम तथा नीच पात्रोंका सम्वाद प्राकृतमें होता है।

२. प्रवेशक : इसमें भी बीती हुई या आगे होनेवाली बातोंकी सूचना नीच पात्रों-द्वारा दी जाती है। यह दो अङ्कोंके बीचमें आता है, अतः पहले अङ्कमें नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं, उन्हींकी सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रोंकी भाषा उत्कृष्ट नहीं होती।

३. चूलिका : नेपथ्यसे किसी रहस्यकी सूचना देनेको चूलिका कहते हैं। रसार्णव-सुधाकरमें 'खण्ड-चूलिका'का भी उल्लेख है, जिसमें एक अङ्कके आरम्भमें रङ्गमञ्चपर स्थित एक पात्र नेपथ्यमें स्थित दूसरे पात्रसे बात करता है।

४. अङ्कास्य : इसमें आगेके अङ्कमें होनेवाली बातोंके आरम्भकी सूचना किसी अङ्कके अन्तमें पात्रों-द्वारा दी जाती है।

५. अङ्कावतार : इसमें एक अङ्ककी कथा दूसरे अङ्कमें बराबर चलती रहती है, केवल अङ्कके अन्तमें पात्र बाहर जाकर अगले अङ्कके आरम्भमें पुनः आ जाते हैं।

अङ्कास्य और अङ्कावतारमें इतना ही भेद है कि अङ्कास्यमें तो आगेके अङ्ककी बातोंकी सूचना-मात्र दी जाती है और अङ्कावतारमें पूर्व अङ्कके पात्र अगले अङ्कमें पुनः आकर उसी कार्य-व्यापारको अग्रसर करते हैं। साहित्य-दर्पणकारने अङ्कावतारका ऐसा लक्षण लिखा है जो अङ्कास्यके लक्षणसे बहुत कुछ मिलता है। अतः उन्हें इन दोनोंमें भ्रम हो जानेकी आशङ्का हुई। इसीसे उन्होंने अङ्कास्यके स्थानपर अङ्कमुख नामका एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'जहाँ एक ही अङ्कमें सब अङ्कोंकी अविकल सूचना दी जाय और वही अङ्क बीजभूत अर्थका सूचक भी हो, उसे अङ्कमुख कहते हैं।' इससे स्पष्ट है कि अङ्कास्य और अङ्कमुखमें इतना ही भेद है कि अङ्कास्यमें केवल आगेके अङ्ककी कथा सूचित की जाती है और अङ्कमुखमें सम्पूर्ण नाटककी।

### विश्लेषण

नाट्यशास्त्रके भारतीय आचार्योंने कथानक या वस्तुके विन्यासका विवरण इसी प्रकार दिया है किन्तु वस्तुको आधिकारिक और प्रासङ्गिक दो प्रकारका बतलाकर उन लोगोंने मौलिक भूल की है। वास्तवमें कथावस्तु या नाटकीय इतिवृत्त एक ही होता है। उन्होंने आधिकारिक और प्रासङ्गिक ( पताका और प्रकरी ) नामसे जो भेद किए हैं वे वास्तवमें इतिवृत्तके अङ्ग हैं, प्रकार नहीं। प्रत्येक कथानकमें कुछ मूल कथा होती है और कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस कथाको पुष्ट करनेमें योग देती हैं। ये सब कथाको पुष्ट करनेवाले प्रसङ्ग या तो नाट्य-नायकके चरित्र-विकासमें योग देते हैं या कथाके प्रसारमें सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु उन्हें इतिवृत्त या कथावस्तुका प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकारकी भूल वहाँ भी की गई है जहाँ संवादके भेदोंको अर्थात् श्राव्य, अश्राव्य और नियत-श्राव्यको भी नाटकीय वस्तुका भेद मान लिया गया।

भारतीय नाट्याचार्योंने अर्थ-प्रकृति, अवस्था और संधिकी व्यवस्था करके अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनाके साथ नाट्यवस्तुकी रचनाका ढङ्ग विस्तारसे बताया है और यह भी आदेश दिया है कि किस क्रमसे, किस कौशलसे और किस प्रकारके वाक्य-प्रयोगके द्वारा वस्तुका विन्यास करके नाट्य-कथाकी रचना करनी चाहिए। इतनेसे ही संतुष्ट न होकर उन्होंने संध्यङ्गों और संध्यन्तरोंकी विस्तृत योजना बताई है, जिसके अनुसार कोई भी नाटककार अपनी नाट्य-कथाको सुन्दर और सुडौल बना सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाट्य-कथनके सम्बन्धमें इतनी मीमांसा कहीं नहीं हुई किन्तु यह इतना अव्यावहारिक हो गया कि उसका निर्वाह कठिन है।

### योरोपीय इतिवृत्तकी रचना

अरस्तूने त्रासद ( ट्रेजेडी ) की कथा-वस्तुकी रचनाके लिये कहा है—

'त्रासद उस कार्यका अनुकरण है, जो पूर्ण तथा निश्चित परिणामका हो, क्योंकि सर्वाङ्गपूर्ण कार्य ऐसा भी हो सकता है जिसका कुछ भी विस्तार न हो। सर्वाङ्गपूर्ण उसे कहते हैं, जिसमें प्रारम्भ हो, मध्य हो और अन्त हो। प्रारम्भ उसे कहते हैं, जो स्वतः किसी आवश्यक रूपसे किसी वस्तुका अनुगमन न करे वरन् जिसके पीछे स्वभावतः ही कोई घटना होती हो। अन्त उसे कहते हैं, जो स्वभावतः किसी घटनाका अनुगमन करे चाहे वह

आवश्यकताके कारण हो या नियमतः हो और उसके पीछे कुछ शेष न हो। मध्य उसे कहते हैं, जो स्वभावतः किसी घटनाके पीछे आता हो और जिसके पीछे भी कोई घटना हो। अतः अच्छी प्रकारसे बना हुआ इतिवृत्त रचयिताकी स्वेच्छा-मात्रसे ही न तो अचानक आरम्भ होना चाहिए और न समाप्त ही, वरन् उसे इन उपर्युक्त सिद्धान्तोंका अनुकरण करना चाहिए। फिर एक सुन्दर पदार्थका एक निश्चित परिमाण भी होना चाहिए क्योंकि सुन्दरता भी परिमाण और क्रमपर अवलम्बित है। परिमाणकी दृष्टिसे वही इतिवृत्त अधिक सुन्दर होगा जो पूराका पूरा भली प्रकार समझमें आ सके। उचित परिमाण वहींतक परिमित है जहाँतक सम्भावना (प्रोबेबिलिटी) और आवश्यकता (नेसेसिटी) के नियमके अनुसार घटनाओंके क्रममें दुर्भाग्यका सौभाग्यमें अथवा सौभाग्यका दुर्भाग्यमें परिवर्त्तन आ जाय।

### कार्यका एकत्व ( युनिटी ऑफ़ ऐक्शन )

इतिवृत्त भी एक ही पूर्ण कार्यका अनुकरण होना चाहिए। उसके अङ्ग परस्पर ऐसे गुँथे हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असङ्गत हो जाय। कविका यह काम नहीं है कि वह वास्तविक घटनाओंका वर्णन करे वरन् उन घटनाओंका वर्णन करे, जो सम्भवतः हुई होतीं अर्थात् सम्भावना और आवश्यकताके नियमके अनुसार जो सम्भाव्य हों।

### प्रासङ्गिक इतिवृत्त

'साधारण इतिवृत्तों और व्यापारोंमें प्रासङ्गिक इतिवृत्त सबसे बुरे होते हैं। प्रासङ्गिक इतिवृत्त मैं उसे कहता हूँ, जिसमें सम्भावना और आवश्यकताके क्रमके बिना ही कथानक और व्यापार एक दूसरेके पीछे आते हों।

त्रासद केवल पूर्ण व्यापारका अनुकरण ही नहीं है, वह ऐसी घटनाओंका भी अनुकरण है जो भय और करुणाका सञ्चार करें। ऐसा प्रभाव सर्वश्रेष्ठ रीतिसे तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब हमारे सम्मुख ऐसी घटनाएँ हों जो केवल आकस्मिक ही नहीं वरन् एक दूसरेके अतर्कित परिणाम-स्वरूप हों। इस प्रकार उनमें स्वतः उत्पन्न तथा दैवयोगसे उत्पन्न घटनाओंकी अपेक्षा बहुत अधिक त्रासात्मक आश्चर्य होगा, क्योंकि घटना-संयोग तभी आकर्षक होता है जब उसमें किसी विलक्षणताका समावेश हो।

### दो प्रकारके इतिवृत्त

इतिवृत्त दो प्रकारके होते हैं—१. साधारण और २. गूढ । जो व्यापार पूर्व-कथित सिद्धान्तके अनुकूल पूर्ण, एक और सम्बद्ध हो, वह उस समय साधारण कहलाता है जब उसमें परिवर्त्तन (पेरिपेताया) और अभिज्ञान (रिकगनिशन) के बिना ही निर्वहण या फल-लाभ (डिनूवमेन्ट) हो जाता हो । गूढ व्यापार वह है, जिसमें परिवर्त्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके संयोगसे निर्वहण होता हो । परिवर्त्तन और अभिज्ञान अथवा दोनों ही इतिवृत्तके भीतरी ढाँचेसे इस प्रकार प्रकट हों कि जो कुछ आगे आनेवाला है वह बीते हुए कार्यका आवश्यक अथवा सम्भाव्य परिणाम हो ।

### परिवर्त्तन (पेरिपेताया)

व्यापारकी परिस्थितियोंसे जिस परिणामकी आशा की जाती हो वह यदि सम्भावना तथा आवश्यकताके नियमके अनुसार नितान्त विपरीत दिशामें चलने लगे तो उस दिशाको स्थिति-परिवर्त्तन (पेरिपेताया) कहते हैं ।

### अभिज्ञान (रिकग्निशन या डिस्कवरी)

'अभिज्ञान' जैसा कि शब्दसे ही स्पष्ट है, अज्ञातसे ज्ञातमें परिवर्त्तित होनेको कहते हैं और वह उन पुरुषोंके बीच प्रेम या घृणा उत्पन्न करता है, जिन्हें कवि सौभाग्यशाली या दुर्भाग्यशाली बनाना चाहता है। स्थिति-परिवर्त्तनके साथ ही सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञान घटित होता है । इसके और भी बहुतसे रूप होते हैं । अत्यन्त निम्न श्रेणीकी निर्जीव वस्तुएँ भी इस प्रकारसे अभिज्ञानका आधार हो सकती हैं । फिर हम यह बात पहचान या खोलकर निकाल सकते हैं कि अमुक मनुष्यने वह कार्य किया है या नहीं, किन्तु जिस अभिज्ञानका इतिवृत्त और कार्यसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध है, मनुष्योंका ही अभिज्ञान होता है । यह अभिज्ञान प्रतिकूलतासे मिलकर या तो करुणा उत्पन्न करेगा या भय, और हमारी परिभाषाके अनुसार ऐसा प्रभाव उत्पन्न करनेवाले कार्योंको ही त्रासद प्रदर्शित करता है, क्योंकि अभिज्ञान पुरुषोंके बीच होता है अतः यह हो सकता है कि केवल एक ही व्यक्ति दूसरेके द्वारा पहचाना जाय, जब कि दूसरा पहलेसे ज्ञात व्यक्ति हो अथवा यही आवश्यक हो कि पहचान दोनों ओरसे हो ।

यूनानी त्रासदोंमें वह क्षण अभिज्ञान (रिकग्निशन) कहलाता है जब नायकको यह ज्ञान हो जाता है कि अब मेरे ऊपर विपत्ति आ रही है अथवा

वह स्थल, जहाँ नायकको अपनी प्रचण्ड भूलका ज्ञान होता है, जैसे ओडिपसको यह ज्ञान होना कि 'मैंने अपने पिताकी हत्या कर डाली है और मातासे विवाह कर लिया है।' वर्त्तमान मैलोड्रामामें भी इसका प्रयोग होता है, जब 'काइन्ड लेडी' सहसा यह जानती है कि मेरे घरमें आए हुए अपरिचितोंने मुझे वन्दी बना रक्खा है।' इसका प्रयोग कभी-कभी सुखान्त नाटकोंमें भी होता है जैसे वह दृश्य, जहाँ रोज़ालिन्ड अपने मर्दाने कपड़े उतार देती है। अरस्तूका मत है कि 'आवेगात्मक कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये यह अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व है क्योंकि यही वह वस्तु है जिसके कारण त्रासदसे मनुष्योंके आत्माको मार्ग-निर्देश प्राप्त होता है।'

तो इतिवृत्तके दोनों अङ्ग स्थिति-परिवर्त्तन और अभिज्ञान आकस्मिकतापर अवलम्बित हैं। एक तीसरा भाग है, दुःखात्मक दृश्य। विनाशकारी अथवा दुःख-जनक कार्य ही दुःखात्मक दृश्य है, जैसे रङ्गमञ्चपर हत्या, शारीरिक पीड़ा, चोट लगना तथा अन्य ऐसी ही बात।

हम देख चुके हैं कि निर्दोष त्रासदकी रचना साधारण ढङ्गपर न होकर गूढ होनी चाहिए। उसमें ऐसे कार्योंका अनुकरण होना चाहिए जिनसे करुणा और भयका सञ्चार हो, क्योंकि यही त्रासात्मक अनुकरणका एक विशिष्ट लक्षण है। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रथम तो जो भाग्य-परिवर्तन प्रदर्शित किया गया हो वह कोई ऐसा दृश्य न हो जिसमें किसी भले मनुष्यको सुखकी अवस्थासे दुःखकी अवस्थामें ला दिया गया हो, क्योंकि इससे न करुणा ही उत्पन्न होती है और न भय ही। इससे तो हमारे हृदयमें केवल एक धक्का-सा लग जाता है। ऐसा भी दृश्य नहीं दिखाना चाहिए जिसमें किसी बुरे मनुष्यका दुःखकी अवस्थासे सुखकी अवस्थामें पहुँचना दिखाया जाय, क्योंकि इससे बढ़कर त्रासदके स्वरूपके विरुद्ध और हो ही क्या सकता है, क्योंकि इसमें एक भी त्रासात्मक गुण नहीं है। इससे न तो नैतिक भावनाकी तुष्टि ही होती है और न करुणा और भयकी उत्पत्ति ही। फिर अत्यन्त दुष्ट मनुष्यका पतन भी नहीं दिखलाना चाहिए। इस प्रकारके इतिवृत्तसे नैतिक भावनाकी तुष्टि तो अवश्य होगी, किन्तु इससे न तो करुणाका सञ्चार होगा न भयका ही, क्योंकि करुणा वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ किसी ऐसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय जिसपर नहीं आनी चाहिए। भय

वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी हमारे जैसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय। इसलिये ऐसी घटना न तो करुणाजनक होगी और न भयावह ही। तो इन दोनों छोरोंका मध्यवर्त्ती चरित्र ही शेष रह जाता है और वह ऐसे मनुष्यका, जो कोई विशिष्ट और विवेकी न हो और उसपर दुर्व्यसन अथवा चरित्रहीनताके कारण विपत्ति न आई हो, वरन् किसी भूल या दुर्बलताके कारण आई हो। वह ऐसा होना चाहिए जो अत्यन्त प्रसिद्ध और सुखी हो।

'अतः एक सुनिर्मित इतिवृत्तका फल इकहरा होना चाहिए, दुहरा नहीं। भाग्य-परिवर्त्तन बुरेसे अच्छेमें न होकर उल्टा अच्छेसे बुरेमें होना चाहिए। वह दुर्व्यसन (दुर्गुण) का परिणाम न होकर किसी भूल अथवा मानसिक दुर्बलता (हामार्तिया) का परिणाम होकर प्रकट होना चाहिए और उसी प्रकारके चरित्रमें हो जिस प्रकारका हम वर्णन कर चुके हैं अथवा बुरेकी अपेक्षा अच्छे मनुष्यमें हो।

'दूसरी श्रेणीमें उस प्रकारके त्रासद आते हैं, जिनमें अदूसियाके समान इतिवृत्तका दुहरा धागा चलता है और उनमें अच्छे-बुरे दोनोंके लिये उल्टा ही अन्त होता है। ऐसे नाटकोंको लोग सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं। यह दर्शकोंकी दुर्बलताके कारण ही सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि कवि जो कुछ लिखता है उसमें दर्शकोंकी रुचिका ध्यान रखता है। उससे जो आनन्द प्राप्त होता है वह वास्तविक त्रासात्मक आनन्द नहीं होता, वह तो प्रहसनमें ही अच्छा लगता है।

दृश्यात्मक साधनोंसे भय और करुणाकी उत्पत्ति की जा सकती है, किन्तु वे नाटककी आन्तरिक रचनासे भी उत्पन्न हो सकते हैं, और यही अच्छा विधान भी है। इतिवृत्तकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि बिना आँखकी सहायताके वर्णित घटना सुनते ही हृदय भयसे काँप उठे अथवा करुणासे द्रवित हो जाय। किन्तु केवल दृश्यके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करनेकी रीति कम कलात्मक है और बाह्य सहायतापर अवलम्बित है। जो लोग दृश्यात्मक साधनोंके द्वारा भयावह भावकी अपेक्षा अद्‌भुतका भाव उत्पन्न करते हैं वे त्रास-नाटकका अभिप्राय नहीं जानते। क्योंकि हमें त्रास-नाटकसे सब प्रकारके आनन्दकी नहीं वरन् तदनुकूल आनन्दकी ही आशा रखनी चाहिए, क्योंकि कवि-प्रदत्त आनन्द तो कवि-अनुकरण-जन्य करुणा और भयसे उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि घटनाओंपर इस गुणकी छाप डालना अत्यावश्यक है।

अब हमें निश्चय करना है कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जो हमें भयानक या करुणाजनक जान पड़ती हैं।

यह प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारोंमें होती है, जो या तो परस्पर मित्र हों, या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है, तो उससे वध-कार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमें ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात एक दूसरेके प्रति उदासीन मनुष्योंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है, जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं, जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, माँ अपने पुत्रकी, पुत्र अपनी माँकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय, तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

### चार प्रकारसे कार्य-योजना

प्राचीनतर कवियोंकी प्रणालीके अनुसार, १. कोई कार्य जानबूझकर तथा व्यक्तियोंका ज्ञान होनेपर भी किया जा सकता है। २. भयानक कार्य अज्ञानमें करके सम्बन्ध या मित्रताका ज्ञान पीछे दिखाया जा सकता है। ३. व्यक्ति जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जायँ। ४. कोई अपरिहार्य कार्य अज्ञानवश करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये ही सम्भव मार्ग हो सकते हैं क्योंकि व्यापार या तो करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, और वह भी जानकर हो अथवा अज्ञानमें हो। किन्तु इन सब मार्गोंमें व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उद्यत होना और फिर न करना सबसे बुरा है। यह त्रासात्मक हुए बिना ही हृदयको धक्का पहुँचाता है क्योंकि इसके परिणाममें कोई दुर्घटना नहीं होती। इसके पश्चात् इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि कार्य अज्ञानमें हो और पीछे भेद जाना जाय। तब हमारे हृदयको धक्का देनेवाली कोई बात नहीं रह जाती वरन् प्रकट होनेसे चामत्कारिक प्रभाव उत्पन्न होता है। अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे 'क्रेस्फ्रोन्तेस्'में ज्यों ही मरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है, त्यों ही वह उसे पहचानकर छोड़ देती है।

अङ्क

भरतने भी अपने नाट्यशास्त्रके सध्यङ्ग-विकल्प नामक इक्कीसवें अध्यायमें अवस्था, सन्धि और अर्थ-प्रकृतियोंका लम्बा-चौड़ा विवरण देकर दशरूपक-विधानमें नाटक-रचनाके सम्बन्धमें यही कहा है कि 'नाटककी कथा अङ्कोंमें बाँट देनी चाहिए।' अङ्ककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

'अङ्क रूढ शब्द है। इसका अर्थ यह है कि भावों और रसोंके द्वारा जो काव्यार्थोंको ऊपर चढ़ाता हो और अनेक प्रकारके विधानोंसे युक्त हो उसे अङ्क कहते हैं।'

जहाँतक अङ्कोंमें बाँटनेकी बात है, वहाँतक यह प्रथा प्रायः सभी देशके नाटककारोंने स्वीकार की है, क्योंकि एक ही कथा बहुत दिनों, महीनों या वर्षोंतक चल सकती है अतः एक-एक समयकी कथा एक एक अङ्कमें रक्खी जानी चाहिए। इस सम्बन्धमें भरतने कहा है—'कथावस्तु या काव्यकी घटनाओंके क्षण, प्रहर, मुहूर्त्त आदि लक्षणोंसे युक्त दिनोंके अनुसार सब काव्यको भली-भाँति अलग-अलग अङ्कोंमें बाँट देना चाहिए। दिन समाप्त होनेतकका पूरा काम यदि अङ्कमें न आ सकता हो तो अङ्क समाप्त करके शेष काम प्रवेशकके द्वारा कहला देना चाहिए। एक महीने या एक वर्षके कामपर अङ्क तोड़ना चाहिए और वह सब काम एक-एक अंकमें समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु एक वर्षसे ऊपरका काम कभी नहीं भरना चाहिए।'

नाटक-लक्षण-रत्नकोशकारने लिखा है—

'एक दिनका काम ही एक अंकमें दिखाना चाहिए। कथामें जो बातें दिखानी हैं, उनमेंसे एक-एक दिनकी कथा एक-एक अंकमें दिखानी चाहिए।' एक आचार्य कहते हैं कि 'अंकमें आधे दिनकी कथा दिखानी चाहिए।' दूसरे आचार्यका कहना है कि 'एक रात-दिनकी घटना एक अंकमें कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक कालकी कहलानी हो वहाँ प्रवेशकके द्वारा कहलानी चाहिए। किन्तु एक वर्षसे ऊपरकी घटना नहीं होनी चाहिए अर्थात् बहुत दिनोंकी बात अंकमें नहीं आनी चाहिए।'

अंकोंके निर्माणका यह सिद्धान्त इस युगमें स्वीकार्य नहीं हो सकता। भवभूतिने अपने महावीर-चरितके पाँचवें अंकमें शबरी-प्रसङ्ग, दनुकी मुक्ति, बालिवध इत्यादि अनेक घटनाएँ एक साथ दिखाई हैं, यद्यपि इन घटनाओंके

होनेमें बहुत दिन लगे हैं। दूसरी बात यह है कि संस्कृतके नाटकोंमें 'परिक्रामति' या 'सर्वे परिक्रामन्ति'का निर्देश देकर नाटककार काल-परिवर्त्तन और स्थान-परिवर्त्तनका निर्देश एक साथ कर देता था। योरोपके नाटककारोंने अंकोंका निर्माण इस सिद्धान्तपर किया कि किसी भी कथावस्तुमें कुछ निश्चित गति होती है। वह गति जहाँतक एक धारामें चलती है वहाँतकका अंश एक अंकमें मान लिया जाता है और जहाँसे वह बदलती है वहाँसे दूसरा अंक मान लिया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ एक अंकमें कई दृश्योंका विधान कर देते हैं, वहाँ योरोपीय नाट्यकार अंकगत स्थानके अनुसार एक-एक अंकके उतने ही दृश्य बना लेते हैं।

अंकोंके विधानमें यह भी परिवर्त्तन होना चाहिए कि एक-एक अंकमें नाटकीय कार्यकी एक पूरी गति हो और वह गति जितनी बैठकों या स्थितियोंमें पूर्ण हुई हो उतने ही दृश्योंमें दिखाई जाय। प्रयोगकी सुविधाके अनुसार दृश्योंका क्रम ऐसा हो कि रङ्ग-व्यवस्थापक उनकी व्यवस्था कर सके, अर्थात् यदि एक दृश्य गहरा हो जिसमें बहुत सजावट हो, पात्र आकर बैठते, लेटते या सोते हों अथवा उसमें दृश्यात्मक वस्तुएँ ऐसी लगी हों जिनके हटाए बिना अगला दृश्य पूरा न बन सकता हो, तो ऐसे दृश्योंके पश्चात् नियमतः ऐसा संकीर्ण दृश्य रखना चाहिए जिसमें खड़े-खड़े नाटकीय व्यापार हो जाय या पात्र भूमिपर बैठकर अभिनय करें अथवा पात्र बैठने आदिके आसन साथ ले आवें और स्वयं साथ ले जायँ। यद्यपि जापानके 'चाक्रल रङ्गमञ्च' (रिवौल्विङ्ग स्टेज) और सन्सर्पी रङ्गपीठ (शिफ्टिङ्ग या ग्लाइडिङ्ग स्टेज) पर लगातार गहरे दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं, किन्तु साधारण नाटककारको किसी विशेष रङ्गपीठके अनुकूल नाटक नहीं लिखने चाहिएँ। अतः अंकमें दृश्योंकी योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि एक गहरे दृश्यके पश्चात् एक संकीर्ण दृश्य अवश्य ही हो और यह संकीर्ण दृश्य इतने समयतक चलना चाहिए कि रङ्ग-व्यवस्थापक अगले गहरे दृश्यकी पूरी सजावट और व्यवस्था कर सके। कभी-कभी नाटककारोंकी इस भूलसे नाटक खेलनेवालोंको बलपूर्वक बाहरसे कोई प्रहसन या गीत लाकर रखना पड़ता है और कथाके प्रवाहमें बाधा पड़ जाती है।

### दृश्यका परिमाण

'एक दृश्य कितना बड़ा हो' इस विषयमें कोई नियम नहीं बनाया जा

सकता, किन्तु कुछ नाटकीय सिद्धान्त उसका परिमाण निश्चय करनेमें सहायक हो सकते हैं। एक ही दृश्यको अधिक समयतक देखते रहनेसे दर्शक ऊब जाते हैं, अतः दृश्यको थोड़े-थोड़े समयमें बदलते रहना चाहिए, जिसकी अवधि आधी घड़ी या बारह मिनटसे अधिक न हो। इस आधी घड़ीके दृश्यमें भी किन्हीं दो पात्रोंकी ही बातें न भरी हों, उसमें भी मिनट-मिनटपर भाव, कार्य, घटना इत्यादिका परिवर्त्तन होता रहना चाहिए, जैसे पात्रोंका उठना, चलना, क्रोध करना, किसीका किसीको भेजना, कुछ वस्तुओंको उठाना या रखना आदि। कुछ नाटकोंमें पात्र अकारण ही पीठासनोंके रहते हुए भी चलते-फिरते रहते हैं। किन्तु यह अत्यन्त अस्वाभाविक और अनुचित है। पात्रोंकी जितनी भी गति हो सब स्वाभाविक और आवश्यक हो। अतः नाटककारका यह धर्म है कि वह वाचिक अभिनयके साथ-साथ आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये बीच-बीचमें अवसर देता रहे। जहाँतक सम्भव हो एक अङ्कमें तीन या चार दृश्यसे अधिक न हों।

### अङ्कोंकी संख्या

'नाटकमें कितने अङ्क होने चाहिएँ' इस विषयमें भी हमारे यहाँके नाट्याचार्योंने सीमा बाँध दी है। नाटकमें पाँचसे दसतक, भाणमें एक, समवकारमें तीन, और ईहामृगमें चार अंकोंका विधान है आदि। किन्तु अंकोंकी संख्या बाँधी नहीं जा सकती। जहाँतक सम्भव हो नाटकका आख्यान तीन धाराओंमें बाँटकर तीन अंकोंमें रख देना चाहिए, क्योंकि बहुत बार अंकोंका व्यवधान तथा यवनिका-पतन दर्शकोंको बहुत खलता है। आजकल प्रायः नाटककार तीन अंकके नाटक लिख रहे हैं किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं, अंकोंकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। जितने सुविधाजनक भागोंमें नाट्य-कथा विभाजित की जा सके उतने ही अंक होने चाहिएँ, किन्तु प्रयत्न यह करना चाहिए कि पाँचसे अधिक अंक न हों और कुल नाटक ढाईसे चार घण्टेतकके भीतर समाप्त हो जाय।

### नाटकके भेद

विषयके अनुसार रूपकके छः भेद किए जा सकते हैं—१. पौराणिक, २. ऐतिहासिक, ३. आनुश्रौतिक ( सुनी हुई घटनाके आधारपर ), ४. कल्पित, ५. प्रतीकात्मक और ६. वास्तविक।

## वस्तु-रचनाकी पाँच रीतियाँ

आजतक विश्वमें जितने भी नाटक या उपन्यासोंका निर्माण हुआ है उन सबने निम्नाङ्कित पाँच रीतियोंमेंसे किसी न किसी रीतिसे वस्तु-रचना की है ।

१. नायक-केन्द्र-रीति : जिसमें नायकको केन्द्र बनाकर सारी कथा उसीपर अवलम्बित की गई हो । इसमें इस क्रमसे नाटकीय कथावस्तुकी घटनाओंका गुम्फन किया जाता है कि प्रत्येक भावी घटना नायक या नायिकाके किसी कार्य, विचार या कथनके परिणाम-स्वरूप प्रकट होती चलती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नायक या नायिकाका महत्त्व उस घटनामें दर्शकोंको प्रतीत होता चलता है । इस प्रकारके नाटक प्राय: पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंको लेकर लिखे जाते हैं, क्योंकि उन सबमें व्यापक रूपसे व्यक्तिका महत्त्व अधिक होता है, घटनाका कम। व्यक्तिके चरित्रसे घटनाका विकास होता है, घटना-चक्रसे व्यक्तिके चरित्रका विकास नहीं ।

२. घटना-चक्ररीति : इस रीतिमें घटनाओंका क्रम और घटनाओंके प्रकार इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उन घटनाओंके चक्रमें पड़े हुए व्यक्ति घटना-बाढ़से उलझकर, उसमें बहकर, उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्व और चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं । ऐसे नाटक नाटकीय दृष्टिसे सबसे अच्छे समझे जाते हैं । यूनानी त्रासद्कारोंने भी व्यापक रूपसे यह बात मानी है कि 'भाग्यके विरुद्ध किसीका कोई वश नहीं चलता, वह अच्छेसे अच्छे व्यक्तिको विपत्तिमें डाल सकता है ।' किन्तु नीतिकार इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि 'यदि विपत्ति न आवे और कष्ट न हो या मनुष्यको अपनी नैतिक सीमा लाँघनेका अवसर न मिले तो वह अपने चरित्रका विकास कैसे दिखा सकता है ।' अत: घटना-चक्ररीतिसे बनी हुई कथा-वस्तुमें चरित्रोंकी तुलनात्मक अभिव्यक्तिके लिये भी अवसर रहता है और कुतूहलकी सृष्टि करनेके लिये भी पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता है ।

ऐसी कथा-वस्तुओंमें घटनाओंका क्रम इस प्रकार बाँधा जाता है कि चलती हुई धारामें ऐसी स्वाभाविक तथा अपरिहार्य बाधाएँ पड़ें, जिनसे कथावस्तुका प्रवाह फिर जहाँका तहाँ पहुँच जाय और इस अद्भुत ढङ्गसे निर्वहण या फलागम हो कि उसकी कल्पना भी दर्शक न कर सकते हों । घटना-चक्ररीतिसे कथावस्तुका निर्माण करनेवाले नाटककार असम्भावित और

कृत्रिम घटनाओंका समावेश अधिक करते हैं इसीलिये उनके नाटकोंकी पोल खुल जाती है और उनकी अस्वाभाविकता अमर्यादित तथा अभव्य होकर दर्शकोंको क्षुब्ध कर देती है। घटनाचक्र-रीतिसे कथावस्तु-रचनाके तीन उपाय हैं—(क) एक तो यह कि घटनाओंमें विरोधी व्यक्तियों और विरोधी परिस्थितियोंका समावेश कर लिया जाय, जैसे यदि कोई एक व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता है तो उसका साझी प्रसिद्ध ठग या धूर्त्त रख दिया जाय, उसके परिवारमें कोई ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति खड़े कर दिए जायँ जो आर्थिक बाधा उपस्थित करें तथा अन्य सह-व्यवसायियोंकी ओरसे भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। इस प्रकारकी बाधाएँ स्वाभाविक बाधाएँ होती हैं। (ख) दूसरा यह उपाय है कि घटनाओंमें दैवयोगका सम्मिश्रण कर दिया जाय, जैसे व्यवसायके लिये जाते समय गाड़ी उलट जाना, पुल टूट जाना, आँधी-पानी आदि। (ग) तीसरा उपाय यह है कि नायकके स्वभावमें कुछ दोष आरोपित कर दिए जायँ, जैसे वह सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होते हुए भी किसी विशेष वर्ग या दलसे ईर्ष्या करता हो।

३. मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति : यह रीति केवल उन्हीं कथावस्तुओंके ग्रथनमें काम आती है जहाँ व्यक्तियोंकी मानसिक भावनाओंमें द्वन्द्व या घात-प्रतिघात हो। यह प्रायः उन व्यक्तियोंसे सम्बद्ध कथाओंमें प्रयुक्त की जाती है जिसके सब पात्र परस्पर निकट सम्बन्धी हों और फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो गया हो, जैसे रामायणमें ही रामके वनवासकी कथा इसी प्रकारकी है। कैकेयीने मन्थराके बहकानेसे भरतके लिये राज्य और रामके लिये वनवास माँगा था। दशरथ भी भरतको राज्य देनेमें सङ्कोच नहीं करते थे, किन्तु रामको वनवास देना उन्हें दुःसह प्रतीत हो रहा था। कौशल्याको पुत्रके वियोगका दुःख था किन्तु पिता और माताकी आज्ञाका उल्लङ्घन कराके वे उन्हें अयोध्यामें रखनेको तैयार न थीं। भरत भी जब लौटकर आए तब उनके मनमें भी इसी बातका दुःख था कि लोग यही समझते होंगे कि इसमें भरतका हाथ है। ऐसी कथा-वस्तुओंकी रचनामें नाटककारको बहुत समझ-बूझकर चलना चाहिए, क्योंकि एक छोटा-सा भी कार्य, छोटा-सा भी वचन या विचार नायक या नायिकाके चरित्रको समाप्त कर सकता है। इसी वनवासकी घटनामें यदि राम स्वाभाविकताके नाते कहीं यह कह बैठें कि क्यों बन जाऊँ? मैंने क्या अपराध किया है? या भरत लौटकर चुप होकर

बैठ रहें अथवा दशरथके ही मुँहसे यह निकल जाय कि मैं रामको वनवास क्यों दूँ, तो पूरी कथावस्तु एक क्षणमें बालूकी भीतके समान ढह जायगी। मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्तिकी रीतिपर रची जानेवाली कथावस्तुमें नाटककारको तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—(क) प्रत्येक कार्य पात्रोंके गुण, शील, पद, मर्यादा और रूढिसे प्रतिकूल न हो। (ख) सबका व्यवहार और सम्वाद अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिके अनुकूल हो। (ग) प्रत्येक घटनाका पूर्वापर सम्बन्ध अत्यन्त क्रमिक, सङ्गत और पूर्वज घटनाका स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम हो।

४. कुतूहल-निर्वाह-रीति : यह रीति प्राय: आजकलके सभी नाटककारोंने, विशेषत: चलचित्रवालोंने अपनाई है। सस्ता भावावेग उत्पन्न करनेके लिये इस प्रकारकी कथावस्तु बड़ी सफल होती है। इन कथावस्तुओंमें सम्भव-असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओंका एक ढाँचा खड़ा करके इस प्रकारका क्रम बाँध लिया जाता है कि आदिसे अन्ततक कुतूहल बना रहता है। किन्तु वह प्राय: सभी अद्‌भुत होता है। एक नायिकाको कोई प्रतिनायक आकर नायकके कक्षसे उठा ले जाता है, उसे वशमें करनेके अनेक प्रयत्न करता है, असफल होनेपर उसे यातनाएँ देता है। इसी बीच वह किसी कौशलसे निकल भागती है किन्तु किसी और दुष्टके हाथ पड़ जाती है। वहाँसे भी बचकर निकलती है तो वन या मरुभूमिमें निकल जाती है, वहाँ भी वह प्रतिनायकके फन्देमें जा पड़ती है और फिर अचानक एक नदी पार करते हुए पुलपर नायकसे भेंट होती है। नायक-प्रतिनायकका द्वन्द्व होता है और दोनों लड़ते-लड़ते नदीमें गिरनेतककी अवस्थामें पहुँच जाते हैं। दर्शकोंका कुतूहल और उनकी उत्सुकता चरम सीमातक पहुँच जाती है। नायिकाका क्रन्दन उस कुतूहलको और भी आवेगमय बना देता है और फिर अचानक प्रतिनायक नदीमें गिर पड़ता है, नायक-नायिकाका मिलन होता है, दर्शक सन्तोषकी साँस लेते हैं। ऐसी कथावस्तु दर्शकोंकी दृष्टिसे चाहे जितनी भी आकर्षक हो, कलाकी दृष्टिसे सर्वथा हेय है, क्योंकि बहुत-सी कष्टदायक, विषम और अवास्तविक परिस्थितियोंको नीचे-ऊपर लाटकर इकट्ठा करना एक बात है और स्वाभाविक गतिसे घटनाओंके क्रमका सुसङ्गत निर्वाह करना दूसरी बात है।

५. दृश्यानुकूल रीति : इस रीतिमें नाटककार दृश्यके अनुसार घटनाओंका क्रम बाँधता है। यह रीति प्राय: ऐसी वस्तुओंकी रचनामें काम आती है,

जहाँ एक ही दृश्यपर पूरा नाटक दिखानेकी योजना हो। आजकल योरोपमें तथा भारतमें ऐसे नाटक बहुतसे लिखे गए हैं जो समूचे एक ही दृश्यपर दिखाए जाते हैं। स्वयं अभिनवभरतने 'वाल्मीकि' और 'देवता' नाटकोंकी कथा-वस्तु इसी रीतिपर रची है। इसमें नाटककारको इस कौशलसे कथावस्तु रचनी पड़ती है कि नाटककी विभिन्न घटनाएँ एक ही स्थानपर दिखाई जा सकें। यह रीति बहुत कठिन है और बहुत बड़े कुशल कलाकार ही इसे सँभाल सकते हैं, साधारण नाटककार तो इसे स्पर्शतक नहीं कर सकते। इस रीतिसे एकांकी नाटक लिखना तो सरल है किन्तु कई अङ्कोंवाली कथा-वस्तुको इस रीतिसे रचना दुःसाध्य है। सुश्री कमलिनी मेहताने 'उर्मिला' नामका नाटक इसी रीतिपर लिखा है। उसकी विशेषता यह है कि एक ही दृश्यपर पूरी रामायणकी कथा व्यक्त की जाती है और एक भी पुरुष-पात्र उसमें नहीं आता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नाटक हैं जो दृश्य-विधानके ही अनुकूल लिखे जाते हैं। उनमें विशेषता यही है कि नाटककारको सारी क्रिया उसी दृश्यपर दिखानेकी योजना करनी पड़ती है। इस प्रकारकी वस्तु-रचनामें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिए—( क ) थोड़े-थोड़े समयके पश्चात् नाटकीय व्यापारमें परिवर्त्तन होता रहे, क्योंकि यदि व्यापार-परिवर्त्तन नहीं होगा तो दर्शक ऊब जायँगे और नाटक नीरस हो जायगा। कोई भी घटना असम्भव तथा बलपूर्वक लाई हुई नहीं प्रतीत होनी चाहिए। इसी रीतिके अन्तर्गत वे सब नाटक भी आते हैं, जो विशेष प्रकारके रङ्गमञ्चोंके अनुकूल लिखे जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि इन सबमें घटना-चक्ररीति ही सर्वश्रेष्ठ है।

### नाट्य-स्वातन्त्र्य

कवि या नाट्यकारको काल्पनिक कथा-वस्तुकी रचनामें तो पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओंमें उसे कुछ बन्धनके साथ चलना पड़ता है। बहुतसे नाटककारोंने इस विषयमें बड़ी उच्छृङ्खलता और स्वच्छन्दतासे काम लिया है। जहाँतक नाट्यकारकी स्वतन्त्रताका प्रश्न है, इतना ही अधिकार दिया जा सकता है कि वह नायकके चरित्रके विकासके लिये स्वतन्त्र तथा सम्भावित घटनाओं और पात्रोंकी कल्पना करे अथवा इतिहासमें जिन बातोंका केवल संकेत है उनके लिये पात्रों और घटनाओंकी योजना कर

ले, जैसे शिवाजीने किसी मुसलिम महिलाको मुक्त करके उसके पतिके पास भेज दिया था । ऐसी स्थितिमें उस महिलाके बन्दिनी बननेकी परिस्थिति और मुक्त होनेकी बातचीत तो कल्पित की जा सकती है । किन्तु नाटककारको यह अधिकार नहीं कि वह शिवाजीकी महत्ताको तीव्रतम व्यक्त करनेके लिये यह दिखावे कि शिवाजी जब औरङ्गज़ेबके दरबारमें पहुँचे तो औरङ्गजेब डरके मारे झुककर उनके पैरों पड़ गया और थरथर काँपने लगा था शिवाजी जब मिठाईकी टोकरीमें छिपकर निकले तो औरङ्गज़ेबके पुत्रको भी पकड़ते लाए । तात्पर्य यह है कि नाटककारको यही अधिकार है कि वह ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकोंके वृत्त और चरित्रका निर्वाह करते हुए उनके गुणोंका उत्कर्ष दिखलावे । लक्ष्मणको मेघनादके डरसे भागते हुए दिखाना, सीताके वियोगमें रामका डाढ मारकर रोने या पद्मिनीका आत्मसमर्पण करनेकी बात सोचना आदि दिखाना नाटककारके अधिकारके बाहरकी बात है । हाँ, यह सम्भव है कि यदि इतिहासकारने किसी घटना, चरित्र या व्यक्तिके सम्बन्धमें अशुद्ध या भ्रमात्मक निर्णय दिया हो तो उसे सप्रमाण उलटने और सत्यकी स्थापना करनेका नाटककारको पूर्ण अधिकार है ।

### नाट्यवस्तुकी धाराएँ

कथावस्तुकी एक और दृष्टिसे मीमांसा की जा सकती है और वह है कथा-वस्तुके भीतर चलनेवाली कथा-धाराओंकी दृष्टि । कुछ नाटकोंमें एक ही नायक कुछ घटनाओंका केन्द्र बनकर नाटकके फलागमका केन्द्र होता है । ऐसे नाटक एक-धारा-नाटक कहलाते हैं और उनकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तु होती है । कभी-कभी एक ही फलकी प्राप्तिके लिये दो या अधिक व्यक्ति प्रयत्नशील रहते हैं, दोनोंमें द्वन्द्व होता है और अन्तमें इष्ट नायकको सफलता प्राप्त होती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु भी एकधारा-कथावस्तुके अन्तर्गत ही आती है ।

कभी-कभी एक ही नाटकके अन्तर्गत कई नायक अलग-अलग प्रकारकी फल-प्राप्तिके लिये अलग-अलग चेष्टा करते हैं किंतु उनके पारस्परिक सम्बन्धमें किसी प्रकारका व्याघात या विरोध नहीं होता । ऐसी कथावस्तु अनेक-धारावस्तु कही जाती है । भवभूतिका मालतीमाधव नाटक इसी श्रेणीका है,

जिसमें एक धारा उज्जैनके मन्त्रीकी कन्या मालती और एक दूसरे राज्यके मन्त्रीके पुत्र माधवके परस्पर प्रेम-कथाकी चलती है, दूसरी धारा माधवके मित्र मकरन्द और राजाके प्रियपात्रकी बहन मदयन्तिकाके बीच प्रेम-कथाके रूपमें चलती है और अन्तमें दोनों प्रेमियोंको अपनी-अपनी प्रेमिकाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार शेक्सपियरके 'एज़ यू लाइक इट' ( जो तुम चाहो ) नाटकमें भी इसी श्रेणीकी दो प्रेम-कहानियाँ चलती हैं—एक ओर्लैन्डो और रोज़ालिन्डकी तथा दूसरी जेक्स और ओड्रीकी। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसी भी कथा-वस्तुएँ हो सकती हैं, जिनमें प्राप्य फल कुछ और हो और प्राप्त कुछ और ही हो जाय। एक नाटकमें यही दिखाया गया है कि एक व्यक्ति प्रयत्न करता था कि अमुक कन्यासे मेरा विवाह हो। प्रयत्नके लिये जाते हुए सहसा वह एक नगरमें टिकनेको बाध्य हो जाता है और जिस भवनमें वह टिकता है उसके स्वामीकी पुत्रीसे उसका प्रेम-व्यापार चलने लगता है। साथ ही कुछ राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि वह नगर छोड़कर जा नहीं सकता और उसी कन्यासे विवाह कर लेता है। ठीक यही घटना उस दूसरी कन्याके साथ भी होती है। वह भी पहले तो कुछ दिनोंतक अपने पहले प्रेमीकी प्रतीक्षा करती है किन्तु सहसा अपनी माता और भाईकी मृत्यु हो जानेसे एक हितचिन्तक पड़ोसीसे विवाह कर लेती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु भी अनेक-धारावस्तुके ही अन्तर्गत आती है।

एक और भी प्रकारकी कथा-वस्तु होती है, जिसमें दो या दोसे अधिक कथा-धाराएँ अलग-अलग चलती हैं किन्तु अन्तमें सब आकर इस प्रकार मिल जाती हैं, जैसे बहुत-सी नदियाँ एक सङ्गमपर मिलकर एकधारा हो जाती हैं। इस प्रकारका एक नाटक है जिसमें पाँच देश-प्रेमी अलग-अलग अपने देशको आक्रमणकारियोंसे बचानेके लिये अलग-अलग प्रयास करते हैं और एक दूसरेकी गतिविधि तथा चेष्टासे अपरिचित रहते हैं, किन्तु सहसा एक पर्वतकी एक गुफामें वे सब हारकर छिपनेके लिये आते हैं तथा एक दूसरेसे परिचय प्राप्त करके शत्रुपर सम्मिलित धावा करते हैं और उनकी विजय होती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु अनेक-धारा-सङ्गम कथावस्तु कही जाती है। इसी प्रकारके अन्तर्गत वे सब नाटक भी हैं जिनमें किसी एक कार्यकी सिद्धिके लिये कई व्यक्ति प्रयत्न करते हैं, उनमेंसे कुछ तो

ईर्ष्यावश कार्य-सिद्धिमें बाधक होते हैं और कुछ साधक होते हैं, किन्तु बाधक लोग भी जब देखते हैं कि बाधा सफल नहीं हो सकती तब वे भी साधक बन जाते हैं। ऐसी सब कथावस्तुएँ अनेक-धारा-सङ्गमके अन्तर्गत आ जाती हैं, जैसे किसी सङ्गमपर नदियाँ भी मिलती हैं और नाले भी।

## गम्भीर और हास्यात्मक कथा-वस्तु

अरस्तूने कथावस्तुके या काव्यके दो भेद किए हैं—१. गम्भीर और २. हास्यात्मक, तथा उन्हीं दो भेदोंसे क्रमशः त्रासद और प्रहसनका विकास हुआ माना है। दोनोंमें विशेष अन्तर यही है कि गम्भीरमें श्रेष्ठ मनुष्योंका वर्णन किया जाता है और हास्यजनकमें निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका प्रदर्शन कराया जाता है। वास्तवमें कथावस्तुको इस प्रकारके भेदोंमें नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि गम्भीर कथावस्तुमें भी हास्य तथा व्यंग्यके प्रसङ्ग अत्यन्त सुन्दरताके साथ लाए जा सकते हैं। इसी प्रकार हास्य तथा व्यंग्य कथावस्तुओंमें भी गम्भीर बातोंका समावेश किया जा सकता है। कथावस्तुमें कहाँ गम्भीरता लाई जाय और कहाँ हास्य उत्पन्न किया जाय यह सब नाटककारके कथा-निर्वाहपर अवलम्बित है। अतः ऐसा कोई भेद नहीं बनाया जा सकता।

## विशिष्ट कथा-वस्तु

बहुतसी कथावस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनमें नाटकके प्रयोगका ध्यान रक्खा जाता है, जैसे गीति-नाट्यके लिये जो नाटक लिखा जायगा उसकी कथावस्तुमें संवादात्मक पद्य बहुत कम होंगे, गीतोंकी अधिकता होगी, अभिनयात्मक पद्य अधिक संख्यामें होंगे और नृत्यके लिये विशेष अवसरोंका विधान होगा। इसी प्रकार छाया-नाटकों, मूकाभिनयों तथा श्रव्य नाटकों (रेडियो-फीचर) आदिके लिये उनकी प्रकृतिके अनुसार कथावस्तुकी रचना करनी होगी। कुछ नाटकोंमें कोई विशेष प्रभाव दिखानेके लिये भी कथा-वस्तुकी रचना की जाती है। कभी ऐसी भी चित्र-कथा-वस्तुएँ हो सकती हैं कि किसीमें नायक या नायिका ही न हो, किसीमें संवाद ही न हों और यदि हों भी तो अत्यन्त सूक्ष्म। कुछ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें कथाका आधार ही न हो, जैसे एक नाटक है—'सड़कपर पन्द्रह मिनट'। इसमें एक सड़कपर पन्द्रह मिनट खड़े व्यक्तिने क्या-क्या देखा, इसीका चित्रण है। इसमें न तो कोई उद्देश्य है, न नायक है, न नायिका है, न रस

है, न कुतूहल। किन्तु 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'के अनुसार वह नाट्य अवश्य है। कभी-कभी ऐसी कथा-वस्तु हो सकती है जिसमें पूरी कथा तो दिखा दी गई हो किन्तु परिणाम दर्शकोंकी कल्पनापर छोड़ दिया गया हो। यद्यपि इस प्रकारकी कथावस्तु दर्शकोंके मनमें खीझ उत्पन्न कर देती है परन्तु फिर भी नाटककार इसीमें अपना कौशल समझता है। आजकलके बहुतसे समस्या-नाटक इसी प्रकारकी कथावस्तुपर रचे जाते हैं, जहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विषमताओंके कुछ चित्र नग्न रूपमें इस प्रकार उपस्थित कर देते हैं कि उनका समाधान करना नाटककार स्वयं समस्या समझता है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि जनता उसका समाधान ठीक उसी प्रकार अपने मनमें करे, जैसा नाटककार अपने मनमें चाहता है।

## कथा-वस्तुकी गति

नायकके गुण-दोषके अनुसार कथावस्तु तीन गतिसे चलती है—ऊर्ध्वगति, अधोगति और समगति। जहाँ कथावस्तु नायकके गुणोंकी योजना करती है, वहाँ कथावस्तुकी ऊर्ध्व गति होती है। जहाँसे नायकके दोषोंकी योजना होने लगती है, वहाँसे कथावस्तुकी अधोगति होने लगती है और जब नायक सर्वसाधारण मानवका-सा व्यवहार करने लगता है, वहाँ कथा-वस्तुकी गति सम होती है। अरस्तूने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—१. साधारण और २. गूढ़। जिसमें बिना किसी परिवर्त्तन या अभिज्ञानके ही निर्वहण या फल-लाभ हो वह साधारण है और जिसमें परिवर्त्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके योगसे फललाभ होता हो उसे गूढ कहते हैं। इसे ही सरल भाषामें यह कहा जा सकता है कि जहाँ किसी नायक या किसी घटनाको बिना किसी बाधाके सीधे ऊपर उठाते हुए फल-लाभतक पहुँचा दिया हो या गिराते-गिराते असफलतातक पहुँचा दिया हो, वे नाटक साधारणतया निम्न कोटिके होते हैं। गूढ़ नाटक वे होते हैं, जिनमें नायकके चरित्रका अर्थात् उसके गुण-दोषोंका उतार-चढ़ाव होता रहे और फिर गुणोंकी समष्टिसे उसका अभ्युत्थान हो अथवा घटनाओंका क्रम इस प्रकारसे गूँथा जाय कि अनेक सम-विषम परिस्थितियोंके बीच डूबते-उतराते, लड़ते-झगड़ते, सफल-असफल होते इष्ट परिणामकी प्राप्ति हो। इस क्रमसे कथावस्तु तीन प्रकारकी होगी—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कथावस्तु वह है, जिसमें सम परिस्थितिसे नायक

या घटना-चक्रका सम-विषम-बाधित विकास हो और आद्यन्त कुतूहलका निर्वाह करते हुए अन्तमें सहसा किसी स्वाभाविक संयोगसे इष्ट परिणाम प्राप्त हो। मध्यम कथावस्तु वह है, जिसमें कथावस्तुकी ऊर्ध्वगति हो, फिर अधोगति हो और फिर उठकर समपर समाप्त हो जाय। अधम कथावस्तु वह है, जो केवल ऊर्ध्वगतिवाली हो या केवल अधोगतिवाली हो।

## कथावस्तु-निर्माणके अन्य आधार

इन सबसे ऊपर मुख्य बात यह है कि नाटककारको कथावस्तुकी रचना करनेके पूर्व यह भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि उसका नायक कैसा है, नायिका कैसी है, कथा-विषय किस प्रकारका है, उसको उपस्थित करनेका नाटकीय रूप क्या होगा ( वह एकांकी नाटक है, गीत-नाट्य है, छाया-नाट्य है या अन्य प्रकारका नाटक ), किस प्रकारके रङ्गमञ्चपर उपस्थित करना है, किस अवसरपर नाटक खेलना है, उसका उद्देश्य क्या है और किस प्रकारकी जनताके सम्मुख खेलना है। जो नाटककार विशेष रङ्गशाला, अवसर या किसी विशेष वर्गके लिये नाटक नहीं लिखते हैं, उन्हें इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि विभिन्न रुचिकी जनता अमुक रुचिके अनुसार रचे हुए संविधानकमें रस लेगी या नहीं। इस रस लेनेके सम्बन्धमें एक बात हम ऊपर बता आए हैं कि नाटकमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनों होने चाहिएँ। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जबतक उसमें अद्‌भुतके तत्त्वका सम्मिश्रण नहीं होगा, एक धारामें बहती हुई घटना सहसा किसी बाधाके उपस्थित होते हुए किसी दूसरी धारामें न मुड़ चलेगी तबतक लोक-विनोद सम्भव नहीं हो सकता।

## नाटकीय प्रभाव

आजकलके नाट्य-प्रयोक्ताओंने जनताको प्रभावित करनेके कुछ रङ्ग-प्रभावोंका आयोजन किया है। ये रङ्ग-प्रभाव तीन प्रकारके हैं—

१. आलोक-प्रभाव, अर्थात् ऋतु, काल, प्रदेश, रस, भाव तथा वेलाके अनुकूल रङ्गीन प्रकाश रङ्गपीठपर देना। कभी-कभी अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये एक ही दृश्यमें कई प्रकारके रङ्गीन प्रकाशका विधान किया जाता है।

२. वाद्य-प्रभाव या नेपथ्य-वाद्य, जिसमें परिस्थितिके अनुकूल पीछेसे ऐसे

वाद्य बजाए जायँ, जिससे उस नाट्य-परिस्थितिका प्रभाव और भी गाढ़तम हो जाय।

३. दृश्य प्रभाव, जिसमें ऐसा दृश्य-विधान किया जाय कि उसमें नाटकीय व्यापार अधिक वास्तविक और कुतूहलपूर्ण हो जायँ। इनके अतिरिक्त दो और प्रकारके प्रभाव बताए गए हैं—१. वेश-प्रभाव और २. वर्ण-प्रभाव, जिसे अँगरेज़ीमें मेकअप कहते हैं, किन्तु ये दोनों आहार्य अभिनयके अन्तर्गत आ जाते हैं। ऊपर बताए हुए अन्य तीन प्रभाव भी नाट्यकारकी सीमाके बाहर हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध प्रकाश-व्यवस्थापक, सङ्गीत-व्यवस्थापक और रङ्ग-व्यवस्थापकसे है और यह नाट्य-प्रयोक्ताके ऊपर अवलम्बित है कि वह इन तीनों व्यवस्थापकोंसे प्रकाश, वाद्य और दृश्यकी योजना किस प्रकार करावे।

## त्रागेदी

अरस्तूने क्रिया या व्यापार ( प्रोसेस ) को त्रासदका प्रथम सिद्धान्त और आत्मा माना है। इसके लिये 'अनुभव', 'जीवन-यापन', 'जीवनका अध्याय' आदि शब्द भी प्रचलित हैं। उन्हें स्वीकार करके जीमेरेने कहा है कि 'इस क्रियाके अन्तर्गत वह ढङ्ग जो लोग ग्रहण करते हैं, वे कार्य जो वे करते हैं और वह आन्तरिक जीवन जो वे निवाहते हैं, आता है। नाटकमें चरित्रका नहीं वरन् मानव-क्रियाका अनुकरण होता है, जो किसी कलाकृतिमें 'एक' और 'पूर्ण' होनी चाहिए।

## नाटकमें व्यापार

नाटककी कथावस्तु ( संविधानक ) की रचनाके सम्बन्धमें संसारके अनेक नाट्याचार्योंने विचार किया है और उसके निर्माणके सम्बन्धमें अनेक कौशल सुझाए हैं क्योंकि संविधानक ही नाटकका आत्मा है। एक आचार्यका मत है कि 'नाटकमें संवादकी अपेक्षा व्यापार अधिक होना चाहिए। रङ्गमञ्चपर जब शान्ति हो या कोई न बोल रहा हो उस समय जो रङ्गमञ्चपर कार्य या व्यापार होता हो, उसीको व्यापार ( बिज़नेस ) कहते हैं।' नाटकीय कार्योंके बीचके समयकी नीरसताको दूर करनेके लिये तथा सजीव वास्तविकता लानेके लिये यह बहुत आवश्यक है। योरोपकी व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियोंमें तो व्यापार या मूक क्रियाका प्रयोग अत्यन्त रूढ हो गया है। जब कोई नया

अभिनेता रङ्गमञ्चपर मुँह ऊपर करके तारोंकी ओर देखकर अपनी भूमिकाका प्रदर्शन करता है तब दर्शक लोग यह आशा करते हैं कि अब वह कुछ नवीनता दिखानेवाला है, अर्थात् कोई नई मूक क्रिया करनेवाला है। प्रायः जो अभिनेता कुछ भूल जाते हैं, वे भी इस प्रकारके मूक व्यापारका आश्रय लेते हैं और प्रतीक्षा करते हैं कि उतने कालमें प्रेरक आगेका पाठ सुझा दे। गम्भीर नाटकोंमें तो यह होता ही है किन्तु प्रहसनोंमें और भी अधिक होता है, जैसे—'मिकाडो'में इस प्रकारके नये कार्य या व्यापारकी योजनासे कथामें नयापन उत्पन्न करके हास्यको उत्तेजित कर दिया गया है।

### मौन-प्रयोग

इसीका एक पक्ष है 'रङ्गमञ्चपर मौन' ( साइलेन्स ऑन स्टेज )। रङ्गमञ्च मुख्यतः मौखिक कलाका क्षेत्र है। पोथियाँ पढ़ते-पढ़ते हम यही भूल चले हैं कि वास्तवमें लिखे या छपे हुए शब्दकी अपेक्षा बोला हुआ शब्द ही प्रमुख और स्वाभाविक होता है। रेडियोने कुछ इस विचारको बदला है फिर भी जब हम किसी बातका अर्थ निकालने चलते हैं तब हम शब्दके फेरमें पड़कर भाषण-शैली ( बोलनेके ढङ्ग ) की उपेक्षा कर देते हैं। किन्तु हमें समझ रखना चाहिए कि किसी वाणी या प्रवचनका प्रमुख पक्ष मौन है। इस मौनका प्रयोग करके इसीसे नाटकका दृश्य प्रारम्भ किया जा सकता है, उसी मौनके द्वारा आगे आनेवाले दृश्यका सङ्केत भी दिया जा सकता है और किसी विशेष क्षणपर मौनका विधान करके सम्वाद रोककर या सम्वादके बदले केवल अभिनेताओंकी मुखाकृतिसे और उनकी चेष्टाओंसे ही बहुत-सा अर्थ व्यक्त कराया जा सकता है। अतः किसी नाटकको रङ्गमञ्चपर उपस्थित करनेसे पूर्व उसके कथानकका मनोवैज्ञानिक व्याख्यान भी कर लेना चाहिए। इस कार्यमें मौन विश्राम ही अधिक सहायक हो सकते हैं क्योंकि इन्हीं विश्रामोंके द्वारा जो कुछ पहले हो चुका है वह भी लाकर स्थिर किया जा सकता है और जो आनेवाला होता है वह भी दर्शकोंके मस्तिष्कमें चमका दिया जा सकता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

१. मौनसे दर्शकके मनमें एक तनाव उपस्थित होता है और 'आगे क्या होनेवाला है' इसका कुतूहल जागरित होता है।

२. दर्शककी भावना और मानसिक वृत्तिको मौन गम्भीर कर देता है।

सफ़क्लेसके नाटकके अन्तमें 'अन्धा ओडिपस' राजभवनकी सीढ़ियोंसे धीरे-धीरे उतरता है तो जनता उसके दुर्भाग्यके अपरिहार्य विधानसे विकम्पित हो उठती है। आन्तोन चेखव और गरहार्ट हाउप्टमानने अपने नाटकोंमें नाटकीय व्यापार कम देकर गम्भीर और प्रधान मानस-वृत्तिका अधिक प्रदर्शन कराया है। ये सबके सब भाव-दशाकी गति बदलते हुए और बीच-बीचमें मौन देकर अत्यन्त सुन्दरताके साथ प्रदर्शित किए जा सकते हैं। रङ्गमञ्चपर बहुतसे लोगोंका साथ-साथ मौन होकर प्रवेश करना या मुँह ढके हुए हत्यारोंका प्रवेश करना अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

३. मौनमें स्वाभाविकता होती है। नाटकमें मौन व्यापार केवल यही हो सकता है कि रङ्गमञ्चपर एक ओरसे दूसरी ओर टहला जाय, बैठा जाय, किसी खिड़कीको खोला या बन्द किया जाय, कुछ परिवाप (फ़र्नीचर) इधर-उधर किया जाय, सिगरेट जलाई जाय, हाथ मिलाया जाय, शरीर हिला दिया जाय, ध्यानसे किसीको देखा जाय, मुँह फेर लिया जाय या हाथ उठा-भर दिया जाय। इन सब मौन क्रियाओंसे नाटकमें चेतना उपस्थित की जा सकती है। इसीलिये कभी-कभी तो नाट्य-प्रयोक्ता या अभिनेता ही नाटकका सम्वाद छोड़कर उसके बदले मौन व्यापारका प्रयोग कर लेते हैं।

४. मौनसे उन बातोंकी मनोवैज्ञानिक समझ उत्पन्न होती है—(क) जो लेखकने केवल निर्दिष्ट-भर की हो और जिन्हें वह शब्दोंमें प्रदर्शित न करना चाहता हो। (ख) जो अभिनेता-द्वारा प्रयुक्त हो और जो मौन क्रियासे इस प्रकार लोगोंको वशीभूत कर सके कि वह प्रभाव शब्दों-द्वारा प्रकट करनेमें अधिक प्रभावशाली न हो सके। सिग्मण्ड फ़्रौयडने बताया है कि 'प्रसिद्ध अभिनेत्री इलियोन्योराड्यूसने अपनी भूमिकामें ऐसी मौन सङ्केतात्मक चेष्टाएँ डालकर अपना अभिनय गम्भीर और प्रभावशाली बना लिया है। एक व्यभिचारकी कथावाले नाटकमें अभिनय करते हुए वह अपने पतिसे बातचीत कर रही है। उसे भगा ले जानेवाला जार जितनी देरमें आता है उतनी देर वह मन ही मन न जाने क्या सोचती रहती है। इस थोड़े समयमें ही वह अपने विवाहकी अँगूठीके साथ खेलती है, उसे निकालती है, फिर पहनती है और अन्तमें निकाल ही डालती है। वह अब दूसरेकी होने जा रही है।' जबसे इब्सनके यथार्थवादी नाटक खेले जाने लगे हैं तबसे मौनका महत्त्व नाट्य-प्रयोक्ताओं और अभिनेताओं दोनोंने समझ लिया है।

५. इस मौनसे नाटक आगे बढ़ता चलता है। मानसिक सङ्घर्ष, प्रसन्नता और सन्देह केवल शब्दमें ही नहीं कहे जा सकते वरन् मौनसे व्यक्त हो सकते हैं।

६. सुनकर जो मौन धारण किया जाता है वह रङ्गमञ्चको भर देता है, अर्थात् किसी दूत-द्वारा समाचार सुनकर सुननेवालोंका विशेष मुद्रासे उसपर मौन हो जाना बड़े महत्त्वका होता है।

७. मौनसे नाटकका चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) भी सधता है। 'सन्देहास्पद' ( सस्पेक्ट ) नामक नाटकमें एक महिलापर सन्देह किया जाता है कि उसने पागलपनकी अवस्थामें एक कुल्हाड़ेसे किसीकी हत्या कर दी है। वह मुक्त हो जाती है। तब अन्तिम परदा गिरनेसे पूर्व वह किसी पर क्रुद्ध होती है और कुल्हाड़ा उठा लेती है। इसमें कुछ भी शब्द नहीं कहे जाते किन्तु जनता समझ लेती है कि हत्या इसीने की है।

## छायाका सिद्धान्त

'मौन' के ही समान कुछ लोग छाया ( शैडो ) को भी काव्यका गुण मानते हैं। साहित्यमें छाया ( शैडो ) वह दबा हुआ स्वर या धुँधला आभास है, जिसके द्वारा किसी सौन्दर्यात्मक भावके अनुसार कलामें अभिव्यञ्जनीय तत्त्व प्रत्यक्ष कर दिए जायँ। उनका मत है कि 'जो वस्तुएँ छायामें या ओटमें उत्पन्न होती हैं वे बहुत दिनोंतक रह सकती हैं, अर्थात् जिन बातोंको मनुष्य आधा जानता है उसमें परिचय और आगेका रहस्य दोनोंके सम्मिलनका तत्त्व विद्यमान है। वास्तविकतासे एक पग बढ़ा देनेपर उसमें आशा और कुतूहलका तत्त्व आ मिलता है, जीवनका सार आ जाता है, क्योंकि उसमें एक साथ ज्ञात और अज्ञातकी भावना दोनोंका सम्मिश्रण होता है। इस ज्ञातको हम वास्तविक संसारका प्रतीक समझ सकते हैं। किन्तु अज्ञातमें आध्यात्मिक अस्तित्वका रहस्य रहता है। यही रहस्य हमारे जीवनको बनाए रखता है क्योंकि इसमें मृत्यु, मनुष्यका आत्मा और प्रकृति-शक्ति सभी छिपी रहती हैं और इसीमें आकांक्षा तथा अच्छाई और बुराईके मानदण्ड भी व्याप्त रहते हैं। इसी प्रकारके भाव-राज्यमें दाँतेने अपने 'इनफ़रनो 'की और मिल्टनने अपने 'पैरेडाइज़' की सृष्टि की। अत्यन्त प्रकाश और अत्यन्त अन्धकार यदि साथ-साथ रहें तो उनसे आधा प्रकाश होता

है। इसी अर्ध प्रकाशमें ही उच्च कोटिके भावात्मक अनुभवोंका अभिज्ञान होता है और यही प्रकाशाभास ही छाया कहलाता है। इस छायाको पूर्व-कथनके साथ मिलाकर गड़बड़ नहीं करना चाहिए और न इसका अर्थ वह साधारण अन्धकार समझना चाहिए जहाँ किसी बाधाप्रद वस्तुसे प्रकाश रुकता हो। किन्तु यह 'प्रकाशमें बाधा' स्वयं वह प्रयोग हो सकता है जिसके द्वारा ऐसा झुटपुटा रचा जाय जिसमें महत्ताका उदय हो सकता हो। किसी गिरजाघरका भीतरी भाग अर्धप्रकाशमें प्रदर्शित होता है। उसके भीतरवाला मनुष्य चाहे जितना अधार्मिक हो किन्तु वहाँका अर्धप्रकाश उसके मनमें गम्भीर तथा सुखमय उदासीसे भरी विचार-धारा उपस्थित कर देता है। यदि वहाँ खिड़कियोंकी काली पट्टी उतारकर इसके बदले पारदर्शी काँच लगा दिया जाय तो छाया नष्ट हो जायगी और भाव भी बदल जायगा, विचारकी अभिव्यक्ति वास्तविकता और जीवनके पास पहुँच जायगी।

यह छाया हमारी विचार-प्रकृतिको भी प्रभावित करती है। सुखान्त नाटकमें पूरा प्रकाश रह सकता है किन्तु त्रासदके लिये छाया गम्भीर चाहिए। स्पष्ट और निश्चित वक्तव्य कल्पनाहीन हो सकता है और वह पूर्ण प्रकाशमें सस्ता जान पड़ सकता है। एक राह-चलता व्यक्ति कहता है--'जीवन छोटा है।' वही विचार शेक्सपियरके मानसमें आकर बोलता है—'बुझो! बुझो! छोटी-सी बत्ती!' और तत्काल वह हमें ज्ञात संसारसे अज्ञात स्थानमें उड़ा ले जाता है, जहाँ थोड़ा प्रकाश है, अधिक छाया है।

इस सिद्धान्तमें एक बड़ा भारी सङ्कट यह है कि नीरस व्यक्ति उस दृश्यको ही सत्य समझ बैठते हैं और 'उस दृश्यपीठमें क्या हो रहा है' उसकी चिन्ता नहीं करते। इस छायामें कुछ शक्तियाँ होती हैं जिनमें सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि वह मस्तिष्कको स्वतन्त्र कर देती है, क्रियाको मन्द कर देती है और एक प्रकारकी शान्ति उत्पन्न कर देती है। उससे ऐसा विश्राम उत्पन्न होता है कि मन उसीके घेरेमें घूमने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि वास्तविक घटनाओंसे लौटा हुआ मन अनुभवके भावोंसे समृद्ध होकर लौटता है। शैक्सपियरके हेमलेट नाटकमें क़ब्र खोदनेवालोंका दृश्य ऐसा ही विश्राम देता है जिसे लोग 'कौमिक रिलीफ़' कहते हैं। संसार, तर्क, विवेक और वास्तविकतासे अधिक सम्बन्ध रखनेवाली सब वस्तुएँ सहसा छायामें पहुँचते ही परिवर्त्तित हो जाती हैं, सङ्गत वस्तु असङ्गत प्रतीत

होने लगती है, विवेक भ्रान्त हो जाता है, वास्तविकता भी अवास्तविक प्रतीत होती है, संसारकी बहुत बड़ी वस्तुएँ भी विरोधी प्रतीत होती हैं, प्रेम अविवेकपूर्ण जान पड़ता है, विश्वास असङ्गत हो जाता है और साहसमें कोई वास्तविकता नहीं दिखाई पड़ती। यही छायाका महत्त्व है और इसीमें प्रेम और नियम पलते हैं, क्योंकि जहाँ गम्भीरतम छाया होगी, वहाँ उच्चतम क्रम होगा और यही अन्तिम क्रम त्रासद कहलाता है।'

## नाटकका परिचय

नाटककारका सबसे कठिन काम यह है कि वह दर्शकोंके कुतूहलकी रक्षा करते हुए नाटकके पूर्वकी घटनाओंके सम्बन्धमें दर्शकोंको आवश्यक सूचना दे दे। यूनानियोंने अपने त्रासदोंमें यह प्रणाली चलाई थी कि प्रस्तावनामें ही वे या तो नाटककी पूरी कथा दे देते थे या परिचित कहानी सुनाकर लोगोंका मन बहलाते थे। इस प्रणालीसे कुतूहल नष्ट हो जाता है। एलिज़ाबेथ-कालीन मूकाभिनयोंमें भी प्रारम्भमें कथा बता डालनेकी प्रणाली थी। प्रायः नाटकोंकी यह परिपाटी रही है कि पहले ही दृश्यमें नाटकीय कथाके पूर्वकी आवश्यक कथा दो व्यक्तियोंकी बातचीतमें संक्षेपमें कहला लेते थे, जैसे—'एज़ यू लाइक इट'में एक पूछता है—'कहो! नई राजसभाका क्या नया समाचार है?' तो उत्तर मिलता है—'नया समाचार कुछ नहीं, वही पुराना समाचार है।' इतना कहकर वह पुरानी कथा सुना डालता है। अठारहवीं शताब्दिमें फ़्रांसमें विश्वस्त मित्र ( कौनफ़ीडेन्ट फ़्रेंड ) नामक पात्र प्रस्तुत करके नाटकीय कथाके पूर्वकी ज्ञातव्य बातें बतला देते थे। उन्नीसवीं शताब्दिके बैठकवाले नाटकों ( ड्राइंग रूम प्ले ) में नौकर और नौकरानी प्रारम्भमें आते हैं और अपने स्वामी तथा स्वामिनीके सम्बन्धमें सब बातें कह जाते हैं। इसमें भी अधिक कलात्मक विधि है नाटककी धाराके बीचसे ही कथाकी सूचना देना, जिसे पश्चावर्त्तन कौशल ( फ़्लैशबैक या कटबैक टेकनीक ) कहते हैं। इब्सनने अपने 'गुड़ियोंका घर' ( डौल्स-हाउस ) और भूत ( घोस्ट्स ) नामक नाटकोंमें इसीका प्रयोग किया था। उनमें ठीक उस समय पुरानी कथा कही जाती है जब नाट्य-व्यापार समझनेके लिये उसकी आवश्यकता पड़ती है।

### भविष्यवाणी ( प्रोफ़ैसी )

नाटकमें 'भविष्यवाणी' केवल भविष्यके लिये वचन देने-मात्रका काम नहीं करती, वरन् तत्सम्बद्ध शक्तियोंकी सार्वभौमिकताका अर्थात् उन शक्तियोंका परिचय देती है जो मनुष्यकी शक्तिसे परे हैं। इसमें चार बातें हो सकती हैं—

१. भविष्यमें होनेवाली घटनाके लिये साधारण सङ्केत, जो किसी प्रकार व्यवस्थित करके पूरा किया जाता है, जैसे जूलियस सीज़रमें 'मार्चके मध्य सावधान।'

२. जो कार्य पहले हो चुका है उसकी सूचना, जिसका शनैः-शनैः उद्‍घाटन ही नाटकका विकास होता है, जैसे ओडिपस।

३. ऐसा वचन जो सुननेमें आशाजनक हो किन्तु वास्तवमें मिथ्या हो, जैसे—चुड़ैलका वचन या कथन कि 'स्त्रीसे उत्पन्न कोई पुरुष मैकबेथको हानि नहीं पहुँचा सकता।'

४. ऐसी भविष्यवाणी जो स्वतः अपनेको सत्य करा देती हैं, जैसे लेडी मैकबेथके होते हुए चुड़ैलोंके वचन घटनाओंको इस प्रकार चलाते हैं कि वे सत्य हो जाती हैं। इनमेंसे अन्तिम प्रकार सबसे अधिक नाटकीय होते हैं किन्तु इसके उदाहरण कम मिलते हैं।

### अकाल-प्रयोग ( एनेक्रोनिज़्म )

कभी-कभी कुछ लेखक अपने काव्य लिखते हुए इस बातका विचार नहीं करते कि जिस युगका और स्थानका वे वर्णन कर रहे हैं वहाँ वे वस्तुएँ होती हैं या नहीं, जैसे—हरिऔधजीने मथुरा और गोकुलके बीच सब प्रकारके वृक्ष गिनवा दिए हैं या शेक्सपियरने अपने 'जूलियस सीज़र' नाटकमें घड़ीकी चर्चा की है। जो लोग अपने काव्योंमें प्रसिद्ध मर्यादाका ध्यान न रखकर रूढ प्रसिद्धिके विरुद्ध वर्णन देते हैं अथवा चित्रण करते हैं वह भी इसी प्रकारकी असङ्गतिमें आता है, जैसे मैथिलीशरण गुप्तके साकेत काव्यमें लक्ष्मणका वर्त्तमान छैलोंकी भाँति हँसी-ठट्ठा करना अथवा उर्मिलाका मध्यकालीन नायिकाओंके समान विलाप करना आदि। यह नाटकका दोष है।

### पूर्वाभास ( प्रोलेप्सिस )

यह प्रोक्रोनिज्मका रूप है, जिसमें किसी ऐसी बातका प्रयोग किया जा

रहा है जिसकी वास्तविक सङ्गति आगे प्रकट हो अथवा किसी ऐसे भावी कार्यका परिणाम पहलेसे मान लेना। यह भी नाटकका दोष है।

### पश्चावर्त्तन-कौशल ( फ्लैशबैक टेकनीक )

नाटकोंमें यह कौशल प्रायः चित्रोंसे ले लिया गया है जो पहले जासूसी कहानियोंमें भी था कि नाटकका आरम्भ किसी विशेष घटनाके परिणाम या मध्यसे किया जाय, जैसे किसी विशेष अपराध, वन्दीकरण या न्यायालयका प्रदर्शन करके और फिर सहसा रङ्गमञ्चपर अँधेरा करके उससे पहलेकी वह घटना या वे सब घटनाएँ शीघ्रतासे दृश्य-परिवर्त्तन करके दिखा दी जायँ, जिनके परिणाम-स्वरूप नाटकीय व्यापार प्रारम्भ हुआ था। कभी-कभी जब कोई पात्र अपनी पिछली घटना सुनाना चाहता है या स्मरण करने लगता है तब भी इसका प्रयोग किया जाता है। प्रायः स्वप्न दिखानेके लिये भी इस प्रकारकी व्यवस्था की जाती है कि रङ्गमञ्चपर अँधेरा कर दिया जाता है और उसके पीछे जालीके परदेपर स्वप्नका दृश्य पीछे प्रकाश देकर दिखा दिया जाता है। किन्तु पश्चावर्त्तन ( फ़्लैशबैक या कलबैक टेकनीक ) वास्तवमें वहीं होता है जहाँ पिछली घटना सहसा रङ्गमञ्चपर अँधेरा करके और दृश्य बदलकर दिखाई जाती है। जिस स्थलसे नाटक या कथामें सीधा कार्य प्रारम्भ हो जाता है उसे प्रारम्भसूत्र ( पौइंट ऑफ़ ए टेक् ) कहते हैं। प्रायः महाकाव्य या नाटकको बीचसे प्रारम्भ करते हैं और आगे चलकर पश्चावर्त्तन-कौशलसे पिछली कथा देते हैं।

### उलझन या जटिलता ( कौम्प्लिकेशन )

कथा प्रारम्भ करनेके अनन्तर नाटककारको कई परस्पर विरोधी घटनाएँ या शक्तियाँ इस प्रकार इकट्ठी कर देनी चाहिएँ कि ज्यों-ज्यों नाटकके पात्र उस सङ्घर्षके लिये परस्पर उलझते रहें त्यों-त्यों कथावस्तुकी उलझनें बढ़ती रहें। नाटकके कुतूहलकी स्थापना और वृद्धिके लिये इस प्रकारकी उलझन उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी उलझन ( ट्विस्टिङ्ग ) को यूनानीमें 'देसिस' कहते हैं और यही त्रासदका प्रथम पक्ष होता है।

### संघर्ष ( कौन्फ़्लिक्ट )

एफ़० ब्रूनेतिएका कथन है कि 'किसी नाटकके व्यापार या कथा-व्यापारको निश्चय करनेमें 'सङ्घर्ष' अत्यन्त मौलिक तत्त्व है।' विलियम आर्चरने इसके

बदले 'क्राइसिस' और क्लेटन हेमल्टनने 'कन्ट्रास्ट' शब्द तथा कुछ लोगोंने 'स्ट्रगिल' और 'अपोजिशन' शब्दका प्रयोग किया है। इस सङ्घर्षमें दो विरोधी शक्तियाँ होनी चाहिएँ अधिक नहीं, क्योंकि श्रोता या दर्शकका भावात्मक प्रवाह एककी ओर खिंचता चलता है और शेष सब उसे सहायता देने या उसे दूर हटानेमें सहायक होते हैं। ये विरोधी शक्तियाँ या तो दो व्यक्तियोंमें हों, जैसे नायक और प्रतिनायकमें या एक व्यक्ति और समाजमें हों। यह बाह्य सङ्घर्ष कहलाता है। किन्तु जब एक ही व्यक्ति ( नायक ) के मनके भीतर उठनेवाला द्वन्द्व हो तब वह सात्त्विक या आन्तरिक कहलाता है जैसे स्पेनी नाटकोंमें प्रेम और कर्त्तव्यका द्वन्द्व या 'सिलास मार्नर' नाटकमें 'विश्वास और भ्रान्तिका द्वन्द्व' है। स्पेनी नाटकोंके नायकोंका अन्त ( पुन्डोनोर ) विचित्र प्रकारका होता था। यहाँ किसीके सम्मानपर पहले कलङ्क लगा देते थे जो इस कलङ्कको दूर करनेके लिये अपना प्रेम, अपना जीवनका सब कुछ ही नष्ट करनेके लिये उद्यत हो जाता था और इस प्रकार वह कलङ्क ( पौइन्ट औफ़ औनर ) ही अन्त या विनाशका कारण हो जाता था। फ्राँसके 'नोब्लेस आब्लिगे'में भी यही बात थी अर्थात् वह 'सम्मानके प्रश्नपर' ही बाह्य और अन्तर्द्वन्द्व होता था।

### प्रतिकथानक ( काउन्टर प्लौट )

नाटकके मुख्य सङ्घर्षको बदलने या घुमाव देनेके लिये कुछ नाटककार एक दूसरा प्रतिकथानक या तुलनापूर्ण सङ्घर्ष जोड़ देते थे अर्थात् दूसरे स्तरपर उसी प्रकारका एक सङ्घर्ष प्रारम्भ करके जटिलता बढ़ा देते थे।

### विचक्र ( इन्ट्री )

नाटकमें कथावस्तुकी उस जटिलता या जटिल कथाके उस भागको विचक्र ( इन्ट्री ) कहते हैं, जहाँ विभिन्न घटनाएँ विरोधी शक्तियोंके सङ्घर्षमें परस्पर गुँथी रहती हैं। कभी-कभी बहुतसे नाटककार और कथाकार जटिलताको ही कुतूहल समझ बैठते हैं और वे इस फेरमें घटनाओंकी जटिलता अधिक दुरूह, असम्भव और अस्वाभाविक कर देते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है।

### संयोग ( कोइंसिडेंस )

सङ्घर्ष उत्पन्न करनेके लिये नाटककारको घटनाओंका 'संयोग' दिखाना पड़ता है, जिसके लिये बहुतसे नाटककार अपने नाटकोंमें ऐसी घटनाओंको

सम्भव ( पौसिबिल ) मान लेते हैं। किन्तु 'संयोग' ऐसी घटनाको कहते हैं, जिनके सम्बन्धमें यह शङ्का-युक्त भावना रहती है कि 'ऐसा भी हो सकता (लाइकली) है। अरस्तूने इसकी निन्दा करते हुए कहा है कि 'अविश्वसनीय सम्भव' ( इम्प्रोबेबिल-पौसिबिल ) के बदले 'विश्वसनीय सम्भव' ( प्रोबेबिल इम्पौसिबिल ) का प्रयोग अधिक अच्छा होता है और वह भी केवल आरभटी नाटक (मैलोड्रामा) में ही नहीं वरन् अन्य नाटकोंमें भी होता है। शेक्सपियरके त्रासदोंमें भी चाहे उनके परिणाम भले ही अपरिहार्य हों किन्तु उनके लिये भी उसने जिन साधनोंका प्रयोग किया है वे सब संयोगात्मक ही हैं, जैसे 'ओथेलो'में गिरा हुआ रूमाल। इसे ही कुछ लोगोंने दुर्दैव ( फ़िङ्गर औफ़ फ़ेट ) कहा है।

## अन्तर्द्वन्द्व : भूल ( ऐरर या हामार्तिया )

यूनानी त्रासदोंमें वह त्रासात्मक भूल या दोष 'हामार्तिया' कहलाता है जो किसी भले आदमीके पतनका कारण होता है। अधिकांश त्रासदोंमें केन्द्रीय व्यक्ति या नायकके मनके भीतर ही सङ्घर्ष होता है। यह भूल या तो १. अनजाने हो जाय, जैसे 'ओडीपस रैक्स'में, या २. जान-बूझकर तो हो पर अविचारिताके कारण हो या ३. पूर्ण रूपसे जान-बूझकर किया गया हो, जैसे मेक़बैथमें। यह भूल ( क ) या तो मनुष्यकी इच्छाओं और उसक शक्तिकी अनुपात-हीनतासे उद्भूत हो और वह भी दृढ़ चरित्रों और दुर्बल चरित्रों दोनोंमें भी हो सकती है अथवा ( ख ) आदर्शों और इच्छाओंके संघर्षसे उत्पन्न हो, जैसे यश या सम्मान और प्रेममें या ( ग ) सामाजिक शक्तियोंके दबाव या शिथिलतासे। इन सबमें एक ऐसी भावधारा होती है जो मुख्य पात्रको विवेक-पथसे विचलित कर देती है और उसीसे 'प्रत्यावर्त्तनके त्रासद'की सृष्टि होती है।

## प्रत्यावर्त्तनके त्रासद ( ट्रेजडी औफ़ रिक्वायल )

जब किसी नाटकमें नायककी अपनी भूलें अपरिहार्य रूपसे उसके विनाशकी सामग्री इकट्ठी करती हैं, उन्हें 'प्रत्यावर्त्तनके त्रासद' ( ट्रेजडी औफ़ रिक्वायल ) कहते हैं। यह त्रासद ( ट्रेजडी ) दूसरे प्रकारके 'परिस्थिति-सम्भव त्रासद' ( ट्रेजडी औफ़ सरकमस्टेन्स ) से भिन्न है।

### उत्तेजनात्मक क्रिया

नाटकों और कथाओंमें बाह्य और आन्तरिक दोनों सङ्घर्षोंका समन्वय होता है। इस सङ्घर्षकी स्थापनाके लिये कोई विरोधका कारण और लक्ष्य होना चाहिए, अर्थात् नाटकीय द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाली घटना होनी चाहिए, जिसे उत्तेजनात्मक क्रिया (एक्साइटिङ्ग फ़ोर्स) कहते हैं। ये ही सङ्घर्षकी घटनाएँ मिलकर कथावस्तु या संविधानककी रचना करती हैं और इन्हींका निर्णयकारी स्थल किसी नाटक या कथाका चरम स्थल ( क्लाइमेक्स ) होता है।

### खूँटा ( क्लाऊ ) और चरमोत्कर्ष ( क्लाइमेक्स )

फ़ान्सीसी भाषामें खूँटा ( क्लाऊ ) किसी उपन्यास या नाटकीय कथाकी उस परिस्थितिको कहते हैं जिसपर सम्पूर्ण कथा या आगेकी शेष कथा लटकती है या जिसका परिणाम जाननेके लिये श्रोता या पाठक साँस रोककर उत्सुकता-पूर्वक लटके रहते हैं। इसे ही हम साधारणतः चरमोत्कर्षकी उत्पादक परिस्थिति कह सकते हैं।

### विषम परिस्थिति ( एपितासिस या क्राइसिस )

इसी द्वन्द्वको अत्यन्त प्रबल करनेवाली परिस्थितिको 'एपितासिस' भी कहते हैं, जहाँ कथावस्तु या संविधानकमें वेग या शक्ति आ जाय और वह चरमोत्कर्षकी ओर बलपूर्वक धकेल दे। इसी अवसरको विषम अवसर ( क्राइसिस ) कहते हैं, जब नाटक या कथाकी विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार उलझती हैं और निर्णयात्मक स्थल अर्थात् क्लाइमेक्सकी ओर बढ़ती हैं। इसीके आधारपर विषमावसर नाटक ( ड्रामा ऑफ़ क्राइसिस ) लिखे गए, जिनमें मुख्य दुर्घटना नाटकसे पूर्व या नाटकके प्रारम्भमें हो चुकती है और जिसका ज्ञान पात्रोंको चरमोत्कर्ष ( क्लाइमेक्स ) के समय होता है। ये नाटक उन विकास-गतिक नाटक ( ड्रामा ऑफ़ डेवलपमेन्ट ) से पूर्णतः भिन्न होते हैं जिनमें प्रारम्भसे लेकर अन्ततक संघर्ष चलता है, जैसे 'रोमियो एण्ड जूलियट'। इसी विषम अवसरकी योजनाके लिये फ़्रांसमें 'आकस्मिक दृश्य' ( कूप दे थिएत्रे ) की प्रथा चली अर्थात् वहाँ किसी भी नाटकमें जनताको भावोद्वेलित करनेवाला कोई भी आकस्मिक रोमाञ्चकारी दृश्य ला रक्खा जाता था। इसी आधारपर आगे चलकर अत्यन्त नाटकीय तनावका

स्थल भी 'कूप दे थिएत्रे' कहलाने लगा और वहाँ अत्यन्त सफल नाटकको भी 'कूप दे थिएत्रे' कहने लगे।

### चरमोत्कर्ष ( क्लाइमेक्स )

किसी नाटक या कथामें वह कार्य या वह परिस्थिति चरमोत्कर्ष कहलाती है, जहाँसे नाटक या उपन्यासकी घटना सहसा दूसरी ओर मुड़ जाती है। नाटकीय संघर्षका यही निर्णयात्मक स्थल होता है। पाँच अङ्कवाले नाटकमें यह परिस्थिति प्रायः तृतीय अङ्कके आस-पास उत्पन्न होती है, जैसे 'हेमलेट'के खेलवाले दृश्यमें या 'औथेलो'के उस दृश्यमें जहाँ 'यागो' दोष निकालता है या अभिज्ञान-शाकुन्तलके शकुन्तलाके प्रत्याख्यानवाले दृश्यमें अथवा बर्नर्ड शौके 'सेन्ट जोन' नाटकके 'जाँच' ( इन्क्वीज़िशन ) दृश्यमें।

### उद्घाटन या निर्वहण ( डिनूवमेन्ट या अनरैवेलिङ्ग )

हम पीछे बता आए हैं कि 'त्रासद'का प्रथम पक्ष होता है उलझन ( ट्विस्टिङ्ग, कौम्प्लिकेशन या देसिस )। उसका दूसरा पक्ष होता है सुलझन ( डिनूवमेण्ट )। नाटकीय कथावस्तुमें जिस स्थानसे नाटककी उलझन दूर होने लगती है और कवि उपसंहारकी ओर चलने लगता है उसे सुलझन ( डिनूवमेण्ट ) कहते हैं, जैसे—अभिज्ञान-शाकुन्तलके अन्तिम दृश्यमें भरतका सिंहके बच्चेसे खेलते दिखाना उसी सुलझनका प्रारम्भ है। नाटकके चरमोत्कर्ष ( क्लाइमेक्स ) के तत्काल पश्चात् जो नाटकका दुःखमय अन्त ( कतास्त्रोफ़ी या कैटेस्ट्रौफ़ी अर्थात् नायक या नायिकाका अन्त ) या अन्य सफलतापूर्ण घटना होती है और। जिससे नाटकीय सङ्घर्ष समाप्त हो जाता है उसे निर्वहण ( डिनूवमेन्ट या अनरैवेलिङ्ग ) कहते हैं। इस कथा-परिवर्त्तन या कथाके चरमोत्कर्षसे अन्तिम परिणामकी ओर लुढ़कनेकी क्रियाको प्रपतन-क्रिया ( फ़ौलिङ्ग एक्शन ) कहते हैं।

### फलागम ( रिज़ोल्यूशन )

जब नाटकमें उपस्थित की हुई सब कठिनाइयाँ दूर कर दी जाती हैं और नाटकका उपसंहार स्पष्ट हो जाता है तब उसे फलागम (रिज़ोल्यूशन) कहते हैं।

### नाटकके भाग

त्रासद नाटकके चार भाग माने गए हैं—१. प्रोतासिस ( प्रारम्भ ), २. एपितासिस ( मुख्य कार्य जो परिणामकी ओर ले जानेवाला हो ),

३. कतास्तासिस ( वह व्यापार जो चरमोत्कर्षतक उठा दे ) और ४. कतास्त्रोफ़ी ( दुःखमय अन्त )।

नाट्य त्रिकोण

जर्मन उपन्यासकार फ्रेटाग गुस्टावने 'नाट्य-कौशल' ( टेक्नीक डेस ड्रामास, १८६३ ) नामक ग्रन्थमें पाँच अङ्कवाले नाटककी रचनाका स्वरूप बतानेके लिये एक त्रिकोण ( पिरेमिड ) खींचा है, जिसे व्यापक रूपसे नाटककार मान्य समझते हैं।
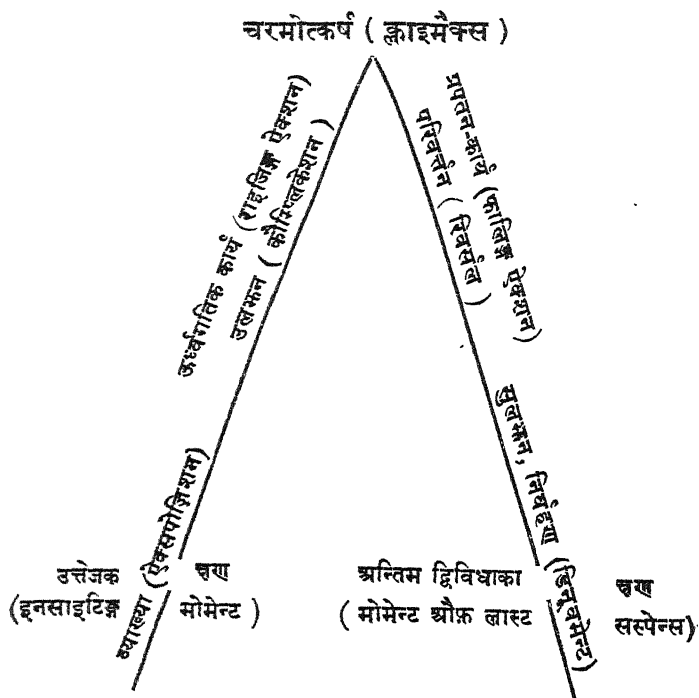
पात्र-योजना

पात्रके अन्तर्गत वे सब मनुष्य, पशु-पक्षी, मानवित भाव ( पर्सोनीफ़ाइड फ़ीलिंग्स या आइडियाज़ ) अथवा मानवित जड़ पदार्थ आ जाते हैं जो नाटकका व्यापार या कार्य करते हों। नाटकीय अर्थको दर्शकोंतक पहुँचानेमें

जो योग देते हैं, वे सब अभिनेता हैं । मनुष्योंके अतिरिक्त बहुतसे नाटककारोंने अन्य जीवों, भावों तथा जड़ पदार्थोंको भी पात्रके रूपमें प्रकट किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें मृग, भ्रमर, लता, वृक्ष, वनदेवता और कोकिल, रत्नावलीमें सारिका और बाल-रामायणमें पुत्तलिकाएँ भी नाटकीय व्यापारमें अन्य पात्रोंके समान योग देती हैं । आजकलके बहुतसे नाटकोंमें अफ्रीकी वानर ( बैबून ), बनमानुस, कुत्ता, शुक तथा अन्य पशु-पक्षी भी इस प्रकार शिक्षित किए जाते हैं कि वे नाटकके व्यापारमें बुद्धिमत्तापूर्वक शिक्षित-जैसा व्यापार करें । इनमेंसे शुक तो सिखाए हुए शब्दतक बोलता है । 'सन्त ज्ञानेश्वर' नामक चलचित्रके निर्माताओंने भैंसेसे वेदपाठ कराया है । प्रबोधचन्द्रोदयमें विवेक, मति, सन्तोष, श्रद्धा, शान्ति, करुणा आदि भाव मानवीय स्वरूपमें आते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक प्रयोगोंमें चित्र-कौशलके द्वारा कटे हुए सिर बोलते हैं, कटे हुए हाथ काम करते हैं, मनुष्यकी ठठरी चलती-फिरती और प्रेम-लीला करती है, यहाँतक कि मनुष्यकी खोपड़ी मनुष्यके स्वरमें बोलती भी है । यद्यपि इस प्रकारके व्यापार यन्त्र-चालित ही होते हैं किन्तु अभिनयमें उनका योग तो होता ही है । फिर अभिनेताओंको भी तो शिक्षा दी ही जाती है । अन्तर केवल इतना ही होता है कि मानव अभिनेता सात्त्विक अभिनय भी कर सकते हैं, पशु-पक्षी और जड़ पदार्थ सात्त्विक अभिनय नहीं कर सकते । अतः यह निष्कर्ष निकला कि पशु-पक्षी, मनुष्य, जड़-प्रकृति सभी अभिनय-व्यापारके लिये पात्र हो सकते हैं । इनके अतिरिक्त दिव्य या अलौकिल शक्तियोंका भी पात्र-रूपमें प्रयोग किया गया है, जैसे देवता, भूत, प्रेत, राक्षस, किन्नर, देवदूत आदि ।

### पात्रोंकी पाँच श्रेणियाँ

इस दृष्टिसे हम पात्रोंको पाँच श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं— १. अलौकिक तत्त्व, २. मानव, ३. पशु-पक्षी आदि जीव, ४. जड़ पदार्थ, और ५. भाव ।

### भरतकी पात्र-योजना

भरतने पुरुषों और स्त्रियोंको उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके स्वभाववाला बताया है । उत्तम प्रकृतिके पुरुष जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, शास्त्र-कुशल, सबको प्रसन्न करनेवाले, ऐश्वर्य-शील, दीन-बन्धु, अनेक शास्त्र-मर्मज्ञ,

गम्भीर, उदार, धीर और त्यागी होते हैं। मध्यम प्रकृतिवाले पुरुष लोक-व्यवहारमें चतुर, शिल्प-शास्त्रमें प्रवीण, विज्ञानयुक्त और मधुर व्यवहारवाले होते हैं। अधम प्रकृतिके पुरुष रूखा बोलनेवाले, दूसरोंसे बुरा व्यवहार करनेवाले, दुष्ट, मन्द-बुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक कौशलोंसे प्राण लेनेवाले, पिशुनी, घमण्डी, उद्दण्ड, कृतघ्न, आलसी, मान्यका अपमान करनेमें प्रवीण, स्त्रियोंके पीछे फिरनेवाले, झगड़ालू, दूसरोंका दोष ढूँढनेवाले, पापी तथा दूसरोंका धन हरनेवाले होते हैं।

### तीन प्रकारकी स्त्रियाँ

उत्तम प्रकृतिकी स्त्री मृदु व्यवहार करनेवाली, शान्त, सदा प्रसन्न रहनेवाली, कोमल स्वभावकी, सदा सबको भली बात कहनेवाली, लज्जाशील, नम्रतासे भरी हुई, सबको प्रिय लगनेवाले रूप और माधुर्यवाली, स्वाभाविक गुणोंवाली, गम्भीर और धैर्यसे युक्त होती है। मध्यम प्रकृतिवाली स्त्री वह कहलाती है, जिसमें बहुत अच्छे गुण भले ही न हों किन्तु अवगुण भी न हों और हों भी तो कोई-कोई छोटे-मोटे। अधम प्रकृतिवाली स्त्री वह है, जिसमें अधम पुरुषोंके लक्षण पाए जायँ। जो मिश्र और अधमके लक्षणोंसे युक्त हो उसे नपुंसक समझना चाहिए। चेटी आदिको भी मिश्र स्वभावका ही समझना चाहिए अर्थात् जो कभी स्थिर हों, कभी अस्थिर हों। इसके अतिरिक्त द्विज, विदूषक और शकार आदि पात्रोंको मिश्र प्रकृतिवाला ही समझना चाहिए।

### नायक

बहुतसे पुरुषोंका जो अग्रणी हो उसे नायक कहते हैं, उनमें भी जो नायक विपत्ति और अभ्युदयमें सुखका अनुभव करता हो और दोनों अवस्थाओंमें जो अपनी श्रेष्ठता बनाए रखता हो वही नायक कहा जा सकता है। ऐसे चार प्रकारके नायक बताए गए हैं—१. धीरोद्धत, २. धीरललित, ३. धीरोदात्त और ४. धीरशान्त। देवता धीरोद्धत होते हैं। राजा धीरललित होते हैं। सेनापति और अमात्य धीरोदात्त, तथा ब्राह्मण और वैश्य धीर-शान्त होते हैं। इन चारोंके चार प्रकारके विदूषक होते हैं। देवताओंके विदूषक लिङ्गी (संन्यासी या धर्मध्वजी); राजाओंके विदूषक ब्राह्मण; सेनापति और अमात्यके विदूषक राजपुरुष और ब्राह्मण-वैश्य नायकोंके विदूषक उनके शिष्य होते हैं।

### राजपरिवारकी स्त्रियाँ

उदात्त और निभृत जातिवाली स्त्रियाँ कुलाङ्गना होती हैं और ललित तथा उदात्त प्रकृतिवाली गणिका तथा शिल्पकारिका होती हैं। इन सबकी प्रकृतिका प्रयोग दो प्रकारका होता है—

१. राजोपचारको आभ्यन्तर उपचार कहते हैं।

२. बाहरी उपचारको बाह्यक कहते हैं। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाली राजोपचार कहलाती है।

इसके पश्चात् भरतने राजाके अन्तःपुरकी स्त्रियोंमें महादेवी, देवी, स्वामिनी, आश्रिता, रखेली, शिल्प-कारिणी, नाटकीया ( नाटक करनेवाली ), नाचनेवाली, अङ्गरक्षिका, सेविका, राजारानी अथवा प्रेमी-प्रेयसीके बीच सन्धि करानेवाली, सन्देशवाहिका, प्रधान सेविका, द्वाररक्षिका, कुमारी, वृद्धा और मन्त्रणा देनेवाली आयुक्तिकाका वर्णन किया है।

नाटकमें स्त्रियोंको किस प्रकार नियुक्त करना चाहिए इस सम्बन्धमें भरत कहते हैं—'अधिकार-पदपर तथा किसी विशेष काममें उन्हीं स्त्रियोंको नियुक्त करना चाहिए जो उद्भट अर्थात् उदात्त चरित्रकी हों, उद्भ्रान्त अर्थात् घबराई हुई न हों, लोभी न हों, निष्ठुर न हों तथा शान्त, क्षमाशील, प्रसन्न, क्रोध-रहित, सदाचारिणी, पूज्य, स्त्रियोंके दोषोंसे मुक्त, स्वामीमें अनुराग रखनेवाली, भक्त और अनेक प्रकारकी कुटिलताओंसे दूर हों।

### नपुंसक

नपुंसक नामकी जो तीसरे प्रकारकी प्रकृति बताई गई है, उससे राजाओंके अन्तःपुरका काम लेना चाहिए। कारका, कञ्चुकी ( अन्तःपुरकी दासी ), नपुंसक, औपस्थापिका तथा निर्मुण्डा स्त्रियोंको इधर-उधर सन्देश भेजने तथा कुमारियों और बालिकाओंकी रक्षामें लगाना चाहिए। अन्तःपुरकी सँभालका काम, रानियोंकी टहल बजानेका काम और नाट्यागारका काम ऐसी स्त्रीको सौंपना चाहिए, जो सब बातें ठीकसे जानती हो। जिनमें स्त्रियोंके अत्यन्त अल्प लक्षण हों, जो स्त्री-स्वभाववाले नपुंसक हों और जो जन्मसे ही गूँगे हों उन्हें वर्षवर कहते हैं। देवियोंके कामके लिये राजाको चाहिए कि ऐसे ब्राह्मणोंको नियुक्त करें जो कुशल हों, वृद्ध हों और जिनमें कलाके दोष न हों।

इनका वर्णन करके भरतने राजा, सेनापति, पुरोहित, मन्त्री, सचिव, प्राड्विवाक ( निर्णायक ), कुमारभृत् आदि ऐसे बहुतसे राजसेवकोंका विवरण देते हुए कहा है कि 'बुद्धिमान, नीति - सम्पन्न, पराक्रमी, प्रियभाषी, अर्थ-शास्त्रमें कुशल, प्रजाका हित चाहनेवाले और धार्मिक पुरुषको ही अमात्य या मन्त्री बनाना चाहिए। व्यवहार और अर्थ अर्थात् लोकाचार और अर्थशास्त्रके सब तत्त्व जाननेवाले, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, निष्पक्ष, धार्मिक बुद्धिवाले, कार्य और अकार्यका भेद जाननेवाले, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले लोगोंको निर्णायकके पदपर रखना चाहिए। जागरूक, सावधान, निरालस, कभी न थकनेवाले, कोमल हृदय-वाले, क्षमाशील, विनीत, निष्पक्ष, चतुर, नीति और विनय जाननेवाले, उचित-अनुचितका विचार करनेवाले, सब शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि विकारोंसे हीन लोगोंको वृहस्पतिके मतसे सभामें नियुक्त करना चाहिए।'

भरतने विशेष रूपसे राजाओंके अन्तःपुर तथा सभामें काम आनेवाले व्यक्तियोंके गुणोंका लेखा-भर दे दिया है और वह भी उतना स्पष्ट और विस्तृत नहीं है कि उससे त्रिलोकके पुरुषों और स्त्रियोंकी प्रकृतिका ज्ञान हो सके। पीछेके आचार्योंने इस कमीका अनुभव किया और विस्तारके साथ स्त्रियों और पुरुषोंके स्वभाव और अवस्थाके अनुसार उनके अनेक भेद किए। इस प्रकार नायक-नायिका-भेद हमारे काव्यशास्त्रका एक मुख्य अङ्ग बन गया।

### भरत, नट और शैलूष

शारदातनयने नाटकसे सम्बन्धित पात्रोंका विवरण देते हुए कहा है— 'जो व्यक्ति अनेक स्वभाववाले संसारके भावोंको वैसा-वैसा रूप धारण करके प्रकाशित करते हैं, जो लोग भाषा, वर्ण आदि सामग्रियोंसे भूतकालके समाजकी अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिवालोंके वेष, अवस्था कर्म तथा चेष्टा करके रङ्गमञ्चपर अभिनय दिखाते हैं, उन्हें भरत कहते हैं। जो लोग रस और भावसे युक्त भूतकालकी कथा स्वाभाविक रूपसे अभिनीत करते हैं; वे नट कहलाते हैं। जो वर्त्तमान कालके लोगोंके जैसा रूपक बनाकर भाव प्रदर्शित करें, वे शैलूष ( नकल उतारनेवाले ) कहलाते हैं। तीनोंमें अन्तर यह है कि शैलूष तो बिना किसी प्रकारका वेष आदि धारण किए ही केवल दूसरोंके

भावोंका अनुकरण करता है, भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियोंके साथ भरत केवल दूसरोंके वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओंका अनुकरण करता है और नट किसी प्राचीन कथाके पात्रोंका रस-भावयुक्त अभिनय करता है।'

## सूत्रधार और उसका परिवार

सूत्रधारको इसलिये सूत्रधार कहते हैं कि वह नान्दीपाठके पश्चात् काव्यमें प्रस्तुत वस्तु, नेताओंके चरित और रसोंको इकट्ठा करके एक डोरेमें पिरो देता है अर्थात् संक्षेपमें कह देता है। जो व्यक्ति चारों वाद्य बजानेमें कुशल, वक्ता, मधुरभाषी, गीत तथा तालका ज्ञाता और समझ-बूझकर सबका प्रयोग करनेवाला हो, उसे सूत्रधार कहते हैं। जो व्यक्ति भरतके द्वारा अभिनय किए हुए अनेक रसोंपर आश्रित भावोंका परिष्कार करता चलता है और सदा भरतके पास रहता है, वह पारिपार्श्विक कहलाता है। जो तेजस्वी, रूपवान्, राजाओंके लिये सब साधन जुटानेमें समर्थ, मेधावी, सब बातोंको ठीक-ठीक समझनेवाले, रङ्गशालाका सब विधान जाननेवाले, अपने-अपने काममें कुशल, सूत्रधारकी सहायता करनेवाले, चतुर, यथोचित कार्य करनेवाले लोग होते हैं, वे नाट्यमें नट या अभिनेता बन सकते हैं। अनेक प्रकारकी भूमिकाओंमें क्रिया, वाणी और आङ्गिक चेष्टाओंसे नाटकके पात्रकी प्रकृतिका ठीक-ठीक अभिनय करनेमें जो कुशल होते हैं, वे कुशीलव कहलाते हैं। चारों प्रकारके वाद्योंका भेद जाननेवाली और वाद्य-कलामें प्रवीण, करण और अभिनय जाननेवाली, सब भाषाओंकी पण्डिता, सब कामोंमें नटकी आज्ञा माननेवाली, नटकी पत्नीको नटी कहते हैं। विदूषक भी सर्वत्र विनोदमें काम आता है जो अवसरके अनुकूल आचरण करनेकी प्रतिभावाला, चारों प्रकारके नर्म (नर्म-स्फिञ्ज, नर्म-स्फोट, नर्मगर्भ और नर्म अर्थात् मनोविनोदके भेद और प्रयोग) जाननेवाला, वेद जाननेवाला और नायकके मनोविनोदके साधन पहचाननेवाला होता है और साथ ही वह गञ्जा, पीली आँखोंवाला हास्य-स्वभाववाला, पीले बालवाला, भूरी दाढ़ीवाला और नाचनेवाला होता है। वेश्यासे व्यवहार करनेमें कुशल, मधुरभाषी, सबको प्रसन्न रखनेवाला, सबका कहा माननेवाला, बात बनानेमें कुशल और प्रेम-व्यापारमें मन्त्रणा देनेवाला वह चतुर व्यक्ति विट कहलाता है जो माला और आभूषणसे सजा हुआ, अकारण क्रुद्ध और प्रसन्न होनेवाला, नटखट

और प्राकृतमें ही सदा बोलता हो। ये सब नाट्य करनेवाले लोग राजाओंके सुख भोगनेमें सहायक होते हैं।

### अन्तःपुर

राजाओंके अन्तःपुरमें तीन प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं—१. एकमें तो महिषी (पटरानी), महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, अन्तःपुरिका, परिचारिका, शैयापाली, छत्रपाली, चामर-धारिणी, संवाहिका (पैर दबानेवाली), गन्धयोक्त्री (सुगन्धित पदार्थ लाकर देनेवाली), माला और आभूषण सजानेवाली, अनुचारिका, अनेक कक्षाओं (विभागों) की रक्षिका, उपवन (रनिवासके बाग) की रक्षिका, मन्दिर, यज्ञ, क्रीडागार, रनिवास और भवनकी रक्षा करनेवाली सेविकाएँ होती हैं।

२. दूसरीमें बीड़ा (पान) देनेवाली, चोबदारिन, असिधारिणी, आह्वायिका (लोगोंको बुला-बुलाकर लानेवाली), प्रेक्षणिका (देख-भाल करनेवाली), यामिनिकी (रातकी पहरेदारिन) ये सब राजाकी सञ्चारिकाएँ और परिचारिकाएँ होती हैं। ये सदा राजाके साथ रहती हैं।

३. तीसरीमें महत्तरी, प्रतीहारी, वृद्धा, आयुक्तिका, काञ्चुकीया, वर्षवरा, किराता, कुब्जा, वामना (बौनी), औपस्थापिकी, निर्मुण्डा, अभ्यागारा और मूकी (गूँगी) हैं जो अन्तःपुरमें रहती हैं।

इसके पश्चात् भरतने नटसे लेकर अन्तःपुरचरोंतकका वर्णन दिया है और राजा तथा राजपरिवारके लक्षण बताए हैं। इस वक्तव्यसे स्पष्ट है कि भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें जिन्हें नाट्यके पात्रोंके उपयुक्त लोक-प्रकृतिके अनुसार विभाजित करके रक्खा है, वे शारदातनयके अनुसार नट और प्रेक्षक-मात्र हैं। भरतने राजपरिवारका वर्णन नाट्यपात्रके रूपमें दिया है और शारदातनयने प्रेक्षकके रूपमें।

### नायक और प्रतिनायक

भरतने रसप्रकरणमें भी विभावका विचार करते हुए नायक-नायिकाओंका विचार नहीं किया, किन्तु पीछेके सभी आचार्योंने आलम्बन विभावकी चर्चा करते हुए नायक-नायिकाओंका विस्तृत विवरण दिया है। नाट्य-दर्पणकारने नायकका लक्षण देते हुए प्रारम्भमें ही धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीरशान्त नेताओंकी व्याख्या की है—

'मध्यम और उत्तम नेता (नायक), स्वभावके अनुसार चार प्रकारके बताए गए हैं—१. धीरोद्धत, २. धीरोदात्त, धीरललित, और ४. धीरशान्त। देवता धीरोद्धत होते हैं,सेनापति और मन्त्री लोग धीरोदात्त होते हैं, वैश्य और ब्राह्मण धीरशान्त होते हैं और राजा लोग चारों प्रकारके होते हैं।

नञ्जराजयशोभूषणके रचयिता अभिनवकालिदासने उक्त ग्रन्थके नाटक-प्रकरणमें विभिन्न रसोंके लिये अलग-अलग नायकोंकी कल्पना की है और उनके लक्षण बताए हैं। इस प्रकारसे विभिन्न रसोंके लिये अलग-अलग नायकोंका निर्धारण इसी ग्रन्थमें मिलता है। वह लिखता है—

'जो व्यक्ति प्रेममें दृढ़, सुन्दर, कलाओंका ज्ञाता, विलासयुक्त और काम-कलाओंमें चतुर हो, वह शृङ्गार रसके नाटकका नायक होता है। जो वीर, पराक्रमी, तेजस्वी, गम्भीर, मानी और सदा युद्धके लिये तत्पर रहे, वह वीर रसके नाटकका नायक होता है। जो व्यक्ति चञ्चल, सबके दोष निकालनेवाला, हर्ष बढ़ानेवाला, निन्दा करनेवाला, हँसानेकी क्रियाओंमें चतुर और बात बनाना जानता हो, वह हास्य-रसका नायक होता है। जो सदा चिन्तित रहता हो, दीन, श्रान्त, अकर्मण्य, खिन्न, भूला हुआ और दुखी हो, वह करुण रसके नाटकका नायक होता है। हर्ष और क्रोधसे युक्त, किसीकी न माननेवाला, अभिमानमें चूर, चञ्चल चित्त-वाला और अत्यन्त उत्साहवाला व्यक्ति रौद्र-रसके नाटकका नायक होता है। जिसके मुँहसे ठीक शब्द न निकलते हों, जो बहुत हीन मुद्रावाला, किंकर्त्तव्य-विमूढ़, दुखी, हड़बड़िया, पसीने-पसीने होनेवाला तथा सदा काँपता रहनेवाला हो, वह भयानक रसका नायक होता है। मदिरा और माँससे जिसका शरीर सना हो, जिसके मुखपर भय और घबराहटके भाव हों, मुँहसे लार टपकती हो और जो मदमें चूर हो, वह बीभत्स रसका नायक होता है। जो जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, सात्त्विक गुणोंसे युक्त, सदा प्रसन्न रहनेवाला, परम सत्त्वशील और धीर हो, वह शान्त रसका नायक होता है। ये भी दो प्रकारके होते हैं—एक नायक और दूसरा प्रतिनायक। जो नायकसे कुछ कम गुणवाला, नायकके दुःखमें दुखी और नायकका प्रिय होता है वह उपनायक होता है, जैसे रामायणमें सुग्रीव, लक्ष्मण आदि। जो सब प्रकारके व्यसनोंमें लिप्त, पापी और द्वेषके योग्य हो वह प्रतिनायक कहलाता है, जैसे—रावण आदि।'

### नायक-नायिका-भेद

इनके अतिरिक्त सभी लक्षण ग्रन्थोंमें आचार्योंने प्राय: विभावकी व्याख्या करते हुए नायक-नायिकाओंके अनेक विभेद किए हैं और उनके गुणोंका भी विस्तारसे विवरण दिया है। दशरूपककारने जिस प्रकार पात्रोंकी योजना की है, उसे ही प्राय: अन्य सब आचार्योंने माना है। उसने ये सब गुण और यह विवरण नाटकीय पात्रोंके विषयमें दिया है, साहित्य-दर्पणकारके समान विभावके आलम्बन पक्षके विवरणमें नहीं, यद्यपि साहित्य-दर्पणकारने भी बातें वही कही हैं जो धनञ्जयने अपने दशरूपकमें। बहुतसे आचार्योंने नायक-नायिकाके भेद करते-करते उनकी संख्या कई सहस्रतक पहुँचा दी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्योंकी इससे मन-स्तुष्टि हो गई, क्योंकि प्रत्येक युग और युगकी परिस्थितियोंके अनुकूल पुरुष और स्त्रियोंकी मानसिक गति, रुचि, वृत्ति और प्रवृत्तिमें अन्तर होता रहता है और तदनुसार भेद-प्रभेद भी बढ़ते रहते हैं। आज यातायातकी सुविधा, तार, बेतारके तार आदि साधनोंके कारण नायिकाओंकी विरहोत्कण्ठा नगण्य हो गई है किन्तु फिर भी कुछ बातें ऐसी देशकालाद्यवच्छिन्न हैं कि वे सदा रही हैं, सदा रहेंगी।

रूपकके प्रधान पात्रको नायक कहते हैं, क्योंकि वह नाटकीय कथाकी शृङ्खलाको अग्रसर करता हुआ अन्ततक ले जाता है। उसे १. विनीत, २. मधुर, ३. त्यागी, ४. दक्ष, ५. प्रियंवद, ६. शुचि, ७. रक्तलोक, ८. वाग्मी, ९. रूढवंश, १०. स्थिर, ११. युवा, १२. बुद्धिमान्, १३. प्रज्ञावान्, १४. स्मृति-सम्पन्न, १५. उत्साही, १६. कलावान्, १७. शास्त्रचक्षु, १८. आत्मसम्मानी, १९. शूर, २०. दृढ़, २१. तेजस्वी और २२. धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्रके अनुसार उसे सब उच्च गुणोंका आधार होना चाहिए, परन्तु प्रत्येक गुण उचित सीमाके भीतर हों।

### चार प्रकारके नायक

स्वभाव-भेदसे नायक चार प्रकारके होते हैं—शान्त, ललित, उदात्त और उद्धत। धीरताका गुण चारों प्रकारके नायकोंमें होना चाहिए। भारतीय विचार-पद्धतिके अनुसार मनुष्यका स्वभाव दृढ होना चाहिए। अतएव

नायकका स्थान वही पा सकता है, जो अपने आपको वशमें रख सकता हो। अधीरता स्त्री-सुलभ गुण है, नायकके लिये वह उचित नहीं है। साहित्य-सारमें तीन ही प्रकारके नायक माने गए हैं। उद्धत नायकको उसमें स्थान नहीं दिया गया है।

धीरशान्त : इस नायकमें नायकोचित सामान्य गुण होते हैं। धनञ्जयके अनुसार वह 'द्विजादिक'मेंसे ही होता है। धनिकने 'द्विजादिक' की व्याख्या 'विप्रवणिग्सचिवादि' की है। क्षत्रिय राजा या राजकुमारको छोड़कर शेष सबको द्विजादिकमें गिनना चाहिए। ललित नायकके उपयुक्त निश्चिन्तता आदि गुण सम्पन्न होनेपर भी विप्र आदि धीरशान्त ही गिने जायँगे, ललित नहीं। यह धनिककी सम्मति है। सम्भवतः लालित्यके लिये राजस गुणकी प्रधानता अपेक्षित है, जिसका ब्राह्मणादिकमें अभाव माना गया है। सात्त्विक वृत्ति-प्रधान होनेके कारण वे शान्त ही माने जाते हैं।

धीरललित : यह नायक निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदुल स्वभावका होता है। यह प्रायः राजा हुआ करता है जो अपने राजकार्यका भार दूसरोंपर सौंपकर नवीन प्रेममें लिप्त हो जाता है।

धीरोदात्त : यह नायक शोक, क्रोध आदि मनोवेगोंसे विचलित नहीं होता इसीलिये उसे महासत्त्व कहा जाता है। वह क्षमावान्, अति गम्भीर, स्थिर और दृढ़व्रत होता है। अपनी प्रशंसा वह अपने आप नहीं करता, वह गर्व करता है परन्तु उसका गर्व विनयसे ढका होता है, वह जिस कामको उठाता है उसे निभाकर छोड़ता है। इनमेंसे स्थिरता, दृढ़ता आदि गुण सामान्यतः प्रत्येक प्रकारके नायकमें बताए गए हैं परन्तु इनकी पराकाष्ठा धीरोदात्त नायकमें ही देख पड़ती है। सब उच्च वृत्तियोंके उत्कर्षका ही नाम औदात्त है।

धीरोद्धत : यह नायक द्वेषी, मायावी, छली, प्रचण्ड, चपल, असहनशील, अहङ्कारी, शूर और स्वयं अपनी प्रशंसा करनेवाला होता है। मन्त्र-बलसे कुछका-कुछ कर दिखानेकी माया करता है। उद्धत नायकको अपने बल और वैभवका दर्प रहता है।

साहित्यसारमें तो उद्धत नायक माना ही नहीं गया है। हाँ, गौण पात्रोंमें उद्धतताके लक्षण मिलते हैं। विचित्र बात यह है कि भरतने

देवताओंको धीरोद्धत नायक माना है और पीछेके आचार्योंने रावण जैसे पात्रको धीरोद्धत बताया है ।

नाटकका नायक, आदिसे अन्ततक, इन चार प्रकारोंमेंसे किसी एक प्रकारका होना चाहिए, अन्यथा नाटकीय शृंखलाकी एकताकी रक्षा असम्भव है । हाँ, गौण पात्रमें स्वभावका परिवर्त्तन दिखाया जा सकता है । कहीं वह ललित, कहीं शान्त, कहीं उदात्त और कहीं उद्धत हो सकता है ।

इन चार प्रकारोंके भी चार-चार भेद होते हैं—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ और ४. धृष्ट । अनुकूल नायक एक ही नायिकामें अनुरक्त रहता है । वह एक पत्नी-व्रती होता है, जैसे उत्तर-रामचरितमें राम । शेष तीन भेदोंका आधार पूर्व नायिकाके प्रति नायककी चित्तवृत्ति है । दक्षिण नायककी एकसे अधिक नायिकाएँ अथवा पत्नियाँ होती हैं । नवीन प्रेममें अनुरक्त होनेपर भी वह अपने पुराने प्रेमको कम नहीं करता । पहली नायिकासे उसका सदय व्यवहार रहता है और अपनी सब प्रेमिकाओंमें वह समान प्रेम रखता है । शठ नायक दिखानेके लिये एक ही पत्नीमें अनुरक्त रहता है, परन्तु छिपे-छिपे और नायिकाओंसे भी प्रेम करता है । वह अपने नवीन प्रेमको छिपानेका प्रयत्न करता रहता है । धृष्ट नायक खुले विप्रिय आचरण करता है । अन्य प्रेमिकाके साथ रति करके दन्त-नख-क्षतादि चिह्न दिखाते उसे लज्जा नहीं आती । ज्येष्ठा नायिकापर उसका पूर्ववत् प्रेम नहीं रहता ।

चार प्रकारके नायकोंके चार-चार भेद होनेसे नायकके सोलह भेद होते हैं । नाट्याचार्य भरतने उनके उत्तम, मध्यम और अधम तीन-तीन भेद और माने हैं । इस प्रकार नायकके अड़तालीस भेद हुए । इन अड़तालीसके भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन-तीन भेद और माने जाते हैं । दिव्य देवता, अदिव्य मनुष्य और मनुष्यका रूप धारण किए देवता दिव्यादिव्य होते हैं । इस प्रकार नायकके कुल मिलाकर एक सौ चवालीस भेद होते हैं ।

### नायकके सहायक

नायकके कई सहायक होते हैं । पीठमर्द सबसे मुख्य सहायक होता है । यह नायकका अन्तरङ्ग मित्र और प्रासङ्गिक वस्तुका पताका-नायक होता है । उसमें अधिकारी नायकके सब गुण होते हैं पर न्यून मात्रामें । उसे कार्य-कुशल ( विचक्षण ), अनुचारी और भक्त होना चाहिए ।

नायकके शेष सहायक कार्यानुसारी होते हैं। कार्यके अनुसार उनके विभाग साहित्य-दर्पणमें इस प्रकार किए गए हैं—

१. शृङ्गार-सहाय, २. अर्थचिन्ता-सहाय , ३. धर्म-सहाय , ४. दण्ड-सहाय, ५. अन्तःपुर-सहाय और ६. सम्वाद-सहाय अथवा दूत। शृङ्गार-सहायमें १. विट, २. चेट, ३. विदूषक, ४. मालाकार, ५. रजक, ६. तमोली और ७. गन्धी आदि होते हैं। अर्थचिन्ता-सहायमें नाटकोंके नायक विशेषतः राजा हुआ करते हैं, जिन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्थाके लिये मन्त्री और कोषाध्यक्षपर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु धीर-ललित नायक अर्थ-सिद्धिके लिये मन्त्रदाताओंपर अवलम्बित नहीं रहता और धीर-शान्त नायकको धनकी विशेष चिन्ता ही नहीं होती। दण्ड-सहाय दुष्टोंके दमनमें सहायक होते हैं। ये सुहृद् (मित्र), कुमार, आटविक ( सीमारक्षक ), सामन्त और सैनिक आदि होते हैं। दण्ड-सहाय और अर्थचिन्ता-सहाय राज्य-व्यवस्थाके लिये नियुक्त होते हैं। धर्म-सहायमें ऋत्विग् ( यज्ञ करनेवाले ), पुरोहित ( कुलगुरु ), तपस्वी और ब्रह्मवादी ( आत्मज्ञानी ) लोग होते हैं। अन्तःपुर-सहायमें वर्षवर ( हिँजड़े ), किरात ( जङ्गली ), मूक ( गूँगे ), बौने, म्लेच्छ, ग्वाले और शकार आदि होते हैं। राजाकी उपपत्नीके भाईको शकार कहते हैं। यह मूर्ख, घमण्डी, ऐश्वर्यशाली और नीच कुलका होता है। सम्वाद-सहाय या दूत किसी कार्यकी सिद्धिके लिये या सन्देश लेकर भेजे जाते हैं। साहित्य-दर्पणकारने इनके तीन भेद बताए हैं—निःसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक। निःसृष्टार्थ उसे कहते हैं, जो भेजनेवालेके और जिसके पास भेजा जाय उसके मनोभावोंको समझ जाय और आप ही उत्तरका प्रत्युत्तर दे सके तथा उत्तम प्रकारसे कार्यकी सिद्धि करे। मितार्थ थोड़ा ही बोलता है, पर कार्य-सिद्धि कर देता है। सन्देशहारक उतनी ही बात कहता है, जितनी उससे कही जाती है। पीठमर्द और धर्म-सहाय उत्तम, विट और विदूषक मध्यम और चेट, शकार आदि अधम सहायक समझे जाते हैं। दूत अपनी कार्य-कुशलताकी मात्राके अनुसार तीनोंमें आ सकता है। प्रतिनायक वह धीरोद्धत है, जो लोभी, कठोर, पापी, व्यसनी और शत्रु होता है। यद्यपि साहित्य-दर्पणकारने विदूषकको मध्यम सहायक माना है किन्तु नाटककारोंने उसे प्रमुख स्थान दिया है।

### नायकके सात्त्विक गुण

नायकमें १. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गाम्भीर्य, ५. स्थिरता, ६. तेज, ७. लालित्य और ८. औदार्य, ये आठ सात्त्विक और पौरुषेय गुण होते हैं।

### नायिका

नायककी प्रिया या पत्नीको नायिका कहते हैं। आधुनिक ( पाश्चात्य ) नाट्यशास्त्रमें यह आवश्यक नहीं कि नायककी प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। स्त्रियोंमें जिसका नाटकीय कथा-प्रवाहमें प्रधान भाग हो वही पाश्चात्योंके अनुसार नायिका होती है, चाहे वह नायककी प्रिया हो या कोई और। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्रमें नायककी प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायकके सामान्य गुण नायिकामें भी होने चाहिएँ। नाट्याचार्य भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नायिकाओंके चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुल-स्त्री और गणिका। परन्तु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। सर्वमान्य विवेचन नायिकाके स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीन भेदोंसे आरम्भ होता है। धनञ्जयने भी अपने दशरूपकमें इसीका अनुसरण किया है। स्वकीया अपनी स्त्री, परकीया पराई स्त्री तथा सामान्या किसीकी स्त्री नहीं होती। सामान्याका दूसरा नाम गणिका या वेश्या भी है।

### स्वकीया

स्वकीया नायिकामें शील, आर्जव आदि गुण होते हैं। स्वकीया नायिका पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जावती तथा पतिकी सेवामें रत होती है। स्वकीयाके भी तीन भेद होते हैं—१. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा। मुग्धा नायिका वह है जिसमें नई तरुणाई आ रही हो, अर्थात् जो अभी-अभी बाल्यावस्थासे यौवनावस्थामें पदार्पण कर रही हो और पहले ही पहल कामेच्छाका अनुभव कर रही हो। वह रतिसे डरती है, क्रोधमें भी मृदु होती है तथा बड़ी सरलतासे प्रसन्न की जा सकती है। मध्या नायिका यौवनकी सब कामनाओंसे भरी हुई और मोह ( मूर्च्छा ) की अवस्थातक रतिमें समर्थ होती है। उसमें कुछ-कुछ प्रगल्भता आ जाती है और लज्जा कुछ कम हो जाती है।

प्रगल्भा नायिका यौवनमें अन्ध, रतिमें उन्मत्त, काम-कलाओंमें निपुण,

नायकमें सदा रत होती है और सुरतारम्भमें ही आनन्दमें लीन होकर अचेतन हो जाती है ।

मध्या और प्रगल्भाके धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन-तीन भेद और होते हैं । मध्या धीरा सहास वक्रोक्तिसे, मध्या धीराधीरा आँसुओंके सहित वक्रोक्तिसे और मध्या अधीरा क्रोधपूर्वक कटु वचनोंसे अपने अपराधी पतिके हृदयमें उसके अपराधके लिये खेद उत्पन्न कराती है । प्रगल्भा धीरा अपने क्रोधको छिपाकर बाहरसे बातोंमें बड़ा आदर-सत्कार दिखाती है, पर सुरतमें उदासीन रहती है । प्रगल्भा धीराधीरा मध्या अधीराकी भाँति कटु और व्यंग्य वचनोंसे नायकको खिन्न करती है और प्रगल्भा अधीरा क्रुद्ध होकर उसका तर्जन और ताड़न करती है, झिड़कती है और शारीरिक दण्ड भी दे डालती है ।

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भाके छः-छः भेद हुए । इन छः-छः भेदोंके ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो-दो भेद और होते हैं । जिसपर पतिका अधिक प्रेम हो वह ज्येष्ठा और जिसपर कम प्रेम हो वह कनिष्ठा कहलाती है । इस प्रकार इन दोनोंके बारह-बारह भेद होते हैं । मुग्धा एकरूप रहती है, इससे उसके और भेद नहीं होते ।

### परकीया

परकीया नायिका दो प्रकारकी होती है—१. ऊढा, जिसका विवाह हो गया हो । २. अनूढा, जिसका विवाह न हुआ हो । प्रधान रसमें ऊढाका वर्णन नहीं होना चाहिए, किन्तु अनूढा अर्थात् कन्याके अनुरागका उपयोग अङ्गी ( प्रधान ) और अङ्ग ( अप्रधान ) दोनों रसोंमें हो सकता है ।

### गणिका

सामान्या नायिका गणिका होती है । वह कलाओंमें निपुण, साहसी तथा धूर्त्ता होती है । वह केवल धनसे प्रेम करती है और प्रच्छन्न कामुक, आसानीसे धन कमानेवाले, मूर्ख, पाण्डुरोगी, नपुंसक आदिका जबतक उनके पास धन रहता है तबतक ऐसा मनोरञ्जन करती है मानो सचमुच उनसे प्रेम करती हो । जब उनकी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तब उनका निरादर करके उन्हें घरसे निकलवा देती है । परन्तु गणिकाके हृदयमें भी यदि सच्चा प्रेम हो जाय तब वह गणिका नहीं रह जाती ।

नायिकाके व्यवहार और दशा-भेदके अनुसार नीचे लिखे आठ भेद और होते हैं—

१. स्वाधीनपतिका : जिसका पति उसके वशमें हो।

२. वासकसज्जा : जो वस्त्र, शृङ्गारादिसे सज-धजकर प्रसन्नतापूर्वक अपने पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करती है।

३. विरहोत्कण्ठिता : जिसका पति निश्चित समयके भीतर बिना अपने अपराधके न आ सके और जो इसी कारणसे खिन्न हो।

४. खण्डिता नायिका : पतिके शरीरपर अन्य स्त्री-द्वारा किए हुए संभोग-चिह्न देखकर जो ईर्ष्यासे जल उठे। खण्डिता नायिकाका नायक धृष्ट कहलाता है या यों कहना चाहिए कि नायकके धृष्ट होनेसे नायिका खण्डिता होती है।

५. कलहान्तरिता : जो पहले तो प्रार्थना करनेवाले प्रियतमका निरादर कर देती है परन्तु फिर अपने इस कृत्यपर पछताती है।

६. विप्रलब्धा : जिसका प्रियतम मिलनेका सङ्केत-स्थान नियत करके भी उससे मिलने न आवे और इस प्रकार जो अपना अपमान समझे।

७. प्रोषितप्रिया : जिसका पति किसी कामसे परदेस गया हो। भूत, भावी और वर्त्तमान तीन प्रकारकी प्रोषित-प्रिया नायिकाएँ होती हैं। भूत प्रोषितप्रिया वह है, जिसका पति विदेश गया हुआ हो। इसे प्रोषितपतिका कहते हैं। भावी प्रोषितप्रिया वह है, जिसका पति परदेस जानेवाला हो, इसे प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं। वर्त्तमान प्रोषितप्रिया वह है, जिसका पति अभी विदेश जा रहा हो। इसे प्रवसत्पतिका कहते हैं।

८. अभिसारिका : जो कामार्त्ता होकर, स्वयं सङ्केत-स्थानपर जाय अथवा प्रियतमको अपने पास बुलावे। यदि कुलकामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणोंके शब्द बन्द करके दबे पाँव घूँघट काढ़कर जायगी, वेश्या विचित्र और उज्ज्वल वेश धारण करके नूपुर और कङ्कण झनकारती जायगी, दासी मदमें अटपटी बातें करती हुई, विलाससे प्रफुल्ल-नयन और बहकी चालसे अभिसरण करेगी। अभिसरण-स्थान प्रायः खेत, उद्यान, टूटा मन्दिर, दूतीका घर, निर्जन स्थान, जङ्गल, श्मशान या नदी-तट हुआ करते हैं।

स्वाधीनपतिका और वासकसज्जाकी विशेषता क्रीडा, उज्ज्वलता और हर्ष हैं और शेष छः प्रकारकी नायिकाओंकी चिन्ता, निःश्वास, स्वेद, अश्रु, विवर्णता, ग्लानि तथा भूषणोंका अभाव है।

परकीयाकी, चाहे वह ऊढा हो या अनूढा, इन आठ अवस्थाओंमेंसे केवल तीन अवस्थाएँ होती हैं—१. सङ्केत-स्थानको चलनेसे पहले वह विरहोत्कण्ठिता होती है, २. विदूषक, दूती आदिके साथ सङ्केत-स्थानपर जानेसे वह अभिसारिका होती है और ३. कदाचित् यदि उसका प्रिय सङ्केत-स्थानपर न आया तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। शेष पाँच अवस्थाएँ परकीयाकी नहीं हो सकतीं।

## नायिकाकी दूतियाँ

दासी, सखी, धोबिन, घरका काम-काज करनेवाली, नौकरानियाँ, पड़ोसिन, भिक्षुकी, शिल्पिनी ( चित्रादि बनानेवाली ) नायिकाकी दूतियाँ होती हैं। कभी-कभी नायिका स्वयं भी अपनी दूती बन जाती है। ऐसी अवस्थामें वह स्वयंदूती कहलाती है। नायकके सहायकोंमें जो गुण होते हैं वे इनके लिये भी आवश्यक हैं। इनमें कला-कौशल, उत्साह, स्वामिभक्ति, चित्तज्ञता ( दूसरेका अभिप्राय समझनेकी शक्ति ), तीव्र स्मरण-शक्ति, मधुरभाषिता, नर्म-विज्ञानका ज्ञान, वाग्मिता आदि गुण होने चाहिएँ।

## नायिकाओंके अलङ्कार

सौन्दर्य बढ़ानेवाले स्वाभाविक उपादान अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्कारोंका अर्थ आभूषण नहीं है। वे प्राकृतिक हाव-भाव होते हैं। अलङ्कार स्त्री और पुरुष दोनोंमें हो सकते हैं। ऐसे अलङ्कार जो स्त्री-पुरुषोंमें समान होते हैं, अङ्गज और अयत्नज कहलाते हैं। स्वभावज अलङ्कार स्त्रियोंकी ही विशिष्टता प्रकट करते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अङ्गज, शोभा, कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलङ्कार होते हैं। विश्वनाथने साहित्य-दर्पणमें आठ स्वभावज अलङ्कार और बताए हैं। वे हैं—तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि।

## अङ्गज अलङ्कार

भाव : जन्मसे अविकारी चित्तमें विकारका उत्पन्न होना 'भाव' कहलाता है। २. हाव : हाव उस तीव्र रति-विकारको कहते हैं, जो

अपनी तीव्रताके कारण शरीरके बाहरी अङ्गोंकी विलक्षण विकृतिके द्वारा लक्षित होने लगता है, जिससे आँखोंमें, भँवोंपर और चाल-ढालमें एक प्रकारका अनोखापन आ जाता है। ३. हेला : काम-वासनाके अत्यन्त स्पष्ट रूपसे लक्षित होनेको 'हेला' कहते हैं।

### अयत्नज अलङ्कार

रूप, भोग ( रति ) और तरुणाईसे अङ्गका जो सौन्दर्य दमक उठता है उसे शोभा, कामोन्मेषसे बढ़ी हुई शोभाको कान्ति, अत्यन्त विस्तार पानेपर कान्तिको दीप्ति ; शोभा, कान्ति, दीप्ति आदिसे जो आकर्षण होता है उसमें प्रतिघात होकर अपकर्ष न आने देनेको माधुर्य, मनके क्षोभसे उत्पन्न अङ्ग-सङ्कोचका अथवा विकृतिके भावका अभाव होनेको प्रगल्भता, सब अवस्थाओंमें विनय-युक्त व्यवहार करनेको औदार्य और आत्मश्लाघासे विहीन मनकी अचञ्चल वृत्तिको धैर्य कहते हैं।

### स्वभावज अलङ्कार

स्वभावज अलङ्कारके निम्नाङ्कित अठारह भेद हैं—

१. लीला : जब नायिका अपने प्रियके प्रेम-सम्भाषण, वेश-भूषा तथा चेष्टाका अनुकरण करे वह 'लीला' कहलाती है। आचार्योंने इसके तीन भेद बतलाए हैं—स्वगता, सखीगता और स्वप्रियगता लीला। लीलाकी जो परिभाषा दी गई है वही स्वगताकी है। जब नायिका सखीसे नायकका अनुकरण करावे तो सखीगता लीला होती है और जब वह नायकसे नायिकाका रूप धारण करावे और चेष्टा करावे तथा स्वयं नायकका रूप धारण करे और उसकी चेष्टाओंका अनुकरण करे तब स्वप्रियगता लीला होती है। २. विलास : प्रियके दर्शन-मात्रसे आकृति, नेत्रों तथा चेष्टाओंमें विशेषता और परिवर्त्तन होना। ३. विच्छित्ति : कान्तिको बढ़ानेवाली अल्प वेश-रचना। ४. विभ्रम : किसी विशेष अवसरपर, उतावलीके कारण भूषण आदिको औरकी और जगह पहन लेना तथा भ्रान्तिपूर्ण आचरण करना। ५. किलकिञ्चित् : प्रियके संसर्ग आदिसे मुस्कराहट, हँसी, क्रोध, भय और श्रमका मिश्रण होना। ६. मोट्टायित : प्रेममें तन्मय होकर प्रियतम-सम्बन्धी कथा-वार्त्ता सुनना। अर्वाचीन आचार्योंके अनुसार मोट्टायितमें कामिनी कान खुजलाने आदिकी चेष्टाएँ करती है, जिससे लोगोंको पता न लगे कि वह

उस ( प्रिय-सम्बन्धी ) वार्त्ताका ध्यान-पूर्वक अनुसरण कर रही है । ७. कुट्टमित : अधर, केश, स्तन आदिके छूनेसे आनन्द होनेपर भी रोकनेके लिये झूठमूठ ही हाथ हटाना या सिर हिलाना और क्रोध प्रकट करना । ८. विब्वोक : गर्वके कारण प्रिय वस्तुके प्रति अनादर प्रकट करना । ९.ललित : अपने कोमल अङ्गोंको सुकुमारताके साथ सजाना । १०. विहृत : अनुकूल और उचित अवसर पानेपर भी व्रीड़ाके कारण न कह सकना । साहित्यदर्पण-कारने आठ और गिना दिए हैं—११. मद : सौभाग्य, यौवन आदिके घमण्डसे उत्पन्न मनोविकार । १२. तपन : प्रियतमके वियोगमें कामोद्वेगसे उत्पन्न चेष्टाएँ । १३. मुग्धता : जानी-बूझी बातको भी प्रियतमसे अनजान होकर पूछना । १४. विक्षेप : वल्लभ (प्रिय) के समीप भूषणोंकी अपूर्ण रचना अथवा अकारण ही रहस्यमयी दृष्टिसे इधर-उधर देखना एवं प्रियसे धीरेसे कोई रहस्यकी बात कहना । १५. कुतूहल : रमणीय वस्तुको देखनेके लिये चञ्चल हो उठना । १६. हसित : यौवनोद्गमसे उत्पन्न वृथा हास । १७. चकित : प्रियतमके सामने बिना कारण डरना या घबराना । १८. केलि : विहारके समय कान्तके साथ काम-क्रीड़ा ।

### अनुराग-चेष्टाएँ

साहित्य-दर्पणकारने नायिकाओंकी अनुराग-चेष्टाओंका वर्णन इस प्रकार किया है—'पतिको देखकर लज्जा दिखलाती है । सम्मुख कभी नहीं देखती । छिपे हुए, अथवा दूर खड़े हुए प्रियको देखती है । बहुत बार पूछनेपर वह नीचे मुख करके गद्गद स्वरसे मन्द-मन्द कुछ प्रिय बातें बोलती है । अपने प्रियकी कथा दूसरोंसे कही जानेपर बड़े ध्यानसे सुनती है ।'

इसके अनन्तर प्रत्येक नायिकाकी अनुराग-चेष्टाओंका वर्णन इस प्रकार किया है—'वह प्रियके समीप रहनेकी इच्छा करनेवाली होती है तथा प्रियके सम्मुख बिना अलङ्कार धारण किए नहीं जाती । केश अथवा साड़ीको ठीक करनेके बहानेसे बाहुमूल, स्तन तथा नाभि दिखलाती है । मीठी वाणीसे प्रियके सेवकोंको वशमें रखती है । उसके ( प्रियतमके ) मित्रोंका विश्वास करती है और उनका मान करती है । उसकी सखियोंसे उसके गुणका वर्णन करती है तथा अपना धन आदि देती है । उसके सोनेके पश्चात् सोती है । उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख समझती है । प्रियके दृष्टिपथमें खड़ी

हुई उसे दूरसे देखती है और मदन-सन्तप्त होकर कुटुम्बियोंसे बातें करती है। कोई वस्तु देखकर हँसने लगती है, कान खुजलाने लगती है, केश खोलने-बाँधने लगती है, जँभाई लेती है, अँगड़ाती है, अपने बालकको हृदयसे लगाकर चुम्बन करती है, अपनी सखियोंके मस्तकपर तिलक लगाती है, पाँवके अँगूठेसे पृथ्वी खोदती है, कटाक्षसे देखती है, अपने अधर चबाती है तथा नीचे मुख करके मधुर भाषण करती है। जहाँसे नायक दिखलाई देता हो उस स्थानको नहीं छोड़ती और किसी न किसी कामके बहानेसे उसके घरपर पहुँच जाती है। अपने कान्तकी दी हुई वस्तुको शरीरपर धारण करके बार-बार देखती है और उस वस्तुके संयोगसे प्रसन्न होती है तथा उसके वियोगमें दुखी होती है। प्रियके शीलको बहुत मानती है और उसकी प्यारी वस्तुसे प्यार करती है। प्रियसे अल्प मूल्य ( चुम्बनादि ) ही चाहती है और सोते समय प्रियकी ओर पीठ करके नहीं सोती। उसके सम्मुख स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक विकारोंका अनुभव करती है। सत्य और मधुर भाषण करती है। इन इङ्गितों ( चेष्टाओं ) में नई स्त्रियाँ अधिक लज्जा करती हैं, मध्या कुछ कम लज्जा करती हैं तथा परकीया, प्रगल्भा और गणिका तनिक भी लज्जा नहीं करतीं।' इस विवरणसे प्रतीत होता है कि हमारे यहाँ नायक-नायिकाओंकी चेष्टाओंका जैसा सूक्ष्म वर्णन किया गया है वैसा कहीं नहीं हुआ।

### हरिऔधजीका रसकलस

धनञ्जय और साहित्यदर्पणकारके इस विवरणके अतिरिक्त लक्षण-ग्रन्थोंमें जहाँ नायक-नायिकाका विवरण आया है, वह सब शृङ्गार रसके आलम्बन विभावके रूपमें आया है और प्राय: वैसा ही है जैसा धनञ्जयने ऊपर दिया है। इनमें अच्छे और बुरे सभी प्रकारके पुरुषों और अच्छी-बुरी सभी स्त्रियोंका उल्लेख किया गया है।

हरिऔधजीने अपने रसकलसमें पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी नामसे नायिकाओंके चार भेद किए हैं। प्रकृति-सम्बन्धी भेद करते हुए उन्होंने उत्तमाके आठ भेद बताए हैं—१. पति-प्रेमिका, २. परिवार-प्रेमिका, ३. जाति-प्रेमिका, ४. देश-प्रेमिका, ५. जन्म-भूमि-प्रेमिका, ६. निजतानुरागिनी, ७. लोक-सेविका और ८. धर्मप्रेमिका। मध्यमाके भी उन्होंने दो भेद किए हैं—व्यङ्ग्य-

विदग्धा और मर्मपीडिता। शेष धर्म-सम्बन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी भेद वे ही हैं, जो अन्य आचार्योंने दिए हैं। इस बीसवीं शताब्दिमें भी उन्होंने सखाके भेदमें पीठमर्द, विट और चेटकी कल्पना की है। इन कल्पनाशील आचार्योंको सदा यह स्वतन्त्रता रही है कि वे सर्वदा अपनी विवेचनाके अनुसार मनुष्योंके भेद करें। हमने 'साहित्यके विषय और प्रयोजन'के अन्तर्गत सब प्रकारके मनुष्यों और कार्योंका विवरण दिया है। अत: यहाँ उसकी आवृत्ति असङ्गत है।

### नायक ( हीरो )

हमारे यहाँके नायकसे विदेशी नायक भिन्न होते हैं। वहाँ किसी उपन्यास या नाटकमें जिस व्यक्तिमें उस नाटककी सब क्रियाएँ केन्द्रित हों या जिसके साथ पाठक या दर्शककी सहानुभूति रहती हो उसे ही नायक कहते हैं, चाहे उसमें नायकके उपर्यङ्कित गुण हों या न हों। यह प्रतिनायकका प्रति-द्वन्द्वी होता है। यदि नायक और प्रतिनायक दोनोंकी शक्तियाँ किसी एक ही व्यक्तिमें हों तो वह 'प्रोटेगोनिस्ट' कहलाता है। नायिका प्राय: नाटकमें सङ्घर्षकी केन्द्र-शक्ति होती है। भारतीय नाट्य-शास्त्रमें चार मुख्य प्रकारके नायक माने गए हैं—धीरशान्त, धीरललित, धीरोदात्त और धीरोद्धत, किन्तु योरोपमें इस प्रकारके भेद नहीं हैं। हाँ, त्रासदके नायकके कुछ लक्षण अवश्य बताए गए हैं।

### भूल या पाप ( हामार्तिया )

अरस्तूने आदर्श त्रासद - नायक ( आइडियल ट्रेजिक हीरो ) उस व्यक्ति को बताया है, जो अत्यन्त विशिष्ट धर्मात्मा न हो और जिसपर किसी दुर्गुण या दुराचरणके कारण विपत्ति न आई हो, वरन् किसी ऐसी भूल ( हामार्तिया ) के कारणसे आई हो जो असद्विवेचन ( ठीक निश्चय न करने ) से या अज्ञानसे या किसी नैतिक दोषसे या किसी ऐसी मानसिक वृत्तिसे उत्पन्न हुई हो, जो पहलेसे उसके कुटुम्ब या परिवारमें चली आती हो, जैसे 'ओडिपसकी जल्दीबाजी'।

### धृष्टता ( हिब्रिस )

बताया गया है कि त्रासदोंमें नायकोंपर आनेवाली विपत्तिका मूल कारण धृष्टता ( हिब्रिस ) है। महत्त्वाकांक्षा, अतिशय आत्मविश्वास,

लोभ, काम या किसी वासनासे जब मनुष्य कोई दैवी आदेश या नैतिक नियम भङ्ग कर देता है तब वह क्रिया ही धृष्टता कहलाती है। यूनानी नाटकोंमें किसी भी नायकका अन्त इस क्रमसे होता है—१. धृष्टता ( हिब्रिस ), २. वासना-तृप्ति (कोरोस) और ३. विनाश ( आते )। औरेस्तिया त्रिनाट्यमें क्लूतेमनेस्त्रा—१. एगमेम्नौनकी हत्या करती है, यही धृष्टता है। २. ऐगिस्थसके साथ व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करती है, यही वासना-तृप्ति है। ३. ओरेस्तेस-द्वारा वह मारी जाती है, यही विनाश है। उसकी यही धृष्टता ही भूल या पाप ( हामार्तिया ) है।

**प्रतिनायक या खलनायक ( विलन )**

नाटकों, कहानियों और उपन्यासोंमें नायकके विरुद्ध काम करनेवाले दुष्ट प्रकृति और कार्योंवाले व्यक्तिको 'खलनायक' कहते हैं। यूनानी त्रासदोंमें इसका अभाव है। अधिकांश बड़े ग्रन्थोंमें जो संघर्ष होता है वह मुख्य पात्रके अन्तसमें ही होता रहता है, जिसे आजकल 'प्रधान नायक' ( प्रोटेगोनिस्ट ) कहते हैं। किन्तु परियोंकी कहानियोंसे लेकर आरभटी नाटकतक खलनायकोंका ही प्राधान्य रहा, जो प्रायः अत्यन्त शक्तिशाली और नायककी अपेक्षा अधिक निम्न कोटिके मनुष्य होते हैं।

**अन्तःप्रमाण ( जस्टीफ़िकेशन )**

प्रत्येक चरित्रमें धार्मिकताका मौलिक भाव विद्यमान रहता है, जो उसके कार्योंको भावगति ( मोटिवेशन ) प्रदान करता है। यह इस प्रकारका भी हो सकता है जैसे रावण या दुर्योधनका था।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

[ मैं धर्मको भली-भाँति जानता हूँ, किन्तु धर्ममें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्मको भी पहचानता हूँ, किन्तु उधरसे मेरा मन नहीं हटता। मेरे हृदयमें कोई ऐसा देवता बैठा हुआ है, जो मुझसे जैसा कराना चाहता है, वैसा ही मैं करता जाता हूँ। ]

आरभटी-वृत्तिके त्रासद मैलोड्रामा या गम्भीर भयावह नाटकको छोड़कर

प्रतिनायक या खलनायक बहुत कम अनुभव करता है कि मैं दुष्ट हूँ। केवल नायक या खलनायक ही नहीं, संसारका प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक दुष्कृत्यके लिये कोई ऐसा कारण ढूँढ़ता है, जो उसकी सात्त्विक वृत्ति-द्वारा प्रेरित होता है। यदि आपने किसी धनीसे पैसा लिया और उसे नहीं लौटाया, तो आप झट यही समाधान कर लेंगे कि उसके पास तो यों ही बहुत है। इस प्रकारके अन्तःप्रमाणकी अभिव्यक्तिसे ही वास्तवमें पात्रोंका चरित्र व्यक्त होता है।

### ढपोरशंख ( ऐलेज़ौन )

प्राचीन यूनानी प्रहसनोंमें यूनानी प्रहसनकार एक ऐसे 'ऐलेज़ौन' पात्रकी कल्पना करते थे जो बड़ा दम्भी होता था और सदा दूनकी हाँकता था —'मैं यह कर दूँगा, मैं वह कर दूँगा' किन्तु करता कुछ नहीं था। ऐसे पात्रके द्वारा यूनानी प्रहसनकार उन लोगोंका व्यंग्य-चित्रण करते थे जो समाजमें रहकर बहुत बनते हैं या दम्भ करते हैं अथवा धूर्त्तता और छलसे अन्य लोगोंको ठगते और धोखा देते हैं। अरस्तूने कहा है कि 'यदि वास्तवमें किसी पात्रमें क्षुद्रता हो और वह उस क्षुद्रताको बढ़ाकर व्यक्त करता हो तो वह 'ऐलेज़ौन' है और यदि उसे कम करके व्यक्त करता हो तो वह 'एइरौन' है।' इस प्रकारकी डींग हाँकनेवाला व्यक्ति यह प्रदर्शित करता है कि उसमें बड़े प्रशंसनीय गुण हैं या वह यह प्रदर्शित करनेका प्रयत्न करता है कि जो बड़े-बड़े श्लाघनीय और लोक-प्रसिद्ध महत्कार्य हुए हैं, उनका श्रेय मुझे ही है, जैसे कोई यह कहे कि 'भारतको स्वराज्य दिलानेमें मेरा भी बड़ा हाथ है, क्योंकि मैंने ही गाँधीजीको असहयोगके लिये प्रेरित किया था' इत्यादि। राजनीतिक क्षेत्रमें इस प्रकारके डींग हाँकनेवाले बहुत होते हैं। तैक्तेतस कोइस्लीनिएनसने प्रहसनके लिये तीन प्रकारके चरित्र गिनाए हैं—१. विदूषक २. व्यंग्याक्षेपक और ३. डींग हाँकनेवाला या प्रवञ्चक।

### वर्गीय पात्र ( टाइप या स्टौक कैरेक्टर )

नाटकमें कुछ पात्र तो असाधारण होते हैं किन्तु शेष पात्र अप्रतिम या अद्वितीय रूपसे निराले न होकर किसी एक विशेष मानव-वृत्ति या वर्गके लक्षणोंवाले होते हैं। इन्हींको वर्गीय पात्र ( टाइप या स्टौक कैरेक्टर ) कहते हैं। प्रायः अठारहवीं शताब्दिके फ्रान्सीसी नाटकों तथा चलचित्रोंमें

कुछ अभिनेता इन वर्गीय प्रकारोंके ढाल दिए जाते थे क्योंकि उनका रूप और आकृति उन मुख्य चरित्रोंसे मिलती-जुलती थी। इस प्रकारकी चयन-पद्धतिके सबसे अधिक सफल आखेट वे हैं, जो विशिष्ट वर्गीय अभिनेता ( कैरेक्टर एक्टर्स ) या सदा एक ही प्रकारका अभिनय करनेवाले कहलाते हैं। इन पात्रोंका प्रयोग प्राय: सभी नाटकोंमें निरन्तर होता था, जैसे 'घमण्डी सिपाही' जो प्राचीन नाटकसे लेकर कौमीदिया देलार्ते तथा शेक्सपियर आदिके नाटकमेंको होते हुए चलचित्रतक चला आया है। इसी प्रकार कौमीदिया देलार्ते नामके नाटकोंमें कृत्रिम वैद्य ( ग्रेजियानो ) सदा एक पात्र बनाया जाता था।

विदूषक ( बोमोलोकस )

योरोपमें प्रारम्भसे ही विदूषकका बड़ा महत्त्व रहा है, क्योंकि उन्होंने दो ही प्रकारके नाटक माने—१. त्रासद और २. प्रहसन। इनमेंसे त्रासद तो गम्भीर होते थे और उनका नायक ( हीरो ) होता था। प्रहसनमें यूनानमें भाँड़के प्रकारका विदूषक प्रहसनोंका एक मुख्य पात्र होता था जो अब भी पुतलियोंमें जीवित है। इनमें एक भोजन-भट्ट या 'नींबूनिचोड़' ( पैरेसाइट ) होता था, जिसकी प्रकृति हमारे यहाँके विदूषककी प्रकृतिसे मिलती-जुलती थी। प्राचीन अत्तिक प्रहसनोंमें यह विदूषक ही बोमोलोकस कहलाता था। हास्य-भाषणके सिद्धान्तानुसार जिस मनुष्यका विनोद औचित्यकी या अनुपातकी दृष्टिसे अनावश्यक, शीलहीन, फूहड़, अश्लील और ईर्ष्यापूर्ण होता था उसे और ऐसे लोगोंको 'बोमोलोकस' कहते थे जो कलाहीन हों या जिनका चरित्र सामाजिक दृष्टिसे दोषपूर्ण या फूहड़ होता था। साधारणतः अपहास या ईर्ष्यापूर्ण परिहास करनेवाले अथवा भँड़ैतीके द्वारा हास्य उत्पन्न करनेवाले भाँड़ों या विदूषकोंको भी वहाँ 'बोमोलोकस' कहते थे, जिसे अँगरेज़ीमें 'बेलेडाइन' कहते हैं। लातिन प्रहसनोंमें 'सानियो' नामक पात्र था, जो आगे चलकर मूकाभिनय ( माइम ) में व्यापक विदूषक बन गया। सिसरोने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह अपनी दैन्य-मुद्रा, दाँत चियारना, भावभङ्गी, स्वरके आरोह-अवरोह तथा अङ्ग-सञ्चालन आदि क्रियाओंसे ही अपना अभिनय करता है'। जैसे यूनानी प्रहसनोंमें भोजनभट्ट ( पैरेसाइट ) विदूषक होता है वैसे ही लातिनमें 'फ़बुला अतेल्लना'में एक भोजनभट्ट भाँड़ होता था, जिसका काम ही था दूसरोंके घर जाकर भोजन जमाना। इटलीके 'कौमीदिया देलार्ते'

नामक नाटकमें मूर्ख विदूषक ( पुलचीनेला ) चला, जैसा प्रारम्भमें अँगरेज़ी पञ्चका विदूषक ( क्लाउन ) होता था । इसी कौमीदिया देलार्तेमें वह मूर्ख-विदूषक 'ज़ानी' या 'गियोवानी' होता है । साधारणः किसी भी हँसोड़ या विदूषकको ज़ानी कहते हैं जो विशेषत: मुख्य विदूषकके परिहासका केन्द्र होता है और जिसे बीसवीं शताब्दिके रङ्गमञ्चवाले 'स्टूज' कहते हैं । कौमीदिया देलार्तेमें प्रसिद्ध और प्रचलित विदूषक 'हारलेक्विन' या 'आर्लेच्चिनो' था, जिसमें शिष्टता और मूर्खता दोनोंका समन्वय होता था, जो सदा प्रेम और सङ्कटमें पड़ा रहता था । अँगरेज़ी मूकाभिनय ( हार्लेकिनेड ) में सुन्दरी कौलम्बाइनको प्राप्त करनेके लिये वाचाल विदूषकका प्रतिस्पर्धी होता है । जर्मनीमें अँगरेज़ प्रहसन - कारियों-द्वारा जो नाटकीय प्रदर्शन होते थे, उनमें एक मूर्ख प्रहसनकारी 'पिकेलहेरिङ्ग' चला, जो सत्रहवीं शताब्दिसे 'पिकेलहेरिङ्गस्पीले' नामकी नाट्य - मालाका एक व्यापक चरित्र ही बन गया, जिसे सोलहवीं शताब्दिसे जर्मनीमें हान्स्वुर्स्ट कहने लगे और यही उन्नीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें वियना नगरमें लोकप्रिय प्रहसनोंका विदूषक 'स्तावेर्ल' कहलाया । कौमीदिया देलार्तेके प्रभावसे इस हान्वुर्स्टकी टिप्पणियाँ और हास्यास्पद वेश-भूषा 'गौडशेडके रङ्गमञ्चके सुधार' (अठारहवीं शताब्दि ) के पश्चात् भी चलते रहे । इसी प्रकार स्पेनके उदात्तवादी कौमीदियामें शेक्सपियरके विदूषक और मूर्खसे मिलता-जुलता 'मेरी एन्ड्र्यू' विदूषक या विनोदकारक व्यक्ति 'ग्रेशियोसो' था । पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दिसे फ्रांसमें 'सोत' नामक विदूषक चला जो अधरङ्गी वेश-भूषा, टोपी और गधेका कान लगाता था और अधिकांश सोती नामक प्रहसनोंमें भूमिका ग्रहण करता था । अँगरेज़ीके नैतिक नाटकोंमें इसी प्रकारका विदूषक ही दुर्गुण ( वाइस ) बनता था, जो गधेका कान लगाकर सुकृतियोंसे युद्ध करता था और अन्तमें नरकमें ढकेल दिया जाता था । अँगरेज़ीमें विदूषकको 'क्लाउन' 'बफ़ून' और 'फ़ूल' कहते हैं । इन विदूषकोंके चार स्वरूप होते हैं—१. मूर्ख, २. विनोदी, ३. धूर्त्त और ४. व्यंग्य-वक्ता । मूर्ख सदा उलटे-पलटे मूर्खतापूर्ण काम करके तथा विचित्र वेश-भूषा धारण करके हास्य उत्पन्न करता है । विनोदी अपनी मस्तीसे ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है, जिससे विनोद हो, जैसे किसीकी कुर्सी पीछेसे खींच लेना । धूर्त्त वह है, जो दम्भियों और अभिमानियोंको मूर्ख बनाकर हास्य उत्पन्न करता

है। व्यंग्य वक्ता निरन्तर चुटकुले या प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण जोड़-तोड़की बातें कहकर हास्यकी सृष्टि करता है। प्रायः मूर्ख ही हास्यके सर्वश्रेष्ठ आलम्बन रहे हैं। अन्य प्रकारके विदूषकोंके कार्योंसे क्रोध और खीझ भी हो सकती है और केवल साधारण विनोद हो सकता है, किन्तु वास्तविक सात्त्विक हास्य मूर्खकी मूर्खतासे ही होता है। मूर्खताके कार्योंका कुछ विधान तो नाटककार करता है किन्तु अधिकांश विदूषक ही अपनी मुद्राओंसे करता है, जिनमें दम्भ दिखाना, हें-हें करना, दाँत चियारना, रोनी आकृति बनाना और प्रलय-मुद्रा धारण करना मुख्य हैं। इस प्रलय-मुद्रा ( डेड-पैन ) के लिये विदूषक अपनी मुद्रा गम्भीर कर लेता है या मूर्खतापूर्ण आश्चर्यकी मुद्रा बनाता है, जिसे देखकर जनता हँसती है। विचित्र बात यह है कि जितना ही अधिक लोग उसे देख-देखकर हँसते और चिल्लाते हैं, उतना ही अधिक वह गम्भीर बनता जाता है। नाट्याचार्योंका यह विचार है कि 'दूसरोंको हँसानेके लिये विदूषकको स्वयं मौन रहना चाहिए।' इस प्रलय-मुद्रा या गम्भीरतासे मौर्ख्य प्रदर्शित करनेसे ही 'सत्य हास्य' होता है। जो लोग निरर्थक, असङ्गत उछल-कूद या अतिरञ्जित मुँह बनाकर या फूहड़ बातें कहकर लोगोंको हँसाते हैं वे भाँड़ कहलाते हैं, विदूषक नहीं। भाँड़का सम्पूर्ण कृत्य औचित्य और शीलकी सीमासे परे होता है अतः भँड़ैतीको निम्न कोटिकी वृत्तिके लिये विनोद-जनक ही समझा जा सकता है, शिष्ट जनके हास्यकी सामग्री नहीं।

### आदर्श दर्शक

यूनानी नाटकोंके समवेत गानमें एक व्यक्ति ऐसा रहता था जो सब भावोंको समझता और आत्मसात् करता चलता था और बीच-बीचमें ऐसे प्रश्न पूछता चलता था, जिसके सम्बन्धमें नाटककार समझ लेता था कि ये प्रश्न दर्शकों-द्वारा पूछे जा सकते हैं। फ्रांसीसी 'रेज़ोनियोँ' भी इसी दर्शकका प्रतिनिधि माना जा सकता है। कभी-कभी स्वयं नाटककार ही यूनानी कोरस और शेक्सपियरके विदूषकके समान आदर्श दर्शक हो सकता है।

### योरोपीय नाट्याचार्योंके कुछ सिद्धान्त

नाटकमें पात्रोंका चरित्रारोपण करते समय नाटककारको जिन बहुतसी बातोंका ध्यान रखना चहिए, उनके विषयमें योरोपीय नाट्याचार्योंके चार मत हैं—

१. दुष्टको भयानक चित्रित करो और सज्जनको देवतुल्य ।

२. रङ्गशाला तो चित्रक ( फोटोका केमरा ) का बिम्बग्राही काचफलक है, जो सामने पड़े हुए समस्त पदार्थको ग्रहण करके दिखाता है ।

३. सुन्दरका चित्रण करो, असुन्दर स्वयं लुप्त हो जायगा ।

४. दोष दिखाओ, उन्हें देखकर मनुष्य स्वयं अपना सुधार कर लेगा ।

[ इसका पूरा विवरण पृष्ठ ४१७, ४१८ पर दिया जा चुका है । ]

नाटककारको नियमतः यह सिद्धान्त पालन करना चाहिए कि पात्र थोड़े हों; उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मन, स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, सङ्गति, कुल-परम्परा, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर इस प्रकार उनकी सृष्टि की जाय कि विभिन्न नाटकीय परिस्थितियोंमें पड़कर स्वभावोचित, सम्भव तथा विश्वसनीय कार्य करते हुए नाटकीय व्यापारके उद्दिष्ट फलागमको सिद्ध करें ।

### स्थान-योजना

उपन्यास या कथामें तो लेखकको यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह चाहे जो व्यापार या कार्य दिखला दे और चाहे जितने स्थान दिखला दे किन्तु नाटककारको रङ्गमञ्चके परिमाण, प्रदर्शनकी सम्भावना तथा नाटकीय कथाकी आवश्यकताके अनुकूल स्थान-निर्देश करना चाहिए । उसे ऐसे स्थानका निर्देश नहीं करना चाहिए, जिसका पालन करना नाट्य-व्यवस्थापकके लिये असम्भव या दुरूह हो जाय ।

### व्यापार-योजना

साहित्यके विषय और प्रयोजनके प्रसङ्गमें हम विस्तारसे उन सभी व्यापारोंका विवेचन कर आए हैं, जिनका प्रयोग साहित्यमें किया जा सकता है, किन्तु दृश्य-प्रधान होनेके कारण नाटकमें व्यापार भी परिमित हो जाते हैं । इसीलिये नाट्य-शास्त्रियोंने राज्य-विप्लव तथा युद्ध आदिको रङ्गमञ्चपर वर्जित माना है । अतः पात्रोंके कार्य, शील, कुल, कौशल, भाव आदिके अनुसार दैवयोगका सम्मिश्रण करते हुए कथाकी प्रकृति और आवश्यकताका ध्यान रखते हुए रङ्गमञ्चकी सीमा देखकर ही व्यापार-योजना करनी चाहिए अर्थात् जो घटनाएँ और क्रियाएँ रङ्गमञ्चपर दिखाई जा सकें उन्हें प्रदर्शित करनेका विधान शेष सूच्य-विधान-द्वारा सूचित करा दें । इस व्यापार-

योजनामें ध्यान देनेकी बात यही है कि नाटककारको कोई ऐसी क्रिया नहीं करनी चाहिए जो असम्भव, अस्वाभाविक, पात्रकी मर्यादा या रूढ भावनाके प्रतिकूल या समयकी प्रकृतिसे भिन्न हो, जैसे रामके विवाहमें 'मोटर'का प्रयोग आदि।

### भाषा-योजना

शैलीके प्रसङ्गमें हम भाषाका विवरण दे आए हैं और समझा आए हैं कि नाटकीय संवादमें पात्रोंकी मनःस्थिति, परिस्थिति और योग्यताके अनुसार शिष्ट भाषाका ही प्रयोग करना चाहिए, जिसमें पात्रोंके संस्कारके अनुसार उच्चारण-दोष या अशुद्ध प्रयोग आदिका संयोजन करके उस पात्रके चरित्रका सामञ्जस्य तो दिखला दिया जाय किन्तु स्वभाविकताके फेरमें पड़कर शुद्ध ग्राम्य या प्रादेशिक भाषाका प्रयोग न किया जाय, क्योंकि व्यापक रूपसे वह प्रादेशिक भाषा नहीं समझी जा सकती।

### रङ्ग-निर्देश

बताया जा चुका है कि भाषाका प्रयोग नाटकमें सम्वाद और रङ्गनिर्देश दो कार्योंके लिये होता है। ये रङ्गनिर्देश अभिनेता, रङ्ग-व्यवस्था, प्रकाश-व्यवस्था सङ्गीत-व्यवस्था तथा नेपथ्य-व्यवस्थाके लिये होते हैं। आजकल बहुतसे नाटककारोंकी प्रवृत्ति बहुत लम्बे-लम्बे रङ्गनिर्देश देनेकी है, जिसमें वे रङ्गपीठपर उपस्थित किए जानेवाले दृश्यपीठों तथा अन्य पदार्थोंका इतना विस्तृत विवरण देते हैं कि उससे रङ्ग-व्यवस्थापकका हाथ बहुत बँध जाता है और कभी-कभी तो यह अवस्था हो जाती है कि उस विस्तृत सामग्रीसे डरकर लोग नाटक ही नहीं खेलते। अतः रङ्ग-निर्देशका सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है कि अभिनयके लिये केवल उन्हीं बातोंका निर्देश किया जाय जो नाटकीय कथा-प्रवाहके लिये, रस और भावका प्रभाव बढ़ानेके लिये तथा आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयके द्वारा पात्रोंके चरित्रों और व्यापारोंको विकसित करनेमें अभिनेताको सहायता दें। अर्थात् 'नाट्यमें जो व्यापार जिस परिस्थितिमें दिखलाया जानेवाला हो उस प्रभाव या परिस्थितिको उत्पन्न करनेके लिये आडम्बरहीन शब्द-संकेत या निर्देशको ही रङ्गनिर्देश कहते हैं।' रङ्ग-व्यवस्थाके लिये रङ्ग-व्यवस्थापक, सङ्गीत-व्यवस्थापक तथा प्रकाश-व्यवस्थापकको जो निर्देश दिए जायँ वे अत्यन्त सरल भाषामें अत्यन्त सूक्ष्म

रूपसे दिए जायँ, जिससे उन्हें इतनी स्वतन्त्रता भी रहे कि वे अपनी सुविधाके अनुसार रङ्गपीठके नाटकीय व्यापारको समृद्ध कर सकें।

### नाट्यवृत्तियाँ

हमारे यहाँ नाटककी 'रचना-शैली' या 'रचनाके ढङ्ग'को 'वृत्ति' कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीतिको साहित्य-विद्याका अङ्ग मानते हुए काव्य-मीमांसामें राजशेखरने इनका परिचय देते हुए कहा है—'तत्र वेष-विन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यास-क्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।' [ विशेष प्रकारकी वेश-रचनाको प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शनको वृत्ति और वचन-चातुरीको रीति कहते हैं। ] 'साहित्य-दर्पण'के टीकाकार तर्कवागीशने कहा है—'वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः' [ जिसके कारण रस वर्त्तमान हो, जो रसास्वादनका प्रधान कारण हो, वही वृत्ति है। ]

अतः नाट्यमें यथार्थता और सजीवता लानेका प्रयत्न करते हुए पात्रोंके वाचिक, आङ्गिक, आहार्य और सात्त्विक चारों प्रकारके अभिनय और प्रसङ्गानुकूल दृश्योंके प्रदर्शनकी उस विशेषताको वृत्ति कहते हैं, जो विशेष प्रकारके नाटक या रसकी अनुभूतिमें सहायक हो। इसीलिये भरत मुनिने वृत्तियोंको नाट्यकी माताएँ ( वृत्तयो नाट्यमातरः ) कहा है। हमारे यहाँ चार वृत्तियाँ मानी गई हैं—भारती, कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी। इनमेंसे भारतीको शब्दवृत्ति और शेष तीनको अर्थ-वृत्तियाँ कहते हैं।

### कैशिकी वृत्ति

कैशिकी वृत्तिके नाटकोंमें केवल गीत, नृत्य, विलास, रति आदिका वर्णन ही होता है। इसीसे यह मधुर वृत्ति मानी गई है। इसके चार भेद हैं—१. नर्म : प्रियको प्रसन्न करनेवाली परिहास-पूर्ण क्रीड़ा, जिसमें केवल हास्य या हास्यनर्म, शृङ्गार-पूर्ण परिहास या शृङ्गारनर्म और भययुक्त परिहास या भयनर्म होता है। २. नर्मस्फूर्ज या नर्मस्फिंज : जिसमें नायक-नायिकाके प्रथम सम्मिलनका सुखसे आरम्भ तथा भयसे अन्त होना दिखलाया जाता है। ३. नर्मस्फोट : जिसमें थोड़े भावोंसे अल्प रस सूचित हो। ४. नर्मगर्भ : जिसमें नायकका गुप्त व्यवहार दिखाया जाय।

### सात्त्वती वृत्ति

नायकका व्यापार जहाँ शोकरहित, सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव-

सहित हो वहाँ सात्त्वती वृत्ति होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—१. संलापक : जिसमें अनेक प्रकारके भाव और रसोंसे युक्त गम्भीर उक्ति या वार्त्तालाप हो। २. उत्थापक : जिसमें नायक दूसरोंको युद्धके लिये ललकारे या उभाड़े। ३. सांघात्य : जिसमें मन्त्र, धन या दैवी शक्तिके बलसे किसी समाजमें फूट या भेदभाव डालना दिखाया जाय। ४. परिवर्त्तक : जिसमें हाथमें लिए हुए कामको छोड़कर दूसरा काम आरम्भ करना दिखाया जाय।

### आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्तिमें माया, इन्द्रजाल, सङ्ग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, प्रस्ताव आदि क्रियाएँ होती हैं। मन्त्रके बलसे कुछ कर दिखलानेको माया, तन्त्रबल या हाथकी सफाईसे कुछ कर दिखानेको इन्द्रजाल और चकित होकर चक्कर काटते रहने अथवा घूमते रहनेको उद्भ्रान्ति कहते हैं। आरभटी वृत्ति चार प्रकारकी होती है—१. संक्षिप्ति : जिसमें कुछ नई माया चलाकर किसीको भेड़-बकरा आदि बना दिया जाय। धनिक और धनञ्जयने इसपर बड़ी अटकल लड़ाई है। २. सम्फेट : जिसमें क्रोधसे उत्तेजित दो व्यक्तियोंका पारस्परिक युद्ध हो। ३. वस्तूत्थापन : जिसमें माया, मन्त्रादिसे वस्तु उत्पन्न की जाय। ४. अवपात : जिसमें प्रवेश, भय और भागना आदि बातें हों।

### भारती वृत्ति

'दशरूपक'में भारती वृत्तिका यह लक्षण दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः॥

[ भारती वृत्ति वह है जिसमें नटोंका वाग्व्यापार या बातचीत अधिकांश संस्कृतमें हो। इसके १. प्ररोचना २. वीथी, ३. प्रहसन और ४. आमुख भेद होते हैं। ]

साहित्यदर्पणमें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे॥
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना।

भरतमुनिने अपने नाट्य-शास्त्रमें भारती वृत्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ।।

इन तीनों लक्षणोंके मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना-शैली या भाषा-प्रयोग-युक्त नाट्य-रूपकको कहते हैं जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोगमें लाते हैं, नटियाँ नहीं, और जिसमें संस्कृत भाषाके वाक्योंकी ही अधिकता रहती है। धनञ्जय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथकी परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुलती है, किन्तु धनञ्जयका 'नटाश्रयः' विश्वनाथमें आकर 'नराश्रयः' हो गया है। भारती वृत्तिके चार अङ्गोंमेंसे प्ररोचना और आमुखका सम्बन्ध स्पष्ट ही पूर्वरङ्गसे है। प्रस्तुत विषयकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्कण्ठा बढ़ानेके कृत्यको प्ररोचना और आपसकी बातचीतके द्वारा कौशल-पूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तुके आरम्भ करनेके कृत्यको आमुख कहते हैं। पर वीथी और प्रहसनकी व्याख्या आचार्योंने स्पष्ट रूपसे नहीं की है। हाँ, वीथीके जो तेरह अङ्ग बताए हैं, उनका सम्बन्ध उतना पूर्वरङ्गसे नहीं है जितना स्वयं रूपकके कथानकसे। प्रहसन और वीथी रूपकके भेदोंमें भी आए हैं। प्रहसन एक ही अङ्कका होता है जिसमें हास्यरस प्रधान रहता है। वीथीमें भी एक ही अङ्क होता है पर प्रधानता शृङ्गार-रसकी होती है। दोनोंके इतिवृत्त कवि-कल्पित होते हैं। अनुमानसे ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भमें प्रसहन और वीथी प्रस्तावनाके अङ्गमात्र थे, जिसमें हँसी या विनोदकी बातें कहकर अथवा विशेष प्रयोगसे युक्त कोई छोटासा कथानक लेकर तथा शृङ्गार-रसयुक्त और विचित्र उक्ति-प्रत्युक्तिसे पूर्ण कोई कल्पित पात्र लेकर दर्शकोंका चित्त प्रसन्न किया जाता था, जैसे योरोपमें 'कर्टेनरेज़र्स' चलते थे। पीछेसे प्रहसन और वीथीने स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया होगा और वे रूपकके भेद विशेष माने जाने लगे होंगे। यह भी हो सकता है कि विश्वनाथका 'नराश्रयः' धनञ्जयके 'नटाश्रयः' का नहीं वरन् भरतके 'स्त्रीवर्जिता' का स्थानापन्न हो। भारती वृत्तिमें स्त्रियोंका पात्रत्व इसलिये वर्जित है कि एक तो भारती वृत्ति संस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नाट्य-शास्त्रके अनुसार स्त्रियाँ संस्कृतमें बोलतीं नहीं।

धनञ्जयने पहली तीन वृत्तियोंको ही सच्ची या क्रिया-वृत्ति माना है;

भारती-वृत्तिको नहीं क्योंकि नाटकीय व्यापारसे भारती-वृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं, वह केवल वाचिक वृत्ति-मात्र है। इसके अतिरिक्त उद्भट और उनके अनुयायियोंने एक पाँचवीं 'अर्थवृत्ति' भी मानी है परन्तु अन्य नाट्याचार्योंने उसे मान्य नहीं समझा है। वृत्तिका अत्यन्त सीधा-सादा अर्थ है 'होना' अर्थात् जिस रूपमें नाटक उपस्थित हो, वही उसकी वृत्ति है, ढंग है, रूप है। इसे यों कह सकते हैं कि कथावस्तुमें जिस प्रकारके कार्य अधिक प्रदर्शित किए जायँ वही उसकी वृत्ति कहलाती है।

हमारे मतसे भारती-वृत्तिमें 'नटाश्रयः' ही ठीक पाठ है। उसका अर्थ यह है कि जैसा नट हो उसके अनुसार 'वाग्व्यापार अर्थात् संवाद जिसमें हो' वह भारती वृत्ति कहलाती है। नाट्यशास्त्रके अनुसार भारती वृत्ति 'स्त्रीवर्जिता संस्कृत-वाक्ययुक्ता' हो अर्थात् उसमें स्त्रियोंके संवादको छोड़कर शेषका व्यापार संस्कृतप्राय हो। इसमें स्त्री-वर्जिताका अर्थ स्त्रियोंसे हीन नाटक नहीं है। नटाश्रय वाग्व्यापारको भी संस्कृतप्राय इसलिये कहा कि निम्न कोटिके पात्र और विदूषक तो प्राकृतमें ही बोलेंगे। इसलिये भरतका शुद्ध मत यही है कि 'भारती वृत्तिमें जितने संवाद हों वे नटोंकी प्रकृतिके अनुकूल हों अर्थात् जैसी उनकी योग्यता, उनका पद हो उसीके अनुकूल उनका सम्वाद हो और यह सम्वाद जहाँतक सम्भव हो, संस्कृतमें ही हो या इसमें अधिकांश ऐसे पात्र रक्खे जायँ, जिनके मुखसे संस्कृत कहलाई जा सके, क्योंकि संस्कृत तो सब समझ सकते थे, प्राकृतको केवल प्रादेशिक लोग ही समझ पाते थे। संस्कृतमें बोलनेका बन्धन स्त्रियोंके लिये नहीं रहेगा, वे प्राकृतमें ही बोल सकेंगी।'

इन वृत्तियोंके अनुसार चार प्रकारके नाटक हुए—

१. संवाद-प्रधान नाटक ( भारती वृत्ति )

२. सङ्गीत-प्रधान नाटक ( कैशिकी वृत्ति )

३. व्यक्ति-प्रधान नाटक ( सात्वती वृत्ति )

४. संघर्ष-प्रधान नाटक ( आरभटी वृत्ति )

## रस-मीमांसा

रसका सम्बन्ध समाज या दर्शकसे है इसलिये हम अगले खण्डमें रसके सम्बन्धमें दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक मीमांसा करेंगे। यहाँ केवल

इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि शृङ्गार, वीर, हास्य, करुण, भयानक, अद्भुत, बीभत्स तथा रौद्र नामके आठ रस हैं। कुछ लोग शान्तको भी नवाँ रस मानते हैं किन्तु नाटकके लिये वह अग्राह्य है।

धनञ्जयने अपने दशरूपकमें कथावस्तु, नायक तथा रसके भेदके अनुसार रूपकों तथा उपरूपकोंका भेद माना, अर्थात् जो अनेक प्रकारके रूपक और उपरूपक गिनाए गए हैं, उनमें या तो नायक भिन्न हैं या कथावस्तुकी शैली या वृत्ति भिन्न है या रसकी भिन्नता है। इन आधारोंपर हमारे यहाँ रूपक और उपरूपकके अनेक भेद किए गए हैं—

रूपक

१. नाटकमें नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी सब लक्षण भी पाए जाते हैं और उसमें सब रसोंका समावेश भी हो सकता है, यद्यपि प्रधानता शृङ्गार अथवा वीर रसकी ही होती है। इसीलिये नाट्याचार्योंने उसे नाट्य-प्रकृति कहा है।

रूपकके दस भेद बताए गए हैं—

१. नाटककी कथा ख्यात अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध होती है। उसका नायक उदात्त गुणोंसे युक्त, धीर, गम्भीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्त्तिका अभिलाषी, महा उत्साहवाला, वेदोंका रक्षक (त्रयीत्राता), राजा अथवा राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो। उसके प्रधान कार्यमें चार या पाँच सहायक हों। नाटकमें पाँचसे दसतक अङ्क हों (पाँचसे अधिक अङ्कवाले नाटकको महानाटक कहते हैं।) उसकी रचना गौकी पूँछके अग्रभागके समान हो अर्थात् अङ्क उत्तरोत्तर छोटे हों या जैसे गौकी पूँछके कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं, उसी प्रकार कुछ कार्य मुखसन्धिमें और कुछ आगे चलकर समाप्त हो। अभिनवभरतका मत है कि 'अल्पसे नाटक प्रारम्भ किया जाय, मध्य भाग अधिक क्रियाशील, बहुव्यापार-गुम्फित हो और फिर अन्तमें यह कार्य-कलाप एक परिणाममें समाप्त हो जाय, नाटकमें यथास्थान पाँचों सन्धियों और अर्थ-प्रकृतियोंका प्रयोग हो और निर्वहण-सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो।'

२. प्रकरणका कथानक लौकिक और कवि-कल्पित, नायक धीर-शान्त (मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य) हो, जो धर्म और कामकी प्राप्तिके लिये तत्पर रहे तथा बाधाओंका सामना करके अभीष्टकी प्राप्ति करे। इसकी नायिका कुलकन्या या

वेश्या हो या दोनों हों। प्रकरणके तीन भेद हैं—१. कुलकन्या नायिकावाला शुद्ध, २. वेश्यावाला विकृत, और ३. दोनोंवाला संकीर्ण होता है। संकीर्ण प्रकरणमें धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्र भरे रहते हैं। अन्य बातोंमें प्रकरण भी नाटकके ही समान होता है।

३. भाणमें कल्पित कथानक, एक अङ्क और एक बुद्धिमान् विट ही पात्र होता है, जो अपने तथा दूसरोंके धूर्त्ततापूर्ण कृत्योंको किसी कल्पित व्यक्तिके साथ वार्त्तालापके रूपमें आकाशकी ओर देखकर सुननेका नाट्य करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वयं दुहराता और उत्तर देता हुआ (आकाश-भाषितके द्वारा) बातचीत करता है। वह शौर्य और सौन्दर्यके वर्णनसे वीर एवं शृङ्गार रसका आविर्भाव करता है। भाणमें प्रायः भारती वृत्तिका किन्तु कहीं-कहीं कैशिकीका भी प्रयोग होता है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियोंका तथा लास्यके दस अङ्गोंका भी व्यवहार हो सकता है।

४. प्रहसन भी भाणके समान होता है। किन्तु इसमें आधिक्य हास्य रसका होता है। वीथीके तेरह अङ्गोंमेंसे सभी इसमें आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक और प्रवेशकका इसमें प्रयोग नहीं होता। यह तीन प्रकारका होता है—१. शुद्ध, २. विकृत और ३. सङ्कर। शुद्ध प्रहसनमें पाखण्डी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायककी योजना होती है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा और बोलनेके ढङ्गसे ही डाला जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियोंका इसमें बाहुल्य होता है। विकृत प्रहसनमें नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकोंके वेशमें तथा उन्हींकी-सी बातें करते दिखाए जाते हैं। सङ्कीर्ण प्रहसनमें हँसी-विनोदकी विशेषता, धूर्त्त नायक, प्रपञ्च, छल, स्पर्धा-युक्त बातें, अव्यक्त अर्थवाले परिहास-वचन, बे-सिरपैरकी बातें, हँसी-उड़ाना तथा गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहनेका व्यवहार अधिकतासे किया जाता है।

५. डिमकी कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमें माया, इन्द्रजाल, सङ्ग्राम, क्रोध, उन्मत्त लोगोंकी चेष्टा तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदि बातोंका वर्णन, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि सोलह उद्धत नायक, कैशिकीको छोड़कर शेष तीनों वृत्तियाँ और हास्य तथा शृङ्गारको छोड़कर शेष सब रसोंका परिपाक होता है। इसमें चार अङ्क और चार ही सन्धियाँ होती हैं, विमर्श सन्धि नहीं होती।

६. व्यायोगकी कथा-वस्तु पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध और उसका नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। उसमें बहुतसे नर पात्र होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमें युद्ध तो होता है, पर स्त्रीके कारण नहीं। इसमें एक ही दिनके वृत्तान्तवाला एक ही अङ्क होता है जिसमें कैशिकी वृत्ति तथा हास्य और शृङ्गारकी योजना नहीं होती। शेष सब बातोंमें व्यायोग भी डिमके ही समान होता है।

७. समवकारका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु देवता तथा असुरोंसे सम्बद्ध होता है, जिसमें बारह देवासुर नायक और प्रत्येक नायकका पृथक्-पृथक् फल होता है। इसमें वीर-रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते हैं। इसमें कैशिकीका तो थोड़ा ही किन्तु अन्य वृत्तियोंका प्रयोग अधिक होता है इसके तीन अङ्कोंमें पहले छः घड़ीका वृत्तान्त तथा दो सन्धियाँ, दूसरे तथा तीसरे अङ्कोंमें क्रमशः दो और एक घड़ीका वृत्तान्त और एक-एक सन्धि होती है, विमर्श-सन्धिको छोड़कर शेष चारों होती हैं।

८. वीथीमें एक ही अङ्क, उत्तम या मध्यम पुरुष नायक और पात्र एक ही दो होते हैं। भाणके समान कैशिकी वृत्ति तथा शृङ्गार रससे युक्त आकाश-भाषितके द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है, इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ, पाँचों अर्थ-प्रकृतियाँ और वीथ्यङ्गोंका समावेश होता है।

९. अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्कमें एक ही अङ्क, साधारण पुरुष नायक, कविकी कल्पनासे विस्तृत प्रख्यात इतिवृत्त और स्त्रियोंका विलाप, जय तथा पराजयका वर्णन तथा मौखिक द्वन्द्व होता है। इसमें वैराग्योन्मेषिणी भाषा और भाणके समान मुख तथा निर्वहण सन्धि और कहीं भारती तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एवं लास्यके दसों अङ्कोंका प्रयोग होता है।

१०. ईहामृगका नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिकाकी इच्छा करता है। इसमें कथानक मिश्रित ( अंशतः प्रसिद्ध, अंशतः कवि-कल्पित ), चार अङ्क, मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण तीन सन्धियाँ तथा नायक और प्रति-नायक प्रसिद्ध धीरोद्धत, मनुष्य या देवता होते हैं। इसमें प्रतिनायक छिपकर पापाचरण करता हुआ किसी दिव्य नारीको चाहता है, जो उसे नहीं चाहती और जिससे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करनेकी सोचता है। युद्धकी पूरी सम्भावना होती है पर वह किसी बहानेसे टल जाता है।

अठारह उपरूपक

उपरूपकके अठारह भेद होते हैं—

१. नाटिका : यह नाटक और प्रकरणका मिश्रण मात्र है। नाटिकाकी कथा कवि-कल्पित होती है, जिसमें चार अङ्क, अधिकांश पात्र स्त्रियाँ, नायक धीर-ललित राजा और नायिका कोई रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाली या राजवंशकी कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या होती है। इसमें प्रधान रस शृङ्गार होता है और कैशिकी वृत्तिके भिन्न रूपोंका क्रमशः चारों अङ्कोंमें पालन किया जाता है। विमर्श-सन्धि बहुत कम या नहीं होती, शेष चारों सन्धियाँ होती हैं।

२. त्रोटकमें पाँच, सात, आठ या नौ अङ्क, देवता या मनुष्य पात्र, प्रधान रस शृङ्गार तथा प्रत्येक अङ्कमें विदूषकका व्यापार रहता है। शेष नाटकके समान होता है।

३. गोष्ठीमें नौ या दस मनुष्यों तथा पाँच या छः स्त्रियोंके व्यापारवाला एक अङ्क होता है, काम-शृङ्गारकी प्रधानता और कैशिकी वृत्तिका प्रयोग होता है पर उदात्त वचनोंकी योजना नहीं होती। गर्भ और विमर्श-सन्धियाँ नहीं होतीं।

४. सट्टककी रचना प्राकृतमें होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते, अद्भुत रसकी प्रचुरता रहती है, इसका अङ्क जवनिका कहलाता तथा अन्य बातें नाटिकाके सदृश होती हैं।

५. नाट्यरासकमें एक ही अङ्क, उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, वासकसज्जा नायिका और प्रधान रस हास्य किन्तु शृङ्गारका भी समावेश रहता है। इसमें मुख और निर्वहण-सन्धियाँ तथा लास्यके दसों अङ्गोंकी योजना होती है। कोई-कोई इसमें प्रतिमुख-सन्धिको छोड़कर शेष चारों सन्धियोंका होना मानते हैं परन्तु यह दो सन्धियोंका भी मिलता है।

६. प्रस्थानकमें दो अङ्क और दास नायक, हीन पुरुष उपनायक, नायिका दासी तथा कैशिकी और भारती वृत्तिका प्रयोग होता है। सुरापानके संयोगसे उद्दिष्ट अर्थकी सिद्धि होती है।

७. उल्लाप्यमें एक अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृङ्गार, हास्य और करुण रस होते हैं।

८. काव्यमें केवल एक अङ्क, व्यापक हास्य रस, गीतोंका बाहुल्य,

नायक और नायिका दोनों उदात्त, तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं।

९. रासकमें एक ही अङ्क, पाँच पात्र तथा मुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति तथा भिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका विशेष प्रयोग होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं।

१०. प्रेङ्खणमें एक अङ्क और हीन पुरुष नायक होता है। इसमें सूत्रधार, विष्कम्भक, प्रवेशक, गर्भ और विमर्श-सन्धिका अभाव होता है, नान्दी और प्ररोचना नेपथ्यसे पढ़ी जाती है और सब वृत्तियाँ होती हैं।

११. संलापकमें तीन या चार अङ्क, पाखण्डी नायक, भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ और नगरका घेरा, सङ्ग्राम तथा भगदड़का वर्णन रहता है।

१२. श्रीगदितमें एक अङ्क, प्रसिद्ध कथा, धीरोदात्त नायक तथा भारती वृत्तिका आधिक्य होता है। गर्भ और विमर्श-सन्धि नहीं होती।

१३. शिल्पकमें चार अङ्क, चारों वृत्तियाँ, शान्त और हास्यको छोड़कर सब रस, नायक ब्राह्मण तथा उपनायक कोई हीनपुरुष होता है। इसमें शव, श्मशान आदिका वर्णन अधिक रहता है।

१४. विलासिकामें एक अङ्क, दस लास्याङ्गोंका विनिवेश, विदूषक, विट, पीठमर्द आदिका व्यापार और हीन-गुणवाला नायक होता है। गर्भ और विमर्श-सन्धियाँ इसमें नहीं होतीं।

१५. दुर्मल्लिकामें चार अङ्क होते हैं। पहले अङ्कमें छः घड़ीका व्यापार तथा विटकी क्रीड़ा, दूसरेमें दस घड़ीतक विदूषकका विलास, तीसरेमें दो घड़ीतक पीठमर्दका विलास और चौथेमें दस घड़ीकी नागरिक पुरुषोंकी क्रीड़ा रहती है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं, गर्भ-सन्धि नहीं होती। पुरुष सब चतुर होते हैं, पर नायक छोटी जातिका होता है।

१६. प्रकरणिकामें नायक व्यापारी और नायिका उसकी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरणके समान होती हैं।

१७. हल्लीशमें एक अङ्क, सात-आठ या दस स्त्रियाँ और उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष रहता है। इसमें कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं एवं गान, ताल, लयका अधिकतासे प्रयोग होता है।

१८. भाणिकामें एक अङ्क, मन्दमति नायक तथा नायिका उदात्त और

प्रगल्भा होती है। इसमें मुख, निर्वहण-सन्धियाँ एवं भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं। यह भाणकी जोड़का उपरूपक है।

योरोपमें 'नाटक या रूपक साहित्य-कलाके उस रूपको कहते हैं जिसके आधारपर व्यक्तिगत रूप धारण करके मनुष्योंके व्यापारों और चरित्रोंका जनता या दर्शकोंके सम्मुख सीधा अभिनय किया जाता हो।'

## यूनानी नाटक

हम पहले कह चुके हैं कि यूनानमें दो प्रकारके नाटक होते थे—त्रासद और प्रहसन, जिन्हें भूलसे लोग दुःखान्त और सुखान्त कहते हैं। साधारणतः त्रासदका अन्त दुःखमय होता है और प्रहसनका सुखमय, किन्तु दोनोंमें विशेष अन्तर यह है कि त्रासदमें गम्भीर कथाओंपर गम्भीर विचार किया जाता है तथा मनुष्यके कष्टों और विपत्तियोंका विशेष विवरण होता है। प्रहसनमें हास्यास्पद और निम्न कोटिके लोगोंकी मूर्खताओं और असङ्गत कार्योंका विवरण होता है। त्रासदमें करुणा और भयके भावोंको उत्तेजित करके रसानुभूति कराई जाती है और प्रहसनमें हास्यके भावको उत्तेजित करके। किन्तु पीछेके लेखकोंने इस प्रकारके भेद नहीं माने, जिससे अनेक प्रकारके रूपक प्रकट होने लगे। इन विभिन्न प्रकारोंमें ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नामसे स्वयं ज्ञात हैं। आरभटी नाटक (मैलोड्रामा) वास्तवमें इतालियामें उत्पन्न हुआ जिसमें त्रासद और प्रहसन दोनोंका सम्मिश्रण है, जो हमारे अत्यन्त निम्नतम भावोंको प्रभावित करते हैं। फ्रांसीसी ड्रामे ( नाटक ) दो प्रकारके हैं, जिनमें जीवनके वास्तविक स्वरूपका बहुत कम अनुकरण रहता है। ये दोनों रूप हैं—१. त्राजेदी बोर्जुवा और २. कौमेदी लार्मोयान्ते। प्रहसनके भी अनेक रूप प्रचलित हुए जो अठारहवीं शताब्दिमें आचार-विषयक प्रहसनों ( कौमेडी औफ़ मैनर्स ) से चलकर फ़ार्स ( भँड़ैती ), बर्लेस्क ( स्वाँग ), वादेविले ( हास्य-प्रधान नृत्य-गीत नाटक ), मूकाभिनय ( पेन्टोमीम ) तथा नृत्याभिनय ( बाले ) तक विकसित हुए और जो वास्तवमें प्राचीन नाटकोंसे ही उद्भूत हैं। मुँह बनाना या व्यङ्ग्यानुकरण ( मिमिक्री ) तो नाटकका ही एक अंश है और सर्वसाधारणमें भी वहाँ प्रचलित है जहाँ किसीका अपमान करनेके लिये, खिझानेके लिये या मूर्ख बनानेके लिये लोग मुँह बनाकर चिढ़ाते हैं।

### रोमके नाटक

रोममें प्रहसनोंको अधिक ग्रहण किया गया और त्रासदोंको कम। प्रहसनोंके ये तत्त्व 'सतूरी' नामक प्रहसनोंमें अधिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 'अतेल्लाना' नामक जो प्रहसन प्रचलित थे, वे ओस्कनोंसे प्राप्त हुए थे। उन्होंने माइम ( वास्तविक जीवनपर लिखे हुए प्रहसन ) मैगना ग्रीसासे लिए। यहाँ त्रासद और प्रहसन दोनों ही लिखे गए। प्रहसनोंमें भी 'पल्लियाती' वर्गके प्रहसन यूनानी आदर्शोंपर लिखे गए थे और तोगाती प्रहसन रोमके विषयोंपर लिखे गए थे। इन नाटकोंकी एक विशेषता यह थी कि इनमेंसे प्रस्तावनाका बहिष्कार हो गया था और उसके स्थानपर एक असम्बद्ध व्याख्या-मात्र रहती थी। त्रासदोंमें भी 'प्रातेक्स्ती' प्रकारके वे नाटक थे जिनमें रोमके ऐतिहासिक विषयोंका निरूपण किया जाता था। शेष सब त्रासद यूनानी पौराणिक कथाओंपर ही अवलम्बित थे। रोम साम्राज्यके पतनके पश्चात् ये व्यवस्थित नाटक समाप्त हो गए और रङ्गमञ्चपर नर्त्तकों तथा मूकाभिनय- कारियोंने अधिकार कर लिया।

### चीनी नाटक

चीनमें दो प्रकारके नाटक होते रहे हैं—१. नागरिक और २. सैनिक। चीनी नाटकोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि मनुष्यके सम्पूर्ण गुणोंका उत्कर्ष और अभ्युदय दिखलाया जाय। ये सब नाटक प्रायः रूढिगत हैं। किन्तु चीनी नाटकोंकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि खेलते समय अभिनेता लोग उसमें मनमाने ढंगसे चाहे जितना बढ़ा-घटा लेते हैं, इसलिये लिखे हुए तथा खेले हुए नाटकोंके पाठोंमें बड़ा अन्तर हो जाता है। नागरिक नाटकोंमें सामाजिक जीवनके सर्वसाधारण पक्षका प्रदर्शन किया जाता है और उनकी प्रकृति शान्त तथा प्रहसनात्मक होती है। सैनिक नाटकोंमें द्वन्द्व-युद्ध तथा सब प्रकारके उत्तेजनात्मक व्यापार होते हैं। वास्तविकता या रङ्गविधानकी ओर वहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। स्त्रियोंकी भूमिका पुरुष ही ग्रहण करते हैं। एक साथ बिना अन्तरायके अनेक नाटक खेले जाते हैं और इसीलिये बहुत कालतक जो लम्बा काम किया जाय उसके लिये उक्ति ही प्रचलित हो गई है कि 'चीनी नाटक खेला जा रहा है'।

### जापानी नाटक

जापानियोंका सर्वप्राचीन नाटकीय रूप था कगूरा, जिसमें देवताओंके सम्मुख गीत और नृत्यका प्रदर्शन किया जाता था। यह आजतक उसी रूपमें शिन्तो मूर्त्तियोंके सम्मुख खेला जाता है। पीछे इसमें कुछ मन्त्र तथा कुछ तालयुक्त क्रियाएँ भी समाविष्ट कर दी गईं। तमाए अर्थात् क्षेत्र-नृत्य और देंगाकू अर्थात् क्षेत्र-सङ्गीत जापानकी प्राचीन निधियाँ हैं। इनके अतिरिक्त 'सायबारा' नामके सामाजिक नाटकीय रूप हैं जो प्रधानतः गीतात्मक हैं और जिन्हें लोग राजाओंके पास राजकीय कर ले जाते समय गाया करते हैं। एक इसी प्रकारके पूर्वी प्रान्तके ऐसे ही गीत हैं जिन्हें 'अजूका माए' कहते हैं। जैसे हमारे यहाँ देव-यात्राएँ होती हैं उसी प्रकार जापानमें भी 'मत्सुरी' नामके यान-यात्राके उत्सव अबतक प्रचलित हैं।

देंगाकूके छः नाटकीय रूप हैं—शिबा ( घासवाले खेत ), दाई ( महान् ), शो ( लघु ), मइको ( नर्त्तकियाँ ), मारू ( ग्राम ) और कार्ची ( टहलना )। ये छः प्रकारके नाटक 'एन्नेन' नामक नृत्य-नाटकके साथ मिलकर बौद्ध धर्मकी उन्नतिके साथ अधिक व्यवस्थित हो गए और इन्होंने 'नोह' (योग्यता-नाटक) का रूप धारण कर लिया। 'सारू गाकू नोह' (वानर-सङ्गीत ) प्रारम्भमें प्रहसनात्मक था किन्तु बौद्ध पुरोहितोंके हाथमें पड़कर उसकी प्रहसनात्मिका प्रकृति समाप्त हो गई।

'नोह'में दो या दोसे अधिक अभिनेता होते हैं। नाटक गद्यमय होता है और मन्त्रोंके समान उसका पाठ किया जाता है। अभिनेता प्रायः मुखौटे बाँधे रहते हैं और उनकी सम्पूर्ण गति एक नियममें बँधी रहती है। पन्द्रहवीं शताब्दिके अन्ततक चार प्रकारके नोह नाटक प्रचलित थे— १. शिन्तो नोह, जिसमें पौराणिक विषय होते थे, २. शूगेन् नोह, जिसमें प्राचीन लोकाचार दिखाया जाता था, ३. यूरेई शेरेई नोह, जिसमें भूत-प्रेतोंकी कथा होती थी और ४. गेञ्जाई मोनो नोह, जिसमें कोई नैतिक लक्ष्य प्रतिपादित करनेके लिये लौकिक जीवनका तथ्य प्रतिपादित किया जाता था। बौद्धोंके हाथमें रहनेके कारण इनमेंसे प्रहसनात्मक तत्त्वोंका पूर्णतः बहिष्कार कर दिया गया था।

प्रहसनात्मक नाटक मौखिक होते थे और 'क्योगेन'में प्रक्षिप्त कर दिए जाते थे। 'क्योगेन'का अर्थ है सरल वाणी। ये अत्यन्त वास्तविक तथा असाहित्यिक

सामाजिक प्रहसन हैं। ये भी गद्यमें होते हैं और प्रायः 'नोह' नाटकोंके बीच-बीचमें खेल दिए जाते हैं।

### योरोपके मध्य-युगीन नाटक

मध्य कालमें योरोपके ईसाई पादरियोंने बहुदेववादियोंके मनोविनोदात्मक प्रदर्शनोंके समकक्ष नाटकोंकी प्रतिष्ठा की, जो थोड़े दिनोंमें मिरैकिल प्लेज़ (अलौकिक नाटक), मिस्टरीज़ (रहस्यात्मक नाटक) और पैशन प्लेज़ (भावात्मक नाटक) के रूपमें प्रचलित हुए। इन्हींके साथ-साथ मोरेलिटीज़ (नैतिक नाटक) नामके उन नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ जो भ्रमणशील पादरी खेलते थे। इन्हींसे नवीन योरोपीय नाटकोंकी उत्पत्ति हुई।

### इतालवी नाटक

इटलीमें सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार सर्वप्रथम हुआ। सोलहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें प्लाउतीय प्रहसनोंका जीर्णोद्धार किया गया किन्तु वास्तविक इतावली नाटकोंका प्रारम्भ किया अरिस्तीनोने अपने रूढ़िवादी त्रासद 'सोफोनिस्वा'से, जो अतुकान्त पद्यमें लिखा हुआ था। इसके पश्चात् तोरकातो तासोने पैस्तोरल प्लेज़ (ग्राम्य जीवनके नाटक) लिखे। उसी शताब्दिके अन्तमें गियमवत्तिस्ता दे ला पोर्त्ताने अपने मनोहर व्यंग्यात्मक प्रहसन प्रारम्भ किए। कल्पनात्मक नाटकका प्रारम्भ तो यूनानमें हुआ किन्तु उसका प्रचार इटलीमें हुआ और प्राचीन रूढ़िवादी नाटकोंके विरोधमें एक दल ही खड़ा हो गया। उसी समय रिच्यूबिनी और उसके अनुयायियोंने इन स्वैरवादी (रोमान्टिक) नाटकोंमें सङ्गीतका पुट देकर आरभटी नाटक (मैलोड्रामा) की सृष्टि की। फल यह हुआ कि त्रासद और प्रहसनका स्थान ले लिया यूम्जिनका अपेरा (सङ्गीत-नृत्यमय नाटक) ने, जिसे साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया ज़ेनोने।

किन्तु थोड़े दिन पीछे फ्रांसीसी नाट्य-कलाने इटलीके रङ्गमञ्चको प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया विशेषतः अभिनेता नाट्यकार रिच्यूविनीने। गोज़ीने सार्वजनिक 'कौमीदिया दे लार्त्ते' (मुखौटीका प्रहसन) को साहित्यिक रूप प्रदान किया।

### स्पेनी नाटक

स्पेनको कल्पनात्मक नाटककी जन्म-भूमि समझनी चाहिए। इन नाटकोंका

प्रारम्भ किया सन्तिलाना लोपेदे, रुएदा और नाहारोने, जो स्पेनी रङ्गमञ्चके पिता समझे जाते हैं। कल्पनात्मक नाटकोंके अतिरिक्त कुछ तो त्रासद लिखे गए किन्तु कुछ वे धार्मिक नाटक लिखे गए, जिन्हें 'आउतोस सेक्रामेन्तालिस' कहते हैं, जिसमें यूखारिस्तके रहस्योंको नाटकीय रूप दिया गया है। उसी समय मोरेतोने अनेक प्रहसन लिखे जो 'चोगा और तलवार' ( क्लोक ऐंड सोर्ड टाइप ) श्रेणीके कहे जाते हैं और जिनके लिये स्पेनी रङ्गशाला प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् वह विद्रोही दल खड़ा हुआ जिसने इन प्राचीन 'पुन्तो दे औनर' नामक प्राचीनतावादी नाटकोंका विरोध किया, यहाँतक कि वैनीतो पैरेज़ गाल्दोस्ने रङ्गमञ्चके विधानोंकी भी अवहेलना की।

### फ़्रांसीसी नाटक

फ़्रांसने देश, काल और व्यवहारके एकत्व ( यूनिटी औफ़ प्लेस, टाइम ऐन्ड एक्शन ) के सिद्धान्तको स्वीकार करके सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार किया। उनके मिस्तेरे ( रहस्यात्मक नाटक ), मोरालिते ( नैतिक नाटक ), सोतीस् (मूर्खतापूर्ण नाटक), फ़ार्से ( व्यंग्यात्मक प्रहसन ) में संस्कृति-विरोधी या कल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती थीं। किन्तु कोई विशेष उन्नति उनके यहाँ नहीं हुई। वहाँ भी अन्य योरोपीय देशोंकी भाँति त्रासद लिखे गए। बहुत दिन पीछे वोल्तेयाने अपने कल्पनात्मक त्रासद लिखे और इसके पश्चात् तो कल्पनावादी तथा काव्यात्मक नाटक लिखनेवालोंकी बाढ़ ही आ गई। बीसवीं शताब्दिके नाटककारोंने काम-शास्त्र तथा मनःशास्त्रके आधारपर नाटक लिखे किन्तु जितने प्रकारके नाटक लिखे जाने चाहिएँ थे उतने प्रकार यहाँ न मिल सके।

### जर्मन, आष्ट्रियन और जेकोस्लोवाकियन नाटक

जर्मन, आष्ट्रिया और जेकोस्लोवाकियामें भी प्रारम्भमें त्रासद लिखे गए। गेटेने अपने 'फ़ाउस्ट'में आत्मसंस्कारको अधिक महत्त्व दिया है और अपने नाटककी प्रस्तावनामें बताया है कि 'नाटकीय रूपमें रचना करते हुए भी मैं सार्वजनिक रङ्गशालाकी आवश्यकताओंके साथ इसका समन्वय नहीं कर सका।' हाउप्टमानने उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें प्रकृतिवादी और काव्यात्मक नाटक लिखे और वेडेकिन्डने अभिव्यञ्जनात्मक नाटक लिखे जो माक्सरीनहार्ड रङ्गशालाके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक-प्रदर्शन

करनेके लिये जो उसने दृश्यपीठोंका रूप-विधान किया है वह सारे संसारमें अद्वितीय है ।

### स्केण्डीनेवियन् और फ़्लेमिश नाटक

फ़्लेमिश नाटक तो फ़्रांसके कल्पनात्मक नाटकोंके अनुकरण-मात्र हैं । बेल्जियमके प्रसिद्ध कवि मैटरलिङ्कने प्रतीकवादी आन्दोलनका नेतृत्व किया और नाटकमें अतिशय प्रतीकवादकी प्रतिष्ठा की । नाटकके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियोंका आन्दोलन प्रारम्भ किया स्केन्डीनेवियाने । ब्योर्नसन् और इब्सनने मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओंपर 'समस्या नाटक' लिखे हैं, जिनका प्रभाव व्यापक रूपसे योरोपीय नाटकोंपर पड़ा है । स्ट्रिन्डवर्गने इब्सनके महिलावादके विरोधमें शक्तिशाली नाटक लिखा ।

### रूसी नाटक

किसी युगमें रूसमें भी धार्मिक नाटक खेले जाते रहे किन्तु वहाँ व्यवस्थित रूपसे अठारहवीं शताब्दिमें नाटकोंका विकास हुआ और त्रासद लिखे गए । उन्नीसवीं शताब्दिमें ग्रीवोयेडौफ़ और गोगोलने प्रहसन लिखे, पुश्किनने सेक्सपियरी शैलीपर नाटकोंकी रचना की, आष्ट्रीवस्कीने जनताके मनोभावोंका स्वाभाविक निरूपण किया, अलेग्ज़ेन्डर टौल्स्टौयने रूसी राजाओंकी कथाओंपर नाटक लिखे और काउन्ट लियो टौल्स्टौयने सब रूढियोंको तोड़ते हुए केवल चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे नाटक रचे । आन्तोन चेखवने मौस्को आर्ट थिएटरके लिये अत्यन्त स्वाभाविकतापूर्ण कलात्मक नाटक लिखे, जिनमें सरल किन्तु भावात्मक अभिनयकी आवश्यकता होती है । नवीन नाटककार एव्रोनफ़ने अपने मोनोड्रामा ( एकनटीय नाटक ) के सिद्धान्तपर अपने नाटक लिखे । सन् १६१७ की क्रान्तिके पश्चात् नई रङ्गशालाओंकी स्थापना हुई, जिनमें सस्ते उपकरणोंसे तथा ज्यामितीय आकारोंकी सामग्रियोंपर विभिन्न प्रकारसे प्रकाश देकर दृश्य प्रभाव उत्पन्न करनेकी चेष्टा की गई, साथ ही रङ्गशालाको प्रचारका साधन भी बना लिया गया । मेयरहोल्ड जैसे लेखकोंने, साधारण जनताके लिये ऐसे नाटक लिखे जो सार्वजनिक रूपसे खुले मैदानमें खेले जा सकते हैं । वहाँके विभिन्न प्रान्तोंमें छोटी या उठौवा रङ्गशालाएँ हैं और घुमन्तू अभिनेता घूम-घूमकर

नाटक दिखाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगात्मक राजकीय रङ्गशालाएँ भी हैं जहाँ निरन्तर नाटकीय-प्रयोग होते रहते हैं।

### अँगरेज़ी नाटक

इंग्लैण्डमें भी प्रारम्भमें ईसाई पादरियों-द्वारा धार्मिक नाटक होते थे, जिनमें अलौकिक नाटक ( मिरेकिल प्लेज़ ) और रहस्यात्मक नाटक ( मिस्टरी प्लेज़ ) होते थे। किन्तु सोलहवीं शताब्दिमें पुनरुद्धार-कालमें ये बन्धन टूट गए और प्रहसन तथा त्रासद लिखे जाने लगे। किन्तु इन सबमें सर्वाधिक ख्याति पाई शेक्सपियरने। जौन्सनने प्रहसन और त्रासद दोनों लिखे किन्तु उसे प्रसिद्धि मिली उस कलात्मक 'मास्क' ( मुखौटेवाले प्रहसन ) से जिसकी राजद्वारमें बड़ी प्रशंसा हुई। इस प्रकार त्रासद और प्रहसन निरन्तर लिखे जाते रहे। पीछे अन्ना बेली, कौलरिज, बायरन, शैली और हेनरी टेलर जैसे लेखक हुए जिन्होंने पाठ्य-नाटक लिखे, जो केवल पढ़नेके लिये अच्छे थे, रङ्गमञ्चपर नहीं खेले जा सकते थे। टेनीसन, ब्राउनिङ्ग और स्विनूबर्ग जैसे कवियोंने नाटकीय काव्योंकी रचना की और शैरिडन जैसे लोगोंने दृश्यात्मक शक्तिसे पूर्ण नाटक लिखे। इसके पश्चात् जोन्स पिनरो और औस्कर वाइल्ड जैसे नाटककारोंने वाग्वैदग्ध्यसे पूर्ण प्रहसन लिखे। उसके पश्चात् आए बर्नर्डशा और गाल्सवर्दी जिन्होंने रङ्गशालाको नया ही रूप दिया, अनेक विवादास्पद विषयोंपर निर्भीकता और व्यङ्ग्यसे आलोचना की तथा सामाजिक समस्याओंका नये ढङ्गसे समाधान किया। जे० एम० बारीने अपने नाटकोंमें अलौकिक रहस्यात्मक तत्त्वोंका अधिक योग किया। हालमें ग्रेनविल बार्करने रङ्ग-विधानकी योजनामें महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। पीछेके कवियोंमें कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन भी लिखे।

आयरिश नेशनल थिएटरमें दो प्रकारके नाटक लिखे गए—१. साहित्यिक नाटक और २. लोक-नाटक ( फ़ोक प्लेज़ )।

### अमरीकाके नाटक

अभी पचास वर्ष पहलेतक अमेरिकाके नाटकोंपर फ्रान्सीसी और अँगरेज़ी प्रभाव था। किन्तु डेन्मन टौम्सनके सार्वजनिक गीत-नाट्यके आ जानेसे और हैरिगन तथा हार्टके निम्न कोटिके जीवनके देशी प्रहसनोंके प्रादुर्भावसे देशी मौलिकता जागने लगी। जेम्स हर्नने सर्वप्रथम नये इङ्गलैण्डके

ग्राम्य जीवनपर अत्यन्त स्वाभाविक नाटक लिखा। वर्त्तमान अमरीकाके नाटककारोंकी विशेषता यह है कि वे मानवीय प्रकृतिका अत्यन्त सच्चा और निःसङ्कोच चित्रण करते हैं। इधर अमरीकाकी जनताके मतका प्रतिनिधित्व करनेवाले भी कुछ नाटक लिखे जा रहे हैं, जिनकी लोकप्रियता अधिक बढ़ रही है किन्तु प्रभावशाली, नई सम्भावनाओंको समझनेवाला वास्तविकतावाद नाटककार है यूजेन ओ नील, जो अभिव्यञ्जनात्मक कौशलका भी प्रयोग करता है। दूसरा अभिव्यञ्जनावादी नाटककार है एल्मेर राइस।

विभिन्न देशोंमें प्रयुक्त होनेवाले जिन अनेक प्रकारके नाटकोंका वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त उनमें हमने नृत्यनाट्य, गीत-नाट्य तथा मूकनाट्यकी चर्चा की है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ नाट्य-शैलियाँ प्रचलित हो चली हैं, जैसे एकाङ्की नाटक, जिनमें एक ही अङ्कमें पूरी कथा पूर्ण हो जाती है। दूसरा है श्रव्य नाट्य (रेडियो प्ले), जिसमें इस प्रकार संवाद-योजना रक्खी जाती है कि मौखिक निर्देश और वाचिक अभिनयसे ही पूरा नाटक पूर्ण कर लिया जाता है। रेडियोपर जो नाटक होते हैं वे इसी प्रकारके होते हैं। किन्तु जब बेतार-रूप-ध्वनि (टेलीविज़न) का प्रयोग होने लगेगा तब श्रव्य नाटक समाप्त हो जायँगे। तीसरा सम्वाद-नाट्य है, जिसमें गद्य-संवाद नेपथ्यसे होते हैं और अभिनेता रङ्गमञ्चपर केवल अभिनय करते हैं। इनके अतिरिक्त भी और बहुतसे प्रकारके नाटक हो सकते हैं जिनका विवरण आगे दिया गया है।

## एकाङ्की नाटक

योरोपीय साहित्यमें बोलपटके आविष्कारकी प्रतिक्रियाके रूपमें एकांकी नाटकोंकी सृष्टि हुई। जिन्होंने संस्कृत नाट्य-साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकाङ्की नाटक वैज्ञानिक आविष्कारोंके समान ही बीसवीं शताब्दिकी देन है। किन्तु एकाङ्की नाटकोंका आरम्भ ईसासे बहुत पहले भासने कर दिया था और 'मध्यम व्यायोग' उसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरोपमें भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान और इतालियामें छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे-छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दिसे सत्रहवीं शताब्दितक 'कौमीदिया दे लार्ते' के नामसे इतालियामें तथा दूसरे योरोपीय देशोंमें प्रचलित थे।

सबसे पहले अँगरेज़ी नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकोंके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे और मध्ययुगमें प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज़) और गर्भाङ्क नाटक (इन्टरल्यूड्स) सभी एकांकी नाटक ही थे।

जब रूढ़िवादियोंने सन् १६४२ में अपनी रङ्गशालाएँ कीलित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थानपर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दिमें भी 'पर्दे उठाऊ' (कर्टेन रेज़र्स) या पुछल्ले नाटक (आफ़्टर पीसेज़) कहलानेवाले बहुतसे एकांकी नाटक व्यावसायिक रङ्गशालाओंके लिये भी लिखे गए अथवा अव्यावसायिकोंके लिये चित्ररेखाके रूपमें रचे गए थे जो अब भी हमारे ऊपर कभी-कभी लादे जाते हैं। वे मुख्यतः भँड़ैती (बर्लेस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूपसे एकांकी रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए हैं।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं किन्तु फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इनका विकास या विस्तार कबसे नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभीतक इस विषयपर पूरी खोज नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है कि बीसवीं शताब्दिमें एकांकी नाटकोंका निर्माण इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, रूस तथा इतालियामें पुनः हुआ, नाटकीय रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ और यह भी समझा जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उपयुक्त है। ज़ेकोस्लोवाकिया और अमेरिकाकी छोटी रङ्गशालाओं (लिटिल थिएटर्स) में उनका बड़ा आदर हुआ और इङ्गलैण्डकी अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियोंमें भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

### टाल्बोटका सिद्धान्त

एकाङ्की नाटककी रचनाके सम्बन्धमें टाल्बोटने दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—१. एकाङ्की नाटकमें यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता। २. यदि एकाङ्की नाटकमें विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए। टाल्बोटने प्रचार-नाटक तथा भावपूर्ण नाटकोंको इसलिये त्याज्य कहा है कि वे सब अत्यन्त सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मतके प्रचारके लिये लिखे जाते हैं।

टाल्बोटका सिद्धान्त है कि 'उन नाटकोंको भी नाटकोंमें सम्मिलित कर लेना चाहिए जो रूढिमें ढले नहीं होते अर्थात् जिनके व्यापार रङ्गमञ्चके उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढिगत नाटकोंके चरित्रोंके समान नहीं होते।' ये सिद्धान्त ड्रिङ्कवाटरके सावयव नाटकों (ऑर्गेनिक ड्रामा) के विरोधी हैं और ये सावयव नाटक 'कृत्रिम नाटकों'के विरोधी हैं। टाल्बोटका दूसरा सिद्धान्त है कि 'उन तथाकथित तीव्र नाटकों अथवा विनोदरहित गम्भीर नाटकों और प्रचार-नाटकोंका बहिष्कार करना चाहिए जो अत्यन्त अस्वाभाविक रूपसे प्रभावशाली बनाए जाते हैं।' उसका कहना है कि 'त्रासदमें भी कुछ हँसी-विनोद होना ही चाहिए; कुछ तो मानसिक भावों तथा भावावेशोंको शान्ति देनेके लिये और कुछ तुलना-द्वारा उसपर बल देनेके लिये। जो नाटककार विनोदसे ऊपर उठा रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमें अनुपातकी बुद्धि ही नहीं है क्योंकि विनोद एक प्रकारका दार्शनिक उन्माद है, जो केवल नाटकोंमें ही नहीं वरन् इस रूखी दुनियाके लिये भी आवश्यक है।'

योरोपमें एकाङ्की नाटक इतने अधिक लिखे गए कि उनके कई वर्ग बन गए। नीचे हम उन वर्गोंका तथा प्रत्येक वर्गके सर्वश्रेष्ठ नाटककार तथा रचनाका भी परिचय दे रहे हैं —

१. सभ्य प्रहसन (पोलाइट फ़ार्सेज़)—आर्नोल्ड बेनेका 'दि स्टेप-मदर'। २. देवताओं और मनुष्योंके नाटक (प्लेज़ ऑफ़ गौडस् ऐण्ड मेन)—लार्ड डनसेनीका 'ए नाइट ऐट एन इन'। ३. खुले मैदानके नाटक (ओपेन एअर प्लेज़)—हैरोल्ड ब्रिग हाउसका 'हाउ दि वेटर इज़ मेड'। ४. परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्लेज़)—ओलाइव कौन्वेका 'मिमी'। ५. गद्य-पद्य-मय नाटक (प्ले इन प्रोज़ ऐण्ड वर्स) डब्लू० बी० यीट्सका 'दि पौट ऑफ़ ब्रौथ'। ६. गोचर भूमि तथा हरे मैदानोंके लिये नाटक (प्ले फ़ौर दि मीडो ऐण्ड प्ले फ़ौर दि लौन) हैरोल्ड ब्रिग-हाउसका 'दि प्रिंस हू वाज़ ए पाइपर'। ७. दूर और पासके नाटक (प्लेज़ ऑफ़ फ़ार ऐण्ड नियर)—लौर्ड डलसेनीका 'दि प्लाइट ऑफ़ दि क्वीन'। ८. प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण नाटक (विटी प्लेज़) जी० जी० टाल्बोटका 'दि स्पार्टन गर्ल'।

इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक जीवन-सम्बन्धी विशेषतः लन्दनके आचारसे सम्बद्ध एकाङ्की नाटक भी लिखे गए हैं। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया था हैरोल्ड चैपिनने, जिसका 'मे फेयर' नाटक बड़ा प्रसिद्ध है। स्वर्गीय विलियम

आर्चरका 'दि डम्ब ऐण्ड दि ब्लाइण्ड' तो एकाङ्की नाटकोंमें सर्वश्रेष्ठ है, जिसका कारण उसकी सरलता और स्पष्टता है ।

इन सभी प्रकारके एकाङ्की नाटकोंकी रचनाएँ साधारण दृश्य-मात्रसे लगाकर नाटकके सभी तत्त्वोंसे पूर्ण छोटे नाटकतकमें हुई हैं और विभिन्न नाटककारोंने अपने नाटकोंको यथासम्भव प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न किया है । इस प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये उन्होंने प्रायः लोक-भाषाका आश्रय लिया है और दृश्य-विधान गुम्फित बना दिया है, अर्थात् उसमें घटनाओं, पात्रों अथवा स्थितियोंका परिवर्त्तन दिखलाकर उन्हें सरस, बोधगम्य, कुतूहल-पूर्ण तथा प्रभाव-पूर्ण बनाया है । इनकी रचनामें भी दो रूप हैं—एक तो वे, जो केवल एक दृश्यमें ही समाप्त हो जाते हैं, दूसरे वे, जो एक अङ्कमें तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमें दृश्य कई होते हैं । किन्तु वास्तविक एकाङ्की वही है जिसमें एक ही कार्य एक ही स्थितिमें एक ही भाव उत्पन्न करे ।

## कलावादी तथा वास्तविकतावादी नाटक

योरोपमें जिन बुद्धिवादियोंने समस्याएँ लेकर नाटकोंकी रचना प्रारम्भ की उनके दो पक्ष हुए—१. शुद्ध वास्तविकतावादी और २. कलावादी ।

कलावादियोंका यह तर्क है कि 'नाटक मनोरञ्जनका साधन है किन्तु साथ-साथ उसमें तथ्यकी मात्रा समूची रहनी चाहिए । हाँ, तथ्यको प्रकट करनेके साधनोंमें कलाकी पूर्ण सहायता ली जा सकती है ।' इन लोगोंका विश्वास है कि 'संसार स्वयं संघर्ष और द्वन्द्वका क्षेत्र है । मनुष्य चारों ओर अनेक वैषम्योंको नित्य देखता भोगता चला आ रहा है अतः उन्हें देखने तथा सहन करनेका अभ्यास हो गया है । उनके आवेगमय प्रत्यक्षीकरणसे उसके हृदयपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । इसलिये नाटककारका जो उद्देश्य है वह भी इन लोगोंके हृदयतक नहीं उतर पाता है ।' अतः इन कलावादियोंका यह प्रस्ताव है कि 'नाटकमें विनोदके कलात्मक साधनोंका अर्थात् गीत, नृत्त और नृत्यका प्रचुर प्रयोग किया जाय ।' इसी आधारपर गीति-नाटकोंकी सृष्टि हुई । इन गीति-नाट्योंकी विशेषता यही थी कि इनमें सब बातें पद्यमें ही होती थीं । किन्तु केवल पद्य-बद्धता ही इन गीति-नाट्योंकी विशेषता नहीं है । इसके दो स्पष्ट स्वरूप हैं— १. मूक अभिनयके साथ गीति-नाट्य और २. शुद्ध

सम्वादात्मक गीति-नाट्य । इनमेंसे पहलेमें एक दल विशेष भावयुक्त, सम्वाद-युक्त, वाद्य-यन्त्रोंकी सहायतासे गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंके अनुरूप भूमिकामें गीतके भावोंके अनुरूप अभिनय करता है । दूसरे प्रकारके गीति-नाट्य वे हैं, जिनमें केवल पद्य-बद्ध सम्वाद-मात्र ही रहते हैं ।

## नवीन वर्गीकरण

जितने प्रकारके नाटक भारत तथा अन्य देशोंमें प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं, उनका वर्गीकरण कई दृष्टियोंसे किया जा सकता है—१. विषय, २. रङ्गमञ्च ३. प्रदर्शन-विधि, ४. प्रभाव, ५. रचना, ६. उद्देश्य, ७. समाज या दर्शक तथा ८. पात्र ।

१. विषयके अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

क. पौराणिक, ख. ऐतिहासिक, ग. प्रतीकात्मक, घ. रूढ, ङ. मौलिक ( सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, घरेलू, आर्थिक तथा नैतिक ) ।

२. रङ्गमञ्चके अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

क. खुले मैदानके योग्य नाटक ( ओपिन एअर या मीडो प्लेज़ ), ख. चक्रिल रङ्गमञ्च ( रिवौल्विङ्ग स्टेज़ ) के योग्य, ग. छोटे रङ्गमञ्चके योग्य, घ. बड़े रङ्गमञ्चके योग्य, ङ. पत्तहीन रङ्गमञ्चके योग्य और च. दुहरे रङ्गपीठके योग्य ।

३. प्रदर्शन-विधिके अनुसार ये प्रकार हो सकते हैं—

क. छाया नाटक, ख. पुत्तलिका नाटक, ग. मूकाभिनय नाटक, घ. गीति-नाट्य नाटक, ङ. नृत्यनाट्य नाटक, च. श्रव्य-नाटक ( रेडियो प्ले ) और छ. दृश्य-श्रव्य नाटक ।

४. प्रभावके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

क. शृङ्गारात्मक , ख. वीरतापूर्ण, ग. त्रासजनक , घ. हास्यजनक, ङ. कुतूहलोत्पादक, च. विनोदात्मक , छ. उपदेशात्मक , ज. करुण, झ. घृणोत्पादक, ञ. क्रोधजनक या भावोत्तेजक ( किसी व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, देश, वस्तु, जीव, क्रिया आदिके विरुद्ध ) और ट. वैराग्यजनक ।

५. रचनाके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

क. एकाङ्की, ख. अनेकाङ्की, ग. एक दृश्यात्मक, घ. एक दृश्यान्तर्गत बहुदृश्यपीठात्मक तथा बहु-व्यापारात्मक, और ङ. आलङ्कारिक तथा लाक्षणिक भाषायुक्त पठनीय नाटक ।

६. उद्देश्यके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

क. समाज-सुधार, ख. किसीकी निन्दा या स्तुति, ग. किसी विशेष सिद्धान्त या लक्ष्यका प्रतिपादन और घ. मनोविनोद-मात्र।

७. सामाजिक या दर्शकके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

क. बालकोंके योग्य, ख. स्त्रियोंके योग्य, ग. सैनिकोंके योग्य और घ. किसी विशेष वर्गके योग्य।

८. पात्रके अनुसार निम्नाङ्कित भेद हो सकते हैं—

क. देवता या अलौकिक पात्रवाले, ख. उच्च कोटिके पात्रवाले, ग. निम्न वर्गके पात्रवाले, घ. मध्य वर्गके पात्रवाले और ङ. निकृष्ट श्रेणीके पात्रवाले।

## वर्त्तमान वर्गीकरण

इतने सब भेद होते हुए हम सामान्यतः विश्वभरके नाटकोंको निम्न-लिखित छः वर्गोंमें बाँट सकते हैं—१. कथा-प्रधान : जिसमें मुख्यतः किसी प्रसिद्ध कथाको उपस्थित करना ही नाटककारका लक्ष्य हो। २. चरित्र-प्रधान : जिसमें किसी विशिष्ट नायक या नायिकाके गुणोंका विकास प्रदर्शित करना इष्ट हो अथवा किसीकी निन्दा करके उसके अवगुणोंका भण्डाफोड़ करना उद्देश्य हो। ३. व्यापार-प्रधान : जिसमें घटनाओं और क्रियाओंका अधिक समावेश हो, सम्वाद कम हो और क्रियाओंके परिणामस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल प्राप्त हो। इस प्रकारके मौलिक नाटक सर्वश्रेष्ठ होते हैं और वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्यकौशल इसी प्रकारकी रचनाओंमें प्रकट होता है। ४. सङ्गीत-प्रधान : जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य आदिके द्वारा ही नाट्य-व्यापार प्रदर्शित किया जाय। ५. उद्देश्य-प्रधान : जिसमें किसी विशेष उद्देश्यका प्रतिपादन किया जाय। ६. सम्वाद-प्रधान : जिसमें अधिकांश नाटकीय व्यापार सम्वाद-द्वारा सिद्ध हो और भाषा-शैलीपर अधिक ध्यान दिया गया हो।

## सुखान्त नाटक ( कौमेडी )

प्रारम्भमें तो 'कौमेडी' शब्दका अर्थ 'प्रहसन' था किन्तु आगे चलकर योरोपमें 'कौमेदी' ( कौमेडी ) शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ—१. प्रहसन, जिसमें मूर्खता, व्यंग्य और धूर्त्तताके कृत्यों-द्वारा विनोद उत्पन्न किया जाता है और २. सुखान्त नाटक, जिसमें किसी नाटकका अन्त सुखमय हो।

सुखान्त नाटकमें जितने कार्य होते हैं वे सब गम्भीर भी हो सकते हैं और अगम्भीर भी, किन्तु उनमें जो व्यापार हो वह मूर्खता, व्यंग्य और धूर्त्तताके द्वारा विनोद करनेवाला न होकर पात्रोंकी मस्त, विनोदशील और प्रसन्न प्रकृतिके कारण ही हो। ये नाटक भी या तो गद्य-सम्वादात्मक होते थे या सङ्गीतात्मक या मूकाभिनयात्मक। इसी प्रकार फ्रांसमें कौमेदी शब्द 'प्रहसन'के लिये न प्रयुक्त होकर व्यापक अर्थमें अत्रासदीय रचनाओंके लिये प्रयुक्त होने लगा, जैसे दिदरोके 'कुलपिता' ( दि फ़ादर औफ़ फ़ैमिली ) के लिये। कुछ ऐसे भी थे जिनकी शैली और विषय-योजना निम्न कोटिकी थी किन्तु अन्त सुखमय होता था। उसे भी कौमेदी कहने लगे, जैसे दाँतेकी 'डिवाइन कौमेदी' या बालज़ककी 'ला कौमेदी ह्यूमेन'। अतः योरोपीय नाटकोंकी प्रकृति हम अग्राङ्कित मानचित्र-द्वारा समझा सकते हैं—
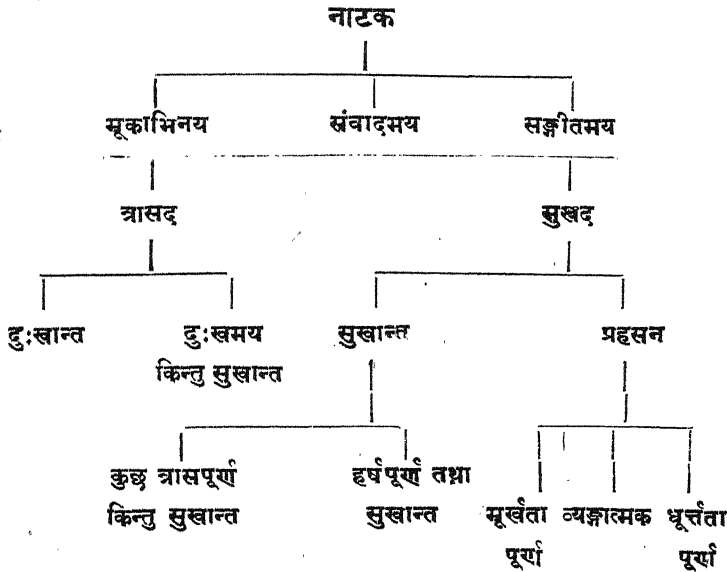
इनमेंसे त्रासदके सम्बन्धमें कहा जा चुका है, शेष अनेक प्रकारके नाटकोंका परिचय नीचे दिया जाता है।

### सुखान्त नाटक ( कौमेदी )

मिस्रमें ईसासे दो सहस्र वर्ष पूर्व 'ओसरिस' देवताका कथानक खेले जानेका विवरण मिलता है। वे योरोपके वीरकाव्य नाटकके धार्मिक नाट्यों ( पैशन प्ले ) से मिलते-जुलते थे, जिनमें देवता या जीवनकी घटना होती थी।

### लोकनाट्य ( फ़ोक-ड्रामा )

प्रारम्भमें बहुदेववादियोंके धार्मिक कृत्यों और जादू-टोनेके उत्सवोंके नृत्य और गीतसे आदिम कालमें लोक-नाट्यका प्रादुर्भाव हुआ। पश्चिमी योरोपमें इन्हींसे मिलते-जुलते उत्सव सभी लोकनाट्यके ही प्रारम्भिक रूप थे। इङ्गलैण्डमें खड्गनृत्य ( मोरिस डान्स ), फ्रान्समें 'दान्से देस् बफ़ून्स', स्पेनमें 'दे-गोलादा' और इटलीमें 'मात्ताचिनो' एक ही नाट्यके विभिन्न रूप थे, जो अँगरेज़ी-भाषी संसारमें 'मुखौटा-नाट्य' या 'विदूषक - नाट्य' ( ममर्स प्ले ) के रूपमें आ गए। दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त अमेरिकामें इन नाटकोंको 'पास्तोरेला' कहते है, क्योंकि इनके बहुतसे पात्र गड़रिए हैं और दक्षिण-पश्चिम अमेरिकामें 'लौस मौरोस' नामके वे नाटक भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं, जिनमें मूर और ईसाइयोंका संघर्ष दिखलाया जाता है। लातिन अमेरिकामें लौकिक विषयोंपर भी नाटक होते हैं, जैसे न्यू मैक्सिकोका 'लौस कोमांचेस्'। कैथौलिक देशोंमें ऐसे 'फ़ीएस्टास' नाटक भी लोकनाट्यके रूपमें प्रचलित हैं, जो गाँवके किसी मान्य सन्तके स्मारक-रूपमें खेले जाते हैं। दीन ग्रामीण वर्गकी कथा लेकर वास्तविक यथार्थवादी लोकनाट्य संयुक्तराज्य अमेरिकामें १४ मार्च सन् १९१९ से चले, जब कैरोलिना प्ले-मेकर्सने सर्वप्रथम 'कैरोलिना लोकनाटकों'का प्रदर्शन किया। इसमें उन निम्न श्रेणीके लोगोंकी रूढ़ियों तथा रीतियोंका प्रदर्शन है जो वर्त्तमान जटिल सामाजिक रूढ़िसे अधिक प्रभावित नहीं हो पाए हैं। इन नाटकोंमें लोक-कथाएँ, अन्धविश्वास, रीतियाँ, परिस्थिति-भेद तथा साधारण लोगोंकी भाषाका प्रयोग किया जाता है। इनमेंसे अधिकांश यथार्थवादी, त्रासद या उग्र प्रहसन होते हैं, जो कभी-कभी कल्पनात्मक और काव्यात्मक भी होते हैं। उनके मतानुसार 'वास्तविक लोकनाट्य वह है, जिसमें अस्तित्वके लिये मनुष्यका परम संघर्ष और प्रकृतिके संसारका आनन्द दिखलाया जाय।'

### धार्मिक नाटक

नवीं शताब्दिके लगभग योरोपमें मूकाभिनय या तो इधर-उधर घूमनेवाले आवारे लोग करते थे या कभी-कभी गाँवों, गिरजाघरोंके उत्सवोंमें हो जाते थे। नवीं शताब्दिमें गिरजाघरकी सामूहिक प्रार्थनाओंसे समवेत गानके साथ कुछ थोड़े भावात्मक संवाद ( ट्रोप ) जोड़ दिए गए, जिनके बदले दसवीं शताब्दिमें कुछ मूकाभिनय होने लगे। धीरे-धीरे ईस्टरके 'ट्रोप' भी लातिनके बदले देशी भाषाओंमें फैल गए और नाटक-रूपमें चौराहोंमें होने लगे। इनमें लौकिक यथार्थवादी विवरण तथा प्रहसनके अंश भी जुड़ गए। इस प्रकार बाइबिलमें रहस्यात्मक कथाएँ जोड़-जोड़कर पूर्ण नाट्य-चक्र बना लिए गए। नाटकीय दृष्टिसे ये रहस्य नाटक ( मिस्टरी प्ले ) शिथिल, अक्रम और अनुपातहीन थे, जिनमें कला कम थी, उपदेश अधिक। इनमें साधारण यथार्थवादी दृश्योंके साथ सुन्दर प्रदर्शन और यात्राओंकी भी व्यवस्था होती थी। ये नाटक सम्वादात्मक प्रयोग ( ट्रोप ) के रूपमें प्रारम्भ हुए। इन नाटकोंमें यात्राके उत्सव, सरकस, विद्रूप और निम्न कोटिके प्रहसनका मेल होता था। इनमें ईसाका जीवन या किसी राजा, सन्त या वीरका जीवन-चरित प्रदर्शित किया जाता था।

### अद्भुत नाटक ( मिरैकिल से )

नियमित अर्थमें अधिक नाटकीय और धार्मिक होनेकी अपेक्षा अधिक वास्तविक लौकिक नाट्य 'अद्भुत नाटक' ( मिरेकिल प्ले ) था। यह नाटकीय प्रकार बारहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें बहुत फैला। इन नाटकोंमें किसी एक अद्भुत घटनाका प्रदर्शन होता था। इनमें शुद्ध रूपसे उन मानवीय क्रियाओंका वर्णन होता था, जिनकी समस्याओंका समाधान किसी सन्त या वर्जिनकी कृपासे हो जाता था। फ्रान्सीसी अद्भुत नाटकोंमें यथार्थवादी मध्यवर्गीय नाटक ( बुर्जुवा ड्रामा ) की छाया स्पष्ट मिलती थी।

धीरे-धीरे इन नाटकोंमें अद्भुत रूपसे सन्तोंको प्रकट करानेके बदले केवल सन्तोंकी सम्मति ही दी जाने लगी। इसके पश्चात् वह भी बन्द हो गई और अन्य मनुष्यके सहारे ही मनुष्यके जीवनका युद्ध चलता रहा। दूसरे प्रकारके ऐसे भी लौकिक नाटक लिखे गए, जिनमें सन्त लोग राष्ट्रीय वीर भी हैं, अतः धीरे-धीरे सन्तकी महत्तासे राष्ट्रीय वीरोंकी महत्ता बढ़ने लगी और

इस राष्ट्रीयताकी भावनाके अनुसार उन वीरों, विशेषतः राजाओंके सम्बन्धमें नाटक लिखे जाने लगे जिनका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकोंका सूत्रपात हुआ।

### नैतिक नाटक ( मौरेलिटी प्लेज़ )

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दिमें योरोपमें कुछ नैतिक नाटक लिखे गए, जिनका उद्देश्य प्राचीन व्यंग्य-लेखकों और नीति-लेखकोंके उपदेश रङ्गमञ्च पर उपस्थित करना था। इसके अन्तर्गत गम्भीर, अर्ध-ऐतिहासिक, अद्‌भुत नाटकोंसे मिलते-जुलते नाटकोंसे लेकर हल्के व्यंग्यात्मक चित्रणोंतकके नाटक प्राप्त होते हैं। वास्तवमें सटीक नैतिक नाटकमें मृत व्यक्तिके शवके साथ भावात्मक चरित्रों ( शान्ति, क्षमा, दया ) आदिके गुण और दोषोंके बीच लम्बा शास्त्रार्थ कराया जाता है और कोई नैतिक निष्कर्ष निकाला जाता है। इसीका पुराना नाम 'मौरेल प्ले' भी है।

ऐसा ही 'ज्यू' नामका लोकप्रिय प्रदर्शन पैरिसमें प्रारम्भ हुआ, जो प्रारम्भमें घुमन्तू नाटक ( सोती ) बना, उसके पश्चात् नैतिक हुआ, तब व्यंग्यात्मक भँड़ैतीके रूपमें बढ़ चला। इन नैतिक नाटकोंने सोलहवीं शताब्दिमें नैतिक उपदेशके बदले लौकिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी और इनके द्वारा भूगोल और विज्ञान भी सिखाया जाने लगा। प्रायः इसी रूपमें ये सब 'अन्तरिम रूपक' ( इन्टरल्यूड ) के रूपमें प्रसिद्ध हुए। धार्मिक उत्सवोंसे इनका सम्बन्ध टूट गया और ये किसी भोजके बीचमें या किसी खेल या उत्सवके बीचमें खेले जाने लगे।

### लबादे और तलवारका प्रहसन (कौमीदिया दे कापा ई एस्पादा)

स्पेनमें उच्च श्रेणीके मिश्र नाटक 'लबादे और तलवारका नाटक' ( कौमीदिया दे कापा ई एस्पादा या 'क्लोक ऐंड सोर्ड कौमेडी' ) चला, जिसमें घुड़सवार लोग उच्च वर्गकी महिलासे प्रेम करते थे, उसके लिये परस्पर द्वन्द्व-युद्ध करते थे, अपने मान और प्रतिष्ठाका एक ऐसा आदर्श बनाए हुए थे कि यदि परिवारके मानपर तनिकसा भी कलङ्क लगता हो तो अपनी भोली-भाली पत्नियोंको भी मारनेके लिये विवश हो जाते थे। एक विशेष प्रकारकी वीरता, साहसपूर्ण कार्योंके लिये रुचि, सौन्दर्य, शिष्टता, कोमलता, सेवकोंकी

प्रत्युत्पन्नमतिता, सुन्दर अवगुण्ठित महिलाओंकी जीवट-भरी चालें इन नाटकोंके वातावरणको अत्यन्त सुन्दर बना देती थीं।

### रोमके फ़ेबूला

रोममें एक प्रकारका लातिन सुखान्त नाटक 'फेबुला पालियाता' था जो यूनानके सुखान्त नाटकोंका स्वतन्त्र अनुवाद या उसके आधारपर बना होता था। उसमें दृश्य और चरित्र सब यूनानी हैं किन्तु उनके आचार-विचार यूनानी और रोमके मिश्रण हैं। इनमें पहले बड़ी अश्लीलता थी किन्तु पीछेके लेखकोंने उसमें परिवर्त्तन कर दिया। द्वितीय शताब्दिके अन्तमें जनताके अनुरोधसे कविगण इसे छोड़कर 'तोगाता' या अधिक विषय लेकर 'अतेलाना' लिखने लगे। चौथी शताब्दि ईसवीतक प्राचीन प्रहसनों और त्रासदोंके बदले देश-भरमें मूक प्रहसन ( माइम्स ) खेले जाने लगे, जिनमें साधारण जीवनके वास्तविक दृश्य और विषय केवल मुख-मुद्रा-द्वारा अभिनीत किए जाते थे। आगे चलकर ये अत्यन्त कामुकतापूर्ण और अश्लील हो गए।

### मैगोदी, लिसियोदी, हिलारोदी और सिमोदी

यूनानमें इसके साहित्यिक रूप वे थे, जो मूकाभिनय ( माइम ) के विविध रूप और विविध दृश्यात्मक नाटकीय प्रदर्शनके गीतोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इन 'मैगोदी' लिखनेवालोंने अपनी कथाएँ प्रहसनसे ली थीं, जिनमें पुरुष और स्त्री दोनों पात्र होते थे, यद्यपि मैगोदी-अभिनेताके सब वस्त्र महिलाओंके-से ही होते थे। लिसोदीवाले वंशीके साथ गाते हुए पुरुषोचित वेश-भूषामें स्त्रियोंकी भूमिकाका अभिनय करते थे। हिलारोदी अत्यन्त गम्भीर शैलीमें लिखे जाते थे। इनका अभिनेता पुरुष ही वेश-भूषा ग्रहण करता था और सुनहरा मुकुट तथा आधी टाँगतकका ऊँची एड़ीका जूता पहनता था, क्योंकि वह त्रासदकी परिवृत्ति ( पैराडी ) करता था। स्त्राबोने सिमोदीको ही हिलारोदीका दूसरा नाम बताया है।

फ्रांसमें सत्रहवींसे उन्नीसवीं शताब्दितक धनिकोंकी बैठकमें एक प्रकारके 'नाटकीय-कहावत' ( ड्रामेटिक प्रोवर्ब ) नामक नाट्य-प्रदर्शन होते रहे जिनमें अव्यावसायिक लोग पहेली-बुझौवलके रूपमें छोटी-छोटी नाटकीय श्लिष्ट कहावतोंका प्रदर्शन करते रहे। उनमें अलिखित, श्लिष्ट सद्यः सम्वाद हुआ करते थे जिनका अर्थ समझना जनतापर छोड़ दिया जाता था।

### ट्रेजी कौमेडी ( त्रास-हास नाटक )

कुछ लोगोंने विशेषतः शेक्सपियरने ऐसे भी नाटक लिखे जिनमें त्रासका अंश भी भरपूर रहता था और प्रहसनका भी। ऐसे नाटक लिखनेवालोंका विश्वास है कि त्रासदके कारण दर्शकके मनमें जो भावोंका तनाव आ जाता है उसे शिथिल और शान्त करनेके लिये प्रहसन-विश्राम ( कौमिक रिलीफ़ ) अवश्य देना चाहिए।

### तरल नाटक ( वौदेविले )

पन्द्रहवीं शताब्दिमें एक प्रकारके 'व्यंग्यात्मक मदिरा-गीत' ही 'वौदेविले' नौर्मंडीमें रचे गए थे। अठारहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें ये गीत भँड़ैतियों या प्रहसनोंमें डाल दिए गए जो 'कौमेदीज़ आवेक वौदेविले' और पीछे चलकर केवल 'वौदेविले' कहलाने लगे। उन्नीसवीं शताब्दिमें उन नाटकोंको वौदेविले कहते थे, जो बीच-बीचमें गेय दुपदियोंसे भरे हों पर अब तो उन सभी हल्के, तरल नाटकको 'वौदेविले' कहने लगे हैं, जिनमें कौशलपूर्ण तथा वेगशील कथावस्तु हो। इसका प्रारम्भ मूकाभिनयसे होता है, जिसमें कुछ नटबाजी या सिखाई हुई सील मछलीका अभिनय होता है और वह भी इसलिये कि विलम्बसे आनेवाले लोगोंके प्रवेशसे नाटक बिगड़ न जाय और जो सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्क हो वह अन्तिम अङ्कसे ठीक पहले दिखाया जाय। इसमें जादूगर, मनके ज्ञाता, छिटफुट कलाकार, कुत्ते, खच्चर, नट, बाजीगर, फिसलनेवाले विशेषतः बाइसिकिलका दृश्य दिखानेवाले मुख्य होते हैं। इनमें विनोदकारी संवादके साथ नृत्य और गीत भी रहता है। ऐसा ही 'सोती' नामक वह नाटकीय प्रदर्शन है, जिसे 'सोत' या लोकमण्डली दिखाती हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दिमें विशेषतः इन बासोखकी सोतियोंके प्रारम्भमें 'वौदेविले' नाट्य हुआ करता था, जो मण्डलियोंके भ्रमणके समय उनमें नमक-मिर्च मिलानेके लिये खेला जाता था। धीरे-धीरे इसमें छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक और नीतिके नाटक भी खेले जाने लगे, जिनमें सोतोंके कुछ मण्डल नटोंके साथ मिलकर संवादों-द्वारा तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियोंका प्रदर्शन करते थे।

### मूकाभिनय ( पैन्टोमीम )

यद्यपि 'पैन्टोमीम'का अर्थ है सबका अनुकरण करना, किन्तु इसका अर्थ आजकल मूकाभिनय अर्थात् विना मुँहसे शब्द निकाले अभिनय करना ही है।

इसके अभिनेता अपने शरीर, हाथ और भावभङ्गीसे ही सब कुछ बता देते हैं। इसके लिये वाणीकी आवश्यकता नहीं वरन् मुख-मुद्रा, हाथ या शरीरकी झोंक ही सब कुछ कह देती है। गम्भीर कथाओंके गायनके साथ होनेवाले मूकाभिनयमें एकाकी अभिनेता अनेक पात्रोंके भावोंकी मूक व्याख्या करता हुआ नाचता था। आगे चलकर 'माइम'के समान ही ये अभिनय अत्यन्त कामुकतापूर्ण और अश्लील हो गए। हस्त-सञ्चालन तथा भावपूर्ण जडमुख होकर इसके अभिनेता ऐसी मूक भाषामें बोलते हैं कि वे सम्पूर्ण विश्वमें समझे जाते हैं। इन्हींको 'मिमोड्रामा' भी कहते हैं। एक प्रकारका मूकाभिनय 'डम्ब शो' भी है, जिसके बीच-बीचमें या दो अङ्कोंके बीचमें सङ्गीत होता था और जो नाटकीय कथावस्तु और उसके भावको आगे बढ़ाता था। इसी मूकाभिनयका एक रूप है 'टेबलो', जिसमें किसी एक व्यक्ति, एक घटना या दृश्यको शान्त और क्रियाहीन व्यक्ति या मण्डली-द्वारा प्रदर्शित किया जाता है या अभिनेता तथा दृश्यपीठको मिलाकर एक विशिष्ट चित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

मूकनाट्य

मूक नाट्यमें दो अङ्ग होते हैं—१. कथा या प्रस्तावना, २. अभिनय। यदि कथा अप्रसिद्ध हो तो पूरी कथा पहले दे दी जाती है और यदि प्रसिद्ध हो तो उसके सम्बन्धमें इतना कथा-सङ्केत दे दिया जाता है कि कथा-प्रसङ्ग समझनेमें सुविधा हो। इसमें गीतका पूर्ण अभाव होता है। कथाके क्रमानुसार सब पात्र आ-आकर केवल आङ्गिक अभिनयके द्वारा कथा व्यक्त करते हैं। बीच-बीचमें आवश्यकतावश यदि नर्त्तनका विधान हो तो उसके साथ वाद्यका प्रयोग होता है और यों भी मौनताकी एकरसता भङ्ग करनेके लिये पत्तवाद्य, पृष्ठ-सङ्गीत या वाद्य-ध्वनि भावानुसार सुनाई देती रहती है। इसके लिये यह अवश्य सङ्केत कर देना चाहिए कि कब-कब, किस-किस राग, ताल और लयमें कौनसे वाद्य बजाने चाहिएँ।

## मूकसम्वाद-नाट्य तथा नेपथ्यवाक् (सेबैक)

मूक-सम्वाद-नाट्य तथा साधारण नाटककी रचनामें कोई अन्तर नहीं होता, केवल उसके प्रस्तुत करनेके ढङ्गमें यह अन्तर हो जाता है कि साधारण नाटकमें तो सम्वाद और अभिनय दोनों कार्य अभिनेता ही करते

हैं, किन्तु मूक-सम्वाद-नाट्यमें सम्वादका वाचिक अभिनय अर्थात् पाठ तो नेपथ्यमें प्रत्येक पात्रके प्रतिनिधि ( सम्वाद-पाठक ) करते हैं और रङ्गमञ्चपर पात्रोंकी भूमिका धारण करनेवाले केवल अभिनय करते हैं। इसे ही नेपथ्यवाक् ( प्ले बैक ) कहते हैं। आजकल अनेक चलचित्रवाले प्रायः सङ्गीतज्ञान-हीन अथवा कण्ठ-हीन सुन्दरी अभिनेत्रियोंके गीतोंके लिये इसीका प्रयोग करते हैं।

### ऐतिहासिक नाटक

जो नाटक वास्तविक घटनाओंपर लिखे जाते हैं, उन्हें ऐतिहासिक नाटक कहते हैं किन्तु कुछ ऐसी घटनाओंपर अवलम्बित होते हैं, जिन्हें लोग सत्य मान लेते हैं। अतः आगे चलकर उन शिथिल रचनावाले नाटकोंको भी इतिहास-नाटक कहने लगे जिनकी कथावस्तु भली प्रकार व्यवस्थित न हो। अतः इतिहासमें वर्णित घटनाके आधारपर ज्योंका त्यों जो नाटक रचा जाता है, उसे ही लोग ऐतिहासिक नाटक कहने लगे। इसी आधारपर शेक्सपियरके नाटक मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त हैं— सुखान्त और त्रास-हास ( कौमेडी और ट्रैजी-कौमेडी ), त्रासद ( ट्रेजडी ) और ऐतिहासिक। इसी श्रेणीमें रोमकी कथाओंपर आश्रित नाटक 'फैबूला तोगाता' भी आते हैं। सर्वप्रथम नोवियसने छद्म-नाटक 'फैबूला प्रेतेक्स्ता' नामक रोमी ऐतिहासिक नाटक लिखा था और उसमें राजनीतिक प्रसङ्ग डाल देनेके कारण वन्दी कर लिया गया था। इसका प्रयोग यूनानी 'फैबूला पालियाता'को अपदस्थ करने तथा उसके स्थानपर शुद्ध राष्ट्रीय रोमीय सुखान्त नाटक स्थापित करने और दृश्योंमें वास्तविक चरित्र ही स्थापित करनेके लिये किया गया। इन नाटकोंमें रसोइए, दरज़ी, नाई, दासत्वसे मुक्त व्यक्ति, नीबू-निचोड़ ( वह व्यक्ति जो दूसरेके यहाँ भोजन करनेका प्रबन्ध कर लेता हो ) और वास्तविक व्यक्ति लाकर रङ्गमञ्चपर उपस्थित किए जाते थे किन्तु 'पालियाता'में तो सिपाही, रसोइए, दलाल और धूर्त्त नौकर पात्र होते थे, जो अपने स्वामियोंको ही धोखा देते थे। इन 'तोगाता' नाटकोंका स्वरूप त्रासद और प्रहसन दोनोंके बीचका होता था। आगे चलकर ये 'तोगाता' भी 'पालियाता'के प्रभावमें पड़ गए। क्लौप स्टौकने अपने उन ऐतिहासिक नाटकोंको चारण नाटक ( बार्डिक ड्रामा या बार्डेनाउस्ट्रूङ्ग ) कहा है, जो

प्राचीन जर्मन जातियोंकी युद्धकी ललकार ( बार्डिट्स ) के प्रबन्धात्मक गेय काव्योंसे लिए गए थे और जिनमें आदिम जर्मन जातियोंकी सभ्यता और संस्कृतिका बहुत गुण बखाना गया है ।

## नाटकोंके कुछ अन्य प्रकार

कुछ लोगोंने भाविकतापूर्ण नाटक ( सेन्टीमेन्टल कौमेडी ) लिखे हैं जिनका विश्वास है कि मनुष्य पूर्ण प्राणी है । इन नाटकोंमें उनके पात्रोंकी सज्जनता और शालीनताकी दुहाई देकर उनका कार्य प्रदर्शित किया जाता है । कुछ स्वैरवादी सुखान्त नाटक ( रोमान्टिक कौमेडी ) भी लिखे गए, जिनमें यथार्थवादी दृश्य दिखाकर भावात्मक जटिलता या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया जाता है । इनमें प्रेम-काण्डकी प्रधानता होती है तथा अत्यन्त कृत्रिम उपायोंसे सुखमय अन्त किया जाता है । फैबूला स्तातारिया उस प्रकारका सुखान्त नाटक होता है जिसमें नाटकीय व्यापार अत्यन्त स्थिर या अचल गतिसे चलता है । ये उस 'फ़ैबूला मोतोरिया' नाटकसे भिन्न हैं, जिनमें कुछ गिने - चुने चरित्रोंके द्वारा नाटकीय व्यापार अत्यन्त तीव्र गतिसे चलता हो, जैसे कोई दास दौड़ा आ रहा हो, कोई बुड्ढा क्रोधमें विक्षुब्ध हो आदि । समीक्ष्यवादियोंने यह स्तातारिया और मोतोरियाका अन्तर केवल रङ्गमञ्चपर नाटककी सजीवता और निर्जीवता या सक्रियता और निष्क्रियताके अनुसार किया है । यह तीव्र-गत्यात्मक व्यापारवाला नाटक सदा लोकप्रिय रहा है और वह बढ़ते-बढ़ते उस 'चेज़'के रूपमें पहुँच गया जिसका प्रयोग चलचित्रोंमें किया गया, जहाँ नायकको प्रतिनायक या प्रतिनायकको नायक ढूँढता या उसका पीछा करता हुआ मोटर आदि यानोंपर चलता है ।

## आरभटी नाटक ( मैलोड्रामा या ब्लड ऐन्ड थन्डर )

पहले मैलोड्रामा भी सङ्गीतमय काव्यपाठ ही था जो आगे चलकर सङ्गीत-नाट्य ( यूनानी 'मैलो'=गीत + फ़्रांसीसी 'ड्रामे'=नाटक ) का पर्याय रहा । इसीलिये जी० एफ़० हैन्डिलने अपनी इस प्रकारकी कृतियोंको 'औपेरा' और 'मैलोड्रामा' दोनों कहा । वास्तवमें पहले पिग्माली लोग गालातियाकी मूर्त्तिके आगे ऐसा संक्षिप्त एकाकी सम्वाद करते थे, जिसके अन्तमें वह पत्थरकी मूर्त्ति सहसा सजीव हो जाती है और वह स्त्री अपने प्रेमीकी गोदमें आ गिरती है । आगे चलकर इसमें पात्र बढ़े, सम्वाद बढ़ा, दृश्य-विधान भी बढ़

चला, सङ्गीतको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और देखते-देखते लोमहर्षक घटनाओं, तीव्र भावावेशपूर्ण प्रभाव तथा सुखमय अन्तसे पूर्ण सर्वाङ्ग-व्यवस्थित 'मैलोड्रामा' ऐसा चल निकला कि खलनायकत्वसे पूर्ण रोमाञ्च उत्पन्न करनेवाले नाटकोंमें इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। हाँ, विक्टोरिया-कालमें कुछ नाटक अवश्य ऐसे लिखे गए जिनमें हृदय दहलानेवाली भयङ्करताएँ भरी हुई थीं।

ऐसे बहुतसे मैलोड्रामा वास्तविक अपराधके आधारपर भी लिखे गए, जिनमें नाटकीय व्यापार सङ्गीत-द्वारा भावित रहता था, जैसे आजकल चलचित्रोंमें रहता है अर्थात् नायिकाके दुःखके समय करुण सङ्गीत होता रहता है और सब प्रकारके भाव तदनुकूल रागसे अनुप्राणित रहते हैं। ऐसे एक नाटकमें गिरिजाघरकी भूमिमें शवोंके ढाँचे टहलते हैं, गुलाबकी माला पहने हुई एक सुन्दरी परी सहसा हड्डीका ढाँचा बन जाती है। इसी प्रकार इनमें भूत, प्रेत, डाइन, दैत्य आदिका भी प्रयोग होता है। दूसरी ओर शुद्ध घरेलू नाटक ( डोमेस्टिक मैलोड्रामा ) वे हैं, जिनमें नित्य प्रतिके जीवनकी घटनाएँ दिखाई जाती हैं, जिनमें आप अपना दर्शन कर सकते हैं। बड़े नगरोंकी छोटी रङ्गशालामें अत्यन्त लोमहर्षक और कभी-कभी अत्यन्त अरुचिकर घटनाओंका प्रदर्शन करके नाटकका प्रारम्भ करते थे और उसका अन्त किसी जादूकी कहानीसे समाप्त करते थे। कुछ स्थानोंमें घरेलू मैलोड्रामाके पश्चात् विनोद ( बर्लेटा या फ़ार्स ) होता था जिससे मैलोड्रामाका भयङ्कर प्रभाव मनपर न बना रहे। इन मैलोड्रामाओंमें चोर, डाकू, गुण्डे, जेबकट, तोड़फोड़ करनेवाले, चोरीसे सामान लाने ले जानेवाले, काल्पनिक और यथार्थ अपराधी भरे रहते थे। कुछ दिनोंतक लन्दनकी रङ्गशालामें इनकी बड़ी धूम रही किन्तु जब दर्शक लोग इन नाटकोंसे प्रेरणा पाकर वास्तविक जीवनमें भी दुष्काण्ड करने लगे तब इनका प्रयोग नियमतः रोक दिया गया। इन नाटकोंमें घोड़े भी आ जाते थे, कुछ पानीकी लीलाएँ होती थीं, कुछ समुद्री झञ्झाके नाटक होते थे तथा कुछ दास-प्रथा, मद्य-निषेध आदिकी बातें भी होती थीं। इन नाटकोंका लिखित रूप पढ़ना बड़ा कठिन है क्योंकि इनमें अधिकतः रङ्ग-निर्देश ही होता है जिसे कार्य-रूपमें परिणत करनेपर ही नाटक बनता है। कभी-कभी तो पूरे पृष्ठमें केवल रङ्ग-निर्देश होता है जिसमें संवादकी पंक्ति कहीं-कहीं एक दो ही होती हैं। इन्हींमें अँगरेजीके वे आरभटी वृत्तिवाले रक्तमय त्रासद (सेनेकन ड्रामा

या ट्रेजडी ऑफ़ ब्लड ) भी आते हैं, जो सोलहवीं शताब्दिवाले 'सेनेका'के आदर्शपर लिखे गए थे, जिनमें लच्छेदार भाषा और मैलोड्रामावादी उत्तेजना-भर रहती थी और उच्च नैतिक उद्देश्यका अभाव होता था। इन नाटकोंमें भयानकताकी भावनाओंका निर्वाह शवों या प्रेतोंसे संवादके द्वारा किया जाता है अथवा भयङ्कर निर्दयता या आधारहीन दुर्भाग्यका प्रदर्शन किया जाता है, जिसका समाचार कोई दूत आकर देता है और इसमें लम्बे-लम्बे दुरूह संवाद होते हैं। इसी प्रकारके प्रतिहिंसात्मक नाटक प्रारम्भिक एलिजाबेथीय नाटक ( ट्रेजडी ऑफ़ रेवेन्ज ) हैं, जिनमें मारकाट, हत्या-काण्ड, भूत-प्रेतोंकी कथा, वास्तविक या कृत्रिम पागलपन तथा भयानक घटनाएँ रङ्गमञ्चपर ही होती हैं। इसीसे मिलते-जुलते वे भाग्यवादी नाटक ( फ्रेट ड्रामा ) हैं, जिनमें नियति या भाग्य अथवा जर्मनी 'मोइरा' प्रधान तत्त्व होता है और जिनमें प्रायः पूरे परिवारका ही सर्वनाश हो जाता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दिमें इसका एक विशेष रूप विकसित हुआ जिनमें नायक श्रेष्ठ पुरुष नहीं होता, इसलिये इसने मध्यम श्रेणीके लोगोंपर आश्रित नाटकों (ड्रामे तथा कौमेदी लार्मोयान्ते) का श्रीगणेश किया। इन नाटकोंमें भाग्य ही प्रधान रहता है और कभी-कभी यह नियति एक प्रतीक ही बन जाती है जैसे कटार या कोई तिथि या जैसे मुलेनरके 'फेब्रुअरी २९' को प्रत्येक चौथे वर्ष ( लीप ईयर ) किसीकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु ग्रिल पार्जरके 'डी० आह्नफ्राउ' (१८१७) के पश्चात् इसकी प्रथा ही बन्द हो गई। इसी मैलोड्रामाका एक विशिष्ट रूप 'टेन्ट्वेन्टथर्ट' है, जिसमें नायिकाको रेलगाड़ीसे बचानेके लिये या ऐसी ही दुर्घटनासे बचानेके लिये अन्तिम क्षणपर रक्षाका प्रयोग किया जाता है। इसी श्रेणीमें फ्रांसके वे भाविकतापूर्ण करुण नाटक ( कौमेदी लार्मोयान्ते ) लिखे गए, जिनमें दर्शक रोते-रोते 'त्राहि' कर देते थे। इसीसे प्रभावित होकर मध्यवर्गीय ( बुर्जुवा या मिडिल क्लास ) नाटक प्रारम्भ हुए, जिनमें अठारहवीं शताब्दिमें मध्यवर्गीय लोगोंकी बढ़ती हुई सामाजिक महत्ताके कारण उनकी समस्याएँ रङ्गशालापर प्रारम्भमें तो केवल प्रहसनके लिये प्रयुक्त हुईं किन्तु पीछे चलकर उनमें गम्भीर समस्याएँ भी चित्रित की जाने लगीं और जिनमें एक सामाजिक वर्गका दूसरे सामाजिक वर्गसे सङ्घर्ष दिखानेके बदले 'व्यक्तिका समाजसे सङ्घर्ष' अधिक दिखाया जाने लगा। इसी श्रेणीमें फ्रांसके वे लोमहर्षक एकाङ्की नाटक

'गुइग्नोल' भी आते है जिनमें अत्यन्त लोमहर्षक, प्रकम्पक और रक्त जमानेवाली घटनाएँ भरी रहती हैं।

**समस्या-नाटक ( प्रौब्लम प्ले )**

समस्या-नाटकका रूप गम्भीर तो होता है किन्तु त्रासद नहीं होता। इसमें जीवनकी हँसी और आँसू मिले-जुले चलते हैं अथवा किसी सामयिक मुख्य समस्याका सङ्घर्ष दिखाया जाता है। इन समस्याओंमें व्यक्ति और समाजका अथवा समाजके ऐसे दो वर्गोंका सङ्घर्ष दिखाया जाता है, जिनका आचार-विचार अधिक समयसे रूढ हुआ चला आ रहा हो। ऐसे मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक नाटक भी इसी समस्या-नाटकके अन्तर्गत आते हैं, जिनमें मनुष्यका कर्त्तव्य और प्रेम अथवा आत्मसम्मान और सत्यमें मानसिक सङ्घर्ष दिखाया जाता है। इनमें नाटककार या तो स्वयं मनोवैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिसे समाधान कर देता है या इस प्रकार परिस्थितियाँ उपस्थित करता है कि दर्शक स्वयं उस समस्याका समाधान कर लें। ये सब नाटक बुद्धिवादी, यथार्थवादी और प्रकृतिवादी होते हैं। इसी प्रकारके नाटक आचार-नाटक ( कौमेदी द म्यो या कौमेडी औफ़ मैनर्स ) हैं जिनमें फ्रांसके सामाजिक आचारका प्रदर्शन हुआ और जो विशेषत: समस्या-नाटकोंके रूपमें व्यक्त हुए। इन्हींसे आगे चलकर यथार्थतापूर्ण ऐसे समस्या-नाटक ( थीसिस प्ले ) बने जिनमें नाटककार स्वतः समस्याका समाधान कर देता है जैसे इब्सन या बर्नर्ड शौके नाटक।

**सङ्गीत-नाट्य ( औपेरा )**

सङ्गीत-नाट्यके अन्तर्गत वे सब नाटक आते हैं जिनमें १. स्वयं गीत गाकर, २. पीछेसे गाए हुए या गाए जाते हुए गीतके साथ मूकाभिनय या नृत्य किया जाता है। इनमेंसे 'औपेरा' सबसे मुख्य है। कहा जाता है कि स्पेनमें सङ्गीतके साथ जो 'जारज़ुएला' नाटक खेले जाते थे, उन्हींसे योरोपमें सङ्गीत-नाट्य ( औपेरा ) की उत्पत्ति हुई। सङ्गीतनाट्य ( औपेरा ) वह कला-रूप या नाटक है जिसके सम्वाद गीतमय होते हैं। यह सर्वप्रथम यूनानी उदात्तवादी त्रासदको पुनर्जीवित करनेके प्रयत्नमें फ्लोरेन्समें सङ्गीत-नाट्यके रूपमें खेला गया। पुनर्जागरणकालने औपेराको जन्म दिया, बारोककालने उसका विकास किया विशेषत: रोम, नैपिल्स और वेनिसमें, जहाँ १६३७ से १७०० तक

लगभग तीन सौ सङ्गीतनाट्य खेले गए। फिर तो पैरिस और वियना इनके केन्द्र बन गए और ये योरोप-भरमें फैल गए। इनमें एक 'बारोक औपेरा' था, जिसमें सब कलाओंका समन्वय करके सौन्दर्यात्मक प्रभाव डालनेके लिये चित्र, गीत, बाले (नृत्य), यन्त्र, रङ्गपीठ आदिका प्रयोग किया गया। इनके विषय प्राचीन इतिहास या यूनानी पुराणोंसे लिए जाते हैं किन्तु नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना ही इनका मुख्य लक्ष्य रहता है। स्वैरवादी आन्दोलनने इस औपेराको नये विषय और नई शैलियाँ दीं, जिनके 'ऐतिहासिक औपेरा', 'प्रकृतिवादी औपेरा', 'स्वैरवादी लोक-औपेरा' ( रोमान्टिक फ़ोक औपेरा ) तथा भूत-औपेरा ( घोस्ट-औपेरा ) आदि अनेक रूप चले। इधरके साहित्यिक आन्दोलनोंको भी 'औपेरा'ने सहायता दी और प्रकृतिवाद, 'फ़्रांसीसी प्रभाववाद' ( इम्प्रेशनिज़्म ) तथा यन्त्रवाद ( कन्स्ट्रक्टिविज़्म ) भी इन रचनाओंमें दिखाई पड़ने लगा। इस प्रकार सङ्गीत और रङ्गशालाके सब साधनोंका समन्वय करके हमारे युगकी कलात्मक और आध्यात्मिक शक्तियोंकी प्रभावात्मक अभिव्यञ्जनाका साधन औपेरा हुआ। इसीका नाम महासङ्गीतनाट्य ( ग्रैन्ड औपेरा ) पड़ गया।

### कथककली

यह औपेरा प्रकृतितः ठीक वैसा ही होता है जैसा दक्षिण भारतका नृत्य-नाट्य कथकली होता है, जिसमें किसी कथाके आधारपर बने हुए गीतोंका अभिनय एक या अनेक नट-नटी अपने नृत्य, नृत्त और नाट्य-द्वारा व्यक्त करते हैं। इस प्रकारका सङ्गीत-नाट्य हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे होता आया है जिसका भव्य वर्णन महाभारतके हरिवंश पर्वमें दिया गया है कि किस प्रकार प्रद्युम्नके लिये वज्रनाभकी कन्या प्रभावतीका हरण करनेके लिये यादवोंने वज्रपुरमें वाद्योंके साथ देवगान्धार रागमें 'गङ्गावतरण' और 'कौबेर-रम्भाभिसार' नामक संगीत-नाटक खेले थे।

### सङ्गीत-नाटिका ( औपरेत्ता )

सामन्तवादी बड़े औपेरा ( ग्रैन्ड औपेरा ) की प्रतिक्रियामें सम्वाद तथा सङ्गीत-खण्डोंसे भरी हुई कुछ लोकप्रिय छोटी-छोटी सङ्गीत-नाटिका (औपरेटा)के रूपमें उपस्थित हुईं। नैपिल्समें अठारहवीं शताब्दिसे ही गम्भीर औपेरा ( औपेरा सीरिया ) के अङ्कोंके बीच अन्तरिम दृश्य ( इन्तरमेज़ी ) डाले जाते

रहे। धीरे-धीरे इनसे स्वतन्त्र रूप ही विकसित होकर इङ्गलैन्डमें प्रहसन औपेरा ( कौमिक औपेरा ), जर्मनीमें स्वैरवादी औपेरा ( रोमान्टिक औपेरा ) और फ्रान्समें 'औपरेत्ता' तथा सङ्गीतात्मक प्रहसन चल पड़ा।

रोममें एक प्रकारका मूक नृत्याभिनय 'फ़बूला साल्तिका' था। लूकनने भी एक ऐसा मूक-नाट्य ( लिब्रेतो ) लिखा है, जिसमें समवेत गायक पाठ गाते हैं और अभिनेता मुद्रा करते हुए नाचते हैं। ऐसे ही फ़्रान्समें एक प्रकारका नृत्यात्मक गीत ( ऐस्ताम्पी ) मध्ययुगमें गाया जाता था, जिसके साथ नृत्य भी हुआ करता था और जहाँ-जहाँ उन्हें 'सम' देना होता था, वहाँ वे पैर खटखटाकर ताल दे लेते थे। ऐसा ही एक ( बलादे या बलादा ) नृत्य तेरहवीं शताब्दिमें फ़्रान्समें अत्यन्त प्रचलित था।

### मूक-नाट्य ( बैले, बाले या बल्ला )

मध्यकालमें योरोपमें एक प्रेम-सम्बन्धी नृत्य-गीत ( बल्लेत ) चले जिन्हें मूक-नाट्य ( बैले या बल्ला ) का पूर्व रूप समझना चाहिए, जिनसे मूकनाट्य या मूक नृत्याभिनय ( बैलट या बैले ) नामके सम्वादहीन सङ्गीताभिनय चले जिनमें नृत्य, मूकाभिनय ( पैन्टोमीम ) या सङ्गीतके द्वारा कथाका वर्णन होता है। पहले इनका प्रचलन रोममें हुआ फिर इटलीमें औपेरा ( नृत्यनाट्य ) में गीतके साथ इसका प्रयोग किया गया और फिर ये अन्य देशोंमें जा पहुँचे। अठारहवीं शताब्दिमें साधारण नाटकके समान ही यह 'बैले' ( सङ्गीताभिनय ) भी अत्यन्त लोकप्रिय विनोद था, जिसमें नाटकीय कथावस्तु, सुन्दर वेश-भूषा और सजावट होती थी।

इसमें तारेकी बारीक खुली झीनी मलमलके साए पहने हुए और चौकोर पञ्जेके जूते पहने हुए सीधी तनी हुई कमर और तने हुए नृत्य-रूपोंमें अभिनेता मुख्यत: अपने पैर और पंजेपर ही नाचते हैं। ये प्राय: पैरके अँगूठेपर ही चक्कर लगाते हैं और अपने हाथकी झटकेदार गतियोंसे अपनेको सन्तुलित करते चलते हैं। उछलना, एक पैरके अँगूठेपर चक्कर खाना, सीधे ऊपर कूदकर अपने पैरोंको कैंचीके समान वेगसे चढ़ा लेना और बीचमें अपनी एड़ियोंको जितनी बार सम्भव हो सके उतनी बार खटकाना (एन्त्रेशात) ही इसकी विशेषता है। इसके साथ जो समवेत गीत ( कोरियोग्रैफी ) होता था, वह एक प्रकारकी मानसिक भावना या प्रवृत्तिका निर्माता होता था या सुन्दर जगमगाती वेश-भूषाओं

और दृश्य-विधानोंसे बहता हुआ एक चित्र होता था। वर्त्तमान रूसी बैलेमें कथाके अनुसार वेश-भूषा धारण की जाती है, अँगूठेपर चक्कर देना बहुत कम होता है और उसका उद्देश्य यही है कि वह हमारे युगकी गति ग्रहण कर सके। इसमें तीव्र गतियों और लहरेदार सम्मिलित ध्वनियोंका प्रदर्शन अधिक होता है। अभी थोड़े दिन पहले प्रसिद्ध अभिनेता और सञ्चालक सोन्जिया हेनीके प्रयत्नोंने हिमपर फिसलनेकी गति और झोंकमें विनोद और सौन्दर्य दोनोंकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है। इस प्रकार विभिन्न रूपोंसे शास्त्रीय बैलेका एक रूपमें बँधे रहनेका सङ्कट टल गया और उसमें प्रत्येक युगकी नई-नई प्रेरणाएँ, भावनाएँ और योजनाएँ आ-आकर उसे गतिशील बनाती जा रही हैं।

सङ्गीत-प्रहसन ( बैलेड औपेरा ) लन्दनके नाटकीय प्रदर्शनोंमें सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। इतालवी औपेराको हास्यात्मक बनाकर इसमें नये-नये राग लिए गए और नई हास्यात्मक योजनाएँ भर दी गईं। इसे 'हास्य-नृत्य' ( कौमिक औपेरा ) का पूर्वज समझना चाहिए।

इटलीके 'औपेरा बुफ़्फ़ा', फ़्रान्सके 'वादेविले' और इङ्गलैन्डके 'बैलेड औपेरा'से एक नया रूप सङ्गीत-प्रहसन ( म्यूज़िकल कौमेडी ) विकसित हुआ, जिसमें किसी अत्यन्त सरल कथावस्तुके सहारे सम्वाद-युक्त-हास्य, विनोद तथा प्रहसनात्मक परिस्थितियोंके साथ बँधे हुए गीत गाना, नाचना और अत्यन्त तड़क-भड़कके दृश्य भरे रहते हैं। सङ्गीत-नाटिका ( लाइट औपेरा या औपरेटा ) में तो गाए हुए सम्वादपर अधिक बल दिया जाता है और उसका सङ्गीत भी अधिक शास्त्रीय होता है किन्तु सङ्गीत-प्रहसनमें उतना शास्त्रीय नहीं होता। इसकी कथावस्तु चों-चों ( रिव्यू ) से भी भिन्न होती है जिसमें बहुतसे इधर-उधरके विभिन्न दृश्य मिला दिए जाते हैं, अभिनेता ही समवेत गान करते हैं, पशुओं तथा नाटकोंकी संख्या अधिक होती है और दृश्यपीठ तथा वेश-भूषा कम भड़कीली होती है। इन तीनों म्यूज़िकल कौमेडी, औपरेटा और 'रिव्यू' में वर्त्तमान व्यक्तियों और घटनाओंका व्यंग्य-चित्रण भी होता है। इनमें भँड़ैती, श्लिष्ट शब्द-प्रयोग, थोड़ी किन्तु सुन्दर वेश-भूषामें हाव-भाव और सुन्दरताका प्रदर्शन किया जाता है।

सङ्गीत-नाट्यके निम्नलिखित अङ्ग होते हैं—१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. सम्वादाभिनय, ४. गीत, ५. नर्त्तन। गीति-नाट्यमें सब कुछ गीतोंमें

होता है। ये गीत अभिनेता नहीं गाते हैं वरन् एक गायक-मण्डली गाती है। इस गायक-मण्डलीमें प्रत्येक पात्रके प्रतिनिधि गायक होते हैं जो उस-उस पात्रके सम्वाद या अभिनयका अंश गाते हैं और पात्र केवल गीत-भावका अभिनय-मात्र करते हैं। सम्वादके अतिरिक्त जितना कथा-भाग है उसे या तो गायक-मण्डली गीत-द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथा-भागको नृत्य-द्वारा प्रस्तुत करता है, अर्थात् इसके प्रदर्शन-विधानमें तीन दल होते हैं—१. अभिनेता, २. भावनट, भावनटी अथवा कथाभिनेता, और ३. गायक-वादक—मण्डलीके दो वर्ग—क. पात्र-प्रतिनिधि, ख. समवेत गायक।

सङ्गीत-नाट्यकी प्रस्तावनामें केवल कथा-विषय अर्थात् मुख्य पात्र या घटनाका गीत-नृत्यात्मक परिचय-मात्र दे दिया जाता है जो भावनटी अपने नर्त्तनसे व्यक्त करती है। मुख्य सङ्गीत-नाट्यकी रचनामें कुछ तो गीति-मय सम्वाद होते हैं, कुछ विभिन्न दृश्योंके बीचकी कड़ी जोड़नेवाली गीति-कथा होती है, कुछ विशेष अवसरोंके मानसिक आवेगोंको व्यक्त करनेवाले गीत होते हैं और कुछ गीतहीन नृत्य होते हैं। इसका रचना-विधान यह है कि नाटककार यथास्थान पद्यमय कथा-भाग देकर यह सङ्केत कर देता है कि इसे भावनटी अपने नृत्य-द्वारा प्रस्तुत करेगी अथवा गायक ही गाकर समझा लेंगे। इसके सम्वाद भी गीतिमय होते हैं। इसमें पात्रोंका उल्लेख उसी प्रकार होता है जैसे गद्य-नाटकमें होता है। जहाँ किसी पात्रका विशेष भावावेश अथवा मानसिक आवेग दिखाना होता है वहाँ गीत दिया जाता है और जहाँ सम्वादहीन उत्सव आदि अथवा विशेष उपद्रव आदि दिखाना हो वहाँ केवल नृत्यका सङ्केत कर दिया जाता है कि यहाँ अमुक तालमें अमुक वाद्योंके साथ कोमल अथवा उद्धत नृत्य किया जाय। यदि कहीं कोई विशेष रङ्ग-निर्देश करना हो कि 'अमुक व्यक्ति घोड़ेपर चढ़ा प्रवेश करता है' या 'युद्ध होता है' आदि, तो यह गद्यमें ही किया जाना चाहिए। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अभिनवभरतका 'सिद्धार्थ' है। इसमें ध्यान रखनेकी बात यही है कि सम्वाद-विधान अत्यन्त अल्प होना चाहिए।

### नृत्य-नाट्य

आजकल रात्रि-गोष्ठियोंमें छोटे-छोटे जलपान-गृहोंमें खेले जानेवाले नाटकोंमें एक प्रकारके व्यंग्यात्मक तथा धृष्टता-पूर्ण गीत थोड़े लोगोंके

सम्मुख बाल रूमके नृत्यके रूपमें आए पर अब वे गीत-नृत्य ( कावारे ) बनकर पूर्ण रूपसे व्यावसायिक हो चले है।

जर्मनीमें प्रारम्भमें उत्पत्ति-मूलक नृत्योंमें अथवा शीतपर हरित वस्त्रोंसे अलंकृत वसन्तकी विजय मनानेके लिये जो नृत्य होते हैं वही 'फ़ास्टनाख्टस् पील' कहलाते हैं। इसमें धीरे-धीरे नृत्य भी गौण हो गया और उसमें द्वन्द्व तथा सम्वादने अड्डा आ जमाया। ये अधिकांशतः नाटक-रूपमें व्यंग्यात्मक कथाएँ हैं जो भद्दी और अश्लील हैं। इसमें किसानकी हँसी उड़ाई गई है। इसमें लगभग ३०० से ३६० तक छन्द होते हैं और ये उत्सवोंके समय खेले जाते हैं। इन्हें खेलनेवाले लोग मुखौटे लगाकर, वेश बनाकर मण्डलियोंमें एक धर्मशालासे दूसरी धर्मशाला और एक घरसे दूसरे घर बिना रङ्गमञ्चके खेलते फिरते हैं।

इसी प्रकारका फ्रान्सीसी नृत्यगीत-नाट्य 'वेवरदी' था जिसमें वसन्तके सौन्दर्यका उत्सव मनाते हुए बुलबुलें गाती हैं और हरी हरियालीका दृश्य दिखाया जाता है। इन नाटकोंमें आगे चलकर प्रेमके देवता तथा अन्य रूपात्मक मूर्त्तियोंका विवरण भी आने लगा।

पन्द्रहवीं शताब्दिमें ब्रिटिश आइलसमें एक 'मर्म्स प्ले' या 'ममरी' नामक लोकनाट्य होता था जिसमें विनोद, गर्वोक्तियाँ, खड्ग-सञ्चालन, तलवारके नृत्य, द्वन्द्व-युद्ध ( डुएल ) और सेन्ट जौर्जकी कथाएँ होती थीं, जिसके अन्तमें एक वैद्य आकर सबको सजीव कर देता था। कभी-कभी मूकाभिनय ( पेन्टोमीम ) के अभिनयको भी 'ममरी' कहते थे।

दूसरा था इङ्गलैण्डका नृत्य-नाट्य ( मास्क ), जिसमें पुनर्जागरणकालके ग्रामीण नाटक और प्रारम्भिक नृत्य-नाट्यका भी योग था। इसमें अत्यन्त धूमधामकी चक्रिल यन्त्रावली (मशीना वर्सातिलिस) थी जिससे तत्काल दृश्य-परिवर्त्तन कर दिया जा सकता था। इसमें वेष-भूषा भी बड़ी तड़क-भड़ककी होती थी। इसके ठीक उलटे भीषण नृत्य-नाट्य ( ऐन्टी-मास्क ) में कुछ 'चुड़ैलें' होती थीं ( जैसे 'मैकवेथ'में ) जिनमेंसे एकके सिरपर सर्प होते थे, शेष मुर्देकी खोपड़ीकी मशाल लिए रहती थीं। मास्कके ये अभिनेता अत्यन्त सुन्दर नृत्य करते थे और दर्शकोंमेंसे ही पुरुषों और स्त्रियोंको छाँटकर यह नृत्य किया जाता था। ऐसा ही अमरीकी इंडियनोंमे एक 'वीर-नृत्य' ( स्काल्प-डान्स )

था जिसमें प्रायः स्त्रियाँ ही नाचती हैं और बीच-बीचमें अपने वीरोंके कृत्योंका गाना गाती जाती हैं ।

जावाका 'वायाङ्गवोङ्ग' संसारका सर्वश्रेष्ठ नृत्यनाट्य है । वहाँ इसके लिये क्रीड़ावेच्च-विराम ( सङ्गीत और नृत्य-मण्डल ) बने हैं, इसके लिये नियम और कौशल निश्चित किए गए हैं और इसके वर्त्तमान नृत्य-नाटकका रूप व्यवस्थित किया गया है। पहले तो 'वायाँग तोपेंप' या 'राकेत'का विकास हुआ जिसमें अभिनेता मुखौटे लगाते थे और जिसमें जादू तथा पूर्व-पुरुषोंकी पूजा की जाती थी । तदनन्तर आया 'वायाँग पूर्व' या छाया नाटक, जो प्रायः 'वायाँग कुलित' या 'वायाँग गेदोग' कहलाता है । इसके पश्चात् चमड़ेकी पुतलियाँ नाचने लगीं जो 'वायाँग क्लितिक' या 'वायाँग क्रायत्यिल' कहलाती हैं । इनसे लकड़ीकी पुतलियाँ ( वायाँग गोलेक ) बनीं जिनका सूत्रधार ( दलाँग ) इन गुड़ियोंके सम्वाद बोलता चलता है । 'वायाँग'के जिन रूपोंमें पुतलियाँ- या मुखौटे लगाए हुए मनुष्य होते हैं वे अधिक गम्भीर और रहस्यात्मक समझी जाती हैं । इनके पश्चात् 'तोपेंग दलाँग' या 'तोपेंग बारङ्गन'का विकास हुआ जिनमें सूत्रधार सङ्केत दे देता है और मुखौटे लगाए हुए अभिनेता उसका प्रदर्शन करते हैं । ये सब रूप अभीतक चलते हैं और सब मिलकर 'वायाँग वाँग' या 'नृत्यनाट्य' कहलाते हैं ।

इस 'वायाँगवोंग'को नाटक ( रिंगित त्यांग ) में बिना मुखौटेवाले मानव अभिनेता प्रस्तुत करते हैं । इनमें निर्दिष्ट अभिनेता यह दिखलानेके लिये केवल हाथ भर उठाता है कि 'अब मेरा सम्वाद प्रारम्भ हो रहा है' और तब सम्वादको दलाँग पढ़ता है । इसमें प्रङ्गगवशात् द्वन्द्व-नृत्य ( पोकोक ) और अलङ्करण-नृत्य ( मिराग ) होते हैं । ये नाटक कई-कई घण्टे यहाँतक कि कई-कई दिनतक होते रहते हैं । इनमें कौशल है शरीरकी भावभङ्गिमाका, जिसमें गतिकी सरल स्निग्ध सुन्दर धारा बहती है । इसका उद्देश्य है शान्ति देना, उत्तेजित करना नहीं । इन नाटकोंके विषय रामायण या महाभारतसे ही लिए जाते हैं । इसमें पाँच विभिन्न प्रकारके कौशलकी शैलियाँ चलती हैं— १. स्त्रियोंकी, २. प्रगीत नायक ( घोगेद अल्लस ) की, ३. नाटकीय नायक ( घोगेद कासर ) की, ४. राक्षसोंकी और ५. दैत्योंकी । इसमें विदूषकका कोई निश्चित नाट्य-कौशल नहीं होता, वह जैसा चाहे वैसा अभिनय कर सकता है । महिला-नर्त्तकियोंके तीन प्रकार हैं—१. सृम्पिस, जो राजसी

परिवारकी होती हैं। ये युवतियाँ चार-चारके मण्डलमें नाचती हैं। २. बादाया, जो राजद्वारोंसे सम्बद्ध रहती हैं। ये नौ-नौके मण्डलमें नाचती हैं और ३. रौंगेंग या व्यावसायिक नर्त्तकियाँ, जिन्हें क्रीड़ा-वेश-विरामवाले स्वीकार नहीं करते, यद्यपि थोड़े दिनसे उन्हें यह अधिकार मिला है कि वे 'बादाया' का रूप धारण कर सकती हैं। जावामें नृत्य-नाटकोंके आज दो केन्द्र हैं—१. सोयराकाता ( सोलो ) और २. द्योक्याकारता। इनसे अनेक कौशलात्मक क्रियाओं और शैलीमें भी भेद हुए। 'द्योक्याकारता' अधिक गतिशील और वेगशील होता है। इसमें मनुष्य ही स्त्रियोंकी भूमिका ग्रहण करते हैं पर 'सोलो'में स्त्रियाँ ही पुरुषोंकी भूमिका ग्रहण करती हैं और रँगी हुई मूँछें लगाती हैं। दलांग या सूत्रधार मूल ग्रन्थोंसे कथाएँ पढ़ता है। यह 'वायांगवोंग' संसार-भरमें सबसे अधिक पूर्णतासे संयुक्त नाट्यरूप है।

नाट्यनृत्यके रचना-विधानमें दो अङ्ग होते हैं—१. कथा, २. नृत्य-सङ्केत। नाट्यनृत्यमें प्रस्तुत की जानेवाली वस्तुके कथा-भागमें कथा अत्यन्त काव्यमयी, प्रभावमयी किन्तु स्पष्ट और सरल भाषामें पहले किसी वाग्विदग्ध सूत्रधार अथवा विशेष व्यक्ति ( स्थापक या प्रस्तोता ) द्वारा कहलाई जाती है। दूसरे भागमें वाद्य-सङ्केत, ताल-सङ्केत तथा नृत्त-नृत्य-सङ्केत दिए जाते हैं अर्थात् यह क्रम बताया जाता है कि कथाकी किसी घटनाको किस प्रकारके नृत्य-द्वारा किस वाद्यके साथ किस राग, ताल और गतिके सहारे प्रस्तुत किया जाय।

### प्रहसन

योरोप, चीन, जापान तथा अन्य देशोंमें जो प्रहसन चले वे सब तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—१. विनोदात्मक, २. व्यंग्यात्मक और ३. भँड़ैती या फूहड़ नाटक। इन प्रहसनोंका मुख्य उद्देश्य दर्शकोंको हँसाना है। यह हँसानेका काम तीन ढङ्गसे होता है—१. मूर्खताके कार्य और मुद्राएँ प्रदर्शित करके, २. दूसरेको मूर्ख बनाकर और ३. किसी प्रमत्तका मद दूर करके। इन प्रहसनोंमें 'सातिर' नामके दोरियन प्रहसन यूनानी पुराणके किसी चरित्र या घटनाकी खिल्ली उड़ानेके लिये लिखे हुए गीतोंमें मिलते हैं। इन गीतोंके समवेत गायक पशुओंकी खाल ओढ़कर और घोड़े या बकरेकी मूँछ

लगाकर चलते थे। ये 'सातिर' नाटक प्रहसनात्मक विश्राम (कौमिक रिलीफ़) देनेके लिये त्रासदोंके पश्चात् खेले जाते थे।

### प्रहसनात्मक विश्राम ( कौमिक रिलीफ़ )

कुछ आचार्योंका मत है कि 'गम्भीर त्रासद नाटकोंसे जब दर्शकोंके भाव बहुत तन जायँ तब उस तनावको शिथिल करने और विश्राम देनेके लिये बीचमें या अन्तमें कोई विनोदात्मक दृश्य डाल देना चाहिए।' इस प्रकारके दृश्य १. कभी तो नाटककी घटनासे सम्बद्ध होते हैं, २. कभी नाटकसे पूर्णतः भिन्न। एक तीसरे प्रकारके भी हास्यात्मक दृश्य चले हैं ३. जिनमें कोई नौकर या देहाती हास्य-पात्र बनकर आता है और नाट्य-कथाका तट छूकर सहसा लुप्त हो जाता है, जैसे हेमलेटमें क़ब्र खोदनेवाले। किन्तु ये अन्तिम दोनों प्रकार इस आधारपर उचित नहीं माने जाते कि इनका प्रभाव स्थायी नहीं होता, उलटे दाल-भातमें मूसरचन्द बनकर ये भावधाराको भी तोड़ देते हैं। अतः गम्भीर नाटकोंमें बीच-बीचमें कथासे सम्बद्ध प्रहसनात्मक दृश्य ही आने चाहिएँ। इस प्रकारका विनोदात्मक विश्राम देनेके लिये सङ्गीतका भी प्रयोग होता है।

### प्रहसनोंके रूप

इन प्रहसनोंमें कुछ अत्यन्त उच्च शैलीके मूकाभिनय-द्वारा प्रदर्शित किए जानेवाले तथ्यवादी प्रहसन होते थे जिनमें लातिनका 'गड़ेरिया' ( बूकालिक ) प्रसिद्ध है। ऐसा ही एक 'कार्डाक्स बर्लैस्क' नृत्य है जिसमें बहुतसे पात्र गीतके साथ या विना गीतके ही नाचकर व्यक्त करते हैं और जो 'माइम'से बहुत मिलता-जुलता था। यह इतना अश्लील होता था कि इसमें अधिकांश गीत लिङ्ग-सम्बन्धी होते थे। कहा जाता है कि इन्हींसे यूनानी प्रहसनोंका विकास हुआ। इन प्रहसनोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध विनोद-प्रहसन ( बर्लैस्क ) था जो पहले स्वस्थ विनोदके अर्थमें और हास्यनाट्य ( ड्राल ) के पर्याय अर्थात् अत्यन्त हास्य-जनकके रूपमें प्रयुक्त हुआ था किन्तु अब यह परिवृत्ति (पैरोडी), व्यंग्य-चित्रण ( कैरिकेचर ) और हास्यानुकरण ( त्रावेस्ती या त्रेवेस्तिया ) के अर्थमें आता है। इसमें असङ्गत अनुकरणके द्वारा किन्हीं रीतियों, संस्थाओं, व्यक्तियों या साहित्यिक कृतियोंको जान-बूझकर उनकी शैली और भावोंमें अनुपात-हीनता या असंगतता दिखाकर व्यक्त किया जाता है। इनमें उच्च

विनोद-प्रहसन ( हाई बर्लैस्क ) में तो तुच्छ वस्तुको भी व्यंग्यात्मक गम्भीरताके साथ व्यक्त किया जाता है और निम्न प्रहसन ( लो बर्लैस्क ) वह है जिसमें गम्भीर वस्तुको तुच्छ रूपमें व्यक्त किया जाय। इनमें प्रायः दूसरोंकी हँसी उड़ाई जाती है। यदि ये काल्पनिक हों तो इन्हें 'एक्स्ट्रावेगान्ज़ा' कहते हैं। किन्तु 'बर्लैक्स'में परिवृत्ति, हास्यानुकरण और व्यङ्ग्यानुकरण तीनोंका प्रयोग होना चाहिए। वास्तविक 'बर्लैक्स' तो अब समाप्त हो गए, यद्यपि कभी-कभी उसका प्रदर्शन हो ही जाता है जिसका एक नया रूप 'स्ट्रिपटीज़' है, जिसमें नर्त्तक एकके पश्चात् दूसरे वस्त्र उतारता जाता है और दर्शक ताली पीटते जाते हैं। एक ऐसा ही अत्तिक प्रहसनोंमें गलावोंट ( प्निगोस ) था जो आजकलके संगीतात्मक प्रहसनके हड़बड़-गति (पैटरसौङ्ग) या 'नाइटमेयर सौङ्ग'के समान एक ही साँसमें पढ़ दिया जाता था। इटलीमें कुछ 'फ़ेबूला अतेलाना' नामके प्रहसन चले जिनमें विशिष्ट मुखौटे ही प्रसिद्ध पात्रोंका प्रतिनिधित्व करते थे और जिनके अभिनयमें अश्लीलतापूर्ण मूकाभिनय होता था। ये भँड़ैतियाँ लगभग दूसरी शताब्दि ई० पू० में लातिनमें आईं और फिर मार भगा दी गईं। नाटकोंके दो अङ्कोंके बीच लोगोंका जी बहलानेके लिये एक अन्तराल-विनोद ( ऐन्त्रे ऐक्ते ) नामके विनोद चले जो उसी प्रकारके थे जैसे स्पेनमें 'तासो'। यह प्रहसनकी प्रवृत्ति योरोपमें यहाँतक चली कि लोग मुखौटे लगाकर भोजोंमें जाने लगे और फिर लन्दनमें नावपर मुखौटेवाले नाटक ही बन गए, जिनका नाम ही पड़ गया 'छद्मवेश' ( डिस्गाइज़िङ्ग )।

## मुखौटोंका प्रहसन ( कमीदिया देलार्ते )

सोलहवीं शताब्दिमें व्यावसायिक इतालवी अभिनेताओंने कुछ छोटे-छोटे कथानक लेकर उसमें सम्वाद भरकर एक नाटक बना लिया जिनमें आठ या नौ पुरुष, तीन या चार स्त्रियाँ और दो या तीन बूढ़े निश्चित भूमिकाएँ ग्रहण करते थे। इनमेंसे प्रधान बूढ़े प्रायः दोत्तोरे ग्राज़ियानो और पैन्तालोन कहलाते थे। इसमें दो या तीन युवा प्रेमी होते थे जिनके अलग-अलग भावात्मक नाम होते थे जैसे, फ्लेवियो, ओरेतियो, फ्लेमोनियो ; दो या तीन विदूषक होते थे जो सबके सब 'ज़ानी' कहलाते थे जिनमें सबसे अधिक चन्ट अर्लेच्चिनो ( हार्लेक्विन ) था जो अन्य मूर्खतर लोगों जैसे ब्रिघेला, पेद्रोलिनो और पुलसिनेलाकी तुलनामें श्रेष्ठ माना जाता था। इसमें एक दम्भी कैपितानो

होता था जो प्लाउतसके 'ब्रैगर्ट'के आदर्शपर ढाला जाता था। प्रधान महिलाएँ सुन्दर और युवती आइज़ाबेला, फ्लैमीनिया या सीलिया होती थीं जिनके साथ दासियाँ ( सर्वेन्ते ) होती थीं जिनमेंसे एक फ्रान्सेशिना सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिमें नाटकके अन्तमें अर्लेचिचनोके साथ ब्याह दी जाती थी और अन्य युवतियाँ उनके-उनके प्रेमियोंके साथ व्याही जाती थीं। यही नाटक 'कमादिया देलार्त्ते' कहलाया। इसमें एक या दो ऐसे युवा प्रेमियोंके जोड़े भी मिलते हैं जो अपने चतुर नौकरोंकी सहायतासे अपने बूढ़े पिताओंको मूर्ख बनाती हैं। इनमें ज़ानी और अर्लेचिचनो उछल-कूद, नट-विद्या, धूर्त्तता, खिड़कियों या छज्जोंसे कूदना, द्वन्द्व युद्ध और मल्ल-युद्ध आदि बहुत करते हैं। अनेक प्रकारकी वेश-भूषाके साथ विदूषक तथा वृद्ध मनुष्य अनेक प्रकारके चित्र-विचित्र मुखौटे पहनते थे जो इसीलिये 'ल माशेर' कहलाते थे। प्रेमी लोग भी कभी-कभी अपना स्वरूप छिपानेके लिये उन मुखौटोंका प्रयोग करते थे। मुखौटेके समान ही इसमें विचित्र प्रकारकी वेश-भूषा भी होती थी जैसे प्राय: लाल और काले लम्बे पतलून ( पैन्तालोन ), चोगे और वैनिसके धनी सौदागरकी टोपी पहनी जाती थी। 'अर्लेचिचनो' भी अत्यन्त सुन्दर थेकली या चकती लगी हुई जाकट और पतलून पहनता था, हाथमें लकड़ीकी तलवार लिए रहता था और एक ऐसी टोपी पहनता था जिसमें आगेकी ओर खरगोशकी पूँछ झूलती थी। मूर्ख 'ज़ानी' भी प्राय: ग्रामीण कुर्त्ती पहनता था और नोकदार या चौड़े किनारेका टोप लगाता था। कैपितानो ( स्पावेन्तो, कोकोद्रिलो आदि ) कवच और शस्त्रोंसे सुसज्जित होते थे किन्तु उनका प्रयोग करनेमें डरते थे क्योंकि वे प्राय: दम्भी भीरु होते थे। डाक्टर सदा युनिवर्सिटीका लबादा पहने रहता था और प्रेमी युवा-युवतियाँ यथा-सम्भव मण्डलीकी शक्ति या आश्रयदाताके सामर्थ्यके अनुसार सुन्दरतम वेश-भूषा धारण करते थे। वेश और मुखौटोंके समान ही उनकी वाणी भी अत्यन्त नियमबद्ध होती थी। युवा प्रेमी लोग प्रेम, सम्पत्ति, मृत्यु आदि विषयोंपर बँधे-बँधाए व्याख्यान या स्वतन्त्रतापूर्वक गीतोंसे सजाई हुई अत्यन्त कोमल टस्कन भाषाका प्रयोग करते थे और वृद्ध तथा विदूषक ऐसी शपथों और फूहड़ बातोंसे भरे हुए इटलीकी प्रान्तीय उपभाषाओंमें बोलते थे कि कभी-कभी भले आदमी उससे त्रस्त हो जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दिमें 'पञ्च' 'जुडी शो', 'क्रिसमस पैन्टोमीम', 'हार्लेकिनेड्स' आदि अनेक ऐसे नाट्यरूप इंग्लैन्डमें

प्रचलित थे जिनमें हार्लेकिन ( पियरो ) कोलम्बाइन, ( पियरेते ) और 'पैन्तालून'का चित्रण होता था और इस प्रकार अनेक रूपोंमें ये लोग वही परिपाटी चलाते रहे । आज भी उन पुनर्जागर्त्तिकालके इतावली मुखौटोंकी छाया हम 'गीतनाट्य और नृत्यनाट्य' ( बाले और औपेरा ), सरकस और सङ्गीतनाट्य ( म्यूज़िकल रिव्यू ) में पा सकते हैं ।

भँड़ैती ( फार्स )

प्रहसनोंमें सबसे भद्दे और अश्लील 'भँड़ैती' ( फार्स ) प्रहसन होते हैं जिनमें अनेक प्रकारकी अश्लील, असङ्गत तथा निम्न कोटिकी मुख-मुद्राएँ तथा बातचीत करके या क्रिया दिखाकर हास्य उत्पन्न किया जाता है । इसमें किसीको डण्डेसे पीटना, किसीका धुँआँधार पीछा करना, अनवसर काम करना आदि क्रियाएँ होती हैं । इसमें तीन प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—१. जिनमें स्वयं अभिनेता अपनी ही हँसीका आखेट होता है अर्थात् स्वयं मूर्ख बनता है । २. जिनमें विदूषकका साथी मूर्ख बनता है, और ३. जिनमें जनताको ही मूर्ख बनाया जाता है । इस प्रकारकी मार-पीट, उछल-कूद तथा अज्ञानियोंकी भूलें दिखाकर उनकी मूर्खताओं और उजड्डताओंकी हँसी उड़ानेवाले प्रहसन इसीलिये निम्न कोटिके प्रहसन ( लो कौमैदी ) कहलाए । इसी श्रेणीमें एक 'स्लैपस्टिक' था जिसमें अधिकांश क्रिया यही होती थी कि दो चपटे बाँसवाली छड़ीसे किसीको मारते थे, जिसकी फट - फटकी ध्वनिसे लोग हँसते थे । अतः हास्यजनक मारपीटसे भरे हुए प्रहसनोंको ही लोग 'स्लैपस्टिक' कहने लगे । इसी श्रेणीमें ड्रौल ( ड्रौलरी या ड्रौल ह्यूमर ) भी थे ।

व्यंग्य-नाटकोंका विषय प्रायः मनुष्यकी दुर्बलताओंपर निन्दात्मक आलोचना करना तथा उसका सुधार करना होता है । इस सुधारको भी व्यंग्यनाटकका कलात्मक और नैतिक उद्देश्य समझना चाहिए । इनमें व्यक्ति और समाजकी दुर्बलताएँ दिखा-दिखाकर उनपर छींटे कसे जाते थे और उनके दोषोंकी खिल्ली उड़ाई जाती थी । यह व्यंग्य केवल शब्दोंके द्वारा ही नहीं वरन् नृत्य, गीत तथा अन्य गतिशील कलाओंके द्वारा भी व्यक्त किया गया है । सुना जाता है कि एक मध्य प्रहसन ( मिडिल कौमेडी ) नामक व्यंग्य नाटक भी यूनानमें चले थे, जिनमें पौराणिक कथाओंका उपहास किया जाता था । उससे भी पूर्व अरिस्तोफ़नेस आदिके वे यूनानी प्राचीन प्रहसन ( ओल्ड कौमेडी )

जिनमें किसी विशेष व्यक्तिपर आक्षेप किया जाता था और असङ्गत कल्पनाएँ की जाती थीं। इन सबके पश्चात् यूनानमें वास्तविक जीवनपर विशेषतः प्रेमकाण्डपर प्रहसन लिखे गए जिन्हें 'न्यू कौमेडी' कहते हैं। इस प्रकार प्रहसन तीन रूपोंमें व्यक्त हुआ। फ़ारसीमें थोड़े दिनोंसे अत्यन्त लोकप्रिय प्रहसन लिखे गए जिन्हें 'शबबाजी' कहते हैं। इनमें भी निम्न कोटिका फूहड़ हँसी-विनोद भरा रहता है।

### अन्य प्रकारके नाटक

इटलीमें प्रारम्भमें 'साक्रा रेप्रेज़ेन्ताज़ियोनी' नामक धार्मिक नाटक चले जो पीछे प्रहसन बन गए। 'हाउप्टाक्टिअन' जर्मनीका एक गम्भीर नाटक था, जिसे बर्लैस्कसे भिन्न समझना चाहिए और 'स्टाट्साक्टियन' ऐतिहासिक या राजनीतिक नाटक था। गौटशैडने इसे अभद्र बताया था क्योंकि 'स्टाट्साक्टियन' झकाझक झलकता था और उसका विशद, भव्य रूप साधारण जनताकी इच्छा पूर्ण करता था, क्योंकि उसमें जनताके एकच्छत्र स्वामियोंकी राजसभाओंका सौन्दर्य और वैभव दिखलाया जाता था। कुछ सुखान्त नाटकोंमें वैज्ञानिक सटीकताका ध्यान रक्खे बिना केवल कल्पनासे भूत-प्रेत आदिका प्रयोग किया जाता है, उन्हें 'फ़ैन्टेस्टिक कौमेडी' कहते हैं। ऐसे ही एक राजसी नाटक (कोर्ट कौमेडी) नामक एक कृत्रिम नाटक होता था, जिसमें अभिनय कम और अध्यवसानके रूपमें पौराणिक कथाओंका प्रयोग अधिक होता था। ये राजसभाओंमें खेले जानेके लिये होते थे तथा अत्यन्त ठाठ-बाटकी वेष-भूषा और सङ्गीतके साथ अभिनीत किए जाते थे। एक नये प्रकारके रहस्यात्मक नाटक ( मिस्टरी प्ले ) लिखे गए, जिनमें साधारणतः तीन अङ्क होते थे—१. किसीपर सन्देह नहीं, २. सबपर सन्देह है, और ३. अपराधी पकड़ा गया। इनके अतिरिक्त ऐसे सुखान्त नाटक ( हाई कामेडी ) भी प्रारम्भ हुए, जो अत्यन्त शिष्ट तथा कुलीन लोगोंके सम्मुख खेले जाते थे। इनके पात्र प्रायः वास्तविक व्यक्तियोंके प्रतिरूप होते थे और अत्यन्त विदग्धतापूर्ण तथा अत्यन्त शिष्ट संवादोंमें बातचीत करते थे।

अँगरेजीके जिन सुधारयुगीन नाटकों ( रेस्टोवेशन प्ले ) में वीरता, सौन्दर्य और प्रेमका अत्यन्त अतिशयपूर्ण, कृत्रिम, कठिन शैलीमें अनेक प्रकारके हस्यात्मक विधान रहते थे उन्हें 'वीरनाट्य' ( होरोइक ड्रामा ) कहते

हैं। यद्यपि ये नाटक गम्भीर होते थे किन्तु उनका अन्त सुखमय होता था। कुछ साधारण बुद्धिके प्रहसन ( कौमेडी औफ़ कौमन-सेन्स ) चले जिनमें मानव-जीवनके सैद्धान्तिक पक्षों और समाजके व्यावहारिक रूपोंका सुन्दर बुद्धिसङ्गत सन्तुलन बैठाया जाता है। इन्हींमें एक 'भावात्मक प्रहसन' ( कौमेडी औफ़ ह्यूमर्स ) है जिसमें मानव-प्रकृतिके प्रधान लक्षणोंको एकत्र किया जाता है और फिर विशिष्ट पात्रोंके रूपमें तदनुसार उनका नामकरण करके उपस्थित किया जाता है और फिर उनका पूर्ण विश्लेषण कर दिया जाता है।

इनके साथ-साथ एक आचार-मूलक प्रहसन ( कौमेडी औफ़ मैनर्स या कौमेडी द मूवा ) है जिसमें विशेष सामाजिक नियमोंके अनुसार रूढ आचरण करनेवाले पुरुषों और स्त्रियोंका चित्रण होता है। इन नाटकोंमें मौलिक नैतिकताके बदले शिष्ट व्यवहार ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इनका प्रयोग पहले तो 'समस्या-नाटक' ( प्रोब्लम प्ले ) में हुआ जिनसे समाधान-युक्त नाटक ( थीसिस प्ले ) उत्पन्न हुए।

इन विशिष्ट प्रकारोंके अतिरिक्त विद्यालयोंकी आवश्यकताके अनुसार कुछ अध्यापकोंने बाइबिलकी कथाके आधारपर अधिक सम्वादवाले, कम अभिनयवाले और परदे-विहीन रङ्गमञ्चोंपर खेले जानेवाले 'यूनिवर्सिटी ड्रामा' और शूले ड्रामा ( विद्यालय नाटक ) लिखे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दिमें आगस्तीन यूजीन स्क्राइबेने फ्रान्समें लगभग चार सौ सुरचित नाटक ( पीसे विएँ फ़ैते या वैलमेड प्ले ) लिखे जिनकी कथावस्तु सुसम्बद्ध, घटना अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित तथा कुतूहल अत्यन्त स्वाभाविक होता था। इस नाट्य-शैलीने 'हैनरिक इब्सन' और 'बर्नर्ड शौ' जैसे नाटककारोंको अत्यन्त प्रभावित किया। प्रकृतिवादियोंने इनपर यह आक्षेप किया कि ये अधिक बुद्धिसङ्गत तो प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तविक जीवनसे बहुत दूर हैं। इस शैलीका व्यवस्थित रूप 'स्क्राइबिया' कहलाता है। एक दूसरे प्रकारके विश्लेषणात्मक ( ऐनेलिटिकल ) नाटक चले हैं जिनमें केवल परिणाम या अन्त ही रङ्गमञ्चपर उपस्थित किया जाता है, शेष घटना उससे पूर्वकी मान ली जाती है, किन्तु जितना भाग प्रस्तुत किया जाता है उसीमें अभिनयके द्वारा सब कारणोंका विवरण दे दिया जाता है, जैसे इब्सनके हाउप्टमानमें। 'बादेविले'के समान एक नया 'प्रोटियन' नाटक चला है जिसमें अभिनेता अत्यन्त वेगसे एकके पश्चात् दूसरी भूमिका ग्रहण करते चलते हैं और ये

वेग-वेशधारी अभिनेता विद्युद्राम कलाकार ( लाइटनिङ्ग-चेञ्ज आर्टिस्ट ) कहलाते हैं। इसी प्रकारका वह 'मनोपोलीलोग' होता है जिसमें एक ही अभिनेता कई व्यक्तियोंका अभिनय करता है। कभी-कभी विशेष उत्सवके उपयुक्त भी नाटक लिखे और खेले जाते हैं, जैसे जर्मनीके 'फ़ेस्टस्पील' होते हैं। बहुतसे एक-दृश्यात्मक नाटक भी रचे गए हैं जिनमें एक ही अभिनेता अकेले 'भाण' नाटकके समान अकेला ही अभिनय करता है, जिसका सम्वाद एकाङ्की सम्वाद 'मोनोलोग' और अभिनेता 'मोनोलोगिस्ट' कहलाता है। ऐसे नाटकीय एकाङ्की सम्वादवाले नाटक 'मोनोड्रामा' कहलाते हैं, किन्तु इन्हें एकाङ्की नाटकोंसे भिन्न समझना चाहिए। फ़्रान्समें 'क्वार्त द ह्यूर' और अँगरेज़ीमें 'कर्टेन रेजर्स' नामके दस मिनटके नाटक लिखे गए जो नाटकोंसे पहले जनताको बहलाए रखनेके लिये और विलम्बसे आनेवालोंको मुख्य नाटकसे वञ्चित न होने देनेके लिये खेले जाते थे। इसी प्रकारके नाटकोंको फ़्रान्समें 'सीनेआफ़ेयरे' कहते हैं। कुछ नवीन नाटकीय प्रक्रियाओंके साथ कुछ नई नाटकीय शैलियाँ भी चलीं, जैसे अभिव्यञ्जनावादी नाटकोंमें आधे टूटे हुए खण्डित वाक्योंका प्रयोग, छोटे-छोटे दृश्य, यथार्थ और कल्पनाका मेल तथा प्रत्यावर्त्तन-कौशल ( फ़्लैश बैक टेकनीक ) से सम्पूर्ण नाट्य-व्यापार वर्त्तमानसे भूतमें परिवर्त्तित होना दिखाया जाता है अथवा जिनमें एक ही पात्रके चेतन और अचेतन दोनों पक्ष दिखाए जाते हैं। एक नई नाट्यशैली 'सजीव समाचारपत्र' ( लिविङ्ग न्यूज़पेपर ) की चली है जिसमें वास्तविक या प्रामाणिक घटनाओंको अत्यन्त सटीकताके साथ रंगमञ्चपर दिखाते हैं। इसी प्रकार स्पेनमें अँगरेज़ी 'अन्तरिम नाटक' ( इण्टरल्यूड ) के समान एक छोटा-सा उदात्त श्रेणीका 'ऐन्त्रेमे' नाटक होता था जो पीछे चलकर बड़े नाटकोंके बीचमें व्यंग्यात्मक आलोचना-पूर्ण प्रहसनोंके रूपमें प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकारके कुछ बुद्धिवादी नाटक ( ग्रोटेस्को ) लिखे गए जिनमें यह दिखलाया गया कि जीवनकी प्रत्येक परिस्थिति साधारण और स्वच्छन्द होती है और यह जीवन अत्यन्त अबुद्धि-सङ्गत और असम्भव है। तेरहवींसे सत्रहवीं शताब्दितक स्पेनमें प्रतीकात्मक ( आउटो-सेक्रामेन्टल ) नाटक खेले जाया करते थे जिनमें धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भावात्मक विषयोंका चित्रण किया जाता था। इन सब विचित्र प्रकारके नाटकोंमें सबसे विलक्षण है 'लड़के-लड़कीका मिलन' ( ब्वाय मीट्स गर्ल्स ) नाटक। ये नाटक सन्

१९३९ में बैला और साम स्पेवाकने लिखे थे जिनमें साधारण कथा यही होती थी कि प्रथम अङ्कमें एक लड़का किसी लड़कीसे मिलता है, दूसरे अङ्कमें उनका वियोग होता है और तीसरे अङ्कमें दोनों मिल जाते हैं। अमरीकामें आजकल ऐसे नाटकोंकी बाढ़ आ गई है। इनके अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक नाटक भी लिखे गए जिनमें नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों या कल्पनाओंके आधारपर शुद्ध काल्पनिक नाटक लिखे गए और विभिन्न साहित्यिक तथा राजनीतिक वादोंके आधारपर समाजवादी, लोकवादी और मध्यमवर्गीय नाटक भी लिखे जाने लगे। आजकल नाटककारोंकी विशेष प्रवृत्ति यह है कि वैज्ञानिक सुविधाओंका अधिकसे अधिक प्रयोग करके नाटकीय प्रभाव अधिक उत्पन्न किया जाय और उनके पात्र तथा घटनाएँ साधारण जीवनसे ली जायँ।

### श्रव्य नाटक ( रेडियो प्ले या फ़ीचर )

आजकल रेडियोपर अनेक नाटक सुनवाए जाते हैं जो पूर्णतः श्रव्य होते हैं। इन नाटकोंमें कम पात्र, कम घटनाचक्र और थोड़े स्वाभाविक सम्वाद रखने पड़ते हैं इसीलिये इनकी अवधि भी आध घण्टेकी होती है। इन नाटकोंमें कथा-प्रसङ्गकी घोषणा ( नेरेशन ) होती है जिसके द्वारा बीचकी कथा सुना दी जाती है। यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनों होना चाहिए किन्तु रेडियोपर जो नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं वे दृश्य-रेडियो ( टेलिविज़न ) के प्रचलित होनेतक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसे श्रव्य नाटकोंके चार अङ्ग होते हैं—१. सूचना, २. सम्वाद, ३. ध्वनि-युक्त व्यापार-योजना ४. सङ्गीत ( गीत, वाद्य तथा नृत्य )। इसकी रचना करते समय सम्वादके अतिरिक्त शेष सब कार्य एक सूचकके द्वारा बीच-बीचमें सूचित कराया जाता है जिसकी भाषा इतनी काव्यमय और प्रभावशाली किन्तु सरल होती है कि सूचक उसे पढ़ते समय वाचिक स्वरके उतार-चढ़ावके द्वारा उसके भाव व्यक्त करता चलता है। इसमें रङ्गनिर्देश तथा सम्वाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकोंमें, किन्तु सम्वाद ऐसे होते हैं जिनमें अधिकसे अधिक वाचिक अभिनयका अवसर हो। इसका जो अङ्ग विशेष ध्यान देनेका है, वह है ध्वनियुक्त व्यापार-योजना। साधारण दृश्य-नाटकमें तो अभिनेताओंकी सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इसलिये कोई असुविधा नहीं होती किन्तु 'वह उठकर जाता है, चलता है, सोचता है' आदि क्रियाएँ श्रव्य-नाटकमें तो

देखी नहीं जा सकतीं और प्रत्येक ऐसी क्रिया सूचित भी नहीं की जा सकती क्योंकि उससे भावधारा टूटनेकी आशङ्का पग-पगपर बनी रहती है। इसलिये इसमें ध्वनियुक्त व्यापारोंकी योजना करनी पड़ती है जिससे श्रोता उस व्यापारको कानसे समझ सके जैसे प्याले धोना, थाली गिराना, मोटरका भोंपा, चिड़ियों या अन्य जीवोंकी बोली, किवाड़की भड़भड़ाहट, घड़ीकी टिकटिक, घण्टा-ध्वनि, घोड़ेकी टाप, तलवारोंकी खनखन, पिस्तौलकी धायँ आदि। इसमें सङ्गीत वैसा ही होता है जैसा अन्य नाटकोंमें किन्तु इसमें यह सङ्केत कर दिया जाता है कि कहाँ, किस राग, किस ताल और किस लयमें वाद्यके साथ नृत्य या गीत हो या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्य हो।

## शास्त्रार्थ नाटक ( डिस्कशन ड्रामा )

प्लेटोके समयसे ही कुछ ऐसे सम्वाद लिखे जाने लगे थे जिनका उद्देश्य परस्पर-विरोधी विचारोंका विश्लेषण करना या व्यंग्यात्मक टिप्पणी करना होता था। दियोगैनेसने इन विचारात्मक संवादोंकी यह परिभाषा की है— 'प्रश्नोत्तरके रूपमें विभिन्न पात्रों-द्वारा कही जानेवाली जिस बातचीतमें किसी सिद्धान्तका खण्डन या मण्डन हो उसे विचारात्मक संवाद कहते हैं।' आगे चलकर लूशियनने प्रहसनके साथ इन संवादोंको मिलाकर शास्त्रार्थी-नाटक ( डिस्कशन ड्रामा ) ही लिख डाले किन्तु ये अच्छे नहीं समझे जाते।

## पाठ्य नाटक ( क्लोज़ेट ड्रामा )

प्राय: 'पाठ्य नाटक' शब्द केवल पढ़े जानेवाले नाटकोंके लिये अर्थात् उन नाटकीय काव्योंके लिये निन्दाके रूपमें प्रयुक्त होता है जो खेले न जा सकें। इनके बहुतसे पाठ्य नाटक रङ्गमञ्चपर खेले जानेके लिये लिखे भी गए थे किन्तु सफलता न मिलनेपर वे पाठ्य नाटक बन गए। कुछ नाटक केवल पढ़े जानेके उद्देश्यसे ही लिखे गए किन्तु वे रङ्गमञ्चपर अत्यन्त सफलताके साथ खेले भी गए हैं। यह भी सम्भव है कि जो नाटक किसी एक देशमें, किसी एक विशेष युगमें लिखे और खेले जा चुके हों, वे किसी दूसरे देश या युगमें सफलतापूर्वक न खेले जा सकें। अत: स्वभावत: प्रश्न उठता है कि क्या यूनानी त्रासद और संस्कृत नाटक पाठ्य नाटक ही हैं, क्योंकि उनमेंसे अधिकांश खेले नहीं जाते? क्या उनका प्रयोग, परिस्थितियाँ या प्रभाव-शक्तियाँ बदल गई हैं? कुछ लोग केवल पढ़नेके लिये ही नाटक लिखते हैं

यद्यपि यह उनकी अनधिकारचेष्टा ही है। कुछ लोगोंने खेले जाने योग्य नाटकोंमें रङ्ग-निर्देश, अन्तराल-व्याख्या तथा दृश्य-व्याख्या देकर नाटकको पठनीय बना दिया है और अभिनेताओंको अपनी भूमिका समझनेमें सहायता भी दी है, जैसे अभिनवभरतके 'अनारकली'में। कभी-कभी सफल नाटककार भी ऐसा नाटक लिख देता है जिसे वह समझता है कि यह रङ्गमञ्चपर नहीं खेला जा सकता, क्योंकि वह रङ्गशाला, अभिनेता और दर्शककी आवश्यकताओंमें अपनेको बाँधना नहीं चाहता। फिर भी उसे काट-छाँटकर एक सुन्दर नाटक बनाया ही जा सकता है, जैसे इब्सनका 'पीयरगिंट' या गेटेका 'फ़ाउस्ट'।

### प्रयोजनवादी नाटक ( ईपिक थिएटर )

बीसवीं शताब्दिमें एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसमें रचना-रूपकी अपेक्षा विषयको और भ्रम ( इल्यूज़न ) उत्पन्न करनेकी अपेक्षा सत्यको प्रधानता दी गई है। यह प्रवृत्ति मूलतः प्रयोजनवादी है। ये लोग विभिन्न शैलियों और रङ्गशालाके तत्त्वों ( नाटक, नाट्य-प्रयोक्ता अभिनेता, दृश्य-विधायक, नर्त्तक, गायक, सङ्गीत-प्रयोक्ता तथा दर्शक आदि ) को ऐसी सक्रिय शक्तियोंके रूपमें प्रयोग करना चाहते हैं जो नाटककार-द्वारा रङ्गमञ्चपर प्रस्तुत सत्यकी व्याख्या करनेमें समर्थ हैं। यह मूलतः कथात्मक और उपदेशात्मक है इसीलिये इसके साथ 'ईपिक' शब्द जोड़ दिया गया है। इसके प्रदर्शनोंकी परिधि बड़ी व्यापक है और उसमें उसी कौशलसे काम लिया जाता है जिस कौशलसे उपन्यास या चलचित्रमें, अर्थात् निर्घोषक या बीच-बीचमें टिप्पणी तथा बीचकी कथा कहनेवाला वक्ता परिचय देता चलता है। स्वगत भाषण, समवेत गान और उसके साथ चलचित्र, रेडियो, लैन्टर्न स्लाइड्ज़ और ट्रेडमिल् ( पैर-चक्की ) आदिके द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। जर्मनीमें प्रथम महायुद्धकी बेकारीके समय इसका अधिक प्रचार हुआ और लोगोंने राजनीतिक विचारोंके प्रसारके लिये रङ्गशालाको मञ्च बनाया। बेअरटोल्ट ब्रेख़्टने ही इस सिद्धान्तका विशेष प्रसार किया तथा नाट्यप्रयोक्ता अरविन पिस्केटरने विभिन्न नाटकोंमें इसका प्रयोग किया।

ईपिक थिएटरमें कई प्रकार आते हैं—१. 'रिपोर्ट्रियल थिएटर', जो केवल पत्रकारितावादी है और जिसमें नित्यकी प्रमुख घटनाएँ दिखा दी जाती हैं,

२. 'डौक्यूमेन्टरी थिएटर', जिसमें किसी ऐतिहासिक घटनाको स्पष्ट दिखानेके लिये तत्सम्बन्धी प्रामाणिक लेख तथा विवरण दिखाए जाते हैं। ३. 'लिविङ्ग न्यूज़ पेपर', जो जनताको कोई सामाजिक उपदेश या सीख देना चाहता है। ४. 'थिएटर औफ़ ऐक्शन', जिसके अन्तर्गत 'एगित प्रोप' और 'फ़ाइटिङ्ग थिएटर' भी आ जाते हैं और जो मूलतः प्रचारका रङ्गमञ्च है। ५. डाइलेक्टिक थिएटर', जो रङ्गमञ्चको समाजके दोष बतानेका न्यायालय बना देता है और विशेष रूपसे समाजके दोष ढूँढ़ता है। ६. 'डाइडेक्टिक थिएटर', जिसका सबसे प्रधान व्याख्याता ब्रेख्ट है जो जनताको सङ्गत रूपसे सोचने और सामाजिक चेतनाके लिये शिक्षा देनेका प्रयत्न करता है। ७. 'पोलिटिकल थिएटर', जो पूर्ण जातिका सेवक है। यह 'ईपिक थिएटर' हमारे जीवनकी सभी समस्याओंका समाधान करनेके लिये नये रूपों और कौशलोंका प्रयोग करता चला जा रहा है।

### नवीन प्रयोग

नवीन नाटकोंमें वैज्ञानिक कौशलके द्वारा जो नये प्रयोग हुए उनमें एक 'चौथी दीवाल' ( फ़ोर्थ वाल ) की योजना है। वर्त्तमान 'चौखटेवाले रङ्गमञ्च' ( पिक्चर-फ्रेम स्टेज ) पर आगेका परदा ही कल्पित बाधाके रूपमें चौथी दीवार बना रहता है, किन्तु उसके उठते ही वह चौथी दीवार दूर हो जाती है। आजकलके नाटकोंमें ऐसे घरोंके दृश्य दिखाए जाते हैं जिनके आगेकी दीवार ( चौथी दीवार ) तबतक लगा तो रखते हैं जबतक उसके सामनेका दृश्य दिखाना हो, किन्तु जब उसके भीतरका दृश्य दिखाना होता है तो चौथी दीवार यन्त्रसे लुप्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ परिवर्त्तन-दृश्य ( ट्रान्सफ़ौर्मेशन सीन ) होते हैं जिनमें किन्हीं पात्रोंकी आकृतिमें या नाट्य-व्यापारमें सहसा परिवर्त्तन हो जाता है। एक और भी सर्वसिद्ध ( ऐक्टर प्रूफ़ ) नाटक चले हैं जिन्हें किसी प्रकार भी अभिनेता खेलें किन्तु वह सफल अवश्य होगा। इसी प्रकारके दो अङ्कवाले या उससे कुछ बड़े नृत्य-नाट्य या बड़े नाटकोंके संक्षिप्त रूप चले जिन्हें 'दिवर्तिसेमेन्त' कहते हैं। प्रहसनों या सुखान्त नाटकोंमें एक समरस दृश्य ( सीना ईक्वीवोका ) रखनेकी प्रथा भी चली जिसमें पात्र दो विरोधी बातें करते हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे एक दूसरेका अर्थ लगाते हैं, जैसे दो पात्र परस्पर बातें करते हुए यही नहीं समझते हैं कि दोनों एक ही प्रेयसीके सम्बन्धमें बातें कर रहे हैं।

## नाटकीय दैव-चक्र ( ड्रामैटिक आयरनी )

त्रासदोंके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त है कि 'भाग्य या देवताओंकी इच्छासे ही नाटकीय व्यापारको शक्ति मिलती है ।' प्राय: त्रासद नाटकका मुख्य पात्र ऐसा अभिमानी, उच्छृङ्खल व्यक्ति होता है जो देवताओंका सम्मान नहीं करता और अपनी ऐंठमें कुछ ऐसा अतिरेकतापूर्ण कार्य कर डालता है कि नाटकके प्रारम्भसे ही उसके सिरपर ऐसा विनाश नाचने लगता है जिसका उसे अन्ततक ज्ञान नहीं होता । इस दुर्दैव-चक्रमें निम्नलिखित तत्त्व होते हैं— १. दैवी विधान ( भाग्य ), जो इस भ्रान्त व्यक्तिको सहसा और भी अधिक भ्रान्त कर देता है, २. आखेट, ३. दर्शक और ४. नाटकके अन्य पात्र । यूनानी त्रासदोंमें इस दुर्दैव-चक्रको नैतिक पक्ष समझना चाहिए जिसके द्वारा देवताओंका निरादर करनेवालोंको दण्ड दिया जाता था । इसमें विशेषता यही रहती थी कि जिस व्यक्तिसे यह नाटकीय दुर्दैव-चक्र या वामता ( आयरनी ) कही जाय वह तो न समझे किन्तु दर्शक तत्काल भावी विपत्तिकी कथा समझ जाय । एक और भी भाग्य-वामता ( आयरनी ऑफ़ फेट ) होती है जो मनुष्यकी योजनाको उलट-पलट देती है—'अपने मन कछु और है, विधनाके कछु और ।' एक स्वैरवादी वामता ( रोमान्टिक आयरनी ) का भी विवरण श्लेगलने दिया है जिसमें वह कहता है कि 'प्रत्येक कृतिमें लेखक अपने आन्तरिक गुण व्यक्त करता चलता है', अर्थात् श्लेगलने यह सिद्ध किया है कि लेखकका उसकी कृतिसे वही सम्बन्ध है जो ईश्वरका रचनासे । नाटकमें दुर्दैव-चक्रके लिये सिद्धान्त है कि 'रहस्यको अन्ततक बनाए रखना चाहिए ।' कुछ लोग कहते हैं—'इसके लिये नाटकके पात्रोंको तो भूल-भुलैयामें डाले रहो किन्तु दर्शकोंको सब बातें जता दो ।' किन्तु अधिकांश लोगोंका मत है कि 'दर्शकोंके भावोंका ही तो रेचन करना है अत: कुतूहलका निर्वाह अन्ततक करना चाहिए, दर्शकोंको बतानेसे कुतूहल नष्ट हो जाता है ।'

## रेचन ( कथार्सिस )

अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें त्रासदीय रेचन या ट्रैजिक कथार्सिसके सम्बन्धमें संक्षेपमें चलता-सा विवरण दिया है । इसपर सोलहवीं शताब्दिके व्याख्याताओंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक प्रश्न उठाए हैं । काव्यशास्त्रमें वह

अंश इस प्रकार है—'करुणा और भयके भावोंके द्वारा त्रासद इस प्रकारके भावोंका रेचन कर देता है।' इससे अधिक व्याख्या उस काव्य-शास्त्रमें प्राप्त नहीं होती। जिन लोगोंने अरस्तूके इस वाक्यका अर्थ समझानेका प्रयास किया है उन्होंने अरस्तूकी आठवीं पुस्तक 'राजनीति' में आए हुए एक अन्य छोटेसे वाक्यका आधार ग्रहण किया है या उसके भाषण-शास्त्रमें आई हुई करुणा और भयकी परिभाषाओं तथा प्लेटो, प्रोक्लस, प्रोतीनस और चाल्सिसके आयमब्लिखसके छिट-पुट छोटे-मोटे वाक्योंका आश्रय लिया है। जितना शास्त्रार्थ इस एक बातपर है उतना बहुत कम साहित्यिक समस्याओंपर हुआ है। इस शास्त्रार्थकी दो धाराएँ हैं—१. अरस्तूका तात्पर्य क्या था? और २. त्रासद तथा अन्य काव्य-रूपोंके उद्देश्योंकी व्याख्या करनेके सम्बन्धमें इस कथार्सिसके भावकी क्या उपयोगिता है? जिस युगमें भी अरस्तूके तात्पर्यको समझानेका प्रयत्न किया गया है उसमें केवल तत्कालीन युगकी प्रवृत्तियोंको ही प्रतिबिम्बित किया गया है अत: इस भावनाको भी विचारोंके इतिहासमें महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए, क्योंकि इसके आधारपर सरलतासे अनेक सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंका प्रवर्त्तन किया गया। सोलहवीं शताब्दिमें इटलीमें इसके तीन मुख्य अर्थ लगाए गए जिनमेंसे दो तो नवोदासीनतावादी (नियो-स्टोइसिज़्म) मतके साथ बहुत मिलते-जुलते थे और वे नैतिक अर्थ लगाते थे। तीसरे मतवाले वे लोग थे जो रुचि-परक मनोविज्ञानका आरोप करते थे। रावरतेली (१५४८), कास्तेलवेत्रो (१५७०), हेइनसियस (१६११), वौसियस (१६४७), आदिने एक कठोरीकरणका (हार्डनिंग) सिद्धान्त उपस्थित किया कि 'दुःख और हत्या आदिके दृश्य देखकर दर्शकके हृदयकी भय और करुणाकी दुर्बल वृत्तियाँ कठोर हो जाती हैं और वह ऐसे दृश्योंको सहन करनेके योग्य कठोर-हृदय हो जाता है।' कौर्नीलने अत्यन्त शक्तिशाली किन्तु सन्देहवादसे भरा हुआ सिद्धान्त अपने द्वितीय व्याख्यान १६०७ में समझाते हुए कहा है कि 'त्रासदीय करुणा या तो दर्शकको आत्मरक्षाके लिये भयभीत करती है या उसके हृदयमें आशंका उत्पन्न करती है, क्योंकि वह त्रासदके चरित्रका पतन देखकर और उस पतनके कारण देखकर स्वयं अपनी दुर्बलताओंकी उससे तुलना करने लगता है और यह परिणाम निकालता है कि चरित्रकी अमुक-अमुक दुर्बलताके कारण अमुक नायकको यह कष्ट या दुष्परिणाम भोगना पड़ा तो मुझे भी ऐसा ही भोगना पड़ेगा। यह भाव-

संस्कार धीरे-धीरे चलकर भय उत्पन्न करके मनुष्यके मनमें पापोंसे शङ्कित होनेका संस्कार उत्पन्न कर देता है जिससे मनुष्य अपने भावोंको अपने वशमें करनेका निश्चय करके अपना परिष्कार कर लेता है।' तीसरा सिद्धान्त बहुत कुछ आत्मोपचारका सिद्धान्त है जिसे हम आत्म-सुधारका सिद्धान्त भी कह सकते हैं और जो आजकलके कथार्सिसके सिद्धान्तसे बहुत मिलता-जुलता भी है। इस सिद्धान्तने मिन्टर्नो और मिल्टन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियोंको भी प्रभावित किया। इसका कथन है कि 'भावोंका बोझ उतारकर रख देना ही वास्तविक रेचन (कथार्सिस) है।' उनका मत है कि 'समान भाव अपने समान भावको निकाल फेंकते हैं अर्थात् यदि हम भयानक दृश्य देखें तो हमारे हृदयमें रहनेवाला भयका भाव भाग खड़ा होता है।'

किन्तु रेचनका तात्पर्य यही है कि हमारे मनमें जो करुणा, भय आदि अनेक भाव दबे पड़े हैं उन्हें साधारण जीवनमें व्यक्त होनेका अधिक अवसर नहीं मिलता और इसलिये हम यही नहीं जान पाते कि इनका उचित प्रयोग कहाँ करना चाहिए, किन्तु त्रासद देखकर उनका उचित परिष्कार हो जाता है, उनके प्रवाहका उचित मार्ग बन जाता है और इस प्रकार भावका रेचन हो जाता है।

### क्या नटमें भी रसानुभूति ?

कुछ लोगोंका मत है कि 'जो बड़े अभिनेता अपने भावमय अभिनयसे जनताको प्रभावित करते हैं वे स्वयं उस भावका अनुभव नहीं करते।' इसीको 'पारोदोक्से सुर ला कोमीदिएँ' या 'अभिनेताकी रसोपेक्षिता' कहते हैं, अर्थात् अभिनेता अपनी भूमिकाके चरित्रके सम्बन्धमें अपने मस्तिष्कमें कुछ धारणा बनाए रहता है जिसकी वास्तविक प्रकृतिका सीधा अनुकरण न करके वह उससे भी आगे 'आदर्श प्रतिकृति' (मौदेल आइदिआल) के रूपतक पहुँच जाता है अर्थात् वह जो कुछ करता है—स्वर, भावभङ्गी, हर्ष और विषाद, सब कुछ एक विशेष नियमित कलाकृति बनाकर व्यक्त करता है। इन सब बातोंका स्वयं रसानुभूतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वह मूलचरितके साथ एकात्मता स्थापित न करके केवल उसका भाव प्रस्तुत करता है।

### दर्शकोंका सहयोग

कहा जाता है कि त्रासद नाटक देखनेसे दर्शकपर किसी चरित्रकी महत्ता (एग्ज़ाल्टेशन) अंकित होती है, अर्थात् वह विरोधी शक्तियोंके विरुद्ध

नायकके साहस-प्रदर्शन आदिको देखकर एक विशेष प्रकारका गर्व, आत्मविश्वास और आशा ग्रहण करता है। उसके मनमें यह भावना होती है कि मृत्यु भले ही अपरिहार्य हो किन्तु मनुष्यके अस्तित्वके लिये ऐसे वीरताके क्षण ही स्पृहणीय हैं। किन्तु जनताके द्वारा अभिनेताओंको भी प्रोत्साहन मिलता है। जिस नाटकमें अधिक भीड़ होगी उसमें अभिनेताओंको अधिक प्रोत्साहन मिलता है और उनके समवेत हर्षोल्लास या भावाभिव्यञ्जनसे अभिनेताओंको तात्कालिक समर्थनकी सन्तुष्टि भी मिलती रहती है। कुछ लोगोंने जनताको नाट्यभागी बनानेके लिये ऐसे नाटक लिखे हैं जिनमें दर्शक भी सह-अभिनेता होते हैं, जैसे कचहरीके दृश्यमें नाट्यभवनमें उपस्थित दर्शक ही 'कचहरीके कमरेमें उपस्थित भीड़के लोग' मान लिए जाते हैं। कभी-कभी कुछ नाटकोंमें अभिनेताओं और दर्शकोंमें द्वन्द्वतक दिखलाया जाता है। जहाँ अभिनेताओंके साथ स्वर मिलाकर दर्शक गाने लगते हैं या उनके गायनके साथ ताल देने लगते हैं वहाँ तो दर्शकोंका सहयोग प्रत्यक्ष ही प्रतीत होता है। कुछ नाटकोंमें उत्तेजित भीड़का प्रतिनिधित्व करनेके लिये एक अभिनेता ही दर्शकोंमें बैठा दिया जाता है जैसे रौलेन्डके 'डान्टन' नाटकमें अभियोगके समय एक व्यक्ति चिल्लाता और हुल्लड़ मचाता है, जिसकी देखा-देखी दर्शक भी चिल्लाने लगते हैं और यही नहीं ज्ञात होता है कि दर्शक कौन है, अभिनेता कौन है। अतः इस प्रकारके दृश्योंका विधान नाटकमें नहीं करना चाहिए।

## सम्भवता ( विएन्सेयाँसे )

फ्रान्समें नाटकके सम्बन्धमें सत्यतुल्यता या सम्भवता ( व्रैसेम्ब्ल्याँ ) के सिद्धान्तके अन्तर्गत एक कलात्मक औचित्य ( आर्टिस्टिक कन्विन्सिङ्गनेस ) है। इसके दो रूप हैं—१. विएन्सेयाँ एक्स्तर्ने, अर्थात् जिस युगके नाटकीय चरित्र लिए जायँ उनके कार्य उस युगके अनुरूप हों। २. इन्तर्ने, अर्थात् नाटकमें जो पात्र जिस चरित्रका दिखाया जाय वह आद्यन्त एकरूप ही हो।

## सम्वाद ( डायलौग )

योरोपमें नाटकीय सम्वाद तीन रूपोंमें रूढ हो गया है—१. बीसवीं शताब्दितक सम्वाद केवल पद्यात्मक रहा, यद्यपि कभी-कभी एलिज़ाबेथीय नाटकोंमें साधारण जनता और प्रहसनोंके पात्रोंसे गद्य भी कहलाया गया है। किन्तु आजकल कुछ नाटककारोंको छोड़कर शेष गद्यमें सम्वाद ही लिखने

लगे हैं। २. सम्वाद बड़े लम्बे-लम्बे और वास्तविक जीवनके व्यावहारिक संवादोंकी अपेक्षा अधिक जोड़-तोड़के और तुले हुए होते रहे हैं, अर्थात् उनमें एक कोई बात कहता है तो दूसरा भी उसी आवेगमें, वैसे ही बलसे उसी जोड़की चोट करता है। पुनःस्थापन ( रेस्टोरेशन ) कालमें संवाद छोटे और अधिक सन्तुलित होने लगे। एक पात्रके मुखसे एक पद या पंक्ति और उसकी जोड़में दूसरेके मुखसे भी एक कड़ी या एक पंक्ति पर्याप्त और सुन्दर प्रतीत समझी जाने लगी। इन संवादोंमें जोड़-तोड़के वाग्वैदग्ध्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तरोंकी श्रृङ्खला बनी रहती है। ३. इनमें स्वाभाविकताका पूर्ण अभाव होता है। जार्ज बर्नर्ड शौके अधिकांश नाटकोंमें बड़े लम्बे-चौड़े शास्त्रार्थ हैं जिनसे जी भी ऊब जाता है और जो कभी-कभी तीखे भी होते हैं। इसीलिये बर्नर्ड शौके नाटक 'शास्त्रार्थी-नाटक' ( डिस्कशन ड्रामाज़ ) कहलाते हैं। किन्तु जितने भी अच्छे प्रभावशाली नाटक हैं उन सबमें इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि प्रत्येक पात्रकी योग्यता और प्रकरण या अवसरकी आवश्यकताके अनुकूल यथासम्भव स्वाभाविक बातचीत हो, जिसमें जोड़-तोड़के उत्तर या तुल्य तर्क हो, श्लिष्ट फबतियाँ हों और इस प्रकार संवाद चलाया जाय कि आङ्गिक तथा सात्त्विक अभिनय-व्यापारकी अपेक्षा केवल संवादसे ही नाटकीय द्वन्द्वोंका निर्वाह हो।

### स्वतःकथन ( मोनोलोग या सौलीलौकी )

एकाकी प्रवचन या स्वगत कथन ( मोनोलोग और सौलीलौकी ) का अर्थ है 'वह कथन जिसे व्यक्ति अकेला बोल रहा हो'। किन्तु एकाकी प्रवचन ( मोनोलोग ) वास्तवमें एक प्रकारका साहित्यिक नाट्य है और स्वगत-कथन ( सौलीलौकी ) उसका एक अङ्ग है। मोनोलोगका तात्पर्य है कि 'एक व्यक्ति कुछ कह रहा है।' मोनोलोगमें किसी एक व्यक्तिकी पूर्ण और लम्बी बात हो जाती है। यह सौलीलौकीसे इस बातमें भिन्न है कि यह मोनोलोग किसीको सम्बोधित करके कहा जाता है। यह 'मोनोलोग' प्रार्थना, स्तोत्र, शोक-निवेदन, प्रेमगीत या अचानक बातचीत ( एपौस्ट्रौफी ) द्वारा किसी उपस्थित या अनुपस्थित व्यक्ति या वस्तुको सम्बोधन करके कहा जाता है। यह स्वतन्त्र रूपसे एक पूर्ण कलाकृति है।

स्वगत-कथन ( सौलीलौकी ) में एकाकी व्यक्ति ही इस प्रकार बोलता या

कार्य करता है मानो अकेला हो। यह एक प्रकारसे अपना मानसिक वार्त्तालाप है जिसका उद्देश्य किसी अन्यको प्रभावित करना नहीं है। सन्त औगस्टाइनने अपने मन तथा अपने विवेकमें होनेवाले विवादोंकी शृङ्खलाके लिये 'लीबेर सौलीलौकीयोरम' शब्द चलाया था। इस अर्थमें 'सौलीलौकी' वह मानसिक शास्त्रार्थ है जिसमें दो नैतिक पक्ष स्वयं उपस्थित किए जाते हैं। इसका उद्भव सन्देहसे होता है। इसमें एकान्तताका अधिक महत्त्व समझा जाता है। किन्तु अब तो 'सौलीलौकी'में सब प्रकारके विचार और इच्छाओंका समावेश होने लगा है और प्राय: यह प्रथम पुरुष ( मैं ) से प्रारम्भ किया जाता है। नाटकीय रूढिके अनुसार इसका एक विशेष रूपसे भी प्रयोग हो सकता है, जैसे किसी बातकी व्याख्या या वर्णन करने, दृश्य प्रारम्भ या समाप्त करने या जोड़ने, चरित्रोंका विवरण देने या कथावस्तुका सारांश कहनेके लिये। मोनोलोगके समान यह पूर्ण भी हो सकता है और उसका अंश भी।

### चेतनाधारा

उपर्यङ्कित एकाकी प्रवचनका सबसे नया प्रयोग है 'चेतनाधारा' ( स्ट्रीम औफ़ कौन्शसनेस ) या 'एकाकी अन्त:प्रवचन'। ऐसे अन्त:प्रवचनके कलात्मक प्रयोग तथा कौशलकी उपयुक्तताके सम्बन्धमें बड़ा वाद-विवाद छिड़ गया है। इसका उद्देश्य यह है कि चेतनामें जिस क्रमसे विचार, परिज्ञान, इन्द्रिय-ज्ञान, भावनाएँ और स्मृतियाँ आती हैं उसकी अनवरत धाराका सीधा परिचय पाठकको प्राप्त हो।

### जनान्तिक ( एसाइड )

जनान्तिकके सम्बन्धमें हम प्रारम्भमें ही बहुत कुछ कह आए हैं किन्तु योरोपके नाटकोंमें इसका इतना प्रयोग हुआ कि आरभटी नाटक ( मैलोड्रामा ) में तो यह एक कौशल ही बन गया किन्तु अब तो प्राय: प्रहसनात्मक प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये ही इसका प्रयोग किया जाता है। इसका दूसरा कोमलतम रूप वह है जहाँ कोई पात्र, स्वगत भाषणके समान प्रत्यक्षत: उच्च स्वरसे सोचता है ( लाउड थिंकिंग )। प्राय: नये प्रकारके चेतनाधारा ( स्ट्रीम औफ़ कौन्शसनेस ) वाले तथ्यातिरेकवादी नाटकों और उपन्यासोंमें इसका अधिक प्रयोग होता है, जैसे—'क्या वह सचमुच मुझसे प्यार करती

है ? किन्तु आजके व्यवहारमें तो उसने कोई ऐसा परिचय नहीं दिया। वह मेरी ओर मुँह करके क्यों नहीं बैठी ? मैंने जो फूल रक्खे थे उन्हें भी उसने नहीं उठाया। किन्तु जब मैंने उसकी स्वस्थताका समाचार पूछा तब तो उसने 'हाँ' कहा था। वह अपनी बड़ी बहनसे लजा रही होगी। उसकी माँ भी तो वहीं बैठी थी। पर ऐसा तो पहले भी कई बार हो चुका है' आदि।

### संयम ( रैस्ट्रेन्ट )

कुछ नाटकोंमें प्रायः बड़े कलाकारोंने अत्यन्त गम्भीर तथा तीव्र भावावेगके क्षणोंमें अत्यन्त वाक्संयम दिखलाकर भावावेगको तीव्रतम कर दिया है। शेक्सपियरने प्रायः ऐसे अवसरपर एक अत्यन्त साधारण वाक्य कहलाकर दर्शकोंकी भावना उत्तेजित कर दी है। मरणोन्मुख 'किङ्ग लियर' केवल इतना ही कहता है कि 'भाई ! बटन तो खोल दो।' दर्शक तत्काल उस परिस्थितिकी भीषणता जान लेते हैं और समझ लेते हैं कि जीवनमें ये चाहे जितने दुर्बल रहे हों किन्तु ये लोग अत्यन्त पौरुषके साथ मरना भी जानते हैं। ऐसी और भी अनेक परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें इस प्रकारके प्रयोगसे कलामें व्यञ्जना आती है।

### कथावस्तु

कथावस्तुके सम्बन्धमें हम ऊपर बता आए हैं कि कथाका कोई व्यापार असङ्गत और असम्भाव्य न हो। प्रत्येक घटना ऐसी हो जो नाटकीय कथाके देश, काल और पात्रोंकी मर्यादाके पूर्णतः अनुकूल हो। यदि उसमें कुछ अलौकिक तत्त्व जैसे भूत, प्रेत आदि लाने भी हों तो उन्हें इस प्रकार लाना चाहिए जिससे वे देश-काल-पात्रकी भावनासे भिन्न न प्रतीत हों।

### नाटकका नामकरण

नाटक या उपन्यासका नामकरण करनेसे पहले संविधानकी रचना कर लेनी चाहिए क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि संविधानककी रचना करते समय न जाने उसमें कौनसे ऐसे व्यापार आ जायँ जिनके कारण नामकरणमें सुविधा हो जाय। नाम ऐसा रखना चाहिए कि उपन्यास या नाटकका विषय स्पष्ट हो जाय। इसके सम्बन्धमें ये सिद्धान्त हैं—

१. नायक-प्रधान या पात्र-प्रधान नाटकका नाम उस नायक या पात्रपर ही हो, जैसे अभिनवभरतका 'सेनापति पुष्यमित्र'। यदि नायक-नायिका दोनों

प्रधान हों तो दोनोंके सम्मिलित नामसे भी नाटकका नामकरण हो सकता है जैसे 'विक्रमोर्वशीयम्' ।

२. व्यापार-प्रधान नाटकमें मुख्य घटना या व्यापारपर नामकरण हो, जैसे 'वेणीसंहार, उरुभङ्ग, सुभद्रा-हरण, कीचकवध' । प्रहसन या व्यंग्यात्मक नाटक ( सैटायर ) में व्यापार या घटनाके अनुसार ही नामकरण होना चाहिए, जैसे 'सूमके घर धूम' ।

३. जिन नाटकोंमें पात्र और घटना दोनों प्रधान हों उनका नामकरण पात्र और घटना दोनोंके अनुसार होना चाहिए, जैसे—'अभिज्ञान-शाकुन्तल' या 'स्वप्नवासवदत्ता' ।

४. यदि नाटकमें किसी जाति-विशेषकी वृत्ति दिखाई गई हो तो उस जातिके सङ्केतसे नामकरण करना चाहिए, जैसे 'नाईकी करतूत, कायस्थ-कौशल, मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' ।

५. उद्देश्य-प्रधान नाटकोंमें उद्देश्य या परिणामके अनुसार नामकरण करना चाहिए, जैसे 'विश्वास, कन्या-विक्रय, दीनके आँसू, प्रायश्चित्त, बलिदान, सत्यकी विजय' ।

६. कभी-कभी कुछ वस्तु या स्थान ही नाटकीय घटना या पात्रकी क्रियाके आधार होते हैं । ऐसी दशामें उन वस्तुओं या स्थानोंके अनुसार भी नाम हो सकते हैं, जैसे 'हीरेका हार, हाथी-दाँतका डब्बा, भोजन-पेटिका, रूमाल' ।

७. प्रतीकात्मक नाटक यद्यपि नाटकीय दृष्टिसे अत्यन्त गर्हित और हेय होते हैं किन्तु यदि कोई लिखना ही चाहे तो उसके नामसे उसके विषयकी ध्वनि स्पष्ट होनी चाहिए, जैसे 'प्रबोधचन्द्रोदय' ।

नाटक या उपन्यासके नाम इतने आकर्षक रखने चाहिएँ कि ग्राहक उसे देखनेके लिये आतुर और आकुल हो उठे, जैसे—'अङ्गदका पैर, हत्यारा, पिशाच, राक्षसका पिता, देवता, प्यारके आँसू, विश्वास-घात, प्रतिहिंसा, अत्याचार, सतीका शाप, आगकी चिनगारी, हृदय-मन्थन, जीवित समाधि, स्वर्गमें नरक, नरककी आग, उजड़ा हुआ स्वर्ग, नयनोंकी प्यास' आदि। इधर खण्डित वाक्योंमें या पूर्ण वाक्योंमें नामकरणकी प्रथा चल निकली है । यह भी अत्यन्त मनोहर है, जैसे 'आओ प्रियतम, मैं तुम्हारा हूँ, इधर न देखोगी ?

बादल बरसेंगे, घटा छा गई, ऊषा कब उदय होगी ? चलो दिल्ली, देश हमारा है, दुर्ग टूट रहा है, बोलो ! सखी बोलो ! बिजली चमक गई, जब तारे भी रोए थे, यह आपका पत्र है ? मैं आ गया रानी, वह सुनो हाहाकार, हृदयपर ताण्डव करो, धरती काँप उठी' आदि । स्नेहावेश, भय, अद्भुत, रौद्र तथा रोमाञ्चकारी घटनाओंसे भरे नाटकोंके लिये ऐसे नाम अधिक उपयुक्त होते हैं ।

## पात्रोंका नामकरण

हमारे यहाँ नामकरणके सम्बन्धमें भरतने नाट्यशास्त्रके उन्नीसवें अध्यायमें बताया है कि 'जो जिसका लिङ्गस्थ ( पुकारनेका ) नाम हो वही नाम नाटकमें रखना चाहिए, उसकी उत्पत्तिका बोधक नाम ( जैसे रामका दाशरथि ) नहीं रखना चाहिए । ब्राह्मणोंके नामके साथ शर्मा, क्षत्रियोंके नामके साथ वर्मा तथा गोत्र और कर्मके अनुरूप नाम रखना चाहिए । वैश्योंके नामके साथ दत्त' लगाना चाहिए ( जैसे धनदत्त ), राजाओं और रानियोंके नाम विजयवाची रखने चाहिएँ ( जैसे जयसिंह, विजया ), वेश्याओंके नाम दत्ता, मित्रा या सेना लगाकर रखना चाहिए ( जैसे सुदत्ता, चारुमित्रा, वसन्तसेना ), दूतियोंके नाम फूलोंपर रखने चाहिएँ ( जैसे मालती, माधवी, मञ्जरी ), चेटोंके नाम मङ्गलार्थक हों ( जैसे श्रीधर ), श्रेष्ठ लोगोंके नाम गम्भीर अर्थवाले हों ( जैसे ज्योतिर्धन ), शेष लोगोंके नाम उनके व्यवसाय, उनकी जाति और उनके आचरणके अनुसार रखने चाहिएँ ।' पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये अधिकांश नाम तो पुराण और इतिहाससे मिल ही जाते हैं, शेष नामोंका प्रयोग उन देशोंकी नाम-प्रकृति तथा पात्रोंकी वृत्तिके अनुसार ही करना चाहिए ।

## नाट्य-समीक्षा

अभीतक नाटकीय समीक्षा या तो नाट्य-रचना और नाट्य-प्रयोगके सिद्धान्तोंके प्रतिपादनतक ही परिमित रही या नाटकों और उनके प्रयोगोंपर किन्हीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आदर्शोंके अनुसार व्यक्तिगत निर्णयोंके रूपमें थी । आसदके सिद्धान्तोंका सर्वप्राचीन व्यवस्थित विश्लेषण अरस्तूके काव्यशास्त्रमें मिलता है । अरिस्तोफ़नेसने अपने 'मेंढक' ( फ्रौग्स ) में व्यंग्य-परिवृत्ति ( पैरीडी ) के रूपमें कुछ चलती-सी आलोचना दी है ।

रोममें भी महाकाव्य और त्रासदके रूपोंकी कवितापर विचार हुआ है। हौरेसने अपने 'आर्स पोएतिका'में पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन दिया है। सिसरो, क्विन्तीलियन और आउलस गेलियसकी रचनाओंमें भी नाटक और नाटककारोंके सम्बन्धमें कुछ विवेचन मिलते हैं। प्रारम्भिक ईसाई आलोचकोंने भी स्वभावतः नैतिक और धार्मिक दृष्टिसे नाट्यालोचन किया और ह्रासोन्मुख नाट्यशालाओंकी बढ़ती हुई विलास-प्रियता और स्वच्छन्दताका उन लोगोंने विरोध भी किया। पुनर्जागरणकालमें जब अरस्तूका काव्यशास्त्र मिल गया तबसे समीक्ष्यवादियोंने भाव-रेचन ( कथार्सिस ), सत्यतुल्यता या सम्भवता ( वैरीसिमिलीट्यूड ), तीनों एकत्व ( स्थान, समय और व्यापारका एकत्व ) की समस्याओंपर, तथा अरस्तूके सिद्धान्तके साथ हौरेसके विचारोंका सामञ्जस्य करने और उदात्तवादी नियमोंके साथ नये प्रयोगकी सङ्गति बैठानेको ही कई शताब्दियोंतक नाट्यालोचनका आधार बनाए रक्खा। सेन्ट-एवरेमौन्डने अरस्तूके करुणा और भयके रेचनके विरुद्ध 'भली-भाँति अभिव्यक्त आत्माकी महत्ता' को अधिक महत्त्व दिया।

इन मौलिक सिद्धान्तोंके साथ-साथ फ्रान्समें रङ्गशालाकी दृष्टिसे नाटकपर विचार होने लगा। मौलिएने 'आनन्द देना' ही नाटकका सबसे बड़ा नियम माना, प्रहसनमें 'समाजकी आलोचना' को ही ठीक समझा और शेक्सपियरकी शैलीके अतिरञ्जित अभिनयकी निन्दा करके स्वाभाविक शैलीका समर्थन किया। इस नाटकीय समीक्षामें अधिकांश नाटककारों, अभिनेताओं तथा रङ्गशालासे सम्बद्ध अन्य कार्य-कर्त्ताओंका ही हाथ रहा। इङ्गलैण्डके रैस्टोरेशन-कालमें 'फ्लौक्स कौर्नर'में नाटकीय समीक्षकोंका एक दल ही उठ खड़ा हुआ। किन्तु अठारहवीं शताब्दिमें पत्रोंमें की हुई आलोचना ही मुख्य रूपसे प्रभावशाली हुई यहाँतक कि कुछ पत्रोंने तो नाटकीय समीक्षाकी प्रणाली ही स्थिर कर दी।

नवोदात्तवादियोंके नियमोंके विरुद्ध जर्मनीमें झगड़ा उठ खड़ा हुआ, जहाँ शेक्सपियर ही नाटकीय पूर्णता और स्वतन्त्रताका प्रतीक मान लिया गया था। लैसिङ्गने नये राष्ट्रीय थिएटरकी जो समीक्षा ('हाम्बुर्गिशे ड्रामाटुर्गी' १७६७ से ६६ तक ) लिखी उसे ही वर्त्तमान नाटकीय समीक्षाका प्रारम्भ समझना चाहिए। हेगेलने अपने इस सिद्धान्तके अनुसार कि 'विरोध ही सब वस्तुओंको गति प्रदान करता है', 'त्रासदीय सङ्घर्ष'को नाटकीय व्यापारकी प्रेरणा-शक्ति माना है। इसके कारण अरस्तूके व्यापार-सिद्धान्तको फिर

नाटकमें प्रधानता मिल गई और श्लेगेल तथा कौलरिज दोनोंने इस सिद्धान्तको स्वीकृत कर लिया, गुस्टाव फ्रेटागने इसे पल्लवित किया और ब्रूनेतिएने अपने 'सङ्कल्प' ( वोलिशन ) के सिद्धान्तके साथ 'सङ्घर्ष' का सिद्धान्त मिलाकर इसे त्रासदसे आगे ले जाकर सब प्रकारके नाटकोंपर आरोपित कर दिया। विलियम आर्चरने इस 'द्वन्द्व' (कौन्फ्लिक्ट) को छोड़कर विषमावसर ( क्राइसिस ) को महत्त्व दिया। हेगेलके इन विचार-विस्तारोंका परिणाम यह हुआ कि इब्सन आदि पीछेके नाटककारोंने इनके सहारे नये नाट्य-कौशलोंका आविष्कार किया, यहाँतक कि बर्नर्ड शौने तो अपने नाटकोंमें भी इस प्रकारके विचार-सिद्धान्तकी व्याख्याको प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रकार हेगेलने सामाजिक नाटक और सामाजिक भावनाओं-द्वारा प्रेरित समीक्षाको जन्म दिया।

स्वैरवाद फिर भी चलता ही रहा। आलोचनाके क्षेत्रपर ए० डब्लू० श्लेगेलका 'अन्तर्वादकी श्रेष्ठताका सिद्धान्त' तथा 'अन्तःप्रेरणा' (इन्टय़ूशन), इन्द्रियोंके प्रभाव, ससीमका असीमके रूपमें रहस्यात्मक परिवर्त्तन' आदि भाव ही व्यापक रूपसे छाए हुए थे। उसका मत था कि 'वास्तविक संसारसे जो अनेक प्रकार ( टाइप्स ) या प्रतीक लिए जाते हैं, वे कविकी निजी अन्तःप्रेरणाओं ( इन्ट्यूशन ) को उस स्पष्ट सीमामें पहुँचा देती हैं जिसे कला कहते हैं और जो प्रकृतिकी नग्न प्रतिकृति होती है। कविकी ये अन्तः-प्रेरणाएँ अत्यन्त महान्, रहस्यात्मक और दार्शनिक होती हैं और यही कारण है कि उनके सहारे वास्तविक संसारके प्रतीक कला-रूपमें परिणत हो जाते हैं।' ये सिद्धान्त स्वैरवादी नाटक-सिद्धान्तसे इतना मेल खाते थे कि एक ओर मैटरलिङ्क, यीट्स, सोलोगुब और आन्द्रेयेव जैसे नव स्वैरवादी नाटककारोंके लिये नया क्षेत्र खड़ा हो गया और दूसरी ओर स्ट्रिंडबर्ग तथा गेओर्ग कैसरके अभिव्यञ्जनावादके लिये भी नया क्षेत्र खुल गया।

कौलरिजने भी इसी मतका समर्थन किया जिसका वर्त्तमान समीक्ष्यवादी 'एलार्डिस निकल, जार्ज जीन नैथन्, स्टार्क यङ्ग, जोसेफ़ वुड क्रच'ने तथ्यवाद तथा सामाजिक नाटकोंका विचार करते हुए प्रयोग किया है। ह्यूगोने फ्रान्सीसी नाटकके नवोदात्तवादी रूपवादको यह कहकर ललकार दिया कि 'संसारमें किसी बातके लिये नियम और आदर्श नहीं हुआ करता।' उसने नाटकको 'पृथ्वीकी वस्तु' अर्थात् स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न किया। उसने लिखा है कि 'हमें उदात्त और हास्यास्पद दोनों प्रकारका वैसा ही सुन्दर समन्वय

करना चाहिए, जैसा हम जीवन और सृष्टिमें पाते हैं।' दूसरा व्यक्ति था जर्मन नाटककार फ्रीडरिख़ हैबेल, जिसने स्वैरवादी नाटककारोंपर टिप्पणी करते हुए प्रारम्भिक तथ्यवादका समर्थन किया।

इङ्गलैण्डमें विलियम हैज़लिट्ने 'मौर्निंग क्रौनिकल' पत्रमें प्रकाशित नाटकोंकी आलोचना करनेके बदले खेले हुए नाटकोंकी आलोचना प्रारम्भ की, जो प्रथा आजतक भी पत्रोंमें चली आती है।

धीरे-धीरे सामाजिक नाटक और तथ्यवादके पक्षमें समीक्षा बल पकड़ने लगी। समाधानयुक्त समस्या-नाटक ( थीसिस प्ले ) का पक्ष ग्रहण करके 'एलेग्ज़ान्द्रे द्यूमा'के पुत्रने फ़्रान्सीसी आलोचक सारसेको एक खुली चिट्ठी लिखी, जिसमें उसने कहा कि 'व्यक्तिगत और सामूहिक सुधारके लिये 'उपादेय' नाटक ही अत्यन्त आवश्यक साधन है।' उसकी इस प्रेरणापर औगिए और इब्सनने नाटक लिखे और स्वयं उसने भी अपने उपदेशात्मक नाटकोंमें अपना पक्ष स्थापित किया। परिणाम यह हुआ कि प्रसिद्ध व्यवसायी फ़्रान्सीसी आलोचक फ़्रान्सिस्के सारसेका मुँह ही बन्द हो गया जो सुरचित, सङ्घर्षपूर्ण, सुचारु नाटकोंका विशेषतः 'स्क्राइबे' और 'सारदू' के नाटकोंका समर्थक था। दर्शकोंको सन्तुष्ट करनेवाले नाट्य-कौशलके फेरमें सारसेने अपना 'सीन आफ़ेयेर' ( जनताको प्रसन्न करनेवाला वह दृश्य जिसमें जनता ऊब न जाय और जिसमें जनताकी रुचिका ध्यान हो ) का सिद्धान्त निकाला। विलियम आर्चरने इसका अनुवाद करके इसका नाम रक्खा था औपचारिक दृश्य ( आब्लीगेटरी सीन )। सन् १८७३ में एमील ज़ोलाने फ़्रान्समें 'नाटकीय स्वाभाविकता' या 'प्रकृतिवाद'का प्रवर्त्तन किया। व्यवसायी आलोचक 'जीन जूलियन' ने उसका समर्थन करते हुए कहा कि 'वास्तविक जीवन, मनोवैज्ञानिक विवेचन, विस्तृत सूक्ष्म विश्लेषण तथा मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तियोंके प्रदर्शनसे युक्त स्वाभाविक नाट्य-कौशलसे नाटक रचे जाने चाहिएँ जो सुरचित नाटककी जटिलताओं और रचना-कौशलोंसे मुक्त हों।' अपनी नाट्य-शालाके असफल हो जानेपर नाट्य-प्रयोक्ता 'आन्त्वाँ' भी समीक्षक बन बैठा किन्तु उसने अपने अत्यन्त प्रकृतिवादको थोड़ा शिथिल कर दिया। जर्मनीमें जिस विद्वत्तापूर्ण और स्वैरवादी प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व गुस्टाव फ्रेटाग कर रहा था उसके विरुद्ध 'डर्चे' नामकी साहित्यिक गोष्ठीने 'बर्लिन' और 'म्युनिख़' में केवल आलोचना ही नहीं की वरन् रङ्गमञ्चपर स्वयं

व्यावहारिक प्रयोग करके दिखलाए। इनमेंसे ब्राह्मने पहला प्रकृतिवादी रङ्गमञ्च जर्मनीमें स्थापित किया, जिसमें उसने अभिनय, नाट्य-निर्देश और नाटकपर अपने आलोचना-सिद्धान्तोंका प्रयोग किया। स्केन्डीनेवियामें इब्सन, स्ट्रिन्डबर्ग और ब्योर्नसनने नाटकीय समीक्षा प्रारम्भ की जिन्हें तत्कालीन प्रसिद्ध उदार समीक्षवादी गेओर्ग ब्रान्डिसका प्रबल समर्थन मिला हुआ था। रूसमें भी उदार समीक्षकोंने प्रकृतिवादका ही समर्थन किया जिसका प्रवर्त्तन और जिसकी अभिव्यक्ति 'मौस्को आर्ट थिएटर' के संस्थापक स्तानिसलवस्की और दान्तशेन्को द्वारा हुई, जिन्होंने अभिनय, दृश्य-विधान और नाट्य-निर्देशपर भी विशेष ध्यान दिया और तथ्यवादी आलोचना भी लिखी।

अमरीकामें यह तथ्यवाद बहुत धीरे और बहुत पीछे आया, जहाँ हैन्री जेम्स और विलियम डीन हौवेल्सने थोड़ा-थोड़ा समर्थन किया, किन्तु विलियम विन्टरने उसकी कसकर भर्त्सना की। वह विक्टोरिया-युगका नीतिवादी था इसलिये उसने इब्सनका बड़ा विरोध किया। दूसरी ओर ब्रान्डेर मैथ्यूज़ और क्लेटन हैमिल्टन केवल विचारोंके बदले नाटकीय प्रभावकी ओर अधिक सरुच थे। बीसवीं शताब्दिके प्रथम दशकोंमें जौर्ज जीन नैथन् और लुडविग ल्युइसोह्नने उस स्वाभाविकतावादका स्वागत किया, जो हाउप्टमान और ओनीलके प्रारम्भिक नाटकोंमें प्रकट हुआ था। इङ्गलैण्डमें इब्सनका प्रबल समर्थन बर्नर्ड शौने किया जिसने स्वैरवादको बड़ी खरी-खोटी सुनाई। उसने मिथ्या प्रशंसकों (बार्डोलेटर्स) को कोसते हुए कहा कि 'शेक्सपियर'के नाटकोंको रङ्गशालामें काम करनेवालेकी दृष्टिसे जाँचना चाहिए।' वह 'कलार्थे कला' का भी पोषक था अर्थात् वह सामाजिक दृष्टिसे सङ्गत और प्रभावशील नाटकका पक्षपाती था। उसने विभिन्न पत्रोंमें जो नाट्य-समीक्षाएँ लिखीं उन्होंने नाटकीय समीक्षाके क्षेत्रमें नया मानदण्ड ही स्थापित कर दिया। विलियम आर्चर, जे० टी० ग्रीन, नाट्यकार सर आर्थर विङ्ग पिनरो और हेनरी आर्थर जोन्सने अत्यन्त समीक्षवादी शक्तिसे तथ्यवादको प्रदीप्त किया। ये लोग बर्नर्ड शौकी अपेक्षा अधिक उदार थे इसलिये इनका प्रभाव भी शौकी अपेक्षा अधिक रहा। ए० बी० वाक्ले, क्लीमेन्ट स्कौट और मैक्स बीरबोह्मने अपने शिष्ट तथा तर्कपूर्ण शब्दावलीसे नाटकोंकी समीक्षा प्रारम्भ की। यही प्रभाववादिताके साथ उदार मानदण्ड स्थापित करनेकी प्रवृत्ति ही आजकल इङ्गलैण्डमें प्रचलित समीक्षा-पद्धति है।

यद्यपि ब्रिटेनकी समीक्षा-पद्धतिमें उदारवादिता है किन्तु शौका प्रशंसक होते हुए भी नाटककार समीक्षक सेन्ट जौन इर्विन क्रान्तिकारी नाटक तथा सिद्धान्त दोनोंका विरोधी है। उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तिम दशकमें प्रकृतिवादकी अतिरेकताओं और बन्धनोंके विद्रोह-स्वरूप तथा वर्त्तमान नाटकोंमें बहुत कुछ अति साधारण अनगढ़ शैलीकी भरतीने एक नव-स्वैरवादी या प्रतीकात्मक समीक्षाको जन्म दिया। इस सिद्धान्तको कुछ तो रिचार्ड वैगनरके नाट्य-सिद्धान्तोंसे समर्थन मिला और कुछ फ्रान्सकी प्रतीकात्मक कवितासे। उसके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्त्तक कुछ तो मैटरलिङ्क जैसे नाटककार थे जिन्होंने स्थिर, अचञ्चल, गम्भीर नाटकोंका आदर्श स्थापित किया और कुछ यीट्स जैसे लोग थे जिन्होंने रङ्गमञ्चमें कविता लानेका प्रयत्न किया। इनके अतिरिक्त सिन्जे, एशले ड्यूक्स, सोलोगुब, एवरीनोव आदि तथा दृश्य-विधायक गोर्डन क्रेग अडोल्फी अप्पिया जैसे व्यक्ति थे जिन्होंने कला-रङ्गशाला-आन्दोलन ( आर्ट-थिएटर मूवमेन्ट ) को अनुप्राणित किया। अलार्डिस निकल अभीतक भी आध्यात्मिक और काव्यात्मक नाटकके पक्षपाती हैं। इटलीमें पिरान्देलो, चियारेली और सान सेकन्दो जैसे लोग अत्यलंकृत शैलीके समर्थक हैं। जर्मन अभिव्यञ्जनावादके समर्थक भी इसी प्रकृतिवाद-विरोधी दलमें गिने जा सकते हैं।

तथ्यवादियों और तथ्यवाद-विरोधियोंका विभिन्न पक्ष स्पष्ट करते हुए 'एलेक्ज़ेन्डर वाकशी'ने रङ्गशालाके दो भेद माने हैं—१. प्रतिनिधित्वपूर्ण (रिप्रेज़ेंटेशनल) अर्थात् अधिक यथार्थतापूर्ण तथा भ्रान्तिपूर्ण (इल्यूज़निस्टिक), २. आदर्श ( प्रेज़ेन्टेशनल ) अर्थात् वास्तविकतायुक्त, अभ्रान्तियुक्त, विशिष्ट-शैलीयुक्त तथा नियम-सिद्ध। आजके समीक्षक नाटककी भावना और उद्देश्यके अनुसार दोनों शैलियोंको ठीक समझते हैं। कमसे कम अमरीकी समीक्षामें तो यह बात ठीक ही है जहाँ उदारतावादी और प्रभाववादी समीक्षकोंकी ही प्रधानता है। इन लोगोंकी समीक्षा-पद्धतिके विरोधमें सन् १९३० में एक वामपक्षीय समीक्षा-पद्धति चली जिसके आचार्य थे अनिता ब्लौक, जौन हौवर्ड लासन, इलियानोर फ्लेक्सनोर। जौन गैसनरने मध्यम मार्ग ग्रहण किया जिसने राजनीतिक परीक्षणका विरोध करके रङ्ग-कौशल तथा सार्वभौमताको आवश्यक बताया। साथ ही वह यह भी मानता है कि 'रङ्गशालाको सामाजिक बना देना चाहिए।' सोवियत रूसकी नाटकीय समीक्षा शुद्ध रूपसे मार्क्सवादी है, यद्यपि

अपने लेखों और छोटे भाषणोंमें मक्सिम गोर्कीने नाटकको मानवित करनेकी भी प्रेरणा दी है। नात्सीवाद प्रारम्भ होनेसे ठीक पहले जर्मनीमें आलफ्रेड केरके लेखोंमें सुन्दर बौद्धिक उदारतावाद मिलता है और जुलियस बाब तथा कुर्ट पिन्थसके लेखोंमें सामाजिक लोकतन्त्रात्मक समीक्षा प्राप्त होती है।

वर्त्तमान नाटकीय समीक्षाकी मुख्य प्रवृत्ति यह है कि रङ्गशालाका इस दृष्टिसे गम्भीर परीक्षण किया जाय कि 'उसमें अनेक कलाओंका संयोजन किस प्रकार किया गया है, अनेक शैलियोंको ग्रहण करके उन सम्भावनाओंकी खोज करनी चाहिए जिनसे कि हम रङ्गशालाको अपने समयके जीवनके लिये उपयुक्त और सङ्गत बना सकें।' आजकल समाचारपत्र और रेडियोवालोंका बोलबाला है, इसलिये ये लोग जैसा चाहें वैसा नाटकको बना-बिगाड़ सकते हैं, यद्यपि यह प्रयत्न किया गया है कि इन लोगोंपर थोड़ा अङ्कुश रहे। रूसमें यह नीति बना ली गई है कि 'तबतक किसी नाटककी समीक्षा नहीं छापी जाती जबतक वह थोड़े दिन चल न ले।' इसके अतिरिक्त नाटक प्रारम्भ करनेसे पहले ऐसे समालोचकोंको बुलाकर उनसे परामर्श भी कर लिया जाता है।

### नाटककी अभिनव भावना

देनिस दिदरो ( १७१३ से १७८४ ) नामक फ्रान्सके प्रसिद्ध नाटककार, दार्शनिक और सम्पादकने एक नये प्रकारकी अभिनेय रचना 'द्रामे'का प्रवर्त्तन किया। उसका कहना था कि 'इस नाटकका उद्देश्य शिक्षा देना है तथा गुणोंके प्रति प्रेम और दुर्गुणोंके प्रति घृणा उत्पन्न करना है।' वह चाहता था कि 'नाटकका प्रयोजन सामाजिक और दार्शनिक विवेचन हो, वह दार्शनिक प्रचारका साधन बने, विश्व-विद्या-प्रसारकोंके भावोंको प्रचारित करनेका साधन बने और इस प्रकार स्वाभाविकता और विवेकके आधारपर नया समाज स्थापित करनेमें सहायक हो।' इसीलिये उसने अपने नाटकोंमें व्यक्तियोंको चित्रित करनेके बदले जीविका-वृत्तियों ( प्रोफ़ेशन ) को स्थान दिया है। उसका कहना है कि 'नाटककारको साधारण मनुष्यकी अपेक्षा सामाजिक मनुष्यको अधिक ध्यानमें रखना चाहिए और जैसे फ्रान्सीसी त्रासदोंमें चरित्रके प्रकार ( टाइप्स औफ़ कैरेक्टर्स ) चित्रित किए जाते हैं वैसे ही व्यवसायके प्रकारको चित्रित करना चाहिए।' वह चाहता था कि 'भावों और आवेगोंकी सीधी अभिव्यक्ति हो, अर्थात् आवेगात्मक भाषणोंका

स्वाभाविक अक्खड़पन और उजड्डपन ज्योंका त्यों रक्खा जाय, लम्बे भाषण छोटे कर दिए जायँ, अधिक अभिव्यञ्जक भाव, सामूहिक अभिनय और 'स्थिर दृश्य' ( टेबलो ) या मूकाभिनय ( पैन्टोमीम ) के समान पात्रोंके समूहको चित्रमय रूपमें उपस्थित करनेकी अधिक योजना हो।' दिदरोने दृश्य-विधान, रङ्ग-निर्देश, दृश्य-सज्जा और अभिनयके सम्बन्धमें जो विस्तारसे विचार किए उनके कारण नाटककी भावना ही बदल गई। उसने बताया है कि 'नाटक पढ़नेकी वस्तु नहीं है, रङ्गमञ्चपर खेलनेकी है।'

## अभिनीत नाटककी समीक्षा

किसी नाटकका प्रयोग और उस नाटकका पढ़ना दो अलग वस्तुएँ हैं। जब हम किसी प्रयोग किए हुए नाटकपर विचार करते हैं तब हम उस विशेष कार्यकी समीक्षा करते हैं जिसमें नाट्य-निर्देश, अभिनय, दृश्य-विधान, वेष-भूषा, रङ्ग-प्रदीपन तथा नाटकके अन्य तत्त्व मिलकर एक सम्मिलित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। विलियम आर्चरने गम्भीर नाटककी समीक्षाके लिये सिद्धान्त बताया है कि नाटकके समीक्षकको तीन प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए—१. क्या उस नाटकने रूढ-परिवर्त्तन अथवा भद्दे अनुकरणसे पूर्णतः मुक्त होकर जीवनके दृश्य और श्रव्य रूपकका शुद्ध अनुकरण या प्रतिरूप उपस्थित किया है? २. क्या कथा इस प्रकार विकसित हुई और चरित्र इस प्रकार उपस्थित किए गए हैं कि वे रङ्गमञ्चके पूरे साधनोंका श्रेष्ठतम उपयोग करके जनतामें अत्यन्त प्रभावशाली रूपमें रुचि, आशा, आकस्मिक और प्रत्यक्ष अनुभूतिके ऐसे भावोंको उत्पन्न कर सके हैं जो नाटक-द्वारा अवश्य उत्पन्न होने ही चाहिएँ? ३. ऐसा तो नहीं है कि नाटकमें कहा कुछ जा रहा हो और अर्थ कुछ और हो? जो कुछ कहा जा रहा है, क्या वह आचार और विचारकी दृष्टिसे व्यावहारिक है? नाटकमें विनोद-मात्र ही है या उससे हमें कुछ अनुभव भी हुआ है? अर्थात् हमें यह देखना चाहिए कि उस नाटकको देखकर हमारे ज्ञान और सदाचारमें कुछ वृद्धि हुई है या नहीं?

कुछ लोगोंका कहना है कि 'कुछ नाटक तो विशेष रूपसे मनोविनोद करके ज्ञान तथा सदाचार भी प्रदान करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल मनोविनोद ही करते हैं। सबका अलग-अलग स्तर या परिधि होती है। इस प्रकार प्रत्येक नाटकको उसकी विशेषताके साथ समझना और परखना चाहिए।'

नाटकीय आलोचक

अत्यन्त अनुभवी और नाट्य-शास्त्रके सब अङ्गोंके पण्डित लुई जूएने बताया है कि 'साहित्यिक और नाटकीय आलोचनामें बड़ा अन्तर है। नाटककी आलोचनाका सम्बन्ध सजीव वस्तुसे है। वह ऐसा सावयव पदार्थ है जो प्रयोग या अभिनयके समय ही अपने पूर्ण श्रेष्ठत्वमें प्रस्तुत होता है। उसका सम्बन्ध केवल एक कलासे नहीं वरन् अनेक कलाओंसे है जिसमें सङ्गीत, गीत, दृश्य-कलाएँ ( चित्रकला आदि ), नृत्य और अभिनय सभी हैं। लिखा हुआ नाटक तो नाट्यके जटिल स्वरूपका एक छोटासा अंग है और वही ऐसी सामग्री है जिसकी साहित्यिक समीक्षा हो सकती है। वह महत्त्वका भाग अर्थात् नाटकका ढाँचा ही होता है किन्तु फिर भी वह पूर्ण नाट्य नहीं होता। इसलिये वास्तविक नाट्य-समीक्षकको 'अभिनयका समीक्षक' या 'नाट्य-शालाका समीक्षक' कहना चाहिए क्योंकि उसकी समीक्षाकी श्रेष्ठता इसीमें है कि वह श्रेष्ठ नाट्य-प्रयोगको समझे और उसका गुण परखे। उसमें 'रङ्गमञ्च-वृत्ति' ( थिएट्रिकल सेन्स ) की भावना वैसी ही होनी चाहिए जैसे मूर्त्तिकारमें रूपकी, चित्रकारमें रङ्गकी और सङ्गीतकारमें श्रुतिकी, क्योंकि जबतक उसमें यह भावना न होगी तबतक न तो वह नाटकको ठीक परख सकता, न इस जटिल कलाके ठीक रूपकी समीक्षा कर सकता।' उसका काम दुहरा हो जाता है। उसे जानना चाहिए कि १. क्या श्रेष्ठ है, या उसमें क्या गुण हैं? वह केवल इसलिये नहीं कि वह उसे अच्छा लगता है वरन् इसलिये कि उसका मस्तिष्क, उसका अनुभव, उसकी शिक्षा उसे इस योग्य बना देती है कि वह निर्णय कर सके कि इसमें जितने कलाकारोंका समन्वय हुआ है उनके उद्देश्य क्या थे तथा कितनी पूर्णता और सहयोगिताके साथ उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध किया है? २. यह बात कहाँतक कलाके उद्देश्योंको पूर्ण करती है? क्या वह कलाकी सीमाओंका विस्तार करती है? उसकी परिधिको बढ़ाती है? और अनुभव तथा प्रयोगके लिये नये मार्ग खोलती है? ३. जो नाटक प्रस्तुत किया गया है उसमें कौनसा तत्त्व ऐसा है जिसका उद्देश्य अत्यन्त सुखकर रूपसे सिद्ध हुआ है? लिखे हुए नाटकसे निकाल देने योग्य वे कौन-कौनसे गुण हैं जो शिक्षा ठीक न दी जानेके कारण या भद्दे अभिनयके दुर्गुणोंसे दब गए हैं? ४. किसी मौलिक कलाकारने किसी चलतेसे दृश्यको किस प्रकार शक्ति और अर्थ प्रदान किया है? यह सब करनेके लिये उसे

स्पष्टतः रङ्गमञ्चके रूपके साधारणसे अनुभवके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानना चाहिए—१. उसे रङ्गमञ्चकी पृष्ठभूमिका अर्थात् उन सभी धाराओंका ज्ञान होना चाहिए जिन्होंने विभिन्न युगोंकी करोड़ों भावनाओं, आचार-विचारों, अभ्यासों, रूढ़ियों, विश्वासों और स्वप्नोंको बहाकर आजके रङ्गमञ्चतक ला पहुँचाया है। २. उसे रङ्गमञ्चकी प्रयोग-समस्याओंका भी परिज्ञान होना चाहिए कि उसमें कितना श्रम लगता है? उसके श्रमिकोंकी क्या समस्याएँ हैं? रङ्गमञ्च कैसे बनता है? कितने भागोंमें उसका कार्य होता है? नाटकका चुनाव, अभिनेताओंका चुनाव, उनकी शिक्षा, रङ्गमञ्चका निर्णय, वेश-भूषा तथा मुखराग, रङ्गप्रदीपन, प्रेक्षागृह, जनताको एकत्र करनेके लिये विज्ञापन, बैठानेकी सुविधा आदि कार्य किस प्रकार होते हैं। ३. उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि नाटकमें कौनसी ऐसी बातें आवश्यक हैं जो जनताको मन्त्रमुग्ध और तन्मय किए रह सकती हैं, अर्थात् उसे जनताकी मनोवृत्ति, उनकी आवश्यकता, उनकी रुचि और प्रवृत्तिका ज्ञान होना चाहिए और उसके साथ ही यह भी जानना चाहिए कि ये दर्शक कहाँसे आ रहे हैं, अर्थात् ये गाँवके हैं या नगरके और यदि नगरके भी हैं तो किस वृत्ति और संस्कारके हैं। यह सब उसे जानना तो चाहिए किन्तु जैसे ही वह नाटकीय प्रयोगकी पहली रात्रिको परदेके सामने बैठे वैसे ही उसे यह सब भूल जाना चाहिए और उसी उत्सुकताके साथ उस रहस्य-भरे परदेकी ओर देखना चाहिए जैसे एक प्रेमी अपनी प्रेमिकाके लिये प्रतीक्षा करता हुआ उत्सुकता, आशा और प्रसन्नतासे गद्गद और उत्कण्ठित हुआ रहता है।

ज्यों ही नाटक समाप्त हुआ कि समीक्षाका कार्य झटसे उपस्थित हुआ। कभी-कभी तो समीक्षकसे यह आशा की जाती है कि नाटक समाप्त होनेके कुछ ही घण्टोंके भीतर उसकी समीक्षा पत्रोंमें प्रकाशित हो जाय। इस प्रकार पत्रकारिताने समीक्षाके क्षेत्रपर आधिपत्य जमा लिया है और इस कारण बेचारा समीक्षक भी साधारण सम्वाददाता या पुस्तक-समीक्षकके समान बन गया है, उससे समीक्षा, सत्य-शंसन और निर्णयात्मक समीक्षाका कार्य ही छीन लिया गया है। सच्चा समीक्षक चाहे अपने पास प्रतिलिपि करनेवालेको बैठाकर लिखे अथवा एक सप्ताह या महीनेमें जमकर लिखे किन्तु उसका कार्य यही होना चाहिए जैसा जौन मेसन ब्राउनने कहा है कि 'उसको ध्वज-वाहक या मार्ग-दर्शकके समान कार्य करना चाहिए। जहाँ

डण्डेकी आवश्यकता हो वहाँ उसे डण्डा भी चलाना चाहिए किन्तु उसका मुख्य कार्य यही होना चाहिए कि वह सब कलाकारोंके सर्वश्रेष्ठ प्रयत्नोंके सम्मिलित प्रभावका ही समीक्षण करे, अर्थात् अदृश्य प्रकाश डालनेवाले कलाकारसे लेकर उस अभिनेतातकका उसे ध्यान रखना चाहिए जिसपर प्रकाश पड़ता है। किन्तु उसका सबसे बड़ा उत्तरदायित्व तो यह है कि वह उन आगे आनेवाले प्रतिभाशाली नाट्य-कलाकारोंके लिये मार्ग-दर्शक और अग्रदूतका काम करे जो रङ्गमञ्चके लिये अपना जीवन देनेवाले हैं।'

**नाट्य-समीक्षण**

नाटककी समीक्षा हमें दो दृष्टियोंसे करनी चाहिए— १. नाट्य-रचना और २. नाट्य-प्रयोग। रचनाकी समीक्षामें हमें इन प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए—१. नाटककारने किस उद्देश्यसे नाटककी रचना की है? २. उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये नाटककारने किस प्रकारके, कितने पात्रों और किन घटनाओंका समावेश किया है? ३. किस प्रकार नाटककारने घटनाओं और पात्रोंके संयोजनमें कुतूहलका निर्वाह करते हुए पात्रों और घटनाओंका सामञ्जस्य स्थापित किया है? ४. जितने पात्रोंका प्रयोग किया गया है उनमेंसे कितने ऐसे हैं जिनका संयोजन अनिवार्य है? ५. कितने पात्र ऐसे हैं जिनके बिना भी नाट्य-व्यापार सरलता और सुचारु रूपसे सञ्चालित किया जा सकता था? ६. कितनी घटनाएँ ऐसी हैं जो पात्रोंके चरित्र-विकास और कथा-प्रवाहके सम्वर्द्धनकी दृष्टिसे उचित और अपरिहार्य थीं? ७. उनमेंसे कितनी घटनाएँ अनावश्यक, असम्भव और अस्वाभाविक हैं और कितनी घटनाएँ सम्भव, स्वाभाविक और आवश्यक हैं? ८. नाटककारने जो परिणाम निकाला है वह उसके उद्देश्यकी दृष्टिसे कहाँतक सङ्गत है? ९. उस घटनाके परिणामको किसी दूसरे रूपमें प्रस्तुत करनेसे उस उद्देश्यकी सिद्धि हो सकती थी या नहीं? १०. स्वाभाविक होते हुए भी वह परिणाम कहाँतक वाञ्छनीय और घटनाओंके प्रवाहके अनुकूल है?

विभिन्न पात्रोंके लिये प्रयुक्त की हुई भाषा-शैलीका भली प्रकार परीक्षण करते हुए नाट्य-समीक्षकको देखना चाहिए कि '१. विभिन्न श्रेणीके पात्र जिस भाषाका प्रयोग करते हैं वे उस श्रेणीके पात्रकी मर्यादाके अनुकूल हैं या नहीं? २. भाषाके प्रयोगमें सम्भावना और आवश्यकताके साथ-साथ स्वाभाविकता तथा औचित्यका विचार भी किया गया है या

नहीं ? ( औचित्यका तात्पर्य यह है कि सम्वादोंमें परस्पर जोड़-तोड़, उत्तर-प्रत्युत्तरकी सङ्गति और क्रम ठीक है या नहीं ? ) ३. उसका कितना अंश कथा-प्रवाहको आगे बढ़ाने तथा पात्रोंका चरित्र स्पष्ट करनेके लिये आवश्यक है ? ४. कितना भाग ऐसा है जिसे निकाल देनेसे नाटकके सौन्दर्य और कथा-प्रवाहमें किसी प्रकारकी कोई त्रुटि उपस्थित नहीं होगी ? ५. उस सम्वादको सुनकर सामाजिक या दर्शक उसे सरलतासे समझकर भली-भाँति उसका रस ले पावेंगे या नहीं ? अर्थात् उसमें इतना रस, विनोद, जोड़-तोड़के प्रत्युत्तर, प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण उक्तियाँ हैं या नहीं जिन्हें सुनते ही दर्शक या सामाजिक तदनुकूल प्रभावसे रस-मग्न हो जाय ?' वास्तवमें सम्वाद ही नाटककी प्राणशक्ति होती है । अभिनेताओंको अभिनय करनेमें और दर्शकोंको नाट्यका वास्तविक आनन्द लेनेमें सबसे अधिक सहायता सम्वादसे ही मिलती है । अत: सम्वादका परीक्षण इस दृष्टिसे नहीं करना चाहिए कि नाटककारने इसमें काव्य कितना भरा है, वरन् इस दृष्टिसे करना चहिए कि नाटककारने जिस उद्देश्यसे नाटक लिखा है उस उद्देश्यकी पूर्त्तिके निमित्त अभिनेताओंके सहयोगसे वह जो विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसकी सम्भावनाएँ सम्वादमें हैं या नहीं । इस दृष्टिसे परीक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि काव्य-कलाकी दृष्टिसे जो सम्वाद अत्यन्त भावपूर्ण और सरस प्रतीत होते हैं वे नाट्य-प्रयोगकी दृष्टिसे अत्यन्त नीरस और प्रभावहीन हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि गीत, नृत्य, वाद्य आदिका संयोजन कहाँतक, उचित, उपयुक्त और आवश्यक हुआ है ?

प्रयोगकी दृष्टिसे भी नाटककी परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि १. नाटककारने दृश्य-विधान इस क्रमसे रक्खा है या नहीं कि निर्बाध रूपसे नाट्य-प्रयोक्ता उन दृश्योंका सरलतासे विधान कर सके और उस दृश्य-क्रमसे नाटककी कथा-धाराका क्रम ठीक बनाए रक्खे ? २. नाटककारने जो रङ्ग-निर्देश दिए हैं वे असम्भव, अप्रयोजनीय, अस्वाभाविक और अप्रयुक्त तो नहीं हैं । प्राय: नाटककार या तो रङ्ग-निर्देश देनेमें अत्यन्त सङ्कोची होते हैं या इतने उदार होते हैं कि वे कई पृष्ठ रङ्ग-निर्देशमें रँग डालते हैं । ३. रङ्ग-निर्देशमें रङ्ग-व्यवस्थापकको दृश्य-सज्जाके लिये, नेपथ्य-विधायकको वेश और रूप-सज्जाके लिये, प्रकाश-विधायकको रंग-दीपनके लिये और

अभिनेताको अभिनयके लिये स्पष्ट, उचित और आवश्यक निर्देश मिले हैं या नहीं ? ४. नाटककारने अभिनेताके, वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये पर्याप्त सम्भावनाएँ उपस्थित की हैं या नहीं ? अर्थात् सम्वादोंमें उसने इतनी गति भरी है या नहीं कि अभिनेता उसके अनुसार अभिनय करते समय अपना सम्पूर्ण अभिनय-कौशल प्रदर्शित करके उचित नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर सकें अर्थात् नाटककारने व्यापार-योजना, क्रिया-योजना इतनी पर्याप्त रक्खी है या नहीं कि अभिनेता उनका अनुसरण करके नाटककार-द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके । प्रायः आजकल ऐसी प्रवृत्ति बन गई है कि जब हम किसी बड़े लेखककी कृतिका समीक्षण करने बैठते हैं तब उस लेखककी महत्कीर्त्तिका आतङ्क हमें तत्काल दबा बैठता है और हम समीक्षण करते-करते बलपूर्वक उसके दोषोंको भी गुण बतानेके लिये बाध्य हो जाते हैं । ५. समीक्षकको इस प्रकारके दुष्ट आतङ्कसे सदा बचे रहना चाहिए और उसे निष्पक्ष होकर यह देखना चाहिए कि यह जिन दर्शकोंके लिये लिखा गया है उनकी समझमें आ सकेगा या नहीं ? ६. इसका संविधानक या कथाक्रम ऐसा तो नहीं उलझा दिया गया है कि कथा समझनेमें ही दर्शकोंको कठिनाई हो ? ७. इसका दृश्य-विधान इतना अव्यवस्थित, असम्भव और दुरूह तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ता उसे प्रस्तुत ही न कर सके ? ८. उसका पात्र-विधान इतना जटिल तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ताको वैसे पात्र ही न मिल सकें ? ९. उसका सम्वाद-विधान ऐसा कठिन तो नहीं है कि अभिनेता उसमें अभिनयकी सम्भावनाएँ ही न पा सकें ? १०. सम्वाद इतना पाण्डित्य-पूर्ण तो नहीं है कि दर्शक तो दूर, स्वयं अभिनेता ही उसका अर्थ न समझ पावे ! ११. वह जिस प्रकारके रङ्गमञ्चके लिये लिखा गया है उसके लिये कहाँतक उपयुक्त है ? दर्शकोंपर उसका क्या मनोवैज्ञानिक या सांस्कारिक प्रभाव पड़ा है और वह कहाँतक सफल हो पाया है ? १२. उससे कोई अनैतिक या असामाजिक प्रभाव तो नहीं पड़ा है ? इतने प्रश्नोंका उत्तर देनेपर ही नाट्य-समीक्षा पूर्ण होती है ।

# महाकाव्य, नाटक और उपन्यास

यद्यपि अरस्तूने महाकाव्य और त्रासदकी तुलना करते हुए त्रासद (ट्रैजडी)को या गम्भीर नाटकको महाकाव्यसे श्रेष्ठ बताया है किन्तु काव्यके सभी रूप अपनी-अपनी श्रेणीमें श्रेष्ठ होते ही हैं। फिर भी यदि ग्राहकोंकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो निश्चय ही काव्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि महाकाव्य तो उन्हीं ग्राहकों, पाठकों और श्रोताओंको आनन्द दे सकता है जिन्हें काव्यकी परिपाटियों, भाषाकी सुन्दरताओं, शब्द और अर्थकी विशेषताओं, अलङ्कारों, व्यञ्जनाओं आदिका पूरा ज्ञान हो। कहानी और उपन्यास भी उन व्यक्तियोंको सन्तुष्ट करके आनन्द दे सकते हैं जिन्हें कमसे कम भाषा-ज्ञान अवश्य हो। किन्तु नाटक तो पढ़े और बे-पढ़े, पण्डित और मूर्ख सभीको समान रूपसे आनन्द दे सकता है। महाकाव्य और उपन्यास लिखनेकी अपेक्षा नाटक लिखनेमें अधिक कौशलकी आवश्यकता होती है। नाटककारको पग-पगपर सोचना पड़ता है कि कथाका कितना अंश लिया जाय? कितना छोड़ दिया जाय? कथाके पात्रोंमेंसे कितने पात्रोंका प्रयोग किया जाय? कौन-सी घटनाएँ प्रत्यक्ष दिखाई जायँ? किस घटनाकी सूचना-मात्र दी जाय? कितना सम्वाद रक्खा जाय? कौन-कौनसे व्यापार दिखाए जायँ कि नाटककी कथा पूर्ण होकर भी निश्चित अवधिके भीतर समाप्त हो जाय? अतः नाटककारको अनेक प्रकारके बन्धनोंमें बँधकर चलना पड़ता है। किन्तु महाकाव्यके रचयिताको इनमेंसे किसी प्रकारका बन्धन नहीं। वह मुक्त होकर चाहे जितने पात्रों, घटनाओं और वर्णनोंका संयोजन करे, उसे किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उसे अपने कथा-प्रवाह और वर्णनमें उदात्त भाषा-शैली, भावोंका सूक्ष्म विवेचन और अलङ्करण ऐसी रीतिसे संयोजित करने पड़ते हैं कि पाठकको केवल कथामात्रका ही बोध न हो वरन् वह कथाके

बीचमें आए हुए चरित्रों और स्थलोंके वर्णनसे भी अपने विचारोंको समृद्ध करता जाय, अपने ज्ञानका अभिवर्द्धन करता जाय तथा उस उदात्त शैलीके प्रभावसे वर्णन की हुई कथाके भीतर जो भाव-तत्त्व कविने निहित किया है उसके रससे भी भावित होता चला जाय। उपन्यासमें महाकाव्य और नाटक दोनोंसे कम कौशलकी आवश्यकता पड़ती है। इसमें यह भी आवश्यक नहीं है कि उदात्त अलंकृत भाषा-शैली या वर्णनोंका प्रयोग हो। उसे किसी प्रकारकी सीमामें भी बँधकर नहीं चलना पड़ता। उसका उद्देश्य तो यही है कि वह पाठकको निरन्तर आद्यन्त घटनाओंके प्रवाहमें फँसाए हुए बहाता ले चले। उपन्यासकारको यह भी सुविधा है कि वह चाहे जितने पात्र ले, जहाँ चाहे सम्वाद रक्खे, जहाँ चाहे जितना भी वर्णन करे, चाहे जितनी घटनाओंका योजन करे और उसे चाहे जितना बड़ा या छोटा बना दे। किन्तु नाटककारको दृश्य-विधानमें रङ्गमञ्चकी परिधि और साधनोंकी सीमा देखनी पड़ती है, समयकी परिमित अवधिके कारण घटनाओंको परिमित करना पड़ता है, पात्र कम रखने पड़ते हैं और व्यापार-विधान भी इस प्रकार बाँधना पड़ता है कि अभिनेता अनेक प्रकारके अभिनय और सम्वादके द्वारा कथाको अन्ततक बढ़ाए ले चलें। नाटककारको दर्शक, अभिनेता, नाट्य-प्रयोक्ता, रङ्गमञ्चकी परिधि और खेले जानेके समयका ध्यान रखकर नाटक लिखना पड़ता है। अतः इन सभी दृष्टियोंसे नाटक सर्वश्रेष्ठ तथा कठिन काव्य-रचना है।

महाकाव्य और कवितामें भी कौशलकी आवश्यकता होती है क्योंकि कविको काव्य-परिपाटी, छन्द, साहित्य-शास्त्र, मानव-स्वभाव, इतिहास आदिका अध्ययन करके वर्णन करना पड़ता है। अतः वह भी असामान्य कला है। उपन्यासमें इतना कौशल भी अपेक्षित नहीं। उसके लिये केवल मानव-वृत्तियोंका अध्ययन, रचना-कौशल और भावात्मक भाषा-प्रवाह जाननेकी आवश्यकता होती है।

अतः यह नहीं समझना चाहिए कि उपन्यास और नाटकमें केवल बड़ाई-छोटाईका तथा वर्णन और सम्वाद-मात्रका ही अन्तर है, शेष कथा, पात्र, घटना-संयोजन, उद्देश्य आदि बातोंमें दोनोंमें समान रूपसे रहते हैं। बहुतसे लोगोंने इन विषयोंको तत्त्व मानकर नाटक, उपन्यास और महाकाव्यकी तुलना कर दी है और बता दिया है कि तत्त्वकी दृष्टिसे इनमें केवल ऐसे मोटे-मोटे ही भेद हैं। किन्तु वास्तवमें इन तीनोंमें तात्त्विक अन्तर है—रचना-रूपका,

उनके निर्वाहका, रचना-कौशलका, परिमाणका, ग्राहकका और उद्देश्यका। अतः केवल बाहरी दृष्टिसे उनका अन्तर बताने और समझानेकी भूल नहीं करनी चाहिए।

### नाटक और एकाङ्की

आजकल नाटक और एकाङ्कीका बड़ा भेद किया जा रहा है और एकाङ्कीको एक अलग नाट्य-स्वरूप ही मान लिया गया है। यह भी बड़ा भारी भ्रम है। वास्तवमें एकाङ्की नाटकको न तो छोटा नाटक समझना चाहिए न नाटकका अङ्क समझना चाहिए, वरन् उसे एक पूर्ण नाटक समझना चाहिए जिसमें नाटककार किसी एक घटनामें आए हुए पात्रोंके द्वारा एक निश्चित भाव या परिणाम उत्पन्न करता है, जिसे वह बाह्य द्वन्द्वोंकी अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व-द्वारा अधिक व्यक्त करता है। एकाङ्की नाटकमें नाटककारका उद्देश्य केवल एक विशेष भाव, नीति, सिद्धान्त या परिणाम दिखाने-भरका ही होता है किन्तु नाटकमें कवि अनेक प्रकारके भाव, सिद्धान्त आदिका प्रदर्शन करके किसी एक निश्चित, नैतिक सार्वभौम अथवा उद्दिष्ट परिणामपर पहुँचता है। एकाङ्की नाटककी कालावधि भी दस मिनटसे लेकर पौन घन्टेतककी ही समझनी चाहिए किन्तु यदि अधिक भी हो तब भी उसके नाटकत्वमें अन्तर नहीं आता।

---

# पत्र-साहित्य

प्रायः पत्र उसे कहते हैं जो एक व्यक्ति उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं' के रूपमें किसी मध्यम पुरुष 'तुम'को सम्बोधित करके लिखता है। कभी-कभी दूतोंको भी पत्र लिखे जाते थे कि तुम अमुक स्थानपर जाकर अमुक-अमुक बात कहना किन्तु आजकलके पत्र प्रायः एक व्यक्ति-द्वारा किसी दूसरेको सम्बोधित होते हैं। लातिन आलङ्कारिकोंने दो प्रकारके पत्र बताए हैं—१. व्यक्तिगत पत्र (परसोनालिस) और २. व्यावसायिक पत्र (निगोशियालिश)। इन दोनों वर्गोंमें हम लेखकोंके मुख्य उद्देश्योंके अनुसार अनेक रूप पा सकते हैं—कथात्मक, व्याख्यात्मक, उपदेशात्मक, उत्तेजनात्मक, सान्त्वना-पूर्ण और प्रेम-सम्बन्धी। प्राचीन लेखोंमें इस प्रकारके और भी बहुतसे भेद गिनाए गए हैं। उपर्युक्त दो वर्गके पत्रोंके अतिरिक्त एक तीसरे वर्गके भी पत्र होते हैं जिन्हें खुले पत्र या लोक-पत्र (ओपिन लैटर) कहते हैं, जो लक्ष्य तो किए जाते हैं एक व्यक्तिकी ओर किन्तु उनका उद्देश्य सबको सूचित करना होता है। इसका रूप व्यक्तिगत पत्रका होता है किन्तु इसका प्रयोग व्याख्यात्मक या उपदेशात्मक होता है।

यूनानी भाषण-शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार मित्रोंके पत्रको ही साधारणतः सब प्रकारके पत्र-लेखनका आदर्श माना गया है और मित्रतापूर्ण बातचीतके सरल अनौपचारिक ढङ्गको ही पत्रशैलीका आदर्श माना गया है। देमेत्रियसने पत्रपर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखते हुए 'मैत्री-भाव' (फ़िलोफ़ोमेसिस) को पत्रका वास्तविक आधार माना है और कहा है कि 'पत्रमें सत्यता, सरलता, संक्षिप्तता और स्पष्टता होनेके साथ-साथ शैलीमें शोभा या लालित्य भी होना चाहिए और लेखबद्ध होनेके कारण उसमें वैसा चलतापन नहीं होना चाहिए जैसा बातचीत या सम्वादमें होता है। यदि सम्बोध्य व्यक्ति कोई महापुरुष या राजपुरुष हो तो उसकी मर्यादाके अनुरूप शैलीमें कुछ

उनके निर्वाहका, रचना-कौशलका, परिमाणका, ग्राहकका और उद्देश्यका। अतः केवल बाहरी दृष्टिसे उनका अन्तर बताने और समझानेकी भूल नहीं करनी चाहिए।

नाटक और एकाङ्की

आजकल नाटक और एकाङ्कीका बड़ा भेद किया जा रहा है और एकाङ्कीको एक अलग नाट्य-स्वरूप ही मान लिया गया है। यह भी बड़ा भारी भ्रम है। वास्तवमें एकाङ्की नाटकको न तो छोटा नाटक समझना चाहिए न नाटकका अङ्क समझना चाहिए, वरन् उसे एक पूर्ण नाटक समझना चाहिए जिसमें नाटककार किसी एक घटनामें आए हुए पात्रोंके द्वारा एक निश्चित भाव या परिणाम उत्पन्न करता है, जिसे वह बाह्य द्वन्द्वोंकी अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व-द्वारा अधिक व्यक्त करता है। एकाङ्की नाटकमें नाटककारका उद्देश्य केवल एक विशेष भाव, नीति, सिद्धान्त या परिणाम दिखाने-भरका ही होता है किन्तु नाटकमें कवि अनेक प्रकारके भाव, सिद्धान्त आदिका प्रदर्शन करके किसी एक निश्चित, नैतिक सार्वभौम अथवा उद्दिष्ट परिणामपर पहुँचता है। एकाङ्की नाटककी कालावधि भी दस मिनटसे लेकर पौन घन्टेतककी ही समझनी चाहिए किन्तु यदि अधिक भी हो तब भी उसके नाटकत्वमें अन्तर नहीं आता।

# पत्र-साहित्य

प्राय: पत्र उसे कहते हैं जो एक व्यक्ति उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं' के रूपमें किसी मध्यम पुरुष 'तुम'को सम्बोधित करके लिखता है। कभी-कभी दूतोंको भी पत्र लिखे जाते थे कि तुम अमुक स्थानपर जाकर अमुक-अमुक बात कहना किन्तु आजकलके पत्र प्राय: एक व्यक्ति-द्वारा किसी दूसरेको सम्बोधित होते हैं। लातिन आलङ्कारिकोंने दो प्रकारके पत्र बताए हैं—१. व्यक्तिगत पत्र ( परसोनालिस ) और २. व्यावसायिक पत्र (निगोशियालिश)। इन दोनों वर्गोंमें हम लेखकोंके मुख्य उद्देश्योंके अनुसार अनेक रूप पा सकते हैं—कथात्मक, व्याख्यात्मक, उपदेशात्मक, उत्तेजनात्मक, सान्त्वना-पूर्ण और प्रेम-सम्बन्धी। प्राचीन लेखोंमें इस प्रकारके और भी बहुतसे भेद गिनाए गए हैं। उपर्युक्त दो वर्गके पत्रोंके अतिरिक्त एक तीसरे वर्गके भी पत्र होते हैं जिन्हें खुले पत्र या लोक-पत्र ( ओपिन लैटर ) कहते हैं, जो लक्ष्य तो किए जाते हैं एक व्यक्तिकी ओर किन्तु उनका उद्देश्य सबको सूचित करना होता है। इसका रूप व्यक्तिगत पत्रका होता है किन्तु इसका प्रयोग व्याख्यात्मक या उपदेशात्मक होता है।

यूनानी भाषण-शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार मित्रोंके पत्रको ही साधारणत: सब प्रकारके पत्र-लेखनका आदर्श माना गया है और मित्रतापूर्ण बातचीतके सरल अनौपचारिक ढङ्गको ही पत्रशैलीका आदर्श माना गया है। देमेत्रियसने पत्रपर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखते हुए 'मैत्री-भाव' (फ़िलोफ्रोमेसिस) को पत्रका वास्तविक आधार माना है और कहा है कि 'पत्रमें सत्यता, सरलता, संक्षिप्तता और स्पष्टता होनेके साथ-साथ शैलीमें शोभा या लालित्य भी होना चाहिए और लेखबद्ध होनेके कारण उसमें वैसा चलतापन नहीं होना चाहिए जैसा बातचीत या सम्वादमें होता है। यदि सम्बोध्य व्यक्ति कोई महापुरुष या राजपुरुष हो तो उसकी मर्यादाके अनुरूप शैलीमें कुछ

उदात्तता आ ही जानी चाहिए ।' यही बात प्राचीन देमेत्रियस, सिसरो, सेनेका और जूलिअस विक्टरने भी लिखी है । मध्ययुगमें जब राजसी पत्र-व्यवहार बढ़ गया तब पत्र-लेखनके नियम भी बढ़ चले । इन नियमोंमें वह प्राचीन मैत्री-भाव और सरल शैलीवाली बात नहीं रही, उनमें व्यावसायिक पत्रों और व्यक्तिगत पत्रोंके लिये शैलीके साँचे बँध गए । हमारे यहाँ भी एक नियम बना हुआ था—

श्री लिखिए षट् गुरुनको, स्वामि पाँच रिपु चारि ।
तीन मित्र, दो भृत्यको, एक पुत्र अरु नारि ।।

इन नियमोंमें यह भी बताया गया है कि 'विशिष्ट व्यक्तियोंको लिखे गए पत्रोंकी शैलीमें उनके पद या मान-मर्यादाके अनुसार विशेषता ला देनी चाहिए ।'

### पत्र ( एपिस्टल )

यों तो पत्र ( एपिस्टल ) शब्दका प्रयोग पत्रके ही अर्थमें होता है किन्तु विशेषतः यह शब्द उन पत्रोंके लिये प्रयुक्त होता है जो गद्य या पद्यमें अत्यन्त सावधानी या कलासे लिखे गए हैं । पुनर्जागरण-कालमें ग्रन्थोंकी भूमिकाएँ पत्रके रूपमें लिखी जाती थीं, इसलिये कुछ दिनोंतक पत्रका अर्थ ही भूमिका हो गया, यहाँतक कि जो भूमिकाएँ पत्रके रूपमें नहीं लिखी जाती थीं उन्हें भी 'एपिस्टल' कहा जाने लगा ।

### पद्यबद्ध पत्र

पहले प्रायः लोग पद्यबद्ध पत्रोंका प्रयोग करते थे । हौरेसने भी अपने प्रसिद्ध ओविडके 'भावकतापूर्ण पत्र'में इसी शैलीका प्रयोग किया है । सत्रहवीं, अठारहवीं और बीसवीं शताब्दिमें भी ऐसे पत्र लिखे गए हैं । भारतमें भी पहले यही प्रणाली प्रचलित रही । छत्रसालने बाजीराव पेशवाको दोहा लिखा था—'बाजी-बाजी जात है बाजी राखहु आय ।' कवि पृथ्वीराजने महाराणाप्रतापको पद्यमें ही पत्र लिखा था । गोस्वामीजीकी विनयपत्रिका तो प्रसिद्ध ही है ।

### साहित्यमें पत्र

साहित्यके रूपमें पत्रका प्रयोग—१. शैलीके रूपमें, २. उपन्यास या नाटकमें प्रासङ्गिक पत्रके रूपमें, ३. साहित्यकारोंके पारस्परिक साहित्य-

गुणपूर्ण पत्र-व्यवहारके रूपमें, ४. प्रेमियोंके भावात्मक पत्रोंमें ५. गुरु-शिष्य या पिता-पुत्र ( पुत्री ) के पत्रव्यवहारके रूपमें तथा ६. सम्पादकको पत्रके रूपमें प्राप्त होते हैं। इनमेंसे सम्पादकको लिखे हुए पत्र दो प्रकारके होते हैं—१. किसी गम्भीर विषयकी सूचना, टिप्पणी, विरोध, खण्डन, समीक्षा आदिके रूपमें या २. 'चौबेका चिट्ठा' शैलीमें।

### पत्र-समीक्षा

पत्रके दो प्रमुख तत्त्व होते हैं—१. आत्मीयता और २. स्वाभाविकता, अर्थात् ऊपर दिए हुए किन्हीं भी प्रकारोंमें पत्र लिखे जायँ, उनमें यही विशेषता होनी चाहिए कि आद्यन्त आत्मीयता प्रकट हो, निबन्धवाली परता या पृथक्ताका भाव न हो और वह स्वाभाविक शैलीमें अर्थात् सरल, चुस्त, मुहावरेदार, आत्मीयतामें प्रयोग होनेवाले व्यङ्ग्य, चुटकुले आदिसे पूर्ण चुहचुहाती, मधुर, मनोहारिणी शैलीमें इस प्रकार लिखा जाय कि वह 'पत्र' ही समझा जाय, काव्य न समझ लिया जाय। कुछ लोगोंने पूरा उपन्यास या कहानी ही पत्रमें लिखी है। ऐसे पत्रोंमें भी उपर्युक्त दोनों गुण होने ही चाहिएँ किन्तु उनकी ग्रथन-शैली ऐसी हो कि बातोंकी निरर्थक आवृत्ति न हो पावे। पत्र लिखनेमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिए और ठण्डे मनसे लिखना चाहिए, आवेशमें कभी नहीं।

### पत्र-साहित्यकी समीक्षा

पत्र-साहित्यकी समीक्षा करते समय समीक्ष्यवादीको अग्राङ्कित प्रश्नोंका समाधान करना चाहिए—१. जिसे ( मित्र या शत्रुको ) पत्र लिखा गया है उसकी मर्यादाका ध्यान रक्खा या नहीं ? २. वह पत्र किस मानसिक स्थितिमें लिखा गया और वह मानसिक स्थिति पत्रमें किस प्रकार व्यक्त की गई है ? ३. अपनी बात लेखकने किस कौशलसे व्यक्त की और उस कौशलका क्यों प्रयोग किया ? ४. उसकी शैली कहाँतक आत्मीयतापूर्ण और स्वाभाविक है ? ५. उसके पढ़नेपर लेखकका उद्दिष्ट प्रभाव व्यक्त होता है या नहीं ?

यह आश्चर्यकी बात है कि पत्र-साहित्यका उतना विकास नहीं हो पाया जितना होना चाहिए था यद्यपि विश्वमें जितना कुछ लिखा गया है उसका अधिकांश पत्र ही है।

# निबन्ध

'निबन्ध' ( ऐस्से ) वास्तवमें क्या है यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है । साधारणतः गद्यमें किसी एक निश्चित विषयपर लिखा हुआ छोटासा लेख ही निबन्ध कहलाता है । यदि कोई बीचमें रेखा खींचकर उसके एक ओर रूप-सज्जा, बाह्य विवरण और रुचिको बौद्धिक पक्षके रूपमें रख दे और दूसरी ओर अनौपचारिक या काल्पनिक अनुभवमें प्रवृत्त सात्विक वृत्ति रख दे तो पहली ओरके एक छोरपर विवेचन ( ट्रीटाइज़ या मोनोग्राफ़ ) रक्खे जायँगे और दूसरी ओर व्यक्तिगत निबन्ध विनोदपूर्ण चित्रण ( पर्सनल प्लेफ़ुल स्केच ) का रूप धारण करेंगे । इस क्रमसे यदि हम एक ओरसे दूसरी ओर चलें तो पहले औपचारिक निबन्ध अर्थात् जीवन-चरितात्मक, ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और साधारण व्याख्यात्मक निबन्ध होंगे, बीचमें चलकर सम्पादकीय लेख, ग्रन्थ-परिचय, पत्रिका और समाचार पत्रोंके लेख होंगे, मध्यसे लेकर दूसरे छोरतक चरित्र-चित्रण (कैरेक्टराइज़ेशन), प्रभावात्मक लेख, व्यक्तिगत निबन्ध, विनोदपूर्ण निबन्ध और चित्रण होंगे । इसे हम निम्नलिखित मानचित्र-द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—
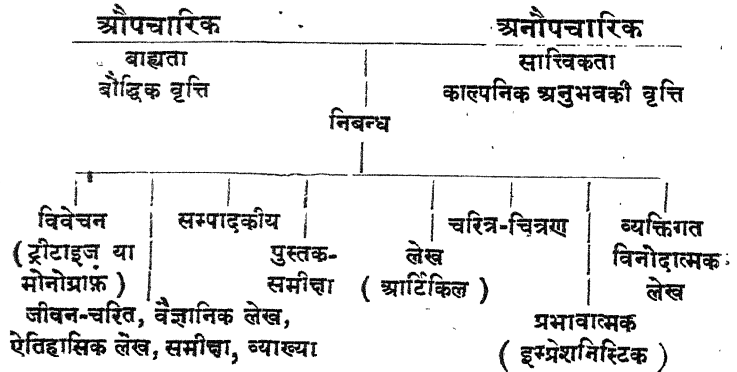
साहित्यिक दृष्टिसे निबन्धके अन्तर्गत केवल जीवन-चरितात्मक, ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, व्यक्तिगत, परिचित, विनोदपूर्ण और चित्रण आदि व्यवस्थित रूप ही आते हैं। इन सब लेखोंमें संक्षेप-वृत्ति और विषयकी परिमिति ही महत्त्वकी होती है। इनमेंसे जो औपचारिक (फ़ौर्मल) मण्डलमें हैं वे विषयको एक विशेष क्रमसे चलाते हैं और जो अनौपचारिक (इन्फ़ौर्मल) मण्डलके हैं वे स्वतन्त्र रूपसे विचारोंका सामञ्जस्य करते हैं। यह सामञ्जस्य प्रायः भावुकता, कल्पना और सनकके आधारपर होता है। इसमें प्रायः अभिव्यक्तिके ढङ्ग या उसकी श्रेष्ठतापर ही अधिक ध्यान रहता है।

प्राचीन लेखकोंने भी इस प्रकारकी रचनाएँ की हैं किन्तु उन्हें निबन्ध नहीं कहा गया। प्लेटोके सम्वाद, थियोफ्रेस्टसके चरित्र, प्लिनी और सेनेकाके पत्र, प्लूतार्कके नैतिक लेख, सिसरोके विवाद, मार्क्स औरीलियसके एकान्त-विचार, अरस्तूके लेख, ये सब आज निबन्ध (ऐस्से) के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं। 'ऐस्से' शब्दका अर्थ है 'प्रयास', जो स्वयं अपूर्णता और अस्थिरताका द्योतक है। इस शब्दका प्रथम प्रयोग मार्च सन् १५७१ में माइकेल दि मौन्तेनने अपने 'दोष-स्वीकरण' (कन्फ़ेशन्स) की टिप्पणियोंके शीर्षक-रूपमें किया था। उन टिप्पणियोंकी सम्वादात्मक रूपरेखा तथा उनकी आत्मीयताने ही परिचित या व्यक्तिगत निबन्धकी शैली निश्चित कर दी थी। उसने इन विषयोंपर विचार किए हैं—'हमारी इच्छाएँ सङ्कटोंसे परिवर्द्धित हैं', 'पिताओंका बच्चोंके प्रति प्रेम', 'सुस्ती', 'मिथ्याभिमान' आदि।

फ्रान्सिस बेकनके निबन्ध (१५९७) संक्षिप्त, तीक्ष्ण, साधिकार और मौन्तेनके सौन्दर्यसे हीन हैं। वे शुद्ध व्याख्या हैं। दोनों लेखक उद्धरण, उदाहरण और अलङ्कारोंका अधिक प्रयोग करते थे जिसमें बेकन तो इस विषयमें बहुत आगे बढ़ गया है।

'सावधिक निबन्ध' (पीरिओडिकल ऐस्से) का प्रवर्त्तन किया डेनियल डीफ़ोने (१७०४), उसका विकास किया रिचार्ड्स स्टीलने अपने 'टेटलर' में (१७११) और उसका प्रयोग किया एडिसनने 'स्पैक्टेटर' में (१७११, १२, १४)। उसका प्रभाव योरोपमें बहुत दूर-दूरतक फैला। एडिसनने स्पैक्टेटरके लेखोंको दो भागोंमें बाँट दिया—१. गम्भीर निबन्ध और २. सामयिक पत्र। दूसरे प्रकारके पत्रोंमें सनकभरे, विनोदपूर्ण, अल्प व्यंग्यपूर्ण, नागरिकताके भावोंसे पूर्ण तथा सरल शैलीसे पूर्ण वे लेख थे जो

आजतक भी व्यक्तिगत या विनोदपूर्ण निबन्ध समझे जाते हैं। इनमें पाठकगण लेखककी विचार-प्रवाहिता तथा स्वतन्त्र विचार-शीलता ढूँढ़ लेते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं मानो उन्होंने लेखकको अचानक पकड़कर उसकी सब बातें सुन ली हों। इस गुणमें ऐसी आत्मीयताकी आवश्यकता होती है जो यद्यपि असङ्गत तो प्रतीत होती है किन्तु बड़े ढङ्गसे सजी रहती है। व्यक्तिगत निबन्धवाले भी अनुभवका उतना ही प्रयोग करते हैं जितना ज्ञानका और उनमें भी निर्णय, रुचि और मौलिकता दिखाई पड़ती है। इस प्रकारके व्यक्तिगत निबन्ध उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दिमें इङ्गलैण्ड और अमेरिकामें बहुत लिखे गए।

इंग्लैण्डके विक्टोरिया-युगमें तथा फ़्रांस और जर्मनीमें उन्नीसवीं शताब्दिमें गम्भीर और नियमित निबन्ध बहुत अधिक लिखे गए, विशेषतः आलोचनात्मक या ऐतिहासिक प्रकारके। उस शताब्दिमें और वर्त्तमान युगमें विभिन्न देशोंमें पत्र-पत्रिकाएँ ही इन निबन्धोंके लिये आधार बनीं क्योंकि उन्हें छोटे ही निबन्धोंकी चाह थी। फ़्रान्समें साहित्यिक आलोचनाके क्षेत्रमें इस प्रकारका निबन्ध बहुत चला। १९०० के पश्चात् स्पेनमें बहुत लोगोंने बहुत प्रकारके निबन्ध लिखे। यूनामोनोने असम्भवाभास, छाया और स्वयं-परीक्षणके निबन्ध लिखे, आर्टेगा ईगासेने अत्यन्त गम्भीर विचार और सावधान शैलीमें लिखे। हमारे इस भीड़-भाड़के युगमें भी नियमित राजनीतिक निबन्ध, विश्लेषण, स्पष्टीकरण, भविष्यवाणी और कार्य-क्रम या नीतिके रूपमें बहुत लिखे जा रहे हैं किन्तु व्यक्तिगत निबन्ध अब समाप्त हो चले हैं।

किन्तु वास्तविक निबन्ध वही होता है जिसमें लेखक किसी मनमें उठे हुए भावात्मक विचारको दार्शनिक रूपसे तत्त्व-निरूपणकी शैलीसे व्यक्त करे, जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी 'कविता क्या है', 'क्रोध', 'करुणा' आदि। शेष प्रकारके लेख उद्दिष्ट होते हैं। वे सब समीक्षाके अन्तर्गत ही आते हैं जिनका विवरण पीछे दिया ही जा चुका है।

**वार्त्ता (प्रोपोस)**

फ़्रांसमें प्रोपोका अर्थ है बातचीत। किन्तु अतिसंक्षिप्त निबन्धोंको भी 'प्रोप' कहते हैं जो किसी एक विचारको प्रकाशित करनेमात्रके लिये लिखे जायँ। अब तो यह नया समीक्षाका रूप ही बन गया है, विशेषतः ऐलेनके 'ला

प्रोपो'में जिसमें लगभग आठ सौ शब्द होते हैं और जो ढाई सहस्र शब्दवाले फ्रांसीसी प्रवचन ( कौज़री ) का उलटा होता है ।

साधारणत: निबन्ध वह साहित्य-रूप है जो न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, जो गद्यात्मक हो, जिसमें किसी विषयका अत्यन्त सरल चलता-सा विवरण हो, विशेषत: उस विषयका वर्णन हो जिसका स्वयं लेखकसे सम्बन्ध हो । तात्पर्य यह है कि निबन्धमें किसी विषयपर लेखककी व्यक्तिगत भावनाओं, अनुभवों और विश्वासोंका ही विवेचन हो । प्रसिद्ध निबन्धकार डौक्टर जौन्सनने निबन्धको 'अनियमित और बिना पचा हुआ लेख' कहा है । इसपर आपत्ति करते हुए कुछ लोगोंने कहा है कि 'अनियमितता तो मानी जा सकती है किन्तु मस्तिष्कसे निकले हुए विचारको बिना पचा हुआ अर्थात् उचित मानसिक विवेचनसे हीन कहना ठीक नहीं प्रतीत होता । इसके बदले यदि कहा जाय कि अनुभव और गम्भीर ध्यानका संक्षिप्त और लघु परिणाम ही निबन्ध है तो अनुचित न होगा क्योंकि मौन्तेन, ऐडिसन या लैंगडके निबन्धोंको बिना पचा हुआ नहीं कहा जा सकता । हाँ, यह अवश्य है कि सेनेकाके पत्रोंको हम निबन्ध नहीं मान सकते, जैसा बेकनने बताया है ।'

कुछ लोगोंने भूलसे निबन्धोंकी श्रेणी गिनाते हुए तीन प्रकारके निबन्ध बताए—१. कथात्मक ( नैरेटिव ), २. वर्णनात्मक ( डेस्क्रिप्टिव ), ३. विचारात्मक ( रिफ़्लेक्टिव ) । इनमेंसे कथात्मक और वर्णनात्मक लेख वास्तवमें निबन्ध नहीं होते, वे तो कथा या वर्णन ही होते हैं अत: उन्हें निबन्ध समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए क्योंकि निबन्धमें शुद्ध रूपसे मनमें उठे हुए किसी विचारका विवेचन होता है । इस दृष्टिसे केवल वे ही वर्णन निबन्धके अन्तर्गत आते हैं जिनमें लेखक उन वर्णनोंके आधारपर स्वयं चिन्तन करके नये विचार उपस्थित करना चाहता है । किन्तु यदि उनमें केवल वर्णन ही वर्णन हो और विचारका अभाव हो तब उसे निबन्ध नहीं कहा जा सकता ।

### निबन्धके रूप

जबसे मौन्तेनने निबन्धका प्रवर्त्तन किया तबसे जितने प्रकारके चिन्तनात्मक लेख लिखे गए, उन सबको हम पाँच श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं—
१. व्याख्यात्मक निबन्ध, जिसके अन्तर्गत वे सब निबन्ध आते हैं जिनमें लेखकने

किसी विषयके विभिन्न पक्षोंका साधिकार विवेचन किया हो अर्थात् जिनमें उसने विशेषतः अपने अध्ययनसे अनेक आचार्योंके मतसे पुष्ट करके किसी विषयकी मीमांसा की हो। सामाजिक तथा साहित्यिक समस्याओंके लिये व्याख्यात्मक निबन्ध ही लिखे जाते हैं। २. विचारात्मक निबन्ध, जिनमें लेखक स्वतः अपने अनुभव और चिन्तनसे किसी विषयका तर्कपूर्ण विवेचन करता हो। प्रायः दार्शनिक विषयोंके लिये विचारात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं। ३, गवेषणात्मक निबन्ध, जिनमें लेखक किसी नवीन मौलिक विचार या विषयको प्रस्तुत करके उसके विभिन्न पक्षोंका विस्तारसे विवेचन करता है। इसीके अन्तर्गत वे निबन्ध भी आते हैं जिनमें किसी प्राचीन सिद्ध विषयका विवेचन नई दृष्टि या नये अर्थके साथ किया गया हो। ४. भावात्मक निबन्ध, जिनमें लेखक किसी विषय, वस्तु या व्यक्तिके प्रति अनुरक्ति या विरक्तिके कारण भाविकतापूर्ण भाषामें उसकी निन्दा अथवा प्रशंसा करता हो। ५. समीक्षात्मक निबन्ध, जिनमें लेखक किसी साहित्यिक या दार्शनिक विषयका सूक्ष्म अध्ययन करके उसके विभिन्न पक्षों और अङ्गोंका विश्लेषण करके उसकी श्रेष्ठताकी स्थापना करता हो और तटस्थ होकर उसके गुणोंका सैद्धान्तिक समर्थन करता हो।

### व्यक्तिगत निबन्ध

इधर थोड़े दिनोंसे व्यक्तिगत निबन्ध (पर्सनल ऐस्सेज) का प्रचार चला है। इसका तात्पर्य यह है कि लेखक केवल अपनी दृष्टिसे अर्थात् अपने मनपर पड़े हुए प्रभावकी दृष्टिसे ही किसी विषयका निरूपण करता है और इस फेरमें नहीं पड़ता कि दूसरे उस विषयके सम्बन्धमें क्या सोचते हैं। इन निबन्धोंमें केवल अपनी भावानुभूतिका ही परिचय दिया जाता है और उसमें यह प्रवृत्ति भी रहती है कि मैं जिस बातको ठीक समझता हूँ वही वास्तवमें ठीक पक्ष है और उसका सबको अनुगमन करना चाहिए। इधर कुछ लोगोंने निबन्धको एक साहित्यिक आत्मविनोदके रूपमें भी प्रयुक्त किया, जैसे जी० के० चैस्टर्टन और ई० वी० लूकसके निबन्ध। इनके अतिरिक्त जो समीक्षात्मक और साहित्यिक निबन्ध लिखे गए उन्हें समीक्षाके अन्तर्गत ही मानना चाहिए, निबन्धके अन्तर्गत नहीं।

### निबन्धके तत्त्व

निबन्धके पाँच तत्त्व होते हैं—१. विचार, २. विचारोंके समर्थक तर्क,

३. विचारोंके विरोधी तर्क, ४. विचारोंका समन्वय और ५. मत-स्थापना। प्रत्येक निबन्धकारको इन तत्त्वोंका सङ्ग्रह करनेके अनन्तर आगे दिए हुए एक विशेष क्रमसे उपर्युक्त तत्त्वोंका विधान करना चाहिए—१. प्रस्तावना या विषय-प्रवेश, २. विरोधी तर्कोंका खण्डन, ३. दोनों पक्षोंके मतोंका तुलनात्मक विवेचन, ४. अपने पक्षकी स्थापना और ५. उपसंहार या निर्णय।

### निबन्धकी शैली

निबन्धकी भाषा-शैली गम्भीर, पारिभाषिक तथा दार्शनिक होनी चाहिए क्योंकि निबन्धोंकी रचना केवल उच्च श्रेणीके विचारकोंके लिये की जाती है। उसमें वाक्य-रचना अत्यन्त संश्लिष्ट, सुघटित, सन्तुलित, स्पष्ट तथा संक्षिप्त होनी चाहिए। उसमें कहीं शिथिलता, लघुता तथा कृत्रिमता और आवेगपूर्ण भावात्मकता नहीं आनी चाहिए। निबन्ध-लेखकको यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह कमसे कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक भाव भर दे और पाठकको मनन करनेका अवसर दे।

### निबन्धकी समीक्षा

निबन्धकी समीक्षामें समीक्ष्यवादीको निम्नाङ्कित समस्याओंका समाधान करना चाहिए—

१. लेखकने जो विषय चुना है वह कहाँतक निबन्धके योग्य है?

२. उसके लिये जो भाषा-शैली चुनी गई है वह कहाँतक उपयुक्त है?

३. लेखकमें उस विषयके विवेचनकी निर्वाह-शक्ति किन बातोंसे व्यक्त होती है?

४. दार्शनिक, संक्षिप्त और पारिभाषिक बननेके फेरमें लेखक अस्पष्ट तो नहीं हो गया?

५. लेखकके तर्क कितने प्रामाणिक और सशक्त हैं?

६. उद्दिष्ट विषय स्पष्ट रूपसे विविक्त हो पाया है या नहीं?

## ॥ प्रथम खण्ड सम्पूर्ण ॥

# समीक्षा-शास्त्र

## द्वितीय खण्ड

# भारतीय साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त

वेदान्ती लोग मायाको आनन्दमें बाधक मानते हैं किन्तु कविकी माया अर्थात् साहित्य अपने जन्मकालसे लेकर आजतक रसिकों तथा सहृदयोंको निरन्तर आनन्द देती रही है। इसीलिये हमारे यहाँ काव्यानन्दको 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' या 'ब्रह्मानन्दका सगा भाई' कहा गया है। दोनों आनन्दोंमें अन्तर यह है कि ब्रह्मानन्द शाश्वत, नित्य और स्थायी है किन्तु काव्यानन्द अशाश्वत, अनित्य और अस्थायी है। यह अन्तर होते हुए भी दोनोंमें अत्यन्त समता यह है कि दोनोंकी प्रकृति एक है, अर्थात् जिस प्रकार निर्विकल्प समाधिमें परात्पर ब्रह्मका ध्यान करते हुए योगी परमानन्दका अनुभव करता है और संसारके माया-जालसे पूर्णतः निर्लिप्त तथा विविक्त हो जाता है, उसी प्रकार काव्यानन्दका रस लेनेवाला व्यक्ति काव्यानन्द लेनेकी अवस्थामें संसारसे पूर्णतः विविक्त होकर आनन्दमग्न रहता है। भारतीय आचार्योंने काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दका सहोदर इस प्रकार समझाया है—

'जब हमारी चित्तवृत्ति साक्षात् ब्रह्ममय हो जाती है तब चैतन्य या ज्ञानका उद्बोध होता है। उस समय हमारी चित्तवृत्ति ( मनकी सब क्रियाएँ ) उसी ब्रह्ममें लीन होकर लुप्त हो जाती है और केवल चैतन्य ( परमात्म ) ही रह जाता है। यह तो ब्रह्मानन्दकी अवस्था होती है। इसी प्रकार जब हम काव्य पढ़ते या नाटक देखते हैं तब हमारी चित्तवृत्ति सहसा स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारीके रूपमें बदल जाती है और इसीसे हमें काव्यमें एक प्रकारका आनन्द मिलता है। यही काव्यानन्द है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द दोनोंमें ही चित्तवृत्तिका परिणमन ( ब्रह्मानन्दमें ब्रह्मरूपमें और काव्यानन्दमें स्थायी भाव, विभाव आदिके रूपमें ) होता है अतः काव्यानन्द भी ब्रह्मानन्दका सहोदर है।' अतः जिन महापुरुषोंने परात्पर आनन्दका निरूपण किया वे काव्यानन्दको कैसे अछूता छोड़ सकते थे।

### काव्यानन्द क्या है ?

यह तो स्पष्ट है कि काव्यके पढ़नेसे, सुननेसे और देखनेसे एक विशेष प्रकारका विचित्र आनन्द मिलता है । किन्तु 'यह आनन्द देनेकी शक्ति काव्यके शब्दमें है या उसके अर्थमें है या उसके प्रस्तुत करनेके ढङ्गमें है' इसीपर हमारे यहाँके काव्याचार्योंने अनेक प्रकारसे विचार किया और उन विचारोंके अनुसार अनेक सिद्धान्त चले, जिनके आधारपर हमारे यहाँ काव्योंका परीक्षण होता रहा । अतः उनके विवेचनको ही इस दृष्टिसे हम 'भारतीय समीक्षा-सम्प्रदाय' कह सकते हैं ।

### काव्यका तत्त्व

हमारे यहाँ आचार्योंने यह माना है कि 'काव्यमें शब्द और अर्थका ही सन्निवेश होता है अतः काव्यका परम तत्त्व या काव्यका आत्मा इन्हीं दोमेंसे किसी एक या दोनोंको होना चाहिए ।' इसी विवादके कारण अनेक सम्प्रदाय उदित हुए । अलङ्कार-सर्वस्वपर टीका लिखनेवाले समुद्रबन्धने भी कहा है कि 'विशिष्ट शब्द और अर्थोंके मिलनेसे ही काव्यकी सृष्टि होती है । इन शब्दों और अर्थोंमें तीन प्रकारसे ही विशेषता आ सकती है—१. धर्म ( विशेषता ) से, २. व्यापार ( क्रिया ) से, और ३. व्यंग्य ( निशिष्टार्थ ) से ।' इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि 'धर्म दो प्रकारके होते हैं—१. नित्य ( सदा रहनेवाले ) और २. अनित्य ( सदा न रहनेवाले ) । काव्यमें नित्य धर्म ही अधिक आवश्यक होता है, अनित्य धर्म नहीं । अलङ्कार आदि हैं काव्यके अनित्य धर्म और गुण हैं काव्यके नित्य धर्म ।' इस दृष्टिसे धर्मके आधारपर शब्द और अर्थकी विशेषता सिद्ध करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—क. अलङ्कार-सम्प्रदाय और ख. गुण ( रीति ) सम्प्रदाय ।

व्यापार ( क्रिया ) की दृष्टिसे शब्द और अर्थकी दो प्रकारकी विशेषताएँ होती हैं—१. वक्रोक्ति या उक्ति-वैचित्र्य, और २. भोजकत्व । आचार्य कुन्तकने वक्रोक्तिको ही काव्यका चमत्कार और प्राण माना है अतः उनके नामसे 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' प्रसिद्ध हुआ । भरतने रसकीजो परिभाषा की थी उसकी व्याख्या करते हुए भट्टनायकने भोजकत्व-व्यापारकी बात उठाई इसीलिये इसे भी भरत मुनिके रस-सम्प्रदायके भीतर ही मान लेना चाहिए । भट्टनायकने वहाँ यह समझाया है कि 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति इसी भोजकत्व-व्यापार ( क्रिया ) के कारण होती है ।'

आनन्दवर्धनने शब्द और अर्थमें व्यञ्जनाका होना ही काव्यका लक्षण माना है इसलिये उन्होंने ध्वनिको ही सर्वोत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्धनने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोकके प्रारम्भमें अपनेसे पूर्वके उन तीन मतोंका विवरण दिया है जो काव्यमें ध्वनिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानते। ये तीन मत हैं—१. अभाववादी, २. भक्तिवादी, ३. अनिर्वचनीयतावादी।

## अभाववाद

भामह, उद्भट आदि आचार्य काव्यमें ध्वनिकी सत्ता ही नहीं मानते हैं इसलिये वे अभाववादी कहलाते हैं। इनमेंसे कुछ लोग १. गुण और अलङ्कार आदिको ही काव्यका एकमात्र साधन मानते हैं और कुछ लोग २. ध्वनिको भी अलङ्कारके भीतर ही सम्मिलित कर लेते हैं। ये समन्वयवादी ही अन्तर्भाववादी कहलाते हैं।

## भक्तिवादी या लक्षणावादी

भक्तिवादी मानते हैं कि 'ध्वनि तो भक्ति या लक्षणाके द्वारा ही जानी जा सकती है अतः वह लक्षणाके अन्तर्गत ही आ जाती है। अतः वह स्वतन्त्र रूपसे काव्यकी विशेषता नहीं मानी जा सकती।'

## अनिर्वचनीयतावादी

अनिर्वचनीयतावादियोंका मत है कि 'ध्वनि तो अनिर्वचनीय पदार्थ है। वह केवल बुद्धिसे समझा जा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।' इस ध्वनिके विरोधमें बारह मत चले जिन्हें जयरथने अलङ्कार-सर्वस्वकी टीकामें इस प्रकार गिनाया है—१. तात्पर्य-शक्ति, २. अभिधा, ३ लक्षणा, ४. अनुमिति, ५. अर्थापत्ति, ६. तन्त्र, ७. समासोक्ति, ८. अलङ्कार, ९. रस-कार्य, १०. आभोग, ११. व्यापार, १२. अन्तर्बाधन। इन सब बारह सिद्धान्तोंको जयरथने उन तीनों (अभाववाद, भक्तिवाद और अनिर्वचनीयतावाद) के भीतर ही समाविष्ट मान लिया है। इन तीनोंका पूर्ण रूपसे खण्डन करके ही ध्वनिको विशेष रूपसे काव्यका आत्मा माना गया है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)।

## पाँच सम्प्रदाय

समुद्रबन्धने अलङ्कार-सर्वस्वकी टीकामें लिखा है कि 'दो तो धर्म (अलङ्कार और गुण) की प्रधानता माननेवालोंके, दो व्यापार (उक्ति-वैचित्र्य और भोजकत्व) की प्रधानता माननेवालोंके तथा एक प्रकारके व्यञ्जनाको

प्रधान माननेवालोंका, कुल मिलाकर पाँच सम्प्रदाय चले—१. अलङ्कार-सम्प्रदाय, उद्भट आदिका; २. गुण (रीति) सम्प्रदाय, वामनका; ३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तकका; ४. भोजकत्व-सम्प्रदाय, भट्टनायकका और ५. ध्वनि-सम्प्रदाय, आनन्दवर्धनका। इनमेंसे भोजकत्व-सम्प्रदाय तो भरतके रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत ही आ जाता है अतः उसे तो रस-सम्प्रदाय ही मान लेना चाहिए। इन पाँचके अतिरिक्त एक और सम्प्रदाय है क्षेमेन्द्रके औचित्यका, जो औचित्यको ही काव्यका आनन्द-स्रोत मानता है।

इन्हें यदि हम क्रमसे रक्खें तो ये भारतीय छः समीक्षा-सम्प्रदाय इस प्रकार होंगे—१. भरतका रस-सम्प्रदाय, २. भामह, उद्भट तथा रुद्रटका अलङ्कार-सम्प्रदाय, ३. दण्डी तथा वामनका रीति-सम्प्रदाय, ४. कुन्तकका वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ५. आनन्दवर्धनका ध्वनि-सम्प्रदाय और ६. क्षेमेन्द्रका औचित्य-सम्प्रदाय। किन्तु इन साहित्य-सम्प्रदायोंसे भी पूर्व वैदिक साहित्यमें शिव-सङ्कल्पकी महत्ता अधिक बताई गई जो आद्यन्त वैदिक वाङ्मयमें व्याप्त है। अतः इसे लेकर अगले अध्यायोंमें हम अलग-अलग इन सातों सम्प्रदायोंका विशेष परिचय देंगे। किन्तु इसके पूर्व हम यह भी विवेचन कर देना उचित समझते हैं कि हमारे यहाँ शब्द और अर्थकी क्या व्याख्या की गई है।

### शब्द और अर्थ

यद्यपि अङ्ग-सञ्चालन और सङ्केतसे भी हम अपने मनकी बात प्रकट कर सकते हैं पर वाणीके द्वारा जितनी स्पष्टता और विशदतासे भाव व्यक्त हो सकता है उतना सङ्केत या अङ्ग-सञ्चालनसे नहीं। अतः किसी भी प्रकारकी सोद्देश्य बातचीतमें जितने शब्दोंका प्रयोग होगा उन सबका अर्थ होना आवश्यक है। इसीलिये शब्द और अर्थका नित्य या शाश्वत सम्बन्ध माना जाता है। इस अर्थको समाज एक बार निश्चय कर लेता है, तदनन्तर वह प्रयोगसे सिद्ध होता जाता है। शब्द और अर्थके बिना सम्वाद भी असम्भव है। इसीलिये शब्द और अर्थका ठीक प्रयोग समझ लेना चाहिए। प्रायः सभी आचार्योंने काव्यकी परिभाषामें शब्द और अर्थको ही महत्त्व दिया है अतः शब्द और अर्थकी मीमांसा कर ही लेनी चाहिए।

पीछे कविताकी परिभाषाके प्रकरणमें ७१५ से ७१८ पृष्ठतक हम भारतीय आचार्यों-द्वारा दी हुई काव्यकी परिभाषाओंका परिचय देते हुए बता आए हैं कि अधिकांश आचार्योंने शब्द और अर्थमें ही काव्यत्व माना है। शब्द और

अर्थ किसे कहते हैं इसकी व्याख्या भी पीछे 'शैलीका रूप-योजन' प्रकरणमें ९७७ से ९८३ पृष्ठतक की जा चुकी है अतः यहाँ केवल शब्द-शक्तियोंका ही परिचय दिया जायगा।

मम्मटने अपने काव्य-प्रकाशमें तीन प्रकारके काव्य माने हैं—१. उत्तम, जिसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थमें अधिक चमत्कार हो [ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। ] इसीको ध्वनि-काव्य कहते हैं। २. मध्यम, जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे कम या गौण चमत्कार हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। ३. अधम, जहाँ केवल वाच्यार्थमें ही चमत्कार हो, व्यंग्यार्थ कुछ भी न हो। यही अलङ्कार कहलाता है।

काव्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द तीन प्रकारके होते हैं—१. वाचक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको वाच्यार्थ कहते हैं और जिस शक्तिसे यह अर्थ जाना जाता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। २. लक्षक या लाक्षणिक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं और जिस शक्तिसे यह लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है उसे लक्षणा कहते हैं। ३. व्यञ्जक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शक्तिसे यह व्यंग्यार्थ जाना जाता है उसे व्यञ्जना कहते हैं।

### अभिधा शक्ति और वाचक शब्द

अभिनवभरतका सूत्र है—'प्रत्यक्षेङ्गितार्थसूचको वाचकः' अर्थात् प्रत्यक्ष इङ्गित अर्थका सूचक शब्द वाचक कहलाता है। बहुतसे शब्दोंको सुनते ही उनका एक ऐसा स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाता है जिसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका सन्देह या वितर्क नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष किया हुआ सङ्केत या परिचय कई कारणोंसे जैसे व्यवहार, प्रसिद्ध शब्दका साहचर्य, आप्तवाक्य, उपमान, कोष और व्याकरण आदिसे ग्रहण किया जाता है। जैसे हम कहें कि 'लेखनी लाओ' तो हमने जिस वस्तुकी ओर सङ्केत करके कहा है उसका ठीक नाम पहले न जानेवाला भी उस व्यवहारसे जान जायगा कि यह लेखनी है। इसे व्यवहार-सङ्केत कहते हैं। जब हम सुनते हैं कि 'रामके अनुजने कंसको पछाड़ डाला' तो हम प्रसिद्ध शब्द 'कंस'के साहचर्यसे रामका अर्थ बलराम और रामके अनुजका अर्थ कृष्ण ही

लगावेंगे, लक्ष्मण नहीं। कभी-कभी हम एक वस्तुको नहीं जानते हैं और उस वस्तुकी विद्यासे सम्बन्ध रखनेवाला आचार्य कहता है—'यह वीणा है, यह सितार है, यह तान पूरा है' तो हम आप्तवाक्यसे उन तीनों तारके यन्त्रोंके अलग-अलग नाम जान और मान लेते हैं। हमने बनमानुसका यही विवरण पढ़ा है कि उसके पूँछ नहीं होती, मनुष्यके समान होता है पर बन्दरोंके समान पेड़ोंपर कूदता और झूलता है। जन्तुशालामें पहुँचकर हम तत्काल मनुष्यके आकारवाले उस जीवको देखकर उपमानके द्वारा पहचान जाते हैं कि यही बनमानुस है। इसी प्रकार कुछ शब्द व्याकरणसे सिद्ध होते हैं जैसे भीष्मका 'गाङ्गेय' ( गङ्गाका पुत्र ) नाम व्याकरणसे ही जाना जा सकता है।

प्रत्येक वस्तुके धर्म या उसकी विशेषता ( उपाधि ) में ही ऐसे प्रत्यक्ष सङ्केत रहते हैं जिनसे अर्थ प्रकट होते हैं। इन धर्मों या विशेषताओंके अनुसार वाचक शब्द चार प्रकारके हुए—१. जातिवाचक, जैसे वृक्ष, पशु, गौ आदि, २. गुणवाचक, जैसे 'हरा वृक्ष' में 'हरा' शब्द, ३. क्रियावाचक, जैसे 'राम दौड़ता है' वाक्यमें रामकी क्रिया 'दौड़ता है' और ४. यदृच्छावाचक शब्द, जैसे अपनी इच्छाके अनुसार किसीको मोहन, लक्ष्मण, भरत आदि नामसे सम्बोधित करना। कभी-कभी लोग गौ, कुत्ते या बिल्लीके भी कुछ नाम रख लेते हैं। ये सब नाम भी यदृच्छावाचक शब्द होते हैं।

वाचक शब्दका जो अर्थ होता है वही वाच्यार्थ कहलाता है। इसीको मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं क्योंकि अभिधा शक्तिसे यह अर्थ व्यक्त होता है।

### अभिधा

'निश्चितार्थविधायिनी शक्तिरभिधा' अर्थात् शब्दोंके निश्चित अर्थोंके अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निश्चित अथवा मुख्य अर्थको प्रकट करनेवाली शक्तिको अभिधा शक्ति कहते हैं, जैसे 'फुलवारीमें केलेका एक वृक्ष है' इस वाक्यका कोई अन्य अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि इस वाक्यके सब शब्द अपने निश्चित या मुख्य अर्थ ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ ये मुख्य अर्थ शब्दोंकी अभिधा शक्तिसे प्रकट हुए हैं। इस अभिधा शक्तिसे चार प्रकारके शब्दोंके अर्थ प्रकट होते हैं—१. रूढ, २. यौगिक, ३. योगरूढ और ४. कूट। इन चारों प्रकारके शब्दोंकी व्याख्या पीछे २७७ तथा २७८ पृष्ठोंपर की जा चुकी है।

### लक्षणा

'मुख्यार्थभिन्नाभिन्नार्थसूचको लक्ष्यार्थः ।' [ मुख्य अर्थसे भिन्न किन्तु उससे कुछ सम्बद्ध अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं । ] अर्थात् जब किसी शब्दका मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है और किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेसे या किसी विशेष प्रयोजनसे कोई दूसरा अर्थ लगा दिया जाता है जो उसके मुख्य अर्थसे भिन्न होनेपर भी उससे कुछ सम्बन्ध रखता हो, वहाँ जिस शक्तिसे यह दूसरा अर्थ लगाया जाता है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। जैसे यदि हम कहें—'सारा देश व्याकुल है' तो इसमें यद्यपि देश कभी व्याकुल नहीं होता किन्तु देशवासियोंके लिये 'देश' कहनेकी रूढि हो गई है । यहाँ 'देश व्याकुल है' का अर्थ हुआ—'सारे देशवासी व्याकुल हैं ।' अतः यहाँ रूढा लक्षणा हुई ।

जहाँ किसी प्रयोजनसे शब्दका मुख्य अर्थ छोड़कर उसका दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है । इसके कई भेद हैं । पहले दो भेद हैं—१. शुद्धा और २. गौणी। फिर शुद्धाके १. उपादान, २. लक्षण, ३. सारोपा और ४ साध्यवसाना चार भेद हैं, और गौणीके दो भेद हैं १. सारोपा और २. साध्यवसाना ।
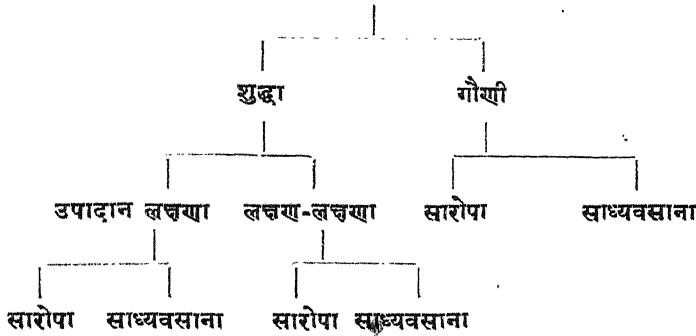
१. उपादान-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थके साथ कोई दूसरा अर्थ भी लक्षित हो और दूसरेका गुण ग्रहण किया गया हो, जैसे 'वहाँ गोली चल रही थी' यहाँ गोलीमें चलनेका गुण नहीं, अतः यह दोष मिटानेके लिये 'मनुष्यने बन्दूकसे जो गोली छोड़ी है उस शक्तिसे गोली

दूरतक आगे चलती है', इतने अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है। साथ ही गोलीके चलनेकी क्रिया होती ही है यह मुख्य अर्थ भी साथ बँधा है।

२. लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया जाता है, जैसे 'वह ज्ञानवापीपर रहता है' वाक्यका अर्थ यह है कि 'वह ज्ञानवापीके चारों ओर बने हुए किसी भवनमें रहता है, ज्ञानवापी-कूपके ऊपर नहीं।' यहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया गया है, प्रयोजन इतना ही है कि स्थान ज्ञानवापीके निकट है।

३. सारोपा-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ केवल कुछ थोड़ी-सी समानताके कारण मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ ले लिया जाता है, जैसे 'तेरे ये नेत्र क्या हैं पैने बाण हैं।' यहाँ 'ये' शब्द नेत्रोंके लिये न आकर कटाक्षके लिये आया है।

४. साध्यावसाना-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ एक शब्दकी लक्षणा शक्ति और दूसरे शब्दकी अभिधा शक्तिसे निकले हुए अर्थमें समानता होनेपर भी दोनोंमेंसे एक अर्थात् विषय या उपमेय न दिया गया हो। कोई प्रेमी अपनी प्रेयसीसे मिलनेपर उससे कहता है 'तुमने मुझे अमृत पिला दिया'। वहाँ 'अमृत' वाचक शब्द है जिसका लक्ष्यार्थ है प्रेयसीसे मिलना किन्तु वहाँ अमृत और प्रेयसीसे मिलना एक हो गया है। इसी सारोपा-लक्षणासे रूपक अलङ्कारकी उत्पत्ति होती है।

## गौणी लक्षणा

जहाँ समानताके कारण लक्ष्यार्थ लिया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। गौणीका अर्थ है गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली; जैसे 'भुजदण्ड' शब्द लीजिए। यहाँ भुज और दण्ड दोनोंमें समान रूपसे शत्रुको पीड़ित करनेकी शक्ति है अतः इस गुणके कारण 'भुजा दण्डके समान है' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया।

## गौणी शुद्धा लक्षणा

जहाँ किसी समान सम्बन्धके अतिरिक्त किसी दूसरे ही सम्बन्धसे दूसरा अर्थ ले लिया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। 'कुएँपर मेरा घर है' का अर्थ है कुएँके पास मेरा घर है। यहाँ सामीप्य-सम्बन्धसे लक्ष्यार्थ ले लिया गया है। 'मैं विष्णुकी पूजा कर रहा हूँ', का अर्थ है 'मैं विष्णुकी मूर्त्तिकी पूजा कर रहा हूँ।' यहाँ तादार्थ्य-सम्बन्ध है

क्योंकि विष्णुकी मूर्त्ति ही विष्णुकी स्थानापन्न मानी जाती है। 'मैंने अपने हाथसे पुस्तक लिखी है' का अर्थ है 'मैंने अपनी उँगलियोंसे लिखी है', किन्तु उँगलियोंका और हाथका अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध है इसलिये यहाँ अङ्गाङ्गि-भावसे लक्ष्य अर्थ ग्रहण किया गया है। यदि ब्राह्मण न होनेपर भी कोई वैश्य पौरोहित्यका काम करता है तो लोग उसे पण्डितजी और पुरोहितजी कहते हैं। यहाँ पुरोहितजी और पण्डितजीका अर्थ है पुरोहित या ब्राह्मणका काम करनेवाला व्यक्ति। यह लक्ष्य अर्थ तात्कर्म-सम्बन्धसे लिया गया है।

उपादान लक्षणा

जब अपना निर्दिष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरा अर्थ ग्रहण कर लिया जाय अर्थात् जहाँ मुख्य अर्थ न छोड़ते हुए दूसरा अर्थ खींचकर लाया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। इसीलिये इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। 'वहाँ लाठियाँ चल रही थीं' कहनेका अर्थ यह है कि कुछ लोग लाठियाँ ले-लेकर मारनेकी क्रियामें लाठियाँ चला रहे थे। यहाँ मुख्य अर्थ लाठी भी लिया गया है और साथ-साथ 'लाठी धारण करनेवाले पुरुष' यह लक्ष्यार्थ भी ग्रहण किया गया है।

इसके विपरीत जहाँ वाक्यका अर्थ सिद्ध करनेके लिये मुख्य अर्थको छोड़कर दूसरा लक्ष्य अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। जब हम कहते हैं 'कुएँपर घर है' यहाँ कुएँपरका मुख्य अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और दूसरा 'कुएँके पास' लक्ष्य अर्थ ग्रहण कर लिया गया है।

जहाँ किसी एक वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका आरोप किया जाय अर्थात् अभेद सिद्ध कर दिया जाय और दोनोंका स्पष्ट निर्देश कर दिया जाय वहाँ सारोपा लक्षणा होती है, जैसे किसी चापलूसको देखकर यह कहना कि 'वह कुत्ता है'। यहाँ निर्दिष्ट व्यक्तिमें कुत्तेका आरोप किया गया है और दोनोंका निर्देश किया गया है क्योंकि यह आरोप इस गुणके कारण किया गया है कि जैसे कुत्ता अपने स्वामीको देखकर या किसीके हाथमें भोज्य पदार्थ देखकर पूँछ हिलाने लगता है वैसे ही वह व्यक्ति भी जिससे स्वार्थ निकलता है उसकी चाटुकारी करता है। इसलिये यह सारोपा-गौणी-लक्षणा है।

सारोपा-शुद्धा-उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ धार्य्य-धारक सम्बन्ध

होता है। जैसे 'वह लाल पगड़ी चली आ रही है' इसका अर्थ है 'लाल पगड़ी पहने हुए सिपाही चला आ रहा है।' यहाँ 'वह' का अर्थ 'पगड़ी धारण करनेवाला पुरुष' है। इस लक्ष्य अर्थके साथ मुख्य अर्थ पगड़ी भी लगी हुई है और धार्य्य-धारक सम्बन्ध भी है।

सारोपा-शुद्धा-लक्षण-लक्षणामें मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है किन्तु एक वस्तुका दूसरेमें आरोप होता है; जैसे 'मालवीयजी भारतीय संस्कृतिके प्राण हैं' यहाँ मालवीयजी आरोप्य विषय हैं और प्राण आरोप्यमाण है। यहाँ मालवीयजी व्यक्तिका अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अन्य सब व्यक्तियोंकी अपेक्षा मालवीयजी भारतीय संस्कृतिका अधिक कल्याण करनेवाले हैं।

जहाँ केवल आरोप्यमाण अर्थात् जिस वस्तुका आरोप किया जाय उसीका वर्णन हो और जिसमें आरोप किया जाय उसका वर्णन न हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है, जैसे किसीके यह पूछनेपर कि 'आप अमुकको जानते हैं' वह उत्तर दे—'कुत्तोंकी बात मुझसे न करो' यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है क्योंकि यहाँ केवल आरोप्यमाणका कथन है, जिसका अर्थ यह है कि वह कुत्तेके समान अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी चापलूसी करता है, ऐसे चापलूसोंकी बात मुझसे न करो। यहाँ आरोप्यमाण 'कुत्तों' का तो कथन है किन्तु आरोप्यके विषयका अर्थात् उस व्यक्तिका कथन नहीं है अतः यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

इसी प्रकार 'लाल पगड़ी चली आ रही है' कहनेमें 'वह' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है केवल आरोप्यमाण पगड़ीका ही कथन है, अतः यहाँ साध्यवसाना है। इसी प्रकार यदि मालवीयजीको देखकर कोई कहे—'हे भारतीय संस्कृतिके प्राण! आपकी जय हो!' तो इसमें मालवीयजीका कहीं नाम नहीं आया है किन्तु आरोप्यमाण वस्तुका कथन है अतः यह साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षण-लक्षणा है।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणाके छहों भेदोंमें जो लक्षण दिए गए हैं उनमें जो प्रयोजन बताया गया है वह व्यंग्यार्थसे सिद्ध होता है, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे नहीं। व्यंग्यार्थ गूढ और अगूढ भेदसे दो प्रकारका होता है, अतः ऊपर बताई हुई प्रयोजनवती लक्षणाके छहों भेदोंमें गूढ-व्यंग्या और अगूढ-व्यंग्या दोनों प्रकारकी लक्षणाएँ होती हैं।

जहाँ व्यंग्य अर्थ इतना गूढ होता है कि उसे केवल काव्य-मर्मज्ञ ही समझ पावें वहीं गूढ-व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ व्यंग्य अर्थ सुबोध और सबकी समझमें आ सके वहाँ अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है। नाटकमें केवल अगूढ-व्यंग्या लक्षणाका ही प्रयोग होना चाहिए क्योंकि वहाँ सभी श्रेणीके ऐसे दर्शक भी होते हैं जिनका भाषा-ज्ञान अथवा साहित्य-ज्ञान अपरिपक्व होता है। इसीलिये नाटकमें भूलकर भी गूढ-व्यंग्या लक्षणाका प्रयोग न करके अगूढ-व्यंग्याका ही प्रयोग करना चाहिए।

साहित्यदर्पणमें विश्वनाथ कविराजने गौणी लक्षणाके भी उपादान और लक्षण-लक्षणा दो भेद मान लिए हैं। इस प्रकार गौणीके चार और शुद्धाके चार मिलाकर आठ भेद जब गूढ-व्यंग्य और अगूढ़-व्यंग्य होते हैं तो इन सोलहके भी पदगत लक्षणा और वाक्यगत लक्षणाके भेदसे बत्तीस और इन बत्तीसके भी धर्मगत और धर्मिगत भेदसे प्रयोजनवती लक्षणाके चौंसठ भेद हो जाते हैं। रूढ़ा लक्षणाके भी साहित्यदर्पणमें शुद्धा और गौणी दो भेद किए गए हैं और इन दोनोंके भी उपादान और लक्षण-लक्षणाके भेदसे चार रूप माने गए हैं। इस प्रकार रूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणाके अस्सी भेदतक बना लिए गए हैं।

व्यञ्जना

आचार्योंने व्यञ्जनाकी परिभाषा बताते हुए कहा है कि 'जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ अर्थ न प्रकट कर पावें और उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्तिसे अर्थका बोध हो उस शक्तिको व्यञ्जना कहते हैं। उसके द्वारा जो अर्थ निकलता हो उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शब्दसे यह व्यंग्य अर्थ निकलता हो उसे व्यञ्जक कहते हैं। व्यंग्य अर्थको ध्वन्यर्थ, सूच्यर्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमान आदि भी कहते हैं। व्यञ्जना दो प्रकारकी मानी गई है—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। यह संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरके अनुसार चौदह प्रकारकी होती है अर्थात् जहाँ अनेक अर्थवाले शब्द उपर्युक्त चौदह कारणोंसे प्रभावित होकर जिस शक्तिके द्वारा व्यंग्य अर्थ ध्वनित करते हैं उसे अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजनके लिये जब

लाक्षणिक शब्दका प्रयोग किया जाय तब उस प्रयोजनकी प्रतीति हो। इसके काव्य-प्रकाशके अनुसार बारह और साहित्य-दर्पणके अनुसार चौसठ भेद होते हैं।

आर्थी-व्यञ्जनाके वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा-वैशिष्ट्यके अनुसार दस भेद होते हैं और इनके भी वाच्य-सम्भवा, लक्षणा-सम्भवा और व्यंग्य-सम्भवाके भेदसे तीन प्रकार होते हैं। किन्तु व्यञ्जनाका काम वास्तवमें यही है कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे भिन्न कोई तीसरा अर्थ ध्वनित करे। यदि कोई कहे कि 'तुमने आकाश क्यों सिरपर उठा रक्खा है' तो वह यही पूछना चाहता है कि 'तुम कोलाहल क्यों मचा रहे हो' किन्तु 'आकाशको सिरपर उठाने' इस इष्ट-अर्थकी प्रतीति शब्दोंके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थसे नहीं होती।

### तात्पर्याख्या-वृत्ति

कुछ आचार्योंका मत है कि 'वाक्यके भिन्न-भिन्न पदोंके अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध समझानेवाली शक्तिको तात्पर्याख्या-वृत्ति कहते हैं।' यद्यपि यह वृत्ति सर्वमान्य नहीं है किन्तु मम्मट आदिने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाके साथ इस तात्पर्याख्या-वृत्तिको भी माना है। इनका मत है कि 'योग्यता, आकांक्षा और आसत्तिके होनेपर ही 'वाक्य' बनता है।' इनकी व्याख्या ४८१ और ४८२ पृष्ठपर की जा चुकी है। तात्पर्याख्या-वृत्तिवाले मानते हैं कि 'शब्दसे अर्थ नहीं निकलता, वाक्यसे निकलता है। अभिधा तो केवल वाक्यके अन्तर्गत पृथक्-पृथक् शब्दोंका अर्थात् सम्बन्ध-रहित शब्दोंका अर्थ बताती है किन्तु उन शब्दोंके जोड़नेसे जो वाक्य बनता है उसका अर्थ तात्पर्याख्या-वृत्तिसे ही जाना जा सकता है। इस वृत्तिसे जो अर्थ निकलता है उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं और यह तात्पर्यार्थ निकलता है वाक्यमेंसे ही।' इस विचारका प्रतिपादन करनेवाले मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं।

# शिव सङ्कल्पवाद

आरम्भमें जिस प्रकार भारतीय काव्यकी उत्पत्ति हुई, उसका विवेचन हम कविताके प्रसङ्गमें कर आए हैं कि सहसा किस प्रकार क्रौञ्च-मिथुनके वधपर बाल्मीकिका शोक ही श्लोक बनकर निकल पड़ा। किन्तु इस नूतन छन्दसे पूर्व सात वैदिक छन्दोंकी सृष्टि हो चुकी थी और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने इन छन्दोंमें आम्नायके दर्शन भी कर लिए थे। इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक ऋषियोंने उन मन्त्रोंके दर्शनमें केवल छन्दःप्रकृतिका ही रूप नहीं देखा वरन् किसी ऐसे तात्त्विक अभिनिवेशका भी दर्शन अवश्य किया होगा, जिसकी स्फूर्त्तिने उन्हें कहीं स्तवन करने या भावमग्नताकी दशामें प्रतिष्ठित किया होगा। वैदिक ऋचाओंमें स्थान-स्थानपर उषःसूक्त जैसे दिव्य सङ्केत प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि किसी विचित्र उल्लासकी प्रेरणासे मन्त्र-द्रष्टा ऋषिके मुँहसे सहसा वह ऋचा फूट पड़ी हो। इसी प्रकार जहाँ वरुणसे रक्षाके लिये प्रार्थना की गई है, वहाँ विवशता, दैन्य और आशाकी अत्यन्त विचित्र सात्त्विक प्रेरणा प्रतीत होती है। जहाँ विष्णुकी प्रार्थना की गई है वहाँ भी विष्णुके अतुल पराक्रमके प्रति प्रशंसाके भावसे पूर्ण सात्त्विक आह्लाद प्रतीत होता है। कुछ ऋचाओंमें दुर्दैव, राजयक्ष्मा आदि रोग, दुःस्वप्नकी बाधा तथा शत्रु आदिसे छुटकारा प्राप्त करनेके लिये और गोधन या पशुधन तथा गर्भकी रक्षाके लिये कुछ आभिचारिक मन्त्र भी हैं। इनके अतिरिक्त सृष्टि-क्रमके विशद इतिहास और वर्णन भी स्थान-स्थानपर भरे पड़े हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक ऋचाओंके पीछे छन्दका एक विशिष्ट क्रम और उनकी रचनाके उद्देश्य स्पष्ट विद्यमान थे। उन सभी ऋचाओंके साथ उनका दर्शन करनेवाले ऋषियोंका विवरण भी जुड़ा हुआ है। वैदिक काव्यकी साहित्यिक दृष्टिसे परीक्षा की जाय तो उसमें तीन व्यापक तत्त्व मिलेंगे—१. भाषा, २. छन्द और ३. उद्देश्य। इस व्यापकताका अर्थ यह है कि उनके कुछ

निश्चित सिद्धान्त थे, जिनका यद्यपि वर्णन नहीं प्राप्त होता किन्तु उनकी परिपाटी निश्चित रूपसे बनी और बँधी हुई थी। इस पूरे साहित्यको हम भाव-सिद्धान्त या भाव-सम्प्रदायके अन्तर्गत रख सकते हैं, जिसकी पुष्टि निम्नलिखित ऋचासे होती है—

यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किञ्चनकर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

[ जो मानव-समुदायमें विशेष ज्ञान, चेतनता, धैर्य, ज्योति और अमृत बनकर बसा हुआ है और जिसके बिना संसारमें कोई कर्म किया ही नहीं जा सकता, वह मेरा मन शिव-सङ्कल्प हो अर्थात् सुन्दर सङ्कल्पोंसे भरा हुआ हो। ]

इस दृष्टिसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्यको हम शिव-सङ्कल्प-सम्प्रदायके अन्तर्गत मान सकते हैं। क्योंकि उसमें जो कुछ है उसका एकमात्र आधार शिवसङ्कल्प है जो ऋत और सत्यका भी दर्शन कराता है और जिसके कारण मन्त्रोंका ( दैवी रहस्योंका ) भी साक्षात्कार हो जाता है।

# रस-सम्प्रदाय

राजशेखरने काव्य-मीमांसामें बताया है कि 'ब्रह्माके कहनेसे नन्दिकेश्वरने सर्वप्रथम रसका निरूपण किया था।' यदि यह नन्दिकेश्वर अभिनय-दर्पणका रचयिता ही है, तो उसने नाट्यकी उत्पत्तिके वर्णनमें कहा है कि 'नाटकमें 'अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं मतम्' अर्थात् नाटकका आनन्द परमानन्दसे भी बढ़कर है।' यह आनन्द रस ही है जिसे ब्रह्माजीने अथर्ववेदसे लेकर पञ्चम वेद नाट्यमें प्रतिष्ठित किया था और जिसकी चर्चा भरतने भी अपने नाट्य-शास्त्रमें की है—

पाठ्यं जग्राह ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

[ऋग्वेदसे पाठ्य अंश लिया, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस।]

अथर्ववेदसे रस लेनेकी बात यों तो सभीने कही है किन्तु अथर्ववेदमें कहीं भी उन आठ (या नौ) रसोंका कोई विवरण नहीं प्राप्त होता जिनका प्रयोग साहित्यके लिये किया गया है और जिनके कारण मम्मटने कवि-भारतीको 'नवरसरुचिरा' कहा है। यह सम्भव है कि अथर्ववेदकी जो शाखाएँ हमें प्राप्त हैं उनमेंसे किसी ऐसी शाखामें रसोंका वर्णन हो जो अब प्राप्त नहीं हैं।

## रसकी परिभाषा और व्याख्या

रसका सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन भरतके नाट्य-शास्त्रमें हुआ है। उन्होंने बताया है कि 'नाटकका साध्य रस है।' रसकी परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' [विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव (आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य भाव-प्रदर्शन) और सञ्चारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है।]

अरस्तूने काव्यके सब रूपोंमें नाटकको ही सर्वश्रेष्ठ माना है और भारतीय पण्डितोंने भी 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' ( काव्योंमें नाटक ही सबसे सुन्दर ) बताया है। इसलिये नाटकके आनन्दको भी उन्होंने नाट्य-रस कहा है।

भरतने अपने उपर्यङ्कित सूत्रकी विस्तारसे व्याख्या करते हुए छठे अध्यायमें कहा है—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते' ( रसके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता ), अर्थात् जितने भी अर्थ हैं वे सभी रसमय होते हैं। वास्तवमें यही रस-सिद्धान्त है। रसकी व्याख्या करते हुए दृष्टान्त देकर भरतने समझाया है कि 'जैसे अनेक प्रकारके द्रव्य, औषधि, व्यञ्जन आदिके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है और जैसे गुड़ आदि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषायके सम्मिश्रणसे विलक्षण प्रकारके रस बनते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव भी अनेक भावोंमें पड़कर रस बन जाते हैं। रस क्या पदार्थ है? उत्तर है—'स्वादिष्ट पदार्थ है।' इसका स्वाद कैसे लिया जाता है? उत्तर है—जैसे अनेक व्यञ्जनोंसे सिद्ध किए हुए अन्नको भक्षण करते हुए सुमनस पुरुष रसोंका आस्वादन करते हैं और हर्ष आदिका अनुभव करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकारके वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयोंके प्रभावसे व्यक्त होनेवाले स्थायी भावोंका सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं अर्थात् हर्ष आदिका अनुभव करते हैं। इसीलिये हमने इनको नाट्य-रस कहा है।'

[ को दृष्टान्तः। अत्राह–यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्य-संयोगाद्रसनिष्पत्ति-र्भवति। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्यास्यामः। ]

इसी प्रसङ्गमें भरतने अरस्तूके भावोंकी अभिनिर्वृत्तिकी भी व्याख्या की है और कहा है—'क्या रसोंसे भावोंकी या भावोंसे रसोंकी अभिनिर्वृत्ति ( सिद्धि ) होती है?' कुछ लोगोंका मत है कि 'परस्पर सम्बन्ध होनेसे इनकी अभिनिष्पत्ति होती है। किन्तु यह बात नहीं है क्योंकि भावोंसे रसोंकी

अभिनिर्वृत्ति ( सिद्धि ) तो दिखाई देती है किन्तु रसोंसे भावोंकी अभिनिर्वृत्ति नहीं दिखाई देती ।'

[ अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति । उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति । तन्न । कस्मात् । दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति । ]

इतनी स्पष्ट व्याख्या हो चुकनेपर भी इस विषयपर यह वाद-विवाद हुआ कि 'भरतने अपनी परिभाषामें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दोंका जो प्रयोग किया है उनका वास्तविक अर्थ क्या है ।' इस बातको लेकर चार मत बड़े प्रसिद्ध हैं — १. भट्ट लोल्लटका उत्पत्तिवाद, २. भट्ट शङ्कुकका अनुमानवाद, ३. भट्ट नायकका भुक्तिवाद और ४. अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद । इन चारों शास्त्रार्थोंमें यह विचार किया गया कि 'रस उत्पन्न होता है या उसका अनुमान होता है, या वह भोगा जाता है या उसका केवल अभिव्यञ्जन या प्रकटीकरण-मात्र होता है और यह रस भी कथाके मूल नायक या पात्रोंमें ही होता है या अभिनेतामें होता है या दर्शक में ?'

### भट्ट लोल्लटका उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भट्ट लोल्लटका मत है कि 'रस तो मुख्य रूपसे नाटकीय कथाके मूल नायकमें ही होता है और रसका सम्बन्ध उसीसे है । अर्थात् नाटककी कथामें सीताजीका साक्षात्कार होनेपर रामके हृदयमें जो स्नेह विशिष्ट परिस्थितियोंमें अंकुरित होकर उन्हें सीताजीमें अनुरक्त कर देता है वही वास्तविक रस है । जब कुशल अभिनेता रामका अभिनय करने लगता है तब उसके अभिनय-कौशलका ऐसा प्रभाव दर्शकपर पड़ता है कि वह रामका अभिनय करनेवाले अभिनेतामें रामका आरोप कर देता है अर्थात् दर्शक उस अभिनेता ( अनुकरण करनेवाले अनुकर्त्ता ) को ही राम ( अनुकार्य अर्थात् जिसका अनुकरण किया जाय ) समझ लेता है । वास्तवमें विभावों १. आलम्बन अर्थात् रामके हृदयका रति भाव ( स्थायी ), सीताजी और २. उद्दीपन पुष्पवाटिकाके सहारे ( आलम्बित होकर ) जागकर ( उद्दीप्त होकर ), अनुभावों ( स्वेद, रोमाञ्च, कम्प आदि ) से प्रतीत होकर और सञ्चारी भाव ( हर्ष, औत्सुक्य आदि ) से पुष्ट होकर रस बनता है । यह रस राममें ही उत्पन्न होता है किन्तु अभिनेता भी रामका ऐसा सच्चा अनुकरण करता है कि दर्शक उसीको राम समझ लेते हैं और उसके अभिनय-कौशलसे प्रभावित

होकर आनन्द लेते हैं अर्थात् सामाजिक या दर्शकको जो आनन्द मिलता है वह अभिनेतामें रामकी समानता पा जानेसे ही मिलता है ( नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशाद् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः । ) अतः दर्शकोंको रसकी प्रतीति अभिनेतामें रामका आरोप करनेसे हुई। इसी आरोपके सिद्धान्तके कारण भट्ट लोल्लटका मत आरोपवाद कहलाता है ।

इनके मतानुसार 'संयोग'का अर्थ है सम्बन्ध। यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. उत्पाद्योत्पादक भाव, २. गम्य-गमक भाव ३. पोष्य-पोषक भाव, अर्थात् विभाव, अनुभाव, सञ्चारीके संयोग ( सम्बन्ध ) से रसकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती तो है किन्तु ये तीनों तीन प्रकारके संयोग ( सम्बन्ध ) से रस उत्पन्न करते हैं—१. विभावके द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है इसलिये विभाव ( आलम्बन और उद्दीपन ) उत्पादक हुए और रस उत्पाद्य। २. अनुभावोंके द्वारा रसकी अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है इसलिये अनुभाव हुआ गमक ( प्रतीति करानेवाला ) और रस हुआ गम्य (प्रतीत होनेवाला)। ३. सञ्चारी भावसे रसकी पुष्टि होती है इसलिये वे सब रसके पोषक हैं और रस पोष्य है। इसके अनुसार 'निष्पत्ति'के तीन अर्थ हुए—१. उत्पत्ति, २. अभिव्यक्ति या प्रतीति, ३. पुष्टि। इसीलिये भरतने जो संयोग कहा है वह संयोग एक प्रकारका न होकर उपर्युक्त तीन प्रकारका होता है। इसी संयोगसे भरतने रसकी निष्पत्ति बताई है जिसका तात्पर्य है रसकी उत्पत्ति ।

उपर्युक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि—१. भट्ट लोल्लटने नाटकके नायकमें ही रसका उत्पन्न होना और अभिनेतामें उस रसकी प्रतीति होना माना है, अर्थात् वे इस बातकी चर्चा ही नहीं करते कि दर्शकका रससे या नाटकसे क्या सम्बन्ध है? दर्शक क्यों नाटकमें जाता है और क्यों देखता है? पहला प्रश्न तो यह है कि यदि नाटकमें किसी प्रकारका आनन्द नहीं है तो दर्शक नाटक देखने जाते क्यों हैं? फिर दूसरी कठिनाई यह है कि राम या सीता या अन्य ऐतिहासिक पात्र न जाने किस युगमें हुए, न जाने किस परिस्थितिमें उन्होंने किन आचरणोंपर, किस प्रकारके भाव व्यक्त किए। अब यदि उनमें रसकी उत्पत्ति मानें भी, तो उसका प्रमाण हमारे पास क्या है? तीसरी बात यह है कि विभिन्न कवियोंने एक ही कथाको विभिन्न रूपसे वर्णित किया है। ऐसी स्थितिमें नायकके मनमें क्या मुख्य रस उत्पन्न हुआ होगा यह कैसे निर्णय किया जाय। चौथी सबसे प्रमुख बात तो यह है कि

बहुतसे नाटकोंकी कथा तो पूर्णतः कल्पित होती है, ऐसी स्थितिमें क्या रसकी उत्पत्ति ही नहीं होती ? कल्पित कथामें रस किसमें माना जाय ?

भट्ट लोल्लटने यह भी कहा है कि 'अभिनय करनेवाले अभिनेताओंको भी रसकी प्रतीति होती है अर्थात् उनमें भी मूल पात्रोंका अनुकरण करनेके कारण रसकी उत्पत्ति होती है।' यदि अभिनेताओंमें रसकी उत्पत्ति हुआ करती तो केवल अभिनेता ही नाटक किया करते और वे ही रस लिया करते। दर्शकोंकी क्या आवश्यकता रह जाती ? और दर्शक उनके आनन्दके साक्षी-मात्र बनकर क्यों जाते ? योरोपमें कुछ ऐसी घुमन्तू नाट्य-मण्डलियाँ चली थीं जिनके अभिनेताओंको वेतन मिला करता था। प्रायः ये नाट्य-मण्डलियाँ शेक्सपियरके त्रासदोंका अभिनय किया करती थीं। जब इन अभिनेताओंको वेतन नहीं मिलता था तब ये लोग हड़ताल कर बैठते थे और कहते थे कि 'आज हैमलेटका भूत नहीं चलेगा' अर्थात् आज नाटक नहीं होगा। जब वेतन मिलने लगता था तब ये लोग घोषणा कर देते थे कि 'भूत चलने लगा है' ( घोस्ट वाक्स ) अर्थात् अब नाटक होने लगा है। यदि अभिनेताओंको रस प्राप्त हुआ करता तो वे रस-प्राप्तिके लोभसे ही नाटक अवश्य करते, वेतन मिलता या न मिलता। तात्पर्य यह है कि अभिनेता तो आनन्द देनेवाले हैं, आनन्द लेनेवाले नहीं। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रके इक्कीसवें अध्यायमें कहा है—

> यस्मात्स्वभावं संहृत्य साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः।
> अभिनीयते गम्यते च तस्माद् वै नाटकं स्मृतम् ॥

[ क्योंकि इसमें सब अङ्गों, उपाङ्गों और गतियोंके क्रमसे व्यवस्थित करके स्वभावका अभिनय किया जाता है और यह भाव दर्शकोंतक पहुँचाया जाता है, इसीलिये यह नाटक कहलाता है। ] इसका तात्पर्य यह है कि अभिनयके द्वारा नाटकका भाव दर्शकोंतक पहुँचाया जाता है अर्थात् उसका विशेष रस या प्रभाव केवल दर्शकोंके लिये होता है जिसका उपभोग या आनन्द दर्शक लेते हैं। भरतने जहाँ नाटककी परिभाषा दी है वहाँ भी उन्होंने स्पष्ट रूपसे कहा है—

> मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं।
> बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम् ॥

बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम् ।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥

[ जिसमें कोमल ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ न हों, जो विद्वानोंको सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान् जिसे खेल सकें, जिसमें बहुतसे रसोंके प्रवाहके लिये अवकाश हो और सब नाट्य-सन्धियाँ ठीकसे बँधी हुई हों, इस प्रकारका नाटक प्रेक्षकोंके लिये संसारमें श्रेष्ठ समझा जाता है । ]

इस श्लोकमें 'बहुरसकृतमार्गं' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसका तात्पर्य यह है कि नाटकमें प्रेक्षकोंके लिये अनेक रसोंके मार्ग बनते हैं । इतनी स्पष्ट व्याख्या होनेपर भी भट्ट लोल्लटको जो भ्रम हुआ उसके चार कारण हैं—१. भट्ट लोल्लट कोरे दार्शनिक थे, २. भट्ट लोल्लटने कभी नाटक नहीं देखा, ३. आदिसे अन्ततक नाट्यशास्त्र नहीं पढ़ा और ४. नाटकका आनन्द क्या वस्तु है इसका ठीक-ठीक अनुभव नहीं किया । इसी कारण अन्य आचार्योंने इस मतको अमान्य समझा ।

## शंकुकका अनुमितिवाद या अनुमानवाद

शंकुकका मत है कि 'रस केवल अनुमानका विषय है वास्तविक नहीं । जब रङ्गमञ्चपर कोई अत्यन्त अभिनय-कुशल तथा काव्य-नाटकमें रुचि रखनेवाला अभिनेता नाटकके नायकों तथा पात्रोंका अभिनय अत्यन्त स्वाभाविकता, प्रभावशीलता तथा रोचकतासे करता है तब उसे देखकर दर्शक आनन्दमग्न हो जाते हैं और वे उस नटको ही वास्तविक नायक ( राम या सीता ) समझने लगते हैं । जैसे किसी चित्रमें बने हुए घोड़ेको देखकर उसे लोग घोड़ा ही मान लेते हैं वैसे ही रामकी भूमिका ग्रहण करनेवाले नटको भी लोग इस चित्र-तुरग-न्यायसे राम ही मान लेते हैं । इसलिये जो रस वस्तुत: राममें उत्पन्न होता है उसीका अनुमान अभिनय-कुशल नटमें भी कर लिया जाता है और दर्शक-मण्डली भी इसी अनुमानके बलपर रस ग्रहण करती तथा आनन्दित होती है । अत: भरतके सूत्रमें 'संयोगात्' शब्दका अर्थ हुआ 'अनुमानसे' (अनुमानात् ) और 'निष्पत्ति'का अर्थ हुआ 'अनुमिति' ( किसी कारणके आधारपर उत्पन्न हुआ ज्ञान ), अर्थात् विभाव , अनुभाव और सञ्चारीके अनुमानसे रसकी अनुमिति होती है । किन्तु यह अनुमान न्याय-शास्त्रके अनुमान-प्रमाणसे भिन्न होता है क्योंकि यद्यपि न्यायवालोंका अनुमान

वास्तविकताका उद्‌घाटन करता है, जैसे 'जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि भी होगी' किन्तु यह सब अनुमान रूखा और नीरस होता है, रसका अनुमान उससे पूर्णतः भिन्न आनन्दप्रद होता है।'

इस प्रकार शंकुकने माना है कि १. अनुकरण करनेवाले नटमें दर्शकगण रसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं और इसी अनुमानके कारण अनुमान करनेवाले दर्शकको भी आनन्द मिलता है।' अतः शंकुक मानते हैं कि 'अभिनेताको राम मानकर उनकी रतिका अनुमान ही रस बन जाता है। अतः रसका वास्तविक आधार अनुमान है।'

### भट्ट तौत

अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तौतने शंकुकके अनुमानवादका बड़ा खण्डन किया और कहा कि 'अनुमानके आधारपर रस-निष्पत्तिका कभी विचार ही नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान तो हेतुकी विशुद्धिपर आश्रित होता है अर्थात् अनुमानके लिये स्वयं कोई कारण चाहिए किन्तु रसकी उत्पत्तिके लिये कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टिसे अनुमानका कोई अस्तित्व नहीं होता। इस मतकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता क्योंकि 'मनमोदक नहीं भूख बुझानी।' चित्रमें घोड़ा देखकर और उसे घोड़ा मानकर भी आप उसपर चढ़कर नहीं जा सकते, मोदकका चित्र देखकर आपको उसका स्वाद नहीं आ सकता अतः कल्पनासे आनन्द नहीं मिल सकता।' यद्यपि इस मतमें भी यह बात मानी गई है कि दर्शकके हृदयमें भी अनुमानके बलपर आनन्द प्राप्त होता है किन्तु यह सिद्धान्त ही पूर्णतः निराधार है क्योंकि रङ्गमञ्चपर जिस विभाव ( आलम्बन ), अनुभाव और सञ्चारी भावका प्रदर्शन होता है और जिसके रसका अनुमान दर्शक-द्वारा होनेकी बात कही गई है, वह तो नटमें ही रहता है, अतः दर्शकको भले ही अनुमानसे थोड़ा-बहुत आनन्द मिल जाता हो किन्तु वह उस कोटिका आनन्द कभी नहीं हो सकता जो साक्षात् रसानुभूतिके समय होता है। स्वादिष्ट भोजनको दूरसे देखकर मुँहमें पानी तो आ सकता है किन्तु वह इसी बातका व्यञ्जक है कि उसके आस्वादनके लिये अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा है, वह आस्वादनका आनन्द नहीं है।

भट्ट तौतके इस खण्डनके अतिरिक्त भी यह स्पष्ट है कि आनन्द कभी अनुमानमें नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूतिमें ही होता है और उसी

समय होता है जब कि हमारी इन्द्रियाँ मनके संयोगसे उस आनन्दमें भागी बनें। किन्तु नाटकमें तो दर्शककी समस्त इन्द्रियाँ मनके साथ इतनी रम जाती हैं कि वे अभिनेताओंकी गति-विधि, गीत, दृश्य आदि सबमें पूर्णतः तन्मय हो जाती हैं। ऐसी स्थितिमें उसे अनुमान करनेका अवसर कहाँ मिलता है। अनुमानके लिये तो ऐसी अनिश्चित वस्तु चाहिए जिसके सहारे वह निश्चितका अनुमान कर सके। किन्तु नाटकमें तो प्रत्येक अभिनेता सजीव मूल नायक या पात्र ही समझ लिया जाता है और वह जितना भी कुछ आचरण करता है उस आचरणसे दर्शक आनन्द लेता चलता है। अतः अनुमानसे रस कभी उत्पन्न नहीं होता।

### भट्ट नायकका भुक्तिवाद

भट्ट नायकने ही रसकी मीमांसा करते हुए दर्शकका महत्त्व सिद्ध किया है। ये न तो लोल्लटकी भाँति रसको उत्पन्न हुआ मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसको व्यक्त या प्रकट हुआ मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि 'काव्यमें तीन प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—१. अभिधा-क्रिया, जिसके द्वारा नाटकके शब्दोंका अर्थ जाना जाता है। २. भावकत्व-क्रिया, या साधारणीकरणकी क्रिया, जिस भावना ( बार-बार चिन्तन ) के द्वारा हम नाटकके पात्रों या नायक आदिको विशिष्ट व्यक्ति ( राम, सीता आदि ) न समझकर उन्हें अपने ही जैसा साधारण पुरुष और स्त्री समझ लेते हैं। इस क्रियासे नाटककी कथाके व्यक्तियोंका ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप हट जाता है और वे सामान्य पुरुष और स्त्री समझ लिए जाते हैं, अर्थात् अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकके दुष्यन्त-शकुन्तलाके प्रेमको दुष्यन्त-शकुन्तलाका प्रेम-व्यापार न समझकर सामान्य पुरुष-स्त्रीका प्रेम-व्यापार समझ लेते हैं। जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य अर्थात् विशेषको साधारण समझ लेनेकी क्रिया होती है, उसीको भावकत्व-क्रिया या भावनत्व-व्यापार कहते हैं। इस क्रियासे दर्शक सहसा दुष्यन्त-शकुन्तलाके प्रेम-व्यापारको सबका व्यापार, अर्थात् अपना भी व्यापार मान बैठता है। भावनाकी यही क्रिया 'साधारणीकरण' कहलाती है। ३. भोजकत्व-क्रिया, जिसके द्वारा दर्शक नाटकके रसका भोग करता या आनन्द लेता है। इसी भोग करनेके अवसरपर उसके हृदयमें सब प्रकारके राजस और तामस भाव अर्थात् संसार-भरके अन्य सम्बन्धोंके सब भाव दबकर पूर्ण रूपसे शुद्ध अकेला सात्त्विक भाव

उत्पन्न होता है जिसके प्रकट होते ही प्रकाश रूपसे आनन्दका ज्ञान अर्थात् आत्मानन्दमें वह तल्लीनता प्राप्त होती है जिसके द्वारा रसका अनुभव होता है। यही रस-भोग करनेकी अवस्था है।' इस मतके अनुसार भरतके सूत्रका अर्थ यह होगा कि 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी तो भोजक या भावक हैं और वे भोज्य ( भोजन करने योग्य ) अथवा भाव्य ( भावित होने योग्य ) रसकी निष्पत्ति ( अर्थात् भुक्ति या भोग ) कराते हैं। इसीलिये इनके मतको भुक्तिवाद कहते हैं।'

अतः भट्ट नायक ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने दर्शककी महत्ता समझकर रसके वास्तविक पात्रका विवेचन किया और उसकी ही दृष्टिसे विचार किया किन्तु उनके सिद्धान्तमें भी यह दोष रहा कि उन्होंने सीधे रसकी अवतारणा न मानकर भावकत्व और भोजकत्वका अड़ङ्गा लगा दिया। उन्होंने यह माना है कि १. दर्शककी दृष्टिसे रसकी मीमांसा होनी चाहिए, २. अभिनय देखने या काव्य पढ़नेसे अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व-क्रियाके द्वारा द्रष्टा या श्रोता रसका भोग करता है। जहाँतक अभिधाकी बात है, उसमें तो किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इन्होंने काव्यमें ( शब्दोंके अर्थमें ) भावकत्व और भोजकत्वकी जो कल्पना की है उसका कोई आधार नहीं। वास्तवमें यदि भावकत्व-क्रिया या साधारणीकरणकी क्रिया होती भी है तो वह केवल शब्दसे न होकर रङ्गमञ्चपर उपस्थित अभिनेताओंकी चेष्टाओं, वेश-भूषा, दृश्य आदि सभी साधनोंके समन्वयसे उत्पन्न होती है और उस समय भी साधारणीकरण अर्थात् उस मुख्य पात्रको साधारण व्यक्ति मानना सम्भव नहीं होता। यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि जो दर्शक नाटक देखने आता है वह रामको साधारण व्यक्ति समझता है। जिस समय राम वन जाते हैं उस समय यही समझकर दर्शककी आँखोंमें आँसू आते हैं कि दशरथके पुत्र राम इतना बड़ा राज्य छोड़कर जङ्गलोंका दुःख उठानेके लिये चले जा रहे हैं, जिसका उन्हें तनिक भी अभ्यास नहीं। वह रामकी दृष्टिसे, उनके महत्त्वपूर्ण पदकी दृष्टिसे, उनके भावी कष्टकी कल्पना करके दुखी होता है। यदि वह उन्हें साधारण मनुष्य समझता तो कभी दुखी ही न होता। अतः इस प्रकारके साधारणीकरण या भावकत्वका सिद्धान्त ठीक नहीं है। यही बात भोजकत्वके सम्बन्धमें है। यह ठीक है कि दर्शक जिस समय नाटक देखता

है उस समय वह तन्मय होता है किन्तु इस तन्मयतामें कोई ऐसी विशेष स्थिति नहीं आती कि उसके राजस और तामस भाव सहसा दब जायँ और सात्त्विक भावका उदय हो जाय। यह रसानुभूतिकी स्थिति तो नाटकमें आदिसे अन्ततक भी व्याप्त रह सकती है और बीच-बीचमें भी आ सकती है। इसके अतिरिक्त केवल शब्द-व्यापार या अभिधा-व्यापारको महत्त्व देना तो पागलके प्रलापको महत्त्व देना है क्योंकि स्वतः शब्दमें किसी प्रकारकी कोई शक्ति नहीं होती। इसीलिये आलङ्कारिकोंने भावकत्वको अमान्य ठहराया और भोजकत्व-क्रियाको व्यञ्जना ही मानकर साधारणीकरण आदिको उसी व्यञ्जनाका कार्य माना है।

### अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्तने इन सब मतोंका विरोध करते हुए कहा कि 'भरतके सूत्रमें विभावानुभाव-व्यभिचारीके संयोगका अर्थ है कि ये विभाव, अनुभाव, सञ्चारी तो व्यञ्जक या व्यक्त करनेवाले हैं और रस है व्यंग्य ( जो व्यक्त किया जाने योग्य है ) तथा निष्पत्तिका अर्थ है 'रसकी अभिव्यक्ति' या व्यञ्जना।' इनका मत है कि 'प्रत्येक श्रोता या दर्शकमें स्थायी भाव ( रति, शोक, हास, उत्साह आदि ) वासनाके रूपमें निरन्तर रहते हैं। यह वासना या तो पूर्वजन्मके संस्कारसे या इस जन्ममें काव्य आदिका अध्ययन करके या गुणियों और कवियोंका सत्सङ्ग करके उत्पन्न होती है और निरन्तर निश्चित संस्कार-रूपमें रहती है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावके द्वारा इसी स्थायी भावकी अभिव्यञ्जना ( प्रकटी-करण ) होती है। ये स्थायी भाव सामान्य या सबमें साधारण रूपसे होते ही हैं।' अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'जब कोई भी वस्तु हमारे सम्मुख आती है, उस समय उस वस्तुको हम साधारण रूपसे तथा सम्बन्ध-रहित होकर स्वीकृत करते हैं, अर्थात् यदि हम किसी सुन्दर वस्तुको देखते हैं तो हम आनन्दित तो होते हैं किन्तु उस वस्तुको ग्रहण करनेके लिये न आगे बढ़ते हैं, न उसे शत्रुकी समझकर उससे दूर भागते हैं और न किसी उदासीन व्यक्तिकी समझकर उससे विरक्त ही होते हैं। वरन् उसे सबकी सुन्दर वस्तु समझते हैं।' अभिनवगुप्तका मत है कि 'यही सामान्यता अर्थात् रागहीन आनन्दानुभूति ही साधारणीकरण है अर्थात् रसको जगानेवाले जितने भाव हैं वे जब सर्व-सामान्यके समक्ष लिए जाते हैं तभी रसकी अभिव्यक्ति होती है। उस रसकी अभिव्यक्तिके समय रसका अनुभव करनेवाला दर्शक

भी अपनेको सामान्य ही समझता है और अनुभव करनेके समय यह समझता है कि जितने भी सहृदय हैं उन सबके हृदयमें उस रसकी अनुभूति समान रूपसे होती है।'

इस दृष्टिसे अभिनवगुप्त भी साधारणीकरणके पक्षपाती हैं किन्तु भट्टनायक और अभिनवगुप्तके साधारणीकरणमें थोड़ा-सा अन्तर है। भट्टनायकने तो यह माना है कि 'कथाके पात्रोंको साधारण बनाकर दर्शक रसानुभूति करता है' और अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि 'दर्शक जब यह निर्लिप्त भावसे मानता है कि किसी वस्तुको देखकर मेरे मनमें आनन्दकी जैसी अनुभूति हुई है वैसी ही प्रत्येक सहृदयके हृदयमें होती है तभी उसके हृदयमें रसकी अनुभूति या अभिव्यक्ति होती है। वह दुष्यन्त - शकुन्तलाको देखकर यह समझने लगता है कि यह दुष्यन्त-शकुन्तला मैं ही हूँ और ऐसा समझनेसे ही उसे आनन्द या रस मिलता है। अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि 'दर्शकके हृदयमें जो रति आदि स्थायी भाव अव्यक्त थे वे विभाव आदि (व्यञ्जकों) के द्वारा प्रकट हो जाते हैं अर्थात् रस उत्पन्न नहीं वरन् अभिव्यक्त होता है या जाग उठता है और यह वासनाका जागना ही रसका उपभोग है।'

रस वास्तवमें आनन्दको ही कहते हैं। संसारमें साधारणतः जो घटनाएँ शोक, क्रोध या भय उत्पन्न करती हैं, वे ही जब काव्यमें वर्णित होती हैं तब ऐसा अलौकिक रूप धारण कर लेती हैं कि हम उन्हें पढ़नेमें दत्तचित्त हो जाते हैं और उसमें एक प्रकारका ऐसा आकर्षण प्राप्त करते हैं जिसके कारण हम उसे पूरा किए बिना नहीं छोड़ते। इसका तात्पर्य यह है कि शोक, क्रोध या भयके वर्णनमें भी कुछ सौन्दर्य या अलौकिकता आ जाती है जिससे हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। यही 'रमना' या 'काव्यमें डूबना' ही रस कहलाता है और यही वस्तु काव्यमें वर्णित होकर अलौकिक रूप धारण कर लेती है, इसीलिये आनन्द उत्पन्न करती है। प्रायः सभी विद्वान् अभिनवगुप्तके इस साधारणीकरणका ही सिद्धान्त मानते हैं।

## साधारणीकरण

अभिनवगुप्त, मम्मट, आनन्दवर्धन और पण्डितराज जगन्नाथके मतको संक्षेपमें इस प्रकार समझा जा सकता है—'कवि जब एक विशिष्ट सुन्दर शैलीमें शब्दोंका प्रयोग करता है तब काव्योंमें व्यञ्जनाकी प्रतीति होती है।'

कारण, कार्य और सहायताका बोध करानेवाले शब्दोंके समन्वयको ही काव्य कहते हैं। काव्यमें जितने शब्दोंका प्रयोग होता है उनमेंसे कुछ तो कारण अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) का बोध कराते हैं। यह बोध करानेवाली शक्ति विभावन व्यञ्जना कहलाती है। कुछ शब्दोंसे कार्य अर्थात् अनुभाव (सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक, आहार्य) का बोध होता है। जिस शक्तिसे इस अनुभावका बोध होता है उसे अनुभावन व्यञ्जना कहते हैं। कुछ शब्दोंसे सहायता देनेवाले तत्त्वों अर्थात् सञ्चारी भावोंका बोध होता है। जिस शक्तिसे यह बोध होता है उसे सञ्चारण व्यञ्जना कहते हैं। इसी विभावन, अनुभावन और सञ्चारण व्यञ्जनाओंकी प्रतीतिको साधारणीकरण कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि दर्शक नाटक देखते समय आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारीको नाटकके किसी पात्रका न समझकर सब दर्शकोंका समझने लगता है। ऐसा समझनेसे दर्शक उसे अपना अनुभव मान बैठता हैं। इस प्रकार बार-बार माननेसे विभाव, अनुभाव और सञ्चारी हमारे अन्तःकरण या मनके धर्म (गुण) बन जाते हैं और बार-बार ऐसा समझने या भावना करनेसे हमारा मन ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारी बन जाता है। इस एकात्मतासे हमारी वह अविद्या या भ्रान्ति दूर हो जाती है जिसके कारण विभाव, अनुभाव और सञ्चारीको हम अलग समझते थे, उस समय विभाव आदिके मूल चैतन्य (ज्ञान) का प्रकाश होता है। यही प्रकाश रस कहलाता है। इस प्रकाशकी स्थितिको कुछ लोगोंने चैतन्य-विशिष्ट-विभावादि कहा है, किसीने विभावादि-विशिष्ट-चैतन्य कहा है किन्तु दोनोंमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

इसे हम एक उदाहरण-द्वारा समझा दें तो स्पष्ट हो जायगा। अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकमें दुष्यन्तके विरहमें शकुन्तलाको परितप्त होते देखकर दर्शक भी अपनेको शकुन्तला ही समझकर (अर्थात् शकुन्तलाके बदले स्वयं आश्रय बनकर दुष्यन्तको आलम्बन और शकुन्तलाके अनुभावों और सञ्चारी भावोंको अपने अनुभाव और सञ्चारी भाव मानने लगता है। इस साधारणीकरण (एक विशेष व्यक्तिके अनुभावों और सञ्चारी भावोंको सबका अर्थात् सर्व-साधारणका मान लेने) से ही दर्शकको रस प्राप्त होता है अर्थात् आश्रयके साथ तादात्म्य (तन्मयता) स्थापित करना ही रसकी अवस्था है।

## साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

साधारणीकरणपर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्लजीने कहा है—'कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृतिका पात्र यदि किसी निरपराध या दीनपर क्रोधकी प्रबल व्यञ्जना कर रहा है तो श्रोता या दर्शकके मनमें क्रोधका रसात्मक सञ्चार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्रके प्रति अश्रद्धा, घृणा आदिका भाव जागेगा। ऐसी दशामें आश्रयके साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्रके शीलद्रष्टा या प्रकृतिके रूपमें प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।' इसे उन्होंने संवेदना रसानुभूतिसे भिन्न शीलद्रष्टात्मक रसानुभूति कहा है और इसे मध्यम कोटिकी रसानुभूति माना है। इसी प्रसङ्गमें यह भी कहा गया कि 'कवि जब कोई ऐसी अनुभूति व्यक्त करता है जो सबके अनुभवकी हो तो पाठक या श्रोताके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है किन्तु जब कविकी अनुभूति असाधारण या संसारके अनुभवसे भिन्न होती है तब पाठकके साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। ऐसी अनुभूतियोंका विवरण पढ़कर भिन्न-भिन्न श्रोताओं या पाठकोंके मनमें भिन्न-भिन्न ऐसे भाव व्यक्त होंगे जिनमें वह उस रचनापर ही खीझेगा, हँसेगा, रुष्ट होगा।' अर्थात् कविके भावोंसे पाठक या श्रोताके वैषम्य होनेसे पाठक या श्रोताके मनमें कवि या उसकी रचनाके प्रति अनेक प्रकारकी भावनाएँ उठती हैं जिसका कारण व्यक्ति-वैचित्र्य या प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि-भिन्नता ही है।

## अभिनवभरतका तन्मयतावाद

अभिनवभरतका मत है—'तन्मयत्वं रस:।' [ तन्मयता ही रस है। ] रसपर जितना विचार और शास्त्रार्थ हुआ है, सब दार्शनिक दृष्टिसे किया गया, साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टिसे नहीं, और सम्भवत: जितने लोगोंने इसपर मीमांसा की है उनमेंसे कोई भी ऐसा नाट्य-रसिक नहीं रहा, जिसने स्वत: नाटक देखे हों, अभिनय किया हो और नाट्य-प्रयोक्ता बनकर नाटकका प्रयोग कराया हो। वास्तवमें रसका विवेचन तीन दृष्टियोंसे करना चाहिए—१. नाटककारकी दृष्टिसे, २. अभिनेताकी दृष्टिसे और ३. सामाजिककी दृष्टिसे। किन्तु इससे पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि रस है क्या।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें रसकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

[ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। ] जब आलम्बन और उद्दीपन ठीक हों, उनके प्रभावसे आश्रयमें आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अनुभाव प्रकट हों तथा विभिन्न सञ्चारी भाव उस आश्रयके स्थायी भावको यथोचित रूपसे पुष्ट करते चलें, उस समय इन सबके संयोग ( सम्यक् योग अर्थात् ठीक मेल ) से रसकी निष्पत्ति या सिद्धि होती है।' इसे यों समझना चाहिए कि 'जब रङ्गमञ्चपर नायक या नायिका या दोनों या कोई पात्र किसी विशेष परिस्थितिमें दिखाई पड़ें अर्थात् वे किसी विशेष स्थल ( उपवन, नदी, पर्वत, घर, वन्दीगृह आदि ) में इस दशामें दिखाए जायँ कि उन्हें पसीना छूटता हो, कँप-कँपी चढ़ी हो, सुध-बुध भूल गए हों, जँभाई ले रहे हों, आँसू बहा रहे हों, हाथ-पैर पटकते हों या विशेष रूपसे शरीरके अङ्ग हिलाते-डुलाते या चलाते हों या अन्टसन्ट कपड़े पहनते हों, त्रास, हर्ष, उद्वेग, स्वप्न, विबोध, चिन्ता, क्रोध, चिढ़ आदि अनेक प्रकारके भाव उनके मुँहपर आते-जाते हों तब इन सबके ठीक इकट्ठे होनेसे एक विशेष प्रभावपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसका परिणाम जाननेकी उत्कट व्यग्रताके कारण दर्शककी समस्त इन्द्रियोंके अन्य व्यापार रुक जाते हैं। उस परिस्थितिमें वह एकाग्र होकर जो तन्मयता स्थापित कर लेता है उसीको रस कहते हैं अर्थात् असाधारण तन्मयताकी स्थिति को ही रस कहते हैं।

### रसके अनुबन्ध

रसके सम्बन्धमें अग्राङ्कित बातें भली-भाँति स्मरण रखनी चाहिएँ— १. दर्शक, पाठक या श्रोतामें स्थायी भाव रहता है। २. रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्र ( नायक-नायिका आदि ) आलम्बन हैं। ३. ये पात्र या नायक-नायिका आदि जिन परिस्थितियों या दृश्योंमें कार्य करते दिखाई देते हैं वे परिस्थितियाँ उद्दीपन विभाव हैं। ४. रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्र अपनी चेष्टाओं और अपनी बातचीतमें जब अनेक प्रकारके भाव, चिन्ता, उत्सुकता, व्यग्रता, धैर्य आदि प्रकट करते हैं वही सञ्चारी भाव हैं। ५. इन सब पात्रों ( आलम्बन विभाव ), परिस्थितियों ( उद्दीपन विभाव ), पात्रोंकी चेष्टाओं, मुखमुद्राओं, वचनों आदिसे व्यक्त होनेवाले भाव ( अनुभाव ) और सञ्चारी भाव जब ठीक मेलके साथ इकट्ठे दिखाई देते हैं ( उनका संयोग होता है ) तब दर्शकके हृदयमें उपस्थित रहनेवाला स्थायी भाव उभड़ता

है और उसके उभड़नेसे दर्शक उस कथामें तन्मय हो जाता है और यही तन्मयताकी अवस्था रस कहलाती है ।

### काव्यमें रसानुभूति

नाटकमें तो दर्शक प्रत्यक्ष रूपसे अपनी आँखोंके सामने पात्रोंको देखता, उनकी वाणी सुनता और चेष्टाओंका सम्प्रेक्षण करता है किन्तु काव्यमें पाठक या श्रोता प्रत्यक्ष देखनेके बदले इन पात्रों, परिस्थितियों तथा चेष्टाओं और वाणी-द्वारा व्यक्त भावोंका मानस प्रत्यक्षीकरण करता है । अतः इस दृष्टिसे काव्यसे भी पाठक या श्रोताके हृदयमें रसकी अनुभूति हो सकती है । किन्तु काव्यमें प्रायः भाषाकी कठिनाई सदा रस-बोधमें बाधक होती रही है । अतः आल्हा आदि जो काव्य सर्वबोध हों उनमें तो सार्वजनिक रूपसे श्रोताओंके हृदयमें रस उत्पन्न हो सकता है किन्तु महाकाव्योंमें केवल विद्वज्जन ही रस प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि वहाँ रसानुभवके लिये केवल सहृदयता ही नहीं वरन् विद्वत्ता भी अपेक्षित है । अतः काव्यमें तो भाषाकी कठिनाईके कारण रसानुभूतिमें बाधा पड़ भी सकती है, किन्तु दृश्य होनेके कारण नाटकमें तो रसानुभूति होती ही है और वह रसानुभूति अनेक प्रकारकी होती है ।

### रसके अनेक रूप

शारदातनयने भावप्रकाशनम्‌में स्पष्ट कहा है कि 'नाटकमें लोग अलग-अलग रूपसे रस लेते हैं, यहाँतक कि कुछ लोग केवल नायक-नायिकाओंके रूपका, कुछ वाणीका, कुछ लीलाका, कुछ हावका, कुछ उक्तिका, कुछ सङ्गीतका, कुछ सज्जाका और कुछ दृश्यका ही रस लेते हैं ।' अतः नाटकके रसको केवल उपर्यङ्कित भावात्मक रसतक ही परिमित नहीं समझना चाहिए, उसमें शब्दात्मक, सज्जात्मक, सङ्गीतात्मक अर्थात् रूपात्मक या बाह्य रस भी होते हैं । अतः भावात्मक रसोंको सात्त्विक और रूपात्मक रसोंको बाह्य रस समझना चाहिए, जो उतने ही महत्त्वके होते हैं जितने भावात्मक रस । शारदातनयने अपने भाव-प्रकाशनम्‌के अष्टम अधिकारमें विस्तारसे निरूपण किया है कि सब प्रकारके लोगोंको नाट्यमें किस प्रकार आनन्द मिलता है—

> कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः ।
> शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धैः रसभावविवेचकैः ।।
> बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्यं यन्नाट्यमुच्यते ।
> तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम् ।।

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः ।।
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।।
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा ।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा ।।

[ कामी, सभा-चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े, रस और भावके पारखी गुणी जन, यहाँतक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ, सभी नाट्यका आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि नाट्यसे वे अपने-अपने मनकी रुचिके अनुसार आनन्द या हर्ष प्राप्त करते हैं। तरुण लोग कामकी बातोंमें, सभा-चतुर लोग नीतिकी बातोंमें, सेठ लोग पैसा कमानेकी बातोंमें, विरागी लोग मोक्षकी बातोंमें, वीर लोग बीभत्स, रौद्र और युद्धकी बातोंमें, बड़े-बूढ़े लोग धर्मकी कथाओंमें और पण्डित लोग सात्त्विक भावोंमें आनन्द प्राप्त करते हैं। यहाँतक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ हँसी-विनोदकी बातें सुनकर और नटोंकी वेशभूषा देखकर ही मगन हो जाती हैं। ]

### तीन प्रकारसे सहानुभूति

तात्पर्य यह है कि रसानुभूति तीन प्रकारसे होती है—१. द्रष्टा-रूपसे, जिसमें दर्शक उस विषयमें अर्थात् नटोंकी चेष्टा, बातचीत आदिमें द्रष्टा-रूपसे अलग होकर आनन्द लेता है। यह रसानुभूति हास्य, रौद्र, बीभत्स और अद्भुतमें होती है। २. तादात्म्य रूपसे, जिसमें नाटकके किसी पात्रसे दर्शक तन्मयत्व सिद्ध कर लेता है और उसका दुःख-सुख अपना दुःख-सुख समझता है। इसमें स्त्रियाँ तो नायिका या स्त्री पात्रसे और पुरुष दर्शक किसी नायक या पुरुष पात्रसे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। शृङ्गार और वीर-नाटक तथा काव्यमें यही तादात्म्य-भाव होता है, यदि नायक या नायिका पूज्य या पूज्या हों तब द्रष्टा-भावसे ही रसानुभूति होती है। ३. सम्वादी रूपसे, जिसमें भाव या घटनाके परिणामके कारण समवेदनाका भाव व्याप्त होता है अर्थात् यह भाव होता है कि 'कहीं यह बेचारा मारा न जाय' आदि। करुण और भयानक रसोंमें यही समवेदनाके भावकी सम्वादी रसानुभूति होती है।

### रस किसमें होता है ?

जिसके लिये नाटक या काव्य लिखा जाय वास्तवमें रस उसीमें उत्पन्न

होता है क्योंकि कवि रसकी सृष्टि उसीके लिये करता है। अतः नाटक या काव्यमें कविका काम है—१. 'ऐसे आलम्बन खड़े करना जिनके कारण पाठक या दर्शकमें कवि-द्वारा उद्दिष्ट मानसिक तन्मयता उत्पन्न हो सके और २. ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जिनमें उद्दिष्ट मानसिक तन्मयता उत्पन्न हो सकनेमें सहायता मिल सके। इन दोनोंकी सृष्टि करके ही कवि और नाटककारका काम पूर्ण होता है।' इसके पश्चात् नाटकमें प्रयोक्ताका कार्य प्रारम्भ होता है—'वह अभिनेताओंको ऐसी शिक्षा दे कि वे उचित आलम्बन बन सकें, नाटककार-द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न परिस्थितियोंके अनुकूल ऐसा अभिनय कर सकें जिससे दर्शकोंमें रसानुभूति हो और दर्शक इस योग्य हों कि नाटककार जो प्रभाव डालना चाहता हो वे उससे भावित हों।' जब यह शक्ति नाटककारकी रचनामें हो तभी दर्शक भावित हो सकते हैं और यह भावित होना या तन्मयता (मनका उसमें पूर्णतः डूब जाना) ही रस है। अर्थात् दृश्य-काव्यकी रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि नट लोग उसके आधारपर आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय करके ऐसा रस या आनन्द उत्पन्न कर सकें कि दर्शक उसमें तन्मय हो जायँ, जैसे खेल देखते समय दर्शक ऐसी भावभङ्गी करने लगता है कि वह भी खेलमें भाग ले रहा है उसी प्रकार दर्शक भी अच्छे नाट्यसे प्रभावित होकर नाटकमें नायकपर विपत्ति देखकर यह चाहता है कि 'अभी मैं जाकर भेद कह दूँ या कोई आकर इसे बचा दे।' यही उसका आस्वादन या तन्मयता है। जैसे मोदक (आलम्बन) अपने सुन्दर गन्ध (उद्दीपन) से उद्दीप्त करके मुँहमें पानी (अनुभाव) भरते हुए मनको ऐसा प्रेरित करता है कि हाथ चलाकर मुँहमें मोदक डाला जाय तब हमारी स्वाद-शक्ति (स्थायी भाव) हर्ष (सञ्चारी) के साथ उसका स्वाद लेती है और फिर जीभके साथ हमारा मन भी उसमें रस लेने लगता है, वैसे ही नाट्यमें भी आँख-कानके साथ हमारे मन, आत्मा और बुद्धि सबको आनन्द मिलता है। जैसे पानकसे दो कार्य होते हैं—१. आस्वादन और २. स्वास्थ्य-लाभ, वैसे ही रससे एक तो प्रत्याक्षानन्द होता है, दूसरे अप्रत्यक्ष रूपसे चरित्र-संशोधन होता है, जो कान्ता-सम्मित उपदेशके समान स्वयं हमारी वृत्तियोंका संस्कार करता चलता है।

### रसका उपभोक्ता कौन ?

नाट्यमें रस-शृङ्गारादि कौन उपभोग करता है? नट या दर्शक या वे मूल

पात्र जिनका रूपक धारण किया जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि नट रस लेने लगेगा तो नाटक चौपट कर देगा। यदि दर्शक लेता है तो शृङ्गारका रस कैसे लेता है? नायिकासे नायक जब प्रेमालाप करता है उस समय नटीमें (यदि सुन्दर हो तो) अपनी पत्नीका भाव करके अर्थात् साधारणी-करण करके क्या वह काल्पनिक रस लेता है? काल्पनिक तो रस नहीं होता? और फिर यदि नटीमें उसका स्वपत्नीत्वका भाव है तो वह नायकका अभिनय करनेवालेसे ईर्ष्या करेगा। फिर कभी-कभी रङ्गमञ्चपर रौद्र अभिनय देखकर (क्रोधमें एक व्यक्ति किसी बालककी पीटता है) हमें करुणा आती है और बीभत्सको देखकर घृणा नहीं होती, तब रसका आस्वाद कैसे होता है? वह इस प्रकारसे कि रस शाश्वत वस्तु है। जब हम कहते हैं कि अमुक नाटकके द्वारा अमुक रस उत्पन्न किया गया है या 'उत्तररामचरित' करुण नाटक है तो उसका अर्थ यह होता है कि नाटककारने अपने नाटकको अभिनेताओंके द्वारा इस प्रकार अभिनीत कराया कि दर्शक-गणके हृदयमें सोई हुई करुणा या करुणाका भाव ऐसा जग गया कि वे करुणाके अवसरोंपर आँसू बहावें, अर्थात् उनका हृदय ऐसा सध जाय कि दूसरोंकी विपत्तिमें उनकी करुणा वेगसे उमड़ पड़े। हमारा मत है कि केवल नाट्यमें ही रस होता है। इसका कारण यह है कि उसकी भाषा न समझनेपर भी केवल दृश्यमात्रसे मनुष्य प्रभावित हो सकता है, जैसे यदि दो भील परस्पर अपनी भाषामें तर्जन करके लड़ रहे हों और एक दूसरेपर आक्रमण कर रहे हों तो उन्हें देखकर हमपर उसका वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा किन्हीं हिन्दी भाषा-भाषियोंको लड़ते देखकर। किन्तु काव्यके रसके लिये भाषा, अलङ्कार, रीति, शास्त्र आदिका ज्ञान परम आवश्यक है। नाट्यका रस लेनेमें भाषा बाधक नहीं होती। मूक चित्रपट इसके उदाहरण हैं। उसमें तो अभिनेताओंके रूप, रङ्ग, क्रिया, अभिनय आदिसे ही रस मिल जाता है, भले ही भाषा समझमें न आवे।

### नटकी रसानुभूति

फ्रान्समें एक 'पारादोक्से सुर ला कौमीदिएँ'का सिद्धान्त चला है जिसका तात्पर्य यह है कि 'जो बड़े अभिनेता अपने भावमय अभिनयसे जनताको प्रभावित करते हैं वे उस भावको स्वयं अनुभव नहीं करते। वे अपनी भूमिकाके चरित्रके सम्बन्धमें अपने मस्तिष्कमें कुछ धारणा बना लेते हैं और उसकी वास्तविक प्रकृतिका सीधा अनुकरण न करके उससे भी आगे

बढ़कर आदर्श प्रतिकृति ( मोदेल आइदियाल ) के रूपतक पहुँच जाते हैं अर्थात् वे जो कुछ करते हैं वह सब कलाकृति होती है अर्थात् वे अपने स्वर, भावभङ्गी, हर्ष और विषादको एक विशेष कौशलसे दिखाते हैं। इन सबका भावकी एकात्मकतासे कोई सम्बन्ध नहीं है जिसमें अभिनेता मूल चरित्रके साथ एकात्मता नहीं स्थापित करता। इसे यों कह सकते हैं कि अनुभूति वास्तवमें दर्शकमें होती है, अभिनेता केवल भाव प्रस्तुत करता है।

**रसोंकी संख्या**

भरतने आठ रस माने हैं—१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स और ८. अद्‌भुत। कुछ लोगोंने शान्तको भी नवाँ रस माना है किन्तु भरत और धनञ्जयने नाटकमें शान्त रसका प्रयोग पूर्णत: अमान्य कर दिया है। [ शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक ] यह मत ठीक भी है क्योंकि नाटकमें तो आङ्गिक, वाचिक सात्त्विक और आहार्य क्रियाओंके द्वारा ही नाटकका प्रदर्शन होता है और ये सब अभिनय कार्यके द्योतक हैं। कार्य होना शान्तिका लक्षण नहीं क्योंकि शान्तिकी अवस्थामें सब बाह्य और मानसिक क्रियाओंका शमन या अवसान हो जाना चाहिए। अत: नाट्यमें शान्तिकी कल्पना ही करना व्यर्थ है। कुछ लोगोंने यह विचार किया है कि 'नाट्यमें तो नहीं किन्तु काव्यमें शान्त रस अवश्य होता है जैसे आनन्दवर्धनने महाभारतमें शान्तको ही मुख्य रस माना है।' किन्तु यह भी उनका भ्रम है। महाभारतका अन्त बड़ा करुण है और वह वास्तवमें शान्त न होकर करुण रसका परिचायक है। इसके अतिरिक्त महाभारतमें अनेक व्यापारोंमें अनेक रस विद्यमान हैं। बहुतसे आचार्योंने पूरे काव्यमें ही एक रस मान लिया है। यह उनकी सबसे बड़ी भूल है। रस तो प्रत्येक कथासे उत्पन्न होनेवाला वह 'आनन्द' है जो भिन्न कथाओंमें भिन्न रूपसे उत्पन्न होता है। अत: आनन्दवर्धनका यह कहना नितान्त भ्रामक है कि 'महाभारत जैसे पूरे काव्यमें एक रस शान्त ही है।' रुद्रटने अपने काव्यालङ्कारमें 'प्रेयान्' नामका दशम रस माना है। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें 'वात्सल्य'को भी रस मान लिया है। गौड़ीय सम्प्रदायके वैष्णवोंने 'माधुर्य' रसको ही सर्वश्रेष्ठ रस माना है। इसी प्रकार कुछ भक्तोंने 'भक्ति'को रस माना है और भानुभट्टने तो 'रसतरङ्गिणी'में 'माया'को ही रस मान लिया है। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो

देश-प्रेम, जाति-प्रेम और धर्म-प्रेम भी अलग-अलग रस हो सकते हैं। किन्तु वास्तवमें ये सब राग या रतिके ही विभिन्न रूप और उसकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

### काव्यमें रस

ध्वनिवादी आचार्योंने काव्यमें रसका ही विशेष महत्त्व माना है। उन्होंने तीन प्रकारकी ध्वनियाँ मानी हैं—१. वस्तुध्वनि, २. अलङ्कारध्वनि और ३. रसध्वनि और इन तीनोंमें उन्होंने रसध्वनिको ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। भोजराजने सम्पूर्ण वाङ्मयको ही तीन भागोंमें बाँट दिया है—(क) स्वभावोक्ति, (ख) वक्रोक्ति और (ग) रसोक्ति, जिनमेंसे वे रसोक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और शृङ्गारको ही प्रधान रस (शृङ्गारैक रसः) मानते हैं। विश्वनाथ कविराजने तो रसको 'काव्यका आत्मा' मानते हुए काव्यका लक्षण ही बताया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और 'रस्यते इति रसः' (जो आनन्द दे वह रस है)। ध्वनिवालोंने ध्वनिके दो भेद १. लक्षणामूला और २. अभिधामूला बताते हुए अभिधामूलाके दो भेद किए हैं—१. संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और २. असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। उनमेंसे असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यको आठ प्रकारका बताया है—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भाव-शान्ति, ६. भावोदय, ७. भाव-सन्धि, ८. भाव-शबलता। यह व्याख्या करके भाव, भावाभास, रसाभास आदि सबको उन्होंने रसके अन्तर्गत ही ले लिया है और इस प्रकार रसको अत्यन्त व्यापक बनाकर उसे काव्यका मूल तत्त्व मान लिया है। रुद्रटने भी भरतकी व्याख्या मानते हुए रसको ही काव्यका आत्मा माना है। अग्निपुराणमें काव्यमें वक्रोक्तिसे उत्पन्न चमत्कारको प्रधान माना है किन्तु साथ ही काव्यका प्राण उसमें रस ही माना गया है—'वाग्वैदग्ध्यं प्रधानेति रस एवात्र जीवितम्।' राजशेखरने भी अपनी काव्य-मीमांसामें रसको काव्यका आत्मा माना है जो शौद्धोदनिको भी स्वीकार्य है—'अलंकारस्तु शोभायां रस आत्मा परे मनः।' [शोभामें अलंकार होता है किन्तु आत्मा रस ही है।] इस प्रकार यह रस-सम्प्रदाय व्यापक रूपसे आजतक मान्य सिद्धान्त रहा है।

### विभाव

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति या सिद्धि होती है। विभावका अर्थ है विभावन करनेवाला या स्वाद लेनेके

योग्य बनानेवाला। ये विभाव दो प्रकारके होते हैं—१. आलम्बन, जिसके अन्तर्गत नायक या नायिका अथवा कोई ऐसा व्यक्ति आता है जिसके कारण दर्शकको रस प्राप्त हो, किन्तु वह कोई मनुष्य ही होना चाहिए। २. उद्दीपन विभाव, जिसके अन्तर्गत वे सब ऋतु, स्थान और परिस्थितियाँ आती हैं जिनकी अवस्थितिमें आलम्बन कार्य करता है।

### आश्रय

आचार्य मानते हैं कि 'आलम्बनकी क्रिया, चेष्टा या रूपसे जिसका हृदय प्रभावित हो उसे आश्रय कहते हैं, जैसे राम ( आलम्बन ) को लताकुञ्ज ( उद्दीपन ) में देखकर सीताजीके मनमें रतिका उद्बोधन हुआ तो सीताजी 'आश्रय' हो गईं। उसी समय सीताजी ( आलम्बन ) को फुलवारी ( उद्दीपन ) में देखकर रामके मनमें अनुरागका उद्‌बोधन हुआ तो राम ही आश्रय हो गए। अर्थात् नाटक या प्रबन्ध-काव्यमें आलम्बनके रूप, कार्य या वाणीका जिसपर प्रभाव पड़ना दिखाया या वर्णित किया जाय उसे आश्रय कहते हैं। जहाँ ऐसा कोई व्यक्ति दिखाया या वर्णित न किया गया हो वहाँ उस 'आश्रय'की कल्पना कर ली जाती है।'

### अनुभाव

विभावोंके कारण जो आश्रयके हृदयमें भाव उत्पन्न होकर प्रकट या अनुभूत होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं—१. सात्त्विक, २. आङ्गिक और ३. वाचिक। सात्त्विकके अन्तर्गत आठ भाव लिए गए हैं—१. स्तम्भ : ठक रह जाना या जड़ हो जाना, २. स्वेद : पसीना आना, ३. रोमाञ्च : शरीरके रोंगटे खड़े हो जाना, ४. स्वरभङ्ग : बोली न निकलना, ५. कम्प : कँपकँपी छूटना, ६. वैवर्ण्य : मुँह पीला पड़ जाना, ७. अश्रु : आँसू बहाना और ८. प्रलय : हक्का-बक्का होकर चेतनाहीन व्यक्तिके समान गुमसुम हो जाना।

### सञ्चारी भाव

जब किसी विशेष परिस्थितिके उत्पन्न होनेपर आश्रयके मनमें अनेक प्रकारके भाव उठते और क्षण-क्षणपर आते-जाते रहते हैं उन्हें सञ्चारी भाव कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस मानी गई है। किन्तु यह गणना न तो उचित ही है और न विवेकपूर्ण ही। अभिनवभरतका मत है कि 'सञ्चारी भावका जो विवेचन किया गया है उसमें अनेक प्रकारकी त्रुटियाँ

हैं।' उनके मतानुसार कुछ पुराने सञ्चारी निकालकर तथा कुछ नये जोड़कर बत्तीस सञ्चारी भाव होने चाहिएँ, जिनका विवरण ३२५ से ३६६ पृष्ठ-तक पीछे दिया जा चुका है।

### स्थायी भाव

रसोंके अनुसार अग्रांकित स्थायी भाव माने गए हैं—१. शृङ्गारका स्थायी भाव रति, २. हास्यका हास, ३. करुणका शोक, ४. रौद्रका क्रोध, ५. वीरका उत्साह, ६. भयानकका भय, ७. बीभत्सका जुगुप्सा या घृणा, ८. अद्भुतका विस्मय और ९. यदि शान्तको भी रस मान लिया जाय तो उसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति मान लिया जायगा। इन आठों स्थायी भावोंका विवरण पीछे ३६६ पृष्ठपर विस्तारसे दिया जा चुका है।

### मम्मटका विवेचन

मम्मटने काव्यप्रकाशमें कहा है कि 'जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंसे प्रेरित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है।' उनका कहना है कि 'सहृदयोंके हृदयमें रति, हास, शोक आदि भाव छिपे या दबे हुए रहते हैं किन्तु काव्य सुनने या पढ़ने अथवा नाटक देखनेसे वे उभड़कर रस बन जाते हैं।' पीछे नाटकके प्रकरणमें नायक-नायिकाओंका वर्णन करते समय हम नायक-नायिकाओंके भेद और उनके गुण आदि सबका विस्तारसे विवेचन कर आए हैं।

### शृङ्गार-रस

शृङ्गारको रसराज ( सब रसोंका राजा ) कहा गया है क्योंकि शृङ्गारमें दो आलम्बन ( नायक-नायिका ) होते हैं, सभी अनुभाव हो सकते हैं और सभी सञ्चारी भाव हो सकते हैं। शृङ्गारके दो पक्ष हैं—१. सम्भोग या संयोग-शृङ्गार, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिकाका पारस्परिक अवलोकन, आलिङ्गन आदि आते हैं; २. विप्रलम्भ या वियोग-शृङ्गार, जिसमें शङ्का, उत्सुकता, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रमाद, चिन्ता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव माने गए हैं और सन्ताप, निद्राभङ्ग, कृशता तथा प्रलाप आदि अनुभाव माने गए हैं। यह वियोग पाँच कारणोंसे माना गया है—( क ) अभिलाषा, ( ख ) ईर्ष्या, ( ग ) विरह, ( घ ) प्रवास, ( ङ ) शाप। इनमें अभिलाषासे वह वियोग होता है जहाँ चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष

दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण आदिसे पूर्वानुराग होता है। इस वियोग-श्रृङ्गारमें दस काम-दशाएँ मानी गई हैं—१. अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुणकथन, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. दृढ़ता और १०. मृति।

### हास्य रस

बेढङ्गा आकार, बेढङ्गी बोली और वेश-भूषा तथा चेष्टा आदिसे हास्य उत्पन्न होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. आत्मस्थ और २. परस्थ। जो हास्यकी वस्तु देखनेसे स्वयं उत्पन्न होता है वह आत्मस्थ और जो दूसरेको हँसते देखकर उत्पन्न होता है वह परस्थ कहलाता है। इस हास्यके छः भेद होते हैं—(क) स्मित, (ख) हसित, (ग) विहसित, (घ) अवहसित, (ङ) अपहसित और (च) अतिहसित। ये सब भेद कम और अधिक हँसनेके परिणामके अनुसार बनाए गए हैं।

### करुण रस

बन्धुओंके विनाश और वियोगसे अथवा धर्मपर आपत्ति या द्रव्यनाश आदि अनिष्ट घटनाओंसे करुण रस उत्पन्न होता है।

### रौद्र रस

शत्रुका सम्मुख होना या कार्य करना, अपमानित होना, किसीसे द्वारा बुराई होना या गुरुजनोंकी निन्दा आदिसे रौद्र रस होता है।

### वीर रस

अत्यन्त उत्साहसे वीर रसकी उत्पत्ति मानी गई है। इस वीर रसके चार भेद हैं—१. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर। किन्तु अब इनमें पाँचवाँ 'विक्रमवीर' भी बढ़ा लेना चाहिए जो उन लोगोंके लिये प्रयुक्त हो सकता है जो असाधारण कार्य करनेका साहस करते हैं, जैसे हिमालय पर्वतपर चढ़ना। कुछ आचार्योंने यह माना है कि 'वीर-रसका प्रयोग केवल युद्धमें ही करना चाहिए' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। उत्साहके और भी बहुतसे क्षेत्र हैं। जो व्यक्ति अपने प्राण सङ्कटमें डालकर डूबतेको बचाता है वह भी वीर ही है।

### भयानक रस

जब कोई बलवान् अपने ऊपर आक्रमण करे या कोई भयङ्कर वस्तु दिखाई दे तब भयानक रस होता है।

### बीभत्स रस

जहाँ रुधिर, मज्जा या अन्य घृणित वस्तुएँ देखनेसे ग्लानि हो वहाँ बीभत्स रस होता है।

### अद्‌भुत रस

आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओंको देखनेसे अद्‌भुत रस व्यक्त होता है।

### शान्त रस

जो लोग शान्त रस मानते हैं उनका कहना है कि 'तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे शान्त रस होता है।' इसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति, संसारकी असारता ही आलम्बन, आश्रम, तीर्थ, श्मशान, सत्सङ्ग आदि उद्दीपन, रोमाञ्च और अश्रु आदि अनुभाव और स्मृति, मति आदि सञ्चारी होते हैं।

शेष आठ रसोंके स्थायी भावोंका विस्तृत विवरण हम पीछे 'साहित्यके विषय और प्रयोजन'के प्रकरणमें ३६६ से ३७१ पृष्ठोंमें दे आए हैं जहाँ यह भी बताया गया है कि प्रत्येक स्थायी भावके कितने रूप होते हैं और उनके साथ कितने अनुभाव, सञ्चारी भाव तथा चेष्टाओंका प्रदर्शन होता है।

### भाव

देवता, गुरु, महापुरुष और पुत्र आदिके प्रति जो पूज्य-बुद्धि, श्रद्धा-बुद्धि, या वात्सल्य-बुद्धि होती है वह 'भाव' कहलाती है। इसी प्रकार जब आलम्बनको देखकर उसके अनुकूल स्थायी भाव जाग तो जाय किन्तु उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी न हों तब वे भी भाव ही कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ सञ्चारी भाव ही प्रधानतासे व्यक्त होते दिखाई पड़ें वे भी भाव होते हैं जैसे हर्ष, उत्सुकता आदि।

### रसाभास

जब अनुचित और असङ्गत रूपसे रसका प्रयोग किया जाता है, जैसे चिड़ियोंके प्रेमका या नायक-नायिकामें एकपक्षीय प्रेम दिखाना आदि। ऐसी स्थितिमें रसाभास होता है, रस नहीं।

### भावाभास

जब अनुचित और असङ्गत रूपसे भावका वर्णन किया जाता है, जैसे पक्षी-द्वारा चिन्ताका वर्णन या जहाँ रसाभासके अङ्ग होकर भाव आते हैं उन्हें भावाभास कहते हैं।

### भावशान्ति

जहाँ एक भावका वर्णन हो रहा हो और उसी समय किसी दूसरे भावके सहसा प्रकट हो जानेसे पहले भावकी समाप्तिमें जो चमत्कार आ जाता है उसे भावशान्ति कहते हैं। जैसे—

बहुबिधि सोचत सोच-बिमोचन। स्रवत सलिल राजिवदल-लोचन।
प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भए बानर निकर।
आइ गए हनुमान, जिमि करुणा महँ बीररस॥
हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। (अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना)॥

—तुलसी

### भावोदय

जहाँ किसी भावके समाप्त होनेपर सहसा कोई दूसरा भाव उदय हो और उसके उदय होनेमें कोई चमत्कार हो वहाँ भावोदय होता है।

### भाव-सन्धि

जहाँ समान चमत्कारवाले दो भाव एक साथ उपस्थित हों वहाँ भाव-सन्धि होती है।

### भाव-शबलता

जहाँ एक साथ एकके अनन्तर दूसरे भाव आकर एकत्र हो जायँ वहाँ भाव-शबलता होती है।

# अलङ्कार

अलङ्कारका अर्थ है सजाना। सबसे पहले भामहने यह मत प्रवर्त्तित किया कि 'कविताके सौन्दर्यके लिये अलङ्कार आवश्यक हैं।' उनके इस सिद्धान्तका समर्थन उनके टीकाकार उद्भटने किया और फिर दण्डी, रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज आदि अनेक विद्वानोंने उनका अनुगमन किया। दण्डीका मत है कि 'काव्यका पोषण करनेवाले अङ्गोंको अलङ्कार कहना चाहिए।' इसी प्रकार रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने साहित्य-ग्रन्थोंमें काव्यके लिये अलङ्कारको ही प्रधान माना है। ये लोग अलङ्कारको काव्यका प्राण मानते हुए कहते हैं कि 'जैसे उष्णता ही अग्निका मुख्य गुणतत्त्व है, उसी प्रकार अलङ्कार भी काव्यका प्राणतत्त्व है। जिस प्रकार अग्निको उष्णताहीन मानना अनुचित और मूर्खतापूर्ण है वैसे ही काव्यको अलङ्कारहीन मानना भी है।' मम्मटने काव्यका लक्षण बताते हुए कहा है कि 'काव्यके शब्द और अर्थ निर्दोष हों, गुणयुक्त हों और कहीं-कहीं बिना अलङ्कारवाले भी हों तो कोई बात नहीं'—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।' इसपर टिप्पणी करते हुए चन्द्रालोककार जयदेवने कहा है कि 'जो लोग काव्यको अलङ्कारहीन शब्द और अर्थवाला मानते हैं वे यह क्यों नहीं मान लेते कि अग्नि अनुष्ण ( ठण्ढी ) भी होती है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

### रुय्यक

रुय्यकका मत है कि 'प्राचीन आलङ्कारिक भी काव्यमें अलङ्कारको ही प्रधान मानते हैं।' इन अलङ्कारोंका कु दिनों तो ऐसा व्यसन चला कि प्रत्येक आचार्य नये-नये अलङ्कार निकालने लगे यहाँतक कि अलङ्कारोंकी संख्या सैकड़ोंतक पहुँच गई।

भरत

भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें केवल चार अलङ्कारोंका उल्लेख किया है—१. अनुप्रास, २. उपमा, ३. रूपक और ४. दीपक। उन्होंने पाँच प्रकारकी उपमा मानी है—१. प्रशंसा, २. निन्दा, ३. कल्पिता, ४. सदृशी और ५. किञ्चित्सदृशी। भरतने उपमामें समानता भी चार ढङ्गसे मानी है—१. एकका एकके समान, २. एकका अनेकके समान, ३. अनेकका एकके समान और ४. अनेकका अनेकके समान होना। किन्तु पीछेके आचार्योंने ये सब भेद नहीं माने। भरत इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कहा कि 'उपमाके इतने भेद हमने संक्षेपमें बता दिए हैं, शेष भेद काव्य-जगत्से ग्रहण कर लेने चाहिएँ।' इसके पश्चात् उन्होंने रूपक और दीपकके लक्षण देकर यमकके अग्राङ्कित भेद बताए हैं—पादान्त, काञ्ची, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, सन्दष्ट, पदादि, आम्रेदित, चतुरव्यवसित और माला। भरतने एक विशेष बात और की है कि सत्रहवें अध्यायके अन्तमें उन्होंने विभिन्न रसोंके लिये विभिन्न अलङ्कारोंके प्रयोगका विधान बताते हुए कहा है—'छोटे-छोटे अक्षरोंसे युक्त शब्दोंसे उपमा और रूपकका प्रयोग करके वीर, रौद्र और अद्भुत रसके काव्यकी रचना करनी चाहिए। शृङ्गार रसकी रचनाके लिये रूपक और दीपक अलङ्कारोंसे भार्या-छन्दमें रचना करनी चाहिए।' किन्तु विचित्र बात यह है कि यमकके प्रयोगके लिये उन्होंने कोई निर्देश नहीं दिया। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने यमक नामक शब्दालंकार और शेष उपमा, रूपक और दीपक अर्थालङ्कारोंका निर्देश अवश्य कर दिया जिन्हें बढ़ाते-बढ़ाते कुवलयानन्दतक अलङ्कारोंकी संख्या १२५ तक पहुँच गई है। आगे चलकर अलङ्कारोंके स्वरूप और लक्षणमें भी वैमत्य हो गया और सभी आचार्य एक रूढिमें न बँधकर स्वतन्त्र रूपसे अलङ्कारकी विवेचना करते रहे।

## अलङ्कारके आचार्य और ग्रन्थ

ऐतिहासिक क्रमसे विचार किया जाय तो अलङ्कारके आचार्यों और ग्रन्थोंका निम्नलिखित क्रम होगा—

| आचार्य | ग्रन्थ | अलङ्कार-संख्या |
|---|---|---|
| १. भरत | नाट्यशास्त्र | ४ |

| आचार्य | ग्रन्थ | अलङ्कार-संख्या |
|---|---|---|
| २. वेदव्यास | अग्निपुराण | ७ शब्दालङ्कार<br>१५ अर्थालङ्कार |
| ३. भट्टि | भट्टिकाव्य | ३८ |
| ४. भामह ( द्वितीयसे छठी शताब्दिके बीच ) | काव्यालङ्कार | ३८ |
| ५. दण्डी (सप्तम शताब्दि) | काव्यादर्श | ३६ |
| ६. उद्भट (अष्टम शताब्दि) | काव्यालङ्कार-सार-सङ्ग्रह | ४१ |
| ७. वामन ( ,, ) | काव्यालङ्कार-सूत्र | ३३ |
| ८. रुद्रट (नवम शताब्दि) | काव्यालङ्कार | ५ शब्द०, ५० अर्थ० |
| ९. भोज (एकादश शताब्दि) | सरस्वती-कण्ठाभरण | २४ ,, २४ ,,<br>२४ उभयालङ्कार० |
| १०. मम्मट ( ,, ) | काव्य-प्रकाश | ८ शब्द०, ६२ अर्थ० |
| ११. रुय्यक (द्वादश शताब्दि) | अलङ्कार सूत्र ( अलंकार-सर्वस्व ) | ८४ शब्द० और अर्थ० |
| १२. वाग्भट (द्वादश शताब्दि) | वाग्भटालंकार | ४ शब्द०, ३५ अर्थ० |
| १३. हेमचन्द्राचार्य ( द्वादश शताब्दि ) | काव्यानुशासन | ६ ,, २९ ,, |
| १४. जयदेव ( द्वादश-त्रयोदश शताब्दि ) | चन्द्रालोक | ८ ,, ८२ ,, |
| १५. विद्याधर ( १२७५ से १३२५ ) | एकावली | ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश और अलंकार-सर्वस्वके आधारपर |
| १६. विद्यानाथ ( १२७५ से १३२५ ) | प्रतापरुद्र-यशोभूषण | काव्यप्रकाश और अलंकार-सर्वस्वके आधारपर |
| १७. ( द्वितीय ) वाग्भट ( चतुर्दश शताब्दि ) | काव्यानुशासन | |
| १८. विश्वनाथ कविराज ( चतुर्दश शताब्दि ) | साहित्य-दर्पण | ६० शब्द और अर्थ |

| आचार्य | ग्रन्थ | अलङ्कार-संख्या |
|---|---|---|
| १९. अप्पय दीक्षित (१५७४–१६६७) | कुवलयानन्द और चित्र-मीमांसा | १२५ |
| २०. शोभाकर (सप्तदश शताब्दि) | अलंकार-रत्नाकर | पूर्वाचार्योंसे २७ अलङ्कार अधिक |
| २१. यशस्क | अलङ्कारोदाहरण | ६ नवीन अलङ्कार |
| २२. पण्डित जगन्नाथ (सप्तदश शताब्दि) | रसगङ्गाधर | ७० शब्द० और अर्थ० |

### अलङ्कारोंका वर्गीकरण

सर्वप्रथम रुद्रटने अपने काव्यालङ्कारमें एक विशेष सिद्धान्तके अनुसार सब अलङ्कारोंके कारण निश्चय करके तदनुसार उनका विभाजन किया और बताया कि अलङ्कारोंके चार आधार हो सकते हैं—१. औपम्य, २. वास्तव, ३. अतिशय और ४. श्लेष।

औपम्यके अन्तर्गत १. उपमा, २. उत्प्रेक्षा, ३. रूपक, ४. अपह्नुति, ५. संशय (सन्देह) ६. समासोक्ति, ७. मत, ८. उत्तर, ९. अन्योक्ति (अप्रस्तुत-प्रशंसा), १०. प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३. भ्रान्तिमान्, १४. आक्षेप, १५. प्रत्यनीक, १६. दृष्टान्त, १७. पूर्व, १८. सहोक्ति, १९. समुच्चय, २०. साम्य, २१. स्मरण।

वास्तवके अन्तर्गत १. सहोक्ति, २. समुच्चय, ३. जाति (स्वभावोक्ति), ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६. पर्याय, ७. विषम, ८. अनुमान, ९. दीपक, १०. परिकर, ११. परिवृत्ति, १२. परिसंख्या, १३. हेतु, १४. कारणमाला, १५. व्यतिरेक, १६. अन्योन्य, १७. उत्तर, १८. सार, १९. सूक्ष्म, २०. लेश, २१. अवसर, २२. मीलित, २३. एकावली।

अतिशयके अन्तर्गत १. पूर्व, २. विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४. विभावना, ५. तद्गुण, ६. अधिक ७. विरोध, ८. विषम, ९. असङ्गति, १०. पिहित, ११. व्याघात, १२. हेतु।

श्लेषके अन्तर्गत श्लेषके दस भेद हैं।

रुद्रटके अनन्तर रुय्यक और उसके शिष्य मङ्खकने अलङ्कार-सूत्र या

अलङ्कार-सर्वस्वमें जो अलंकारोंका वर्गीकरण किया है वह अधिक स्पष्ट है। रुय्यकने अर्थालंकारोंको अग्रांकित सात वर्गोंमें विभक्त किया है— १. सादृश्यगर्भ, २. विरोधगर्भ, ३. शृङ्खलाबद्ध, ४. तर्कन्यायमूल, ५. काव्यन्यायमूल, ६. लोकन्यायमूल और ७. गूढ़ार्थप्रतीतिमूल।

एकावलीकार विद्याधरने औपम्य, विरोध, तर्क और शृङ्खलाके अनुसार कुछ वैज्ञानिक ढङ्गसे वर्गीकरण किया है। तात्पर्य यह है कि अलंकार-शास्त्रियोंने अत्यन्त विस्तारके साथ अलंकारके सम्बन्धमें गवेषणापूर्ण विचार किया है इसीलिये हमारा सम्पूर्ण समीक्षा-सम्प्रदाय ही अलंकारशास्त्र कहलाने लगा।

### रस और अलङ्कार

यद्यपि रसका सिद्धान्त अलंकारसे पहले ही चला आ रहा था किन्तु इन अलंकार-सम्प्रदायवादियोंने रसको अलंकारका ही एक प्रकार मान लिया है। रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित और समाहित अलङ्कारोंके भीतर ही उन्होंने रस और भाव सबका समावेश कर लिया है। भामहने कहा है कि 'महाकाव्यमें रसकी स्थिति होती है।' उन्होंने प्रेयस्, रसवत् आदि अलङ्कारोंमें रसका पूरा विवरण दे दिया है और यह भी लिख दिया है कि 'जहाँ स्पष्ट रूपसे शृङ्गार आदि अलङ्कार नहीं प्रतीत होते हैं वहाँ रसवत् अलङ्कार नहीं माना जा सकता।' इसी प्रकार दण्डीने भी रसवत् अलङ्कारके भीतर ही आठों रसों और आठों स्थायी भावोंको ला रक्खा है और गुणोंमेंसे माधुर्यमें रसका सन्निवेश माना है। उद्भटने भी यद्यपि रसवत् अलङ्कारकी व्याख्यामें स्थायी भाव, विभाव और सञ्चारी भाव आदि शब्दोंका प्रयोग तो नहीं किया किन्तु नौ प्रकारके रस उन्होंने मान लिए हैं। रुद्रटने भी यद्यपि अलङ्कारका ही समर्थन और प्रतिपादन किया है किन्तु उनका भी मत है कि 'काव्यमें बड़े यत्नसे रसका सन्निवेश करना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन आचार्योंने अलङ्कारको प्रधान माना है किन्तु रस-तत्त्वकी उन्होंने अवहेलना नहीं की। अन्तर केवल इतना ही रहा कि इन आचार्योंने रसको भी अलङ्कारका एक प्रकार मान लिया।

### अलङ्कार और ध्वनि

काव्यका जो एक विशेष अर्थ या प्रतीयमान अर्थ 'ध्वनि' कहलाता है वह भी इन आलङ्कारिकोंको भली-भाँति ज्ञात था। रुय्यकने स्पष्ट कहा है कि

'भामह और उद्भट आदि अलङ्कार-वादियोंने प्रतीयमान अर्थात् 'व्यंग्य' अर्थको वाच्य अर्थका सहायक मानकर उसे भी अलङ्कारके भीतर ले लिया है।' यद्यपि ये आचार्य इस व्यंग्य अर्थ या ध्वनिको काव्यका आत्मा नहीं मानते हैं और न इन्होंने कहीं इस व्यंग्य अर्थके लिये 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूत-व्यंग्य' शब्दोंका प्रयोग ही किया है किन्तु अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेपके भीतर उन्होंने प्रतीयमान ( प्रतीत होनेवाले ) व्यंग्य अर्थके बहुतसे प्रकार ले लिए हैं। समासोक्ति अलङ्कारकी व्याख्यामें भामहने स्पष्ट कहा है कि 'जहाँ किसी वस्तुका वर्णन किए जानेपर उसके समान गुणवाले दूसरे अर्थकी प्रतीति हो वहाँ समासोक्ति होती है।' यही बात आक्षेप अलंकारमें भी है। इसमें भी उन आचार्योंने प्रतीयमान अर्थको ही महत्त्व दिया है। इसी प्रकार पर्यायोक्ति अलंकारमें भी वाच्यार्थ और वाचक शब्दके अतिरिक्त अन्य दूसरे अर्थोंकी प्रतीति ही पर्यायोक्तिके लिये आवश्यक मानी है। अतः इन आचार्योंने ध्वनिकी भी भावना तो स्वीकार की है पर उनका जो स्वरूप आगे चलकर ध्वन्यालोकमें विशेष प्रकारसे वर्णित किया है वह ग्राह्य नहीं है। रुद्रटने तो इस प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थके विवेचनका अभाव देखकर एक 'भाव' नामका नया अलंकार ही खोज डाला जिसे मम्मटने काव्यप्रकाशमें गुणीभूतव्यंग्यका दृष्टान्त माना है—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

[ गाँवके जवानके हाथमें वञ्जुलकी नई मञ्जरी देखकर नवेलीकी मुखकी छाया बार-बार अत्यन्त मलिन हो रही है। ] अर्थात् उस तरुणीने उस युवकको वचन दिया था कि मैं तुम्हें उस वञ्जुलकी ओटमें मिलूँगी किन्तु वह पहुँच नहीं पाई तब अपना प्रमाण देनेके लिये वह युवक ही उस वञ्जुलकी मञ्जरी साथ तोड़ लाया जिसे देखकर वह नवेली लज्जित हो गई। इसे ही रुद्रटने भाव-अलंकारका उदाहरण माना है। इसके अतिरिक्त रुद्रटने भाव-अलंकारका एक दूसरा भी प्रकार माना है। उसका उदाहरण अभिनव-गुप्तने 'लोचन'में देते हुए दिखलाया है कि 'उसमें भी प्रतीयमान अर्थ तो है किन्तु वह केवल सहायक-मात्र है और वाच्यकी अपेक्षा अधिक गौण है।'

इससे यह समझनेमें कठिनाई नहीं होगी कि अलंकारके आचार्य रुद्रटको भी 'व्यंग्य' या ध्वनिका ज्ञान अवश्य था जिसका विधान उन्होंने अलंकारके

अन्तर्गत ही कर दिया था। अतः आनन्दवर्धनने जिन्हें ध्वनिके सम्बन्धमें अन्तरभाववादी माना है उनमें हम रुद्रटकी भी गणना कर सकते हैं, जो यह मानते हैं कि प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ स्वतन्त्र न होकर विशेष अलंकारोंके अन्तर्गत ही आ जाता है। आगे चलकर जिन आचार्योंने ध्वनिका महत्त्व स्वीकार किया उन्होंने भी अलंकारका वर्णन अवश्य किया, यहाँतक कि व्यंग्यकाव्यको ही उत्तम काव्य माननेवाले काव्यप्रकाशके रचयिता मम्मटने भी अलंकारोंका बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। आगे चलकर तो अलंकारोंकी छानबीन करनेकी प्रणाली ही बन गई।

### अलङ्कार

जिन आचार्योंने काव्यमें अलङ्कारकी कल्पना की है उन्होंने अलङ्कारकी परिभाषा यही बताई है कि 'जिससे सजावट की जाय उसीको अलङ्कार कहते हैं' ( अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः )। जैसे शरीरपर अलङ्कार या आभूषण पहननेसे शरीरका स्वाभाविक सौन्दर्य और भी अधिक निखर जाता है, वैसे ही शब्दों और वाक्योंमें अलङ्कार या सजावट भर देनेसे शब्द और वाक्य सुन्दर और आकर्षक हो जाते हैं। यद्यपि कभी-कभी अलङ्कारके बिना भी स्वाभाविक सुन्दरता आकर्षक होती है और शब्द तथा वाक्य भी कभी-कभी स्वाभाविक रूपमें अधिक मनोहर और सरस लगते हैं, किन्तु यदि उनमें अलङ्कारोंकी सुन्दरता जोड़ दी जाय तो उनका प्रभाव और भी अधिक व्यापक हो जाता है।

अलङ्कारके आचार्योंने अलङ्कारको जो केवल सजावट-मात्र माना है और उन्हें सुन्दर शरीरपर पहने हुए गहनेके समान सहज सौन्दर्य-वर्धनका साधन माना है, वह अभिनवभरतके मतसे ठीक नहीं है, क्योंकि इसी भ्रमके कारण बहुतसे ऐसे भी अलङ्कार उसमें आ गए हैं जिनसे सौन्दर्य-वृद्धिके बदले असौन्दर्यकी वृद्धि होती है। वास्तवमें अलङ्कारका अर्थ यह है कि 'वह जब प्रयोग कर दिया जाय तब फिर कुछ भी कहना या जोड़ना शेष न रहे', अर्थात् किसी बातको कहनेके समय जो शैली या उपमान आदि प्रयुक्त हों वे ऐसे हों कि उन्हें देखकर सहृदय लोग 'अलं' अर्थात् 'बस' कह दें, अर्थात् उनसे यह सूचित हो कि अब किसी दूसरे ढङ्गसे या इससे अधिक किसी दूसरे प्रकारसे विशिष्ट कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गई है। अलङ्कारका यही तत्त्व भाषाके सम्बन्धमें भली-भाँति समझ रखना चाहिए कि उन्हें बदलनेकी

आवश्यकता न हो और उनके द्वारा काव्यकारका उद्दिष्ट प्रभाव पूर्णतः बना रहे। किसी दोहे या छन्दको सुनकर जब सहृदय लोग 'वाह-वाह' कह उठते हैं या उर्दूवाले जिस उक्तिपर 'कलम तोड़ दी' कह उठते हैं उसका तात्पर्य यही है कि उस उक्तिमें जो बात जिस ढङ्गसे कही गई है वह बात उससे अच्छे ढङ्गसे, उससे अच्छी सजावटसे नहीं कही जा सकती। किसी बातको इस प्रकार सजानेका विधान अलङ्कार कहलाता है जिसका प्रयोग करनेसे उचित और योग्य प्रकारसे तथा तीव्रतासे भावकी अभिव्यञ्जना की जा सके।

कुछ आचार्योंने इसी बातको थोड़ा घुमा-फिराकर इस प्रकार कहा है कि 'शब्द और अर्थके द्वारा उपस्थित रसके गुणोंकी विशेषता जिस शैलीसे प्रकट की जाय, उसे अलङ्कार कहते हैं।' कुछका कहना है कि 'शोभा बढ़ानेवाले तथा रस आदिका उत्कर्ष करनेवाले शब्द और अर्थके अस्थिर धर्मको अलंकार कहते हैं।' ऊपरकी एक परिभाषामें शैलीको अलंकार बताया गया है, दूसरीमें अस्थिर धर्मको अलंकार बताया है। किन्तु वास्तवमें न तो शैली ही अलंकार है न धर्म ही। अलंकार वह निश्चल योजना है जिसके अन्तर्गत काव्यका स्वरूप, उसके विविध अङ्ग, अङ्गोंके प्रकरण, प्रकरणोंके अन्तर्गत कथा, वर्णन, सम्वाद और उन सबमें व्याप्त एक विशेष उद्देश्यकी अभिव्यक्ति, सब आ जाते हैं और यह सब पूरी योजना जिन अनेक भाषाके विधानोंसे पूरी होती है उन सबकी समष्टि ही अलंकार है। उसमें शब्द और अर्थके द्वारा किसी शैलीसे रसके गुणोंकी विशेषता नहीं प्रकट की जाती, जैसे रङ्गमञ्चके नटपर विभिन्न केन्द्रोंसे पड़नेवाले विभिन्न रङ्गोंके प्रकाश विभिन्न अवसरोंपर उसकी विभिन्न चेष्टाओं, भाव-भङ्गियों और मुद्राओंको स्पष्ट करते चलते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्यके विभिन्न पात्रों, अवसरों और कार्योंको अधिक स्पष्ट रूपसे व्यक्त करनेमें और सम्वेदनशील बनानेमें सहायक होते हैं। यदि ऐसा न करके वे केवल भाषा-चमत्कारसे ही पाठक या श्रोताके मनमें कुतूहल उत्पन्न करते तो वे अलंकार न हो पाते क्योंकि अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं। जब वे साध्य हो जाते हैं और लेखक या कवि उन्हींका चमत्कार-प्रदर्शन करनेमें अपना कौशल दिखाता है तो वह काव्यकी रचना नहीं करता वरन् अलंकार-शास्त्रकी रचना करता है। इसलिये काव्यके रचयिताको अलंकार ढूँढ़ने नहीं पड़ते। यदि वह कुशल लोक-निरीक्षक होगा तो काव्यके प्रत्येक अवसरपर उसकी भाषा स्वयं इस प्रकार ढल

जायगी कि वह ऐसा अदृष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके कि पढ़नेवाला या सुननेवाला कह उठे कि लेखकने 'अलं' कर दिया। इसीलिये मम्मटने व्यञ्जना और लक्षणायुक्त काव्यको ही श्रेष्ठ माना है और केवल अक्षरों तथा शब्दोंका खिलवाड़ करनेवाले कवियोंकी रचनाओंको अधम काव्य बतलाया है।

ये अलंकार शब्दमें भी हो सकते हैं, अर्थमें भी हो सकते हैं तथा शब्द और अर्थ दोनोंमें हो सकते हैं इसीलिये इनके तीन भेद बताए गए हैं—१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार और ३. उभयालंकार। अभिनवभरतका मत है कि 'जैसे कोई स्त्री केवल बालोंको सजा ले और सिरके सब आभूषण पहन ले किन्तु शेष शरीरपर मैले-कुचैले कपड़े पहने रक्खे तो वह न तो सुन्दर कही जायगी और न उसके सिरके अलंकार ही अलंकार कहलायेंगे। इसी प्रकार यदि हम यह वाक्य कहें—'गुरुजीके चरणकमल पकड़-पकड़कर छात्र लोग उछल-कूद कर रहे थे।' यह जिस व्यक्तिने छात्रोंको गुरुके चरण-स्पर्श करते देखा है उसने उपर्यङ्कित वाक्यके द्वारा गुरुके प्रति छात्रोंकी श्रद्धा प्रकट न करके ऐसा दिखाया है मानो छात्रगण गुरुका उपहास कर रहे हैं। अतः 'चरणकमल'में आए हुए रूपक अलंकारसे वाक्यमें सुन्दरता नहीं आई वरन् यहाँ अलंकार भी निस्तेज और व्यर्थ हो गया है। अतः 'अलंकार तो किसी उक्तिकी सजावटकी उस समष्टिको कहते हैं जिससे वक्ताके भावकी श्रोताके मनमें तीव्रतर व्यञ्जना हो।' अतः शब्दके अर्थमें अलंकार नहीं, वरन् वाक्यकी योजनामें अलङ्कार होता है। किन्तु वाक्यमें भी यह सौन्दर्य या प्रभाव शब्दों और उनके अर्थोंसे ही आता है अतः शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनोंपर ही विचार करना चाहिए।

### शब्दालङ्कार

शब्दालंकार वह है जिसमें केवल शब्दोंका सौन्दर्य हो। ये पाँच प्रकारके माने गए हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। आधुनिक ग्रन्थकारोंने इनमेंसे वक्रोक्ति और श्लेषको अर्थालंकारमें ही परिगणित किया है। चित्रालंकार वह है, जिससे वर्णों तथा शब्दोंके निबन्धसे खड्ग, रथ आदि अनेक प्रकारके चित्र बनाए जाते हैं। इसे केवल शब्द-व्यायाम समझना चाहिए। इससे अर्थमें भी दुरूहता आती है और माधुर्य भी नष्ट हो जाता है।

## अर्थालङ्कार

अर्थालंकारोंकी संख्या बहुत अधिक है। साम्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय और वस्तु-भेदसे वे पाँच श्रेणियोंमें बाँटे गए हैं—

१.साम्यमूल : जहाँ पदार्थोंकी समानताके कारण किसी वर्णनमें चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इसे सादृश्यमूल, साधर्म्यमूल तथा औपम्यगत भी कहते हैं। इस भेदके अन्तर्गत लगभग आधे अलंकार आ जाते हैं अत: स्पष्ट करनेके लिये इसके कुछ उपभेद किए जाते हैं—(क) अभेद-प्रधान : जब दो समान पदार्थोंमें किसी प्रकारका उल्लेख न दिखाकर उन्हें एक ही बताया जाय। इस उपभेदके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रान्ति, सन्देह और अपह्नुति अलङ्कार आते हैं। (ख) भेद-प्रधान : जब दो पदार्थोंको समान बताते हुए भी उन दोनोंकी भिन्नता या अपेक्षता प्रकट की जाय। इसके अन्तर्गत, प्रतीप, तुल्य-योगिता, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक अलंकार आते हैं। (ग) भेदाभेद-प्रधान : जब दो पदार्थोंमें पूरी समानता होनेपर भी यह प्रकट किया जाय कि वे दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इस भेदमें उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार आते हैं। (घ) प्रतीति-प्रधान : जब दो पदार्थोंमें समानताकी प्रतीति-मात्र हो। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इसके अन्तर्गत हैं। (ङ) गम्य-प्रधान : जिनमें दो पदार्थोंकी कुछ समान बातें व्यंग्यसे ध्वनित होती हों। इसमें अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा और आक्षेप आते हैं। (च) अर्थवैचित्र्य-प्रधान : जिनमें समानताका भाव रहते हुए शब्द या वाक्यके अर्थमें कुछ विचित्रता हो। समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और श्लेष इस उपभेदमें माने जाने चाहिएँ।

२.विरोधमूल : जहाँ दो पदार्थोंके कार्य-कारणमें विच्छेद होनेसे पारस्परिक विरोध प्रकट हो। इसके अन्तर्गत विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असङ्गति, विषम, विचित्र और व्याघात अलङ्कार आते हैं।

३. शृङ्खलामूल : जहाँ दो या दोसे अधिक वस्तुओंका क्रमसे वर्णन हो और वे शृङ्खलाके समान एक दूसरेसे सम्बद्ध हों। इसके अन्तर्गत कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार अलङ्कार आते हैं।

४. न्यायमूल : जहाँ तर्क, लोक-प्रमाण या दृष्टान्त आदिसे युक्त वाक्य-द्वारा चमत्कार या रोचकता उत्पन्न की जाय। इसके अन्तर्गत भी बहुतसे

अलंकार आते हैं इसलिये इसके भी तीन उपभेद किए गए हैं—(क) वाक्य-न्यायमूल : जब वाक्योंमें शब्दोंके विशेष क्रमसे अथवा दो वाक्योंको विशेष सम्बन्धसे मिलाकर रोचकता या चमत्कार लाया जाय। इसके अन्तर्गत यथा-संख्य, पर्याय, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीप, काव्यार्थापत्ति सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित और चित्र अलंकार आते हैं। (ख) तर्क-न्याय-मूल : जब कारण आदि देकर तर्कसे कुछ विशेषता स्थापित की जाय। काव्यलिङ्ग, अर्थांतरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, छेकोक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, और निरुक्ति अलंकार इसीके अन्तर्गत आते हैं। (ग) लोक-न्याय-मूल : जहाँ प्रचलित लोक-व्यवहारके प्रयोगसे चमत्कार उत्पन्न हो। परिवृत्ति, समाधि, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, मीलित, और भाविक अलंकार इसीके अन्तर्गत हैं। इनके अतिरिक्त विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेख, मुद्रा, रत्नावली, गूढोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति अलंकारोंका भी उल्लेख है। इनमेंसे अधिकांश ऐसे हैं जिनमें व्यंग्यसे छिपाकर या उलटी बातें कही जाती हैं।

४. उपर्युक्त अलंकार ही वस्तुमूलक कहे जा सकते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि कुछ आचार्योंके मतसे शब्द तथा अर्थके सम्बन्धसे भाषाकी सौन्दर्य-वृद्धिके अस्थिर धर्मको अलंकार कहते हैं और ये इन्हीं दोके सम्बन्धसे दो विभागोंमें बाँटे गए हैं—अर्थालंकार और शब्दालंकार। जिनमें शब्द और अर्थ दोनोंका सम्मिलन होता है वे उभयालंकार कहलाते हैं, जैसे साहित्य-दर्पणकार और काव्य-प्रकाशकारने वक्रोक्तिको शब्दालंकार माना है पर भाषा-भूषणकारने इसे अर्थालंकार माना है। नीचे चन्द्रालोकके अनुसार अलंकारोंका परिचय दिया जा रहा है।

दो वस्तुओं (उपमान और उपमेय) में भेद रहते हुए भी सादृश्य दिखलाने या समान धर्म बतलानेको **उपमालंकार** कहते हैं। इसके चार अङ्ग हैं—१. उपमेय : जिसकी उपमा दी जाय अर्थात् जो वर्ण्य या वर्णनीय हो। २. उपमान : वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय अर्थात् जिसके समान दूसरी वस्तु बतलाई जाय। ३. वाचक : उपमा प्रकट करने वाले शब्द, जैसे—से, समान, तुल्य आदि। ४. धर्म : साधारण या सामान्य धर्म (गुण, क्रिया, रूप आदि) जो दोनोंमें दिखलाया जाय। कुछ लोगोंने नामसाम्य भी उपमा

ही माना है पर यह निरर्थक और त्याज्य है, जैसे—अर्जुनके समान अर्जुन वृक्ष देखो। जहाँ समताके चारों अङ्ग वर्त्तमान हों वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है, जैसे श्रीकृष्णका शरीर नवघनके समान साँवला है। जिन उपमाओंमें इन चारों अङ्गोंमेंसे एक, दो या तीन न हों वे लुप्तोपमा कहलाते हैं, जैसे—१. श्रीकृष्ण नवघनके समान हैं—धर्म-लुप्तोपमा। २. देखो! श्रीकृष्ण नवघन हैं—धर्म-वाचक-लुप्तोपमा। ३. देखो, श्रीकृष्ण (नवघनके समान साँवले हैं क्योंकि) मोरोंके नृत्यका कारण बन गए हैं—धर्म-वाचक-उपमान-लुप्तोपमा। इस प्रकार लुप्तोपमाके बहुतसे भेद हो सकते हैं।

जिसमें उपमेय ही उपमान भी होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों रूपोंमें कही जाय उसे **अनन्वय** कहते हैं, जैसे रामके समान राम है।

जिसमें उपमेय उपमानके समान और उपमान उपमेयके समान बतलाया जाय अर्थात् दोनोंमें पारस्परिक सादृश्य होना माना जाय वह **उपमानोपमेय** कहलाता है, जैसे—मुख कमलके समान तथा कमल मुखके समान है।

**प्रतीप**का अर्थ है प्रतिकूल या उलटा अर्थात् उपमेयको उपमानके समान न कहकर उलटे उपमानको उपमेयके सदृश बतलाना। उपमेय तथा उपमानके सादृश्यमें आधिक्य तथा कमी आदिके सम्बन्धसे प्रतीप अलंकार पाँच प्रकारका माना गया है—(क) जब उपमेयके समान उपमान बताया गया हो, जैसे—कमल नेत्रके समान है। (ख) जब उपमानकी समानता न कर सकनेपर उपमेय तिरस्कृत हो, जैसे—अपने मुख (के सौन्दर्य) का क्या गर्व करती हो? चन्द्रको तो देखो। (ग) जब उपमेयकी समानता न कर सकनेपर उपमान तिरस्कृत हो, जैसे—तुम्हारी आँखोंके तीक्ष्ण कटाक्षके सामने कामके बाण तुच्छ हैं। (घ) जब उपमानको उपमेयके समान बतानेमें संकोच प्रकट किया जाय, जैसे—तुम्हारे इन सुन्दर नेत्रोंकी उपमा मीनसे कैसे दी जा सकती है? (ङ) जब उपमेयके सामने उपमान व्यर्थ-सा जान पड़े, जैसे—तुम्हारे नेत्रके आगे मृगके नेत्र कुछ भी नहीं हैं।

जहाँ उपमेयमें बिना किसी भेदके उपमानका आरोप हो अर्थात् दोनों एक ही मान लिए गए हों और निषेध-वाचक शब्द न आवे वहाँ **रूपक** होता है। रूपकके दो भेद हैं—१. तद्रूप और २. अभेद। इनके भी (क) अधिक, (ख) सम और (ग) न्यूनके अनुसार तीन-तीन और भेद हैं—१. न्यूनतद्रूप:

जैसे समुद्रसे उत्पन्न न होनेपर भी यह दूसरी लक्ष्मीके समान सुन्दर है। २. अधिक तद्रूप : जैसे दिन-रात प्रकाश देनेके कारण यह मुख-चन्द्र आकाशके चन्द्रसे बढ़कर है। ३. समतद्रूप : जैसे जब नेत्र-कमल हैं ही तब कमल किस कामका। ४. अधिक अभेद : जैसे यह कनकलता स्त्री चलती हुई कितनी अच्छी लगती है (इसमें चलना विशेषता है)। ५. न्यून-अभेद : जैसे ये विद्रुम-अधर समुद्रसे उत्पन्न नहीं हैं। ६. सम-अभेद : जैसे तुम्हारा विमल मुख-कमल बड़ा सरस और सुगन्धियुक्त है।

जहाँ उपमेयका कार्य उपमानसे कराया जाय या दोनोंका एक रूपसे कार्य कराया जाना दिखाया जाय, वहाँ **परिणाम** अलंकार होता है। रूपकसे इसमें यही भेद है कि इसमें उपमान-द्वारा कार्य होना दिखलाकर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जो रूपकमें नहीं होता, जैसे—'श्रीरामचन्द्रजी अपने कर-कमलोंसे धनुषबाण घुमा रहे हैं।'

जहाँ एक ही वस्तुका अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाय वहाँ **उल्लेख** अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—१. जब एक वस्तुको अनेक लोग अनेक रूपोंमें देखें, जैसे—श्रीरामचन्द्रजीका नारियोंने श्रृङ्गाररस, विद्वानोंने विराट्मय, जनकने आत्मीय, रानियोंने शिशु और योगियोंने परम तत्त्वके रूपमें देखा। २. जब एक ही वस्तुको उसके गुणोंके अनुसार एक ही व्यक्ति कई रूपोंमें देखें, जैसे—आप युद्धमें अर्जुन, तेजमें सूर्य और विद्यामें बृहस्पतिके समान हैं।

पहले देखी या अनुभव की हुई वस्तुके सामने कोई वस्तु देख लेनेपर उस पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण हो जानेका जहाँ वर्णन हो वहाँ **स्मरण** अलंकार होता है, जैसे—चन्द्रको देखकर प्रेयसीका मुख स्मरण होने लगा है।

जहाँ उपमानमें उपमेयका भ्रम हो जाय वहाँ भ्रम या **भ्रान्तिमान्** अलंकार होता है, जैसे—मुखको चन्द्र समझकर ये चकोर साथ लग गए हैं।

जहाँ किसी वस्तुको देखकर उसके वास्तविक रूपका निश्चय न हो वहाँ **सन्देह** अलंकार होता है, जैसे—यह प्रियाका मुख है, या चन्द्र है या नया खिला हुआ कमल है?

जहाँ उपमेयका निषेध करके उपमानकी स्थापना की जाय वहाँ **अपह्नुति** अलंकार होता है। इसके छः भेद होते हैं—१. शुद्धापह्नुति : जहाँ किसी एक धर्म या गुणके कारण उपमेयका निषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है, जैसे

ये स्तन नहीं हैं, गेंदेके फूल हैं। २. हेत्वापह्नुति : जब उपमेयका निषेध करते हुए उसका हेतु या कारण भी दिया जाय, जैसे—चन्द्रको देखकर स्त्री कहती है कि 'चन्द्रमें तो गर्मी नहीं होती और रात्रिको सूर्य नहीं दिखाई देते, अतः हो न हो यह बड़वानल ही है।' ३. पर्यस्तापह्नुति : जब एकके गुणका दूसरेपर आरोप किया जाय, जैसे—यह मुख-सुधाधरका प्रकाश है, सुधाधर ( चन्द्र ) नहीं है। ४. भ्रान्त्यापह्नुति : दूसरेकी भ्रान्तिको मिटानेके लिये जब अपह्नुतिका प्रयोग हो, जैसे—हे सखी ! मुझे ज्वर नहीं है, यह तो कामदेव तपा रहा है। ५. छेकापह्नुति : जहाँ युक्तिसे बात छिपाई जाय, जैसे—मेरे ओठोंपर प्रियके दाँतके घाव नहीं हैं, वरन् जाड़ेके पवनसे ओठ फट गए हैं। ६. कैतवापह्नुति : जब एकके बहाने दूसरा कार्य होना कहा जाय, जैसे—प्रियाके तीक्ष्ण कटाक्षोंके बहाने कामदेव अपने बाण चला रहा है।

जहाँ भेदका ज्ञान होते हुए भी उपमेयमें उपमानकी प्रतीति हो वहाँ **उत्प्रेक्षा** अलङ्कार होता है अर्थात् जहाँ असम्भव उपमान लाया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। मनु, जनु, आदि उत्प्रेक्षाके वाचक शब्द हैं। इसके पाँच भेद हैं—१. वस्तूत्प्रेक्षा, २. हेतूत्प्रेक्षा, ३. फलोत्प्रेक्षा, ४. गम्योत्प्रेक्षा और ५. सापह्नवोत्प्रेक्षा। वस्तूत्प्रेक्षाके क. उक्त-विषया और ख. अनुक्त विषया तथा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षाके क. सिद्ध-विषया और ख. असिद्ध-विषया ये दो-दो भेद होते हैं। उत्प्रेक्षामें वाचक शब्द न हो तो गम्योत्प्रेक्षा और अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षाका मेल हो तो सापह्नवोत्प्रेक्षा होती है। १. वस्तूत्प्रेक्षा : जिसमें एक वस्तु दूसरेके तुल्य दिखलाई जाय, जैसे—नेत्र विशेष रूपसे बड़े और सरस हैं, मानो वे कमल हों। २. हेतूत्प्रेक्षा : जिसमें जिस वस्तुका कारण न हो उसको उसी वस्तुका कारण मानना, जैसे—उसके पैर मानो कठोर आँगनमें चलनेके कारण ही लाल हो गए हों। ३. फलोत्प्रेक्षा : जिसमें जो जिसका फल नहीं है वह उसका फल माना जाय, जैसे—तुम्हारे पैरोंकी समानता करनेके लिये कमल एक पाँवसे जलमें खड़ा होकर तप करता है।

जिसमें लोक-सीमाका उल्लंघन प्रधान रूपसे दिखलाया जाय वहाँ **अतिशयोक्ति** अलंकार होता है। जहाँ उपमेयसे निश्चयपूर्वक उपमान अभिन्न प्रतीत होता हो वहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार होता है। उत्प्रेक्षासे इसमें यह भेद है कि इसमें अनिश्चित रूपसे कथन रहता है। इसके आठ भेद बताए गए हैं—१. रूपकातिशयोक्ति : जहाँ केवल उपमानका ही वर्णन किया

जाय. जैसे—एक धनुष ( भ्रू ) और दो बाण ( कटाक्ष ) लिए हुए चन्द्रमा ( मुख ) कनकलता ( सुनहरे शरीर ) पर शोभित है। २. सापह्नवातिशयोक्ति : जब एकका गुण दूसरेपर आरोपित किया जाय, जैसे—अमृत तो तुम्हारे मुखमें है पर पागल लोग चन्द्रमामें बतलाते हैं। ३. भेदकातिशयोक्ति : जब अत्यन्त भेद दिखलाया जाय, जैसे—उसका हँसना, चलना और बात-चीत करना सबसे निराला ( कुछ और ही ) है। ४. सम्बन्धातिशयोक्ति : असम्बन्धमें सम्बन्ध दिखलाना, जैसे—अयोध्याके घर चन्द्रमातक ऊँचे हैं। ५. असम्बन्धातिशयोक्ति : सम्बन्धमें असम्बन्ध दिखलाना, जैसे—तुम्हारे हाथके आगे कल्पतरुका भला कौन आदर करेगा ? ६. अक्रमातिशयोक्ति : जब कारण और कार्य साथ होते कहे जायँ, जैसे—धनुष तथा शत्रुके शरीरपर आपके बाण एक साथ ही लगते हैं। ७. चपलातिशयोक्ति : जब कारणके तत्काल पीछे ही कार्य हो, जैसे—पतिके आज ही जानेका समाचार सुनकर प्रियाकी उँगलीकी अँगूठी उसके हाथका कड़ा बन गई। ८. अत्यन्तातिशयोक्ति : कार्यके अनन्तर कारण दिखलाना, जैसे—बाण पहुँचनेके पहले ही शत्रु लोट जाते हैं।

तुल्ययोगिता अलंकार वहाँ होता है जहाँ कई प्रस्तुत उपमेयों तथा अप्रस्तुत उपमानोंका एक ही धर्म बतलाया जाय। यह तीन प्रकारका होता है—१. जब एक ही शब्दसे हित और अहित दोनों अर्थ निकलें, जैसे—हे गुणी! तू रमणी और शत्रु दोनोंको हार देता है। [ हार=गलेका एक आभूषण ( हित ), हार=पराजय (अहित) । ] २. जब कई वस्तुओंमें एक ही धर्म बताया जाय, जैसे—( सन्ध्याके समय ) नवोढाका मुख और कमल दोनों मुरझा रहे हैं। ३. जब बहुतसे धर्म ( गुण ) का एक साथ होना कहा जाय जैसे—तुम्हीं श्रीनिधि ( लक्ष्मीवास ), धर्मनिधि ( अत्यन्त धर्मात्मा ), इन्द्र ( तेजस्वी ) और इन्दु ( कान्तिमान् ) हो।

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोंका एक धर्म हो वहाँ दीपक अलंकार होता है, जैसे—राजाकी तेजसे तथा हाथीकी मदसे शोभा होती है।

दीपकावृत्ति अलंकार तीन प्रकारका होता है—१. जब केवल पदोंकी आवृत्ति हो (किन्तु अर्थ भिन्न हो), जैसे—तुम्हारी प्रतीक्षामें आँखोंकी पलकें भी बढ़ रही हैं और घड़ीके पल भी बढ़ रहे हैं अर्थात् आँखें फाड़-फाड़कर पलक चौड़ा-चौड़ाकर बाट जोह रहा हूँ और एक-एक पल भारी हो रहा है। यहाँ

'पल बढ़ना' पदकी आवृत्ति हुई है पर अर्थ अलग-अलग हैं। २. जब केवल अर्थ एक हो किन्तु पद भिन्न हों, जैसे—कदम्ब फूल रहा है और केतकी प्रफुल्लित हो रही है। ३. जब पद और अर्थ दोनोंकी आवृत्ति हो, जैसे—मोर भी मत्त हो गया है और चातक भी मत्त ( कामासक्त ) हो चला है।

जब उपमेय और उपमानके साधारण धर्म दो समान वाक्योंमें अलग-अलग कहे जायँ तब प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है, जैसे—सूर्यकी शोभा उसके तेजसे है और शूर-वीरकी उसके बाणसे।

जहाँ उपमेय और उसके साधारण धर्म तथा उपमान और उसके साधारण धर्मका वर्णन बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावसे हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। प्रतिवस्तूपमामें दोनोंका एक ही धर्म शब्द-भेदसे कहा जाता है पर दृष्टान्तमें भिन्न धर्मका उल्लेख होता है, जैसे—चन्द्रमाकी चाँदनी जैसे फैलती है वैसे ही आपकी कीर्त्ति फैली है।

चन्द्रालोकके अनुसार निदर्शनाका लक्षण यह है कि उसमें दो समान वाक्योंमें एक ही अर्थ या भावका आरोप होता है। यह तीन प्रकारकी बताई गई है—१. प्रथम निदर्शना : जब दो वाक्योंका अर्थ एक हो ( असमको सम करना ), जैसे—चन्द्रमा जैसे निष्कलंक है वैसे ही सौम्य दाता भी। २. द्वितीय निदर्शना : जब उपमानका गुण उपमेयमें स्थापित करके एकता लाई जाय, जैसे—देखो, ये नेत्र स्वभावसे ही खञ्जनकी चपलता लिए हुए हैं। ३. तृतीय निदर्शना : उदाहरण रूपमें कार्य देखकर भला-बुरा फल कहना, जैसे—तेजस्वीके आगे शक्ति निर्बल हो जाती है, महादेवजीके आगे कामदेव इसके प्रमाण हैं।

जहाँ उपमानसे उपमेयमें कुछ विशेषता दिखाई जाती है वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है, जैसे—मुख कमलके समान है पर ( आधिक्य यह है कि ) इसमें मीठी बात निकलती है। व्यतिरेकमें और प्रतीपमें केवल इतना ही भेद है कि इसमें प्रकट रूपमें सकारण विशेषता कही जाती है, प्रतीपमें केवल 'अधिक है' इतना ही कहा जाता है।

जब कई बातका एक साथ होना दिखाकर चमत्कार प्रकट किया जाय वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है, जैसे—आपकी कीर्त्ति और भागते हुए शत्रु साथ-साथ समुद्रतक पहुँचे।

जहाँ किसी चमत्कारके साथ 'बिना' का प्रयोग किया गया हो वहाँ

विनोक्ति अलंकार होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. जब किसी वस्तुके न रहनेसे उपमेय क्षीण प्रतीत हो, जैसे—तेरे नेत्र खञ्जन तथा कमलके समान होनेपर भी बिना आँजनके शोभा नहीं पाते। २. जब श्रेष्ठतर होते हुए भी किसी वस्तुके न रहनेसे उपमेय क्षीण लगे, जैसे—हे प्रिये! तुझमें रुखाईके बिना (रुखाई छोड़कर) सभी गुण हैं इसीलिये तू अपने प्रियसे कभी मान नहीं करती और तेरा प्रिय इधर-उधर घूमता रहता है।

जब वर्णन (कार्य, लिङ्ग तथा गुण) की समानताके कारण उपमेयमें उपमानका आरोप किया जाय तब समासोक्ति अलंकार होता है, जैसे—सन्ध्याके समय चन्द्रमाको देखकर कुमुदिनी फूल उठी। यहाँ कुमुदिनीके खिलनेका वर्णन करके संकेत यह किया गया है कि सन्ध्या समय पतिके आनेसे रमणी प्रसन्न हो उठी है।

जहाँ किसी विशेष अभिप्रायसे विशेषणका प्रयोग किया जाता है वहाँ परिकर अलंकार होता है, जैसे—यह चन्द्रमुखी रमणी हमारी ओर देखते ही ताप हरण कर लेती है। यहाँ ताप हरण करनेकी शक्ति चन्द्रमें होनेके कारण चन्द्रमुखी विशेषण दिया गया है।

जब विशेष अभिप्रायसे विशेष्यका प्रयोग होता है वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है, जैसे—वह वामा पतिकी सीधी बातें भी नहीं मानती। यहाँ 'वामा' (टेढ़ी) शब्द साभिप्राय है।

जहाँ एक शब्दके अनेक अर्थोंके साथ कोई बात कही जाती है वहाँ श्लेष अलंकार होता है, जैसे—पूर्ण स्नेह (प्रेम, तेल) के बिना मुख इतना नहीं चमक सकता।

जहाँ केवल अप्रस्तुत-द्वारा ही प्रस्तुतका वर्णन हो वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार होता है, जैसे—ब्रह्माने शरद्के चन्द्रमाका सार निकालकर राधाजीका मुख बनाया है। यहाँ राधाजीकी सुन्दरता वर्णन करना प्रस्तुत है पर उसके लिये कहा गया है कि ब्रह्माजीने चन्द्रमाका सार निकालकर बनाया है जो कारण है अतः अप्रस्तुत है। इसके भी कारण-निबन्धना, कार्य-निबन्धना, विशेष-निबन्धना, सामान्य-निबन्धना, सारूप्य-निबन्धना आदि अनेक भेद हैं।

जब एक प्रस्तुतका वर्णन करके दूसरे अर्थपर उसका अभिप्राय घटाया जाय वहाँ प्रस्तुतांकुर होता है, जैसे—अग्नि! कोमल जूहीको छोड़कर तू

( कँटीले ) केवड़ेपर कहाँ गया है ? तात्पर्य यह है कि हे पुरुष ! कोमल जूही ( भक्ति ) को छोड़कर कण्टाकाकीर्ण केवड़ों ( सांसारिक माया-मोह ) में क्यों फँस गया ?

**पर्यायोक्ति** दो प्रकारकी होती है—१. जहाँ कोई बात स्पष्ट न कहकर वचनचातुरीसे घुमा-फिराकर कही जाय, जैसे—वही चतुर है जिसने तुम्हारे गलेमें बिना डोरीकी माला पहना दी है। अन्य स्त्रीके गलेकी मोतीकी मालाकी छाप नायकके गले और छातीपर उभड़ आई है। नायिका इस चिह्नको देखकर चातुर्यसे उसे उपालम्भ देती है कि तुमने किसी अन्य नारीसे रमण किया है। २. जिसमें किसी अच्छे बहानेसे अपना इच्छित कार्य साधा जाय, जैसे—तुम दोनों यहीं ठहरो, हम तालाबपर नहाने जाते हैं। नायिका और नायकको एकत्र देखकर सखियाँ स्नान करनेके बहाने वहाँसे टल जाती हैं।

जहाँ निन्दाके बहाने स्तुति की जाय वहाँ **व्याज-स्तुति** होती है, जैसे—हे गङ्गे ! तुम्हें क्या कहें, तुमने तो पापियोंको भी स्वर्गमें स्थान दे दिया। यहाँ स्वर्ग जैसे पवित्र स्थानको पापियोंके द्वारा अशुद्ध करना कहकर कविने निन्दाके बहाने गङ्गाजीकी मोक्षदायिनी शक्तिकी स्तुति की है। साहित्यदर्पणमें व्याजनिन्दा अलंकार नहीं दिया गया है पर व्याजस्तुतिका जो लक्षण दिया गया है उसीमें व्याजनिन्दका भी लक्षण आ गया है। साहित्यदर्पणमें यह लक्षण दिया गया है कि 'जहाँ स्तुतिमें निन्दा और स्तुतिमें अपस्तुति हो वहाँ व्याज-स्तुति होती है।' किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि 'जहाँ एककी निन्दाके बहाने दूसरेकी निन्दा हो वहाँ भी व्याजनिन्दा होती है', जैसे—वह मूर्ख है जिसने चन्द्रमाको सदाके लिये क्षीण नहीं बनाया।

स्तुतिमें निन्दाका आभास देना भी व्याज-निन्दा कहलाता है, जैसे—हे सखी ! तुम धन्य हो कि तुमने मेरे लिये मेरे प्रियके दन्त-नखके घाव सहे हैं।

**आक्षेप** अलंकार वहाँ होता है जहाँ विशेष निषेधात्मक वर्णन-द्वारा व्यंग्य या ध्वनिकी सूचना मिले। यह आक्षेप तीन प्रकारका होता है—१. जिसमें निषेधका आभास हो, जैसे—मैं दूती होकर नहीं आई हूँ, वरन् यही कहने आई हूँ कि नायिकाका शरीर अग्निसे भी अधिक तप्त हो गया है। २. पहले कुछ कहकर उसका निषेध करना, जैसे—हे चन्द्र ! तू दर्शन दे, पर तेरा

कुछ काम नहीं क्योंकि स्त्री ( चन्द्रमुखी ) का मुख तो पास ही है । ३. इस प्रकार कहना कि निषेध गुप्त रहे, जैसे—( हे प्रिय ) जाओ ! परमेश्वर मुझे वहीं जन्म दे जहाँ तुम जा रहे हो ।

जब केवल विरोधका आभास-मात्र हो, वास्तवमें विरोध न हो, वहाँ **विरोधाभास** अलंकार होता है, जैसे—विष्णु परदार-प्रिय हैं । परदारका ठीक अर्थ लक्ष्मी होनेसे विरोध दूर हो जाता है ।

कारणके बिना किसी कार्यका होना या कारण और कार्य-सम्बन्धमें कुछ विशेष कल्पनाका होना **विभावना** कहलाता है । यह छः प्रकारकी होती है— १. अपूर्ण कारणसे पूर्ण कार्यका होना, जैसे—देखो कामदेवने केवल कुसुमबाण हाथमें लेकर ही संसारको जीत लिया । २. बिना कारणके कार्यका होना, जैसे—बिना महावर लगाए तुम्हारे चरण लाल दिखाई दे रहे हैं । ३. बाधा होते हुए भी कार्य पूरा होना, जैसे—रात-दिन श्रुतिके पास रहनेपर भी नेत्र मोहमें पड़े हुए हैं । श्लेषसे श्रुतिका वेद अर्थ लेनेसे मोहके मार्गमें रुकावट पड़नेपर भी कार्य पूरा हो गया । ४. ऐसे कारणसे किसी कार्यका होना जो उसका कारण नहीं हो सकता, जैसे—अभी कबूतरको हमने कोयलकी बोली बोलते हुए सुना है । तात्पर्य यह है कि कबूतरके समान कण्ठवाली एक रमणी कोयल जैसी मीठी बोली बोलती है । ५. जिस कारणसे जैसा कार्य होना चाहिए वैसा न होकर उससे उलटा होना, जैसे—हे सखी ! चन्द्र मुझे ताप ही देता है । ६. जहाँ कार्य-कारणकी उत्पत्तिका आभास मिले, जैसे—नेत्ररूपी मछलीमें यह आश्चर्यजनक नदी प्रवाहित हो रही है । नेत्रसे अश्रुका निकलना ठीक होते हुए भी मछलीसे नदी नहीं प्रवाहित होती ।

जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ **विशेषोक्ति** अलंकार होता है, जैसे—शरीरके भीतर कामका दीप जलते हुए भी स्नेह ( प्रेम और तेल ) कम नहीं हुआ । इसके दो भेद हैं—१. उक्तगुण तथा २. अनुक्तगुण ।

जब किसी सम्भावनाके न रहते हुए भी कोई कार्य हो जाय वहाँ **असम्भव** अलंकार होता है, जैसे—कौन जानता था कि आज गोपसुत ( कृष्ण ) पहाड़ उठा लेगा ?

**असङ्गति** अलंकार दो प्रकारका होता है—१. जब कार्य कहीं या कभी और कारण कहीं या कभी हो जैसे, कोयल ( वसंत-आगमनसे प्रसन्न होकर ) मत्त हुई और आमकी मंजरी झूमने लगी ( वायुके कारण ) । २. जिस

स्थानपर कार्यका होना उचित है वहाँ न होकर दूसरे स्थानपर होना, जैसे—तुम्हारे शत्रुकी स्त्रीने हाथमें तिलक ( तिलोदक ) ले लिया है।

**विषम** अलंकार तीन प्रकारका होता है—१. दो अनमेल वस्तुओंका साथ होना, जैसे कहाँ तो स्त्रीका कोमल शरीर और कहाँ यह विरहाग्नि! २. कार्य और कारणके रङ्ग ( बाह्य रूप ) भिन्न-भिन्न हों, जैसे—तेरे काली तलवार-लतासे श्वेत कीर्त्ति उत्पन्न हुई। पाँचवीं विभावनासे इसमें यही भेद है कि उसमें कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु विषममें कार्य और कारणकी भिन्नता न होकर केवल बाहरी रूप ही भिन्न होता है। ३. अच्छे कार्यका बुरा फल हो, जैसे—सखीने जो कपूर लगाया, उसने शरीरको ताप ही दिया।

**सम** अलंकार (**विषम**का उलटा) तीन प्रकारका होता है—१. एक दूसरेके योग्य वस्तुओंका साथ होना, जैसे—अपने योग्य स्थान समझकर हारने स्त्रीके वक्षस्थलपर जाकर डेरा डाल दिया। २. कार्य और कारणमें सब प्रकारकी समानता होना जैसे—यदि लक्ष्मी नीचगामिनी हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही जलसे है। ३. पूर्ण उद्यमके बिना काम करते ही फलकी प्राप्ति होना, जैसे—उसने यश पानेकी इच्छा की और वह उसे मिल गया।

इच्छानुकूल फल पानेके लिये जहाँ उससे उलटा प्रयत्न दिखाया जाता है वहाँ **विचित्र** अलंकार होता है, जैसे—पवित्र मनुष्य उच्चता ( उन्नति ) प्राप्त करनेके लिये नम्रता ग्रहण करते हैं।

**अधिक** अलंकार दो प्रकारका होता है—१. जब आधारसे आधेयकी अधिकता या विशेषता दिखलाई जाय, जैसे—तुम्हारा यश सात द्वीप और नौ खण्डोंमें भी नहीं समा रहा है। यहाँ आधेय (यश) की विशेषता दिखलाई गई है। २. जब आधेयसे आधार बढ़कर अर्थात् अधिक हो, जैसे—वह शब्द-सिंधु कितना बड़ा है जिससे तुम्हारे गुणोंका वर्णन किया जाता है। इसमें आधार ( शब्द-सिन्धु ) की विशेषता प्रदर्शित होती है। इस अलंकारके लिये आधार-आधेय स्पष्ट होने चाहिएँ।

जब आधेयसे आधार छोटा हो तब **अल्प** अलंकार होता है, जैसे—जो अँगूठी उँगलीमें पहनी जाती थी वह अब हाथमें पहनी जाने लगी है। यहाँ आधेय ( मुँदरी) की अपेक्षा आधार ( हाथ) का अधिक सूक्ष्म होना दिखलाया गया है।

जहाँ दो वस्तुओंके किसी गुणका एक दूसरेके कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय वहाँ **अन्योन्य** अलंकार होता है, जैसे—चन्द्रमासे रात्रिकी और रात्रिसे चन्द्रमाकी शोभा है।

**विशेष** अलंकार तीन प्रकारका होता है—१. जब आधेयका कोई आधार न हो, जैसे—आकाश-स्थित कञ्चन-लतामें एक स्वच्छ फूल लगा हुआ है। आकाश-गङ्गाको लता तथा चन्द्रमाको (आकाश) पुष्प माना है जो बिना आधार (वृक्षके तने) के आकाशमें रहता है। २. जब आरम्भ थोड़ा हो और फल-सिद्धि अधिक हो, जैसे—नेत्रोंने तुम्हें देखते ही कल्पवृक्ष देख लिया। ३. एक ही वस्तुका अनेक स्थानोंपर वर्णन हो, जैसे—वही सुन्दरी मेरे हृदयमें, बाहर और दसों दिशाओंमें वास कर रही है।

**व्याघात** अलंकार दो प्रकारका होता है—१. जब ऐसी किसी वस्तुसे विपरीत कार्यका होना दिखलाया जाय जिससे कोई निश्चित कार्य ही हुआ करता हो, जैसे—जिनसे (फूलोंसे) संसारको सुख मिलता है उन्हींसे कामदेव हमें मार रहा है। २. जब किसी तर्कको उलटकर उसके विरोधी पक्षका समर्थन किया जाय, जैसे—यदि आप सचमुच हमें बालक समझते हैं तब क्यों छोड़े जा रहे हैं।

जहाँ किसी एक कारणसे उत्पन्न कार्यको किसी अन्य कार्यका कारण बतलाया जाय और क्रमश; इस प्रकार दो या दोसे अधिक कारण हों वहाँ **कारणमाला** अलंकार होता है, जैसे—नीतिसे धन, धनसे त्याग और त्यागसे यशकी प्राप्ति होती है। कारणमालाको गुम्फ-परम्परा भी कहते हैं।

जहाँ कई वस्तुओंके क्रमशः ग्रहण और त्यागका उल्लेख हो और पीछे कही हुई वस्तुको पहले वर्णित की हुई वस्तुके विशेषणके रूपमें प्रस्तुत किया जाय वहाँ **एकावली** अलंकार होता है, जैसे—आँखें कानतक, कान बाहुतक और बाहु घुटनेतक पहुँचते हैं। पूर्व-कथित 'आँखों, कानों तथा बाहुओं'के प्रति पीछे कहे हुए 'कानतक, बाहुतक और घुटनेतक' विशेषण रूपमें लाए गए हैं। एकावलीका दूसरा भेद वह है जहाँ पूर्वकथितके प्रति उत्तरोत्तर-कथितका विशेषण-भावसे निषेध किया जाय, जैसे—जिस सभामें वृद्धगण न हों वह सभा नहीं होती, वे वृद्ध भी ठीक नहीं जो धर्मकी बात न कहें और वह धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो।

दीपक और एकावली नामक अलंकारोंके मिला देने पर **माला-दीपक**

अलंकार होता है, जैसे—स्त्रीका हृदय कामदेवका मन्दिर है और तुम स्त्रीके हृदयके मन्दिर हो। यहाँ भिन्न-भिन्न कारणोंसे नायिकाका हृदय तथा नायिका दोनों ही कामदेवके वासस्थान हुए, इससे दीपक हुआ और पूर्वकथितके प्रति उत्तरकथितकी विशेषण-भावसे स्थापना की गई इससे एकावली हुई।

क्रमशः गुणोंको उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए जहाँ कई वस्तुओंका वर्णन किया जाय, वहाँ **सार** अलंकार होता है जैसे—मधुसे अमृत अधिकतर मधुर है और अमृतसे भी कविता अधिक मधुर है।

जहाँ कुछ वस्तुओंका उल्लेख करके पुनः उसी क्रमसे उनके गुण, क्रिया आदिका वर्णन किया जाय वहाँ **यथासंख्य** अलंकार होता है, जैसे—उसने शत्रु, मित्र तथा विपत्तिको दमन, प्रसन्न और नष्ट कर दिया है। क्रम ठीक न रहनेसे क्रम-भङ्ग दोष होता है।

**पर्याय** अलंकार दो प्रकारके होते हैं—१. जहाँ अनेक वस्तुएँ एकके ही आश्रित वर्णित हों, जैसे—पैरोंमें पहले चपलता थी पर अब मन्दता आ गई है। २. जहाँ एक वस्तुके क्रमशः अनेक आश्रय होनेका वर्णन हो, जैसे—'स्त्रीकी मुख-शोभा कमलको छोड़कर चन्द्रमामें आ बसी है।' रात्रिमें कमल मुरझा जाता है अतः स्त्री-मुखकी उपमा कमलसे न दी जाकर चन्द्रसे दी जाती है। इसके विपरीत दिनमें कमलसे उपमा दी जाती है।

जहाँ थोड़ा देकर अधिक लेनेका वर्णन हो वहाँ **परिवृत्ति** अलंकार होता है, जैसे—अरी! ( नायक ) एक बार बाण चलाकर ( नायिकाका ) शोभायुक्त कटाक्ष ग्रहण कर रहा है।

जहाँ उसीके समान एक दूसरेको व्यंग्यसे वर्जित करनेके अभिप्रायसे किसी बातका दूसरे स्थानपर होना कहा जाय वहाँ **परिसंख्या** अलंकार होता है, जैसे—स्नेह ( तैल-प्रेम ) का हृदयमें नाश नहीं हुआ वरन् दीपकमें हुआ। तात्पर्य यह है कि परिसंख्यामें किसी वस्तु, गुण आदिको उनके उपयुक्त स्थानोंसे हटाकर किसी विशेष स्थानपर स्थापित किया जाता है, जैसे—रामके राज्यमें नदियोंमें ही कुटिलता थी, मनुष्योंमें नहीं।

जहाँ ऐसी दो बातें कही जायँ कि 'ऐसा होगा या वैसा' वहाँ **विकल्प** अलंकार होता है, जैसे—नायिका कहती है कि 'मेरे दुःखका अन्त या तो यम करेंगे या मेरे पति।'

**समुच्चय** अलंकार दो प्रकारका होता है—१. जहाँ अनेक भावोंका एक

साथ ही उत्पन्न होना वर्णित हो, जैसे—तुम्हारे शत्रु भागते हैं, गिरते हैं और फिर डरके मारे भागते हैं। २. जहाँ अनेक कारण मिलकर ऐसा एक कार्य करते वर्णित किए जायँ जिसके लिये एक ही कारण पर्याप्त हो, जैसे—यौवन, प्रभुत्व, धन और कामदेव चारों मद उत्पन्न करते हैं। इनमें एक ही मद उत्पन्न करनेको बहुत है फिर भी अनेक कारण दिए गए हैं।

जहाँ कई क्रियाओं या भावोंका क्रमशः एकमें ( कर्त्तामें ) ही वर्णन किया जाय वहाँ कारकदीपक अलंकार होता है, जैसे—देखकर जाती है, आती है, हँसती है और ज्ञानकी बातें पूछती है।

अन्य कारण मिल जानेसे जहाँ कार्य सुगम होना वर्णित किया जाय वहाँ **समाधि** अलंकार होता है, जैसे—स्त्रीकी ज्यों ही इच्छा हुई ( कि पतिसे मिलें त्यों ही ) सूर्यास्त हो गया।

जहाँ प्रबल शत्रुसे परास्त न होकर (उससे पार न पानेपर) उसके मित्रोंका अहित करना दिखाया जाय वहाँ **प्रत्यनीक** अलंकार होता है, जैसे—नेत्रोंके समीपस्थ कानोंपर कमलोंने धावा बोल दिया। कमलोंने नेत्रोंसे सौन्दर्यमें परास्त होकर उसके समीपस्थ कानोंको उनका मित्र मानकर उनका अहित किया अर्थात् कर्णफूल बनकर, जो कमलके आकारका होता है, कानोंको नीचे खींचने लगे। मित्र-पक्षका हित करना भी इसी अलंकारके अन्तर्गत माना जाता है। 'जब इस प्रकार हुआ तब ऐसा क्यों न होगा' कहकर जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ भी **प्रत्यनीक** अलंकार होता है, जैसे—जब मुखने चन्द्रमापर ( सौन्दर्यमें ) विजय पा लिया तब कमल किस गिनतीमें है ? ( अर्थात् निस्सन्देह वह ग्राह्य होगा )। कैमुतिक न्यायसे जब कोई बड़ी बात हो गई तब छोटीके होनेमें सन्देह न रहना ही इस अलंकारकी विशेषता है।

जहाँ किसी कही हुई बातका युक्तिके साथ समर्थन किया जाय वहाँ **काव्यलिङ्ग** अलंकार होता है, जैसे—हे मदन ! जिस शिवने तुम्हें परास्त किया था उसे मैंने हृदयमें धारण किया है ( इसलिये मुझे अब मत सताओ नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चय है )। इस अलंकारमें एक पद या एक वाक्यके अर्थके कारण दिखलाए जानेसे दो भेद—पदार्थ-हेतु और वाक्यार्थ-हेतु माने गए हैं।

जहाँ विशेष बातसे सामान्यका समर्थन किया जाय वहाँ **अर्थान्तरन्यास** होता है, जैसे—रामजीकी कृपासे पर्वत भी जलमें उतराने लगे ; महान्

पुरुष क्या नहीं कर सकते ! जिस प्रकार विशेषसे सामान्यका समर्थन होता है उसी प्रकार विशेषका सामान्यसे भी होता है और ये दोनों साधर्म्य या वैधर्म्य-द्वारा किए जाते हैं।

जहाँ विशेष बातका सामान्य तथा पुनः विशेषसे समर्थन किया जाय वहाँ **विकस्वर** अलंकार होता है, जैसे—कृष्णजीने गोवर्धन पर्वत धारण किया, सत्पुरुष सब भार ( कष्ट ) सहन करते हैं जिस प्रकार शेषनाग सहन करते हैं। भारती-भूषणमें इसके दो भेद किए गए हैं—एकमें अन्तिम विशेष बात उपमानके रूपमें आती है, दूसरेमें उपमान-रूपमें नहीं आती।

उत्कर्षका हेतु जो नहीं होता वही हेतु जहाँ कल्पित कर लिया जाता है वहाँ **प्रौढोक्ति** अलंकार होता है, जैसे—तेरे केश बादलसे पूर्ण अमावास्याकी रात्रिके अन्धकारसे भी घने काले हैं।

'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' कहकर जहाँ वर्णन किया जाता है वहाँ **सम्भावना** अलंकार होता है, जैसे यदि शेषनाग वक्ता होते तो तुम्हारे गुणों ( के कथन ) का पार पा सकते।

जहाँ एक असम्भव बातका होना दूसरी असम्भव बातपर निर्भर हो वहाँ **मिथ्याध्यवसिति** अलंकार होता है, जैसे—यदि हथेलीपर पारा रखकर चले तब नववधू प्रीति करे।

जो कुछ कहना हो उसे स्पष्ट न कहकर जहाँ उसका प्रतिबिम्ब-मात्र कहा जाय वहाँ **ललित** अलंकार होता है, जैसे—पुल बाँधकर अब क्या करोगे, अब तो जल उतर गया।

**प्रहर्षण** ( आनन्द ) अलंकारके तीन भेद होते हैं—१. बिना यत्नके इच्छित फल प्राप्त होते दिखाना, जैसे—जिसके लिये हृदय तड़पता था वही दूती बनकर आ पहुँची है। २. बिना प्रयत्नके इच्छासे अधिक फलकी प्राप्ति होते दिखाना, जैसे—दीपक जलानेकी तैयारी कर ही रहे थे कि सूर्योदय हो गया। ३. वांछित पदार्थके प्राप्त्यर्थ उद्योगकी तैयारी करते ही उस पदार्थकी प्राप्ति दिखाना, जैसे—( पृथ्वीमें गड़े हुए धनको देखनेके लिये ) निधि-अञ्जनकी ओषधि खोजते समय आदि-कारण ( धन ) ही मिल गया।

जहाँ इच्छाके विरुद्ध फल होना वर्णित हो वहाँ **विषाद** अलंकार होता है,

जैसे—नीवीपर हाथ डालते ही कुक्कुटकी ध्वनि ( सबेरा होनेकी सूचना ) सुनाई पड़ी ।

जहाँ एकके गुण या दोषसे दूसरेमें गुण या दोषका होना दिखलाया जाय वहाँ उल्लास अलङ्कार होता है, जैसे—गङ्गाजीको यह आशा है कि सज्जन स्नान करके उन्हें पावन कर देंगे । १. गुणसे गुण, २. दोषसे दोष, ३. गुणसे दोष तथा ४. दोषसे गुणका होना दिखलानेके कारण यह अलङ्कार चार प्रकारका होता है ।

जहाँ एक वस्तुके गुण या दोषसे दूसरी वस्तुका गुण या दोष न प्राप्त होना कहा जाय वहाँ अवज्ञा अलङ्कार होता है, जैसे—चन्द्रमाकी किरणोंके छूनेपर भी कमल नहीं खिलता । गुणसे गुण तथा दोषसे दोष न प्राप्त होनेके भेदसे यह दो प्रकारका होता है । जहाँ दोषमें भी गुण मान लिया जाय वहाँ अनुज्ञा अलङ्कार होता है, जैसे—वह विपत्ति आवे जिससे भगवान् सदा हृदयमें रहें । जहाँ गुणमें दोषकी और दोषमें गुणकी कल्पना की जाय वहाँ लेख अलङ्कार होता है, जैसे—इसी मीठी बोलीके कारण सुग्गा पिंजरेमें बन्द हुआ ।

जहाँ किसी पदके एक अर्थमेंसे ही दूसरा अर्थ भी निकलता हो वहाँ मुद्रा अलङ्कार होता है, जैसे—कोई नायिका कहती है कि 'हे अलि ! वहाँ क्यों नहीं जाता जहाँ रसीली वास है ।' साथ ही नायिकाके कहनेका यह भी तात्पर्य है कि 'सखी ! वहाँ क्यों नहीं जाती जहाँ उस रसीली (अन्य नायिका) का वासस्थान है क्योंकि तुम्हारा प्रिय वहीं है ।'

जहाँ प्रस्तुत पदके मुख्य अर्थके साथ क्रमसे अन्य नाम भी निकलें वहाँ रत्नावली अलङ्कार होता है, जसे—हे रसिक तुम चतुर्मुख ( चतुरोंमें मुख्य ) लक्ष्मीपति ( धनी ) तथा सब ज्ञानोंके धाम ( ज्ञानी ) हो । इस प्रस्तुत अर्थके साथ-साथ चतुर्मुखसे ब्रह्मा, लक्ष्मीपतिसे विष्णु और ज्ञानोंके धामसे शिवके नाम भी निकलते हैं ।

जहाँ किसी वस्तुका अपना रङ्ग छोड़कर समीपवर्त्ती वस्तुका रङ्ग ग्रहण करना वर्णित हो वहाँ तद्गुण अलङ्कार होता है, जैसे—बेसरका मोती ओठ ( की लालिमा ) से मिलकर माणिक ( लाल ) की शोभा देता है ।

पूर्वरूप अलंकार दो प्रकारका होता है—१. जहाँ किसी वस्तुका अपने

समीपवर्त्तीका गुण लेकर पुनः उसे छोड़कर अपना पूर्व रूप धारण करना वर्णित हो, जसे—( नीलकण्ठ ) शिवजीके गलेमें पड़नेसे शेष श्याम हो गया पर पुनः उनके उज्वल यशके कारण श्वेत हो गया। २. जहाँ समीपवर्त्तीके गुण समाप्त हो जानेपर भी उस गुणका दूर न होना दिखलाया जाय, जैसे—दीपक बुझा देनेपर भी उसकी मेखलाके मणियोंके कारण उजाला बना रहा।

जहाँ समीपवर्त्तीके गुणका कुछ प्रभाव ही न होना दिखलाया जाय वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है, जैसे—हमारे अनुरक्त हृदयमें रहनेपर भी प्रियमें अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ।

जहाँ सङ्गसे गुणका अधिक बढ़ना वर्णित हो वहाँ अनुगुण अलङ्कार होता है, जैसे— हृदयकी प्रसन्नता ( हास्य ) से मोतीकी माला अधिक श्वेत हो उठी है।

अधिक समानताके कारण जहाँ भेद अर्थात् भिन्नताका स्पष्ट न होना वर्णित हो वहाँ मीलित अलङ्कार होता है, जैसे—स्त्रीके स्वाभाविक लाल पैरोंमें लगा हुआ महावर ऐसा मिल गया है कि पहचान ही नहीं पड़ता।

जहाँ समानताके कारण विशेष भेद न जान पड़ना वर्णित हो वहाँ सामान्य अलंकार होता है, जैसे—अपलक नेत्र, कान और कमलमें तनिक भी अन्तर नहीं जान पड़ता।

जहाँ किसी एक कारणसे समानतामें भेद प्रकट होना वर्णित हो वहाँ उन्मीलित अलङ्कार होता है, जैसे—कीर्त्तिके सामने हिमालय छूनेसे पहचाना जाता है।

समतामें भी जहाँ विशेष भेदसे भिन्नता प्रकट होना दिखाया जाय वहाँ विशेषक अलंकार होता है, जैसे—स्त्री-मुख और कमलका अन्तर सन्ध्याके समय चन्द्रदर्शनके अनन्तर ही समझमें आया।

जहाँ किसी गूढ़ अभिप्रायसे कोई बात कहलाई जाय वहाँ गूढोत्तर अलंकार होता है, जैसे—हे पथिक! वहाँ उस बेंतकी झाड़ीमें उतरने योग्य झरना है। इसमें गुप्त रूपसे संकेत-स्थान बतलाना भी इष्ट है।

जहाँ एक ही वाक्यमें प्रश्न और उत्तर दोनों मिलें वहाँ चित्र अलंकार होता है, जैसे—का शीतलवाहिनी गङ्गा? उत्तर है—काशीतल-वाहिनी गङ्गा। इस अलंकारका एक भेद और है जहाँ कई प्रश्नोंका एक ही शब्दसे

उत्तर निकले, जैसे घोड़ा अड़ा क्यों ? पान सड़ा क्यों ? रोट जला क्यों ? उत्तर—फेरा न था ।

जहाँ दूसरेका अभिप्राय समझनेपर ऐसी चेष्टा करना दिखाया जाय जिससे वह जान ले कि उसका अभिप्राय समझ लिया गया वहाँ **सूक्ष्म** अलंकार होता है, जैसे—मैंने उसकी ओर देखा तब उसने अपना शीशमणि बालोंमें छिपा लिया । प्रेमीने केवल दृष्टिसे ही मिलनेका समय पूछा तो नायिकाने उसका अभिप्राय समझकर अपना शीशमणि बालोंमें छिपाकर यह यह संकेत किया कि रात्रिमें मिलूँगी ।

जहाँ दूसरेके मनकी बात जानकर क्रिया-द्वारा अपना भाव प्रकट करना दिखाया जाय वहाँ **पिहित** अलंकार होता है, जैसे सबेरे शैयापर पतिके आते ही स्त्री हँसकर उसका पाँव दबाने लगी, अर्थात् स्त्री यह भाव प्रकट करती है कि तुम रात्रि-भर कहीं दूसरे स्थानपर रहे हो इससे थक गए हो । उसी थकावटको दूर करनेके लिये मैं तुम्हारा पाँव दाबती हूँ ।

जहाँ बहानेसे प्रत्यक्ष कारण छिपाकर कुछ और कहलाया जाय वहाँ **व्याजोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—हे सखी ! सुग्गेने दाँतोंको अनार समझकर मेरे अधरपर यह घाव कर दिया है ( प्रियने नहीं ) ।

जहाँ कोई गुप्त बात किसी औरके बहाने किसी दूसरेके प्रति कहलाई जाय वहाँ **गूढोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—हे सखी ! कल मैं महादेवजीके पूजनको जाऊँगी । यहाँ नायिका सखीको कहनेके बहाने पास खड़े हुए प्रेमीको सुना रही है कि कल महादेवजीके मन्दिरमें भेंट होगी ।

जहाँ प्रकट रूपसे कुछ कहलाकर श्लेष-द्वारा उसे छिपाया जाय वहाँ **विवृतोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—सैनसे दिखाकर कहती है कि महादेवजी ( प्रिय ) की पूजा करो ।

जहाँ किसी कृत्यका मर्म दूसरे कृत्यसे छिपाना दिखाया जाय वहाँ **युक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—पतिके विदा होते ही आँसू निकल आए पर उन्हें पोंछते समय उसने जँभाई ली, अर्थात् उसने जँभाई लेनेको ही आँसू निकलनेका कारण प्रकट करना चाहा ।

लोक-प्रवादमें प्रचलित उक्तिका जहाँ प्रयोग किया जाय वहाँ **लोकोक्ति** अलंकार होता है, जैसे—छातीपर पत्थर रखकर विरहका दुःख सहूँगी ।

जहाँ प्रचलित उक्तिका सार्थक प्रयोग किया जाय वहाँ छेकोक्ति अलंकार होता है, जैसे—जो गायोंको फेर लावे उसे ही अर्जुन समझो। विराट्की गायोंको अर्जुन कौरवोंसे छीनकर फेर लाए थे। यह अब एक साधारण उक्ति हो गई है जिसका तात्पर्य है कि जो कठिन काम कर सके उसे ही वीर समझना चाहिए, केवल बात बनानेसे काम नहीं चलेगा।

जहाँ कही हुई बातका श्लेष या क्रोध आदि विकृत स्वरसे दूसरा अर्थ लगाना दिखाया जाय वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है, जैसे आइए रसिक-शिरोमणि! घर-घर आपकी कीर्त्ति गाई जा रही है। यहाँ नायिका क्रोधके कारण व्यंग्यसे उलटा कह रही है। उसका तात्पर्य यह है कि तुम झूठे प्रेमी हो और सभी तुम्हारी बुराई करते हैं।

जहाँ किसीकी अवस्था, स्वभाव आदिके अनुसार ही उसका वर्णन किया जाय वहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार होता है, जैसे—वह हँसकर देखती है, फिर सिर झुका लेती है और इठलाकर मुँह घुमा लेती है।

जहाँ भूत या भविष्यकी बातोंका वर्त्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपमें वर्णन हो वहाँ भाविक अलंकार होता है, जैसे—आज भी वह लीला वृन्दावनमें ( प्रत्यक्ष-सी होती हुई ) मुझे दिखलाई पड़ती है।

जहाँ किसीके थोड़े गुणका परिचय देकर उससे बहुत बढ़ा-चढ़ा वर्णन किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार होता है, जैसे—उसकी थोड़ी-सी ही बात सुनकर जब तुम उसके वश हो जाते हो तो भगवान् ही बचावे। 'अली कली ही तैं बिँध्यो' इसका सुन्दर उदाहरण है। उदात्त दो प्रकारके होते हैं—१. किसीके ऐसे प्रशंसनीय चरित्रका उल्लेख हो जो अन्यके साथ सम्बन्ध रखता हो, २. जब ( सम्भाव्य ) विभूतिका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाय।

जहाँ किसीके गुण आदिका अत्यन्त बढ़ाकर वर्णन हो वहाँ अत्युक्ति अलङ्कार होता है, जैसे—राजन्! तेरे दानसे भिखमंगे भी कल्पतरु हो गए। अन्य लक्षणकारका मत है कि यह वर्णन अद्भुत और झूठ होना चाहिए।

जहाँ किसी शब्दका सयुक्ति किन्तु मनमाना अर्थ किया जाय वहाँ निरुक्ति अलङ्कार होता है, जैसे—हे उद्धव! कृष्णजी कुब्जाके वशमें हो गए, वे सचमुच निर्गुण हैं। यहाँ निर्गुणका अर्थ गुणोंसे रहित अर्थात् मूर्ख लिया गया है। पर निर्गुणका प्रधान अर्थ है—जो सत्त्व, रज और तम तीनों

गुणोंसे परे हो। यहाँ दूसरा अर्थ जो लिया गया है वह मनमाना होते हुए भी युक्तियुक्त है।

जहाँ प्रसिद्ध अर्थका इस प्रकार निषेध किया जाय कि कुछ विशेष अर्थ निकले वहाँ **प्रतिषेध** अलङ्कार होता है, जैसे—कृष्णजीके हाथमें यह मुरली नहीं है, कोई बड़ी बला है।

जहाँ किसी शब्दके साधारण अर्थपर विशेष बल दिया जाय वहाँ **विधि** अलङ्कार होता है, जैसे—कोयल तभी कोयल है जब वसन्त ऋतुमें वह ( अपनी मीठी ) बोली सुनाता है।

**हेतु** अलङ्कार दो प्रकारका होता है— १. जहाँ कारण और कार्य एक साथ होते कहे जायँ, जैसे—मानिनीका मान मिटानेको चन्द्रमा उदित हुआ। २. जहाँ कार्य और कारण एकमें ही सम्मिलितसे कहे जायँ, जैसे—तुम्हारी कृपा ही मेरी ऋद्धि और समृद्धि है।

### शब्दालङ्कार

शब्दालंकारोंमें विशेषतः अनुप्रास, यमक और श्लेषकी गणना की जाती है।

**अनुप्रास** अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ किसी पदमें एक ही अक्षर बार-बार आकर उस पदकी अधिक शोभा बढ़ावे। इसके पाँच भेद हैं—**छेकानुप्रास** वहाँ होता है जहाँ स्वरके एक न रहते हुए भी कई व्यंजनोंकी ( कुछ ही अन्तरपर ) दो-दो बार आवृत्ति हो, जैसे—आँखोंमें आँजन, कानोंमें कनफूल फबते हैं। जहाँ शब्दों और पदोंकी आवृत्ति हो पर ( अन्वयके भेदसे ) अर्थमें भेद हो तो **लाटानुप्रास** होता है, जैसे—

> प्रिय समीप जिसके, नहीं घाम चाँदनी ज्योति।
>
> प्रिय समीप जिसके नहीं, घाम चाँदनी ज्योति।

जहाँ एक ही अक्षरकी कई बार आवृत्ति हो वहाँ **वृत्यनुप्रास** होता है। **श्रुत्यनुप्रास** वहाँ होता है जहाँ एक ही वर्गके अनेक वर्णोंकी आवृत्ति हो। **अन्त्यानुप्रास** उन सभी छन्दोंमें होता है जिनमें पहले और तीसरे या दूसरे और चौथे चरणोंके अन्तमें तुक मिल जाता हो। सभी तुकान्त छन्दोंमें अन्त्यानुप्रास होता है।

जहाँ केवल सुननेमें शब्दोंकी आवृत्ति हो पर उनके अर्थ भिन्न हों वहाँ यमक अलङ्कार होता है, जैसे—कनकसे कनकका मद अधिक होता है।

जहाँ एक शब्दसे अनेक अर्थोंका बोध कराया जाता हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है, जैसे–भार धरै संसारको तऊ कहावत सेस। यहाँ शेषका अर्थ है बचा हुआ और शेषका अर्थ है शेषनाग।

अलङ्कारोंकी कोई सीमा नहीं है। सिद्ध लेखक नित्य अपनी वाणीमें नवीनता उत्पन्न करते जाते हैं और अलङ्कार भी बढ़ते जाते हैं।

---

# रीति-सम्प्रदाय

रीतिको काव्यका आत्मा ( रीतिरात्मा काव्यस्य ) बतानेका श्रेय है वामनको। उन्होंने कहा है कि 'पदोंकी विशिष्ट रचनाको ही रीति कहते हैं' ( विशिष्टा पदरचना रीतिः )। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि 'पदोंमें यह विशेषता उत्पन्न करनेका श्रेय गुणोंको ही है' ( विशेषो गुणात्मा )। इसीलिये रीति-सम्प्रदायको लोग गुण-सम्प्रदाय भी मानते हैं। हम पीछे 'साहित्यके गुण और दोष' की मीमांसामें पृष्ठ ५९९ से ६०२ तक तथा ६२४ और ६२५ पर विस्तारसे बता आए हैं कि भारतीय आचार्योंने काव्यके कौनसे गुण माने हैं। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति इन दसको काव्यार्थका गुण बताया है। रुद्रदामनने अपने गिरनारके शिलालेख ( १५० ई० ) में माधुर्य, कान्ति और उदारता आदि गुणोंका उल्लेख किया है। दण्डीने भी यद्यपि भरतके ही गुण-विवेचनको ग्रहण कर लिया है किन्तु उन्होंने गुणोंकी व्याख्यामें थोड़ा अन्तर कर दिया है। उन्होंने इन गुणोंको केवल वैदर्भी रीतिका ही लक्षण माना है और उस प्रसङ्गमें बताया है कि 'गौडी रीतिमें इन गुणोंका ठीक उलटा समझना चाहिए' ( एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि )। अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणोंको वे वैदर्भी और गौडी दोनोंके लिये आवश्यक मानते हैं। यद्यपि वामनने भी इन दसोंको माना तो है किन्तु उन्होंने इन गुणोंको दो प्रकारका बताया है ( शब्दगत और अर्थगत ) जिसका विवेचन पीछे पृष्ठ ६०० पर 'वामन' और 'शब्दगुण' उपशीर्षकसे दिया जा चुका है। किन्तु वामनका यह मत अन्य आचार्योंने नहीं माना है।

भामहने वामनसे पहले ही दस गुणोंके बदले माधुर्य, ओज और प्रसाद केवल तीन ही गुण स्वीकार किए थे जिन्हें पीछेके सभी आचार्यों (मम्मट,

हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज आदि ) ने मानते हुए यह सिद्ध किया है कि 'अन्य सात गुण या तो इन्हींके भीतर आ जाते हैं या वे दोषका अभाव-मात्र दिखलाते हैं ( जैसे कान्ति ) या वे गुण न होकर दोष हो जाते हैं।' भोजराजने वामनका ही अनुकरण किया है किन्तु उन्होंने इन गुणोंको तीन भागोंमें बाँटा है—१. बाह्य, २. आन्तर और ३. वैशेषिक। साथ ही उन्होंने गुणोंकी संख्या भी दससे बढ़ाकर चौबीस कर दी है।

वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियोंमें वैदर्भी अधिक रमणीय रीति समझी जाती थी और गौडी निन्दित, किन्तु भामहने इसका संशोधन करते हुए कहा कि 'किसी रीतिको श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं कहना चाहिए क्योंकि सब अपने-अपने स्थानपर श्रेष्ठ ही होती हैं। वास्तवमें विचारकको काव्यके निम्नांकित सुन्दर गुणोंपर ही ध्यान देना चाहिए—वक्रोक्तियुक्त होना, अर्थसे पूर्ण होना, ग्राम्यदोषसे रहित होना आदि। दण्डीने वैदर्भी और गौडी दोनोंका विस्तृत विवेचन करते हुए वैदर्भीको तो दसों गुणोंसे युक्त और गौडीको कुछ गुण छोड़कर अन्य गुणोंका उलटा माना है अत: वे वैदर्भी रीतिको आदर्श मानते हैं और गौडीको अत्यन्त हीन। वामनने तीनों शैलियोंका परिचय देते हुए कहा है कि 'जिस शैलीमें सब शब्दगुण और अर्थगुण हों वह वैदर्भी, जिसमें केवल ओज और कान्ति गुण हो वह गौडी और जिसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण हों उसे पाञ्चाली कहते हैं'। इस प्रकार उन्होंने वैदर्भी और गौडीके अतिरिक्त तीसरी पाञ्चाली भी मान ली।

### रीतियोंके अनेक भेद

आगे चलकर आचार्यगण इन रीतियोंकी संख्या भी बढ़ाते चले गए। राजशेखरने अपनी कर्पूरमञ्जरीमें केवल तीन रीतियोंका उल्लेख किया है—१. वच्छोमि ( वैदर्भी ), २. मागधी तथा ३. पाञ्चालिका ( पाञ्चाली )। रुद्रटने एक लाटी रीति मानी। भोजने आवन्ती, मागधी और लाटी तीन नई वृत्तियाँ मान लीं किन्तु साहित्यमें केवल प्रथम तीन ही प्रचलित हैं।

### रीतिकी व्याख्या

रीतिका अर्थ है शैली या कहनेका ढङ्ग। यद्यपि ध्वन्यालोकमें आनन्द-वर्द्धनने यही कहा है कि 'रीति-सम्प्रदायके आचार्योंको काव्य-तत्त्वका यथार्थ वर्णन करना नहीं आया इसीलिये उन लोगोंने रीतियाँ चलाईं—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितं ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्त्तुं रीतयः सम्प्रवर्त्तिताः ।।'

अर्थात् रीतिवाले काव्य-तत्त्व जानते अवश्य थे किन्तु किस प्रकार इन्हें व्यक्त करना चाहिए यही नहीं जानते थे इसीलिये ये लोग रीतिके फेरमें पड़ गए। किन्तु वास्तवमें काव्यके रूपकी स्पष्ट व्याख्या रीति-सम्प्रदायवालोंने ही की जिन्होंने ( विशेषतः वामनने ) अलंकार और गुणोंको अलग करके उनका भेद समझाया। इससे पूर्व भामहने गुण और अलंकारका भेद स्पष्ट नहीं किया था और दण्डीने गुणोंको भी अलङ्कार ही कह डाला था 'काव्यशोभाकरान् धर्मान-लङ्कारान्प्रचक्षते।' किन्तु वामनने गुणोंको अलङ्कारोंसे अधिक महत्त्व दिया है। वे गुणको ही काव्यकी शोभा बढ़ानेवाला मानते हैं और उस शोभाको तीव्र रूपसे व्यक्त करनेवाले तत्त्वोंको अलङ्कार मानते हैं ( काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः)। उन्होंने यह भी माना है कि 'गुण तो काव्यमें नित्य रहते हैं, बिना उसके काव्यमें शोभा ही नहीं उत्पन्न होती। यह गुणयुक्त रचना ही काव्य कहलाती है, गुणहीन रचना नहीं।' गुणको उन्होंने स्त्रीके यौवनके समान आन्तरिक तत्त्व माना है और बतलाया है कि 'यदि किसी स्त्रीमें यौवन न हो तो कङ्कन, कण्ठहार आदि आभूषण उसकी शोभा नहीं बढ़ा सकते। अतः अलङ्कारोंको तो कङ्कन आदिके समान समझना चाहिए और गुणको यौवनके समान।'

### रीति और रस

भामह आदि आलंकारिकोंने रसको काव्यका बहिरङ्ग साधक माना है किन्तु वामनने उसे काव्यका सात्त्विक धर्म बताया है और कहा है कि 'रसका चमकना ही कान्ति है ( दीप्तरसत्वं कान्तिः ) अर्थात् शृङ्गार आदि रस जहाँ चमककर प्रकट होते हों वहीं कान्ति गुण होता है।' इसीलिये वामनने रसवत् आदि अलंकार नहीं माने क्योंकि वे गुणके भीतर ही रसकी व्यापकता समझते थे। इसी प्रकार वामनने वक्रोक्तिके अन्तर्गत ही अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि मानकर काव्यके तत्त्वोंकी पहचानका पूर्ण परिचय दिया है।

पीछेके आचार्योंने यह मत स्वीकार नहीं किया कि रीति ही काव्यका आत्मा ( रीतिरात्मा काव्यस्य ) है फिर भी यह तो सभीने माना है कि रीतिका तत्त्व काव्यके परीक्षणमें सहायक होता है। कुन्तकने रीतिका विवेचन एक

नई दृष्टिसे किया है। उनसे पहलेके आचार्योंने विदर्भ, गौड और पाञ्चाल देशोंके नामपर वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियाँ मानी थीं किन्तु इसका न तो कोई तुक था न कोई ऐतिहासिक, भौगोलिक या भाषा-शास्त्रीय महत्त्व। अतः कुन्तकने नये नाम और नये सिद्धान्त निश्चित किए। उन्होंने वैदर्भीको 'सुकुमार मार्ग', गौडीको 'विचित्र मार्ग' और पाञ्चालीको 'मध्यम मार्ग' कहकर पुकारा और इन रीतियोंके लिये उन्होंने चार नये गुणोंकी भी कल्पना की। रीति या शैलीकी महत्ता योरोपीय साहित्य-शास्त्रियोंने विशेष रूपसे मानी है, जिसका विवरण हम विस्तारसे शैलीके प्रकरणमें दे आए हैं। साधारण रूपसे रीतिको इसी रूपमें समझना चाहिए जैसा विश्वनाथ कविराजने कहा है—'पदोंके मेल या सङ्घटनको रीति कहते हैं, जैसे—सब अङ्ग शरीरमें सानुपात और अपने-अपने स्थानपर स्थित होते हैं वैसे ही काव्यके शरीरमें भी शब्द और अर्थका उचित संयोजन होना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि 'रीति उस शब्द-योजनाको कहते हैं जो कविके इष्ट अर्थको तीव्रतम रूपसे ग्राहकके हृदयमें भासमान कर दे।'

# वक्रोक्ति - सम्प्रदाय

भारतीय समीक्षाका एक विचित्र सिद्धान्त-सम्प्रदाय है जिसे वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति शब्दका सीधा अर्थ है 'टेढ़ी बात' ( वक्र उक्ति )। तात्पर्य यह है कि जिस बातको साधारणत: लोग एक ढङ्गसे कहते हैं उसे किसी दूसरे ढङ्गसे सुन्दर बनाकर कहनेको ही वक्रोक्ति कहते हैं। भोजन करनेके लिये घरमें कहते हैं 'खाना खा लीजिए', इसीको दूसरा कहता है— 'थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है।' यह दूसरा कथन ही वक्रोक्ति है। एक तीसरे प्रकारसे भी इसे कहा जा सकता है—'चलकर टिक्कड़ ठूस ले।' यद्यपि पीछेकी दोनों ही उक्तियाँ असाधारण और टेढ़ी अर्थात् घुमाकर कही गई हैं किन्तु दूसरीमें चमत्कार है और तीसरीमें फूहड़पन और ग्राम्यत्व है अत: 'वक्रोक्ति उसी उक्तिको कहते हैं जिसमें अत्यन्त शिष्ट ढङ्गसे कथनमें चमत्कार उत्पन्न किया जाय।'

सर्वप्रथम भामहने अपने काव्यालंकारमें वक्रोक्तिका परिचय दिया है। उन्होंने वहाँ वक्रोक्तिको अतिशयोक्तिका ही दूसरा नाम बताया है और उसे ही काव्यका मूल तत्त्व भी माना है। उन्होंने कहा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

किन्तु भामहने काव्यमें वक्रोक्तिका इतना ही उपयोग समझा है कि अलङ्कारके लिये वक्रोक्तिका होना आवश्यक है ( वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ), अर्थात् टेढ़े अर्थमें शब्दोंका प्रयोग करना ही अलंकार बन जाता है। भामहके एक पद्यका उद्धरण देते हुए अभिनवगुप्तने वक्रोक्तिका यह लक्षण बताया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य हि वक्रता, लोकोत्तरेण रूपेणा-वस्थानम्' अर्थात् लोकोत्तर या निराले ढङ्गसे शब्दों और अर्थोंका बैठाना ही शब्द-अर्थकी वक्रता कहलाती है, जैसे—'मैं तुम्हें मार डालूँगा' कहनेके

बदले यदि आपने कहा—'मैं तुम्हें यमराजके भवनका अतिथि बना दूँगा' तो यह वक्रोक्ति हो गई। दण्डीने तो सम्पूर्ण वाङ्मयको ही दो भागोंमें विभक्त कर दिया—१. स्वभावोक्ति, जिसके अन्तर्गत वस्तुओंका ज्योंका त्यों यथार्थ कथन हो। इस स्वभावोक्तिको काव्यादर्शमें 'जाति' नामसे सर्वप्रथम अलङ्कार माना गया है। २. वक्रोक्ति, जो स्वाभाविक कथनसे भिन्न हो और जिसमें अतिशय कथन हो। इस विवेचनके अनुसार उपमा आदि सब अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेयान् आदि रस-सम्बन्धी अलङ्कार सब वक्रोक्तिके ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रसङ्गमें दण्डीने कहा है कि 'श्लेषके सम्पर्कसे वक्रोक्ति और भी अधिक खिल उठती है।' इसे हम यों कह सकते हैं कि भामहने जो वक्रोक्तिकी कल्पना की थी उसे ही दण्डीने स्वीकार कर लिया। भामहने तो वक्रोक्तिको सब अलङ्कारोंका मूल और सामान्य वार्त्तालापसे भिन्न माना है किन्तु दण्डीने तो स्वभावोक्तिको वक्रोक्तिके क्षेत्रसे ही अलग कर दिया, क्योंकि वे वक्रोक्तिके लिये अतिशय कथनको आवश्यक नहीं मानते। वामनने वक्रोक्तिका जो वर्णन किया है उसका रूप भामह-द्वारा प्रदर्शित वक्रोक्तिसे भिन्न है क्योंकि भामहने तो वक्रोक्तिको अलङ्कारोंका मूल आधार ही माना था किन्तु वामनने उसे अर्थालङ्कारोंमें ही गिन लिया। वामनका मत है कि 'वक्रोक्ति भी सादृश्यपर आश्रित लक्षणा ही है', जैसे—प्रातःकाल सरोवरमें कमल खिले और कुमुद संकुचित हो गए। यहाँ कमलके लिये खिलना और कुमुदके लिये संकुचित होनेकी बातमें वक्रोक्ति है। ये खिलना और सकुचना दोनों नेत्रके काम हैं किन्तु समानता होनेके कारण इनसे कमलके खुलने और बन्द होनेका अर्थ निकलता है। रुद्रटने वक्रोक्तिको एक शब्दालंकार ही मान लिया। 'जब कोई किसीकी बात सुनकर उसके शब्दोंका दूसरा ही अर्थ लगाकर कुछ दूसरा ही असङ्गत उत्तर दे' उसे रुद्रटने वक्रोक्ति माना है, जैसे कृष्णजीके किवाड़ खटखटानेपर राधिकाजीने पूछा—'कौन है'? कृष्णजीने उत्तर दिया—'मैं हरि हूँ।' इस हरिका अर्थ बन्दर लगाकर राधिकाजीने कहा—'हरि हो तो जङ्गलमें पेड़पर जाकर बैठो।' यही वक्रोक्ति नामका शब्दालंकार है। कुन्तकने वक्रोक्तिको अलंकार न मानकर काव्यका प्रधान तत्त्व माना है और विचित्र ढङ्गसे कहने ( वैदग्धी भङ्गी भणितिः )को ही वक्रोक्ति माना है। इससे सिद्ध हुआ कि 'भामहने अलङ्कारके मूल तत्त्वके रूपमें जिस वक्रोक्तिको ग्रहण किया था उसे वामनने सादृश्यमूला

लक्षणाके रूपमें अर्थालङ्कार माना, रुद्रटने शब्दालङ्कार माना और कुन्तकने काव्यका मूल तत्त्व माना।'

कुन्तकने वक्रोक्तिको काव्यका जीवित ( वक्रोक्तिर्काव्यजीवितम् ) माना है इसलिये वे वक्रोक्ति-जीवितकार कहलाते हैं। उन्होंने छः प्रकारकी वक्रोक्ति मानी है—१. वर्ण-वक्रता, जहाँ अक्षरोंके विन्यासमें नवीनता उत्पन्न की जाय, २. पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता, जहाँ शब्दके पूर्वार्द्धमें विचित्रता हो, ३. पद-परार्द्ध-वक्रता, जहाँ शब्दके दूसरे आधे भागमें वक्रता हो, ४. वाक्य-वक्रता, ५. प्रकरण-वक्रता, अर्थात् पूरे प्रकरणमें ही विशेष नवीनता हो और ६. प्रबन्ध-वक्रता, अर्थात् पूरे ग्रन्थमें ही नयापन हो। उन्होंने वक्रोक्तिको इतना व्यापक कर दिया कि ध्वनिवालोंने जितना कुछ विचार किया है वह सब इसीके अन्तर्गत आ जाता है। ध्वनिवादियोंने यद्यपि वक्रोक्तिको काव्यका आत्मा तो नहीं माना किन्तु वक्रोक्तिके जितने प्रकार कुन्तकने सुझाए उन सबको उन्होंने ध्वनिके भीतर ही समाविष्ट कर दिया।

## वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद

योरोपीय समीक्षकोंने अरस्तू और लौंगिनसके समयसे ही उक्तिमें विचित्रता उत्पन्न करना काव्यके लिये आवश्यक माना है किन्तु रूप या शैली ( फ़ौर्म एन्ड स्टाइल ) को विषयसे अधिक महत्त्व बनाकर अभिव्यञ्जनाको महत्त्व देनेका श्रेय क्रोचेके अभिव्यञ्जनावाद ( एक्सप्रेशनिज़्म ) को है। क्रोचेका मत है कि 'मनके दो व्यापार हैं—१. ज्ञान या प्रज्ञा, जो दो प्रकारका होता है—क. अन्तःप्रेरणा ( इन्ट्यूशन ), ख. विचार या बुद्धि-द्वारा प्राप्त ज्ञान ( कन्सेप्ट ) २. क्रिया या सङ्कल्प, जिसके दो भेद हैं—क. आर्थिक क्रिया ( इकौनौमिक एक्टिविटी ) ख. नैतिक क्रिया ( ईथिकल एक्टिविटी )। इस प्रकार इन चारोंसे क्रमशः अन्तःप्रेरणासे सुन्दर, विचारसे सत्य, आर्थिक क्रियासे प्रेय और नैतिक क्रियासे श्रेयकी उत्पत्ति होती है। क्रोचेका विचार है कि 'मनकी शक्ति क्रियामें प्रकट होती है। इसका ठीक-ठीक विवरण हमें इतिहाससे मिलता है जिसका काम है संसारकी घटनाओंका मूल्य निर्णय करना, सत्यता - असत्यताका निश्चय करना तथा उनके प्रभावको ठीक समझना।' यही ऐतिहासिक निर्णयपर पहुँचना ही दर्शनका काम है। क्रोचेका मत है कि 'यही अन्तःप्रेरणात्मक ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह

कोई न कोई रूप ( फ़ौर्म ) ग्रहण करता है अर्थात् अन्तःप्रेरणा किसी निश्चित रूपमें प्रकट होती है और यह रूप ही अभिव्यञ्जना ( एक्सप्रेशन ) कहलाता है।' अतः अन्तःप्रेरणा यही अभिव्यञ्जना ही है, न इससे कुछ अधिक न कुछ कम, अर्थात् मन अपनी अन्तःप्रेरणाको जिस रूपमें ढालता है या यों कहिए कि हमारी अन्तःप्रेरणा ही अपनेको व्यक्त करनेके लिये जो रूप ग्रहण करती है वही अभिव्यञ्जना है। अतः ये दोनों परस्पर सम्पृक्त हैं। यह अभिव्यञ्जना भी भौतिक नहीं होती, मानसिक होती है अर्थात् ज्यों ही हम मनमें किसी मूर्त्तिकी कल्पना करते हैं त्यों ही अभिव्यञ्जना पूर्ण हो जाती है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह जब शब्दोंमें कही जाय तभी अभिव्यञ्जना हो। वह तो शुद्ध आभ्यन्तर होती है, बाह्य नहीं, क्योंकि, उसका बाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोकसे हटकर व्यवहार-जगत्में आ जाते हैं। उस समय यह बाह्य अभिव्यक्ति हमारी आन्तर अभिव्यक्तिका ही अधिक स्पष्ट रूप हो जाती है। क्रोचेने कहा है कि 'यदि हम किसी सङ्गीतके विषयको लेकर व्यक्त रूपसे गाते हैं तो हम वही गाते हैं जिसे हम पहले भीतर गा चुके हैं अर्थात् यह बाह्य अभिव्यक्ति वास्तवमें हमारी आभ्यन्तर अभिव्यञ्जनाका ही प्रत्यक्ष रूप है।'

क्रोचेका यह अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है क्योंकि वक्रोक्तिमें शुद्ध रूपसे शब्दार्थके कौशलपूर्ण नियोजनकी बात कही गई है, जिसका विवेकवती बुद्धिसे ही पूर्ण सम्बन्ध है, अन्तःप्रेरणासे नहीं। दूसरी बात यह है कि वक्रोक्तिमें आभ्यन्तर अभिव्यक्तिकी बात ही नहीं उठती। जहाँतक क्रोचेकी अभिव्यञ्जनाका प्रश्न है, वह कुछ अंशोंमें ठीक है और वह इस दृष्टिसे कि अभिव्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्तिगत होती है जिसे हम स्वान्तःसुखायकी भावनाका आधार मान सकते हैं अर्थात् कविके मनमें कुछ ऐसी अन्तःप्रेरणा होती है कि वह उस अन्तःप्रेरणामें ही मग्न होकर स्वयं आत्मविभोर और रसमग्न हो जाता है। यही आन्तरिक अभिव्यञ्जना है। किन्तु कविका काम तो यह है कि वह दूसरोंको भी उस भावसे भावित करे, अतः यह आवश्यक है कि इस कार्यके निमित्त वह अपनी अन्तःप्रेरणाके रूपमें अभिव्यक्त रूपको शब्दका परिधान पहनाकर ही अभिव्यक्त करे। यही बाह्य अभिव्यञ्जना है। यह अभिव्यक्ति सरल शब्दोंमें साधारण ढङ्गसे भी हो सकती है जो वक्रोक्तिकी सीमासे पूर्णतः बाहर है।

वह अभिव्यञ्जना तभी वक्रोक्ति हो सकती है जब वह असाधारण रूपसे व्यक्त की गई हो। अतः वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावादका किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रोचेने कहा है—'सब कलाएँ अभिव्यक्ति हैं अतः सब अभिव्यक्ति कला है' (औल आर्ट इज़ एक्सप्रेशन देअरफ़ोर औल एक्सप्रेशन इज़ आर्ट)। कलाके प्रकरणमें हम इसकी मीमांसा करते हुए बता चुके हैं कि कला वास्तवमें अभिव्यक्त तो होती है किन्तु वह व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रोचेको यह कहना चाहिए था कि 'सम्पूर्ण कला व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति है अतः समस्त व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति ही कला है।' किन्तु केवल इस आधारपर अभिव्यक्तिको कला कहना कि कला भी अभिव्यक्ति है, वैसा ही असङ्गत है जैसे यह कहना कि 'सम्पूर्ण सङ्गीत ध्वनि है इसलिये सम्पूर्ण ध्वनि भी सङ्गीत है।' अतः क्रोचेके अभिव्यञ्जनावादको वक्रोक्तिसे नहीं मिलाना चाहिए।

# ध्वनि

भारतीय साहित्यमें काव्यका प्रधान गुण ध्वनि माना गया है और ध्वनिसम्प्रदाय ही ऐसा समीक्षा-सम्प्रदाय है जो रस-सम्प्रदायकी टक्करमें टिका हुआ है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्यने ( नवम शताब्दिमें ) ध्वनिके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। यद्यपि इस सिद्धान्तका विरोध भी प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिम भट्ट आदिने प्रबल रूपसे किया किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त व्यापक रूपसे मान्य रहा।

## ध्वनिकी परिभाषा

'जहाँ प्रत्यक्ष ( वाच्य ) अर्थमेंसे कोई दूसरा ही सुन्दर अर्थ निकले और वह नया अर्थ उसके प्रत्यक्ष या वाच्य अर्थकी अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हो वही ध्वनि है और उस प्रकारके ध्वन्यर्थोंसे भरा हुआ काव्य ही ध्वनि-काव्य कहलाता है जिसे मम्मटने सर्वश्रेष्ठ प्रकारका काव्य बताया है—'

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

आचार्योंने अर्थ दो प्रकारके माने हैं—१. वाच्य, जिसके अन्तर्गत अलंकार आदि सब आ जाते हैं। २. प्रतीयमान अर्थ, जिसके अन्तर्गत ध्वनि आती है। आचार्योंका कहना है कि 'जो व्यक्ति काव्यमें वास्तविकता देखना चाहे उसे यह प्रतीयमान ( जान पड़नेवाला ) अर्थ भली-भाँति प्रकट हो जाता है जैसे—किसी सुन्दरीके शरीरमें सब अङ्ग और अवयव रहते हुए भी उनसे भिन्न लावण्य या सुन्दरता प्रतीत होती है उसी प्रकार काव्यके सब अङ्गोंमें अलग विचित्र, निराले, चमत्कारपूर्ण प्रतीयमान अर्थकी उपस्थिति भी रहती है।' यद्यपि आदिकवि वाल्मीकिके समयसे ही सब कवि अपने काव्योंमें इस ध्वन्यर्थका प्रयोग करते चले आ रहे थे किन्तु इस ध्वनिको काव्यका आत्मा ( काव्यस्यात्मा ध्वनिः ) बताकर उसे एक पृथक् स्वतन्त्र काव्यतत्त्वके

रूपमें स्थापित करनेका श्रेय आनन्दवर्धनको ही है। योरोपीय साहित्यवालोंने इसे ध्वनित अर्थ ( सजेस्टिव मीनिङ्ग ) का महत्त्व माना है। इसके सम्बन्धमें ड्राइडनने कहा है कि—'यह ध्वन्यर्थ वहाँ होता है जहाँ कानसे सुनाई पड़नेवाले शब्दोंसे कुछ अधिक अर्थ प्रतीत हो ( मोर इज़ मेन्ट दैन मीट्स द्री ईयर), किन्तु वहाँ भी इसे प्रधान तत्त्वके रूपमें विश्लिष्ट नहीं किया गया। इसका कारण यही था कि प्रारम्भसे ही वहाँ काव्य एक कला समझी जाने लगी थी और कलाका गुणतत्त्व सौन्दर्य ही माना जाता था। आनन्दवर्धनने ध्वनिकी जो व्याख्या की उसके पश्चात् उसका विस्तार अभिनवगुप्तने ध्वन्यालोककी 'लोचन' टीकामें किया। उसी समय बहुतसे ध्वनि-विरोधी आचार्योंने इस ध्वनि-सम्प्रदायका खण्डन भी किया जिनके विरोधोंका उत्तर देते हुए मम्मटने काव्यप्रकाशमें इस ध्वनिको पुनः स्थापित किया।

यह ध्वनि क्या है और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्धमें वैयाकरणोंने विस्तारसे विचार किया है। वहाँ शब्द और अर्थकी व्याख्यामें इस बातपर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है कि 'अर्थ किसमें होता है? ध्वनिमें, वर्णमें, शब्दमें या वाक्यमें?' इस शास्त्रार्थका आधार है स्फोटवाद।

### स्फोट और ध्वनि

भट्टोजी दीक्षितने शब्दकौस्तुभमें स्फोटकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ निकलता हो या जिससे अर्थ फूटता हो उसे स्फोट कहते हैं। मञ्जूषामें नागेशने कौण्डभट्टके 'स्फुटत्यर्थो यस्मादिति' अर्थात् 'जिससे अर्थ फूटे' इस व्याख्याके अनुसार अर्थका बोध करानेवाले शब्दको ही स्फोट-रूप माना है। जैसे-जैसे उस स्फोटपर अर्थात् अर्थ बतानेवाले तत्त्वपर विचार हुआ वैसे-वैसे स्फोटके अनेक रूप बन गए और तदनुसार आठ प्रकारके स्फोट माने गए—

१. वर्णस्फोट, २. पदस्फोट, ३. वाक्यस्फोट, ४. अखण्डपदस्फोट, ५. अखण्डवाक्यस्फोट, ६. वर्णजातिस्फोट, ७. पदजातिस्फोट, और ८. वाक्यजातिस्फोट। शबर स्वामीने वर्णस्फोट और पदस्फोट केवल इन दो स्फोटोंका ही समर्थन किया है। उनका मत है कि 'प्रत्येक वर्णमें अर्थ होता है' उन्हीं अर्थवाले वर्णोंके समूहको पद और पदके समूहको वाक्य

कहते हैं। अतः वाक्य किसी भी प्रकार वर्ण और पदसे भिन्न नहीं है। मीमांसकोंका भी मत है कि 'हमारे अज्ञानके कारण वह भले ही न जाना जा सकता हो किन्तु प्रत्येक वर्णमें अर्थ होता अवश्य है।' कुमारिल भट्टने इसीका समर्थन करते हुए कहा है कि 'हम यदि वाक्यको अखण्ड समझेंगे और उसकी अलग सत्ता मानेंगे तो वर्ण और पद दोनों अनित्य हो जायँगे इसलिये वाक्यस्फोटके बदले वर्णस्फोट और पदस्फोट ही ठीक है।'

पतञ्जलिने अ, इ, उ आदि एक अक्षरवाले वर्ण सार्थक बताए हैं किन्तु यह कहा है कि 'कूप, यूप आदिमें क प का, कोई अर्थ नहीं है इसलिये वर्णसे अर्थका ठीक ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार राजपुरुष शब्दमें 'राज' पदका कोई अलग अर्थ नहीं है, अतः पूरे वाक्यके बिना कोई भी ज्ञान असम्भव है। इसलिये वास्तविक अर्थज्ञान वाक्यस्फोटसे ही होता है और वही नित्य है।' नागेशने मञ्जूषामें लिखा है—'वाक्यस्फोट एव लोकेऽर्थप्रत्यायकत्वेन शक्तिमान्' [ लोकमें वाक्यसे ही अर्थ-ज्ञान होता है, वर्ण और पदसे नहीं। ] भाष्यकारने कहा है—'वाक्यस्फोटात्मकं शाब्दब्रह्मज्ञानं, व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनम्' [व्याकरणका मुख्य प्रयोजन वाक्यस्फोट ब्रह्मका ज्ञान करना ही है।] भर्तृहरिने वाक्यस्फोटको आकाशके समान नित्य बताते हुए कहा है कि 'जैसे आकाश नित्य है किन्तु उपाधि लगाकर हम उसके मठाकाश और घटाकाश आदि अनेक भेद कर लेते हैं उसी प्रकार वाक्यके नित्य रूपमें हम वर्ण और पद नामके विभाग कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त प्रकृति और प्रत्यय आदि जो विभाग किए गए हैं वे वास्तविक नहीं, कल्पित हैं।'

भट्टोजी दीक्षितने 'वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटकतैवैका नित्या' कहकर वाक्य-स्फोटका ही समर्थन किया है। भूषणकार कौण्डभट्टने लिखा है—'वाक्य-स्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः' [ वाक्यस्फोट ही मुख्य है, यही इसका निष्कर्ष है। ]

वाक्यस्फोटको मानते हुए कभी-कभी वर्ण और पदोंसे भी अर्थ जाना जा सकता है, जैसे किसीने कहा—'आप हमारे साथ चलेंगे ?' उसने एक अक्षरमें उत्तर दिया—'हाँ'। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ आप जाना चाहते हैं वहाँ मैं भी आपके साथ चलूँगा। इसी प्रकार 'पानी' कह देने-भरसे 'पानी लाओ' अर्थकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब हम संकेतसे

किसीको कुछ लानेके लिये आङ्गिक चेष्टा करते हैं तो वह समझ जाता है कि मुझे अमुक वस्तु लानी चाहिए।

### ध्वनि और स्फोट

कुछ भी बोलनेपर पहले उसकी शब्द-ध्वनि सुनाई पड़ती है और तत्पश्चात् उसका अर्थ प्रतीत होता है। अतः स्फोट और ध्वनिका व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है अर्थात् ध्वनियाँ अर्थ बतानेवाली या व्यञ्जक हैं और स्फोट उससे बताया जानेवाला अर्थ या व्यंग्य है, अर्थात् ध्वनियोंके सहारे स्फोट प्रकट या अभिव्यक्त होता है। भर्तृहरिने वाक्यपदीयमें लिखा है—'स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतद्ध्वनिरिष्यते' ( प्राकृतिक ध्वनियोंसे ही स्फोटका ज्ञान होता है ) अर्थात् प्रत्येक ध्वनि स्फोटका रूप बतानेमें सहायक होती है। वाक्यपदीयके टीकाकार पुण्यराजने इसीलिये प्रत्येक ध्वनिको सार्थक बताते हुए लिखा है कि—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।<br>
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

वस्तुतः भर्तृहरिने शब्द-ब्रह्मको अनादि, अलौकिक, अव्यक्त ब्रह्म माना है। वही ब्रह्म अविद्याके कारण अलग होकर अर्थका ज्ञान कराता है अर्थात् अर्थके स्वरूपमें प्रकट होता है। वाक्यपदीयमें इसका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।<br>
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

इस सम्पूर्ण विवेचनका तात्पर्य यह है कि अर्थ वाक्यमें ही रहता है अर्थात् वाक्यस्फोट ही मुख्य है, उसीसे अर्थ जाना जाता है। कभी-कभी जब हम केवल 'हाँ-हूँ' करते हैं तब भी उसमें पूरा अर्थ ही सम्मिलित रहता है अतः वर्ण या पदकी महत्ता न होकर भाषामें वाक्यकी ही प्रधानता है। इससे प्रतीत होता है कि जो शब्द हम बोलते हैं और जिससे अर्थ निकलता है वही स्फोट है। इस अर्थको प्रकट करनेका काम वही शब्द करता है जिसे हम उच्चारण करते हैं। यही ध्वनि है। व्याकरणमें ध्वनि तो केवल उस शब्दको ही कहते हैं जो अर्थकी अभिव्यञ्जनाके लिये प्रयुक्त किया जाता है किन्तु साहित्यशास्त्रमें अर्थकी अभिव्यञ्जना करनेवाले शब्द और अर्थ दोनोंके लिये 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग किया जाने लगा।

नाटकमें जो रस दर्शकोंको प्रतीत होता है वह वाच्य या प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् वह शब्द या संवाद सुननेसे नहीं प्रकट होता वरन् व्यञ्जनासे अर्थात् शब्दोंसे भिन्न अपने आप निराले ढङ्गसे प्रतीत होता है। इसी निराले ढङ्गसे प्रतीत होनेको व्यञ्जना-वृत्ति कहते हैं। नाटकका मुख्य उद्देश्य तो रस प्रकट करना है और इसके लिये पूरा नाटक-काव्य ही रचा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई छोटा-सा गीत, प्रगीत या पद सुना दिया जाय उससे पूर्ण रस अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसलिये यदि हम रसको काव्यका आत्मा मान लें तो जितने मुक्तक, गीत, प्रगीत आदि हैं वे सब काव्यके क्षेत्रसे बाहर हो जायँ। किन्तु रस तो वाच्य नहीं है अर्थात् वह शब्दसे प्रकट नहीं होता, वह तो व्यञ्जनासे अर्थात् ध्वनित होकर प्रकट होता है। यही मानकर आनन्दवर्द्धनने 'चमत्कारपूर्ण व्यंग्य अर्थसे सम्पन्न कविता'को ही उत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्द्धनने कहा है कि 'श्रेष्ठ कविका यही कर्त्तव्य है कि वह यही मानकर शब्दों और अर्थोंका संयोजन करे कि उनके द्वारा रस और भावकी अभिव्यक्ति होगी क्योंकि वे ही काव्यके मुख्य अर्थ हैं।' योरोपीय आचार्योंने भी इसे दूसरे प्रकारसे कहा है कि 'कला वही है जिसमें कला छिपी रहे।' इसके लिये लातिन उक्ति है 'आर्स एस्ट सेलारे आर्तेम'। तात्पर्य यह है कि योरोपवाले भी ध्वनिका महत्त्व मानते हैं।

## ध्वनिके भेद

ध्वनिके आचार्योंने ध्वनिको तीन भागोंमें विभक्त किया है—१. रसध्वनि, २. अलङ्कारध्वनि, ३. वस्तुध्वनि।

१. रसध्वनिके अन्तर्गत नवों रसोंकी तो गणना होती ही है साथ ही भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-शबलता और भाव-सन्धिकी भी गणना होती है। इनका परिचय रस-प्रकरणमें दिया जा चुका है।

२. अलङ्कारध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यक्त किया हुआ शब्दार्थ वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक न होकर शुद्ध काल्पनिक हो अर्थात् जो दूसरे शब्दोंमें प्रकट किए जानेपर अलङ्कारका रूप धारण कर लेता हो।

३. वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ केवल कोई वास्तविक या यथार्थ बात-भरका अर्थ प्रतीत हो।

इन तीनोंमें रसध्वनि सबसे श्रेष्ठ मानी गई है। जिस समय व्याधने

क्रौञ्च-मिथुनमेंसे एकका वध किया और क्रौञ्ची चीत्कार कर उठी उस समय श्लोकके रूपमें वाल्मीकिके मनका जो शोक प्रकट हुआ यही रसध्वनि है। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि आनन्दवर्द्धनने ध्वनिको काव्यका आत्मा माना है फिर भी रसध्वनिको मुख्य समझकर वे रसको ही काव्यका प्रधान गुणतत्त्व मानते हैं।

ध्वनिके मुख्य दो भेद माने गए हैं—

१. लक्षणामूला या अविवक्षित-वाच्य ध्वनि, जिसमें वाच्य अर्थ बाधित होनेसे वह अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता। इसके दो भेद होते हैं—

( क ) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि, जहाँ वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ किसी दूसरे अर्थमें बदल जाता है, जैसे वर्षाकालमें जानकीजीके वियोगमें राम कहते हैं—'मैं राम हूँ, मैं तो दुःख सहूँगा ही, पर जानकी कैसे सहेगी।' इसमें 'राम हूँ'का मुख्य अर्थ बदलकर हुआ 'मैं तो कठोर-हृदय हूँ।'

( ख ) अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि, जहाँ वाच्य अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया जाता है, जैसे व्यंग्यसे यह कहा जाय—'आपने बड़ी कृपा की' इसका अर्थ हुआ 'आपने मुझे धोखा दिया।' यह भी दो प्रकारका होता है—( क ) पदगत ( शब्दमें ); ( ख ) अर्थगत ( अर्थमें )।

२. अभिधामूलाध्वनि या विवक्षित-अन्य-परवाच्य ध्वनि, जिसमें वाच्य अर्थकी भी आवश्यकता तो रहती है किन्तु वह दूसरेके सहारे अर्थात् व्यञ्जनाके सहारे चलता है। इसमें पहले वाच्य अर्थ निकलता है, उसके पश्चात् व्यंग्य अर्थ निकलता है किन्तु यह क्रम कहीं तो स्पष्ट जान पड़ता है, कहीं नहीं जान पड़ता अतः इसके भी दो भेद हो जाते हैं—

( क ) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थके प्रतीत होनेका क्रम भली प्रकार न जाना जाय, जैसे बहुत-सी कमलकी पङ्खड़ियोंको एक साथ तकुवेसे बेधा जाय तो सब 'खुपसे' बिंध जाते हैं, उनके बिंधनेका क्रम नहीं जाना जाता, वैसे ही इसमें भी वाच्य और व्यंग्य अर्थ इतनी तीव्र गतिसे प्रकट हो जाते हैं कि यही नहीं प्रतीत होता कि वाच्य अर्थ पहले प्रतीत हुआ या व्यंग्य अर्थ। यह असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य आठ प्रकारका होता है—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावशान्ति, ६. भावोदय,

७. भावसन्धि, ८. भावशबलता। इन सबका परिचय रस-प्रकरणमें दिया जा चुका है।

(ख) संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि, जिसमें वाच्य अर्थ और व्यंग्य अर्थके प्रतीत होनेका क्रम स्पष्ट दिखाई देता है। यह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहीं तो शब्दशक्ति-द्वारा कहीं अर्थशक्ति-द्वारा और कहीं शब्द तथा अर्थ दोनों शक्तियों-द्वारा प्रतीत होता है, अतः इसके तीन भेद हैं—१. शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि; २. अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि; ३. शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव-अनुरणन-ध्वनि। इनमें भी शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनिके दो भेद हैं—(क) वस्तु-ध्वनि, (ख) अलङ्कार-ध्वनि। अर्थशक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनिके तीन भेद हैं—(क) स्वतः सम्भवी, (ख) कवि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध और (ग) कवि निबद्ध पात्रकी प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध। शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि केवल वाक्यगत होती है।

इस प्रकार ध्वनिके ५१ भेद माने गए हैं जो नीचेकी तालिकासे स्पष्ट हो जायँगे।

### तीन प्रकारके काव्य

ध्वनि-सम्प्रदायवाले तीन प्रकारका काव्य मानते हैं—१. ध्वनि-काव्य, जिसमें वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थकी अपेक्षा प्रतीयमान या जान पड़नेवाला अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता है। २. गुणीभूत व्यंग्य, जिसमें व्यंग्य अर्थ होते हुए भी वह वाच्य अर्थसे कम चमत्कारपूर्ण हो। ३. चित्र-काव्य, जिसमें शब्द और अर्थके अलंकारोंका चमत्कार दिखाया जाय। यह अधम काव्य माना गया है।

इन आचार्योंने गुणों और अलंकारोंको अलग-अलग करते हुए कहा है कि 'जो रसयुक्त मुख्य होते हैं अर्थपर आश्रित होते हैं वे गुण हैं और जो केवल शब्द और अर्थपर आश्रित रहते हैं वे अलंकार हैं। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदायवाले गुणको काव्यका नित्य धर्म मानते हैं और अलङ्कारको अनित्य धर्म, अर्थात् वे मानते हैं कि 'सत्काव्यमें अलङ्कार हो या न हो किन्तु गुण अवश्य होना चाहिए।' इसीलिये उन्होंने अलंकारोंको कुण्डल आदि आभूषणोंके समान ऊपरी शोभा करनेवाला माना है और गुणोंको शौर्य आदिके समान सात्त्विक या स्वाभाविक शोभा करनेवाला।

## ध्वनि और वृत्ति

पीछे शैलीके प्रकरणमें वृत्तिका परिचय देते हुए बताया जा चुका है कि काव्यमें दो वृत्तियाँ या शैलियाँ मानी गई हैं—१. शब्दवृत्ति ( शब्द चुनने और प्रयोग करनेका ढङ्ग ), २. अर्थवृत्ति ( विषयकी योजना करनेका ढङ्ग )। उद्‌भटने शब्दवृत्ति तीन प्रकारकी मानी है—

( क ) उपनागरिका ( टवर्गको छोड़कर शेष वर्गोंके पञ्चम अक्षरके उन-उन वर्गोंके अक्षरोंकी बहुलतावाली ), ( ख ) परुषा ( रेफ, श, ष, स, टवर्ग तथा रेफ-युक्त वर्णोंकी बहुलतावाली ), ( ग ) ग्राम्या या कोमला ( ल, क और रेफ तथा कोमल ध्वनिवाले अक्षरोंकी आवृत्तिवाली ) ये वृत्तियाँ वाचक अर्थात् शब्दपर आश्रित होती हैं।

इनके अतिरिक्त अर्थ या विषयके अनुसार चार वृत्तियाँ होती हैं—१. भारती, ( जिसमें संवाद अधिक हो अर्थात् पाठ्यप्रधाना हो), २. सात्वती ( मानस व्यापार या मानसिक द्वन्द्व जिसमें अधिक हो )। यह सात्वती भी दो प्रकारकी मानी गई है—( क ) सौम्य ( जिसमें भली या सौम्य मानस क्रियाओंका सन्निवेश हो ), ( ख ) उग्र ( जिसमें भयानक या दुःखद मानस क्रियाओंका समावेश हो )। ३. आरभटी ( जिसमें मारकाट, युद्ध, इन्द्रजाल आदि समाविष्ट हों )। ४. कैशिकी ( जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, प्रेमालाप आदि ललित क्रियाओंका सन्निवेश हो )। इन चारोंको रीतिके समान ही सहायक समझना चाहिए क्योंकि ये वृत्तियाँ ही जब काव्य या नाटकके रसके अनुकूल होती हैं तब तो काव्य या नाटकको आकर्षक और सुन्दर कर देती हैं किन्तु यदि वे रसके अनुकूल न हुईं तो उनका प्रयोग अनुचित होगा। ध्वनिवादी आचार्योंका मत है—'मुख्यार्थापहतिर्दोषः' ( प्रधान अर्थ अर्थात् रसका नाश करनेवाले तत्त्वको ही दोष कहते हैं ) अतः उन लोगोंने रसको नष्ट करनेवाले दोषोंको ही दोष माना है।

## ध्वनि-सम्प्रदायके आचार्य

ध्वनि-सम्प्रदाय प्रारम्भ किया आनन्दवर्धनने ( यद्यपि कुछ लोग किसी 'सहृदय' नामक आचार्यको यह श्रेय देना चाहते हैं ), जिन्होंने 'ध्वन्यालोक' लिखा, अभिनवगुप्तने उसपर 'लोचन' नामकी टीका लिखी और भट्टनायकके विरोधका खण्डन किया। भोजराजने सभी प्राचीन आचार्योंके मतोंका

समन्वय किया। तत्पश्चात् मम्मटने अपने काव्य-प्रकाशमें सबके आक्षेपोंका उत्तर देकर रसकी स्थापना की इसलिये ये 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' कहलाते हैं। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें और पण्डितराज जगन्नाथने 'ध्वनि-सम्प्रदाय' का पोषण किया।

इन आचार्योंने काव्यकी वाक्य-रचना तीन प्रकारकी मानी है—१. असमासा या बिना समासवाली, २. मध्यमसमासा या कम समासवाली और ३. दीर्घ-समासा या बड़े समासवाली और यह विधान किया है कि इनका प्रयोग विशिष्ट रसके अनुसार करना चाहिए और रस, वक्ता तथा विषयकी दृष्टिसे देख लेना चाहिए कि उपर्यंङ्कित वाक्य-रचना-शैलियोंमेंसे कौन-सी उपयुक्त है।

## ध्वनि-विरोधी आचार्य

ध्वनि-सम्प्रदायके सबसे प्रबल विरोधी प्रतिहारेन्दुराजने उद्भटके काव्यालंकारकी टीकामें ध्वनिको भी अलंकारोंमें ही गिन लिया है। इसी प्रकार मुकुल भट्टने भी 'अभिधावृत्ति मातृका'में ध्वनिका स्वतन्त्र महत्त्व न मानकर उसे लक्षणामें ही अन्तर्भुक्त कर लिया है। भट्टनायकने अपने 'हृदय-दर्पण' या 'ध्वनिध्वंस' में ध्वनिका खण्डन करके रसका महत्त्व स्थापित किया। ये भी रसमें भुक्तिवादी थे। इसके मतका विस्तृत विवेचन 'रस सम्प्रदाय' के प्रसङ्गमें किया जा चुका है। कुन्तकने यद्यपि स्पष्टतः ध्वनिका खण्डन तो नहीं किया किन्तु अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्तके समर्थनके कारण वक्रोक्तिको ही प्रधान माना और ध्वनि तथा रस दोनोंको वक्रोक्तिका भेद ही माना है। महिमभट्टने अपने 'व्यक्ति-विवेक' ( व्यञ्जनाका विवेचन ) नामक ग्रन्थमें ध्वनिको अनुमानके अन्तर्गत मानकर उसका खण्डन किया और ध्वनिको लक्षणा-द्वारा सिद्ध माना।

---

# औचित्य-सम्प्रदाय

पीछे बताया जा चुका है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्रमें औचित्य-सम्प्रदाय ही वास्तवमें ऐसा है जिसने शुद्ध रूपसे समीक्षा-शास्त्रका प्रतिपादन किया है। यद्यपि सभी आचार्योंने अपने-अपने ढङ्गसे रस, अलंकार आदिके उचित प्रयोगका विवेचन करते हुए औचित्यका संकेत दे दिया है किन्तु शुद्ध रूपसे औचित्यको काव्यका तत्त्व मानकर और काव्यकी कसौटी मानकर यदि किसीने विचार किया तो क्षेमेन्द्रने। इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही हम क्षेमेन्द्रका वह प्रसिद्ध श्लोक बता आए हैं जिसमें क्षेमेन्द्रने बताया है कि 'यदि कोई अपने गलेमें तगड़ी पहन ले, हाथोंमें बिछुए बाँध ले, पैरोंमें केयूर बाँध ले तो इस अनौचित्यपर कौन नहीं हँस देगा।' इसी आधारपर उन्होंने कहा—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' अर्थात् रससिद्ध काव्यका प्राण ही औचित्य है।

## औचित्यकी परिभाषा और भेद

उचित स्थानपर उचितका प्रयोग ही औचित्य कहलाता है—

औचित्यं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिसके साथ मेल खाती हो वह 'उचित' कहलाती है और इस 'उचित'के भावको 'औचित्य' कहते हैं। काव्यमें शब्द, अर्थ, वाक्य, रस, कारक, लिंग, वचन आदि जितने तत्त्वोंका प्रयोग होता है उन सबमें जिस स्थलपर जैसा प्रयोग उचित हो वैसा ही प्रयोग करना औचित्य कहलाता है। इसी आधारपर क्षेमेन्द्रने २७ प्रकारके औचित्य बताए हैं—१. पद, २. वाक्य, ३. प्रबन्धार्थ, ४. गुण, ५. अलंकार, ६. रस, ७. क्रिया, ८. कारक, ९. लिङ्ग, १०. वचन, ११. विशेषण, १२. उपसर्ग, १३. निपात,

१४. काल, १५. देश, १६. कुल, १७. व्रत, १८. तत्त्व, १९. सत्त्व, २०. अभिप्राय, २१. स्वभाव, २२. सार-सङ्ग्रह, २३. प्रतिभा, २४. अवस्था, २५. विचार, २६. नाम, और २७. आशीर्वादका औचित्य।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनने भी पाँच व्यावहारिक नियमोंका उल्लेख किया है और बताया है कि 'काव्यमें अलंकार, गुण, सङ्घटना, रीति और रसका औचित्य होना चाहिए।' यह सम्भव है कि क्षेमेन्द्रने उन्हींसे प्रेरणा पाई हो। काव्यके सिद्धान्तोंका विवेचन करते समय हम बता आए हैं कि औचित्यका प्रधान 'गुण' है अर्थात् प्रत्येक कविको प्रत्येक तत्त्वके उचित प्रयोगका ध्यान रखना ही चाहिए। उसी प्रसङ्गमें हम यह भी बता आए हैं कि कविको अपनी कथा तथा अपने पात्रोंके चित्रणमें भी औचित्यका ध्यान रखना चाहिए। रसके आचार्योंने भी रसके अनौचित्यकी बातका संकेत किया है अतः काव्यमें निश्चित रूपसे सब अङ्गों और तत्त्वोंका उचित सन्निवेश होना आवश्यक और अपरिहार्य है।

# वृत्ति

अर्थवृत्तिके सम्बन्धमें नाटकके प्रकरणमें हम विस्तारसे ८९१ से ८९४ पृष्ठतक विचार कर आए हैं जिसमें कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती वृत्तियोंकी मीमांसा की जा चुकी है। शब्द-वृत्तिका परिचय 'शैलीका रूप-योजन' प्रकरणमें ५९९ पृष्ठपर दिया जा चुका है। उस प्रसङ्गमें बताया जा चुका है कि वृत्तियोंको नाट्यकी माता ( वृत्तयो नाट्यमातर: ) और काव्यकी माता ( सर्वेषामेष काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृता: ) कहा गया है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके बाईसवें अध्यायमें इन उपर्यङ्कित चारों नाट्य-वृत्तियों ( १. कैशिक, २. सात्वती, ३. आरभटी, ४. भारती ) का परिचय दिया है, जिसकी मीमांसा हम पीछे कर चुके हैं।

वृत्तिका तात्पर्य है बर्त्ताव या ढङ्ग, अर्थात् प्रकृति। इसीलिये आनन्दवर्धनने कहा है—'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' [ व्यवहार ही अर्थात् ढङ्ग ही वृत्ति कहलाती है। ]

## काव्य-वृत्तियाँ

उपर्यङ्कित नाट्य-वृत्तियों या अर्थ-वृत्तियोंके अतिरिक्त इस वृत्ति शब्दका प्रयोग अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यञ्जना नामकी शब्द-वृत्तियोंके लिये भी किया जाता है। अलङ्कार-शास्त्रमें वृत्ति नामसे तीन तत्त्वोंकी मीमांसा की गई है—१. अनुप्रासके प्रकार ( अनुप्रास-जाति ), समासवाले शब्दोंके प्रकार ( समास-जाति ), ३. कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती नामकी नाट्य-वृत्तियाँ। पीछे चलकर नाट्य-वृत्तिको छोड़कर शेष दोनों वृत्तियोंपर कोई विचार नहीं हुआ किन्तु मम्मटने वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियोंमें वृत्तियोंको मिला दिया। अतः मम्मटके पश्चात् अलङ्कार-ग्रन्थोंमें केवल अनुप्रास-जाति और समास-जातिकी ही चर्चा हुई, शेष वृत्तियाँ छूट गईं।

उद्भटने परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या नामकी तीन शब्द-वृत्तियाँ बताईं, जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। आनन्दवर्धनसे कहा है कि 'काव्यमें नाट्यवृत्ति और शब्दवृत्ति (अनुप्रासजाति और समासजाति) दोनोंका रसानुकूल प्रयोग करना चाहिए।' अभिनवगुप्तने कहा है—'अनुप्रासके भेदोंपर आश्रित होनेके कारण ही परुषा, उपनागरिका, और ग्राम्या भेद किए गए हैं' और तदनतर उन्होंने इनका प्रयोग बताते हुए कहा है—'अनुप्रास तीन प्रकारके होते हैं—१. परुष अनुप्रास, जिसके अनुसार रची हुई परुषा वृत्तिका प्रयोग वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसोंमें करना चाहिए जो आरभटी वृत्तिके साथ पूर्णतः मेल खाती है। २. मसृण अनुप्रासवाली उपनागरिका वृत्तिका प्रयोग ललित विषयोंके वर्णनमें तथा शृंगारादि रसोंमें करना चाहिए। ३. मध्यम अनुप्रासवाली ग्राम्या या कोमला वृत्तिका प्रयोग हास्यरस तथा कोमल विषयोंके वर्णनमें करना चाहिए।

इस प्रकार वृत्तियाँ दो प्रकारकी मानी गई हैं—१. अर्थवृत्ति, २. शब्द-वृत्ति, अर्थवृत्तिके अन्तर्गत उपर्यङ्कित कैशिकी, सात्वती, भारती, आरभटीकी गणना होती है तथा शब्द-वृत्तियोंके अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा तथा कोमलाकी। मम्मटने रीति और वृत्तिको मिलाते हुए उपनागरिका वृत्तिको वैदर्भी रीति, परुषाको गौडी रीति और कोमलाको पाञ्चाली रीति बताया है।

भोजने परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या नाम छोड़कर नौ नई वृत्तियाँ जोड़कर बारह वृत्तियाँ मानी हैं—१. गम्भीरा, २. ओजस्विनी, ३. प्रौढ़ा, ४. मधुरा, ५. निष्ठुरा, ६. श्लथा, ७. कठोरा, ८. कोमला, ९. मिश्रा, १०. परुषा, ११. ललिता, और १२. मिता। इनके अतिरिक्त भोजने देश-भेदसे बारह प्रकारकी अनुप्रास, वृत्तियाँ या जातियाँ मानी हैं—१. कर्णाटी, २. कौन्तली, ३. कंकी, ४. कोङ्कणी, ५. बाणवासिका, ६. द्रावड़ी, ७. माथुर, ८. मात्सी, ९. मागधी, १०. ताम्रलिप्तिका, ११. औड्री, और १२. पौण्ड्री। इनके साथ-साथ उपर्यङ्कित चार नाट्यवृत्तियोंमें भी उन्होंने दो और जोड़ दीं मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटी।

रुद्रटने समासयुक्त पदोंकी सङ्घटनाको ही वृत्ति कहा है जो दो प्रकारकी होती है—१. असमस्ता (बिना समासवाली), २. समस्ता (समासवाली)। इस समस्ताका ही नाम वैदर्भी है। समस्ता वृत्ति तीन प्रकारकी मानी है—१. पाञ्चाली, जिसमें केवल दो-तीन समासयुक्त पद हों, २. लाटीया, जिसमें

पाँच या सात समासयुक्त पद हों और ३. गौड़ीया, जिसमें आद्यन्त समास भरे हों।

रुद्रटने तीन अनुप्रास-वृत्तियोंके बदले पाँच अनुप्रास-जातियाँ मानीं और इनके अनुसार अग्राङ्कित पाँच वृत्तियाँ मानीं—१. मधुरा, २. प्रौढ़ा, ३. परुषा, ४. ललिता, ५. भद्रा। नमि साधुने 'हरि' नामक किसी विद्वान्‌के मतका उल्लेख करते हुए आठ वृत्तियोंका परिचय दिया है—१. मधुरा, २. परुषा, ३. कोमला, ४. ओजस्विनी, ५. निष्ठुरा, ६. ललिता, ७. गम्भीरा और ८. सामान्या। रुद्रटने कहा है कि 'वृत्तियोंका प्रयोग औचित्यके साथ करना चाहिए।'

विद्यानाथने अपने प्रतापरुद्रयशोभूषणमें कैशिकी और आरभटीको दो परस्पर-विरुद्ध वृत्तियाँ माना है। उसका मत है कि 'कैशिकीमें अर्थ या विषय कोमल रहता है और आरभटीमें प्रौढ़ या गम्भीर विषय होता है। भारती वृत्ति कैशिकी वृत्तिके साथ ही मेल खाती है और सात्वतीका सामञ्जस्य आरभटी वृत्तिसे अधिक होता है।' इसका विवेचन करते हुए विद्यानाथने कहा है कि 'कैशिकी प्रयोग शृङ्गार और करुणमें, सात्वतीका वीर और भयानकमें, आरभटीका रौद्र और बीभत्समें तथा भारतीका हास्य, शान्त और अद्भुतमें करना चाहिए।' विद्यानाथने भोजकी मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटी नामक दोनों वृत्तियोंको भी रसके अनुकूल मानकर स्वीकार किया है।

मम्मटके अनन्तर वृत्ति और रीतिका ऐसा गठबन्धन हुआ कि वृत्तिकी चर्चा ही समाप्त हो गई।

### समन्वयवाद

यद्यपि विभिन्न आचार्योंने रस, अलङ्कार, रीति, वृत्ति, ध्वनि आदिको अलग-अलग काव्यका आत्मा मानकर उनका महत्त्व सिद्ध किया है और अपने-अपने पक्षका अत्यन्त तर्कपूर्ण समर्थन भी किया है किन्तु काव्योंका अध्ययन करनेपर प्रतीत होगा कि न तो काव्य आदिसे अन्ततक रसमय ही होता है, न ध्वनिमय होता है, न अलङ्कारमय होता है, न वक्रोक्तिमय होता है। इन सब तत्त्वोंका सभी कवियोंने यथास्थम प्रयोग करके अपने-अपने काव्योंको सरस और सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया है अतः औचित्य-सम्प्रदायका सिद्धान्त

ही वास्तवमें सर्वमान्य है तथा इन सभी तत्त्वोंका यथास्थान यथोचित प्रयोग करना चाहिए।

इधर कुछ दिनोंसे कुछ प्रगतिशील कहलानेवाले विचारकोंने यह कहना प्रारम्भ किया है कि 'अब रसकी दृष्टिसे विचार करना छोड़कर नये दृष्टिकोणसे काव्यका समीक्षण और परीक्षण करना चाहिए।' किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि 'रचनामें यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह पाठकको आद्यन्त उलझाए रक्खे।' इसका तात्पर्य ही यह हुआ कि वे काव्यमें रसत्वकी स्थिति आवश्यक मानते हैं क्योंकि जबतक रसत्व नहीं होगा तबतक कोई भी काव्य आकर्षक नहीं हो सकता। अतः काव्यका विषय चाहे समाजवादी हो या लोकवादी, किन्तु लोकप्रिय होनेके लिये उसमें रस होना आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब काव्यके समस्त अङ्गों, तत्त्वों और साधनोंका उचित संयोजन किया जाय।

काव्यके गुण और दोषका विवेचन हम पीछे पृष्ठ ६०३ से ६२२ तक विस्तारसे कर आए हैं अतः उसकी आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं।

॥ द्वितीय खण्ड सम्पूर्ण ॥

# समीक्षा-शास्त्र

## तृतीय खण्ड

# यूनानी समीक्षा-पद्धति

योरोपकी समस्त साहित्य-समीक्षा-पद्धतियोंमें यूनानी समीक्षा ( ग्रीक क्रिटिसिज़्म ) अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित है क्योंकि उसका उदय कई शताब्दियोंकी रचनात्मिका वृत्तिके पश्चात् हुआ है। यूनानके महाकाव्य, प्रगीत, नाट्यकाव्य, दर्शन, इतिहास तथा भाषण-शास्त्र सभीमें साहित्यके आदर्शों या सिद्धान्तोंकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे स्थापना की हुई मिलती है। होमरका सिद्धान्त है कि 'कविमें सहसा काव्यका अन्त:स्फुरण ( इन्स्पिरेशन ) हुआ करता है, ( ईलियाद, द्वितीय खण्ड ४८४ से ४१३ )। पिण्डरने प्रश्न उठाया कि अन्त:स्फुरणसे काव्य उत्पन्न होता है या लेखकोंके रचना-कौशलसे। छठी और पाँचवी शताब्दि ई० पू० में अनेक दार्शनिकोंने इस विषयपर नैतिक दृष्टिसे भी विचार किया। थसुदिदेसने अपने पूर्वज लेखकोंकी समीक्षाके लिये जो सिद्धान्त स्थापित किए वे केवल व्यक्तिगत निर्णयमात्र ही नहीं हैं वरन् उनमें यह भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया कि काव्यका उद्देश्य क्या है? उससे आनन्द मिलता है या उपदेश? इसी प्रकार रचनाकी प्रकृतिके सम्बन्धमें भी कुछ छिट-फुट बिखरे हुए वक्तव्य मिलते हैं। सिमोनिदेस्‌ने काव्यकी एक परिभाषा ही बनाई कि 'चित्रकला मूक कविता है और कविता मुखर चित्र है।' ये तो प्रत्यक्ष सिद्धान्त-स्थापनाके रूप हुए। अप्रत्यक्ष समीक्षाके रूपमें होमर और हिपोनैक्स-द्वारा रचित छठी शताब्दि ई० पू० में परिवृत्ति ( पैरडी ) है।

## सैद्धान्तिक समीक्षा

निश्चित सैद्धान्तिक समीक्षाका प्रारम्भ अरिस्तोफ़नेस, पाँचवीं शताब्दिमें प्रहसनकार कवियों तथा सुकरात ( सौक्रेटीज़ ) और अफ़लातून ( प्लेटो )

आदि दार्शनिकोंने किया। प्राचीन प्रहसनकारोंने अपने समकालीन अथेन्स नगरके सार्वजनिक जीवनको ही अपनी आलोचनाका विषय बनाया, साहित्यकी ओर उनका कोई ध्यान नहीं गया। अरिस्तोफ़नेसने अपने समयके कवियों और दार्शनिकोंका जो मूल्यांकन किया उसके अतिरिक्त उसके खोए हुए नाटकोंके नाम इस बातके प्रमाण हैं कि उसमें तीव्र साहित्यिक रुचि थी। उसके नाटकोंके अवशेषोंसे प्रमाणित होता है कि उनमें साहित्य, विशेषतः कविताके सम्बन्धमें बहुत सामग्री है। किन्तु वह समीक्षा मुख्यतः नैतिक दृष्टिसे की गई। उसमें इउरिपिदेस, सुकरात, पैरिक्लेस, क्रिओन और अल्किबिदेसकी निन्दा करते हुए कहा गया है कि 'ये लोग अथेंसके राजनीतिक और नैतिक ह्रासके उत्तरदायी हैं।' उस समीक्षामें शैली, छन्द तथा रचना-रूपका व्यवस्थित विश्लेषण है, मुख्यतः प्लेटोने तो नैतिक और शिक्षाकी दृष्टिसे ही काव्यपर विचार किया है।

प्लेटोके समयतक साहित्यकी व्यवस्थित समीक्षा प्रारम्भ भी हो गई थी। पाँचवीं शताब्दिके मध्यसे पूर्व कोराक्स और तीसिआसने और उनके पश्चात् प्रारम्भिक भाषण-शास्त्रियों ( सोफ़िस्टों ) ने व्यवस्थित भाषण-शास्त्रकी दृढ नींव ही जमा दी थी। उन्होंने प्रारम्भमें ही यह मान लिया था कि 'गद्य, पद्य या कविता कला है और उनमें भी लय, ध्वनि और रचनाके प्रभाव पूर्णतः नियमित हैं।' जिस प्रकार प्लेटोका सौन्दर्यवाद अधिक सैद्धान्तिक है वैसे ही आलोचनात्मक भाषण-शास्त्र भी व्यावहारिक होनेकी अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है क्योंकि उसमें उद्देश्योंके वर्गीकरण तथा भेद आदिका ही विशेष विवरण है। दोनोंमें मुख्य अन्तर यही है कि आलोचनात्मक भाषण-शास्त्री लोग मानते हैं कि 'साहित्य कोई विज्ञान नहीं है जिसमें सौन्दर्य, सत्य और शिवको ढूँढनेका प्रयत्न किया जाय; साहित्य तो बुद्धिकी वह स्वयंप्रेरित क्रिया है जो विरोध या संकोचके बिना ही स्वतः अपने अधिकारसे समीक्षित होने योग्य है। अर्द्ध-दार्शनिक भाषण-शास्त्रियों ( इसोक्रतेस् आदि ) ने तथा भाषण-शास्त्रसे सहानुभूति रखनेवाले दार्शनिकोंने यही आलोचनात्मक भाषण-पद्धतिका सैद्धान्तिक पक्ष लिया। व्यावहारिक रूपमें इस आलोचनात्मक भाषण-शास्त्रने उन भाषण-प्रयोगोंको प्रभावित किया जो एक बार बोले जाकर लिख लिए जाते थे या जो बोले ही नहीं जाते थे।

## साधारण और सैद्धान्तिक समीक्षा

इसके पश्चात् चतुर्थ शताब्दिमें वे लोग आते हैं जो या तो स्वयं वक्ता थे या जिन्होंने सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे। इस चतुर्थ शताब्दिका मुख्य रचनात्मक साहित्य भाषण है जो दर्शन, नव-प्रहसन और इतिहासके रूपमें विकसित हुआ। इसका प्रभाव समीक्षापर भी यह पड़ा कि अरस्तू जैसे दार्शनिकने महाकाव्य तथा त्रासदका विवेचन भाषण-शास्त्रकी दृष्टिसे किया और प्रगीत तथा गीतकी उपेक्षा की। यह चतुर्थ शताब्दिकी समीक्षा मुख्यतः साधारण और सैद्धान्तिक है जिसके दो पक्ष हैं—१. वर्गीकरण अर्थात् साहित्यिक शैलियों और कौशलोंको प्रकारोंमें विभक्त करना और २. साहित्यिक रूपोंका आवयविक विश्लेषण करना अर्थात् काव्य-रचनाके उन सिद्धान्तोंकी व्यवस्थित व्याख्या करना जिनका पालन पिण्डर और , अस्कुलस जैसे लेखकोंने किया था। इसके अतिरिक्त उन लोगोंने स्वाभाविक प्रतिभाके प्रभाव और उसके प्रयोगके परिणामपर भी विचार किया। इस समयतक साहित्यिक इतिहासका महत्त्व समझा जाने लगा था इसलिये पुनः साहित्यके मुख्य उद्देश्यकी परिभाषा बनने लगी।

## अलक्षेन्द्रिया-युग

अलक्षेन्द्रिया-युगमें एक बार पुनः इतिहासने रचनात्मक साहित्यको प्रभावित किया और फिर इतिहास तथा साहित्य दोनोंने मिलकर समीक्षाको प्रभावित किया। इस युगमें अनेक युद्ध हुए और भाषण-कला समाप्त हो गई किन्तु प्रगीत और वीर-काव्य, दर्शन और समीक्षा फिर भी जीवित बने रहे। अलक्षेन्द्रियाके अनेक पुस्तकाध्यक्षोंने ग्रन्थ - पाठोंकी समीक्षा प्रारम्भ कर दी, व्याकरणकी भी चर्चा होने लगी, काव्य-सामग्री और शैलीके अनेक भेदोपभेद किए जाने लगे, काव्य-शास्त्रमें काव्य, कविता और कविका भेद माना गया और आवेगवाद (एशियानिज़्म) तथा सारल्यवाद ( ऐटिसिज़्म ), शैली तथा सामग्री, कलाका उद्देश्य उपदेश अथवा विनोद तथा काव्यमें 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' या मौलिकता आदि अनेक परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों, मतों और वादोंपर विस्तारसे शास्त्रार्थ हुए। सिमुलसने तो माना है कि 'प्रतिभा, कौशल, अध्ययन, भाग्य और पोषक समीक्षा, 'सबके प्रभावसे काव्य पनपता है।' अलक्षेन्द्रिया-युग नवीनता, रचना,

प्राचीनताका अध्ययन और वैज्ञानिक सक्रियताका युग था। दुःखकी बात है कि इस युगका बहुतसा समीक्षा-साहित्य नष्ट हो गया।

### रोमन युग

अन्तिम महत्त्वपूर्ण रोमन युगमें व्याकरण, पिङ्गल-शास्त्री और विद्वद्वादियोंकी धूम थी। यद्यपि इस युगमें भी साहित्यके वर्गीकरणकी परिपाटी चल रही थी, परस्पर विरोधी विचारों और सम्प्रदायोंपर शास्त्रार्थ भी हो रहे थे किन्तु फिर भी अलक्षेन्द्रिया-युग और रोमन युगमें मौलिक भेद यह है कि 'रोमन युगको यूनानी साहित्यके निष्कासनका युग समझना चाहिए, जिसमें यूनानी साहित्यको लोग विदेशी किन्तु सहानुभूतिके योग्य समझते थे। यूनानमें स्वैरवादी उपन्यास और स्वैरवादी जीवन-चरितको छोड़कर किसी नये साहित्य-रूपका विकास नहीं हुआ। राजनीतिक स्वातन्त्र्यके अभावमें जनताका आत्मविश्वास नष्ट हो गया। प्राचीन लेखकोंको लोग दूर-दूरसे कुछ ऐसे विचित्र प्रकारके आदरसे देखने लगे जैसे हम लोग किसी विदेशी विद्वान् या महापुरुषको देखते हैं, जिसका हम आदर भले ही करें किन्तु जिसके प्रति आत्मीयता नहीं होती। यह बात केवल यूनानी समीक्षकोंमें ही नहीं वरन् सिसरो और हौरेस जैसे लातिन लेखकोंमें भी थी। प्राचीनके प्रति इस आतङ्कपूर्ण तथा अनात्मीयतापूर्ण आदरने उनके मनमें ऐसी आत्म-हीनताकी भावना उत्पन्न कर दी कि वह कभी-कभी पराजय-भावना (डिफ़ीटिज्म) तक पहुँच गई। इसका सबसे प्रबल उदाहरण तो यही है कि अनुकरण (मिमेसिस) शब्दका महत्त्व ही बदल गया। अफ़लातून (प्लेटो) और अरस्तू तो 'अनुकरण' का अर्थ मानते थे—'सक्रिय मनुष्यका अनुकरण या प्रदर्शन' किन्तु रोमन युगवाले इसका अर्थ लगाने लगे 'प्राचीन उदात्तवादी महान् लेखकोंकी रीतिको आदर्श मानकर उनसे प्रेरणा लेना'। इतना होनेपर भी रोमन युगमें उच्च कोटिकी साहित्यिक समीक्षाका सर्जन हुआ। उदात्तवादी (क्लासिकल) साहित्यके विभिन्न तत्त्व इस प्रकार सच्चे साँचों और सीमाओंमें आ गए कि उनका बाह्य अध्ययन करना सम्भव हो गया। व्यक्तिगत समीक्षामें भी अधिक स्थिरता और पूर्णता आ गई तथा प्राचीन शैलीके वे प्रगीत (लिरिक) पुनः जाग उठे जो कई शताब्दियों-तक उपेक्षित पड़े रह गए थे। इतना ही नहीं, कुछ प्राचीन जटिल साहित्यक गुत्थियाँ भी सुलझने लगीं। लौंगिनसने आवेगवाद (एशियानिज़्म) और

सारल्यवाद ( ऐटिसिज़्म ) का सङ्घर्ष सुलझानेके लिये आवेगवादके कठोर शब्दोंवाली शली तथा सारल्यवादकी अत्यन्त दुर्बल और महत्त्वहीन शैलीके बीच एक भव्य शैली ( ग्रैंड स्टाइल ) लाकर स्थापित कर दी। दिअनुसस और लौङ्गिनस दोनोंने कठोर उदात्तवादसे आगे बढ़कर साहित्य-सौन्दर्य और शक्तिके लिये क्षेत्र बनाना प्रारम्भ किया, जिसने वैज्ञानिक विश्लेषणको धता बताया। इस सिद्धान्तके अनुसार लौंगिनसने शुद्धता और स्पष्टताके निर्बाध आदर्शोंसे परे जाकर प्लेटोको लुसिआससे बड़ा सिद्ध कर दिया और मनोवेग (इमोशन) के प्रति जो प्राचीन वैर चला आता था उसे अमान्य कर दिया। इस युगमें दूसरा बड़ा प्रयास यह हुआ कि व्यक्तिगत शैलियों और लेखकोंकी रचनाओंका व्यवस्थित विश्लेषण और विवेचन किया गया। इस दृष्टिसे रोमन युगको यूनानी समीक्षाका महान् युग मानते है क्योंकि इस युगके अन्तिम कालमें समीक्षाकी बहुत-सी समस्याएँ विवेक-पूर्वक उठाई गईं और अधिकारपूर्वक सुलझाई गईं।

### वर्त्तमान यूनानी समीक्षा

वर्त्तमान युगमें यूनानकी समीक्षा-पद्धत्ति अभीतक व्यवस्थित नहीं हो पाई और न उसे व्यवस्थित करनेका प्रयत्न ही किया गया। अधिकांशतः समीक्षाकी समस्या भाषाके प्रश्नपर उलझी हुई है। एक दलका विश्वास है कि 'प्राचीन हेलासकी भावना और परिपाटीको सुरक्षित करनेके लिये आवश्यक है कि वर्त्तमान युगमें उदात्त युगकी भाषाका ही प्रयोग किया जाय।' दूसरे दलका विश्वास है कि 'इस प्रकारकी भाषा समयके अनुपयुक्त होगी क्योंकि उसका प्रयोग करना और समझना दोनों कठिन होगा। अतः राष्ट्रीय भावना बनाए रखनेके लिये यह आवश्यक है कि नित्यप्रतिके प्रयोगमें आनेवाली भाषामें ही सब ज्ञान सिखाया जाय।' साहित्यकारोंके बीच यह भाषा-सम्बन्धी कलह ऐसा छिड़ा कि रचनात्मक कार्य करनेके बदले वे लोग इस सैद्धान्तिक उलझनमें ही अपना सब समय नष्ट करते रहे। खियोस-निवासी आदामान्तियोस कोरेस ( १७४८ से १८३३ ) ने इन दोनोंके बीच मध्यम मार्ग बताते हुए कहा कि 'आप लोग दोनों रूपोंका प्रयोग कीजिए।' उसने स्वयं अपनी शैली और शब्दावलीमें उसका उदाहरण भी उपस्थित किया। जौन एपोस्तोलाकिस-का कहना है कि 'यूनानी साहित्यमें कठोर और निर्बाध समीक्षा होनी

चाहिए क्योंकि इसी प्रकारकी समीक्षासे ही हम अन्त:प्रेरित कविता और भाविकतासे अपनेको बचा सकेंगे।' अत्यन्त पाण्डित्य तथा शक्तिके साथ उसने अपने साथी समीक्षकोंको भली-भाँति परास्त किया। कौस्टेस पालामासने 'मेरी प्रथम आलोचना' शीर्षक लेखमें और पत्रोंमें विद्वत्ता, गम्भीरता और बहुमुखी प्रतिभाका परिचय देते हुए स्वयं अपनी कृतियोंकी भी समीक्षा की है। आजकलकी समीक्षापर राष्ट्रीयता, धर्म और भाषाकी समस्याओंका ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ता जा रहा है कि वह शुद्ध नहीं रह पाई है।

---

# अलक्षेन्द्रियाई समीक्षा

ईसासे पूर्व ( ३०५ से २८५ तक ) राज्य करनेवाले मिस्रके राजा प्तौलेमी सोतेरके राज्यकालमें यूनानका बौद्धिक नेतृत्व अथेन्ससे हटकर अलक्षेन्द्रिया जा पहुँचा जहाँ एक नवीन विशिष्ट प्रकारका साहित्य समुन्नत हुआ और जहाँ नई-नई संस्थाओंने विद्वत्ता, भाषा-विज्ञान तथा समीक्षात्मक साहित्यको अत्यन्त प्रोत्साहन दिया ।

अलक्षेन्द्रियाकी विद्वत्ता तीन मुख्य कालोंमें विभक्त की जा सकती है— १. प्रथम युग ( ३२३ से २२२ ई० पू० तक ), जिसमें विद्वान् कवियोंने ऐसे साहित्यकी सृष्टि की जिसने रोमके लेखकोंको अत्यन्त प्रभावित किया और साहित्यिक तथा काव्यपाठ-सम्बन्धी समीक्षा ( टैक्स्चुअल क्रिटिसिज़्म ) का श्रीगणेश किया । २. दूसरा युग ( २२२ से १४३ ई० पू० तक ), जिसमें रचनात्मक लेखोंका पूर्ण अभाव रहा और विद्वान् लोग किसी शास्त्रका विशेषज्ञ होना ही प्रधान कार्य मानते रहे । इन लोगोंका तत्कालीन जनता और विद्वत्समाजपर बड़ा प्रभुत्व भी रहा । ३. तीसरा युग, जब अलक्षेन्द्रियाके शासक फुस्कोनने विद्वानोंको कष्ट देना प्रारम्भ किया और विद्वान् लोग उसके शासनसे असन्तुष्ट होकर पर्गेमम, अथेन्स और ह्रोड्स चले गए, जहाँ उन्होंने उन साहित्यिक उद्देश्यों तथा समीक्षा-सिद्धान्तोंका प्रसार किया जिनका नाम पीछे अलक्षेन्द्रियावाद ( अत्यलंकृत शैली-वाद ) पड़ गया ।

साहित्यिक समीक्षाके क्षेत्रमें इन विद्वत्तापूर्ण प्रवृत्तियोंका महत्त्वशील परिणाम यह हुआ कि काव्य-शास्त्रका एक नया सिद्धान्त ही प्रतिपादित किया गया । उस समयतक अरस्तूका काव्य-शास्त्र पूर्णतः लुप्त हो चुका था इसलिये इस नये प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तमें न तो अरस्तूवाली युक्तियुक्तता थी और न दार्शनिक विवेचना किन्तु इस अभावके होते हुए भी इस समीक्षा-पद्धतिने केवल रोमीय साहित्यपर ही नहीं वरन् योरोपके जागरणकालकी

समीक्षापर भी विशेष प्रभाव डाला और बतलाया कि 'काव्यका उद्देश्य केवल दार्शनिक कल्पना जगाना ही नहीं वरन् शिक्षा या उपदेश देना भी है।' इन अलक्षेन्द्रियावादियोंने काव्यपर तीन दृष्टियोंसे विचार किया—१. पोएसिस, अर्थात् कविताके लिये उचित काव्य-विषय क्या हो? २. पोएमा, अर्थात् कविताका उचित रूप और अभिव्यक्ति क्या हो? इसमें काव्यकी विभिन्न शैलियों और उनके आवयविक अङ्गोंका निरूपण भी आ जाता है। ३. काव्यका उद्देश्य उपदेश देना है या आनन्द? होड्सके कालिमेरवस और ऐपोलोनियसके बीचमें जो काव्य-कलह चला उसकी गम्भीरतासे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यके सिद्धान्तोंके लिये उस समय बड़ी खींचा-तानी चल रही थी क्योंकि कैलिमेकसका यह मत था कि 'बड़े-बड़े महाकाव्य लिखनेके बदले सुन्दर कलात्मक रूपोंमें छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य लिखे जाने चाहिएँ।'

यहीं दिअनूसियस थ्रैक्सके लिखे हुए प्रथम यूनानी व्याकरणकी सृष्टि हुई जो अभीतक अप्राप्य है। इस ग्रन्थमें व्याकरण इस प्रकार लिखा गया था कि उसे साहित्यिक व्याख्या कहना अनुचित न होगा, जैसे—१. सस्वर वाचन, २. अलंकारोंकी व्याख्या, ३. अप्रयुक्त शब्दों और रीतियोंकी व्याख्या, ४. निरुक्त, ५. व्याकरण-रूपोंका अध्ययन और ६. कविताकी आलोचना।

इस युगमें भाषा-शास्त्रके सम्बन्धमें जितना कार्य हुआ वह सब होमरके महाकाव्योंके पाठसे ही सम्बद्ध था। इन लोगोंके प्रयत्नसे ज़ैनोदोतसके हाथकी लिखी हुई होमरकी पुस्तीके आधारपर उसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें पाठ सम्बन्धी-समीक्षाके विज्ञानका वह आदर्श उपस्थित हुआ जिसका प्रयोग आगे चलकर अन्य लेखकोंकी कृतियोंके लिये भी किया गया। इसके साथ ही ऐसी टिप्पणियाँ और व्याख्याएँ भी दी गईं जिनमें काव्यकी कलात्मक और निर्णयात्मक दोनों प्रकारकी समीक्षाके तत्त्व विद्यमान थे।

अलक्षेन्द्रियाकी विशेषता यही थी कि उसने उदात्त काव्यकी परम्परा ही बदल दी और कलापर अधिक बल दिया। यहींसे प्राचीनतावादियों और नवीनतावादियोंका विषय ( मैटर ) और रूप ( फ़ौर्म ) का सङ्घर्ष प्रारम्भ हुआ जो आजतक चला आ रहा है, जिसमें एक पक्ष कहता है कि कवितामें विषय प्रधान है, दूसरा कहता है कि रूप या कला प्रधान है।

# लातिन समीक्षा

लातिन ( लैटिन ) समीक्षा अधिकांश यूनानी सिद्धान्त और उदाहरणोंसे प्रभावित है। प्लाउतस और विशेषत: तेरेंसने रोमन समीक्षाका श्रीगणेश किया। तेरेंसने तो उन लेखकोंकी शैलियोंकी कटु आलोचन की जिन्होंने उसे और उसके पूर्वजोंको अपमानित किया था। उसने १५५ ई० पू० के लगभग यूनानी साहित्यके अध्ययनकी भावना पल्लवित की जिसके कारण सभ्य रोमनोंको साहित्यिक सिद्धान्तों और शैलियोंका परिचय प्राप्त हुआ। महाकाव्य-रचयिता ईनियस, रोमन व्यंग्य-काव्य ( सैटायर ) के पिता लूसीलियस और नाटककार ऐकियसने आलोचनाके विकासमें बड़ा योग दिया।

रोमवाले यूनानकी सभी वस्तुओंसे चिढ़ते थे और केवल उपयोगी कलाको ही महत्त्व देते थे। इन दो बातोंसे तो समीक्षात्मक सिद्धान्तके विकासमें बड़ी बाधा पड़ी। इसीके साथ-साथ साहित्यमें नैतिकता ढूँढनेकी प्रवृत्तिने भी इस बाधाको अत्यन्त प्रबल कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भाषण-कला ही मुख्य महत्त्वकी वस्तु समझी जाने लगी क्योंकि भाषण-कलाके पण्डितोंको ही राज्यमें उच्च पद और महत्त्व दिया जाने लगा था। इसीलिये व्याकरण और भाषण-कलाके व्यवसायी अध्यापकोंने ही रोममें प्रथम नियमित समीक्षा-सिद्धान्तोंकी स्थापना की।

यूनानी दार्शनिक-सम्प्रदायोंने भी रोमके समीक्षकोंको प्रभावित किया था। वारोने स्टोइक भाषात्मक और समीक्षात्मक अध्ययनोंसे बड़ा लाभ उठाया था। यूनानी भ्रमणाचार्यों ( पैरीपैतेतिक्स ) ने रोमके दो प्रधान समीक्षक सिसरो और हौरेसको अत्यन्त प्रभावित किया था जिनके मध्यम मार्गके सिद्धान्तोंका विकास हौरेसने अपने 'आर्स पोएतिका' में किया है।

'औक्तर अद हेरेनियम' में, जो पहले सिसरोकी रचना समझी जाती थी किन्तु जो अब लगभग ८६ ई० पू० के किसी कौर्निफीशिअसकी मानी जाती

है, रोमन दृष्टिसे भाषणात्मक शैलीका सर्वप्रथम वर्गीकरण हुआ है। इस 'औक्तर'का सिसरोपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा इसीलिये उसने समीक्षाको व्यवस्थित करना अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य समझा। अपने 'ब्रूतस'में उसने भाषण-शास्त्रका इतिहास देते हुए रोमके विभिन्न वक्ताओंकी शैलीका संक्षिप्त विश्लेषण किया है। इन समीक्षकोंने केवल कविताके ही सम्बन्धमें विचार किया है क्योंकि रोममें उस समयतक साहित्यिक अर्थमें गद्य उत्पन्न ही नहीं हो पाया था। अपने 'औरेतोर' और 'द औरेतोरे'में उसने भाषण-कलाके सिद्धान्तों और उद्देश्योंका भी विश्लेषण किया है तथा भाषण-कला और इतिहासके गद्यपर भी विचार किया है। अपने 'प्रो आर्किया' नामक प्रवचनमें उसने यूनानी साहित्य और संस्कृतिकी बड़ी जी खोलकर प्रशंसा की और एक लातिन समीक्षात्मक शब्दावली भी प्रस्तुत की।

हौरेसके साथ-साथ रोमन समीक्षा-पद्धति पुनः कविताकी ओर तथा प्राचीन यूनानी सिद्धान्तोंकी ओर घूम गई। हौरेसने अरस्तूका काव्यशास्त्र पढ़ा था या नहीं किन्तु उसके 'आर्स पोएतिका' तथा पद्यों और व्यंग्य-नाटकोंमें साहित्यिक समीक्षाकी बहुत-सी बातें अरस्तूसे मिलती-जुलती हैं और उसीसे क्यों, गदाराके फ़िलोदेमस और पारियमके नियोप्तौलेमस आदि यूनानी सिद्धान्तवादियोंके साथ भी मिलती हैं। 'आर्स पोएतिका' की ४७६ पंक्तियोंमें उसने 'कविता' 'काव्य' और 'कवि' शीर्षक देकर यूनानी पद्धतिसे ही साहित्यपर विचार किया है। यद्यपि इस ( आर्स पोएतिका ) में अरस्तूके काव्यशास्त्रके समान सिद्धान्तोंका उतना पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है फिर भी उससे प्रकट होता है कि उसे काव्य-कलाका व्यक्तिगत अनुभव था।

उत्तर आउगुस्त-युगके प्रसिद्ध समीक्षकोंमें 'वृद्ध सेनेका', तासितस, क्विन्तीलियन और पेत्रोनिअसकी गणना की जाती है। इनके पीछे पाँचवीं शताब्दिके प्रारम्भमें अन्य लेखकोंने केवल पहलेसे निर्धारित सिद्धान्तोंको कुछ अधिक निश्चित और व्यवस्थित किया।

रोमकी साहित्यिक समीक्षामें व्यापक रूपसे श्रेणीकरण, नियमन और सिद्धान्त-स्थापनकी बड़ी प्रवृत्ति रही जिसमें वैयक्तिकता या अन्तःप्रेरणापर पर्याप्त ध्यान न देकर समीक्षाका बाह्य मान अधिक स्थापित किया गया। यद्यपि 'काव्यकी अन्तःप्रेरणा' रूढिके रूपमें स्वीकृत कर ली गई थी किन्तु हौरेसने उसे कुछ अधिक महत्त्व नहीं दिया। केवल सिसरो और क्विन्तीलियनमें

ही ऐतिहासिक दृष्टिका परिचय मिलता है। रोमन समीक्षाके उद्देश्योंमें भाषणकी तीन शैलियों ( १. सरल, २. मध्यम और ३. भव्य ) पर विचार किया गया जो भाषणके निम्नलिखित विविध प्रकारोंके लिये प्रयुक्त होती थीं—१. न्याय-सम्बन्धी, २. विचारपूर्ण और ३. प्रदर्शनार्थ। थियोफ्रेस्तसने शैलीके जो चार गुण—( क ) शुद्धता, ( ख ) स्पष्टता, ( ग ) अलंकार और (घ) औचित्य, बताए उन्हें रोमके समीक्षक सदा मानते रहे। समीक्षाका दूसरा विषय था—आवेगवाद ( एशियानिज़्म ) और सारल्यवाद ( ऐटिसिज्म ) का विवाद। एक वर्ग चाहता था सज-धजवाली अलंकृत शैली और दूसरा वर्ग चाहता था सरल शैली। इस विवादपर सिसरोने अत्यन्त सुन्दर समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। हौरेसने इसमें मध्यम मार्ग सुझाते हुए कहा कि 'साहित्यमें शील या सुरुचि ( देकोरम ) का सिद्धान्त ही सर्वप्रमुख है।' बहुतसे लोगोंने प्राचीन रीतिवादका समर्थन करते हुए कहा है कि 'जान-बूझकर प्राचीन प्रयोगोंका क्रम चलाना चाहिए।' शैली या रूपपर पुनर्जागरणकालमें भी जो बल दिया गया उसकी प्रवृत्ति अनुकरणात्मक ही थी, जिसमें कहा गया कि 'अनुकरणको तबतक काव्य-चौर्य ( प्लेजियरिज़्म ) नहीं मानना चाहिए जबतक कि वह पूर्ण रूपसे उसीके आधारपर न लिखा गया हो।' उनका मत था कि 'किसी कविने किसी दूसरे कविके विषय या भावको लेकर उसे किस ढङ्गसे प्रस्तुत किया है यह देखना ही कि समीक्षकका धर्म है।' इसीलिये अधिकांश लातिन साहित्यकी प्रकृति भाषण-शास्त्रपर ही अवलम्बित रह गई। विचित्र बात यह है कि वहाँके समीक्षक उस रूढिको तोड़कर नया पन्थ चलानेके लिये प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु समीक्षकोंमें सबसे अधिक साहसी निकले लुक्रेतियस, तासितस और फ्रोन्तो, जिन्होंने अपने नये सिद्धान्त प्रस्तुत किए और पेत्रोनियसने तो खुलकर अपने समयकी लच्छेदार भाषण-शैलीका बड़ा विरोध किया।

यूनानी समीक्षाके समान रोमन समीक्षा भी पद्यमें वीरकाव्य और नाटकतक तथा गद्यमें भाषण-कला और इतिहासतक ही परिमित रही। भाषाके सम्बन्धमें रोमन समीक्षकोंका मत था—'न तो बहुत निम्न प्रकारकी भाषाका प्रयोग होना चाहिए न बहुत उच्च प्रकारकी भाषाका सटीक शब्द और वाक्यका औचित्य तथा माधुर्य होना चाहिए।' साहित्यिक सौन्दर्य - भावनाके विस्तृत क्षेत्रमें रोमन समीक्ष्यवादियोंका मत था

कि 'रचना पूर्ण होनी चाहिए, अर्थात् उसमें अभिव्यक्त विचारों और भावोंमें, उस काव्य-प्रकारके रूपमें और जिस रचनामें वे विचार और भाव व्यक्त किए गए हैं उसमें औचित्य होना चाहिए।' रोमन समीक्षाका सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें मनोविज्ञानकी बड़ी उपेक्षा, रूढियोंके अनुसार चलनेकी अत्यन्त उत्सुकता और भावात्मक तथा यथार्थताहीन रूपमें समीक्षा प्रस्तुत करनेकी प्रवृत्ति अधिक रही है। अभिव्यक्तिकी स्पष्टता, विचारकी एकता, शब्दों और वाक्योंके चुनावमें विचार-शीलता या यों कहिए कि सम्पूर्ण उदात्तवादी सन्तुलनके जिन गुणोंने रोमन साहित्यपर शासन किया है वे उतने आवश्यक कभी सिद्ध नहीं हुए जितने आज हैं।

# मध्य-कालीन समीक्षा

योरोपीय मध्य युग (चौथी शताब्दिसे सोलहवीं शताब्दितक) की जो कुछ थोड़ी-बहुत समीक्षात्मक कृतियाँ हैं वे सभी अनुकरणात्मक हैं। मध्ययुग ( पश्चिमी रोमन साम्राज्यके पतनसे लेकर पन्द्रहवीं शताब्दितक ) के एक सहस्र वर्षमें अनेक नाटक, अनेक प्रकारके प्रगीत (लिरिक), कथा, उपन्यास, ऐतिहासिक और विवेचनात्मक गद्य तथा धर्मशास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ। इस युगकी सबसे बड़ी कविता है 'कमीदिया', सबसे बड़ा महाकाव्य है 'नीबेलुङ्गेनलीड' और सबसे बड़ा व्यंग्य-काव्य है 'चौसरकी कृति'। पाँचवीसे बारहवीं शताब्दितक नई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक व्यवस्थामें जनता लगी हुई थी तथा लातिन या यूनानी या सेमेटिक भावना लुप्त हो चुकी थी। इस मध्य युगमें जर्मन, यूनानी, लातिन, हिब्रू, अरबी और कैल्टिक तत्त्व परस्पर मिले तो सही किन्तु बहुत कालके पश्चात् और बड़ी कटुताके साथ। नौर्मन सामन्तवादके साथ-साथ नये प्रकारका साहित्य भी उद्भूत हुआ। समीक्षाको सशक्त करनेके लिये उदात्तवादकी हड्डी निचोड़ी गई, जिसका प्रयोग बलपूर्वक उस नये साहित्यपर किया जाने लगा जिसपर वह ठीक बैठता ही नहीं था। अतः जिस समय मध्यकालीन समीक्षा ( मेडीवल क्रिटिसिज़्म ) प्रारम्भ हुई उस समय वह पाँच सौ वर्ष पहलेकी थी। उस समयके समीक्षात्मक वक्तव्य दो प्रकारके थे—१. धर्म-विज्ञानियोंके लेख, २. विद्यालयकी पोथियाँ।

## धर्म-विज्ञानियोंकी समीक्षा-रीति

धर्म-विज्ञानी या पादरी लोग तो केवल नैतिक निर्णय देते थे कि कौनसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ, कौन-सी नहीं। उन्हें यह भी अधिकार था कि वे जनताको कोई पुस्तक पढ़नेसे रोक दें। इन लोगोंने रङ्गमञ्च या नाटकके

विरुद्ध अनेक वक्तव्य दिए। इन्होंने उदात्तवादी काव्योंको अत्यन्त स्नेहके साथ आगे बढ़ाया और उदात्तवादी कवियोंकी प्रशंसा भी की। इन पादरियोंने एक यह भी बड़ा काम किया कि समीक्षाकी भाषा स्थिर कर दी। गरबर्टके समय ( सन् १००३ ) से उत्तरी फ्रान्सके सब गिरजाघरोंके विद्यालय मानवतावाद ( ह्यूमेनिज़्म ) के केन्द्र हो गए और यह कहा जाने लगा कि 'वर्त्तमान युगके लोग प्राचीनोंके सामने ऐसे तुच्छ लगते हैं जैसे महादैत्योंके कन्धोंपर बौने।' पादरी लोग यह भी मानते थे कि 'बाइबिलमें जो कुछ कहा गया है सब ठीक है' इसलिये वे उसके पाठोंके शाब्दिक अर्थके अतिरिक्त नैतिक अर्थ भी लगाते थे और कुछ लोग उसके लाक्षणिक अर्थ भी लगाते थे। यह प्रणाली धीरे-धीरे अन्य साहित्योंके लिये भी प्रयुक्त होने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि मध्य कालके पिछले भागकी लौकिक कवितापर भी अनेक विद्वानों और व्याख्याताओंने टीकाएँ लिखीं।

## विद्यालयकी पोथियोंमें समीक्षा

विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके पूर्व जितने विद्यालय थे उन सबमें पादरियोंको ही शिक्षा दी जाती थी। उस समय सात उदार कलाओंके सम्बन्धमें जितना कुछ लिखा-पढ़ा गया उसमें समीक्षा-सिद्धान्तके भी कुछ ऐसे अंश कहीं-कहीं मिल जाते हैं जो विधि-निषेधात्मक अधिक थे किन्तु जिनसे कोई प्रेरणा नहीं मिलती थी। साहित्यिक कलाओंमें व्याकरण और भाषण-कलापर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। वर्जिलपर जो बहुत बड़ी टीका लिखी गई वही उदात्तवादी समीक्षाका सबसे बड़ा ज्ञान-भण्डार था किन्तु उसमें लाक्षणिक व्याख्याका बहुत विरोध था। एबेलार्ड ( १०७९ से ११४२ ) ने सत्यान्वेषण-प्रणालीका प्रचलन किया जो मध्यकालीन भावनाकी प्रधान प्रवृत्ति रही। उसी समय पत्र-लेखन-कला और गद्य-लयपर जो अध्ययन किया जा रहा था उसके कारण गद्य-शैली और गद्य-लेखनपर अत्यन्त सजीव समीक्षा हुई। भाषण-सम्बन्धी जो शिक्षा दी जा रही थी उसमें नये ढङ्गके अलङ्करणपर अनावश्यक ध्यान दिया जा रहा था, यद्यपि उनमेंसे सबसे अधिक शैलीवादी अध्यापक भी स्वाभाविक शैलीको ही श्रेष्ठ समझते थे। काव्यकलाकी इस युगमें बड़ी उपेक्षा हुई और क्योंकि वह सात कलाओंसे बाहर थी इसलिये कविताकी व्याख्या भी व्याकरण या नीतिशास्त्रके समान ही हुई। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दिमें पद्यात्मक काव्य-शास्त्र लिखे गए

किन्तु उन लोगोंकी समीक्षा-पद्धति इतनी पुरानी थी कि मध्यकालकी सशक्त कविताको वह प्रभावित न कर पाई। उसका महत्त्व इतना ही है कि रूढिगत काव्योंके लिये उसने कुछ सिद्धान्त स्थिर कर दिए और अलंकारोंकी लम्बी सूची गिना दी।

समीक्षा और काव्य-रचना दोनों दृष्टियोंसे दाँते ही मध्ययुगका आदर्श लेखक है। दाँतेने अपनी समीक्षा-पद्धतिमें विचार किया है कि काव्यके लिये किस प्रकारकी देशी भाषा उपयुक्त होती है क्योंकि उसने देशी भाषाको ही श्रेष्ठतर, अर्थात् अधिक स्वाभाविक तथा कम कृत्रिम बताया है। उसका कहना है कि 'देशी भाषाकी कवितामें अत्यन्त योग्य विषयोंपर त्रासद-शैलीमें 'केन्ज़ोन' ही सर्वश्रेष्ठ है जो आद्यन्त ऐसे पदोंमें लिखी गई हो जो गाकर पढ़ी जा सके।' उसने यह भी कहा है कि 'प्रहसनात्मक ( मध्यशैली ) अथवा दरिद्र शैली ( ऐलीजियक ) की अपेक्षा त्रासद-शैली अधिक उच्च और उन्नत है।' उसने काव्यके लिये तीन ही विषय सर्वश्रेष्ठ बताए हैं—१. सुरक्षा या युद्ध (सालुस), २. प्रेम ( वीनस ), और ३. शील या धर्म ( वरतुस )। ये ही मध्यकालीन स्वैरवादके मुख्य विषय भी हैं। उसने रोमान्स भाषाकी 'सी' नामक उपभाषाको ही अधिक पूर्ण बताया और कहा कि 'यह सब प्रदेशोंकी, राजाओंकी और न्यायालयोंकी भाषा हो सकती है किन्तु इसका प्रयोग निम्न, तुच्छ या अश्लील विषयोंके लिये नहीं करना चाहिए।'

एक ओर त्रासद-शैलीको उच्च और गम्भीर बतानेकी भावना और दूसरी ओर दुःखमें अन्त होनेवाली कथाको त्रासद माननेकी भावनामें कुछ सङ्घर्ष उत्पन्न हो गया। दाँतेने स्पष्ट कहा है कि 'विषय-निरूपणकी दृष्टिसे प्रहसनको त्रासदसे भिन्न समझना चाहिए, विशेषतः इस बातमें कि त्रासद अत्यन्त शान्ति और गम्भीरतासे प्रारम्भ होता है किन्तु उसका अन्त अत्यन्त भद्दा और भयङ्कर होता है। उधर प्रहसन प्रारम्भ तो होता है कुछ विचित्र जटिलताओंके साथ किन्तु उसका अन्त सुखमय होता है। इसीलिये योरोपके कुछ लेखक अपना परिचय देते हुए इस प्रकार परस्पर अभिनन्दन करते थे— 'मैं आपका प्रारम्भ त्रासदीय चाहता हूँ और अन्त प्रहसनीय।'

# स्पेनकी समीक्षा-पद्धति

स्पेनी समीक्षाका इतिहास सवीलाके सन्त इसिडोर ( ५६० से ६२६ ) से प्रारम्भ होता है जिसने निरुक्त ( ऐटीमोलोजी ) नामकी बीस पुस्तकोंमें एक सौ साठ बहुदेववादी और ईसाई लेखकोंका विवरण देते हुए वर्जिल, हौरेस, ओविड आदि बहुदेववादी ( पैगन ) कवियोंके बदले ईसाई कवियोंको श्रेष्ठतर बताया है। इस पक्षपातके लिये उसने अपने धार्मिक पक्षके अतिरिक्त सौन्दर्य-सम्बन्धी कारण देते हुए कहा है कि 'बहुदेववादी लेखक केवल अपने बाहरी वाक्चातुर्यसे चमकभर उत्पन्न करते हैं किन्तु भीतरसे नितान्त खोखले होते हैं। इनमें न कोई गुण है न विवेक।' उसका मत है कि 'जहाँ एकस्वरता ( हार्मनी ), लय ( रिद्म ) और छन्द ( मीटर ) श्रेष्ठ कार्यके अनुगमनका आधार होगा वहीं गुण और विवेक होगा।' उसने काव्यमें सत्यतुल्यताके विनियोगको 'कला' कहा है। कासियोदोरस और क्विन्तीलियनका अनुगमन करते हुए उसने कहा है कि 'ऐतिहासिक तथ्योंका जब साधारणीकरण हो जाता है तब वे काव्यका रूप धारण कर लेते हैं।' इसिडोरने अपने समयके नाटकीय-प्रदर्शनोंके विरुद्ध नैतिक आपत्ति उठाई और प्रहसनकी व्याख्या करते हुए कहा कि 'प्रहसनमें व्यक्तिगत लोगोंके कार्य, व्यभिचार और निम्न कोटिकी स्त्रियोंकी प्रेम-कथाओंका वर्णन होता है।'

स्पेनकी साहित्यिक समीक्षाको अरबोंसे दार्शनिकतापूर्ण कलात्मक आधार प्राप्त हुआ। वैद्य आवेम्पेस ( १०८५ से ११३८ ) ने घोषित किया कि 'कला और काव्य अत्यन्त उच्च श्रेणीकी वस्तुएँ हैं क्योंकि अतीन्द्रिय तथा भावात्मक होनेके कारण इनके शुद्ध रूपका ही दर्शन होता है।' यहूदी दार्शनिक एविसब्रोन (१०२१ से ७०) ने समझाया कि 'इन्द्रियग्राही रूप आत्माके लिये वैसे ही हैं जैसे पाठके लिये लिखी हुई पुस्तक, जैसे पाठ करनेवाला पुस्तकमें अक्षर और चिह्न देखता चलता है उसी प्रकार आत्मा भी इन गोचर रूपोंमें

छिपे हुए वास्तविक अर्थको समझता चलता है क्योंकि भौतिक रूप वास्तवमें मानसिक रूपोंका ही चित्र होता है।' मैमोनीदेस ( ११३५ से १२०४ ) ने कहा कि 'बाहरी रूप केवल चाँदी है और भीतरी स्वर्ण है।' एवेरोसने यूनानी उदाहरणोंके बदले भाषण-शास्त्रमें अरबी उदाहरण रखते हुए कहा कि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, अतः मनुष्यकी भिन्नताके साथ सौन्दर्यमें भी भिन्नता आ जाती है। प्रकृति इस सापेक्ष्य सौन्दर्यके उन सिद्धान्तोंको कवियोंके हृदयमें स्थापित करती है जो सत्यके निर्वाहके लिये जीवित मूर्त्तियोंका अनुकरण करते हैं और सौन्दर्यके लिये पद्योंका प्रयोग करते हैं। इसीलिये वे शैलीके उन अलङ्कारोंको दूर रखते हैं जो सचमुच सत्यसे बहुत भिन्न होते हैं।'

ऐसे ही प्राचीन विचारोंसे पूर्ण कटालाके धर्मशास्त्री रेमण्ड ललने साहित्यिक समीक्षाके क्षेत्रमें सौन्दर्यात्मक भावनाओंका योग दिया। उसके रहस्यवादका सिद्धान्त है कि 'ज्ञान और विश्वासके बीचके राज्यमें कविता निवास करती है।' उसने भाषण-कलाके जादूको 'आल्कीमिया बरबोरम' बताया है जिसे वर्त्तमान प्रतीकवादी भी मानते हैं। साहित्यिक विश्लेषण-शास्त्रके गम्भीर पण्डित ललने कहा कि 'भाषण-शास्त्रका उद्देश्य यह भी बताना है कि सुन्दर विषयोंके साथ सुन्दर विशेषण कैसे लगाए जा सकते हैं।' यद्यपि शब्द और वस्तुके बीच उसने बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न की, किन्तु फिर भी उसने भावात्मक वृत्तियोंकी सत्ता स्वीकार करते हुए कहा कि 'अप्रैल' और 'मई' दोनों बड़े विचित्र शब्द हैं क्योंकि इनके साथ फूलों, पत्तियों और विहग-गीतोंकी स्मृति भी जागती चलती है।' वह पहला स्पेनी व्यक्ति था जिसने साहित्यिक समीक्षाको अपने विवेकवादी दर्शनकी व्यापक प्रणालीमें बाँध दिया। उसका विचार था कि 'समीक्षा एक मिश्रित कला है जो भाषण-कला और व्याख्या-कलाके बीच पड़ती है और फलतः उसका व्याकरणसे सम्बन्ध हो जाता है।'

फ्रान्स और प्रोवेंसके सम्पर्कमें आनेसे डौन एनरिक डी विलेनाने प्रोवेंसके छन्द और लयका अनुकरण करना प्रारम्भ किया। प्रथम साहित्यिक इतिहासकार और अत्यन्त सफल लेखक इनिगो लोपेज़ डी मेन्डोज़ाके अनुसार 'काव्य वह है जिसमें उपादेय वस्तुएँ सुन्दर अवगुण्ठन-द्वारा चित्रित या ढकी हुई हों अर्थात् काव्य तो उच्चतम विज्ञानसे भरे हुए उन कवियोंके उद्यानोंसे लिए हुए फल हैं जिनकी वाग्धारा चाहे पद्यमें बहे या गद्यमें।

गुणका अन्तर केवल शैलीमें ही होता है जो अत्यन्त निम्न कोटि (इन्फ़िमो) की भी हो सकती है, जैसा कि लोक-गीतोंमें होता है या मध्य श्रेणीका भी हो सकता है, जैसे यूनानी और रोमी काव्योंमें। उसका मत था कि 'फ़्रान्सीसी काव्यकी अपेक्षा इतालवी काव्य अधिक श्रेष्ठ हैं अतः उनका ही अनुकरण करना चाहिए।'

अल्फोन्ज़ो डी ला टोरेने अपनी पण्डितम्मन्यताके साथ 'औरनाटस परसुवेज़ियो' में दम्भ किया है कि 'भाषण-शास्त्रने पुरुषों और स्त्रियोंको जङ्गली जीवनसे उठाकर शील और सत्यताके स्तरपर ला पहुँचाया तथा विज्ञान और कलाको भाई-बहनके रूपमें स्थिर किया है।' वीदा और त्रिसिनोंसे लगभग पचास वर्ष पूर्व ही प्रसिद्ध मानवतावादी एण्टोनियो डी नेब्रिज़ने इस निरर्थक वक्तव्यका खण्डन करते हुए यह समझानेका प्रयत्न किया कि 'साहित्य-कलाका आधार प्राचीनोंका अनुकरण ही हो सकता है।' जुवाँ डी वाल्डेसने नेब्रिज़ाका विरोध तो किया किन्तु अपना कोई पक्ष स्पष्ट रूपसे निर्धारित नहीं किया। उसने यही कहा कि 'सर्वश्रेष्ठ रुचि उन लोगोंकी है जो भाषाकी शुद्धिका अधिक ध्यान रखते हैं और कास्तीलियन लेखकोंकी उचित प्रशंसा करते हैं।' नेब्रिज़ाके 'आर्त्त'के आधारपर जुवाँडेल एन्सिनाने स्पेनी कवियोंके लिये 'व्यावहारिक पथ-प्रदर्शक पुस्तिका' प्रकाशित की और कहा कि 'इतालवियोंने स्मृतिकी सहायताके लिये छन्द-निर्माण करके अत्यन्त महत्त्वका कार्य किया है अतः प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्तिको ध्वनि, चरण, छन्द आदिकी शिक्षा प्राप्त करनी ही चाहिए अन्यथा कवि उर्वर भले ही हो किन्तु वह सुपरिष्कृत नहीं हो सकता। जन्मजात कविको विद्वान् गायक भी होना चाहिए यद्यपि इन दोनोंका सम्बन्ध निर्माता और गायक, स्वामी और सेवक जैसा है। जो व्यक्ति कवि होकर नहीं जन्मा वह उस बन्ध्या क्षेत्रके समान है जिसे कृषिके कोई नियम किसी प्रकार सहायता नहीं दे सकते। किन्तु उसके लिये एक ही उपाय है और वह है अच्छे कवियोंका अध्ययन करना और उन्हें बार-बार पढ़ना।' नाटकीय आलोचनामें रुचि दिखाई बारतोलोमे डी टौरेस् नाहारोने जिसका मत है कि 'विभिन्न व्यक्तियोंसे खेले जाने योग्य, ध्यान देने योग्य, सुखप्रद घटनाओंका कुशल सज्जीकरण ही 'कौमेडी' है जिसमें छःसे बारहतक ही पात्र होने चाहिएँ।' उसने यथार्थवादी नाटक 'नोटीशिया'को कल्पनात्मक 'फेन्टीज़िया'से भिन्न बताया।

लुई विवे ( १४६२ से १५४० ) ने प्राचीन भाषण-शास्त्रकी बड़ी कड़ी आलोचना की। वह प्राचीनोंके अन्धानुकरणका बड़ा विरोधी और नये प्रयोगोंका पक्षपाती है। उसने कहा कि 'आज कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति स्पेनमें वित्रूवियसके नियमके अनुसार भवन नहीं बनाता है।' क्विन्तीलियनके सम्बन्धमें वह कहता है कि 'वह नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-विज्ञानका अन्तर नहीं समझ सका।' प्राचीनोंकी सरल, मध्य और भव्य तीनों शैलियोंको निन्द्य कहकर उसने अनेक प्रकारकी शैलियोंका विवरण दिया है जो परिस्थितियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। उसने यह भी बताया कि 'साहित्यकी जो बाह्य दो श्रेणियाँ गद्य और पद्य कहकर बनाई गई हैं उनके बदले कुछ और गम्भीर श्रेणी-विभाजन होना चाहिए क्योंकि प्लेटोके सम्वाद लयात्मक तथा नाटकीय होनेकी अपेक्षा काव्यात्मक अधिक हैं। हमारा नया सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हम अनुकरणके बदले प्राचीन आदर्शोंको नीचा दिखाकर उनसे आगे बढ़ जायँ। स्पेनी सुखान्त नाटकोंकी केवल कथा-वस्तुएँ ही यूनानी और रोमके नाटकोंसे अधिक रुचि उत्पन्न करनेवाली हैं। सीबेस्टियन फ्रौक्स मौर्सिलो भी इतालवी रूढियोंसे इस प्रकारके सम्बन्ध-विच्छेदकी बात चलाता रहा। उसने गास्पार नूजेज़के मुखसे अपने विचार लूवेंके शिष्यके प्रति कहलाते हुए कहा है कि 'विषय और रूपका सम्बन्ध ही शैलीकी समस्या है। शैली एक प्रकारका लक्षण या प्रकार या वाणीका रूप है जो लेखककी प्रकृति और उसके प्रतिपादित विषयसे निकलती है।' उसने प्रश्न ही किया है कि 'उदार कलाओंका ज्ञान क्या उनके इतिहासके परिज्ञानसे कुछ भिन्न है?' अरस्तूवादी पाजुवाँ डी सान्टो टोमास पोएन्साद ( १५८६ से १६४४ ) ने इटलीके मिन्तर्नो, स्कालिगर और कास्तेलवेत्रो-द्वारा निश्चित सौन्दर्य-तत्त्वोंकी अपेक्षा अधिक स्थिर सिद्धान्त निश्चित किए। सेन्ट टौमस एक्वीनसके आधारपर उसने सौन्दर्य-विज्ञानको नीतिसे भिन्न कर दिया और कहा कि 'नीतिमें तो मनुष्यके प्रधान उद्देश्यपर सदा ध्यान देना चाहिए किन्तु कलामें तात्कालिक उद्देश्य ही प्रधान होता है, अर्थात् कलाकृति कलाकारके भावसे रँगी रहती है। जो कलाकार जीवनके प्रधान उद्देश्यमें असफल होकर इसे प्राप्त कर लेता है वही शुद्ध कृतिकी रचना करता है।' इस सिद्धान्तका प्रतिवाद जुवाँ डी मारियानाके सिद्धान्तमें निहित था जिसने रङ्गमञ्चके लिये भी शील ( नैतिकता ) की दुहाई दी है। स्पेनी और इतालवी

पुनरुत्थानकालकी समीक्षामें जो अन्तर प्रतीत होता है उसका कारण यह है कि स्पेनमें विद्वद्वादकी प्रधानता रही और प्राच्य प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती ही रही। लियों हेब्रियोका सौन्दर्य-विज्ञान और उसके सिद्धान्त सब सापेक्षवादी हैं जिसने उस तात्त्विक सौन्दर्यका अस्तित्व नहीं माना है जो वास्तवमें अरस्तूवादियोंका प्रधान पक्ष रहा। इनका मत है कि 'विचारितविषयके निरूपणमें जितना अधिक कलात्मक उद्देश्य होगा उतना ही अधिक उसमें सौन्दर्य आवेगा। भौतिक पदार्थ स्वत: अपनेमें एक रूप होते हैं किन्तु जब वे आध्यात्मिक जगत्‌मेंको होते हुए उसका अंश ग्रहण कर लेते हैं तब वे सुन्दर हो जाते हैं। फिर भी केवल उनका प्रेमी ही उन्हें सुन्दर समझ सकता या उनमें सुन्दरता ढूँढ़ सकता है, इसलिये समीक्षकको सुन्दर रूप ढूँढनेके बदले सौन्दर्यके अन्तर्गत वह भाव ( हरमोसुरा ) ढूँढ़ना चाहिए जो ईश्वरसे भासित होता है अर्थात् वह परम सौन्दर्य ढूँढना चाहिए जो सौन्दर्यकी रचना करता है।' लियों हेब्रियोसे स्पेनके रहस्यवादियोंतक जो परम्परा चली उसमें लुई डी ग्रानाडाने कलात्मक पक्षपर अधिक बल दिया। उसने कहा है कि 'ईश्वरकी तुलनामें प्राकृतिक सौन्दर्य केवल कुरूपता है क्योंकि ईश्वरमें ऐसा एक अपना अनन्त सौन्दर्य है जो वह अन्य प्राणियोंको प्रदान नहीं करता।' फ्रे लुईने कहा है कि 'सम्पूर्ण सांसारिक सौन्दर्य केवल अपूर्ण अक्षर-मात्र हैं जो ईश्वरके प्रकाशसे सुन्दर प्रतीत होते हैं किन्तु जिनमें अपना कोई मौलिक सौन्दर्य नहीं होता।' इस तर्कने यथार्थ-विरोधी भावात्मक कलाको अधिक महत्त्व दे दिया और यह माना जाने लगा कि भावात्मक कला ही उदात्तवादी आदर्शीकरणसे प्रकृतिकी अपूर्णताओंको सुधारती चलती है और साहित्यके क्षेत्रमें साधारण भाषाकी अपेक्षा भाषण-कला ही मनुष्यको सौन्दर्यके अधिक समीप पहुँचाती है। उसने यह भी कहा कि 'पूर्णताके लिये प्रकृतिकी अपेक्षा कला ही अधिक श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक है।' इन सब अध्यात्मवादी सिद्धान्तोंने इतालवी और प्राचीनताके सिद्धान्तोंको बहुत चपेटा। दूसरा आक्रमण जनताकी ओरसे किया गया। जुवाँ डी माल नारा ( १५२५ से ७१ ) ने कहा कि 'पुस्तकोंमें सञ्चित सम्पूर्ण कला और विज्ञानको जनताने स्वयं समृद्ध किया है अर्थात् जो कुछ कला और विज्ञान है सब मनुष्योंकी ही देन है।'

पुनर्जागरणकालकी समीक्षा - प्रवृत्तिने उद्धतशैलीवाद ( बारोक ) को जन्म दिया। फ्रान्सिस्को शान्केज़ने भाषण-शास्त्रको भाषा-दर्शनके पदतक

भी उठाया और स्पेनी कवि गार्सिलासो डीला वेगापर टिप्पणी भी लिखी। इसी प्रकार फ़र्नान्डो डी हरेराकी समीक्षाने विभिन्न गीतोंके शब्दसे प्रारम्भ करके सौन्दर्यात्मक भावनाओंका तत्त्व प्रस्तुत किया। एक गीतपर टिप्पणी करते हुए उसने कहा कि 'सौन्दर्य उस शोभाको कहते हैं जिसे यूनानी लोग 'चारिस' और टस्कन लोग 'लेग्गियाड्रिया' कहते हैं। कवियोंकी प्रतिभा स्वयं सौन्दर्यके नये-नये रूप ढूँढ़ती ही रहती है।' उसी समय प्रतिसुधार करनेवाले जीसुइयोंने सौन्दर्य-विज्ञान और धर्म दोनोंका समन्वय कर दिया जिसका अनुसरण पीछेके और भी व्यक्तियोंने किया। उस समयका केवल एक गम्भीर समीक्षक, अरबोंका प्रशंसक और वैद्य अलोंज़ो लोपेज़ एल् पिन्शियानो था जिसने अरस्तूका ही अनुसरण किया। अरस्तूके 'रेचन' (कथार्सिस) के सिद्धान्तका वह सबसे बड़ा व्याख्याता है। उसने कहा है कि 'रेचनका अर्थ है करुणा और भयको ऐसा सन्तुलित करना कि जिससे चिरगम्भीर शान्तिके पश्चात् एक क्षणिक विक्षोभ उत्पन्न हो।' वह महाकाव्यके लिये भी 'रेचन'का सिद्धान्त आवश्यक समझता है। सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें बालतासार डी केस्पिडेस व्याख्या और विश्लेषणका बड़ा भारी आचार्य हुआ। उसने बताया कि 'कविके विचारोंका मूल समझनेके लिये पहले उसकी कविताओंका अध्ययन आवश्यक है। और फिर व्याकरण, तर्क, अलङ्कार और सौन्दर्यकी दृष्टिसे उसका विश्लेषण करनेके लिये भी उसका अध्ययन होना चाहिए।' अरस्तूके नियमोंका सबसे बड़ा समर्थक स्पेनका सर्वश्रेष्ठ लेखक मिगुवेल डी सर्वेन्टीज़ (१५४७ से १६१६) हुआ। वह कहता है कि 'यदि हम अरस्तूका महत्त्व नहीं मानेंगे तो स्पेनवालोंको इटलीवाले मूर्ख और जङ्गली समझेंगे।'

स्पेनकी लोकरुचिका प्रतिनिधित्व करते हुए जीसुईवादी लुई एलफ़ोन्ज़ो डी कार्वाल्लोने अपने काव्य-शास्त्र 'सिसने डी अपोलो' में एकत्व और शुद्धताका सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया और तीन अंकके ऐसे नाटकोंको श्रेष्ठ माना जिनमें मनुष्य और अध्यवसान (रूपक) का सम्मिश्रण हो, जो किसी सन्तके बचपन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्थातककी कथातक व्याप्त रहता हो। सुप्रसिद्ध नाटककार जुवाँ डी ला कुएवा (१५५० से १६१०) ने चतुरङ्गी त्रासदीय सुखान्त नाटक (ट्रेजी-कौमेडी) की बड़ी प्रशंसा करते हुए सुझाव दिया कि 'उसमें व्यक्तियों और उनके भावोंके अनुसार छन्द बदलते चलना

चाहिए।' लोप डी वेगा कार्पियोने यही आदर्श मान लिया। वह कहता है कि 'मैं इटलीवासियों और उनके सब नियमोंको जानता हूँ किन्तु मेरी यह इच्छा नहीं है कि मैं उन्हें स्पेनी जनताके ऊपर लाद दूँ। मैं तो चाहता हूँ कि थोड़े समयमें तीन अंकका नाटक देखूँ और उसमें संसारकी सृष्टिसे लेकर अन्तिम निर्णयके दिनतकका सारा इतिहास पढ़ लूँ।' वह कहता है कि 'तेरेन्सको सैनिकाके साथ मिलाकर एक 'नाटकीय मिनोतौर', (आधा मनुष्य आधा साँड़) की स्थापना कर देनी चाहिए।' जो विद्वान् नाटकके क्षेत्रसे अलग थे वे भी लोपके विचारोंसे भड़क उठे। फ्रान्सिस्को कास्कालेसने कहा कि 'सत्यकी एकताके लिये कलामें एकता होनी चाहिए। जो नाटककार किसी ऐतिहासिक वीरके कार्योंका प्रदर्शन करके उनसे सार्वभौम व्यापक विचार नहीं ग्रहण करता वह कवि और इतिहासकारके कर्त्तव्योंमें भ्रान्ति उत्पन्न करता है। यह सम्भव है कि सङ्गत रूपसे किसी घटनाका समय एक दिनसे बढ़कर दस दिन हो जाय किन्तु यह अत्यन्त असङ्गत बात है कि किसी सन्तको स्वर्गमें दो सौ वर्ष रहते हुए दिखलाया जाय। और फिर प्रहसन तथा त्रासदको एकमें मिला देना तो अत्यन्त भयानक बात है।' किन्तु डौन कार्लोस बौयलने उसके सिद्धान्तोंका समर्थन किया। रिकार्डो डी टूरियाने तो यहाँतक कह दिया कि 'सफक्लेसका 'ओडिपस' वास्तवमें सुखान्त नाटक (कौमेडी) है। रङ्गमञ्चकी शैली और वेश-भूषाकी रचना स्पेनी प्रकृतिके अनुसार होनी चाहिए।' कुछ लोग ऐसे भी थे जो लोपका समर्थन करते हुए उसे नाटककारोंमें सबसे बड़ा बताते थे जिसमें टिर्सो डी मोलिना (१५७१–१६४८) ने अरस्तूकी भौतिक सत्य-तुल्यताके विरुद्ध लोपके नैतिक 'सत्यतुल्यता' (वेरीसिमि-लिच्यूड) के सिद्धान्तका समर्थन करते हुए समयकी एकताका विवेचन करते हुए कहा कि 'अरस्तूने जो समयकी एकताकी बात कही है वह अत्यन्त हास्यास्पद है क्योंकि कोई भी सच्चा प्रेमी केवल चौबीस घण्टोंमें किसी स्त्रीसे प्रेम करके उससे विवाह नहीं कर सकता, उसे तो अपने प्रेमकी दृढ़ता सिद्ध करनेके लिये महीनों और वर्षों लग जाते हैं।'

सौन्दर्य-विज्ञानमें लोक-प्रवृत्ति इतनी उलझ गई थी कि गौंगोरा (१५६१–१६२७) का सभ्यवाद (कल्टेरानिज्मो) प्रारम्भसे ही समाप्त दिखाई देने लगा जिसमें अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण उद्धरण और अत्यन्त सजीले अलङ्कार

इतने भरे हुए थे कि पीड्रो डी वेलेन्शियाने उसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि वेलेन्शिया उन सब कविताओंको बुरी समझता था जिनमें विचारकी श्रेष्ठता न हो। उसने स्पष्ट कहा था कि 'बाह्य अलंकार अत्यन्त हास्यास्पद वस्तु है।' जुवाँ मार्टिनेज़ डी जौरेगुई (१५८३ से १६४१) ने भी इसी प्रकार औद्धत्यवाद या अत्यलंकारवाद (बारोक) की कड़ी आलोचना प्रारम्भ की। उसने बतलाया कि 'काव्यमें प्रथम आत्मा होता है, द्वितीय शरीर और तीसरा अलंकार इनमेंसे वास्तविक विचार ही काव्यका आत्मा है।' क्वेवेडोने भी गोंगोराकी बड़ी हँसी उड़ाई और भाषामें अश्लीलताका बड़ा विरोध किया। प्राचीनों और नवीनोंमें मेल करानेका प्रयत्न बार्त्तोलोमी लियोनार्डो डी आर्गेन्सोलाने किया और कहा कि 'वर्त्तमान कविको प्राचीनोंके समुद्रपर खेलेवाला मल्लाह-मात्र नहीं होना चाहिए वरन् पथ-प्रदर्शक ( पायलेट ) होना चाहिए।'

## औद्धत्यवाद ( बारोक )

जब नाटकके क्षेत्रमें लोपकी रीतिके बदले काल्डेरनकी रीतिका प्रचलन हुआ तब फिरसे कृत्रिमता और उद्धतशैलीवाद प्रचलित हो गया। कलाके इस नवीन वायुमण्डलसे प्रेरित होकर पहले तो जोसेफ़ पैलिसर डी सलासने और उसके पश्चात् क्रिस्टोबाल सालाज़ार ई मार्डोनेसने उद्धत शैलीके समर्थनमें जुवाँ डी एस्पिनोज़ा मेड्रानोने कहा कि 'यह औद्धत्यवाद ( बारोक ) वास्तवमें स्पेनी प्रकृतिका है जो लातिन कविताकी लहरोंपर उसी सरलतासे चलता है जैसे जलकी तहपर तेल।' उसके अतिरिक्त कुछ लोग यह भी मान रहे थे कि 'विवेक और ज्ञानकी शक्तिको सौन्दर्य ही प्रभावित करता है।' बालतासर ग्रेशियन जैसा व्यक्ति जो प्रत्येक सजीव वस्तुको सौन्दर्यात्मक नैतिक प्रश्न समझता था वह भी इस भावनासे मुक्ति नहीं पा सका कि 'आदर्शवाद और सुन्दर ढङ्गसे अभिव्यक्त निरालापन दोनों एक ही वस्तु हैं।' उसने कहा है कि 'आत्मा और भावनाओंके प्रकाशसे हीन बुद्धि वास्तवमें बिना किरणका प्रकाश है।' इसके पश्चात् कुछ लोगोंने स्पेनी समीक्षामें तार्किक शैली भी उपस्थित की किन्तु वास्तवमें समीक्षा-पद्धति वहाँ ऐसी ह्रासकी दशाको पहुँच चुकी थी कि उसमें फ्रांससे नई प्रेरणा न आती तो वह समाप्त हो गई होती।

## १७०० के पश्चात्

जब स्पेनका शासन-सूत्र हैप्स्वर्ग राजकुलसे बदलकर बोर्बन राजकुलके

हाथमें आया तब कलात्मक पुनर्नवनके लिये बड़ी आशा उत्पन्न हुई। सन् १७१४में 'रौयल एकेडमी औफ़ दि लेंग्वेज'की स्थापना इस युगकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है और उसका कोष तो इस दृष्टिसे संसारकी सब भाषाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। इस युगका प्रथम सर्वश्रेष्ठ समीक्ष्यवादी इग्नाशियो डी लुज़ान (१७०२ से ५४) था जिसने इतालवी विद्वानोंके घनिष्ठ सम्पर्क तथा फ़ान्सीसी और जर्मन साहित्यके अध्ययनसे नवोदात्तवादी (निओक्लासिकल) सिद्धान्तोंका प्रचार प्रारम्भ किया। अठारहवीं शताब्दिमें उसका 'काव्य-शास्त्र' (पोएटिका) ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समीक्षावादी ग्रन्थ है जो अरस्तू, होरेस तथा उनके अनुयायियोंके आधारपर लिखा हुआ है। इसके मतानुसार 'स्पेनके स्वर्ण-युगके नाटक वास्तवमें सुरुचिके विध्वंसक थे।' जिस 'ला कौमीदिया' पर स्पेनको सबसे बड़ा गर्व था, उसीपर इतना बड़ा आक्षेप देखकर राष्ट्रवादियों और नवोदात्तवादियोंमें परस्पर बड़ा सङ्घर्ष हुआ। लुज़ानका मत था कि 'साहित्यका काम है शिक्षा देना और मनोविनोद करना।' कलात्मक प्रदर्शनके सम्बन्धमें वह इतालवी मुरातोरीका अनुगामी था जिसने कलात्मक प्रदर्शनके लिये तीन ही मुख्य विषय माने थे—१. प्रकृति, २. मनुष्य और ३. स्वर्गीय संसार। लुज़ानने ऐसी शैलीमें अपना 'काव्य-शास्त्र' लिखा है कि आज भी लोग उसे बड़े चावसे पढ़ते हैं और उसे पूर्वज आचार्योंकी रचनाओंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। लुज़ानकी 'पोएटिका' के जहाँ बहुतसे समर्थक थे वहाँ बहुतसे विरोधी भी थे और इन दोनोंकी संख्या पर्याप्त थी। ब्लास एण्टोनियो नसारेने तो लुज़ानसे एक पग आगे बढ़कर कहा कि 'सर्वेन्टीज़, लोप डी वेगा और काल्डेरोन डी ला बार्चा, तीनों ही हमारी रङ्गशालाके भयङ्कर विध्वंसक थे।' इस बातका समर्थन और भी लोगोंने किया। लुज़ानने अपने काव्य-शास्त्रमें गद्यपर विचार नहीं किया था। निकोलास फ़र्नान्डेज़ डी मुरातिम (ज्येष्ठ १७३५ से ८०) यद्यपि लेखक तो मध्यम श्रेणीका ही था किन्तु समीक्षा-पद्धतिका नेता था। उसने फ़ान्सीसी नवोदात्तवादी नाटककी प्रशंसा की। इस नवोदात्तवादके समर्थनमें किसीने प्रगीतकी चिन्ता ही नहीं की, यद्यपि उसमें कुछ इतालवी प्रभाव स्पष्ट देखा जा रहा था।

राष्ट्रीय सम्मान और गौरवकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ लेखकोंने पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिके अपने पूर्वज लेखककी कृतियोंको

प्रकाशित करनेका सङ्कल्प करके स्वैरवादी साहित्यके लिये मार्ग खोल दिया। इसी झोंकमें फ्रान्सिस्को निफ्रोने नवोदात्तवादियोंपर घोर आक्षेप किए। उधर विन्सेन्ट डी लौस रियौसने वास्तविक स्पेनी भावनाके भूले हुए ग्रन्थोंको लोकप्रिय बनानेका प्रयास किया। इनमें मध्यममार्गी समीक्षक बड़े प्रभावशाली हुए। विन्सेन्टने काव्यकी कसौटीका आधार बताया 'संक्षेपता, स्पष्टता और सरलता'। कापमानी ई सुरीस ई मोनपालाडने राष्ट्रीय साँचोंको अपनानेकी बात कही और यह कहा कि 'साहित्यके विकासके लिये अनेक प्रकारके आदर्शों और साँचोंकी आवश्यकता है।' जेष्ठ मुरातिनकी मृत्युके पश्चात् तो नवोदात्तवाद समाप्त ही हो गया किन्तु लिग्रान्डो फरनान्डेज् डी मुरातिन 'कनिष्ठ' (१७६०–१८२८) ने अपने पिताकी मृत्युसे पूर्व ही नवोदात्तवादका प्रबल और प्रभावशाली समर्थन किया। उसने अपने ग्रन्थमें उन नाट्य-लेखकोंकी बड़ी निन्दा की जो केवल कलाकी दृष्टिसे नाटक लिखते हैं। उसका मत है कि 'साहित्यसे लोगोंको शिक्षा ही मिलनी चाहिए।' इसके पश्चात् स्पेनपर अँगरेजी प्रभाव भी पड़ा जिससे सांकेज् बारबेरोने कलाके गुणोंमें 'स्पष्टता (क्लैरिटी), क्रम (ऑर्डर), सरलता (सिम्प्लिसिटी), समरूपता (सिमेट्री), एकता (यूनिटी), बहुरूपता (वैराइटी), भेद (कन्ट्रास्ट) और व्यञ्जना (सजेश्शन) को अन्तर्भुक्त किया और अन्य नियमोंकी अपेक्षा मौलिक व्यापक कसौटीको अधिक महत्त्व दिया। फ़ैलिक्स जोसे रिनोसोने 'कलार्थ कला'के आदर्शोंका ही अनुगमन किया। गास्पर डी जोवेलानोसमें जहाँ एक ओर मुरातिनों और उनके उदात्तवादी सिद्धान्तोंके प्रति आदर दिखाया वहाँ उसने सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्तिके लिये भी स्नेह दिखलाया। उसने यही सम्मति दी है कि 'अन्य कलाकारोंका अनुकरण करनेके बदले स्वयं प्रकृतिका ही अनुकरण करना चाहिए।' मैन्वल जोसे क्विन्तानाने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक समीक्षा लिखी और स्पेनवासियोंको प्रेरणा दी कि 'प्रारम्भिक रूपोंके गुण परखनेका प्रयत्न करो।' जब फ्रान्सीसियोंने स्पेनपर अधिकार कर लिया उस समय यद्यपि साहित्यिक प्रगति पूर्णतः ठप हो गई थी किन्तु आगेकी पीढ़ियाँ अपने साहित्यिक विकासमें सचेष्ट हो गईं। इनमेंसे कुछ तो स्पेनी उदात्तवादी रङ्गमञ्चका, कुछ नवोदात्तवादका और कुछ स्पेनके स्वर्णयुगीन नाटकका समर्थन कर रहे थे। मार्टिनेज् डी ला रोसा (१७८७–१८६२) ने प्रथम स्पेनी स्वैरवादी नाटक लिखा और क्रमशः स्वैरवादका प्रसार होने लगा।

प्राचीनतमवाद ( ओशियानिज़्म ) सर वाल्टर स्कौट, विक्टर ह्यूगो और गेटेसे सम्पर्क होनेके कारण स्पेनियोंने ( इमिग्रादो ) या बुद्धिमानोंको निकाल दिया। धीरे-धीरे स्पेनके देशी साहित्यका प्रसार होने लगा। स्वैरवादकी घोषणा सर्वप्रथम एन्टोनियो आलकाला गालियानो ( १७८९–१८६५ ) ने की। कविता और नाटक दोनोंमें देशी स्वैरवादी शैली तथा रीतिनीति व्यक्त होने लगी। पहले तो समीक्षकोंकी गम्भीर दृष्टि उपन्यासपर नहीं पड़ी किन्तु बोह्ल फ़ौन फेबरने स्थानीय रङ्ग-ढङ्ग और लोक-सामग्री ग्रहण करनेपर जो बल दिया उसका बड़ा प्रभाव पड़ा और बहुत लोगोंने वह धारा पकड़ ली। उधर अठारहवीं शताब्दिके नवोदात्तवादपर भी आक्षेप हो ही रहे थे। धीरे-धीरे समीक्षा और विद्वत्ताका मेल होने लगा। किन्तु आगे चलकर समीक्षापर अल्बर्टो लिस्टा ई आरोगोन ( १७७५–१८४८ ) का बड़ा प्रभाव पड़ा जिसने प्रतिक्रियावादी सेविल्लियन सम्प्रदायका नेतृत्व किया।

जोसे लारा ई सान्केज़ डी कास्ट्र (१८०९ से ३७) ने पत्रकार, नाट्यकार, उपन्यासकार और समीक्षकके रूपमें स्वैरवादको राजनीतिक स्वातन्त्र्यका साथी बनाकर रक्खा। उसने अपने युगके नाटकोंपर जो समीक्षा लिखी उससे एक नया मानदण्ड ही स्थापित हो गया। कलाके समीक्षक होने अतिरिक्त जोसे आमाडोर डी लौस रियौसने साहित्यका भी सफल समीक्षक और विद्वान् था। इनके अतिरिक्त कायेंते तो ऐसा उदार व्यक्ति था जिसने साहित्यके सभी सम्प्रदायोंमें सौन्दर्य खोज निकाला।

स्वयं अपनी कृतियोंसे दूसरोंको उत्तेजना देनेवाला मैन्वल मिला ई फ़ोन्ता-नाल्स पिछली उन्नीसवीं शताब्दिके स्पेनी समीक्षकोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसके शिष्य 'मार्सेलिनो मेनेण्डेज़ ई पेलायो'ने तो समीक्षकोंकी भी समीक्षा की है। उसने अपने ग्रन्थमें सब पिछले समीक्षकोंकी सहानुभूतिपूर्ण प्रशंसा की है। समीक्षकों और समीक्षाओंका दूसरा इतिहासकार फ़्रान्सिस्को फ़र्नान्डेज़ ई गोंज़ालेज़ ( १८३३ से १९१७ ) हुआ जो यद्यपि नवोदात्तवादियोंका बड़ा विरोधी था किन्तु उसके ग्रन्थमें मध्य उन्नीसवीं शताब्दिका अत्यन्त व्यवस्थित तथा पूरा विवरण मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दिका आशावादी समीक्षक जुवाँ वेलरा था जिसकी समीक्षाएँ सुधार और मध्यमार्गीय प्रवृत्तियोंपर अवलम्बित थीं। उसने कुमारी एमीलिया पारडो बाज़ानपर यही आपत्ति की थी कि 'उसने प्रकृतिवादका अनुसरण किया है।' दूसरा उपन्यासकार

समीक्षक क्लारीन ( लिओपोल्डो अलास, १८५२–१६०१ ) था जो अतिरेक और आवेगात्मक सम्वादका समर्थक था। यद्यपि चौदहवीं शताब्दिसे ही स्पेनी साहित्यमें 'उपन्यास अत्यन्त प्रौढ रूपमें पहुँच गया था किन्तु प्रादेशिक गद्य उपन्यासके युगतक लोग उसे समीक्ष्य विषय नहीं समझते थे। किन्तु दुएबाने पैरडाके उपन्यासकी जो कड़ी समीक्षा की है उसमें यह भी बताया है कि 'गद्य उपन्यासमें स्थानीय चित्रण ( लोकल कलर ) देनेकी प्रवृत्ति होनी चाहिए।' बारकेरोने भी १८७५ से १६२५ के उपन्यासोंका विश्लेषण करनेका अत्यन्त गम्भीर प्रयास किया। इनके अतिरिक्त आन्द्रे गोंज़ालेज़ ब्लाङ्कोने उपन्यासकी प्राचीनता दिखाकर उसका आदर करनेकी सम्मति दी और उसकी सम्भावनाएँ तथा सीमाएँ भी प्रदर्शित कीं। इसी प्रकार जोसे मार्टीनेज़ रूईज़ने स्पेनका प्राचीन गौरव सुझाकर स्पेनकी शक्तिको पुनः जागरित करनेका प्रयास किया और कहा कि 'जिस युगमें जो कृति रची गई उस युगको हम ज्यों-ज्यों समझेंगे त्यों-त्यों उस युगकी कलाकृतिको भी समझेंगे।' वर्त्तमान राजनीतिक अस्तव्यस्तताने स्पेनके बहुत बड़े-बड़े समीक्षकोंका मुँह बन्द कर दिया है। रामन मेनेन्डेज़ पिडाल ( जन्म १८६६ ) ने अनेक योग्य समीक्षक शिष्य उत्पन्न किए हैं। उसने स्वयं जर्मन और फ़्रान्सीसी विद्वत्ताकी सर्वश्रेष्ठ परम्पराओंका आरोप स्पेनी महाकाव्यपर किया और प्रगीत-काव्यके लिये देशी कल्पना और समीक्षा-पद्धति स्थापित की। नवीन समीक्षकोंमें स्वर्गीय सोलाडिन्डेने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित की किन्तु अब तो राजनीतिका इतना बोलबाला है कि साहित्यकी चिन्ता किसे रह गई है।

---

# जर्मन समीक्षा-पद्धति

## पुनर्जागरणकालतक

अपने उपदेश-ग्रन्थ ( लीबेर ईवांजेलियोरम ) के अन्तिम अध्यायमें वीसेनबुर्गके औटफ्रीड ( ८०० से ८७० ) ने लिखा है 'कि आगे चलकर जो लोग मेरे ग्रन्थकी समीक्षा करेंगे वे या तो द्वेषके कारण ऐसा करेंगे या वे स्वयं निम्न कोटिके होंगे।' अपने पाठकोंके बुद्धिमान् वर्गकी सद्भावनापर विश्वास करते हुए औटफ्रीडने उन अगणित भूमिकाओं तथा पश्चात् लेखोंका रूप उपस्थित किया है जिनका प्रयोग अविरोधी या अनालोचनात्मक प्रशंसाके लिये सब युगोंमें सब प्रकारके लेखक व्यवहार करते आए हैं। औटफ्रीडका विचित्र मत यह है कि वह किसी भी प्रकारकी आलोचना-वृत्तिको विद्वेष-मूलक ही समझता है। प्राचीन कालमें आलोचना-कार्य का यही अर्थ समझा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे समाजमें वीरों (नाइट) और मध्यवर्ग ( बुर्जुवा ) का साहित्य-भावनासे पूर्ण समाज बढ़ा, जो कुछ तो जर्मनीके प्रेम-गीत ( मिन्नेसॉंग ) और वीर-काव्य ( ईपिक ) की वर्धमान सौन्दर्यात्मक सूक्ष्मताओंको प्रभावित कर रहा था और कुछ उससे प्रभावित हो रहा था। इस प्रकार सुरुचिका एक वातावरण ही प्रस्तुत हो गया।

पुनर्जागरणकालमें जर्मनीकी साहित्य-समीक्षामें वैसा विकास नहीं हो पाया जैसा इटली या फ्रान्समें हुआ था। 'मोइस्टरगेसांग' नामक जर्मन कविताने जटिल समीक्षात्मक नियमोंका निरन्तर पालन करते हुए उसे लाकर ऐसा बाँध दिया कि वह हाथ-पैर फैलाने योग्य नहीं रह गया। इसके अतिरिक्त अनेक समीक्षात्मक उक्तियाँ एच्० बेबिल ( १४७ से १५१८ ) के 'आर्स वर्सिफिकान्डी' ( १५०६ ) जैसे तत्कालीन काव्य-शास्त्रोंमें प्राप्त होती है। स्कालिगरके जिस काव्य-शास्त्र ( पोइटिक, १५६१ ) ने योरोपीय

साहित्यमें मिथ्या-अरस्तूवादी नेतृत्व स्थापित किया था वह यद्यपि आया बाहरसे ही था किन्तु जर्मन दृष्टिकोणसे बहुत भिन्न नहीं था ।

सत्रहवीं शताब्दिमें समीक्षा और काव्य-शास्त्रमें कोई भेद नहीं रह गया था । उस समय समीक्षा ही भाषाके प्रयोग, शैली और छन्दोबन्धनका नियमन करनेवाली शक्ति समझी जाने लगी थी । द्वितीय सिलेसी-सम्प्रदायके अद्भुतशैलीवाद ( बारोक ) और नव्यतावाद ( मारिनिज़्म ) के युगने इस प्रकारकी पर्याप्त सामग्री प्रदान की जिसने उस युगके अतिशय समृद्ध व्यंग्यात्मक काव्य ( सैटायर ) के साथ मिलकर अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थोंके उत्पादनके लिये प्रेरणा दी। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जर्मन साहित्य अन्य विदेशी आदर्शोंपर ही अवलम्बित है । मार्टिन औपित्स ( १५९७ से १६३९ ) ने स्पष्ट ही कहा था कि 'हमें प्राचीनताका यथासम्भव अधिकसे अधिक अनुकरण करना चाहिए ।' इसी आधारपर फ्रान्सीसी सिद्धान्तोंका जर्मनीमें अनुकरण होने लगा जिसमें यद्यपि विदेशी रचनाओंका तो अनुकरण अधिक नहीं हुआ किन्तु अपरिवर्त्तनीय मानदण्डमें विश्वास अधिक प्रकट किया गया। तात्पर्य यह है कि सत्रहवीं शताब्दिके समाप्त होते-होते जर्मन साहित्यपर फ्रान्सीसी प्रभाव निश्चित रूपसे जम गया था ।

इस प्रभावका प्रवर्त्तक था योहान क्रिस्टोफ़ गौटशेड ( १७०० से १७६६ ), जो लीपज़ीग विश्वविद्यालयमें बैठकर सम्पूर्ण जर्मन साहित्यपर अखण्ड शासन चला रहा था और जिसके आदेश और निर्देश प्राय: समीक्षात्मक पत्र-पत्रिकाओंमें निरन्तर निकलते रहते थे । सन् १७३० में उसने एक अपनी 'समीक्षा-नियमावली' (वेरसुख़ ओइनेर क्रिटिशेन डिख़्टकुन्स्ट फ़ौर डी ड्यूट्शेन ) प्रकाशित करा दी । यह ग्रन्थ 'साहित्यकी पकी-पकाई पोथी' कहलाता है । क्योंकि इसमें गौटशेडकी समीक्षा-पद्धतिके सब सिद्धान्त निहित थे । उसका कहना था—'क्योंकि काव्य भी प्रकृतिका अनुकरण है और क्योंकि प्रकृति स्वयं प्रशंसनीय है, इसलिये कवितामें कोई ऐसी वस्तु नहीं आनी देनी चाहिए जो विश्वसनीय न हो । इसलिये असङ्गत होते हुए भी जो कुछ अत्यन्त काव्यात्मक हो ऐसी सब हास्यास्पद सामग्री ( हान्स्वुर्स्ट ) जर्मन रङ्गशालासे बाहर चली जानी चाहिए ।' इसी प्रवाहमें गौटशेडने यह भी निर्देश दिया कि 'नाटकमें काल, स्थान तथा व्यापारके तीन एकत्वोंका निश्चित रूपसे पालन किया जाना चाहिए ।'

गौटशेडके इस सम्प्रदायने एक प्रसिद्ध समीक्षक उत्पन्न किया योहान ईलियास श्लेगेल ( १७१६ से ४६ ), जिसने नई प्रवृत्तिमें पूर्ण योग दिया था। श्लेगेल ने आइड् पाश ग्रिफ़ससे शेक्सपियरकी तुलना करके लेसिङ्गके पथ-प्रदर्शकका काम किया। सत्रहवीं शताब्दिके जर्मन नाट्यकारके रूपमें उसने फ्रान्सीसी नवोदात्तवादी सिद्धान्तोंकी अत्यन्त असङ्गत प्रशंसा की, शेक्सपियरकी अतुकान्त कविताके प्रयोग किए और बताया कि जर्मन साहित्यके लिये शेक्सपियरकी क्या महत्ता है। इस दृष्टिसे वह गौटशेडका शिष्य होनेके बदले उसका विरोधी है।

विद्रोहका सबसे बड़ा काण्ड यह हुआ कि बैठे-बिठाए गौटशेडने स्वित्सरलैण्डके समीक्षक योहान याकोब बौडमेअर ( १६६८ से १७८३ ) और याकोब ब्रोइटिङ्गर ( १७०१ से ७६ ) से झगड़ा मोल ले लिया। सन् १७३२ में बौडमेअरने मिल्टनके 'पैरेडाइज़ लौस्ट' का अनुवाद किया। सन् १७४० में उसने 'कवितामें अद्भुतता' विषयपर निबन्धमें लिखा कि यद्यपि गौटशेडके संकुचित उदात्तवादमें इसका कोई स्थान नहीं है। फिर भी इस प्रकारकी रचना ( पैरेडाइज़ लौस्ट ) भी कविता कहला सकती है। गौटशेडने इसका मुँहतोड़ उत्तर दिया। किन्तु उसी समय स्विस लोगोंको जर्मनीके मिल्टन, फ्रीडरिख़ गौटलीब क्लौपस्टौक ( १७२४–१८२३ ) का आधार मिल गया, जिसका महाकाव्य 'डेयर-मेसियास' सन् १७४८ से छपने लगा था। ये विरोधी लोग काव्य और समीक्षाका वह अर्थ ही नहीं मानते थे जो साधारणतः स्वीकृत था। स्वित्सरलैण्डवाले तो प्रशंसा करके साहित्यिक गुणतत्त्वोंका आनन्द लेना ही मुख्य समीक्षा मानते थे किन्तु गौटशेड कहता था कि 'कविताका कौशल ही काव्यका प्राण होता है।' जर्मन साहित्यमें इस झगड़ेका वही परिणाम हुआ जो फ्रान्समें प्राचीनों और नवीनोंके झगड़ेका हुआ। धीरे-धीरे नियमित समीक्षा ( ला क्रितिक पार ले रैगले ) से बदलकर भावकतापूर्ण समीक्षा ( ला क्रितिक द सेन्तीमेन्त ) हो गई।

१७५० से १८३० तक

प्रायः लोग वर्त्तमान जर्मन समीक्षाका प्रारम्भ गौटहोल्ड एफ्रायम लेसिङ्ग ( १७२६ से ८१ ) से मानते हैं। किन्तु उसने अपनेसे पूर्व युगकी व्याख्या ही उपस्थित की है। उसके पूर्वकालिकोंमें क्रिश्चियन लिस्को ( १७०१ से १७६० ) का नाम लिया जा सकता है। लेसिङ्गका सर्वप्रथम

महान् समीक्षात्मक कार्य था 'ब्रीफ़े डी नोएस्टे लिटेराटूर बेट्रैफ़ेन्ड' (१७५६) जिसे व्यवस्थित किया था फ़्रीड्रिख निकोलाई (१७३३ से १८११) ने, जिसने समीक्षाको उस स्तरसे कुछ ऊपर उठाकर चलाया जहाँ गोटशेडको विवश होकर छोड़ देना पड़ा था। इन कृतियोंमें लेसिङ्गका उद्देश्य प्राचीन नियमित रूढियोंसे भिन्न नहीं है। उसके सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाउकून' में भी इस प्रकारके कई लक्षण विद्यमान हैं। इस ग्रन्थकी केवल यही विशेषता नहीं है कि इसमें सशक्त प्रमाण दिए गए हैं या विभिन्न व्यक्तिगत कलाओंके सम्बन्धमें कोई नवीन परिणाम निकाले हैं। वास्तवमें इनका अस्तित्व न होना ही इस बातका प्रमाण है कि वह स्वैरवादी विधानको मानता था। लेसिङ्गकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसने स्वयं कलाकृतियोंका विश्लेषण करके परिणाम निकाले थे, प्राचीन सिद्धान्तों या कसौटियोंका आरोप करके नहीं।

१७६७–६८ में लेसिङ्गने 'हाम्बुर्ग नैशनल थिएटर' में होनेवाले अभिनयोंपर जो 'हाम्बुर्गिशे ड्रामाटुर्गी' शीर्षक समीक्षात्मक निबन्ध लिखे थे उन्हें वास्तवमें नाट्य-शास्त्रका मौलिक विश्लेषण ही समझना चाहिए। इसमें उसने यह नहीं बताया कि किसी व्यक्तिको किसी नाटकमें क्या आनन्द प्राप्त करना चाहिए, वरन् यह बताया है कि नाटकमें कितने तत्त्व होते हैं और उनके क्या उद्देश्य हैं। लेसिङ्गसे पूर्व जो समीक्षा-पद्धति थी वह बहुत बँधी-बँधाई और नियमित थी, किन्तु लेसिङ्गके पश्चात् समीक्षाकी वृत्ति वर्णनात्मक और गुणान्वेषणात्मक हो गई। लेसिङ्गकी समीक्षा-पद्धति दोनों प्रकारकी थी भी और नहीं भी थी। उसकी समीक्षा सौन्दर्याश्रित थी इसलिये दार्शनिक भी थी। उसकी दृष्टिमें 'प्रत्येक कलाकृति एक सूक्ष्म तत्त्व है जो उसी परम विवेकपूर्ण प्रज्योतिसे प्राणान्वित होता है जो हमारे विचारों और विश्वासोंको प्राणान्वित करती है।' १७८० में उसने जो ग्रन्थ प्रकाशित किया उसमें घोषित किया कि 'सार्वभौम विवेक और मानवीय प्रगति अवश्य होकर रहेगी।' लेसिङ्गकी समीक्षा-शक्तिको सबसे अधिक बल मिला तत्कालीन एकात्मताकी भावना (एम्पैथटिक एलीमेन्ट) से। इस प्रवृत्तिकी महत्ता हीनरिख़ विलहैल्म फ़ौन गर्स्टेनबर्ग (१७३७ से १८२३) के तथाकथित 'साहित्यपर स्लेसविग पत्र' में प्रकट हुई किन्तु उस एकात्मताकी मूल प्रेरणा सम्भवतः योहान गेओर्ग हामान (१७३० से ८८) और

उसके शिष्य योहान गौटफ़्रीड हेर्डर ( १७४४ से १८०३ ) द्वारा पूर्वसे आई। ये दोनों ही आँधी-बवण्डर ( स्टुर्म उन्ड ड्रांग ) की समीक्षा-पद्धतिके विरोधी भी थे। उन लोगोंने जो पुस्तकालोचन ( रिव्यू ) लिखे हैं उन्हें घोषणापत्र ( मैनिफ़ैस्टो ) समझना चाहिए। उस समयकी मुख्य समीक्षा तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियोंपर आक्षेपके रूपमें व्यक्त हुई, जैसे— युवा गेटेके नाटकीय व्यंग्यों या प्रहसनोंमें। यह आँधी-बवण्डर ( स्टौर्म ऐन्ड स्ट्रेस ) आन्दोलन वास्तवमें युवकोंका आन्दोलन था जिसकी अतिरेकताएँ इस सीमातक बढ़ गईं कि उसे कुछ उदार बनाना आवश्यक हो गया अतः ज्यों-ज्यों उसके प्रवर्त्तक बड़े होते गए त्यों-त्यों उनमें उदारता भी आती गई। इतना होनेपर भी उनकी यह भावना अवश्य बनी रही कि 'कला किसी एक सांस्कृतिक अवस्थाकी अभिव्यक्ति ही है। अतः प्रत्येक कृतिका अलग-अलग नैतिक दृष्टिसे तथा मूलतः उसके आध्यात्मिक महत्त्वकी दृष्टिसे परीक्षण होना चाहिए।' शिलरकी समीक्षाएँ इन्हीं सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंके प्रयोग-मात्र हैं। गेटे ( १७४९—१८३२ ) की प्रवृत्ति अधिक व्यापक और उदार थी। उसका मत है कि 'किसी भी कलाकृतिको प्रकृतिसे भिन्न नहीं समझना चाहिए। दोनों ( कलाकृति और प्रकृति ) को स्वतःपूर्ण और जीवन-शृङ्खलाका तात्त्विक अङ्ग समझना चाहिए।' इससे एक ओर यह स्पष्ट हो जाता है कि विंकिलमानका प्रत्न उदात्तवाद गेटेके रूपमें कैसे सफल हुआ और दूसरी ओर किस प्रकार गेटेने अपने पिछले वर्षोंमें विश्व-साहित्य ( वेल्टलिटराटूर ) के समीक्षा-सिद्धान्तका विस्तार किया।

हेर्डरकी मौलिक सम्मति यह थी कि 'किसी भी कलाकृतिको एकात्मताके साथ आत्मसात् करना चाहिए और इस अनुभवके लिये उस कलाकृतिकी रचना और परिस्थितिमें अपनेको डाल देना चाहिए।' उसके अनुसार 'स्वैरवादी सावयवता ( और्गानिसमुस्गेडाङ्के ) का भाव ही समीक्षाकी प्रधान शक्ति है।' कुछ विचित्र क्षोभ-वृत्तिके कारण हेर्डरने अपने बहुतसा शास्त्रार्थ तो लेसिङ्गका विरोध करनेके लिये ही प्रस्तुत किया।

### जर्मनीमें स्वैरवाद

जर्मनीका स्वैरवाद प्रारम्भमें शुद्ध समीक्षात्मक आन्दोलन ही था। इस रूपमें वह अपनेसे पूर्वकी प्रवृत्तिसे भिन्न होकर नहीं आया। अतः इस स्वैरवादी ( फ़्रूहरोमांटिक ) समीक्षाको लोग हेर्डर और लेसिङ्गका संश्लेषण ही

बताते हैं। फ़्रीडरिख़ श्लेगेल ( १७७२—१८२६ ) ने यूनानी उदात्तवादका अध्ययन किया और लेसिङ्गके सिद्धान्तोंमें शाश्वत गुण खोज निकाले। इसके परिणाम-स्वरूप उसने सिद्ध किया कि 'कला-कृति भी एक विशेष प्रकृतिका सावयव प्रदर्शन ही है।' इससे श्लेगेलने यह परिणाम निकाला कि अयूनानी लोगोंको यूनानका अनुकरण करनेके बदले प्राचीन उदात्तवादी परम्परासे मुक्त होकर भिन्न रूपसे साहित्य-सर्जन करना चाहिए।' उसने अपने स्वैरवादी पत्र 'एथीनियम' ( १७९८ से १८०० ) में अपने भाई आउगुस्ट विलहेल्म ( १७६७—१८४५ ) के साथ यही मत प्रवर्त्तित किया।

कलाकी स्वैरवादी भावनामें जो सर्वग्राहिता आ गई थी उसने समीक्षकको निर्णय देनेके कार्यसे मुक्त कर दिया। अब समीक्षाका रूप ऐतिहासिक और दार्शनिक हो गया जिसका कार्य रह गया कि वह विशेषता बतावे। इसलिये जैसे स्वैरवादी कविको 'मानवताका पुरोहित' (प्रीस्ट औफ़ मैनकाइंड) कहा गया है वैसे ही स्वैरवादी समीक्षकको 'काव्यशास्त्रका पुरोहित' ( प्रीस्ट औफ़् पोएज़ी ) कहा गया है। इसे उलटकर रख दें तो प्रतीत होगा कि कमसे कम सिद्धान्त-रूपमें स्वैरवादी कवि भी सदा समीक्षक ही बना रहा।

फ़्रीड्रीख़ श्लेगेलकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ वे हैं जिनमें उसने आलोचक तथा स्पिनोज़ाके मतानुयायी और दार्शनिक लेसिङ्गका विश्लेषण किया है। किन्तु स्वैरवादी सिद्धान्तपर आउगुस्ट विल्हैल्म श्लेगेलके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार उसके व्याख्यानोंमें प्राप्त होते हैं। प्रारम्भिक स्वैरवादियोंके 'येना-मण्डल'के समाप्त हो जानेपर श्लेगेलने अपने बर्लिनके व्याख्यानोंमें अपना नया सिद्धान्त प्रचारित किया। इसके अतिरिक्त उसके वियनाके व्याख्यान बड़े प्रसिद्ध हुए जिनमें जर्मन दृष्टिसे स्वैरवादी भावनाका ह्रास ही दिखाई पड़ता है। आउगुस्ट विलहेल्म कहता है कि 'कलाका इतिहास तो हमें यह सिखाता है कि क्या किया जा चुका है किन्तु कलाका सिद्धान्त यह समझाता है कि क्या होना चाहिए। इन दोनोंके बीचमें एक तीसरा आवश्यक तत्त्व है 'कलाकी समीक्षा' जो कलाके इतिहासको स्पष्ट करती है और कलाके सिद्धान्तको सफल करती है।' किन्तु इस सिद्धान्तकी निरर्थकता उसके प्रयोगमें स्पष्ट है। स्वैरवादी समीक्षाकी सबसे बड़ी असफलता यही है कि वह कभी भी पुराने नियमके साँचेसे मुक्त नहीं हो पाई। किन्तु जब श्लेगेलने अपने सिद्धान्तोंका

इतिहासपर प्रयोग किया तो वह नियमके अतिरिक्त और कुछ नहीं सिद्ध हुआ। अपने अन्तिम अंशमें स्वैरवादको नया क्षेत्र प्राप्त हुआ क्योंकि आगे चलकर कुछ ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने राजनीतिक और धार्मिक विश्वासोंके आधारपर साहित्यके आदर्श स्थिर किए और जिनके विचारोंमें आगे आनेवाली पीढ़ीके उपयोगितावादी प्रयोजनवादका लक्षण भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

### १८३० के पश्चात्

सन् १८३० के पश्चात् जर्मन समीक्षा मुख्य योरोपीय धारासे अलग होकर भाव-आध्यात्मिक कल्पनापूर्ण व्यवस्थित पूर्णता और सिद्धान्तवादी क्रान्तिकारिकताके रूपमें बह चली। किन्तु यह प्रवृत्ति प्रायः दार्शनिकों और विद्वानोंमें अधिक थी, कार्लाइल या सेन्त ब्यूए जैसे समीक्षकोंमें नहीं। दार्शनिक विचारोंसे अत्यधिक सम्बद्ध होनेके कारण वह सर्वसाधारण सांस्कृतिक वातावरणसे भिन्न हो गई। यही इसकी दुर्बलता भी थी और यही इसकी शक्ति भी।

### साहित्य और जीवनका सम्पर्क

फ्रान्सीसी उदारतावाद और श्लेगेलके प्रभावके कारण लोग यह कहने लगे कि 'साहित्य और जीवनमें अधिक निकट सम्पर्क होना चाहिए।' गेटेपर लोगोंने यही आक्षेप किया कि 'वह अपने समयके सामाजिक और राजनीतिक जीवनके प्रति इतना उदासीन रहा कि उसने अपने साथी मनुष्यके लिये उँगलीतक न हिलाई।' स्वैरवादियोंकी निन्दा भी इसीलिये हुई कि वे मध्ययुगीन भावनासे अधिक लिपटे रहे और राजनीतिमें प्रतिक्रियावादी रहे। उधर शिलर और जीन पौलको लोगोंने उदार कहकर धता बताया। इन लोगोंने समीक्षाको उदार विचारोंका प्रसार करनेका साधन बताया। सार्वजनिक जीवनमें पत्रकारिता भी प्रबल शक्ति बनती जा रही थी, सौन्दर्यवादी आदर्शोंमें भी नैतिक कसौटियाँ बनने लगी थीं और लोग सौन्दर्यसे ध्यान हटाकर विशेषता तथा प्रभावपर अधिक ध्यान देने लगे थे। साहित्यमें रूपकी अपेक्षा सामग्रीकी ओर तथा पद्यकी अपेक्षा गद्य-उपन्यासकी ओर लोग अधिक प्रवृत्त हो चले थे। इस युवा जर्मनीका सैद्धन्तिक नेता था लुडोल्फ वीनबार्ग और शास्त्रीय समीक्षाका प्रधान प्रतिनिधि था गेओर्ग गर्विनस।

इस स्थितिमें काव्यात्मक यथार्थवाद ( १८५० से ८० ) ने मध्यम मार्ग ग्रहण किया जो न तो संसारसे बहुत अलग होकर चलना चाहता था, न जनताके बीच धक्कम-धुक्की करना चाहता था। अतः इस युगको बौद्धिक आदर्शोंकी भ्रान्तिका युग समझना चाहिए। इस कालमें वैज्ञानिक भौतिक-वाद भी उच्च नैतिक आदर्शवादके साथ चलने लगा और स्वतन्त्र विचार भी विक्टोरिया-कालकी शैलीमें ढलने लगा था। अब पुनः सौन्दर्य और रूप ही श्रेष्ठताकी कसौटी बने, विशेषतः 'म्यून्खेनेर डिख़्टेरक्राइस'में, और काव्यके सब रूप समान रूपसे आदृत समझे जाने लगे। इस युगमें यद्यपि जूलियन श्मिट्ट आदि, अनेक समीक्षकोंने साहित्यिक जगत्पर बड़ा प्रभाव डाला किन्तु उन सबमें सबसे अधिक प्रभावशाली है हैबिलका 'त्रासदका भाव' (ट्रेजिक सेन्स) और वैगनरके 'संश्लिष्टात्मक एक' (सिन्थेटिकल वन) की भावना ( गेसाम्ट्कुंन्स्टवेर्क )।

१८८० से १९०० में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ आकर उन प्रकृतिवादी प्रवृत्तियोंमें घुल-मिल गईं जो युवा जर्मनीके समान ही साहित्य और जीवनमें परस्पर एक दूसरेका प्रभाव मानती थीं और जो राजनीतिके बदले समाजको अधिक महत्त्व देती थीं। इनका उद्देश्य था कि 'साहित्यमें वैज्ञानिक निष्पक्षताके साथ समकालीन समाजके सत्य, सुधारकी प्रवृत्ति तथा दोषोंका अत्यन्त स्पष्ट चित्रण करना चाहिए।' इस युगकी समीक्षापर अधिक प्रभाव डाला ज़ोला, इब्सन, टेन और विलहैल्म शेयररने। समीक्षामें भी कुल, परिस्थिति, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि मनोवैज्ञानिक भावनाएँ आने लगीं और बाह्य प्रभाव तथा घटनाओंके वास्तविक विस्तारको महत्त्व दिया जाने लगा। एक बार फिर रूपके बदले सामग्रीको महत्त्व दिया जाने लगा और यह समझा जाने लगा कि प्रकृतिवादी आदर्शोंकी सिद्धिके लिये उपन्यास ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, यद्यपि प्रगीतको छोड़कर नाटकका भी महत्त्व वेगसे बढ़ रहा था। इस युगके प्राचीनतावादी समीक्षकोंमें हीनरिख और जूलियस हार्ट और एउगेनवोल्फ़ ही प्रधान थे और विद्रोहियोंमें एम्० जी० कोनराड, कोनराड आलबेर्टी तथा आर्नो होल्त्स। ओटो ब्राह्म और आल्फ्रेड केर मुख्यतः नाटकीय समीक्षक थे।

प्रत्यक्षवाद (पौजिटिविज्म ) के विरुद्ध योरोपमें जो विद्रोह हो रहा था वह जर्मनीमें भी हुआ। परिणामतः ( १९०० से १९१० तक ) व्यक्तिवाद (इन्डि-

विजुअलिज़्म ), धार्मिक रहस्यवाद ( रिलीजस मिस्टिसिज्म ), वर्त्तमानसे भागकर वीरतापूर्ण अतीत या शुद्ध सौन्दर्यके भावात्मक राज्यमें जाना, रक्त और धरतीका सम्प्रदाय (कल्ट औफ़ ब्लड एन्ड सौएल अर्थात् जाति-भक्ति और देशभक्ति) तथा रोमाञ्चकारी गोथिक साहित्यके अनेक रूपोंमें स्वैरवादका पुनर्जन्म हुआ। सन् १९१० से १९२५ तक नये स्वैरवादने वह अतिरेकपूर्ण तथा उल्लासपूर्ण रूप ग्रहण किया जिसे अभिव्यञ्जनावाद कहते हैं। यही शास्त्रीय समीक्षाका स्वर्णयुग था। मानसिक विचार-पद्धति ( गीस्टेस्वीसेनशाफ्टेन ) प्राकृतिक विज्ञानोंके बन्धनोंसे मुक्त हो गई थी और स्वयं अपने अस्तित्वके नियम खोजनेमें लग गई थी। साहित्यके नये क्षेत्र खोजे जाने लगे और नये दृष्टिकोणसे साहित्यका अध्ययन किया जाने लगा। यद्यपि इनके परिणाम अत्यन्त अमर्यादित तथा विवेकहीन होते थे फिर भी इस नवीन स्वैरवादी समीक्षामें सात विशेषताएँ प्राप्त होती हैं—

१. सांस्कृतिक संश्लेषण, अर्थात् राष्ट्रीय संस्कृतिके विभिन्न अभिव्यञ्जना-रूपोंके साथ साहित्यके सम्बन्धका अध्ययन। २. विचारोंके विकासका अध्ययन ( गीस्टैसगेशिख्टे ), जिसमें उस मानसिक अनुभूति ( एर्लेब्निस ) को अधिक महत्त्व दिया जाता है जो कलाकृतियोंकी प्रेरणा - शक्ति मानी जाती है। ३. वर्गीकरण ( टाइपोलौजी ) अर्थात् सामान्य मनोवैज्ञानिक श्रेणियोंके आधारपर कलाकृतियों और कलाकारोंका वर्गीकरण। ४. शैलीका विश्लेषण, जिसकी उन्नीसवीं शताब्दिकी जर्मन समीक्षामें बड़ी उपेक्षा हुई थी। ५. विस्तृत साहित्यिक जीवनचरित-माला, जिसमें साहित्यकी प्रगतिका इतिहास भी था। ६. राष्ट्रीय दृष्टि ( वाल्क्सगीस्ट ) से साहित्यकी व्याख्या, जो किसी देशकी भूमि, रक्त अथवा उपनिवेषात्मक परिस्थितियोंसे प्रभावित हो। ७. युग-प्रवृत्ति-विश्लेषण प्रणाली, अर्थात् इस विचारसे अध्ययन करना कि साहित्यिक विकास उस युगका कार्य है जिसमें लेखक उत्पन्न हुआ है।

बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें विशेषत: उपन्यास और नाटकके सिद्धान्तमें नवोदात्तवादियोंने एक निश्चित रूप और सामाजिक समीक्षाका स्थापन किया। विवेकवादी रूढि भी पूर्णत: समाप्त नहीं हुई थी। अभिव्यञ्जनावादी पराकाष्ठाके समय भी वह विश्व-बन्धुत्ववाद ( एक्टिविज़्म ) के रूपमें उपस्थित हुई जो सामाजिक सुधारके द्वारा समाजको ठीक करना चाहता था। लोकतन्त्रके समय साहित्य और समीक्षा दोनों ही विवेक, तथ्य और विज्ञानपर अवलम्बित

हो चलीं तथा साहित्यकी व्याख्यामें अनुभूति और सिद्धान्तवादका प्रभाव कम हो चला ।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्रान्तिने प्राचीन समीक्षात्मक परिपाटीको पूर्णतः ध्वस्त कर दिया । नात्सी राज्यकालमें विवेकसे पूर्णत: असम्बद्ध होकर केवल जातीय भावनापर बल दिया जाने लगा और साहित्य तथा समीक्षा 'नात्सी वेल्टानरवाङ्' की उन्नतिका साधन माना जाने लगा । दूसरे युद्धके पश्चात् इसमें परिवर्त्तन हो गया क्योंकि नात्सीवाद ही एक प्रकारसे समाप्त हो गया और भीतर ही भीतर एक प्रकारका वर्गवाद सिर उठाने लगा है । नात्सीवादी समीक्षा-पद्धतिमें नये-नये पारिभाषिक शब्द भी गढ़े गए । अतीतके महान् लेखक या तो राष्ट्रीय समाजवादके अग्रदूत कहे गए या फिर भयानक कहकर निष्कासित ही किए गए । इस नात्सी समीक्षावादके पूर्वप्रेरक थे एडौल्फ़ कार्टेल्स विलहैल्म स्टाएल तथा विलवैस्पर और उसके प्रधान समीक्षक थे होइन्स किण्डेमान आदि । युद्धमें हिटलरके पतन और जर्मनीके आत्म-समर्पणने वहाँकी साहित्यिक चेतना भी समाप्त कर दी । वहाँ अब जिस प्रकारका साहित्य रचा जा रहा है उसमें समीक्षा-पद्धति ज्यों-त्यों करके पत्र-पत्रिकाओंमें झाँक रही है, उसका पृथक् दृढ अस्तित्व समाप्त हो गया ।

# योरोपका पुनर्जागरणकाल

पुनर्जागरण ( रिनैसाँ ) या पुनरुत्थान ( पन्द्रहवीं शताब्दीका युग जिसमें कला और साहित्यकी पुनः प्रतिष्ठा हुई ), वास्तवमें वह युग है जब इटलीमें पन्द्रहवीं शताब्दिमें विशेष रूपसे यूनानी और लातिन पढ़ने-लिखनेकी प्रवृत्ति पुनः जागरित हुई। इसी युगमें प्राचीन यूनानी और रोमन ग्रन्थोंकी खोज हुई, छपाई हुई, प्रचार हुआ और वर्त्तमान संस्कृतिके प्रचारके रूपमें उसका प्रयोग किया जाने लगा। इसीके साथ मनुष्य और उसके वर्त्तमान जीवनके प्रति लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ जिसे मानवतावादी ( ह्यूमेनिस्ट ) भावना कहते हैं। मध्यकालीनता ( मैडीवलिज़्म ) की भावना इस भावनासे भिन्न थी क्योंकि उसमें केवल धार्मिक विषय और अगले जीवनका ही विशेष ध्यान रक्खा जाता था। यह मानवतावादी भावना उदात्तवादी साहित्यसे हटकर देशी साहित्यकी ओर झुकी और बहुतसे लेखक देशी भाषाओंमें साहित्यिक विषयों और शैलियोंका प्रयोग करने लगे, यहाँतक कि कार्डिनल बैम्बोके नेतृत्वमें प्रगीत ( लिरिक ) की एक काव्य-शैली ही चल पड़ी जिसमें नव-प्लेटोवादी आदर्शवाद ( निओप्लैटोनिस्ट आइडिअलिज़्म ) का अनुगमन किया जाता था। जहाँ एक ओर शुद्ध मानवतावादी लोग अपनी लातिनके लिये वर्जिल और सिसरोको आदर्श मानते थे वहाँ देशी इतालवी शैलीके लिये पेत्रार्क और बोकेशियो आदर्श माने जाने लगे। उधर त्रिसनो आदिने प्राचीन रोमन आदर्शोंपर निर्जीव त्रासद लिखे, इधर पुनर्जागरणकालके नाटक अधिक यथार्थवादी, सफल और सजीव रहे। अरियोस्तो और तासोने अपने स्वैरवादी ( रोमान्टिक ) महाकाव्योंमें मध्यकालीन वीरता ( शिवैलरी ) और उदात्तवादी ( क्लासिकल ) विषय भरने प्रारम्भ किए, ग्रामीण कविताएँ भी लिखी जाने लगीं और इस प्रकार चारों ओर नई जागर्त्तिके लक्षण दिखाई पड़ने लगे। बाहरसे इटलीमें आनेवाले विद्वानोंने इटलीकी मानवतावादी

भावना लेकर अपने-अपने देशोंमें प्रचारित की। सब देशोंमें देशी साहित्यका विकास होने लगा जिनमें धीरे-धीरे नई-नई विचार-धाराओंका भी प्रादुर्भाव हुआ। लातिन और यूनानीसे रूप ( फ़ौर्म ) और शैली ( स्टाइल ) भी ली गई।

यूनानमें भी सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें पुनर्जागरणकाल आया। कलामें भी नई जागर्त्ति हुई और एक नया यथार्थवाद ( रीअलिज़्म ) आने लगा जो मूर्त्तिकला और वास्तुकलामें भी दिखाई देने लगा। सोलहवीं शताब्दिमें वैज्ञानिक खोजोंकी ओर भी लोगोंका ध्यान प्रवृत्त हुआ। मुद्रण-यन्त्रने इस प्रयास और प्रवृत्तिको बड़ा प्रोत्साहन दिया। सुधारवाद ( रिफ़ौर्मिज़्म ) को भी एक प्रकारसे इसी मौलिक आन्दोलनका अंश समझना चाहिए। आजकल कुछ विद्वान् यह समझते हैं कि 'इससे पूर्व जो उदात्तवादी अध्ययन और ज्ञानकी प्रवृत्ति थी उसे भी पुनरुत्थानके भीतर ही ले लेना चाहिए' अर्थात् आठवीं शताब्दिमें चार्ल मैग्ने-द्वारा लातिनकी शैली और प्रयोग सिद्ध करनेका प्रयास, विद्वत्तापूर्ण या पण्डितोंकी लातिन और साधारण भाषामें भेदीकरण तथा बारहवीं शताब्दिका विद्वत्तापूर्ण धर्म-विज्ञान और दर्शनका आन्दोलन भी सब पुनरुत्थानमें ही अन्तर्मुक्त कर लेना चाहिए।. इस दृष्टिसे दाँते भी पुनरुत्थान-कालके अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

# इतालवी समीक्षा

दाँतेके पश्चात् समीक्षाके क्षेत्रमें केवल उन्हीं समस्याओंपर विचार होता रहा जो दाँतेकी कृतिसे उत्पन्न हुई थीं, जैसे—देशी भाषाका प्रयोग या अपनी भाषामें उदात्तवादी साहित्यका अनुकरण। पेत्रार्क समीक्षक तो कम था किन्तु पण्डित और कला-पारखी बहुत था। अगाध पाण्डित्य होनेपर भी उसने न तो नवीन विचारोंके आन्दोलनमें ही कोई योग दिया न कला-कृतियोंके मूल्याङ्कनके लिये ही कोई विशेष सिद्धान्त उपस्थित किया। किन्तु अपनी खोजों और टिप्पणियोंके द्वारा उसने उदात्तवादी साहित्यके अधिक अंशको कोरी श्रद्धाके मञ्चसे उतारकर कलात्मक और सांस्कृतिक रुचिके व्यावहारिक रूपमें उपस्थित कर दिया। उसने नये और अज्ञात कवियोंके सम्बन्धमें जो अपने निर्णय दिए हैं वे पूर्णतः दोषयुक्त हैं। इसी प्रकार दाँतेकी जो उसने समीक्षा की है वह भी आवश्यकतासे अधिक उदार है। उसने दाँतेकी बड़ी प्रशंसा की है। बोकेशियो और पेत्रार्ककी अपेक्षा वह कम अभिमानी और अधिक नियमशील था। यद्यपि उसकी समीक्षामें शुद्ध सटीक निर्णय और रूढिगत अध्यवसान-प्रणाली घुली-मिली चलती हैं किन्तु उसने जो टिप्पणी लिखी उससे 'दिवीना कौमीदिया' ( डिवाइन कौमेडी ) की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। अपनी लातिन कृतियोंमें उसने जो भावपूर्ण और तर्कपूर्ण अंश दिए हैं उससे कविताके प्रति रुचि और कविताका सम्प्रदाय बढ़ा ही है।

कविताके इस पोषण तथा सौन्दर्यात्मक चेतनाके इस उत्साहसे पिछले मध्ययुगके लेखक पुनर्जागरण-कालके प्रवर्त्तक भी थे क्योंकि जहाँ मानवता-वादको हम एक अर्थमें मध्ययुगका ही सञ्चरण मानते हैं वहाँ उसके सुधार और प्रतिसुधारमें साहित्यिक समीक्षाके वे बीज भी निहित मानते हैं जो आगे चलकर सम्वर्द्धित हुए। इस पुनर्जागर्त्तिने आगे चलकर मध्यकालीनताको

भी व्यवस्थित कर दिया। क्योंकि इसने सार्वभौम लातिनवाद और सार्वभौम शिक्षा-शास्त्रकी भी आवश्यकता बताई इसलिये वह उन राष्ट्रीय भाषाके आन्दोलनोंसे अलग रहा जिनमें मध्यकालीन एकता घुल गई थी। उसमें व्यापक रूपसे दाँतेसे पूर्वके आन्दोलनके लिये सहानुभूतिका अभाव था और दाँतेकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा थी जो रोमन कैथोलिक होते हुए भी अपने राष्ट्र और चर्चकी भाषामें अपनी कविता नहीं लिख पाया। मानवतावाद मुख्यतः लातिन साहित्यसे ही सम्बद्ध रहा जिसका प्रयोग और अनुसरण पोलीतियनसे लेकर स्कालिगार और उसके आगेतक भी चलती ही रही। दूसरी ओर उसमें नये युगके कुछ नये लक्षण भी स्पष्ट हो रहे थे। कविताके प्रति लोगोंकी रुचि बढ़ रही थी और कविगण अत्यन्त विवेक और सुरुचिका प्रयोग कर रहे थे। लोगोंकी यह प्रवृत्ति हो रही थी कि आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त उच्च स्तरपर कविताका विवेचन और समर्थन किया जाय। लातिन साहित्यके क्षेत्रसे व्यवस्थित शैली और सुरुचिका विकास हो रहा था। यूनानी साहित्यवाले तथा प्रगतिशील लोग सीधे होमरकी कविता खोजकर उसका अध्ययन कर रहे थे क्योंकि उसे लोग आदिम वर्जिल ही समझते थे। पोलीतियनने यद्यपि अपने ग्रन्थके तीसरे खण्डमें वर्जिलके बहुत गुण गाए किन्तु चतुर्थ खण्डमें होमरको भी ऊँचे उठा दिया। दाँतेकी रचनासे वैमत्य होनेपर भी उसने वीरकाव्य ( ईपिक ) की महत्ता पुनः प्रतिष्ठित की जो कई शताब्दियोंतक चलती रही। वीदाने तो अपने 'पोइतिका'में महाकाव्यको ही सब साहित्यिक क्रियाओंका शिरमौर माना है।

समीक्षात्मक शास्त्रार्थ प्रायः रचनात्मक युगके चिह्न भी हैं और उसके अवसानके लक्षण भी। इतालवी पुनर्जागरणमें जो साहित्यिक विवाद छिड़े वे उन स्वैरवादी काव्यों या वीरताके काव्यों ( पोएम्स ऑफ़ शिवैलरी ) पर और 'गेरुसलेमे लिबराता'के सम्बन्धमें उठे हुए विवादपर थे जिनमें यह विचार किया गया कि 'महाकाव्यको ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूप मानते हुए और शैलीका मूल लक्षण एकता मानते हुए भी वीरताके काव्यों ( शिवलरस पोएम्स ) को कौन-सा स्थान दिया जाय तथा तासोने प्राचीन महाकाव्य ( ईपिक ) की जो पूर्णता प्राप्त कर ली थी वह किस अंशतक थी।'

इन शास्त्रार्थकारियोंमें गिराल्दी सिन्थियो ( १५०४ से ७३ ) ने स्वैरवादी कविता ( रोमांस ) का पक्ष लिया और मिन्तुर्नो ( १५५९ ) ने उदात्तवादका।

इस संघर्षमें दो बातें स्पष्ट हो गईं — १. कला-कृतिकी एकताका सिद्धान्त अधिक दृढ़ होकर जम गया। २. यह निश्चय हुआ कि जो ऐसे नये काव्य-रूप और प्रकार विकसित हुए हैं जो पहले नहीं थे उनके लिये यदि नये सिद्धान्त न बनाए जायँ तो कमसे कम पुरानोंमें ही सुधार कर लिया जाय।

इस जागरण-पर्वमें कौमीदिया देलार्त्ते तथा अन्य स्वतःसम्भूत रूप साहित्यिक समीक्षापर बिना एक रेखा छोड़े ही निकल जाने दिए गए। यद्यपि लोगोंकी रुचि स्वैरवाद (गोथिक) की ओर थी किन्तु दाँतेको समझने और रस लेनेकी सम्भावना भी बढ़ रही थी। वार्चीने उसे होमरसे भी बड़ा बताया और मेज़ोर्नीने उसकी जी खोलकर प्रशंसा की। गेरूसलेमेपर जो विवाद उठ खड़ा हुआ उसमें या तो तासोको होमर, अरियोस्तो और वर्जिलसे भी बड़ा बताया गया या निर्ममताके साथ उसकी कटु समीक्षा की गई।

साहित्यिक समीक्षामें सबसे महत्त्वपूर्ण घटना अरस्तूके काव्यशास्त्रकी खोज थी। यह छोटी-सी पुस्तिका जो प्राचीन कालमें बहुत प्रसिद्ध नहीं हो पाई थी, वह सन् १४९८ में गियोर्गिओ वालाके लातिन रूपमें प्रकट हुई और उसके पश्चात् यूनानी आदि भाषाओंमें ठीक उस समय उसका एक संस्करण निकला जब कि अरस्तूका दार्शनिक प्रमाण अमान्य हो रहा था और मानवतावादी रामुसने पैरिस विश्वविद्यालयमें उस प्रबन्धका समर्थन किया जिसमें कहा गया था कि अरस्तूके सब मत दोष-पूर्ण हैं। इसी बीच विन्चेन्ट मागी (१५५०) ने 'रेचन' (कथार्सिस) के सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए कहा कि 'त्रासदके द्वारा मानवके आत्माको केवल करुणा (पिटी) और भय (टैवर) से उतनी मुक्ति नहीं मिलती जितनी भयानक तथा पापपूर्ण वासनाओंसे मिलती है। इसी समय (१५७१) कास्तेलवेत्रोने 'कविताका एकमात्र उद्देश्य साधारण जनताके मनको आनन्द देना और उनका विनोद करना' बताया यद्यपि 'काव्यमें सत्यतुल्यता'की आवश्यकता बताते हुए उसने तीनों एकत्वोंका भी महत्त्व माना।'

काव्यार्थ-विज्ञानके सम्बन्धमें विशेषतः अरस्तूके पाठपर अनेक ग्रन्थ लिखे गए जिनके विभिन्न पक्षोंके आधारपर वर्त्तमान साहित्यिक विचार-धाराओंका प्रादुर्भाव हुआ। अनुकरण (मिमैसिस) का सिद्धान्त तथा कलाकृतिकी एकताके सिद्धान्तसे पुनः सत्यका प्रतिपादन करने तथा काव्यके आवयविक रूपको सत्य रखनेकी भावना दृढ हो गई जो हौरेसकी 'आर्स

पोएतिका'के रूढिगत उदात्तवादका आधार था। त्रासद ( ट्रेजेडी ) को महा-काव्य ( ईपिक ) से श्रेष्ठ बतानेकी नई भावनाने महाकाव्यको झकझोर डाला और रङ्गशालाका उद्धार करनेकी भावना बल पकड़ने लगी। यह भावना पूरे स्वैरवादी युगतक चलती रही। इसी समय भाव-रेचन ( कथार्सिस ) अर्थात् त्रासदीय दुरन्त ( कैटेस्ट्रोफ़ी ) दिखाकर भावोंकी शुद्धिके सिद्धान्तने कलाकी नैतिक, शैक्षणिक और सुधारक भावनाका समर्थन किया। अन्तमें अरस्तूके जिस सिद्धान्तके कारण काव्य और इतिहासको अलग माना गया था, काव्यको सार्वभौम और इतिहासको विशिष्ट बताया गया था तथा त्रासदके सब तत्त्वोंमें कथावस्तुको श्रेष्ठ बताया गया था, उससे एक नया सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जो रेचन ( कथार्सिस ) के सिद्धान्तकी भावनासे विपरीत था। उन लोगोंने कविताको नीति और सत्यके बन्धनसे मुक्त कर दिया जिसके अनुसार रिचोबोनोने यह सौन्दर्यवादी सिद्धान्त ग्रहण किया कि 'कविता केवल स्वप्न है इसलिये उसे जीवनके झमेलेसे अलिप्त रखना चाहिए।' इन लोगोंने ग्रामकाव्यका भी महत्त्व स्वीकार करके उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की और दाँतेके विरोधियोंका पक्ष ग्रहण किया। साथ ही इन्होंने नव्यतावाद ( सीसेन्टिज्मो ) का मार्ग खोलते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया कि 'कला और नैतिकता दोनों दो भिन्न संसार हैं, जिनका घोटाला नहीं करना चाहिए। कविता तो अत्यन्त सुन्दर, भव्य झालर है।'

पुनर्जागरणकालमें कई परस्पर-विरोधी शक्तियाँ एक ही उद्देश्यकी ओर प्रवृत्त हो रही थीं। प्रोटेस्टेन्ट सुधारवादी लोग 'शोभा' और 'विश्वास'को ही अच्छी कृतियोंसे अधिक सम्मान दे रहे थे। इसी प्रकार विश्वासकी विवेकशीलतामें नियम और कौशलके पालनसे 'स्वत:प्रेरित प्रतिभा'को ऊँचा मान लिया गया था। कैथोलिक प्रतिसुधार भी इसी प्रकार कई रूपोंमें प्रभावशाली था। वह या तो छूत बनकर फैलनेके डरसे कलाको खिलौनों, कला-सामग्रियों, आभूषणोंके क्षेत्रतक परिमित रखना चाहता था या उसे धार्मिक और पवित्र वस्तुओंका एकमात्र व्याख्याता मानता था या फिर कलाको उस जीसुई वैभवके साथ चारों ओर फैलाता था जिसकी वैभवपूर्ण प्रवृत्तियाँ उदात्तवादी रुचिसे भिन्न थीं। इटली और फ़्रांसके प्रति प्रोटेस्टेण्टोंकी घृणाने तथा फ़्रांसीसी शासनके प्रति स्पेनियों, अँगरेजों और प्रशावालोंके विद्रोहने उदात्तवादके प्रासादपर अन्य आक्रमणोंके लिये भी मार्ग प्रशस्त कर

दिया। मध्यम श्रेणीकी जनता वेगसे बढ़ रही थी। पहली बार वर्त्तमान अर्थमें 'जनता' कहलानेवाली इस भीड़-भाड़की कलात्मक रुचिने राजसी आदर्शोंको ललकार दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण जागरणकालमें स्वैरवादसे एक ऐसा मिश्रण प्रस्तुत हुआ जिसमें अनेक नियमों और संयमोंके होते हुए भी स्वैरवादी युगका आगमन स्पष्ट हो गया।

## पुनर्जागरणके पश्चात्

सत्रहवीं शताब्दिमें इटलीकी गति ह्रासोन्मुख ही थी। कवितामें इन दिनों नव्यतावाद ( मारिनिज्म ) की धूम थी। समीक्षाका कोई प्रभाव नहीं रह गया था। नई प्रवृत्तियोंकी खोजसे प्राचीनोंके प्रति आदरकी भावना कम हो गई और समीक्षा-सिद्धान्तमें एक नया युग ही प्रारम्भ हो गया।

इस युगका सबसे बड़ा समीक्षात्मक ग्रन्थ है 'रग्गुआग्ली डी पारनासो' जिसके लेखक हैं त्रैयानो बोकालिनी ( १६१२ )। उसने पण्डितम्मन्यता, काव्य-चौर्य आदि तत्कालीन दोषोंपर सम्वादके रूपमें बड़ा सुन्दर व्यंग किया है। इस शैलीका इतना अनुकरण किया गया कि साहित्य तथा राजनीतिमें समीक्षाके लिये यही पद्धति ठीक समझी गई। इसकी शैली अत्यन्त सजीव तथा समीक्षा अत्यन्त कौशलपूर्ण तो थी किन्तु दिखावटी बहुत थी। तासो आदि अन्य लेखकोंने अधिक मौलिकता प्रदर्शित की थी। उस शताब्दिके सर्वश्रेष्ठ गद्य-लेखक गैलीलियो गैलीलाइने साहित्यिक विवेचनमें वही प्रतिभा प्रदर्शित की जो उसकी वैज्ञानिक कृतियोंमें प्राप्त है।

तत्कालीन काव्यमें प्रविष्ट कुरुचिको दूर करनेके लिये सन् १६९० में आरकेडियन एकेडमीकी स्थापना हुई। उसके इतिहासकार क्रैसिम्बेनी और नीतिचालक जी० वी० ग्राविनाके समीक्षात्मक ग्रन्थोंमें कुछ तो तत्कालीन कार्टीजियन विवेकवादकी प्रतिक्रिया थी और कुछ वीचो आदि भावी लेखकोंके विचारोंकी पूर्वध्वनि थी।

अठारहवीं शताब्दिके पूर्वार्धपर मुरातोरी और वीचोका शासन था। मुरातोरीने प्राचीन लेखोंके अध्ययनके आधारपर वर्त्तमान ऐतिहासिक प्रणाली चलाई। उसने मध्यकालके लेखोंको प्रकाशित करके और उनकी व्याख्या करके राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की। वीचोने इतिहासका दर्शन और सौन्दर्यवादका

वर्त्तमान विज्ञान प्रारम्भ किया। मानवतावादी परिपाटीका अनुयायी होनेके कारण उसका मत था कि 'इतिहास आदिम कालसे मानवीय क्रियाका विकास है और यह विकास महाकाव्यको स्वतः जन्म देनेवाले युगसे लेकर वर्त्तमान सभ्यतातक हुआ है। अन्तःप्रेरणासे मानव-मस्तिष्ककी उपज ही काव्य है। सौन्दर्यात्मक परिज्ञान ही ज्ञानका मौलिक रूप है जो तर्कशास्त्र और प्रकृति-विज्ञानसे भिन्न है।' इस प्रकार वीचोने साहित्यके अध्ययनमें प्रयुक्त होनेवाले वर्त्तमान आदर्शवादको पहलेसे समझ लिया था, किन्तु वह अपने युगकी भावनासे इतना आगे बढ़ गया था कि उसकी प्रणाली इटलीमें तबतक नहीं समझी गई जबतक दी सांक्तिसने उसे भली-भाँति अपना नहीं लिया।

अठारहवीं शताब्दिके उत्तरार्धमें साहित्यिक उत्पादनका स्पष्ट विस्तार हुआ। यद्यपि उस समय भी समीक्षाका विकास तो हुआ किन्तु उसमें विवाद भी बहुत हुए। वह विवाद दार्शनिक होनेके बदले समाचारपत्रके ढङ्गका अधिक था। गुइसेप्पे बारेत्तीने इंग्लैन्ड और इटलीके बीच साहित्यके प्रवाहमें बड़ी सहायता दी। उसने अपनी समीक्षामें केवल क्षुद्र लेखकोंकी ही आलोचना नहीं की वरन् दाँते और गोल्डोनीको भी फटकारा और वौल्तेयाके आक्षेपोंसे शेक्सपियरकी रक्षा की। उसके अतिरिक्त और भी लेखकोंने दाँतेपर आक्षेप किए थे। दार्शनिकके बदले कविके रूपमें दाँतेकी समीक्षा वीचोने ही प्रारम्भ की जिसने अपने समयके अन्य समीक्षकोंकी भाँति पिछली शताब्दिके देवता बने हुए पैत्रार्क और तासोके बदले दाँते और अरियोस्तोको महान् सिद्ध किया।

सन् १८१६ में मदाम् दी स्तेलके उस लेखसे स्वैरवादी विवाद प्रारम्भ हुआ जिसमें उन्होंने विदेशी साहित्य पढ़नेकी प्रेरणा दी थी। उसी वर्ष गियोवानी बर्चेटने उदात्तवादियोंपर व्यंग्यात्मक आक्षेप करते हुए स्वैरवादी आन्दोलनका घोषणापत्र प्रकाशित किया। प्रतिक्रियावादियोंका विरोध करनेको 'इलकन्सीलियेतोर (१८१८) नामका स्वैरवादियोंका मुखपत्र भी चला। कुछ लेखकोंने यह भी कहा कि 'उदात्तवादी नियम बनाए रखनेका तात्पर्य यह है कि हम इतालवी कविताकी हत्या करना चाहते हैं।' इस आन्दोलनका नेतृत्व किया अलेसान्द्रो मान्डोनीने, जिसने (१८२०–२२ में) दो पूर्णतः स्वैरवादी त्रासद लिखे। १८२३ में उसने एक पत्र लिखा जिसमें उसने एकत्वोंके

नियमोंकी उपेक्षा करनेवाली अपनी प्रणालीका समर्थन किया। अपने साहित्यिक सिद्धान्तोंपर वक्तव्य देते हुए उसने कहा—'कविता और साहित्यका अपना उद्देश्य, अपनी उपयोगिता होनी चाहिए, जिसके विषय सत्य हों और साधन रुचिकर हों।' उसका विश्वास था कि 'लेखकके नियम न स्वच्छन्द हों न रूढ, वरन् लेखकके व्यक्तिगत नियमके अनुसार बनाए जायँ।' उसने अपने ऐतिहासिक उपन्यासमें इन सिद्धान्तोंका पूरा उपयोग किया था। राजनीतिक एकतामें अधिकांश लेखकोंकी शक्ति लग गई थी। इसी समय इंग्लैंडसे निर्वासित ऊ० गो० फौस्कौलोने दान्ते, पेत्रार्क, बोकेशियो तथा गुइसेप्पे मेज़िनीपर अत्यन्त सुन्दर लेख लिखे।

उन्नीसवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें सबसे प्रमुख साहित्य-समीक्षक फ्रान्सेस्कोद सांक्तिस था जिसने भावात्मक सिद्धान्तोंको अमान्य करते हुए कहा कि 'ये नियम सुरुचिका स्थान नहीं ले सकते।' स्वैरवादी सम्प्रदायने जो अपनेको उदात्तवादी नियमोंसे मुक्त कर दिया था उससे उसे बड़ा लाभ भी हुआ। कुछ समयतक तो वह हेगेलके दर्शनसे प्रभावित रहा किन्तु उसे सबसे अधिक प्रभावित किया वीचोने। उसने वीचोके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है वह उसपर भी उतना ही लागू होता है। उसने कहा कि 'किसी भी कृतिकी सच्ची समीक्षा उसके प्रभावसे प्रारम्भ होनी चाहिए। इसके पश्चात् लेखकके व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियोंकी दृष्टिसे उस प्रभावका विश्लेषण होना चाहिए। इसके पश्चात् निर्णयात्मक संश्लेषण या प्रतिबिम्बित रचना (रिफ़्लैक्टेड्क्रिएशन) करना चाहिए।' उसने कहा है कि 'समीक्षकको इतिहास और भाषाका अध्ययन भली-भाँति कर लेना चाहिए क्योंकि उसकी कसौटी रूप (फ़ौर्म) है, सामग्री (मैटर) नहीं।' उसका मत है कि 'कला तो विज्ञान और नीतिके बन्धनसे मुक्त है।' किन्तु साथ-साथ वह यह भी मानता है कि 'किसी कृतिका रूप उसकी सामग्रीपर ही अवलम्बित होता है।' यूनानी और लातिन उदात्त काव्योंपर कम ध्यान देकर उसने दाँतेसे लेकर उसके सहयोगियोंतकके द्वारा व्यक्त इटलीके इतिहासपर अधिक ध्यान दिया। यद्यपि उसे बहुतसे लोग बहुत भावात्मक कहते हैं किन्तु फिर भी उसके निर्णय प्रायः मान्य किए जाते हैं।

उत्तरीय इटलीमें एक और भी प्रमुख समीक्षक गियोसुए कारदुच्ची उदय हो रहा था जो उस युगका प्रधान कवि भी था। वह मौलिक विचारक नहीं था इसलिये उसमें द सांक्तिसकी सौन्दर्यवादी दार्शनिकता तो नहीं थी किन्तु

काव्य-कौशल, ज्ञान और विद्वत्ता अवश्य थी। उन दोनों व्यक्तियोंने अपनी समीक्षाओंमें भिन्न किन्तु परस्पर पूरक प्रवृत्तियाँ दिखाई हैं। कारदुच्ची इस युगका सबसे बड़ा प्रतिनिधि है। उसके उदात्तवाद और पाण्डित्यको स्वैरवादकी प्रतिक्रिया समझनी चाहिए।

नाटक और उपन्यासके जिस विकासने यथार्थवादका रूप धारण किया उसने ही साहित्यके अध्ययनमें समीक्षाकी ऐतिहासिक ( पौज़िटिविस्ट ) प्रणाली ग्रहण की जिसमें तथ्योंकी खोज और रूपात्मक सम्बन्धपर अधिक विचार होता था, सौन्दर्यात्मक मूल्याङ्कनपर कम। कारदुच्चीकी समीक्षा-प्रणाली ऐतिहासिक थी। उसके निर्णयका आधार था प्रमाणोंका अध्ययन और सुरुचिका परिज्ञान। उसे राष्ट्रीय आदर्शोंके विकासमें अधिक रुचि थी। यद्यपि उसने कोई नियमित इतिहास नहीं लिखा किन्तु उसके निबन्धोंमें इतालवी साहित्यके प्रत्येक युगके कविकी सूक्ष्म दृष्टि और विद्वत्तापूर्ण तथ्य-निवेशसे युक्त वर्णन भरा हुआ है। वह साहित्यिक इतिहासके उस अध्येता-मण्डलका नेता था जो समीक्षककी अपेक्षा विद्वान् अधिक थे, फिर भी उनकी कृतियोंमें अत्यन्त उच्च श्रेणीकी साहित्यिक समीक्षा पाई जाती है।

इस शताब्दिके बीतते-बीतते प्रत्यक्षवादी ( पौज़िटिविस्ट ) और यथार्थवादी प्रणालीसे भिन्न एक आन्दोलन चला जिसमें सौन्दर्यात्मक समीक्षणको प्रधानता दी जाने लगी। यह परिवर्त्तित प्रवृत्ति उन भाषा-वैज्ञानिक प्रणालियोंकी प्रतिक्रिया थी जिन्हें कुछ लोग जर्मन बताते हैं। यह प्रवृत्ति अधिकांश बैनेदेत्तो क्रोचे और उसके अनुयायियों-द्वारा प्रभावित थी। समीक्षकके रूपमें क्रोचेने भी वीचो, हेगेल और द सांक्तिसकी परिपाटी ही ग्रहण की किन्तु उसने कारदुच्चीके समान ऐतिहासिक लेखों और प्रमाणोंका भी अध्ययन किया। उसका कहना है कि 'साहित्यिक कृतियोंकी परीक्षा पाठकपर पड़नेवाले प्रभावके आधारपर करनी चाहिए जो अपनी रचनात्मक समीक्षासे लेखकके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।' क्रोचेने, काव्यात्मक ( पोएज़िया ) और अकाव्यात्मक ( नौन पोएज़िया ) का अन्तर भी बताया। सन् १८९४ से क्रोचेने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षा-सामग्री प्रकाशित की। उसने समीक्ष्यवादीको पुस्तक-समीक्षकसे भिन्न बताते हुए कहा कि 'समीक्ष्यवादी तो दार्शनिक होता है और वह अन्तःप्रेरणा तथा दैवी शक्तिको अधिक महत्त्व देता है। वह नैतिक परिणामपर भी ध्यान देता है किन्तु

इस प्रकारके विचारोंको वह अपने सौन्दर्यवादी निर्णयोंसे भिन्न रखना चाहता है।' क्रोचेने लोक-काव्यपर और इटली तथा बाहरके अन्य पुराने कवियोंपर बहुत-कुछ लिखा है।

सटीकतावादी या प्रत्यक्षवादी ( पौज़िटिविस्ट ) और आदर्शवादियोंके सम्बन्धमें जो शास्त्रार्थ आजकल हुए हैं उनसे बड़ी महत्त्वपूर्ण जागर्त्ति हुई है। योग्य समीक्षकोंने एक रचनात्मक और दार्शनिक आन्दोलन चलाया जिसने पण्डितम्मन्यता और वैज्ञानिक सटीकतावाद ( पौजिटिविज़्म ) का यह कहकर विरोध किया कि 'इससे विचार जड़ हो जाते हैं।' इस दलका कहना है कि 'साहित्य और शिक्षाका पुनः विकास होना चाहिए जिसमें बुद्धिकी अपेक्षा अन्त:प्रेरणापर अधिक बल दिया जाय क्योंकि क्रोचेके मतानुसार 'इतिहास केवल अन्वेषणीय अतीत घटनाओंका सङ्ग्रहमात्र नहीं है वरन् वर्त्तमानकी चेतनामें अतीतको पुनः जीवित करना ही इतिहास है।' किन्तु शुद्ध प्रभाववाद ( इम्प्रेशनिज़्म ) पर अवलम्बित और बुद्धिवाद ( रैशनलिज़्म ) के विपरीत जो इस प्रकारका सौन्दर्यवाद था उससे यह भय अवश्य बना हुआ था कि कहीं समीक्षा कृत्रिम और अबुद्धि-सङ्गत न हो जाय। इनके पीछे और भी अनेक समीक्षक आए जिनमें सबसे अधिक प्रमुख था आदर्शवादी सम्प्रदायका समीक्षक जी० ए० बोर्गीज, जिसने उपन्यास और नाटक भी लिखे और जिसने अन्त:प्रेरणाको प्रधान मानते हुए मनोविज्ञान, इतिहास और रूढिका भी प्रयोग किया। इधर थोड़े दिनोंसे इटलीकी समीक्षा-पद्धति कुछ राजनीतिसे प्रभावित हो रही है किन्तु फिर भी कुछ विद्वान् उससे बचे खड़े हैं।

# फ्रान्सीसी समीक्षा-पद्धति

पुनर्जागरणकाल ( मध्यकालसे सोलहवीं शताब्दितक ) में फ्रांसीसी साहित्यिक सिद्धान्तवादियोंने दो स्पष्ट परिपाटियाँ ग्रहण की थीं—१. भाषण-शास्त्रीय, जो रोमके भाषण-शास्त्रियों और हौरेससे प्रारम्भ हुई थी, जिसमें पद्य-शैलीके अलङ्करण और व्यक्तियोंके मर्यादानुसार सम्बोधनपर विचार किया जाता था। २. छन्दःशास्त्रीय, जिसमें छन्द और लयके विभिन्न नियमोंका विवरण होता था। किन्तु इसी समय ईसाई पादरियोंके प्रभावसे उन लोगोंमें यह भी भावना आ गई कि साहित्य या तो पापपूर्ण होता है या मिथ्या होता है। इसलिये उन्होंने कहा कि 'साहित्यको नीतियुक्त करके ही प्रचारित करना चाहिए।' ये सब परिपाटियाँ और सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे उस पुनर्जागरणके युगके लिये अपर्याप्त थे जो काव्यके सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट हो रहा था और प्राचीन उदात्त काव्योंकी खोज कर रहा था। इसलिये सिद्धान्तवादियोंके सम्मुख पाँच समस्याएँ उठ खड़ी हुईं—१. विरोधियोंसे काव्यका रक्षण या काव्यका समर्थन, २. काव्यकी प्रकृति और उसके तत्त्वकी खोज, ३. विभिन्न प्रकारके साहित्यिक रूपोंके उद्देश्यों, विषयों और साधनोंका भेद-निर्णय, ४. 'किस प्रकारकी भाषाका प्रयोग करना चाहिए' इसका निर्णय और ५. इन सब बातोंपर प्राचीन विद्वानोंके वक्तव्योंका अर्थ।

सोलहवीं शताब्दिके प्रारम्भिक वर्षोंमें नीतिके आधारपर ही कविताका परीक्षण किया जाता था। किन्तु उसी शताब्दिके मध्यसे काव्य-परीक्षणके नये आधार भी प्रारम्भ हुए जिनमें प्रायः बोकेशियोके 'जीनिआलौजिया देकोरम' के ही सिद्धान्त थे। सेविएने अपने 'आर पोइत्तिक फ्रांसे' (१५४८) में यह कहकर कविताका समर्थन किया कि 'उसमें दैवी गुण है, प्राचीनता है, धार्मिक कृतियोंके लिये उसका प्रयोग किया जा चुका है और उसके रचयिताओंका

व्यापक आदर हुआ है।' जाक पेल्चिए ज्यू मॉसने अपने 'आर पोइत्चिक' (१५५५) में यह बताया कि 'कविता मानव-मात्रको सभ्य करती है, नीति-विद्या सिखाती है, पात्रता प्रदान करती है और बड़े-बड़े सम्राटोंने उसके अनुसार आचरण किया है।' तबसे कविताके समर्थनमें प्रायः ये ही तर्क दिए जाने लगे, किन्तु तब भी नीतिवादवाली यह बात बनी ही रही कि 'त्रासदसे राजाओंको यह शिक्षा मिलती है कि राज्यशासन कैसे करना चाहिए और मनुष्योंको यह शिक्षा मिलती है कि अपने भावोंका कैसे संयम करना चाहिए।' इसी आधारपर जी० ग्रेवेंने अरस्तूके भाव-रेचन (कथार्सिस) का अर्थ यह लगाया कि 'त्रासदसे दर्शकोंके मनके दुष्ट विकार दूर हो जाते हैं और प्रहसन भी दोष या दुर्गुणको हँसीका विषय बनाता है और मनुष्यको आचरणकी शिक्षा देता है।'

सोलहवीं शताब्दिमें कविता भी एक प्रकारकी भाषण-कला समझी जाती थी इसलिये उस समय कविताके साथ कविके चरित्र और जनताकी आवश्यकतापर भी विचार किया जाता था यद्यपि विभिन्न लेखकोंने अग्राङ्कित तीनमेंसे भिन्न-भिन्न तत्त्वोंपर बल दिया—१. ज्यू बेलेने 'देफाँस ए इलुसत्रासियों दे ला लाँगे फ्रान्सेज़' (१५४९) में कहा था कि 'कविता और भाषण-कलामें इतना ही भेद है कि कवितामें पद्यका प्रयोग होता है।' २. पेल्चिए, ग़ोँसाने कहा कि 'विश्वसनीयतापूर्ण तथा कलात्मक भावोंका प्रयोग कवितामें अधिक होता है, वास्तविक और सत्य (व्रो) का बहुत कम।' ३. 'इस बातमें भी कविता भिन्न है कि कविसे दैवी अनुप्राणनकी आशा की जाती है। इन बातोंके अतिरिक्त शेष सब दृष्टियोंसे कवि और वक्ता दोनों ही प्रकृति और कलाकी उपज हैं।' बहुत दिनोंतक इस विषयमें अर्थात् इन दोनोंके तुलनात्मक महत्त्वके सम्बन्धमें बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। फिर भी ग़ोँसाने कहा कि 'वक्ताके समान ही कविमें भी तीन मुख्य शक्तियाँ होनी चाहिएँ—१. अन्वेषण (इन्वेन्शन), २. वृत्ति (डिस्पोज़िशन) और ३. भाषणशक्ति (इलोक्यूशन)। इनके साथ ही कविमें विद्वत्ता और नैतिक चरित्र भी होना चाहिए। पाठकके सम्बन्धमें भी कहा गया कि 'वह तो ऐसा चुना हुआ समूह है जो प्राचीनोंके ग्रन्थों, शीलके नियमों और रूढ आदर्शोंसे परिचित है और आनन्द देनेवाले रूपोंसे अपना नैतिक सुधार करनेके लिये सक्षम है। जिस साधनसे पाठकोंपर यह

प्रभाव डाला जा सकता है वह स्वयं कविता ही है।' प्लेटो और अरस्तूके सिद्धान्तोंकी जो व्याख्या इतालवी और स्कालिगेर जैसे मानवतावादियोंने की उसके अनुसार कविताकी यह परिभाषा की गई कि 'पद्यमें प्रकृतिका अनुकरण ही कविता है।' पाठकोंकी दृष्टिसे इन दोनों शब्दोंमें नये-नये अर्थ आ गए। यदि पाठक लाभान्वित होना ही चाहते हैं तो उन्हें कविताकी सत्यतामें विश्वास होना चाहिए अर्थात् कविताका प्रकृतिसे समत्व होना चाहिए। अनुकरण की जानेवाली प्रकृतिके भीतर ही कल्पित (दैवी या भौतिक), सजीव या निर्जीव सब विचार और रूप भी मान लिए गए थे किन्तु मूलतः उसमें कार्यों (व्यापारों) और मानवीय चरित्रोंका वर्णन होता था। यह स्पष्ट है कि इस 'प्रकृति'का अर्थ प्रत्यक्ष सृष्टि न होकर 'प्राचीनोंका लेख' था अर्थात् 'प्राचीन लेखकोंके लेखोंका अनुकरण' ही 'प्रकृतिका अनुकरण' माना गया था। इस सिद्धान्तके अनुसार पुनर्जागरणकालमें 'अनुकरण'का अर्थ हुआ 'प्रतिकृति उपस्थित करना'।

पुनर्जागरणकालके सिद्धान्तवादियोंने प्राचीनोंकी परिपाटीसे साहित्यिक वर्गीकरणका एक अत्यन्त विवेक-सङ्गत किन्तु जटिल सिद्धान्त निकाला। विषय, शैली, पद्यरूप, विशेषता या प्रभाव, प्राचीनताका अनुकरण तथा अपनी विशेष नीति या नियमके अनुसार प्रत्येक काव्य-रूप अलग कर दिया गया। इनमेंसे सबसे प्रारम्भमें भेद किए सेविएने, जो सोलहवीं शताब्दिके अन्ततक माने जाते रहे। किन्तु जहाँतक उद्देश्य या भावके शेष सिद्धान्तका सम्बन्ध था वह हौरेसके 'आर पोएचिका'से लिया गया था। इन सब भेदोंमें महाकाव्य सबसे महान् समझा जाता था क्योंकि वर्जिलके प्रति सबकी बड़ी श्रद्धा थी। नाटकीय रूपोंमें त्रासद और प्रहसनका तथा गेय रूपोंमें ओड और सौनेटका अधिक आदर था। काव्य-सिद्धान्तकी दृष्टिसे ये लोग भाषाके प्रश्नको गौण समझते थे।

सोलहवीं शताब्दिके तीसरे चरणमें अरस्तूका काव्यशास्त्र अधिक लोकप्रिय तो हुआ किन्तु उसके समझनेवाले सम्भवतः बहुत कम थे क्योंकि पुनर्जागरणकालके जितने लेख इस विषयपर लिखे गए उनकी रीति और उनके सिद्धान्त दोनों अरस्तूवादी नहीं थे। उस समय जितने भी ग्रन्थ लिखे गए उनमें कवितापर अन्य अनेक दृष्टियोंसे विचार तो किया गया किन्तु

उसका उस प्रकारसे अलग विशेष विवेचन नहीं हुआ, जैसा व्याकरण छन्द, इतिहास, प्रकृति, प्राचीन आदर्शग्रन्थ और भाषण-शास्त्रका हुआ। इन प्रवृत्तियोंका कारण यह प्रतीत होता है कि प्लेटोवाद या तर्कवाद-प्रणाली बढ़ रही थी और हौरेस तथा भाषणशास्त्रियोंका विशेषतः सिसरो और क्विन्तीलियनका प्रभाव भी बढ़ ही रहा था।

## सत्रहवीं शताब्दि

पुनर्जागरणकालके समीक्षात्मक लेखोंमें किन्हीं विशेष कृतियोंपर विचार न करके साहित्यिक सौन्दर्यवादकी भावात्मक समस्याओंपर ही दार्शनिक विचार-विमर्श किया गया। मुख्यतः मिथ्या-अरस्तूवादी ( जूडोएरिस्टोटीलियन ) दृष्टिसे उसमें यह बताया गया कि उनके अनुसार आगे कैसी साहित्यिक रचनाएँ होंगी और किस प्रकार वे अत्यन्त बुद्धिमान् पाठकोंकी आवश्यकता पूर्ण कर सकेंगी। सत्रहवीं शताब्दिमें यह जागरणकालकी सिद्धान्त-निरूपणकी परिपाटी अधिक सचेष्ट हो गई जिसमें अलग लेखकों और कृतियोंपर भी समीक्षा की गई थी। इस प्रकार समीक्षा भी व्यापक सिद्धान्त ( ला दुग्तग्रिन क्लासिक ), विशिष्ट प्रकारोंपर विवाद, किसी एक विशेष ग्रन्थपर प्रयुक्त सिद्धान्तोंपर वाद-विवाद और सब प्रकारके शुद्ध-शास्त्रीय नियम आदिकी खिचड़ी बन गई। इन सब प्रकारोंमें ऐसी जटिलताएँ आ गईं कि सत्रहवीं शताब्दिसे साहित्यकी परिभाषा यह बनी कि 'प्रकृति और विवेक दोनोंका सम्मिलित परिणाम ही साहित्य है।' मालेअब, ब्वालो आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंने समीक्षाके क्षेत्रमें बड़ी प्रसिद्धि पाई और उन्हींको समीक्षा-प्रणालियों और सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणका श्रेय दिया गया।

## उदात्तवादी सिद्धान्त ( क्लासिकल डौक्ट्रिन )

सत्रहवीं शताब्दिका प्रथम समीक्षात्मक लेख प्लेयादके 'देफ़ाँस' के समान कोई व्यवस्थित तर्कपूर्ण निर्णय नहीं था वरन् मालेअब-द्वारा रचित कवि देपोर्तकी रचनाओंपर संक्षिप्त पाद-टिप्पणियाँ थीं। व्यावहारिक समीक्षाकी दृष्टिसे इस टिप्पणीको 'असङ्गत, बालकी खाल खींचनेवाली, ईर्ष्यापूर्ण और कविके गुण-परीक्षणसे कोसों दूर' बताया गया। फिर भी व्यवहारमें उसके मूलभूत सिद्धान्त स्वीकृत किए गए, यद्यपि कुछ लोग उसके विरोधी भी थे जैसे गैगनिए, तेवफिल दे वियो। अत्यन्त विवेकवादी

मालेअबके सामान्य बुद्धिगत समीक्षात्मक प्रयोगने भावुकतापूर्ण और काल्पनिक समीक्षा-पद्धतिको निकाल बाहर किया और रचनाका दृढ ग्रथन, सङ्गति, गम्भीरता, स्पष्टता, वाक्योंकी शुद्धता, शब्द-प्रयोगकी सुविचारिता तथा सन्तुलित शब्दोंके प्रयोगको ही प्रधानता दी। मालेअबके इस प्रयोगने पीछेके व्याकरणपर तथा काव्य-शब्दावलीके चुनावपर जो प्रभाव डाला उससे भी अधिक उसने काव्य या साहित्यकी कल्पनात्मक स्वैरता और पाण्डित्यवादी भावुकतावादकी पुनर्जागरणकालकी परिपाटीको दूर करके एक मौलिक बुद्धिसङ्गतता या विवेकवादकी ओर प्रवृत्त किया जिसने स्वयं अपने ऊपर आरोपित कठोर बन्धनोंका प्राचीन कवच पहन भी रक्खा था। वर्त्तमान समीक्षात्मक दृष्टिसे भी मालेअबकी कृति फ्रान्सीसी काव्यकी महाशृङ्खलामें सुयोजित समझी जाती है किन्तु अपने समकालीन लोगोंके लिये तो वह नये साहित्यिक युगका आदेष्टा और व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षाका प्रवर्तक माना जाता है।

आदर्शकी दृष्टिसे भी उदात्तवादी सिद्धान्तोंके सब नियम विदेशों ( स्पेनके सिद्धान्तवादियों तथा इटलीके विचारक, वीदा, स्कालिगेर और कास्तेलवेत्रो ) और स्वदेशसे ( विशेषतः पुनर्जागरणकालके अरस्तूवादसे ) आए थे। इन सिद्धान्तोंके मुख्य पाँच आधार थे—१. कलाके उद्देश्य ( विशेषतः उपयोगितावादी और नैतिक ), २. प्रकृतिके अनुकरणके रूपमें कला, किन्तु चुना हुआ आदर्श अनुकरण, जिसे सत्य यथार्थवाद नहीं कह सकते, ३. कवि और उसके साहित्य-रूपकी प्रकृति, ४. नियमों और प्राचीन आदर्शोंके अनुकरणकी आवश्यकता, और ५. कलाकी परीक्षाके लिये विवेकका प्रयोग।

## सत्यतुल्यता या विश्वसनीयता

इस सिद्धान्तका आधार भी सत्यतुल्यता ( व्रोसॉब्लांश ) है। यद्यपि किसी कलाकृतिकी रचनामें विश्वसनीयताकी बात छोड़कर प्रायः जीवन और कलाके सामञ्जस्यका सिद्धान्त ही मान लिया गया किन्तु घटनाओंकी योजना और व्यापारके एकत्वके सिद्धान्तमें वह सत्यतुल्यता फिर आ धमकी जिसका अर्थ हुआ कि 'उसका अन्तस् विश्वसनीय होना चाहिए।' इस सिद्धान्तसे बहुतसे नियम बनाए गए, जैसे—नाटकमें इतिहासकी घटनाओंको सत्यतुल्य बनानेके लिये बदल लेना चाहिए किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध

घटनाओंको नहीं बदलना चाहिए। यह सत्यतुल्यताकी कसौटी बहुत दिनों-तक दर्शकों या पाठकों और समीक्षकोंकी विचार-शिला बनी रही, यहाँतक कि स्वयं कलाकार भी अपनी कृतिकी रचना करते समय अपनेको दर्शकोंकी श्रेणीमें रखकर उस सत्यतुल्यताका परीक्षण कर लेते थे।

### युग-सङ्गति ( बिएसेआँस )

इस सत्यतुल्यतासे मिला हुआ एक सिद्धान्त 'बिएसेआँस' ( बाह्य और आन्तरिक सङ्गति ) भी बना जिसका तात्पर्य था कि 'जिस युगके सम्बन्धमें नाटक लिखे जायँ उस युगके व्यक्तियोंके चरित्र, व्यापार, अभ्यास तथा रीतिके अनुसार पात्रोंका चरित्र-चित्रण हो अर्थात् सत्यतुल्यताके साथ समकालीन आचारकी वास्तविकता भी हो।

### अलौकिक प्रयोग ( मेअवेइय )

इसी सत्यतुल्यताके विरोधमें किन्तु एक दूसरे रूपसे उसीपर अवलम्बित 'मेअवेइय'का सिद्धान्त ( भूत, प्रेत आदि अलौकिक तत्त्वोंका मेल करना ) था जिसपर बहुत सैद्धान्तिक वाद-विवाद हुआ। इसके अन्तर्गत केवल देवताओंका हस्तक्षेप और यन्त्रोंका प्रयोग ही नहीं वरन् कथावस्तुका आकस्मिक परिवर्त्तन और कभी-कभी भाषाका विचित्र अलङ्करण भी आ जाता था। यह कहा गया कि 'इस प्रकारकी अलौकिकताका प्रयोग बिना किसी कारणके साधारण रूपसे होना चाहिए और देवताका भी हस्तक्षेप इस प्रकार पहलेसे व्यवस्थित हो कि जिससे सत्यतुल्यता व्यक्त हो।'

### एकत्वका प्रयोग

पुराने नाटकोंके जितने एकत्व हैं उन सबमें कथावस्तुकी गति एकाग्र करनेके लिये विशेषतः त्रासदमें विषम-स्थिति ( क्राइसिस ) के चारों ओर एकाग्रता बनाए रखनेके लिये व्यापारके एकत्वका अत्यन्त प्रयोग किया गया। समीक्षकों और नाटककारोंने कहा कि 'नाटकको तबतक नहीं प्रारम्भ करना चाहिए जबतक कि अन्तिम सम्भव कार्य ( व्यापार ) का क्षण न आ जाय। सब घटनाएँ विशेष नियमके अनुसार बनी हुई तो हों किन्तु पहलेसे दृष्ट न हों। अर्थात् सहसा किसी बातको प्रकट करना लोग तब भी वैसा ही बुरा समझते थे जैसा अब।' उनका कहना है कि 'जो भी कार्य किया जाय उसका कोई बुद्धि-सङ्गत कारण होना चाहिए अर्थात् वह विश्वसनीय होना चाहिए।

नाटककारका उद्देश्य यह होना चाहिए कि कार्य और कारणका सम्बन्ध धीरे-धीरे दर्शकोंके सम्मुख प्रकट होना चाहिए।' यहाँतक कि परहितके कार्य तथा स्वतन्त्र इच्छासे किए हुए उन सभी कार्योंको उन्होंने अमान्य कर दिया जो यश, कर्त्तव्य, प्रेम आदिके आधारपर बुद्धि-सङ्गत न बना दिए गए हों। इस सत्यतुल्यताके निर्वाहके लिये 'समय' और 'स्थान'का एकत्व जोड़ना ही फ्राँसीसी सनक बन गई जिसका प्रयोग वीरतापूर्ण उपन्यास और नाटक दोनोंमें किया जाने लगा। सत्रहवीं शताब्दिमें इन एकत्वोंके परिणामस्वरूप प्रभावका एकाग्रीकरण भी उपेक्षित कर दिया गया जिसकी वर्त्तमान समीक्षक बड़ी प्रशंसा करते हैं।

## साहित्य-रूपोंकी समीक्षा

१. सत्यतुल्यताके साधारण सिद्धान्तके अतिरिक्त त्रासदके एकत्वोंके नियमोंपर सबसे अधिक शास्त्रार्थ हुआ। समय (२४ घण्टे), स्थान और व्यापारके एकत्वोंका अनुगमन करनेका अभ्यास पीछे चलकर पक्का हो गया नाटककारोंने स्वयं इसे अपना सिद्धान्त बना लिया, उनपर समीक्षकों या विद्वानोंने लादा नहीं। किन्तु एक समीक्षकने तो यहाँतक कह दिया था कि 'ये एकत्व सत्यतुल्यताका निर्वाह करनेके बदले उसका खण्डन करते हैं।' ब्वालोने अरस्तू और हौरेसके समीक्षा-सिद्धान्तोंके उस मेलका समर्थन किया जो दोबियाक आदिने किया है। इस दृष्टिसे उसका 'आर पोइचिक' स्पष्ट और सुन्दर शब्दावलीसे युक्त होकर काव्यके सब प्रकारोंकी समीक्षात्मक परीक्षाके सिद्धान्तोंका अत्यन्त लोकप्रिय और उपादेय सारांश है। इसके अतिरिक्त बहुतसे नाटकोंकी भूमिकामें भी समीक्षात्मक लेख लिखे गए और नाटकके छोटे-मोटे समीक्षक भी हुए। सत्रहवीं शताब्दिके अन्तिम भागके अनेक पत्रोंमें भी बहुतसी नाटकीय समीक्षा लिखी गई किन्तु इनमेंसे अधिकांश अत्यन्त निम्न कोटिकी थी।

## त्रासात्मक सुखान्त (ट्रेजी-कौमेडी) नाटक

२. सत्रहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें त्रासद और सुखान्त नाटकको मिलाकर प्राचीनता-विरोधी लेखकोंकी तुष्टिके लिये त्रासात्मक सुखान्त नाटक लिखा गया जो प्राचीन नियम विशेषतः एकत्वके नियम नहीं मानते थे। उसकी विशेषता यही थी कि उसका अन्त सुखमय था, यद्यपि यह अन्त अनेक त्रासपूर्ण

सम्भावनाओंकी जटिलतासे उत्पन्न होता था। यद्यपि अनेक समीक्षकोंने इस नाट्य-प्रकारका विश्लेषण और समीक्षण तो किया किन्तु किसीने इसकी प्रशंसा नहीं की और त्रासदके समान इसकी कोई विशिष्ट शास्त्रीय परीक्षा भी नहीं हुई।

### ग्रामीण नाटक ( ड्रैमेटिक पेस्टोरल )

३. ग्रामीण नाट्य-शैलीका उद्भव इटलीमें हुआ था और पहले यह प्राचीनता-विरोधी समझा भी जाता था किन्तु धीरे-धीरे यह प्रहसनमें घुल-मिल गया और इसीलिये समीक्षकोंने इसपर विचार भी किया।

### प्रहसन ( कौमेडी )

४. केवल प्रहसनपर बहुत कम समीक्षकोंने विचार किया है किन्तु अधिकांश सिद्धान्तवादियोंने इस प्रकारकी रचनाके लिये नियम अवश्य बनाए हैं। कारनेईने प्रहसन और त्रासदके बीच व्यापारके प्रकारोंका अन्तर बताते हुए कहा कि 'प्रहसनोंके व्यापार कल्पनासे बनाए जाते हैं तथा त्रासदोंके ऐतिहासिक होते हैं।' उसने एक वीरता-पूर्ण प्रहसनकी भी कल्पना की जिसके आधारपर अठारहवीं शताब्दिमें 'द्रामे बुर्जुवा' लिखे गए।

मौलिएने कारनेईके साधारण सिद्धान्तसे सहमत होकर कहा था कि 'जनता जो आनन्द प्राप्त करती है वही प्रहसनका उद्देश्य है।' उसने कहा कि प्रहसनमें मनुष्यके दोषोंकी खिल्ली उड़ाकर ऐसा व्यापक विनोद उत्पन्न किया जा सकता है जो किसी एक व्यक्तिसे सम्बद्ध न हो वरन् जिससे यह प्रतीत हो कि ये हमारे अपने युगके दोष हैं।' बहुतसे समीक्षकोंने मौलिएपर यह दोष लगाया कि 'उसने षड्यन्त्रोंके प्रहसनोंकी उपेक्षा करके अत्यन्त जटिल चरित्र निर्माण किए हैं और बहुत-सी बातोंमें सत्यतुल्यता की उपेक्षा की है।' साधारणत: प्रहसनमें भी त्रासदके नियमोंका पालन किया जाता था किन्तु समीक्षक यह मानते थे कि 'उसमें निम्न कोटिके चरित्र तथा अनैतिहासिक विषय और सुखमय अन्त होना चाहिए।'

### काव्यरूप

५. सत्रहवीं शताब्दिमें पुनर्जागरणकालकी वीर-कविताके लिये जो अनादर उत्पन्न हुआ उससे और गौंसाके फ़ान्सिआदकी असफलतासे वह महाकाव्य भी अप्रचलित हो चला जिसकी प्रशंसा प्लेयादके समीक्षकोंने की थी। १६५० के

पश्चात् फ्रान्समें वह पुनः उत्पन्न हुई जिसके साथ समीक्षात्मक विवादों और शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आ गई। कुछ समीक्षकोंने महाकाव्यको त्रासदसे अच्छा बतलाया। कुछ समीक्षकोंने कहा कि 'नाटक या काव्यमें युद्ध न हो, प्रेमकी बातें हों, नायकमें नायकके अनुरूप ही दोष हों, चाहे वह नायक स्त्री ही क्यों न हो और उसमें ऐतिहासिकता हो।' इस बातपर भी विचार किया गया कि काव्यकी प्रस्तावना, आधार, वर्णन और उपसंहारमें या तो स्वाभाविकताको आधार बनाया जाय या ऐतिहासिकताको। बहुतसे समीक्षक चाहते थे कि 'काव्यका भी अन्त सुखमय हो और उसमें सत्यतुल्यताका वैसा ही पालन हो जैसा त्रासदमें।' बहुत दिनोंतक यह भी शास्त्रार्थ होता रहा कि 'ईसाई विषयोंको छेड़ा जाय या नहीं' किन्तु ब्वालोने यह कहकर उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया कि 'उसके धार्मिक विचार कलात्मक प्रभावके लिये अनुपादेय हैं।' सत्रहवीं शताब्दिमें प्रगीत-काव्यका बहुत प्रचलन हुआ। अनेक ग्राम-कविताएँ (ओड), शोक-काव्य आदि उस समय लिखे गए जिनकी चलती-सी चर्चा करते हुए समीक्षकोंने शोकगीतको ऊर्मीका रोदन बताया। इस प्रकार 'सूक्ति' (एपिग्राम) पर भी कुछ कह-सुन दिया गया। ब्वालोने अनेक प्रकारकी रचनाओंकी चर्चा करते हुए केवल व्यंग्य-काव्यकी चर्चा की। उस शताब्दिके अन्तमें पद्य और गीतकाव्यके सिद्धान्त इस स्तरतक उतर आए कि एक लोकप्रिय उपन्यासके पात्र कहते हैं कि 'काव्य और गद्यमें यही अन्तर है कि काव्यमें कुछ अधिक सजीव विचार रहते हैं।'

### गद्यरूप

६. उस समय उपन्यास गौण प्रकारका साहित्य समझा जाता था अतः उसके सम्बन्धमें भूमिकाओं, पत्रों और कुछ निबन्धोंमें चलतीसी विवेचना हुई थी। हुएतने उपन्यासके सम्बन्धमें बहुतसी निरर्थक बातोंकी चर्चा की। यद्यपि उपन्यास और गद्य-कथाको लोग निम्न कोटिकी समझते थे फिर भी उसका प्रचार और आदर बहुत था। कुछ लोग समझते थे कि 'उपन्यास भी महाकाव्यकी शाखा है', इसलिये वे महाकाव्यकी दृष्टिसे उसका परीक्षण करते थे और बड़े-बड़े महाकाव्योंसे उसकी तुलना करते हुए कहते थे कि 'दोनोंमें अन्तर यही होता है कि एक पद्यमें होता है और दूसरा गद्यमें।' एक

बार तो समीक्षक यहाँतक कहने लगे थे कि 'उपन्यासमें भी समयका एकत्व छोड़कर शेष दोनों एकत्वोंका पालन करना चाहिए और सत्यतुल्यता तथा युग-सङ्गतिके नियमोंका प्रयोग करना चाहिए।' कुछ लोग उपन्यासके लिये ऐतिहासिक विषय ही ठीक मानते थे और इस आधारपर सत्रहवीं शताब्दिके अन्तिम भागमें कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे भी गए जो आगे चलकर ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यासों और कथाओंके रूपमें प्रवर्त्तित हो गए। ऐतिहासिक उपन्यासोंके पक्षपातियोंका मत था कि 'इन उपन्यासोंमें ऐतिहासिक घटनाओंके आधारभूत उद्देश्योंका भी ज्ञान कराया जा सकता है।' सन् १६६० से ८० के बीचमें उपन्यासमें मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी प्रवृत्तिसे समीक्षाका नया क्षेत्र खुला। गद्य रूपोंकी कुछ समीक्षा भँड़ैती (बरलेस्क) और व्यंग्य-नाटक ( सैटायर ) के रूपमें भी चला और पत्र-पत्रिकाओंमें भी समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहीं।

## समीक्षात्मक विवाद : व्यक्तिगत समीक्षा

सत्रहवीं शताब्दिकी समीक्षा-प्रवृत्ति कुछ प्रसिद्ध साहित्यिक विवादोंमें बिम्बित हुई है जिनमें सबसे प्रधान है 'कारनेईका किड' ( १६३७ ), जिसमें यह कहा गया कि 'उसने नाटकीय एकत्वोंका तो अनादर किया ही है साथ ही सत्यतुल्यता और युग-सङ्गतिकी भी उपेक्षा की है।' कारनेईके साथियोंने यह कहकर इसका उत्तर दिया कि 'नाटकका उद्देश्य नियम साधना नहीं वरन् आनन्द देना है।' अन्तमें झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि समीक्षकोंने यह कह दिया कि 'कन्याके पिताके हत्यारेसे उस कन्याका विवाह दिखलानेकी अपेक्षा नाटक न लिखना ही ठीक है।' आगे चलकर लोगोंने यह सुझाव दिया कि 'कथावस्तुमें कोई ऐसी विधि जोड़ दी जाय जिससे मारा हुआ व्यक्ति चिमेनेका पिता ही न सिद्ध हो। इस प्रकार नियमकी रक्षा हो जायगी।' इससे ज्ञात होता है कि रचनाकी सामग्री और रूढ़िगत नीतिका तत्त्व समझनेकी बुद्धि उस युगमें नहीं थी। आगे चलकर मलहबकी प्रणालीकी चर्चा भी हुई और उसका विरोध भी। समीक्षाका रोग यहाँतक बढ़ा कि उन दिनों सभी अपनेको समीक्षक समझने लगे और तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओंमें समीक्षात्मक लेख लिखने लगे। सन् १६६० के पश्चात् कार्नेईने त्रासदपर तीन लेख लिखकर कहा कि 'अब मैं पहलेसे भी अधिक एकत्वों और नियमोंको मानने लगा हूँ।' उसने पूर्ण निष्पक्ष होकर स्वयं अपने नाटकोंकी समीक्षा की जिसमें उसने

अपनी प्रशंसा भी की, निन्दा भी की और विवरण, तुलना तथा आक्षेप भी किए। सरतोरियस और सोफोनिज़्बे नामके दो नाटकोंपर एक नया विवाद उठ खड़ा हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि नियमोंकी दूसरी विजय हुई और उनके समीक्षात्मक प्रयोगकी प्रणाली और कसकर बाँध दी गई। इनके अतिरिक्त और भी अनेक लोगोंने इन विषयोंपर विचार करके अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण समीक्षात्मक लेख लिखे, रेचन (कथार्सिस) का एक सिद्धान्त निश्चित किया और नृत्य-नाट्य (ऑपेरा) का विरोध किया। सत्रहवीं शताब्दिका सबसे अधिक लोकविदित लेखक ब्वालो हुआ जिसने सम्पूर्ण योरोपको प्रभावित किया था। उसने कोई नई बात नहीं कही; जो कुछ कहा वह हौरेसके सहारे कहा। उसने वीचोका ही समर्थन करते हुए माना कि 'साधारण बुद्धिगम्य भावों और विचारोंसे परेकी कोई वस्तु कवितामें न ली जाय।' उसने बुरे कवियोंपर जो आक्षेप किए वे थे तो ठीक किन्तु इससे उनके गुणोंकी उपेक्षा हुई। ब्वालोके 'सङ्कुचित बुद्धिके सिद्धान्त' की तुलनामें ला ब्रूएका सिद्धान्त था कि 'वही कृति अच्छी है जो मनको उदार बना दे।' इसके अतिरिक्त और बहुतसे लोगोंने ब्वालोके पश्चात् समीक्षाके बहुतसे ग्रन्थ लिखे।

प्राचीनों और नवीनोंका विवाद साहित्यिक इतिहासमें विचारोंकी प्रगति, स्वाभाविकता और सांस्कृतिक प्रगतिका इतिहास था; उसे साहित्य या समीक्षाके इतिहासका अंश नहीं मानना चाहिए। कोई पुराना या नया लेखक प्रशंसित किया जाता है या निन्दित किया जाता है यह तो केवल आकस्मिक बात है, जो कुछ तो समीक्षककी वृत्तिपर अवलम्बित है और कुछ अन्य कारणोंपर। इस प्रकार अन्तिम विवाद पद्य और गद्यके गुणोंपर हुआ जिसमें एक समीक्षकने तो पद्यका पूर्ण बहिष्कार किया और अपनी बात सिद्ध करनेके लिये उसने गद्यमें त्रासद लिखा। वौल्तेयाने पद्यके पक्षमें लिखते हुए विवेकवादी नवोदात्तवादी पद्यकी प्रशंसा की और यही भावना अठारहवीं शताब्दिके अन्ततक फ्रान्समें सर्वत्र व्याप्त रही जब कि प्रथम प्रगीत-कवि आन्द्रेशेनिएका जन्म हुआ।

## अठारहवीं शताब्दि

प्राचीनों और नवीनोंके कलहका दूसरा अध्याय अठारहवीं शताब्दिमें आरम्भ हुआ। सन् १७११ में श्रीमती दासिए (१६५४ से १७२०) ने ईलियादका अनुवाद प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें उन्होंने अत्यन्त

नम्रताके साथ कहा कि 'कोई भी अनुवाद मूल ग्रन्थके काव्य-सौन्दर्यतक नहीं पहुँचता। होमरने जिन आचार-व्यवहारोंका चित्रण किया है वे भले ही भोंडे हों किन्तु यह कोई दोष नहीं था क्योंकि वे लोग ही आजके युगसे भिन्न तो होंगे ही।' दो वर्ष पीछे हाउदा दे ल मोते ( १६७२ से १७३१ ) ने ईलियादका पद्यानुवाद प्रकाशित किया और उसे बारह खण्डोंमें संक्षिप्त करके विभक्त किया और उस प्राचीन यूनानी कविका सब 'भोंडापन' निकाल दिया। अपने इस ग्रन्थकी भूमिकामें ल मोतेने कहा कि 'यह कोई कारण नहीं है कि होमरका यूनानी पाठ उसके फ्रान्सीसी अनुवादसे सुन्दर प्रतीत हो।' साथ ही उसने यह भी कहा कि 'होमरने जिन आचार-व्यवहारोंपर बल दिया है वे सब वर्त्तमान सुसंस्कृत रुचिवाले लोगोंके लिये अत्यन्त जङ्गली और रोमाञ्चकारी हैं इसलिये पुराने लोगोंका आदर करते हुए भी हमें उनकी साहित्यिक उच्चताकी समानता करनी चाहिए या उनसे आगे बढ़ जाना चाहिए।' श्रीमती दासिए और लमोतेका यह शास्त्रार्थ चलता रहा। अन्तमें केम्ब्रायके पादरीने मध्यम मार्ग सुझाते हुए कहा कि 'प्राचीनोंकी वास्तविक योग्यताका हमें अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक शंसन करना चाहिए। साथ ही नई साहित्यिक शैली और रूपोंका विकास भी करना चाहिए।' अन्तमें दासिए और ल मोतेमें सन्धि हो गई और झगड़ा समाप्त हो गया।

## वौल्तेया

ल मोतेने एक और भी प्रश्न छेड़ दिया। अपने युगके अन्य लोगोंकी भाँति विवेकवादी होनेके कारण वह कविता तो समझता नहीं था इसलिये उसने घोषणा की कि 'कविताके द्वारा ऐसी कोई बात नहीं कही जाती जो गद्यमें अधिक सटीकताके साथ न कही जा सके।' अठारहवीं शताब्दिके बहुतसे समीक्षक इससे सहमत थे और तत्कालीन फ्रान्सीसी कविताकी दृष्टिसे इनकी बात ठीक भी थी क्योंकि कविता शिथिल हो चुकी थी। किन्तु विवेकवादी होते हुए भी वौल्तेयाको यह बात बहुत बुरी लगी और उसने सन्नद्ध होकर कविताका समर्थन किया। उसी समय ( १७१६ ) में आबे ज्यू बोने विज्ञान और कलाका भेद खड़ा किया जिसमें उसने विज्ञानके अन्तर्गत उन विद्याओंको रक्खा जो ज्ञान-विवर्धनके साथ-साथ समुन्नत होती हैं और कलाके भीतर उसने साहित्यको रक्खा जो अपनी शक्ति और

श्रेष्ठताके लिये अन्तर्दृष्टि, भावना और अन्तःप्रेरणापर अवलम्बित होता है। विज्ञानके क्षेत्रमें नवीन लोग निश्चित रूपसे आगे हैं किन्तु साहित्य और कलाके क्षेत्रमें प्राचीनोंने बहुत पहले वह श्रेष्ठता प्राप्त कर ली है जो अप्रतिम है। 'साहित्य और कलाकी समीक्षाके लिये तर्ककी अपेक्षा भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है', इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तका ज्यू बोने विस्तार किया और इसे कुछ अर्ध-वैज्ञानिक आधारपर चलाया। ज्यू बोने व्यक्तिगत ग्रन्थोंकी समीक्षाके लिये तो बहुत कम काम किया किन्तु उसके मूलभूत सिद्धान्तोंने साधारणतः प्रचलित फ़्रान्सीसी उदात्तवादी रुचिकी कठोर नियमितताओंमें कुछ उदारता अवश्य ला दी।

सन् १६८५ से इङ्गलैन्डमें जा बसनेवाले फ़्रान्सीसी प्रोटेस्टेन्ट शरणार्थी अँगरेज़ी साहित्यमें अत्यन्त रुचि लेकर शेक्सपियरके नाटकोंकी समीक्षा कर रहे थे। सन् १७२६ में वौल्तेयाने इङ्गलैन्ड जाकर वहाँ दो वर्ष रहकर शेक्सपियरपर अपनी टिप्पणी लिखी। अठारहवीं शताब्दिमें शेक्सपियरपर फ़्रान्समें बड़ा शास्त्रार्थ चला। वौल्तेयाने जहाँ यह घोषणा की कि 'मैंने शेक्सपियरको फ़्रान्समें प्रविष्ट कराया', वहीं उसने यह भी कहा कि 'शेक्सपियरका बड़ा घातक प्रभाव भी होता है क्योंकि शेक्सपियरकी कुछ अश्लीलताओं, उसकी भयङ्कर अनियमितताओं, उसके त्रासदों तथा उसकी आधी पद्यवाली भाषा-शैलीसे वौल्तेया अत्यन्त घृणा करता था और इसी आधारपर वह मानता था कि "यदि शेक्सपियरकी विजय हो गई तो फ़्रान्सका उदात्तवादी त्रासद-काव्य ही समाप्त हो जायगा।' इसी बीच तीन एकत्वोंपर भी बड़ा शास्त्रार्थ हुआ और कुछ लोग उनपर आपत्ति करने लगे फिर भी लोग उसके सम्बन्धमें कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं कर सके।

### दिद्रो

ल चौसी (१६९१ से १७५४) यद्यपि मनोविनोदात्मक प्रहसन नहीं लिख सकता था किन्तु उसने गम्भीर मध्यवर्गीय समाजपर नाटक लिखे। इस प्रकारके 'कौमेडीज़ लार्मोयान्ते' भी उदात्तवादी त्रासदोंके लिये बड़े घातक थे क्योंकि त्रासदोंमें तो असाधारण सामन्तवादी चरित्रोंपर सारी कथा केन्द्रित रहती थी। लिलोके मध्यवर्गीय उदार आरभटी (मैलोड्रामैटिक) नाट्यात्मक और उपदेशप्रद मध्यवर्गीय नाटक लन्दनमें आबे प्रेवोसने सन् १७३१ में देखे थे

इसलिये उसने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसके कुछ दृश्योंका अनुवाद भी किया। इसी प्रकार एडवर्ड मोरका 'गेम्स्टर' नाटक दिद्रो आदि अनेक लोगोंको अच्छा लगा, जिसे उन्होंने मध्यकालीन जीवनके प्रचारके लिये अच्छा नाटकीय रूप समझा। इसीलिये दिद्रोने सन् १७५६ में एक नये प्रकारके त्रासदका आवाहन करते हुए कहा था कि 'यह साधारण मध्यवर्गीय जीवनका त्रासद गद्यमें होगा और इसमें लेखक उन पुरुषों और स्त्रियोंका चित्रण करेगा जो अपने सामाजिक पद या वृत्तिसे प्रभावित होंगे।' दिद्रोने कहा कि 'इसके लिये सम्वाद और अभिनयकी अधिक स्वाभाविकता अपेक्षित है' यद्यपि स्वयं अपनी कृतियोंमें उसने आरभटी ( मलोड्रामेटिक ) वृत्तिका ही विशेष प्रयोग किया था। उसने यह भी कहा कि 'इन नाटकोंमें किसी प्रकारका भी उदात्तवादी प्रयोग नहीं होना चाहिए और साथ ही रङ्गविधानपर अधिक बल दिया जाना चाहिए।' दिद्रो स्वयं नाटक-द्वारा उपदेश देनेका पक्षपाती था। वह चाहता था कि 'इन मध्यमवर्गीय नाटकोंमें सदाचारका स्पष्ट प्रदर्शन होना चाहिए।' विचित्र बात यह है कि उसने स्वयं जो नाटक लिखे उनमें इन सिद्धान्तोंका कहीं स्पर्श भी नहीं था किन्तु उनके अनुसार रचना करने वाले द्यूमा कनिष्ठने लगभग सौ वर्ष पश्चात् इसमें बड़ी सफलता पाई। 'त्रासदका लोकतन्त्रीकरण' और 'गम्भीर नाटकके द्वारा सब प्रकारके मानव-अनुभवके रूपोंके लिये खोल देना' यही दिद्रोके निबन्धोंका मुख्य विषय है। दिद्रोकी प्रसिद्धि इस बातमें भी है कि उसने नृत्य-नाट्य, व्याख्यात्मक नृत्य, चित्रकला, मूर्त्तिकला, नये प्रकारके साहित्य, व्यतीतशील उदात्तवाद और भावी अज्ञात स्वैरवाद सबकी ओर रुचि दिखलाई। कभी-कभी उसके लेखोंमें अव्यवस्था भी मिलती है जिसमें कोई संयम नहीं, कोई नियम नहीं, किन्तु आज जितना उसका आदर है उतना कभी नहीं हुआ।

अठारहवीं शताब्दिमें व्यावसायिक रूपमें पुस्तकोंकी समीक्षा करनेवालोंमें सबसे प्रधान है ग्रिम, क्योंकि उसकी कृति प्रकाशित नहीं होती थी वरन् ग्राहकोंमें ही गुप-चुप रूपसे घुमाई जाती थी इसलिये ग्रिम निर्भीक होकर लिखता था। पेरिसकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंसे पूर्णतः परिचित होनेके कारण उसकी समीक्षा अत्यन्त सन्तुलित और बुद्धि-सङ्गत होती थी और उसके मूल्याङ्कनोंमें कुछ विशिष्ट कठोर सत्यता रहती थी जो उसके पाक्षिक पत्रोंमें प्राप्त नहीं थी। दिद्रो और दअलेम्बर्तने जो 'ऐनसाइक्लोपीदी'

निकाली उसने प्राचीनोंके प्रति बँधी हुई अन्ध श्रद्धाको शिथिल करके वर्त्तमान विदेशी साहित्यके प्रति रुचि जागरित की। उधर मारमौंतेलने तीन नाटकीय एकत्वोंको कुछ शिथिल करके रूढ नाट्य-शैली, वेश-भूषा और रीतिमें सुधार करनेकी बात चलाई। उसने मध्यवर्गीय त्रासद स्वीकार तो किए किन्तु यह भी कहा कि 'वे गद्यमें न होकर पद्यमें होने चाहिएँ।'

जीन जेक्स रूसो (१७१२ से ७८) यद्यपि हुआ अत्यन्त प्रभावशाली किन्तु साहित्य-समीक्षककी दृष्टिसे उसका बहुत महत्त्व नहीं है किन्तु उसने स्वैरवादके लिये तथा उस नये साहित्यिक समीक्षा-क्रमके लिये मार्ग खोल दिया जिसका प्रचार और प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें श्रीमती दे स्तेल और शातुब्रियाँने किया। इस युगमें बहुत-सा पूर्व स्वैरवादी (प्री-रोमान्टिक) साहित्य भी प्रकाशित हुआ जो अपने आप ही विकसित हुआ था। आन्द्रे शेनिए, जो रोबेस्पिएके जिलोतीनका आखेट हुआ उसने भी प्राचीन और नवीनके सङ्घर्षकी बात छेड़ी थी। वह स्वयं यूनानी साहित्यका अत्यन्त प्रबल और भावक प्रशंसक था किन्तु फिर भी वह यूनानियोंकी नृशंसताओं और जङ्गलीपनसे बहुत क्षुब्ध था। अठारहवीं शताब्दिमें स्पष्ट रूपसे प्राचीन उदात्तवादको समाधि दे दी गई और सापेक्ष्यवाद तथा विश्वबन्धुत्ववाद अधिक स्पष्ट होकर चलने लगे जो भावना और अन्तःप्रेरणाको अधिक महत्त्व देते थे।

## उन्नीसवीं शताब्दि (१८०० से १९१४ तक)

उन्नीसवीं शताब्दिमें तीन प्रमुख व्यक्ति फ्रांसके साहित्याकाशमें अत्यन्त उज्ज्वल ग्रह बनकर चमके—सेन्त ब्यूवे, रैना और तैन। इनमेंसे रैना और तैन यद्यपि साहित्यिक समीक्षासे और आगे भी अधिक प्रसिद्ध होकर वौल्तेया और रूसोसे भी आगे बढ़ गए पर उनकी प्रसिद्धि आगे चलकर ठण्ढी पड़ गई किन्तु सेन्त ब्यूवेका नाम आज इस युगमें भी अत्यन्त आदरके साथ लिया जाता है। इन तीनोंने सापेक्ष्यवादके ही विभिन्न पक्षोंका व्यक्तीकरण किया है। इस क्रमकी मुख्य प्रवर्त्तिका श्रीमती स्तेल (१७६६–१८१७) हैं। उन्होंने जो यह कहा था कि 'साहित्य तो समाजकी अभिव्यक्ति है' यह वास्तवमें उनसे बहुत पहले १७९६ में बोनाल कह चुका था। वे उन्नति, प्रगति और उत्साहमें बहुत विश्वास करती हैं। उन्होंने साहित्यको दो

खण्डोंमें बाँटा था—१. उत्तरी और २. दक्षिणी, अर्थात् उदात्तवादी और स्वैरवादी, या ( क ) बाहरसे लाकर लगाया हुआ और ( ख ) अपने देशका। वे स्वयं इन दोनोंमेंसे उत्तरीको अधिक श्रेष्ठ समझती हैं क्योंकि उसमें अन्तःसाधना और निःसीमताका भाव है। उन्होंने 'द ला अलेमाग्ने' (१८१०) नामका जो समीक्षा-ग्रन्थ लिखा उसने फ्रान्समें साहित्य-समीक्षणका एक नया आदर्श ही स्थापित कर दिया।

चातुब्रियाँ ( १७६८—१८४८ ) भी स्वयं प्राचीनतावादका पोषक था। वह चाहता था कि 'गिने-चुने साहित्यकारोंका आदर हो' और उनमें भी यह नहीं कहता था कि 'जो बहुत बड़े हों वे ही लिए जायँ।' वह निरन्तर एक बात कहता रहा कि 'अब हमारा साहित्य वन्यता ( बारबेरिज़्म ) की ओर जा रहा है।' उसके विचार प्लेतोके अनुगामी तथा कोमलता और शक्तिके माननेवाले ज्यू बोसे मिलते-जुलते थे। वह वर्त्तमानवादियोंसे बहुत चिढता था किन्तु उसकी अत्यन्त आकर्षक शैलीने जिस समीक्षा-पद्धतिका जो समर्थन किया उससे एक नये प्रकारके समीक्षक उठ खड़े हुए। यद्यपि अनेक लेखकोंने नई प्रवृत्तिके पक्ष या विरोधमें कुछ छिट-फुट लेख लिखे थे किन्तु सेन्त ब्यूवेने जिस गम्भीरताके साथ इन समस्याओंपर विचार किया वह आगे कोई न कर सका। कुछ दिनोंतक सेन्त ब्यूवे भी फ्रान्सीसी स्वैरवादके साथ घुला-मिला और विक्टर ह्यूगोके सहानुयायियोंमेंसे था अतः स्वैरवादियोंके लिये उसने जो ग्रन्थ लिखा उसे स्वैरवाद-सिद्धान्तका वेद ही समझना चाहिए। उसने अधिकाधिक स्वैरवादकी बाह्य प्रशंसाकी ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई इसीलिये एक लेखकने सेन्त ब्यूवेके सम्बन्धमें कहा है कि 'वह स्वैरवादी विकासका दलाल, निर्णायक और उसके षड्यन्त्रका साथी है।' सेन्त ब्यूवे प्रायः सापेक्ष्यवाद ( रिलेटिविज़्म ) का बड़ा पण्डित समझा जाता है।

### सेन्त ब्यूवे

सेन्त ब्यूवेका सबसे बड़ा ग्रन्थ 'पोर्त रौयल' समझा जाता है। इसमें उसने स्वैरवादियों तथा समकालीन अन्य वादोंसे हटकर शान्तिके साथ, धैर्यके साथ अत्यन्त विस्तारसे सत्रहवीं शताब्दिके जानसेनी पुरुषों और स्त्रियोंका अध्ययन किया है, जो वर्त्तमान सापेक्ष्यवादको पापसे कम नहीं समझते। इसमें उसने विद्वान् और समीक्षक दोनों रूपोंसे समीक्षा की है। इस ग्रन्थमें

पास्कल और मौन्तेनकी तुलना करते हुए उसने मौन्तेनकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा है कि 'उसने प्रकृतिका अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।' यद्यपि वह स्वयं जानसेनी मतको नहीं मानता था किन्तु फिर भी उसने स्पष्ट कहा है कि 'फ्रांससे जानसेनी-मतके लोपका अर्थ यह है कि उससे जो स्थिरता प्राप्त होती है वह नहीं प्राप्त हो सकेगी।' सेन्त ब्यूवेका प्रभाव बहुत विस्तृत और अनेक प्रकारसे पड़ा। शेयरर भी सेन्त ब्यूवेका समर्थक और प्रचारक रहा है। वह था तो धर्म-वैज्ञानिक किन्तु वह साहित्यकी ओर प्रवृत्त हुआ और उसने विचारोंकी समीक्षाको अत्यन्त शक्ति प्रदान की। उसके पश्चात् बाबे द औरेवि लीने स्वैरवादी शङ्ख फूँका और यथासम्भव यह प्रयत्न किया कि एक बार फिरसे स्वैरवादकी तूती बोले, किन्तु वास्तवमें सेन्त ब्यूवेके वास्तविक महान् अनुयायी वे ही दो थे—रैना और तैन।

## रैना

अर्नेस्त रैना ( १८२३ से ९२ ) को शिक्षा तो मिली थी पादरीके कामकी किन्तु वह वैज्ञानिक शिक्षाके प्रति अधिक प्रवृत्त हुआ और अन्ततक अत्यन्त रहस्यवादी बना रहा। उसने बहुत अधिक साहित्यिक समीक्षा नहीं की किन्तु ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययनकी प्रवृत्तिको वह लगभग एक पीढ़ीतक प्रोत्साहन देता रहा। कुछ समीक्षकोंने उसकी कल्पना-शक्ति और अनेक विषयोंकी प्रतिभा देखकर उसे उस शताब्दिका सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति बताया है।

## तैन

तैन ( १८२८ से ९३ ) के लेख रङ्गीन और गतिशील हैं किन्तु उसमें रैना और सेन्त ब्यूवेकी भावकता नहीं है। वह शुद्ध रूपसे वैज्ञानिक है। वह कहता है कि 'मेरी प्रथम पुस्तक कवितापर नहीं वरन् सौन्दर्यपर है।' वह बड़ा ही जटिल निबन्ध है। उसने बहुत प्रारम्भमें ही यह शपथ ले ली थी कि 'मैं स्वयं अपने सिद्धान्तोंकी परीक्षा करूँगा और करता रहूँगा।' किन्तु इस प्रकारकी परीक्षा करके उसने अपनी कविता सदा निर्भ्रान्त और सत्य पाई। इसीलिये उसमें बहुत-सी त्रुटियाँ और बहुतसी विशेषताएँ भी हैं। वह हेगेलके विचारोंका समर्थक था और इसलिये वह अत्यन्त

सावधानीके साथ प्रत्येक प्रक्रिया और प्रवृत्तिकी परिस्थितियोंका अध्ययन कर लेना उचित समझता था। बहुतसे समीक्षक (जिनमें सेन्त ब्यूवे भी हैं) समझते हैं कि उसने अपने सिद्धान्तोंमें सीमोल्लङ्घन किया है किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आज भी उसकी प्रणालीको अनुकरणीय समझते हैं। यह कहा जाता है कि अपने पिछले दिनोंमें रैना बहुत कुछ कला-प्रेमी हो चला था और अत्यन्त आडम्बरके साथ कला आदिका परीक्षण करता था किन्तु यह बात तैनके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती।

## ज़ोला

एमील ज़ोला (१८४० से १९०३) भी अपने समयका प्रसिद्ध समीक्षक था और उसने अपने ढङ्गसे साहित्यमें कारणवाद (डिटर्मिनिज़्म) का प्रयोग करते हुए विचार किया कि हम किस प्रकार मानव-प्रकृतिका सुधार कर सकते हैं। वह अपनेको तैनका शिष्य समझता था किन्तु तैनने कभी उसे अपना शिष्य नहीं माना। इसके पश्चात् कुछ और लेखकोंके ग्रन्थोंमें अधिक गम्भीरता और अधिकारके साथ वैज्ञानिक प्रणालियोंका प्रयोग किया जाता रहा। इसके पश्चात् लगभग दो पीढ़ियोंतक गुस्ताव लाँसनकी प्रणालीका ही प्रयोग फ्रांसीसी साहित्यके अध्ययनके लिये किया जाता रहा और इसी प्रकार फ़ौगे (१८४७ से १९१६) की भी बड़ी प्रसिद्धि रही।

पी० बोर्गे (१८५२ से १९३५) ने तैनको एक उपन्यासका पात्र बनाकर उसके कारणवादकी अतिरेकतापर प्रहार किया। वह वास्तवमें उपन्यासकी अपेक्षा समीक्षाके क्षेत्रमें अधिक प्रसिद्ध हुआ। ब्रूनेतिए एक बार प्रभाववादके दो प्रमुख समर्थकोंसे सापेक्ष्यवाद तथा सूक्ष्म चित्रणके परिणाम अर्थात् अनातोले फ्रांस और यूले लमैत्रेसे भिड़ गये। अनातोले फ्रांसका विश्वास है कि 'कोई भी समीक्षक केवल बाह्य दृष्टिवाला नहीं हो सकता।' स्वयं अपनी समीक्षामें उसने दिखलाया है कि 'मेरा अपना आत्मा किस प्रकारसे विभिन्न परिस्थितियोंमें व्यवहार करता है और उन परिस्थितियोंसे प्रभावित होता है किन्तु उसके तले मेरी अत्यन्त संयत और उदात्तवादी मानवीय भावना भी छिपी हुई है।' यद्यपि उसका प्रभाववाद सनकसे भरा हुआ नहीं है किन्तु उसकी यह बात तो सनकभरी अवश्य प्रतीत होती है कि 'अन्तमें चलकर समीक्षा ही सम्पूर्ण साहित्यिक कृतियोंको निगल जायगी।' ल मैत्रेने सेन्त ब्यूवेकी समीक्षात्मक भावनाको उस नदीके समान बताया जो बहती हुई अनेक

दृश्योंका प्रतिबिम्ब दिखाती चलती है। उसके अनेक लेख फ़्रांसकी रूढ़ि और वहाँकी कमनीय संस्कृतिकी सुन्दरता और शक्तिसे ओतप्रोत हैं।

रेमी द गोरमो ( १८५८ से १९१५ ) को इरविङ्ग बैबिटने 'अतिशय सौन्दर्यवादी' ( अल्ट्रा-एस्थैटिक ) कहा है। यद्यपि सौन्दर्यवादकी ओर उसका बड़ा आकर्षण था किन्तु उस समयकी कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं थी जिसकी ओर उसका आकर्षण न हो। लगभग पच्चीस वर्षतक एक पत्रका सम्पादन करते हुए उसने किसी भी दलके साथ नाता नहीं जोड़ा और अत्यन्त सहानुभूति तथा सहनशीलताके साथ तत्कालीन सभी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका अध्ययन और समीक्षण करता रहा। एक और भी व्यक्ति था चार्ल्समौरास ( १८६८ ), जो तीन वस्तुओंसे घृणा करता था—१. सुधार, २. क्रान्ति और ३. स्वैरवाद ( रिफ़ौर्मेशन, रिवौल्यूशन और रोमान्टिसिज़्म )। उसके सिद्धान्त लोगोंमें बहुत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हैं। उसके साथ उसके एक और साथी पिए लासेने काम किया जो पीछे चलकर बहुत उदार और सन्तुलित हो गया और जो सेन्त ब्यूवेकी परिपाटीका सबसे योग्य उत्तराधिकारी समझा जाता है। समीक्षाके इस पूर्ण युगमें एक विशेष प्रकारका साहित्यिक साँचा मिलता है—स्वैरवाद, ऐतिहासिक सापेक्ष्यवाद, अगणित तथ्योंको एकत्र करनेका वैज्ञानिक विधान आदि।

### वर्त्तमान काल

इस युगका अर्थात् १९१५ से १९५३ तकका मुख्य कार्य है साहित्यिक इतिहास, जिसमें तैन, सेन्त ब्यूवे, ब्रूनेतिए, सिगनोबो, गुस्तावाँससन, जोसेफ़ बेदिए, दानिए मोरने, विक्तो गिराउ, यूले मासाँ, आबेल लेफ़्राँक और जीआ प्लौतार्द आदिके सम्मिलित प्रभावोंका प्रदर्शन है। इस युगमें फ़्रांसीसी साहित्यका अन्य साहित्योंके साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया क्योंकि उदार मानवतावादकी आजकल धूम मची हुई है। आजकल सिद्धान्तोंके इतिहास और सामाजिक इतिहासपर अधिक ध्यान दिया जा रहा है किन्तु साहित्यिक इतिहास पूर्णतः साहित्यिक समीक्षासे दूर हो गया है और वह अब जीवनकी व्याख्या करनेकी खोजमें है। वह साहित्यके रूपके प्रश्नको गौण समझता है।

फ़्रान्सीसी साहित्यमें बहुतसे साहित्यिक झगड़े बहुत रूपोंमें खड़े हो गए

हैं। सन् १६०७ में पिए. लासेने स्वरवादकी पुरानी समस्या फिर छेड़ दी और शीघ्र ही बर्गसनवाद और प्रतिबर्गसनवादके नैतिक और दार्शनिक झगड़े तथा राष्ट्रीयतावाद और रूढिवादके राजनीतिक झगड़े भी इसमें आ प्रविष्ट हुए। स्वैरवाद-विरोधी लोगोंने इसका बड़ा विरोध किया और सेलिएने अपना साम्राज्यवाद स्थापित कर दिया। इधर चार्ल्स मौराने भी उदात्तवादी और रूढिवादी पन्थका समर्थन किया। सन् १६२७ में स्वैरवादकी तथाकथित शताब्दिपर यह स्वैरवाद और भी भड़क उठा, जिसमें पिए लासे और लुई रैनोने तो यह कहा कि 'अँगरेजी और जर्मनी प्रभावसे फ्रान्सीसी परिपाटी नष्ट हो गई।' किन्तु आबे हैनरी बेमोँने स्वैरवादियोंका पक्ष लिया। थोड़े दिनोंतक (सन् १६२९) पौल वालेइ और ब्रेमोंका काव्य कलह चला जिसके कारण 'कवितासे वे भाषणात्मक, नैतिक, सामाजिक और शुद्ध वर्णनात्मक तत्त्व निकाल दिए गए जो स्वैरवादी और पारनेसी (अन्तिम फ्रांसीसी स्वैरवादी कवि पार्नेशियनकी कविता जो 'कलार्थ कला' आन्दोलनसे सम्बद्ध था) कवितामें भरे हुए थे।' इसका प्रधान प्रभाव यह हुआ कि प्रतीकवादको अधिक मान्यता मिली और पौल वालेइके काव्योंका अधिक आदर हुआ।

## परम स्वातन्त्र्यवाद

त्रिस्ताँ ज़ाराने जिस परमस्वातन्त्र्यवाद (दादाइज़्म) का प्रवर्त्तन किया वह रूढियों और परिपाटियोंके विरुद्ध जितना विद्रोह था उतना ही आडम्बर भी। इस वादसे तथ्यातिरेकवाद (सररीयलिज़्म) के लिये मार्ग खुल गया। साधारण वास्तविकतासे हटकर स्वप्न-लोककी अति वास्तविकतामें पहुँच जानेका यह क्रान्तिकारी प्रयास उस आन्दोलनके समान था जो गतिशील कलाओं (प्लास्टिक आर्ट्स) में चल रहा था।

लोकचित्रणवाद (पापुलिज़्म) बहुत पीछेका प्रकृतिवाद (नेचुरलिज़्म) था जिसमेंसे गीतात्मकता निकल चुकी थी। इसीके साथ ही एक सङ्घवाद (युनानिमिज़्म) चला, वह बीसवीं शताब्दिके प्रथम दशकोंकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन समझनी चाहिए। असाधारण गत्यात्मकता अर्थात् व्यक्तिगत बन्धनोंको तोड़नेका भयङ्कर प्रयास करके इस महान् विस्तृत संसारसे सम्पर्क स्थापित करना ही इसकी विशेषता समझनी चाहिए। इसकी प्रवृत्ति है कि

व्यक्तिगत चरित्रोंके बदले सामाजिक मण्डलों या वर्गोंका चित्रण किया जाय अथवा व्यक्तियों और वर्गोंके जटिल सङ्घर्षोंका चित्रण किया जाय।

अशान्ति तथा जीवन-सङ्घर्षके युगमें समीक्षकोंकी कोई निश्चित श्रेणियाँ नहीं बन पाईं। इनमेंसे पहली पीढ़ी तो उनकी समझनी चाहिए जो चार ज्येष्ठ ( ब्रूनेतिए, फ़ागे, यूले लमैत्रे और अनातोले फ्रान्स ) आदिके अनुयायी थे, जिनमें कुछ उदार और वौल्तेयावादी मध्यमवर्गीय लोग भी थे। रैने दूमिकने ब्रूनेतिएका अत्यन्त दरिद्र प्रकारका शिष्य होकर अत्यन्त अधम कोटिकी साहित्यिक समीक्षा चलाई और आदोल्फ़ ब्रिसोंने नाटकीय समीक्षाका सञ्चालन किया। रैमी द गोमो अत्यन्त मौलिक, स्वतन्त्र, बुद्धिमान् तथा सार्वभौम प्रतिभाका व्यक्ति था जिसकी रुचि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें थी और जिसका मत था कि 'दर्शन और विज्ञानका पूर्ण अध्ययन किए बिना साहित्यकी परीक्षा नहीं हो सकती।' वह विद्वत्संस्थावाद ( फ्रेंच एकेडेमिज़्म ) का बड़ा शत्रु और सापेक्ष्यवादी था जो काव्य-रूपपर बड़ा बल देते थे। रैमी द गोमो कहता था कि 'समीक्षा तो जानने और व्याख्या करनेका आनन्द है।'

वर्त्तमान युगके वास्तविक साहित्यिक नेताओंको साहित्यकी रूढ परिधिसे बाहर ढूँढ़ना चाहिए। उनके नेता थे बारे, मौरास, गेऑर्गें सौरल, दुर्खीम और नीत्शे, किन्तु उनपर सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा था बर्गसनका, जिसका दार्शनिक सिद्धान्त अत्यन्त सरल शब्दोंमें प्रचारित कर लिया गया था। नये साहित्यकारोंकी वृत्ति थी—भौतिकवादका विरोध, विवेकवादका खण्डन, अन्तःप्रेरणा तथा उपचेतन मनका प्रभाव और 'एलन वाइतल' ( बर्गसनका सिद्धान्त कि विश्वमें एक वैसी ही प्रेरणा-शक्ति है जो कविकी रचना-भावनाके समान होती है। ) इसीलिये बर्गसनको लोग मुक्तिदाता मानते थे। उनके पश्चात् आए मार्सें प्राउस्त, जिसका प्रभाव १६१६ के पश्चात् प्रतीत हुआ, फिर आया चार्ल्स पैगू, जो स्वप्नद्रष्टा अधिक था समीक्षक कम और जिसने अपना द्वार सब ईसाइयों, प्रोटेस्टेंट, यहूदी और स्वतन्त्र विचारकोंके लिये खोल दिया। वे कुछ बात कहना चाहते थे और सभी प्रकारकी नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक जागर्त्तिके अधिक इच्छुक थे, कलाके उतने नहीं। आन्द्रे गिदे वास्तवमें समीक्षक तो नहीं था किन्तु नई फ्रान्सीसी समीक्षा-पद्धतिका नेता अवश्य था। एलेन ( समील शातिए ) ने विचारों और सिद्धान्तोंके प्रति सार्वभौम उत्सुकता भी प्रकट की और साथ-साथ

व्यापक प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टिका भी परिचय दिया। यूलियें बें दा (जन्म १८६७) सम्भवतः शुद्ध बुद्धिवादियोंका प्रतिनिधि था। चतुर तार्किक होनेके कारण उसने बर्गसनवाद, स्वैरवाद, इन्द्रिय-ज्ञानवाद (सेन्शुअलिज़्म) और रहस्यवाद सबका खण्डन किया। उसने निरन्तर यह प्रयत्न किया कि बौद्धिक संसारको साधारण मनुष्यके सङ्घर्षमय संसारसे अलग कर दे। आलबर्त थिबौदे (१८७४ से १९३६) अत्यन्त बुद्धिमान् और व्यापक रुचिका व्यक्ति था। उसने साहित्यपर जो कुछ लिखा है वह वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक है।

इस पीढ़ीके समीक्षकोंमें हेनरी मासी (जन्म १८८६) को छोड़कर कोई ऐसा नहीं है जिसे पक्का कहा जा सके किन्तु वह भी कट्टर और अस्थिर दोनों ही है। उसके अतिरिक्त चार्ल्स ज्यू बोकी रचनाएँ साहित्यिक कृतियोंमें बौद्धिक तत्त्व खोजनेकी अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्व अधिक खोजती हैं। निबन्धकार आन्द्रे रूशियो अपनेमें और समीक्ष्य ग्रन्थमें सम्बन्ध ढूँढ़नेका प्रयत्न करता था। इनके अतिरिक्त सापेक्ष्यवादी बहुज्ञ हेनरी बीदू ही शुद्ध 'समीक्षाका आचार्य' कहा गया है।

पत्र-पत्रिकाओंमें जो साहित्यिक समीक्षा निकली है उसके अतिरिक्त वर्त्तमान कृतियोंके साहित्यिक और कल्पनात्मक पक्षोंपर बहुत कम विचार हुआ है और व्यावसायिक समीक्षकोंका पूर्ण अभाव है। मार्से थीबो निष्पक्ष समीक्षक हैं। फ्रेदेई, लफ़्रेके अत्यन्त सूक्ष्म सम्प्रेक्षक हैं। आन्द्रे मरावा जीवनीकार और निबन्धकार है और इस प्रकार अनेक विद्वान् कुछ दार्शनिक, कुछ रहस्यवादी, कुछ कलात्मक, कोई मानव-परिश्रमके सौन्दर्यको श्रेष्ठ समझनेवाला और रिचार्ड ब्लौक तो ऐसे हैं जो एक ऐसे नये सम्प्रदाय और नई सभ्यताके लिये प्रयत्नशील हैं जिसमें वर्त्तमान मनुष्य अपनी आकांक्षाओंकी पूर्त्ति स्वयं कर लेगा, जिससे मिलता-जुलता सार्त्रका अस्तित्ववाद (एग्ज़िस्टैंशलिज़्म) चला।

नाटकीय समीक्षाके क्षेत्रमें भी इसी प्रकारकी बहुरङ्गी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऐसे बहुत कम लोग हैं जो रङ्गमञ्च और नाट्यकलाके सम्बन्धमें विचार करते हैं। अधिकांश लोग नाटकमें सामाजिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व ढूँढ़नेका प्रयत्न करते हैं। अब्राहम मानवीय चरित्रका विश्लेषक है। एकमात्र जेक्स कोपू सशक्त और मौलिक सुधारक है जिसने रङ्गमञ्चका भी सुधार किया और जो एकमात्र नाटकका वास्तविक समीक्षक है। पिछले चालीस वर्षोंमें

जो साहित्यिक समीक्षाके क्षेत्रमें कार्य हुआ उसे अराजकता समझनी चाहिए। जेक्स रीविएका मत है कि 'साहित्य-भावनाका ऐसा अन्त आ गया है जिसे हम सभ्यताका अन्त कह सकते हैं क्योंकि अधिकांश लेखक और समीक्षक अत्यन्त उत्सुकताके साथ शुद्ध कलाके क्षेत्रके बाहर ऐसे विश्वास या सम्प्रदायकी खोज कर रहे हैं जिससे वे चिपट सकें।' ब्रूनेतिएने साहित्यिक रूपोंके बीच जो भेद समझाया था वह पूर्णतः खण्डित हो गया किन्तु विभिन्न कलाओंके बीच जो भेदकी दीवार खड़ी थी वह भी ढह गई। इसी प्रकार जितने पुराने नियम थे वे भी सब शिथिल हो गए। आजकलकी प्रवृत्तिको आन्द्रे रूशोने एक वाक्यमें कह दिया है—'हमारा काम यह नहीं है कि हम यह कहें यह पुस्तक अच्छी है बुरी। हम तो केवल यही बतलाते हैं कि यह फूल है और यह कण्टक-बेल है अर्थात् समीक्षा तो प्रत्येक समीक्षकके अपने जीवन-सिद्धान्तके अनुसार होने लगी है। किन्तु वास्तवमें व्यावहारिक समीक्षा पूर्णतः लुप्त नहीं हुई वरन् नये मानवतावाद या विश्वबन्धुत्ववाद ( युनिवर्सैलिज्म ) के भीतर रम गई है।'

## अस्तित्ववाद ( एग्ज़िस्टैन्शलिज़्म )

सन् १९३९ के द्वितीय महायुद्धके पश्चात् जीआँ पाउल सार्त्रेने अस्तित्व-वाद ( एग्ज़िस्टैन्शलिज्म ) चलाया। यह न तो ईश्वरको मानता न मनुष्यकी कोई निश्चित प्रकृति ही मानता है। इसका मत है कि 'मनुष्यकी अपनी प्रेरणा या सहायताके अतिरिक्त कोई दैवी प्रेरणा या सहायताका अस्तित्व नहीं है। यह इतिहासके विकास-सिद्धान्त विशेषतः मार्क्सवादका विरोध करता है क्योंकि मार्क्सवादी इस बातकी उपेक्षा करते हैं कि मनुष्य अपनी प्रकृति और अपनी इच्छाके लिये व्यक्तिगत रूपसे उत्तरदायी है। सार्त्रेका सारा तर्क यही है कि मनुष्यका जो अस्तित्व है और वह जो करता है उसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्यके लिये अपनेसे बाहरका कोई महत्त्व नहीं है। उसमें कोई ईश्वर-प्रदत्त या नियति-प्रदत्त कोई मानव-प्रकृति नहीं है जिसे पूर्ण या तृप्त करनेके लिये वह बाध्य हो। मनुष्य तो स्वतः अपनी इच्छासे संसारमें गुणतत्त्व चुनता है और अपना निर्माण करता है और इस चुनावके लिये भी वह स्वयं उत्तरदायी है।

सार्त्रे कहता है कि 'इसका तात्पर्य निष्क्रियता या निराशा नहीं है। इस

ज्ञानसे तो मनुष्यका वह निरर्थक भाव स्पष्ट हो जाता है जिसे वह ढोता चलता है और यह ज्ञान मनुष्यको यह समझनेके लिये बाध्य करता चलता है कि वह इसे जानबूझकर ढो रहा है, विवशतापूर्वक नहीं। यह ज्ञान मनुष्यको प्रेरणा देता है कि वह यदि चाहे तो अपनी स्थितिसे भिन्न गुणतत्त्व चुनकर, भिन्न पन्थ ग्रहण करके, भिन्न मनुष्य बन सकता है। यह ज्ञान मनुष्यमें आत्म-स्वातन्त्र्यकी चेतना प्रदान करता है। यह स्वातन्त्र्यकी भावना ग्राह्य भी है तथा डरने योग्य भी, इसीलिये सार्त्रेका सिद्धान्त भयानक भी है, मुक्तिदायक भी।

राजनीतिक कुचक्र और आर्थिक विषमतासे पीड़ित फ्रांस आजकल समीक्षाके क्षेत्रमें मौन है।

---

# अँगरेज़ी समीक्षा-पद्धति

## पुनर्जागरणकाल

इटलीकी तुलनामें सोलहवीं शताब्दिका इंग्लैण्ड समीक्षाके क्षेत्रमें बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। वहाँ भी अन्य विषयोंके प्रसङ्गमें समीक्षा-सम्बन्धी कुछ उक्तियाँ कही गईं। सर टौमस् एल्योटने १५३० में अपनी 'गवर्नर' नामक पुस्तकमें ऊँचे राजनीतिक पदोंके इच्छुक बालकोंको शिक्षा देते हुए कहा कि 'छिटपुट कवियोंमें भी अच्छी बातें मिल जाती हैं। जो पूर्ण बुद्धिमान् होना चाहे उसे सब प्राचीन कवियोंका अध्ययन करना चाहिए।' उसने जिस उपदेशवादी सिद्धान्तकी बात कही है वह उन दिनों सम्पूर्ण योरोपीय साहित्यमें व्याप्त था। गौसन और प्राइन (१६३५) ने कविता और रङ्गमञ्चपर बड़े आक्षेप किए किन्तु उनका कोई समीक्षात्मक महत्त्व नहीं है। सिडनीको 'काव्यका समर्थन' (डिफेन्स आफ़ पोइज़ी) लिखनेकी प्रेरणा गौसनकी कृतिसे ही मिली।

अँगरेज़ी समीक्षा लिखनेवालोंने आलङ्कारिकोंको भी समीक्षकोंमें गिन लिया है किन्तु टौमस विल्सनके 'भाषण-कला' (आर्ट औफ़ ह्रिटौरिक १५५३) देखनेसे ज्ञात होता है कि उसने कवितापर कुल तीन पन्ने लिखे हैं जिसमें कहा है कि 'कविता अध्यवसान-रूपमें (कान्तासम्मित उपदेशरूपमें) शिक्षा देती है।' इन अलङ्कार-सिद्धान्तोंके कारण काव्यका यह भी कर्त्तव्य माना जाने लगा कि 'वह पाठकको प्रभावित करे।' रोजर ऐश्चमके 'स्कूल मास्टर' (१५७०) में भी समीक्षात्मक वृत्तिके कुछ तत्त्व विद्यमान हैं।

एल्योटके गुणों और भावोंसे परिपूर्ण, एश्चमकी उदात्त काव्य-भावनासे समृद्ध और इतालवी समीक्षकोंकी विवेचनासे सशक्त एकमात्र प्रथम श्रेणीका समीक्षा-ग्रन्थ 'एपोलौजी फ़ौर पोएटरी' या 'डिफ़ेन्स औफ़ पोयज़ी' सन् १५९५ में सर फिलिप सिडनी-द्वारा लिखा हुआ उसके निधनके पश्चात्

प्रकाशित हुआ। यद्यपि उसमें अपने इतावली गुरु स्कालिगर और मुन्तर्नोके समान विद्वत्ता नहीं थी किन्तु उसका 'डिफेन्स' ग्रन्थ केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं वरन् कविताके पक्षका प्रबल समर्थन है। सिडनीका मत है कि 'कविताका प्रमुख उद्देश्य ऐसा उपदेश देना है जो सदाचारका पोषण करनेवाले आनन्दसे परिपूर्ण हो।' सिडनीने अपने नाटककारोंको महाकाव्य-रचयिताओंकी अपेक्षा अधिक उदात्त सिद्ध किया और कहा कि 'महाकाव्यमें भी नाटकीय व्यापारकी संक्षेपता होनी चाहिए।'

यदि हम स्पेंसरपर उसके 'फ़ेयरी क्वीन' और सर वाल्टर रेलेको लिखे हुए उसके पत्रकी दृष्टिसे विचार करें तो स्पेंसरने भी सिडनीकी ही बात दुहराई है। यद्यपि अपनी लम्बी कविताकी अधिक सामग्री उसने वर्जिलसे ही ली थी किन्तु एरिओस्तो ही उसका प्रमुख प्रेरक रहा है। उसकी 'फ़ेयरी क्वीन' का रचना-सिद्धान्त नया और मौलिक है जिसे हम किसीका प्रभाव नहीं मान सकते।

बेन जॉनसनने हौरेसपर जो अरस्तू-शैलीकी समीक्षात्मक टिप्पणी लिखी थी वह तो नष्ट हो गई। किन्तु उसके अन्य लेखोंमें उस टिप्पणीके प्रकीर्ण अंशोंसे उसकी प्रकृति जानी जा सकती है। वह कहता है कि 'प्रत्येक कविको कुछ नई बात निकालनी चाहिए अर्थात् कोई ऐसी उपयुक्त सामग्री खोज निकालनी चाहिए जिससे बुद्धि उलझाई जा सके।' इस दृष्टिसे उसके प्रहसनमें प्लाउतसकी अपेक्षा अरिस्तोफ़नेसकी वृत्ति अधिक है। वह वर्त्तमान कविकी स्वतन्त्रताका अधिक पक्षपाती है और कहता है कि 'कविको अपने आविष्कृत विचारोंको विकसित करने और उत्कृष्ट बनानेके लिये वैसी ही स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता मिलनी चाहिए जो उसके पूर्वपुरुषोंको मिली थी।' वह कहता है कि 'पुराने नियम और उदाहरण वहींतक पालन करने चाहिएँ जहाँतक वे नाटकोंको श्रेष्ठतर बना सकें। यदि उन नियमोंके पालनसे नाटककारको बाधा मिलती हो तो नियमोंका परित्याग कर देना चाहिए।'

मिल्टन शुद्ध उपदेशवादी था। फिर भी उसे हम जड़ उपदेशवादी नहीं कह सकते क्योंकि वह जानता था कि 'सत्यको भी सुन्दर वेशभूषा चाहिए।' सिद्धान्तके रूपमें भी वह कवितामें लौकिक भाव भरनेका पक्षपाती था। कवितामें बाह्य नियतिके द्वारा भाग्य-परिवर्त्तनका प्रयोग करना

भी वह काव्यमें उचित मानता था। पुनर्जागरणकालमें भाग्यवादियों ( फ़ैटेलिस्ट्स ) की बड़ी प्रबलता थी विशेषतः नाटकमें। किन्तु मिल्टनके धर्म-विज्ञानके अनुसार उसका प्रयोग निषिद्ध था। मिल्टन अपने उदात्तवादमें भी अनुदार नहीं था क्योंकि महाकाव्यके लिये उसने छूट दे दी थी कि 'उनमें चाहे अरस्तूके नियमोंका पालन किया जाय या प्रकृतिका अनसरण किया जाय।'

## पुनर्जागरणकाल

पुनर्जागरणकालके समीक्षकोंने साहित्यके साधारण प्रश्नोंके साथ-साथ अधिक विस्तृत सामग्रीपर विचार किया है। उन्होंने अँगरेज़ी शब्दावलीकी प्रकृतिपर भी बहुत कुछ कहा और विदेशी शब्द-प्रयोग तथा कृत्रिम शब्दावली और प्राचीन अप्रचलित शब्दोंके प्रयोगपर भी आपत्ति की। छन्दोंपर भी बहुत विचार हुआ।

## नवोदात्तवादी ( नियो-क्लैसिकल ) समीक्षा

जौन्सनने अपनी 'कवियोंकी जीवनी' ( लाइफ़ औफ़ दि पोयट्स ) में लिखा है—'ड्राइडनको ही हम उचित रूपमें समीक्षाका पिता मान सकते हैं क्योंकि वही पहला लेखक था जिसने सिद्धान्तोंके अनुसार किसी रचनाका गुण समझना सिखाया था।' यद्यपि यह वक्तव्य प्राचीन लेखकोंके प्रयासोंके प्रति अन्याय है किन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि ड्राइडनसे लेकर अठारहवीं शताब्दितक, विशेषतः ड्राइडनके प्रभावके कारण ही, कविता, चित्रकला तथा अन्य ललित कलाओंकी समीक्षाको अँगरेज़ी साहित्यके इतिहासमें प्रथम बार विद्याकी प्रधान शाखाके रूपमें मान्यता दी गई। ड्राइडनके निबन्धों और प्रस्तावनाओंसे तथा टौमस राइमरके निबन्धोंसे समीक्षात्मक लेखोंका प्रवाह अगली दो पीढ़ियोंतक वेगसे बढ़ता रहा, यहाँतक कि अगली शताब्दिके मध्य तथा अन्तिम भागमें कोई ऐसा कवि, नाटककार, उपन्यासकार, दार्शनिक, इतिहासकार या विद्वान् नहीं हुआ जिसने निबन्ध, पुस्तक, संवाद, व्याख्यान, प्रस्तावना, उपदेशपूर्ण कविता या इतिहासमें एक या एकसे अधिक कलाओं या सिद्धान्तोंका प्रतिपादन न किया हो या कलाकारों तथा ग्रन्थोंकी विशेषताओंका विवेचन न किया हो।

विषय-सामग्रीके मूल केन्द्र तथा परिधिकी दृष्टिसे इस आन्दोलनकी रचनाओंको हम छः मुख्य वर्गोंमें बाँट सकते हैं—१. जिनमें किसी एक कलाको पूर्ण रूपसे लेकर उससे सम्बद्ध नियम या सिद्धान्तोंको किसी एक प्रणालीमें आबद्ध कर दिया जाता था या उस कलाकी किसी एक शाखा या जातिको नियम-बद्ध कर दिया जाता था। २. वे ग्रन्थ-मालाएँ, जिनमें विभिन्न कलाओंमें समता और विषमता स्पष्ट करनेके लिये आधार ढूँढ़ना ही प्रमुख समस्या होती थी। इन दोनों श्रेणियोंके लेखोंमें साधारणतः कलाकारकी प्रकृति और कर्त्तव्योंपर विचार होता था या व्यक्तिगत कवियों या चित्रकारोंकी प्रतिभा और उनकी सफल कृतियोंकी मीमांसा होती थी, किन्तु जिनमें कला या उनकी विभिन्न शाखाओं अथवा तत्सम कलाके उद्देश्यों और नियमोंकी व्यवस्थित व्याख्या नहीं होती थी। ३. कविके जीवन-चरितके अनुसार सिद्धान्त-निरूपण करके समीक्षात्मक मूल्याङ्कनको सामान्यसे विशिष्ट कर दिया गया। ४. अठारहवीं शताब्दिमें कलाके नियमों और कलाकारोंके लक्षणोंसे ध्यान हटाकर व्यक्तिगत रचनाओंके गुणों अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे विशिष्ट रचना-शैलियोंकी मीमांसा की जाने लगी। ५. अठारहवीं शताब्दिमें एक ऐसे प्रकारकी समीक्षा-पद्धति लोक-प्रिय हुई जो कलाके नियमों या कलाकारोंकी प्रकृति और सफलताओंके आधारपर न चलकर उन भावों और रुचियोंपर अवलम्बित थी जिनसे कला सुन्दर या असुन्दर समझी और पाई जाती है। ६. अन्तमें उन अनेक लेखोंकी श्रेणी आती है जिनमें समीक्षा, समीक्षाकी प्रकृति, उसकी उपयोगिता, उसके प्रकार और उसके इतिहासका विवेचन किया गया।

ड्राइडनसे जौन्सनकी मृत्युतककी अँगरेज़ी समीक्षा-पद्धतिकी इस एकाकी सुसङ्गठित कला-भावनाके आधारपर ही भावी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए जो एक ही बौद्धिक योजनाके साँचेमें होनेवाली विशेष प्रवृत्तियोंके बहुतसे रूप-मात्र थे। यह कला-भावना इतनी उदार थी कि इसके भीतर परिभाषाओं, भेदों, विवादके विषयों तथा प्राचीन और नवीन समीक्षा-प्रणालियोंकी बहुरूपताएँ सब घुली-मिली रह सकती थीं किन्तु उसकी परीक्षण-प्रणालीके सिद्धान्त अपने निराले थे। इस दृष्टिसे इस युगके प्रारम्भसे अन्ततक एक नियमित सिद्धान्त रहा जिसका ऐतिहासिक नाता यूनानकी अपेक्षा रोमसे अधिक रहा, जिसमें अरस्तूकी अपेक्षा हौरेस तथा लौंगिनसकी अपेक्षा क्विन्तीलियन अधिक आदृत

हुए और जिसके विश्लेषण और मूल्याङ्कनकी पद्धतियाँ भाषण-शास्त्रपर अधिक अवलम्बित होकर उस काव्य-शास्त्रसे असम्बद्ध रहीं जिनमें कविता या कलापर सार्वभौम मानवीय प्रभावकी दृष्टिसे विचार किया जाता है या किसी एक विशिष्ट वर्णनीय विषयके सिद्धान्तके अनुसार उसका विवेचन होता है।

## नवोदात्तवादी समीक्षा

यह नवोदात्तवादी समीक्षा अरस्तूकी समीक्षासे अधिक विस्तृत किन्तु प्लेटोकी समीक्षा-पद्धतिसे अधिक संकुचित थी। प्लेटोके मतानुसार ही इस समीक्षा-पद्धतिमें यह देखा गया कि कवियों या कलाकारोंको क्या करना चाहिए। अरस्तूके मतानुसार यह नहीं देखा गया कि कवियोंने क्या किया है और क्या कर सकते हैं। किन्तु इस पद्धतिमें प्लेटोसे यह भिन्नता भी थी कि ये लोग कविता, चित्रकला या सङ्गीतका आनन्द लेनेमें कुशल व्यक्तियोंके भावुकतापूर्ण निर्णय और सिद्ध रुचिको ही प्रभावित करना चाहते थे, दार्शनिकोंका ज्ञान या राजनीतिज्ञोंकी बुद्धि नहीं बढ़ाना चाहते थे अर्थात् वे लोकतन्त्रके प्रत्येक नागरिकको प्रभावित करनेके बदले शिक्षित लोकतन्त्रको प्रभावित करना चाहते थे। इस प्रकार उन्होंने समीक्षाकी उपयोगिता कवियों और कलाकारों, पाठकों और दर्शकों, श्रोताओं और कला-समीक्षकोंके लिये ही निश्चित कर दी। अठारहवीं शताब्दिमें एडिसन आदिने समीक्षाका क्षेत्र 'कल्पनाका आनन्द' ही बताया था किन्तु व्यवहारमें उन लोगोंने वास्तविक वस्तुओं और विचारोंसे भिन्न, कविताओं और चित्रोंके रूपात्मक पक्षका, उनके रचयिताओंकी प्रतिभा और रचना-क्रियाका या उनके पाठकोंकी स्वाभाविक माँगोंका सदा ध्यान रक्खा। नवोदात्तवादी समीक्षकोंने दोनों छोर छोड़कर हौरेस और क्विन्तीलियन आदि रोमवालोंसे प्रेरणा लेकर एक सार्वभौम मध्यम मार्ग अपना लिया जिसमें किसी भी ललित कलाकी समस्याओंपर चार दृष्टियोंसे विचार किया जा सकता था—१. कलाकार, २. कृति, ३. ग्राहक और ४. कला। अठारहवीं शताब्दिकी समीक्षा प्रायः इसी प्रकारकी है।

कलाके बदले कवि या कलाकारपर विचार करनेके लिये नवोदात्तवादी समीक्षकोंने एक ओर उसकी प्रकृति, प्रतिभा और कल्पनाका तुलनात्मक महत्त्व निर्धारित किया और दूसरी ओर कला, निर्णय, अनुकरण तथा

संस्कृतिपर विचार किया क्योंकि इन्हीं दोनों प्रकारके विचारोंसे कलाकारका निर्माण होता है और उसकी सफलताका मूल्याङ्कन होता है। जनताकी दृष्टिसे भी इस समय कलाके विशेष उद्देश्योंका विवरण दिया गया कि कलाकारका क्या कर्त्तव्य है ? शिक्षा देना, प्रभावित करना और प्रसन्न करना या अठारहवीं शताब्दिके समीक्षकोंके अनुसार केवल प्रसन्न ही करना ? इन सब प्रश्नोंको लेकर कला और कलाकार दोनोंकी सम्मिलित उपजके रूपमें भी कलाकी परीक्षा हो सकती थी किन्तु आगे चलकर यह शास्त्रार्थ व्यक्तिगत रुचियों और आदर्शों या स्थान और समयसे सम्बद्ध शैलियोंके भेद समझनेमें प्रवृत्त हो गया। ग्राहक या पाठकका विचार मनुष्योंके भावों और प्रकृतियोंसे ही सम्बद्ध होकर रह गया या उसपर शिक्षा, रुचि, राष्ट्रीयता, सामाजिक पद आदिकी दृष्टिसे विचार होने लगा।

नवोदात्तवादियोंकी एक यह भी बड़ी विशेषता थी कि ये लोग अपनी समीक्षा-पद्धतिमें प्राचीन उदाहरणों तथा प्राचीन कलाकृतियोंकी सदा दुहाई देते आए यहाँतक कि जौन्सन और ब्लेयर आदिकी समीक्षामें भी यह बात मिलती है। फिर भी इनके कलाके मानदण्ड या उद्देश्य किसी प्राचीन कलाकार या समीक्षकके मतपर अवलम्बित नहीं थे। रेनौल्ड्सने कहा था— 'जो कलाकी सीमाका विकास करना चाहता हो उसे अपने विचार पुरानी पुस्तकोंकी लकीरों और अपने पूर्वजोंके अभ्यासोंसे आगे बढ़ाकर उस ज्ञानतक पहुँचा देना चाहिए जिसके द्वारा प्रत्येक आनन्ददायक वस्तु ठीक-ठीक अनुपातमें समझमें आ जाय।' इस प्रकार एक विशिष्ट कलाके सिद्धान्त सब कलाओंके लिये प्रयोजनीय माने जाने लगे और इसी आधारपर कविता, चित्रकला और सङ्गीत सब एक श्रेणीमें गूँथ ली गईं।

धीरे-धीरे जब लोगोंकी यह भावना प्रबल हो चली जैसा ब्लेयरने कहा था कि 'जनता ही सबसे बड़ी निर्णायिका है, जिसके सम्मुख सब सुरुचिपूर्ण कृतियोंको उपस्थित होना चाहिए' तब प्राचीन कलाकारोंसे ध्यान हटकर पाठकों या दर्शकोंकी ओर घूम गया और समीक्षामें यह प्रयास होने लगा कि ऐसे सिद्धान्त निकाले जायँ जिनके आधारपर जनताकी स्थायी माँगोंको कलाकार तृप्त कर सकें।' अतः रुचिपरक समीक्षाके द्वारा जनता या दर्शकोंके लिये ऐसे सिद्धान्त बनाए जाने लगे जो कलाके शुद्ध उद्देश्यों और श्रेष्ठतम रूपोंसे मेल खाते हों। यद्यपि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी थीं किन्तु एक

दूसरीकी पूरक होनेके कारण अठारहवीं शताब्दिकी समीक्षात्मक कृतिमें उनके बीच रेखा नहीं खींची जा सकती ।

नवोदात्तवादी समीक्षाका इतना विवरण जान लेनेपर समीक्षा-पद्धतिमें उन विशिष्ट परिवर्त्तनोंको समझ लेना सम्भव है जिनके आधारपर सन् १७०० के पश्चात् राइमर और ड्राइडनके युगका जौन्सन, गोल्डस्मिथ तथा यङ्गके युगसे स्पष्ट भेद किया जा सकता है । इस सम्बन्धमें तीन मुख्य धाराएँ स्पष्टत: व्यक्त होती हैं—१. एक धारा तो वह थी जो यह विचार करती थी कि कलाओंकी खोज कलाकारके द्वारा की जानी चाहिए या समीक्षकके द्वारा की जानी चाहिए, और यह खोज भी सीधे मस्तिष्कमें ही या तो साधारण सम्प्रेक्षण या दर्शनके द्वारा की जानी चाहिए अथवा कलाकी महान् कृतियोंके अध्ययनके द्वारा । इस नवीन समीक्षाके आदर्शमें ( अठारहवीं शताब्दिके मध्यमें ) कलाकार अथवा कलाके नियम जाननेवाले कुशल समीक्षकको महत्त्व देनेके बदले उस दार्शनिक ( मनोवैज्ञानिक ) को अधिक महत्त्व मिलने लगा जो मस्तिष्ककी क्रियाओंपर विशेष विचार करता हो । फल-स्वरूप समीक्षाके भीतर उसके दो वर्ग हो गए—क. वह समीक्षा, जो पिछले कलात्मक अनुभवोंका संग्रह थी और ख. वे स्वाभाविक लक्षण, जिनपर किसी प्रकारके निर्णय या नियम फलत: अवलम्बित होने चाहिएँ । इस अर्थमें तत्कालीन अधिकांश समीक्षक जिनमें जौन्सन और रेनाल्ड्स भी सम्मिलित थे, दार्शनिक समीक्षयवादी नहीं थे और केवल मनकी क्रियाओंके उतने ही ज्ञानसे सन्तुष्ट थे जितना साधारण पढ़े-लिखे व्यक्तिकी बुद्धिमें समा सकता था । अन्तमें इसपर भी विचार हुआ कि 'क्या पढ़नेवालों या दर्शकोंकी प्रकृतिपर ही कला अवलम्बित है ।' धीरे-धीरे रुचिके मानदण्डकी समस्याओं तथा समीक्षात्मक निर्णयके क्षेत्रमें आनेवाले मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर भी विचार होने लगा ।

२. दूसरी धारा दर्शकों या पाठकोंकी दृष्टिसे विचार करती थी किन्तु उसका सम्बन्ध कलाकृतिके बदले कलासे ही था । सन् १७५९में गोल्डस्मिथने कहा था कि 'वास्तवमें सार्वभौम नियम तो बहुत थोड़ेसे हैं और ये नियम सभी लोग जानते हैं । इसलिये आवश्यक यह है कि समीक्षाकी एक ऐसी अन्ताराष्ट्रिय प्रणाली ढूँढ़ निकाली जाय जो विभिन्न जातियोंके भेदोंका अध्ययन करके उनके निर्णयों और नियमोंको तदनुसार ठीक-ठीक बैठा ले ।

३. अठारहवीं शताब्दिमें कुछ समीक्षकोंने यह भी कहा कि 'विभिन्न

कलाकारोंने विभिन्न समय और स्थानोंमें विभिन्न प्रकारके लोगोंके लिये अपनी रचनाएँ की थीं। उनपर ऐसे नियमोंको लगाना अनुचित है जिन्हें वे जानते भी नहीं थे और जिनका उन्होंने कभी ध्यान भी नहीं किया। अतः साहित्यिक इतिहासमें अठारहवीं शताब्दिके मध्यकी एक ऐसी इतिहास-श्रेणी ही बना दी गई।

समीक्षाकी इस त्रिधाराको पूर्ण करनेके लिये यह भी जानना चाहिए कि कलाकारकी दृष्टिसे समीक्षा करनेके सम्बन्धमें १७०० के पश्चात् क्या हुआ। इस समीक्षा-योजनामें कहा गया था कि 'कोई भी कलाकृति अपने कलाकार और कलाकी उपज है।' साथ ही यह भी कहा गया कि 'इस पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये कलाकार, उस प्रकृति या प्रतिभापर अवलम्बित है जो कला अर्थात् अन्वेषण ( इन्वेन्शन ), सज्जीकरण ( डैकोरेशन ) और अभिव्यञ्जन ( एक्स्प्रेशन ) को प्रभावित करता है तथा जो अभ्यास और आदर्शोंके अनुकरणपर अवलम्बित है। अतः इस वर्गके समीक्षकोंने एक ओर तो प्रकृतिको महत्त्व दिया और दूसरी ओर कलासे सम्बद्ध विभिन्न तत्त्वोंको। अतः १७०० से पूर्व और उसके कुछ पीछेतक अधिकांश समीक्षक कलापर अधिक बल देते थे और इसलिये कलाकारके परीक्षणके निमित्त उसकी कल्पना-शक्ति या अन्वेषणकी स्वाभाविक शक्ति अथवा कल्पना अथवा प्रतिभाकी दृष्टिसे ही उसपर विचार करते थे। यह बात राइमर और ड्राइडनमें भी मिलती है। कलाकारकी समस्यापर विचार करनेकी दृष्टिसे पोप और एडिसनके पश्चात् अठारहवीं शताब्दिके अधिकांश समीक्षक अपने पूर्वजोंसे इस बातमें भिन्न थे कि ये लोग प्रतिभा और कलापर समान बल देना चाहते हैं। इस प्रकारके साहित्यका प्रारम्भ एडिसनके एक निबन्धसे हुआ जिसमें उसने दो प्रकारके प्रतिभाशाली पुरुषोंके वर्ग बनाए—१. जिन्होंने नियमोंका अनुकरण किया, कलाके बन्धनोंको मान लिया और अपनी स्वाभाविक प्रतिभाकी महत्ता उसे अर्पित कर दी और २. जिन्होंने किसी विद्या या कलाकी सहायता लिए बिना ही केवल अपनी स्वाभाविक शक्तिके बलपर ऐसे ग्रन्थोंकी रचना की जो अपने युगके लिये उल्लासप्रद और भविष्यके लिये आश्चर्यके विषय बन गए। यद्यपि दोनों प्रकारोंके पक्ष-विपक्षमें बड़ा संघर्ष होता रहा किन्तु अन्तमें अधिकांश लेखक इसी मतके थे कि 'कलाके नियम जानने और अनुकरण करनेसे जो प्रतिभा उत्पन्न होती है, उसकी अपेक्षा

स्वाभाविक प्रतिभा अधिक महत्त्वकी होती है।' अठारहवीं शताब्दिकी समीक्षामें कलाकारकी स्वाभाविक शक्तिपर अधिक बल दिया गया और इस प्रकार कलाकी रचना या मूल्याङ्कनमें पाठकों या श्रोताओंका महत्त्व कम कर दिया गया। यही भावना अर्थात् कवि या कलाकारको प्रधान समझनेकी बात १८०० से और भी आगेतक चलती रही किन्तु अठारहवीं शताब्दिके मध्यसे आगेतक यह भी माना जाता रहा कि 'कवि अपने काव्यमें तभी श्रेष्ठता पाता है जब वह अधिकांश पाठकोंके विचारोंको ठीक-ठीक व्यक्त करता है।'

### उन्नीसवीं शताब्दि

मथ्यू आरनोल्डने सन् १८६५ में लिखा था कि 'जिस अन्तिम वस्तुके लिये कोई व्यक्ति अँगरेज़ी समीक्षाके पास आवेगा वह ठीक वही वस्तु है जिसकी योरोपको आवश्यकता है अर्थात् समीक्षा।' यद्यपि उसके निबन्ध 'वर्त्तमान कालमें समीक्षाका प्रयोजन' ( दि फंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म एट दि प्रेज़ेन्ट टाइम ) से मध्य विक्टोरियाई साहित्यिक समीक्षाको कुछ नई प्रेरणा प्राप्त हुई किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिके भड़कीले आडम्बरको उसने समाप्त कर दिया। इस युगमें चार मुख्य प्रकारकी समीक्षा दिखाई पड़ती थी— १. चलती-सी ( टैन्टेटिव ), २. आवृत्त्यात्मक ( रिविज़नरी ), ३. समीक्षातीत ( मैटाक्रिटिकल ) और ४. प्रभाववादी ( इम्प्रैशनिस्ट )। १. क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दिके इङ्गलैण्डके समाजको परिष्कृत करनेमें साहित्यका बड़ा हाथ रहा इसलिये साहित्यिक समीक्षामें साहित्यके मानदण्ड खोजने और उनका प्रयोग करनेके लिये बहुत-सा प्रयत्न या तो इसलिये किया गया कि कहीं कोई नवीन शैली न उठ खड़ी हो या इसलिये रचनात्मक प्रतिभाको रूढिके बन्धनोंसे मुक्त कर दिया जाय। उनके सामने उस समय अस्थायी अथवा चलती हुई ( एफ़ीमिरल ) समीक्षा-पद्धति थी जो पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होती जा रही थी। इनमें ऐसा बँधा-बँधाया समीक्षा-क्रम था जिसमें अठारहवीं शताब्दिके नियमोंके रूपका परीक्षण किया जाता था। इनमेंसे कुछमें तो पाठ-सम्बन्धी समीक्षा होती थी, कुछमें प्राचीन आचार्योंकी प्रशंसा की जाती थी, कुछमें उस ग्रन्थकी झूठी प्रशंसा की जाती थी, कुछमें ऐसी निन्दा होती थी कि जी भरकर कोसा जाता था, कुछमें स्पष्ट रूपसे किसी दलका समर्थन होता था जिसमें साहित्यिक समीक्षाकी अपेक्षा राजनीतिक दलका प्रचार अधिक होता

था और कुछ ठीक रूपसे समीक्षात्मक भी होती थी। सन् १८३५ के पश्चात् समीक्षाका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया और समीक्षक लोग धार्मिक तथा राजनीतिक सङ्घर्षमें भी भाग लेने लगे। उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें विक्टोरिया-कालका सामञ्जस्य समाप्त हो गया और दो परस्पर-विरोधीवाद चल पड़े—१. सौन्दर्यवाद (एस्थैटिसिज़्म) और २. विवेक-निरपेक्षतावाद (इर्रैशनलिज़्म)। धार्मिक तथा उपयोगितावादी समीक्षकोंने कई कृतियोंके सम्बन्धमें नैतिक मानदण्ड स्थापित किया और इस प्रकार इन लोगोंने राजनीतिक समीक्षकों (जेफ़री, गिफ़र्ड, लोखर्ट, विल्सन) के साथ गठबन्धन कर लिया जो नये स्वैरवादी मतका विरोध कर रहे थे।

कौलरिजने कहा था कि 'काव्यका उद्देश्य है आनन्द देना।' स्कौटने भी अपने उपन्यासोंकी प्रस्तावनामें अपने उपन्यासोंकी यही विशेषता बताई थी कि 'वे केवल आनन्द प्रदान करते हैं।' उसके पश्चात् मध्य उन्नीसवीं शताब्दिमें कारलाइलने समीक्षाका प्रयोजन बताया 'सामाजिक दोषोंका विश्लेषण करना'। रस्किन तो सभी कलाओंको समान मानता था इसलिये उसने सौन्दर्य और नैतिकता दोनोंका एक माध्यम स्थिर करके विस्तारसे दोनोंको मिलाकर विवेचन किया। आरनोल्डने समीक्षाको संस्कृति कहा है अर्थात् उसने समीक्षाको हैब्राइज़्म (कर्त्तव्य-बुद्धि) तथा हैलनिज़्म (चेतनता-द्वारा मुक्त सौन्दर्यका आनन्द) दोनोंके बीचका सन्तुलन बताया। फिट्ज़्जेरालडके 'रुबाइयात उमर ख़य्याम' (१८५९) के प्रकाशित होते ही यह सन्तुलन टूट गया। पेटर स्विनबर्न, मौरिस और जे० ए० सिमौन्ड्सने सौन्दर्यवाद (एस्थैटिसिज़्म) को विभिन्न प्रकारसे समीक्षाका आधार बताया और सबने रचनात्मक कलाकी शक्तिका लोहा भी स्वीकार किया। विवेकवादी समीक्षक मौर्ले, हैरिसन तथा स्टीफ़ेंसन आदिने मनुष्यके विकासकी वैज्ञानिक और प्रत्यक्षवादी (पौज़िटिविस्ट) विचार-धाराओं विशेषतः डार्विनके विकासवादकी नई ऐतिहासिक प्रणालियोंके प्रभावसे सब प्रकारके उदात्त विचारोंको ऐतिहासिक शक्ति ही बताया। इससे स्वभावतः एक जीवन-चरितात्मक प्रकारकी समीक्षा प्रकट हो आई। सौन्दर्यवादी मतके सम्बन्धमें विवेकवादी समीक्षक जौन मौर्लेने लिखा है कि 'हमारे देशमें जो बुद्धिवादी शक्तिकी साधारण-सी सुरसुराहट धीरे-धीरे सुनाई पड़ रही है उसका कमसे कम उस मौलिक विद्वत्तापूर्ण शक्तिशाली समीक्षा-पद्धतिकी अपेक्षा कोई

विशेष भविष्य नहीं दिखाई पड़ता। इस युगके कल्पनात्मक स्वैरवादी विचार बहुत भब्भड़ और हल्ला करते हैं। गम्भीर लोगोंका पहला कार्य तो यह है कि दर्शन और दार्शनिक धर्म-विज्ञानके विरोधी दलों-द्वारा जो यह निरर्थक काण्ड चलाया जा रहा है इससे अपनेको मुक्त कर लें। इस प्रकार इनसे मुक्त होनेपर स्वभावतः हम प्राचीन कालके समीक्षा-रूपकी ओर प्रवृत्त हो जायँगे जिसमें कोई भी व्यक्ति हो-हल्लेसे दूर रहकर किसी शास्त्रार्थ या विचार-विमर्शमें स्वस्थ होकर भाग ले सकता है।'

२. इस चलती-सी समीक्षाके बदले आवृत्यात्मक समीक्षाकी एक धारा चली जिसमें अधिकांश विद्वानोंने भाग लिया और जो अनुवादी तथा उचित टिप्पणियाँ लिखकर प्राचीन उदात्त युगके प्रसिद्ध विचारकों तथा वर्त्तमान योरोपके समीक्षकोंसे सम्पर्क स्थापित करते रहे। इस धारामें बाइबिलकी सुन्दर समीक्षा हुई, उदात्त साहित्यके यूनानी और लातिन पाठकोंका सुधार हुआ, उनकी समीक्षा हुई, शेक्सपियरके नाटकों और काव्यकी समीक्षात्मक परीक्षा हुई, एँग्लो-सेक्सन युगसे विक्टोरिया-कालतकके बड़े-बड़े लेखकों और उनकी कृतियोंके जीवनके सम्बन्धमें ऐतिहासिक खोजें हुईं तथा हिब्रू और जर्मन पुस्तकोंके पाठोंपर भी समीक्षात्मक विद्वत्तापूर्ण विचार किए गए। इसी धारामें नई समीक्षा-पद्धतिके आधारपर शेक्सपियरके ग्रन्थोंकी महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ लिखी गईं जिनमें एडवर्ड डाउडनका 'शेक्सपियर : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ हिज़ माइण्ड एण्ड आर्ट' (१८७५) और ए० सी० ब्रेडलेका 'शेक्सपीरियन ट्रैजेडी' (१६०५) प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इनका और भी आवृत्यात्मक महत्त्व यह था कि इन्होंने शेक्सपियरको वर्त्तमान आदर्श कवि सिद्ध किया जिससे शेक्सपियरकी प्रतिभा, उसके पात्र, उसके काव्य-वैभव और उसके दर्शनमें अनेक समीक्षकोंकी प्रतिभा उलझ गई।

३. साहित्यिक प्रक्रिया और रचनाके मौलिक सिद्धान्तों और नियम खोजने और उनकी व्याख्या करनेका भी नियमित प्रयास हुआ। जौर्ज सेन्ट्सबरीने इस प्रकारके विचारोंको समीक्षातीत (मैटाक्रिटिकल) कहकर उसे अलग कर दिया था किन्तु यह समीक्षातीतवाद ही कुछ विद्वानोंके मतसे वास्तविक साहित्यिक समीक्षा है क्योंकि इस प्रकारकी बौद्धिक जिज्ञासासे ही विशिष्ट साहित्यिक कृतियोंकी समीक्षाके परे व्यापक नियम और व्यापक सिद्धान्तकी स्थापना की जाती है। सेन्ट्सबरीने आरनोल्डके समान ऐसे सब

प्रश्नोंकी उपेक्षा की—'कविता क्या है? जीवन-चरित किसे कहते हैं? उपन्यास कैसा होता है? त्रासद क्या होता है? प्रहसन किसे कहते हैं।' कुछ छिट-पुट समीक्षकोंने नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित और शैलीकी परिभाषा देनेका प्रयत्न किया किन्तु 'कविता क्या है,' इसका उत्तर देनेके लिये अनेक और महत्त्वपूर्ण प्रयास किए गए।

४. यदि समीक्षातीतवाद विभिन्न प्रकारके काव्य-रूपोंकी बाह्य दृष्टिसे सार्वभौम शुद्ध परिभाषाएँ खोजता था तो अनातोले फ्रान्सके शब्दोंमें प्रभाववाद ( इम्प्रेशनिज्म ) केवल 'महान् लेखकोंके ग्रन्थोंमें किसी आत्माके साहसपूर्ण प्रयासोंको अङ्कित कर रहा था। यद्यपि ये सेन्त ब्यूवेकी 'लेखमाला' ( कौज़री ) से प्रभावित थे किन्तु इनकी राष्ट्रीय उत्पत्ति लैम्ब, डीक्वेंसी और हैज़लिटके साहित्यिक निबन्धोंसे हुई जिसे आरनोल्डने 'माधुर्य और प्रकाश' कहा है। ये माधुर्य और प्रकाश अग्राङ्कित लेखकोंकी कोमल तथा सुन्दर शैलियोंमें व्यक्त हुए—आर्थर सीमन्स, सर आर्थर क्विलर काउच, एण्ड्र्यू लैंग, सर एडमण्ड गौस, एडवर्ड डाउडन, ए०सी० बेंसन, आर्थर क्लटन ब्रोक, सिडनी काल्विन, स्टौफर्ड ब्रुक और जौर्ज सेन्ट्सबरी। ये सब समीक्षक अत्यन्त संस्कृत रुचिके थे और अपने समकालीन समीक्षकोंके आवृत्यात्मक तथा समीक्षातीत विचारोंके प्रयासोंसे परिचित भी थे। फिर भी इन लोगोंने आरनोल्ड और पेटरकी प्रवृत्तिका ही अनुगमन किया। यद्यपि इन्होंने उन समीक्षकोंके बौद्धिक विचारोंकी धज्जी भी उड़ाई किन्तु साथ ही विक्टोरिया-युगके औचित्य और साहित्यिक शीलका उदाहरण भी उपस्थित किया।

५. आरनोल्डके समाह्वानपूर्ण निबन्धके पहले और पीछेकी समीक्षा मुख्यतः राष्ट्रीयतावादी थी। इन लोगोंने समाजको ही सम्बोधित न करके मध्य तथा निम्न कोटिकी जनतामें वेगसे फैलनेवाली साक्षरताके कारण उस नई पठित जनताको भी आकृष्ट किया जो या तो उदात्तवादी समीक्षा-सिद्धान्तोंसे पूर्णतः उदासीन थी या उसे समझनेमें असमर्थ थी। इस प्रकार पूरी शताब्दि-भर समीक्षाकी समीक्षा ही होती रही। यद्यपि उसके कुछ अवाञ्छनीय रूप भी सम्मुख आए किन्तु उसने हमारी शताब्दिको समीक्षा-कौशल, अध्यवसाय तथा परिणामोंके रूपमें जो शक्ति दी है वह महत्त्वपूर्ण भी है और बहुमुखी भी।

१९०० के पश्चात्

बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें कोई भी एक समीक्षक या कोई एक समीक्षा-पद्धति प्रधान नहीं रह गई थी। मेथ्यू आरनोल्ड और वाल्टर पेटर दोनोंके प्रभाव अनेक क्षेत्रोंमें और विभिन्न रूपोंमें विद्यमान थे। आरनोल्डकी समीक्षाके नैतिक आधारकी प्रतिक्रियाके रूपमें 'कलार्थ कला'की धूम मची किन्तु वह न तो बहुत फैली न स्पष्ट रूपसे प्रतिष्ठित ही हुई। साधारणतः गम्भीर समीक्षक अत्यन्त सहनशील, उदार और गम्भीर थे। बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें साहित्यिक मूल्याङ्कनके स्वरूपके सम्बन्धमें वैसा कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं था जैसा अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें पाया जाता है। जौर्ज सेन्ट्सबरी जैसे समीक्षक ( १८४५ से १९३३ ) में सहनशीलता तो थी किन्तु साथ ही सिद्धान्तका भी अभाव था किन्तु ऐसे समीक्षकोंकी रुचि अत्यन्त संस्कृत थी और उनमें यह भी शक्ति थी कि वे सामान्य ग्रन्थोंका भी आनन्द ले सकते थे। उनकी प्रणाली कुछ प्रभाववादी थी, कुछ विद्वत्तापूर्ण, अर्थात् वे जब किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकारकी समीक्षा करते थे तो वे इस बातका भी भावात्मक वर्णन करते थे कि उस विषयके प्रति समीक्षककी क्या प्रतिक्रिया होती है, उस कृतिकी रचना-व्यवस्थाका भी परिचय देते थे और लेखकके जीवन-चरित, उसके अभ्यास और मतका भी विवरण देते थे।

गम्भीर समीक्षामें विद्वत्तापूर्ण रूढि ही प्रधान थी। सेन्ट्सबरीकी सहनशील वाचालता, एडमण्ड बोसका जीवन-चरित-संयुक्त प्रभाववादी विवेचन, एडवर्ड डाउडनका सजगतापूर्ण ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक विवरण, सिडनी कालिवनका ठोस और विस्तृत जीवन-चरितात्मक, समीक्षात्मक और सम्पादकीय लेखन, डबल्यू० जे० कोर्टहोपका श्रमपूर्ण साहित्यिक इतिहास, ए० सी० ब्रेडलेका विचारपूर्ण कौलरिजी अध्ययन, हरफोर्डका स्पष्ट किन्तु अगम्भीर ऐतिहासिक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ, डब्लू० पी० केरकी ओजपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण ऐतिहासिक कल्पनाएँ, जे० डबल्यू० मेकाइलका सुन्दर विचारपूर्ण सौन्दर्यवाद, एण्ड्रयू लैङ्गकी बहुमुखी, नरशास्त्रात्मक और ऐतिहासिक समीक्षाके रूपमें बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ चल रही थीं। उस समय समीक्षक होनेकी लालसा प्रत्येक विद्वान्में थी इसीलिये इंग्लैण्डमें विद्वान् और समीक्षकमें वैसा भेद नहीं रहा जैसा जर्मनी और अमेरिकामें था। प्रायः विद्वान् समीक्षकोंकी रुचि प्राचीनतावादी थी जो उन्हीं ग्रन्थोंको श्रेष्ठ

समझते थे जो समयके थपेड़ोंमें भी दृढ़ होकर खड़े रह सकें। इसीलिये समकालीन साहित्यके प्रति न तो ये सहनशील थे और न उसकी ओर प्रवृत्त थे। जिस नैतिक आधारवाली साहित्य-समीक्षाके साथ वाल्टर पेटर, डी० जी० रोज़ेटी, ऑब्रे ब्रीयड्‌सले और ऑस्कर वाइल्डके नाम भ्रमसे जोड़ दिए गए हैं, उसके विरुद्ध अनेक प्रकारसे भीषण विद्रोह हुए जो सौन्दर्यके मूल्यको अधिक सटीकताके साथ परिभाषित करना चाहते थे। इन आन्दोलनोंके अतिरेकने १८८० में ही इसका अन्त भी कर दिया किन्तु इस मण्डलका सबसे अडिग पंडित और विश्वासी सदस्य आर्थर सीमन्स अकेला ऐसा बचा जो बीसवीं शताब्दिके तीसरे दशकतक अपनी बातपर अड़ा रहा।

आरनोल्डके समान वाल्टर पेटर भी उन्हीं लोगोंकी श्रेणीमें है जो नैतिक और धार्मिक आधारपर किसी कलाकी महत्ता और श्रेष्ठता नापनेका प्रयास करते हैं। आरनोल्ड और पेटरके सम्मिलित प्रभावके ही कारण उस युगमें विद्वत्तापूर्ण समीक्षाका प्रसार हुआ जिसने सेन्ट्सबरीको भी प्रभावित किया। आरनोल्डके विचारोंको अमेरिकाके नवमानवतावादियोंने एक नये रूपमें ढालकर अँगरेज़ी समीक्षामें पुनः ला दिया है क्योंकि टी०एस० ईलियटने इर्विङ्ग बैबिटका यह सिद्धान्त मान लिया है कि 'व्यक्तित्वका स्वैरवादी सिद्धान्त, प्रभाववादके विरुद्ध प्रतिक्रिया, सत्त्ववादिता ( सब्जैक्टिविज़्म ) तथा वर्त्तमान साहित्यमें व्याप्त सम्पूर्ण व्यक्तिवादी परिपाटियाँ अनुत्तरदायित्वसे भरी हुई हैं।' ये लोग फिरसे नियम, सिद्धान्त तथा पक्षपातहीन समीक्षाके फेरमें पड़ गए किन्तु ईलियटने टी० ई० हुल्मेसे प्रेरणा प्राप्त करके इस समस्याको एक विचित्र रूपमें ही उपस्थित किया।

समीक्षा-संस्कारपर हुल्मेका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। उसने नियम-पालन, व्यक्ति-निरपेक्षता और ठोस कल्पनाके प्रयोगपर अधिक बल दिया और पुनर्जागरणकालसे जो दार्शनिक पद्धति चली आ रही थी उसका घोर विरोध किया। उसने रूसो-द्वारा प्रचारित 'मनुष्यकी मौलिक श्रेष्ठता'के विचारका विरोध किया और कहा कि 'जबतक यह विश्वास नहीं होगा कि मनुष्य मूलतः पापी है तबतक कलाका जन्म ही नहीं हो सकता।' वह प्रगतिवाद और वर्त्तमान सभी शक्तिवादी कलाओंका विरोधी था। उसका मत था कि 'मानवतावादी प्रवृत्तिको छोड़कर धार्मिक प्रवृत्ति ही ग्रहण करनी चाहिए।' हुल्मेने टी० एस्० ईलियट्को बहुत प्रभावित किया। उसने जो नियम

बनाए उन्होंने अमेरिका और ब्रिटेन दोनोंके बिम्बवादियों ( इमेजिस्ट्स ) को प्रभावित किया। उसका कहना है कि 'कविको किसी वस्तुके वर्णनके लिये ठोस, नीरस, सटीक बिम्ब ही ग्रहण करने चाहिएँ।' बिम्बवादी समीक्षकों और कवियोंने हुल्मेके ही नियमोंका ठीक-ठीक पालन किया। माइकेल रौबर्ट्स जैसे कुछ नये समीक्षकोंने भी हुल्मेके मतको ही पुनः व्यवस्थित किया है। यद्यपि हरबर्ट रीड जैसे लोग हुल्मेके मतानुयायी तो नहीं हैं फिर भी उससे प्रभावित अवश्य हैं। लासेल्स एबरक्रौम्बी ( १८८१ से १९३८ ) अत्यन्त समझदार और उदार समीक्षक है जिसने स्वैरवादी आधारपर कविताकी उदार और बुद्धिसङ्गत सिद्धान्त-व्याख्या की। जौन मिडिल्टन मरी ( जन्म १८८९ ) वही परानुभववाद ( ट्रान्सेन्डेन्टल एप्रोच ) चलाते रहे और 'अनन्त' के चारों ओर संगृहीत भावोंको ही प्रधान मानते रहे जिन्हें हुल्मे निरर्थक समझता था। यद्यपि मरीने अपने इस ग्रन्थमें अत्यन्त विचारशीलता और व्यञ्जनाशीलताका परिचय दिया है किन्तु वह जब विस्तारसे विचार करने लगता था तब वह अस्पष्ट मिथ्या-रहस्यवाद ( ज़ूडो-मिस्टिसिज़्म ) की भूल-भुलैयामें उलझ जाता था।

दूसरे प्रकारके समीक्षा-क्षेत्रोंमें दूसरे ही आधार मान्य हो रहे थे। जी०के० चेस्टर्टनकी साहित्यिक प्रवृत्ति इतिहासकी भावकतापूर्ण नैतिकतासे रँगी हुई थी किन्तु वह भावकता, वाग्वैदग्ध्यसे इतनी अधिक आवृत रहती थी कि अच्छे बुद्धिमान् लोगोंको भी उसमें आनन्द आता था। एफ्० एल्० लूकस् ( जन्म १८९४ ) उदात्तवादी था और हुल्मेका विरोधी था। उसने सभी प्रयोगात्मक और नवीन साहित्यिक प्रगतियोंपर एक विरोधमाला ही लिख डाली है, क्योंकि वह समझता है कि ये सब नवीन धाराएँ ह्रासोन्मुख और पतित स्वैरवादी आदर्शके परिणाम हैं। इसीके साथ-साथ उसने अत्यन्त उच्च श्रेणीके प्राचीन योरोपीय लेखकोंके उदात्त शास्त्रार्थोंका भी खण्डन किया है। प्राचीनतावादका अत्यन्त प्रबल समर्थक सी० एस्० लुइस् हुआ है, जो विद्वान् होनेके साथ-साथ वर्त्तमान अँगरेज़ उदारपन्थियोंमें सबसे अधिक प्रगल्भ है। अपने समीक्षा-ग्रन्थोंमें उसने अपने धर्मप्रेरित 'सामान्य समझका सिद्धान्त' ( थ्योरी औफ़् कौमन सेन्स ) से समकालीन साहित्यिक मूर्खताओंपर सुन्दर व्यंग्योक्तियाँ कसी हैं किन्तु कुछ वर्त्तमान समस्याओंके प्रति उसने कुछ पलायनवाद अथवा निम्न कोटिके उपेक्षावादका भी परिचय दिया है।

नवीन मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी एक धारा १९२० में आई। आइ० ए० रिचार्ड्स (जन्म १८९३) ने अपने समयमें भी प्रधान रूपसे व्याप्त अस्पष्ट प्रभाववादकी प्रतिक्रियाके रूपमें साहित्यके मूल्याङ्कनको सटीक तथा वैज्ञानिक बनानेका प्रयत्न करते हुए यह दिखाया कि 'साहित्यका उद्देश्य पाठकके मनमें सुसन्तुलित मनोवैज्ञानिक परिस्थिति उत्पन्न करना है।' उसने शब्द और उसके कार्यकी भली प्रकार परीक्षा की और साहित्यिक कृतिमें प्रयुक्त शब्दोंके पारस्परिक सम्बन्धकी प्रकृतिका परीक्षण भी किया। इस प्रकार उसने समीक्षात्मक विश्लेषणके कौशलके साथ अर्थ-विज्ञानमें रुचिका संयोग कर दिया। उसने साहित्यिक परीक्षणके सिद्धान्तको मानवतावादी मनोविज्ञानपर आश्रित करनेकी जो पद्धति चलाई उसका बहुत लोगोंने अनुगमन किया।

फ्रौएडके मनोविज्ञानने भी साहित्यिक समीक्षाको बहुत प्रभावित किया है किन्तु यह प्रभाव साहित्यिक प्रकारकी दृष्टिसे ही अधिक पड़ा, मूल्य या गुणकी दृष्टिसे कम। फलतः अनेक ग्रन्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टि या उद्‌गमकी दृष्टिसे परीक्षित किए गए किन्तु 'उन विवेचनोंका किसी कृतिके गुणों या विशेषतासे क्या सम्बन्ध है' इसपर विचार नहीं किया गया। फ्रौएडी समीक्षाको हम इतिहासका एक प्रकार समझ सकते हैं किन्तु वह मानदण्ड नहीं स्थापित कर सकी। ऐतिहासिक रूपमें यह वैसी ही है जैसे पहले लोग किसी ग्रन्थकारकी पृष्ठभूमि और उसपर पड़े प्रभावका अध्ययन करते थे। यह कार्य इस पूरे युगमें अनेक समीक्षक कर रहे थे विशेषतः वर्जीनिया वुल्फ़ (१८८२ से १९४१) ने इसका विशेष सफलतापूर्ण निर्वाह करते हुए प्रयत्न किया कि किसी कृतिकी महत्ता उन परिस्थितियोंकी दृष्टिसे परीक्षित की जाय जिनमें वह पहली बार रची और पढ़ी गई थी। किन्तु वर्जीनिया वुल्फ़ इस प्रकारकी समीक्षामें ही नहीं बँधी रही। वह अपनी इस ऐतिहासिक प्रणालीको छोड़कर सौन्दर्यवादकी मूल समस्याओंसे जा उलझी। इस विषयमें उसका मत था कि 'वास्तविकताकी व्याख्या ही साहित्य है इसलिये उसमें वस्तुओंका भौतिक स्तर दिखाकर ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए वरन् अनुभवके महत्त्वपूर्ण पक्षोंको आत्मसात् करनेवाली प्रवहमान व्यक्तिगत दृष्टिपर भी ध्यान देना चाहिए।'

जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक समीक्षक लोग मूल उद्‌गमका अध्ययन ही प्रधान मानते रहे वहाँ दूसरी ओर मार्क्सवादी और सम-मार्क्सवादी लोगोंने

सामाजिक दृष्टिसे भी विचार करना आरम्भ किया। यह समाजवादी भावना भी फ्रौएडकी मनोवैज्ञानिक भावनाके साथ ही साथ आ पहुँची थी। बहुतसे युवक समीक्षकोंने साहित्यको सामाजिक उद्गमके दृष्टिकोणसे समझानेके लिये निबन्ध लिखे किन्तु इन्होंने भी यही भूल की कि इस झोंकमें वे उद्गमकी परिस्थितियों तथा रचनाके गुणोंका सम्बन्ध नहीं समझा पाए। १९३० के कुछ युवक कवियों (औडन, स्पेंडर, डे लुइस) ने साहित्यिक समस्याओंपर साहित्यके वर्गवादी उद्गमकी सम-मार्क्सवादी भावनाका प्रयोग करना प्रारम्भ किया।

इस युगके साहित्यिक पत्रोंने ही समीक्षात्मक विचारोंपर वास्तविक प्रभाव डाला जिनमें विभिन्न मतोंके समीक्षक अपने विचार व्यक्त करते रहे। कुछ ऐसे भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र समीक्षक हुए जो किसी दल या मतसे बँधे हुए नहीं थे। एडविन म्योर (जन्म १८८७) अत्यन्त स्वतन्त्र और प्रतिष्ठित समीक्षक, कवि, उपन्यासकार, जीवनीकार और अनुवादक माना जाता है। अपने समीक्षा-ग्रन्थोंमें उसने वर्त्तमान मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान-द्वारा प्रस्तुत साधनोंको स्वीकार तो किया है किन्तु उन्हें किसी एक ही ढङ्गसे प्रयोग करनेके सम्बन्धमें उसने कण्ठी नहीं बाँधी है। बोनामी डोब्री (जन्म १८९१) भी इस युगके विद्वान् समीक्षक हैं जो निरन्तर साहित्यिक विषयों तथा समकालीन साहित्यिक समस्याओंके सम्बन्धमें विचार करते रहते हैं। विन्ढेम लुइस (जन्म १८८४) ने अपने युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका खुलकर विद्रोह किया है। दोनों महायुद्धों और वर्गवादी प्रवृत्तियोंने इंग्लैन्डके साहित्यिकोंको भी प्रभावित करना आरम्भ कर दिया है। देखें ऊँट किस करवट बैठता है।

---

# स्कैन्डीनेवियाई समीक्षा-पद्धति

## [ डैनिश, आइसलैन्डिक, स्वीडिश और नौर्वेजी समीक्षा ]

नौर्वे, डेनमार्क, आइसलैण्ड, स्वीडन और फ़िनलैण्डके स्वीदिशभाषी क्षेत्रोंमें सर्वप्रथम तेरहवीं शताब्दिमें स्नोरी स्टरलूसन-द्वारा लिखित 'प्रोज़ एदा' में साहित्यिक समीक्षा दिखाई पड़ती है, जो कवियोंके लिये सर्वप्राचीन पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ है। यद्यपि उसका अनुप्रासका नियम अब भी आइसलैन्डकी कवितामें पालन किया जाता है फिर भी उसका स्काल्डिक साहित्य कुछ तो अनियमितताके कारण और कुछ निरर्थक भरती ( फ़ैनिङ्ग्स ) के कारण शीघ्र ही नष्ट हो गया। परिणाम यह हुआ कि स्कैन्डिनेवियन साहित्यमें १५०० ई० तक आइसलैण्डके गद्य 'सागा' और लातिन या धार्मिक साहित्यका ही लेखा-मात्र है। इस क्षेत्रमें केवल देशी गीत और लोक-गीत ही अधिक लिखे गए। इस दृष्टिसे डेनमार्कमें समीक्षाको विशेष शक्ति प्राप्त हुई। पुनर्जागरणसे उत्तरीय देशोंमें जो सुधार ( रिफ़ौर्मेशन ) की लहर चली उसके कारण रोमसे सब धार्मिक सम्बन्ध टूट गए और स्कैन्डिनेवियाके सब देशोंमें अपनी-अपनी भाषाएँ चल पड़ीं जिससे इन देशोंमें स्वतन्त्र रूपसे राष्ट्रीय भावनाका विकास हुआ। कहा जाता है कि डैनमार्कके किसी मानवतावादी आरहसने १५४६ ई० में ध्वनि-विज्ञानपर ग्रन्थ लिखा था। उसके अतिरिक्त कुछने अतीत इतिहासपर, कुछने पद्य-रचना-कौशलपर और कुछने काव्य-शास्त्र आदिपर भी लिखा था। रानी क्रिस्तिनाका राजकवि तथा स्वीडिश कविताका सर्वमान्य कवि स्तीर्नहयेल्म नये प्रभावोंसे प्रभावित था। उसके शिष्य एस्० कोलम्बसने स्वीदी शब्दोंका रूप ठीक किया और इस प्रकार अनेक लोगोंने नई विचार-धाराओंके साथ नव-अरस्तूवादका संरक्षण किया। तीस वर्षीय युद्धके पश्चात् स्वीडनके

साहित्यमें भी राष्ट्रीय भावना आ गई जो उसके प्रसिद्ध लेखकके नामपर 'रूडबेकियावाद' कहलाता है। अठारहवीं शताब्दिमें डालिनने इसका विरोध किया और स्ट्रैन्डबर्गने इसकी खिल्ली उड़ाई। १६६७ में दाल्स्तयेर्नाने राजा एकादश चार्ल्सकी प्रशंसा लिखकर स्वीदी साहित्यमें नव्यतावाद (मारिनिज़्म) का प्रचलन किया।

१७०० ई० से पूर्व स्कैन्डिनेवियाके साहित्यपर जर्मनी, इटली और फ़्रांसका प्रभाव था। अठारहवीं शताब्दिमें डेनमार्कपर तो जर्मनीका प्रभाव रहा किन्तु शेष क्षेत्रपर फ़्रांसीसी और अँगरेज़ी प्रभाव रहा और वहाँकी सम्पूर्ण समीक्षा ब्वालो, वौल्तेया, एडिसन, पोप और स्विफ़्टके चारों ओर घूमती रही। तात्पर्य यह है कि एक ओर विवेक था और दूसरी ओर प्रकृति। धार्मिकता तथा भावुकता आदिके प्रवर्त्तक रूसो और क्लौपस्टौक थे। एस्० वी० त्रिवाल्दने स्वीडनमें अपने समकालीनोंके काव्योंपर जब नवोदात्तवादी सिद्धान्तोंका प्रयोग किया तब डालिनने प्रबुद्धता (एनलाइटेनमेन्ट) का आन्दोलन चलाया और अँगरेज़ी 'स्पैक्टेटर' पत्रकी शैलीपर वर्त्तमान साहित्यिक स्वीडिश गद्य चलाकर सब राष्ट्रीय विषयोंको फ़्रांसीसी रूपमें ढालनेका प्रयत्न किया। उसकी साथिन फ़्रूनौर्डेनफ़्लिख़्टने अपने घरमें स्वीडनका प्रथम साहित्यिक केन्द्र खोल दिया। बर्क लिन्टने काव्यात्मक समीक्षाको नियमित कला मानकर आगे बढ़ाया और निश्चित सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तोंपर अपनी कृतियोंकी रचना की। एन० वी० रोज़ेन्स्टीनने प्रबुद्धतापर एक लेख लिखा तथा गिलेनबोर्गने विवेक और सुरुचिका पक्ष लिया। डेनमार्क और नौर्वेमें अठारहवीं शताब्दिके प्रथमार्द्धमें हौलबर्गकी व्यंग्य, विवेकात्मक भावनाका बोलबाला रहा जो स्कैन्डिनेवियाका इतिहासकार, नाटककार और सम्भवतः प्रथम महान् लेखक था। उसने कहा कि 'काव्यमें नवीनता और उपादेयता होनी चाहिए।' उसने मोलिए, सर्वान्ते और शेक्सपियरसे प्रेरणा प्राप्त की थी। कौपेनहैगनमें एक फ़्रांसीसी उदात्तवाद और शुद्ध काव्याभिव्यक्तिके लिये नार्वेजियन छात्र-मण्डली खुली और भावकतापूर्ण सुखान्त नाटकके क्षेत्रमें के० एल० राहबेक्की समीक्षाका अधिक प्रभाव पड़ा।

किन्तु उसीके साथ-साथ पूर्व-स्वैरवादियों (प्री-रोमांटिसिस्ट्स) की वह धारा भी चल रही थी जो बँधे हुए नियमों या फ़्रान्सीसी प्रभावोंकी विरोधिनी

थी। स्वीडनमें १६६९ में ही छन्दमुक्त तथा ऊबड़-खाबड़ चरणोंमें कविता लिखी जाने लगी थी। फ्रू नौर्डेनफ़्लिख़्टने अत्यन्त विषादपूर्ण और भावात्मक प्रगीत लिखे। कुछ लेखकोंने अतुकान्त छन्दपर लेख लिखे, काव्यमें भाव और प्राकृतिक योग्यताको आवश्यक बताया और त्रासद ( ट्रेजेडी ), परिवृत्ति ( पैरडी ) के माध्यमसे अनुकरण, कृत्रिमता और फ़ान्सीसी रूप-नियमोंपर आक्षेप किए। उन दिनों फ़िनलैन्डमें पोर्थनने देशी लोक-गीतोंका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। रूसो, फ़ौन्तेने और टौम्सनके प्रभावसे नौर्वेके सी० बी० तुलिनने ग्राम-काव्यको काव्यके अन्तर्गत स्वीकार कर लिया था क्योंकि वह प्रकृति और जीवनके सबसे पुराने रूपपर आश्रित थी। स्वीडिश समीक्षक जे० एफ़्० नौकटरने कहा कि 'व्यक्तिगत प्रतिभा जिसमें होती है वही कवि होता है, नियम सीखनेसे कवि नहीं बनते।' इसी प्रकार रेगनरने भी फ़ान्सीसी प्रवृत्तियोंका खण्डन किया। परिणामतः अन्य देशोंके समान स्वीडनमें भी विवेक और भाव तथा नियम और स्वच्छन्दताका झगड़ा उठ खड़ा हुआ। एक ओर फ़ान्सीसी उदात्तवादके नेता के० जी० औफ़् लियोपोल्ड और जे० ए० केलग्रेन थे। दूसरी ओर विरोधमें ओसियन, रूसो और क्लौपस्टौकका पूजक टी० थौरिल्ड था जो कहता था कि 'कवितामें नियमके अतिरिक्त कुछ अपना साहित्यिक गुण भी होना चाहिए।' १७८६ में स्वीडिश एकेडेमीकी स्थापना हुई जिसके सदस्योंने साहित्यिक और नाटकीय सिद्धान्तपर निर्णयात्मक विचार व्यक्त किए। इसके पश्चात् आया स्वैरवाद।

काव्यमें सौन्दर्यके पक्षपाती स्वीडिश दार्शनिक होइयरने कान्ट और फ़िख़्टेको ला धरा। दूसरी ओर जो निरीश्वरवादी लोग प्रकृतिको ही सब कुछ मानते थे, उन्होंने सबको स्वैस्वादी विचारोंमें ही ढाल देनेका प्रयत्न किया। उस समय वहाँ दो प्रकृतियाँ चल रही थीं—१. जर्मन प्रभावमें दार्शनिक प्रवृत्ति, और २. राष्ट्रीय प्रवृत्ति, जिसके अनुयायी लोग अपनी देशी कथाओंसे अपने ग्रन्थोंके विषय ले रहे थे। यह विरोध १८०९ से १८२१ तक वेगसे चला। टैगनर आदिने इन स्वैरवादियों ( फ़ौस्फ़ोरिस्टों ) पर अस्पष्टताका दोष लगाया। पीछे चलकर अन्य लोगोंने भी उसका खण्डन किया। गेजरने कहा कि 'कलामें नौर्स देवताओंका अधिक प्रयोग न किया जाय।' पीछे चलकर इन देवताओंकी और गोथिक स्कूलकी खिल्ली उड़वाई गई। डेनमार्कमें बैगेसन नामक विवेकवादीने 'ओहलेन्श्लैगर' नामक उस संस्थाका

बड़ा विरोध किया जो दर्शनवादी और स्वराष्ट्रवादी भावनाओंका समन्वय करा रही थी। किन्तु सभी सम्प्रदायोंके स्कैन्डिनेवियावाले यह अवश्य मानते थे कि 'हमारे लोकगीत छपने ही चाहिएँ।' इसे भी स्वैरवादी विद्रोहकी एक विजय ही समझनी चाहिए।

स्कैन्डिनेवियामें समीक्षाके दोनों दल पूर्णतः सन्तुलित थे और सुधार, विवेकपूर्णता तथा प्रगतिके पक्षपाती थे। विवेकवादके प्रसिद्ध विरोधी एन० एफ़० एस० ग्रन्टविगने डेनमार्कमें एक प्रकारका नया स्वैरवाद या धार्मिक स्वैरवाद चलाया। उन दिनों यथार्थवादका बोल-बाला था और पद्यके बदले गद्य लिखा जाने लगा था। विचित्र स्वीडी प्रतिभाशाली आल्मक्विस्ट भी स्वैरवादी विषयोंसे घूमकर समाजवादी और स्त्रीवादी (फैमिनिज़्म) विषयोंकी ओर चला गया। उधर कुछ लोग ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहे थे और कुछ महिलाएँ घरेलू जीवनकी कथाएँ कह रही थीं जो यह चाहती थीं कि साहित्यमें सत्य भावनाका प्रवेश हो। कुछ लोग टैगनरकी कवितामें स्वैरवादी प्रभावपर आक्षेप कर रहे थे। उधर स्वीडनके स्वाभाविकता-वादी (हेलेनिस्ट) और मानवतावादी रिडबर्गने उदारतावादका प्रचार प्रारम्भ कर दिया था और डेनमार्कमें जहाँ उन्नीसवीं शताब्दिके प्रथमार्द्धमें यथार्थवादी तत्त्व अभी नहीं आया था वहाँ जे० एस० हीबर्गने समीक्षाकी एक प्रणाली ही प्रारम्भ कर दी और ओहलैन्श्लेगरकी भावना और कल्पनावादिताके विरुद्ध आदर्शवाद और यथार्थवादके सम्मिश्रणका पक्ष लेकर युद्ध छेड़ दिया। स्वीडनमें हियर्त्ताके नेतृत्वमें यथार्थवाद और उदारतावादकी धूम मच गई। सन् १८६० के लगभग सौन्दर्यवाद और समीक्षापर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। उन विद्वानोंका मत था कि 'सत्यके आधारपर कलात्मक यथार्थवाद और सौन्दर्य खोजा जाय।' कुछ लोगोंने उत्तरी यथार्थवादमें स्कैन्डिनेवियावाद प्रारम्भ किया और कुछने वास्तविक स्वरूप उपस्थित करनेकी यथार्थवादी भावनाके अनुसार डेनमार्कके लोकगीतोंका सम्पादन किया।

आइसलैण्ड, फ़िनलैण्ड और नौर्वेमें यथार्थवाद भी कुछ स्वैरवाद और राष्ट्रीयतावादसे मिल-जुल गया था। सन् १८३० में नौर्वेमें वैलहेवेन चाहता था कि 'डेनमार्क और नौर्वेकी मिली-जुली संस्कृतिका प्रचार होना चाहिए और अत्युत्साहपूर्ण राष्ट्रीयताको बहुत आगे नहीं बढ़ाना चाहिए।'

फिनलैंडके प्रसिद्ध समीक्षक सिग्नियसने रूनबर्गके लोकतन्त्रात्मक यथार्थवादकी व्याख्याके अतिरिक्त लोक-साहित्यका अध्ययन किया और स्थानीय महाकाव्य 'कलेवाला' में त्रासदीय तत्त्व ढूँढ निकालनेका प्रयत्न किया। सन् १८४० में जब नौर्वेमें किसान-आन्दोलन चला तब प्राचीन नार्वेजी भाषाके आधारपर नई देशी नौर्स भाषा बनी और विन्जे तथा गार्बोर्ग जैसे बड़े-बड़े लेखकोंने उसे साहित्यिक माना। राजनीतिक दृष्टिसे शक्तिशाली और एकता-मूलक राष्ट्रीयतावाद तब आरम्भ हुआ जब इब्सन और ब्योर्नसन दोनोंने बर्गन और नार्वेजियन आसलो थिएटरोंकी स्थापना की। ब्योर्नसनके नाटकों और उपन्यासोंमें यद्यपि था तो स्थानीय चित्रण ही किन्तु उसका प्रभाव सार्वभौम था। इन प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त सौन्दर्यात्मक समीक्षाके लिये भी पत्र निकले। सन् १८७० में विद्वान्, आन्दोलनकारी और शक्तिशाली समीक्षक गेयोर्ग ब्रान्डेने प्रगतिशील योरोपीय साहित्यिक आन्दोलनोंके आधारपर स्कैन्डीनेवियामें प्रकृतिवादके लिये मार्ग खोल दिया, जिसका एच० बांग और हैनरिने यौन्तोपिडानने डेनमार्कमें, इब्सन आदिने नौर्वेमें, स्ट्रिंडबर्गने स्वीडनमें और आइसलैन्डमें समीक्षक पालसनने अनुगमन किया, जिसने वर्त्तमान गद्यके प्रवर्त्तक लाक्सनेसका और 'गत्यात्मक वर्त्तमानवाद'के प्रवर्त्तक पोरोरसन्का मार्ग खोल दिया। किन्तु जो उत्तरी क्षेत्र हृदयसे प्रगीतात्मक और मनोवैज्ञानिक था वह मनसे यथार्थवादी होनेपर भी इस विषादपूर्ण यथार्थवादको नहीं सहन कर सका चाहे वह वैज्ञानिक सत्य ही क्यों न रहा हो। १८६० के लगभग एक 'नवस्वैरवाद' (निओ-रोमान्टिसिज़्म) नामकी प्रतिक्रिया हुई, जिसने कल्पना और कलाको कलाके लिये ही प्रमुख आधार माना। बुकडाह्ल और रोडे नामक डेनोंने ब्रान्डेसके मतका विरोध किया। नार्वेजी क्नुट हेम्सनने राष्ट्रीयतावादका प्रचार किया। स्वीडनमें जाने-अनजाने हीडेनस्टाम और सेल्मा लेगरलोवने इसका विरोध किया। इस विद्रोहके प्रमुख समीक्षक थे लेवर्टोन और वीरसेन। इस स्वैरवादी पुनरावृत्तिने अनेक रूप धारण किए—प्राच्य विदेशवाद (ओरिएन्टल ऐग्ज़ौटिसिज़्म), राष्ट्रीयतावाद, आत्मसुखवाद (स्टोइक मौरलिज़्म), सौन्दर्यवाद, प्रतीकवाद, रहस्यवाद, अभिव्यञ्जनावाद, कलात्मक यथार्थवाद युक्त कैथोलिसिज़्म या स्वाभाविकतावाद (हैलिनिज़्म) आदि। आइसलैन्डमें विद्वान् समीक्षक नार्डलने एक नई स्वैरवादी भावना चलाई जिसमें उसने साहित्यमें

विकासवाद ( डार्विनिज़्म ) का प्रयोग किया। अन्य धाराओंमें गम्भीर निराशावाद और वर्गवादकी झलक मिलती है।

विशिष्ट नाटकीय समीक्षा उन अनेक ग्रन्थों और लेखोंमें मिलती है जो रङ्ग-समीक्षक ब्राटन, ब्राण्डेस, हेडबर्ग आदिने लिखी है। स्कैन्डिनेवियाने तीन बड़े नाटककार उत्पन्न किए हैं—होलबर्ग, इब्सन और स्ट्रिन्डबर्ग। इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय सामग्रीके आधारपर बहुतसे ऐतिहासिक लोकप्रिय नाटक लिखे गए हैं। यह बात सत्य है कि नाटकोंकी भाषामें अधिक अलङ्कार और लाक्षणिकता आ जानेसे नाटकीय व्यापार अस्पष्ट, रचना शिथिल और चरित्र-चित्रण अत्यन्त अनिश्चित हो गया। स्कैन्डिनेवियाकी पत्र-पत्रिकाओंमें समीक्षाका स्तर बहुत ऊँचा मिलता है यद्यपि यह सत्य है कि उनमें अपने देश-वासियोंकी प्रशंसा, वर्णन और व्याख्या अधिक रहती है तथा बाह्य प्रभावोंका वे लोग सचेष्ट होकर विरोध करते हैं। किन्तु उसके साथ-साथ उनके काव्य-निर्णयमें असाधारण स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सूक्ष्म दृष्टि तथा विदेशी प्रवृत्तियोंको अध्ययन करने तथा अपनानेमें अत्यन्त विवेक दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि स्कैन्डिनेवियामें अत्यन्त प्रतिभाशाली समीक्षक हुए हैं और हैं किन्तु बूक, गेओर्ग ब्रान्डेस, ग्रन्टविग, कीरकेगार्ड, शूक और स्नोरी स्टर्लुसनके अतिरिक्त अधिक लोग बाहर प्रसिद्ध नहीं हो पाए। यद्यपि वहाँ शैली, रुचि और दर्शनकी दृष्टिसे बाह्य प्रभाव कुछ-कुछ आता रहा है विशेषतः स्वीडनमें, किन्तु फिर भी स्कैन्डिनेवियाकी समीक्षण-पद्धतिमें यह विशेषता रही है कि उसने अपनी विवेचना-शक्ति और राष्ट्रीयताकी भावना बनाए रक्खी है।

---

# अमरीकी समीक्षा-पद्धति

अमरीकाकी खोज १२ अक्टूबर सन् १६४२ को जिनोआ-निवासी क्रिस्टोफ़र कोलम्बसने की थी। उसके पश्चात् विभिन्न देशोंके समुद्री यात्री वहाँ जाने लगे और उपनिवेश बनाकर रहने लगे। ये विभिन्न देशवासी लोग अपने साथ अपने देशकी भाषा और उसका साहित्य भी लेते गए और ले जाते रहे हैं। इन लोगोंने उस देशके मूल निवासियोंको दास बनाकर उनके सब संस्कार नष्ट कर डाले और उनपर अपनी भाषा और अपने संस्कारोंका पक्का रङ्ग चढ़ा दिया।

प्रारम्भसे लेकर सन् १९१९ तक अमरीकी साहित्यमें समीक्षाके पाँच आदर्श क्रमशः मान्य होते रहे—

## नवोदात्तवाद

१. सर्वप्रथम मूलतः नवोदात्तवाद ( निओ - क्लासिसिज़्म ) था जो तत्कालीन ब्रिटिश साहित्यादर्शोंकी प्रतिध्वनि तो था ही, साथ ही अमरीकाके रूढ नैतिकवाद और उपयोगितावादके आदर्शोंसे भी प्रभावित था। उस समय 'रेप ऑफ़ दि लौक' के प्रणेता एलेग्ज़ान्डर पोप तो कविताके आदर्श माने जाते थे और स्विफ़्ट माने जाते थे गद्यके। लार्ड केम्सके 'समीक्षाके तत्त्व' ( एलीमेन्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म १७६२ ), ह्यू ब्लेयरके 'भाषण-शास्त्रपर व्याख्यान' ( लेक्चर्स औन ह्रिटौरिक, १७८३ ), आर्कीबाल्ड एलीसनका 'रुचिकी प्रकृति और उसके सिद्धान्त' ( नेचर ऐण्ड प्रिन्सिपिल्स ऑफ़ टेस्ट, १७९० ) जैसे ग्रन्थोंसे उन दिनों समीक्षाके आदर्श ग्रहण किए गए और उन्हीं आदर्शोंपर प्रारम्भिक रचनाएँ हुईं। इस रूढ नवोदात्त-काव्यवाद ( नियो-क्लासिसिज़्म ) के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दिके उत्तर भागमें दो धाराएँ विशेष रूपसे अमरीकामें प्रचलित हुईं जिनमें प्राकृतिक उपमाएँ, सक्रमता और स्पष्टता ( पर्सपिकुइटी ) अधिक थी और जिनमें

भावोंकी अभिव्यक्ति इस प्रकार स्पष्ट रूपसे की जाती थी कि वह सरलतासे सबकी समझमें आ सके। क्रान्तिके पश्चात् जो दूसरी धारा चली उसमें राष्ट्रीयता तथा रूढ़ि-विद्रोही भावना अधिक थी। फ्रैंकलिन आदि कुछ लेखकोंने तो अपनी रचनाओंमें विज्ञानको ही साहित्य-साधनाका आदर्श बनाया।

सन् १७७० ई० में जान ट्रम्बुलने 'ललित कलाओंके प्रयोग और लाभपर निबन्ध' ( ऐस्से औन दि यूज़ एण्ड एड्वान्टेज औफ़ दि फ़ाइन आर्टस् ) में योरोपीय लेखकोंकी पण्डितम्मन्यताकी प्रशंसा और दासात्मक अनुकरणके आधारपर की हुई रचनाओंमें विलासपूर्ण स्त्रैणता और मिथ्यापूर्ण रुचिको बहुत धिक्कारते हुए कहा है कि 'लेखकको अपनी रचनामें सर्वसाधारण और स्वाभाविक अभिव्यञ्जनाका प्रयोग करना चाहिए।'

अमरीकी नवोदात्तवाद ( नियोक्लासिसिज़्म ) का श्रेय, टिमोथी ड्वाइट, जौन विद्रस्पून तथा जौन क्विन्सी एडम्सकी प्रेरणाको है। पत्रकारिताके क्षेत्रमें नवोदात्तवादका प्रवर्त्तन किया सी० बी० ब्राउनने, जो रचनाओंमें शुद्धता, शिष्टता, औचित्य, नैतिकता और राष्ट्रीयताकी भावनाओंको अधिक आवश्यक समझते हैं। इन्हींके दूसरे साथी थे जोसेफ़ डेनी, जो ब्राउनसे भी अधिक प्रतिक्रियावादी थे किन्तु उन्होंने ही अमरीकी पाठकोंको वर्डस्वर्थ और कौलरिजका परिचय कराया था।

सर्वप्रथम श्री डब्लू० सी० ब्रायन्टने इन नवोदात्तवादियोंका यह कहकर विरोध किया कि 'इन लोगोंने अँगरेज़ी नवोदात्तवादियोंका कुछ कुरूप तथा कृत्रिम अनुकरण किया है।' उसने कहा कि 'काव्यमें विवेकसे सुनियन्त्रित कल्पना और भावनाका सुन्दर समन्वय होना चाहिए।' किन्तु साथ ही उसने वर्ड्सवर्थकी प्रशंसा की तथा मौलिकता, राष्ट्रीयता और छन्दकी बन्धन-मुक्तिके लिये प्रचार किया। सन् १८१५ में 'नौर्थ अमेरिकन रिव्यू' पत्रने जर्मन साहित्य-धाराओंका विशद विवेचन करके स्वैरवादी परानुभववाद ( रोमैन्टिक ट्रान्सेन्डेन्टलिज़्म ) का मार्ग खोल दिया।

सन् १८१०-१८३५ तककी सम्पूर्ण अमरीकी समीक्षा व्यापक रूपसे समाजवादी सिद्धान्तोंसे ओतप्रोत है। उनका कहना है कि 'समीक्षकको समाजका ऐसा प्रहरी श्वान होना चाहिए कि जहाँ समाजमें कोई दुर्बलता,

उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता, अनीति उत्पन्न हो वहीं वह गुर्राकर भूँकने लगे और अनीति करनेवालेको काट खानेके लिये भी सन्नद्ध रहे।' चार्वाटका मत है—'समीक्षकका काम यह है कि जहाँ कहीं उच्छृङ्खलता, अनैतिकता, व्यभिचार, अनाचार, रूढिवादिता, निराशावादिता, रहस्यवादिता, अन्ध-विश्वास और अहङ्कारका प्राधान्य देखे वहीं उनपर आक्रमण कर बैठे।'

## परानुभववाद या अध्यात्मवाद ( ट्रान्सेन्डेन्टसिज़्म )

२. नवोदात्तवादी आदर्शके स्थानपर जेन्स मार्श-द्वारा प्रवर्त्तित स्वैरवादी ( रोमान्टिक ) या परानुभवादी ( ट्रान्सेन्डेन्टलिज़्म ) आदर्श चला। इन परानुभववादी समीक्षकोंने नवोदात्तवादियोंपर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया कि 'ये लोग बाहरी नाम और रूपपर और नियमोंके प्रयोगपर अधिक ध्यान देते हैं।' अतः इन लोगोंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'कविकी आन्तरिक अध्यात्म शक्तिकी ओर विशेष ध्यान देकर उसीको रचनाका मुख्य आधार स्वीकार करना चाहिए।' कौलरिजके सखा और अनुगामी एकेश्वरवादी या एकरूपेश्वरवादी ( यूनिटेरियन ) डब्लू० ई० चैनिङ्गने काव्य-समीक्षाका यह आदर्श सुझाया कि 'काव्य वही है जो हमारे बाह्य जीवनसे परे हमारे अन्तरात्माको बाँधे और अपनी रहस्यात्मक क्रियाओंको इस प्रकार खोलकर रख दे कि बाह्य प्रकृतिसे नये-नये बिम्ब और सन्देश ग्रहण करके वह हमारे आन्तरिक संसारके रहस्योंको भासमान कर दे।' इस आदर्शके अनेक अनुयायी हुए।

नोवा पोर्टर ( १८७६ ) ने इस नई समीक्षाको जर्मनीसे प्रवर्त्तित मानकर उसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'इन नवीन समीक्ष्यवादियोंने स्वयं साहित्यका पूर्ण स्वरूप ही निर्धारित कर दिया है। यह समीक्षा अधिक उदार, सहनशील, गुणान्वेषी और दार्शनिक है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विश्व-बन्धुत्व और सर्वसहत्वकी उदार भावना निहित है क्योंकि इनका मूल मन्त्र ही यह है कि कोई भी समीक्षक किसी लेखकके प्रति तबतक न्याय नहीं कर सकता जबतक वह स्वयं लेखकका स्थान ग्रहण करके उसकी दृष्टिसे रचनापर विचार न करे।' इन नये समीक्षकोंका उद्देश्य लेखकका परीक्षण करना उतना नहीं है जितना लेखककी भावनाको पुनः प्रतिष्ठित करना। इन समीक्षकोंका यह भी पक्ष है कि वे लेखककी कृतियोंसे

ही उनके समयका विवेचन करें और उनके हृदयके रहस्य तथा उनके चरित्रकी गुप्त धाराओंको हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष कर दें।'

अपने चरित्र, व्यक्तित्व और शैलीके बलपर परानुभववादी आदर्शको अमरीकामें अधिक लोक-प्रिय बनानेका श्रेय है आर० डब्लू० इमर्सनको। उसका विश्वास था कि स्वयं 'ईश्वरने सद्गुणपर सौन्दर्यको अङ्कित कर दिया है, सम्पूर्ण अभिव्यक्ति सावयव या व्यवस्थित होती है और वह किसी भी उत्तेजित भावके अनुसार तत्काल फूट पड़ती है।' इमर्सन यह नहीं मानता था कि 'साहित्य केवल एक यान्त्रिक क्रिया है कि जब जिसने जो चाहा लिख मारा।' उसका मत था कि 'प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें कभी-कभी सहसा किसी एक भावका स्फुरण होता है और उस स्फुरणके परिणाम-स्वरूप उसके मुख या लेखनीसे सुव्यवस्थित, पूर्ण तथा साङ्गोपाङ्ग अभिव्यक्ति होती है। इसी अभिव्यक्तिको कविता और रचना कहते हैं।' वह मानता है कि 'समीक्षक वही हो सकता है जिसमें कवित्व-शक्ति हो समीक्षकको ऐसा कवि होना चाहिए कि वह किसी लेखककी विचार-सरणि तथा उसके मस्तिष्कके विशिष्ट गुणोंको स्पष्ट रूपसे समझा सके।' कान्टके पश्चात् इमर्सन ही ऐसा आदर्श लेखक था जो साहित्यकी इस दृष्टिसे परीक्षा करना चाहता था कि 'मनुष्यकी उच्चतम कल्पनाओंमें वास करनेवाली रूप-शैलियोंके पास कहाँतक साहित्य पहुँचता है।' उसका मत था कि 'समीक्षा वहींतक सङ्गत, न्याय्य और वैध है जहाँतक वह प्रकृतिके उस रूपका निर्धारण करती है जिससे कविताका मेल ठीक-ठीक बैठता हो। समीक्षाका मूल सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह पाठकको यह शिक्षा दे कि जिस भावनासे किसी महाप्रतिभाशाली कविने देशकालाद्यवच्छिन्न काव्यकी रचना की है उसकी वही भावना वास्तविक स्वरूपमें पाठक ग्रहण कर ले। अतः समीक्षा संहारक न होकर पथ-प्रदर्शक, शिक्षक और अनुप्राणक होनी चाहिए।' उसने कहा है कि 'हमारी दृष्टिमें अमरीका भी एक कविता है।' इस आधारपर उसने देशके प्रतिभाशाली लेखकोंको आमन्त्रण दिया है कि आप लोग अमरीकाके अस्तित्वकी सर्वसाधारणप्रिय भावनाएँ एकत्र करके उन्हें लेखबद्ध कर डालें और सार्वभौम आध्यात्मिक नियमोंको प्रतीकात्मक बना दें। किसी कामर्में लेखक-द्वारा प्रस्तुत व्यापक नैतिक आदर्शोंका विवरण देते हुए इमर्सनने बताया है कि 'संसारमें जो हम अनेकता देखते हैं उसमें मानव-जातिकी आध्यात्मिक शक्तिका अखण्ड

एकत्व व्याप्त है।' उसने यह भी बताया कि 'रचनामें शैलीकी सुन्दरता और आशावाद हमें अनुप्राणन-शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करता है।'

## सौन्दर्यात्मक और मानवतावादी समीक्षा

३. अध्यात्मवादियों ( ट्रान्सेन्डेटलिस्ट्स ) ने जो अत्यन्त प्रशंसात्मक सहानुभूति और आध्यात्मिकता प्रदर्शित की उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें एक तीसरे प्रकारका समीक्षात्मक आदर्श उपस्थित हो गया और वह था 'शुद्ध सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे साहित्यका मूल्याङ्कन करना।' इस समीक्षा-शैलीके सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं ई० एलन पो, जिन्होंने आजकलके अत्यन्त निम्न कोटिके लेखकोंकी समीक्षाके लिये विचित्र अस्त्र-शैली ( टोमाहौक ) का प्रयोग किया, जिससे कि समीक्षामें जो नीतिवाद, निरर्थक संकुचित स्वदेशवाद तथा जान-बूझकर कलात्मक कौशलका अभाव आने लगा था वह दूर कर दिया जाय। सन् १८४२ में उसने अपने 'एग्ज़ोर्डियम' में कहा कि 'समीक्षकको किसी ग्रन्थके मतोंसे इतना ही सम्पर्क रखना चाहिए जिससे उसे यह निर्णय करनेमें सुविधा हो कि कविने उन मतोंका प्रतिपादन किस कौशलसे किया है।' पोने समीक्षाका कार्य केवल कलाकी व्याख्या करना ही बताया है। उसका मत है कि 'समीक्षकको समीक्षाके नियमोंमें न बँधकर पूर्णतः स्वतन्त्र होना चाहिए।' वह ई० पी० ह्विपिलको सर्वश्रेष्ठ समीक्षक मानता था। पोने विवेक, काव्यरूप और काव्यतत्त्वोंके सुसङ्घटनपर अधिक बल दिया ( जो अठारहवीं शताब्दिका मूलमन्त्र था )। कौलरिजके समान वह भी मानने लगा था कि 'प्रत्येक ग्रन्थका अलग-अलग नियमोंके अनुसार समीक्षण करना चाहिए।' उसने समीक्षकका प्रधान कार्य यह बताया है कि 'वह दोषोंका निर्देश और विश्लेषण करे।' उसका यह भी मत हो गया कि 'सौन्दर्य-द्वारा आनन्द प्राप्त करना ही काव्यका सिद्धान्त है, सत्यके द्वारा नहीं।' वह कविता और सङ्गीतको समान समझता था अर्थात् वह गेय कविताको अधिक श्रेष्ठ समझता था। पोने ही सर्वप्रथम छोटी कहानीके रचना-कौशलको व्यवस्थित किया और बताया कि छोटी कहानीमें—१. संक्षिप्तता ( कौम्प्रेशन ), २. तात्कालिकता ( इमीजिएसी ), ३. पूर्णता ( फ़ाइनैलिटी ) और ४. सत्यतुल्यता ( वेरीसिमिलिट्यूड ) के द्वारा 'एक पूर्ण प्रभाव ( टोटैलिटी औफ़ इफ़ैक्ट ) उत्पन्न करना चाहिए, अर्थात् छोटी कहानीके द्वारा एक पूर्ण प्रभाव इस प्रकार उत्पन्न करना चाहिए कि वह संक्षिप्त हो, घटनाएँ

तात्कालिक रूपसे उपस्थित हों, सत्य प्रतीत होती हों और पूर्ण हों अर्थात् उसके सम्बन्धमें कुछ और जानना न रह जाय।

लौवेलने अत्यन्त प्रशंसात्मक सहानुभूति और अध्यात्मवाद (परानुभव-वाद) के दो परस्पर विरुद्ध पक्षोंके बीच अँगरेज़ी 'सामान्य बुद्धि' (कौमन सेंस) का मध्यम मार्ग स्थापित किया। यद्यपि लौवेल व्यक्तिगत रूपसे इमर्सनका बड़ा प्रशंसक था किन्तु अध्यात्मवादियोंकी यह कहकर हँसी उड़ाता था कि 'ये लोग आत्माकी आन्तरिक विभूतियोंको रहस्यात्मक उपायोंसे प्राप्त करना चाहते हैं।' उसने कहा कि 'भाषा-शास्त्र, शैली और रूप आदि विशिष्ट साहित्यिक सामग्रीका समीक्षण करनेके लिये नैतिक दृष्टिके साथ-साथ साहित्यका भी विस्तृत ज्ञान आवश्यक है।' लौवेलने तीन रूप ग्रहण किए—(क) सन् १८९० के लगभगतक वह मानवतावादकी दुहाई देता रहा, (ख) १८६७ के लगभगतक वह राष्ट्रीयतावादका राग अलापता रहा और उसके पश्चात् (ग) 'महान् साहित्यमें सुरक्षित मानवताके परम्परागत अनुभव-द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तिके आत्मविजय'की बात करता रहा। उसका सर्वप्रमुख कार्य हुआ 'अमरीकी प्रदेशवाद' (रीजनलिज़्म) की स्थापना, जिसके द्वारा उसने ग्रामीण सुरुचिको ऊपर उठाया और पुस्तकीय लेखोंपर आक्रमण करके आग्रह किया कि 'लोक-भाषामें मौलिक लोक-साहित्यकी रचना होनी चाहिए।' इसीके साथ-साथ उसने 'कला-विहीन, सौन्दर्य-भावनाहीन तथा अत्यन्त सङ्कुचित स्वदेश-प्रेमकी भावनामें मग्न लोगोंको अपने सांस्कृतिक अतीतके वैभवसे परिचित करानेका भी स्तुत्य प्रयास किया। लौवेलने यूनानियोंके साहित्यके लिये स्वयंपूर्ण (एब्सोल्यूट) मूल्याङ्कन-सिद्धान्त (जज्मेन्ट) का ही समर्थन किया। इसका तात्पर्य था कि 'साहित्य अत्यन्त सावयव तथा सुसङ्गठित हो और उसके नैतिक उपदेश शाश्वत और सार्वभौम हों।' अमरीकाके इस सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और सर्व-विद्याविशारद समीक्षक लौवेलकी समीक्षामें मौलिकता, सहानुभूति, सूक्ष्म दृष्टि और कल्पनात्मकता थी, इससे उसका प्रभाव और भी दुगुना हो गया था।

## निर्णयात्मक समीक्षा

निर्णयात्मक समीक्षाका दूसरा आचार्य था ई० सी० स्टेडमेन, जिसने समीक्षाकी व्याख्या और परिभाषा बताते हुए कहा कि 'समीक्षा वह कला

है जो यह बता सके कि कोई ग्रन्थ कहाँतक औचित्यपूर्ण है।' इसे हम क्षेमेन्द्रके समान औचित्यवादी मान सकते हैं। उसका कहना था कि 'हमें काव्यका परीक्षण, सत्यता, सौन्दर्य और नीतिकी एकता और समताके उन रूढ सिद्धान्तोंके द्वारा ही करना चाहिए जिन्हें मनुष्य स्वभावतः समझ सकता है और पिछली शिक्षाओंकी दृष्टिसे उनकी जाँच कर सकता है।' इस दृष्टिसे वह इमर्सन और पो दोनोंसे सहमत था, किन्तु वह न तो पोकी निर्णयात्मक पद्धतिको ही मानता था और न उपदेशवादका विरोध ही ठीक समझता था। अपने 'कविताकी प्रकृति और तत्त्व' ( नेचर ऐण्ड एलिमेन्ट्स ऑफ़ पोइट्री, १८९२ ) में उसने कहा है कि 'कविता वास्तवमें नैतिकतासे नहीं वरन् शुद्ध सौन्दर्यसे उत्पन्न हुई है क्योंकि शील या गुणके सबसे बड़े शत्रु गद्यात्मक नीति या उपदेश हैं। सौन्दर्य स्वयंपूर्ण और बाह्य रूपात्मक है। प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कविताकी सृष्टि कर सकता है।' उसने अग्रद्रष्टा होकर कहा है कि 'साहित्यिक विकासका रचनात्मक साधन समीक्षा ही हो सकती है।'

## यथार्थवादी समीक्षा

४. स्टेडमैनके विकीर्ण विचारों, अधिक आलङ्कारिताके प्रयोगों, दब्बूपन और अस्पष्ट प्रभाववादिताके रूपकके कारण एक चौथे प्रकारका समीक्षात्मक आदर्श निकल आया जिसे विकासवादी विज्ञान और विश्वबन्धुत्ववादी लोकतन्त्रने प्रेरणा दी। इस नये समीक्षात्मक आदर्शने यथार्थवादपर अधिक बल देकर कहा कि 'सर्वसाधारण समाजकी जाँच और परख की जाय।' इस नई समीक्षा-वृत्तिने 'हिपोलाइट टेन' के अनुसार यह घोषित किया कि 'लेखकके समय, स्थान और जातिके अनुसार साहित्यको रूप होना चाहिए।' इस आदर्शका सर्वप्रसिद्ध अग्रणी था वाल्ट ह्विटमैन, जो केवल कवितामें ही नहीं वरन् समीक्षाके क्षेत्रमें भी विद्रोही सिद्ध हुआ। उसने कहा कि 'अमेरिकामें ऐसी स्वदेशी अभिव्यञ्जना-भावनाकी आवश्यकता है जो स्वतन्त्र हो, विज्ञान तथा अपनी लोकतन्त्रात्मक भावनाके सिद्धान्तोंसे परिप्लुत हो।' उसका कथन था कि 'साहित्यको जनताका दैवी दर्पण होना चाहिए।' इस आधारपर उसने लोकतन्त्र-विरोधी या लोकतन्त्रकी भावनासे भिन्न साहित्यका बड़ा कड़ा विरोध किया। इसलिये जहाँ एक ओर उसने सेक्सपियरको गायकोंमें सर्वोच्च कहकर उसकी प्रशंसा की है वहाँ उसने

जनताको शेक्सपियरके सामन्तवादसे सावधान भी किया है। इसी धारामें उसने 'स्कौट, टेनिसन और कार्लाइलको गतिशील राजनीतिके लिये घातक कहा है और बर्न्सको दलितोंका पक्ष लेनेके लिये प्रशंसित किया है। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा है कि 'बर्न्समें अमेरिकाके लिये आदर्श बननेकी बहुत कम आध्यात्मिक क्षमता है।' पीछे चलकर ह्निटमैनने अपनी प्रारम्भिक धारणाओंको विश्वबन्धुत्वकी भावनामें परिणत कर डाला और सार्वभौम भावनाका समर्थन करते हुए कहा कि 'साहित्यको मानवमात्रकी दैवी भावनाका आदर करना चाहिए।' ह्निटमैनकी समीक्षामें दो बड़े दोष थे—(क) उसने कुछ बातोंको अनावश्यक महत्त्व दिया और (ख) जो एक विचित्र मानदण्ड उसने निर्धारित किया उससे परे देखनेका उसने कभी प्रयत्न नहीं किया।

अमरीकाके कल्पनात्मक कथा-साहित्यके यथार्थवादी समीक्षकोंमें सर्वश्रेष्ठ विलियम डीन हौवेल्स हुआ है क्योंकि उसने एक ओर तो स्वदेशीय लोकतन्त्रकी भावनाके साथ विज्ञान और उसकी विभिन्न प्रशाखाओंका समन्वय किया और दूसरी ओर टौल्स्टौयके विकासात्मक नीतिवाद और टेनके कार्य-कारणवाद (डिटर्मिनिज़्म) का सामञ्जस्य स्थापित कर लिया। उसने लिखा है कि 'अपने अनुभवको सत्य रूपमें सम्भावनीय उद्देश्यके साथ व्यक्त करना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद वास्तवमें वृत्तितः लोकतन्त्रात्मक है और उसकी मुख्य कलात्मक कर्त्तव्यता यही है कि वह साधारण लोगोंकी सर्वसाधारण भावनाओंका अभिव्यञ्जन करे। यथार्थवादीका कर्त्तव्य है कि वह संसारको उसी बाह्य उपयोगितावादी दृष्टिसे परखे जैसे वैज्ञानिक परखता है, जो न तो आदर्श स्थापित करता है न कुछको चुनकर अलग करता है वरन् बिना किसी योजनाके स्वतः जीवनको ही अभिव्यक्त करता है।' हावेल्सका यह भी विश्वास है कि 'साहित्यका वास्तविक ग्रथन होना तो चाहिए नैतिक दृष्टिसे ही किन्तु सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे भी उसे अच्छा होना चाहिए जिससे पूर्ण नैतिकतासे समन्वित सौन्दर्यात्मक परिणाम निकल सके।' विज्ञानकी प्रेरणासे हौवेल्सने कहा कि 'समीक्षक भी वनस्पति-शास्त्रीके समान साहित्यका सम्प्रेक्षण, गति-लेखन, तुलना और विश्लेषण करे और तब उसके प्रभावोंको एकत्र करके परिणाम निकाले। यही समीक्षाका अनिर्णयात्मक और बाह्य कार्य होना चाहिए।' हौवेल्सकी अपेक्षा हैनरी जेम्स अधिक रूढिवादी और आदर्शवादी था किन्तु अपनी सबसे

अधिक प्रभावशाली रचनामें उसने यथार्थवादी और वैज्ञानिक युगसे हाथ मिलाकर चलनेका प्रयत्न किया है। उसने हौथोर्नके 'प्रतीकवाद', इमर्सनके 'आदर्शवाद' और लौवेलके 'विश्वबन्धुत्ववाद' तीनोंपर सुन्दर प्रशंसात्मक निबन्ध लिखे हैं। उसका विचार था कि 'उपन्यासमें चित्र भी होना चाहिए और विचार भी, जिसका उद्देश्य केवल प्रसन्न करनेके बदले जीवनका चित्रण हो।' उसने मोपासाँ आदि फ्रान्सीसी लेखकोंका इसीलिये खण्डन किया कि उन्होंने ऐसे पात्रोंकी सृष्टि की जिनमें चरित्र-निर्देश और चरित्र-सृष्टि करनेवाले भावतत्त्व नहीं है।' वह उपन्यासका इसीलिये आदर करता है कि 'उसमें उस जीवनकी अभिव्यक्ति होती है जिसमें शारीरिक, भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मानव-गतिका उचित अनुपातके साथ प्रदर्शन होता है।' समीक्षाके सम्बन्धमें उसने अपने गुरु सेन्त ब्यूएका ही अनुगमन करते हुए कहा कि 'समीक्षकको तन्मय और व्यग्र होकर किसीकी रचनामें तबतक डूबे रहना चाहिए जबतक वह उसे भली प्रकार समझ न ले और पूर्ण रूपसे उसका रस न ले ले।' वह उपन्यासको शुद्ध रचना-कौशल (टेकनीक) की दृष्टिसे ही परखने लगा था।

स्वदेशी यथार्थवादका अत्यन्त वास्तविक स्वरूप हेमलिन गार्लैंडमें मिलता है, जिसके 'ढहते हुए आदर्श' (क्रम्बलिङ्ग आइडियल्स, १८६४) में यह बताया गया है कि 'किस प्रकार डारविनवादने रूढिवादके विरुद्ध विद्रोह किया तथा जीवन और साहित्यकी स्थिरताको झकझोर दिया।' उसने दो महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विचार अपनाए—(क) सत्य ही सौन्दर्यसे अधिक श्रेष्ठ गुण है और (ख) न्यायका प्रसार ही कलाकारका प्रयोजन और उद्देश्य है। एच० एच० बौयसन और एच० डब्लू० मेबीने बड़े विस्तारके साथ उस शैलीका विवेचन किया है जिसमें विज्ञानसे अनुप्राणित जीवनकी नई व्याख्याओंसे उपन्यास और समीक्षामें नये कौशलकी जन्म ले रहे हैं। सी०डी० वार्नरने 'जीवन और साहित्यका सम्बन्ध' (दि रिलेशन ऑफ् लिटरेचर टु लाइफ्, १८६६) में कहा है कि 'सम्पूर्ण मौलिक तथा चिरजीवी साहित्य उस युगका परिणाम होता है जो उसे जन्म देता है और परिणामतः साहित्यके अध्ययनका सबसे अधिक सफल उपाय यही है कि उन लोगोंका अध्ययन किया जाय जिनके लिये वह उत्पन्न हुआ है।' सन् १६०० में डब्लू० एम० पेनने कहा कि 'विज्ञानने समीक्षकोंको भी बदल दिया है

और क्योंकि टेनकी कार्य-कारणात्मक प्रणाली अप्रतिम है इसलिये हमें भी समीक्ष्य ग्रन्थोंकी समीक्षा करते समय निर्णयात्मक होनेकी अपेक्षा सापेक्ष्यवादी होना चाहिए और उस युग, स्थान और जातिका अध्ययन करना चाहिए जिसमें उन ग्रन्थोंकी सृष्टि हुई।'

### संघर्षवाद ( सन् १९०० के पश्चात् )

५. इस विचारने एक पाँचवें संघर्षात्मक समीक्षा-सम्प्रदायको जन्म दिया जिसमें एक ओर तो श्रेष्ठ जीवन और रूढ़िगत साहित्यिक रूपोंका समर्थन करनेवाले रूढ़िवादी थे और दूसरी ओर वे लोग थे जो राष्ट्रीय, मौलिक तथा प्रकृतिवादी लेखकोंका वर्णन, उनकी घोर प्रसंशा या घोर निन्दा करते थे। इनमेंसे पहले दलमें जी० ई० वुडबैरी, डब्लू० पी० ट्रेन्ट, डब्लू०सी० ब्राउनेल, पी० ई० मोर० और इरविङ्ग वैबिट थे। दूसरी मण्डलीमें थे जौन बरोज़, ब्रैन्डर मैथ्यूज़, फ्रैङ्क नोरिस, टी० आर० लाउन्स्बरी, एफ़० एल० पेटी, जौन, मेसी, वैन विक ब्रुक्स और एच० एल० मैङ्कन। इस संघर्षका प्रभाव यह हुआ कि अगले बीस वर्षोंतक समीक्षात्मक शास्त्रार्थका द्वन्द्व ही चलता रहा।

### वर्त्तमान अमरीकी समीक्षा-पद्धति

जोएल इलियास स्पिङ्गार्नका 'नवसमीक्षा' ( दि न्यू क्रिटिसिज्म १९११, १९३१ ) नामक ग्रन्थ है अत्यन्त मौलिक किन्तु यह ग्रन्थ ठीक समयपर प्राचीन परिपाटी माननेवाले लोगोंके लिये चुनौती बनकर आया। स्पिङ्गार्न भी क्रोचेका शिष्य था इसलिये उसने इसी बातपर अधिक बल दिया कि 'काव्य-रचनाओंका परीक्षण सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे होना चाहिए और साहित्यकी चेतनाको कलाकी दृष्टिसे परखना चाहिए।' यदि यह ग्रन्थ प्रकाशित न होता तो समीक्षात्मक यथार्थवादका जो नया दल सात कलाओं और लोक-चित्रणमें ही उलझा हुआ था वह जन्म ही न लेता।

वैन विक ब्रुक और रैन्डोल्फ़ बोर्नने अपने ग्रन्थमें यह प्रश्न छेड़ा 'अमरीकी जीवनमें वे कौनसे परिबन्धनकारी और अनर्थकारी प्रभाव हैं जिन्होंने यहाँके उस सशक्त साहित्यकी प्रगति रोक दी है जो परिधि, पूर्णता तथा सौन्दर्यात्मक निष्पन्नतामें योरोपके साहित्योंको चुनौती दे सकता है।' वर्त्तमान अमरीकी समीक्षात्मक आन्दोलन इसी प्रश्नके साथ उत्पन्न हुआ जिसे वाल्डो फ्रैङ्क और लुइस मन्फ़ोर्डने शक्ति प्रदान की। इन लोगोंने एक बड़ी

भारी सेवा यह की कि उस समाजके सांस्कृतिक दोषोंकी पोल खोल दी जो व्यावसायिक पूँजीवादका दास बना हुआ था। किन्तु इस परिपाटीके अन्तिम लेखकों ( बरनार्ड डी वोटो और हौवर्ड मफ़ोर्म्ड जोन्स ) में निश्चित समीक्षात्मक निर्णयकी हीनता, सस्ती तथा क्षुद्र राष्ट्रीयता और अलोकप्रियके प्रति असहनशीलता विशेष रूपसे दिखाई पड़ने लगी। इस आन्दोलनका सबल समर्थन वर्नन लुई पारिङ्गटन ( १९२७–३० ) ने किया जिसने अगले दशकके मार्क्सवादियोंको भी बड़ा प्रभावित किया। इसी बीच टी० एस० ईलियटने इंग्लैन्ड जाकर योरोपकी साहित्यिक रूढियोंके आधारकी परीक्षा करते हुए मैथ्यू आरनोल्डसे प्रभावित होकर सार्वभौम संस्कृतिकी दुहाई दी। 'कसौटी' ( दि क्राइटीरियन ) के सम्पादकके रूपमें ईलियटने बड़ा प्रभाव जमाया और उन लेखकोंको भी प्रभावित किया जो उसकी वर्धमान धार्मिक प्रवृत्तिके विरोधी थे। उसका 'चुने हुए निबन्ध' ( सिलेक्टेड ऐसेज़, १९३२ ) सम्भवतः इस युगका सर्वाधिक प्रमुख समीक्षात्मक ग्रन्थ है। ईलियटके इस आदर्शके झण्डेके नीचे नई पीढ़ी आकर खड़ी हो गई जिसने पत्रिकाओं-द्वारा अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया। यद्यपि इन पत्रिकाओंमें बहुत कुछ राजनीतिक छाया भी रहती थी किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे इनमें एक ही समीक्षा-परिपाटीका पालन किया गया है कि 'कल्पना-प्रसूत रचनाओंमें स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उसीका अधिक महत्त्व है।'

जहाँ एक ओर ब्रुक्सके नेतृत्वमें इतिहासवादी तथा स्वदेश-भक्तिवादी और दूसरी ओर ईलियटके नेतृत्वमें समीक्षावादी शक्तियाँ एक दूसरीको पराजित करनेके लिये कटिबद्ध थीं वहीं पौल एल्मर मोर और इरविङ्ग बैबिटके नेतृत्वमें समीक्षकोंका पुराना मानवतावादी मण्डल १९२० के आस-पास पुनः सिर उठाकर खड़ा हो गया। नौर्मन फौरेस्टरने 'मानवतावाद और अमरीका' (ह्यूमेनिज़्म ऐन्ड अमेरिका) तथा अपने मानवतावादी 'विचार-सङ्ग्रह' (१९३०) में रूढिगत नैतिकता और नैतिकतापर अवलम्बित समीक्षात्मक मानदण्डको मुख्य ठहराया था। इसके प्रकाशित होते ही हार्टले ग्रैटनने अपना विरोधी 'विचार-सङ्ग्रह' प्रकाशित किया जिसमें अनेक विचारोंके समीक्षकोंका सहयोग प्राप्त किया गया था। इसपर बड़ा वितण्डा खड़ा हो गया किन्तु वह लगभग एक वर्षमें ही समाप्त हो गया और कुछ भी निश्चय नहीं हो पाया। इस विवादमें मोर और बैबिटकी साहित्यिक समीक्षाके दोषोंका भण्डाफोड़ हो

गया और उनके गुणोंकी चर्चा भी नहीं हुई। इनमें बैबिट तो धर्म-निरपेक्ष नैतिकतावादी और मोर धार्मिक नैतिकतावादी था अतः वे उन शक्तियों और विचारोंको ही मानते थे जिनसे वर्त्तमान संसारका क्षय हो रहा है। इन दोनोंकी असफलताका मुख्य कारण यह था कि इन दोनोंमें रचनात्मक कल्पनाको समझनेकी योग्यता नहीं थी क्योंकि रचनात्मक कल्पनामें इसी बातपर विचार किया जाता है कि 'वास्तवमें है क्या?', यह नहीं कि 'क्या होना चाहिए?' १९२९ में मानवतावादी शास्त्रार्थ समाप्त होनेपर समीक्षा-युग समाप्त हो गया और मार्क्सवादी समीक्षकोंका एक नया युग प्रारम्भ हो गया जिसमें कैनेथ बर्क, जेम्स टी० फ़ैरल, न्यूटन आरविन और एडमण्ड विल्सन प्रमुख थे। विल्सनके लेख मार्क्सीय दृष्टिसे सम्भवतः इस युगकी सर्वश्रेष्ठ समीक्षा है। फ़ैरलने अपने 'ए नोट औन लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' (१९३६) में अपने साथी मार्क्सवादियोंकी बहुतसी प्रचण्ड भूलोंका संशोधन किया। उसका मत था कि 'दीन और दरिद्र श्रमिक-वर्गवाला साहित्य अन्य साहित्यसे मूलतः भिन्न है।' प्रायः मार्क्सवादियोंके छिटफुट लेखकोंका भी यही मत था।

जहाँ एक ओर अत्यन्त कट्टर मार्क्सवादी बरनर्ड स्मिथ (फ़ोर्सेज़ इन अमेरिकन क्रिटिसिज़्म, १९३९) जैसे लोग मानवतावादियोंके समान ही अड़ियल और बेहुत संकुचित थे वहीं श्रेष्ठतम मार्क्सवादी लेखकोंमें सब युगोंके साहित्यके सम्बन्धमें यह सर्वसाधारण व्यापक भावना भी मिलती है कि 'साहित्य तो जीवनसे. निकलना चाहिए।' १९४० के लगभग यह मार्क्सवादी दल बिखरने लगा। उनके पीछेके लेखोंमें अपना महत्त्व सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति और अधिक आडम्बर दिखाई पड़ने लगा।'

'दि सदर्न रिव्यू' (१९३५ से ४२) और 'दी केन्यन रिव्यू' (१९३८ से आजतक) थोड़ेसे लोगोंके सामने बुद्धिवादी (इन्टेलेक्चुअलिस्ट्स) दलका मत उपस्थित करती रहीं। इनमेंसे 'दी सदर्न रिव्यू' ने प्रादेशिकता (रीजनलिज़्म) की लकीर (१९३०-३९) पकड़ी और सर्वश्रेष्ठ मार्क्सवादी समीक्षा भी छापी। 'दि केनियन रिव्यू'के सम्पादक जौन क्रोवे रेन्समका 'विश्व-देह' (दि वर्ल्ड्स बौडी, १९३८) सम्भवतः इस युगका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें दार्शनिक दृष्टिसे कविताका समर्थन किया गया है, किन्तु उसका 'नवसमीक्षा' (दि न्यू क्रिटिसिज़्म, १९४१) अधिक संकुचित और

अधिक शास्त्रीय ग्रन्थ है। 'दि फ्यूजिटिव' नामक पत्रके सम्पादक रेन्सम और डेविड्सनके साथ एलेन्टेटने प्रत्यक्षवाद या सटीकतावाद ( पाजिटिविज़्म ) का सिद्धान्त चलाया। कौम्टेका सिद्धान्त था कि 'मनुष्यको वास्तवमें परिस्थिति ( फ़िनौमिना ) का ही ज्ञान होता है और यह परिस्थितिका ज्ञान सापेक्ष्य है, पूर्ण नहीं ( १७६८ से १८५७ )।' उसने समाजवाद ( सोशलिज़्म ) के आक्रमणसे काव्यकी रक्षा की और उसमें भी व्यक्तियोंकी अपेक्षा सिद्धान्तोंको अधिक महत्त्व दिया।

इस युगके जिन शास्त्रीय विद्वानोंने समीक्षाके क्षेत्रमें उतरकर अपने पूर्वपुरुषोंसे भी बढ़कर कार्य किया उनमें औस्टिन वारेन, एफ़०ओ० मैथिएसेन, लियोनल ट्रिलिङ्ग, एफ़० कडवर्थ फ़्लिन्ट, आर्थर मिज़ेनर, थियोडोर स्पेन्सर, मार्टन डी ज़ाबेल, रौबर्ट पेन वारेन और बड़ोंमें फ्रेड लुई पैटी और जौन लिविंग्स्टन लावेस प्रमुख हैं। जिन शास्त्रीय समीक्षकोंने बहुत अच्छा काम तो किया किन्तु पुस्तकें नहीं प्रकाशित कराईं उनमें विलियम ट्राय, डेलमोर, श्वार्ज तथा फिलिप राह्वका नाम उल्लेखनीय है। आर्किबाल्ड मैक्लीशने 'अनुत्तरदायी' ( दि इर्रेस्पौन्सेबिल्स, १६४० ) और वैन विक ब्रुक्सने 'ह्वाट इज़ प्राइमरी लिटरेचर' ( १६४१ ) ने अभी स्वदेश-प्रेम-पूर्ण राष्ट्रीयतावादी समीक्षा-पद्धति चलाई है। इन लोगोंने वर्त्तमान साहित्यको क्षयोन्मुख (डिकेडेन्ट) बताकर कल्पनात्मक लेखकोंको ललकारा है कि 'वे सक्रिय हों और प्रचार करें।' १६१६ से ४३ तकका युग अमरीकी समीक्षाके इतिहासमें अत्यन्त सक्रिय और व्यापक रहा है। यद्यपि इस राजनीतिक युगमें कोई विशिष्ट समीक्षक अभी उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु एक बात अवश्य देखी गई है कि समीक्षात्मक पूर्णताके जो लक्षण हैं अर्थात् समीक्षात्मक प्रणालीकी सजगता, विरोधके क्षेत्र तथा ज्ञानकी सामग्री आदि, वे इस युगमें विशेष रूपसे प्राप्त हैं।

## स्पेनिश-अमेरिकन समीक्षा-पद्धति

राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक दुरवस्थाके होते हुए भी स्पेनी-अमेरिकाका साहित्यिक जीवन उन्नीसवीं शताब्दिमें अत्यन्त सक्रिय रहा। जहाँ एक ओर अविद्या, अज्ञान और दरिद्रताका साम्राज्य था वहाँ प्रायः प्रत्येक प्रदेशमें अत्यन्त सुसंस्कृत लोग पत्र-पत्रिकाओं और सामाजिक गोष्ठियोंमें साहित्यिक प्रश्नोंपर विचार करते रहे। उस समय दो मुख्य तथा

परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ चल रही थीं—१. उदात्तवादी और २. स्वैरवादी। यद्यपि स्वतन्त्रताके युद्धोंने राजनीतिक दृष्टिसे स्पेनके उपनिवेशात्मक युगको समाप्त कर दिया था किन्तु उन उपनिवेशोंकी सांस्कृतिक परम्परामें कट्टरवादी (कैथौलिक), उदात्तवादी और शास्त्रीय (एकेडेमिक) भावना चर्चके विद्यालयोंके कारण चली जा रही थी। इस मानवतावादी परम्पराके भीतर स्पेनी-अमेरिकामें प्रथम प्रसिद्ध साहित्यिक समीक्षक आन्द्रे बैलो ( १७८१–१८६५ ) था जिसकी रचनाएँ उदात्तवादी होती थीं। यह प्रवृत्ति विशेष रूपसे कोलम्बियामें अधिक थी जहाँ सार्वदैशिक प्रभावोंसे अलग रहकर कट्टर धार्मिक लगनके साथ विद्वत्ताकी प्रवृत्ति बनी रही। उन्नीसवीं शताब्दिके कोलम्बियावाले मानवतावादियोंमें सबसे प्रसिद्ध हैं माइगुएल एन्टोनियो चारो ( १८४३ से १९०९ )। वह वक्ता, प्राचीनतावादी, राजनीतिज्ञ, राष्ट्रीय पुस्तकाध्यक्ष और कविके रूपमें प्रसिद्ध है। आजकल चारोकी भावनाका योग्यतापूर्वक समर्थन किया एन्टोनियो गोमेज़ रेस्ट्रेपोने, जिसने कोलम्बिया-साहित्यका अत्यन्त सन्तुलित रूपसे अध्ययन किया था। इस उदात्तवादी सम्प्रदायके निम्नलिखित रूप हैं—१. भाषाकी शुद्धतापर बल देना, २. सुन्दर ध्वनिवाले वाक्योंकी रचना करना (जो वास्तवमें एक प्रकारकी भाषणात्मक शैली थी), ३. चित्रणमें संयम, विशेषतः अमरीकाकी चलती भाषा और प्राकृतिक दृश्योंका चित्रण और ४. साहित्यिक पथ-प्रदर्शनके लिये स्पेनके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके प्रति आदर।

इन विशिष्ट व्यक्तियोंसे ठीक विपरीत वे लोग थे जो स्वैरवादी साहित्यिक सिद्धान्तका झण्डा उड़ा रहे थे। उनकी सदासे यह प्रवृत्ति रही कि साहित्यको अमरीकी भावनासे ओतप्रोत कर दिया जाय। साहित्यके द्वारा राष्ट्रीयता उत्पन्न करनेकी स्वैरवादी इच्छासे उन्होंने अपनी रचनाओंमें विशिष्ट अमरीकी पृष्ठभूमि तथा परिस्थिति और भाषाका प्रयोग किया। यह आन्दोलन विशेषतः अर्जेन्टाइना और ऊरुग्वेमें पूर्ण विकसित हुआ। साहित्यिक राष्ट्रीयताके विशेष प्रवर्त्तकोंमें जुवान मेरिया गुटिएरेज़का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वह भी देश-निष्कासित अरजेन्टाइनी विद्वान् था जो मौन्टेविदेवमें रहकर राष्ट्रीय साहित्यकी नींव स्थापित कर गया। साहित्यिक पत्रिकाओंमें लेख लिख-लिखकर उसने अनेक कवियोंको बड़ा प्रोत्साहन दिया। चिलीमें रहकर उसने स्पष्ट रूपसे स्पेनी-अमरीकी उपनिवेशीय साहित्यमें खोज करनेका काम चलाकर अमरीकी परिपाटी स्थापित करनेकी उत्सुकता दिखाई।

अठारहवीं शताब्दिके समाप्त होनेके समय 'वर्त्तमानवादी' ( माडर्निस्टा ) आन्दोलन चला जिसमें सौन्दर्यात्मक मूल्याङ्कन और साहित्य शैलीकी एक नई धाराका प्रवर्त्तन हुआ। इस धाराका प्रतिनिधि समीक्षक ऊरुग्वेका प्रधान निबन्धकार जोसे एनरिक रीडो (१८७२ से १९१७) हुआ। उसकी समीक्षात्मक कृतियोंमें दो तत्त्व प्रधानतः प्रतीत होते हैं—१. शैलीके परिष्कारपर विशेष बल, जो रूपात्मक सौन्दर्यके विशिष्ट माडर्निस्टा-सम्प्रदायका एक पक्ष है और २. स्पेनी-अमरीकी साहित्यमें अमरीकी-पनके विकासमें विशेष रुचि। लगभग उसी पीढ़ीका किन्तु उससे भिन्न वैनेज़ुएलाका रूफीनो ब्लाङ्को फ्रोम्बाना (जन्म १८७४) है। वह उपन्यास और इतिहासका अत्यन्त प्रसिद्ध लेखक था और साथ ही अत्यन्त शक्तिशाली साहित्यिक समीक्षक भी। इन दोनोंमें भावपूर्ण प्रगीतात्मकता और ज्वलनपूर्ण शक्ति प्रतीत होती है। उसकी समीक्षा-पद्धति पूर्णतः व्यक्तिगत है किन्तु उसमें ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी उपस्थित हैं जो अमरीकी पृष्ठभूमिके सब लेखकोंको एक शृङ्खलामें बाँध देते हैं।

प्रथम महायुद्धके पश्चात् स्पेन-अमेरिकामें साहित्यिक प्रवृत्ति और समीक्षात्मक साहित्य अत्यन्त परिमाणमें महत्त्वपूर्ण ढङ्गसे बढ़ा। इस युगमें इतने अधिक समीक्षक उत्पन्न हुए कि उनमेंसे यही कहना कठिन है कि कौन सबसे अच्छा है या कौन इस युगका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। इसीलिये उन्हें किसी विशेष विवरणात्मक श्रेणियोंमें बाँटना भी कठिन है। इस माडर्निस्टा-आन्दोलनका प्रभाव अब भी वेन्टुरा गार्शिया काल्डेरन तथा अन्य लेखकोंमें मिलता है। रोडोके इन बौद्धिक बन्धुओंसे ठीक उलटा लुई एलबर्टो शान्सेज़ ( जन्म १९०० ) है जिसकी साहित्यिक समीक्षामें स्वभावतः इन्डो-अमेरिकाके सामाजिक भविष्यके लिये उसकी क्रान्तिकारी चिन्ता लक्षित होती है। कुछ और भी उदात्तवादी सम्प्रदायके विद्वान् समीक्षक वहाँ प्रामाणिक खोज कर रहे हैं। अर्जेन्टाइनामें रिकार्डो रोजासने अनेक ग्रन्थ लिखकर विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृतिके लिये आदर्श आधार स्थापित किया है। पीड्रो हैनरिकेज़ उरेञा भाषा-वैज्ञानिक और समीक्षक दोनों हैं। आरटूरो टौरेस रियोसेको उन स्पेनी-अमरीकी विद्वान् समीक्षकोंमेंसे हैं जिन्होंने खोज और गम्भीर समीक्षात्मक प्रवृत्तिका परिचय दिया है। स्पेनी-अमेरिकामें आजकी साहित्यिक समीक्षाके कई भेदोंकी शक्ति देखकर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग एक शताब्दिकी पराधीनताके पश्चात् उसका साहित्य अब पक्का हो गया है।

---

# मध्य-योरोपीय देशोंकी समीक्षा-पद्धतियाँ

## पोलैन्डकी समीक्षा-पद्धति

यद्यपि पोलैण्डमें १५०६ से १५७२ तक साहित्यिक चेतनाका स्वर्ण-युग रहा किन्तु वहाँ भी सत्रहवीं शताब्दितक समीक्षा अज्ञात थी। वहाँके प्रधान लेखक जौन कोचानोवस्की ( १५३० से ८४ ) ने जो साहित्यके आदर्श प्रस्तुत किए थे वे गौर्सां और प्लेयादेके आधारपर ही थे। सबसे पहली समीक्षा लुकाज़ ओपालिन्स्की ( १६१२ से ६२ ) और उसके जामाता स्तानिस्लौ लुबोमिर्स्की ( १६३६ से १७०२ ) ने प्रस्तुत की जिसमें ओपालिन्स्कीने कहा था कि 'कवितामें सजीव शब्दोंसे चित्रण होना चाहिए।' उसने जिस सुन्दरताके साथ इसकी व्याख्या की थी कि उतना स्पष्ट कोई ग्रन्थ नहीं है। लुबोमिर्स्कीने कहा था कि 'आदर्शके रूपमें प्राचीन लोगोंकी बहुत प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।'

द्वितीय आउगुस्त ( १६९७ से १७३५ ) के समय समीक्षा समाप्त हो गई किन्तु फिर पोलैन्डके वास्तविक साहित्यिक समीक्षक स्तानिस्लौ कोनारर्स्की-द्वारा (१७०० से ७३ तक) पुन: प्रकट हुई। उसका मत है कि 'समीक्षा ही प्रतिभाकी कसौटी है जिसके बिना सब कला और विज्ञान निरर्थक हो जाते हैं।' कोनारर्स्कीने तत्कालीन पोलैन्डके साहित्यमें व्याप्त कुरुचि और अनुकरण-प्रियताका घोर विरोध किया। उसने वाणीकी शुद्धता, स्पष्टता और सटीकताको महत्त्व दिया क्योंकि इन्हींको वह शैलीका प्रधान गुण मानता था। कोनार्स्कीका बड़ा विरोध भी हुआ किन्तु समर्थन भी और कवि वाक्लौ र`वुस्कीने उसका समर्थन करके घोषित किया कि 'अच्छी कविता

उस सुन्दर चित्रके समान होनी चाहिए जिसमें प्रकृतिका ठीक-ठीक अनुकरण किया गया हो और जो हृदय तथा मस्तिष्क दोनोंको प्रभावित करनेवाली हो।' स्तानिस्लौ आउगुस्तके समय पोलिश समीक्षापर क्वालोका आधिपत्य हुआ। विभाजन-युगका सबसे अधिक मौलिक पोलिश लेखक फ्रानिस्ज़ेक कारपिन्स्की हुआ। उसके प्रयोग और सिद्धान्तमें स्वैरवादी तथा शुद्ध कवितावादी सम्प्रदायका रूप स्पष्ट हो गया।

सन् १७९३ के पश्चात् पोलैन्डकी समीक्षा साहित्यिकके बदले राष्ट्रीय हो चली। वारसौके रूढि-वादियों और विल्नोके प्रगतिवादियोंके बीच जो सङ्घर्ष हुआ वह उदात्तवाद और स्वैरवादका उतना द्वन्द्व नहीं था जितना राष्ट्रीय कवि और साहित्यिक कविका। परिणाम यह हुआ कि भावना, विश्वास, बलिदान, यातना-भोगको महत्त्व देनेवाले विल्नो-सम्प्रदायने युवकोंको अधिक आकृष्ट किया और प्राचीन विचारवाले वारसौ-सम्प्रदाय-वालोंको निकाल भगाया। लगभग दो पीढ़ियोंतक मिकीविज़का 'पूर्वज' ( ज़ियादी ) ही काव्य-श्रेष्ठताका आदर्श समझा जाता रहा, इसलिये नहीं कि उसमें काव्यात्मक श्रेष्ठता थी वरन् इसलिये कि वह पूर्णतः राष्ट्रीय भावनाओंसे ओत-प्रोत था। जब दो बार इन लोगोंको असफलता मिली और पोलैन्डवाले १८२० वाली दुर्दशामें पड़ गए तो समीक्षामें भी वह प्रत्यक्षवाद ( पौज़िटिविज़्म ) आ घुसा जो जीवनमें आया था। परिणामतः मिकीविज़का प्रबन्ध 'पान तादेउस्ज़' ही कसौटी बन गया जो यथार्थवादी चित्रणका अत्यन्त उत्कृष्ट रूप था। दूसरा था स्लोवाकीका 'एगामेम्नोन' जो राष्ट्रीय विकासका सुन्दर चित्रण था। इस प्रत्यक्षवादी समीक्षाका प्रधान व्याख्याता था एलेक्ज़ान्देर सीतोचोवस्की, जिसने अपने 'पोलिश किसानके इतिहास' में उन धाराओंका विवरण दिया जिन्हें लेकर प्रत्यक्षवादी आन्दोलनने पोलिश विचारोंको रँगा था। सन् १८९० के लगभग राष्ट्रकी आवश्यकताओं तथा पश्चिमसे आई हुई समीक्षात्मक भावनाओं और आदर्शोंने इस यथार्थवाद और विवेकवादको झटका देकर आदर्शवादकी ओर फेर दिया। यह नवस्वैरवादी बुलबुला सन् १९०१ में फूट गया, जिसके नेता थे स्तानिस्लौ ब्रज़ोज़ोवस्की, जिसका विश्वास था कि 'साहित्यका काम ही है सामाजिक सुधारको सहायता देना।' अन्तिम दिनोंमें उसका प्रभाव घट गया किन्तु उसकी मृत्युके पश्चात् उसकी समीक्षात्मक सम्मतियोंका बड़ा आदर हुआ।

## सर्बोक्रोतीय समीक्षा

पन्द्रहवींसे अठारहवीं शताब्दिके दुब्रोवनिक रागूसाका साहित्य इतालवी पुनर्जागरणके प्रभावमें रहा, जिसके कारण बहुतसे अध्ययन-मण्डल खुले जिन्होंने भाषाको स्थिर और भासमान करनेके लिये कुछ सामग्री एकत्र की। लोकगीतोंके सङ्ग्रहकर्त्ताओंके पश्चात् सबसे अधिक यात्राका अनुभवी दोसीतेय ओब्रादोविक (१७४२ से १८११) महत्त्वका पुरुष था जो प्रबुद्ध कालके आदर्शोंसे प्रभावित था, जिनका प्रचलन उसने नये राज्यमें किया, नवीन ज़ेक विचार-सम्प्रदायके प्रभाव विशेषतः स्लोवीन जरज़ेज कोपितारके प्रभावसे वुक कारद्‌दज़िक (१७८७ से १८६४) लोकगीत इकट्ठे किए और सर्बिया भाषाको स्थिर किया। उन्हीं दिनों जब उत्तरी ऐड्रियाटिकपर नैपोलियनका अधिकार हो गया तब उसके प्रभावसे क्रोटियामें इलीरियन आन्दोलन चला जिससे स्वैरवादी विचारोंको प्रोत्साहन मिला। आस्ट्रो-हङ्गेरियन साम्राज्यके भीतर विशप जोसिप जुराज स्ट्रौसमेयरने युगोस्लावकी स्थिरताके लिये प्रयत्न किया। सर्बियामें रूससे एक नया यथार्थवाद आ गया। बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें सर्बोक्रोटियन पत्र-पत्रिकाओंमें फ्रान्सीसी प्रभावने आकर एक गम्भीर पक्ष छेड़ दिया। इस प्रकार द्वितीय महायुद्धसे पूर्व वहाँकी परिस्थितियाँ अधिक आशा-जनक हो गईं और विशेष रूपसे बैलग्रेड और ज़ाग्रेगके राष्ट्रीय विचारोंमें सांस्कृतिक विचार-विनिमय भी होने लगा।

## डच समीक्षा-पद्धति

निम्न-देशों (नीदरलैन्ड्स अर्थात् हौलेन्ड और बेल्जियम) में समीक्षा-सिद्धान्तपर बहुत कम विचार हुआ है। डच लोग बड़े व्यावहारिक हैं। सोलहवीं शताब्दिमें नीदरलैन्ड्समें जो भाषा-सम्बन्धी राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा उसीसे साहित्यिक सिद्धान्तका विकास हुआ, और सत्रहवीं शताब्दिके सिद्धान्त-शास्त्रियों और काव्य-समीक्षकोंके लिये मार्ग प्रशस्त हो गया, क्योंकि उन भाषा-सम्बन्धी ग्रन्थोंके पश्चात् ही समीक्षात्मक ग्रन्थ भी लिखे गए। किन्तु इनके बीच 'भाषण-शास्त्रियोंकी पुस्तकों'के नामसे कुछ ऐसे ग्रन्थ निकले जिनसे समीक्षामें सहायता मिली। सन् १५५५ में

हौलेन्डमें यूनानी और रोमीय कविताओंका अध्ययन बढ़ रहा था। उसी समय हीन्शियस, वोशियस और ग्रोटियसने मानवतावादी सिद्धान्तोंका प्रचार किया। हीन्शियसने अरस्तूके काव्यशास्त्रपर जो ग्रन्थ लिखा उसने योरोपके विद्वानोंको बहुत प्रभावित किया।

सत्रहवीं शताब्दिमें नाटकों और काव्योंकी बाढ़ आ गई किन्तु सैद्धान्तिक ग्रन्थ नहीं लिखे गए। इनमें वौन्डल ही उस युगका सबसे बड़ा कवि समीक्षक था। कवितामें कलाकी भावना भरनेके अतिरिक्त उसने अपनी शताब्दिका सबसे बड़ा साहित्य-सिद्धान्तका ग्रन्थ १६२० में लिखा था।

अपने समयके स्पेनी, इतालवी और अँगरेज़ी साहित्योंके पण्डित रोडनबुर्गने सिडनीका अनुकरण किया। जान फौसने अरस्तू और हौरेसका विरोध करके स्वैरवादियों-द्वारा व्याख्यात प्रकृतिका समर्थन किया। सैमुएल कौस्टरने कुछ स्वैरवादी भावना प्रकट तो की किन्तु फिर वह अत्यन्त रूढ़िगत साहित्यिक समाज 'नील वोलेन्टिबस आरडुअम' का सदस्य हो गया और लोदेविक मेयर और आन्द्रीस पेलसके साथ मिलकर फ़ान्सीसी उदात्त काव्यवादका समर्थक बन गया। मेयरका 'वेयरलूफडे कौनिंगसब्रूइड' वास्तवमें कार्नेईके 'डिस्कोर्स' का प्रतिरूप था और पेलसकी दो समीक्षात्मक कृतियाँ फ़ान्सीसी शैलीके अनुसार उच्च कोटिकी थीं। धीरे-धीरे वहाँ अरस्तूका प्रभाव समाप्त हो गया और हौरेस तथा कौर्नेईका युग आ गया। इस साहित्यिक समाजके हाथमें सौ वर्षोंतक फ़ान्सीसी नियमोंकी धूम रही। माइकेल डी स्वाएनके ग्रन्थों (१७००) में यह सिद्धान्त प्रतिध्वनित हुआ—'यूनानी और रोमवालोंकी आप चाहे जितनी बड़ाई कीजिए किन्तु फ़ान्सीसी नाटकोंकी समानता कहीं नहीं हो सकती और उनका अनुकरण किए बिना पूर्णता नहीं आ सकती।'

अठारहवीं शताब्दिमें कोई विशेष साहित्यिक कृति नहीं निकली। जर्मन और अँगरेज़ी साहित्यके नये प्रभावोंसे प्रभावित फ़ान आल्फ़ेन था, जिसने अपने ग्रन्थोंके द्वारा साहित्यिक जागर्त्ति उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया और सौन्दर्य-विज्ञानका दार्शनिक अध्ययन करनेकी प्रेरणा दी, किन्तु उसका विरोध हुआ। जेरोनिमो दे बोशने फ़ान आल्फ़ेनके सिद्धान्तका विरोध करते हुए उदात्तवादी सिद्धान्तका समर्थन किया किन्तु दार्शनिक विलेमदे परपौंकेरने आल्फ़ेनके साथ पत्र-व्यवहार करके समीक्षाके मान स्थिर किए और दो

ग्रन्थ डच साहित्यिक सिद्धान्तके अभिवर्द्धनके लिये लिखे। फिर तो विभिन्न साहित्यिक संस्थाओंमें जर्मन और अँगरेजी सिद्धान्तोंपर शास्त्रार्थ चलने लगे और अनेक पत्रोंमें व्यंग्य नाटकोंके द्वारा उस समयकी अन्धभावुकताकी निन्दा होने लगी। बिल्डेरडिय्कने अपनी समीक्षा और उदाहरणसे स्वैरवादके संसारमें एक नये साहित्यिक जीवनसे ओत-प्रोत नया युग ही प्रवर्त्तित किया।

यह नया जीवन स्विट्सरलैन्डमें उत्पन्न तथा बिल्डेरडिय्क-द्वारा अनुप्राणित धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन ( हेट रिवील ) के रूपमें अभिव्यक्त हुआ, जिसका सिद्धान्त था कि 'अन्त:प्रेरणाके द्वारा इन्द्रियातीत सत्य भी समझा जा सकता है।' सन् १८१० में प्रसिद्ध व्याख्याता जे० एच० फ़ान डेरपामने नवयुवक कवियोंको सम्मति दी कि 'आदर्शोंके फेरमें मत पड़ो, कविताके उद्गमके लिये अपना हृदय टटोलो।' डच स्वैरवादके प्रसिद्ध पत्र 'दि गिड्स' ने सत्रहवीं शताब्दिवालोंका पक्ष लेकर 'साहित्यिक श्रेष्ठताओंसे पूर्ण काव्यको ही अच्छा माना।' फ़ान डेन ब्रिङ्कने भी अतीतसे ही प्रेरणा लेनेको ठीक समझा। कुछ लोग घूम-घूमकर सौन्दर्य-विज्ञानपर व्याख्यान भी देने लगे। इन स्वैरवादियोंमें सबसे अधिक लोकप्रिय कवि निकोलस बीट्स है जिसने स्वैरवादी समीक्षाको बड़ा बल दिया।

डी गिड्स नामक पत्रने पाटगीटेर और हुवेटके त्याग-पत्रके पश्चात् कुछ अपनी प्रगति बन्द कर दी और 'बेविगिङ्ग फ़ौन टेख़्टीग-मडगल नया साहित्यिक जागरण करनेकी धुनमें पड़ गया जिनका पत्र था 'निवे गिड्स'। इस आन्दोलनके सदस्य यद्यपि परस्पर असहमत थे किन्तु उनमेंसे सभी अपने युगकी साहित्यिक कृतियोंसे अत्यन्त ऊब चुके थे और ये लोग 'घोर व्यक्तिवाद' चलाना चाहते थे। ये लोग मध्य शताब्दिके फ़्रान्सीसी लेखकोंसे, कीट्स और शैलीसे तथा पीछेके रूसी और स्कैन्डिनेवियाई प्रभावोंसे अधिक प्रभावित थे। जेक्स पर्ककी गीतमाला 'मथिल्दा'ने इन लोगोंको अत्यन्त प्रभावित किया। क्लूसने कविताकी परिभाषा की—'अत्यन्त व्यक्तिगत भावकी अत्यन्त व्यक्तिगत अभिव्यक्ति ही कविता है।' वर्वेने काव्य और जीवनके बीच एक विचित्र रहस्यमय तथा धार्मिक अखंडताकी बात चलाई। फ़ान डेसेलने प्रकृतिवादी गद्य-लेखनसे प्रारम्भ करके सौन्दर्यवाद तथा प्रतीकवाद करके समाप्त किया। इसी बीच फ़ान ईडनने अपनी दार्शनिक समीक्षामें वह सामाजिक भावना भी ला जोड़ी जिसके

कारण उसने हौलेन्ड और अमेरिकामें व्यावहारिक वर्गीय समाज स्थापित किया था। बेवेंगिङ्ग फ़ौन टेख्टीग मंडलके महत्त्वके सैद्धान्तिक लेख अधिक लिखे। अठारहवीं शताब्दिके सीधे अनुयायी ( योङ्गेरी जैनेराटी ) थे हेजेरमान्स, ग्रेज़ेंले, फ़ान डे वोस्टिज़ने, रौबर्स क्वेरीडो फ़ान शेल्तेमा। १६४१ से डच साहित्यिक समीक्षा भी भविष्यवाद, अभिव्यञ्जनावाद, तथ्यातिरेकवाद और परमस्वातन्त्र्यवादसे प्रभावित होकर सन् १६२८ में नवीन ऋजुता, नव-वस्तुवादिता ( नेउज़ाकेलिज़्के ) की ओर प्रवृत्त हो गई। अल्पायु समीक्षात्मक पत्र 'हेट गेटिज़'ने १६१६ में मार्समेनके शक्तिवाद ( वाइटलिज़्म ) के लिये तथा डर्क कौस्टरके मानवतावादी 'डे स्टेम'के लिये मार्ग खोल दिया। १६२७ में कुछ युवक कट्टरवादियोंने शुद्ध कैथौलिसिटीके लिये प्रयत्न किया और युवक विरोधियों अथवा प्रोटेस्टेन्टोंने शुद्ध ईसाई साहित्यिक संस्कृतिके प्रचार करनेका बीड़ा उठाया किन्तु वह अधिक दिनोंतक नहीं टिक सका।

## जैकोस्लावाकियाकी समीक्षा-पद्धति

ज़ैकोस्लोवाकियामें अधिकांश समीक्षा-साहित्य और समीक्षा-आन्दोलन विद्वानों और आचार्यों-द्वारा सञ्चालित हुआ, जिनके मुख्य समीक्षा-ग्रन्थ वहाँके दार्शनिक और राजनीतिक आन्दोलनोंसे अधिक सम्बद्ध रहे। प्रारम्भमें तो धर्म-विज्ञान ही उनका मुख्य विषय था।

ज़ेक समीक्षाका विकास वास्तवमें सम्राट द्वितीय जोसेफ़के समयमें हुआ जब जोसेफ़ डोब्रोवस्की ( १७५३ से १८२६ ) ने प्रबुद्ध युगकी विवेकवादी भावनाके अनुसार ज़ेक साहित्यका इतिहास लिखा। इस कार्यको चलाते हुए जोसेफ यूङ्गमान ( १७७३ से १८४७ ) ने देशमें स्वैरवादी आन्दोलन भी प्रवर्त्तित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वाक्लाव हांका (१७६१ से १८६१ ) ने क्रालोफ़ दूवूर और ज़ेलेना होरा ( १८१७ से १८२६ ) की पुस्तियोंको, तेरहवीं शताब्दि या उससे पूर्वके ज़ेक ग्रन्थोंके रूपमें प्रकाशित किया। पहले तो सब लोगोंने उन्हें मौलिक और सच्चा समझा किन्तु १८८० में अनेक विद्वानोंने यह सिद्ध किया कि वे जान-बूझकर जाली रचे गए थे। इन पुस्तियोंपर जो शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ उसे ही साहित्य-समीक्षाका प्रथम प्रयास समझना चाहिए क्योंकि इस शास्त्रार्थमें सभी सम्भव दृष्टिकोणोंसे इन कृतियोंकी परीक्षा की गई थी। धीरे-धीरे इन शास्त्रार्थोंका

प्रभाव साहित्यसे बढ़कर राष्ट्रीय समस्याओंतकमें पहुँच गया। फ्रांटिसेक पलाकी ( १७६८ से १८७६ ) और पावेल जोसेफ-सफ़ारिक ( १७६५ से १८६१ ) ने साहित्यिक समीक्षाकी अनेक समस्याओंपर विचार किया। प्रसिद्ध प्रतिभाशाली पत्रकार कारेल हेवेलिचेक-ब्रोरोवस्की ( १८२१ से ५६ तक ) ने भी साहित्यिक समस्याओंपर बीच-बीचमें बहुत कुछ लिखा। वास्तवमें सन् १८४८ के पश्चात् ही विशेष रूपसे साहित्यिक समीक्षाकी ओर ध्यान दिया गया। जानने रूदा ( १८३४ से ६१ ) ने अपने समयकी सभी साहित्यिक और नाटकीय कृतियोंपर अत्यन्त सक्रियताके साथ विचार किया। किन्तु अधिकांश समीक्षक अपने-अपने समयकी जर्मन साहित्य-धाराओंका ही अनुगमन करते रहे।

जार्सोलाव व्रचलिकी ( १८५३–१६१२ ) तथा जूलियस ज़ेयर ( १८४१ से १६०१ ) जैसे विश्वबन्धुत्ववादियोंने 'लूमीर' नामक साहित्यिक पत्रिकाके प्रकाशन-द्वारा समीक्षामें अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र स्थापित किया। इन लोगोंने जर्मन समीक्षा-शैलीके बदले फ्रान्सीसी और रूसी समीक्षा-शली ग्रहण की और इस प्रकार सन् १६७० से साहित्यिक समीक्षा आगे बढ़ चली। यह विश्वबन्धुत्ववादवाला युग उस तथ्यवादी मण्डलके हाथमें पहुँच गया जिसका नेतृत्व प्रेग विश्वविद्यालयके दर्शनके आचार्य टौमस जी० मसारिक कर रहे थे। मसारिकने ज़ेक-जीवनके प्रत्येक पक्षका स्पर्श किया और १६३७ तक ( रिपब्लिककी अध्यक्षतासे त्यागपत्र देने तथा मृत्यु होनेतक ) वह वहाँका प्रमुख बौद्धिक शक्तिशाली प्रेरक रहा। इस युगका सर्वश्रेष्ठ समीक्षक था फ्रान्तिज़ेक ज़ेवियर साल्दा ( १८६७ से १६३७ तक ), जिसने मसारिकके प्रभावसे विदेशी लेखकोंके सभी दलोंका सुन्दर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेमें ध्यान लगाया। वह बड़ा सच्चा किन्तु अत्यन्त उग्र समीक्षक था और उसकी गद्य-लेखन-शैली भी अत्यन्त विचक्षण थी। उसने साहित्यिक समीक्षाके नियम तो बनाए किन्तु कभी उनका अन्धानुसरण नहीं किया। यथार्थवादी होते हुए भी वह उसी नैतिक रूढिका अनुयायी था जो जान हुसके समयसे ज़ेक जीवनपर प्रभाव डालती रही है।

सन् १६६० के लगभग कुछ ह्रासवादी साहित्यिकोंका दल जीरीका त्वरासिक ज़े कोविक ( जन्म १८७१ ) के नेतृत्वमें 'माडर्नी रिव्यू' मण्डलके

रूपमें एकत्र हुआ। यद्यपि ये लोग स्वदेशी जीवनकी प्रमुख वृत्तियोंके साथ नहीं चल रहे थे किन्तु इन लोगोंने साहित्यिक दृष्टिकोणका अधिक विकास किया। बहुतसे समीक्षक ( जान माखल अर्वेनोवाक आदि ) चार्ल्स सङ्घके साथ सम्बद्ध थे या राष्ट्रीय जीवनके विद्वत्समाज और राजनीतिक पक्षोंसे सम्बद्ध रहे।

## बलगेरी समीक्षा पद्धति

बलगेरियाकी राष्ट्रीय चेतनाका सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहास माउन्ट एथौसके पादरी पैसी हिलेन्डार्स्कीने स्लावीनो-बलगेरियोंपर लिखा है। इसके एक शताब्दि पीछेतक साधुओं और अध्यापकोंने बलगेरियाकी भाषाका संस्कार किया और वर्त्तमान साहित्यकी नींव डाली। वी० एप्रिलोव ( १७८९–१८३७ ) ने सन् १८३३ में गेब्रोवमें एक साहित्य-विद्यालय ही खोल दिया और १८४१ में 'मौर्निङ्ग स्टार' नामक पत्रमें तत्कालीन लेखोंपर साहित्यिक विचार किरना प्रारम्भ कर दिया। वहाँका सर्वप्रथम समीक्षक 'नेशो बौंखेय' ( १८२९ से ७८ तक ) था जिसने मुख्य रूपसे रूसी साहित्यपर लिखा है। डा० क्रिस्टो क्रिस्टेव ( १८६६ से १९१९ ) ने 'विचार' ( थौट ) नामका एक पत्र ही निकाला जिसमें यह बताया कि 'सौन्दर्यवाद स्वयं कलाका मूल तात्त्विक गुण है।' इसी आधारपर उसने बलगेरियाके उत्तरी स्वतन्त्रता-युगके प्रधान लेखक वाज़ोवके लोकप्रिय ग्रन्थोंकी बड़ी निन्दा की और कलाके एकच्छत्र राज्यका प्रचार किया। इस शताब्दिके प्रथम दशकके लेखकोंपर उसका सबसे अधिक प्रभाव था। बलगेरियाके समीक्षात्मक लेख अधिकतः विभिन्न साहित्यिक पत्रोंमें प्रकाशित हुए। तोदोर त्रायानोव और एल० स्तोयानोव ( १८८२ ) ने वर्त्तमानवादियों और प्रतीकवादियोंका मुखपत्र 'हाइपेरियन' निकाला जो रूसी तथा जर्मनी वर्त्तमानवाद ( वौर्टिसिज़्म ) और प्रतीकवाद ( सिम्बोलिज़्म ) का समर्थक है।

ज़्लाटोरोग पत्रने 'कलाकी रूपात्मक पूर्णता'का सिद्धान्त माना है। इसके प्रकाशक निकोले लिलियेव ( १८८५ ) स्वयं प्रतीकवादी थे और उसके प्रधान समीक्षक व्लाडीमीर वासिलेव और स्तोयान पैनेव दोनों बलगेरी साहित्यके विस्तृत इतिहासके सम्पादक हैं। इस पत्रकी नीति यह है कि 'प्राचीन स्वदेशी रूढियोंके साथ वर्त्तमान योरोपीय सर्वश्रेष्ठ विचारोंका समन्वय किया

जाय"।' जर्मन प्रभावमें काम करनेवाले आर्चर मण्डलके समान यह बहुत कट्टर नहीं है। 'ज़ोरा' नामक पत्रका सम्पादक आयोदॉन वादेव कलाको प्रचारका साधन बनानेका विरोधी है, यद्यपि वह 'कलार्थ कला'के सिद्धान्तको नहीं मानता।

## लुसाशी समीक्षा-पद्धति

स्लावोनिक लोगोंमें लुसाशी ( वेंड्स ) लोग सबसे कम हैं। उन्होंने सत्रहवीं शताब्दिके मध्यतक मूलत: धार्मिक कृतियाँ ही लिखीं। सन् १८४७ में लूसाशियन साहित्यके अध्ययन और प्रकाशनके लिये बुदीसिन नगरमें एक केन्द्र खुला। इनका सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण साहित्य-समीक्षक था याकूब बार्त चिसिन्स्की ( १८५६ से १९०९ ), जिसने अन्य स्लावोनी साहित्योंसे लुसाशी साहित्यकी तुलना की थी। दूसरा समीक्षक यथार्थवादका प्रसिद्ध अनुयायी जोसेफ़ नोवाक् ( जन्म १८९५ ) था। प्रथम विश्व-युद्धके पश्चात् लुसाशी साहित्य-समीक्षामें ज़ेक प्रोफ़ेसर जोसेफ़ पाता ( १८६६ से १९४२ ) ने ज़ेक और लुसाशी भाषाओंमें अनेक पुस्तकें और लेख लिखकर बड़ी सहायता की किन्तु उनकी वर्द्धमान गति नात्सी अधिकारियोंने रोक दी जो अभीतक पनप नहीं पाई।

## ऐस्टोनी समीक्षा-पद्धति

ऐस्टोनियन भाषामें उन्नीसवीं शताब्दितक धार्मिक लेखके अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिखा गया किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें स्वैरवादी विद्वानोंके प्रभावसे एफ़० आर० फ़ाह्लमान ( १७८७ से १८५० ), एफ़० आर० क्रूत्सवाल्ड (१८०३ से १८८२) आदिने अत्यन्त समृद्ध लोक-काव्योंका सङ्ग्रह करना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् यथार्थवादके विकासके साथ साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनके प्रोत्साहनके निमित्त सन् १८७१ में 'ऐस्टोनियन लेखकोंका समाज' (ईस्टी किर्जामीस्टे सैल्ट्स) नामकी एक संस्था स्थापित हुई। लन्दनमें ऐस्टोनियन मिनिस्टर कल्लासने राष्ट्रीय पुनर्जागरणके लिये अत्यन्त सक्रिय कार्य किया। १९०५ की रूसी राज्यक्रान्तिके पश्चात् नवस्वैरवादी प्रभावमें 'युवा ऐस्टोनिया' ( नूर ईस्टी ) मण्डल उठ खड़ा हुआ। साहित्यिक रूपपर पुराने लेखकोंने जो विरोध प्रारम्भ किया,

उसने बड़ी कटुता उत्पन्न कर दी क्योंकि ऐस्टोनियाके पढ़े-लिखे लोगोंपर बाहरी समस्याओंका प्रभाव पड़ता ही जाता था। प्रथम महायुद्धके साथ ऐस्टोनियाकी स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर एक सिउरू मण्डल ( १८१७ ) स्थापित हुआ जो प्रारम्भमें तो कामुकताके आधारपर चला किन्तु पीछे चलकर एस्टोनियन जीवनके अधिक यथार्थ चित्रणमें लग गया।

इस नवऐस्टोनियन ( नूर ईस्टी ) मण्डलका प्रधान कवि था गुस्टाव सूट्स। इसके साथ फ्रीडबर्ट टगलस और जे० सेम्परने मिलकर रचनात्मक साहित्यिक कृतिके बदले साहित्यिक समीक्षामें अधिक समय लगा या और द्वितीय महायुद्धके ठीक पूर्व ये उन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियोंके प्रतिनिधि रहे जो एक ओर राष्ट्रीय परिपाटीका भी पालन करना चाहती थीं और दूसरी ओर संसारके साहित्योंकी विभिन्न विचार-धाराओंसे सामग्री भी ग्रहण करना चाहती थीं।

## लातवियन समीक्षा-पद्धति

उन्नीसवीं शताब्दिके लगभग मध्यसे जूरिस अलूनासके मण्डलने लातवियन समीक्षा प्रारम्भ की जिसके भाषा-शास्त्रीय अध्ययनोंसे लातवियन भाषा समृद्ध हुई। उस समय देशभक्तिपूर्ण स्वैरवादका बोल-बाला था और प्राचीन परम्परा तथा लोकगीतोंको बड़ा महत्त्व दिया जा रहा था। सन् १८८६ में युवक-मण्डलका साहित्यिक और समीक्षात्मक समाजवादी और यथार्थवादी मुखपत्र (दीनास् लापा) निकला। इस मण्डलमें यानीस यान्सन्स ( १८७१ से १९१७ ) नामक अत्यन्त मेधावी समीक्षक और तेयोदोर्स ज़ीफर्स ( १८६५ से १८२९ ) लातवीय साहित्यका प्रमुख इतिहासकार भी था। फ्रान्सीसी और रूसी प्रभावसे आनेवाली नवस्वैरवादी, अभिव्यञ्जनावादी तथा ह्रासवादी धाराएँ प्लूदोंसकी रचनाओंमें स्पष्ट दिखाई देती हैं। सन् १९१९ में लातवियाके स्वतन्त्र हो जानेपर अभिव्यञ्जनावादका प्रभाव बड़े वेगसे बढ़ा जिसका योग्य समर्थन यानिस सुद्राबकाल्न्सने अपने अनेक समीक्षात्मक लेखोंमें किया था। योरोपकी अन्य छोटी जातियोंके समान लातवियाके साहित्यके प्रवर्त्तकों और समीक्षकोंकी पहली पीढ़ी अभी बनी ही हुई है। यह समीक्षा अत्यन्त ऋद्ध हो चली थी किन्तु १८३९ में रूसने जब लातवियाको अपने अधीन कर लिया तब उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ कुण्ठित हो गईं।

## फ़िनलैन्डकी समीक्षा-पद्धति

फ़िनिश भाषामें सबसे पहला ग्रन्थ बिशप माइकेल एग्रीकोला (१६६७-१५६७) का वर्णमाला (एल्फ़बेट) था। उस समय लूथरी साहित्य बहुत था किन्तु कुछ शताब्दियोंतक साहित्यिक कार्योंके लिये स्वीडिश भाषाका ही प्रयोग किया जाता था। उन्नीसवीं शताब्दिमें देशी भाषाओंके विकासके साथ फ़िनिश भाषा भी उठ खड़ी हुई और लोक-काव्यपर इतना बल दिया जाने लगा कि ईलियास लेनरौट्ने लोक कविताओंका सङ्ग्रह और सम्पादन किया। फिर भी यथार्थवादी आन्दोलन होनेतक फ़िनिश साहित्यका कोई महत्त्व नहीं था। जूलियस क्रोह्न (सुओमियो, १८३५—८८) ने फ़िनिश साहित्यकी एक रूपरेखा प्रकाशित की और ओटो मानिनैन (जन्म १८७२) ने तथा अन्य क्षेत्रोंके लेखकोंने समीक्षा प्रारम्भ की। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेपर इस प्रयासको अधिक बल मिला और धीरे-धीरे यह स्वैरवादके विभिन्न रूपोंमें ढलता हुआ उस नवयथार्थवादके रूपमें प्रकट हुआ जो आजकल सबसे अधिक प्रचलित है।

## उक्रेनियन समीक्षा-पद्धति

उन्नीसवीं शताब्दिके पहले दशकोंमें मौखिक साहित्य सङ्ग्रह करनेवालोंका ध्यान लोक-सामग्रीकी ओर आकृष्ट हुआ और वे ही उक्रेनी साहित्यके प्रथम समीक्षक हुए। इस समीक्षामें लोक-सामग्रीपर ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, मानवीय, भाषापरक, समाजवादी तथा मानवतावादी दृष्टिसे अत्यन्त विस्तृत विवेचन हुआ।

लिखित साहित्यकी समीक्षा निकोला कोस्तोमारिव (१८१७ से ८५) ने प्रारम्भ की, जिसने अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें कोतल्यारेवस्कीके समयसे उसके इतिहासका ढाँचा खींचा और लोक-सामग्रीसे उसका सम्बन्ध स्थापित किया। उक्रेनके सबसे बड़े कवि तारास शेवचेन्कोने अपनी सब कृतियोंमें यह प्रदर्शित किया है कि 'साहित्यने राष्ट्रीय उत्पत्तिके कोषसे कितनी सहायता और प्रेरणा पाई है।' पान्तेलेमोन कुलिशने इस विचारका विस्तार किया, शेक्सपियरका अनुवाद किया और पश्चिमी योरोप विशेषतः इङ्गलैण्डकी कृतियोंके आधारपर रचना की। धीरे-धीरे समीक्षकोंकी रुचि मानवतावादसे हटकर जीवनचरितकी ओर घूम गई और ओमेल्यान ओगोनोवस्कीने उक्रेनी

साहित्यका प्रथम इतिहास लिखा। वहाँके सब लेखकोंमें मिखाय वोस्न्याक अधिक प्रसिद्ध था, जिसने तीन खण्डोंमें वहाँके साहित्यका इतिहास लिखा है।

इसके पश्चात् समाजवादी प्रभावमें एक मण्डल चला जो चाहता था कि 'हमारा साहित्य भी पश्चिमी योरोपकी विचार-धाराओंके साथ-साथ चले।' एलेक्सान्देर पोतेब्न्याने लेखककी कल्पना और शब्दके बीच सम्बन्ध ढूँढ़नेका प्रयत्न किया और यही सिद्धान्त आजतक मान्य रहा। उन सबमें अधिक क्रान्तिकारी मिखायलो द्राहोमानिव था जो लेखकोंसे यह आशा करता था कि वे पश्चिमकी प्रगतिशील प्रवृत्तियों अर्थात् समाजवाद या विद्रोहवादका चित्रण करें। उधर ईवान फ्रान्कोने प्रत्यक्षवाद और यथार्थवादका प्रवर्त्तन किया किन्तु साथ ही राष्ट्रीय परम्पराका महत्त्व भी आवश्यक बताया।

प्रथम महायुद्धके पश्चात् समीक्षामें कई धाराएँ आईं—१. स्तीपान बालेने मनोविज्ञानका पल्ला पकड़ा, । २. वासिल शूरात और पावलो जायतसेवने विश्लेषण-संश्लेषण ( ऐनेलिटिको-सिन्थैटिक ) प्रणाली ग्रहण की। ये दोनों लेखकका जीवन-विश्लेषण करके उसकी रचना-शक्तिके नियम ढूँढते हैं। शुद्ध सौन्दर्यवादी प्रयोगका श्रेय मिकोला एवशान, मिकीता स्त्रिब्ल्यान्एकी और मिखायलो रुदनित्स्कीको है जिसने 'कलार्थे कला' (ल'आर्त पाउर ल'आर्त) का सिद्धान्त स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त कुछ राष्ट्रीयतावादी लोग भी थे जो कहते थे कि 'यूक्रेनी साहित्यमें केवल श्रेष्ठ रूप ही नहीं वरन् ऐसी सामग्री भी है जो उसके स्वातन्त्र्य-सङ्घर्षमें उसकी राष्ट्र-शक्तिका अभिवर्द्धन करती है।' इनके साथ ही कुछ ऐसे भी लोग थे जो कैथोलिक ईसाइयोंके नैतिक मानको ही स्वीकार कराना चाहते थे। वर्त्तमान कालमें समाजवादी मार्क्सीय-परम्पराके सर्वश्रेष्ठ उक्रेनी समीक्षक हैं एम० जेरव। इनके दलकी माँग है कि 'साहित्यके द्वारा उक्रेनी जनताका विकास होना चाहिए।' यह प्रवृत्ति उक्रेनके सर्वश्रेष्ठ गद्यलेखक मिकोला रव्विलोवीकी लोमहर्षक मृत्युके पश्चात् समाप्त हो गई। 'रादा उक्रेन'के जो साहित्यिक समीक्षक पीछे रूसी वर्गवादी प्रवृत्तिसे जुट गए थे वे भी चाहते हैं कि 'उक्रेन जातिका स्वतन्त्र आध्यात्मिक-सङ्घ बन जाय।'

## लिथुआनी समीक्षा-पद्धति

लिथुआनी भाषाका प्रयोग लूथरके साहित्यके साथ सोलहवीं शताब्दिमें प्रारम्भ हुआ किन्तु प्रतिसुधारके पश्चात् वह पूर्णत: कैथौलिक प्रभावमें आ

गया। उन्नीसवीं शताब्दिमें वहाँका साहित्य पोलैन्डके प्रभावसे मुक्त होकर १८६३ में राजाज्ञासे लातिनके बदले लिथुआनी लिपिमें आ गया। अनेक पत्र नये साहित्यमें निकलने लगे और आदोमास याउक्सतास (१८६०–१९३८) जैसे बड़े-बड़े समीक्षक भी हुए जिनमें जे० ए० हरबाचियाउसकास प्रतीकवादी भी था। स्वतन्त्रताके पश्चात् वहाँ जूलिओनोस लिन्दे-दोबिलास (१८७२–१९३४) प्रोफेसर विन्चास आदि अनेक समीक्षक हुए। वहाँकी समीक्षा अभी सिर उठा ही रही थी कि नये युद्धके वातावरणने उसे वहीं समाप्त कर दिया।

## स्लोवीन समीक्षा-पद्धति

यद्यपि मतीजा कौपने (१७९७–१७३२) ने १८२९ में स्लोवीन साहित्यका इतिहास लिखा था किन्तु स्लोवीन साहित्यिक समीक्षाका वास्तविक प्रवर्त्तक फ्रान लेवस्तिक (१८३१–६७) था। उसके 'पोपोतोवान्जे इज़ लितिजे दो केद्जा' (१८५८) ने भावी स्लीवीन लेखकोंके लिये अपनी योजना निर्धारित कर दी और समझाया कि 'ग्रामीण किसानकी भाषा और आचार-विचारका ही सब कृतियोंमें चित्रण होना चाहिए।' तबसे अधिकांश लेखकोंने अपने समीक्षात्मक ग्रन्थोंमें उसीका अनुसरण किया है। प्रारम्भमें साहित्यिक इतिहासकार प्रायः लेखकके जीवन-चरितका अधिक वर्णन किया करते थे किन्तु आजकल आन्तोन ओक्विर्क और जोसिप विदमार नई समीक्षा विशेषतः फ्राँसीसी साहित्य-सिद्धान्तोंका अधिक प्रयोग करने लगे हैं। एटबिन क्रिस्टानने अपने मित्रोंके साथ स्लोवीन नाटकीय समीक्षाका भी सूत्रपात किया है।

## रूमानी समीक्षा-पद्धति

मायोरेस्कू और दोब्रोगेयानू-घेरियाकी रचनाओंमें रूमानियाकी समीक्षा-पद्धति अपनी पूर्णताको प्राप्त हो गई। 'कलार्थ कला'के शास्त्रार्थमें ये दोनों परस्पर विरोधी थे। तीतू मायोरेस्कू (१८४० से १९१७) ने कान्ट और शोपेनहावरके सिद्धान्तोंका हेगेलवादसे समन्वय करते हुए कुछ लेख लिखे। इनमेंसे कुछमें उसने राजनीति और साहित्यमें प्रविष्ट ढोंग और हास्यास्पद बातोंपर बड़ी आपत्ति की। अपनी 'क्रिटिसिज़्म' नामक पुस्तकमें मायोरेस्कूने अपने सौन्दर्य-विज्ञानकी भी व्याख्या की जिसका मुख्य विषय 'कलार्थ कला' ही है। उसका कहना है कि 'कवि ऐसा पूर्णताका स्वप्न देखता है जिसे

बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं।' इस दृष्टिसे उसने पाश्चात्य योरोप और देशी लोक-सामग्रीका समन्वय करनेवाले और रूमानियाके प्रतिनिधि कवि मिहायल एमीनेस्कू ( १८५०–८६ ) की व्याख्या की है।

कट्टरपन्थी 'युवा' ( यूनीमिया ) दलका नेता और सामन्त होनेके कारण मायोरेस्कूने इवान दोब्रोगेयानू-वेरिया ( १८५५ – १६२० ) के मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वीकार नहीं किए क्योंकि दोब्रोगेयानू रूसमें उत्पन्न हुआ था, वहीं शिक्षित हुआ था और ज़ारके अत्याचारसे पीड़ित होकर रूमानियामें भाग आकर अपने साथ वहाँके क्रान्तिकारी विचार भी ले आया था। परिणाम यह हुआ कि मायोरेस्कूने 'कलार्थ कला'का पक्ष लिया और दोब्रोगेयानूने 'सामाजिक प्रवृत्ति' या समाजवादका। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे दोब्रोगेयानू-वेरियाका मत मान्य नहीं हुआ किन्तु साहित्यके क्षेत्रमें उसके परिणाम-स्वरूप सन् १६०६ में एक जनवादी (पोपोरानिस्त) आन्दोलन बड़े वेगसे भड़क उठा। कौन्स्तान्ति स्तेयर ( १८६५–१६३६ ) ने इसमें उस युगके सभी प्रतिभाशाली लेखकोंको ला सम्मिलित किया। गाराबेत इब्रायलेआनू ( १८७१–१६३६ ) ने भी उसका समर्थन करके जनता अर्थात् किसानका पक्ष लिया। स्तेयरने रूससे एकतन्त्र राज्यके विरुद्ध भयङ्कर घृणा और सामाजिक सुधारका स्वप्न भी ला धरा। उस समयके पत्रोंने यही घोषणा की कि 'बुद्धिशाली व्यक्तियोंका काम यह है कि वे ग्रामीणोंकी उन्नतिके लिये प्रयास करें।'

इब्रायलेयानूने भी मायोरेस्कूके 'युवावाद' ( यूनिमिज़्म ) का विरोध करते हुए कहा कि 'हमें साहित्यमें उदार मानवीय प्रवृत्तिका पोषण करना चहिए' और इस दृष्टिसे उसने एक अपना 'विशेष मानवीय' अर्थात् किसानोंके उद्धारका पक्ष प्रस्तुत किया। इस जनवाद ( पोपोरानिज़्म ) से सम्बद्ध दूसरा समीक्षक हेनरिक सानी इलिविची ( १८७५ ) था जो अपनेको दोब्रोगेयानू-घेरियाका सच्चा शिष्य समझता है। उसने तेनके सिद्धान्तका अनुगमन करते हुए जाति (रेस)का अधिक महत्त्व बताया और समीक्षा तथा साहित्यिक शास्त्रार्थमें वैज्ञानिक प्रणालियोंका प्रवेश किया। दूसरी ओर मिहायल द्रावोमिरेस्कूने मायोरेस्कूके मतका प्रचार किया और साहित्यमें व्यक्तिगत व्याख्याको अधिक महत्त्व दिया। उसका कहना है कि 'कलाकार अपनी व्यक्तिगत रचनात्मक प्रेरणाओंके पीछे चलता है इसलिये उसकी कृतिमें

काल, स्थान तथा स्वाभाविक कारणोंसे भिन्न उस व्यक्तिगत संसारका छोटा रूप रहता है जिसमें वह निवास करता है।' उससे भी अधिक विस्तार और स्पष्टताके साथ ओविद डेन्सूसियानू ( जन्म १८७३ ) ने मायोरेस्कूकी परम्परा बनाए रक्खी। उसने सन् १६०५में 'नवजीवन' (वायता नोवा) पत्रकी स्थापना करके उसके द्वारा फ्रान्सीसी प्रभावोंका विशेषतः प्रतीकवादका विकास किया।

इन दोनों आन्दोलनोंको मिलाते हुए रूमानियाके प्रधान मन्त्री और इतिहासकार निकोले आयोर्गा ( १८७१-१६४० ) ने एक नई पद्धति स्थापित की। वह हृदयसे स्वैरवादी और वृत्तिसे इतिहासकार था। अतः उसने गाँवको ही रूमानियाके उद्धारका आधार बनाकर स्वर्णिम अतीतका महत्त्व सिद्ध करते हुए किसानोंके उद्धारके लिये प्रबल प्रयत्न किया। वह समाजवाद और जनवाद ( पौपुलिज़्म ) का बड़ा विरोधी था क्योंकि इन वादोंमें वर्गविरोधकी भावना प्रचारित की जाती थी। इसलिये आयोर्गाने लेखकको यह प्रेरणा दी कि 'आप लोग गाँवोंमें जाकर अन्तः-स्फुरण प्राप्त कीजिए, जहाँ लोग अपनी प्राचीन भावना, कविता और परियोंकी कहानी लेकर समय-चक्रमें जीवित रहते चले आ रहे हैं।' इससे एक नया मध्यम सम्प्रदाय चला जिसके सञ्चालक थे इलारी चेन्दी (१८७२-१६१३ )। एमिल फ्रेगुवेके अनुगामी यूजेन लाविनेस्कू ( जन्म १८८१ ) ने रचनात्मक कृतिको आगे बढ़ाया और साथ ही परपैशीसियसकी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूतिमय समीक्षणने वर्त्तमान साहित्यिक प्रवृत्तिका परीक्षण प्रारम्भ किया।

## यिद्दिश समीक्षा-पद्धति

यहूदियोंके मुख्य निवास-प्रदेश योरोपमें रूस, पोलैंड, बाल्टिक-प्रदेश और रूमानिया तथा अमरीकामें संयुक्तराज्य और अरजेन्टाइना हैं। अनेक देशोंके नागरिकोंके रूपमें यिद्दिश लेखकोंने अपने साहित्यमें केवल विभिन्न प्रकारकी जनताकी भावना ही प्रविष्ट नहीं की वरन् प्रायः विभिन्न सामाजिक और कलात्मक समस्याओंके सङ्घर्ष भी उपस्थित किए हैं। इस प्रकारकी देश-विभिन्नता और विकेन्द्रियताके कारण यिद्दिश साहित्यके आदर्शका संरक्षण करनेके लिये एक विशेष

जागर्त्ति हुई। अन्य देशोंकी साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विताकी भावनाओंने भी इन लोगोंमें आकांक्षा उत्पन्न की कि तत्कालीन तीव्रतम प्रगतिसे होड़ ली जाय। उन्नीसवीं शताब्दिके तीसरे भागमें इन दोनों प्रवृत्तियोंने लोक-रचनाओं और छः सौ वर्षोंकी घरेलू रचनाओंको वर्त्तमान साहित्यके रूपमें बदल डाला।

अन्य क्षेत्रोंमें यदा-कदा लिखनेवालोंके अतिरिक्त यिद्दिश साहित्य-समीक्षाका इतिहास डा० इसीडोर ईलियाशेव ( लिथुआनिया, १८७३–१९२४ ) से प्रारम्भ होता है। उसने तेनका यह लोकवादी सिद्धान्त ग्रहण किया कि 'राष्ट्रीय ऐतिहासिक मानस ही कलाकारका आधार है।' उसने यिद्दिश साहित्यके उदात्त ग्रन्थोंकी समीक्षामें कहा है कि 'राष्ट्रीय, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक आधार ही लेखकके व्यक्तित्वको प्रभावित करते रहते हैं।' यिद्दिश साहित्यको 'राष्ट्रीय पूर्णता' समझनेवाला वह पहला समीक्षक था। पिछले दो महायुद्धोंके बीच पत्रों तथा पुस्तकोंके प्रकाशित होनेपर साहित्य-समीक्षाकी जो माँग बढ़ी उसका कुछ परितोषण कवियों तथा श्रेष्ठ लेखकोंने अत्यन्त प्रभावात्मक ढङ्गसे किया। किन्तु व्यावसायिक समीक्षा मुख्यत: समाचारपत्रोंमें ही होती रही। प्रथम महायुद्धसे पूर्व वर्षोंमें यिद्दिश समीक्षामें जिस व्यक्तिने विभिन्न देशोंमें यहूदियोंके उपनिवेशोंका बन्धन तोड़ा वह था लिथुआनियासे अमरीकामें आया हुआ सेमुएल चार्नी। अपने पूर्व लेखक बाल मखशोञ्ज़के समान वह भी साहित्यको 'राष्ट्रीय सर्वस्व' समझता है। उसने राष्ट्रीय भावनाको केवल जनताके आचार-विचारतक ही परिसीमित न रखकर उसे यहूदियोंके प्राचीन हिब्रू लेखोंतक और मध्यकालीन यहूदी और हिब्रू लेखोंकी परम्परातक पहुँचा दिया। समीक्षामें एकपक्षीयताका निराकरण करते हुए उसने लेखककी प्रतिभाके निर्माणके लिये समाजवादी प्रेरणाओं तथा स्वाभाविक रहस्यात्मक सूत्रोंका भी महत्त्व माना है। उसने ही समीक्षात्मक शैली और कौशलके वर्त्तमान रूपको व्यवस्थित किया। उसकी रही-सही कमी अमरीकामें बोरूख अब्राहम वीनरिबने पूरी कर दी। रिवकिनकी दृष्टिसे यिद्दिश साहित्यका विशिष्ट उद्देश्य यह है कि—'देशहीन व्यक्ति किसी एक प्रदेशकी प्रकृतिमें जाकर वहाँकी सेवा भी करें और साथ-साथ संसारको नया सन्देश भी दें।' वह साहित्यिक कलाकारोंको 'मसीहा' बनाना चाहता था। पोलैन्डके मोज़ेज़ ग्रोसने रूपात्मकताको अशोभन माना है।

अमरीकाके नोखम बोरूख मिन्कौफ़ने वैज्ञानिक रूप-विश्लेषणकी प्रणालीको विचारोंके विश्लेषणके लिये भी उपयुक्त समझा है और विशेषताओं तथा रचनाओंका वर्गीकरण किया है। इधर प्राचीन ग्रन्थोंकी खोजका भी काम चल रहा है और १९२० से यह प्रयत्न हो रहा है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षोंके साहित्यका अध्ययन किया जाय।

## हङ्गरीकी समीक्षा-पद्धति

हङ्गरीका जितना समीक्षात्मक कार्य है वह सब विदेशोंसे प्रभावित है। इसके प्रथम युग (१७७०–१८१७) में ट्रेल ब्लेजर्स (जौर्ज बेसेन्यी, जोसेफ़ पेक्ज़ेली, जोसेफ़ कारमान, फ़्रान्सिस वर्सेघी, माइकेल सोकोनाइ, जौर्ज ज़ेरदाहेल्यी, गाबोर दोब्रेन्तेई, एमील बक्ज़ी और फ़्रान्सिस बाक्सान्यी) का प्रभाव रहा। इन प्रारम्भिक समीक्षकोंकी विशेषता यही थी कि इन सबमें अनिश्चयता और अस्पष्टता अधिक व्याप्त थी, इसीलिये इनका प्रभाव भी बहुत कम पड़ा। दूसरा युग स्वैरवादियोंका था जिनपर उदात्तवादका भी पर्याप्त प्रभाव था। तीसरा युग उन आदर्शवादी समीक्षकोंका था जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'की खोजमें पड़े हुए थे और जिनमेंसे अधिकांश कवि थे। वे साहित्यिक रचनाको व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति मानते थे। इनके सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तोंकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति पौल ग्यूलाई-द्वारा हुई जो सन् १९०० तक चलती रही। वर्त्तमान समीक्षाका सबसे योग्य और अत्यन्त प्रमुख नेता जोल्ट ब्योथी हैं। इसके पश्चात् नई और उदार प्रवृत्ति आने लगी। सौन्दर्यवादी अराजकतामें साहित्यिक व्यक्तिवाद समाप्त हो गया यद्यपि अब कुछ श्रेष्ठ कृतियोंकी आशा की जा रही है।

# रूसी समीक्षा-पद्धति

अठारहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें महान् पीटरने सुधार करके रूसको पूर्ण रूपसे पश्चिमकी ओर प्रवृत्त करके मुख्यतः फ्रान्सीसी और उदात्तवादी परम्पराके आधारपर नये साहित्यकी सृष्टि की। वासिली किरिलोविच त्रेद्याकोवस्की ( १७०३ से ६९ ) ही वहाँका पहला सिद्धान्त-निरूपक था विशेषतः छन्दःशास्त्रके क्षेत्रमें। रूसी साहित्यके वास्तविक जनक मिखायल वासिल्येविच लोमोनोसोव ( १७०८—६५ ) ने नई शैलियोंका प्रचलन किया और उच्च, मध्य तथा निम्न शैलीके सम्बन्धमें ब्वालोकी उच्च शैलीका सिद्धान्त स्वीकार किया। व्याकरण और उसके प्रयोगपर लिए हुए लेखोंमें उसने भाषाको अधिक वर्त्तमान-कालिक बनाकर नये साहित्यके लिये एक दृढ़ आधार उपस्थित कर दिया। लोमोनोसोवने लातिन-जर्मन वाक्य-विन्यासका जो रूप चलाया वह फ़्रान्सीसी प्रभावके कारण सुधर गया, जिसका प्रयोग निकोले मिखायलोविच कारामज़िन ( १७६६ से १८२६ ) और वासिली आन्द्रेयेविच ज़ुकोव्स्की ( १७८३ से १८५२ ) ने चलाया। इसीने रूसमें स्वैरवादका प्रचलन किया और पुश्किन जैसे नये लेखकोंका पथ-प्रदर्शन किया। उन्नीसवीं शताब्दिमें ज़ुकोवस्की, एलेक्सान्द्र सरगेयेविच पुश्किन ( १७९९-१८३७ ) और बारोन आन्तोनोविच देलविग ( १७९८-१८३१ ) ने समीक्षापर विशेष ध्यान दिया और अत्यन्त शिष्टता तथा सूक्ष्मताके साथ समीक्षाका विवेचन किया।

साहित्यिक जनवादियों ( प्लीबियन्स ) का एक मण्डल शैलिङ्ग, फिख़्टे और हेगेलके विचारोंसे प्रभावित होकर संसारमें रूसकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके निमित्त प्रयत्नशील था। इन्होंने साहित्य-समीक्षाको प्रभावित करनेवाले प्रसिद्ध दो दल बनाए—१. स्लावोफ़ाइल और २. पश्चिमी ( वेस्टर्नर्स )। स्लावोफ़ाइलोंने

मूल राष्ट्रीय भावनाओंको समुन्नत करनेका प्रयत्न किया और रूसी आदर्शोंपर चलनेके लिये जनतासे पुकार की, जिसका अर्थ यह था कि उस समय की दशाका समुज्ज्वलीकरण हो। ये लोग धार्मिक विचारके थे और उन पश्चिमीयोंकी अपेक्षा इनका प्रभाव कम था जिनका नेतृत्व विसारियन ग्रिगोर्येविच वेलिन्स्की ( १८१० से ४८ ) ने किया जिसे उस समयके युवक 'भयङ्कर विसारियन' कहते थे और जिसने १८४१ के पश्चात् हेगेल और फ्रान्सीसी समाजवादियोंका सिद्धान्त ग्रहण किया। उसका मत था कि 'इस युगके तथ्यवादी उपन्यास ही रूसके वास्तविक जीवनपर लिखने-योग्य विषय हैं।' उसने सुधारकी बात भी की थी। अतः इन्होंने एक 'विचारोंका साहित्य' समुन्नत करके जीवनके उन पक्षोंपर विचार किया जिनपर प्रथम निकोलसके प्रतिक्रियावादी राज्यने कठोर नियन्त्रण बैठा दिया था। इस प्रकार साहित्य-समीक्षाको एक निश्चित क्रान्तिकारी विषय मिल गया जिसमें सामाजिक समस्या, राजनैतिक सुधार और शिक्षापर अधिक विचार होने लगा, कलात्मक विश्लेषणपर कम। यह परम्परा निकोले गाव्रिलोविच चर्नीशेवस्की ( १८२८ से ८९ ) ने तीव्र वेगसे चलाई और कहा कि 'कलाका उद्देश्य यह है कि वह जीवनके पक्षका स्मरण दिलावे और उसकी व्याख्या करे।' १८४८ के पश्चात् वह शुद्ध समाजवादी समस्याओंमें लिपट गया। उसने कारागारमें जो 'क्या किया जाय ?' नामक लोकप्रिय उपन्यास लिखा उसका बड़ा प्रभाव हुआ। दूसरा लोकप्रिय व्यक्ति था निकोले अलेक्सान्द्रोविच दोब्रोल्युबोव (१८३६ से ६१), जो चर्नीशेवस्कीके समान ही उस साहित्यका विरोधी हो गया जिसमें वर्त्तमान समस्याओंपर विचार नहीं किया जाता था। अपने प्रसिद्ध लेखोंमें उसने उन उपन्यासोंकी कड़ी आलोचना की जिनमें प्राचीन शैलीके ह्रासोन्मुख तत्त्वोंका प्रतिनिधित्व होता था, क्योंकि वह एक ऐसा नया मण्डल बनाना चाहता था जो प्रगति और स्वतन्त्रताके पक्षको आगे बढ़ा सके। दिमित्री आइवानोविच पिसारेव ( १८४० से ६८ ) इससे और भी आगे बढ़ गया, उसने अपने अल्प जीवनमें प्राकृतिक विज्ञानोंका प्राधान्य प्रचारित किया और उन सब कलाओंकी निन्दा की जो प्रत्यक्ष रूपसे प्रारम्भिक निहिलिस्टों अर्थात् ऐसे उन समाजवादी आदर्शोंका प्रचार नहीं करती थीं जो सम्पूर्ण सामाजिक संस्थाओं, सिद्धान्तों तथा रूढियोंको तोड़कर भिन्न सिद्धान्तोंके आधारपर

नया समाज बनाना चाहते थे। उसने सौन्दर्य और कला दोनोंको अमान्य किया, आचार और रूढ़िका विरोध किया और समाजकी वैज्ञानिक समीक्षामें बाधा देनेवाली प्रत्येक वस्तुका विरोध किया। समीक्षकोंकी इस परम्परामें अन्तिम था १९०५ की क्रान्तिका नेता समाजवादी निकोले कौन्स्तान्तिनोविच मिखायलोवस्की ( १८४२—१९१४ ), जिसने प्रगतिकी परिभाषा की है कि 'जो प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्तिके अधिकाधिक पक्षोंको समुन्नत करे उसे प्रगति कहते हैं।' वह तत्कालीन युगके आदर्शोंसे विपरीत चलनेवाली सब प्रवृत्तियोंका विरोधी था। इस मण्डलने युवकोंको इतना अधिक प्रभावित किया कि पचास वर्षतक ये लोग समीक्षाके क्षेत्रपर एकच्छत्र साम्राज्य करते रहे। इस युगमें जिन लोगोंने कलामें अधिक रुचि दिखलाई उन्हें ये लोग अवसरवादी (अपौर्चुनिस्ट) और विश्वासघाती ( रैनीगेड ) कहने लगे।

साधारण अर्थमें यदि कोई साहित्यिक समीक्षक था तो वह पावेल वासिलयेविच आनेन्कोव (१८१२—८७) था, जो साहित्यके कलात्मक गुणको अधिक महत्त्वशील समझता था। दूसरा था अपोलन अलेक्सान्द्रोविच ग्रिगोर्येव ( १८२२—६४ ), जो थोड़े दिन दोस्तोएवस्कीके साथ भी सम्बद्ध रहा और जिसने यह स्पष्ट किया कि 'साहित्यको रूसने क्या दिया है।'

द्वितीय अलेक्सान्द्रके शासनके पश्चात् रूसमें राष्ट्रीय प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उस युगके प्रसिद्ध विद्वान् रूसी साहित्यके वर्त्तमान इतिहासके द्वारा सामाजिक आदर्श खोजनेमें लग गए। उसी युगमें मार्क्सवादी समीक्षकोंका एक पूर्ण सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया। दूसरी ओर ऐसे भी लेखक उठ खड़े हुए जो केवल सामाजिक समीक्षामें ही नहीं बँधे रहना चाहते थे। द्वितीय अलेक्सान्द्रके शासनके पिछले भागमें दोस्तोएवस्कीके मित्र व्लादीमीर सर्गेवेविच सोलोव्येव ( १८५३—१९०० ) ने दर्शनके लिये एक धार्मिक आधार खोजनेका प्रयत्न किया और इस दृष्टिसे साहित्यके विभिन्न पक्षोंका विवेचन करते हुए अनेक प्राचीन लेखकोंकी समीक्षा की। काउन्ट लिओ निकोलायेविच टौलस्टौय ( १८२८ से १९१० ) ने 'कला क्या है?' ( १८९७) शीर्षक लेखमें कलाके विभिन्न सिद्धान्तोंका सूक्ष्म विश्लेषण करके अपना नया सिद्धान्त चलाया—'कलाका कर्त्तव्य है कि वह लेखकको प्रभावित करे। वह तभी अत्यन्त उत्कृष्ट हो सकती है जब वह सब मनुष्योंके लिये तत्काल प्राप्य होकर समझमें आ सके और उसका उद्देश्य धार्मिक हो।'

इस परिभाषाके अनुसार संसारका बहुत-सा श्रेष्ठ साहित्य बाहर ही छूट जाता है। कुछ दूसरे समीक्षकोंने अपनी कृतियोंका आधार सौन्दर्यात्मक ही रक्खा। एवौलिन्स्कीने स्पष्ट रूपसे समाजवादी समीक्षकोंके सिद्धान्तोंकी निन्दा की और उसके बदले स्वयं भी निन्दित हुआ। वर्त्तमानवादी ह्रासोन्मुख या नवस्वैरवादी मण्डलके लेखकोंने एक अपना पत्र चलाया जो चला तो थोड़े ही दिन किन्तु उसने भेद बड़ा भारी खड़ा कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दिके अन्ततक रूसी समीक्षाकी इस नई पद्धतिने कृतियोंके कलात्मक महत्त्व ढूँढने प्रारम्भ किए और सामाजिक समस्याओंकी उपेक्षा की।

इन लेखकोंमेंसे बहुतसे दार्शनिक भी थे, जिनमेंसे कुछका सम्बन्ध शुद्ध रूपसे धार्मिक या दार्शनिक समस्याओंसे ही था, किसी कृतिके साहित्यिक गुणोंसे नहीं। दोस्तोएवस्कीका अध्ययन और टौल्स्टौयके साथ उसकी तुलना करना ही इन समीक्षकोंका मुख्य कार्य हो गया। यद्यपि इन्होंने साहित्य-विकास बहुत किया किन्तु उन्होंने अनेक कृतियोंपर जो परिणाम निकाले वे उन लेखकोंके विचारोंसे पूर्णतः भिन्न हैं जिनपर उन्होंने विचार किया है। यही दशा समाजवादी और मार्क्सवादी समीक्षकोंकी है जिनके परिणाम भी ऐसे ही अस्पष्ट और असङ्गत हैं। यूली ऐखेन्वाल्द (जन्म १८७२) और कोर्नी आइवानोविच चुकोवस्की (जन्म १८८३) ने रूसी लेखकोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके सुन्दर ज्ञानपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। १९१७ की क्रान्तिसे पूर्व रूसी साहित्यका ऐसा कोई इतिहास नहीं लिखा गया था जो अन्य योरोपीय साहित्योंके इतिहासोंके समान विस्तृत हो। सामाजिक सुधारके फेरमें बहुत दिनोंतक कलाकी उपेक्षा होती रही। उसके पश्चात् दार्शनिक समीक्षापर ध्यान गया जिसका परिणाम यह हुआ कि बीचमें एक ऐसी खाई बनी रह गई जिसे न रूसियोंने पूरा किया न बाहरवालोंने।

## सोवियत समीक्षा-पद्धति

१९१७ की क्रान्तिसे पहले एक शताब्दितक रूसी साहित्यमें जो राष्ट्रीय भावना प्रचारित हुई थी वह सोवियत साहित्यमें प्राप्त नहीं है। सोवियत जीवनमें घटनाओंका चक्र बड़े वेगसे चला जिससे साहित्य इतना पिछड़ गया कि वह वास्तविक और पर्याप्त रूपसे वहाँके जीवनको प्रतिबिम्बित नहीं कर पाया। इसी कारण साहित्य-समीक्षाकी पद्धति भी शिथिल पड़ गई और लोक-नेतृत्व बढ़ गया। फलतः सोवियत समीक्षकोंमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसकी

तुलना बेलिन्स्की, पिसारेव, चर्नीशेवस्की, दोब्रोलिउबोव मिखायलोवस्की आदि उन महारथियोंमेंसे किसीके साथ की जा सके जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दिके रूसियोंकी न केवल रुचिका वरन् सामाजिक और राजनीतिक विचारोंका भी संस्कार किया और जो यद्यपि थे तो अमार्क्सीय किन्तु जिनमें यह मार्क्सीय भावना अवश्य थी कि 'साहित्य केवल जीवनकी व्याख्या ही नहीं करता वरन् उसे परिवर्त्तित भी करता है।' यद्यपि सोवियत रूसके गतिशील तथा सामाजिक जीवनमें साहित्य - रचनाको अत्यन्त सम्मानित तथा द्रव्योपार्जनका श्रेष्ठतम साधन माना जाता है किन्तु पिछली शताब्दिमें उसका जो विशिष्ट प्रभाव जनतापर था वह अब नहीं रहा। सोवियत जीवनके अन्य पक्षोंके समान वहाँकी साहित्यिक समीक्षा भी अनेक भयङ्कर सङ्घर्षों और परिवर्त्तनोंमें पलकर अपने स्पष्ट और व्यापक साहित्यिक सम्प्रदाय 'समाजवादी यथार्थवाद' ( सोशल रीअलिज्म ) को सर्वमान्य बना पाई है। यह युद्ध दो मोर्चोंपर लड़ा गया—१. मार्क्सवादियोंका अपने विरोधियोंसे और २. स्वयं मार्क्सवादियोंके दलके भीतर।

## सोवियत मार्क्सवाद

मार्क्सवादी समीक्षक रूपवाद ( फ़ौर्मेलिज़्म ) को अपना प्रधान शत्रु समझते हैं अर्थात् वे प्रतीकवादियोंसे लेकर भविष्यवादियोंतक सभी अयथार्थवादी कला - प्रकृतियोंके विरोधी हैं। इस रूपवादके अन्तर्गत वे सभी सिद्धान्तवादी आते हैं जो नियमित प्रणालीसे ही साहित्यका परीक्षण करना चाहते थे और रूप तथा रचना-कौशलको अधिक महत्त्व देते थे। तोमश्शेवस्की, झिरमुन्स्की, आइकेनबाउम, तिनियानोव, बेली और श्क्लोवस्की आदि अत्यन्त विद्वान् और शिक्षित समीक्षकोंने रूसी और विदेशी प्राचीन लेखकों तथा सम्प्रदायोंका नियमित अध्ययन करके समीक्षाको सामाजिक और दार्शनिक वृत्तियोंसे स्वतन्त्र करके समुन्नत करनेका प्रयत्न किया। क्रान्तिसे पूर्वके रूपवादी रेमीज़ोव बेली और ज़ामियातिन आदि रूपवादियोंसे प्रभावित थे। सीरापियन बन्धुओंके मण्डलने उदीयमान सोवियत लेखकोंपर इतना प्रभाव डाला। इस अराजनीतिक प्रवृत्तिसे मार्क्स-वादियोंका माथा ठनका क्योंकि रूपवादियोंके नेताओंने ( जैसे लुंज़ने ) यह घोषणा की कि 'कला भी जीवनके समान सत्य पदार्थ है। जीवनके ही समान कलाका न कोई उद्देश्य है न अर्थ है। वह इसलिये जी रही है कि उसे जीना

ही पड़ता है ।' कलामें तो कौशलके द्वारा साधा हुआ रूप ही मुख्य होता है । श्क्लोवस्कीने कहा कि 'किसी भी साहित्यिक कृतिमें जितनी विषय-सामग्री है वह सबकी सब उसकी शैली-गत प्रक्रियाओंके समान है । इन रूपवादियोंकी ऐसी प्रक्रियाओंमें एक है 'विचित्रता' ( ओस्त्रानेनी ) अर्थात् जानबूझकर एक विचित्र, अपरिचित और कठिन शैली इसलिये लाकर रख दी जाय कि उसे समझनेमें कठिनाई हो और वह देरतक मस्तिष्कमें रह सके क्योंकि ग्रहण करनेकी प्रक्रिया भी कलाका एक स्वयं उद्देश्य है और वह ग्रहण करनेकी क्रिया सहसा नहीं होनी चाहिए, धीरे-धीरे होनी चाहिए ।' श्क्लोवस्कीका यह सिद्धान्त इतना मान्य हुआ कि रूपवादियोंने सब अयथार्थवादी और तथ्यातिरेकवादी कलाओंका समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया । जैसे ख्लेबनिकोवके भविष्यवादी मण्डलने ऐसे मनगढ़न्त और ऊटपटाँग शब्दोंकी अर्थहीन ( ज़ा-उम ) भाषाका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जिसका या तो कुछ अर्थ ही नहीं होता था या अस्पष्ट ध्वन्यर्थ होता था । यद्यपि ये रूपवादी लोग विषयपर बहुत ध्यान नहीं देते थे किन्तु इन्होंने 'जटिल कथावस्तु' ( इनवौल्व्ड प्लौट ) के प्रयोगको शैली-क्रियाके रूपमें समर्थित किया और मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके बदले साहसपूर्ण उपन्यासोंके जटिल विषयवाले रूप स्वीकार कर लिए । स्टर्नने कलात्मक कथावस्तुका जो पन्थ चलाया उसका बड़ा प्रचार हुआ । इतना ही नहीं, श्क्लोवस्कीने तो 'ट्रीस्ट्रम शैन्डी' को संसारके साहित्यमें अत्यन्त निराला उपन्यास बताया । अत्यन्त असङ्गत ढङ्गसे यह रूपवाद न जाने कैसे प्रकृतिवादसे आ जुड़ा और प्रमुख रूपवादियोंने भविष्यवादियोंके उस वामपक्ष ( लेफ़ ) नामक दलका समर्थन प्रारम्भ किया जिन्होंने अपनेको नई रीति-नीतिके अनुसार ढालना प्रारम्भ किया था और जो कुछ बेढङ्गे ढङ्गसे मार्क्सवादसे एक पैर आगे बढ़े हुए थे । लेफ़के सिद्धान्तवादी ब्रिक, आरवातोव, चुज़हाक, त्रेतियाकोव आदिने कहा कि 'साहित्यमें वास्तविकता ( फैक्टोग्रैफ़ी ) का 'याथातथ्य चित्रण' होना चाहिए अर्थात् ऐसा विवरण देना चाहिए मानो वह आँखों देखा ( रिपोर्टेज ) हो और कल्पनात्मक उपन्यास तथा नई-नई कल्पनात्मक खोजोंसे भरे हुए उस साहित्यको छोड़ देना चाहिए जो जनताके लिये अफ़ीमके समान विषतुल्य है ।'

अतः बहुतसा प्रारम्भिक सोवियत गद्य-कथात्मक साहित्य स्थानीय, अत्यन्त याथातथ्यपूर्ण और लगभग आँखों-देखे विवरण ( रिपोर्ट ) के

समान लिखा गया जो तथ्योंका साहित्य तो है पर जीवनका नहीं। परिणामतः प्रकृतिवादी समीक्षक और लेखक भी जीवनकी जटिलतासे उतने ही दूर रहे जितने रूपवादी लोग, जिन्होंने स्पष्ट रूपसे अपनेको जीवनसे अलग कर लिया था। एक दूसरा रूपवादी गड़बड़-घोटाला यन्त्रवाद (कंस्ट्रक्टिविज़्म) का था जो वास्तवमें भविष्यवादकी ही एक शाखा थी किन्तु जिसमें यन्त्र-शास्त्रीय शब्दों और सिद्धान्तोंकी प्रधानता थी। इन यन्त्रवादियोंका कहना था कि 'किसी भी रचनामें शब्दोंका कुछ प्रयोजन या उद्देश्य होना चाहिए अर्थात् शब्द भी काव्य-सामग्रीका एक अङ्ग होना चाहिए। लेखकको समाजके चरित्र और वेगके साथ चलना चाहिए जैसे किसी भी व्यवस्थित समाजमें शक्तिके प्रत्येक अंशको अत्यन्त उपादेय होना चाहिए, उसी प्रकार शब्द भी साहित्यकी शक्तिका एक अंश है अतः वह भी अर्थसे भरा होना चाहिए और तत्तत्स्थानीय अर्थ-प्रयोगके अनुसार उसका चयन होना चाहिए।' प्रसिद्ध सिद्धान्तवादी जेलिन्स्कीने अधिकांश यन्त्रवादके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि सेलविन्स्कीकी कवितासे यन्त्रवादके सिद्धान्त स्थिर किए थे। सन् १९३६ में इस रूपवादके विरुद्ध ऐसा भयङ्कर आन्दोलन हुआ कि उसका अन्त ही हो गया जो लगभग बीस वर्षतक निम्नजन (प्रौलितेरियत्) राज्यमें लटका रह गया था। यद्यपि रूपवाद चला गया किन्तु प्रतिभाशाली रूपवादी चुप नहीं रह सके और उन्होंने कुछ विशिष्ट रचनाएँ भी कीं।

मार्क्सीय समीक्षा आज भी स्थिर नहीं हो पाई है और वे लोग अपने सिद्धान्त बनानेके लिये मार्क्स, एन्जल्स, प्लेखानोव, लेनिन तथा 'तर्कपूर्ण भौतिकवाद' (डाइलेक्टिकल मैटीरियलिज़्म) के अन्य आचार्योंकी बिखरी हुई सम्पत्तिके आधारपर सिद्धान्त बनानेका प्रयास कर रहे हैं। इस प्रक्रियामें सोवियत समीक्षकोंने सब अधकचरे लोगोंको अपनी मण्डलीसे निष्कासित कर दिया जिससे कि अत्यन्त शुद्ध और व्यापक रूपसे मान्य समाजवादी यथार्थवादकी भूमिका स्थापित हो सके। इस दृष्टिसे उन्होंने उन समाजवादी समीक्षकोंको भी धता बताया जिनकी वृत्ति यद्यपि मुख्यतः सामाजिक थी किन्तु जिनमें मार्क्सवादकी शुद्ध व्यापक भौतिक भावना नहीं है। उन्होंने मार्क्सीय समीक्षाके रूसी प्रवर्त्तक प्लेखानेव, सोलोवीव, आन्द्रेयेविच्, वोरोवस्की, फ्रिचे, लुनाचार्स्की और पी० कोगन आदिके

विचारोंको भी उनमें आमूल सुधार किए बिना नहीं ग्रहण किया। सन् १६३२ तक विषय-साहित्यमें 'निम्न-जन-तत्त्व'पर सबसे अधिक शास्त्रार्थ चला। 'निम्नजन-संस्कृति' ( प्रोलेत कल्त ) के सबसे मुख्य नेता ए० बोग्दानोव मालिनोवस्की और उसके अनुयायियोंने उस विशिष्ट निम्न-लोक-साहित्यका प्रचलन किया जिसका उद्देश्य मुख्यतः मध्यवर्गीय परम्पराको समाप्त कर देना ही था। बोग्दानोवने कहा कि 'ऐसे ही साहित्यमें श्रमिकोंके भावों और विचारोंकी अभिव्यक्ति हो सकती है जिसमें सहयोग और सङ्घटनकी भावना दिखाई गई हो और जिसमें वह अधिकारिता और व्यक्तिवाद न हो जो अन्य वर्गोंकी रचनाओंमें प्राप्त होता है।' वोरोन्स्कीका मण्डल निम्नजन-साहित्यके सम्बन्धमें बड़ा निराशावादी और उसका विरोधी था क्योंकि वह समझता था कि यह चल नहीं पावेगा। उसके साथी त्रौत्स्कीने कहा कि 'श्रमिक वर्गने जो संक्षिप्त और अल्पकालीन अधिकार पाया है इसमें वह नई कला उत्पन्न करनेकी अपेक्षा अन्य बहुत-सी समस्याओंमें उलझा हुआ है और जैसे ही यह अधिकार्य समाप्त होगा वैसे ही सब प्रकारके वर्ग स्वयं नष्ट हो जायँगे।' दो-दो पत्रोंके सम्पादक होने और 'एक-पंक्ति' ( पिरीवल ) मण्डलका नेता होनेके कारण वोरोन्स्कीका बड़ा प्रभाव था। उसने साहित्य-समीक्षाके लिये नवमानवतावाद ( न्यू ह्यूमेनिज़्म ) और अन्त:स्फुरणवाद ( नोज़ार्टियनिज़्म अर्थात् इन्स्पिरेशनलिज़्म ) आदि आदर्शवादी सिद्धान्तोंका प्रवर्त्तन किया। वोरोन्स्कीने जहाँ एक ओर श्रमिक उपन्यासोंकी सृष्टि की है वहीं उसने अपने साथी यात्रियोंका भी विशेष वर्णन किया। दूसरे छोरपर जो श्रमिक-समर्थक-मण्डल थे उनके दलके समाचार-पत्रोंने सब प्रकारके सामञ्जस्य और सहयोगका विरोध करते हुए कहा—'नहीं चाहिए साथी-यात्री, चाहे वह अपना सहपक्षी हो या शत्रु।' वे चाहते थे कि 'लेखकको तर्कपूर्ण भौतिकवाद ( डाइलेक्टिकल मैटीरिलिज़्म ) पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके उपन्यासोंमें उसका प्रदर्शन करना चाहिए।' अन्तमें १६३२ में सरकारने हस्तक्षेप करके अपने आदेशसे सब प्रकारके साहित्यिक मण्डल और साहित्यिक दलबन्दियाँ समाजवादी यथार्थवादमें मिलाकर समाप्त कर दीं।

रूपवाद, प्रकृतिवाद और ऐटवोस्टिज़्मसे युद्ध करनेके साथ-साथ समाजवादी यथार्थवादके समर्थकोंने बहुतसे भावी मार्क्सवादी समीक्षकोंको यह कहकर निकाल बाहर किया कि 'इनकी प्रवृत्ति 'मेन्शेविस्ट है, भले ही

उनसे सम्बन्ध न हो।' रूसी मार्क्सवादका प्रवर्त्तक प्लेखानोव यद्यपि कलाओंका सूक्ष्म प्रशंसक था किन्तु सौन्दर्य-विज्ञानमें वह अभी नौसिखुआ था। उसकी सबसे बड़ी विचित्र बात यह थी कि वह 'काव्य-रूप' और 'काव्य-विषय'को पूर्णतः भिन्न समझता था। इसीलिये प्लेखानोव और उसके शिष्य वोरोन्स्की, गौर्बोव, ल्वोव-रोगाचेवस्की, गोर्बाचेव और पैरेवेर्ज़ेव आदि समाजवाद और सौन्दर्यवादी तत्त्वोंका ठीक सामञ्जस्य नहीं कर पाए। कठोर 'मैन्शेविज़्म'का प्रदर्शन किया पैरेवेर्ज़ेव और उसके शिष्योंने। मार्क्सके अनुसार 'पैरेज़ेंव'वादी भी सब बातोंके निर्णयका कारण वर्त्तमान परिस्थितियोंको ही मानते हैं विचारोंको नहीं। यदि इसे अधिक संकुचित दृष्टिसे देखा जाय तो पैरेवर्ज़ेववादी तथा अन्य ग्राम्य समाजवादी सबको इसी वक्तव्यसे प्रेरणा मिली कि 'प्रत्येक लेखककी कृति उसके वर्ग और परिस्थितिके अनुसार परीक्षित की जानी चाहिए।' इसका तात्पर्य यह है कि टौल्स्टौय केवल उच्च श्रेणीके सज्जनोंका ही भली प्रकार चित्रण कर सकता था और श्रमिक-वर्ग अन्य किसी दूसरे अश्रमिक-वर्गके सदस्योंका चित्रण करनेका प्रयास न तो कर सकते, न उन्हें करना चाहिए। यद्यपि इस प्रकारका पूर्व-प्रस्थित सिद्धान्त सरकारी रूपसे सन् १९३० में त्यक्त कर दिया गया किन्तु उसकी प्रतिध्वनि आज भी धीमे-धीमे सुनाई पड़ती रहती है।

मैक्सिम गौर्की और वर्त्तमान समीक्षक यूसेइविच और रोज़ेन्तालने समाजवादी यथार्थवादका जो रूप निश्चय कर दिया उसमें रूसी यथार्थवादकी परम्परा अभी चल रही है। प्राचीन यथार्थवाद अधिकांश विरोधात्मक था और तत्कालीन परिस्थितियोंका अत्यन्त भयङ्कर दोषान्वेषी था किन्तु समाजवादी यथार्थवाद गुणान्वेषी और रचनात्मक है। इसमें समाजसे सङ्घर्ष करनेवाले व्यक्तिके बदले ऐसे व्यक्तिका चित्रण किया जाता है जो अपने व्यक्तित्वको अभिव्यक्त करता हुआ शोषण न करनेवाले समाजके साथ मिलकर काम करता है। समाजवादी यथार्थवादमें ऐतिहासिक भौतिकतावाद समझनेकी भी भावना है अतः ये लेखक और समीक्षक लोग चाहते हैं कि आजका लेखक वर्त्तमानको भूत और भविष्यके निरन्तर प्रवाहकी दृष्टिसे देखकर रचना करे इसके अतिरिक्त समाजवादी यथार्थवादवाले मानते हैं कि लेखकके भावोंके उचित संक्रमणके लिये रूप और विषय दोनों परस्पर आश्रित हैं।

---

# एशियाई देशोंकी समीक्षा-पद्धतियाँ

इस ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें हम भारतीय समीक्षा-पद्धतियोंपर विस्तारसे विचार कर आए हैं। अतः यहाँ केवल चीन, जापान, अरब और फ़ारसकी समीक्षा-पद्धतियोंका ही परिचय दिया जा रहा है।

## चीनी समीक्षा-पद्धति

चीनी साहित्यमें समीक्षाको वह पद न प्राप्त हो सका जो पश्चिममें प्राप्त है क्योंकि चीनी भाषामें समीक्षाके लिये प्रयुक्त होनेवाले प'इ प'इग शब्दका अर्थ 'दूसरेका दोष निकालना' ही था। अतः विद्वत्ताकी दृष्टिसे विद्वान् लोग किसी दूसरेमें दोष निकालना और दूसरेके ग्रन्थोंकी निन्दा करना बहुत बुरा समझते थे। चीनमें बहुत ही कम ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने इस रूढ़िका पालन न करके कभी-कभी किसी साहित्यिक कृतिका मूल्याङ्कन किया है किन्तु ये मूल्याङ्कन भी समीक्षा-सिद्धान्तोंपर तो आश्रित थे नहीं इसलिये इस प्रकारके विश्लेषणोंको साधारण रचनाओंपर लिखी हुई टिप्पणी ( रिव्यू ) मात्र कह सकते हैं।

समीक्षाकी दृष्टिसे चीनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेन क्षिन तियाओ लुङ्ग' (। साहित्यके हृदयमें पक्षयुक्त सर्प बनाना ) छठी शताब्दि ईसवीमें लिउ येन पिङ्ने लिखा जिसमें उसने लेखककी स्वाभाविक प्रवृत्ति या प्रेरणाको अधिक महत्त्व दिया है और रसको बहुत ऊँचे उठा दिया है। दूसरा ग्रन्थ लौवेङ्गने तेरहवीं शताब्दिमें 'नृत्यात्मक गीतोंकी समीक्षा' ( च'ऊ प'इङ्ग ) लिखा था। यह ग्रन्थ नाटकीय समीक्षाका प्रथम ग्रन्थ है जिसमें गीतका साहित्यिक मूल्य ही नहीं आँका गया वरन् उनके नाटकीय गुणों अर्थात् कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा व्यंग्य-विनोद

आदिकी भी व्याख्या की गई। चिङ्ग राज्यवंशके चिङ् सिङ् तआनके उपन्यासकी जो समीक्षात्मक व्याख्याएँ निकलीं वे अबतक भी लोक-प्रिय हैं। उनमें उपन्यास लिखनेके कौशलकी साधारणतः और शैलीकी विशेष रूपसे परीक्षा की गई है। इनके अतिरिक्त जो अन्य समीक्षात्मक कृतियाँ प्राप्त हैं वे सब छिन्न-भिन्न खण्डोंमें प्राप्त होती हैं।

चीनमें जो कुछ भी थोड़ा-बहुत साहित्यिक समीक्षण है उसे हम तीन युगोंमें बाँट सकते हैं—पहला, २४६—२०६ ई० पू० के चिन-राज्य-वंशसे ४२०—५८६ ई० के दक्षिणी और उत्तरी राज्यवंशोंतक जिसमें काव्यके स्वरूप अर्थात् उसके रचना-कौशलका अधिक विवेचन किया गया है। दूसरा, ५८६—६१८ तकके सुई राज्यवंशसे १६४४—१९११ के चिङ् राज्यवंशतक है। इस युगमें काव्यकी विषय-सामग्रीका अधिक परीक्षण किया जाने लगा। सन् १९१२ में जब चीनी प्रजातन्त्रकी स्थापना हुई तब इस वर्त्तमान तीसरे युगमें पश्चिमकी साहित्यिक समीक्षण-प्रणालीने चीनको भी प्रभावित किया और अब वहाँ भी समीक्षाको स्वतन्त्र साहित्य-शाखाके रूपमें समुन्नत किया जा रहा है। यदि हम उनकी समीक्षाको पूर्ण रूपसे देखें और रचना-कौशल, विषय-सामग्री, जीवन और समाजमें साहित्यके महत्त्वकी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि चीनी समीक्षक आज विश्लेषण तथा गोल-मटोल मूल्याङ्कनका ही अधिक प्रयोग करते हैं।

## जापानी समीक्षा-पद्धति

यद्यपि जापानियोंने तीसरी शताब्दिमें ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनकी सबसे प्राचीन पुस्तक 'कोजिकी' (प्राचीन विषयोंका विवरण) ७१२ ई० की लिखी हुई है। तबसे लेकर जापानमें बहुत साहित्य लिखा गया और नाटकके क्षेत्रमें तो अत्यन्त समुन्नति हुई। जापानी साहित्यकी विशेषता यह है कि वहाँ अधिकांश श्रेष्ठ साहित्य स्त्रियोंने लिखा है जिनमें ग्यारहवीं शताब्दिकी मुरासाकी नो शिकिबूका लिखा हुआ गेञ्जी मोनोगातारी ( गेञ्जीकी कथा ) और सेई शोनागोनका मकूरा नो शोशी ( तकिया-चित्रण ) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसके पश्चात् जापानपर चीनी प्रभाव भी आने लगा किन्तु स्त्रियोंने अपनी भाषा-शुद्धता निरन्तर बनाए रक्खी। इसके पश्चात् जब योरोपसे और रूससे सम्बन्ध स्थापित हुआ तब रूसी लेखकोंने और

रूसी साहित्यने विशेषतः आन्द्रेयेव, पुश्किन और तुर्गनेव इत्यादिने बड़ा प्रभावित किया जिससे नये प्रकारका साहित्य भी रचा जाने लगा, जिसमें काम-विषयक और स्त्री-विषयक उपन्यास भी लिखे जाने लगे। इस युगमें केवल मसूरा हाजिमे एकमात्र साहित्यिक विद्वान् है जो अपने देशकी साहित्यिक परिपाटीका निर्वाह करता है और जो सबसे बड़ा समीक्ष्यवादी है। उसने वर्त्तमान योरोप-वादिताका खण्डन करते हुए कहा है कि 'आजके लेखक अपने देशकी शुद्ध कलाकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करनेके बदले विदेशी मिट्टीकी दरिद्र मूर्त्तियाँ लाकर स्थापित कर रहे हैं।' किन्तु इधर जापानी समीक्षा-साहित्यमें साधारणतः लोगोंकी रुचि नहीं है क्योंकि वहाँके अधिकांश व्यक्ति कामकाजी, बहुधन्धी, व्यवसायी और राजनीतिक हैं।

## अरबी समीक्षा-पद्धति

क़ुरानके निर्माणसे पूर्व अर्थात् पाँचवीं-छठी शताब्दितक लिखित अरबी साहित्यका कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। इससे पूर्व मौखिक रूपसे अरबके उत्तरीय निवासियोंमें कुछ गीत और कहावतें प्रचलित थीं किन्तु आठवीं शताब्दिमें ख़लील इब्न अहमदने जो सोलह अरब छन्दोंका विवरण दिया है उससे जान पड़ता है कि अरब काव्य पर्याप्त समृद्ध था। अरब कविताके रूपोंमें क़सीदा (प्रशंसा-काव्य) प्रमुख है, जिसमें एक प्रेमपूर्ण प्रस्तावना (नसीब) होती थी, उसके पश्चात् कविकी प्रेम-व्यथा कम करनेके लिये एक यात्रा होती है जिसमें मरुभूमि ऊँट, घोड़े, जङ्गली गधे, हरिण, शुतुर्मुर्ग और आखेटका वर्णन होता था और उस क़सीदेके अन्तमें या तो वह अपनी या उस सामन्तकी प्रशंसा करता था जिसके डेरेतक पहुँचकर वह कष्टप्रद यात्रा पूरी होती थी। इन काव्योंमें कुछ व्यक्तिगत तथा जातिगत वाद-विवाद भी होते थे। सातवीं शताब्दिके मध्यसे कवि प्रेमगीत या ग़ज़ल कहने लगे जो प्रायः व्यक्तिगत होते थे। उसके सौ वर्ष पश्चात् इन कविताओंमें धार्मिक तत्त्व भी आने लगे। चौदहवीं शताब्दिमें कुछ गीतके रूप चल पड़े थे जैसे मुअश्शः,

ग़ज़ल, दुबैत या रुबाई और मवालिया (लोकगीत)। इनके अतिरिक्त बहुत बड़े कवियोंके काव्यसंग्रह 'दीवान' नामसे संगृहीत हुए। इस्लामसे पूर्वकी अरबी रचनाओंमें वीरता, शोकगीत, नीति, स्त्रियोंका सौन्दर्य और प्रेम, व्यंग्य, वर्णन, यात्रा, मनोविनोद और स्त्रियोंकी निन्दा मिलती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए जिनमें अली और उनके परिवारकी कथाएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दिमें योरोपके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनोंने सीरिया और मिश्रके अरबी साहित्यको अत्यन्त प्रभावित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि नई प्रकारकी साहित्य-शैलियाँ, रचनाएँ और अरबी रङ्गशाला भी स्थापित हो गईं। किन्तु विचित्र बात यह है कि समीक्षाके क्षेत्रमें अरबीमें बहुत काम नहीं हुआ। जो कुछ हुआ वह इसी प्रकारका था कि प्राचीन कवियोंकी उक्तियोंकी वाह-वाहपूर्ण प्रशंसा भर की जाती है और पाठकोंको यह प्रेरणा दी जाती है कि अमुक कविने जैसा कहा वैसा कोई क्या कहेगा।

## फ़ारसी समीक्षा-पद्धति

फ़ारसी साहित्यका सर्वप्राचीन विवरण नवीं और दसवीं शताब्दिसे मिलता है जब बुख़ारा और समरक़न्दके कवियोंने रचनाएँ की। इनमें जो काव्य-स्वरूप हमें मिलते हैं वे निम्नलिखित प्रकारके हैं—

१. क़सीदा (प्रशंसा-काव्य), २. ग़ज़ल प्रेमगीत, (मदिरागीत या धार्मिक गीत), ३. रुबाई (चौपदे), जो अरबी रुबाइयोंसे भिन्न होते थे और ४. मनसवी या प्रबन्ध-काव्य। इनके अतिरिक्त अनेक राजाओंके चरितोंके आधारपर उनके 'नामे' लिखे जाते थे जैसे—फ़िरदौसीका 'शाहनामा' या अन्य कवियोंके जहाँगीरनामा, गुशास्पनामा, या भारतमें लिखा हुआ जौर्ज-नामा। इनके अतिरिक्त कुछ कवियोंने यूसुफ़-ज़ुलैख़ा आदिकी प्रेम-पूर्ण कथाएँ भी मसनवी रूपमें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त 'अख़लाका-उल् अशराफ़' (शिष्टाचार) नामका प्रसिद्ध व्यंग्य-काव्य भी लिखा गया। किन्तु फ़ारसी

साहित्यको अधिक प्रसिद्ध किया सूफ़ी कवियोंने जिनमें अबूस ईद बहुत प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उमर ख़ैयामने अपनी रुबाइयोंमें मस्तीवादकी प्रतिष्ठा की। और कुछ नीतिग्रन्थ भी लिखे गए। शीराज़के शेख़ शादीने बस्ताँ और गुलिस्ताँ नामक उपदेशपूर्ण ग्रन्थ लिखे और अनेक कवियोंने प्रगीत लिखे जिनमें हाफ़िज़ प्रसिद्ध हैं। आजकल कुछ नाटक भी 'शबबाजी' नामसे चल पड़े हैं। सन् १९२२ में जमालज़ादाने 'या कि बूद या कि नबूद' (कुछ था कुछ नहीं था) नामक यथार्थवादी कथाओंका सङ्ग्रह प्रकाशित किया और अब तो अँगरेजी शैलीके बहुत उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। किन्तु वहाँ भी काव्य-संशोधन (इस्लाह) की प्रथाके कारण समीक्षाका क्षेत्र अत्यन्त उपेक्षित रहा और जो समीक्षाएँ हुईं भी वे या तो अतिशय प्रशंसात्मक हुईं या अतिशय निन्दात्मक।

॥ तृतीय खण्ड सम्पूर्ण ॥

# समीक्षा-शास्त्र

## चतुर्थ खण्ड

# संसारके साहित्यिक वाद

संसारके विभिन्न देशोंमें साहित्यके रूप, विषय, छन्द, अलङ्करण, सिद्धान्त तथा तत्त्वपर जितना विचार हुआ उन सबके अनुसार प्रत्येक देशमें नये-नये वाद चल पड़े। इन वादोंपर जिन लोगोंने विचार किया उन्होंने उनके विरुद्ध अपने नये वाद प्रारम्भ कर दिए, जिनमेंसे कुछ तो दार्शनिक आधारपर थे और कुछ व्यावहारिक। इनमेंसे कुछ वादोंका नामकरण उन वादोंके प्रवर्त्तकोंके आधारपर किया गया और कुछ उन वादोंके दार्शनिक आधारपर। इस खण्डमें हम जितने वादोंका परिचय दे रहे हैं वे सब विभिन्न देशोंमें, विभिन्न कालोंमें, विभिन्न व्यक्तियों-द्वारा प्रवर्त्तित किए गए। इन्हें हमने कहीं तिथिक्रम तथा कहीं परस्पर सम्बन्धके अनुसार दे दिया है जिससे अध्येताओंको उनका मर्म और पारस्परिक सम्बन्ध समझनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई न हो।

कुछ देशोंमें साहित्यिक आधारके अतिरिक्त दार्शनिक आधारपर भी साहित्यिक वाद चलाए गए, जैसे हिन्दी साहित्यमें ही निर्गुणवाद, सगुणवाद, सूफ़ीवाद आदि चले। इन सब साहित्यिक वादोंका आधार शुद्ध दार्शनिक था। इसी प्रकार चीन और जापानका बहुत-सा साहित्य कनफ़ूची, शिन्तो और बौद्ध धर्मसे सम्बद्ध रहा अतः ऐसे वादोंका दार्शनिक परिचय यहाँ नहीं दिया गया है क्योंकि दार्शनिक मत इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि उन सबका पूर्ण परिचय देना और उनके प्रभावका विवेचन करना स्वयं एक महाग्रन्थका विषय है।

### स्वाभाविकतावाद ( हेलिनिज़्म )

प्राचीन यूनानियों विशेषतः स्टोइकों ( उदासीनतावादियों ) ने भाषाकी शुद्धतापर ध्यान देकर सब प्रकारके विच्छिन्न वाक्यों, ग्राम्य प्रयोगों तथा

विदेशी शब्दोंका बहिष्कार करके सब प्रकारकी अतिरेकताओंसे रहित व्याकरण-शुद्ध, मुहावरेदार भाषा-शैलीका प्रयोग चलाया। यही स्वाभाविकतावादी (हेलेनिस्टिक) शैली कहलाई। आगे चलकर यूनानी भावनाके युग, आचार, विचार, भाषा और संस्कृतिको ही 'हैलिनिज़्म' कहने लगे।

### सहज-सूक्तिवाद ( गैलिसिज़्म )

सहज-सूक्तिवाद भी स्वाभाविकतावाद ( हैलिनिज़्म )का ही पर्याय है।

### कृत्रिमतावाद ( हैब्राइज़्म )

स्वाभाविकतावाद ( हैलिनिज़्म )का ठीक उलटा 'कृत्रिमतावाद' था। मैथ्यू आरनोल्डने अपने 'संस्कृति और अराजकता' ( कलचर ऐन्ड एनार्की ) में स्वाभाविकतावाद (हैलेनिज़्म ) और कृत्रिमतावाद (हैब्राइज़्म) दोनोंको मानव-इतिहासकी दो प्रतिद्वन्द्वी शक्ति बताते हुए कहा है कि 'स्वाभाविकतावादमें चेतनताके स्वयंप्रवाहकी प्रधानता है और कृत्रिमतावादमें जान-बूझकर कठोर होना या प्रयत्न करना है। स्वाभाविकतावादमें जीवित रहने अर्थात् प्रत्येक पक्षसे वस्तुओंको उनके वास्तविक सौन्दर्यके रूपमें देखनेकी तथा अपनेको व्यक्त करनेकी सजीव भावना है। कृत्रिमतावादमें आचारके आदर्शोंपर बल देकर सब बातोंमें ईश्वरकी इच्छाका महत्त्व स्वीकार करनेको बाध्य किया जाता है।

### आवेगवाद ( एशियानिज़्म )

यूनानी और लातिनकी भाषण-कला और गद्य-लेखनमें एक शैली चली जिसमें विचार और अभिव्यक्ति दोनोंके लिये तर्जना, आक्षेप और आवेगात्मक अभ्यर्थना भरी रहती थी, जिसके छोटे-छोटे अंशोंमें एक विशेष गतिसे अलङ्कारोंसे युक्त विरोधी वाक्य, तुलना, सूक्तियाँ, मुहावरे और कहावतोंका समावेश होता था। इस शैलीके जन्मदाता गौरग्यास माने जा सकते हैं किन्तु इसका वास्तविक उद्‌गम-स्थल एशिया माइनर ही है। पहली और दूसरी शताब्दि ई० पू० में यह शैली यूनानमें अत्यन्त प्रचलित थी।

### सारल्यवाद ( एटिसिज़्म )

जर्मनी और रोमके कुछ वक्ताओंने अत्यन्त सरल, सीधी तथा आलङ्कारिक सज्जासे हीन 'सारल्यवाद' ( एटिसिज़्म ) नामकी लेखन-शैली ग्रहण की थी जो कुछ तो आवेगवाद ( एशियानिज़्म ) की प्रतिक्रियाके रूपमें और कुछ पहलेसे चली आती हुई प्रवृत्तियोंके विकासके कारण सर्वप्रथम रोममें

द्वितीय शताब्दि ई० पू० में प्रकट हुई। अतः सारल्यवाद ( एटिसिज़्म ) को स्वाभाविकतावाद या भाषा-शुद्धतावादका वैसा ही संस्कृत रूप समझना चाहिए जैसे रोममें लातिनका भाषा-संस्कार किया गया था, जिसे हम 'नागरी लातिन' कह सकते हैं। सम्भवतः काल्वस ही प्रथम रोमन था जिसने अपने आपको सारल्यवादी कहा है। उसमें तथा सिसरोमें ही सारल्यवाद ( एटिसिज़्म ) बनाम आवेगवाद ( एशियानिज़्म. ) का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ था। द्वितीय शताब्दिमें फिर प्राचीन युगकी श्रेष्ठताकी पुकारके साथ प्रत्न-प्रयोगवाद ( आर्केइज़्म ) की धूम मची और द्वितीय भाषण-शास्त्रीय आन्दोलनमें सारल्यवादको लोगोंने वेदवाक्य बना लिया।

### अलक्षेन्द्रियावाद

अलक्षेन्द्रिया-युगके यूनानी कवियोंने जो काव्यकी समीक्षाके सिद्धान्त निश्चित किए थे उनके अनुसार जो एक नई प्रकारकी अत्यलंकृत शैली थी उसीको अलक्षेन्द्रियावाद कहते हैं।

### विद्वद्वाद ( स्कौलेस्टिसिज़्म )

यूनानमें 'उदार कला' सिखानेवाले मध्यकालीन विद्यालयोंमें दर्शन और धर्म-विज्ञानके अध्यापकोंकी शिक्षा-क्रियाको विद्वद्वाद कहते हैं। पुनरुत्थान-कालमें सम्पूर्ण मध्यकालीन युगको ही लोग विद्वद्वादी कहकर घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। आजकल विद्वद्वादका अर्थ है 'मध्ययुगका दार्शनिक और धार्मिक विचार। उन्होंने मान लिया था कि 'सत्य ही प्राप्य है।' जो लोग अब विद्वद्वादी या नवविद्वद्वादी कहलाते हैं वे लोग अब भी मध्यकालीन विचारको शुद्ध सत्य समझते हैं और कहते हैं कि 'उसका प्रयोग आज भी हमारी सब समस्याओंके लिये अर्थात् साहित्य और समीक्षाके लिये किया जा सकता है।'

### शुद्धतावाद ( प्योरिज़्म )

अपनी अभिव्यक्तिमें सावधानीसे नियमोंका पालन करनेको 'शुद्धतावाद' कहते हैं। प्रायः इसका प्रयोग लोग तुच्छ दृष्टिसे करते हैं अर्थात् भाषामें आवश्यकतासे अधिक सुन्दरता लाने या दर्शकों तथा अवसरोंके अनुपयुक्त शुद्धता लानेके प्रयोगको ही वे शुद्धतावाद कहने लगे हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे भाषाका शुद्ध रूप सुरक्षित करनेका प्रयास तथा विदेशी शब्दोंकी भरतीसे उसे बचानेका प्रयास ही 'शुद्धतावाद' कहलाता है। इसमें कभी तो प्राचीन देशी

शब्द भी विदेशी प्रचलित शब्दोंके बदले स्वीकृत कर लिए गए और कभी प्राचीन प्रयोग भी अप्रयुक्त कहकर निकाल दिए गए। यह शुद्धतावाद यूनानके सारल्यवादियोंमें, रोमनोंमें, मध्यकालीन सिसरोवादियोंमें, पुनर्जागरणकालकी अधिकांश योरोपीय देशी भाषाओंमें तथा वर्डस्वर्थके इस वक्तव्यमें स्पष्ट है कि 'साधारण बोलचालकी भाषाका ही साहित्यमें प्रयोग करना चाहिए।'

**सटीकतावाद ( प्रिसीज़निज़्म )**

अत्यन्त सावधानीके साथ रचना-शैलीके प्रयोग अर्थात् अत्यन्त सावधानीके साथ प्रयुक्त शुद्धतावादको ही सटीकतावाद ( प्रिसीज़निस्म ) कहते हैं।

**उदात्तवाद ( क्लासिसिज़्म )**

द्वितीय शताब्दि ईसवीके प्रसिद्ध लातिन ( लैटिन ) लेखक आउलुस गेलिउस ( औलस गैलियस ) ने अपने ग्रन्थ 'नौक्तेस एत्तिकी'में सम्पूर्ण तत्कालीन वाङ्मयकारोंको दो भागोंमें विभक्त किया :—१. उदात्तसमाजका लेखक ( स्क्रिप्तार क्लासिकस ), २. लोक-लेखक ( स्क्रिप्तार प्रोलीतेरियस )। इनमेंसे उदात्तवर्गका लेखक वह उच्चवर्गीय लेखक था जो कुछ 'गिने-चुने सुखी' व्यक्तियोंके लिये रचना करता हो। कुछ शताब्दियोंके पश्चात् इसका यह भ्रामक अर्थ लगाया जाने लगा कि 'उदात्त-रचना' ( क्लासिकल वर्क ) वह ग्रन्थ है जो विद्यालयों अथवा शिल्प-संस्थाओंमें नियमित रूपसे अध्यापन कराया जा सके। यही अर्थ मध्यकालीन तथा पुनर्जागरणकालीन लातिनतक मान्य रहा, जहाँसे यह अर्थ वर्त्तमान भाषाओंतक चला आया है।

मानववादियों ( ह्यूमेनिस्ट्स ) का मत था कि 'केवल यूनान और रोमके प्राचीन प्रमुख काव्य ही विद्यालयोंमें ग्रन्थ-रूपसे अध्यापनके योग्य हैं अतः यूनान और रोमके महाकवि और लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार ही उदात्त काव्य ( क्लैसिक्स ) के अन्तर्गत आने चाहिएँ।' किन्तु जब अन्य देशोंकी लोक-भाषाओंमें भी अनेक विशिष्ट ग्रन्थ लिखे जाने लगे तब वे भी उदात्त-काव्य समझे जाने लगे। इस आधारपर उदात्त काव्य ( क्लासिक्स ) की यह परिभाषा बनाई गई कि 'जिस रचनामें सौन्दर्यके भावात्मक और उदात्त आदर्शों तथा अनुपात और पूर्णताके शाश्वत आदर्शोंकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो, वही उदात्त काव्य है।' यह विवेक-शीलता और दार्शनिकता-पूर्ण भाव धीरे-धीरे पुनर्जागरणकालसे उठकर स्वैरवाद ( रोमान्टिसिज़्म ) के द्वारतक आ पहुँचा और आज भी बेबिटकी इस परिभाषामें सजीव है कि 'किसी भी श्रेणीका

प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रत्येक वस्तु ही उदात्त ( क्लैसिकल ) है।' इस परिभाषामें आए हुए 'क्लासिकल' शब्दका भी लोगोंने बड़ा भ्रामक अर्थ लगाया क्योंकि बैबिटने इस परिभाषामें 'वर्ग' ( क्लास ) शब्दका प्रयोग दार्शनिक अर्थमें किया था जिसका तात्पर्य है 'वह पारमार्थिक या पारलौकिक तत्त्व जो अनेक घटना-चक्रों या विशिष्ट वस्तुओंके समूहके व्यापक तत्त्वका प्रतिनिधित्व करता हो।' इसे सीधी भाषामें हम कह सकते हैं कि 'संसार-भरकी घटनाओं और वस्तुओंको सञ्चालित और शासित करनेवाली अदृश्य दैवी शक्तिका ही नाम वर्ग ( क्लास ) है।' इस परिभाषाके अनुसार योरोपीय साहित्यमें केवल यूनानका साहित्य ही वास्तवमें उदात्त है, क्योंकि वहाँ अनेक देवी-देवता अपने प्रियपात्र या कृपापात्र व्यक्तियोंके सुख दुःखमें सहायता देते हुए चित्रित किए गए हैं। यूनानने ही अपने ग्रन्थोंमें सौन्दर्यात्मक पूर्णताके भावात्मक और विवेकशील आदर्शोंकी सृष्टि की, जिसका अनुकरण रोमने किया और वर्त्तमान भाषाओंको वह थाती सौंप दी। जर्मन स्वैरवादियों ( रोमान्टिस्ट्स ) ने सत्य कहा है कि 'वास्तवमें यूनानी साहित्य ही मानव-भावनाओंका राष्ट्रीय तथा मौलिक अभिव्यञ्जन है किन्तु लातिन और वर्त्तमान उदात्त-काव्य केवल यूनानी साँचोंका प्रतिकरण-मात्र है। इसलिये यूनानी साहित्यको लातिन, पुनर्जागरणकालीन तथा फ्रान्सीसी उदात्तवाद ( क्लासिसिज़्म ) से भिन्न समझना चाहिए।'

'क्लासिक्स' शब्द लातिन साहित्यके अवसानके आरम्भमें उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ था प्राचीन महाकवियोंके प्रति आदरपूर्ण सम्मानकी भावना और उनकी रचनाके आधार या अनुकरणपर रचना करनेकी भावना।' अत: यदि 'उदात्तवाद' का अर्थ प्राचीन श्रेष्ठतम ग्रन्थोंके सौन्दर्यात्मक गुणोंके सिद्धान्तोंका पालन ही है तो अलक्सेन्द्रियावाले सबसे पहले उदात्तवादी हैं। बैबिटकी परिभाषाके अनुसार वे सर्वप्रथम नवोदात्तवादी (नियोक्लासि-सिस्ट) या मिथ्योदात्तवादी ( स्नूडो-क्लासिसिस्ट ) हैं।

जब मध्यकालके पश्चात् योरोपीय भाषाओंमें प्राचीन साहित्योंकी प्रतिष्ठा, भाषा-सम्बन्धी समीक्षा, तुलना, परीक्षा और शैलीकी छानबीन हुई तब आदर्शोंका प्रयोग केवल यूनानी और लातिन लेखोंपर ही नहीं वरन् देहाती या देशी भाषाओंके लेखोंपर भी किया जाने लगा। गद्य-लेखक बोकेशियोने कवि पेत्रार्ककी भाषाकी अपेक्षा जन-भाषाको अधिक सांस्कृतिक अथवा

लातिनमयी बनाकर उसे लातिन-गद्यमें ढालना प्रारम्भ किया। यह प्रयास जागरणकालके द्वितीय भागमें अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया। प्रारम्भिक भव्यताके सर्वश्रेष्ठ कलाकार वर्जिल और सिसरोके पश्चात् बैम्बो और उसके अनुयायियोंके कारण लातिनके पेत्रार्क और बोकेशियो ही इतालवी भाषा और शैलीके आदर्श माने गए और उन्हींका अनुकरण किया गया।

इन नवीन उदात्तकाव्योंके होनेपर भी लोगोंकी कुछ ऐसी धारणा बनी रही कि देहाती या देशी भाषाओंके साहित्यमें यूनान और रोमके उदात्त-काव्योंकी महत्ता, प्रौढ़ता और भव्यता नहीं आ सकती जो यूनान और रोमके शास्त्रीय, उपदेशात्मक तथा काव्योंमें अर्थात् प्रहसनों, व्यंग्यात्मक नाटकोंमें विशेषतः त्रासदों ( ट्रेजेडियों ) और महाकाव्यों ( ईपिक ) में व्याप्त है। अतः बोकेशियो और पेत्रार्कने जो सिद्धान्त स्थापित किए वे पुराने समझे जाने लगे और नये सिरेसे साहित्यके नये आदर्श स्थिर किए गए।

फलतः अरियोस्तोकी वीरतापूर्ण प्रेमगाथाओंकी उपेक्षा करके त्रिस्सिनोने नवीन लेखकोंके लिये यह सिद्धान्त घोषित किया 'कि तुम्हें प्राचीन उदात्त महाकाव्योंकी शैलीके अनुसार रचना करनी चाहिए।' उसने उदात्त त्रासद ( क्लासिकल ट्रेजेडी ) के निर्माणके लिये विस्तारसे सिद्धान्त और नियम प्रतिपादित किए। कास्तेलवेत्रो तथा अन्य लोगोंने अरस्तूके काव्य-शास्त्रका बड़ा ढिंढोरा पीटा, जिसे बहुत कम लोगोंने पढ़ा, जिसपर बहुतोंने घोर शास्त्रार्थ किया किन्तु ठीक किसीने भी नहीं समझा। परिणामतः इटलीके जागरणकालीन साहित्यने 'देहाती भाषामें उदात्त साहित्य' का अत्यन्त भव्य किन्तु अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लिया।

सत्रहवीं शताब्दिमें फ्रान्सवालोंने इस रूपको ज्योंका त्यों अपना लिया। अन्तर इतना ही रहा कि जहाँ इटलीवालोंने लातिन लेखकोंको इष्ट बनाया था वहाँ फ्रान्सीसियोंने यूनानियोंको बनाया। कारनेई और मौलिएको छोड़ दिया जाय तो कहा जा सकता है कि 'फ्रान्सके स्वर्णयुगका साहित्य ही यूनान और इसके उदात्तकाव्यगत आदर्शके अनुरूप है जिसमें आद्यन्त अन्य वर्त्तमान साहित्योंके प्रति क्षोभ और घृणा व्यक्त की गई है।'

यद्यपि इङ्गलैण्डमें शेक्सपियर ही अपने युगका प्रतीक और स्वैरवादका झण्डा ( बैनर औफ़ रोमान्टिसिज़्म ) समझा जाता था किन्तु शेक्सपियरके समयमें भी उदात्तवादका एक स्वरूप वर्त्तमान था। यदि उदात्तवादका

अर्थ यूनान और रोमके प्राचीन उदात्तकाव्योंके सिद्धान्तों और प्रयोगोंका अनुकरण हो तो फ्रान्सिस बेकन और बेन जौन्सनको छोड़कर लोक-भाषामें निश्चित रूपसे उदात्तकाव्योंकी रचना हुई, जिसने एलिजाबेथ-कालके 'पाण्डित्यवाद' ( पेट्रार्किज़्म ) और इटली-प्रभावित अँगरेज़ीकी सृष्टि की। किन्तु इसने कोई निश्चित प्रत्यक्ष साहित्यिक स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया इसलिये इसे पूर्ण रूपसे उदात्त स्वरूप कहा नहीं जा सकता।

स्पेनी साहित्यका सबसे महत्त्वपूर्ण युग 'उदात्तयुग' ही कहलाता है। किन्तु वहाँके साहित्यपर भी लातिन या यूनानी प्रभावके बदले इटलीपनका प्रभाव अधिक है। स्पेनी साहित्य आद्यन्त स्वराष्ट्र-प्रेमकी भावनाओंसे ओतप्रोत है। इटलीके जागरणकालके भाषा-सिद्धान्तोंके परिणाम-स्वरूप ऐसी अस्पष्ट, कृत्रिम और दुरूह भाषा-शैली चली जिसमें सुन्दर, ललित शब्दोंके वात्याचक्रमें उलझकर भाव अत्यन्त अस्पष्ट हो जाते थे। किन्तु 'क्विक्ज़ोट' के रचयिता सर्वान्ते तथा लोप डी वेगा और काल्डेरौनने शेक्सपियर और मौलिएकी भाँति इन बन्धनोंसे मुक्त होकर रचना की, जिनके कारण स्पेनी साहित्यका यह युग स्वैरवादी कहलाने लगा।

### मिथ्योदात्तवाद

अठारहवीं शताब्दिके फ़्रांसीसी साहित्यका केन्द्र था 'विचार'। इस युगके लेखक रचयिता होनेके साथ-साथ दार्शनिक भी थे। शुद्ध साहित्यिक और कलावादी ( सौन्दर्यवादी ) क्षेत्रोंमें उदात्त काव्यवादका आदर्श इतना रूढ और स्थिर हो गया कि वह अब मिथ्योदात्तवाद ( स्यूडोक्लासिसिज़्म ) कहलाने लगा। स्पेन, जर्मनी और इटलीमें फ़्रांसके इस साहित्यके अनेक महत्त्वहीन अनुगामियोंका झुण्ड एकत्र हो गया। जर्मनीके साहित्यिक इतिहासकारोंने गौट्शेडके युगको 'मिथ्योदात्तवादी' बताते हुए कहा है कि 'वह फ़्रांसीसी उदात्तवादका आरोपण-मात्र है।' किन्तु उस युगके पश्चात् शिलर और गेटेके युगको वे लोग शुद्ध उदात्तवादी युग मानते हैं।

### नवोदात्तवाद

किन्तु गेटे और शिलरका युग स्वैरवादकी प्रथम पीढ़ीके तात्कालिक सम्पर्कमें था जिसने इन दोनों महापुरुषोंको अपना नेता और पथ-प्रदर्शक भी घोषित कर दिया था। इसीलिये अजर्मनीय साहित्यिक इतिहासकारोंने गेटे और शिलरको स्वैरवादी बताया है। बुद्धिवाद ( आउफ़ क्लैरूङ्ग ) के

विरोधी झञ्झावाद ( स्टुर्म उण्ड ड्राङ्ग, सन् १७७० के आसपास ) और स्वैरवादके बीच जर्मनीमें एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसका केन्द्र साहित्य नहीं वरन् रचनात्मक कलाएँ ( प्लास्टिक आर्ट्स ) विशेषतः वास्तु-कला ( आर्किटेक्चर ) और मूर्त्तिकला ( स्कल्पचर ) हुई। प्रयोजनीय कलाओं और लोक-शृङ्गारके क्षेत्रमें इस आन्दोलनका नाम दिया गया 'शैली-साम्राज्य' ( स्टाइल एम्पायर )। इस आन्दोलनका दार्शनिक प्रवर्त्तक था 'विंकेलमान', इसका सर्वश्रेष्ठ कलाकार था कानोवा और इसका आश्रय-दाता था 'नेपोलियन'। यही शुद्ध रूपसे नवोदात्तवाद ( नियोक्लासिसिज़्म ) है। यद्यपि इसमें भी सत्रहवीं शताब्दिके नवोदात्तवादसे कहीं अधिक प्राचीन उदात्त काव्योंके आदर्शका अनुकरण विद्यमान था फिर भी इन्होंने प्राचीन उदात्त काव्योंके आदर्शका ज्योंका त्यों अनुकरण प्रधान नहीं माना वरन् सौन्दर्यके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक भावादर्शोंकी खोज करना और उनका अनुकरण करना ही उदात्तवादका परम लक्ष्य माना। इन आधारोंके अनुसार ईसाई और अफ़लातूनवादी दोनोंका नवोदात्तवाद वास्तवमें रूप-सम्प्रदाय प्रतीत होता है जिसे हम रूपात्मक आदर्शवाद कह सकते हैं, यद्यपि इसमें स्वैरवादी प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट गोचर होती हैं फिर भी उसकी परम्परा उदात्तवादी ही है।

उदात्तवादकी भावनाके वास्तविक अध्ययनका श्रेय स्वैरवादियोंको ही है। उन्होंने 'उदात्त' ( क्लासिक ) शब्दके विभिन्न अर्थों और प्रयोगोंकी कुञ्जी देकर समझाया कि 'उदात्तवाद ( क्लासिसिज़्म ) क्या है?' स्वैरवादी सौन्दर्यशास्त्री कहते हैं कि 'कला अर्थात् काव्य तो स्वतन्त्र कृति, स्वयं-सम्भूत क्रिया है जो सदा सद्यःजात और मौलिक होती है।' इस दृष्टिसे उदात्तवादी वे हैं जो विश्वास करते हैं कि 'महाकवियों अथवा महालेखकोंके ग्रन्थोंका अनुकरण करनेसे ही कलाकी सृष्टि की जाती है अथवा किसी कृतिको बुद्धि-सङ्गत या विवेकपूर्ण सौन्दर्यके भावात्मक आदर्शतक पहुँचाना ही कविका धर्म है।' इस दृष्टिसे नवोदात्तवाद ही उदात्तवादी भावनाका अन्तिम स्वरूप है।

स्वैरवादियोंने यह भी सिद्ध किया कि 'उदात्तवादकी न तो कोई निश्चित परिभाषा है, न उदात्तवाद स्वयं अपनेमें अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व है, न कोई एकाकी तत्त्व है, वरन् यह तो विभिन्न ऐतिहासिक वृत्तियोंसे अनुभव की जानेवाली परिस्थितियोंकी शृङ्खला है। 'उदात्तवाद' ( क्लैसिकल ) शब्दकी

उपर्युक्त परिभाषाओं और विवेचनाके अनुसार इसके पाँच अर्थ हुए—१. वह कला या साहित्य जो समाजके उच्चतर वर्गोंके लिये रचा गया हो। २. जिनके रचयिताओंकी कृतियाँ सब युगोंमें समान रूपसे अध्ययन और मननके योग्य हों। ३. यूनानी-रोमीय साहित्य। ४. वे सभी युग, जिनमें प्राचीन कालके लोगोंके योग्य साहित्य रचा गया हो। प्रारम्भमें तो यह शब्द इस अर्थमें उन्हीं कृतियोंके लिये प्रयुक्त किया गया जिनमें प्राचीन ग्रन्थोंकी भावना और शैलीका अनुकरण किया गया था। किन्तु पीछे यह शब्द ऐसी समस्त कृतियोंके लिये प्रयुक्त होने लगा जो अत्यन्त उच्च श्रेणीकी हों, चाहे वे प्राचीन काव्योंकी भावना और शैलीके प्रतिकूल ही क्यों न हों। ५. जिन युगोंमें साहित्यिक पूर्णताके स्थिर और स्वत:पूर्ण आदर्श प्राप्त किए जाते हों। यह भावना अनुकरणके सिद्धान्तका विवेकीकरण है।

अत: 'उदात्तवाद' कोई दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक तत्त्व नहीं है वरन् यूनानी साहित्यके अनुकरण अथवा सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंकी एक लम्बी शृङ्खलाका ऐतिहासिक क्रम है, जो स्वरूपमें तो प्राय: आद्यन्त एक है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे जिसकी सदा नई व्याख्याएँ होती रही हैं और यूनानी अलक्षेन्द्रियासे अठारहवीं शताब्दिके फ्रान्स-भावित योरोपतक लगभग दो सहस्र वर्षोंकी पश्चिमीय सौन्दर्यवादी तथा साहित्यिक विचारधाराकी परम्पराके द्वारा जिसकी आवृत्ति हुई है। मध्यकालीन युग तथा सत्रहवीं शताब्दिके स्पेनी और अँगरेजी साहित्यको छोड़ दिया जाय तो ज्ञात होगा कि यह उदात्तवाद प्राचीन यूनानियों और आजके युगको छोड़कर पश्चिमीय संस्कृतिके सम्पूर्ण इतिहासमें व्याप्त है। एथेंसकी वे सम्पूर्ण प्राचीन रचनाएँ जो स्वत: तथा उदात्तवादके सिद्धान्तादर्शोंसे पूर्व उद्भूत हुईं, सभी पूर्वोदात्तवादी हैं और स्वत:प्रेरणात्मक काव्योंका प्रवर्त्तन करनेवाले और प्राचीन काव्यादर्शोंकी उपेक्षा करनेवाले स्वैरवादसे पश्चोदात्तवादी युगका प्रारम्भ होता है। किन्तु इस अखण्ड दो सहस्र वर्षकी काव्यधारामें व्याप्त उदात्तवादके प्रत्येक युगको उस-उस युगकी विशेष उदात्त भावनाके अनुसार परीक्षित करना चाहिए, एक कसौटीके अनुसार नहीं।

### नवोदात्तवाद ( निओक्लासिसिज़्म )

पुनर्जागरणकाल तथा अठारहवीं शताब्दिमें प्राचीन उदात्तवादी साहित्यकी भावनाको पुन: जागरित करनेके लिये नवोदात्तवादका आन्दोलन चलाया

गया। वास्तवमें वही वर्त्तमान कृति नवोदात्तवाद कहलाती है जिसमें लेखककी भावना ज्योंकी त्यों अभिव्यक्त हुई हो, जिसमें यह भावना न हो वह मिथ्योदात्तवादी ( ज़ूडोक्लासिकल ) है। जर्मनीमें प्रकृतिवाद और नव-स्वैरवादके विरुद्ध १६०० से लेकर १६१० तक नवोदात्तवादी आन्दोलन चला। यह नवोदात्तवाद तत्कालीन नाटकके शिथिल रचना-कौशलके विरुद्ध शुद्ध सौन्दर्यवादी विद्रोह था। इसका मत था कि 'कलाके ठीक रूपोंको फिरसे ग्रहण करना चाहिए।' आगे चलकर यह साहित्यको समाजकी दृष्टिसे देखने लगा।

### अध्यवसानवाद (यूहेमेरिज़्म)

चतुर्थ शताब्दि ई० पू० में यूहेमेरसने काव्यका अर्थ निकालनेकी एक नई अध्यवसान-पद्धति स्थापित की। उसने झूठे ही यह प्रचारित किया कि 'मुझे भारतीय महासागरके एक द्वीपसे 'पवित्र लेख' (होली रिट) की अध्यवसानात्मक व्याख्या मिली है जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि जितने देवता हैं वे सब मूलतः मनुष्य ही थे किन्तु उन्होंने मनुष्यकी जो सेवाएँ कीं उनके प्रति कृतज्ञता दिखानेके लिये मनुष्योंने उन्हें देवता बना दिया।' इस प्रकार काव्यका बुद्धिसङ्गत अर्थ निकालनेकी एक प्रवृत्ति ही चल पड़ी और लोग यूनानी देवताओंकी उत्पत्तिका भी ऐसा ही अर्थ निकालने लगे जैसे हमारे यहाँ भी लोग कहते हैं कि 'रावणके 'दस सिर'का तात्पर्य यह है कि उसमें दस व्यक्तियोंकी बुद्धि थी किन्तु साथ-साथ एक बुद्धि गधेकी भी थी।' कुछ काव्योंमें तो यह अध्यवसानात्मक अर्थ कवि स्वयं आरोपित करता है जैसे जायसीके 'पदमावत'में, कुछमें कवि अध्यवसानात्मक अर्थ आरोपित करनेकी छूट दे देता है जैसे प्रसादजीने 'कामायनी'के लिये किन्तु वास्तविक अध्यवसानवाद वहीं होता है जहाँ 'वाच्यार्थ' या 'इष्टार्थ'की प्रत्यक्ष अविश्वसताओंके निराकरणके लिये उसके बुद्धिसङ्गत अर्थ लगा लिए जायँ।

### प्रत्न-प्रयोगवाद (आर्केइज़्म)

जब जान-बूझकर किसी प्राचीन काव्य-शैलीका ठेठ प्रयोग किया जाता है तब वह 'प्रत्न-प्रयोगवाद' कहलाता है। प्रायः बाइबिलके अनुवादोंमें उसे आदरणीय बनानेके लिये लोग वैसा प्रयोग करते हैं किन्तु अब यह शैली अधिक प्रयोगमें नहीं लाई जाती।

## मिथ्यातिरेकवाद ( सीसेन्टिज़्मो )

सत्रहवीं शताब्दिमें इतालवी साहित्यमें उदात्तवादके विरुद्ध 'मिथ्यातिरेक-वाद' ( सीसेंटिज़्मो ) नामका प्रतिक्रियात्मक वाद चला जिसकी कृत्रिमताकी ओर लोगोंकी बड़ी रुचि बढ़ चली थी। प्रायः इसका नाम तो 'कन्सेट्टिज़्मो' था जो 'कल्टेरानिज़्मो' या स्पेनके 'गौंगोरिज़्म'से और फ्रांसके 'प्रेशियोसाइते' और इंग्लैन्डके 'यूफ़ुइज़्मसे मिलता-जुलता था। इटलीमें 'सीसेन्टिज्मो' प्रायः नव्यतावाद ( मारिनिज़्म ) का पर्यायवाचक है। 'सीसेन्टिज़्मो'का मूल उद्गम मानवतावादियोंके अतिरेकपूर्ण साहित्यिक विकाससे हुआ, विशेषतः रूपकके। 'सीसेन्टिज़्मो'के लिये सबसे उपयुक्त कलात्मक रूप सूक्ति (एपिग्राम) थी जो सत्रहवीं शताब्दिमें अत्यन्त प्रचलित थी। मारियो प्राज़का कहना है कि 'मारिनिज़्म या गौङ्गोरिज़्मसे 'यूफ़ुइज़्म'का कोई सम्बन्ध नहीं है।' गौङ्गोरिज़्मका यूफ़ुइज़्मसे इतना ही सम्बन्ध है कि उसमें विचित्र उपमाएँ भरी रहती हैं।' इटलीमें सीसेन्टिज़्मोका सबसे अधिक सुन्दर उदाहरण है जी० बी० वासिलकी लोकप्रिय कथा जो नीयपोलिटन भाषामें लिखी गई। सीसेन्टिज़्मोका अब लोग बुरा अर्थ करने लगे हैं किन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसने साहित्यको अपने समयमें बड़ी शक्ति दी।

## अतिरञ्जनावाद ( कल्टिज़्म )

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिमें जिस अत्यन्त कृत्रिम भाषा-शैलीका प्रवर्त्तन किया गया वह सभ्य लोगोंमें बहुत चली। इसका प्रवर्त्तन गौंगोराने किया था। सभ्य समाज-द्वारा अपनाई जानेके कारण इसे कल्टिज़्म, कल्टिज़्मो या कल्टेरानिज़्मो कहते हैं। इसीको गौंगोरिज़्म भी कहते हैं।

## उपचारवाद ( कल्टेरानिज़्मो )

स्पेनमें सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिमें एक अत्यन्त कृत्रिम अतिरञ्जित शैलीका प्रवर्त्तन हुआ जिसमें लोग बहुत बन-बनकर लिखते थे और जिसे पढ़कर जान पड़ता था कि इसमें स्वाभाविकता नहीं है। इस शैलीमें लेखक यह प्रयत्न करता था कि जहाँतक सम्भव हो सके जान-बूझकर कृत्रिम रूपसे कोमलता और मधुरता उत्पन्न की जाय।

## सभ्यवाद ( कल्टिज़्मो या कल्टरानिज़्मो )

स्पेनी कवि गौंगोराने स्पष्ट और सरल शैली छोड़कर भाषाका ऐसा अलङ्करण

प्रारम्भ कर दिया कि वह अत्यन्त अस्पष्ट हो गया। किन्तु सभ्य लोगोंको प्रभावित करनेके कारण वह सभ्यवाद कहलाता है।

अस्पष्टतावाद या पाण्डित्य-प्रदर्शनवाद ( गौंगोरिज़्म )

स्पेनके प्रसिद्ध कवि डौन लुई डी गौंगोरा ई आरगोटे ( १५६१—१६२७ ) ने अपने स्पष्ट सरल ग्रन्थोंसे हटकर भाषाके संस्कारका बीड़ा उठाया। शाब्दिक कौशलके प्रदर्शनके फेरमें पड़कर वह इतना जटिल होता चला गया कि उसने वाक्योंमें शब्दोंके स्थान बदल दिए, लातिन, इतालवी और यूनानीसे नये-नये शब्द लाकर गढ़े और शैली तथा रचनामें विचित्रता उत्पन्न की। यही अस्पष्टतावाद ही सभ्यतावाद ( कल्टिज़्म या कल्टेरानिज़्म ) कहलाता है क्योंकि यह शैली सुसंस्कृत लोगोंके लिये लिखी गई थी। अन्य देशोंमें भी इस प्रकारके आन्दोलन चले थे जैसे सत्रहवीं शताब्दिमें इटलीमें सीसेन्टिज़्मो या कल्टेरानिज़्मो।

अलङ्करणवाद ( यूफ़ुइज़्म )

सन् १५७६ में जौन लिलीने अपने 'यूफुइज़' ग्रन्थमें एक शैली चलाई थी जिसका अगले दशकमें बड़ा विस्तृत प्रभाव पड़ा। इसके पहले फ्रांसमें बनेस, स्पेनमें गोयेवारा और जार्ज पेटी इसका प्रयोग कर चुके थे। प्रारम्भमें यह नाम उस शैलीके लिये प्रयुक्त होता था जिसमें पुराणों और प्रकृति-इतिहाससे अत्यन्त भव्य उपमान और रूप लेकर भरे जाते थे जैसे 'ये राजसी वस्त्र उसकी सुन्दरतामें चार चाँद लगा देते हैं। तुम्हारा छद्मवेष तुम्हारे मुखको और भी अधिक शङ्कास्पद बना देता है और अपने आवरणमें उस उष्ट्रपक्षीके समान दिखाई पड़ता है जो ध्यानसे देखनेपर अपने पङ्ख समेट लेता है। तुम इस वेषसे उस मयूरके समान लगते हो जो प्रशंसा करनेपर अपनी पूँछ फैला देता है और अपने अभिमानका भण्डाफोड़ कर देता है।' इसे हम अलङ्करण-शैली कह सकते हैं। पीछे चलकर यह शैली सन्तुलित वाक्योंवाली, भाषणात्मक प्रश्नोंवाली, अनुप्रासयुक्त जोड़-तोड़के वाक्योंवाली शैलीके लिये भी प्रयुक्त होने लगी। अलङ्करणके अतिरेकके कारण इसकी बड़ी निन्दा की गई किन्तु इस 'यूफ़ुइज़्म'ने अँगरेज़ लेखकोंको यह विश्वास दिला दिया कि उनके गद्यमें बड़ी शक्ति है।

नव्यतावाद ( मारिनिज़्म )

'ला एदोन' कविताके रचयिता जी० वी० मारिनो ( १५६९–१६२५ ) ने

नव्यतावादका अधिक प्रचार किया। उसकी 'एद्रोन' शीर्षक कविताका विषय और उसकी शैली दोनोंमें ऐसे युगकी छाया प्रतीत होती है जिसमें मिथ्याधर्म और नैतिकता तथा स्पेनी शोषकोंके हाथमें इटलीकी राजनीतिक दासता और राष्ट्रीय ह्रासता बिम्बित होती है। इसमें मनमाने रूपक, असाधारण और अप्रत्याशित तत्त्वोंका प्रयोग, सूक्ष्म कृत्रिमताएँ, नवीन विरोधाभास, विदग्धतापूर्ण सूक्तियाँ, भ्रमात्मकता, दुरूह शब्द आदि सबका प्रयोग इस उद्देश्यसे किया गया था कि पाठकको आश्चर्यमें डालकर चमत्कृत कर दिया जाय। इसमें वे ही गुण थे जो 'सीसेन्टिज़्मो'में थे।

### आचारवाद (प्रेशियो)

फ्रांसकी महिलाओंने 'प्रेशियो' नामक एक आन्दोलन चलाया था कि व्यवहारिक भाषा और आचार अत्यन्त सुसंस्कृत होना चाहिए।'

### मिथ्योपचारवाद (प्रेशियोसिते)

फ्रांसमें अत्यन्त कृत्रिम आचार और भाषाके उपचार (तकल्लुफ़) का कभी-ऐसा आन्दोलन चला जो कभी अत्यन्त अतिरेकपूर्ण और हास्यास्पद हो जाता था किन्तु इस आन्दोलनके कारण फ्रांसीसी भाषामें श्रेष्ठतम शाश्वत रचनाएँ भी हुईं। मौलिएने अपने 'प्रहसनों'में इन अतिरेकपूर्ण उपचारोंकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इसी प्रकारके आन्दोलन इटलीमें मारिनिज़्मो, स्पेनमें गौंगोरिज़्मो और इंग्लैन्डमें यूफ़ुइज़्मके नामसे प्रचलित हुए। यह मिथ्योपचारवाद वैसा ही था जैसे अठारहवीं शताब्दिके मध्यमें इंग्लैन्डमें 'ब्ल्यू स्टौकिंग' (बास ब्ल्यू) चला था जिसमें 'ब्ल्यू स्टौकिङ्ग क्लब' की महिला सदस्या अत्यन्त कृत्रिम तथा भावकता-पूर्ण ढङ्गसे कवितापाठ या वार्त्ता किया करती थी।

### मानवतावाद (ह्यूमेनिज़्म)

मानवतावाद शब्द ऐतिहासिक है। इसके अन्तर्गत अनेक शताब्दियोंके, अनेक देशोंके, अनेक लेखकोंकी अनेक प्रवृत्तियाँ आती हैं। यह कोई निश्चित धर्म या दार्शनिक मतका साहित्यिक सम्प्रदाय नहीं था। इस प्रवृत्तिके मुख्य स्तम्भ जौन औफ़ सैलिसबरी, पेत्रार्क, पोगियो, वित्तोरिनो द फ़ैल्त्रे, लियोनार्दो ब्रूनी, लारेन्ज़ो वाला, मारसीलियो फ़िसिनो, पोलीज़ियानो, कास्तिग्लियोन, माकियावेली, विवे, इरास्मस, सर टौमस मूर, मेलाङ्क्थोन, बदे, कालविन, राबेला, मौन्तेन, हूकर, स्पेन्सर, चैपमैन, जौनसन और मिल्टन माने जाते हैं। यद्यपि 'मानवतावाद' की व्याख्या अनेक प्रकारसे की जाती है किन्तु

इसकी मुख्य धारा प्लेटोसे लेकर आजतक कुछ इधर-उधरके कृत्रिम परिवर्त्तनोंको छोड़कर ज्योंकी त्यों रही है ।

प्रारम्भमें योरोपके नये देशोंकी यह प्रवृत्ति रही कि यूनान और रोमकी संस्कृति, दर्शन तथा ज्ञानपूर्ण साहित्यको पुनः खोजकर आत्मसात् किया जाय। ये प्राचीन उदात्त काव्य ही 'मानवीय' कहलाते थे क्योंकि वे 'मनुष्यकी विशिष्ट मानवीय शक्ति और उसके विवेककी उपज थे, मानव-जातके लिये शाश्वत पोषक थे और मानव-व्यवहारके लिये ज्ञानकी खान थे।' बुर्कहार्टके समयसे मानवतावादकी यह प्रवृत्ति मान ली गई है कि 'धार्मिक या पारलौकिक बातोंसे उतरकर लौकिक दृष्टिसे विचार किया जाय, स्वर्गसे उतरकर पृथ्वीपर और ईश्वरसे हटकर मनुष्यपर दृष्टि लगाई जाय।' यद्यपि इटली और फ्रान्समें यह मानवतावाद ऐसी अनेक विभिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी धाराओंमें बहता रहा जिनमें पण्डितम्मन्यता या कृत्रिम कला-प्रियतासे लेकर नास्तिकवाद और प्रकृतिवादतक भरा होता था, फिर भी मध्यकालके समान पुनर्जागरणकालमें ईसाई मानवतावादियोंने ही 'मानवतावाद'का प्रवर्त्तन किया। जिस प्रकार विद्वद्वाद ( स्कौलेस्टिसिज़्म ) ने अरस्तूको प्राचीन विश्वास और नीतिका आचार्य मान रक्खा था उसी प्रकार 'मानवतावाद'ने आध्यात्मिक दृष्टिकी अपेक्षा साहित्यिक और व्यावहारिक दृष्टिसे उदात्तवादी साहित्य ( क्लासिक्स ) को धर्मका सहयोगी बनाकर ईसाई धर्मके साथ बहुदेववादियोंकी उच्चतम ज्ञानराशिका समन्वय कर दिया। वास्तविक मानवतावादी तो सिसरो था जिसका अनुगमन प्लेटो, अरस्तू और उदासीनतावादियों ( स्टोइकों ) ने किया।

प्राचीन साहित्यादर्शकी दृष्टिसे तो मानवतावादियोंको प्रगतिवादी ही समझना चाहिए। किन्तु वर्द्धमान वैज्ञानिकताकी दृष्टिमें ये प्रतिक्रियावादी ही सिद्ध हुए। इसीलिये बेकनने सिसरोकी परिपाटीपर खुलकर आक्षेप किया। फिर भी मानवतावादियोंने ज्ञानके बदलते हुए स्वरूपके बदले उसके स्थिर महत्त्वको प्रधानता दी है। इसीलिये इन मानवतावादियोंमेंसे जहाँ कुछ लोग विज्ञानकी ओर प्रवृत्त थे वहीं कुछ लोग विज्ञानकी ओरसे उदासीन या उसके विरोधी भी थे। मानवतावादका सम्बन्ध सुसंस्कृत जीवनसे था और विज्ञानका सम्बन्ध यान्त्रिक कुशलता और भौतिक संसारसे था, विशेषतः उस स्थितिमें जब कि विज्ञान निश्चित रूपसे धर्म-निरपेक्ष और प्रकृतिवादी रहता है।

साधारण परिभाषाके अनुसार बेकन भी मानवतावादी ही था यद्यपि उसने मानवतावादकी सब बातोंका खण्डन ही किया। मौन्तेन जैसे परम लौकिक व्यक्तिने तो मानवतावादी परिपाटीमें 'विवेकको मनुष्यकी इच्छाओंका शासक' बताया और बेकनने 'विवेकको भृत्य' माना। संक्षेपमें इन मानवतावादियोंका कथन था कि 'साहित्यमें मनुष्यकी इच्छा, वासना, प्रवृत्ति, आकांक्षा, पराक्रम और चिन्तना तथा उसकी रुचिका पोषण, वर्णन और अध्ययन होना चाहिए।'

### नव-मानवतावाद ( निओ ह्यूमे-निज़्म )

अमरीकामें पौल एल्मर मोर तथा इर्विंग बैबिटने अपने समयकी स्वैरवादी तथा भौतिकतापूर्ण मानवतावादी प्रवृत्तिके विरुद्ध मानवकी इच्छाशक्तिको स्थिर करनेकी जो प्रवृत्ति चलाई वही नव-मानवतावाद कहलाती है। इन लोगोंने विवेकको प्रधान माना और इमर्सनका यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि 'मनुष्यके लिये अलग नियम है और शेष वस्तुओंके लिये दूसरा।' इस आधारपर इन्होंने कहा कि 'स्थिर महत्त्वोंके आधारपर मनुष्यको स्वतन्त्र चयनकी छूट और शक्ति मिलनी चाहिए।' १९२०के लगभग इस आन्दोलनसे बड़ा शास्त्रार्थ छिड़ा। यद्यपि इसका वेग तो समाप्त हो गया किन्तु आजके बहुतसे लेखकोंमें भी उसका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

### उपदेशवाद ( डाइडैक्टिसिज़्म )

विभिन्न युगोंमें यह माना जाता रहा कि कविताका प्रथम उद्देश्य 'शिक्षा देना' है। प्लेटोके समयमें भी लोगोंका यही विश्वास था और हीसियड (आठवीं शताब्दि ई० पू० ) ने तो स्पष्ट ही कहा था कि 'पद्य ही एक ऐसी वस्तु है जिसे कण्ठस्थ करना चाहिए क्योंकि यूनानी कविता पढ़कर देवताओं, काव्यके अनुकरणीय चरित्रों, सैन्य, सञ्चालन आदि बहुतसे विषयोंका ज्ञान बालक भली-भाँति प्राप्त कर लेंगे।' प्लेटोने इसपर कहा कि 'होमरने बहुतसे देवताओंको अनैतिक रूपमें चित्रित किया है, अखिल्लेसका रोना और चिल्लाना अनुकरणीय नहीं है और कोई व्यक्ति आजतक होमरका काव्य पढ़कर सेनापति नहीं बना।' इसी आधारपर प्लेटोने होमरको अपने गणतन्त्रसे बाहर निकाल दिया। क्रोचेने इसका यह अर्थ लगाया कि 'प्लेटो कलाका अस्तित्व ही नहीं मानता है।' अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्र ( पोएटिक्स ) में माना है कि 'यदि हम कविताके उपदेशात्मक गुणकी बात छोड़ भी दें तब भी वह सौन्दर्यात्मक कृति तो है ही।' हौरेसने 'उपदेश'को ही काव्यका महत्त्वपूर्ण

उद्देश्य मानते हुए अपने 'आर्स पोएटिका'में कहा है—'कविको चाहिए कि वह शिक्षा दे, मनोविनोद करे या दोनों कार्य करे।' हमारे यहाँ मम्मटने कान्ता-सम्मित उपदेशवाली जो बात कही है उसीको लूक्रेतियसने दूसरे रूपकके साथ समझाते हुए कहा है कि 'जैसे वैद्य लोग बच्चोंको कड़वी औषधि पिलाते समय प्यालेके चारों ओर मधु पोत देते हैं, उसी प्रकार कविता भी प्रत्यक्षतः ऐसी मधुर होनी चाहिए कि उसकी मधुरतासे आकृष्ट होकर लोग उसके भीतरका उपदेश भी पी जायँ।'

यद्यपि मध्यकालमें ऐसी रचनाएँ भी हुई हैं जिनमें मनोविनोद ही प्रधान रहा है फिर भी उन्होंने कोई उपदेशवाद-विरोधी सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किए। दाँतेने भी अपनी 'कोमेदी'के सम्बन्धमें यही कहा है कि 'मैं मनुष्योंको दुःखसे निकालकर सुखमें स्थापित करना चाहता हूँ क्योंकि मेरा उद्देश्य ही नीति-प्रचार है।' सोलहवीं शताब्दिमें समीक्षाका विस्तार होनेपर भी उपदेशवादकी भावना कम नहीं हुई। सिडनीने मनोविनोदकारी शिक्षाको ही काव्यका उद्देश्य माना। तासोने हौरेसके सिद्धान्तका विवेचन करते हुए कहा कि 'तद्गत आनन्दके कारण ही वीररसात्मक कवितासे शिक्षा मिलती है' अर्थात् वह यह मानता है कि लोग जो उससे शिक्षा ग्रहण करते हैं उसका कारण तद्गत आनन्द ही है। कास्तेलवेत्रोने इसका विरोध किया। उसका मत है कि 'कविता केवल प्रसन्न करनेके लिये और मनोविनोद करनेके लिये ही उत्पन्न हुई।' सत्रहवीं शताब्दिमें पीए कारनेइने कहा कि 'नाटकका उद्देश्य केवल दर्शकोंको प्रसन्न करना है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो लोग काव्यका उद्देश्य शिक्षा और आनन्द दोनों समझते हैं उनका मैं विरोध करता हूँ, क्योंकि जो वस्तु सुन्दर एवं आनन्ददायक होगी उसमें कुछ न कुछ उपादेयता तो अवश्य होगी ही।' ड्राइडनने नाटककी परिभाषामें कहा है कि नाटकका उद्देश्य मनुष्य-मात्रको विनोद और शिक्षा देना है।' भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें स्पष्ट ही कहा है 'विनोदकरणं' तथा 'हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।'

पीछे चलकर इस परिभाषाको अमान्य करते हुए वर्ड्सवर्थने अपने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिकामें लिखा—'कवि केवल यही एक बन्धन मानकर लिखता है कि मानवोचित ज्ञान-सम्पन्न मनुष्यको तात्कालिक आनन्द देना ही कविका लक्ष्य है।' शेली कुछ अधिक मुँहफट था। उसने

कहा—'उपदेशात्मक कवितासे तो मैं चिढ़ता हूँ।' किन्तु आगे चलकर वह कहता है—'मेरा उद्देश्य अबतक केवल यही रहा है कि चुने हुए काव्य-पाठकोंकी अत्यन्त परिष्कृत कल्पनाको श्रेष्ठतम तथा सुन्दरतम नैतिक आदर्शोंसे परिचित करा दूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि जबतक मनुष्य नैतिक आचरणके सिद्धान्तोंसे स्नेह नहीं करता, उनसे प्रभावित नहीं होता, उनमें विश्वास नहीं करता, उससे आशा नहीं करता और उन्हें सहन नहीं करता तबतक यह सिद्धान्त भी जीवनकी चलती सड़कपर फेंके हुए उन बीजोंके समान है जिन्हें अज्ञानी पथिक पैरोंसे कुचलकर धूल बना देता है।' इसी प्रकार गेटेने घोषणा की कि 'अच्छी साहित्य-कृति हमें शिक्षा नहीं देती, हमें बदलती है।' एलन पोने उपदेशको कविताका लक्ष्य न मानकर कहा है कि 'कविताके लिये ही कविता रचनी चाहिए क्योंकि मनुष्यका अन्तिम ध्येय सुख है। उपदेश तो इस सुखके लिये मार्ग-भर प्रदर्शित करता है किन्तु कलाएँ हमें ठीक वहाँतक पहुँचा देती हैं।' 'कलार्थे कला'के प्रवर्त्तक कहलानेवाले इन विद्वानोंने इस कविताकी शिक्षात्मकताके विरुद्ध बहुत-सी बातें कहीं जिनका विवरण 'कलार्थे कला' वादमें आगे दिया गया है।

दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जो उपदेशके ही उद्देश्यको फिर ठीक समझने लगे थे। रस्किनने स्पष्ट कहा था कि 'कलाओंका मुख्य उद्देश्य ही यह होना चाहिए कि वे जनताको शिक्षा दें।' उसने तो कविता या कलाके तिहरे उद्देश्य स्थिर कर दिए—१. मनुष्योंकी धार्मिक भावनाओंको शक्ति-शाली बनाना, २. उनकी नैतिक भावनाको दृढ़ करना और ३. उन्हें व्यवहार-ज्ञान सिखाना। उसका मत था कि 'आनन्द तो इन कलाओंकी उचित प्रक्रियाका लक्षण-मात्र है, उद्देश्य नहीं। वह तो केवल साथकी उपज है।' टौल्स्टौयने उपर्युक्त तीन उद्देश्योंमेंसे प्रथम दोका समर्थन किया और मौरिसने अन्तिम दोका। बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें अधिकांश उदार व्यक्ति 'कलार्थे कला'की ही पुकार मचाने लगे जिससे कि वे अपनी मूर्खताको छिपा सकें और नियमोंके बन्धनोंसे मुक्त रह सकें। टी० एस्० ईलियटने इस 'कलार्थे कला'के सिद्धान्तको निरर्थक बताते हुए कहा कि 'इसका हल्ला बहुत लोग करते हैं किन्तु व्यवहार कोई नहीं करता।' नव-मानवतावादी और उनके समीक्षक उपन्यासकार, नाटककार और कवि सभी अपने समाजवादी दृष्टिकोणके कारण अपनी सब रचनाओंमें 'उपदेशवाद' को प्रधानता देते हैं।

### उपयोगितावाद ( यूटिलिटेरियनिज़्म )

जो लोग 'उपदेश देना' ही काव्यका उद्देश्य मानते हैं वे ही उपयोगितावादी भी माने जाते हैं।

### स्वयंपूर्णतावाद ( एब्सोल्यूटिज़्म )

पूर्णतावादियोंका कहना है कि 'प्रत्येक कलाकृति स्वभावतः सौन्दर्य तथा सौन्दर्यात्मक गुणोंसे सम्पन्न होती है, उसमें बाहरसे आरोपित नहीं की जाती। प्रत्येक द्रष्टाका धर्म है कि उसमें सौन्दर्य देखे, समझे और सौन्दर्यात्मक महत्त्वको माने।'

### सापेक्ष्यवाद ( रिलेटिविज़्म )

स्वयंपूर्णतावादके विरुद्ध सौन्दर्य-विज्ञान तथा समीक्षाके क्षेत्रमें 'सापेक्ष्यवाद' चला। इसका मत है कि 'किसी कलाकृतिमें मूलतः सौन्दर्य तथा सौन्दर्यात्मक गुणतत्त्व नहीं होते वरन् उसके ग्राहक-द्वारा उसमें आरोपित किए जाते हैं, अर्थात् यदि ग्राहक ही यह भावना करे कि उसमें सौन्दर्य है तभी उसमें सौन्दर्य होता है अन्यथा नहीं। अतः किसी भी कलाकृतिको यह कहना भ्रामक है कि अमुक वस्तु कलाकृति होनेके कारण सुन्दर भी है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि प्रत्येक कला-द्रष्टाको निश्चित रूपसे उसमें सौन्दर्यका अस्तित्व मानना ही चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि भिन्न होती है।' प्रोफेसर फ्रेडरिक ए० पौटिलने भी कहा है कि 'सब प्रकारके समीक्षात्मक निर्णयोंका रूप और उनकी शुद्धता उस युगपर अवलम्बित होती है जिसमें कोई कृति रची जाती है क्योंकि प्रत्येक युगमें भावों अर्थात् काव्य-समीक्षाके सिद्धान्तोंमें परिवर्त्तन होते रहे हैं।' हैनरी हैज़लिटने भी कहा है कि 'प्रत्येक युगमें सौन्दर्य और साहित्यका जो मूल्याङ्कन हुआ है वह बाह्य तो हुआ है किन्तु पूरे समाजकी दृष्टिसे वह आन्तरिक ही है और इस सामाजिक अन्तर्भावनासे परे देखना हम लोगोंके लिये सम्भव ही नहीं है।'

### रहस्यवाद ( मिस्टिसिज़्म )

साहित्यिक समीक्षा-पद्धतियोंपर रहस्यवादका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, यहाँतक कि रूसो और स्वैरवादी भी उससे बहुत प्रभावित हुए। यदि ये रहस्यवादी न होते तो पुनर्जागरणकालके दाँते और साहित्यिक प्रेम-सिद्धान्त, स्पेनका उदात्तवाद, इङ्गलैन्डके दार्शनिक कवि, जर्मनीका बारोक और

फ्रान्सका उदात्तवाद कुछ दूसरे ही ढङ्गका होता। २० ई० पू० में यहूदी फ़िलोने ही सर्वप्रथम रहस्यवादका तत्त्व चलाया। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दिके कुछ भिषज्ञोंने ईश्वर और मनुष्यके बीच प्रेमके आदान-प्रदानके प्रयोगात्मक लक्षणकी बात चलाई। असीसीके सन्त फ़ान्सिसने प्रेमी ईसा और उस संसारके लिये प्रेम-मदिरताका अनुभव किया जो ईश्वर-सम्पृक्त आत्माओंको पवित्र सृष्टिके रूपमें दिखाई पड़ता है और जहाँ सब भाई-बहन हो जाते हैं। सन्त फ़ान्सिसका यह आन्दोलन इटलीमें रमन ललने चलाया जिसने माधुर्य-भाव या पत्नीत्व-भावके रहस्यवादके बदले 'सखा-भावके रहस्यवाद'का प्रसार किया जिसमें आत्माको ईश्वरका मित्र बनाकर मिलानेकी बात कही जाती है। जर्मनीमें साहित्यिक रहस्यवादका विकास श्रीमती मैक्थिल्डने किया जो मध्ययुगकी सबसे महान् महिला रहस्यवादिनी थीं। उनके 'ईश्वरीय स्रोतका प्रवाहित प्रकाश' ( स्ट्रीमिङ्ग लाइट आफ़ दि गौडहेड ) को ही लोग दाँतेके 'स्वर्ग' ( पारादिसो ) की रचनाका आधार मानते हैं। डोमीनिकनोंने लोक-भाषामें एक नई भाषा ही उत्पन्न कर ली जिसमें वे अपने रहस्यात्मक विचार व्यक्त किया करते थे। उनके ही शिष्य पन्द्रहवीं शताब्दिमें वर्त्तमान धर्म ( मौडर्न पायटी ) के प्रवर्त्तक हुए। जिस उदात्तवादी रहस्यवादमें ईश्वरको ही वास्तविक प्रेमी और आत्माको स्वतन्त्र होकर पूर्ण रूपसे अधीन तत्त्व मानते हैं उसे फ्रान्समें सालेके सन्त फ़ान्सिसने सर्वोच्च प्रेम-सिद्धान्तके रूपमें विकसित किया।

साहित्य और समीक्षाके क्षेत्रका सम्बन्ध उस रहस्यात्मक ह्राससे अधिक है जिसे मौनवाद ( क्वायटिज़्म ) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे लोग आत्माका ईश्वरके अधीन होनेका आध्यात्मिक जीवनकी सुस्ती समझ बैठे हैं। इस आन्दोलनका प्रचार माइगुएल डी मोलिनोसने स्पेनमें और श्रीमती दे गुइयोंने फ़ान्समें किया। आगे चलकर यह आन्दोलन प्राचीनों और नवीनोंके कलहमें जाकर उलझ गया और उसने वर्त्तमान-वादियोंको इस बातके लिये प्रेरित किया कि वे विवेक और त्यागके उदात्तवादी आदर्शोंके हाथोंसे व्यक्तिगत भावनाओं, मिश्रित भावनाओं और रुचियोंकी रक्षा करें। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दिका धर्म-निरपेक्ष मौनवाद स्वयं समाप्त हो गया किन्तु धार्मिक संसारमें वास्तविक रहस्यवाद अभीतक चल रहा है।

कुछ व्यापक और विशिष्ट अर्थमें रहस्यवादका क्षेत्र कुछ विस्तृत है

क्योंकि अधिकांश अँगरेज़ी लेखकोंने प्रकृतिकी साधनामें ही गम्भीर आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा प्राप्त की है, इसलिये उनकी अधिकांश रहस्यवादी सामग्रीका आधार प्रकृतिसे ही सम्बद्ध है। यही प्रकृतिसे रहस्यात्मक प्रेरणा प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति ही 'छायावाद' कहलाई।

साहित्यकी दृष्टिसे रहस्यवादका अर्थ है रहस्यके सिद्धान्तको मानना और रहस्यका वर्णन करना अर्थात् यह मानना कि संसारमें बहुतसे तत्त्व, बहुत-सी घटनाएँ और बहुत-सा ज्ञान ऐसा है जो इतना गूढ है कि उसके कार्य-कारणका सम्बन्ध तो समझमें नहीं आता किन्तु वह होता अवश्य है। संसार किसने बनाया ? संसारमें प्राणियोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? उनके कार्योंपर किस शक्तिका शासन चलता है ? ये सब रहस्यकी बातें हैं। जब कोई साधक इन पारमार्थिक रहस्योंको खोजने चलता है, उसके लिये साधना करता है और उस साधनामें सफल या विफल होता है तब वह अपने उस अनुभवका वर्णन करना प्रारम्भ करता है। यह वर्णन प्राय: पाँच प्रकारका होता है— १. जिसमें साधक ज्ञातव्य रहस्यका कुछ परिचय देकर कहता है 'नेति' अर्थात् इतना ही नहीं है अभी और भी कुछ है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, जिसका वर्णन करना मेरे सामर्थ्यसे बाहर है, जो वर्णित हो ही नहीं सकता। २. जिसमें वह सङ्केतों तथा रूपकोंके द्वारा समझानेका प्रयत्न करता है और उस रहस्यका आभास-मात्र देता है और कहता है कि 'वह कुछ-कुछ ऐसा है' पर गूँगेके गुड़के समान उसके आनन्द या स्वादसे स्वयं परिचित होते हुए भी उसका परिचय नहीं दे पाता। ३. जिसमें साधक उस रहस्यको प्राप्त करनेके मार्ग सुझाता है। ४. जिसमें साधक उस मार्गमें पड़नेवाली कठिनाइयों और बाधाओंका परिचय देकर उस सम्बन्धमें अपना अनुभव भी बताता चलता है। ५. उस रहस्यमयी शक्तिके प्रति आत्मीयता स्थापित करके उससे न मिल पानेपर उत्कण्ठा, व्याकुलता और विह्वलताका वर्णन करता है। इन पाँचोंके अतिरिक्त एक छठी रहस्य-दृष्टि भी होती है जिसमें कोई व्यक्ति ( कवि या साधक ) संसारकी वस्तुओंमें रहस्यात्मक प्रेरणा ग्रहण करता है जैसे खिले हुए फूलको देखकर यह प्रेरणा पाना कि यह ईश्वरकी मुसकान है या कोई रहस्यमयी शक्ति इस फूलके रूपमें हँस रही है। यही छायावादी या अर्द्ध-रहस्यवादी ( ज़ूडोमिस्टिकल ) भावना है।

### छायावाद ( जूडो-मिस्टिसिज़्म )

जब कोई कवि किसी दार्शनिक साधककी पद्धतिपर किसी पारमार्थिक या दार्शनिक भाव-तत्त्वकी अभिव्यक्ति काव्यमें करने लगता है और पाठकको यह भ्रम हो जाता है कि कविने ही सचमुच साधक होकर यह बात कही है तब उस रचना और रचनाकार को छायावादी कहते हैं। रहस्यवाद और छायावाद दोनोंमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि रहस्यवादमें साधक या ज्ञाता किसी तत्त्वकी स्वयं खोज करके उस तत्त्वके सम्बन्धमें अपने अनुभवका बखान करता है किन्तु छायावादमें न तो साधना होती है, न अनुभव होता है वरन् साधकके अनुभवकी छाया या शैलीपर उसी प्रकारकी काल्पनिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति की जाती है। प्राकृतिक दृश्यों या वस्तुओंसे रहस्यात्मक प्रेरणा लेकर काव्यमें ढाल देना ही छायावादीका लक्ष्य और साध्य है।

### पारमार्थिक रहस्यवाद ( स्पिरिचुअल मिस्टिसिज़्म )

संसारके कुछ व्यक्तियोंमें अद्भुत प्रकारसे ऐसी शक्ति आ जाती है कि वे भूत, भविष्य, वर्त्तमानकी बातें कहने लगते हैं, भविष्यवाणी करते हैं अथवा अलौकिक तथा चामत्कारिक ढङ्गसे ऐसा व्यवहार करते हैं जिसका कोई प्रत्यक्ष, लौकिक तथा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। इस प्रकारका आचरण, इस प्रकारके आचरणमें विश्वास तथा काव्यमें इस प्रकारकी अभिव्यक्तिको ही पारमार्थिक रहस्यवाद कहलाता है।

### लौकिक रहस्यवाद ( सिक्यूलर मिस्टिसिज़्म )

कुछ विद्वानोंका मत रहा है कि 'संसारकी प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक वस्तु रहस्यमय है। उसे तबतक नहीं समझा जा सकता जबतक हम उसके रहस्यको न समझ लें अर्थात् संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं उन सबमें कोई न कोई पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके कारण सुदूर रहनेवाली वस्तुएँ भी एक दूसरीके समीप आकर एक दूसरेसे आबद्ध होती हैं और समीप रहनेवाली वस्तुएँ एक दूसरेसे दूर चली जाती हैं। यह संयोग प्राणियोंमें पिछले जन्मके संस्कारपर और जड़ पदार्थोंमें विचित्र रहस्यात्मक संयोगसे उपस्थित होता है। इस लौकिक रहस्यवादका दूसरा रूप है मन:सम्बन्ध, जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी एक जटिल रहस्यात्मक तत्त्व है, जिसके मनकी कोई थाह नहीं है कि वह किस दशामें क्या कर बैठेगा और किसके प्रति उसकी क्या रुचि, इच्छा और वृत्ति है।

### परमार्थवाद ( स्पिरिचुअलिज़्म )

प्राय: सभी आस्तिक लेखक यह मानते चले आए हैं कि 'इस सृष्टिको रचनेवाला तथा इसपर शासन करनेवाला कोई एक अलक्ष्य दैवी हाथ है जिसकी अगणित शक्तियाँ निरन्तर अनेक रूपोंमें संसारके प्रत्येक पदार्थ और जीवकी भाग्य-सञ्चालिका बनकर उसे विभिन्न कार्योंमें प्रवृत्त करती है।' इस मतके माननेवाले सभी परमार्थवादी कहलाते हैं।

### मिथ्या-परमार्थवाद ( ज़ूडो-स्पिरिचुअलिज़्म )

बहुतसे कवि स्वयं दार्शनिक या आस्तिक न होते हुए भी अपनी रचनाओंमें बीच-बीचमें पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये आत्मा, परमात्मा, कर्मवाद, मोक्ष आदि तत्त्वोंकी मीमांसा करते हुए इन सिद्धान्तोंके अनुसार अपने ग्रन्थोंकी रचना भी करते हैं और प्राय: उनमें ईश्वरकी सत्ता और शक्तिका विशेष रूपसे महत्त्व सिद्ध करते हैं, किन्तु मूलत: उनके ग्रन्थ लोक-विषयक ही होते हैं। ऐसे सब लेखक और ग्रन्थ मिथ्या-परमार्थवादी माने जाते हैं।

### पाण्डित्यवाद ( पैट्रार्किज़्म )

फ्रान्सेस्को पेत्रार्क (१३०४—७४) ने अपने 'राइम'में अपने तस्कन पूर्वजोंकी धार्मिक उल्लास-भावनाओंको मानवित करनेके फेरमें ऐसी बौद्धिक व्यायामसे भरी हुई, शब्दों और विचारोंके विचित्र खेलवाड़के रूपमें अत्यन्त कृत्रिमतापूर्ण शैली चलाई इससे पहले प्रोवेंगसके काव्यमें भी इसका प्रयोग हुआ जिसकी भाषा अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और रूढ, छन्द जटिल और कठिन तथा शैली दुरूह और अस्पष्ट थी। इस काव्यपर भी सामन्तवादियोंका एकाधिकार हो गया और वे लोग उसे आनन्दपूर्ण बौद्धिक क्रिया मानने लगे। इसका प्रभाव प्रावेन्सलसे तेरहवीं शताब्दिके तस्कन कवियोंमें जा पहुँचा। पन्द्रहवीं शताब्दिके राजसी कवियोंने भी उसमें वर्णित 'प्रेम-द्विविधा' ( कर्त्तव्य और प्रेमके बीच सङ्घर्ष ) का अत्यन्त वासनात्मक वर्णन प्रारम्भ किया जिसमें स्त्रियोंके नख-शिख और हाव-भावका अत्यन्त विस्तृत और नग्न वर्णन रहता था। इसके पश्चात् उसमें कुछ प्लेटोकी उक्तियोंका समावेश होने लगा और आगे चलकर लोग पेत्रार्कके 'राइम'का आध्यात्मिक या अध्यवसानात्मक अर्थ करने लगे। फ्रान्स, स्पेन, पुर्तगाल, इङ्गलैण्ड, जर्मनी आदिमें भी इसका प्रयोग किया गया।

## पाण्डित्यवाद-विरोध ( एन्टी-पेट्रार्किज़्म )

पाण्डित्यवादने लातिनकी प्रभुता भी नष्ट की और गीत ( सौनेट ) आदि नये काव्य-रूपोंको प्रेरणा देकर इटली तथा स्पेनमें नई काव्य-शक्तियोंको नियमित और व्यवस्थित किया। इसके विरुद्ध भी जो पाण्डित्यवाद-विरोधी आन्दोलन चला वह वास्तवमें इसका विरोधी नहीं था वरन् इसके भीतरके अतिरेकको कम करना चाहता था।

## भव्यतावाद ( क्रैटिनिज़्म )

सन् १५२५ में जर्मनीमें क्रेटिनने एक अत्यन्त भव्य शैली चलाई जिसके छन्द और जिसकी लय अत्यन्त जटिल होती थी और जिसमें देहाती शैलीका पूर्णतः बहिष्कार करके अत्यन्त प्रचलित और अपरिचित सौन्दर्यात्मक शैलीका प्रयोग किया जाता था। इसका अधिक प्रयोग फ़्रान्सीसी कवितामें हुआ भी था। राबैलेने इस शैलीकी व्यंग्यात्मक निन्दा भी की है।

## मनोवृत्तिवाद ( ओशियानिज़्म )

जर्मनीमें कुछ कविताएँ ओशियनकी बड़ी प्रसिद्ध थीं जो मौलिक प्रतिभाकी आदिम कृति समझी जाती थीं और जिससे काव्यका राष्ट्रीय उद्गम प्राप्त होता था। कुछ कवियोंको अपनी रचनाओंमें इनसे मनोवृत्ति ( स्टीमूङ्ग ) की अभिव्यक्तिके लिये आश्रय मिला जिसमें धुँधले विषय, निर्जन मार्गोंके लिये आकर्षक, कथात्मक काव्योंका सौन्दर्य, वीर-काव्योंकी भव्यता और एकान्त तथा मृत्युकी उदासीका विशेष वर्णन होता था। इसे भी स्वैरवाद और निराशावादका समन्वय समझना चाहिए।

## धूर्त्ततावाद ( पिकारेस्क )

स्पेनी भाषामें 'पिकारो' का अर्थ है 'धूर्त्त', इसलिये 'पिकारेस्क' उन कृतियोंको कहते हैं जिनमें किसी धूर्त्त या चंटके जीवन-चरितका वर्णन किया गया हो। ये वर्णन प्रायः प्रथमपुरुष ( मैं ) अर्थात् आत्म-चरित-शैलीमें लिखे जाते थे और घटना-प्रधान होते थे। इन वर्णनोंमें प्रायः यह होता है कि कोई धूर्त्त निम्न कोटिके कार्य करता हुआ, अपनी धूर्त्ततासे समाजको चूसता हुआ उस समाजपर और उसकी मूर्खताओंपर व्यंग्य करता है। यों तो प्रारम्भसे ही कथाओंमें धूर्त्तोंका चित्रण होता रहा है किन्तु ये धूर्त्ततावादी उपन्यास सोलहवीं शताब्दिमें स्पेनमें प्रारम्भ हुए। इनका प्रारम्भ मिथ्या

वीरता ( शिवेलरी ) के काल्पनिक विनोदों और साहसपूर्ण कृत्योंकी प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ किन्तु उससे यह भी सिद्ध किया गया कि साधारण लोगोंके दैनिक जीवनमें भी जादूगरों, राक्षसों, मिथ्यावीरों ( नाइट ) या दैत्यों ( ड्रगनों ) के कल्पित कार्यों जैसी विचित्र घटनाएँ होती रहती हैं। इस रचनाके आदर्शपर स्पेनमें और स्पेनसे बाहर अनेक उपन्यास लिखे जाने लगे। अनेक फ्रान्सीसी लेखकोंने अपनी कथाओंमें स्पेनके समाजका चित्रण किया। अँगरेज़ीमें भी इस प्रकारके उपन्यास डेनियल डीफ़ोने लिखे। फिर तो इसमें अनेक परिवर्त्तन हुए। धूर्त्तोंकी श्रेणियोंमें स्त्रियाँ भी आ गईं और एकसे एक विचित्र घटनाएँ भी जोड़ी जाने लगीं। रोबिन हुड डाकूकी कथासे मिलकर एक आदर्श या देशभक्त डाकू तथा भगोड़ और धूर्त्त आदिके अनेक चारित्यिक रूपोंमें उनका चित्रण होने लगा जिनमें किसी डाकूको इस आधारपर वीर वीर सिद्ध किया जाता है कि वह दुष्टों और धनिकोंको लूटकर दीनों और सज्जनोंकी सहायता करता है।

### शिष्टतावाद ( ग्रोवियानिज़्म )

सोलहवीं शताब्दिके अश्लील और अशिष्ट आचरणोंको समाप्त करने तथा शिष्टाचरणकी शिक्षा देनेके लिये शिष्टतावादका आन्दोलन चला। वीरता ( शिवेलरी ) के युगमें ही कवियोंने अपने उपदेशात्मक काव्योंमें शिष्टाचरणके नियम डालने प्रारम्भ कर दिए थे। सुधारवाद ( रिफ़ौर्मेशन ) ने व्यंग्यात्मक वृत्ति ग्रहण करके यह परिपाटी बदल दी। फलस्वरूप ब्रान्टने 'नारेन्शिफ' में ग्रोवियानस नामक सन्तका चित्रण किया जिसने उन अशिष्टोंके लिये शिष्टाचरणके नियम दिए हैं जो अपने प्रमुख सन्तके योग्य शिष्य बनना चाहें। इनके अनुकरणमें और भी अनेक ऐसे रूप निकल पड़े जो चाहते तो थे अशिष्टतासे युद्ध करना किन्तु जिनकी प्रवृत्ति यही रही कि वे जिन अशिष्टताओंको दूर करना चाहते थे उनका आनन्द भी लें। यह प्रवृत्ति स्विफ़्टके समयतक चलती रही।

### विवेकवाद ( रैशनलिज़्म )

विवेकवादियोंका कहना है कि—१. इन्द्रिय-ज्ञानके बिना भी हमारा विवेक स्वाभाविक प्रकाशसे वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकता है। इसी अर्थमें सत्रहवीं शताब्दिके दकार्त्तेके विवेकवादकी तुलना तथ्यानुभववादसे की जाती है। २. विवेकमें सत्य ढूँढनेकी स्वतन्त्र सत्ता होती है जिसके

द्वारा वह निष्पक्ष और निर्लिप्त होकर सत्यकी खोज कर सकता है। यही बुद्धिवाद है। ३. वास्तविकता या सत्यको समझनेमें हमारा विवेक एक क्रम बना देता है और वास्तविकतापर उसका आरोप करके उसे जान लेता है। ४. धार्मिक अर्थमें विवेकवादी वह समझा जाता है जो स्वतन्त्र विचारक और नास्तिक हो। इस अर्थमें अठारहवीं शताब्दिके वे सभी लोग विवेकवादी कहलाते हैं जो ईश्वरको तो मानते हैं किन्तु किसी धर्ममें विश्वास नहीं करते। मौन्तेन या शेली जैसे लोगोंका 'विवेकवाद' अथवा दोस्तोएवस्की या डी० एच० लौरेन्स जैसे लोगोंके 'निर्विवेकवाद'पर इन्हीं भेदोंकी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। वास्तविक विवेकवादी या बुद्धिवादी वह है जो केवल वही बात कहे और माने जो बुद्धिसङ्गत हो, जिसे किसी साधारण व्यक्तिका विवेक सरलताके साथ स्वीकार कर ले।

### बुद्धिवाद ( आउफ़क्लैरूंग )

विवेकवादको ही बुद्धिवाद भी कहते हैं।

### झञ्झावाद ( स्टुर्म उन्ड ड्राङ्ग )

सन् १७७० में बुद्धिवाद (आउफ़क्लैरूङ्ग या एनलाइटेनमेन्ट) के आदर्शोंके विरुद्ध जर्मनीके कुछ नवयुवकोंने झञ्झावाद ( स्टौर्म उन्ड ड्राङ्ग अर्थात् स्टौर्म एन्ड स्ट्रेस ) नामक साहित्यिक आन्दोलन प्रारम्भ किया जिनका मत था कि 'काव्यमें शक्ति और निरालापन होना चाहिए।' ये लोग मानते थे कि 'अन्तःस्फुरण (इन्स्पिरेशन) और अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन) में ही सत्यकी प्राप्ति होती है। बुद्धिवादियोंका कहना था कि 'स्वतन्त्रता ही मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है।' किन्तु झञ्झावादियोंका कहना था कि 'यह स्वतन्त्रता वास्तवमें अन्तिम लक्ष्य न होकर मनुष्यकी मूल सम्पत्ति और उसकी सहज प्रकृति है।' इसी आधारपर नैतिक और सौन्दर्यात्मक एकताकी हत्या करके 'बड़ा आदमी बननेका सम्प्रदाय' (दि कल्ट औफ़ दि ग्रेट ग्रेन) अथवा प्रभावशालिताका कोई भी रूप इन्हें मान्य था, चाहे उससे नीति और सौन्दर्यकी हत्या ही क्यों न होती हो। इन लोगोंमें अपनी श्रेष्ठताका अहङ्कार और स्वतन्त्रता, व्यवहारमें उच्छृङ्खलता, निराशावादिता, विषादपूर्ण तथा वासनात्मक कामुकता इतनी भरी हुई थी कि इन्हें लोगोंने अनैतिक अनुत्तरदायी और असन्तुलित-तक कह डाला। किन्तु विवेकवादसे अविवेकवाद और विचारसे अनुभवकी ओर झुकनेकी प्रवृत्तिसे साहित्यका कला-रूपमें अधिक विकास हुआ। इन लोगोंका विचार

प्रकृतिका अनुकरण करना नहीं वरन् प्रकृतिको प्रत्युपस्थित करना था और वह भी इस भावनाके साथ कि 'मौलिक प्रतिभा मनुष्यमें ही होती है।' परिणामत: अबतक जो साहित्यिक समीक्षा स्पष्ट करनेके बदले उत्तेजना देनेके लिये लिखी जाती थी, उसने बुद्धिवादी बाना छोड़कर कलात्मक प्रत्युपस्थितिका सङ्कल्प कर लिया, जिसमें अभिव्यक्तिकी प्रकृतिका ही अन्वेषण किया जाता था अर्थात् यह ढूँढा जाता था कि भाषा, सङ्केत, प्रतीक तथा भाव-संक्रमणके अन्य साधनोंका उद्गम कहाँ है। सौन्दर्यात्मक कसौटीमें भी विशेष परिवर्त्तन दिखाई देने लगा। विवेकके बदले कला, समीक्षकके बदले कलाकार, रुचिके बदले अभिव्यक्ति तथा बाह्यके बदले सात्त्विक, वर्गरूप ( टिपिकल ) के बदले विशिष्ट चरित्र ( कौरेक्टरिस्टिक ) तथा स्पष्टके बदले आश्चर्यजनकका महत्त्व बढ़ गया। सौन्दर्यात्मक श्रेणीमें उदात्तता ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई। अपने साहित्यिक देवता शेक्सपियरकी स्पर्धामें इस सक्रिय पीढ़ीको अभिव्यक्तिका स्वाभाविक माध्यम त्रासद हो गया। लोककाव्यकी सरलता और भावात्मकतासे प्रभावित होकर इन लोगोंने लोककाव्यके लोकगीत, कथागीत ( बैलेड ) और प्राचीन कहानियाँ आदि बहुतसे रूप स्वीकार किए। भयंकर मानवीय सङ्घर्ष ही इनके प्रिय विषय थे, जैसे—आत्महत्या, बन्धुहत्या, पितृहत्या, बालहत्या आदि। शैलीका परिष्कार और रचनाकी सटीकताकी उपेक्षा भी होने लगी। राष्ट्रीय साहित्योंमें व्यक्तिकी खोज होने लगी। क्लिङ्गरने सन् १७७६ में जो 'स्टुर्म उन्ड ड्राङ्ग' नाटक लिखा था उसीके नामपर इस आन्दोलनका नामकरण हुआ था।

### प्रतिभा-युग ( गैनीज़ीट )

झञ्झावाद ( स्टुर्म उन्ड ड्राङ्ग ) नामक आन्दोलनका यह विशिष्ट नाम था जिसमें मनुष्यकी प्रतिभा ही सब कुछ मानी जाती थी। सन् १७७० के प्रतिभाशाली व्यक्तियोंके दलमें विशेषत: शेफ़्ट्सबरी और यङ्गने जो प्रतिभावादी आन्दोलन चलाया उसे ही प्रतिभायुग कहते हैं।

### बुद्धि-वाद-विरोध (एराटीरेशनलिज़्म या ऐन्टी-इन्टेलेक्चुअलिज़्म)

कलाके सिद्धान्तमें बुद्धिवाद-विरोधकी कोई ऐसी अनवरत रूढि नहीं रही है जैसी धार्मिक दर्शन या ज्ञान-तत्त्वके इतिहासमें प्राप्त होती है। सौन्दर्यवादमें भी जो प्रतिबुद्धिवाद चला वह भी ज्ञानतत्त्वसे सम्बद्ध न होकर इस इच्छासे चला था कि सौन्दर्यात्मक और विवेकात्मक गुणतत्त्वोंकी पहचान

की जा सके। कभी-कभी तो कलाके अनुभवकी अनन्त जटिलताके विश्लेषण और परिज्ञानमें सफलता न मिलनेकी अभिव्यक्तिको ही लोगोंने प्रतिबुद्धिवाद कह दिया है। यह सम्भव है कि इस बुद्धिवादविरोधके द्वारा उस अनुभवकी स्वान्तःप्रवृत्त प्रकृति ही स्पष्ट हो जाय और इस प्रकार दर्शनका ऐसा नया प्रकार स्वीकृत हो जाय जो बुद्धि-द्वारा अमान्य हो। विभिन्न प्रकारके बुद्धिविरोधवादके उदाहरण प्रायः सभी युगोंके कला और साहित्य-समीक्षकों तथा व्यवस्थित दार्शनिकोंमें छिटपुट रूपसे प्राप्त होते रहे हैं। अपनी बुद्धिवादी प्रवृत्तिके भावोंके साथ-साथ प्लेटो ( अफलातून ) ने कहा है कि 'सौन्दर्य तभी अनुभूत होता है जब हम उससे प्रेम करते हैं। उसी उत्साहके क्षणमें वह भावित भी होता है और बिना किसी प्रकारकी तत्त्व-ज्ञान-क्रिया बीचमें डाले ही यह निर्णय हो जाता है कि यह सुन्दर है।' इसीलिये पुनर्जागरणकालसे 'श्वारमेरेर्या' नामक सिद्धान्त चला कि 'किसी कलात्मक कृतिकी लाभकर तथा प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया यही है कि उसपर कविता लिख दी जाय।' लौकिक सुखवादके जिस सिद्धान्तका हौरेसमें कुछ आभास मिलता है वह विशेष रूपसे प्रत्यक्षवादी ( पौजिटिविस्ट ) दार्शनिकोंने चलाया था। इस सिद्धान्तमें माना गया है कि 'कलाके अनुभव का आनन्द वैसा ही होता है जैसे पशुओंको भूखका आनन्द मिलता है' अर्थात् ये लोग मानते हैं कि 'मनुष्यको कलात्मक वस्तु देखनेमें जो आनन्द मिलता है वह ठीक उसी कोटिका होता है जैसा पशुको चारा खानेमें प्राप्त होता है।' इसीलिये अपने अनुभवका अन्तर्विश्लेषण कर सकनेवाले कला-प्रेमियोंने यह सिद्धान्त अधिक नहीं माना है।

जर्मनीके स्वैरवादी आन्दोलनमें यह विचार अधिक प्रचलित हुआ कि 'प्रतिभाशाली व्यक्तिमें एक परम दानवी शक्ति ( डस् डेमोनिशे ) होती है। वहाँ स्वान्तःप्रवृत्तिकी यह महत्ता व्यापक रूपसे मान ली गई। बर्गसन और क्रोचे आदि वर्त्तमान लेखकोंने इन सिद्धान्तोंको पुनरुज्जीवित और परिष्कृत करके उपस्थित किया। क्रोचेका स्वान्तःप्रवृत्ति-सिद्धान्त सम्भवतः वर्त्तमान युगमें सर्वाधिक प्रभावशाली सौन्दर्यवादी सिद्धान्त है। यद्यपि यह आंशिक ही है क्योंकि क्रोचेकी कलात्मक सचेतनता तथा साहित्यिक कौशलके कारण वह पूर्ण रूपसे मान्य नहीं हो पाता फिर भी उसके सिद्धान्तका बड़ा तीव्र विरोध हुआ, जैसा सम्पूर्ण प्रतिबुद्धिवादी सिद्धान्तोंका होना चाहिए क्योंकि ये लोग

सौन्दर्यात्मक अनुभूतिके लिये सौन्दर्यात्मक निर्णयको आवश्यक नहीं समझते ।

**परानुभववाद ( ट्रान्सेन्डेन्टलिज़्म )**

अध्यात्मवाद या परानुभववाद उस दार्शनिक मतको कहते हैं जो मानता है कि 'भावना (स्प्रिट) और गुणतत्त्व ( वैल्यूज़ ) में एक देशकालाद्यवच्छिन्न वास्तविकता रहती है।' इस अर्थमें यह अध्यात्मवाद अत्यन्त प्राकृतिकता-विरोधी आदर्शवाद है। किन्तु कान्टका अध्यात्मवाद यह है कि 'दृश्य स्वयं अपनेमें कोई वस्तु नहीं होते हैं वरन् केवल प्रकटीकरण-मात्र होते हैं जिनका अनुभव शुद्ध विचारकी पूर्वस्थित भावनाओंके अनुसार सम्भव होता है।' जर्मन आदर्शवाद-द्वारा अनुप्राणित उन सिद्धान्तोंके असबद्ध सङ्ग्रहके लिये भी इस शब्दका प्रयोग किया जाता है जो मैसेचुसट्सके इमर्सन आदि लेखक-मण्डल (१८३०–५०) का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्तको प्रभावात्मक रूपसे इमर्सनने प्रवर्त्तित किया। इसमें दार्शनिक आशावाद, सर्वेश्वरवाद ( सभी कुछ ईश्वर है ) तथा आदर्शवादी और मानवीय नैतिकताको व्यावहारिक रूपमें उपस्थित करके धार्मिक रूढिवादके विरुद्ध एक प्रकारकी रहस्यात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न की गई है। कभी-कभी लोगोंने समझमें न आनेवाली और हवाई बातोंको भी व्यंग्यमें अध्यात्मक-वादी कह दिया है।

**कारणवाद ( डिटर्मिनिज़्म )**

यह कारणवाद वास्तवमें दार्शनिक सिद्धान्त है। इसका मत है कि 'प्रत्येक घटना चाहे वह मानसिक हो या सुविचारित कार्य हो, सबका कोई न कोई कारण होता है।'

वास्तवमें ये कारणवादी उन 'स्वतन्त्र विचार' ( फ्री विल ) का सिद्धान्त माननेवालोंके विरोधी हैं जो कहते हैं कि 'हमने यह कार्य स्वतन्त्र विचारसे किया है।' कारणवादी कहते हैं कि 'यह उनकी भूल है। जिसे वे स्वतन्त्र विचार समझते हैं उसके पीछे भी कोई न कोई कारण अवश्य लगा रहता है।' यह माना जाता है कि प्रकृतिवादी या तथ्यवादी साहित्यमें यह कारणवाद अवश्य रहता है। नये मानवतावादियोंका यही मत है। किन्तु यह बात नहीं है। वास्तवमें भावना ( फ्रेन्टेसी ) और भँडैती ( फ़ार्स ) को छोड़कर शेष सभी साहित्य कारणवादी हैं क्योंकि सभीमें किसी भी कार्य या घटनाके उद्देश्यकी खोज की जाती है और मनुष्यके निर्णयोंपर उसके चरित्रके प्रभावका ध्यान रक्खा जाता है। नाटकीय एकरूपता, कथावस्तुके विस्तारमें अपरिहार्यता तथा

प्रशंसनीयता और कार्यों-द्वारा चरित्र-चित्रण, ये सबके सब मानव-प्रकृतिके कारणवादी प्रयोगपर ही अवलम्बित हैं। कमसे कम साहित्यके क्षेत्रमें तो यही होता है।

भाग्यवाद ( फ़ेटेलिज़्म )

बहुतसे लोग कारणवादको ही भाग्यवादको समझनेकी भूल करते हैं किन्तु भाग्यवादका तात्पर्य तो यह है कि 'मनुष्यके हाथमें कुछ नहीं है, सब घटनाएँ अपरिहार्य हैं, वे होंगी ही।' 'तुलसी जस भवितव्यता, वैसी मिलै सहाय।'

## निराशावाद ( पैसिमिज़्म )

'निराशावाद' एक व्यवस्थित दार्शनिक वृत्ति है जिसमें जीवनको मूलतः दुःखमय माना जाता है और यह समझा जाता है कि सम्पूर्ण सृष्टि ही बुरी और अभव्य है। निराशावादी कहता है कि 'सांसारिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भटकना निरर्थक है क्योंकि मनुष्य जो इच्छा करता है उसे वह या तो तृप्त नहीं कर पाता, यदि तृप्त कर भी लेता है तो उसे स्थिर नहीं कर पाता और यदि स्थिर कर पाता है तो उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता। फिर भी मनुष्य अतृप्त इच्छाके कष्ट और सन्तुष्टिकी नीरसतासे बचकर निकल नहीं पा सकता।' यह निराशावाद अनेक कवियोंने अनेक रूपोंमें व्यक्त किया है। निराशावादीका विश्वास है कि 'जीवनमें सुखपर दुःखका सदा आधिपत्य रहता है।' इसके अनुसार दो विशिष्ट प्रकारके निराशावादी मिलते हैं—१. जो दुःखको शाश्वत मानते हैं। २. जो निकट भविष्यमें दुःखका आगमन मानते हैं।

१. आकस्मिक निराशावादियोंका विचार है कि 'यह सारा संसार ही मूलतः दुःखपूर्ण है और यह सब किसी क्रूर या निश्चिन्त ( मनमौजी ) शक्तिकी कृपापर अवलम्बित है या यह किसी अन्धी, निर्देशहीन और अविवेकीकी इच्छाके आधारपर चलता है।' इसमें यह दूसरी बात ही एडवार्ड फ़ौन आर्टमैनने अपने 'अचेतनके दर्शन'में ग्रहण की है।

२. 'विगतिवादी निराशवाद' ( रिट्रोग्रैसिव पैसिमिज़्म या पैजोरिज़्म ) वाले यह मानते हैं कि 'संसार अब बिगड़ता चला जा रहा है इसलिये मनुष्यका भविष्य या भाग्य खोटा ही होता चला जायगा।' इस विचारके भी अनेक रूप हैं—१. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिका संसारके ह्रासका

सिद्धान्त, २. ह्रासवादियोंका सिद्धान्त, ३. भविष्यमें मनुष्यके लुप्त होनेका विश्वास अर्थात् सब सभ्यताएँ ही निकट भविष्यमें नष्ट होनेवाली हैं।

निराशावादके लम्बे इतिहासके अनेक मिले-जुले रूपोंमेंसे दो मुख्य हैं—१. जहाँ जीवनकी निराशा या असमर्थता 'अप्राप्य आदर्शके लिये निराशा' ( वेल्शमेर्ज़ ) से आती है। इसमें इस बातपर विशेष बल दिया जाता है कि इस दुष्ट और भौतिक संसारके संघर्षमें काव्यात्मक और भावक आत्माकी निश्चित पराजय होती है। ऐसी स्थितिमें निराशावाद ही स्वैरवादी वेदनाके रूपमें परिवर्त्तित हो जाता है जो स्वैरवादी कवियोंमें विशेष रूपसे मिलता भी है। यह प्रवृत्ति जब उस सनकसे मिल जाती है जहाँ पहलेसे मनमें कुरूपता, दुःख आदिकी भावना रहती हैं तब यह निराशावाद ही 'ह्रास'के रूपमें परिवर्त्तित हो जाता है और तब कलात्मक रचनाके उल्लासमें ही निराशावादीको विश्राम मिलता है।

२. जहाँ दुर्भाग्यको अधिक महत्त्व दिया जाता है और दुःख सहन करनेमें एक विशेष प्रकारके गौरवका अनुभव किया जाता है। यह 'स्टोइक पेसिमिज़्म' है जो कभी-कभी नास्तिकतावादकी सीमातक पहुँच जाता है। इस शब्दकी वास्तविक महत्ताको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि निराशावादको अन्य प्रकारकी दुःखपूर्ण प्रवृत्तियोंसे भिन्न समझ लिया जाय। निराशावाद केवल इसी बातमें नहीं है कि भाग्य-परिवर्त्तन हो या सुख नष्ट हो और मृत्यु निश्चित हो जाय, जैसा 'श्मशानवादी' (ग्रेवयार्डस्कूल) रचनाओंमें पाया जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त उदासीनता अभिव्यक्त करना भी तबतक निराशावाद नहीं होता जबतक वह कल्पनात्मक विचारके स्तरतक न पहुँच जाय। जीवनके प्रति त्रासदात्मक प्रवृत्ति या त्रासदीय अनुभव आदिकी बातें तो आशावाद और निराशावाद दोनोंके झगड़ेसे परे हैं।

## स्वैरवाद ( रोमान्टिसिज़्म )

यह शब्द प्राचीन फ्रान्सीसी रोमान्ज या रोमान्स ( उपन्यास ) से लिया गया है किन्तु इसका निश्चित प्रयोग इङ्गलैण्डमें १६५४ के लगभग 'उपन्यासके समान' कहकर निन्दाके रूपमें हुआ जिसका यह अर्थ लगाया गया कि 'यह काल्पनिक और झूठा है।' अठारहवीं शताब्दिमें इसका प्रयोग कुछ अच्छे अर्थोंमें उन स्थानोंके लिये होने लगा जो उदास लगनेपर भी प्रिय होते हैं। जर्मनीमें 'रोमान्टिश' शब्दका प्रयोग पहले तो 'उपन्यास'के अर्थमें किन्तु फिर प्राकृतिक

दृश्योंके लिये होने लगा। साहित्यमें उदात्तवादके विरोधी पक्षके रूपमें 'रोमान्टिसिज्म'का प्रयोग फ्रीड्रिख् श्लेगेलने किया और श्रीमती स्तैलने उसे फ्रान्समें प्रचलित किया। आगे चलकर इसमें 'प्रेम' और 'विषाद' का मेल हो गया। फिर तो इसकी बहुतसी परिभाषाएँ चल निकलीं। साहित्यिक प्रयोगसे पहले फ्रान्सीसी दृष्टिसे 'रोमान्टिक' का अर्थ है 'साहसशील, भावनाशील और कल्पनाशील।' दूसरा है बहुमुखी साहित्यिक आन्दोलन और उसके पूर्व रूप तथा तीसरे, 'रोमान्टिक' का प्रयोग साहित्यिक स्वैरवादके अनेक रूपोंके लिये हुआ। इसीलिये साहित्यिक स्वैरवादकी न तो परिभाषा दी जा सकती है और न उसका काल बाँधा जा सकता है। यह अठारहवीं शताब्दिके अन्तिम भाग और उन्नीसवीं शताब्दिके प्रारम्भकी उन असंख्य साहित्यिक प्रवृत्तियोंके अर्थमें व्यापक रूपके प्रयुक्त होने लगा जो समय, स्थान और लेखकके अनुसार अनेक रूपोंमें प्रकट हुई और जो प्राचीन रूढियोंकी सीमाके भीतर नई दिशाओंकी खोजसे लेकर खुले विद्रोह तकके रूपमें मिलती हैं। ये प्रवृत्तियाँ मोटे रूपमें—१. विषय, २. प्रवृत्ति और ३. शैली, इन तीन श्रेणियोंमें बाँटी जा सकती हैं।

स्वैरवादी विषयके अन्तर्गत निरुदात्तवादी देशोंके दृश्य और उनकी संस्कृति, मध्ययुग तथा राष्ट्रीय अतीतके दृश्य और उनकी संस्कृति आ जाती थी। साथ ही दूसरे देशोंकी बातें, स्थानीय चित्रण (लोकल कलर) और व्यापकके बदले विशिष्टका वर्णन, तात्कालिक व्यक्तिगत अनुभवके रूपमें प्रकृतिका वर्णन, ईसाई धर्म और परलोकवाद, अलौकिकता, रात्रि, मृत्यु, खँडहर, समाधियाँ या श्मशान, भयानक कार्य या शैतानके कार्य, स्वप्न और उपचेतन मन आदिका वर्णन होता था। स्वैरवादकी अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्ति है व्यक्तिवाद (इन्डिविजुअलिज़्म)। स्वैरवादी नायक या तो आत्मकेन्द्रित व्यक्ति होता है जो उदासी, दुःख या निराशासे भरा होता है या समाजके विरुद्ध तीव्र, भयङ्कर, क्रान्तिकारी विद्रोह करता है अर्थात् दोनों रूपोंमें वह रहस्यमय मनुष्य होता है। इस स्वैरवादका कवि भविष्य-वक्ता (सीअर) होता है। इसमें विवेक-पूर्णके बदले भावक, वास्तविकके बदले आदर्श और आवश्यकताके बदले आकांक्षाको प्रधानता दी जाती है। अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें स्वैरवादका कथन है कि 'सब नियम और रूढियाँ तोड़ डालो, केवल स्वयं विचार-प्रवाह (स्पौन्टेनिटी), अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन) और

प्रगीतात्मकताका अनुगमन करो।' इसमें अधिकांश चिन्तन, अस्पष्टता, असङ्गतता, विचित्र भाव-संस्फुरण आदिका समावेश होता है। स्वैरवादके ये सब पक्ष किसी एक राष्ट्रीय साहित्य, युग या लेखकके लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते और इनमेंसे बहुतसे तो परस्पर विरोधी भी हैं। स्वयं स्वैरवादियोंके समीक्षात्मक लेख पढ़नेसे प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य केवल उदात्त-वादसे विद्रोह करना ही है। कुछ लोग इस आन्दोलनके दो भाग करते हैं— १. पूर्व स्वैरवाद ( प्री-रोमान्टिसिज़्म ) और २. शुद्ध-स्वैरवाद, किन्तु उसकी कोई काल-सीमा निश्चित नहीं की जा सकती।

किसी निश्चित सम्प्रदायके न होनेसे अँगरेजीमें बहुतसे स्वैरवादी लेखक हुए जिन्हें हम पूर्व-स्वैरवादी दलमें रख सकते हैं। सत्रहवींसे अठारहवीं शताब्दितक नाटक, कविता, उपन्यास, समीक्षा और दर्शन सभीके लेखक एक विशेष प्रकारकी प्रवृत्ति और विश्वासके साथ काम करते दिखाई देते हैं। शेफ़्ट्सबरीने यह कहा कि 'मनुष्यके लिये एक प्राकृतिक धर्म होना चाहिए जो मनुष्यकी स्वाभाविक श्रेष्ठताके उत्तरमें उसे मिल सके और जिसे 'प्रकृतिकी प्रतिभा' से समर्थन और स्वीकृति प्राप्त हो।' जेम्स टौम्सनने अपने प्रत्यक्ष सम्प्रेक्षण और मौलिक भावनाके अनुसार 'प्राकृतिक काव्य'को एक नया रूप दिया। कुछ कवियोंने अपनी रचनाओंमें विषाद, रात्रि और समाधिका चित्रण किया। ब्लेक और वर्ड्स्वर्थके पहले भी यद्यपि काव्य-शैलीमें अधिक प्राकृतिक तत्त्व लानेका कोलाहल होता रहा किन्तु उसके कोई अच्छे उदाहरण नहीं मिलते। इङ्गलैन्डके जो गद्य और पद्य दोनोंके स्वैरवादी कवि और लेखक हुए थे, उन्होंने अपना कोई मण्डल भी नहीं बनाया और विचार तथा व्यवहारमें भी परस्पर इतने भिन्न थे कि एक दूसरेको घृणातक करते थे। किन्तु उनमें इतनी बात समान थी कि मिथ्योदात्तवादियोंकी अपेक्षा उनमें स्वतन्त्रता, स्वतःप्रवाह, भावात्मकता और व्यक्तिवादिता अधिक थी और साथ ही रहस्यात्मकता भी थी। जर्मनीमें पूर्व-स्वैरवाद और स्वैरवाद युग दोनों ही जर्मन साहित्यके उदात्त-युगके साथ ही पड़ते हैं। गौटिङ्गन कवियोंका आन्दोलन, झञ्झावाद दोनों स्वैरवादी युगसे पहलेके ही आन्दोलन हैं। किन्तु शुद्ध स्वैरवादी आन्दोलन सन् १७९८ में आया।

यद्यपि फ्रान्समें रूसोने ही पूर्व-स्वैरवादकी नींव डाल दी थी। उसकी शैली, उसके व्यक्तित्व और उसके युगने उसकी कृतियोंको प्रभावशाली भी

बना, दिया था किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिके प्रथम दशकतक भी इस आन्दोलनकी ठीक नींव नहीं पड़ी थी। १८२० से ३० तक ह्यूगोके 'हरनानी'ने फ्रान्समें उदात्तवाद और स्वैरवादके बीच शास्त्रार्थ खड़ा किया। किसी भी देशमें स्वैरवादने उदात्तवादका इतना विरोध नहीं किया जितना वहाँ था। यद्यपि इस विवादका केन्द्र रङ्गमञ्च ही था किन्तु फ्रान्सीसी स्वैरवादी नाटकका कोई स्थायी महत्त्व नहीं रहा। वाल्टर स्कौटके प्रभावसे ऐतिहासिक उपन्यासको कुछ सफलता अवश्य मिली किंन्तु अधिक प्रभाव कविताका ही रहा।

स्वैरवादी प्रवृत्तिकी बहुतसी कृतियाँ पिछली कई शताब्दियोंमें उदात्तवादी साहित्यकी प्राचीन भूमि इटलीमें ही उपस्थित हुईं किन्तु वास्तविक स्वैरवादी आन्दोलन वहाँ नैपोलियनके साम्राज्यके पतनके पश्चात् १८४१ के लगभग प्रारम्भ हुआ। उस समय साहित्य और राजनीति दोनों ऐसे घुल-मिल गए थे कि स्वैरवादीका अर्थ था 'उदार' या 'स्वतन्त्र'। स्पेनमें स्वैरवाद और भी देरसे तथा बड़े बेढङ्गे रूपमें आया क्योंकि कुछको छोड़कर अधिकांश स्वैरवादी कहलानेवाली रचनाओंमें उदात्तवादी या मिथ्योदात्तवादी प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान थीं।

सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वैरवादमें दो उद्गम-तत्त्व हैं— १. बन्धन-मुक्तता और २. मनोवेग। बन्धन-मुक्तताके भीतर व्यक्तिवाद तथा नियमों, शास्त्रों और रूढ़ियोंसे विद्रोह भी आ जाता है और मनोवेगके अन्तर्गत मनका मनःप्रवाह ( स्पौन्टेनिटी ), स्वतः उपचेतन ( सब-कौन्शस ), कलात्मक रचना तथा क्रियाके स्रोत और अन्य विवेक-निरपेक्ष मानव-व्यवहार भी आ जाते हैं, जैसे—जीवन-शक्ति ( लिबिडो ), अन्तःप्रेरणा या प्रातिभ ज्ञान ( इन्ट्यूशन ) तथा रहस्यात्मिका वृत्ति ( मिस्टिकल फ़ैकल्टी )। स्वैरवादी युगमें, विशेषतः फ्रान्समें, चित्रकार, मूर्त्तिकार और सङ्गीतज्ञ भी साहित्यिक स्वैरवादियोंके साथ मिलकर, नियमों और रूढ़ियोंके विरुद्ध विद्रोह करके मनःप्रवाह ( स्पौन्टेनिटी ) और मनोवेगात्मक अभिव्यक्तिके नामपर एक हो गए। वैगनरके सङ्गीत-नाटक जर्मनीके स्वैरवादी सिद्धान्तोंके अनुसार सब कलाओंको एक समझने लगे। पिछली उन्नीसवीं शताब्दिके प्रतीकवादियोंने वैगनरके सम्प्रदायको प्रोत्साहन देते हुए स्वैरवादसे गठबन्धन कर लिया और

राजनीतिमें भी जो बन्धन-मुक्तताकी भावना थी वह भी साहित्यिक स्वैरवादके साथ-साथ चल पड़ी।

बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें लासेयाने स्वैरवादपर यह आपत्ति की कि 'इसने साधारण जनताकी बुद्धि और विवेकको कल्पना और इन्द्रियानुभवतासे पराभूत कर लिया है।' बैबिटका कहना था कि 'कल्पना और मनोभाव सब बुद्धिके अधीन होने चाहिएँ और विवेकके निर्देशानुसार सङ्कल्प-द्वारा इनका सन्तुलन होना चाहिए।' उधर नवस्वैरवादी कहते हैं कि 'यद्यपि आत्मचेतन बुद्धिको छोड़ना और आदिम भोले-भालेपनको स्वीकार कर लेना न उचित ही है न सम्भव किन्तु विवेकी पुरुष और आध्यात्मिक शक्तियोंके बीच विवेकपूर्ण और विवेक-निरपेक्ष मानव-वृत्तियोंका सम्मिलन होना ही चाहिए।' तथ्यातिरकवादी तो 'विवेक' को पूर्णतः तिलाञ्जलि ही देते हैं।

## पूर्व-स्वैरवाद ( फ्रूहरोमान्टिक )

जर्मनीमें पूर्वस्वैरवाद ( फ्रूह-रोमान्टिक ) नामका एक समीक्षा-आन्दोलन चला जिसने कलाको प्रयोजनवाद ( प्रैग्मेटिज़्म ) के चङ्गुलसे मुक्त करके यह घोषणा की कि 'आध्यात्मिक या धार्मिक उपदेशके लिये कलाकी ही रचना होनी चाहिए।' ए० एफ़० बर्नहार्डीने कहा है कि 'कला वास्तवमें इस विश्वका प्रत्यक्षीकरण ( ऑनश्चाङ्ग ) है जो विश्वके समान अनन्त, अपार और सर्वधारिणी है।' इसीलिये फ्रेडरिख़ श्लेगेलने इस आन्दोलनको प्रगतिशील सार्वभौम काव्यवाद ( प्रोग्रैसिव यूनिवर्सल पोएज़ी ) कहा था। प्रारम्भिक स्वैरवादियोंका यह विश्वात्मवाद पीछेके स्वैरवादसे भिन्न था जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारोंने हौख़रोमान्टिक, यूंगेरे रोमान्टिक, बर्लिनेर रोमान्टिक और हीडेलबर्गेर रोमान्टिक कहा है, जिनमें संकुचित राष्ट्रीयतावाद ( जनवाद ) तथा स्थानीयतावाद ( लोकलिज़्म ) तथा अत्यन्त आडम्बरपूर्ण भाविकतावाद ( सेन्टिमेन्टलिज्म ) भी था। यह 'यूनिवर्सल पोएज़ी' अत्यन्त संक्षिप्त होनेके कारण नहीं वरन् प्रतीकात्मक होनेके कारण सर्वग्राहिणी है अर्थात् उनके यहाँ 'निस्सीम' ही 'ससीम' प्रतीक बन जाता है। प्रारम्भिक स्वैरवादी विचारधारामें इस स्वैरवादी विचारका विरोधाभासयुक्त मूल सिद्धान्त यह है कि 'स्वैरवादी कलाकार अपने प्रतीकात्मक संसारमें रहता और उसमें विश्वास करता है और साथ ही निरन्तर जानता भी रहता है कि यह संसार उसकी अपनी कृति है।' इस खुले और वर्द्धमान स्वैरवादी संसारको व्यक्त करनेके

लिये 'उपन्यास ही एकमात्र कलारूप है। इसीलिये स्वैरवादियोंकी कृतियाँ, यहाँतक कि नाटकीय, गीतात्मक या सिद्धान्तवादी दार्शनिक कृतियाँ भी, मुख्यतः उपन्यासात्मक ही रहती हैं।

## नवस्वैरवाद ( रोमान्टिक )

जर्मनीमें १८९० के लगभग नवस्वैरवादका प्रारम्भ हुआ जो १९१० के लगभग अभिव्यञ्जनावाद ( एक्स्प्रेशनिज़्म ) के रूपमें विकसित हुआ। इसके सिद्धान्तमें ही दो विरोधी असङ्गत ( इरैशनल ) रूप थे—१. एक ओर सौन्दर्यवाद, अरस्तूवाली तटस्थता, ह्रासोन्मुखता और पलायनवादिता और २. दूसरी ओर शक्तिकी पूजा, वीरता, रक्त और भूमि तथा जाति और वर्ण-चित्रण भी था। ये लोग कल्पना, चित्रण ( कलर ), स्वप्न और शब्द-सङ्गीतपर अधिक बल देते थे।

## क्रान्तिकारी स्वैरवाद ( रिवोल्यूशनरी रोमान्टिसिज़्म )

रूसमें कुछ दिनोंतक एक ऐसी भावना चलती रही जिसमें स्वर्णिम सोवियतके भविष्यका एक मनोहर चित्र खींचा जाता था।

## मध्यकालीन स्वैरवाद ( मैडीवल रोमांस )

मध्ययुगकी सटीक स्वैरवादी रचनाएँ वे लम्बी कथाएँ हैं जिनमें सामन्त-वादी या कुलीन समाज, वीरताके आदेश, विचित्र साहसपूर्ण यात्राएँ और महिलाओंके प्रेमकी कथाएँ भरी रहती थीं। यद्यपि इस प्रकारकी रचनाओंकी यह परिभाषा ठीक है फिर भी बहुतसे विद्वान् उस प्राचीन फ्रान्सीसी वीर-काव्य, पवित्र कथा, धार्मिक रूपक और यथार्थवादी कहानियोंके लिये भी 'रोमान्स' शब्दका प्रयोग करते हैं जिनमें किसी वीरकी साहसपूर्ण यात्रा या उसका चरित हो।

## स्वीडिश स्वैरवाद ( फ़ौसफ़ोरिज़्म )

जी० नोवालिस, टीक, श्लेगल-बन्धु और शैलिङ्गके सिद्धान्तोंपर स्वीडनसे स्वैरवाद चला। उसके साहित्यिक पत्र 'फौसफ़ोरस'के नामपर वहाँके स्वैरवादका नाम ही 'फ़ौसफ़ोरिज़्म' पड़ गया।

## राष्ट्रीय स्वैरवाद ( गोथिज़्म )

'फ़ौसफ़ोरिज़्म'के साथ साथ स्वेडनमें एक राष्ट्रीय स्वैरवाद चला जिसका नामकरण गोथिक समाज ( १८११ ) के आधारपर हुआ। इसके सदस्य

अपनेको गोटार ( गोथ ) कहते थे और अपने साहित्यकी सामग्री स्वेडन और स्कैन्डिनेवियाके इतिहास और सामाजिक आचरणसे ग्रहण करते थे। गोथिज़्म शुद्ध राष्ट्रीय था और 'फ़ौस्फ़ोरिज्म' शुद्ध विदेशी और दार्शनिक था।

रोदनवाद ( ड्राउन्ड इन टीयर्स )

'रोदनवाद' शब्दका प्रयोग उन प्रारम्भिक स्वैरवादियोंके लिये निन्दाके रूपमें होता था जो जीवनके काँटोंसे बिंधे, रक्तसे लथपथ दिखाई पड़ते थे और इस अज्ञात संसारके भारी और शान्तिपूर्ण भारसे थककर निराशासे भरे हुए दुःखोंके गीत गाते थे। ये लोग जर्मनीमें 'वैल्शमेर्ज़' कहलाते हैं। इन्हें संसारमें चारों ओर दुःख ही दुःख दिखाई पड़ता है इसलिये ये अपनी रचनाओंमें केवल वेदनाके गीत गाते हैं। हिन्दीमें 'प्रसाद' ( 'आँसू'में ) और महादेवी वर्मा ऐसे ही रोदनवादी हैं।

श्मशानवाद ( ग्रेवयार्ड स्कूल )

इङ्गलैन्डमें अठारहवीं शताब्दिमें कुछ ऐसे भी कवि हुए जो 'विवेक'के प्रकाशसे भागकर अन्धकारके धुँधले प्रदेशमें प्रविष्ट हो गए थे। अत्यन्त दुःखपूर्ण उदासीमें ही इनका मन लगता था। इस प्रवृत्तिकी पूर्ण अभिव्यक्ति गोथिक उपन्यासोंमें हुई है। यही भाव स्वैरवादियोंमें कोमल होकर आया जिन्होंने कहा—'वे ही मधुतम गीत हमारे, जिनमें पूरित कथा व्यथाकी।'[१] ( अवर स्वीटेस्ट सौंग्स आर दोज़ दैट् टैल् ऑफ़ सैडेस्ट थौट्स। ) यद्यपि फ्रान्सीसी स्वैरवादियोंको लोगोंने 'रोदनवादी' ( ड्राउण्ड इन टीयर्स ) कहकर उनकी खिल्ली उड़ाई है किन्तु शोकाकुलता और मृत्युकी भावना अँगरेज़ी काव्यमें भी कम नहीं है। उनके नैतिक नाटक (मौरिलिटी प्लेज़), जैकेबियोंकी औपचारिक ( फ़ैशनेबिल ) शोकावेगता और उदासी, पवित्र मृत्युपर लेख, औगस्टियोंका एकान्त-सेवन और समाधि, बायरनका निराशावाद, कौलरिज, शेली और कीट्सकी निराशावादिता आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ये सब लोग संसारसे ऊबे हुए, चारों ओर दुःख ही दुःखका दर्शन करते थे। हिन्दी साहित्यमें इन्हींके प्रभावसे छायावादियोंका रोदनवाद चला।

मरणकलावाद ( आर्स मोरिएन्दी )

चौदहवीं शताब्दिमें सम्पूर्ण योरोपमें एक प्रकारका काव्य लिखा जा रहा था 'भली प्रकार मरनेकी कला'पर। यह सब प्रयास उन साधारण प्राणियोंके सन्तोष और पथ-प्रदर्शनके लिये किया जा रहा था जो उस युगमें थे जब चारों

ओर जीवनमें भी, कलामें भी मृत्यु ही दिखाई पड़ती थी, और जिस समय मध्यकालीन धर्मोपदेशक भी मृत्युके दुःख और नरककी यातनाका लोमहर्षक भाषामें चित्रण करते थे। यद्यपि इस साहित्य इसका उद्गम अभीतक ज्ञात नहीं हो सका किन्तु कुछ लोगोंका मत है कि 'इसका आधार लातिन पुस्तक 'दे आर्त्ते मोरिएन्दी,' आदि हैं। इन सब ग्रन्थोंकी सामग्री मध्यकालीन पादरियोंके लेखोंसे सङ्गृहीत की गई हैं। इन पुस्तकोंमें चाहे विषय विस्तारसे हो या संक्षेपमें किन्तु वह मोटे रूपसे तीन भागोंमें विभक्त था—१. मृत्युका प्राकृतिक विश्लेषण, उसके सङ्कट, मृत्युके समय आत्माकी पाँच वासनाएँ (अविश्वास, निराशा, अधैर्य, अहङ्कार और लोभ)। २. मरणासन्न प्राणीके लिये प्रश्न और आदेश : रोगको घातक समझकर रोगीको प्रार्थनाके साथ ईसाकी दयापर ध्यानावस्थित होना चाहिए, पवित्र आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिए, संकल्प-पत्र लिख देना चाहिए, पश्चात्ताप करना चाहिए और अपना विश्वास व्यक्त कर देना चाहिए। ३. मरणासन्न व्यक्ति और उसके मित्रों-द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाएँ और कामनाएँ। पन्द्रहवीं शताब्दिका यह 'मरणकला-साहित्य' सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दिका लोकप्रिय भक्ति-साहित्य हो गया।

### आशावाद (ऑप्टिमिज़्म)

यह निराशावादका ठीक उलटा है। आशावादी लेखक किसी युगकी किसी प्रकारकी प्रवृत्ति या प्रतिक्रियासे निराश नहीं होता और सदा यह विश्वास करता है कि दुःख, निराशा, असफलता, विक्षोभ तथा ह्रासका युग अवश्य समाप्त होगा और मानवता पुनः सुख और कल्याण प्राप्त करेगी। इन लोगोंका सिद्धान्त है—

हारिए न हिम्मत बिसारिए न हरि नाम।
जाही बिधि राखै राम वाही बिधि रहिए॥

इसीलिये 'आशावादी' लोग 'सन्तोषवादी' या 'मस्तवादी' कहलाते हैं। भारतीय काव्य पूर्णतः आशावादी है इसीलिये 'सुखान्तवादी' अर्थात् 'मधुरेण समापयेत्'का पक्षपाती है।

### अभिचारवाद (डायबौलिज़्म)

अभिचारवाद (डायबौलिज़्म) अर्थात् जादू-टोनेवाली कृतियाँ तीन प्रकारकी मिलती हैं—१. जिनमें जादू या अभिचारके सिद्धान्त और व्यवहारका

प्रयोग लिखा रहता है, जैसे मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंम्भन आदिके प्रयोगोंकी पुस्तकें। २. जिनमें इतिहास या जादूकी बातोंका और जादू हटानेका विवरण होता है। ३. रचनात्मक साहित्य, जिनमें जादूका प्रयोग या यातुवादकी अभिव्यक्ति होती है। इन रचनात्मक ग्रन्थोंमें प्रायः भूत-प्रेत, पिशाच, यक्ष, डाकिनी, शाकिनी आदिकी पूजाका ही विषय रहता है। जो शुद्ध यातुवादी ग्रन्थ हैं उनमें दोष या पापके साथ सहानुभूति दिखलाई जाती है और इन भूत-प्रेत, पिशाच और शैतानोंकी लीला दिखलानेके लिये रोमाञ्चकारी घटनाओंके प्रति विश्वास जमाया जाता है।

### यातुवाद ( डैमोनिज़्म )

यह अभिचारवादका ही दूसरा नाम है।

### शैतान-सम्प्रदाय ( सैटनिक स्कूल )

सदेने अपने 'निर्णयका दृश्य' ( विज़न औफ़ जज्मेन्ट, १८२१ ) की भूमिकामें इङ्गलैण्डके पवित्र और धर्मात्मा लेक-स्कूलके कवियोंका पक्ष लेते हुए बायरन, शेली आदिको अनैतिक लेखक बताते हुए कहा कि 'उनका हृदय गलित और उनकी कल्पनाएँ विकृत थीं।' फ्रान्समें पौलदेकोक जौर्ज सौन्ड और ह्यूगो आदिको शैतान-सम्प्रदायवादी और हुइस्माँ, बौदेलेया तथा उनके साथियोंको यातुवादी ( डायबौलिस्ट ) कहते हैं।

### परदेशवाद ( ऐग्ज़ौटिसिज़्म )

परदेशवादका अत्यन्त सङ्कुचित अर्थ है 'अन्य देशों और अन्य जातियोंके विषयमें विशेष उत्सुकता व्यक्त करना।' सर्वदेशवाद ( कौस्मोपौलिटनिज़्म ) से यह भिन्न है क्योंकि यह मनुष्योंकी एकताके बदले उनकी भिन्नताका समर्थक है। अधिक व्यापक दृष्टिसे इसे भी एक विशेष प्रकारका पलायनवाद समझ सकते हैं क्योंकि इसमें अपनी परिस्थितियोंसे पलायन करनेकी प्रवृत्ति-मात्र नहीं है। यूनानी साहित्यमें यह परदेशवादी प्रवृत्ति ओदीसीसे प्रारम्भ होती है और हीरोडोदससे लेकर लूशियनतक और तासितसकी 'जर्मनी' नामक रचनातक चलती है। फ्रांसीसी साहित्यमें सब कालोंमें इसके उदाहरण प्राप्त हैं। सोलहवीं शताब्दिकी भौगोलिक खोजों तथा संसारकी आदिम जातियोंके प्रति बढ़ती हुई रुचि तथा पूर्वीय देश नके प्रति अधिक प्रवृत्त सत्रहवीं शताब्दिमें समीपवर्ती

पूर्वकी ओर और अठारहवीं शताब्दिमें रूसोने 'सज्जन जङ्गली' की पुकार मचाकर इस भावनाको चरमोत्कर्षतक पहुँचा दिया। वौल्तेया तथा अन्य लेखकोंने अनेक कल्पित और सत्य यात्रा-कथाएँ लिखीं, यहाँतक कि उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तमें यह 'परदेशवाद' लेखकोंका अत्यन्त प्रिय विषय हो गया। यह रीति स्वैरवादी युगतक सब देशोंमें चलती रही और बीसवीं शताब्दिमें भी यह प्रवृत्ति कम नहीं हो पाई। सन् १९०० के पश्चात् किप्लिङ्गके प्रभावसे फ्राँसीसी लोग अपने उपनिवेशोंकी जनताके जीवनका विवरण लिखने लगे। १९१९ के पश्चात् यह परदेशवाद फिर सम्पूर्ण पृथ्वीपर व्याप्त हो गया और अनेक उपन्यास तथा यात्राएँ लिखी जाने लगीं। यह परदेशवाद आगे चलकर अन्तर्ग्रहवादतक अर्थात् मङ्गल आदि ग्रहोंके निवासियोंसे सम्बन्ध जोड़नेकी बात भी सोचने लगा।

इस परदेशवादके बहुतसे रूप दिखाई पड़ते हैं—१. चित्रमय परदेशवाद, जिसमें किसी जातिके लोगोंके रहन-सहन, रीति-रिवाज, दृश्य-वर्णन और विचित्रताओंके वर्णनकी बात रहती है। २. दार्शनिक परदेशवाद, जिसमें अपनी सभ्यता तथा किसी दूसरे देशकी या कल्पित जातिकी सभ्यतासे तुलना की जाती है। ३. मनोवैज्ञानिक परदेशवाद, जिसमें किसी दूसरे देशके व्यक्तिका मानसिक रहस्य समझनेका प्रयास किया जाता है। इस परदेशवादकी झोंकमें बहुतसे लेखकोंने तो अनेक जातियों और देशोंकी भी कल्पना कर डाली है।

### कलार्थे कला (आर्ट फ़ौर आर्ट्स सेक)

बहुत पहलेसे ही योरोपमें यह माना जाने लगा था कि 'कलाका उद्देश्य उपदेश देना है' अर्थात् 'काव्यकी सृष्टि उपदेशके लिये होनी चाहिए।' किन्तु स्वैरवादियोंने यह कहना प्रारम्भ किया कि 'कविताका उद्देश्य आनन्द देना है।' वर्ड्स्वर्थने अपने 'लिरिकल बैलेड्स'की भूमिकामें कहा कि 'कवि केवल एक ही बन्धनके साथ लिखता है और वह यह है कि वह मनुष्यको तात्कालिक आनन्द दे सके।' गेटेने भी कहा कि 'कोई महान् रचना हमें शिक्षा नहीं देती वरन् हमें परिवर्त्तित करती है।' ऐलेन पोने तो स्पष्ट रूपसे घोषणा ही कर दी कि 'काव्यका उद्देश्य उपदेश देना नहीं है। कविता तो कविताके लिये ही लिखी जाती है।' उसने कहा—'मनुष्यका अन्तिम उद्देश्य प्रसन्नता प्राप्त करना है। शिक्षा तो केवल उस प्रसन्नताकी ओर

पथ-निर्देश-मात्र करती है किन्तु कला उस प्रसन्नतातक पहुँचा देती है ।' ये सब व्यक्ति जो काव्यका उद्देश्य उपदेश देना न मानकर आनन्द देना मानते थे, ये सब 'कलार्थ कला'वादी कहलाते हैं । इनमेंसे बौदेलेयाने कहा—'संसारकी सब वस्तुएँ स्वभावत: बुरी हैं अत: प्रत्येक युगमें मानवताको ऐसे कलाकारों और महापुरुषोंकी आवश्यकता पड़ी जो सन्मार्ग प्रदर्शित करें । ऐसे सन्मार्गके लिये आजतक जितने सदादर्श प्रस्तुत किए गए हैं उसका श्रेय कलाको ही है ।' औस्कर वाइल्ड आदिने इसी विचारको समुन्नत करते हुए कहा—'मानव-जीवन सदा कलाका अनुकरण करनेका प्रयत्न करता है और कला ही जीवनके लिये मानदण्ड स्थिर करती है ।' वाल्टर पेटरने एक पग और आगे बढ़कर कहा कि 'जीवनको ललित कलाके रूपमें ही व्यतीत करना चाहिए ।' रेमी द गोर्मोंने और भी आगे बढ़कर कहा कि 'कलाको व्यष्टि या समष्टिकी समुन्नति करनेवाला मानना वैसा ही है जैसे गुलाबके फूलको इसलिये श्रेष्ठ समझना कि उससे गुलाबजल निकालकर लोग अपनी आँखें अच्छी करते हैं ।' बीसवीं शताब्दिमें अधिकांश उदारतावादी लेखक 'कलार्थ कला'का ही नारा लगाने लगे क्योंकि यह एक ऐसी अच्छी ओट थी जिसके पीछे वे अपनी सब अज्ञानता छिपा सकते थे । ए० सी० ब्रेडलेने इस सिद्धान्तके प्रयोगको व्यवस्थित रूपमें रखनेका प्रयत्न किया और सन् १६३३ में टी० एस्० ईलियटने स्पष्ट कह दिया कि 'यह अत्यन्त भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है, इसका हल्ला बहुत है किन्तु इसका व्यवहार कोई नहीं करता ।'

### उद्धत शैलीवाद ( बारोक )

अठारहवीं शताब्दिमें उदात्तवादी समीक्षकोंने अपनेसे पहली शताब्दियोंकी उदात्तवादिता-विहीन प्रवृत्तिको उद्धत शैली ( बारोक ) कहकर उसकी निन्दा की थी । उद्धत शैली ( बारोक ) वह शैली मानी जाती है जो अनिश्चित और अपरिमितको लक्ष्य बनाकर निश्चितका परित्याग करती है, जो गतिशीलताके लिये समरूपता, सुसङ्गतता और अनुपातका परित्याग कर देती है, जो विरोधात्मक और विस्फोटात्मक तत्त्वोंके प्रयोगको अधिक उपयुक्त समझती है, जो सनक-भरे, आश्चर्य-जनक, खेल-भरे, अप्रयुक्त, कठोर ध्वनिवाले और ऊर्मिमय भाषा-प्रयोगको अधिक श्रेष्ठ समझती है । तदनुसार बारोक-वादीकी पहचान है कि 'वह असन्तुलित हो, कामुकता और आध्यात्मिकताके बीचमें लड़खड़ाता हो, माया और मृत्युके बीचमें उलझा हुआ हो और

अत्यन्त तीव्र आवेगोंसे परिचालित होकर अव्यक्त और अप्राप्यके लिये समुत्सुक रहता हो।'

### आदर्शवाद ( आइडियलिज़्म )

कोई भी साहित्यिक कृति या उसका रचनाकार तब आदर्शवादी कहलाता है जब वह ( क ) नैतिक और सौन्दर्यात्मक महत्त्वोंका प्रदर्शन करे और उनकी आवश्यकता बतावे या ( ख ) अपने विषयके लिये मनुष्यके आध्यात्मिक पक्षको और भौतिक जीवन और मृत्युसे परे उसके प्रत्यक्षत: अलौकिक और विश्वजनीन महत्त्वको ग्रहण करे। इस अर्थमें यह प्रकृतिवादका उलटा है। या ( ग ) अपने पात्रोंका इस प्रकार चित्रण करे कि उनके श्रेष्ठ और उदात्त गुणोंका तो प्रदर्शन हो किन्तु उनके साधारण तथा भद्दे दोषों और दुर्गुणोंकी उपेक्षा हो। इस दृष्टिसे यह यथार्थवादका विरोधी है। ( घ ) ऐसी कथावस्तु ग्रहण करे जिसके अन्तमें भविष्यके लिये विश्वास और आशा व्यक्त की गई हो। इस अर्थमें यह आशावादसे कुछ-कुछ मिलता-जुलता है।

किन्तु यह शब्द 'ख' और 'ग' भावोंमें ही विशेषत: उन्नीसवीं शताब्दिके प्रतीकवादी आन्दोलनके कुछ पक्षोंके लिये, प्रयुक्त होता है क्योंकि प्रकृतिवादी और यथार्थवादी सम्प्रदायोंकी प्रतिक्रिया इसमें है। किसी समीक्ष्यवादी या समीक्षाके सिद्धान्तको आदर्शवादी कहनेका तात्पर्य यह है कि वह किसी साहित्यिक कृतिके भावों और 'वैल्टानशवाँग' अर्थात् उस कृतिके सौन्दर्यात्मक मूल्याङ्कनके लिये उस कृतिके स्पष्ट और परिज्ञातव्य विषयोंको ही ग्रहण कर रहा है।

### यथार्थवाद ( रीयलिज़्म )

जब किसी वस्तु या विषयका अध्ययन उसके मानव-अनुभूतिमें आनेवाले प्रत्यक्ष रूपसे भिन्न स्वतन्त्र रूपसे किया जाता है वह 'यथार्थवाद' कहलाता है। दर्शनमें इस शब्दका प्रयोग दो अत्यन्त भिन्न रूपोंमें तथा साहित्यिक और गतिशील कलाओंमें एक विशेष प्रकारसे किया जाता है। रूढित: 'यथार्थवाद' शब्दका दार्शनिक अर्थ यह है कि 'सार्वभौम तत्त्व उन सब वस्तुओंसे भिन्न और स्वतन्त्र है जिनका वह अङ्ग होकर दिखाई पड़ता है।' यह सिद्धान्त सबसे पहले प्लेटोने प्रवर्त्तित किया। यह उस नामवाद ( नौमिनलिज़्म ) का विरोधी है जिनका यह कहना है कि 'सम्पूर्ण सार्वभौम या तो तत्त्व-नाम रूपमें या मस्तिष्कमें साधारण विचार-मात्र

होकर रहते हैं।' मध्यकालीन दार्शनिकोंने इन सार्वभौम तत्त्वोंपर विशेष रूपसे बड़ा वाद- विवाद चलाया।

ज्ञान-सिद्धान्तमें यथार्थता या यथार्थवादका तात्पर्य है कि 'हम अपने इन्द्रियानुभवसे वस्तुओंके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बाह्य रूपोंका ही परिज्ञान कराते हैं।' इस यथार्थवादके तीन सम्प्रदाय हैं—१. समीक्षात्मक यथार्थवाद, २. नवयथार्थवाद और ३. स्वाभाविक यथार्थवाद। किन्तु एक बातमें सभी सहमत हैं कि मानव-अनुभूतिमें आनेवाले सब विषयोंमें अनुभूतिकी स्वतन्त्रता होती है। ज्ञानवादी आदर्शवादसे इस सिद्धान्तकी तुलना करनेपर परिणाम निकलता है कि 'किसीके मानसमें ज्ञानकी जो छाया पड़ती है वही वास्तविकता है। आदर्शवादकी भी अनुभूति वैसी ही होती है जैसे वास्तविकता या यथार्थवादकी अनुभूति, कमसे कम अपने अस्तित्वके लिये वह भी अनुभवपर अवलम्बित रहता है। दूसरी ओर, यथार्थवाद मूलतः सत्यके सिद्धान्तपर ही अवलम्बित है जिसके अनुसार वे ही इन्द्रिय-ज्ञान सत्य हैं जो पूर्वप्रस्तुत वास्तविकतासे मिलते-जुलते हैं। आदर्शवादका सम्बन्ध सत्यके सिद्धान्तकी सङ्गततासे है जिसके अनुसार वे इन्द्रिय-ज्ञान वास्तविक हैं, भ्रम नहीं, जो अन्य इन्द्रिय-ज्ञानोंके साथ सङ्गत और सार्थक प्रतीत होते हैं।

साहित्यिक समीक्षामें इस शब्दका प्रयोग 'आदर्शवाद' और 'स्वैरवाद'के विरोधमें उन साहित्यिक कृतियोंके लिये किया जाता है जिनमें वास्तविक जीवनका वास्तविक चित्रण किया जाता है और जिनके विषय वास्तविक संसारसे लिए जाते हैं। यथार्थवादी लेखक वही है जो चित्र (फोटोग्राफ़) या सम्वाददाताके समान कलाहीन नग्नताके साथ अपने विषयका विवेचन करता है और उसमें अपना मत या अपनी अन्तर्भावनाओंका तनिक भी सन्निवेश नहीं करता। इस सम्प्रदायके दार्शनिक और लेखक यह विश्वास करते हैं कि सत्यकी प्राप्तिके लिये शुद्ध बाह्य दृष्टिकोण स्वीकार करना भी सम्भव है, इसलिये यथार्थवादी साहित्यमें निम्नलिखित बातें देखी जाती हैं—क. स्थानीय दृश्य तथा जनताका परिचय, ख. तत्कालीन घटनाओं और आचार-विचारोंका विवरण, ग. कथासे चाहे जितना कम सम्बन्ध हो फिर भी उसमें आए हुए स्थानों और व्यक्तियोंका सूक्ष्म वर्णन, घ. लोकभाषा और उनकी फूहड़ उक्तियोंका स्पष्ट और ज्योंका त्यों

प्रयोग, ङ. व्यवहार और विज्ञानके लिये पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग, च. वर्णनीय घटनाओंमें कार्य-कारण-सम्बन्धका रूपक देनेके लिये पत्रों, लेखों तथा पुस्तकोंका उल्लेख।

यथार्थवादका प्रयोग विशेष रूपसे प्रकृतिवादके साथ उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दिके उन उपन्यासोंके लिये भी किया जाता है जिन्होंने यथार्थवादी साहित्यका व्यवहार किया या यथार्थवाद चित्रण करनेकी प्रतिज्ञा की। अब तो यथार्थवाद और प्रकृतिवाद एक दूसरेमें घुल-मिल गए हैं। शुद्ध रूपसे यथार्थवाद उन्हीं लेखकोंमें मिलता है जो अपने ग्रन्थोंमें पूर्ण बाह्यता उपस्थित करनेमें सफल होते हैं।

स्वैरवादके समर्थकोंने यथार्थवादपर बड़ा आक्षेप किया है। स्टीवेन्सनने यथार्थवादी पुस्तकोंकी शुद्ध दृश्यात्मक वास्तविकताकी चर्चा करते हुए कहा है कि 'ये सब सत्य तो हैं किन्तु सभी अविचारणीय हैं क्योंकि कोई भी मनुष्य बाह्य सत्य अर्थात् नमक और एसिडमें नहीं निवास करता वरन् उष्ण मस्तिष्कके कल्पनात्मक भवनमें रहता है जिसकी खिड़कियाँ रँगी हुई और दीवारें ऊँची होती हैं।' उसने यह भी कहा है कि 'यह वास्तविक सत्य वर्णनके बदले एक लेखन-कौशल-प्रणाली-मात्र है।' आजकल उपन्यासोंमें इसीकी धूम है।

## अतियथार्थवाद ( अल्ट्रारियलिज़्म )

जब कोई लेखक या कलाकार अपनी कृतिमें आवश्यकतासे अधिक यथार्थवाद लानेका और जीवनकी वास्तविकता प्रदर्शन करनेका प्रयत्न करता है तब उसे अति-यथार्थवादी कहते हैं।

## औपन्यासिक यथार्थवाद ( वैरिटिज़्म )

उपन्यासोंके यथार्थवादको ( वैरिटिज़्म ) कहते हैं। इस शब्दका प्रयोग १८६० में बड़ी घृणाके साथ किया गया था किन्तु यथार्थवादियोंने इसे स्वीकार कर लिया और कहा कि 'तथ्यसे प्रमाणित व्यक्तिगत भावनाकी सत्य अभिव्यक्ति करना ही यथार्थवादीका उद्देश्य है।' यथार्थवादियोंकी रचनाओंमें अपने समयके वास्तविक व्यक्ति और घटनाएँ भी कल्पित व्यक्तियों तथा घटनाओंके साथ मिला ली जाती थीं जिनमें कुछ अंश प्रामाणिक और कुछ लेखककी कल्पना होती थी।

**काव्यतथ्यवाद ( पोइटिक रीयलिज़्म )**

निराशावाद तथा कारणवादी प्रकृतिवाद ( डिटर्मिनिस्टिक नेचुरलिज़्म ) के विरुद्ध १८४० से ८० तक जर्मनीमें कैलर, स्टिफ़लर, हैबेल, लुडविग, फ्रेटाग और हैसेने जो आदर्शवादी या आशावादी रचनाएँ कीं उन्हींका सिद्धान्त काव्यतथ्यवाद कहलाता है ।

**चेतनाधारा ( स्ट्रीम ऑफ़ कौन्शसनेस )**

विलियम जेम्सका मत है कि 'मनकी क्रियाओंकी एक अविरल और विषम धारा बहती चलती है जिसमें अनेक भाव अत्यन्त असङ्गत और असम्बद्ध ढङ्गसे आते-जाते हैं ।' इसीका वर्णन करते हुए डौनने कहा है कि 'जिस समय मैं प्रार्थना करता हूँ उस समय मेरे मनमें कलके आनन्दकी, आगे आनेवाले संकटोंके भयकी, घुटनेके नीचे आई हुई सींककी, कानमें कहींसे आए हुए स्वरकी, आँखमें आई हुई चकाचौंधकी और इस प्रकारकी न जाने कितनी ऊल-जलूल बातें आती रहती हैं ।' यही चेतनाधारा है । इस सिद्धान्तके अनुसार जेम्स ज्वायसने १९२२ में 'यूलिसिस' नामका उपन्यास लिखा । उस उपन्यासमें लेखकने अत्यन्त असम्बद्ध और असङ्गत विचार भी कथाकी मुख्य धारामें बीच-बीचमें जोड़ दिए, यहाँतक कि यूलिसिसके अन्तमें श्रीमती ब्लूमके मस्तिष्कमें विराम-चिह्नहीन एक ऐसा लम्बा वाक्य आता है जो बयालीस पृष्ठोंतक चलता है । ऐसे वर्णनोंमें घटनाका महत्त्व नहीं होता वरन् चरित्रोद्घाटन तथा जीवनका विश्लेषण अधिक होता है । इस दृष्टिसे यह 'चेतनाधारा' का सिद्धान्त ही सम्पर्कवाद ( एसोसिएशनिज़्म ) का आधार है ।

**सम्पर्कवाद ( एसोसिएशनिज़्म )**

सम्पर्कवादका मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि 'हमारी मानसिक चेतन सामग्री सरल परमाणु-तत्त्वोंमें विभक्त की जा सकती है । इन तत्त्वोंके क्रम और सम्बन्ध मनमें जिस प्रकार रहते हैं उन्हें पूर्ण रूपसे या अधिकांशत: 'भावसम्पर्क' ( एशोसिएशन ऑफ़ आइडियाज़ ) के सिद्धान्तसे समझाया जा सकता है कि जो भाव-समूह एक साथ बार-बार अनुभव किए जाते हैं उनमें परस्पर एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जिसके कारण जब एक भाव मनमें आता है तब उससे सम्बद्ध दूसरा भाव भी आ खड़ा होता है ।' यह सम्पर्कवादका सिद्धान्त सर्वप्रथम हार्टले और ह्यूमने प्रवर्त्तित किया था जिसे पीछे ब्रिटिश प्रत्यक्षानुभववादियों ( एम्पिरिसिस्ट्स ) ने आगे

बढ़ाया और आदर्शवादियों, प्रयोजनवादियों तथा गेस्टाल्टी मनोविज्ञान-वादियोंने जिसका खण्डन किया। इन सम्पर्कवादियोंने यह भी बतलानेका प्रयत्न किया कि क्यों कुछ इनी-गिनी वस्तुएँ ही हमें सुन्दर प्रतीत होती हैं—दूसरी नहीं होतीं। उन्होंने बताया कि 'किसी वस्तुका सौन्दर्य एक आन्तरिक अनुभव है जो उन्हीं वस्तुओंके गुणोंके सम्पर्कसे उद्बुद्ध होता है जिनमें हमारी इच्छाओं या रुचियोंको सन्तुष्ट करनेवाले गुण उपस्थित हैं। 'चेतनाधारा-वादी' लेखकोंने इस बातका बड़ा प्रयोग किया है कि 'हम जितना कुछ विचार करते हैं वह सब या तो परस्पर सम्बद्ध है या उन विचारोंसे सम्बद्ध है जिनके साथ वे पहले अनुभूत हो चुके हैं।'

**मनोविश्लेषणवाद ( साइको-ऐनेलिसिस )**

सिगमन्ड फ्रौयड ( १८५६ से १९३९ ) ने कहा है कि 'हमारी मानसिक प्रक्रियाओंके तीन आधार हैं—१. चेतन मन, जिसमें हमारी मूल प्रेरणाएँ और दबी हुई तथा अतृप्त व्यक्तिगत इच्छाएँ पड़ी रहती हैं। २. आन्तरिक संयम, जो हमारी सब प्रेरणाओंपर लगे हुए सामाजिक बन्धनको समझकर असामाजिक प्रेरणाओंको दबा देता है और उन्हें समाज-द्वारा मान्य अभिव्यक्तियोंके रूपोंमें प्रकट होनेके लिये उदात्त बना देता है। इन्हीं अभिव्यक्तियोंमेंसे एक कला भी है। ३. एक मौलिक कामवासना या प्रेरणाशक्ति (लिबिडो ), जिसे बर्नर्ड शौने 'जीवन-शक्ति' कहा है, जिसकी गतिमें यदि बाधा आ जाय तो उससे अनेक प्रकारके कुसंस्कार जैसे माताके प्रति काम-भावना ( ओडिपस कौम्प्लेक्स ) अथवा उन्माद आदि जीवन-विध्वंसकारी रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

यूङ्गने दो प्रकारके मनुष्य बताए हैं—१. अन्तर्मुखी ( इन्ट्रोवर्ट ) और २. बहिर्मुखी ( एक्ट्रावर्ट )। जो लोग समाज, राजनीति आदि क्षेत्रोंमें काम करनेवाले होते हैं वे बहिर्मुखी और जो लोग एकान्त-विचारक, कलाकार आदि होते हैं वे अन्तर्मुखी। मनोविज्ञानके आचार्योंने जहाँ मनुष्यके व्यक्तित्वकी चर्चा की है वहाँ बताया है कि 'मनुष्यके मानसिक विकासपर घरका वातावरण, सामाजिक स्थिति, माता-पिता अभिभावक या गुरुका व्यवहार, सङ्गति, आर्थिक स्थिति, रोग तथा आकस्मिक घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ता है।' अतः बहुतसे लोगोंने अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी भेदको अस्वीकार करके इन उपर्यङ्कित दशाओंको ही व्यक्तित्वके विकासका आधार माना है। इन लोगोंका मत है कि

'बाह्य परिस्थितियाँ ही इस प्रकार मनको मथती हैं कि मनुष्यका मन उनका दबाव सहन न करनेके कारण साहित्यके रूपमें फूट पड़ता है।'

फ्रौयडने इसे दूसरे प्रकारसे समझाया है। उसने स्नायविक रोगोंसे पीड़ित व्यक्तियोंकी चिकित्साके लिये मनोविश्लेषणात्मक उपाय बताते हुए कहा कि 'प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रेरक शक्ति ( लिबिडो ) या काम-प्रेरणा (सेक्स ड्राइव) होती है जो हमारे मानसिक जीवन ( मन ) के विस्तृत अचेतन क्षेत्रसे उत्पन्न होती है। हमारा पूर्ण व्यक्तित्व या आत्मत्व ( सेल्फ़ ) तीन शक्तियोंसे समन्वित है—१. 'आदिम पशु प्रवृत्ति' ( इड ), जो हमारे अचेतनमें विद्यमान रहती है और हमारी प्रेरणा-शक्ति ( लिबिडो ) को सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करती है। २. 'विवेक' ( ईगो ) अर्थात् हमारी शक्ति, जो पशु-प्रवृत्तियोंपर शासन करती है और उन्हें दबाकर अचेतनमें ढकेल देती है किन्तु साथ ही कुछ पशु-प्रवृत्तियोंको व्यक्त भी होने देती है। ३. धर्म-बुद्धि ( सुपर ईगो ), जिसे नैतिक भावोंका निधान समझना चाहिए। यही अवरात्मा ( कौन्शन्स ) है जो हमारे 'विवेक' ( ईगो ) को प्रेरणा देकर मनकी असामाजिक प्रवृत्तियोंको दबानेका आदेश देता है। इस प्रकार धर्म-बुद्धि ( सुपर ईगो ) तथा पशु-प्रवृत्ति ( इड ) में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है, जिसे हमारा 'विवेक' ( ईगो ) सुलझाता चलता है। यही अचेतनका सिद्धान्त मनोविश्लेषणका मूल सिद्धान्त है। इसी अचेतनको कुछ लोगोंने अचेतन मन भी माना है। फ्रौयडका मत है कि 'हमारे मानसिक जीवनके तीन भाग हैं—१. चेतन ( कौन्शस ), २. पूर्वचेतन ( प्री-कौन्शस ), ३. अचेतन ( अनकौन्शस )। इनमेंसे चेतनका क्षेत्र बहुत छोटा होता है। इसमें केवल उतने ही विचार और भाव आते हैं जो किसी एक समय हमारे ध्यानमें रह पाते हैं। यह चेतन क्षण-क्षणपर बदलता रहता है। किन्तु हमारे मनमें और भी बहुत-सी सामग्री जुटी रहती है जिसे स्मृतिके द्वारा हम चेतनमें उपस्थित कर लेते हैं। यही जुटी हुई सामग्री 'पूर्व चेतन' कहलाती है जो केन्द्रित चेतनसे अस्थायी रूपसे थोड़े समयके लिये हट जाती है। इन दोनोंसे भिन्न हमारा अचेतन मन है जो विस्तृत भाण्डार है, जिसमें हमारी समग्र आदि-प्रवृत्तियाँ और प्रयास भरे हुए हैं। यह अचेतन हमारे सामाजिक जीवन ( मन ) को बहुत प्रभावित करता है। इसके द्वारा केवल असंख्य अनैतिक तथा असामाजिक भावनाएँ निरन्तर चेतनामें आती रहती हैं किन्तु 'विवेक' उन्हें वहीं दबा देता है। इससे द्वन्द्व उत्पन्न होता है

और यदि यह द्वन्द्व अधिक गम्भीर हो जाता है तो ये ही दबी हुई असुन्दर भावनाएँ, इच्छाएँ, स्मृतियाँ स्वप्नके रूपमें भी प्रकट होती हैं क्योंकि निद्रामें हमारा विवेक ( ईगो ) ढीला पड़ जाता है, इसलिये दबी हुई इच्छाएँ और विचार स्वप्न बनकर चेतनमें आ धमकते हैं जिनमेंसे अधिकांश हमारी काम-वासनासे सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आदिम पशु-प्रवृत्ति और जीवनकी वास्तविकताके बीच उत्पन्न हुई असङ्गतिको सुलझानेका जो प्रयत्न करता है उसे ही 'दमन' ( डायनैमिज़्म ) कहते हैं। इसके द्वारा वह अस्वीकरणीय भावनाओंको चेतनामें आनेसे रोक देता है। दूसरा उपाय है संस्कार या उदात्तीकरण ( सब्लिमेशन ), जिसके द्वारा हमारी प्रेरणा-शक्ति ( लिबिडो ), समाज-द्वारा समर्थित प्रवृत्तियोंकी ओर मुड़ जाती है जैसे सुव्यसन, ( हौबी ), सामाजिक उत्सवादि, कला, कविता, धर्म-कार्य, भोज, नाटक आदि।'

फ्रौयडके शिष्य एल्फ्रेड ऐडलरने कहा है कि 'फ्रौयडने कामशक्तिको जो इतना महत्त्व दिया है वह ठीक नहीं है और चेतन तथा अचेतनके बीच जो भेद किया है वह भी अनुपयुक्त है।' ऐडलरका मत है कि 'मनुष्यकी मूल प्रेरणा-शक्ति ( बेसिक अर्ज ) वास्तवमें लोकैषणा (सेल्फ़ ऐसर्शन) या बड़प्पन प्राप्त करनेकी इच्छा ही है।' जब इस बड़प्पन प्राप्त करनेमें बाधा आती है तब मनुष्य अपनेको हीन समझने लगता है जिससे उसमें आत्महीनताकी भावना ( इन्फ़ीरिऔरिटी कौम्प्लैक्स ) आ जाती है। अपनी इस हीनताको पूर्ण करनेके लिये मनुष्य अन्य उपायोंका अवलम्बन लेता है। यदि यह पूर्त्तिका कार्य समाज-विरुद्ध हो तो स्नायविक रोग हो जाते हैं। ऐडलरका मत है कि 'काम-वासनाके दमनसे नहीं वरन् आत्म-महत्ता ( सेल्फ़-एसर्शन ) की पूर्त्ति न होनेसे ही स्नायविक रोग होते हैं।'

तीसरे मनोविश्लेषणशास्त्री यूङ्गने विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान चलाया है। उसका कहना है कि 'प्रेरणाशक्ति (लिबिडो) के अनेक रूप होते हैं। बालकमें वह भूखके रूपमें रहती है और फिर यही बड़ा बननेकी या कामवासनाकी शक्ति बन जाती है।' इसका मत है कि 'हमारे अचेतनमें केवल अनैतिक तथा पशुवृत्तियाँ ही नहीं, वरन् नैतिक या धार्मिक वृत्तियाँ और भाव भी रहते हैं।' इसी आधारपर यूङ्गने अन्तःवृत्ति और बाह्यवृत्तिके अनुसार मनुष्यके भेद किए और बताया कि 'एक सामूहिक अचेतन ( कलेक्टिव अनकौन्शस ) भी होता है

जिसमें अनियमित रूपसे अनेक भाव निरन्तर आते-जाते रहते हैं।' यही तथ्यातिरेकवादियों (सररीयलिस्ट्स) की चेतनाधारा ( स्ट्रीम औफ़ कौन्शसनेस ) है जिसके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'मनुष्यके मनोभाव किसी क्रमसे नहीं आते वरन् अत्यन्त असङ्गत, अक्रम, अव्यवस्थित तथा अधूरे रूपमें आते हैं। अतः साहित्यमें भी हमें चेतनाधाराके अनुसार अक्रम रूपसे ही मानस चित्रण करना चाहिए।'

अपने मतानुसार फ्रौयडने स्वैरवादी स्वातन्त्र्यका समर्थन करते हुए कहा है कि 'सब प्रकारकी दबी हुई वासनाओं, निषेधों और अतृप्तियोंको निकाल डालो, कुछ भी मनमें न रक्खो जो कहना है खुलकर कहो, नहीं तो तुम्हारी कला झूठी हो जायगी।' इसी आधारपर बहुतसे लेखकोंने खुलकर लिखना प्रारम्भ कर दिया किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि फ्रौयडने सब लेखकोंको पूरी छूट दे दी है। वास्तवमें उसने लेखकका उत्तरदायित्व बढ़ा दिया है और उसका कार्य जटिल कर दिया है क्योंकि अब प्रत्येक लेखक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तिके साथ प्रत्येक पात्रको मानसिक परिस्थितियोंका ध्यान रखकर उसका चरित्र-चित्रण करता है। इस मनोविश्लेषणके कारण एक नई समीक्षा-पद्धति ही निकल आई, जिसका कहना है कि 'किसी भी बड़े उपन्यासके मुख्य पात्र वास्तवमें उन तत्त्वोंके अचेतन रूप हैं जिनका लेखक अपने चरित्रसे सामञ्जस्य नहीं कर पाता।'

इस सिद्धान्तपर लोगोंने केवल एक ही आपत्ति की है कि 'आजकल लोगोंको इस प्रकारकी छूट देनेके बदले उनमें संघटनकी शक्ति भरनेकी आवश्यकता है जो इस सिद्धान्तसे कभी प्राप्त नहीं हो सकती।' समीक्षाके क्षेत्रमें भी इसका प्रयोग करके अब समीक्षक देखता है कि 'लेखकने अपने चरित्रकी कौनसी अचेतन भावनाएँ अपनी रचनामें ला भरी हैं।' टौमस मानने कहा है कि 'मनोविश्लेषण उस भविष्यकी नींव है जिसमें स्वतन्त्र और चेतन मानवता निवास करेगी।'

### स्पेनी यथार्थवाद ( कौस्तम्ब्रिस्मो )

स्पेन और स्पेनी अमरीकाके उपन्यासोंका वह यथार्थवाद ही 'कौस्तम्ब्रिस्मो' कहलाता है जिसमें आचार-विचार और रीति-नीतिके चित्रणको अधिक महत्त्व दिया जाता है।

### आचारवाद ( सर्त्तानिज़्मो )

आचारवाद भी ब्राज़ीलके साहित्य ( कौस्तमब्रिस्मो ) का ही एक प्रकार है जिसमें परनाम्बुको प्रान्तके जङ्गली तथा पिछड़े हुए प्रदेशकी 'औस सरतोएज' जातिके आचार-विचारका विशेष चित्रण भरा रहता है ।

### सत्यता ( वैरिज़्म )

सत्यतावादियोंका सिद्धान्त है कि 'कलामें अत्यन्त दृढता तथा सटीकता-पूर्वक सत्यका निर्वाह करना चाहिए ।'

### जीवनखण्ड ( स्लाइस औफ़ लाइफ )

जोला तथा अन्य उन प्रकृतिवादी लेखकोंकी कृतियोंको जीवनखण्ड कहते हैं जिनका मत है कि 'इन कृतियोंकी न रचना की जाती है न चयन होता है वरन् इनमें स्वत: वास्तविकताका सीधा अर्थात् बिना रँगा हुआ सीधा चित्रण होता है ।'

### प्रकृतिवाद ( नैचुरलिज़्म )

उस दार्शनिक सिद्धान्तको प्रकृतिवाद कहा जाता है जो मानते हैं कि 'प्रकृति स्वयं अपने वास्तविक रूपमें समझी जा सकती है, उसके ज्ञानके लिये किसी दूसरे संसार या व्यक्तिकी आवश्यकता नहीं है ।' वे मानते हैं कि 'मनुष्य पूर्णत: प्रकृतिका अङ्ग है ।' प्रकृतिवादी दार्शनिक अर्थात् परमात्मवादी ( सुपर नैचुरलिस्ट ) के विरोधी यह नहीं मानते हैं कि मनुष्यके कोई आत्मा भी होता है जो परलोक जाता है और शरीरसे अलग, स्वतन्त्र होता है । ये लोग मानव-जीवन, मानव-विचार तथा सामाजिक और राजनीतिक इतिहासको प्राकृतिक प्रक्रिया मानते और अन्य वास्तविक पदार्थोंके समान ही इन्हें भी सम्वर्धनके सिद्धान्तोंका परिणाम मानते हैं। प्रकृतिवादी प्राय: यह प्रयत्न करता है कि 'मनोवैज्ञानिक और शरीरवैज्ञानिक नियमोंमें आए हुए नैतिक नियमके तत्त्व खोज निकाले ।' परिणामत: कर्त्तव्य-शास्त्रकी प्रकृतिवादी प्रणालियाँ चाहे जितनी आत्म-सुखवादी हों किन्तु वे सभी आत्म-रक्षा, परिस्थितिके अनुसार व्यवहार तथा शक्तिकी भावना आदि विकासात्मक गुणोंके महत्त्वपर आश्रित हैं ।

उन्नीसवीं शताब्दिमें 'प्रकृतिवाद' शब्द अधिक विस्तारसे प्रयुक्त होने लगा इसीलिये यह उत्तर-डार्वीनियनवाद कहलाता है । यद्यपि

स्पिनोज़ा जैसे दार्शनिकोंको भी इसी श्रेणीमें रख सकते हैं किन्तु वास्तवमें यह शब्द उन विकासात्मक दर्शनोंके लिये ही प्रयुक्त होता है जो डार्विनवादसे ही उद्भूत हुए हैं और वास्तविकताको ऐसी प्रक्रिया समझते हैं जिनमेंसे मनुष्यका तथा उन अन्य सामाजिक महत्त्वोंका प्रादुर्भाव हुआ है जो परम्परासे प्रकृतिसे ऊपर, परे या विरोधी समझे जाते रहे हैं। वर्त्तमान प्रमुख प्रकृतिवादी सिद्धान्त मोटे ढङ्गसे इस प्रकार वर्गीकृत हो सकते हैं—( क ) प्रयोजनवाद ( ड्यूई, शिलर और प्रैग्मेटिज़्म ), ( ख ) बर्गसनका रचनात्मक विकास, ( ग ) ऐलेग्ज़ेंडर और लौयड मौर्गनका 'सहसा विकास' ( इमर्जैण्ट इवोल्यूशन ), ( घ ) ह्वाइट हैडका अवयववाद ( ऑर्गेनिज़्म ), ( ङ ) नवीन यथार्थवाद और अनुभववाद (एम्पेरिसिज़्म) के अनेक रूप, यद्यपि यह अन्तिम मण्डल जीव-विज्ञानकी अपेक्षा भौतिक विज्ञानसे अधिक सम्बद्ध है।

साहित्यिक समीक्षामें 'प्रकृतिवाद' शब्द अत्यन्त भ्रामक है। अपने व्यापक अर्थमें इसका अर्थ है—१. वे साहित्यिक कृतियाँ, जिनमें प्रकृतिसे प्रेम या प्राकृतिक सौन्दर्यसे प्रेमका विवरण रहता है। २. वह साहित्य, जिसमें प्रकृतिका यथार्थतम चित्रण करनेका प्रयत्न किया जाता है। इस अर्थमें यह यथार्थवादके समान है। ३. अत्यन्त स्पष्ट और प्रायोगिक रूपमें वे साहित्यिक कृतियाँ जो—क. प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यका प्रकृतिवादी रूप उपस्थित करती हैं, मानवतावादी या धार्मिक नहीं ( ज़ोला, जौर्ज मोर आदि )। ख. जो मनुष्यका शारीरिक पक्ष उपस्थित करती हैं अर्थात् जीवोंसे उसका सम्बन्ध, उसके आदर्शोंकी परिवर्त्तनशील और निरर्थक प्रकृति, और ग. जो अपने विषयको अत्यन्त भद्दे, कुरूप, व्यंग्यात्मक और निराशात्मक ढङ्गसे उपस्थित करते हैं। दूसरे अर्थवाला प्रकृतिवाद तो स्वैरवादका विरोधी है और तीसरे अर्थवाला ही आदर्शवादका। विशिष्ट अर्थमें यह प्रकृतिवाद अंशत: स्वैरवादी सौन्दर्यसे प्रकाशित और अंशत: अवगुण्ठित है और इसी बातपर नवमानवतावादियोंने इसपर आक्रमण भी किया है।

फ्रान्स और इब्सनके पश्चात् जर्मनीमें ओटोब्राह्मकी नाटकीय समीक्षा और उसकी स्वतन्त्र रङ्गशाला ( फ्री ब्युहने ) ने प्रकृतिवादी नाटककारोंका एक मण्डल ही खड़ा कर दिया। आर्मो होल्ज़ एक बाह्य तर्कसङ्गत प्रकृतिवाद मानता था और चाहता था कि 'जैसे फ़ोनोग्राफ़में ठीक बोले हुए शब्दोंका

प्रतिध्वनन होता है उसी प्रकार साहित्यमें भी ठीक उन्हीं शब्दोंका प्रयोग हो और जो बाह्य रूपसे दिखाई पड़े उसीका ठीक अपरिवर्त्तित रूपमें अभिव्यञ्जन किया जाय।' फ़्रान्सकी रङ्गशालाओंमें आगे चलकर इसे पागलपन समझा जाने लगा और अत्यन्त सनकके साथ इसका प्रयोग भी किया जाने लगा।

### मिथ्या-प्रकृतिवाद ( ज़ूडो-नेचुरलिज़्म )

जिन रचनाओंमें कुछ-कुछ प्रकृतिवादी प्रवृत्ति मिलती है किन्तु तत्वतः वे उससे भिन्न हैं ऐसी सब रचनाएँ मिथ्या प्रकृतिवादी कहलाती हैं। साधारणतः जिन रचनाओंमें प्राकृतिक दृश्योंका अधिक वर्णन, प्राकृतिक सौन्दर्यकी व्याख्या, प्रकृतिका वास्तविक निरूपण, मानव और जीव-प्रकृतिका विश्लेषण होता है किन्तु पूर्ण ग्रन्थमें दूसरी प्रवृत्तियाँ लक्षित होतीं हों वे सभी मिथ्या-प्रकृतिवादी कहलाती हैं।

### व्यभिचारवाद ( पौर्नोग्रैफ़िज़्म )

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दिमें बहुतसे ऐसे लेखक हुए जिन्होंने वेश्याओं या पुंश्चली स्त्रियोंके समाज, व्यभिचार आदिका अत्यन्त नग्न चित्र उपस्थित किया है। ऐसे सभी लेखक फ़्रांस और इंग्लैन्डमें अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं क्योंकि निम्न कोटिके लोगोंकी पशु-भावनाको तृप्त करनेकी क्षमता ऐसे ही लेखकोंमें रही है। इंग्लैन्ड, फ़्रान्स, स्पेन और अमरीकामें इस प्रकारके लेखक अपनी पुस्तकें गोपनीय ढङ्गसे छपवाते हैं और उनका गुप्त विक्रय भी होता है। शाब्दिक वर्णनोंके अतिरिक्त इन पुस्तकोंमें अत्यन्त लज्जाजनक चित्र भी भरे रहते हैं। यद्यपि विभिन्न राज्योंकी ओरसे ऐसे ग्रन्थोंपर रोक लगी हुई है किन्तु कुछ लेखक ऐसे कौशलपूर्ण ढङ्गसे लिखते हैं कि वे नियमके चङ्गुलमें नहीं आते। इन व्यभिचारवादियोंका सिद्धान्त है कि 'समाजके भीतर व्यभिचारका भयानक रोग किसी न किसी रूपमें समाजके प्रत्येक वर्ग और व्यक्तिमें विद्यमान है जिसका निष्कासन तभी सम्भव है जब उसका प्रत्यक्ष, नग्न तथा लोमहर्षक चित्र उपस्थित हो। उससे साधारण पाठककी निम्न मानसिक वासना-तृप्ति तो अवश्य होगी किन्तु परिणामतः उसके भयानक परिणाम देखकर उससे विरति भी होने लगेगी।' ये लोग भी अपनेको यथार्थवादी और प्रकृतिवादी मानते हैं।

### भाविकतावाद ( सेन्टीमेंटलिज़्म )

अठारहवीं शताब्दिके बैबिट, लेसिङ्ग तथा ब्लेयर आदि भाविकतावादियोंका

कथन है कि 'त्रासदसे दर्शककी शुद्धि हो जाती है क्योंकि दर्शकमें उसकी सुविचारिताके द्वारा दया दिखानेका स्वाभाविक और उचित सामर्थ्य बढ़ जाता है अर्थात् ऐसे दृश्य देख-देखकर उसे यह आभास हो जाता है कि हमें कहाँ दया दिखानी चाहिए और कहाँ नहीं।' उन्नीसवीं शताब्दिमें गेटेने कहा कि 'अरस्तू नाटकके भीतर भय और करुणाका उचित सामञ्जस्य दिखाना चाहता था, जैसे एन्टिगोनमें क्रियोन और हिपौलितसमें थीसियस, अर्थात् वह इस प्रकारसे भाव-शमन चाहता था कि मन शान्त हो जाय और सब प्रकारके भाव उसमेंसे निकल बाहर हों।' हेगेल स्वयं दार्शनिक था इसलिये उसने दार्शनिक दृष्टिसे विवेचन करते हुए कहा कि 'इस सृष्टिके सब संघर्षात्मक शक्तियोंको शमन करनेका रूप ही त्रासद है।' याकोब बरनेजने ही पहले-पहल मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इसका विवेचन किया जो पीछेके सभी लेखकोंका आधार रहा है। इस भावरेचन (कथार्सिस) की भावनापर दो प्रकारकी आपत्तियाँ की गईं—१. इस परिभाषाका सम्बन्ध उस युगसे है जब यूनानी लोग करुणा (पिटी) के भावको पूर्णतः निकाल बाहर कर देना चाहते थे क्योंकि यह मनुष्यके विवेकपूर्ण शान्त निर्णयमें बाधा डालता है। २. मानवतावादी समझते हैं कि यह अत्यन्त सात्त्विक भावना है। इसके सबसे बड़े विरोधियोंका मत है कि 'अरस्तूने त्रासदके प्रधान और मुख्य प्रभाव भावोन्नयन (एग्ज़ाल्टेशन) की तो कोई चर्चा ही नहीं की। हम जब रङ्गशालामें जाते हैं तो भावोंके रेचनके लिये नहीं वरन् भावोंके उन्नयन या प्रदीपनके लिये जाते हैं।' शेक्सपियरने कहीं-कहीं (जैसे किङ्गलियर और मैकबेथमें) किसी विचारात्मक घटनाके भयप्रद भावसे मुक्ति दिलानेके लिये दयाका प्रयोग किया है क्योंकि उस समय हम अनुभव करते हैं कि 'मृत्यु अपरिहार्य भले ही हो किन्तु इस प्रकार प्राण देना और जीवित रहना ही वास्तविक मनुष्यता है।' मनुष्यको यह विश्वास और शक्ति त्रासदसे ही प्राप्त हो सकती है और इसी आधारपर मनुष्य निराशाके विरुद्ध गीत गानेको उत्साहित होता है।

### प्रत्यक्षवाद (पौज़िटिविज़्म)

दार्शनिक कौम्टे (१७६८ से १८५७) ने यह दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'मनुष्यको किसी वस्तुकी परिस्थिति (फ़िनौमिना) के अतिरिक्त उसका और कोई ज्ञान नहीं होता और यह परिस्थितिका ज्ञान भी

सापेक्ष्य होता है पूर्ण नहीं।' अत: ये लोग वास्तविक अर्थात् प्रत्यक्ष या पूर्ण ज्ञानमें विश्वास करते हैं।

## जर्मन औदार्यवाद ( यूङ्गेस ड्यूट्शलैन्ड )

सन् १८३० से १८६० तक जर्मनीमें उदार प्रवृत्तियोंके युवक लेखकोंका एक औदार्यवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसके मुख्य प्रवर्त्तक थे लुडविग् ब्योर्ने, हौइनरिख़ हौइने, के० गुत्सकाउ। इस आन्दोलनने अपने समयके प्राय: प्रत्येक लेखकको प्रभावित किया विशेषत: हैबेल, लुडविग् और फ़्रैटागको। इनका उद्देश्य था कि 'साहित्यके द्वारा राजनीतिक और सामाजिक जीवनमें नई शक्ति भरी जाय।'

## जर्मन प्रकृतिवादमें शौर्यवाद ( यूङ्गस्टेस ड्यूट्शलैन्ड )

बर्लिन और म्यूनिख़में हौइनरिख़, जूलियस हार्ट, एम० जी० कोनराड, एच० कोनराडी, कार्ल हैंकेल, कोनराड अलबर्टी, कौर्ल ब्लाइबट्रेउ, विलहैल्म ब्योल्शे, आर्नो होल्ज़ आदि जर्मन प्रकृतिवादके शौर्यवादी लेखकोंका एक मण्डल था जिन्होंने जर्मनीके प्रकृतिवादकी धूम मचाई।

## उदारतावाद ( लिबरलिज़्म )

प्राय: प्रत्येक युगमें कुछ लेखक ऐसे होते रहे हैं जो किसी विशेष दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक वादके फेरमें न पड़कर सब धर्मों और विचारोंका समान रूपसे आदर करते रहे हैं। ऐसे सहनशील लोगोंकी वृत्तिको ही उदारतावाद कहते हैं।

## अतिप्रभाववाद ( ऐक्रीतूरे आर्त्तिस्ते )

फ़्रांसमें उन्नीसवीं शताब्दिमें गोन्कोर-बन्धु, एद्मों ( १८२२–९६ ) और यूले ( १८३०–७० ) ने अत्यन्त भावपूर्ण प्रभाववादी शैली चलाई जिसमें वे विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये व्याकरण और वाक्य-विन्यासके नियमोंका भी उल्लंघन कर देते थे। फ़्रान्सीसी साहित्यपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा।

## ह्रासवाद ( डिकेडेन्स )

ह्रासवादपर इन दिनों बड़ी चर्चा चल पड़ी है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दिमें मान्टेस्क्यू और गिबनने 'रोमन साम्राज्यका उत्थान और पतन' या 'महत्ता और ह्रास'का और वीचोने इतिहासके प्रवाह और शान्तिपर विचार करते हुए ह्रासका प्रश्न छेड़ा। काव्यमें इसकी

अभिव्यञ्जना सर्वप्रथम ओशियनकी कविता और 'खँडहरकी कविता' में प्राप्त होती है। फ्रान्समें रूसोने अपने समयकी ह्रासोन्मुख सभ्यताकी कृत्रिमताओंसे उठकर आदिम-शक्ति प्राप्त करनेकी बात चलाई थी। इसी प्रकार सन् १८५० में फ्लाउबेने मध्यवर्गीय मनुष्योंकी दयनीय ह्रासोन्मुखताका वर्णन करते हुए अतीतके वीरोंकी चर्चा की थी और बौदेलेया, गाउतिये, फ्रांसिस थौम्सन, मलार्मे और वर्ले आदिने भी यही पुकार मचाई कि 'मनुष्य और उसकी सभ्यता ह्रासोन्मुख होती चली जा रही है और इस ह्रासताके कारण मनुष्योंमें मानसिक और भावात्मक दारिद्र्य आता चला जा रहा है।' सन् १७८६ में जो ह्रासवादी 'ला-देकादें' पत्र निकला उसमें निम्न जनका विद्रोहवाद अधिक था, जिन्हें साधारणतः बौद्धिक विध्वंसवादी (निहलिस्ट्स) कह सकते हैं। उसी वर्ष एक दूसरा 'प्रतीकवाद' (ला सिम्बोलिस्ते) पत्र निकला जिसने ह्रासवादका अर्थ विवेकवाद, मध्यवर्ग और ईसाई धर्म मान लिया। नीत्शेने वैगनरको अत्यन्त दुर्बल और अनैतिक कहा अतः आगे चलकर ह्रासोन्मुख भावनाका अर्थ मानसिक अस्वस्थतामें नारी द्वारा पीड़ित होनेके आनन्दकी भावनासे बदलकर अत्याचारके प्रति स्नेह, शक्ति, नृशंसता और युद्धकी भावनामें परिणत हो गया अर्थात् अपनी प्रकृतिका ठीक विरोधी हो गया जिसके कारण एक विचित्र प्रकारका राष्ट्रीयतावाद और देश-प्रेमपूर्ण वीरताकी रचनाएँ आने लगीं।

ह्रासवादियोंका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हुइसमाँ (१८८४) के उपन्यासने औस्कर वाइल्ड आदिको बहुत प्रभावित किया। इस ह्रासवादका सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त यह है कि—'कला वास्तवमें प्रकृतिका अनस्तित्व है और प्रकृति वास्तवमें कलाका अनस्तित्व है। कला तो मानवीय कौशल है और स्त्री-सौन्दर्य केवल शृङ्गार-मात्र है।' हुइसमाँने इसे शब्दशः स्वीकार कर लिया और वाइल्डने घोषणा कर दी कि 'प्रकृति ही कलाका अनुकरण करती है।'

कलाको प्रकृति-विरोधी माननेवालोंके इस सम्प्रदायने कलाको समाज-विरोधी भी कहना प्रारम्भ किया। फलतः रेमी दे गोर्मोने प्रस्ताव किया कि 'समाजका मूल्याङ्कन इस दृष्टिसे करना चाहिए कि वह कलाकी उत्पत्तिके लिये कहाँतक उपयोगी है।' यही ह्रासोन्मुखी सौन्दर्यवाद है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवनके सब गुणतत्त्व कलाके बदले कलाकारके अधीन मान लिए गए। उनकी दृष्टिमें बुराई और भलाई या पाप और पुण्य केवल सौन्दर्यके

ही दो रूप हैं। इसीसे ह्रासवादियोंके दो पक्ष हुए—एक अनैतिकवाद और दूसरा नैतिकवाद। अनैतिकवादियोंने जीवनके विरोधी पक्षोंका अङ्कन प्रारम्भ किया, जैसे—१. ह्रासोन्मुखी सभ्यताकी दुर्बलता बनाम जङ्गलीपनकी शक्ति, २. ईसाई धर्म बनाम बहुदेववाद आदि। इन विरोधी तत्त्वोंका इन ह्रासवादियोंने कोई समाधान नहीं किया वरन् इस विरोधमें ही आनन्द लेने लगे, जैसे बौदेलेयाने नास्तिकता और प्रार्थना दोनोंको मिला दिया है। इस प्रकारकी भावनासे अनेक प्रकारकी विचित्र कल्पनाएँ चल पड़ीं जैसे चुड़ैल या डायनकी, जो रातको अपनी समाधिसे निकलकर सोते हुए पुरुषोंका रक्त चूस लेती हैं। इस कल्पनाकी जहाँ-जहाँ बातें मिलीं वे सब इन ह्रासवादियोंने स्वीकार कर लीं।

यह आन्दोलन यद्यपि था बहुत विस्तृत किन्तु बहुत दिन न चल सका। इटली, फ्रांस और इंग्लैण्डमें थोड़े ही दिन रहा। स्पेनमें इन्क्लानके पश्चात् वर्त्तमानवाद (मौडर्निज़्म) के रूपमें उसने कुछ अपने चिह्न छोड़ दिए। इसका सबसे अधिक प्रभाव रूसमें रहा जहाँ इसने नास्तिक रहस्यवाद (हेरेटिक मिस्टिसिज़्म) और अतिरेकपूर्ण नीत्शेवादको मिला दिया। आज जर्मनीको छोड़कर शेष कहीं भी उसके चिह्न नहीं मिलते।

**प्रतीकवाद (सिम्बौलिज़्म)**

प्रतीकवादकी यह परिभाषा की जा सकती है कि 'वह एक स्तरके विवरणकी वास्तविकताका प्रदर्शन या प्रतिनिधित्व उसी प्रकारके दूसरे स्तरपर उपस्थित वास्तविकताके द्वारा करता है।' सम्प्रदायके रूपमें सन् १८८६ में ह्रासोन्मुखी लेखकोंने 'फ़िगारो' पत्रमें प्रतीकवादकी घोषणा की। यह प्रतीकवाद उस साहित्यिक अभिव्यक्तिके ढङ्गका विवरण था जिसमें शब्दोंका प्रयोग मानस दशाओंको व्यक्त करनेके लिये होता है, बाह्य रूपोंके लिये नहीं। यह आन्दोलन चित्रकला और सङ्गीतमें प्रभाववादके साथ-साथ और उपचेतनके दर्शनके साथ-साथ उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तिम भागके आदर्शवादसे मिलकर उस स्वैरवादकी एक शाखा बन गया जिसके साथ वह निर्बाध रूपसे सम्बद्ध है। उसमें संसारके विषयमें कुछ ऐसी रहस्यात्मक भावना है जो नव-प्लेतोवादसे ली गई है। प्लेटोने प्रतीकोंका प्रयोग इसलिये किया कि किसी वस्तुको यह बताना सरल है कि वह किसके समान है किन्तु यह बताना कठिन है कि वह क्या है। फ्रान्समें इसकी बड़ी धूम रही किन्तु फ्रान्ससे

बाहर भी इसकी धाराएँ गईं और इसमें अन्य धाराएँ भी आकर मिल गईं। देखो 'सिम्बौलिज़्म ऐज़ ए स्कूल'।

इन प्रतीकवादियोंके दो दल थे—एक वर्लेंके अनुयायी, जो विषादवादी या सनकी थे, जो मस्तिष्ककी स्पष्ट स्थितियों या उपचेतन विचारोंके उचित प्रतीकोंके द्वारा सरलता और सीधेपनके साथ चित्रित करते थे और दूसरे मलार्मेके अनुयायी, जो 'हार्मोनिस्ते' या 'वर्सलिब्रिस्ते' कहलाते थे, जो अत्यन्त सजग रूपसे जटिल और समन्वयात्मक कलाका प्रदर्शन करते थे।

### अतिप्रतीकवाद ( अल्ट्रा-सिम्बौलिज़्म )

जब लेखक या कलाकार इस प्रकार व्यक्तिगत रूपसे प्रतीकोंमें बोलने लगते हैं कि उसे समझना कठिन हो जाता है तब उसे अतिप्रतीकवाद कहते हैं।

### नवीनतावाद ( वेवेगिङ्ग फ़ान टाख्टिग )

सन् १८८० के लगभग हौलैन्ड और बेल्जियममें लगभग दो दशकोंतक एक अत्यन्त स्फूर्त्तिशाली साहित्यिक आन्दोलन चला जो 'डी न्यूवे गिड्स विवेगिङ्ग' कहलाता था। इस आन्दोलनमें कीट्स, शेली, वर्लें, बौदेलेया और मैटरलिङ्क आदिके सौन्दर्यात्मक प्रभाव, जर्मन 'नेउए रुन्डशाउ'के सदस्यों और जोलाका प्रकृतिवादी प्रभाव, तेन, कारलाइल रसकिन और विलियम मौरिसकी परिपाटियोंके सामाजिक प्रभाव और पीछे वीयनाके मनोवैज्ञानिक प्रभावका ही प्रचार और प्रदर्शन होता था। यद्यपि ये सब लेखक एक दूसरेसे भिन्न थे किन्तु इन सबमें एक बात समान रूपसे यह थी कि ये लोग कोरे अलङ्कार, रूढ शैली, झूठी कल्पना और अपने युगसे पूर्वके भावकता-पूर्ण स्वदेश-प्रेम या आत्मश्लाघासे अत्यन्त चिढ़ते थे और उनकी सौन्दर्य-पूजा और शब्द-सज्जासे घृणा करते थे। इस मण्डलके समीक्षात्मक लेख बहुत बड़े परिमाणके और बहुत प्रभावोत्पादक हैं।

### सङ्कीर्ण गार्हस्थ्यवाद ( बिएडेरमेयर )

जर्मनीके उदात्तवाद और स्वैरवादके अन्त तथा यथार्थवादके प्रारम्भके बीचके युगको 'बिएडेरमेयर' कहते हैं, जिसमें मध्यम वर्गने फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति और स्वतन्त्रताके युद्धोंमें स्थिर किए हुए अपने आदर्शोंको छोड़कर उस तत्कालीन दशाको अपना लिया जिसमें मध्यकालीन आत्मप्रियता, आत्म-लीनता, केवल व्यक्तिगत महत्त्वकी छोटी-छोटी बातोंमें सीमित रहना,

असामञ्जस्यपूर्ण नैतिकता और झूठे आदर्शके पीछे भावुकता दिखाना ही रह गया था। इन लोगोंका प्रिय काव्य-रूप प्रगीत ( लिरिक ) या उपन्यास था जिसमें वनस्पतिके लिये उष्ण भवन या अच्छे-अच्छे उपवन बनानेवाले वनस्पति-प्रेमी या उन सभी वस्तुओंका सङ्ग्रह करनेवाले सङ्ग्राहक या विचित्र कायर, नीच व्यक्ति या कोई भोली-भाली कुमारीका चित्रण होता था। इस युगमें निम्न-मध्यम वर्गके लोगोंकी बड़ी प्रशंसा होती थी, उनके गीत गाए जाते थे, उनका प्रचार किया जाता था, स्थान-स्थानपर बड़े-बड़े कौतुकालय खोले जा रहे थे और विश्वकोषका प्रकाशन हो रहा था। आस्ट्रियामें जो बिएडेरमेयर-आन्दोलन चला, उसका मूल प्राचीन लोकप्रिय साहित्य जोसेफ़िनिज़्म और 'बारोक'में है और बर्लिनके आन्दोलनका मूल उत्तर जर्मन रूपोंमें है।

### क्रिओलवाद ( क्रियोलिज़्म )

स्पेनी अमरीका ( विशेषतः वैनेज़ुवेला ) के साहित्यिक कलाकारोंने उन्नीसवीं शताब्दिमें अपने ग्रन्थोंमें देशी 'क्रिओल' दृश्य और जीवनका चित्रण प्रारम्भ कर दिया था। क्रिओल उन सब योरोपीय लोगोंको कहते हैं जो अपना देश छोड़-छोड़कर अमरीका, अफ़रीका और पूर्वीय हिन्दके स्पेनी, फ़्रान्सीसी और पुर्तगाली उपनिवेशोंमें जा बसे हैं और वहींके निवासी हो गए हैं।

### प्रगति ( प्रोग्रेस )

जब कोई वस्तु अपने स्वरूपकी पूर्णताके लिये प्रयास करती और पूर्णताकी ओर चलती है तब उसे प्रगति कहते हैं। 'प्रगति किसे कहते हैं' इस सम्बन्धमें अनेक वाद-विवाद और विचार हुए हैं। सन् १९०५ की रूसी क्रान्तिके समाजवादी नेता निकोले कौन्स्तान्तिनोविच मिखायलोवस्की ( १८४२–१९१४ ) ने प्रगतिकी परिभाषा बताई है—'प्रगति उन सब प्रवृत्तियों और कार्योंकी समष्टिको कहते हैं जो किसी मानवके प्रत्येक जीवन-पक्षकी अधिकाधिक समुन्नति करे या समुन्नतिके लिये प्रेरणा दे।' अतः प्रगतिवादी साहित्यके अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आती हैं जो मनुष्यकी शारीरिक, पारिवारिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक पूर्णता और समृद्धिके लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन दें तथा बाधक प्रवृत्तियोंकी निन्दा करें।

### कलामें समाजवाद

गेटेके पीछे आनेवाले लोगोंने उस महाकविपर यह आक्षेप किया कि 'गेटेने जीवन-भर साहित्यमें अपना माथा खपाया किन्तु अपने साथी मनुष्यकी सहायताके लिये उसने एक उँगलीतक न उठाई।' अनातोले फ्रान्सकी शवयात्राके समय भी विरोधियोंने यही कहा कि 'उसने मानवताका क्या हित किया ?' इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे चौंककर कुछ लोगोंने इसपर यह विचार प्रारम्भ किया कि 'कलाकारका अपने समयकी सामाजिक समस्याओंसे क्या सम्बन्ध है ?' हमारे यहाँ तो भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें नाट्यका उद्देश्य बताते हुए पहले ही कह दिया था कि 'नाट्यमें हितोपदेश और लोक-विनोद दोनों होने चाहिएँ।' काव्यका उद्देश्य भी हमारे यहाँ 'चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति' बताया गया था अर्थात् उसमें भी लोक-कल्याणकी भावना ही प्रधान मानी गई थी। किन्तु योरोपमें कलाके नामपर कुछ इस प्रकारकी रचनाएँ भी होने लगीं जिनका मानव-जीवनसे कुछ सम्बन्ध नहीं था। यह कहा जा सकता है कि 'प्रत्येक लेखक प्रत्येक साधारण व्यक्तिके समान अपनी तुष्णीसे या क्रियासे कोई अपना पक्ष तो चुन ही लेता है किन्तु जान-बूझकर या तो पूर्णतः एकान्तवासी और तटस्थ हो जाता है या फिर किसी पक्षमें सक्रिय भाग लेता है, अर्थात् या तो वह एकान्त-वास करनेके लिये गजदन्ताट्टालिका (आइवरी टावर) में जा बैठता है या फिर युद्ध-क्षेत्र और सङ्घर्षमें जा कूदता है। इनमेंसे जो लेखक सङ्घर्षमें कूदेगा वह या तो विज्ञापनके फेरमें पड़ेगा या काव्य-रचनाके लिये उसे समय ही नहीं मिलेगा और एकान्त-सेवी लेखक इस तटस्थतामें अपनी शक्ति ही क्षीण कर लेगा।' यह कहा जा सकता है कि 'सब लोगोंमें एकता उत्पन्न करनेके लिये सङ्घर्षमें भाग लेना आवश्यक है किन्तु एकान्तसेवीके लिये तो तटस्थता ही रचनाका परम आवश्यक साधन है। उसकी रचनाएँ ही मानवताकी सेवाएँ हैं।' अत: यह आवश्यक नहीं है कि कलाकारके जीवन और उसके उद्देश्योंका उसकी कृतिसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो ही। अत: एकान्त साहित्य-रचना भी संसारकी बड़ी भारी सेवा है। उसका कम महत्त्व नहीं है और ऐसे व्यक्तिकी रचनाका भी बड़ा सामाजिक महत्त्व है।

### विद्रोहवाद या अग्रवाद (ल आर्त्त द'अवाँ-गार्द)

'अग्रवाद' या 'विद्रोहवाद' शब्द प्रायः उन रूढि-विद्रोही आन्दोलनोंके

लिये प्रयुक्त किया जाता है जो सन् १९१० से १९३० के बीच योरोपमें भविष्यवाद ( फ़्यूचरिज़्म ), बिम्बवाद ( इमैजिज़्म ), वर्त्तमानवाद ( वौर्टिसिज़्म ) तथा तथ्यातिरेकवाद ( सररीयलिज़्म ) आदि नामोंसे चले। इन आन्दोलनोंने शैलियों, रचना-कौशलों तथा सामग्रियोंके रूढ प्रयोगके विरुद्ध अत्यन्त भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न की और युद्धोत्तर कालमें नवीनता उत्पन्न करनेके लिये उत्सुकता दिखाई। रिचार्ड आलिंडग्टनने सन् १९४१ में 'जीवनार्थ जीवन' ( लाइफ़ फ़ौर लाइफ़्स सेक, १९४१ ) में इसका विवरण देते हुए कहा है कि 'इस अग्रदल (वैनगार्ड) के सब कलाकारों और लेखकोंका लगभग एक ही विश्वास था कि 'अतीतकी सम्पूर्ण कला इतनी निर्जीव है कि उसे खुरच फेंकना चाहिए।'

### भविष्यवाद ( फ़्यूचरिज़्म )

सन् १९०९ में फ़िलिपो तोमासो मारिनेत्तिने इटलीमें भविष्यवाद नामका एक साहित्यिक और कलात्मक आन्दोलन चलाया जो अग्रवादी ( एड्वान्स गार्ड ) कवियों तथा वर्त्तमान वेगात्मक या उस रूढिविध्वंसवादी ( निहिलिस्ट ) विचारधाराका ही परिणाम था जो नीत्शेसे बर्गसन और सौरेलतक चलती रही और जिसका अधिक प्रचार विश्वबन्धुत्ववाद ( एक्टिविज़्म ) या व्यावहारिक आदर्शवादने किया जिसका प्रवर्त्तक रुडल्फ-यूकेन ( १८४६—१९२६ ) था, जो 'कलार्थे कला' के समान 'क्रियार्थे क्रिया' की धूम मचाए हुए था। ये भविष्यवादवाले प्रदर्शन और आत्म-विज्ञापन करते हुए व्याख्यान-भवनों, कला-भवनों और नाट्य-शालाओंमें निरन्तर जनताकी रुचिको थप्पड़ लगाते चलते थे। मारीनेत्तिने अपनी इस वृत्तिको वर्त्तमान-पूजा ( माडर्नोलेटरी ) कहा है। इङ्गलैण्ड या फ़्रान्सकी अपेक्षा इटलीमें रूढिवाद अत्यन्त प्रबल था इसलिये मारिनेत्तिने अपने वादके साथ एक नया वाद एन्तिपासातिस्मो भी जोड़ दिया और साहित्य तथा कलाके मन्दिरों अर्थात् पुस्तकालयों और सङ्ग्रहालयोंपर भी खुलकर आक्षेप किया। इस वर्त्तमान भावनाका प्रतीक बना 'वेगका प्रशंसन', और नगरवाद ( आर्बेनिज़्म ) अर्थात् जो बड़े व्यावसायिक केन्द्रोंकी प्रशंसाके रूपमें व्यक्त हो चुका था। ये दोनों बातें ( वेग और व्यवसाय-शक्ति ) वर्त्तमान जीवनको सम्पन्न करनेवाले अङ्गोंमें देखकर मारिनेत्तिने एक नया 'मशीनका सौन्दर्य-तत्त्व' ढूँढ निकाला इसलिये

अमरीकनोंने जो युद्धको 'विश्वका स्वास्थ्य' कहकर प्रशंसित किया उसमें और विमानकी उड़ानोंमें मारिनेत्तिने वायवीय रङ्गमञ्च देखा और इसलिये स्वैरवादी और मध्यमवर्गीय भाविकताका विरोध करते हुए यह पुकार उठाई— 'हम लोग चन्द्रिकाको ही समाप्त कर देंगे।'

साहित्यमें मलार्मेके पश्चात् भविष्यवादने ही रूढिके बन्धनसे मुक्त होनेकी पुकार की और कहा कि 'वाक्य-निर्माणके सिद्धान्त तोड़ दो, छन्दके बन्धन ध्वस्त करो।' अतः मारिनेत्तिने ऐसे ग्रन्थ लिखे जिनमें केवल संज्ञाओं और अपूर्ण क्रियाओंकी ऐसी असम्बद्ध भरमार थी कि उनमें न किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध था, न सम्बन्धकारक शब्द थे, न लय ही होता था न विराम-चिह्न लगते थे वरन् उसके बदले केवल टाइप दूर कर दिया जाता या बड़ा अक्षर लगा दिया जाता था और कोलाहलकी अत्यन्त छोटी-छोटी ध्वनियोंके चिह्नोंसे लेकर रसायनशास्त्र और गणित-तकके चिह्नोंका प्रयोग होता था। भविष्यवादियोंकी रचनामें भावात्मकतासे लेकर चित्र-स्वाभाविकता या नग्न भौतिकतातक विद्यमान रहती थी। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ स्वच्छन्द छन्दोंमें ही हैं। इन भविष्यवादियोंका गद्य अत्यन्त निम्न कोटिका है। उन्होंने रङ्गमञ्चपर कुछ अधिक धूमधाम करके ऐसा 'संश्लिष्ट रङ्गमञ्च' स्थापित करनेका प्रयत्न किया जिसपर एक साथ अनेक दृश्य दिखाए जा सकें। फिर तो इस भविष्यवादका प्रयोग अन्य कलाओंके लिये भी किया जाने लगा। चित्रकला भी भावात्मक ( ऐब्स्ट्रैक्ट ) और आध्यात्मिक बनकर घनवाद ( क्यूबिज़्म ) की ओर प्रवृत्त हो गई और वास्तुकला तथा मूर्त्तिकलामें भी 'गति'की भावना भरी जाने लगी। मारिनेत्तिने सब कलाओंके कलात्मक अनुभव और शक्तिके लिये एक स्पर्श-क्षमता ( टेक्टिलिज़्म ) का नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया। सन् १९१९ के पश्चात् मारिनेत्तीको छोड़कर सबने भविष्यवादको तिलाञ्जलि दे दी। किन्तु वह भी जब इस भविष्यवादको फासिज़्म राज्यमें स्वीकृति नहीं दिला सका तब यह वाद समाप्त हो गया। किन्तु उसका प्रभाव 'फ्रेमेन्तो' शैलीकी गद्य-कवितापर, उनगारेत्तीके उल्लासपूर्ण स्वच्छन्द छन्दपर, पिरान्देलो-द्वारा प्रवर्तित 'ग्रोतेस्को थियेटर'पर तथा १९२० की इन प्रवृत्तियोंपर विशेष रूपसे पड़ा जिनमेंसे मुख्य थीं—बान्तेम्पैलीका 'जादू-भरा यथार्थवाद', बड़े नगरोंके जीवनका नया धर्म ( स्त्राचित्ता ) और हमारे [illegible] क्रीड़ा और यन्त्रसे सम्बद्ध कविता और कला ( नौवेचेन्तो )। इसपर इस भविष्यवादका

सबसे अधिक प्रभाव सेवेरियानिनके मानव-महत्तावाद (ईगो-फ़्यूचरिज़्म) के रूपमें, तब बोरिस पास्तेर्नाक और व्लादीमीर मायाकोवस्कीकी कृतियोंमें दिखाई देता है जिन्होंने उस वर्गवादी ( कौम्यूनिस्ट ) कलाको राजाश्रित बना लिया था। ख्लेबनिकोवके एक मण्डलने इन विवेक-निरपेक्ष प्रवृत्तियोंका आश्रय लेकर अभिनव-भविष्यवाद ( क्यूबो फ़्यूचरिज़्म ) चलाकर अध्यात्मबुद्धि-वादी काव्यभाषाका प्रचार किया। इस भविष्यवादने येसेनीनके कल्पनावाद ( इमेजिनिज़्म ) को और सेल्विस्कीके रचनावाद ( कन्स्ट्रक्टिविज़्म को भी प्रभावित किया। इसीके इधर-उधर बिखरे हुए विचारोंके आधारपर पीछेके अनेक अग्रगामी आन्दोलन, जैसे वर्त्तमानवाद ( वर्टिसिज़्म ) और बिम्बवाद ( इमेजिज़्म ) तो अमरीका और इंग्लैण्डमें चले, अभिव्यञ्जनावाद (एक्स्प्रेशनिज़्म) जर्मनीमें चला और अतिरेकवाद अल्ट्राइज़्म) स्पेनमें चला।

## अहंवाद या मानव-महत्तावाद ( ईगो-फ़्यूचरिज़्म )

सन् १९११ में सेन्ट पीटर्सबर्गके भविष्यवादियोंके नेता आइगर सेवेर्यानिनने रूसमें भविष्यवादका एक प्रमुख रूप मानव-महत्तावाद गढ़ा। उसने अपने इस आन्दोलनकी परिभाषा की थी कि 'प्रत्येक मानव-महत्तावादीको कल आनेवाले आजकी सम्भावनाओंको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।' सेवेर्यानिन और उसके साथी कन्स्तान्तिन ओलिम्पोव, गेओर्गी इवानोव, ग्राल आरेलस्कीने अत्यन्त मधुर स्वर-प्रवाहमें अपना प्रथम आदेश घोषित किया कि 'अहं' या 'मैं' की निस्सीम पूजा करो। उनके मतसे 'मनुष्य ही इस विश्वमें सबसे प्रधान तत्त्व या सृष्टिका सार है। देवता तो केवल अनन्तमें प्रतिबिम्बित मनुष्यकी छाया-मात्र है।'

## अभिनव भविष्यवाद ( क्यूबो फ़्यूचरिज़्म )

सन् १९१२ में मौस्कोके भविष्यवादी कवियोंके दलने एक आन्दोलन चलाया। इन लोगोंने अपने 'युगके साथ चलते रहनेकी भावनासे प्रेरित होकर और कलाके क्षेत्रमें पहलेसे मान्य मानदण्डोंके विरुद्ध विद्रोह करके' घोषित किया कि 'पहलेसे स्थापित जितने भी कलाके सिद्धान्त या मानदण्ड हैं वे सब नवीनता तथा अभिनवताके जलपोतसे उछालकर डुबो देने चाहिएँ।' मानवमहत्तावादी ( ईगो-फ़्यूचरिट्स ) की स्निग्ध मधुस्वरता और अत्यन्त भावकुताके सामने ये संसार-भरके साहित्यके कठोर, कटु, भद्दे और अश्लील तत्त्वोंका विरोध करते थे। इन लोगोंने अपना

एक घोषणापत्र प्रकाशित किया 'लोक-रुचिके मुखपर तमाचा' ( पोस्चेचिना ओश्शेस्टवेनोमू वकुसू ) जिसमें उन्होंने घोषणा की—'कविको अपनी भाषाका निर्माण करनेका पूर्ण अधिकार है।' इसलिये इन लोगोंने एक विवेकातीत (ज़ाउम्न्यी) भाषा बनानेका प्रयत्न किया जिसमें व्याकरणका कोई बन्धन नहीं था। इन लोगोंने तारकी भाषा-शैली अपनाई जिसमें क्रिया, विशेषण, प्रत्यय, उपसर्ग, विभक्ति कुछ नहीं थी। यद्यपि मानवमहत्तावाद ( ईगो-फ्यूचरिज़्म ) का तो रूसी साहित्यपर बहुत दिनों प्रभाव नहीं रहा किन्तु अभिनव-भविष्यवाद ( क्यूबो-फ्यूचरिज़्म ) ने बहुतसे नये उदीयमान कवियोंको अधिक आकृष्ट किया।

कलाका वामपक्ष ( लैफ़् )

रूसमें १९२३ से २९ तक मुख्यत: रूसी अभिनव भविष्यवादियोंका 'कलाका वाम पक्ष' ( लेवी फ्रोन्त इसकुस्त्वा ) नामक एक दल सङ्गठित हुआ जिसके नेता व्लादीमीर मायाकोवस्कीने घोषित किया कि 'सन् १९१७ की क्रान्तिसे भविष्यवादका कला-पक्ष ही कलाका वामपक्ष बन गया है अत: अब कलाको नये भौतिक उपयोगी दृष्टिकोणसे देखना चाहिए और कलाका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह मनुष्यके उपयोगमें आवे।' थोड़े दिनोंमें यह वामपक्ष भी क्रान्तिकारी पक्ष हो गया किन्तु सन् १९३० में सब साहित्य-मण्डलोंके साथ यह मण्डल भी समाप्त कर दिया गया।

बिम्बवाद ( इमेजिज़्म )

कुछ अँगरेज़ और अमरीकी कवियोंकी प्रवृत्ति रही है कि प्रत्येक दृश्य-बिम्बको ज्योंका त्यों कवितामें उतार दिया जाय।' इस आन्दोलनको कुछ अप्रत्यक्ष रूपसे टी० ई० हुल्मेने बौद्धिक आधार प्रदान किया जिसकी कविताओंमें अत्यन्त नीरस सटीकताके साथ बिम्बोंकी अभिव्यक्ति की गई है। ये कविताएँ बिम्बवादके लिये आदर्श समझी जाती हैं। यद्यपि सन् १९१२ से ऐज़रा पाउण्डने ही इसे चला रक्खा था किन्तु सन् १९१४ में लौवेलने यह कार्य अपने ऊपर ले लिया और ऐज़रा पाउण्डकी रुचि 'वर्त्तमानवाद' ( वौर्टिसिज़्म ) की ओर झुक गई। ये सभी बिम्बवादी चीनी और जापानी कविता, तथा फ्रान्स और उदात्तवादी जर्मनीसे प्रभावित थे। फ़्लिण्टने मार्च १९१३ में तीन बिम्बवादी नियम प्रवर्त्तित किए—१. चाहे कोई वस्तु भावात्मक हो या प्रत्यक्ष हो, उसका ज्योंका त्यों चित्रण किया जाय। २. ऐसे एक भी

शब्दका प्रयोग न किया जाय जो उस वस्तुको प्रस्तुत करनेमें सहायक न हो, और ३. गतिके अनुसार छन्दको न बाँधकर लयमें बाँधना चाहिए।

### आवर्त्त-वाद वर्त्तमानवाद ( वौर्टिसिज़्म )

प्रसिद्ध चित्रकार और लेखक विंढम लुइसने १६१४ में वर्त्तमानवादका आन्दोलन चलाया जिसमें उसने अमेरिकाके कवि और समीक्षक ऐज़रा पाउण्ड और फ्रान्सीसी मूर्त्तिकार हेनरी गौदिए ब्रज़ेस्काके वर्त्तमानवादी घोषणापत्रोंका प्रचार किया। यद्यपि इस आन्दोलनके सिद्धान्त तो स्पष्ट नहीं हैं किन्तु यह प्रकृतिवाद, प्रभाववाद और भविष्यवादका विरोधी अवश्य है। इनका कहना है कि 'नई भँवर ठीक वर्त्तमानके हृदयमें बन रही है।' इस आन्दोलनने चित्रमें रङ्ग और रेखा और मूर्त्तिकलामें विभिन्न स्तर देकर यह प्रयत्न किया कि 'कलाओंमें रूप-ग्रहणकी तीव्र सजगता उत्पन्न की जाय।' यूनानियोंकी प्राकृतिक कलाके विरोधमें गौदिए ब्रज़ेस्काने कहा था कि 'मूर्त्ति कलाके मुख्य रूप या उसकी शैली ही उसके विभिन्न स्तर हैं।' पाउण्डका कहना है कि 'कविता तो मुख्यतः बिम्बोंका विषय है। कलाके लिये वर्त्तमानवादी केवल मुख्य माध्यमका ही प्रयोग करेगा। कविताका मुख्य रङ्ग तो बिम्ब ही है।' पाउण्डके मतानुसार 'बिम्ब कोई विचार या अलङ्कार नहीं है।' अपनी दो कविताओंमें उसने इस बिम्बको समन्वयकारी तत्त्व और रूप मानकर प्रदर्शित किया है। वह कहता है कि 'यह वर्त्तमानवाद वह भँवर ( वौर्टेक्स ) है जिससे, जिसमेंको और जिसमें भाव निरन्तर वेगसे दौड़ते हैं।' पाउण्डने जो व्याख्या की है उसके अनुसार यह 'वर्त्तमानवाद' वास्तवमें 'बिम्बवाद'का ही दूसरा नाम है। यह आन्दोलन यद्यपि थोड़े ही दिन चला किन्तु इस बातका प्रमाण है कि वर्त्तमान साहित्यमें लोग नये प्रयोग और विचार लाना अवश्य चाहते थे।

### परम स्वातन्त्र्यवाद ( दादाइज़्म )

सन् १६१७ में कला और साहित्य में एक नया 'दादावाद' प्रारम्भ हुआ जिसमें यह प्रयास किया गया कि 'विचार और अभिव्यक्तिके साधारण सम्बन्धको समाप्त कर दिया जाय।' उसका सामान्य लक्षण ही यह था कि 'उन सब तत्त्वों तथा वस्तुओंको नष्ट कर डाला जाय जो कलाके रूप और विषयकी पूर्ण स्वतन्त्रता और निर्बाधतामें अड़ङ्गा डालें।' इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये ये लोग कठोर तथा कटु शब्दोंका प्रयोग करते थे। ट्रीस्टान ज़ारा

ही इस आन्दोलनका मुख्य प्रवर्त्तक था। यह आन्दोलन १९२४ के लगभग तथ्यातिरेकवाद ( सररीयलिज़्म ) के रूपमें परिवर्त्तित हो गया।

## तथ्यातिरेकवाद ( सररीयलिज़्म )

तथ्यातिरेकवादका उद्देश्य यह है कि 'वास्तविकताकी मान्य सीमाके बाहर साहित्यमें वह सामग्री लाई जाय जिसका अबतक प्रयोग न हुआ हो।' अर्थात् स्वप्न और स्वयं-सम्बद्ध मानस क्रियाएँ लाई जायँ तथा चेतन और अचेतन मनके अनुभवोंका समन्वय किया जाय।' तथ्यातिरेकवादी अपनी कृतिको अत्यन्त असङ्गत रूपसे छेड़ देता है जिससे ऐसा प्रतीत हो मानो वह स्वयं अचेतनका ही रूप हो। हरबर्ट रीडके अनुसार 'स्वैरवादी प्रवृत्ति भी स्वभावतः तथ्यातिरेकवादी ही है।' किन्तु अन्य लोग इसे स्वैरवादके मिथ्यात्वका प्रमाण ( रिडक्शो एड एब्सर्डम् ) समझते हैं। कुछ भी हो, दोनोंमें एक बात तो मिलती है कि १. ये लोग एकरूपताके बदले भिन्न-रूपताके पक्षपाती हैं, २. तर्कसङ्गतके बदले भावसङ्गतको अधिक महत्त्वशील मानते हैं, ३. विवेकवादमें अविश्वास करते हैं और ४. मध्यवर्गको ऊँचा उठाते हैं।' वास्तवमें फ्रौयडने ही हेगेल और मार्क्सके सिद्धान्तोंको मिलाकर तथ्यातिरेकवादको प्रोत्साहन दिया है क्योंकि फ्रौयडने ही कहा कि 'हमारे जीवनके विवेकवादके तले एक निरङ्कुश और विवेक-निरपेक्ष शक्ति निरन्तर चलती रहती है।' फ्रौयडने ही उपचेतन मनकी खोज की। हेगेलने यह भावना चलाई कि 'न मानने से समन्वय और नाशसे सृष्टि होती है।' मार्क्सने कहा कि 'समकालीन मूल्याङ्कनोंके प्रति सोच-समझकर घृणा करनी चाहिए और मानवीय व्यवहारके लिये एक राजनीतिक कार्यक्रम होना चाहिए।' इन शक्तियोंके अतिरिक्त, इस तथ्यातिरेकवादका वास्तविक पिता था 'दादावाद' नामक आन्दोलन जो सन् १९१६ में ट्रीस्टन ज़ाराने चलाया था। यह नाम यों ही ऊटपटाँग रूपसे ग्रहण कर लिया गया और इसका अर्थ हुआ सब प्रकारकी नीति या रुचिके मानदण्डोंका विनाश। इस 'दादावाद'में कोई बात बुद्धिसङ्गत नहीं की जाती थी। इसके सदस्य गोताखोरोंकी टोपियाँ पहनकर, घण्टियाँ बजाते हुए सार्वजनिक मूत्रालयोंमें व्याख्यान दिया करते थे। इस गाली-सम्प्रदायसे बहुतसे भावी तथ्यातिरेकवादी लोग कला और समाजसे घृणा करते हुए नये मूल्याङ्कन और नई कलाके लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। यह नया

मूल्याङ्कन उन्हें मार्क्सवादमें और नई कला स्वयं प्रक्रियावादी लेखोंमें मिली। आन्द्रे ब्रेटनने सन् १९२० में फिलिप सोपाल्टकी सहायतासे मूर्च्छाकी अवस्थामें लिखनेके अनेक प्रयोग किए और साथ ही सम्मिलित रचनाके प्रयोग किए। इसीको शुद्ध तथ्यातिरेकका प्रारम्भ समझना चाहिए। इस आन्दोलनमें 'कैथोलिकवाद'से लेकर सामाजिक यथार्थवादतकके सब व्यक्तिगत तथा राजनीतिक संघर्ष सम्मिलित हैं। इस आन्दोलनका विकास तीन युगोंमें बढ़ा—१. सन् १९२०–१९२४ तक सौन्दर्यकी दृष्टिसे इन लोगोंने अचेतनको खोज निकालने, उसका रहस्य समझने और उसका तत्त्व जाननेका प्रयत्न किया और राजनीतिक दृष्टिसे एक निश्चित कार्यक्रम बनाया। २. इसके पश्चात् पाँच वर्षोंमें अर्थात् सन् १९३० तक ये तथ्यातिरेकवादी 'कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल'के साथ मिल गए और शुद्ध स्वतःप्रक्रियावाद (औटोमेटिज़्म) के सिद्धान्तके अनुसार रचना करने लगे। ३. अन्तिम वर्षोंमें अर्थात् सन् १९३० के लगभग इन लोगोंकी राजनीति मौस्कोसे भिन्न हो गई जो पुनः देशभक्ति, धर्म और परिवारकी ओर लौट रही थी। अपने सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तोंमें ये लोग कुछ चेतन संयम भी स्वीकार करने लगे थे। पैरेनाइक मैथड या एस्ट्रेन्ज्मेट अर्थात् 'वास्तविकताको नये रूपमें स्थापित करनेके लिये किसी कलाकृतिमें कुछ पागलपनके रूपकी स्थापना', बाह्य विक्षोभ और व्यंग्यपर व्यंग्य (ब्लेकवाइल) इन तीनोंको मिलाकर वर्त्तमान तथ्यातिरेकका सौन्दर्यवादी त्रिपक्ष बन जाता है। फ्रांसके पतनके पश्चात् तथ्यातिरेकवाद अपने मूल स्थान पैरिससे हटकर अमरीका पहुँच गया जहाँ अ-तथ्यातिरेकवादी पद्यों और नाटकोंपर भी उसका प्रभाव पड़ रहा है जिससे कि उनमें कल्पनाका स्वातन्त्र्य तथा बिम्बोंमें नवीनता आ रही है।

### स्वतःप्रक्रियावाद (औटोमेटिज़्म)

कुछ लोगोंका विशेषतः गरट्रयूड स्टीनका मत है कि 'साहित्यिक रचना बिना किसी मानसिक प्रयास या चिन्तनके होनी चाहिए।' सिद्धान्ततः उनका कहना है कि 'दैवी शक्ति स्वयं यन्त्रवत् काम करती है और यही हमारे अन्तः-स्फुरणाका मूल है। तथ्यातिरेकवादमें यह विधान जान-बूझकर लाया जाता है।

### अभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म)

किसी कलाके रचना-कर्ममें तथा उस कलाकी अभिव्यञ्जना-शक्तिके लिये अभिव्यक्ति अत्यन्त मुख्य तत्त्व माना गया है। 'उदात्त काव्य' के सिद्धान्तमें

अभिव्यञ्जनाका स्थान उसकी रूप-रचनासे हीन माना गया है या यों कहना चाहिए कि रूप-रचनामें अभिव्यञ्जनाको कोई स्थान नहीं मिला है । उदात्तवादी सिद्धान्त सदा यही मानता रहा है कि 'कलामें चाहे भाव या विचारकी अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण रही हो किन्तु वह अभिव्यञ्जक ढाँचेके बिना असम्भव है । जिसका सम्बन्ध किसी वस्तुके ढाँचेमें पूर्णतः घुला हुआ न हो वह वास्तवमें तत्त्व है ही नहीं । इस प्रकारकी अभिव्यञ्जना और इस प्रकारकी रचनाकी समस्या वर्त्तमान सौन्दर्य-विज्ञानकी सबसे बड़ी समस्या है । लैसिङ्गके पश्चात् योरोपीय साहित्य-सिद्धान्तमें विशेषतः जर्मनीमें अभिव्यञ्जनीयताकी महत्ताको अधिकाधिक माननेकी प्रवृत्ति रही है यहाँतक कि अब वे ललित कलाका तात्पर्य 'किसी वस्तुका बनाना' मात्र न समझकर किसी भावकी अभिव्यक्ति मानते हैं या किसी अनुभवका प्रत्यक्ष विवरण समझते हैं । रूढ शब्दोंमें कहा जाय तो वे इसे काव्यात्मक प्रक्रियाके बदले आलङ्कारिक प्रक्रिया मानते हैं । ललित कलाकी यह भावना उन्नीसवीं शताब्दिमें योरोप-भरमें व्याप्त रही और यद्यपि बीसवीं शताब्दिमें इसकी बहुत आलोचना हुई फिर भी हमारे युगकी अत्यन्त साधारण अचेतन सौन्दर्यात्मिका वृत्ति यही रही है । इसका मुख्य नियमित समर्थक इटलीका बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६) रहा है जिसके सिद्धान्तका आधार यही है कि 'अभिव्यञ्जना और ललित कला दोनों पूर्णतः एक हैं ।' वह कहता है कि 'सभी ललित कलाएँ अभिव्यञ्जना हैं इसलिये सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना ललित कला है ।'

उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तको 'आत्मा या मनका दर्शन' (फ़िलौसौफ़ी औफ़ स्पिरिट और माइन्ड) बताया और कहा कि 'इस संसारमें जो भी कुछ तथ्यका आधार है सब हमारे मनमें ही विद्यमान है अर्थात् किसी प्रकारके सत्यको अभिव्यक्त करनेके लिये जितने पदार्थोंका विवरण दिया जाता है और जो जगत्में विद्यमान हैं वे सब वास्तवमें जगत्में न रहकर मनमें रहते हैं । यह मानस-सत्यता या सब सत्ताओंसे भरा हुआ मन एक 'प्रक्रिया' (एक्टिविटी) है जिसके अलग-अलग रूप तो बहुतसे होते हैं पर उन्हें हम अलग नहीं कर सकते । जैसे यदि हम कोई दृश्य देखें तो वह पूराका पूरा दृश्य मनकी क्रिया बनकर प्रकट होता है अर्थात् मन ही अपनी अनेक क्रियाओंके द्वारा उस दृश्यका निर्माण कर लेता है जिसे हम अस्तित्व या सत्ता कहते हैं ।' क्रोचेने मनके दो कार्य माने हैं—१. ज्ञान या

जानना, २. क्रिया या सङ्कल्प (करनेका निश्चय), अर्थात् पहले मनमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है और तब उसकी व्यावहारिक क्रिया होती है। इस ज्ञानके भी उसने दो भेद बताए हैं—१. अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन), अर्थात् कल्पनामें सहसा बिना किसी प्रेरणाके ज्ञानका उदय होना। २. विचार (कन्सेप्ट), अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान। इनमेंसे अन्तःप्रेरणापर सौन्दर्य-विज्ञान या कला अवलम्बित रहती है और विचारपर तर्कशास्त्र। तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-ज्ञान किसी तर्क या बुद्धि-व्यापारपर अवलम्बित न होकर अन्तःप्रेरणापर अवलम्बित रहता है। सङ्कल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार भी दो प्रकारका होता है—१. जीवन-यापनकी क्रिया (इकौनौमिक एक्टिविटी), २. नैतिक क्रिया (ईथिक एक्टिविटी)। मानसिक क्रियाके रूपमें जो सत्ता विद्यमान है वह चार रूपोंमें अपनेको अभिव्यक्त करती है—सौन्दर्य (ब्यूटी), सत्य (ट्रूथ), प्रियता या उपादेयता (यूज़फुलनैस) और कल्याण (गुडनैस)। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि क्रोचेने ज्ञानको मनकी पहली वृत्ति माना है जिसके आधारपर क्रिया (सङ्कल्प) अपना रूप फैलाती है।

क्रोचेका अभिव्यञ्जनावाद समझनेके लिये अन्तःप्रेरणाका अर्थ समझ लेना चाहिए। वह कहता है कि 'मनकी पहली क्रिया है अन्तःप्रेरणा अर्थात् किसी भी वस्तुके विषयमें हमारे मनमें अपने आप उत्पन्न हुआ ज्ञान। किसी बादलको देखकर जब हम सहसा यह समझ लेते हैं कि भेड़ें चली आ रही हैं तो यह सहसा भान होना ही बिम्ब-रूपण (इमेज फ़ौर्मिङ्ग) कहलाता है। यही हमारे मनका पहला कार्य होता है, अर्थात् शुद्ध अन्तःप्रेरणा वह है जो किसी वस्तुके सत्य और झूठ, वास्तविक और काल्पनिकका विवेक करनेसे पहले ही हमारे मनमें अपने आप एक रूप गढ़ देती है। यही कल्पना आत्माकी अपनी व्यक्तिगत या निजी क्रिया है जो संसारके अनेक रूपों और कार्योंके अनुसार अपना ताना-बाना बुनती रहती है। यही मनुष्यके मनकी सौन्दर्यात्मिका क्रिया (एस्थैटिक एक्टिविटी) है।' इस सिद्धान्तके अनुसार क्रोचे कहता है कि 'प्रत्येक मनुष्य कवि होता है और कवि होनेके कारण दार्शनिक होता है अर्थात् मनुष्यके सङ्कल्पका आधार उसका ज्ञान है, जो दो प्रकारका होता है—१. कल्पनात्मक (इमैजिनेटिव), जिसके द्वारा वह मूर्त्ति बनाता है। २. विचारात्मक (फ़ोर्सफुल), जिसके द्वारा वह वास्तविक

ज्ञानके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ता है ।' क्रोचेका मत है कि 'कलाकारकी दृष्टिमें दो बातें होती हैं—१. कलाकार प्रत्येक वस्तुको उनके वास्तविक रूपमें ग्रहण करता है । २. कलाकारकी यह दृष्टि उसके मानससे उत्पन्न होती है और वह जिस वस्तुको अभिव्यक्त करती है वह साहित्यिक या अन्तरङ्ग होती है, बाह्य नहीं ।' क्रोचेने कहा है कि 'कल्पना वह शक्ति है जो मूर्त्तियों या बिम्बोंकी खोज करती और उन्हें गढ़ती है और वही सौन्दर्यका ज्ञान कराती है । अतः कलापर पूर्ण रूपसे कल्पनाका ही शासन है ।'

अभिव्यञ्जनाकी व्याख्या करते हुए क्रोचेने बताया है कि 'हमारी अन्तः-प्रेरणासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह कोई न कोई रूप ( फ़ौर्म ) ग्रहण कर लेता है अर्थात् मनमें जब कोई भावना स्वयं उठती है तो वह किसी रूपमें प्रकट होती है । यही रूप ही अभिव्यञ्जना है अर्थात् अन्तःप्रेरणासे जिस रूपमें ज्ञान उत्पन्न होता है वही अभिव्यञ्जना है, न इससे अधिक न कम । तात्पर्य यह है कि हमारा मन अन्तःप्रेरणात्मक ज्ञानको जिस साँचेमें ढालता है अथवा अन्तःप्रेरणा ही अपनेको प्रकट करनेके अवसरपर जो रूप ग्रहण करती है उसीको अभिव्यञ्जना कहते हैं । अतः अन्तःप्रेरणा और अभिव्यञ्जना दोनों परस्पराश्रित हैं ।' यही क्रोचेकी कला-भावनाका मूल सूत्र है । वह यह मानता है कि 'अन्तःप्रेरणा और अभिव्यञ्जना दोनों साथ चलती हैं ।'

क्रोचेका मत है कि 'संसारकी प्रत्येक सुन्दर वस्तुके दो तत्त्व होते हैं—१. द्रव्य (मैटर) और २. रूप ( फ़ौर्म ) । संसारमें जो कुछ हम देखते हैं सब द्रव्य है । इसीके सहारे हमारा आत्मा किसी प्रकट रूपमें अपनी क्रियाको प्रकाशित कर देता है अर्थात् मनुष्यका आत्मा केवल द्रव्यकी प्रतीति करता है ।' क्रोचे मानता है कि 'यह रूप ही सौन्दर्यका आधार है और यह रूप ही अभिव्यञ्जना है जो भौतिक न होकर शुद्ध मानसिक या सात्त्विक होती है अर्थात् ज्यों ही हम किसी रूपकी कल्पना करते हैं या अपने मनमें गीतकी कोई धुन सोचते हैं उसी समय उसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना हो जाती है । उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह बाहर भी व्यक्त की जाय । यदि हम उसे बाहर प्रकट करें अर्थात् मनमें सोचे हुए रूपको चित्र या कवितामें उतार दें अथवा मनमें उठी हुई तानको गा दें तो हम अपने मनके भीतर हो चुकनेवाली अभिव्यक्ति या अभिव्यञ्जनाको ही अधिक स्पष्ट करके प्रकाशित कर रहे हैं, उसकी वास्तविक अभिव्यञ्जना तो भीतर मनमें उठते ही पूर्ण

हो चुकी है और यही अभिव्यञ्जना सौन्दर्य है।' क्रोचेका मत है—'सौन्दर्य कोई भौतिक वास्तविकता नहीं है। यह वस्तुओंमें नहीं होता वरन् मनुष्यकी सौन्दर्यात्मिका क्रियामें रहता है जो मानसिक या आध्यात्मिक तत्त्व है।' क्रोचेका एक विलक्षण मत यह है कि 'सभी कलाएँ अभिव्यक्ति ही हैं अतः सब अभिव्यक्ति कला है, (औल आर्ट इज़ एक्सप्रेशन, देअरफ़ोर औल एक्सप्रेशन इज आर्ट)।' इसकी व्याख्या करते हुए हम बता आए हैं कि 'सब कलाएँ केवल अभिव्यक्ति नहीं हैं, वे तो सौन्दर्यभावित व्यवस्थित अभिव्यक्ति हैं,' अतः क्रोचेको यह कहना चाहिए था कि 'सब कलाएँ व्यवस्थित तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति हैं अतः सब सौन्दर्यभावित तथा व्यवस्थित अभिव्यक्ति ही कला है।'

इस अभिव्यन्जनावादके सिद्धान्तका प्रयोग तथ्यातिरेकवादियों (सररीअलिस्ट्स) ने ही किया है क्योंकि वास्तवमें इस अभिव्यन्जनावादके अनुसार शुद्ध तथा व्यवस्थित साहित्यिक रचना हो ही नहीं सकती।

## नाटकमें अभिव्यंजनावाद

अभिव्यञ्जनावाद या उसके कुछ पक्ष उन्नीसवीं शताब्दिके अन्तिम वर्षोंमें अधिक व्यक्त हुए। फ्रैंक वैडेकिन्डने अपने 'फ्रुहलिंग्स एर्वाख़ेन' (१८९१) में मुखौटों तथा अन्य अभिव्यञ्जनात्मक चिह्नोंका प्रयोग किया। यह ग्रन्थ एकांकी सम्वादों और अत्यन्त आलङ्कारिक शैलीमें लिखा गया है। इसी प्रकार आउगुस्ट स्ट्रिंडबर्गके 'टु डमस्कस' (१८९८), 'ए ड्रीम प्ले' (१९०२) आदिमें बहुतसे ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें प्रसिद्ध अभिव्यञ्जनावादियोंने स्वीकार कर लिया है। साहित्यके अतिरिक्त इस अभिव्यञ्जनावादने सङ्गीत, कला और वास्तु-विद्याको भी अत्यन्त प्रभावित किया। यह वाद वस्तुतः प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म), प्रकृतिवाद (नेचुरलिज़्म) और रूढ मान्यताओंके विरुद्ध विद्रोह था। अराजकता और आत्मविध्वंसकी ओर प्रवृत्त होनेवाले इस युगमें जब केवल 'प्रतिकृति' (रिप्रोडक्शन) को अपर्याप्त समझा जा रहा था उस समय यह अभिव्यञ्जनावाद उस युगके आध्यात्मिक आन्दोलनके रूपमें प्रकट हुआ क्योंकि इसमें आन्तरिक अनुभवको बाह्य जीवनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया था। यह अभिव्यञ्जनावाद अत्यन्त विकसित रूपमें नाटकमें पहुँचा (१९१९ से २९)। इस अभिव्यन्जनावादके प्रभावमें विश्व-बन्धुत्ववादियों (ऐक्टिविस्ट्स) ने नवीन तथा श्रेष्ठतर समाज बनानेकी बात चलाई।

रहस्यवादियों और 'विवेक-निरपेक्षतावादियों ( इरैशनलिस्ट्स ) ने मनुष्यके आत्माको मुक्त करनेका बीड़ा उठाया। इन दोनों मण्डलोंको नाट्य-प्रयोगके नये कौशलों, जैसे—चक्रिल या सीढीदार रङ्गमञ्च, अन्धकार करनेवाले यन्त्र, रङ्गमञ्चके पीछे आकाश-चित्रण ( साइक्लोरामा ) तथा उछल-कूद आदिसे बड़ी सहायता मिली और दोनोंने वर्त्तमान मनोविज्ञानके विशेषतः फ्रौएडके सिद्धान्तों और परिणामोंका भरपूर प्रयोग किया।

सच्चे अभिव्यञ्जनावादी नाटकमें एक मुख्य पात्र होता है जिसके भीतर अधिकांश मानसिक, मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक आन्तरिक संघर्ष होता है। संसार और उसके प्राणी उसकी तीव्र दृष्टिमें स्पष्ट लक्षित होने लगते हैं। 'दि ऐडिंग मशीन' नामक नाटकमें एक पुस्तकाध्यक्ष अपनी नौकरीके पच्चीसवें वर्षमें अपने स्वामीके कार्यालयमें बुलाया जाता है। वह आशा करता है कि मुझे बधाई दी जायगी और मेरा वेतन बढ़ाया जायगा। वहाँ जब सहसा उसे कहा जाता है कि 'तुम निकाल दिए जाते हो' तब रङ्गशालाके जिस भागमें वह खड़ा रहता है वह वेगसे चक्कर खाने लगता है, जो यह प्रदर्शित करता है कि उसका मस्तक भी चक्कर खाने लगा है। प्रायः इन नाटकोंमें दृश्योंका एक बँधा हुआ सङ्गत क्रम होता है जो अपने आन्तरिक-सङ्घर्षके संसारमें घूमनेवाले प्रधान चरित्रकी मुख्य-मुख्य वृत्तियोंको व्यक्त करता हुआ अन्ततक निरन्तर चलता रहता है।

क्योंकि अभिव्यञ्जनावादीका उद्देश्य तो आन्तरिक अनुभवको वस्तुओंके पीछे छिपी हुई भावनाओंको बड़ा करके व्यक्त करना है, जैसा इवान गोलने कहा था—'वस्तुओंका बाह्य रूप बिना दिखाए उनका आन्तरिक रूप चित्रण करना है', इसलिये बाह्य वास्तविकताका इसमें कोई महत्त्व नहीं है। इसके चरित्र भी 'व्यक्ति'की अपेक्षा विशेष 'प्रकार'के प्रतीक होते हैं जिनका नाम अङ्कों या संख्याओंमें दिया जाता है, जैसे—

श्री शून्य महोदय या केवल पुरुष, स्त्री, स्वामी, कवि, या भूरे कपड़ोंमें मूर्त्ति आदि। इनकी भाषा खण्डित तारके जैसी, श्वासहीन, आवृत्तियोंसे भरी हुई, गीतात्मक, उल्लासपूर्ण और आत्मोद्घाटक या आत्माभिव्यञ्जक अर्थात् स्वगत-कथनोंसे भरी हुई होती है। इनके नाटकीय व्यापार भी आकस्मिक, असङ्गत, विशृङ्खल, रहस्यात्मक, अनेक स्तरोंपर अर्थात् नीचे-ऊँचे कई स्थानोंपर, सङ्गीतमय या प्रतीकात्मक ध्वनियोंके साथ अथवा मुखौटे, कौशल-

पूर्ण प्रकाश-व्यवस्था, विशेष नेपथ्य-कर्म या रूप-सज्जा, समवेत गान एक साथ हाथ-पैर मिलाकर तालके साथ चलना, धीरे-धीरे प्रकाश धुँधला होना, दृश्य-परिवर्त्तन (ड्राजिङ्ग) आदिके द्वारा प्रभावित होते हैं। आन्दोलनके रूपमें अभिव्यञ्जनावाद अत्यन्त नीरस, अस्वस्थ, दुर्बल, भ्रमपूर्ण और निरर्थक सिद्ध हुआ। किन्तु उसने नाट्यशास्त्रको और रङ्गशालाको आन्तरिक भावात्मक तनावकी असङ्गतताओंको नाटकीय दृश्यसे व्यक्त करनेकी एक शैली प्रदान की। मानसिक परिस्थितियोंके बिम्बोंको व्यक्त करने तथा भावात्मक सत्यको नाटकीय भ्रान्तिके रूपमें व्यक्त करने आदिके कौशलका प्रयोग करनेके कारण अब रङ्गमञ्चकी साहित्यिकता कम हो गई है और नाटकीय कलाएँ समृद्ध हो चली हैं।

## विश्वबन्धुत्ववाद ( ऐक्टिविज़्म )

अभिव्यञ्जनावाद ( एक्सप्रेशनिज़्म ) की अबुद्धिगम्य प्रवृत्तिसे असन्तुष्ट होकर जर्मनीके प्रमुख मनीषी हीनरिख़ मान, लुडविग रूबिनेर, कुर्ट हिल्लेर, कार्ल स्टेर्नहोइम, अर्न्स्ट टौल्लेर तथा आल्फ्रेड डौबलिनने राजनीतिक क्रिया-शीलताका सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे कुर्ट हिल्लेरने क्रियावाद या विश्वबन्धुत्ववाद कहा है। यद्यपि यह सिद्धान्त आउफ़क्लैरूङ्ग ( बुद्धिवाद ), यूंगेस ड्यूट्शलैण्ड ( जर्मन सैनिक प्रकृतिवाद ) तथा प्रकृतिवादसे ही समुद्भूत हुआ था किन्तु इसमें विश्वबन्धुत्वकी यह भावना भी सम्मिलित थी कि संसार-भरके श्रेष्ठतम सांस्कृतिक विशेषज्ञोंको एकत्र करके एक सार्वदेशिक प्रजातन्त्रकी रचना कराई जाय।' ये लोग गेटे और स्टीफ़ेन गेओर्गेकी तुलनामें वौल्तेया (वौल्टेयर) और टौल्स्टौयको श्रेष्ठतर समझते थे। ये क्रियावादी लोग उपन्यास और कुछ अंशतक नाटकको भी प्रचारका सर्वोत्कृष्ट साधन समझकर उसीके पक्षमें थे और उसीकी रचनाको प्रोत्साहन देते थे।

## संघवाद ( यूनानिमिज़्म )

चेतनासे उत्पन्न संसारकी यह दृष्टि या यह भावना ही सङ्घवाद कहलाती है कि 'मनुष्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो वर्गका एक सदस्य है और प्रत्येक वर्गका विकास जीवनके उन सब लक्षणोंके साथ होता है जिनमें रोग और शोक भी हैं। इस प्रकार मानवताकी कथा उन-उन अन्य वर्गों या अन्य व्यक्तियोंकी कथा है, जो परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर उन वर्गोंसे सम्बद्ध हैं जिनका उन्होंने निर्माण किया है और जिन्हें वे नष्ट कर सकते

हैं।' बौदेलेया जैसे कुछ लेखकोंने इस सङ्घवाद ( यूनानिमिज़्म ) को इतने वेगसे चलाया कि बड़े नगरोंके विस्तारके साथ यह भी बढ़ चला। साहित्यमें इसका प्रयोग यूले रोम्याँने चलाया था। इसके आधारपर ऐसे उपन्यास लिखे गए जिनमें अनेक पात्र घटना-प्रवाहमें उपस्थित होते और विलीन हो जाते हैं। उनका कोई अलग अस्तित्व या महत्त्व नहीं होता। १९०८ से १९१४ तक यह बहुत चला। यद्यपि युद्धोत्तर कालकी व्यक्तिवादितासे इसको बहुत धक्का लगा किन्तु आजकल फिर सामाजिक और राजनीतिक वर्गोंके प्रभावसे यह पुन: बल पकड़ रहा है।

## नग्नत्ववाद ( न्यूडिज़्म )

योरोपमें बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें जर्मनी और फ्रान्समें विशेष रूपसे एक नग्नवादियोंका आन्दोलन चला जिनका मत है कि 'अनावश्यक रूपसे अपने स्वाभाविक शरीरको वस्त्र आदिसे नहीं ढकना चाहिए क्योंकि इससे शरीरका स्वाभाविक विकास रुक जाता है और शारीरिक सौन्दर्य भी पूर्ण रूपसे दिखाई नहीं देता।' इन लोगोंने अपने साहित्यमें भी इस नग्नतावादका समर्थन करके ऐसी रचनाएँ, विशेषत: निबन्ध और कविताएँ लिखीं जिनमें इस प्राकृतिक नग्नतावादका समर्थन किया है। इसे प्रकृतिवादका अत्यन्त अतिरेकपूर्ण स्वरूप समझना चाहिए। इनकी रचनाओंमें शारीरिक सौन्दर्य या प्राकृतिक सौन्दर्यका चित्रण करते समय किसी प्रकारका कोई दुराव नहीं होता।

## प्राचीनतावाद ( प्रिमिटिविज़्म )

प्राचीनतावादका प्रयोग बीसवीं शताब्दिसे पहले अधिक नहीं था। साहित्यिक सम्प्रदायके रूपमें फ्रांस ( १९११ ) में यह भविष्यवादका रूप लेकर चला जिसका प्रयोग अमरीकाके मानवतावादी लोग निन्दाके अर्थमें करते थे। प्राचीनतावादका तात्पर्य है 'मानव-विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाका सम्मान और अनुकरण करना।' प्राय: प्रत्येक युगमें ही लोग प्राचीन वीरों, महापुरुषों तथा महात्माओंका जीवनचरित वर्णन करके उनसे जीवनकी प्रेरणा पाते रहे हैं। यूनान और रोमके समीक्षकोंने पाँचवीं शताब्दिके आदर्शोंमें यूनानी भव्यता और सरलताकी चर्चा की। अरिस्तोफ़नेसने अपने समयके दरिद्र आचार-विचारपर आक्षेप किए और मिलितायदेसने अथेन्सकी आध्यात्मिक स्वस्थता और बौद्धिक श्रेष्ठताकी चर्चा की। जहाँ प्रगतिकी

बात होती है वहाँ सदा यह कहा जाता है कि प्राचीन युग स्वर्णयुग था और अब हमारा ह्रास हो रहा है। पुनरुत्थान-कालकी समस्त प्रवृत्ति ही यह थी कि यूनानके गौरव और रोमके वैभवको पुनः प्राप्त करें।

इस प्रवृत्तिके तीन मनोवैज्ञानिक आधार हैं—१. दूरीने सदा सबको आकृष्ट किया है, अर्थात् जो बात जितनी पुरानी होती है उसके प्रति उतना ही आकर्षण होता है। २. प्राचीन अच्छे दिनोंके लिये साधारण इच्छा, जो कि साधारणतः प्रत्येक मनुष्यमें देखी जाती है अर्थात् वह अपनी बीती हुई जवानीके लिये चिन्ता करता है और अपना पुराना गौरव बनाए रखना चाहता है। इस बाह्य वृत्तिके साथ एक अन्तःवृत्ति भी चलती है और वह है बच्चे और बचपनको आदर्श समझनेकी प्रवृत्ति। ३. इसीके साथ-साथ वीचोका यह भाव भी है कि 'कविता केवल अन्तःप्रवाह है।' यही स्वैरवादियोंका भी मत है। साथ ही इनमें यह भी भावना है कि 'विद्वान्के मस्तिष्ककी अपेक्षा जन-साधारणका मस्तिष्क अधिक उर्वर होता है।' ये तीनों प्रवृत्तियाँ इतालवी आदिम लोग, प्री-राफेलाइट-आन्दोलन तथा प्रत्न-प्रयोगवाद (आरकेइज़्म) की प्रवृत्तियोंमें स्पष्ट है जो चीनी, अमरीकी इन्डियन और अफ्रीकन नीग्रो-कलामें अधिक व्यक्त है। स्वयं फ्रौएडने अचेतनके राज्यमें इसी 'आदिम' को ढूँढ निकाला था जो पीछे आए हुए विचारों तथा समाज और उसके नियमके साँचोंसे अनवरत संघर्ष करता है। साहित्यमें इस आदिमता या प्राचीनताके प्रति प्रेरणाको यह समझना चाहिए कि यह नवीनीकरणकी प्रेरणा है, जो किसी एक परिपाटी या परम्पराको सड़नेसे बचा लेती है।

### अतिरेकवाद ( अल्ट्राइज़्म )

बीसवीं शताब्दिकी उन सब प्रतिक्रियावादी और विद्रोही साहित्यिक प्रवृत्तियोंके व्यापक तथा मौलिक सिद्धान्तको अतिरेकवाद कहते हैं जो मानवतावादके विरोधमें चलीं और जिनके अनुयायी मानते हैं कि 'संसारकी अन्य वस्तुओंके साथ मनुष्य भी एक ही नियममें बँधा है।' ये लोग व्यक्तिवादको न मानकर तात्त्विक सार्वभौम-महत्त्वको स्वीकार करते हैं। इसके अन्तर्गत विशेष रूपसे अभिव्यञ्जनावाद, तथ्यातिरेकवाद और भावात्मक कलाका सन्निवेश होता है।

### तर्कातीत अनुभववाद ( क्रिएशनिज़्मो )

स्पेन और स्पेनी अमेरिकामें सन् १९२० के आस-पास अग्रवर्त्तमानीय

सौन्दर्यवादी आन्दोलन चलाया गया जिसके प्रवर्त्तक थे चिलीके विसेन्टे हुई दोब्रो। उनका विचार था कि 'कलाकारका यह काम है कि वह रचना करे और जिस सामग्रीसे रचना करे वह अनुभवकी उस परिधिमें प्राप्त की जाय जो विवेकसे परे हो।' यह आन्दोलन अल्ट्राइज़्मसे मिलता-जुलता है।

**स्वदेशवाद ( एप्रिज़्मो )**

सन् १९२० में पेरूके विक्टर रौल हाया डी ला टोरेने विदेशियोंके विरुद्ध और अमरीकी हिन्दियोंके पक्षमें एक सामाजिक आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसका प्रभाव दक्षिण अमरीकाके पेरू, इक्वेडर और बोलीविया नामक प्रदेशोंके साहित्योंपर बहुत पड़ा। यह नाम 'एप्रा' शब्दसे बनाया गया जो 'ऐलियान्ज़ा पौपुलर रिवोल्यूशनारिया अमेरिकाना' शब्दोंके पहले अक्षरोंको मिलाकर बनाया गया था।

**राष्ट्रीयता ( नेशनलिज़्म )**

बहुतसे लेखकों, समीक्षकों और पाठकोंका यह मत रहा है कि 'साहित्यमें हमारे राज्य या प्रदेशकी छाया व्याप्त होनी चाहिए जो हमारी देशभक्तिको उद्दीप्त करते हुए हमारे राष्ट्रीय जीवनके विभिन्न पक्षोंको प्रकाशमें लाकर उसे समुन्नत और समृद्ध करे और इस प्रकार हमारी अपनी राष्ट्रीय और प्रादेशिक भाषा समृद्ध हो।' इन लोगोंमें कई प्रकारके व्यक्ति थे—१. कुछ चाहते थे कि विदेशी विचार और विद्याओंका प्रयोग ही न किया जाय, २. कुछ चाहते थे कि अन्य भाषाओंका श्रेष्ठ साहित्य अपनी भाषामें अनूदित किया जाय, ३. कुछ चाहते थे कि विदेशी साहित्यको अपनी राष्ट्रीय संस्कृति तथा परिपाटीके अनुसार आत्मसात् कर लिया जाय, क्योंकि उनका कहना था कि 'कलाकारको यह अधिकार है कि वह पूर्वकी कृतियोंको अपने रङ्गमें ढाल सकता है।' यह राष्ट्रीयता बढ़ते-बढ़ते इतनी संकुचित हो गई कि वह स्थानीयता ( लोकलिज़्म ) और प्रादेशिकता ( रीजनलिज़्म ) तक पहुँच गई अर्थात् स्थानीय दृश्य, स्थानीय जनता और स्थानीय भावोंका चित्रण ही राष्ट्रीयतावाद हो गया।

**प्रदेशवाद ( रीजनलिज़्म या हौइमाटकुन्स्ट )**

कुछ लोगोंकी यह प्रवृत्ति हो चली है कि वे अपनी रचनाओंका घटना-स्थल कोई विशेष स्थान रखते हैं और उसको इस प्रकार चित्रित करते हैं कि

वह स्थान ही वहाँके निवासियोंके जीवन और भाग्यको प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त एक विशेष प्रकारका आन्दोलन ही चला था—'चलो अपनी भूमिपर' ( बैक टु दि सौयल )। यह वास्तवमें किसानवादी आन्दोलन था जो जीवनके व्यवसायवाद और साहित्यिक प्रकृतिवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें चलाया गया। इसीमें जर्मनीके कट्टरपन्थियों ( १६००-१६०४ ) ने राष्ट्रीय समाजवादका कार्यक्रम चलाया। इस आधारपर अत्यन्त यथार्थवादी प्रदेशवादी उपन्यास लिखे गए।

### स्थानीय चित्रणवाद ( लोकल कलरिज़्म )

उपन्यासों या कहानियोंमें जब किसी स्थानके पूर्ण परिवेष (एन्वायरनमेंट), आस-पासकी भू-प्रकृति तथा वातावरणका सूक्ष्म वर्णन किया जाता है उसे स्थानीय चित्रण कहते हैं। प्रदेशवादसे इसमें यह भिन्नता है कि इसमें केवल दृश्यात्मक वर्णन ही मुख्य होते हैं। इसमें मुख्य प्रवृत्ति यह रहती है कि कोई नई या अपरिचित दृश्य पीठिका खोज निकाली जाय या किसी नष्टप्राय या परिवर्त्तनशील या सद्यःनष्ट क्षेत्रका लेखा उपस्थित कर दिया जाय। प्रदेशवादी तो प्रत्येक प्रदेशमें उन विभिन्न परिस्थितियोंका चित्रण करता है जो वहाँके मानव-जीवनको प्रभावित करते हैं और प्रभावित करके संस्कृति और चरित्रके विभिन्न रूप प्रस्तुत करते हैं किन्तु स्थानीय चित्रणवादी तो पर्यटकके समान केवल दृश्य-सौन्दर्य-मात्रसे सम्बन्ध रखते हैं। अतः स्थानीय चित्रणकार अपनी कहानीके अलङ्करण-मात्रके लिये किसी प्रदेशकी भूमि, भाषा, वेष, आचारका वर्णन करता है, उसे कहानीका मूलतत्त्व बनाकर नहीं। हिन्दीमें शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'की 'बहती गङ्गा' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

### लोक-चित्रणवाद ( केलियार्ड स्कूल )

सन् १८६० के लगभग स्कौटलैन्डमें एक ऐसे लेखकोंका मण्डल उठ खड़ा हुआ जो अपनी कृतियोंमें स्कौटलैन्डके निम्न श्रेणीके लोगोंका जीवन चित्रित करते थे और वहाँकी ग्राम-भाषाका बहुत अधिक प्रयोग करते थे।

### पलायनवाद ( ऐस्केपिज़्म )

बहुत-सी कृतियाँ प्रायः पलायनवादी साहित्य कहलाती हैं, जैसे जासूसी कहानियाँ, सङ्गीत-नाट्य, अनेक चलचित्र, जो केवल मन-बहलावके लिये अर्थात् मनुष्यके मनको सांसारिक चिन्ता या परिस्थितिसे दूर हटानेके लिये ही

रचे जाते हैं। प्राय: लोग यह भूल जाते हैं कि पाठक या दर्शक इस मन-बहलावकी अवस्थामें जीवनसे पलायन नहीं करता वरन् वह जीवनकी नीरसतासे हटकर उस अनुभवकी पूर्णता तथा जागर्त्तिकी खोज करने लगता है जिसे वास्तवमें जीवन कहा जा सकता है। प्राय: ऐसी कृतियोंमें बहुत कुछ दिखावटी, अतिरञ्जित और बाह्य असम्भवताएँ होती हैं और यही प्रयत्न किया जाता है कि सब कलाओंको कुछ गोल-मोल उत्तेजन दिया जाय।

## नव्य-जनवाद ( स्किफ़ी )

सन् १९१६ में रूसमें नव्य-जनवादी ( निओ-पौपुलिस्ट ) कवियोंका एक मण्डल उठा जिसमें अधिकांश किसान कवि थे। इनका विश्वास था कि 'रूसका ऐतिहासिक विकास अन्य पश्चिमीय देशोंके ऐतिहासिक विकाससे भिन्न प्रकारका होगा।'

## भौतिकवाद ( मैटीरियलिज़्म )

भौतिकवाद ( मैटिरियलिज़्म ) में विश्वकी शारीरिक या भौतिक गतियोंका अत्यन्त वास्तविक चित्र प्रदर्शित होता है। यह प्राय: आत्म-सुखवादी ( हिडोनिज़्म ) नैतिक सिद्धान्तपर अवलम्बित है जो भारतके चार्वाक् मतसे मिलता-जुलता है। इनके नैतिक आदर्श यही हैं कि 'भौतिक सामग्री, आनन्द और सुख एकत्र करो।' तर्कसङ्गत भौतिकवाद ( डाइलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म ) ने इसमें यह सिद्धान्त भी जोड़ दिया है कि इतिहास एक विशिष्ट क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय ( थीसिस, एन्टीथीसिस और सिन थीसिस ) के अनुसार निश्चित होता है, जिसका निर्णय भी भौतिक शक्तियों-द्वारा ही होता है। यह अर्थशास्त्रीय भौतिकतावाद उन जन-उपन्यासोंमें अधिक मिलता है जिनमें सब उद्देश्योंकी आर्थिक दृष्टिसे व्याख्या की जाती है और जो मानते हैं कि 'मानव-जीवन केवल पेट पालनके सङ्घर्षके लिये ही बना है।' वर्त्तमान उपन्यासों, नाटकों और काव्योंमें, विशेषत: रूसमें इनका उद्देश्य यह है कि 'सामाजिक अन्यायके विरुद्ध वास्तविक बात कह दी जाय।'

फ़्रान्सके द्वितीय साम्राज्यमें जो 'बुलेवा' नामकी भौतिकवादी भावना चली वह तत्कालीन पैरिसके नवयुवकोंकी व्यावहारिक भावना थी जिसमें भौतिक निर्बाध आनन्द, असङ्गत बातें और व्यंग्यकी भरमार थी। इसी भावनाने १८६१ से ७४ के बीच 'औपेरा हाउस'के निर्माणकी प्रेरणा दी और

इसी भावनाके फलस्वरूप लाविशे आदि अनेक लेखकोंने 'बुलेवा' नाटक लिखें। पीछे चलकर यह शब्द आरभट नाटक (मैलोड्रामा) के लिये प्रयुक्त होने लगा जिसके कारण फ़्रान्सके थिएटर भी कुछ दिनोंतक 'बुलेवा द क्राइम' कहलाने लगे थे।

## रूपवाद (फ़ौर्मेलिज़्म)

१९२० में रूसमें समीक्षाकी एक प्रवृत्ति चली जिसने आगे चलकर जेक और पोलैण्डके साहित्यिक समाजको प्रभावित किया। उसके केन्द्र 'ओपोयाज' (साहित्यिक भाषाध्ययन-समाज) की स्थापना १९१७ में विक्टर श्क्लोवस्कीने की थी। प्रारम्भमें यह रूपवादका आन्दोलन समाजवादी और प्रतीकवादी रूसी साहित्य-समीक्षा-सम्प्रदायोंके विरुद्ध प्रतिक्रियाओंके रूपमें उठा। श्क्लोवस्की और उसके अनुगामियोंके विचार निम्नलिखित सूत्रोंमें समझे जा सकते हैं—'कला ही शैली है, कला ही कौशल और कारीगरी है। कौशल केवल कलाकी प्रणाली ही नहीं, उसका उद्देश्य भी है। किसी कलाकृतिमें प्रयुक्त की हुई प्रक्रियाओंका योग ही कलाकृति है। अतः समीक्षा भी केवल पृथक् कलाकृतियोंके रचना-कौशलका बाह्य अध्ययन-मात्र, है। कलाका इतिहास केवल विभिन्न काव्य-प्रकारों या कला-प्रकारोंके विकासका विश्लेषण है। साहित्यिक इतिहास केवल एक प्रकारका सौन्दर्यात्मक भाषाशास्त्र है।'

सन् १९२७ तक यह रूपवाद चलता रहा। ये समझते थे कि 'पढ़ा-लिखा व्यक्ति वही है जो 'शब्दोंका कारीगर' हो।' कारीगरोंके राज्यके मार्क्सीय सिद्धान्तोंसे इसका ठीक मेल भी बैठ गया किन्तु आगे चलकर रूसके भाग्य-निर्माताओंको साहित्य और कलाकी रूपवादी प्रवृत्तिमें सामन्तवादी प्रवृत्तिकी गन्ध मिली और यह मण्डली छिन्न-भिन्न कर दी गई।

## मार्क्सीय तर्कसङ्गत भौतिकवाद (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म)

हेगेलके 'तत्त्व-विज्ञान' (औन्टोलौजी) के आदर्शवादके बदले जो भौतिकतावाद आया उसीसे मार्क्सीय तर्कसङ्गत भौतिकतावाद (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म) उत्पन्न हुआ। इसका मत है कि 'प्रकृति और समाजकी प्रत्येक वस्तुओंमें जब आन्तरिक विरोध या सङ्घर्ष होता है तब वे गतिशील होती हैं और विरोध, सङ्घर्ष तथा द्वन्द्वके द्वारा ही वे अपना समाधान भी कर

लेती हैं।' इन तर्कसङ्गत भौतिकवादियोंकी धारणा है कि 'समाजोंमें मौलिक विरोध वास्तवमें आर्थिक वर्गोंके बीचमें हैं और साहित्य भी सामाजिक उपज है।' इस सिद्धान्तके आधारपर समीक्षाका एक सिद्धान्त ही प्रस्तुत किया गया जिसे तीन सूत्रोंमें व्यक्त कर सकते हैं—१. कला और साहित्य जिस युगमें निर्मित होते हैं वे उस युगकी आर्थिक परिस्थितियों और वर्ग-स्वत्वोंकी अभिव्यक्ति और उपज हैं। २. उनका मूल्याङ्कन और ज्ञान उन स्वत्वों और परिस्थितियोंके अनुसार ही हो सकता है। ३. उनके विषय जितने ही अधिक आर्थिक और सामाजिक समस्याओंसे युक्त होंगे और उनका उद्देश्य जितना ही निम्नजन-समाज ( प्रोलीतेरियत ) का हित-चिन्तन होगा उसी मात्रामें वे साहित्य-रचनाएँ श्रेष्ठ होंगी।

### मार्क्सवाद ( मार्क्सिज़्म )

मार्क्सवादी समीक्षक 'रूपवाद' ( फ़ौर्मैलिज़्म ) को अपना प्रधान शत्रु मानते थे। उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति देखकर मार्क्सवादियोंका माथा ठनका। इसपर ब्रिक आरवातो चुज़हाक, त्रेतियाको आदि वामपक्षी सिद्धान्त-वादियोंने कहा कि 'साहित्यमें शुद्ध वास्तविकता होनी चाहिए।' साथ-साथ उन्होंने सम्पूर्ण काल्पनिक साहित्यको जनताके लिये 'अफ़ीम' कहकर निरर्थक घोषित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तथ्यका निर्जीव साहित्य रचा जाने लगा। मार्क्सीय समीक्षाका कोई शुद्ध आधार किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता किन्तु मार्क्स, एन्जेलस, प्लेखानोव तथा लैनिन आदि 'तर्कसङ्गत भौतिकवाद' ( डाइलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म ) के आचार्योंने जो इधर-उधर बिखरे हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं उन्हींपर मार्क्स-समीक्षा-सिद्धान्त बनाए जा रहे हैं। सोवियत समीक्षकोंने इवानोव रज़ूमनिक, लवोव रोगाचेवस्की, सकूलिन, पिक्सानोव, ऐफीमोव, और केल्तुयाला जैसे उदार समाजवादियोंको अपने मण्डलसे बाहर कर दिया जो समाजवादी होते हुए भी पूर्ण रूपसे मार्क्सवादकी भौतिक भावनाको स्वीकार नहीं करते थे। ये सोवियत समीक्षक इतने कट्टर थे कि प्राचीन मार्क्सीय समीक्षाके प्रवर्त्तक प्लेखानोव, आन्द्रेविच आदिके मतको भी बिना उसमें सुधार किए स्वीकार नहीं करना चाहते थे। सन् १९३२ तक तो इन समीक्षकोंमें इसी बातपर झगड़ा चलता रहा कि साहित्यमें निम्नजन-समाज ( प्रालितेरियत ) लाया जाय या नहीं। मालिनोवस्की जैसे कुछ निम्नजनवादी तो लोक-संस्कृति ( प्रोलेत कल्त )-

आन्दोलन चलाकर कह रहे थे कि 'केवल ऐसा लोक-साहित्य उत्पन्न किया जाय जो मध्यवर्गीय परम्पराको सीधे डकार जाय क्योंकि ऐसे ही साहित्यमें श्रमिककी भावना, उसके विचार, सङ्घ-भावना और सहयोग-भावनाकी अभिव्यक्ति हो सकती है।' किन्तु वोरोनस्कीका मण्डल (जिसमें ग्रौत्स्की भीथा) यह समझता था कि 'ऐसा लोक-साहित्य चलेगा नहीं क्योंकि साधारण जन-समाज तो जीवनकी अन्य समस्याओंमें ही उलझा हुआ है और जब ये समस्याएँ सुलझ जायँगी तब सभी वर्ग, यहाँतक कि निम्नजन-वर्ग भी, स्वयं समाप्त हो जायँगे।' इसपर बड़ा विवाद हुआ और अन्तमें सन् १९३२ में सोवियत सरकारने हस्तक्षेप करके यह विवाद बन्द कर दिया और 'सामाजिक यथार्थ-वाद' (सोशलिस्ट रीअलिज़्म) ही सर्व-सम्मतिसे मान्य हो गया।

## सामाजिक यथार्थवाद (सोशलिस्ट रीयलिज़्म)

मैक्सिम गोर्की और वर्त्तमान रूसी समीक्षक उसीविच और रोज़ेन्तालने सामाजिक यथार्थवादका जो प्रवर्त्तन किया है वह रूसी यथार्थवादकी परिपाटीमें ही है। प्राचीन यथार्थवाद अधिकांश ध्वंसात्मक था जिसमें दूसरोंके प्रति अत्यन्त निन्दा, विशेषतः तत्कालीन परिस्थितियोंकी आलोचना और निन्दा भरी रहती थी। किन्तु समाजवादी यथार्थवाद रचनात्मक और सक्रिय है। इसमें समाजके साथ व्यक्तिका सङ्घर्ष दिखानेके बदले यह चित्रण किया जाता है कि किस प्रकार एक मनुष्य एक अशोषक समाजमें रहकर, उसके साथ मिलकर काम करता हुआ अपने व्यक्तित्वको अभिव्यक्त करता है। समाजवादी यथार्थवादकी प्रवृत्ति यह है कि ऐतिहासिक भौतिकवादको भली प्रकार समझ लिया जाय अर्थात् वे यह चाहते हैं कि प्रत्येक लेखक और समीक्षक वर्त्तमान कालका मूल्याङ्कन करते समय उसकी भूत-परम्परा और भविष्यपर भी ध्यान देता चले। इन लोगोंका यह भी मत है कि 'लेखकके विचारोंको उचित रूपसे व्यक्त करनेके लिये रूप और विषय दोनों ही परस्पर आश्रित साधन हैं और दोनों ही आवश्यक हैं।

## निर्माणवाद (कंस्ट्रक्टिविज़्म)

रूसमें सन् १९२४ में साहित्यिक कार्य-कर्त्ताओंका एक मण्डल बना जिसने यह प्रयत्न किया कि साहित्यिक कृतिके आदर्शोंको भी वर्त्तमान यन्त्र-शिल्पकी प्रकृतिके साथ अर्थात् वर्त्तमान वैज्ञानिक युगके वेग, अल्पव्ययता और शक्तिके साथ समन्वित कर दें। कलाकी दृष्टिसे रचनावादी (कंस्ट्रक्टिविज़्म)

मानता है कि 'कला भी किसी कथाके अतिशय विस्तार और विकासकी एक प्रणाली है।' इसके मुख्य सिद्धान्त-स्थापक के० ज़ैलिन्स्की और इसके मुख्य कवि आई० एल० सेलविंस्की तथा वीरा इन्बेर हैं। इस वादने रङ्गमञ्चके निर्माणमें अधिक योग दिया। मेयरहोल्ड और तैरोवने पेड़, हटाए जा सकनेवाले चौतरे, सीढ़ियाँ और इस प्रकारके अनगढ़ ढाँचे बनाकर रङ्गमञ्चपर खड़े कर दिए जो एक मकान, फ़ैक्टरी या गतिके विभिन्न स्तरकी व्यञ्जना-भर करते थे। वास्तवमें उन स्थानोंका ठीक स्वरूप उनसे व्यक्त नहीं होता था। यही निर्माणवाद था।

### स्पष्टतावाद ( ऐक्मोज़्म )

बीसवीं शताब्दिमें रूसके एन० गुमिलोव, एस० गोरोदेत्स्की, ओ० मान्देलश्ताम, अन्ना आख्मातोवा नामक नव-कवियोंने काव्यमें अत्यन्त रहस्य-वादिता, अस्पष्टता तथा प्रतीकवादकी भूल-भुलैयाके विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन चलाया। इन स्पष्टतावादियोंने प्रतीकवादियोंके परलोकका अस्तित्व अस्वीकार करके उस प्रत्यक्ष, गोचर, इन्द्रियग्राह्य तथा अनुभव-साध्य संसारका अस्तित्व माना जिसमें रङ्ग हैं, शब्द हैं, गन्ध हैं। इनका आग्रह था कि 'कविता अधिक वास्तविक होनी चाहिए और कविताका प्रत्येक शब्द स्पष्टार्थवादी होना चाहिए।'

### कुज़िनत्सा

सन् १९२० में मौस्कोमें दरिद्र-श्रेणी तथा मजदूर-श्रेणीके लोगोंपर लिखनेवालोंका एक मण्डल बना जो सिद्धान्त-स्थापन या समीक्षाके बदले रचना करता था। सन् १९३० में यह भी समाप्त हो गया।

### स्थानपर ( नापोस्तू या ऐट दि पोस्ट )

निम्न श्रेणीके लोगोंका पक्ष लेनेवाले लेखकोंका एक मण्डल १९२३ से १९२५ तक रूसमें उठ खड़ा हुआ जिसका विचार था कि 'राजनीतिक विचारोंके आधारपर ही साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्थिर होनी चाहिएँ।' ये लोग त्रोत्स्की और वोरोन्स्कीके विरोधी थे।

### रैप

सन् १९२५ में सोवियत रूसमें निम्न कोटिकी जनतापर लिखनेवाले लेखकोंको संघटित करनेके लिये साहित्यिक संघ बनाया था जिसका नाम था 'प्रोलीतेरियन लेखकोंका अखिल रूसी संघ' इसका सिद्धान्त था कि 'कला भी वर्ग-सङ्घर्षमें भाग लेनेका सक्रिय रूप है। सन् १९३२ में यह समाप्त हो गया।

**जनवाद ( पौपुलिज़्म )**

सन् १९३० में एक साहित्यिक सम्प्रदाय चला जिसमें कहा गया था कि 'समाजके सामन्त या कुलीन लोगों तथा मध्यवर्गीय तत्त्वोंका चित्रण करनेके बदले छोटे लोगोंका चित्रण करना चाहिए।' इस सम्प्रदायके कुछ लोगोंने तो यहाँतक कह दिया कि 'श्रमिक-वर्गके अतिरिक्त किसीको भी जनवर्गीय ( पौपुलिस्ट ) नहीं कहना चाहिए।'

**सामान्य जनवाद ( प्रोलितेरियनिज़्म )**

बीसवीं शताब्दिमें मध्यवर्गीय सामाजिक लेखोंसे ऊबकर यह आन्दोलन छिड़ा कि सीधे-सीधे श्रमिक-वर्गोंकी समस्याओं विशेषतः यन्त्र बनाम मनुष्य और श्रम बनाम पूँजीकी अभिव्यक्ति साहित्यमें हो। प्रथम विश्वयुद्धसे जर्मनी और रूसमें विशेषतः इसका विकास हुआ। जर्मनीमें तो नाज़ी धारामें वह डूब गया किन्तु रूसमें सब लेखक सामान्य जनवादी ही बने रहे। यह मूलतः मार्क्सके सिद्धान्तपर अवलम्बित है कि 'सम्पूर्ण जीवन और इसलिये साहित्य भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितिपर अवलम्बित है।'

**प्रभाववाद ( आइन्ड्रुक्सकुन्स्ट या इम्प्रेशेनिज़्म )**

स्वच्छन्दवादी व्यक्तिवाद और वर्त्तमान कालकी आत्मचेतनासे एक नये प्रकारकी समीक्षा-पद्धति निकली जिसे 'प्रभाववादी समीक्षा' कहते हैं इसका सिद्धान्त यह है कि 'समीक्षकका आत्मा जब महाग्रन्थोंमेंको होकर घूमता चलता है तब उसपर उन महाकाव्योंमें व्याप्त महत्ताएँ और विशेष गुणतत्त्व स्वयं अङ्कित होते अर्थात् प्रभाव डालते चलते हैं। उन प्रभावों या गुणतत्त्वोंके आधारपर वह श्रेष्ठता और गुणतत्त्वका एक मानदण्ड निर्धारित कर लेता है और उसीके आधारपर समीक्षा करता है।' यों भी जितनी समीक्षा होती है वह सब किसी कलाकृतिके प्रति समीक्षककी प्रतिक्रियाका ही परिणाम है अर्थात् उसे पढ़कर समीक्षकके हृदयपर जो प्रभाव पड़ता है उसी प्रभावको समीक्षक अपनी समीक्षामें व्यक्त करता है।

**उद्देश्यवाद ( फंक्शनलिज़्म )**

वर्त्तमान कालमें यह नया सिद्धान्त चला है कि 'किसी कृतिमें उसकी बनावट और उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह स्पष्ट प्रतीत हो कि उसका उद्देश्य या कार्य क्या है।' इस वादमें क्षुद्रता या अलङ्करणका विरोध किया गया है, जैसे किसी एक भवनके ऊपर पानीकी टंकी बनाकर

उसे चौरहरका रूप दे दिया जाय तो वह इन लोगोंकी दृष्टिसे अनुचित है। इनका मत है कि 'पानीकी टंकीको पानीकी टङ्की ही दिखाई देना चाहिए।' नाटकमें यह वाद निर्माणवाद ( कंस्ट्रक्शनिज़्म ) से मिलता-जुलता है।

### स्वानुभववाद ( एम्पिरिसिज़्म )

स्वानुभववाद वास्तवमें एक दार्शनिकवाद है जो सम्पूर्ण पूर्व ज्ञानको अस्वीकार करते हुए मानता है कि 'स्वयं अनुभव और परिणाम निकालकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वही वास्तवमें सच्चा ज्ञान होता है।' साहित्यके क्षेत्रमें भी अनेक लेखकोंने इस स्वानुभववादका प्रयोग किया और यही वास्तवमें प्रयोगवादका मनोवैज्ञानिक प्रवर्त्तक भी है।

### प्रयोगवाद ( एक्स्पैरिमैन्टलिज़्म )

जबसे साहित्यकी सृष्टि हुई तभीसे प्रतिभाशाली लेखकोंने अपनी रचनाके विषय, रूप, कौशल, छन्द, शैली तथा पद्धतिमें नवीनता और मौलिकता लानेका प्रयास किया। इसका मनोवैज्ञानिक सूत्र प्रत्येक व्यक्तिका अहंवाद है जिससे वह संसारसे निराला होकर अपनेको सबसे भिन्न दिखानेका प्रयत्न करता है। इस प्रयासमें यदि वह अनुकरण भी करता है तो उसमें भी कुछ नवीनता लाना चाहता है। यही प्रयोगवाद है। आजकल कुछ लोगोंने उच्च साहित्यमें साधारण जन - समाजकी भावनाओं, छन्दोयोजना, कल्पना, भावाभिव्यक्ति आदिको उन्हींके छन्दों और लयोंमें प्रस्तुत करनेको ही 'प्रयोग-वाद' समझ लिया है। नवीनताकी दृष्टिसे यह प्रयोगवाद भले ही सुन्दर प्रतीत हो किन्तु इसमें यह भय सदा लगा रहता है कि साहित्यके उच्च, सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत मानदण्डसे नीचे न उतर आवे। ऐसी स्थितिमें प्रयोगवाद वहींतक उचित और श्लाघ्य माना जा सकता है जहाँतक वह साहित्यके विभिन्न साधनोंको अत्यन्त सुसंस्कृत, उदात्त भावभूमिपर नये दृष्टिकोण या मौलिकताके साथ प्रस्तुत करे।

### घनवाद ( क्यूबिज़्म )

चित्रकलामें अभी एक नया आन्दोलन छिड़ा है जिसका उद्देश्य यह है कि किसी एक वस्तुके विभिन्न पक्ष ऐसे दृष्टिकोणोंसे प्रस्तुत किए जायँ जिनमें वे एक ही रचनामें मनमाने ढङ्गसे सङ्घटित हों। कभी-कभी इसका प्रयोग साहित्यमें भी होने लगा है जिसमें एक ही वस्तुको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे परखनेका प्रयत्न किया जाता है यही घनवाद है। इसके आचार्य पिकासो हैं।

अस्तित्ववाद (एग्ज़िस्टेन्शलिज़्म)

सन् १६३६ के द्वितीय महायुद्धके पश्चात् अमरीकामें जीन पौल सार्त्रे और उसकी कृतियोंकी ओर सहसा प्रवृत्ति हो चली। कुछ लोगोंने सार्त्रेके दार्शनिक सिद्धान्तसे यह समझा कि वह कोई ऐसा दार्शनिकवाद चला रहा है जिसमें वर्त्तमान पीढ़ीकी सभ्यताके सब पक्षोंमें उत्पन्न विक्षोभकी समस्या व्याप्त है और जो मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकारके जीवनको एक विशेष प्रकारका सन्देश देना चाहता है। सार्त्रेने अपने अस्तित्ववादमें यह प्रयत्न किया है कि इस निरुद्देश्य संसारमें व्यक्तिगत चेतनाको जागरित करे। उसका मत है कि 'मनुष्य जो कुछ है और जो कुछ करता है, उसके लिये वह व्यक्तिगत रूपसे उत्तरदायी है। मनुष्यकी अपनी सत्ता या अस्तित्वसे बाहर न तो कोई गुणतत्त्व नहीं है और न उसे कहीं ऊपरसे ऐसी मानवीय प्रकृति ही मिली है जिसका निर्देश पूरा करना ही मनुष्यका धर्म हो। मनुष्य स्वयं अपनी रुचिसे गुणतत्त्व चुनता है, अपना निर्माण करता है और इसलिये उसे अधिकार है कि वह चाहे जो गुणतत्त्व ढूँढे और चाहे जिस प्रकारका व्यक्ति बन जाय।' यही सार्त्रेके दर्शनका सार है। सार्त्रेके अनुसार यह दर्शन मनुष्यको अपनी स्वतन्त्रताके लिये चेतन कर देता है। इस दृष्टिसे यह वाद भयानक भी है और मोक्षदाता भी है। अपनी व्याख्यामें सार्त्रेने कहा है कि 'मुझपर लोग निम्नलिखित आरोप लगाते हैं—१. अस्तित्ववाद मनुष्योंको निराश मौनवादकी ओर प्रवृत्त करता है। यह आरोप वर्गवादियोंने किया है। २. अस्तित्ववाद मानवीय पतनपर ही आश्रित है क्योंकि वह भव्य, सुन्दर तथा मानव-प्रकृतिके सुखमय पक्षकी उपेक्षा करके दुःख तथा निराशाकी ही बात करता है। ३. ईसाई लोगोंका यह आरोप है कि हम ईश्वरके आदेशोंको अस्वीकार करके मानवीय व्यापारोंकी वास्तविकता और गम्भीरताका तिरस्कार करते हैं। इन प्रश्नोंके उत्तरमें सार्त्रेने कहा है कि 'अस्तित्ववाद वह सिद्धान्त है जो मानव-जीवनको सम्भव बनाता है और प्रत्येक सत्य तथा प्रत्येक कार्यमें मानवीय आधार और मानवीय भावना मानता है।' यह अस्तित्ववाद योरोपमें इतना बदनाम हुआ है कि जब किसीको गाली देनी होती है तब उसे अस्तित्ववादी कहने लगते हैं क्योंकि लोगोंका विश्वास है कि इसमें मानव-जीवनके काले पक्षपर ही अधिक बल दिया जाता है और इसीलिये कुछ लोगोंने अस्तित्ववादको प्रकृतिवादके साथ जोड़

दिया है। सार्त्रेने स्वयं बताया है कि 'अस्तित्ववादके सम्बन्धमें जो व्यापक भ्रम हुआ है उसका कारण यह है कि अस्तित्ववादी दो प्रकारके हो गए हैं—
१. वे ईसाई, जिनमें जेस्पर्स और ग्रेब्रायल मार्सेल जैसे कैथौलिक आते हैं।
२. नास्तिक अस्तित्ववादी, जिनमें होयडेगेर, फ्रांसीसी अस्तित्ववादी और स्वयं सार्त्रे है।

दोनोंमें केवल यही बात समान है कि दोनों ही समझते हैं कि 'तत्त्व (ऐसेन्स) से पहले अस्तित्व है या यों कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने मनसे या मानसिक प्रवृत्तिसे ही संसारमें चलना चाहिए।' इसकी व्याख्या करते हुए सार्त्रेने कहा है कि 'मान लीजिए हम एक काग़ज़ काटनेवाले छुरेपर विचार करते हैं। इस वस्तुको बनानेकी भावना किसी एक विचारसे उत्पन्न हुई। उसने काग़ज काटनेके छुरेका विचार और उसे बनानेकी ज्ञात प्रणाली ग्रहण की। इस प्रकार कागज काटनेकी छुरी ऐसी वस्तु है जो एक विशेष ढङ्गसे प्रस्तुत की गई। किन्तु दूसरी ओर वह एक ऐसी वस्तु है जिसका एक विशेष प्रयोग होता है। इससे हम यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि जिस व्यक्तिने यह छुरा बनाया है वह इसका प्रयोग भी जानता है। अतः हम कह सकते हैं कि उस छुरेके लिये तत्त्व अर्थात् उसे उत्पन्न करनेकी प्रक्रिया और उसकी वे सब सामग्रियाँ जो उसे प्रस्तुत करनेमें लगाई गई वे सब उसके अस्तित्वसे पहले आई हैं। अतः उस छुरेकी उपस्थिति निश्चित है। इसीलिये हम संसारके सम्बन्धमें भी एक ऐसी धारणा रखते हैं जिसके अनुसार हम कहते हैं कि अस्तित्वसे पहले रचना आती है। इसी प्रकार जो लोग यह मानते हैं कि 'ईश्वरने मनुष्यको बनाया' उनके अनुसार ईश्वरके मनमें मनुष्य बनानेका विचार तो होना आवश्यक हो गया, जैसे कि छुरा बनानेवालेके मनमें छुरेके रूपका विचार था और तब ईश्वर किन्हीं विशेष कौशलोंसे मनुष्यका निर्माण करता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य उस दैवी उद्बुद्धिमें उद्भासित किसी निश्चित विचारका अस्तित्व होता है। सार्त्रेका कहना है कि 'नास्तिक अस्तित्ववादमें आस्तिक अस्तित्ववादियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सङ्गति है क्योंकि नास्तिक अस्तित्ववादी मानता है कि 'यदि ईश्वर नहीं है तो कमसे कम एक प्राणी ऐसा है जिसमें कि तत्त्वसे पहले अस्तित्व आता है अर्थात् किसी विचारके अनुसार परिभाषित होनेसे पूर्व ही जिसका अस्तित्व सिद्ध है और वह प्राणी है मनुष्य या हायडेगरके